ॐ नमः श्रीसच्चिदानन्दाय

श्री सद्गुरुकबीर हनुमत पुस्तकालय का बारहवां मणि

तत्त्वार्थमणिमाला

(हिन्दीभाषानुवादसहिता)

संग्रहकर्ताऽनुवादकः प्रकाशकः सम्पादकश्च–

विद्वच्चक्रचूडामणिस्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्री

सहस्त्रसंख्यापरिमितं
द्वितीय संस्करणम्

गुरु पूर्णिमा

२०५६ विक्रमाब्दः
१९९९ खृष्टाब्दः

ॐ नमः श्रीसच्चिदानन्दाय

श्री सद्गुरुकबीर हनुमत पुस्तकालय का बारहवां मणि

❋ तत्त्वार्थमणिमाला ❋

(हिन्दीभाषानुवादसहिता)

संग्रहकर्त्ताऽनुवादकः प्रकाशकः सम्पादकश्च–

विद्वच्चक्रचूडामणिस्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्री

सहस्त्रसंख्यापरिमितं
द्वितीय संस्करणम्

गुरू पूर्णिमा

२०५६ विक्रमाब्दः
१९९९ खृष्टाब्दः

संग्रहकर्त्ता अनुवादक प्रकाशक और सम्पादक-

स्वामी श्रीहनुमानदासजी साहब षट्शास्त्री

तत्त्वार्थमणिमाला और धन्यवाद

तत्त्वार्थमणिमाला का संग्रह मैंने अपने चिन्तन के लिए किया था, इसमें प्रायः प्राचीन ग्रन्थों से सुन्दर २ श्लोक और कहीं कहीं श्रुति, सूत्र, सुभाषित वाक्यों को विषय विभाग पूर्वक उद्धृत किया गया है, प्रायः प्रकरण के प्रारम्भ में तथा कुछ प्रकरणों में अन्यत्र भी स्वरचित श्लोक हैं, अधिकतर वैष्णव ग्रन्थों के भावानुसार यथावश्यक स्थान में स्वरचित पद्य लिखे गये हैं। कई सज्जनों का विचार हुआ कि इस को प्रकाशित कर दिया जाय तो उत्तम हो। पं० रामेश्वरानन्दजी की अधिक रुचि देखकर सर्व साधारण के लाभ के लिए हिन्दी भाषानुवाद भी कर दिया गया, परन्तु सानुवाद संग्रह लिखने के बाद इस को देखने का समय नहीं मिला और छपवानें का विचार निश्चित हो गया। जिन ग्रन्थों से संग्रह किया गया उन को पास में प्रस्तुत नहीं रहने से तथा शीघ्रता के कारण इस का सम्यक् संशोधन नहीं किया जा सका है, आशा है विज्ञ सज्जन समझ कर अध्ययन करेंगे।

इंस के छपते समय काशी कबीरचौरा के अध्यक्ष महन्त श्री १०८ रामविलासदासजी साहब से बहुत सुविधा मिली है तथा महन्त पण्डित रामेश्वरानन्दजी ने संशोधन का भार उठाया है, और खास इस कार्य के लिये छगनभाई लल्लूभाई (सिमरी गुजरात) ने एक हजार रुपया प्रदान किया है, एवं श्री सन्त गुरुदासी जी जे समय-२ पर सहायता की है, यहाँ के सज्जन भी अनुकूल रहे हैं, अतः पूर्वोक्त महन्त, सन्त, सज्जनों के प्रति सादर धन्यवाद है। सन्त महात्माओं की अनुकूलता तथा उक्त पण्डित जी के सत्परामर्शोद्योग से यह ग्रन्थ छप सका है, इस से सज्जन लाभ उठायेंगे और प्रचार करेंगे ऐसी आशा है।

इस ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण श्रीमान् भक्त छगनभाई लल्लूभाई पटेल (सिमरी गुजराती) केपरीवार तरफ से श्रीमान् भक्त श्री डाहयाभाई छगनभाई पटेल और श्री रमणभाई छगनभाई पटेल (सीमरी गुजरात) द्वारा फिर से प्रकाशित किया जाता है।

प्राप्ति स्थान

- **प.पू. श्री १०८ महन्त श्री रामदासजी साहेब**
  श्री कबीर आश्रम (मठ)
  मु. पो चकना,
  जि. मुजफ्फरपूर (बिहार)

- **प.पू. श्री १०८ संत श्री बालेश्वरदासजी साहेब**
  वेदान्त अचार्य सुवर्ण पदक प्राप्त
  के- ६७/६६ ए, महेश कालोनी, इश्वरगंङ्गी,
  वाराणसी

- **श्री रमणभाई छगनभाई पटेल**
  मु. पो. सीमली वाया चांदोद,
  जि. बड़ोदरा, गुजरात
  फोनः (०२६६६)-७५२११

- **श्री चन्द्रकान्त मणिलाल मेहता,** सेवा निवृत न्यायाधीश,
  'साहेब निलयम'
  रावपुरा, कोठी कचहरी के निकट,
  गोकुल होटल के समीप, बड़ोदरा (गुजरात)
  फोनः ४३५२१५

सहयोग राशि ११०/-

शुभ सूचना :—

भेंट पूजा के रूप में प्राप्त जिन महन्त-सन्त भक्त सज्जनों के द्रव्य से सानुवाद तत्त्वार्थमणिमाला का प्रकाशन हुआ है, उन के नाम धन्यवाद के सहित प्रकाशित किये जाते हैं।

१०२५) भक्त श्री छगनभाई लल्लूभाई, सिमरी, गुजरात
५५) सन्त श्री गुरुदासीबाई जी, नवाबगंज, काशी
५१) भक्त माथुरभाई, वृन्दावनभाई आदि भक्तगण वासना, गुजरात
४५) श्री महन्त महावीर साहब नयीधरती, बड़ोदा
३५) श्री वागजी भाई आदि भक्तगण सरगही, गुजरात
३१) श्री हरिजी भाई सेमरी, ,,
३०) महन्त श्री सरयूदास जी साहब, पावा, पटना
३०) म० श्री विष्णुगोस्वामी वैजनाथपुर, मोतिहारी
३०) सन्त श्री विदुरदास जी फतुहा, पटना
२६) श्री महन्त जानकीदास जी साहब जंहगीरपुरा, अहमदाबाद
२६) श्री हरिभाई गुजरात
२६) श्री मणि बहन, कबेठा, ,,
२५) महन्त श्री साधुशरणदासजी साहब बहादुरपुर, गुजरात
२५) महन्त श्री मोतीदासजी साहब ऊछद, ,,
२५) महन्त श्री वासुदेवदासजी साहब वासना,,
२५) म० श्री गोविन्ददासजी सा०छावनी, बड़ोदा ,,
२५) म० श्री मनोहर दासजी सा० छावनी ,, ,,
२५) महन्त श्री रामदयाल गोस्वामी, सणियाद ,,
२५) महन्त श्री कल्याण गोसाईं, गूमा ,,
२५) महन्त श्री बालक दास जी साहब, डभो ,,
२५) भक्त श्री मणिभाई और भक्त श्री ईश्वरभाई, वायडा का पोल, बड़ोदा, गुजरात
२५) श्री छगनभाई पटेल छावनी, बड़ोदा, ,,
२५) श्री सेठ व्रजलाल मोहनभाई, सन्खेड़ा, ,,
२५) श्री आदित्यभाई उमरेठ, ,,
२५) श्री त्रिक्रमलाल रणछोरभाई नयी धरती, बड़ोदा
२०) एक सेवक घीकाँटा, अहमदाबाद, गुजरात
२०) श्री शंकरभाई नारायणभाई, गणपतिपुरा ,,
१७) श्री फूल जी भाईकाली डोरी, ,,
१५) महन्त श्री साधुशरण गोस्वामी, बहादुरपुर ,,
१५) महन्त श्री रामस्वरूप गोस्वामी, डभोई गुजरात
१५) महन्त श्री बहादुर गोसाँई, जम्बूसर, ,,
१५) महन्त श्रीमोहनदासजीसा०, अहमदाबाद ,,
१५) श्री नागजी भाई गांधी बड़ोदा ,,
१५) श्री मोहन भाई ,, ,,
१५) सेठ श्री मगनभाई ,, ,,
१५) भक्त श्री चेतनभाई पत्रा ,,
१५) श्री गणपतिभाई पुरुषोत्तमभाई अहमदाबाद ,,
१३) एकसेवक, कुडेरा ,,
११) महन्त श्री जैकृष्णदास जी साहब अंकलेश्वर ,,
११) श्री भगवान दास जी साहब ,,
११) सेवक गण, असरवा, अहमदाबाद ,,
११) म० श्री स्वामी बालकृष्णदास जी साहब विश्वामित्री बड़ोदा, गुजरात
१०) श्री रमणभाई मनसुखभाई ,,
१०) श्री शिवरामभक्त ,,
१०) भक्त श्री शान्तिलाल मणिलाल, अहमदाबाद ,,
१०) श्री चुन्नीलाल पटेल ,,
१०) श्री कान्तीलाल नानालाल ,,
१०) श्री लक्ष्मणभाई लल्लूभाई ,,
१०) श्री दलसुखभाई पानी दरवाजा, बड़ोदा ,,
१०) श्री गोपाल भाई पानी दरवाजा, ,, ,,
१०) श्री मगनलाल पुरुषोत्तम पानी दरवाजा, बड़ोदा
१०) श्री मूलजी भाई बापू भाई चूनावाला, बड़ोदा
१०) श्री राणा पञ्च पानी दरवाजा बड़ोदा, गुजरात
१०) राणा पञ्च रावपुरा ३५ घर ,, ,,
१०) राणा पञ्च रावपुरा १९ घर ,, ,,
१०) राणा पञ्च सुलतान पुरा ,, ,,
१०) राणा पञ्च फते पुरा ,, ,,
१०) राणा पञ्च जुबेली बाग ,, ,,
१०) राणा पञ्च छावनी ,, ,,
१०) चुनार पञ्च पानी दरवाजा ,, ,,
२१६४) योग

इसके अलावा श्री नारायण स्वामी, स्वामी श्री महेश्वरानन्द जी साहब, भक्त बलजोर साहु काशी, भक्तगण सा॰ुरा, भक्तगण कुन्दन पुर, महन्त श्री नगीना गोसाँई, श्री चुन्नीलाल नयी धरती, श्री राणा पञ्च नयी धरती, श्री नाना भाई नयी धरती, भाईजी भाई काली डोरी, हरि गोविन्दभाई हरिभाई, कान्ती भाई, केशव भाई हरिभाई, मगन भाई हरि भाई, श्री मीराबाई, मास्टर कालीदास जी पानी दरवाजा बड़ोदा, एवं विभिन्न नगर निवासी कई सज्जनों ने कई बार द्रव्य भेंट किया है। तदर्थ एक पैसा से एक हजार पचीस रुपया तक प्रदान करने वाले सभी सज्जन यथायोग्य धन्यवाद और आशीर्वाद के भाजन हैं।

तत्त्वार्थमणिमाला का सूचीपत्र

पूज्यकाण्ड ॥ १ ॥

वर्णाश्रमतद्धर्माधर्मादिकाण्ड ॥ २ ॥

सिद्धसाधकसाधनकाण्ड ॥ ३ ॥

दोषदोषिकाण्ड ॥ ४ ॥

अहिंसादिकाण्ड ॥ ५ ॥

फलकाण्ड ॥ ६ ॥

पदार्थकाण्ड ॥ ७ ॥

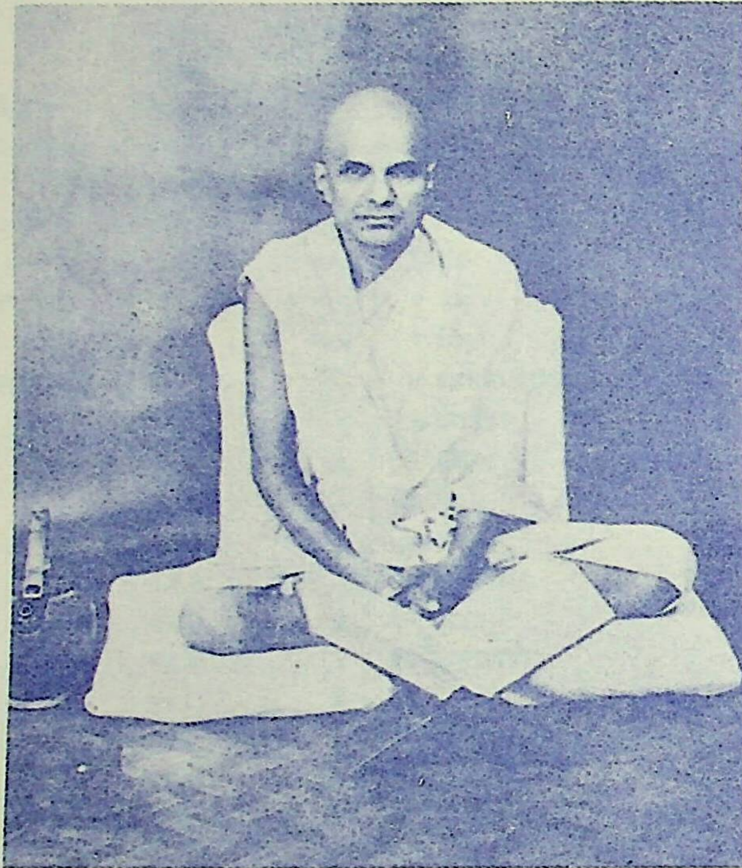
१ ज्ञानादि काण्ड ॥ ८ ॥

सन्मतकाण्ड ॥ ९ ॥

योग काण्ड ॥ १० ॥

इस ग्रन्थ में दश १० काण्ड, एक सौ चौहत्तर १७४ प्रकरण, सात हजार सात सौ एकतालीस ७७४१ श्लोक हैं।

श्रीमत्कबीर-कृत-बीजक-भाष्य-कर्त्ता, संग्राहको मुनिगिराश्च निबन्धकर्त्ता।
विद्वत्समर्च्यपरमात्मविदां वरिष्ठः, षट्शास्त्रिवर्य्य-हनुमान् गुणिनां गरिष्ठः ।।



बीजक-साखीग्रन्थ-सन्तवाणी-व्याख्याता, संगृहीतसद्ग्रन्थ विविध-पुस्तक-निर्माता।
विद्वद्वृन्दसमर्च्य-ब्रह्मविप्रवर सुनामी, षट्शास्त्री हनुमानदासजी साहब स्वामी ।।

ॐ नमः सच्चिदानन्दाय सर्वात्मने

अथ तत्त्वार्थमणिमाला प्रारभ्यते

संसारानलतापतप्तमनुजं संवीक्ष्य देवः परो, नानारूपमनिन्दितं शुभकरं संगृह्य वै मायया ।
वाक्चित्तादिषु संस्थितं भयकरं संछिद्य दोषं सदा, ब्रह्मानन्दपयोधिमग्नवपुषा संव्याप्य सन्तिष्ठते ॥१॥
तं देवं निरवग्रहं सुखकरं सर्वाधिपं केवलं, नित्यानन्दमविग्रहं त्वभयदं शेषं परं पावनम् ।
वाक्चित्तादिभिरग्रहैरहरहो नित्यं नुमो भक्तितो, यद्भक्त्या न पुनर्भवो तनुभृतां संश्रूयते वेदतः ॥२॥

अस्मिन् वितते दुःखपूर्णे महति संसाराब्धौ मज्जमानान् सुखतत्साधनरहितांस्तदन्वेषणपराञ्जनान् दृष्ट्वा परमगुरुः परमेश्वरो देवादिभावेनात्मानं कृत्वा वागादिदोषापनयनायोपदिशति स्म, जप ध्यानादिकं कृत्वा दोषानपाकुरु इति । यतो दोषापाकरणादेवात्मलाभेन जनाः सुखिनो भवन्ति नान्यथा, अविद्यात्मकमलस्यापाकरणाच्च कैवल्यं भवति, सा च कार्यरूपाऽविद्या चेतोनिष्ठा "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या" इति योगसूत्रेण सा लक्षिताऽस्ति । या ह्यतस्मिंस्तत्ख्यातिरूपा विद्यते । कारणरूपा तु साऽनादिभावभूताऽनिर्वचनीया या मायाया अवस्थाविशेषरूपा शक्तिविशेषरूपा वाऽविद्या भवति, तस्याः कार्यकारणरूपाया अविद्याया आत्मज्ञानेन

परमात्म देव संसार के दोषदुःखादिरूप अग्नि के ताप से तप्त मनुष्यों को देखकर, फिर माया से अनिन्दित शुभकारक नानारूप धर कर, फिर वाक् चित्त देह में स्थिर भयंकर दोषों को नष्ट करके, फिर ब्रह्मानन्द समुद्र में लीन देह सहित रहते भी स्वरूप से सब में व्यापक होकर ही रहता है ॥ १ ॥ निरोध रहित, सुखकारक, सर्वरक्षक, शुद्ध, नित्यानन्दस्वरूप, देह-भेद-विस्तारादिरहित, अभयदाता, अनन्तप्रलय में भी वर्तमान, श्रेष्ठ, पवित्र कर्ता उस देव को निर्बन्धादिरहित वाक् चित्तादि द्वारा भक्ति से प्रतिदिन सदा नमस्कार करता हूँ कि जिसकी भक्ति से फिर देहधारी को संसार में आना वेद में नहीं सुना गया है ॥ २ ॥

विस्तारयुक्त दुःख से पूर्ण (व्याप्त) महान् इस संसार समुद्र में डूबते हुए सुख और सुख के साधन से रहित और सुखादि की खोज में प्रवृत्त जनों को देखकर परमगुरु परमात्मा ने अपना देवादि स्वरूप बनाकर वाक्चित्तादि के असत्यभाषणादिरूप दोषों की निवृत्ति के लिये उपदेश दिया कि जप, ध्यानादि करके दोषों को नष्ट करो, जिससे दोषों की निवृत्ति द्वारा आत्मज्ञान से ही जन सुखी होते हैं, अन्यथा नहीं । अविद्यारूप मल की निवृत्ति से मोक्ष होता है, सो कार्यरूप अविद्या चित्त में रहती है, जो कि, अनित्य, अशुचि, दुःख, अनात्मा में नित्यादि उलटी समझ रूप है, जिसका योगसूत्र से लक्षण किया गया है, और वह 'अतत् में तत्' प्रतीति रूप है । कारणरूप अविद्या तो अनादिभाव पदार्थ स्वरूप और अनिर्वचनीय माया का अवस्थाविशेष रूप वा शक्तिविशेष रूप है । तिस कार्यकारण रूप दोनों अविद्याओं

निवृत्तौ हि तत्कैवल्यं भवति, आत्मा च तटस्थ स्वरूपलक्षणाभ्यां महावाक्यादितश्च ज्ञायते । अतो, "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतौ तदुभे लक्षणे अभिहिते स्तः, तत्त्वमसि, इत्यादि महावाक्यानि च विद्यन्ते ॥ आत्मैव, ब्रह्मसाक्षिचेतनकूटस्थादिशब्दैर्निरपेक्ष बृहद्रूपत्वदृश्यप्रकाशकत्वादिकल्पितधर्मापेक्षया व्यपदिश्यते । स च जीवस्य पारमार्थिकं स्वरूप मस्ति, स च वेदान्तसन्मतानुसारेणैक एव विद्यते, बन्धमोक्षादिव्यवस्थाया अपारमार्थिकभेदाद-प्युपपत्तेः, सांख्यादिमतेन त्वनेकः स इत्यन्यदेतत्, "यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह । यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते ॥" इति लैङ्गवचनाच्चावस्थाभेदेन चतुर्धाऽऽत्मा विवेचितोऽस्ति, यस्मात्सुषुप्तौ ब्रह्माप्नोति, यस्माज्जगद्वासनाः स्वप्ने आदत्ते, यस्माच्च जाग्रति विषयानत्ति, यस्माच्चास्यात्मनः सन्ततो देशकालादिपरिच्छेदरहितो भावः सत्ता वर्तते तस्मादात्मेति कथ्यते, अत्राद्यं त्रिविधं निर्वचनं व्यावहारिकस्यात्मनोऽस्ति, अन्त्यं तु पारमार्थिकस्य विद्यते, "एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा" इत्यादि श्रुतिभिः स व्यावहारिक एव द्रष्टृत्वादिरूपेणाभिहितः, "साक्षिणः पुरतो भाति लिङ्गं देहेन संयुतम् । चितिच्छायासमावेशाज्जीवः स्याद् व्यावहारिकः ॥" इति वाक्यसुधायामुक्तम् । "तस्मात्त-त्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् । गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥" "एवं चतुर्विंशति-भिस्तत्त्वैः सिद्धे वपुर्गृहे । जीवात्मा नियतेर्निघ्नो वसति स्वान्तदूतवान् ॥" "स देही कथ्यते पापपुण्य-

---

की आत्मज्ञान द्वारा निवृत्ति से मुक्ति होती है, सो आत्मा तटस्थ और स्वरूप दोनों लक्षण द्वारा तथा महावाक्यादि से जाना जाता है, इसीसे श्रुति में तटस्थ और स्वरूप दोनों लक्षण कहे गये हैं कि "जिससे सब यह भूत उत्पन्न होते हैं, सोई ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त स्वरूप है, वह ब्रह्म तेरा आत्मा है" इत्यादि कहनेवाले महावाक्य भी हैं । आत्मा ही ब्रह्म साक्षी आदि शब्दों द्वारा निरपेक्ष महान् रूपता दृश्यप्रकाशकता आदि कल्पित धर्मों की दृष्टि से कहा जाता है, आत्मा ही जीवों का पारमार्थिक स्वरूप है, और वह आत्मा वेदान्त और सन्त मत के अनुसार एक ही है, बन्धमोक्षादि की व्यवस्था मिथ्या भेद से भी सिद्ध होती है, सांख्यादि मत से आत्मा अनेक हैं यह दूसरी बात है । "जो सुषुप्ति में ब्रह्म को प्राप्त करता है, स्वप्न में जगत की वासना को ग्रहण करता है, जाग्रत में विषयों को भोगता है, स्वरूप से इसकी अखण्ड सत्ता है, तिससे आत्मा कहाता है" इस प्रकार लिङ्गपुराण में तीन प्रकार से व्यावहारिक आत्मा कहा गया है, अन्त में सत्यात्मा कहा गया है, आत्मा द्रष्टा आदि रूप है, इत्यादि रीति से श्रुति में भी व्यावहारिक ही आत्मा कहा गया है । "साक्षी के आगे लिङ्ग (सूक्ष्मदेह) स्थूल देह सहित भासता है, सो लिङ्ग ही चेतन की छाया के प्रवेश से व्यावहारिक जीव होता है, इस प्रकार वाक्यसुधा में कहा है । जिससे शुद्धात्मा चेतन और कर्तात्मा भिन्न है, तिससे मैं चेतनात्मा कर्म करता हूँ इत्यादि प्रतीति भ्रमरूप है, और "उस आत्मा के आध्यासिक संयोग से अचेतन भी लिङ्ग (बुद्धि) चेतन तुल्य हो जाती है, इससे त्रिगुण बुद्धि में कर्तृत्व रहते भी उदासीन असङ्गात्मा कर्ता तुल्य प्रतीत होता है । इस प्रकार प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्रा, इन्द्रिय रूप चौबीस तत्त्वों से देहरूप गृह की सिद्धि होने पर नियति भाग्य के अधीन वर्त्ती मनरूप दूतवाला जीवात्मा उस देह में बसता है, वही देही कहाता है, और पाप पुण्य

दुःखसुखादिभिः। व्याप्तो बद्धश्च मनसा कृत्रिमैः कर्मबन्धनैः॥ इच्छा द्वेष सुखासुखानि विषयज्ञानं प्रयत्नो मनः, संकल्पश्च विचारणा स्मृतिरथो बुद्धिः कलाविज्ञता। प्राणस्योपरि प्रापणं गुदवशाद्वायोरधः प्रेरणम्, नेत्रोन्मेषनिमेषकृत्यकरणोत्साहश्च जीवे गुणाः॥" इत्यादिना सांख्यादौ विशिष्ट एवात्मोक्तः। आयुर्वेदशास्त्रे चाऽसर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्या अभिहिताः। "तिर्यग्योनिमानुषदेवेषु संचरन्ति धर्माऽधर्मनिमित्तम्" इत्यादिवचनात्। आत्मन्यभेदेनाध्यस्तो विदेह कैवल्यपर्यन्तस्थायी सुखदुःखादिभागनादिजन्मादिमाञ्जीवो लोकव्यवहारेऽपि प्रसिद्धः। वेदान्ते तु कलाब्राह्मणाद्युक्तरीत्याऽऽत्मोपाधिभूतस्यान्तःकरणस्य संकोचविकाशशालित्वेनैकदेशित्वात्तदुपाधिकस्य लोकान्तरादौ गमनागमनादयः स्वरसत एव संगच्छन्ते। नैयायिकादिमते भोक्तुरात्मनो विभुत्वेऽपि मनसोऽणुत्वाद् गमनागमने भवतः "चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम्। द्वाभ्यां शून्यतमं विद्धि चिदाकाशं वरानने!॥" इत्यादि वचनबलाच्चित्तस्य विभुत्वे तु धर्माधर्मप्रयुक्ता वृत्तिरेवास्य संकोचविकाशशालिनी गमनागमनादिप्रयोजिकेति मन्तव्यम्। "उक्तं च योगभाष्ये वृत्तिरेवास्य विभुनः संकोचविकाशशालिनीत्याचार्याः" पूर्वोक्तयोर्जीवाऽऽत्मनोः परस्परं शरीरेण सह वा संयोगादि सम्बन्धो न सम्भवति "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" एष ह्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" "अगृह्यो न हि गृह्यते" इत्यादि श्रुत्याऽसङ्गज्योतिः स्वरूपत्वाद्यवगमादात्मनः। तस्मादधिष्ठानत्वावभासकत्वाद्यात्मक एव सम्बन्धः कथञ्चित्कल्प्यः। स च "विषयो विषयित्वं च सम्बन्धोऽयमिहोच्यते। विषयी पुरुषो नित्यं सत्त्वं च विषयः स्मृतः॥ निःसङ्गस्य ससङ्गेन कूटस्थस्य विनाशिना। आत्मनोऽनात्मना

दुःख सुखादि से व्याप्त होकर, तथा कृत्रिम (कार्य) कर्मरूप बन्धनों से बंधा कर बसता है। इच्छा आदि उसमें गुण रहते हैं, इत्यादि कथनों द्वारा सांख्यादि में विशिष्टात्मा ही कहा गया है। आयुर्वेद शास्त्र में भी एकदेशी नित्य जीवात्मा कहे गये हैं, सो, तिर्यग्योनि, मानुष देवों में धर्माधर्म निमित्त कारण से जीवात्मा जाते हैं" इत्यादि वचनों से समझा जाता है। शुद्धात्मा में अभिन्न रूप से कल्पित, विदेह मुक्ति तक स्थायी सुखदुःखादि के भोक्ता अनादि जन्मादिवाला जीवात्मा लोकव्यवहार में भी प्रसिद्ध है। वेदान्त में तो कला ब्राह्मणादि में कथित रीति से आत्मा की उपाधि रूप अन्तःकरण के संकोचविकासवाला होने से वह एकदेशी है, इससे उस उपाधिवाले जीव के लोकान्तरादि में गमनागमनादि स्वभाव से ही बनते हैं। नैयायिकादि के मत में भोक्ता आत्मा के विभु होते भी मन के अणु होने से उसीमें गमनागमन होते हैं। 'हे पार्वति! चित्त रूप आकाश, चेतनाकाश, भूताकाश ये तीन हैं, तहाँ दो से रहित चेतनाकाश को समझो, इत्यादि वचन कथित रीति से चित्त को विभु मानने पर तो धर्माधर्मादि से सिद्ध इस चित्त की वृत्ति (कार्य) ही संकोच विकाश वाली है, सो गमनागमनादि का हेतु है। योगभाष्य में भी कहा है कि 'इस विभु चित्त की वृत्ति को ही आचार्य संकोच विकास वाली मानते हैं।' पूर्वोक्त जीव और आत्मा को परस्पर वा शरीर के साथ संयोगादिरूप संबन्ध नहीं बन सकता, क्योंकि इसको "असङ्ग ज्योति (ज्ञान) स्वरूप अग्राह्य" श्रुति कहती है, इससे अधिष्ठानत्व, प्रकाशकत्वादि रूप ही सम्बन्ध किसी प्रकार कल्पनीय हैं। और विषय विषयित्व सम्बन्ध यहाँ कहा जाता है, तहाँ विषयी (प्रकाशक) आत्मा ही सदा है, और अन्तःकरण प्रकाश का विषय कहा गया है। कूटस्थ असङ्ग

योगो वास्तवो नोपपद्यते ।। प्राणादि कार्यकरणैः स्वतोऽसंहतकेवलः । तच्चेष्टां कुरुतेऽकुर्वन्नयस्कान्तो मणिर्यथा" इत्यादिवचनैरप्यवगम्यते । शरीरावभासकत्वमप्यात्मनो न साक्षात् किन्तु चित्तद्वारैव "छायाऽहंकारयोरैक्यं तप्तायःपिण्डवन्मतम् । तदहंकारतादात्म्याद्देहश्चेतनतामियात् ।" इति वाक्यसुधायाम् । "तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ।" "सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्" इत्यादि च योगशास्त्रेऽप्युक्तम् । अधिष्ठानत्वं तु साक्षादेवाखिलस्य जगतः सत्यात्मनः । व्यावहारिकस्य च जीवस्य शरीरेण संयोग एव संबन्धः ससङ्गत्वात् कर्तृत्वादियुक्तत्वाच्च "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्येहुर्मनीषिणः" इत्यादि श्रुत्यापि शरीरादियोगिन एव भोक्तृत्वाभिधानात् । सांख्यमते तु असङ्गच्छायाश्रितेः छायापत्तिमात्रेण यद्भोक्तृत्वं तत् संयोगमन्तरेणापि सम्भवति गौणत्वात् । मुख्यभोगस्तु संयोगमन्तरेण नैव सम्भवति तस्मात्स स्वीकर्तव्य एव । एतज्जीवविशिष्टस्य देहस्य मातुर्गर्भात्मके पुरि शयनात्पुरुषत्वम् "पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" इत्यत्र तच्चोक्तम् । "चतुर्विंशतितत्त्वानां जीवात्मनश्च समवायः पुरुषः" "शरीरमनः शरीरिसमवायः पुरुषः । सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत् । लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।" इत्यादि वचनेषु तत्पुरुषत्वमुक्तम् ।। वस्तुतस्तु चोक्तात्मैव पुरुषशब्दार्थः । देहादिभिरहंकारस्य तादात्म्यादिबोधकं

आत्मा का विनश्वर सङ्गी अनात्मा के साथ में सत्य संबन्ध नहीं बन सकता, इससे 'प्राणादि देहेन्द्रियों के साथ स्वयं सम्बन्ध रहित ही शुद्धात्मा कुछ भी नहीं करता हुवा, चुम्बक के समान प्राणादि की चेष्टा को सिद्ध करता है, इत्याद्यर्थक वचनों से उक्त कल्पित सम्बन्ध समझा जाता है । शरीर का प्रकाशकपन भी आत्मा में साक्षात् नहीं है, किन्तु चित्तद्वारा ही है "चिदाभास और अहंकार को तप्त लोहपिण्ड के समान एकतायुक्त माना गया है, और उस अहंकार के तादात्म्य (अभेद) संबन्ध से देह भी चेतनता को प्राप्त होती है' यह वाक्य सुधा में कहा है । वस्तु के ज्ञान में वृत्तिरूपता से विषय के साथ चित्त के उपराग (सम्बन्ध) की अपेक्षा होती है, "इस वृत्ति काल में वस्तु ज्ञात होती है, वृत्ति बिना वस्तु अज्ञात रहती है, इसीसे चित्त परिणामी सिद्ध होता है, और चित्त की वृत्तियाँ सदा ज्ञात ही होती हैं, क्योंकि उसका प्रभु पुरुष अपरिणामी है" इस प्रकार योगदर्शन में कहा गया है । सब जगत् के अधिष्ठानतारूप सम्बन्ध तो आत्मा को साक्षात् ही है । सङ्गवाला होने से व्यावहारिक जीव का देह के साथ संयोग संबन्ध है, इसमें कर्तृत्वादि रहने से भी इसका संयोग है । "देहेन्द्रिय मन सहित जीवात्मा को विद्वान् लोग भोक्ता कहते हैं" इत्याद्यर्थक श्रुति से भी शरीरादि के संयोगवाले को ही भोक्ता कहा गया है । सांख्यमत में, चेतन की छाया से भोग आत्मा में माना गया है, सो गौण भोग संयोग बिना भी बनता है । मुख्य भोग संयोग बिना नहीं बन सकता, इसलिये संयोग मानना चाहिये । इस जीव सहित देह का माता के गर्भ रूप पुर में शयन होने से इसमें पुरुषता है, सो "पञ्चमी आहुति में जलादि सूक्ष्मभूत पुरुष शब्द का अर्थ बन जाते हैं" इस वचन में कहा गया है । "चौबीस तत्त्व और जीवात्मा के समूह को भी पुरुष कहते हैं । सो, शरीर मन शरीरी के समूह पुरुष है, तहाँ अन्तःकरण, आत्मा और शरीर ये तीनों त्रिदण्ड के तुल्य हैं, उन्हीं में संयोग से लोक स्थिर हैं, और लोकों में सब वस्तु स्थिर हैं" इत्याद्यर्थवाले वचनों में समूह की पुरुषता कही गई है, यथार्थ में तो सत्यात्मा ही पुरुष शब्द का अर्थ है, देहादि के साथ अहंकार के तादात्म्य सम्बन्ध के बोधक वचन है कि 'चेतन की छाया, देह और

च वचनानि सन्ति "अहंकारस्य तादात्म्यं चिच्छायादेहसाक्षिभिः। सहजं कर्मजं भ्रान्तिजन्यं च त्रिविधं क्रमात् ॥ कामक्रोधौ लोभमोहावहंकारश्च पञ्चमः। दशेन्द्रियाणि बुद्धिश्च तस्य बन्धाय देहिनः ॥ आप्नोति बन्धमज्ञानादात्मज्ञानाच्च मुच्यते। तद्दुःखयोगकृद्व्याधिरारोग्यं च सुखावहम् ॥ रक्तं सर्वशरीरस्थं जीवस्याधार उत्तमः" इत्यादि ॥

शरीरादिकुसम्बन्धविनिवृत्तिप्रसिद्धये। सज्जना उन्मुखा ये तु सन्ति केचिन्मुमुक्षवः ॥ ३ ॥
धर्मादितत्त्ववस्तूनां जिज्ञासायुता हि ये। तेषामेव हितार्थाय हेयादेयविवेचनम् ॥ ४ ॥
वाक्यं किञ्चिद्विभागेन प्रोच्यते संग्रहात्मकम्। यथा संक्षेपतः शास्त्रतत्त्वं पश्यन्तु सज्जनाः ॥ ५ ॥

इत्युपक्रमः ॥

अथ द्वितीय मङ्गलप्रकरणम्

सत्यानन्दाद्वितीयोऽखिलगुरुवपुषा भ्राजमानोऽप्यसङ्गो,
ह्यग्राह्योऽदृश्यरूपो गुरुवरवचसा तत्त्वबोधेन गम्यः।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रो गुणकृद्विभवो यस्य यस्मान्न भिन्नः,
स्तं देवं सर्वसारं निखिलभवधरं निर्विकारं भजामः ॥ १ ॥
यद्भासा भासतेऽर्कों जगदिदमखिलं यस्य सत्त्वेन सत्यम्,
यस्यानन्दस्य लेशात्सुरनरमुनयः प्राणिनः सौख्यवन्तः।
ज्ञातो ध्यातश्च भक्त्या सकृदपि विमलो यश्च मोहं भिनत्ति,
स्वस्यैव स्वान्तरूढस्तमजरममरं ह्यद्वयं संश्रयामि ॥ २ ॥

साक्षी के साथ अहंकार का सहज, कर्मज और भ्रान्तिजन्य ये तीन प्रकार के तादात्म्य हैं" और "काम क्रोध लोभ मोह इन्द्रियाँ देही के बन्धन के लिये हैं, और अज्ञान से देही बन्धन पाता है, आत्मज्ञान से मुक्त होता है, उसे दुःखी करनेवाला रोग है, आरोग्य सुख देनेवाला है, सब शरीर में स्थिर रक्त जीव का उत्तम आधार है" इत्यादि ॥

शरीरादि के साथ कुसम्बन्ध की निवृत्ति की सिद्धि के लिये जो सज्जन उन्मुख हैं, जो कोई मुमुक्षु हैं, जो कोई धर्मादि तत्त्व के जिज्ञासु हैं, उन सभी के हित के लिये हेय (त्याज्य) और आदेय (ग्राह्य) के विवेचन रूप कुछ संग्रह स्वरूप वाक्य विभागपूर्वक कहे जाते हैं कि जिस प्रकार संक्षेप से शास्त्र के तत्त्व को सज्जन देखें ॥ यह उपक्रम है ॥

जो देव सत्य आनन्द अद्वितीय रूप सबका गुरु प्रकाशमान होता हुआ भी असङ्ग है, तथा गुरुवर के वचन द्वारा तत्त्वबोध से अग्राह्य अदृश्य रूप समझा जाता है, ब्रह्मा आदि जिसके गुणजन्य विभूतिरूप होते भी जिससे भिन्न नहीं हैं, निर्विकार सबके सार और सबके आधार उस देव को भजता हूँ ॥ १ ॥ जिसके प्रकाश से सूर्यादि प्रकाशते हैं, यह सब जगत जिसकी सत्ता से सत्य है, जिसके आनन्द के लेश से देवादि और सब प्राणी सुखवाले हैं, और जो विमलदेव एक बार भी ज्ञात और भक्ति से ध्यात होने पर, अपने ही अन्तःकरण में व्यक्त होकर मोह को नष्ट करता है तिस अजर अमर अद्वैत की शरण लेता हूँ ॥ २ ॥

रामं तं भुवनाधारं निराकारं निरञ्जनम् । वन्दे यन्नामतः पापं समूलं संविनश्यति ॥ ३ ॥
गुरून् सर्वान्नमस्कूर्मो मनोवाकायतः सदा । यत्प्रसादाज्जनः शीघ्रं पारं याति भवार्णवात् ॥ ४ ॥
विरक्ताः साधवो धीरा वीराः सर्वेन्द्रिये रिपौ । शान्तास्त्रैकालिकास्तेभ्यो नमोऽस्तु सर्वसिद्धये ॥ ५ ॥
सद्भक्ता ज्ञानिनो मुक्ता ऋषयो मुनयोऽमलाः । अवतारा वितन्वन्तु सर्वेषां मङ्गलानि नः ॥ ६ ॥
पूज्यान् सर्वान्नमस्कृत्य तत्त्वं स्मृत्वा प्रयत्नतः । सद्वाक्यं क्वचिदर्थश्च सुबोधं गृह्यतेऽल्पशः ॥ ७ ॥

तत्र "मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि च, भवन्त्यायुष्मत्पुरुषकाणि च" इत्यादिमहाभाष्यात्, "मंगलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रुतितश्च, इति सांख्यदर्शनप्रवचनाच्च, समाप्त्यादिकामेन कृतं मङ्गलं वस्तुनिर्देशाशीर्वादनमस्कारभेदेन त्रिविधं भवति, कर्तुरध्येतुरध्यापकस्य श्रोतुश्च पापाऽऽत्मकविघ्नविनाशेनेष्टसम्पादकं तद् भवति, तस्मात्तदादौ संगृह्यते ॥

ऋग्वेदीय शान्तिपाठः

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि, वेदस्य म आणीस्थः, श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु, अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् । ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ १ ॥

उस भुवनों के आधारादि रूप राम की वन्दना करता हूँ कि जिनके नाम से मूलसहित पाप नष्ट होते हैं ॥ ३ ॥ सब गुरुजनों को मन वचन शरीर से सदा नमस्कार करता हूँ कि जिनको प्रसन्नता से मनुष्य शीघ्र ही संसारसमुद्र से पार हो जाता है ॥ ४ ॥ विरक्त, ज्ञानी, इन्द्रियरूप शत्रु पर वीर शान्त जो तीनों काल के साधु हैं, सब सिद्धि के लिये उनके प्रति नमस्कार है ॥ ५ ॥ विमल सच्चे भक्तादि हम सब के मंगलों का विस्तार करें ॥ ६ ॥ सब पूज्यों को नमस्कार करके और प्रयत्न से तत्त्व का स्मरण करके, सुख से बोधयोग्य सत् पुरुषों के वाक्यों का और कहीं वाक्यार्थ का संक्षेप से संग्रह करता हूँ ॥ ७ ॥

"आदि मध्य अन्त में मंगलवाला शास्त्र प्रख्यात होता है, तथा वीर आयुयुक्त पुरुषवाला होता है" इत्यादि महाभाष्य कथन से तथा "शिष्टाचार फलदर्शन श्रुतिप्रमाण से मंगलाचरण कर्तव्य है" इस सांख्यदर्शन के श्रेष्ठ वचन से समाप्ति आदि की इच्छा से किया गया मंगल, सत्यात्मा का कथन, आशीर्वाद और नमस्कार के भेद से तीन प्रकार का होता है, और कर्ता आदि के पापरूप विघ्न को नष्ट करके, इष्ट को सिद्ध करनेवाला वह होता है, तिससे आदि में मंगल का संग्रह किया जाता है ॥

मेरी वाणी मन में स्थिर हो और मन वाक् में स्थिर हो, दोनों अविरुद्ध रूप से सत्यार्थ को कहें और विचारें। और हे आविः (स्वयंप्रकाश आत्मदेव !) मेरे हृदय में प्रकट होवो, और हे वाक् और मन मेरे लिये वेद के तत्त्व को लाने के लिये समर्थ होवो, मुझसे सुने गये वेदादि मुझे नहीं त्यागें, फिर इस अधीत उपदेश से मैं रात दिन का संधान करूँगा, सदा अध्ययन करूंगा, ऋत (सत्य ब्रह्म) का कथन करूंगा, और व्यवहार में भी सत्य कहूँगा, वह ब्रह्म और सत्य मेरी तथा वक्ता गुरु की सदा रक्षा करें, और आध्यात्मिकादि दोषविघ्नों की निवृत्ति हो ॥ १ ॥

शुक्लयजुर्वेदीय शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ २ ॥

कृष्णयजुर्वेदीय शान्तिपाठः

ॐ स ह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ ३ ॥

सामवेदीय शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च । सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माऽहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणमस्तु, तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ ४ ॥

अथर्ववेदीय शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा, भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देव हितं यदायुः ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ ५ ॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद् भद्रं तन्न आसुव ॥६॥ ऋग् ५।८२।५॥ शुक्ल य० ३०।३॥

वह परोक्षस्वरूप ईश्वर पूर्ण (व्यापक) है, और यह जीव भी पारमार्थिक रूप से व्यापक ही है, तहाँ पूर्ण ब्रह्म से ही पूर्ण जीव भाव भी उद्गत (प्रकट) होता है, तहाँ पूर्ण कार्य ब्रह्म के पूर्ण सत्य स्वरूप को जान कर पूर्ण शुद्ध ब्रह्म स्वरूप ही अवशिष्ट रहता है ॥ २ ॥

वह शास्त्रादि में प्रसिद्ध निश्चित परमात्मा नौ (शिष्याचार्य) दोनों को विद्या द्वारा पालन करे, और उस विद्या के फलोपभोग द्वारा भी दोनों का साथ ही पालन करे, जिससे हम साथ ही सामर्थ्य का संपादन करें, और हमारा अधीत (पठित) वस्तु तेजस्वि हो। और हम परस्पर द्वेष वैर नहीं करें ॥३॥

मुझ मुमुक्षु के कर चरणादि अंग साधनानुष्ठान के लिये बढ़ें, तथा वागादि कर्मेन्द्रिय चक्षुः श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रिय और प्राणापानादि सब बढ़ें, सब संसार की सत्ता उपनिषद प्रतिपाद्य ब्रह्मरूप है, इससे उस ब्रह्म का निरादर निषेध मैं नहीं करूं, न ब्रह्म मेरा निराकरण करे, इससे दोनों का अनिराकरण हो, उस ब्रह्म में निरत (प्रेमयुक्त मुझमें उपनिषत् में प्रसिद्ध शमादि धर्म रहें ॥ ४ ॥

हे करण (इन्द्रिय) अभिमानी देवो ! आपकी कृपा से हम कानों से भद्र (कल्याणमय) वचन सुनें, यजत्र (यज्ञ ध्यानादि शील) हम, अथवा हे पूज्य देव ! आँखों से भद्र ही स्वरूप को देखें, स्थिर कर चरणादि स्थूल अङ्गों से युक्त होकर, तथा तनु (सूक्ष्म) मन बुद्धि आदि द्वारा और सूक्ष्म तत्त्व के बोधक वचनों द्वारा परम तत्त्व की स्तुति ध्यानादि करते हुए हम हे देवो ! हित (आरोग्यादियुक्त) आयु को प्राप्त करें। पूर्ण कीर्तिवाले इन्द्रदेव हमें स्वस्ति क्षेम मंगल दें, सर्वज्ञ सूर्य, अप्रतिहत गतिवाले गरुड़ और बृहस्पति भी हमें स्वस्ति दें ॥ ५ ॥

हे सूर्य परमात्म देव ! हमारे सब पापों को दूर नष्ट करो। और जो हमारे लिये कल्याणरूप है, उसे प्रकट प्राप्त करावो ॥ ६ ॥

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव । पुनर्ददताऽघ्नता जानता संगमेमहि ॥७॥ ऋग् अ० ४॥
ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्माऽसि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ ८ ॥ तैत्तिरीयोपनिषद् १।१॥
यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश । य ओषधिषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥९॥
श्वेता० २।१७॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ १० ॥ श्वेता० ३।४॥
य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति ।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ ११ ॥ श्वेता० ४।१॥
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तँह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ १२ ॥ श्वेता० ६।१८॥

नमः शंभवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च । नमः शिवाय च शिवस्कराय च ॥१३॥
यजुः १६।४१ ॥

हे परमात्मन् ! हम सब सूर्य चन्द्रमा के समान निरपेक्ष होकर स्वस्ति मार्ग (परोपकार) का अनुसरण करें, और बार बार उपदेश अन्नादि के दाता अहिंसक ज्ञानी के संग में रहें विचरें ॥ ७ ॥

मित्र (प्राणवृत्ति दिन के अभिमानी देव), वरुण देव, अर्यमा (नेत्र सूर्याभिमानी) देव, बृहस्पति देव, भारी पराक्रमयुक्त विष्णु देव, ये सब हमारे शं (सुख के हेतु) होवें । हिरण्यगर्भरूप ब्रह्म के प्रति नमस्कार है, वायुदेव ! तुझे नमस्कार है, तुम वायु ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, तुझे ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा, तुझे ऋत (सत्यार्थ रूप) कहूँगा, सत्यवचनरूप कहूँगा, वह समष्टि वायु शरीरी सूत्रात्मा ब्रह्म मेरी और गुरु की रक्षा करे ॥ ८ ॥

जो देव (स्वयंप्रकाश) ईश्वर अग्नि आदि में मूल कारण साक्षी आतमा अधिष्ठानाधारादि रूप से पैठा है, तिस स्वयंप्रकाश को बार २ नमस्कार है ॥ ९ ॥ जो सब देवों का प्रभव (उत्पत्ति स्थान) तथा उद्भव (विभूति वृद्धि का स्थान) है, तथा संसार का स्वामी और प्रलय काल में रुद्र (रोदनकारक रोग-हन्ता) है, तथा महर्षि (सर्वज्ञ) है इसीसे जो सृष्टि के आदि काल में ज्ञानगर्भ ब्रह्मा को उत्पन्न किया, सो सर्वात्मा हमे शुभ बुद्धि से संयुक्त करें ॥ १० ॥ जो एक (अद्वितीय) प्रभु अवर्ण (जाति नामरूप रहित) होते भी तथा निहितार्थ (प्रयोजन रहित) भी होते नाना मायाशक्ति के सम्बन्ध से बहुत प्रकार का होता है, तथा अनेक वर्णों को सिद्ध करता है, अन्त में सब को विलय करता है, वह देव हमे शुभ बुद्धि से संयुक्त करे ॥ ११ ॥ जो परमातमा पहले हिरण्य गर्भ को सिद्ध करता है, और उन्हें सब वेदों को देता है, अपनी बुद्धि के प्रकाशक साक्षी उस देवरूप शरण (रक्षक) को मैं मुमुक्षु प्राप्त होता हूँ ॥ १२ ॥

शं, सुख, रूप सुख का हेतु, तथा मयः (मोक्ष सुख) का हेतु, अतः सुखकारक मयस्कारक कल्याण रूप अत्यन्तकल्याण स्वरूप के प्रति नमस्कार है ॥ १३ ॥

यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः। पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्रह्मणे ॥१४॥ यजुः ३१।२०॥

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा। भवाय च शर्वाय च उभाभ्यामकरं नमः ॥ १५ ॥
अथर्व० ११।१।१६॥

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति। स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १६ ॥
अथर्व० १०।८।१॥

यस्य भूमिः प्रमा अन्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥१७॥ अथर्व १०।७।३२॥

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। अग्निं यश्चक्रे आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥१८॥ अथर्व० १०।७।३३॥

शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नोऽस्तु कृताकृतम्। शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः ॥ १९ ॥
अथर्व० १६।६।२॥

इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम्। येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः ॥२०॥ अथर्व० १६।९।४॥

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि।
यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः ॥ २१ ॥ अथर्व० १६।९।५॥

वरं वरेण्यं वरदं वरदानां च कारणम्। कारणं सर्वभूतानां तेजोरूपं नमाम्यहम् ॥ २२ ॥

मङ्गलं मङ्गलानां च मङ्गलमङ्गलप्रदम्। समस्तमङ्गलाधारं तेजोरूपं नमाम्यहम् ॥ २३ ॥

स्थितं सर्वत्र निर्लिप्तमात्मरूपं परात्परम्। निरीहमवितर्क्यं च तेजोरूपं नमाम्यहम् ॥ २४ ॥

जो परमात्मा देवताओं के लिये सूर्य रूप से प्रकाशता है, तथा देवताओं से आगे सब कार्यों में हित (प्राप्त-स्थिर) होता है। तथा देव से प्रथम उत्पन्न हिरण्यगर्भादिरूप से हुआ है, तिस ब्रह्मापत्य रुचाय (प्रकाश) को नमस्कार है ॥ १४ ॥

सायं आदि काल में ईश्वर मूर्त्ति भव (उत्पादक) शर्व (नाशक) दोनों देवों के लिये नमस्कार है ॥१५॥ जो भूत भविष्यादि सब का अधिष्ठाता है, तथा जिसका केवल स्वर (सुख) स्वरूप है, उस सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म को नमस्कार है ॥१६॥ पृथिवी जिसकी प्रमा (यथार्थ ज्ञान का हेतु पादरूप) है, अन्तरिक्ष उदरतुल्य है, जो (जिसने) स्वर्ग को अपना शिर बनाया उसे नमस्कार है ॥१७॥ जिसके सूर्य चक्षु और चन्द्रमा सदा नवीन स्वरूप हैं, तथा जो (जिसने) अग्नि को मुख बनाया है उसे नमस्कार है ॥१८॥ कारणरूप सब और कार्यरूप पूर्णकृत अल्पकृत तथा भूतादि सब मेरे शान्त सुखरूप होवें ॥ १९ ॥

जो यह पारमेष्ठी (ईश्वर रचित) ब्रह्म से ही स्वविषय में प्रवर्तित मन है, और जिस मन से घोर (भयंकर) कर्म को जीव ने किया है, तिस मन से हमें शान्ति हो ॥ २० ॥ छठवाँ मन सहित जो ये पांच ज्ञानेन्द्रिय मेरे हृदय में हैं, जो कि ब्रह्म से ही अपने विषयों में व्यापारित हैं, और जिनसे घोर कर्म किये गये हैं, उनसे हमे शान्ति हो ॥ २१ ॥

श्रेष्ठ, देवादि से आदृत, वर के दाता, वरदाताओं के कारण तथा सब भूत (प्राणी भूमि आदि) के कारण तेजोरूप (प्रकाश-ज्ञान स्वरूप) को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २२ ॥ शुभों के शुभ स्वरूप, शुभों से शुभ के दाता, सब शुभ (कल्याण) के आधार तेजोरूप को नमस्कार करता हूँ ॥ २३ ॥ सर्वत्र स्थिर रहते भी असंग सर्वात्म स्वरूप, कार्य पर प्रकृति आदि से भी पर (उत्तम) इच्छा क्रिया रहित, वितर्क के अविषय तेजोरूप को नमस्कार करता हूँ ॥ २४ ॥

सगुणं निर्गुणं ब्रह्म ज्योतीरूपं सनातनम् । साकारं च निराकारं तेजोरूपं नमाम्यहम् ॥ २५ ॥
सर्वाधारं सर्वरूपं सर्वबीजमबीजकम् । सर्वान्तकमनन्तं च तेजोरूपं नमाम्यहम् ॥ २६ ॥

ब्रह्मवैवर्त्तपु० कृष्णजन्मखं० ५।६३-६७ ॥

यं पठन्ति सदा सांख्याश्चिन्तयन्ति च योगिनः । परं प्रधानं पुरुषं तस्मै ज्ञेयात्मने नमः ॥ २७ ॥
उत्पत्तौ च विनाशे च कारणं यं विदुर्बुधाः । देवासुरमनुष्याणां तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥ २८ ॥
यः पवित्रः पवित्राणामादिदेवो महेश्वरः । पुनाति दर्शनादेव तस्मै तीर्थात्मने नमः ॥ २९ ॥

स्कन्दपु० खं० ७ अ० २४ ॥

तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते । योगमायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः ॥ ३० ॥
यज्वभिर्यज्ञपुरुषो वासुदेवश्च सात्वतैः । वेदान्तवेदिभिर्विष्णुः प्रोच्यते यो नतोऽस्मि तम् ॥ ३१ ॥
श्रीहरिं परमानन्दमुपदेष्टारमीश्वरम् । व्यापकं सर्वलोकानां कारणं तं नमाम्यहम् ॥ ३२ ॥

अपरोक्षानुभू० १ ॥

व्यापकत्वं हि सर्वस्मिन् सम्बद्धत्वं हि सर्वथा । सर्वात्मना तदस्तीह ह्यधिष्ठानस्य वस्तुनः ॥ ३३ ॥

वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावल्याम् ॥

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च । यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः ॥ ३४ ॥
ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयं द्रष्टा दर्शनदृश्यभूः । कर्त्ता हेतुः क्रिया यस्मात्तस्मै ज्ञप्त्यात्मने नमः ॥ ३५ ॥

सगुण (ईश्वर) और निर्गुण ब्रह्म, अनादि दृष्टि (ज्ञान) रूप और साकार निराकार तेजोरूप (प्रभाव स्वरूप) को नमस्कार करता हूँ ॥ २५ ॥ सब का आधार सब के आत्म स्वरूप, माया द्वारा सब के बीज स्वयं बीज रहित काल रूप से सब के नाशक और स्वयं व्यापक अविनाशी तेजोरूप को नमस्कार करता हूँ ॥ २६ ॥

विवेकी विचारशील जिसके बोधक शब्दों को पढ़ते हैं, योगी जिस उत्तम प्रधान पुरुष का ध्यान करते हैं, उस ज्ञेय आत्मा के प्रति नमस्कार है ॥ २७ ॥ देवादि सब की उत्पत्ति में तथा नाश में पण्डित लोग जिसको कारण समझते हैं, उस ज्ञान स्वरूप को नमस्कार है ॥ २८ ॥ असंग होने से जो सब पवित्रों का भी पवित्र आदि देव महान् ईश्वर है, और अपरोक्ष दर्शन (ज्ञान) से ही जो पवित्र (मुक्त) करता है, उस तीर्थात्मा को नमस्कार है ॥ २९ ॥

विस्तृत अविद्या स्वरूप योगमाया (आसक्ति युक्ति ऐश्वर्यादिरूप माया) को जिसे हृदय में अपरोक्ष निश्चय कर लेने से ही जीव तर जाता है, तिस विभु ज्ञान स्वरूप को नमस्कार है ॥ ३० ॥ यज्ञशीलों से जो यज्ञपुरुष कहा जाता है, परमात्मभक्तों से वासुदेव कहा जाता है, वेदान्तज्ञों से विष्णु (व्यापक ब्रह्म) कहा जाता है, उसको नमस्कार करता हूँ ॥ ३१ ॥

जो शुद्ध स्वरूप से परमानन्द स्वरूप गुरु रूप से उपदेशक माया विशिष्ट रूप से ईश्वर सब लोक का कारण व्यापक है तिस श्रीहरि को प्रणाम करता हूँ ॥ ३२ ॥ सब में सर्वथा सर्वात्मरूप से संबन्धवाला होना ही व्यापकता है, सो संसार भ्रम के अधिष्ठान वस्तु को ही है ॥ ३३ ॥

जिससे सब भूत प्रतिभात (प्रकट) होते हैं, जिसमें स्थिर होते हैं, तथा जिसमें लीन लुप्त होते हैं, तिस सत्यात्मा के प्रति नमस्कार है ॥ ३४ ॥ ज्ञाता (जीव), ज्ञान, ज्ञेय, द्रष्टा, दर्शन, दृश्य होनेवाला, कर्म, कर्ता, कर्म का हेतु और व्यापार जिससे सिद्ध प्रकाशित होते हैं, तिस ज्ञान स्वरूप को नमस्कार है ॥३५॥

दिवि भूमौ तथाऽऽकाशे बहिरन्तश्च मे विभुः । यो विभात्यवभासात्मा तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ ३६ ॥
योगवासिष्ठे ३।१-२।१।२॥

स्मृते सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते । पुरुषस्तमजं नित्यं व्रजामि शरणं हरिम् ॥ ३७ ॥
सर्वदा सर्वकार्येषु नास्ति तेषाममङ्गलम् । येषां हृदिस्थो भगवान् मङ्गलायतनो हरिः ॥ ३८ ॥
स्कन्द पु० खं० ५-३ अ० १५७॥ विष्णु पु० अ० ५।१०॥

अशुभानि निराचष्टे तनोति शुभसंततिम् । स्मृतिमात्रेण यत्पुंसां ब्रह्म तन्मङ्गलं विदुः ॥ ३९ ॥
मङ्गलं यत्परं ब्रह्म तदेव निजशक्तितः । विभाति विविधाकारं तन्नमामि सनातनम् ॥ ४० ॥
अखिलाग्निमयं देवं सर्वदेवमयं प्रभुम् । सर्वप्राणमयं प्राणं सवितारं नमाम्यहम् ॥ ४१ ॥
आधिव्याधिहरं हृद्यं हृदयाकाशवासिनम् । निरन्तरं निजानन्दं सवितारं नमाम्यहम् ॥ ४२ ॥
शरण्यं सर्वदं सर्वकारणं सर्वमङ्गलम् । अनादिनिधनं नित्यं सवितारं नमाम्यहम् ॥ ४३ ॥
लोकोद्भवलयस्थानं सर्वाकारं गतस्मयम् । अभयं भयहर्त्तारं सवितारं नमाम्यहम् ॥ ४४ ॥
दीनबन्धुं दयागारं देवदेवं निरञ्जनम् । निर्मलं निर्विकारं च सवितारं नमाम्यहम् ॥ ४५ ॥
शान्तं शाश्वतमेकान्तं व्यापकं व्यूहवर्जितम् । विवादाविषयं वेद्यं सवितारं नमाम्यहम् ॥ ४६ ॥
पापपुञ्जप्रदग्धारं तापत्रितयनाशकम् । त्रासकं खलसंघानां सवितारं नमाम्यहम् ॥ ४७ ॥
दिव्यज्ञानोपदेष्टारं हृदयग्रन्थिनाशकम् । भासकं गुह्यतत्त्वानां सवितारं नमाम्यहम् ॥ ४८ ॥

स्वर्ग भूमि अन्तरिक्ष-लोक में तथा मेरे बाहर भीतर जो विभु प्रकाशात्मा विविध रूप से भासता है, तिस सर्वात्मा को नमस्कार है ॥ ३६ ॥

जिसके याद होने मात्र से पुरुष सबकल्याण के पात्र होते हैं, उस नित्य अजन्मा रक्षक हरि को प्राप्त होता हूँ ॥ ३७ ॥ सदा सब कार्य में उन्हें अमंगल नहीं है कि जिनके हृदय में मंगलाश्रय हरि हैं ॥३८॥ वस्तुतः जो ब्रह्म स्मरणमात्र से सब अशुभ को नष्ट करता है, और शुभ के प्रवाह को बढ़ाता है, उसीको महात्मा लोग मंगल समझते हैं ॥ ३९ ॥

जो परब्रह्म मंगलरूप है, सोई अपनी मायाशक्ति से नाना रूप भासता है, उस नित्य को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४० ॥ सब अग्नि सब देव सब प्राण स्वरूप हिरण्यगर्भरूप सविता देव को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४१ ॥ ध्यानादि से मानस दैहिक रोग के नाशक, सबके प्रिय, हृदयाकाश के निवासी, व्यवधान रहित, नित्यानन्द रूप सविता को नमस्कार करता हूँ ॥ ४२ ॥

शरणागत का हितरक्षक, सब शुभ के दाता, सबके कारण, सर्वमंगल स्वरूप, उत्पत्ति नाश रहित अतएव नित्य ॥ ४३ ॥ सब लोकों के उत्पत्ति विलय का स्थान, सब आकारवाला, होता हुआ भी 'मैं ऐसा धन्य हूँ' इत्यादि स्मय (आश्चर्य-उत्कर्ष बुद्धि) से रहित, तथा भेदादि के अभाव से अभय और ज्ञानादि मात्र से भय का नाशक ॥४४॥ दीन गरीब का सहायक, दया का घर, देवों का देव, शुद्ध, अतएव पापादि मलरहित निर्विकार ॥ ४५ ॥ निरुपद्रव, अनादि, एकरस, व्यापक, सत्य रचना समूह रहित, सर्वात्मत्व से विवाद का अविषय, जानने योग्य ॥४६॥ जानने पर पाप समूह का तथा तीनों तापों का नाशक, कामादि खलों का त्रासक ॥ ४७ ॥ गुरु रूप से दिव्य ज्ञान का उपदेशक, हृदयगत मोहादि का नाशक, गुप्त तत्त्व का प्रकाशक उस सविता को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४८ ॥

अवितारं हि लोकानां शोकानामन्तकारकम् । अव्ययं नित्यनिर्द्वन्द्वं सवितारं नमाम्यहम् ॥ ४९ ॥
यस्य ज्ञानान्न संसारो ध्यानाद्यस्य न दुःखिता । हनूमांस्तं परं देवं सवितारं हि मन्यते ॥ ५० ॥
यस्य ध्यानाच्चतुर्वर्गं निर्विघ्नं प्राप्नुयान्नरः । तं गणेशं शिवं ब्रह्म गुरुं राममहं भजे ॥ ५१ ॥
परापरात्मना विद्या या पाति सद्विवेकिनम् । साधिष्ठात्रीमहं वन्दे पावनीं पापपुञ्जतः ॥ ५२ ॥
सर्वं स्ववति यः शश्वन्नित्यतृप्तो निराश्रयः । मुक्तिदं भवहर्त्तारं तमोंकारं नमाम्यहम् ॥ ५३ ॥
रमन्ते योगिनो यस्मिन् रमते रमयंश्च यः । चिदानन्दमयो नित्यस्तं रामं रमणं भजे ॥ ५४ ॥
पात्येव सर्वजन्तून् यः सत्ताचिन्मात्रतो जगत् । विदितो वै विशेषेण तं रामोंकारमाश्रये ॥ ५५ ॥
तिष्ठन् गच्छति सर्वत्र शयानो याति भाति च । अत्येति धावतोऽन्यान् यस्तं रामोंकारमाश्रये ॥५६॥
गच्छति यं जनः सुप्तौ मुक्तौ ज्ञानात्तमोहतौ । प्राप्तं प्राप्नोति यं ज्ञप्तावाश्रयं तमहं भजे ॥ ५७ ॥
स्वयं शुभति यः शश्वद्येन चान्योऽपि शोभते । निखिलं शोभयन्तं तं सद्रामोंकारमाश्रये ॥ ५८ ॥

वेदसारस्तोत्रादौ—

परात्मानमेकं जगद्बीजमाद्यं निरीहं निराकारमोंकारवेद्यम् ।
यतो जायते पाल्यते येन विश्वं तमोशं भजे लीयते यत्र विश्वम् ॥ ५९ ॥

सब लोकों के रक्षक, शोकों के नाशक, विकाररहित, सदा द्वन्द्वरहित सविता को नमस्कार करता हूँ ॥ ४९ ॥ जिसके अपरोक्ष ज्ञान से संसार नहीं होता है, ध्यान से दुःखीपन नहीं रहता है, उसी परम देव को 'हनुमान्' "तत्सवितुर्वरेण्यम्" इत्यादि वेद वचनोक्त सविता मानता है ॥ ५० ॥ जिसके ध्यान से मनुष्य अर्थ धर्मादि चारों को विघ्न बिना प्राप्त करता है, उसी गणेश शिव ब्रह्म गुरु रामरूप एक वस्तु को मैं भजता हूँ ॥ ५१ ॥ परा और अपरा रूप से जो विद्या सत्यात्म विवेकी की रक्षा करती है, अधिष्ठाता सहित और पापराशि से रक्षा पवित्र करनेवाली उस विद्या की मैं वन्दना करता हूँ ॥ ५२ ॥ सदा तृप्त और निराधार जो ओंकार, सब की सदा अच्छी तरह रक्षा करता है, मोक्षदाता संसार हर्ता उस ओंकार को नमस्कार करता हूँ ॥ ५३ ॥ जिसमें योगी रमते आनन्द पाते हैं, और जो स्वयं दूसरे को रमण कराता हुवा रमता है, और नित्य चिदानन्द स्वरूप है, उस रामरूप स्वामी को मैं भजता हूँ ॥ ५४ ॥ जो सत्ता चेतनता मात्र से सब प्राणियों और जगत् का पालन करता है, परन्तु ज्ञात होने पर अधिक पालन करता है, उस रामरूप ओंकार (रक्षक) का मैं आश्रय लेता हूँ ॥ ५५ ॥

जो क्रिया बिना भी सर्वत्र प्राप्त है, अविद्यादि से सोये रहने पर भी सर्वत्र प्राप्त होता और प्रकाशता है, दौरनेवाले दूसरों का उल्लंघन करता है, उस राम ओंकार का मैं आश्रय लेता हूँ ॥५६॥ सुषुप्ति में विश्राम के लिये, प्राणी जहाँ जाते हैं तथा ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होने पर मुक्तिकाल में जहाँ जाते हैं, ज्ञान काल में जिस नित्य प्राप्त को ही प्राप्त करते हैं, उस सर्वाश्रय को मैं भजता हूँ ॥ ५७ ॥ जो सदा स्वयं शोभा पाता है, और जिससे अन्य भी प्रकाशते हैं, इससे सबको शोभा प्रकाश देनेवाले उस राम ओंकार का मैं आश्रय लेता हूँ ॥ ५८ ॥ सब का आदि स्वरूप जगत् का कारण इच्छा आकारादि रहित ओंकार से जानने योग्य, तथा जिससे संसार उत्पन्न होता है, पाला जाता है, और जिसमें लीन होता है, उस परमात्मा रूप एक ईश्वर को मैं भजता हूँ ॥ ५९ ॥

न भूमिर्न चापो न वह्निर्न वायुर्न चाकाशमास्ते न तन्द्रा न निद्रा ।
न तापो न शीतं न देशो न वेषो न यस्याऽस्ति मूर्तिस्त्रिमूर्तिं तमीडे ॥ ६० ॥
अजं शाश्वतं कारणं कारणानां शिवं केवलं भासकं भासकानाम् ।
तुरीयं तमःपारमाद्यन्तहीनं प्रपद्ये परं पावनं द्वैतहीनम् ॥ ६१ ॥
नमस्ते नमस्ते विभो ! विश्वमूर्त्ते ! नमस्ते नमस्ते चिदानन्दमूर्त्ते ! ।
नमस्ते नमस्ते तपोयोगगम्य ! नमस्ते नमस्ते श्रुतिज्ञानगम्य ! ॥ ६२ ॥
नमस्ते सते ते जगत्कारणाय, नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय ।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय, नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय ॥ ६३ ॥
नमस्तेऽतिमुक्ताय शान्तिप्रदाय, नमस्ते सदा शुद्धबुद्धात्मकाय ।
नमः पालकायातिसौख्यप्रदाय, नमः स्वप्रकाशाय भक्तिप्रियाय ॥ ६४ ॥
नमस्ते शरण्याय विद्याप्रदाय, नमस्ते वरेण्याय वै पावनाय ।
नमो निर्विकल्पाय संरक्षकाय, नमस्ते नमस्ते सदा निश्चलाय ॥ ६५ ॥
नमोऽतिप्रियायातिशान्तिप्रदाय, निजानन्दलेशेन संतोषकाय ।
सुतृप्ताय तृप्तिप्रदायामलाय, निजानन्दरूपाय सर्वात्मकाय ॥ ६६ ॥
नमः सर्ववेद्याय वै व्यापकाय, सदा श्रवणार्हाय संश्रावकाय ।
नमः श्रोत्रसाराय सर्वप्रियाय, सदैवेश्वरायातिसौख्यार्पकाय ॥ ६७ ॥
नमः स्वामिने स्वात्मनः प्रापकाय, नमोऽलिप्तरूपाय वै कारकाय ।
नमो निर्गुणाय स्वतो व्यापकाय, नमः सर्वसाक्षिस्वरूपाय नित्यम् ॥ ६८ ॥
नमोऽरक्तिशक्तिप्रदायाथ भागविशुद्धिप्रदाय नमो ह्यक्षराय ।
नमो ब्रह्मणे व्यापिनां व्यापकाय, नमः सर्वसाराय भूम्नेऽव्ययाय ॥ ६९ ॥

जिस में भूमि आदि का सम्बन्ध नहीं है, न वह भूमि आदि स्वरूप है, न ताप आदि जिसमें है, तिस वास्तविक मूर्त्ति रहित त्रिमूर्ति की मैं स्तुति करता हूँ ॥ ६० ॥ जो अज, नित्य, कारणों का कारण, शुभ, एक, प्रकाशकों का प्रकाशक, तीन अवस्था का साक्षी, तम अज्ञान रहित, जन्म मरण रहित, अत्यन्त पावन और द्वैत रहित है उसको मैं प्राप्त होता हूँ ॥ ६१ ॥ विभु आदि स्वरूप तप योग श्रुति जन्य ज्ञान से प्राप्त करने योग्य तुमको नमस्कार है ॥ ६२ ॥

सत, चित, सब के कारण, लोकों के आश्रय, अद्वैत वस्तु, मुक्तिदाता, व्यापक, नित्य, तुम ब्रह्म के प्रति नमस्कार है ॥ ६३ ॥ सर्वथा सदा अत्यन्त मुक्त शान्तिप्रद शुद्धादि स्वरूप को नमस्कार है ॥ ६४ ॥ शरणागत के रक्षकादि निर्गुण स्वरूप को नमस्कार है ॥ ६५ ॥ अतिप्रियात्मारूप, सब से जानने योग्य तथा सुनानेवाले गुरुरूप, सब इन्द्रियों को शक्तिप्रद, असंग कर्ता, स्वरूप से व्यापक, विराग की शक्ति को देनेवाले अविनाशी अव्यय विभु ब्रह्म के लिये नमस्कार है ॥ ६६–६९ ॥

शम्भुं सौख्यकरं वन्दे हरं कामहरं परम् । शिवं कल्याणकर्त्तारं महेश्वरं महाप्रभुम् ॥ ७० ॥
शङ्करं कंधरं वन्दे भवं भावविवर्द्धनम् । त्रिपुरारिं त्रिदेहानां नाशेन मुक्तिदायकम् ॥ ७१ ॥
अत्राणे यो भवेत्त्राणं सभये निर्भयः सदा । सर्वेषां सुहृदात्मा यः स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥ ७२ ॥
भक्ताभीष्टप्रदं वन्दे भगवन्तं भवापहम् । भक्तिमुक्तिप्रदं नित्यं भावज्ञं भक्तवत्सलम् ॥ ७३ ॥
यः सूर्यः शं दधातीशः सर्वात्मा ज्योतिरव्ययः । स सतां हृदये भातु पातु लोकानमोघदृक् ॥ ७४ ॥
सर्वचक्षुःषु यो देवो वर्त्तमानोऽप्यसङ्गदृक् । स देवो मे तमोराशिं बहिरन्तर्निरस्यतु ॥ ७५ ॥
गणेशो गणनाथो यो देवानामपि देवता । नित्यध्येयो गुरुर्ज्ञेयः स मे विघ्नान्निरस्यतु ॥ ७६ ॥
साधिष्ठातॄन् सहाङ्गांश्च वेदान् वन्दे सहेश्वरान् । शुद्धान् सर्वहितानाद्यान्नानाभाषाविभूषितान् ॥ ७७ ॥
सद्धर्मरक्षकान् सर्वानृषिदेवादिसंयुतान् । भावयन्न जनो भूयो भवभागमलो भवेत् ॥ ७८ ॥
अविद्यामलमित्युक्तं तस्माद् भेदः प्रवर्त्तते । रागद्वेषादयो दोषा जायन्ते तन्निबन्धनाः ॥ ७९ ॥
रागद्वेषादिसत्त्वे तु कर्मबन्धप्रवर्त्तकम् । जायते वासनाबीजमङ्कुराय प्रकल्पते ॥ ८० ॥
वासनाबीजप्रोद्भूतौ मनश्चञ्चलमर्कटः । आलम्बते वपुः शाखां भ्रमतीहैव सर्वदा ॥ ८१ ॥
मलरागादिसत्त्वे हि मनो वेदविदामपि । मनस्त्वं न जहातीह शान्तिमेति न कुत्रचित् ॥ ८२ ॥

सुखकारक शंभु, कामादि के नाशक सर्वोत्तम हर, मोक्षकर्ता शिव, महान् प्रभु महेश्वर की मैं वन्दना करता हूँ ॥ ७० ॥ सुखधारक शंकर, भक्ति सुशीलादि को बढानेवाले भव, अविद्यादि रूप तीनों देहों के नाश से मुक्तिदाता त्रिपुरारि की वन्दना करता हूँ ॥ ७१ ॥ रक्षण रहित स्थानादि में जो रक्षण होता है, भय सहित में सदा निर्भय स्वरूप होता है, जो सब का निरपेक्ष मित्र और आत्मा है, सो विष्णु मेरे लिये प्रसन्न-प्रकट हों ॥ ७२ ॥ भक्तों के सर्वथा इष्ट दाता, जन्मनाशक भक्ति मुक्तिदाता, भावों के ज्ञाता, भक्तों के प्रिय, नित्य भगवान् की वन्दना करता हूँ ॥ ७३ ॥ समर्थ सर्वात्मा निर्विकार ज्योतिस्वरूप जो सूर्य ईश्वररूप से सुख का धारण करते हैं, सो सफल दृष्टिवाले सूर्य सत्पुरुषों के हृदय में प्रकाशें और लोकों को पालें ॥ ७४ ॥ जो देव सब के नेत्र में रहते हुए भी असंग द्रष्टा हैं, सो मेरे बाहर भीतर के तमपुञ्ज को नष्ट करें ॥ ७५ ॥

सब संघ का स्वामी, देवों का देव, सदा ध्यान के योग्य, जानने योग्य और गुरु रूप जो गणेश हैं, सो मेरे विघ्नों को नष्ट करें ॥ ७६ ॥ अधिष्ठाता देव, अङ्ग, ईश्वर सहित, शुद्ध, सर्व के हित, आदि में व्यक्त होने वाले नाना भाषा से शोभित, सत्यधर्म के रक्षक, ऋषिदेवादिसहित सब वेदों की वन्दना करता हूँ कि जिनकी भावना विचारादि करता हुवा मनुष्य पवित्र होकर फिर संसार दुःख को नहीं भोगता है ॥ ७७–७८ ॥ अज्ञान ही मल कहा गया है, तिससे भेद सिद्ध होता है, तिस भेद के अधीन रागद्वेषादि रूप दोष उत्पन्न होते हैं ॥ ७९ ॥ रागद्वेषादि के रहने पर जन्मादिबन्धन को सिद्ध करनेवाला कर्म होता है, और वासना रूप बीज अंकुर के लिए समर्थ होता है ॥ ८० ॥ वासना बीज से देहादि के प्रकट होने पर चञ्चल वानर रूप मन देह रूप शाखा को धारण करता है, और इस संसारवृक्ष पर ही सदा भरमता है ॥ ८१ ॥ मलरागादि के रहते वेदज्ञों का मन भी चञ्चलतादि रूप मनपन को नहीं त्यागता है, न यहाँ कहीं शान्ति पाता है ॥ ८२ ॥

शान्तिमेति मनो यस्य मनस्त्वं च जहात्यथ । स वेदानखिलान् वेद तं वन्दे पावनं परम् ॥ ८३ ॥
"ॐ कारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ" ॥८४॥

इत्यादि नारदीयपुराणरीत्या चोंकाराथशब्दावीश्वरनामानि च श्रवणादिमात्रेणापि श्रद्धालोर्मङ्गलार्थानि भवन्त्येव। जैनादयोऽपि स्वं स्वं देवं सर्वज्ञमीश्वरमेव मन्यन्ते, तेषां मते जगतोऽनादित्वाद्विश्वकर्त्तारं वैदिकमीश्वरं ते न मन्यन्ते। तस्मात्तेऽपि स्वस्वग्रन्थादीनामारम्भकाले स्वस्वदेवस्य स्मरणाद्यात्मकं मङ्गलाचरणं कुर्वन्त्येव। मनसापि ते स्वदेवं न स्मरन्तीति को वक्तुमर्हति ? सांख्यविदोपि प्रकृतिं नमस्कुर्वन्ति पठन्ति चाथ शब्दमिति। न्यायाचार्यैरपि 'प्रमितिः प्रमाणम्' इति विग्रहसिद्धज्ञानस्वरूपपरब्रह्मवाचकप्रमाणपदप्रयोगेण मङ्गलमाचरितमेव, तस्मान्मङ्गलाया-चरणं मङ्गलाचरणं मङ्गलस्याचरणं मङ्गलाचरणं मङ्गलं च तदाचरणं चेति मङ्गलाचरणं सर्वमत-साधारणं सिद्धम् ॥

संसारसिन्धौ परितो भ्रमन्तं कामादिपाशैः सुतरां निबद्धम् ।
संमुच्य यः पाति हरो हरिर्वा देवो गुरुर्वै तमहं नु वन्दे ॥ ८५ ॥
मोहाकुलं ज्ञानलवैर्विहीनं संसारसिन्धौ पतितं विमूढम् ।
विज्ञानदानेन हि तारयन्तं देवादिकं सर्वमहं नमामि ॥ ८६ ॥
देवादिसत्त्वेषु न भेदगन्धः सर्वे सदा सच्चिदजात्मरूपाः ।
मोहेन भेदं कुरुते जनो यो रागादिदोषैः स हि तप्यतेऽत्र ॥ ८७ ॥

जिनका मन शान्ति पाता है, और मनोरूपता को त्यागता है, वे ही सब वेदों को जानते हैं, तिस परम पावन की मैं बन्दना करता हूँ ॥ ८३ ॥ "ओंकार और अथ शब्द ये दोनों प्रथम ब्रह्मा के कण्ठ को भेदन करके प्रकट हुए, तिससे दोनों मंगल के हेतु हैं" ॥ ८४ ॥

इत्यादि नारदपुराण की रीति से ओंकार और अथ शब्द तथा सब ईश्वर के नाम श्रवण उच्चारणादि मात्र से भी श्रद्धालुओं के कल्याण के लिये होते हैं, और जैनादि भी अपने देव को सर्वज्ञ ईश्वर ही मानते हैं, उनके मत में संसार के अनादि होने से संसार के कर्ता वैदिक ईश्वर को वे लोग नहीं मानते हैं, तिससे वे लोग भी अपने २ ग्रन्थादि के आरम्भ काल में अपने २ देवों के स्मरणादि रूप मङ्गलाचरण करते ही हैं, "मनसे भी वे अपने देव को नहीं याद करते हैं" ऐसा कहने के लिये कौन समर्थ है ? सांख्यवेत्ता भी प्रकृत्ति को नमस्कार करते हैं, और अथ शब्द पढ़ते हैं, न्याय के आचार्य ने भी 'प्रमिति (ज्ञान) प्रमाण कहाता है' इस विग्रह (अवयवार्थ कथन) से सिद्ध ज्ञानस्वरूप परब्रह्म के वाचक प्रमाण, पद के उच्चारण से मङ्गलाचरण किया है तिससे मङ्गल के लिये, वा मङ्गल का, या मङ्गलरूप जो आचरण सो मङ्गलाचरण सब मत साधारण सिद्ध है ॥

संसार समुद्र में सर्वत्र भ्रमता हुवा, कामादि बन्धनों से अत्यन्त बद्ध को मुक्त करके जो हर हरि देव वा गुरु रक्षा करते हैं, उन्हीं की मैं वन्दना करता हूँ ॥ ८५ ॥ मोह से व्याकुल, ज्ञान के लवमात्र से भी रहित, संसार समुद्र में गिरे हुए विमूढ को विज्ञान देकर तारनेवाले देवादि सबको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ८६ ॥ देवादि स्वभावों में वस्तु के भेद का गन्ध (लेश) भी नहीं है, ये सब सदा सत् चित् अज आत्म स्वरूप हैं, जो जन मोह से इनमें भेदबुद्धि करता है, सो रागद्वेषादि दोषों से यहाँ तप्त होता है ॥ ८७ ॥

विज्ञानभेदं हि विधूय सम्यगात्मानमेकं सततं निरीक्ष्य ।
देवादिभेदेषु परेश्वरस्य व्यक्तिं हि बुद्ध्वाऽत्र तमाश्रयेच्च ॥ ८८ ॥

वाक्यपदीये १ काण्डे :—

एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात् । अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते ॥ ८९ ॥
प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदो महर्षिभिः । एकोऽप्यनेक वर्त्मेव समाम्नातः पृथक् पृथक् ॥ ९० ॥
स्मृतयो बहुरूपाश्च दृष्टादृष्टप्रयोजनाः । तमेवाश्रित्य लिङ्गेभ्यो वेदविद्भिः प्रकाशिताः ॥ ९१ ॥
तस्यार्थवादरूपाणि निश्रित्य स्वविकल्पजाः । एकत्विनां द्वैतिनां च प्रवादा बहुधा मताः ॥ ९२ ॥
सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा । युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिनी ॥ ९३ ॥

भविष्यपु० पर्व० २।६ :—

"गुरुदेवप्रसादेन लब्धा विद्या यशस्करी । शिवरूप ! नमस्तस्मै संसारार्णवसेतवे ॥ ९४ ॥
दृष्टदेवं च यो हित्वा अदृष्टं च निषेवते । पापात्मा परमः सैकस्तिर्यग्योनिं च गच्छति ॥ ९५ ॥
इत्यादिवचनाद्यश्च विद्याज्ञानप्रदो गुरुः । उपास्यः प्रकटो देवस्तत्स्वरूपादि कथ्यते ॥ ९६ ॥

इति मङ्गलप्रकरणम् ।

इसलिये बुद्धि के भेद को अच्छी तरह से नष्ट करके निरन्तर एक आत्मा को देखकर, तथा देवादि भेदों में परमात्मा की ही व्यक्ति (अभिव्यक्त पृथक् स्वरूप) को जानकर, उस परमात्म स्वरूप का ही यहाँ ग्रहणादि करे ॥ ८८ ॥

जो सद् ब्रह्म वेद में एक ही पढ़ा कहा गया है, सो "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" बृहदा० २।५।१९॥ इत्यादि श्रुति के अनुसार मायारूपशक्ति के सम्बन्ध से भिन्न बहुत रूप होता है, इससे अपृथक्ता होते हुए शक्तियों से पृथक्त्व के तुल्य रहता है ॥ ८९ ॥ उसकी प्राप्ति के उपाय और अनुकरण रूप महर्षियों से एक भी वेद बहुत मार्गयुक्त के समान जुदा २ कहा पढ़ा गया है ॥ ९० ॥ वेदवेत्ता लोग उसी वेद का आश्रय लेकर तत्तत् हेतुओं से प्रत्यक्ष परोक्ष प्रयोजन वाली बहुत रूपवाली स्मृतियों का प्रकाशन (रचना) किया है ॥ ९१ ॥ और उस वेद के ही अर्थ वादरूप वाक्यों का जुदा रीति से निश्चय करके एकत्व द्वित्व वादियों के अपने विकल्पों से जन्य बहुत प्रकार के प्रवाद (भिन्न २ वाद) माने गये हैं ॥ ९२ ॥ उस वेद में सत्य विशुद्धि रूप विद्या ही कही गई है, जिसकी प्राप्ति एकपद ओंकार की उपासना विचारादि से होती है, अतएव जो प्रणव (ओंकार) रूप से युक्त है, और सब वाद का अविरोधिनी है ॥ ९३ ॥

गुरु और देव की कृपा से प्राप्त की गई विद्या यशस्करी होती है, इसलिये हे कल्याणरूप गुरो ! तिस संसारसमुद्र के पुल रूप आपको नमस्कार है ॥ ९४ ॥ प्रत्यक्ष देव पिता माता गुरु आदि को त्याग कर जो परोक्ष देव की सेवा करता है, सो परम पापी है, पापियों में मुख्य प्रधान है, इससे तिर्यग् योनि में जाता है ॥ ९५ ॥ इत्यादि वचनों से सिद्ध होता है कि शास्त्रीयविद्या आत्मज्ञान के दाता जो गुरु हैं, सो उपास्य प्रकट देव हैं, उनके स्वरूपादि का आगे कथन किया जाता है ॥ ९६ ॥

यह मङ्गल प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ प्रथमं पूज्यकाण्डम्

तत्र च प्रथमं गुरुप्रकरणम्

आचार्याद्धिदिता विद्या साधिष्ठं प्रापयत्यथ । शोकं तरति तस्मात्तमाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥ १ ॥
एवमाचार्यवान् वेद पुरुष इति यः श्रुतः । तं दयालुं गुरुं वन्दे दीनबन्धुं हितं ध्रुवम् ॥ २ ॥
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ ३ ॥
आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः । जीमूता आसनूत्सत्त्वानस्तैरिदं स्वराभृतम् ॥ ४ ॥
अथर्व० कां० १८। सू० ५ ऋ० ३ ॥
गुरुभक्तिं सदा कुर्याच्छ्रेयसे भूयसे नरः । गुरुरेव हरिः साक्षान्नान्य इत्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥५॥ ब्रह्मविद्योप० ॥
गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधकः । अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ॥ ६ ॥
गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः । गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परायणम् ॥७॥ अद्वयतारकोपनिषद् ॥
गुरु र्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु र्गुरुर्देवः सदाऽच्युतः । न गुरोरधिकः कश्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ ८ ॥

पूजाकाण्ड (गुरुप्रकरणम्)

"आचार्याद्धयेव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति" छा० ४।९।३॥ "तरति शोकमात्मवित् ।" छा० ७।१।३॥ इन श्रुतियों के अनुसार आचार्य (गुरु) से लब्ध (प्राप्त) विद्या अत्यन्त रम्य (सुन्दर-मोक्ष) को प्राप्त कराती है, फिर आत्मज्ञानी मुक्त पुरुष शोकरहित होता है, तिससे उस आचार्य को प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥ इसी प्रकार "आचार्यवान् पुरुषो वेद" [छा० ६।१४।३॥] इस श्रुति के अनुसार आचार्यवाला ही सत्यात्मा को जानता है, इस प्रकार जो आचार्य सुना गया है, दयालु दीनबन्धु निश्चित सदा हित तिस गुरु की बन्दना करता हूँ ॥ २ ॥ जिसकी देव (ईश्वर) में उत्तम भक्ति होती है, और वैसी ही गुरु में भक्ति होती है, उसीको ये वेदान्त कथित महान् स्वरूपवाले अर्थ प्रकाशित ज्ञात होते हैं ॥ यहाँ "देवभक्तिरितरस्मिन्साहचर्यात्" [शाण्डिल्यसू० १८ ॥] "अत्र देवभक्तिरीश्वरेतरस्मिन् देवे मन्तव्या कुतो गुरुभक्तिसाहचर्यादित्यादि तद्भाष्यम्" 'गुरुभक्ति के साथ कथन से यहाँ देव भक्ति शब्द से ईश्वर से अन्य देव की भक्ति समझना चाहिये' इत्यादि कथन असङ्गत ही है, सो गुरु की महिमा स्वरूपादि के अज्ञानादि मूलक है ॥ ३ ॥ क्योंकि आचार्य यमादि सर्व देव स्वरूप हैं, और असंस्कृत अज्ञ स्वरूप को नष्ट करके संस्कृत ज्ञानी स्वरूप को सिद्ध करने से यम है, जैसे नचिकेता को यम ने किया ही था, कुकर्मादि से वारण करने से वरुण है, सोम (शीतल चन्द्रतुल्य वा ब्रह्म विद्या रूप उमा सहित शिव स्वरूप) है । आधि व्याधि नाशक ओषधि स्वरूप, तृप्ति पुष्टि कारक पयःस्वरूप आचार्य है । उस आचार्य के साथ सम्बन्ध से शिष्य रूप सत्त्व (प्राणी) जीमूत (मेघ) तुल्य जीवन के धारक हो गये, और होते हैं, तिनसे यह स्वर (स्वर्ग परलोक संसार) आभृत (धृत) है ॥ ४ ॥ मुक्ति और अभ्युदय वृद्धि के लिये मनुष्य सदा गुरु की भक्ति करे, गुरु ही प्रत्यक्ष हरि (मोक्षदाता-पालक) हैं, अन्य नहीं यह श्रुति ने कहा है ॥ ५ ॥ 'गु' शब्द अन्धकार वाचक है, और 'रु' शब्द अन्धकार के नाश को कहता है, इससे अज्ञानादिरूप अन्धकार के नाशक होने से कोई गुरु कहाते हैं ॥ ६ ॥ ऐसा गुरु ही प्रत्यक्ष परब्रह्म है, उत्तम गति (आश्रयादि) परा (उत्तम मोक्ष का हेतु) विद्या, उत्तम मार्ग और घर रूप गुरु ही है ॥ ७ ॥ गुरु ब्रह्मा आदिस्वरूप हैं, तीनों लोक में गुरु से अधिक (बड़ा) कोई नहीं है ॥ ८ ॥

दिव्यज्ञानोपदेष्टारं देशिकं परमेश्वरम् । पूजयेत्परया भक्त्या तस्य ज्ञानफलं भवेत् ॥ ९ ॥
यथा गुरुस्तथैवेशो यथैवेशस्तथा गुरुः । पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनयोः ॥ १० ॥
योगशिखोपनि० । अ० ५।५६-५८॥
कर्णधारं गुरुं प्राप्य तद्वाक्यं प्लववद् दृढम् । अभ्यासवासनाशक्त्या तरन्ति भवसागरम् ॥ ११ ॥
योगशिखोपनि० अ० ६।७६॥
सर्वशरीरस्थचैतन्यब्रह्मप्रापको गुरुरुपास्यः ॥ १२ ॥ निरालम्बोपनिषद् ॥ तस्मात्—
ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम् , द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतम् , भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥ १३॥ शुकरहस्योपः॥
जगत्यां सर्वतो व्याप्य यस्य कीर्त्तिर्गतोर्ध्वतः । अण्डं भित्त्वापि तं वन्दे कबीरं गुरुमव्ययम् ॥ १४ ॥
गुरुस्त्रितापतप्तानां जीवानां रक्षिता क्षितौ । सच्चिदानन्दरूपं हि गुरुर्ब्रह्म न संशयः ॥ १५ ॥
गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो गुरुर्गतिः । शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ॥ १६ ॥
सर्वकार्येषु निपुणो जीवन्मुक्तस्त्रितापहृत् । करोति जीवकल्याणं गुरुः श्रेष्ठः स कथ्यते ॥ १७ ॥
गुरुगीता० २६-३१-४७ ॥
गुरवः पञ्च सर्वेषां चतुर्णां श्रुतिचोदिताः । माता पिता तथाऽऽचार्यो मातुलः श्वशुरस्तथा ॥ १८ ॥
तेषां मुख्यास्त्रयः प्रोक्ता आचार्यः पितरौ तथा । एषां मुख्यतमस्त्वेक आचार्यः परमार्थवित् ॥ १९ ॥

दिव्य ज्ञान के उपदेशक परमेश्वर रूप देशिक (गुरु) की जो परमभक्ति से पूजा करता है, उसीको ज्ञान का फल होता है ॥ ९ ॥ जिस प्रकार महाभक्ति से गुरु पूज्य हैं तैसे ही ईश्वर पूज्य हैं, और जैसे ईश्वर पूज्य हैं, तैसे गुरु पूज्य हैं, इन दोनों में भेद नहीं है ॥ १० ॥ गुरु रूप कर्णधार (नाविक) और गुरु वाक्य रूप दृढ नौका को प्राप्त करके अभ्यास की वासना रूप शक्ति द्वारा भवसागर को लोग तरते हैं ॥ ११ ॥ सब शरीर में रहनेवाले चेतन ब्रह्म को प्राप्त (अपरोक्ष) करानेवाला गुरु उपासनीय हैं ॥ १२ ॥ जो बृहदानन्द स्वरूप, परमसुख का दाता, निर्णीत सर्वात्मा, ज्ञानस्वरूप, द्वन्द्वों से रहित, आकाश तुल्य विभु असंग, 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से लक्षणा द्वारा ज्ञेय, एक (अद्वैत) नित्य शुद्ध, अक्रिय, सब बुद्धि का प्रकाशक, लौकिक पदार्थ भावनादि से रहित और त्रिगुणरहित है तिस सद्गुरु को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १३ ॥ जिनकी कीर्ति (यश) पृथिवी भुवनादि में व्याप्त हो कर भी ब्रह्माण्ड को फोड़ कर ऊपर गई है, निर्विकार उस कबीर गुरु की वन्दना करता हूँ ॥ १४ ॥ भूमि में दैहिकादि तापों (दुःखों) से तप्त (दुःखी) जीवों के रक्षक गुरु होते हैं, सो गुरु सत् चित् आनन्दात्मक ब्रह्मरूप ही होते हैं, इस में संशय नहीं है ॥ १५ ॥ गुरु माता आदि रूप, हित रक्षकादि भी हैं, सो गुरु ईश्वर के रुष्ट होने पर युक्ति से रक्षक होते हैं, और गुरु के रुष्ट होने पर कोई रक्षक नहीं होता है ॥ १६ ॥ शिष्य के चित्त को शोधन अध्यापनादि सब कार्यों में कुशल जीवन्मुक्ति युक्त तीनोंतापों के नाशक जो गुरु जीव का कल्याण करते हैं, सो श्रेष्ठ गुरु कहे जाते हैं ॥ १७ ॥ चारो वर्ण के वेदविहित, सभी के माता पिता आचार्य मामा श्वशुर ये पांच गुरु हैं ॥ १८ ॥ तिन में प्रथम के तीन मुख्य कहे गये हैं, इन में भी परमार्थ के ज्ञाता एक आचार्य अत्यन्त मुख्य हैं ॥ १९ ॥

तमेव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठं नित्यकर्मपरायणम् । शुश्रूषयाऽर्चयेन्नित्यं तुष्टः स्याद्येन वा गुरुः ॥ २० ॥
योगयाज्ञवल्क्य संहि० अ० १ ॥
शिष्यपृष्टमपृष्टं वा व्याख्यानं कुरुते तु यः । स सद्गुरुः सतां श्रेष्ठो योग्यायोग्ये च यः समः ॥ २१ ॥
सर्वेषामपि बन्धूनां जनकः परमो गुरुः । विद्यादाता मन्त्रदाता द्वौ समौ च पितुः परौ ॥ २२ ॥
असद् वर्त्मनि चाज्ञानाद् गच्छन्ति यदि बालकाः । निवर्तयति तानेव स पिता करुणानिधिः ॥ २३ ॥
सुकर्म कारयेद्यो हि तन्मित्रं स पिता गुरुः । कुबुद्धिं जनयेद्यो हि स रिपुः स्यात्कथं पिता ॥ २४ ॥
गुरुप्रदर्शितो देवो मन्त्रपूजाविधिर्जपः । न देवेन गुरुर्दिष्टस्तस्माद्देवाद् गुरुः परः ॥ २५ ॥
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु र्गुरुर्देवो महेश्वरः । गुरुः प्रकृतिरीशाद्या गुरुश्चन्द्रोऽनलो रविः ॥ २६ ॥
गुरुर्वायुश्च वरुणो गुरुर्माता पिता सुहृत् । गुरुरेव परं ब्रह्म नास्ति पूज्यो गुरोः परः ॥ २७ ॥
अभीष्टदेवे रुष्टे च समर्थो रक्षणे गुरुः । न समर्थो गुरौ रुष्टे रक्षणे सर्वदेवताः ॥ २८ ॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया । चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ २९ ॥
अदीक्षितस्य मूर्खस्य निष्कृति र्नास्ति निश्चितम् । सर्वकर्मस्वनर्हस्य नरके तत्पशोः स्थितिः ॥ ३० ॥
जन्मदाताऽन्नदाता च माताऽन्ये गुरवस्तथा । पारं कर्तुं न शक्तास्ते घोरसंसारसागरे ॥ ३१ ॥
विद्यामन्त्रज्ञानदाता निपुणः पारकर्मणि । स शक्तः शिष्यमुद्धर्तुमीश्वरश्चेश्वरात्परः ॥ ३२ ॥
गुरुर्विष्णुर्गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्देवो महेश्वरः । गुरुर्धर्मो गुरुः शेषः सर्वात्मा निर्गुणो गुरुः ॥ ३३ ॥
न गुरोश्च प्रियश्चात्मा न गुरोश्च प्रियः सुतः । धनं प्रियं न च गुरो र्न च भार्या प्रिया तथा ॥ ३४ ॥

ब्रह्मज्ञानी, श्रेष्ठ, नित्य कर्म में तत्पर, तिसी आचार्य की सेवा से श्रवण की इच्छा से सदा पूजा करे, या जिस सत्कर्मादि से गुरु सन्तुष्ट हों सो काम करे ॥ २० ॥ जो सद्गुरु शिष्य से पूछे गये या नहीं पूछे गये तत्त्व को कहता है, और प्रवीण अप्रवीण (समर्थासमर्थ) के लिये तुल्य भाव रखता है, सो सत्पुरुषों में श्रेष्ठ है ॥ २१ ॥ सब बन्धुओं में पिता परम गुरु है, पिता से परे विद्यादाता और मन्त्र दाता दोनों तुल्य हैं ॥ २२ ॥ बालक यदि अज्ञान से कुमार्ग (पाप कर्मादि) में जाते हैं, तो उन्हे जो निवृत्त करता है, सोई करुणानिधि पिता है, ॥ २३ ॥ जो सुकर्म कराता है, वही मित्र पिता गुरु है, जो कुबुद्धि को उत्पन्न कराता है, वह शत्रु हो सकता है, पिता नहीं ॥ २४ ॥ गुरु से देव मन्त्र पूजा की विधि और जप दिखाया समझाया जाता है, और देव से गुरु नहीं उपदिष्ट होते, तिससे देव से गुरु पर हैं ॥ २४ ॥ गुरु ही ब्रह्मा आदिरूप हैं, इससे गुरु से अधिक पूज्य कोई नहीं है ॥ २६-२७ ॥ सर्वथा इष्ट देव के रुष्ट होने पर रक्षा में गुरु समर्थ हैं, और गुरु के रुष्ट होने पर सब देव रक्षा में समर्थ नहीं हैं ॥ २८ ॥ अज्ञान रूप नेत्र रोग से अन्ध जीव को ज्ञानरूप अंजन की शलाका द्वारा जिस गुरु ने विवेकादि नेत्र को खोला है, उस श्रीगुरु के लिये नमस्कार है ॥ २९ ॥ शुभसंस्कार उपदेशादिरहित मूर्ख (अज्ञ) की शुद्धि नहीं है, यह निश्चित बात है । इससे सब कर्म में अयोग्य उस पशुतुल्य की नरक में स्थिति होती है ॥३०॥ जन्मदाता आदि रूप गुरु भयंकर संसार सागर में पार करने के लिये समर्थ नहीं हैं, किन्तु विद्या मन्त्र ज्ञान दाता पार करने में प्रवीण हैं इस लिये वे ही शिष्य को मुक्त करने में समर्थ हैं, और ईश्वर से भी उत्तम ईश्वर हैं ॥ ३१-३२ ॥ गुरु विष्णु आदि देव स्वरूप सर्वात्मा निर्गुण स्वरूप, तथा आत्मा (देह) पुत्र धन भार्या सब से प्रिय स्वरूप हैं ॥ ३३-३४ ॥

गुरोः परो न शास्ता च न हि बन्धुर्गुरोः परः । देवो राजा च शास्ता च शिष्याणां च सदा गुरुः ॥ ३५ ॥

ब्रह्मवैवर्तपु० ब्रह्मखं० अ० १।३७। अ० ८।५६। अ० २३।४-१८। अ० २४।३५। अ० २६।११-१४। कृष्णजन्मखं० अ० ५६॥

योऽन्यदुःखानि विज्ञाय साधुवाक्यैः प्रबोधयेत् । स एव विष्णुः सत्त्वस्थो यतः परहिते स्थितः ॥३६॥

अन्यदुःखेन यो दुःखी यो ऽन्यहर्षेण हर्षितः । स एव जगतामीशो नररूपधरो हरिः ॥ ३७ ॥

सद्भिः श्रुतानि शास्त्राणि परदुःखविमुक्तये । सर्वेषां दुःखनाशाय इति सन्तो वदन्ति हि ॥ ३८ ॥

न विना ज्ञानविज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत् । न विना गुरुसम्बन्धाज्ज्ञानस्याधिगमस्तथा ॥ ३९ ॥

आचार्यः प्लाविता तस्य ज्ञानं प्लव इहोच्यते । विज्ञाय कृतकृत्यस्तु तीर्णः शत्रोर्भयं त्यजेत् ॥ ४० ॥

नारदीय पु० पूर्वप० अ० ७।६७-६६। अ० ५६।१६-२० ॥

अग्नि र्द्विजानां विप्रश्च वर्णानां रमणः स्त्रियाम् । गुरुः पिता च पुत्राणां सर्वस्यास्यागतो गुरुः ॥४१॥

समचेताः प्रशान्तात्मा विमन्युश्च सुहृन्नृणाम् । साधुर्महान् समो लोके स गुरुः परिकीर्त्तितः ॥४२॥

कृपासिन्धुः सुपूर्णार्थः सर्वसत्त्वोपकारकः । निष्पृहः सर्वतः सिद्धः सर्वविद्याविशारदः ॥

सर्वसंशयसंच्छेत्ताऽनलसो गुरुराहृतः ॥ ४३ ॥

गुरवो निर्मलाः शान्ताः साधवो मितभाषिणः । कामक्रोध विनिर्मुक्ताः सदाचारा जितेन्द्रियाः॥४४॥

स्वामी भृत्याय नोत्तिष्ठेत् स्वभार्यायै पतिस्तथा । गुरुः शिष्याय नोत्तिष्ठेदितिशास्त्रविदां मतम् ॥४५॥

न सम्बन्धो गुरुत्वे च कारणं त्विति वै श्रुतिः । बलं ज्ञानं तपः शान्ति र्यत्र चैवाधिकं भवेत् ॥ ४६ ॥

शिष्यों के शासक (उपदेशक) बन्धु गुरु से श्रेष्ठ कोई नहीं है । इससे शिष्य के गुरु ही देव राजा शासक सदा हैं ॥३५॥ जो दूसरे के दुःखों को जान कर चारु (सुन्दर) वाक्यों द्वारा समझाता है, सोई सत्त्व गुण में स्थिर विष्णु है, जिससे अन्य के हित में स्थिर है ॥ ३६ ॥ जो अन्य के दुःख से दुःखी और अन्य के सुख से सुखी होता है, सोई जगत का ईश्वर हरि नररूप को धारण किया है ॥ ३७ ॥ सत्पुरुषों से अन्य के दुःखों की निवृत्ति के ही लिये शास्त्र सुने गये हैं, तथा सब के दुःखों के नाश के ही लिये सन्त लोग शास्त्रों का कथन करते हैं ॥ ३८ ॥ ज्ञान विज्ञान बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, और गुरु के साथ सम्बन्ध बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती ॥ ३९ ॥ और आचार्य तारने (खेवने) वाले हैं, ज्ञान ही यहाँ नौका कही जाती है, इससे परम तत्त्व को जान कर, कृत कृत्य संसार से पार हुवा मनुष्य संसार कामादिशत्रु के भय को त्यागे ॥४०॥ अग्नि देव द्विजाति के गुरु (पूज्य) है, विप्र वर्णों का गुरु है, पति स्त्रियों का गुरु है, पुत्रों का पिता गुरु है, अतिथियोग्य विधि से प्राप्त पुरुष सब का गुरु (सत्काराहे) है ॥४१॥ समता बुद्धिवाला तथा शान्तमनवाला शोकक्रोधरहित सब मनुष्य का सुहृद् (मित्र) साधु महान् सब के लिये सम (तुल्य) लोक में गुरु कहा गया है ॥ ४२ ॥ कृपासागर बोध से अत्यन्त तृप्त सब प्राणी का उपकारक इच्छारहित, सब योग्यसाधन से सिद्ध, सब विद्या का विद्वान् सब संशय का नाशक आलस्य रहित गुरु कहा गया है ॥ ४३ ॥ पवित्र, शान्तियुक्त, परिमित, सत्यवक्ता काम क्रोधरहित, सदाचारी जितेन्द्रिय साधुजन गुरु हैं ॥ ४४ ॥ स्वामी नौकर के लिये, पति अपनी स्त्री के लिये, और गुरु अपने शिष्य के लिये उत्थान क्रिया नहीं करे यह शास्त्रज्ञों का मत है ॥ ४५ ॥ क्योंकि गुरुपन में लौकिक सम्बन्ध कारण नहीं है, इस प्रकार श्रुति कहती है, किन्तु जिसमें योगादि का बल ज्ञान तप शान्ति अधिक हो सो अन्य का गुरु है, और उससे नीच हैं सो उसकी प्रेष्यता (आज्ञाकारिता) को प्राप्त करें ॥ ४६ ॥

स गुरुश्चेतरेषां च नीचा ईयुश्च प्रेष्यताम् । उत्तिष्ठन्ति च स्वाम्याद्या भृत्यादीन् यदि चाग्रहात् ॥
आयुर्वित्तं यशस्तेषां सद्यो नश्यति संततिः ॥ ४७ ॥

स्कन्द पु० खं० १-२ अ० १०।८। खं० २ मा० अ० १६।२४-२५। खं० ३ पञ्चाक्षरमा० अ० १।१५। वैष्णवखं० ८ ॥

सविकारान् राजसादीन् गुणान् रुन्धे व्यपोहति । गुणाऽतीतः परशिवो गुरुरूपं समाश्रितः ॥ ४८ ॥
गुणत्रयं व्यपोह्याग्रे शिवं बोधयतीति सः । विश्वस्तानां तु शिष्याणां गुरुरित्यभिधीयते ॥ ४९ ॥
यथा शिवस्तथा विद्या यथा विद्या तथा गुरुः । शिवविद्यागुरूणां च पूजया सदृशं फलम् ॥ ५० ॥
सर्वदेवात्मकश्चासौ सर्वमन्त्रमयो गुरुः । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन तस्याज्ञां शिरसा वहेत् ॥ ५१ ॥
श्रेयोऽर्थी यदि गुर्वाज्ञां मनसापि न लङ्घयेत् । गुर्वाज्ञापालको यस्माज् ज्ञानसम्पत्तिमश्नुते ॥ ५२ ॥
यथेह वह्निसम्पर्कान्मलं त्यजति काञ्चनम् । तथैव गुरुसम्पर्कात्पापं त्यजति मानवः ॥ ५३ ॥
यैः पुनर्विदितं तत्त्वं ते मुक्ता मोचयन्त्यपि । तत्त्वहीने कुतो बोधः कुतो ह्यात्मपरिग्रहः ॥ ५४ ॥
परिग्रहविनिर्मुक्तः पशुरित्यभिधीयते । पशुभिः प्रेरितश्चापि पशुत्वं नातिवर्त्तते ॥
तस्मात्तत्त्वविदेवेह मुक्तो मोचक इष्यते ॥ ५५ ॥
यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वे प्रवर्त्तते । तस्यावलोकनाद्यैश्च परानन्दोऽभिजायते ॥ ५६ ॥
तस्माद्यस्यैव सम्पर्कात्प्रबोधानन्दसम्भवः । गुरुं तमेव वृणुयान्नापरं मतिमान्नरः ॥ ५७ ॥
स एव जनको माता भर्त्ता बन्धु र्धनं सुखम् । सखा मित्रं च यत् तस्मात्सर्वं तस्मै निवेदयेत् ॥ ५८ ॥

शिव पु० खं० १ अ० १८।८४-८५। खं० ७ अ० १५ ॥

यदि स्वामी आदि भी आग्रह से भृत्यादि के प्रति उत्थान क्रिया करते हैं तो उनका आयुधन यश संतति शीघ्र नष्ट होते हैं ॥ ४७ ॥ जो गुरु विकार सहित गुणों को रोकता नष्ट करता है, उस गुरु रूप को गुणातीत पर शिव (निर्गुण ब्रह्म) ही समाश्रित (प्राप्त) है ॥ ४८ ॥ तीनों गुणों को प्रथम हटा कर विश्वासी शिष्यों को जो शिव के स्वरूप को समझाता है, सो गुरु कहा जाता है ॥ ४९ ॥ शिव तुल्य विद्या और विद्या-तुल्य गुरु है, इससे शिव विद्या और गुरु की पूजा से तुल्य फल मिलता है ॥ ५० ॥ सर्व देव स्वरूप और सर्वमन्त्रमय गुरु हैं, तिससे सब प्रयत्न द्वारा उनकी आज्ञा को शिरो धार्य करे ॥ ५१ ॥ यदि कल्याणार्थी हो तो गुरु की आज्ञा को मन से भी नहीं उलंघन करे, जिससे गुरु की आज्ञा को पालनेवाला ही ज्ञान की वृद्धि पूर्णता को प्राप्त करता है ॥ ५२ ॥ जैसे यहाँ अग्नि के सम्बन्ध से सोना मल को त्यागता है, तैसे ही गुरु के सम्बन्ध से मनुष्य पापों को त्यागता है ॥ ५३ ॥ जिन महात्माओं ने तत्त्व (सत्य) को समझा है, वे मुक्त लोग अन्य को भी मुक्त करते हैं, तत्त्व-बोध रहित गुरु में प्रेमादि करने पर भी शिष्य को ज्ञान कैसे किससे होगा ? और किससे मनोनिग्रह होगा ? ॥ ५४ ॥ ज्ञानादि के बिना मनोनिग्रहरहित मनुष्य पशु कहा जाता है, और पशु द्वारा किसी कर्मादि में प्रेरित भी अन्य मनुष्य पशुता को नहीं त्यागता है तिससे तत्त्वज्ञानी ही यहाँ मुक्त और मोक्षदाता माने जाते हैं ॥ ५५ ॥ और जिनकी बुद्धि आत्म तत्त्व के अपरोक्ष अनुभव तक पहुँच कर, उस तत्त्व में प्रवृत्त रहती है, श्रद्धा आदि पूर्वक उनके अवलोकनादि से भी मनुष्य को परमानन्द होता है ॥ ५६ ॥ तिससे जिन के सम्बन्ध से ही ज्ञानानन्द की प्राप्ति हो, उन्हीं को बुद्धिमान् मनुष्य गुरु करे ॥ ५७ ॥ और जिससे वह ज्ञानी गुरु ही पिता आदि तुल्य हित सुख कारक हैं, तिस से उन के लिये सर्वस्व का निवेदन (अर्पण) करे ॥ ५८ ॥

अतिवर्णाश्रमी प्रोक्तो गुरुः सर्वाधिकारिणाम् । न कस्यापि भवेच्छिष्यो यथाऽहं पुरुषोत्तम ! ॥ ५९ ॥
अतिवर्णाश्रमी साक्षाद्गुरूणां गुरुरुच्यते । तत्समो नाधिकश्चास्मिंल्लोकेऽस्त्येव न संशयः ॥ ६० ॥
यः शरीरेन्द्रियादिभ्यो विभिन्नं सर्वसाक्षिणम् । पारमार्थिकविज्ञानसुखात्मानं स्वयं प्रभम् ॥
परतत्त्वं विजानाति सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥ ६१ ॥ सूतसंहिता० मुक्तिखं० अ० ५।१४-१६ ॥
गुरु र्नामात्मनो नान्यः सत्यमेव न संशयः । आत्मलाभात्परो लाभो नास्ति नास्ति न संशयः ॥६२॥
अनात्मरूपं देहादि यो ददाति पिता तु सः । न गुरुः कथितः प्राज्ञैः क्लेशहेतुप्रदो हि सः ॥ ६३ ॥
अष्टैश्वर्यप्रदस्तद्वद्गन्धर्वादिपदप्रदः । सार्वभौमप्रदश्चापि न गरुः क्लेशदोहि सः ॥ ६४ ॥
दृश्यरूपमिदं सर्वं दृग्रूपेण विलाप्य च । दृग्रूपं ब्रह्म यो वक्ति स गुरु र्नापरः पुमान् ॥ ६५ ॥
सूतसं० यज्ञखं० अ० १२।३७-४० ॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया । चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ६६ ॥
नारदीयपु० पू० अ० ६५।४६॥
गुरौ च सर्वेदेवाश्च तिष्ठन्ति सततं मुदा । गुरौ तुष्टे हरिस्तुष्टो यस्मिन् तुष्टे च देवताः ॥ ६७ ॥
ब्रह्मवैवर्त्तपु० कृष्णज० उ० अ० ८३।१५॥
गुरु र्गरीयसोऽर्थस्य दर्शको धर्मतः स्मृतः । यः कश्चिदखिले लोके घातकोऽपि लघीयसः ॥ ६८ ॥
आत्मपु० अ० ३।७२॥
एते वेदोदिताः सर्वे पुरुषार्थाश्चतुर्विधाः। गुरुभक्तस्य हस्तस्था भवन्त्यत्र न संशयः॥६९॥ आत्मपु० अ० ८।८८६॥
गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स्यात् पिता न स स्याज्जननी न स स्यात् ।
दैवं न स स्यान्न पतिश्च स स्यान्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् ॥ ७० ॥ श्रीमद्भागव० स्कः ५।५।१८॥

हे विष्णो ! आत्मज्ञान से वर्णाश्रमाभिमानरहित महात्मा विवेकादिसाधनयुक्त सब अधिकारी के गुरु कहे गये हैं सो अन्य किसी के शिष्य नहीं हैं जैसे कि मैं हूँ ॥ ५९ ॥ सर्वाभिमानरहित ज्ञानी साक्षात् गुरुओं का भी गुरु कहाता है, उसके तुल्य वा उससे बड़ा इस लोक में नहीं है, इस में संशय नहीं है ॥ ६० ॥ देह इन्द्रियादि से भिन्न सब का प्रकाशक सत्यज्ञानसुखस्वरूप स्वयंप्रकाश परतत्त्व (ब्रह्मात्मा) को जो जानता है सो वर्णादि के अभिमान से रहित होता है ॥ ६१ ॥ गुरु रूप से माना गया महात्मा आत्मा से अन्य नहीं हैं, यही बात सत्य है, इसमें संशय नहीं है, और आत्मलाभ (प्राप्ति अनुभूति) से उत्तम कोई लाभ नहीं है, इसमें संशय नहीं ॥६२॥ आत्मभिन्न देहादि जो देता है, सो तो पिता है क्लेश के हेतु का दाता वह पिता ज्ञानियों से गुरु नहीं कहा गया है ॥ ६३ ॥ आठ ऐश्वर्य, गन्धर्वादिदेवस्थान, चक्रवर्ती के राज्य को देनेवाला भी गुरु नहीं है, वह क्लेश का दाता है ॥ ६४ ॥ किन्तु इन्द्रियों के विषय इस सब जगत को द्रष्टा चेतनात्मा में मिथ्या समझा कर, सत्य द्रष्टा चेतन स्वरूप ब्रह्म का जो उपदेद देता है, सो गुरु है, दूसरा पुरुष नहीं ॥ ६५ ॥ गुरु स्वरूप में सब देव सदा आनन्द से रहते हैं, और गुरु के सन्तुष्ट होने से हरि सन्तुष्ट होते हैं, तिससे सब देव सन्तुष्ट होते हैं ॥ ६६-६७ ॥ अत्यन्त गुरु (भारी श्रेष्ठ) अर्थ को धर्म द्वारा प्रत्यक्ष करानेवाले गुरु कहाते हैं, जो कि अत्यन्त लघुता के नाशक भी इस सब लोक में कोई विरल होते हैं ॥ ६८ ॥ वेद में कहे गये ये चारो प्रकार के सब पुरुष के अर्थ (प्रयोजन) गुरुभक्त के हस्तगत होते हैं इसमें संशय नहीं है ॥ ६९ ॥ जो मृत्यु ग्रस्त को मुक्त नहीं कर सकता, वह साँचा गुरु स्वजनादि नहीं हो सकता है ॥ ७० ॥

वृद्धा ह्यलोलुपाश्चैव आत्मवन्तो ह्यदम्भकाः । सम्यग् विनीता ऋजवस्तानाचार्यान् प्रचक्षते ॥ ७१ ॥

वायुपु० ५९।२६। ब्रह्माण्डपु० ३२।३१। लिङ्गपु० १०।१४ ॥

स्वयमाचरते यस्मादाचारे स्थापयत्यपि । आचिनोति च शास्त्रार्थानाचार्यस्तेन कथ्यते ॥ ७२ ॥

गुरुश्च शास्त्रवित् प्राज्ञस्तपस्वी जनवत्सलः । लोकानाचरतो ह्येवं तत्त्वविन्मोक्षदः स्मृतः ॥ ७३ ॥

लिङ्गपु० अ० १०।१५। उत्तरे० अ० २०।३४ ॥

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः । सकल्पं सहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ ७४ ॥

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यथवा पुनः । योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ ७५ ॥

मनुस्मृ० अ० २।१४०–४१ ॥

अग्निहोत्री तपस्वी च वेदमध्यापयेच्च यः । सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ ७६ ॥

व्यासस्मृ० अ० ४।४३ ॥

श्रोत्रियो ब्रह्मनिष्ठो यः प्रशान्तः समदर्शनः । निर्ममो निरहङ्कारो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥ ७७ ॥

अनपेक्षः शुचि र्दक्षः करुणामृतसागरः । एवं लक्षणसम्पन्नः स गुरु र्ब्रह्मवित्तमः ॥ ७८ ॥

जन्मानेकशतैः सदादरयुजा भक्त्या समाराधितो, भक्तै र्वैदिकलक्षणेन विधिना सन्तुष्ट ईशः स्वयम् ।
साक्षाच्छ्रीगुरुरूपमेत्य कृपया दृग्गोचरः सन् प्रभुस्तत्त्वं साधु निबोध्य तारयति तान् संसारदुःखार्णवात् ७९.

अविद्याहृदयग्रन्थिबन्धमोक्षो भवेद्यतः । तमेव गुरुमित्याहु र्गुरुशब्दार्थवेदिनः ॥ ८० ॥

शिव एव गुरुः साक्षाद् गुरुरेव शिवः स्वयम् । उभयोरन्तरं किञ्चिन्न द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥ ८१ ॥

धर्म ज्ञानादि वृद्ध लोभ रहित, जितात्मा, दम्भरहित, सम्यक् शिक्षित कोमल को आचार्य कहते हैं ॥७१॥ जिससे स्वयं धर्म सदाचार को करते हैं, अन्य को सदाचार में स्थिर कराते हैं, शास्त्र के अर्थों का संग्रह धारण करते हैं तिससे आचार्य कहाते हैं ॥ ७२ ॥ शास्त्रज्ञ, पण्डित, तपस्वी, सर्वजन के प्रेमी, इस सदाचार परायण लोगों को मोक्ष देनेवाले तत्त्वज्ञ ही गुरु कहे गये हैं ॥ ७३ ॥ जो द्विज शिष्य का उपनयन संस्कार करके उसे कल्प सूत्र और उपनिषद् सहित वेद पढ़ाता है, उसको आचार्य कहते हैं ॥ ७४ ॥ और जीविका के लिये वेद के एक भाग को वा व्याकरण शिक्षा ज्योषादि अङ्गों को पढ़ाता है, उसको उपाध्याय कहते हैं ॥ ७५ ॥ और अग्निहोत्र तप कर्ता होते हुए भी कल्पसूत्र उपनिषद् सहित वेद को पढ़ानेवाले को आचार्य कहते हैं ॥ ७६ ॥ वेद-वेत्ता, ब्रह्मध्यानविचारनिष्ठ, अत्यन्त शान्त, समदृष्टि, ममता अहङ्कार-रहित, रागद्वेषादि द्वन्द्व और संग्रह से रहित, इच्छारहित, पवित्र, चतुर, दयारूप अमृत का समुद्र, इस प्रकार के लक्षण से युक्त पूर्ण ब्रह्म ज्ञानी जो है, सोई ज्ञानाधिकारी के गुरु हैं ॥ ७७–७८ ॥ अनेक सौ जन्मों में वैदिकलक्षणयुक्तविधि से और सदा आदर युक्त भक्ति से सम्यक् आराधित (सेवित-पूजित) अत एव सन्तुष्ट ईश्वर स्वयं साक्षात् गुरु रूपता को कृपा से प्राप्त हो कर, और वह प्रभुशिष्य की दृष्टि का विषय हो कर, साधु (सुन्दर) तत्त्व को समुझाकर, उन शिष्यों को संसार के दुःखरूप समुद्र से मुक्त करता है ॥ ७९ ॥ अविद्या और हृदय के ग्रन्थि (अविवेक कामादि) रूपबन्धन से मोक्ष जिससे हो, उसीको गुरुशब्द के अर्थ जाननेवाले को गुरु कहते हैं ॥ ८० ॥ शिव ही साक्षाद् गुरु हैं, और गुरु ही साक्षात् शिव हैं, इससे मुमुक्षु को इन दोनों में कुछ भी भेद देखना योग्य नहीं है ॥ ८१ ॥

बन्धमुक्तं ब्रह्मनिष्ठं कृतकृत्यं भजेद् गुरुम् । यस्य प्रसादात्संसारसागरो गोष्पदायते ॥ ८२ ॥
शुश्रूषया सदा भक्त्या प्रणामै र्विनयोक्तिभिः । प्रसन्नं गुरुमासाद्य प्रष्टव्यं ज्ञेयमात्मनः ॥ ८३ ॥

संप्रीतिमक्ष्णो र्वदनप्रसादमानन्दमन्तःकरणस्य सद्यः ।
विलोकनं ब्रह्मविदस्तनोति छिनत्ति मोहं सुगतिं तनोति ॥ ८४ ॥
हुताशनानां शशिनामिनानामप्यर्बुदं वापि न यन्निहन्तुम् ।
शक्नोति तद्ध्वान्तमनन्तमान्तरं हन्त्यात्मवेत्ता सकृदीक्षणेन ॥८५॥ शाङ्करेसर्ववेदान्तसिद्धान्तसंग्रहे ॥

दृष्टान्तो नैव दृष्टस्त्रिभुवनजठरे सद्गुरोर्ज्ञानदातुः,
स्पर्शश्चेत्तत्र कल्प्यः स नयति यदहो स्वर्णतामश्मसारम् ।
न स्पर्शत्वं तथापि श्रितचरणयुगे सद्गुरुः स्वीयशिष्ये,
स्वीयं साम्यं विधत्ते भवति निरुपमस्तेन वाऽलौकिकोऽपि ॥ ८६ ॥ शतश्लोकी ॥

यावन्नानुग्रहः साक्षाज्जायते परमेश्वरात् । तावन्न सद्गुरुं कश्चित्सच्छास्त्रं वापि नो लभेत् ॥ ८७ ॥
सुभाषितरत्नाकरे ॥
अध्यापकश्च वेदानां वेदार्थयुतिबोधकः । शास्त्रवक्ता धर्मवक्ता नीतिशास्त्रोपदेशकः ॥ ८८ ॥
मन्त्रोपदेशव्याख्याकृद् वेदसंदेहहृत्तथा । व्रतोपदेशकश्चैव ज्येष्ठो भ्राता पिता तथा ॥ ८९ ॥
उपनेता निषेक्ता च संस्कर्ता मित्रसत्तमः । एते हि गुरवः प्रोक्ताः पूज्या वन्द्याश्च सादरम् ॥ ९० ॥
प्रष्टव्या गुरवो नित्यं ज्ञातोऽप्यर्थो यदि स्वयम् । स तैर्निश्चयमानीतो ददाति परमं सुखम् ॥ ९१ ॥
इत्यादि क्वचित् ॥

मोहादिबन्धन से रहित ब्रह्म में स्थितिवाले कर्तव्य कर्मादि को पूर्ण किये हुए गुरु को सेवे कि जिनकी प्रसन्नता से संसार सागर गोपद तुल्य सुतर होता है ॥ ८२ ॥ सदा सेवा प्रेम प्रणाम विनय वचन से प्रसन्न गुरु को प्राप्त हो कर अपने जानने योग्य तत्त्व को पूछना चाहिये ॥ ८३ ॥ ब्रह्म ज्ञानी का विलोकना (दर्शन-देखना) आखों में सम्यक् प्रीति, मुख में प्रसन्नता, अन्तःकरण के आनन्द को शीघ्र ही बढ़ाता है, मोह को नष्ट करता है, सुगति का विस्तार करता है ॥ ८४ ॥ अग्नि चन्द्रमा सूर्य यदि दश कोटि हों तो भी जिस अन्तर्गत अज्ञान मोहादिरूप अनन्त अन्धकार को नष्ट करने में समर्थ नहीं होते हैं, उस अन्धकार को आत्म-ज्ञानी एक बार के दर्शन से ही नष्ट करता है ॥ ८५ ॥ तीनों लोकों के कुक्षि (पेट) के अन्दर में ज्ञानदाता गुरु का दृष्टान्त नहीं देखा गया है, स्पर्शमणि को यदि दृष्टान्त रूप सिद्ध करें, तो वह अद्भुत पदार्थ भी लोहे को सुवर्ण करता है, अपना स्वरूप नहीं करता है, और सद्गुरु तो अपने चरणद्वयाश्रित शिष्य में अपनी तुल्यता को सिद्ध करते हैं, इससे उपमा (दृष्टान्त) रहित हैं, या अलौकिक हैं ॥ ८६ ॥ जब तक ईश्वर से साक्षात् अनुग्रह (दया) नहीं उत्पन्न होता, तब तक कोई सद्गुरु वा सत्शास्त्र को नहीं पाता है ॥ ८७ ॥ वेद को पढ़ानेवाला, वेदार्थ के विनियोग (संबन्ध) का बोधक, शास्त्र वक्ता, धर्म वक्ता, नीतिशास्त्र का वक्ता, मन्त्र का उपदेश और व्याख्यान का कर्त्ता, वेद के संशय को नष्ट कर्ता, व्रत का उपदेशक, बड़ा भाई, पिता, उपनयन संस्कार कर्ता, निषेक संस्कार कर्ता, तथा अन्य संस्कार कर्ता, श्रेष्ठ मित्र ये भी गुरु सादर पूजा वन्दना योग्य हैं ॥ ८८-९० ॥ यदि कोई सत्यार्थ स्वयं ज्ञात हो, तो भी सदा गुरु प्रष्टव्य हैं, गुरु से पूछना चाहिये । क्योंकि गुरुओं द्वारा निश्चय का विषय हुवा वह सत्य पदार्थ परम सुख देता है ॥ ९१ ॥

सम्वत्सरोषिते शिष्ये गुरुर्ज्ञानमनिर्दिशन् । हरते दुष्कृतं तस्य शिष्यस्य वसतो गुरुः ॥ ९२ ॥
कूर्मपु० १४।३६॥

गुरो हिं वचनं प्राहु धर्मं धर्मज्ञसत्तम ! । गुरूणां चैव सर्वेषां माता परमको गुरुः ॥ ९३ ॥
महाभा० आदिप० अ० १९६।१६॥ युधिष्ठिरोक्तिः ॥

इति प्रथमं गुरु प्रकरणम् ।

अथ देवः ॥ २ ॥

त्रयस्त्रिंशच्च ये देवा देवदेवश्च यः प्रभुः । शं तन्वन्तु हि नः सर्वे येऽनन्ताः कोटयोऽथवा ॥ १ ॥

अजममरमनन्तं ज्ञानरूपं महान्तं शिवमचलमनादिं भूतदेहादिहीनम् ।
सकलकरणहीनं सर्वभूतस्थितं तं हरिमकलममायं सर्वगं वन्द एकम् ॥ २ ॥ गरुडपु० १॥१।२॥

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना ।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन् प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥ ३ ॥
भागवतस्क० ४।९।६॥ ध्रुवोक्तिः ॥

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्त्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ! ते चरणारविन्दम् ॥४॥ भा० स्क० ११।५।३३॥

नताः स्म ते नाथ ! पदारविन्दं बुद्धीन्द्रियप्राणमनोवचोभिः ।
यच्चिन्त्यतेऽन्तर्हृदि भावयुक्तैर्मुमुक्षुभिः कर्ममयोरुपाशात् ॥ ५ ॥ स्क० ११।६।७॥

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदै र्गायन्ति यं सामगाः ।

एक वर्ष गुरु के पास में बसते हुए शिष्य के प्रति ज्ञान का दान न करता हुवा भी उस बसने वाले शिष्य के पाप को गुरु नष्ट करता है ॥ ९२ ॥ हे धर्मज्ञ सत्तम ! गुरु के वचन को धर्म कहा गया है सब गुरुओं में माता परम गुरु है ॥ ९३ ॥ गुरु प्रकरण समाप्त ।

अथ देव प्रकरण

तैंतीस वा तैंतीस कोटि वा अनन्त जो देव हैं, और देवों का देव ईश्वर है, सो हम सब के सुखों का विस्तार करें ॥ १ ॥ जन्ममरण अन्तरहित ज्ञानस्वरूप विभु कल्याणरूप अचल अनादि पृथिवी आदि रूप भूत और देहादि से रहित सब इन्द्रिय से रहित सब प्राणी में स्थिर, काल अंशरहित, मायारहित सर्वगत एक उस हरि की मैं वन्दना करता हूँ ॥ २ ॥ जो सब शक्तियों को धारण करनेवाला मेरे अन्दर पैठकर अपने तेज प्रभावादि से सोई हुई मेरी वाणी को तथा अन्यहस्तादि को भी संजीवित करता है, तिस तुझ भगवान् रूप पुरुष को नमस्कार है ॥ ३ ॥ हे महापुरुष ! सदा ध्यानार्ह, अनादर का नाशक, इष्ट को पूर्ण कर्ता, तीर्थों का आश्रय, शिवादि की स्तुति का विषय, शरणागत का हित, दासों के दुःखों का नाशक, नम्रों का पालक संसारसमुद्र की नौका रूप आप के चरण कमल की वन्दना करता हूँ ॥ ४ ॥ हे नाथ ! बुद्धि आदि द्वारा आप के चरण कमल को हम नमस्कार करते हैं, कर्ममय भारी बहुत बन्धन से मोक्ष की इच्छा वाले प्रेमादियुक्त जनों से जो चरण हृदय में ध्यान का विषय किया जाता है ॥ ५ ॥ ब्रह्मा और वरुणादि देव दिव्य स्तुतियों द्वारा जिसकी स्तुति करते हैं, अंग पद क्रम उपनिषद सहित वेदों द्वारा सामगायक जिसको गाते हैं,

ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो, यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥६॥
नाम संकीर्तनं यस्य सर्वपापणाशनम् । प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम् ॥ ७ ॥
भा० स्क० १२।१३।१-२३ ॥
देवानां जातयश्चाष्टौ तिरश्चां पञ्च जातयः । जात्यैकया च मानुष्या योनयश्च चतुर्दश ॥८॥ शिवपु० सं० ७।१८।१।
देवदानवगन्धर्वयक्षराक्षसपन्नगाः । भूता विद्याधराश्चैव अष्टौ वै देवयोनयः ॥९॥ शाम्बपु० अ० १८।६॥
कोटयो द्वादशार्कस्य तथैकादश धूर्ज्जटेः । कोटयोऽष्टौ वसूनां द्वे कोटी दस्रयो मते ॥ १० ॥
कर्मकाण्डग्रन्थे ॥
स्वाहा स्वधाऽमृतभुजो देवाः सत्यार्जवप्रियाः । क्रव्यादान् राक्षसान् विद्धि जिह्मानृतपरायणान् ॥११॥
महाभारत० अनुशा० अ० ११५।१७॥
अस्ति देवः परब्रह्म स्वरूपी निष्कलः शिवः । सर्वज्ञः सर्वकर्ता च सर्वेशो निर्मलोऽद्वयः ॥ १२ ॥
स्वयं ज्योतिरनाद्यन्तो निर्विकारः परात्परः । निर्गुणः सच्चिदानन्दस्तदंशा जीवसंज्ञकाः ॥ १३ ॥
गरुडपु० प्रेतखं० अ० ४६।६-७॥
स्वात्मन्यवस्थिते सत्त्वे विकारे प्रतिसंहृते । साधर्म्येणावतिष्ठेते प्रधानपुरुषावुभौ ॥ १४ ॥
गुणेभ्यः क्षोभ्यमाणेभ्यस्त्रयो देवा विजज्ञिरे । आश्रिताः परमा गुह्याः सर्वात्मनः शरीरिणः ॥ १५ ॥
रजो ब्रह्मा तमो ह्यग्निः सत्त्वं विष्णुरजायत । रजःप्रकाशको ब्रह्मा स्रष्टृत्वेन व्यवस्थितः ॥ १६ ॥
एत एव त्रयो लोका एत एव त्रयो गुणाः । एत एव त्रयो वेदा एत एव त्रयोऽग्नयः ॥ १७ ॥
परस्पराश्रिता ह्येते परस्परमनुव्रताः । परस्परेण वर्त्तन्ते धारयन्ति परस्परम् ॥ १८ ॥

ध्यान में अवस्थित तद्गतमन द्वारा योगी जिसको देखते हैं, सुर असुर के समूह भी जिसके देशकालादिकृत अन्त को नहीं जानते हैं, उस देव के लिये नमस्कार है ॥६॥ जिसके नामों का संकीर्तन (सम्यक उच्चारण) सब पापों का नाशक है, और प्रणाम दुःखों का नाशक है, उस पर हरि को प्रणाम है ॥ ७ ॥ देवों की आठ तिर्यक की पांच मनुष्यों की एक ये चौदह योनि हैं ॥ ८ ॥ देव दानवादि नाम वाली आठ देव योनि हैं ॥ ९ ॥ बारह कोटि सूर्य, ग्यारह कोटि रुद्र, आठ कोटि वसु, दो कोटि अश्विनीकुमार माने गये हैं ॥ १० ॥ स्वाहायुक्त मन्त्र और स्वधायुक्त मन्त्र से अर्पित देव पितृ के भक्ष्यरूप अमृत को भोगने वाले देव वस्तुतः देव हैं, जिन्हें सत्य आर्जव (नम्रता) प्रिय है, और मांसाशी सबको देव योनि होते भी राक्षस जानो जो कि कौटिल्य झूठपरायण होते हैं ॥ ११ ॥

परब्रह्म ही देव है, सो रम्यसुन्दर सर्वात्मस्वरूप वाला, निरंश, शुभ, सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, सर्वेश्वर, निर्मल, अद्वैत, स्वयंप्रकाश, आदि अन्तरहित, निर्विकार, पर से भी पर, निर्गुण, सच्चिदानन्द स्वरूप है, और उसी निरंश के अंश तुल्य जीव नाम वाले हैं ॥ १२-१३ ॥ प्रलय में कार्यों के प्रलय होने पर सत्त्वगुण के स्वरूप में स्थिति होने पर प्रकृति पुरुष दोनों साधर्म्य (तुल्यरूप) से उस समय स्थिर रहते हैं ॥ १४ ॥ फिर सृष्टि काल में क्षुब्ध (कार्याभिमुख) गुणों से तीन देव उत्पन्न हुये, जो शरीरी होते हुए भी गुणाश्रित परमगुह्य सर्वात्मा (व्यापक) हैं ॥ १५ ॥ रजोगुणोपाधिवाला ब्रह्मा तमोगुणवाला अग्नि सत्त्वगुणवाला विष्णु हुए, और रजोगुण के प्रकाशक ब्रह्मा सृष्टि के कर्ता रूप से व्यवस्थित हुए ॥ १६ ॥ ये तीन देव ही तीन लोक गुण वेद अग्नि स्वरूप हैं ॥ १७ ॥ ये परस्पर के आश्रित परस्पर अनुसरण कर्ता होते हुए परस्पर ही रहते और परस्पर को धारण करते हैं ॥ १८ ॥

अन्योऽन्यमिथुना ह्येते ह्यन्योऽन्यमुपजीविनः। क्षणं वियोगो नह्येषां न त्यजन्ति परस्परम् ॥ १९ ॥
ईश्वरो हि परो देवो विष्णुस्तु महतः परः। ब्रह्मा तु रजसोद्रिक्तः सर्गायेह प्रवर्त्तते ॥ २० ॥
वायु पु० अ० ५ ॥
देवतानामृषीणां च संख्यानार्थविशारदैः। त्रिंशत्कोट्यस्तु संपूर्णाः संख्याताः संख्यया द्विजैः ॥ २१ ॥
वा० ६१।१३ ॥
ब्रह्माणं कारणं केचित्केचिदाहुः प्रजापतिम्। केचिच्छिवं परत्वेन प्राहुर्विष्णुं तथा परे ॥ २२ ॥
अविज्ञानेन संसक्ताः सक्ता रत्यादि चेतसा ॥ २३ ॥
तत्त्वं कालं च देशं च कार्याण्यावेक्ष्य तत्त्वतः। कारणं च स्मृता ह्येता नानार्थेष्विह देवताः ॥ २४ ॥
एकं निन्दति यस्तेषां सर्वानेव स निन्दति। एकं प्रशंसमानस्तु सर्वानेव प्रशंसति ॥ २५ ॥
एकं यो वेत्ति पुरुषं तमाहुर्ब्रह्मवादिनम् ॥ २६ ॥
अद्वेषस्तु सदा कार्यो देवतासु विजानता। न शक्यमीश्वरं ज्ञातुमैश्वर्येण व्यवस्थितम् ॥ २७ ॥
एकात्मा स त्रिधा भूत्वा संमोहयति यः प्रजाः। एतेषां तु त्रयाणां तु विचरन्त्यन्तरे जनाः ॥ २८ ॥
वायु पु० अ० ६६।११२। इत्यादि ॥
मानुषस्य शरीरस्य सन्निवेशस्तु यादृशः। तल्लक्षणस्तु देवानां दृश्यते तत्त्वदर्शनात् ॥ २९ ॥
बुद्ध्याऽतिशययुक्तं च देवानां कायमुच्यते। देवानतिशयं चैव मानुषं कायमुच्यते ॥ ३० ॥
वायुपु० अ० ५६।१३-१४ ॥

इनमें एक अन्य दूसरे अन्य से मिथुन (मिले) रहते हैं, और एक अन्य दूसरे अन्य के उपजीवी (कार्य) होते हैं। एक क्षण भी इनका वियोग नहीं होता है, इससे परस्पर को नहीं त्यागते हैं ॥ १९ ॥ ईश्वर ही इन सबसे परदेव है, विष्णु भी समष्टि बुद्धिरूप महत्तत्त्व से पर हैं, और ब्रह्मा भी रजोगुण से प्रकट प्रवृद्ध होकर यहाँ सृष्टि के लिये प्रवृत्त होते हैं ॥२०॥ देवता और ऋषि के प्रसंख्यान (विवेक-गिनती) रूप अर्थ में विद्वान द्विज संख्या से तीस करोड़ संपूर्ण गिने हैं ॥ २१ ॥ कोई ब्रह्मा को कारण कहते हैं, कोई विराट को कहते हैं, तथा कोई शिव को परमात्मा रूप कहते हैं, अन्य कोई विष्णु को कहते हैं ॥ २२ ॥ जो कि अविज्ञान से किसी एक में सम्यक् आसक्त हैं, और रति आदि युक्त चित्त से भी जो आसक्त हैं, सो उक्त कथन करते हैं ॥ २३ ॥ परन्तु तत्तत् तत्त्व काल देश और कार्यों को देखकर ये देव सब अनेक अर्थों में वस्तुतः संसार में कारण कहे गये हैं, सब संसार का कोई ये देव साधारण कारण नहीं हैं ॥ २४ ॥ तिन देवों में से एक का निन्दक सब का निन्दक हैं, एक का प्रशंसक सब का प्रशंसक है ॥ २५ ॥ सब के आत्मा परब्रह्म रूप एक पुरुष को जो जानता है, उसको ब्रह्मवादी कहते हैं ॥ २६ ॥ विज्ञानी को देवताओं में सदा द्वेष का अभाव रखना चाहिये, सब ऐश्वर्य से युक्त जो एक ईश्वर सो सबसे जानने के शक्य (शक्ति का विषय) नहीं है, और वही एकस्वरूप तीन प्रकार के गुण भेद से भिन्न होकर प्रजाओं को संमोहित करता है, इससे इन तीनों के अन्तर (मध्य) में ही प्राणी विचरते हैं ॥ २७-२८ ॥ तत्त्वज्ञान से मनुष्य देह के अवयव गढन के समान लक्षणवाला ही देवताओं के शरीर दीखते हैं ॥ २९ ॥ और बुद्धि आदि की अधिकतायुक्त देव शरीर कहा जाता है, और देव से अधिकता-रहित मनुष्य का शरीर कहा जाता है ॥ ३० ॥

ब्रह्मैकं मूर्तिभेदस्तु गुणभेदेन सन्ततम् । तद्ब्रह्म विविधं वस्तु सगुणं निर्गुणं शिव ! ॥ ३१ ॥
इच्छाशक्तिश्च प्रकृति र्नित्या सर्वप्रसूः सदा । तत्रासक्तश्च सगुणः सर्वाधारः सनातनः ॥ ३२ ॥
केचिदेकं वदन्त्येव ब्रह्मज्योतिः सनातनम् । केचिद्वदन्ति द्विविधं ब्रह्म प्रकृतिपूर्वकम् ॥ ३३ ॥
सर्वेश्वरः सर्वसाक्षी सर्वत्रास्ति फलप्रदः । शरीरं द्विविधं शम्भो ! नित्यं प्राकृतमेव च ॥ ३४ ॥
नित्यं विनाशरहितं नश्वरं प्राकृतं सदा । अहं त्वं चापि भगवान् नावयो र्नित्यविग्रहः ॥ ३५ ॥

ब्रह्मवैवर्त्तपु० कृष्णज० अ० ४३।५७–६१ ॥ भगवदुक्तिः ॥

यो विष्णुः स तु वै रुद्रो यो रुद्रः स पितामहः । एका मूर्तिस्त्रयो देवा रुद्रविष्णुपितामहाः ॥ ३६ ॥
कर्त्तारौ चापहर्त्तारौ स्थावरस्य चरस्य तु । जगतः शुभकर्त्तारौ प्रभविष्णू महेश्वरौ ॥ ३७ ॥

हरिवंश प० २। अ० १२५।३१–२६ ॥

अहं त्वं सर्वगो देव ! त्वमेवाहं जनार्दन ! । आवयोरन्तरं नास्ति शब्दैरर्थै र्जगत्पते ! ॥ ३८ ॥
त्वमेवाहं जगन्नाथ ! नावयोरन्तरं पृथक् । अतः क्षमस्व भगवन् ! क्षमासारा हि साधवः ॥ ३९ ॥

भविष्यपु० अ० ८८ ॥ दुर्वासस उक्तिः ॥

क्षन्तव्यं भवता विप्र ! क्षमासारा वयं सदा । संन्यासिनः क्षमासाराः क्षमा तेषां परं बलम् ॥४०॥

अ० ११२।१६॥ श्रीकृष्णः शिवंप्रत्युवाच––

अहं ब्रह्मा कपिलो योऽप्यनन्तः पुत्राः सर्वे ब्रह्मणश्चातिवीराः ।
त्वत्तः सर्वे देवदेव ! प्रसूता एवं सर्वेशः कारणात्मा त्वमीड्यः ॥ ४१ ॥

संतत (निरन्तर-सदा) ब्रह्म एक ही है, परन्तु त्रिगुण रूप उपाधि के भेद से त्रिमूर्ति के भेद हैं, और हे शिव ! वह ब्रह्म सगुण निर्गुण स्वरूप नानारूप (बहुविध) की वस्तु है ॥ ३१ ॥ इच्छा शक्तिरूप प्रकृति (माया) है, उस में प्रतिबिम्बादि रूप से आसक्त (तत्पर-प्रविष्ट) ब्रह्म सगुण ईश्वर है, सो नित्य सर्वाधार है ॥ ३२ ॥ नित्य ब्रह्मरूप ज्योति (ज्ञान) को कोई एक ही कहते हैं, और कोई प्रकृति पूर्वक (प्रकृति सहित-प्रकृति आदि वाला) ब्रह्म को दो प्रकार के कहते हैं ॥ ३३ ॥ सब का साक्षी रूप जो सब का ईश्वर है, सो सर्वत्र फलदाता है, तिस के नित्य और प्रकृति जन्य दो प्रकार के शरीर हैं ॥३४॥ नित्य शरीर नाशरहित माया है, नश्वर देह सदा मायाजन्य है, मैं और आप भी यद्यपि भगवान् (ऐश्वर्ययुक्त) हैं, परन्तु हम दोनों की देह नित्य नहीं है ॥ ३५ ॥ जो विष्णु वही रुद्र और ब्रह्मा है, वस्तुतः मायारूप मूर्त्ति (शरीर) एक है, गुण भेद से रुद्रादि तीन देव हुए हैं ॥ ३६ ॥ चराचर देह के कर्ता नाशक देव हैं, जंगम के शुभ कर्ता प्रभविष्णू (प्रकर्ष से होने के स्वाभाववाले) महेश्वर हैं ॥ ३७ ॥ दुर्वासा ऋषि कहते हैं कि हे जनार्दन ! (विष्णो !) देव ! मैं और आप सर्वगत (विभु) हैं, हे जगत्पते ! हम दोनों में शब्द वा अर्थ से अन्तर (भेद) नहीं है ॥ ३८ ॥ विष्णु देव कहते हैं कि हे जगन्नाथ ! मैं तेरा स्वरूप ही हूँ, हम दोनों में पृथक् (नाना) भेद नहीं है, इससे हे भगवन् ! क्षमा करो, क्षमासारवाले ही साधु होते हैं ॥ ३९ ॥ हे विप्र ! आपको क्षमा कर्तव्य है, हम लोग सदा क्षमासारवाले हैं, संन्यासी क्षमासार होते हैं, क्षमा ही उनका परम बल है ॥४०॥ श्रीकृष्ण शिवजी से कहते हैं कि हे देवों के देव ! मैं, ब्रह्मा, कपिल, अनन्त (शेष) अत्यन्त वीर ब्रह्मा के सब पुत्र ये सब तुमसे ही उत्पन्न हुए हैं, इस प्रकार सब का ईश्वर कारण रूप आप स्तुत्य हो ॥ ४१ ॥

श्रीशिवः कृष्णं प्रत्युवाच—

अवध्यस्त्वमजेयश्च मत्तः शूरतरस्तथा। भविताऽसीत्यवोचं यत्तत्तथा न तदन्यथा ॥ ४२ ॥

भविष्यपु० अ० ७४।३४–३८ ॥

अग्नौ क्रियावतां देवो हृदि देवो मनीषिणाम्। प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां योगिनां हृदये हरिः ॥ ४३ ॥

नरसिंहपु० अ० ६२।५ ॥

देवांशः स तु विज्ञेयो यो भवेद्विभवाधिकः। नानृषिः कुरुते काव्यं नारुद्रो रुद्रमर्चते ॥
नादेवांशो ददात्यन्नं नाविष्णुः पृथिवीपतिः ॥ ४४ ॥

यः कश्चिद्बलवाँल्लोके भाग्यवानथ भोगवान्। विद्यावान् दानवान् वापि सदेवांशःप्रपठ्यते ॥४५॥

तथैवैते समाख्याताः पाण्डवाः पृथवीपते !। देवांशो वासुदेवोऽपि नारायणसमद्युतिः ॥ ४६ ॥

देवीभागवत० स्क० ६।१०।२३-२६-२७ ॥

यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं पराशक्त्यंशसम्भवम् ॥ ४७ ॥

देवीभा० स्क० ७।२९।३० ॥

घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते वसति विज्ञानम्। सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थानभूतेन ॥४८॥

अ० ४७।४४ ॥

स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वतः, समन्ततः पाति भयातुरं जनम्।
स एक एवेतरथा मिथो भयं नैवात्मलाभादधि मन्यते परम् ॥ ४९ ॥

देवी भा० स्क० ८।१।१३ ॥

अविकारमजं शुद्धं स्वप्रकाशं निरञ्जनम्। ज्ञानरूपं सदानन्दं प्राहु र्वै मोक्षसाधनम् ॥ ५० ॥

श्री शिव कृष्ण जी से बोले कि आप अवध्य और अजेय तथा मुझसे भी अत्यन्त शूर होनेवाले हो, यह जो मैंने कहा सो वैसा ही होने को है, अन्यथा नहीं ॥ ४२ ॥ कर्मवालों के लिये अग्नि में देव है, विद्वान के लिये हृदय में है, अल्प बुद्धिवालों के लिये प्रतिमा (मूर्ति) में है योगियों के हृदय में हरि है ॥ ४३ ॥ जो अधिक विभूतिवाला हो, उसे देवांश समझना चाहिये, और ऋषि से अन्य काव्य नहीं करता, न रुद्र से अन्य रुद्र को पूजता है। देवांश से अन्य अन्न नहीं देता, न विष्णु से अन्य पृथ्वीपति होता है ॥ ४४ ॥ जो कोई लोक में बली भाग्यवानादि हैं, सो देवांश कहे जाते हैं ॥ ४५ ॥ हे राजन्! वैसे ही ये पाण्डव (युधिष्ठिरादि) देवांश कहे गये हैं। देवांश वासुदेव (कृष्ण) भी नारायण के समान शोभा दीप्ति युक्त हैं ॥ ४६ ॥ जो २ विभूति (ऐश्वर्य) वाला, शोभावाला, बलोत्साहादिवाला सत्त्व (वस्तु-प्राणी) है उसको पराशक्ति के अंशजन्य तुम समझो। भ० गीता अ० १०।४१। में भी देखिये ॥ ४७ ॥ दूध में घृत के समान सब भूत (प्राणी पृथिवी आदि) में छिपा हुआ विज्ञान (ब्रह्म) वसता है, मथानी रूप मन से सदा मथने (विचारने) योग्य है ॥ ४८ ॥ सबसे अभय स्वतः प्रकाश जो है, वही ईश्वर होता है और भयातुर जन को सर्वतः (सर्व से सर्व तरफ से पालन करता है, सो ईश्वर एक ही है, अन्यथा ईश्वर को भी परस्पर भय होगा, वह ईश्वर आत्म लाभ से अन्य को अधिक नहीं मानता है ॥ ४९ ॥ विकार जन्म रहित, शुद्ध, स्वयं प्रकाश, निर्गुण, ज्ञानस्वरूप, सत्यानन्द, स्वरूप को ही मोक्ष का साधन कहते हैं ॥ ५० ॥

अध्यक्षः सर्वकार्याणां देहिनो हृदये स्थितः । अनूपमोऽखिलाधारस्तं देवं शरणं व्रजेत् ॥ ५१ ॥
आधारः सर्वभूतानामेको यः पुरुषः परः । जरामरणनिर्मुक्तो मोक्षदः सोऽव्ययो हरिः ॥ ५२ ॥
आनन्दमजरं ब्रह्म परं ज्योतिः सनातनम् । परात्परतरं यच्च तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ५३ ॥
नारदीयपु० पू० अ० ३३ ॥

न देवः पुण्डरीकाक्षो न च देवस्त्रिलोचनः । न देवः कमलोद्भूतो न देवस्त्रिदशेश्वरः ॥ ५४ ॥
न देवः पवनो नार्को नानलो न निशाकरः । न ब्राह्मणो नावनिपो नाहं न त्वं द्विजोत्तम ! ॥ ५५ ॥
अकृत्रिममनाद्यन्तं देवनं देव उच्यते । आकारादिपरिच्छिन्ने मिते वस्तुनि तत्कुतः ॥ ५६ ॥
इयत्तादिपरिच्छिन्नं रुद्रादेः प्राप्यते फलम् । अकृत्रिममनाद्यन्तं फलमानन्द आत्मनः ॥ ५७ ॥
योगवासिष्ठ प्र० ६।३९।११८ इत्यादि, ईश्वरोक्तिः ॥

शिव आत्मा परं ब्रह्मेत्यादिशब्दैस्तु भिन्नता । पुरातनैर्विरचिता तस्य भेदो न वस्तुतः ॥ ५८ ॥
न तद्दूरे न निकटे नोर्ध्वे नाधो न ते न मे । न पूर्वं नाद्य न प्रात र्न सन्नासन्न मध्यगम् ॥ ५९ ॥
योगवा० प्र० ६।४१।२५॥ सं० ४२।२८॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ ६० ॥ श्वेता० ६।११॥

त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतानि च । त्रयंस्त्रिंशच देवानां सृष्टिः संक्षेपलक्षणा ॥ ६१ ॥
महाभारत अनुक्रमणिकापर्व० अ० १।४१॥

ब्रह्म वै इदमग्र आसीत्, तद्देवान् सृष्ट्वा एषु लोकेषु व्यारोहयत् । अस्मिन्नेव लोके अग्निम् । वायुमन्तरिक्षे, दिवि सूर्यम् ॥ ६२ ॥शतपथ ब्रा० ११।२।३।१॥

सब कार्य का अधिकारी प्राणी के हृदयस्थ, अनु (आयाम-बृहदाकाश) तुल्य, सर्वाधार उस देवरूप रक्षक को प्राप्त होवे ॥ ५१ ॥ सब भूतों का आधार जो एक परम पुरुष है, जरा मरण से रहित अविकारी सोई हरि मोक्षदाता है ॥ ५२ ॥ आनन्द स्वरूप अजर (जरावस्था रहित) परम प्रकाश स्वरूप, नित्य, पर से अति पर (सूक्ष्म) और श्रेष्ठ जो ब्रह्म सोई विष्णु का परम पद (स्वरूप-स्थान) है ॥ ५३ ॥ वस्तुतः विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा देवेश (इन्द्र) सत्य देव नहीं हैं । हे द्विजोत्तम ! वायु, सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, ब्राह्मण, राजा, मैं वा आप भी देव नहीं हैं ॥ ५४-५५ ॥ किन्तु अकार्य स्वरूप आदि अन्तहीन देवन (द्योतन) देव कहाता है, अकारादि से युक्त एक देशी परिमित वस्तु में वह नित्य द्योतन (प्रकाशन) कैसे हो सकता है ? ॥ ५६ ॥ देशकालादि के माप से युक्त फल रुद्रादि से मिलता है, और आत्मा से अकार्य आदि अन्त रहित आनन्द स्वरूप फल मिलता है ॥५७॥ शिवादि शब्दों से पुराने लोग एक सत्य देव में भिन्नता विरचे (किये) हैं, परन्तु उस देव को भेद नहीं है ॥ ५८ ॥ न उसमें देश कृत दूरता आदि है, न सम्बन्ध कृत तेरा मेरा-पन है, न काल कृत पूर्वादिपन है, न वस्तु कृत सत् आदिपन है ॥ ५९ ॥ वह एक देव सर्वात्मा रूप से सब में छिपा है, सब में व्यापक सब प्राणी का अन्तरात्मा कर्मों का साक्षी द्रष्टा सब भूतों में वसनेवाला शुद्ध निर्गुण प्रकाशक सर्वसाक्षी रूप है ॥ ६० ॥ अन्य देवों की सृष्टि संक्षेप रूप में तैंतीस सहस्र, तैंतीस सौ, तैंतीस है ॥ ६१ ॥ यह सब जगत्त सृष्टि से प्रथम ब्रह्म रूप ही था, वह ब्रह्म देव सब की सृष्टि करके लोकों में विशेष रूप से प्रकट किया, भूमि में अग्नि को, अन्तरिक्ष में वायु को, स्वर्ग में सूर्य को प्रकट किया ॥६२॥

अग्नि र्वसुभिः, सोमो रुद्रैः, इन्द्रो मरुद्भिः, वरुण आदित्यैः, बृहस्पति र्विश्वेदेवैः । एते ह तु विश्वे देवाः ॥६३॥ शत० ३।४।२।१॥ तैत्तिरीय सं० ६।२।२॥ तदिदमभ्यनूक्तं यजुषा—

"अग्नि र्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमाः देवता वसवो देवता रुद्राः देवता आदित्याः देवता मरुतो देवता विश्वेदेवाः देवता बृहस्पतिः देवता इन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥६४॥ यजुः १४।१०॥

द्वयाः वै देवाः, देवा अह एव देवाः । अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसो अनूचानाः, ते मनुष्यदेवाः ॥६५॥ शतपथ. ४।३।४।४॥ तेषां द्वेधा विभक्त एव यज्ञः । आहुतय एव देवानाम् । दक्षिणा मनुष्यदेवानां ब्राह्मणानां शुश्रुवुपामनूचानानाम् । आहुतिभिरेव देवान् प्रीणाति, दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान् । ते एनमुभये देवाः प्रीताः स्वर्गं लोकमभिवहन्ति ॥ ६६ ॥ शतपथ. ११।२।३।१॥

विद्वांसो वै देवाः । शतपथ० ३।७।३।१० ॥ एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद्ब्राह्मणाः । तैत्तिरीयसं० १।७।३।१ ॥ नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम् । तै० ब्रा० ३।१२।६।७॥

अग्नि र्देवो द्विजातीनां मुनीनां हृदि दैवतम् । प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र समदर्शिनाम् ॥ ६७ ॥

इति द्वितीय देव प्रकरणम् ।		चाणक्यनी० अ० ४। १९॥

अथेश्वरकारणस्वरूपादि ॥ ३ ॥

त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं त्वमेकं जगत्पालकं स्वप्रकाशम् ।
त्वमेकं जगत्कर्तृ पातृ प्रहर्तृ त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम् ॥ १ ॥
भयानां भयं भीषणं भीषणानां गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम् ।
महोच्चैः पदानां नियन्तृ त्वमेकं परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम् ॥ २ ॥
वयं त्वां स्मरामो वयं त्वां भजामो वयं त्वां जगत् साक्षिरूपं नमामः ।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं भवाम्भोधिपोतं शरण्यं व्रजामः ॥ ३ ॥

अग्नि आदि प्रधान देव वसु आदि देव के साथ प्रकट हुए, ये ही प्रसिद्ध सब देव हैं ॥ ६३ ॥ यह बात यजुर्वेद के मन्त्र से भी कही गई है कि अग्नि आदि देवता हैं ॥ ६४ ॥ दो प्रकार के निश्चित देव हैं, एक प्रकार के तो जो देव अग्नि आदि 'अह' (प्रसिद्ध) हैं सो देव हैं, और दूसरे वेदादि को सुने पढ़े हुए अनूचान (साङ्गवेदाध्येता) हैं, सो मनुष्य रूप देव हैं ॥ ६५ ॥ उनके भिन्न २ दो प्रकार के यज्ञ (पूजा) हैं, आहुति (अग्नि होत्र) ही देव के यज्ञ हैं, और दक्षिणा मनुष्य देव श्रोता अनूचान ब्राह्मण के यज्ञ हैं, मनुष्य आहुतियों से देव को प्रसन्न करता है, दक्षिणाओं से मनुष्य देव को प्रसन्न करता है, तब प्रसन्न हुए वे दोनों प्रकार के देव इस यजमान को स्वर्ग लोक में प्राप्त कराते हैं ॥ ६६ ॥ देव प्रकरण समाप्त ।

अथ ईश्वरकारणस्वरूपादि ।

जो तुम एक ईश्वर शरणागत के रक्षक, वरने योग्य जगत् पालक कर्ता आदि स्वरूप निश्चल भेद रहित हो । तथा "भयादस्याग्निस्तपति । महद्भयं वज्रमुद्यतम्" । [कठ अ० २।५-१।] इत्यादि श्रुति के अनुसार जो भयों का भय, भयंकरों का भयंकर, प्राणी का आश्रय, पावनों का पावन, महान् उच्चस्थानादि का नियन्ता हो, उस जगत् के साक्षी स्वरूप का स्मरण, भजन, नमस्कार मैं करता हूँ, तथा सत्य एक निराधार संसार समुद्र की नौका रूप ईश्वर शरण्य को प्राप्त होता हूँ ॥ १-३ ॥

विदुर्यं न चित्तेन्द्रियाणीन्द्रियेशं विजानाति यस्तानि नित्यं नियन्ता ।
जगत्साक्षिणं व्यापकं विश्ववन्द्यं चिदानन्दरूपं तमीशं प्रपद्ये ॥ ४ ॥
अणोरप्यणीयान् महद्भ्यो महीयान् रवीन्दुग्रहज्याभगोलादिकर्त्ता ।
य ईशो हि सृष्ट्यादिमध्यान्तसंस्थश्चिदानन्दरूपं तमीशं प्रपद्ये ॥ ५ ॥

श्रीमच्छंकराचार्यकृतेश्वरप्रार्थनास्तोत्रे ॥

ईशा वास्यमिद ँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् । तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥६॥

ईशोप० १ ॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् । तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ ७ ॥
यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥ ८ ॥ श्वेता० अ० ४।१०-११ ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति । भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ९ ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ! । तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥१०॥

भगवद्गीता० अ० १८।६१-६२ ॥

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः ॥ ११ ॥

जिस इन्द्रियेश को चित्तादि नहीं जानते हैं, और उन चित्तादि को जो नित्य (सदा) जानता है । तिस व्यापक, सबसे स्तुत्य चिदानन्दरूप जगत् के साक्षी ईश्वर को प्राप्त होता हूँ ॥ ४ ॥ अणु से भी अति अणु (सूक्ष्म), महान् से भी अति महान् और सूर्य, चन्द्र, ग्रह (निग्रहादि) ज्या (भूमि) भ (तारा) गोलादि (मण्डलादि) का कर्ता जो ईश्वर सृष्टि के आदि मध्य अन्त में सम्यक् स्थिर रहता है, उस चिदानन्द स्वरूप ईश्वर को मैं प्राप्त होता हूँ ॥ ५ ॥ पृथिवी भुवनादि रूप जगती में जो कुछ जगत् है, और सबके नाम रूप के ईश स्वरूप में कल्पित होने से ईश्वरस्वरूपात्मा के साक्षात्कार से सब जगत् आच्छादित (मिथ्या) हो जाता है, जीव मुक्त हो जाता है, तिस कारण से त्यक्तेन (त्यागपूर्वक ज्ञान से) भुञ्जीथा (आत्मानन्द-मोक्ष सुख को भोगो-अपनी रक्षा करो) धनादि की इच्छा नहीं करो, धनादि किसी के हैं नहीं ॥ ६ ॥ माया को जगत की प्रकृति (उपादान कारण) जानना चाहिये, और मायी (मायोपाधिवाले) को महान् ईश्वर जानना चाहिये, और उसी ईश्वर के अवयव तुल्य कल्पित जीवों से जगत् सब व्याप्त है ॥ ७ ॥ जो एक ईश्वर माया आकाशकालादि सब योनियों (कारणों) का अधिष्ठाता है, अन्तर्यामी है, और जिसमें प्रलय के समय सब जगत समेति (लीन होता है) सृष्टि काल में व्येति (विविध रूप से प्रकट होता है) उस नियन्ता मोक्षप्रद स्तुत्य देव को निश्चय पूर्वक आत्मरूप से जान कर इस प्रसिद्ध शान्ति (मुक्ति) को अत्यन्त प्राप्त करता है ॥ ८ ॥ हे अर्जुन ! व्यापक भी ईश्वर सब प्राणी के अन्तःकरण में अन्तर्यामीरूप से प्रकट रहता है, सो देहाभिमान से देहरूप यन्त्र पर आरुढ (स्थिर) सब प्राणियों को अपनी माया शक्ति से भ्रमाता (घुमाता) हुवा रहता है ॥ ९ ॥ हे भारत ! (अर्जुन) सब तात्पर्य से उस ईश्वररूप शरण को ही प्राप्त करो, उसका विचारादि करो, तो उसी की कृपा से परम शान्ति और शाश्वत (नित्य) स्थान (स्वरूप) विष्णुपद (आत्मा) को पावोगे ॥ १० ॥ उस ईश्वर के लोक में कोई स्वामी नियन्ता लिङ्ग (चिह्न) नहीं है, वही कारण है, और करणाधिप (जीव देव) का स्वामी है, उसका कोई पिता वा स्वामी नहीं है ॥ ११ ॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १२ ॥ श्वेता० अ० ३।६-१३

अद्वैतं विश्वमखिलं नानारूपं निरीक्ष्यते । अतीव चित्रमेतस्य कारणं परिचिन्त्यताम् ॥ १३ ॥
यत्पूर्ववृत्तिनियतं यदुत्पत्तावपेक्ष्यते । तत्तस्य कारणं प्रोक्तं कार्यमुत्पाद्यमस्य यत् ॥ १४ ॥
लीलार्थमीश्वरत्वार्थमचिन्त्यानन्तशक्तिना । स्वरूपात्स्वेच्छया तेन प्रपञ्चः प्रकटीकृतः ॥ १५ ॥
तदंशा अखिला देवाः सकामा आश्रयन्ति तान् । तत्तद्दाति तद्द्वारा तेभ्यो माहात्म्यबुद्धये ॥ १६ ॥
यस्तु सम्यग् विजानीयात्स संसाराद्विमुच्यते । सर्वात्मना भजेद्योऽस्य न किञ्चिदपि दुर्लभम् ॥ १७ ॥

वेदान्तचिन्तामणि प्र० १ ॥

जडे सदंशः प्रकटश्चिदानन्दौ तिरोहितौ । जीवे सत्यचितावन्तर्यामिण्येतत्त्रयं स्फुटम् ॥ १८ ॥

वेदान्तचि० प्र० ३।१२॥

ब्रह्माज्ञानाज्जगज्जन्म ब्रह्मणोऽकारणत्वतः । अधिष्ठानत्वमात्रेण कारणं ब्रह्म गीयते ॥ १९ ॥
आत्मसत्तैव द्वैतस्य सत्ता नान्या यतस्ततः । आत्मन्येव जगत्सर्वं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम् ॥ २० ॥

वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली ॥

विकृतपरिणामित्वं दुग्धतुल्यं न ब्रह्मणः । सुवर्णादिसमं तस्याऽविकृतपरिणामिता ॥ २१ ॥

वह नित्यों का नित्य चेतनों का चेतन है, और एक होता हुआ भी अनन्त जीवों के काम जन्य भोगों को देता है, सांख्य योग (विचार ध्यानादि) से जानने योग्य उस देव को जान कर अविद्यादि सब बन्धन से मुक्त होता है ॥१२॥ सब जगत् वस्तुतः अद्वैत ब्रह्मस्वरूप है, और नानारूप देखा जाता है, अत्यन्त अद्भुत इसके कारण को परिचित करो ॥ १३ ॥ जिसकी उत्पत्ति में जो नियम से पहले अपेक्षित हो, वह उसका कारण कहा गया है, इस कारण से होने वाला इसका कार्य कहा गया है ॥ १४ ॥ तिस कारण रूप ईश्वर ने लीला (केलि विलास खेला) के लिये, ईश्वरता के लिये, अपने स्वरूप से अपनी इच्छा द्वारा प्रपञ्च को प्रकट किया ॥ १५ ॥ सकाम उसके अंश रूप सब देव उन कामों को ही आश्रयण करते हैं, तो ईश्वर तत्तत् उन्हें देता है, उसके द्वारा उनके प्रति अपने माहात्म्य को समझाने के लिये काम्य का प्रदान करता है ॥ १६ ॥ जो परमात्मा को अच्छी तरह जानेगा, सो संसार से मुक्त होगा, जो सर्वात्मा रूप से उसे भजेगा, इस भक्त के लिये भी कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है ॥ १७ ॥ जड़ पदार्थ में परमात्मा का ही सत्ता भाग प्रकट है, और चेतना आनन्द दो अंश जड़ में तमोगुण से तिरोहित (छिपे) हैं। जीव-साधारण में सत् और चित् (चेतना) दो अंश प्रकट हैं, अन्तर्यामी में सत् चित् आनन्द ये तीनों प्रकट हैं ॥ १८ ॥ वस्तुतः ब्रह्माश्रित कल्पित अज्ञानरूप माया से जगत का जन्म होता है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म कारण नहीं है, किन्तु अज्ञानादि के अधिष्ठानता मात्र से ब्रह्म भी कारण कहा जाता है ॥ १९ ॥ जिससे आत्मा (ब्रह्म) की सत्ता ही जगत् की सत्ता है, अन्य स्वतः सत्ता नहीं है, तिससे आत्मा ही में सब जगत् कल्पित है, इससे 'आत्मा के दृष्ट होने पर जगत् दृष्ट होता है, आत्मा के श्रुत होने पर श्रुत होता है' इत्यादि श्रुति है ॥ २० ॥ अपने स्वरूप के नाशपूर्वक परिणामी दूधादि के समान ब्रह्म में परिणामिता नहीं है, किन्तु सुवर्णादि तुल्य है ॥ २१ ॥

विरुद्धधर्मवद् ब्रह्म कार्यमाविर्भवत्यतः । तिरोभवति तत्रैव सत्कार्यं सर्वदा ततः ॥ २२ ॥
प्रलये शिष्यते तस्माद्धरिः शेषोऽभिधीयते । चित्प्रधानाः परिच्छिन्ना अंशा व्युदचरंस्ततः ॥ २३ ॥
सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकारास्तदिच्छया । जीवस्त्वराग्रमात्रो हि गन्धवद् व्यतिरेकवान् ॥ २४ ॥
व्यापकत्वश्रुतिस्तस्य भगवत्त्वेन युज्यते । विसर्पिगुणचैतन्योऽणुर्जीवोंऽशो हरेः स्मृतः ॥ २५ ॥
अहन्तादिरूपो जीवस्य संसारोऽमिथ्या जगत् । तच्छक्त्याऽविद्यया त्वस्य जीवस्य बन्ध उच्यते ॥ २६ ॥
विद्याऽविद्या हरेः शक्ति र्माययैव विनिर्मिते ॥ २७ ॥ इत्यादिपुष्टिसुधाकरे ॥
वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि । समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ॥ २८ ॥
जगतः समवायि स्यात्तदेव च निमित्तकम् । कार्यस्य ब्रह्मरूपस्य ब्रह्मैव स्यात्तु कारणम् ॥ २९ ॥
पुष्टिसुधाकरे ॥
अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववृत्तिता । कारणत्वं भवेत्तस्य त्रैविध्यं परिकीर्त्तितम् ॥ ३० ॥
समवायिकारणत्वं ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम् । एवं न्यायनयज्ञैस्तृतीयमुक्तं निमित्तहेतुत्वम् ॥ ३१ ॥
यत्समवेतं कार्यं भवति ज्ञेयं तु समवायि जनकं तत् । तत्रासन्नं जनकं द्वितीयमाभ्यां परं तृतीयं स्यात् ३२
न्यायसिद्धान्तमुक्तावली० १।१६।१८॥

कार्यत्व कारणत्वादि विरुद्ध धर्मवाला ब्रह्म है, इसीसे कार्य प्रकट होता है, तथा इसी में गुप्त होता है, तिससे कार्य सदा सत्य है ॥ २२ ॥ प्रलय में हरि मात्र रहता है, इससे हरि ही शेष कहा जाता है, उसी से चित्प्रधान एक देशी अंश निकले हैं ॥ २३ ॥ सृष्टि के आदि में निराकार जीव सब हरि की इच्छा से प्रकट हुए। सो जीव आरा के अग्रमात्र सूक्ष्म हैं, गन्ध के समान उनके विना भी रहता है ॥ २४ ॥ जीव में व्यापकता की बोधक श्रुति हरि स्वरूपता की दृष्टि से युक्त है, प्रसरणशील चैतन्यगुणवाला हरि का अंशरूप अणु स्वरूप जीव कहा गया है ॥ २५ ॥ अहंकारादि रूप जीव को संसार है, और यह जगत मिथ्या नहीं है, और उस हरि की शक्ति रूप अविद्या से इस जीवको बन्ध (संसार) कहा जाता है ॥ २६ ॥ विद्या और अविद्या हरि की शक्ति है, सो माया जन्य है ॥ २७ ॥ वेद, गीता, वेदान्त सूत्र शारीरक, भागवत, चारो कारणादि के बोधक प्रमाण हैं ॥ २८ ॥ जगत का समवायि (जगत जिसमें सम्मिलित ही प्रतीत हो ऐसा कारण) वह ब्रह्म ही है, और वही निमित्त कारण भी है, और ब्रह्मरूप कार्य का ब्रह्म ही कारण है ॥ २९ ॥ कारणगत गुण जाति और कार्य के उत्पादन काल में दैवयोग से प्राप्त पदार्थादि रूप अन्यथा सिद्धि से शून्य पदार्थ की जो कार्य से नियत (अवश्य) पूर्वकाल में वर्तमानता (रहना) है, सोई कारणपन होता है, उस कारणत्व के तीन प्रकार के भेद कहे गये हैं ॥ ३० ॥ समवायिकारणत्व और असमवायिकारणत्व दो जानना चाहिये, और न्यायसिद्धान्त के ज्ञाता तीसरा निमित्तकारणत्व कहे हैं, अन्य लोग समवायि निमित्त दो ही कारण मानते हैं, समवायि से भिन्न को निमित्त कहते हैं ॥ ३१ ॥ जिसमें समवेत समवाय नामक सम्बन्ध से वर्तमान ही कार्य होता है, सो समवायि कारण जानने योग्य है, जैसे तन्तु पट का समवायि कारण है, और उस समवायि कारण में आसन्न (समवेत) जैसे कि तन्तुओं का संयोग, असमवायि कारण है इन दोनों से भिन्न निमित्त कारण है ॥ ३२ ॥

कार्याऽऽयोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः । वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वकृदव्ययः ॥३३॥

इति तृतीयं ईश्वर कारणस्वरूपादि प्रकरणम् । न्यायकुसुमाञ्जलौ स्तवकः ५।१॥

अथ मातापितरौ ॥ ४ ॥

मातापितृसमो देवो नान्यो हि विद्यते भुवि । शिक्षकौ यदि तौ स्यातां नानृतौ नच लालकौ ॥ १ ॥ तथाहि

देवतानां समवायमेकस्थं पितरं विदुः । मर्त्यानां देवतानां च स्नेहादभ्येति मातरम् ॥ २ ॥

नास्ति मातृसमो देवो नास्ति तातसमो गुरुः । तयोः प्रत्युपकारो हि कथञ्चन न विद्यते ॥ ३ ॥

न ताभ्यामननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् । वर्जयित्वा मुक्तिफलं नित्यं नैमित्तिकं तथा ॥ ४ ॥

मातॄंस्तु गौरवादन्ये पितॄनन्ये तु मेनिरे । दुष्करं कुरुते माता विवर्द्धयति या प्रजाः ॥ ५ ॥

आशंसते च पुत्रेषु पिता माता च भारत ! । यशः कीर्त्तिमथैश्वर्यं प्रजा धर्मं तथैव च ॥ ६ ॥

तयोराशां तु सफलां यः करोति स धर्मवित् ॥ ७ ॥ महाभारते शान्ति प० ॥

माता पिता च भगवनेतौ मद्दैवतं परम् । यद्दैवतेभ्यः कर्तव्यं तदेताभ्यां करोम्यहम् ॥ ८ ॥

वनप० अ० २१४।१८। ब्राह्मणं प्रति धर्मव्याधोक्तिः ॥

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्त्तिः पिता मूर्त्तिः प्रजापतेः । माता पृथिव्या मूर्त्तिस्तु भ्राता स्वोमूर्त्तिरात्मनः ॥ ९ ॥

कार्यत्व से कारणों के आयोजन (जड़ कारणों के प्रवर्तन) से पृथिवी आदि सूर्यादि मेघादि के अपने २ देशादि में धारण से पद (ईश्वरादि शब्द) से या (पद्यते ज्ञायते अनेनेति पदं व्यवहारः) जिससे शक्ति आदि का ज्ञान हो उस व्यवहार से, 'लेट्' 'लोट्' आदि रूप विधायक प्रत्यय से या वेद की प्रमाणता से साक्षात् श्रुति से वाक्य से और संख्याविशेषरूप हेतु से विश्वकर्ता अव्यय ईश्वर सिद्ध करने योग्य समझने योग्य है । क्योंकि उपादान विषयक अपरोक्ष ज्ञान कार्य करने की इच्छा कृति व्यापार यत्न) वाले कर्ता के बिना लोक में कार्यादि नहीं होते हैं, और सावयवतादि से पृथिवी अंकुरादि कार्यादिरूप अवश्य हैं इत्यादि ॥ ३३ ॥ तीसरा ईश्वर कारणस्वरूपादि प्रकरण समाप्त ।

अथ मातापिता—माता पिता के समान अन्य देव भूमि में नहीं हैं, यदि वे सुशिक्षा देनेवाले हों, झूठ वचनरहित हों, पुत्र को केवल लालन करने वाले नहीं हों ॥१॥ एकत्र स्थित देव समूह रूप पिता को सज्जन जानते हैं, और प्रेम से मनुष्य और देव के समूह रूप माता को सर्वथा प्राप्त करते हैं, माता में दोनों का समूह प्राप्त होता है ॥२॥ इससे माता के तुल्य देव और पिता के तुल्य गुरु नहीं है, इन दोनों का प्रत्युपकार किसी प्रकार नहीं होता है ॥ ३ ॥ मुक्तिफलवाले धर्म और नित्य नैमित्तिक कर्म के बिना अन्य अन्य धर्म उनकी सम्मत्ति विना नहीं करे ॥ ४ ॥ कोई माताओं को गुरुभाव से मानते हैं, कोई पिताओं को मानते हैं, परन्तु जो माता पुत्र को वढ़ाती है, सो अन्य से दुष्कर कर्म करती है ॥ ५ ॥ हे भारत ! पिता और माता दोनों पुत्रों में यश, विस्तार प्रख्याति, ऐश्वर्य, प्रजा और धर्म चाहते हैं ॥ ६ ॥ उनकी आशा को जो सफल करता है सो धर्मज्ञ है ॥ ७ ॥ धर्म व्याध ने ब्राह्मण से कहा था कि ये मेरे माता पिता परमदेव हैं, जो देव सब के लिये पूजा आदि कर्तव्य हैं, सो मैं इनके ही लिये करता हूँ ॥ ८ ॥ आचार्य ब्रह्म की मूर्ति, पिता हिरण्य गर्भ की मूर्ति, माता पृथिवी की मूर्ति, और अपना सोदर बड़ा

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः । नार्त्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ १० ॥
यं मातपितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम् । न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥ ११ ॥
तयोः नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा । तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ १२ ॥
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान् विजयेद् गृही । दीप्यमानः स्ववपुषा देववद् दिवि मोदते ॥ १३ ॥
इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् । गुरुशुश्रूषया त्वेव ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥ १४ ॥

मनु० अ० २।२२५। आदि।

पित्रोरर्चाऽथ पत्युश्च साम्यं सर्वजनेषु च । मित्राद्रोहो विष्णुभक्तिरेते पञ्च महामखाः ॥ १५ ॥
सर्वतीर्थमयी माता सर्वदेवमयः पिता । मातरं पितरं तस्मात्सर्वयत्नेन पूजयेत् ॥ १६ ॥
पादारविन्दसलिलं यः पित्रोः पिवते सुतः । तस्य पापक्षयं याति जन्मकोटिशतार्जितम् ॥ १७ ॥
नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः । नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमा प्रिया ॥ १८ ॥
कुक्षिसंधारणाद्धात्री जननाज्जननी स्मृता । अङ्गानां वर्द्धनादम्बा वीरसूत्वेन वीरसूः ॥ १९ ॥

ब्रह्मपु० खं० १ अ० ५२ ॥ महाभा० शा० अ० १६६।३१–३२॥

पतिता हि गुरवस्त्याज्या माता च न कथञ्चन । गर्भधारणपोषाभ्यां तेन माता गरीयसी ॥ २० ॥

स्कन्दपु० महेश्वरखं० १ कौ० खं० २ अ० ६।१०७॥

हरिभक्तिप्रदो बन्धुस्तदिष्टं यत्सुखप्रदम् । यो बन्धच्छित्स च पिता हरेर्वर्त्मप्रदर्शकः ॥ २१ ॥

भाई अपनी मूर्ति है ॥ ९ ॥ आचार्यादि आर्त (दुःखी) मनुष्य से भी अनादर के योग्य नहीं हैं, ब्राह्मण से विशेष करके अनादर के अयोग्य हैं ॥ १० ॥ मनुष्य के संभव (गर्भाधानादि) होने पर माता पिता जिस क्लेश (दुःख) को सहते हैं, उसकी निष्कृति (बदला-आनृण्य) अनेक सौ वर्ष में भी करने योग्य नहीं है ॥ ११ ॥ तिस माता पिता का सदा प्रतिदिन प्रिय (अभीष्ट) करे, तथा आचार्य का सदा प्रिय करे, उन तीनों के सन्तुष्ट होने पर सब तप के फल सम्यक् प्राप्त होते हैं ॥ १२ ॥ इन तीनों में प्रमाद (अनवधानता) नहीं करता हुवा गृहस्थ भी तीनों लोक को जीतता है, और अपने शरीर से प्रकाशमान होता हुवा स्वर्ग में आनन्द करता है ॥ १३ ॥ मनुष्य लोक को मातृभक्ति से अन्तरिक्षलोक को पितृ भक्ति से ब्रह्म लोक को गुरु सेवा से प्राप्त करता है ॥ १४ ॥ माता पिता की पूजा, पति (पालक-स्वामी) की पूजा, सब जन में समता, मित्र से अद्रोह, और विष्णु भक्ति, ये पांच महायज्ञ हैं ॥ १५ ॥ माता सब तीर्थ रूप है, पिता सब देव रूप हैं, तिससे सब प्रयत्न से माता पिता की पूजा करे ॥ १६ ॥ जो पुत्र माता पिता के चरणकमल का जल पीता है, उसके करोड़ों सौ जन्म के उपार्जित पाप नष्ट होते हैं ॥ १७ ॥ माता के समान छाया (अनातप-शान्ति का स्थान) नहीं है, न माता के समान गति (आश्रयादि) है, न माता के समान रक्षण है, न प्रिय है ॥ १८ ॥ उदर में धारण करने से माता धात्री कहाती है, जन्म देने से जननी है, अङ्गों के बढ़ाने से अम्बा, वीर को पैदा करने से वीरसू कहाती है ॥ १९ ॥ पतित होने पर अन्य गुरु त्याग के योग्य हैं, परन्तु गर्भ धारण और पोषण से माता किसी प्रकार भी त्याग के योग्य नहीं है, तिसी से माता सब से अति गुरु है ॥ २० ॥ हरि भक्ति देने वाला बन्धु है, सुख देने वाला इष्ट है, बन्ध का नाशक पिता है, जो कि हरि की प्राप्ति का मार्ग बताने वाला है ॥ २१ ॥

सा गर्भधारिणी या च गर्भवासविमोचिनी । विष्णुमन्त्रप्रदाता च स गुरु विंष्णुभक्तिदः ॥ २२ ॥
जननीगर्भजात् क्लेशाद् यमताडनजात्तथा । न मोचयेद्यः स कथं गुरुस्तातो हि वान्धवः ॥ २३ ॥
ब्रह्मवैवर्त्तपु० खं० १ अ० ४६।४७–४९॥ जरत्कारूक्तिः ।
यस्माद्द्विजायते लोकस्तस्माद्धर्मः प्रवर्त्तते । नमस्तुभ्यं पितः साक्षाद् ब्रह्मरूप ! नमोस्तुते ॥ २४ ॥
या कुक्षिविवरे कृत्वा स्वयं रक्षति सर्वतः । नमामि जननीं देवीं परां प्रकृतिरूपिणीम् ॥ २५ ॥
भविष्यपु० मध्यम० अ० ६।८–९॥
मातुः पितुर्गुरूणां च कार्यमेवानुशासनम् । हितं चाप्यहितं चापि न विचार्यं नरर्षभ ! ॥ २६ ॥
महाभारत, अनु० अ० १०६।१४५॥
सर्वेषामपि पूज्यानां पिता वन्द्यो महान् गुरुः । पितुः शतगुणे माता गर्भधारणपोषणात् ॥ २७ ॥
ब्रह्मवैवर्त्तपु० कृष्णजन्मखं० उ० अ० ७२।११०॥
पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः । पितरि प्रीतिमापन्ने सर्वा प्रीयन्ति देवताः ॥ २८ ॥
मुच्यते बन्धनात्पुष्पं फलं वृक्षात्प्रमुच्यते । क्लिश्यन्नपि सुतं स्नेहैः पिता पुत्रं न मुञ्चति ॥ २९ ॥
पद्मपु० सृष्टि खं० अ० ४७ ॥ म० शा० अ० २६६।२१।२३॥

इति मातापितरौ चतुर्थं प्रकरणम् ।

अथ साधुतत्सङ्गादि ॥ ५ ॥

साधून् वन्दे सतः शुद्धान् कृपासिन्धून् महाजनान् । यत्सङ्गत्या महानेष तीर्यते भवसागरः ॥ १ ॥
यत्सङ्गत्या न दुःखस्य नामापि शिष्यते पुनः । हीनोऽप्युत्तमतामेति दोषोऽपि गुणतां व्रजेत् ॥२॥ तथाहि—
सत्सङ्गः परमो ब्रह्मन्न लभ्येताकृतात्मनाम् । यदि लभ्येत विज्ञेयं पुण्यं जन्मान्तरार्जितम् ॥ ३ ॥

गर्भवास से रहित करने वाली गर्भधारिणी है, और विष्णु मन्त्र देने वाला वह गुरु है जो विष्णु भक्ति दाता है ॥ २२ ॥ मातृगर्भ जन्य तथा यमताड़नजन्य दुःखों से जो मुक्त नहीं करे सो गुरु पिता वा बान्धव कैसे हो सकता है ? ॥ २३ ॥ जिससे लोक उत्पन्न होता है, तिसी से धर्म भी प्रवृत्त होता है, साक्षाद् ब्रह्म रूप हे पिता जी आप के प्रति नमस्कार है, आप धर्म का भी हेतु हैं ॥ २४ ॥ जो कोख के छिद्र में रख कर स्वयं सबसे रक्षा करती है, पर प्रकृति रूप उस जननी देवी को नमस्कार करता हूँ ॥२५॥ हे नरश्रेष्ठ ! माता पिता गुरु की शिक्षा आज्ञा को करना ही चाहिये, वहाँ हित वा अहित का विचार नहीं करना चाहिये ॥ २६ ॥ सब पूज्यों में भी महान् प्रभु रूप पिता वन्दना योग्य हैं, माता गर्भ धारण पोषण से सौगुण अधिक बन्दनार्ह है ॥ २७ ॥ चौथा मातापिता प्रकरण समाप्त ।

अथ साधुतत्सङ्ग—प्रशस्त शुद्ध कृपासागर, महा भक्तरूप साधुओं की वन्दना करता हूँ कि जिनकी सङ्गति से महान् यह संसार सागर तरा जाता है ॥ १ ॥ जिनकी सङ्गति से फिर जन्मादि जन्य दुःख के नाम भी बाकी नहीं रहते हैं, और हीन (गर्हित छोटा) भी उत्तमता को तथा दोष गुण रूपता को प्राप्त होता है ॥ २ ॥ तैसी बात लिखी हुई है ! कि, हे ब्रह्मन् सत्संग उत्तम पदार्थ है, सो अवशीभूत अशुद्ध मन वालों को नहीं मिलता है, यदि उन्हें भी मिले तो उनके जन्मान्तर का उपार्जित पुण्य समझना चाहिये ॥ ३ ॥

पूर्वार्जितानि पापानि नाशमायान्ति यस्य वै । सत्सङ्गतिर्भवेत्तस्य नान्यथा घटते हि सा ॥ ४ ॥
रविर्हि रश्मिजालेन दिवा हन्ति बहिस्तमः । सन्तः सूक्तिमरीच्योघैश्चान्तर्ध्वान्तं हि सर्वदा ॥ ५ ॥
नारदीयपु० अ० ४।३५–३७–४७ ॥
यत्र सन्तः प्रवर्त्तन्ते तत्र दुःखं न बाधते । वर्त्तते यत्र मार्त्तण्डः कथं तत्र तमो भवेत् ॥६॥ ना० अ० ७।७१॥
दुर्जनेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः । न हि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मतः ॥ ७ ॥
बाध्यमानोपि सुजनः सर्वेषां सुखकृद् भवेत् । ददाति परमां तुष्टिं भक्ष्यमाणोऽमरैः शशी ॥ ८ ॥
ना० अ० ८।३३-३४ ॥
सुजनो न याति वैरं परहितबुद्धिर्विनाशकालेऽपि । छेदेऽपि चन्दनतरुः सुरभयति मुखं कुठारस्य ॥९॥
मृगमीनसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम् । लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति ॥१०॥
व्रते विवादं विमतिं विवेके सत्येऽतिशङ्कां विनये विकारम् ।
गुणेऽवमानं कुशले निषेधं धर्मे विरोधं न करोति साधुः ॥ ११ ॥
सन्तोऽतीतं न शोचन्ति भविष्यच्चिन्तयन्ति नो । वर्त्तमानं च गृह्णन्ति कर्मप्राप्तमखण्डितम् ॥ १२ ॥
नारदीयपु० अ० ३७ ॥
जडोऽपि याति पूज्यत्वं सत्सङ्गाज्जगतीतले । कलामात्रोऽपि शीतांशुः शम्भुना स्वीकृतो यथा ॥ १३ ॥
नारदीपु० अ० ८।८ ॥
सदिति ब्रह्मणः शब्दस्तद्वन्तो ये भवन्त्युत । साजात्याद् ब्रह्मणस्त्वेते तेन सन्तः प्रचक्षते ॥ १४ ॥
विद्यायाः साधनात्साधुर्ब्रह्मचारी गुरोर्हितः । क्रियाणां साधनाच्चैव गृहस्थः साधुरुच्यते ॥ १५ ॥

जिसके पूर्वार्जित पाप नष्ट हो जाते हैं, उसी को सत्संगति होती है, अन्यथा नहीं होती ॥ ४ ॥ सूर्य अपने किरण समूह से दिन में बाहर के तम को सदा नष्ट करते हैं, और सन्त लोग सुन्दर वचन रूप किरण से भीतर तम को सदा नष्ट करते हैं ॥ ५ ॥ जहाँ सन्त रहते हैं, वहाँ दुःख पीड़ित नहीं करता, जहाँ सूर्य है वहाँ तम कैसे रहेगा ? ॥ ६ ॥ दुर्जन प्राणी पर भी सन्त दया करते हैं, चाण्डाल के घर में से भी चन्द्रमा अपने प्रकाश को नहीं हटाते हैं ॥७॥ पीडित होता हुआ भी सज्जन सबका सुखकारक होता है, देव सबसे भक्ष्यमाण (भोग्य) भी चन्द्रमा उन्हें परम तुष्टि देता है ॥८॥ पर हित की बुद्धि वाला सज्जन वैर को नहीं प्राप्त होता, छेदन करने पर भी चन्दन का वृक्ष कुल्हाड़ी के मुख को सुगन्ध ही करता है ॥९॥ तृणादि से साधित वृत्ति वाले मृगादि के भी संसार में विना कारण के ही वैरी व्याधा आदि हैं ॥ १० ॥ व्रत में विवाद, विवेक में विमति, सत्य में अतिशंका, विनय में विकार, गुण में अनादर शुभ में निषेध, धर्म में विरोध साधु नहीं करते हैं ॥११॥ किन्तु कर्म से प्राप्त अखण्डित वर्तमान का ग्रहण करते हैं, निषिद्ध भूतादि का नहीं ॥ १२ ॥ भूमि में सत्संग से जड भी पूज्यपन को प्राप्त करता है, जैसे षोडशांशमात्र भी चन्द्रमा शिव से स्वीकृत होने से पूज्य हैं ॥ १३ ॥ सत् यह ब्रह्म का बोधक शब्द है, उस शब्द वाले जो सत्पुरुष भी होते हैं, ये सन्त ब्रह्म के सजाति होने से तिस शब्द से ब्रह्म का कथन करते हैं ॥ १४ ॥ गुरु का हित ब्रह्मचारी विद्या को साधने से साधु कहाता है, कर्म को साधने से गृहस्थ साधु कहाता है ॥ १५ ॥

साधनात्तपसोऽरण्ये साधुर्वैखानसः स्मृतः । यतमानो यतिः साधुः स्मृतो योगस्य साधनात् ॥ १६ ॥

वायुपु० अ० ५६ । ब्रह्माण्डपु० अ० ३२ । लिंगपु० अ० १०।८-६ ॥

प्रायशः साधवो लोके परैर्द्वन्द्वेषु योजिताः । न व्यथन्ति न हृष्यन्ति यत आत्माऽगुणाश्रयः ॥१७॥

श्रीमद्भा० स्क० ११।१८।५० ॥

महत्सेवां द्वारमाहु र्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम् ।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ॥१८॥
ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था जनेषु देहंभरवार्तिकेषु ।
गृहेषु जायात्मजरादिमत्सु न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके ॥१९॥ श्रीमद्भा० स्क० ५।५।३-४॥

नह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः । ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥ २० ॥

स्क० १०।४८।३१ ॥

नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारका न भूर्जलं खं श्वसनोऽथवाङ्मनः ।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्त्तसेवया ॥ २२ ॥
यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥ २२ ॥

श्रीमद्भा० स्क० १०।८४।११-१३ ॥

भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च । सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम् ॥ २३ ॥

जंगल में तप को साधने से वानप्रस्थ साधु कहा गया है, यतन करता हुआ यति ज्ञान-ध्यानादि योग को साधने से साधु होता है, वेषादि मात्र से कोई साधु नहीं होता है ॥१६॥ प्रायः साधु भी लोक में अन्य लोगों से हानि लाभादि रूप द्वन्द्वों से युक्त किये जाते हैं। परन्तु सन्त न व्यथित (दुःखी) होते हैं न हृष्ट (सुखी) होते हैं क्योंकि उनकी आत्मा निर्गुण है, अर्थात् निर्गुणात्मा के ज्ञान से निर्द्वन्द्व रहते हैं ॥ १७ ॥ महापुरुष की सेवा को मुक्ति का द्वार रूप कहते हैं, और स्त्रियों के सङ्गी के सङ्ग को तम (अज्ञान रागद्वेषादि) का द्वार कहते हैं, और महापुरुष वे हैं, जो कि समचित्त वाले प्रशान्त शोक क्रोध रहित सुहृद साधु हैं ॥१८॥ अथवा जो मुझ सर्वात्मा रूप ईश्वर में किया गया सौहार्द (प्रेम) रूप अर्थ (प्रयोजन) वाले हैं, तथा देह के पोषण की वार्ता मात्र करनेवाले जनों में गृहों में और स्त्री देहादिरूप जरा मरणादिवाली वस्तु में जो प्रीति युक्त नही हैं, तथा लोक में निर्वाह मात्र ही प्रयोजनवाले हैं सो महापुरुष हैं ॥ १९ ॥ जलमय वस्तुतः तीर्थ नहीं हैं, मिट्टीपाषाणमय देव नहीं हैं, तो भी सेवनादि से वे बहुत काल में पवित्र करते हैं, और दर्शन मात्र से ही साधु पवित्र करते हैं ॥ २० ॥ उपासना से सेवित अग्नि, सूर्य, चन्द्र, तारा, भूमि, जल, आकाश, वायु तथा वाक् या मन भेद बुद्धिवाले के पाप अज्ञानादि को नहीं नष्ट करते हैं, विद्वान दो घड़ी की सेवा से पाप को नष्ट करते हैं ॥ २१ ॥ जिसको वातपित्त कफरूप तीन धातु (देहधारक) पदार्थवाली, कुणप (दुर्गन्धयुक्त शव) देह में आत्म बुद्धि है, और स्त्री आदि में ममता बुद्धि है, भूमि के विकार में पूज्य बुद्धि है, और कभी ज्ञानी जन में पूज्यादि बुद्धि नहीं है, सोई गौरूप खर है ॥ २२ ॥ प्राणी के सुख और दुःख के लिये इन्द्रादि देवोंके चरित्र हैं, अच्युत (विष्णु स्वस्वरूप) में स्थिरमनवाले तुम (नारद) के समान साधुओं के चरित्र तो केवल सुख के लिये ही होते हैं यह वसुदेव जी की उक्ति है ॥ २३ ॥

भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान् । छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः ॥ २४ ॥

श्रीमद्भा० स्क० ११।२।५-६ ॥

येषां संस्मरणात्पुंसां सद्यः शुद्ध्यन्ति वै गृहाः । किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः ॥ २५ ॥

श्रीमद्भा० स्क० ४।१।६ ॥

परोपकरणं नाम साधूनां व्रतमाहितम् । विशेषतः प्रणोद्यानां शिष्यवृत्तिमुपेयुषाम् ॥ २६ ॥

स्कन्दपु० खं० १-२ अ० १२।१० ॥

कोटयोऽप्यन्धजातीनां न पश्यन्ति यथा पथम् । एवं मन्दायुतानां तु सङ्गति नार्थदा भवेत् ॥२७॥

न साधुसेवनात् क्वापि सीदन्ते तैः सुशिक्षिताः । जन्ममृत्युजराद्यैर्वा सुधयाऽऽप्यायिता यथा ॥२८॥

स्कन्दपु० खं० २ वैष्णवमा० अ० ६ ॥

साधुसेवा विष्णुसेवा सेवाधर्मपथस्य च । पुरा सम्पादिता ह्येते परलोकस्य सेतवः ॥ २९ ॥

तत्रैव० अ० ८।११ ॥

कामं क्रोधं रसाऽऽस्वादं जित्वा मानं च मत्सरम् । निर्दम्भं विष्णुभक्ता ये ते सन्तः साधवो मताः ॥३०॥

स्त्रियां स्त्रैणे रसाऽऽस्वादे सक्ताश्च धनगृध्नवः । हिंस्रा दम्भकृताटोपा भक्ताभासा ह्यसाधवः ॥३१॥

असाधुष्वासुरी सम्पद् दैवी सम्पत्तु साधुषु । सहजाऽस्तीति निश्चित्य सेव्याः सन्तः सुखेप्सुभिः ॥३२॥

ये साधुसेवारुचयः पुरुषा निजशक्तितः । अप्राप्यं नास्ति तेषां वै किमप्यैश्वर्यमूर्जितम् ॥३३॥

स्कन्दपु० वासुदेवमा० अ० २०।३६। इत्यादि ॥

जो देव को जैसे भजते हैं, छाया के तुल्य, कर्मसहाय वाले देव भी उनको वैसे ही भजते हैं, इसीसे लिखा है कि "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" [अ० ४। ११] जो आर्तादि भक्त मुझे जैसे भजते हैं, उनको वैसा ही फल देकर अनुग्रह करता हूँ, इत्यादि, और साधु तो दीनों के प्रेमी होते हैं उनके कर्मों को नहीं देखते ॥ २४ ॥ जिन साधुओं के सम्यक् स्मरण से भी पुरुषों के गृह शीघ्र शुद्ध होते हैं, उनके दर्शन स्पर्श पादप्रक्षालन आसनादि से तो शुद्धि में कहना ही क्या है ? ॥२५॥ अन्य का उपकार करना ही साधुओं का प्रसिद्ध व्रत आहित (स्थापित-निश्चित) है, शिष्य वृत्ति को प्राप्त आज्ञाकारियों का उपकार करना विशेषरूप से अधिक है ॥ २६ ॥ अन्धजन्मा के कई कोटि भी जैसे मार्ग को नहीं देखते हैं, तैसे ही मन्द (मूर्ख निर्भाग्य) की दश हजार की सङ्गति भी सदर्थ को देनेवाली नहीं होती है ॥ २७ ॥ साधुसेवा से सुशिक्षित जीव अमृत से तृप्त के समान जन्मादि से कहीं भी पीड़ित नहीं होते हैं ॥ २८ ॥ साधुसेवा आदि ये पहले परलोक के मूल रूप सिद्ध किये गये हैं ॥ २९ ॥ काम, क्रोध, विषयानन्दादि के स्वाद, अभिमान, मत्सर (अन्य के शुभ में द्वेष) को जीत कर, दम्भ के बिना जो विष्णुभक्त होते हैं, वे सत्पुरुष साधु माने गये हैं ॥ ३० ॥ स्त्री में स्त्रीसम्बन्धी आनन्द के आस्वाद में आसक्त, धनेच्छुक, दम्भ से वेषादि के विस्तारवाले, भक्तों के तुल्य भासनेवाले असाधु हैं ॥३१॥ असाधुओं में आसुरी सम्पत् (दम्भादि) रहती है, साधुओं में दैवी सम्पत् (अभयादि) रहती है, सो साथ ही स्वभाव से जायमान रहती है, ऐसा निश्चय करके सुख प्राप्ति की इच्छावालों से साधु सेवनीय हैं ॥ ३२ ॥ जो पुरुष अपनी शक्ति के अनुसार साधुसेवा में रुचिवाले हैं, तिनको कोई भी ऊर्जित (बलवद्) ऐश्वर्य अप्राप्य नहीं है ॥ ३३ ॥

साधूनां समचित्तानां सदा भूतदयावताम् । परोपकारप्रकृति नैचैषामन्यथा मतिः ॥ ३४ ॥

स्कन्दपु० मार्गशीर्षमा० अ० २१।२४ ॥

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम् । सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौ र्दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥३५॥

सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः । देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माऽहमेव च ॥३६॥

साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः । तीर्थं फलति कालेन सद्यः साधुसमागमः ॥ ३७ ॥

स्कन्दपु० खं० ११।२६ ॥ स्कन्दपु० खं० ६।२१।६७॥

आपः शान्ताः सुशीताश्च मृदुगात्राः प्रियंकराः । निर्मला रसवत्यश्च पुण्यवीर्या महाफलाः ॥

तथा सन्तस्त्वया ज्ञेया निषेव्याश्च प्रयत्नतः ॥ ३८ ॥

यथा वह्निप्रसङ्गाच्च मलं त्यजति काञ्चनम् । तथा सतां हि संसर्गात् पापं त्यजति मानवः ॥ ३९ ॥

सत्यवह्निप्रदीप्तश्च प्रज्वलेत् पुण्यतेजसा । सत्येन दीप्ततेजास्तु ज्ञानेनापि सुनिर्मलः ॥ ४० ॥

अत्युष्णो ध्यानभावेन अस्पृश्यः पापजैर्नरैः । सत्यवह्नेः प्रसङ्गाच्च पापं सर्वं विनश्यति ॥ ४१ ॥

पद्मपु० खं० २।३३।३२। इत्यादि ॥

ते साधवो भुवनमण्डलमौलिभूता ये साधुतामनुपकारिषु दर्शयन्ति ।

आत्मप्रयोजनवशात्कृतच्छिन्नदेहः पूर्वोपकारिषु खलोपि हितानुरक्तः ॥४२॥ पद्मपु० ६ । उ०अ० ४।४ ॥

यानि यानि दुरापानि वाञ्छितानि महीतले । प्राप्यन्ते तानि तान्येव साधूनामेव सङ्गमात् ॥४३॥

यः स्नातः पापहरया साधुसङ्गमगङ्गया । किं तस्य दानैः किं तीर्थैः किं तपोभिः किमध्वरैः ॥४४॥

निमज्ज्योन्मज्जतां नृणां भवाब्धौ परमायनम् । सन्तो धर्मविदः शान्ता नौ र्दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥४५॥

पद्मपु० पातालखं० अ० १००।४-६ ॥

सदा प्राणी पर दयावाले समचित्तयुक्त साधुओं का परोपकार का स्वभाव ही है, इनकी बुद्धि अन्यथा नहीं होती है ॥ ३४ ॥ भयंकर संसार समुद्र में डूबकर उतरानेवालों के लिये जल में डूबनेवालों के लिये दृढ़ नौका के समान ब्रह्मज्ञानी शान्त सन्त ही परम अयन (गृह आश्रय) हैं ॥ ३५ ॥ बाहर सूर्य रूप प्रकट सन्त विवेकादि रूप नेत्र देते हैं, ऐसे सन्त देवतादि स्वरूप और मेरा स्वरूप हैं ॥ ३६ ॥ ऐसे साधुओं का दर्शन पुण्य (सुकृत धर्म) रूप है, साधु तीर्थ स्वरूप हैं तहाँ तीर्थ कुछ काल में फल देता है, साधु समागम शीघ्र फल देता है ॥३७॥ शान्त सुशीतादि स्वरूप जल के समान तुझे सन्तों को समझना चाहिये, और प्रयत्न से सेवना चाहिये ॥ ३८ ॥ जैसे अग्नि के संग से सुवर्ण मल को त्यागता है, तैसे सन्त के संसर्ग से मनुष्य पाप को त्यागता है ॥ ३९ ॥ सत्यरूप अग्नि से प्रदीप्त साधु पुण्यरूप तेज से प्रकाशता है, और सत्यदीप्त तेजवाले ज्ञान से भी अत्यन्त निर्मल, ध्यान की सत्तादि से अत्यन्त उष्ण (दक्ष-प्रभावशाली) साधु पापजन्मा मनुष्यों से स्पर्श संग योग्य नहीं होता, यदि उसके सत्याग्नि से किसी को सम्बन्ध होता है तो उससे उसके सब पाप विनष्ट होते हैं ॥ ४०-४१ ॥ जो अनुपकारियों में साधुता दिखाते करते हैं, वे साधु भुवन मण्डल (संघात) के मौलि (किरीट-भूषण) स्वरूप हैं, प्रथम के उपकारकों में तो अपने प्रयोजन के वश से जिसकी देह छिन्न भिन्न की गई है, सो खल भी हित अनुरागयुक्त रहता है ॥ ४२॥ जो जो दुष्प्राप्य वाञ्छित वस्तु भूमि में हैं, सो सभी साधु के संग से ही प्राप्त होती हैं ॥ ४३ ॥ पापहरनेवाली साधुसंगमरूप गंगा से जो स्नान कर के शुद्ध हुवा है, उसको दानादि से क्या मतलब

साधुसङ्गाद् भवेद् विप्र! शास्त्राणां श्रवणं प्रभो!। हरिभक्तिर्भवेत्तस्मात्ततो ज्ञानं ततो गतिः ॥ ४६ ॥
साधुसङ्गं तु यः कुर्यात् क्षणं वाऽर्द्धक्षणं द्विज!। तस्य नश्यन्ति पापानि ब्रह्महत्यामुखानि च ॥ ४७ ॥
पद्म पु० खं० ४। अ० १॥
साधुना सह संसर्गो वैकुण्ठादपि दुर्लभः। अहो ततोऽपि विच्छेदो मरणादपि दुष्करः ॥ ४८ ॥
ब्रह्मवैवर्त्त पु० ब्रह्म खं० अ० १३।३३॥
साधवो विरला लोके भवन्ति गतमत्सराः। जितक्रोधा जितामर्षा दृष्टान्तार्थं व्यवस्थिताः ॥ ४९ ॥
देवी भा० स्क० ४।७।४५॥
न प्रहृष्यति सम्मानै र्नावमानैः प्रकुप्यति। न क्रुद्धः परुषं ब्रूयादेतत्साधोस्तु लक्षणम् ॥ ५० ॥
सर्वभूतेषु विश्वासः सर्वभूतेषु सात्त्विकः। स्वभावमात्मना गहेदेतत्साधोर्हि लक्षणम् ॥ ५१ ॥
साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थादपि विशिष्यते। कालेन तीर्थं फलति सद्यः साधुसमागमः ॥ ५२ ॥
गरुडपु० आचारखं० अ० ११३।४२॥ गरुडपु० आ० अ० ११४।२३॥ गरुडपु० अ० २२१।२३॥
संभाषो दर्शनं स्पर्शः कीर्त्तनं स्मरणं तथा। पावनानि किलैतानि साधूनामिति शुश्रुम ॥ ५३ ॥
इतिहाससमुच्चये अ० २४।५४॥
विषयेषु न संसक्तिः समत्वं सर्वजन्तुषु। येषां हर्षविषादौ च न जातु सुखदुःखयोः ॥ ५४ ॥
त एव साधवो लोके गोविन्दपदसेविनः। तेषां दर्शनमात्रेण कृतार्थो जायते नरः ॥ ५५ ॥
पद्मपु० उत्तर खं० अ० २१२।२६-३०॥
सतां सङ्गात्तु दुष्प्राप्यं किञ्च नैवास्ति देहिनाम्। शिला रामपदं प्राप्य किन्न पूता पुराऽभवत् ॥५६॥
सतां दर्शनमात्रेण विलयं याति देहिनाम्। पातकानि समग्राणि नात्र कार्या विचारणा ॥ ५७ ॥
जैमिनीयाऽश्वमेधे ॥

है? ॥४४-४५॥ हे विप्र! प्रभो! साधु संग से शास्त्रों का श्रवण होता है, तिससे हरि भक्ति, भक्ति से ज्ञान, ज्ञान से मुक्ति होती है ॥ ४६ ॥ हे द्विज! जो एक वा आधा ही क्षण सदा साधु संग करता है, उसके ब्रह्म हत्या आदि पाप भी नष्ट होते हैं ॥ ४७ ॥ साधु के साथ सम्बन्ध विष्णु से भी दुर्लभ है, और अद्भुत स्वरूप साधु से वियोग मरण से भी दुष्कर है ॥ ४८ ॥ अन्य के शुभ में द्वेष रहित, क्रोध को जीतनेवाले, आमर्ष (असहनशीलता) के विजेता साधुविरल होते हैं, जो दृष्टान्त ही के लिये व्यवस्थित हैं कि ऐसे साधु होने चाहिये ॥ ४९ ॥ आदरों से जो अत्यन्त हर्ष नहीं पाता, न अनादरों से अत्यन्त क्रुद्ध होकर क्रूर वचन बोलता है, उसमें यही साधु का लक्षण है ॥ ५० ॥ सब भूतों में सात्त्विक (शान्ति आदि युक्त) रह कर, जो सब भूत में विश्वास है, इस स्वभाव को मन से गहे, यही साधु का लक्षण है ॥ ५१ ॥ तीर्थ से भी अधिक पुण्यरूप साधुओं का दर्शन है, इत्यादि ॥ ५२ ॥ साधुओं के सम्यक् भाषण (बात) दर्शनादि ये सब पावन हैं, इस प्रकार हमने सुना है ॥ ५३ ॥ जिनकी विषयों में आसक्ति नहीं रहती, सब जन्तु में समता रहती है, सुख दुःख में हर्ष खेद नहीं रहते, गोविन्द पद के सेवन शील वे ही लोक में साधु हैं। उनके दर्शन मात्र से मनुष्य कृतार्थ होता है ॥ ५४-५५ ॥ देहधारी को सत्संग से कुछ भी दुष्प्राप्य नहीं है, शाप से शिला तुल्य हुई भी अहल्या रामजी के चरण स्पर्श को पाकर क्या प्रथम पवित्र नहीं हुई है? ॥ ५६ ॥ ऐसे ही सत्पुरुषों के दर्शन मात्र से देही के सब पातक नष्ट होते हैं, इसमें चर्चा-विचार करना नहीं है, यह बात निश्चित है ॥ ५७ ॥

सन्तः सदैव गन्तव्या यद्यप्युपदिशन्ति न । या हि स्वैरकथा तेषामुपदेशा भवन्ति ते ॥५८॥ अद्वैतकौस्तुभे॥
मूर्खो हि जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः । अशुभं वाक्यमादत्ते पुरीषमिव शूकरः ॥ ५९ ॥
प्राज्ञस्तु जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः । गुणवद्वाक्यमादत्ते हंसः क्षीरमिवाम्भसः ॥ ६० ॥
अन्यान् परिवदन् साधुर्यथा हि परितप्यते । तथा परिवदनन्यांस्तुष्टो भवति दुर्जनः ॥ ६१ ॥
अभिवाद्य यथा वृद्धान् सन्तो गच्छन्ति निर्वृतिम् । एवं सज्जनमाक्रुश्य मूर्खो भवति निर्वृतः ॥ ६२ ॥
महाभा० आदि प० अ० ७४।६१-६४॥
विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मदः । मदा एतेऽवलिप्तानामेत एव सतां दमाः ॥ ६३ ॥
गतिरात्मवतां सन्तः सन्त एव सतां गतिः । असतां च गतिः सन्तो नत्वसन्तः सतां गतिः ॥ ६४ ॥
महाभा० उद्योगप० अ० ४४।४४-४६ ॥
अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा । अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥ ६५ ॥
आत्मन्यपि न विश्वासस्तथा भवति सत्सु यः । तस्मात्सत्सु विशेषेण सर्वः प्रणयमिच्छति ॥ ६६ ॥
सौहृदात्सर्वभूतानां विश्वासो नाम जायते । तस्मात्सत्सु विशेषेण विश्वासं कुरुते जनः ॥ ६७ ॥

सतां सदा शाश्वतधर्मवृत्तिः सन्तो न सीदन्ति न च व्यथन्ति ।
सतां सद्भिर्नाफलः सङ्गमोऽस्ति सद्भिर्भयं नानुवर्त्तन्ति सन्तः ॥ ६८ ॥
सन्तो हि सत्येन नयन्ति सूर्यं सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति ।
सन्तो गति र्भूतभव्यस्य राजन् सतां मध्ये नावसीदन्ति सन्तः ॥ ६९ ॥
महाभा० वनप० अ० २९७॥ यमराजं प्रतिं सावित्र्युक्तिः ॥

सन्त यदि उपदेश नहीं दें, तो भी उपदेशेच्छुक को सदा ही सन्त के पास में जाना चाहिये, क्योंकि जो उनकी स्वच्छन्दकथा होती है, सो उपदेशरूप हो जाती है ॥५८॥ परन्तु मूर्ख मनुष्य वक्ता पुरुषों के शुभ और प्रसंग वश अशुभ दोनों बातों को सुन कर भी अशुभ वाक्य का ही ग्रहण करता है, जैसे शूकर मल का ग्रहण करता है ॥ ५९ ॥ बुद्धिमान् तो शुभाशुभ वचनों को सुनकर भी गुणयुक्त शुभ वाक्य का ग्रहण करता है, जैसे हंस जल में से दूध का ग्रहण करता है ॥ ६० ॥ प्रसंग वश अन्य के दोषों को कहने में साधु जैसे दुःखी होता है, तैसे ही दुर्जन अन्य को दुष्टादि कह कर सन्तुष्ट होता है ॥ ६१ ॥ वृद्धों के अभिवादन (प्रणामादि) करके सन्त जैसे सुख पाते हैं, इसी प्रकार मूर्ख मनुष्य सज्जन के प्रति विरुद्ध वचन कह कर सुखी होता है ॥६२॥ विद्या का मद (अहंकार) धन का मद, वंश कुल का मद, आसक्त अभिमानी के लिये ये विद्यादि तीनों मद के हेतु हैं, और ये ही तीनों सत्पुरुषों के लिये दम के हेतु हैं ॥६३॥ वशीभूत मनवाले जिज्ञासु आदि रूप आत्मवान् के और अन्य सत्पुरुप असत्पुरुप इन सब के सन्त ही गति (आश्रय) हैं। और असन्त सन्त के आश्रय नहीं हैं ॥ ६४ ॥ कर्म मन वचन से द्रोह (हिंसेच्छा वैर) का अभाव, कृपा, दान, सन्तों का सनातन (अनादि-नित्य) धर्म है ॥ ६५ ॥ अपने आत्मा में वैसा विश्वास नहीं होता, जो सत्पुरुषों में होता है, तिससे सब विशेष करके प्रणय (प्रेम) सत्पुरुषों में चाहते हैं ॥ ६६ ॥ सुहृदभाव से सब प्राणी को विश्वास स्वीकृत होता है, तिसी से विशेष कर के मनुष्य सत्पुरुष में विश्वास करता है ॥ ६७ ॥ सन्तों को सदा नित्यधर्म की वृत्ति रहती है, सन्त नष्ट वा दुःखी नहीं होते हैं। संतों का सन्त के साथ मेल निष्फल नहीं होता है, सन्त के साथ से सन्त भय नहीं पाते हैं ॥ ६८ ॥ सन्त ही सत्य से सूर्य

वस्त्रमापस्तिलान् भूमिं गन्धो वासयते यथा। पुष्पाणामधिवासेन तथा संसर्गजा गुणाः ॥ ७० ॥

मोहजालस्य योनिर्हि मूढैरेव समागमः। अहन्यहनि धर्मस्य योनिः साधुसमागमः ॥ ७१ ॥

तस्मात्प्राज्ञैश्च वृद्धैश्च सुस्वभावैः तपस्विभिः। सद्भिश्च सह संसर्गः कार्यः समपरायणैः ॥ ७२ ॥

येषां त्रीण्यवदातानि विद्या योनिश्च कर्म च। तान् सेवेत् तैः समस्या हि शास्त्रेभ्योऽपि गरीयसी ॥ ७३ ॥

निरारम्भा ह्यपि वयं पुण्यशीलेषु साधुषु। पुण्यमेवाप्नुयामेह पापं पापोपसेवनात् ॥ ७४ ॥

असतां दर्शनात्स्पर्शात्संजल्पाच्च सहासनात्। धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्ध्यन्ति न च मानवाः ॥ ७५ ॥

महाभा० वनप० अ० १।२४। इत्यादि, पाण्डवान् प्रति पौराणामुक्तिः ॥

अयं स्वभावः स्वत एव यत्परश्रमापनोदप्रवणं महात्मनाम्।
सुधांशुरेष स्वयमर्ककर्कशप्रभाभितप्तामवति क्षितिं किल ॥ ७६ ॥ विवेकचूडामणौ॥

साधुसङ्गतयो लोके सन्मार्गस्य प्रदीपकाः। हार्दान्धकारहारिण्यो भासो ज्ञानविवस्वतः ॥ ७७ ॥

योगवा० प्र० २।१६।१॥

विशेषेण महाबुद्धे! संसारोत्तरणे नृणाम्। सर्वत्रोपकरोतीह साधुः साधुसमागमः ॥ ७८ ॥

साधुसङ्गतरोर्जातं विवेककुसुमं सितम्। रक्षन्ति ये महात्मानो भाजनं ते फलश्रियः ॥ ७९ ॥

शून्यमाकीर्णतामेति मृतिरप्युत्सवायते। आपत्सम्पदिवाभाति विद्वज्जनसमागमे ॥ ८० ॥

को प्राप्त करते हैं, तप से भूमि को धारण करते है, हे राजन्! यमराज! भूत (अतीत) भव्य (भावी) के समूह के तथा प्राणी के कल्याण का सन्त ही आश्रय हैं, और सन्तों के मध्य में सन्त नष्ट पीड़ित नहीं होते हैं ॥६९॥ पुष्प के साथ अधिक बास (स्थिति) से जैसे सुगन्ध पुष्प का गन्ध वस्त्रादि को गन्धयुक्त करता है, तैसे ही मनुष्यादि के सम्बन्ध जन्य गुण भी होते हैं ॥७०॥ मूढ के साथ का सम्बन्ध मोह समूह का योनि (कारण) है, और साधु के साथ का संबन्ध प्रतिदिन धर्म का कारण है ॥ ७१ ॥ तिससे विद्वान् वृद्ध सुन्दर स्वभाववाले तपस्वी सत्पुरुषों का सम्बन्ध करना चाहिये, जो कि समता परायण हैं ॥ ७२ ॥ जिन की विद्या, संस्काररूप पूर्व जन्म की प्रज्ञा (बुद्धि) रूप योनि, और कर्म तीनों शुद्ध हों, उन की सेवा करना चाहिये उन के साथ की समस्या (संगति) शास्त्रों से भी श्रेष्ठ है ॥ ७३ ॥ हम लोग कर्मारम्भ रहित होते हुए भी पुण्य स्वभाववाले साधुओं में रह कर यहाँ पुण्य ही पायेगें, और पापी की सेवा से पाप पावेगें ॥ ७४ ॥ क्योंकि असत्पुरुषों के दर्शनादि से सदाचार नष्ट होते हैं, इससे मनुष्य मनुष्यतायुक्त निष्पन्न सिद्ध नहीं होते हैं ॥ ७५ ॥ दूसरे के श्रम (खेद) की निवृत्ति के लिये प्रवृत्त होना यह महात्माओं का स्वतः स्वभाव है। सूर्य के दुःस्पर्श प्रभा से अभितः तप्त भूमि की यह चन्द्रमा स्वयं ही रक्षा करता है ॥ ७६ ॥ साधु की संगति लोक में सन्मार्ग का दीपक रूप और हृदय के अन्धकार का नाशक, ज्ञान रूप सूर्य का प्रकाश रूप है ॥ ७७ ॥ हे महाबुद्धे! मनुष्यों को यहाँ सर्वत्र (सर्वावस्था) में संसार से तरने में विशेष करके साधु और साधु का समागम उपकार करता है ॥ ७८ ॥ साधुसंग वृक्ष से उत्पन्न शुक्ल विवेक रूप पुष्प की रक्षा जो महात्मा करते हैं, सो फलरूप श्री को प्राप्त होते हैं ॥ ७९ ॥ विद्वान् जन के समागम होने पर शून्य स्थान जन से पूर्णता को प्राप्त होता है, मृत्यु भी उत्सव समान भासता है, तथा आपत्ति सम्पत्ति की तरह भासती है ॥ ८० ॥

परं विवर्द्धनं बुद्धेरज्ञानतरुनाशनम् । समुत्सारणमाधीनां विद्धि साधुसमागमम् ॥ ८१ ॥
यः स्नातः शीतसितया साधुसङ्गतिगङ्गया । किं तस्य दानैः किं तीर्थैः किं तपोभिः किमध्वरैः ॥ ८२ ॥
नीरागाश्छिन्नसंदेहा गलितग्रन्थयोऽनघ ! । साधवो यदि विद्यन्ते किं तस्य तीर्थसंग्रहैः ॥ ८३ ॥
विश्रान्तमनसो धन्याः प्रयत्नेन परेण हि । दरिद्रेणेव मणयः प्रेक्षणीया हि साधवः ॥ ८४ ॥
विच्छिन्नग्रन्थयस्तज्ज्ञाः साधवः सर्वसम्मताः । सर्वोपायेन संसेव्यास्ते ह्युपाया भवाम्बुधौ ॥ ८५ ॥
त एते नरकाग्नीनां संशुष्केन्धनतां गताः । यैः दृष्टा हेलया सन्तो नरकानलवारिदाः ॥ ८६ ॥
सन्तोषः साधुसङ्गश्च विचारोऽथ शमस्तथा । एत एव भवाम्भोधावुपायास्तरणे नृणाम् ॥ ८७ ॥
सन्तोषः परमो लाभः सत्सङ्गः परमा गतिः । विचारः परमं ज्ञानं शमो हि परमं सुखम् ॥ ८८ ॥
यथा प्राप्तार्थसन्तुष्टो यो गर्हितमुपेक्षते । साधुसङ्गमसच्छास्त्रपरः शीघ्रं स मुच्यते ॥ ८९ ॥
विचारेण परिज्ञातस्वभावस्य महामतेः । अनुकम्प्या भवन्त्येते ब्रह्मविष्ण्विन्द्रशङ्कराः ॥ ९० ॥
देशे यं सुजनप्राया लोकाः साधुं प्रचक्षते । स विशिष्टः स साधुः स्यात्तं प्रयत्नेन संश्रयेत् ॥ ९१ ॥
योगवा० प्र० २।१६॥ योगवा० प्र० ३।६॥
शीतलानि पवित्राणि चरितानि विवेकिनः । इन्दोरिवांशुजालानि जनं शीतलयन्त्यलम् ॥ ९२ ॥
सज्जनो हि समुत्तार्य विपद्भ्यो निकटस्थितम् । नियोजयति सम्पत्सु स्वालोकेष्विव भास्करः ॥ ९३ ॥
योगवा० प्र० ६।४७। उत्तरार्द्धे ॥

साधु के समागम को बुद्धि का अत्यन्त वर्द्धक, अज्ञानवृक्ष का नाशक, मानस रोग का निवारक जानो ॥ ८१ ॥ शीत शुक्ल साधु संगति रूप गंगा से जो पवित्र हुवा है, उसे दानादि से क्या फल है ? ॥ ८२ ॥ राग संदेह भ्रमादि रहित साधु यदि पास में हैं, तो हे अनघ ! (निष्पाप !) उसको तीर्थ संग्रह से क्या फल है ? ॥ ८३ ॥ विश्रान्त मन वाले पुण्यात्मा सन्त दरिद्र से मणि के समान उत्तम प्रयत्न से दर्शनार्ह हैं ॥ ८४ ॥ मोहाध्यासादिरूपग्रन्थिरहित सर्वसम्मत ज्ञानी साधु सब उपाय से सेवनीय हैं, क्योंकि संसार समुद्र में वे ही तरने के उपाय हैं ॥ ८५ ॥ सो ये लोग नरक रूप अग्नि के सम्यक् शुष्क (सूखी) लकड़ी-रूपता को प्राप्त हुए, कि जिन्होंने नरकाग्नि के मेघ रूप सन्तों को अनादर दृष्टि से देखा ॥ ८६ ॥ सन्तोष, साधुसंग, विचार, शम, ये ही चारो संसार समुद्र में मनुष्यों को तरने के उपाय हैं ॥ ८७ ॥ तहाँ सन्तोष परम लाभ है, सत्संग परम गति (मुक्ति) हैं, विचार परम ज्ञान है, और शम ही परम सुख है ॥ ८८ ॥ जो कोई जैसा प्रारब्धानुसार न्याय से प्राप्त अर्थ (पदार्थ) से सन्तुष्ट होकर और सज्जन सत्शास्त्र से निन्दित का त्याग करता है, और साधु सत्संग सत्शास्त्र के अनुसार कार्य करता है, तत्परायण रहता है, सो शीघ्र मुक्त होता है ॥ ८९ ॥ विचार से परिज्ञात (अनुभूत) है, स्वभाव (स्वसत्ता आत्मतत्त्व) जिसको उस महामति वाले की अनुकम्पा के पात्र ये ब्रह्मा आदि भी होते हैं ॥ ९० ॥ देश में जिसको सुजनप्रायः (सुजन प्रचुर) लोग साधु कहैं, और वह ज्ञान ध्यान शमादि विशिष्ट (सहित) हो, तो वह साधु है, उसे प्रयत्न से सेवे ॥ ९१ ॥ विवेकी के चरित्र चन्द्रकिरणसमूह के समान शीतल और पवित्र होते हैं, इससे मनुष्य को अत्यन्त शीतल (शान्त सुखी) करते हैं ॥ ९२ ॥ सज्जन (साधु) पुरुष अपने पास में स्थिर जन को विपत् से रहित करके सम्पत्ति में लगाते हैं, जैसे सूर्य अन्धकार से रहित करके अपने प्रकाश से युक्त करता है ॥ ९३ ॥

वीचिविक्षोभचपलं परचित्तमहार्णवम् । तच्च रोधयितुं शक्तास्तटस्थाः साधुपर्वताः ॥ ९४ ॥
आपत्सु बुद्धिनाशेषु कल्लोलेष्वाकुलेषु च । संकटेषु दुरन्तेषु सन्त एव गतिः सताम् ॥ ९५ ॥
एकोऽपि विद्यते यस्य गुणस्तं सर्वमुत्सृजन् । अनादृत्यान्यतद्दोषं तावन्मात्रं समाश्रयेत् ॥ ९६ ॥
दोषलेशमनादृत्य नित्यं सेवेत सज्जनम् । स्थूलदोषं त्वनिर्वाणं शनैः परिहरेत् क्रमात् ॥ ९७ ॥
याति रम्यमरम्यत्वं स्थिरमस्थिरतामपि । यथा दृष्टं तथा मन्ये याति साधुरसाधुताम् ॥ ९८ ॥
सर्वकर्माणि संत्यज्य कुर्यात्सज्जनसङ्गमम् । एतत्कर्म निराबाधं लोकद्वितयसाधनम् ॥ ९९ ॥

न सज्जनाद् दूरतरः क्वचिद् भवेद् भजेत साधून् विनयक्रियान्वितः ।
स्पृशन्त्ययत्नेन हि तत्समीपगं विसारिणस्तद्गतपुष्परेणवः ॥१००॥ योगवा० प्र० ६।९८। उत्तरार्द्धे
के हेतवो मोक्षगतेस्तु सन्ति सत्सङ्गति ज्ञानविचारतोषः ।
के सन्ति सन्तोऽखिलवीतरागा अपास्तमोहाः शिवतत्त्वनिष्ठाः ॥ १०१ ॥
किं दुर्लभं सद्गुरुरस्तिलोके सत्सङ्गति ब्रह्मविचारणा च ।
त्यागो हि सर्वस्य शिवात्मबोधः को दुर्जयः सर्वजनैर्मनोजः ॥ १०२ ॥ शांकर प्रश्नोत्तरी ॥

विकृतिं नैव गच्छन्ति सङ्गदोषेण साधवः । आवेष्टितं महासर्पैश्चन्दनं न विषायते ॥ १०३ ॥

क्षुधा पिपासा शोक मोह जन्म मरणरूप वीचिजन्य विक्षोभ वा वीचिरूप विक्षोभ (लोभ कामादि) से चंचल अन्य का चित्तरूप जो समुद्र, तिस चित को रोकने के लिये तटस्थ साधुरूप पर्वत ही समर्थ हैं ॥ ९४ ॥ आपत्ति में, बुद्धिनाश में, कल्लोल (शोकादिकृत महातरङ्ग) में, व्यस्त व्याकुलावस्था में दुरन्त (कठिन) संकट काल में सन्त ही सत्पुरुषों की गति हैं ॥ ९५ ॥ इससे साधुओं के गुणों में से जिसको एक भी गुण है, सब कार्य को त्यागता हुवा, और उसके अन्य दोषों को त्याग कर, तिस गुणगुण मात्र को उद्देश्य करके उसका सम्यक् आश्रयण करे ॥ ९६ ॥ तुच्छ लेशमात्र दोष पर ध्यान न देकर सज्जन को सदा सेवे, परन्तु स्थूल (भारी-बड़ा) दोषवाला हो, और वह अनिर्वाण (उस दोष से रहित होनेवाला भी नहीं) हो, ऐसे पूर्व के परिजनादि को क्रम से धीरे २ त्याग दे ॥ ९७ ॥ क्योंकि कुसंग से रम्य (शुद्ध) चित्त भी अरम्य (अशुद्ध) होता है, स्थिर भी चञ्चल होता है, और जैसा देखा गया है तैसा मानता हूँ कि कुसंग से साधु भी असाधुता को प्राप्त होता है ॥ ९८ ॥ इसलिये कुसंगादिकारक सर्व कर्म को त्याग कर सज्जन का संग करे, यह संगरूप कर्म सब बाधाओं से रहित है, और लोक परलोक का साधन है ॥ ९९ ॥ पूर्ण साधन की प्राप्ति बिना कहीं कभी सज्जन से अति दूर न होना चाहिये, किन्तु विनयादि क्रिया से युक्त होकर साधुओं को सदा सेवना चाहिये । क्योंकि उस साधु के पास में रहनेवाले को उस साधु में रहनेवाले शान्ति आदिरूप पुष्प के रेणु बिना यत्न के ही फैलनेवाले प्राप्त होते हैं, शान्ति आदि मिलती हैं ॥ १०० ॥ मोक्षप्राप्ति का हेतु कौन है ? सत्संग और ज्ञान विचार से सन्तोष हेतु हैं । सन्त कौन हैं ? सब राग मोह रहित, कल्याणतत्त्व में निष्ठावाले सन्त हैं ॥ १०१ ॥ लोक में दुर्लभ क्या है ? सद्गुरु, सत्संग, ब्रह्म-विचार, सब का त्याग, शिवात्म का बोध दुर्लभ है, सब जन से दुर्जय क्या है ? काम ॥ १०२ ॥ संग दोष से साधु विकार को नहीं प्राप्त होते, जैसे महासर्प से वेष्टित भी चन्दन विष के समान आचरण नहीं करता है ॥ १०३ ॥

विवेकः सह सम्पत्त्या विनयो विद्यया सह । प्रभुत्वं प्रश्रयोपेतं चिह्नमेतन्महात्मनाम् ॥ १०४ ॥
सुभाषितरत्ने ।

वित्ते त्यागः क्षमा शक्तौ दुःखे दैन्यविहीनता । निर्दम्भता सदाचारे स्वभावोऽयं महात्मनाम् ॥ १०५ ॥
काव्यमालायां दशावतारचरिते १-५॥

नारिकेलसमाकारा दृश्यन्तेऽपि हि सज्जनाः । अन्ये बदरिकाकारा बहिरेव मनोरमाः ॥ १०६ ॥

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् । मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ॥ १०७ ॥
हितोपदेशे॥

यथा चित्तं तथा वाचो यथा वाचस्तथा क्रिया । चित्ते वाचि क्रियायां च साधूनामेकरूपता ॥ १०८ ॥

सम्पत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम् । आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम् ॥ १०९ ॥

प्रलये भिन्नमर्यादा भवन्ति किल सागराः । सागरा भेदमिच्छन्ति प्रलयेऽपि न साधवः ॥ ११० ॥

निसर्गेण विशुद्धात्मा सुजनो व्यजनोपमः । परसन्तापशान्त्यर्थं परिभ्रमति सर्वदा ॥ १११ ॥

चन्दनं शीतलं लोके चन्दनादपि चन्द्रमाः । चन्द्रचन्दनयो र्मध्ये शीतला साधुसङ्गतिः ॥ ११२ ॥

गङ्गा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरु र्हरेत् । पापं तापं तथा दैन्यं हन्ति साधुसमागमः ॥ ११३ ॥

मलयाऽचलसङ्गेन त्विन्धनं चन्दनायते । तथा सज्जनसङ्गेन दुर्जनः सज्जनायते ॥ ११४ ॥

महाजनस्य संसर्गः कस्य नोन्नतिकारकः । पद्मपत्रस्थितं वारि धत्ते मुक्ताफलश्रियम् ॥ ११५ ॥

सद्भिस्तु लीलया प्रोक्तं शिलालिखितमक्षरम् । असद्भिः शपथेनापि जले लिखितमक्षरम् ॥ ११६ ॥

श्लोकस्तु श्लोकतां याति यत्र तिष्ठन्ति साधवः । लकारो लुप्यते तत्र यत्र तिष्ठन्त्यसाधवः ॥ ११७ ॥

सम्पत्ति सहित विवेक, विद्या सहित विनय, और प्रश्रय (प्रणय-प्रीति से प्रार्थना) ये महात्माओं के चिह्न हैं ॥ १०४ ॥ वित्त (धन) के रहते, त्याग (दान) शक्ति रहते क्षमा, दुःख रहते अदैन्य (अभीतता) सदाचार में निर्दम्भता ये सब महात्माओं के स्वभाव हैं ॥ १०५ ॥ नारिअल के समानाकारवाले सज्जन भीतर रस पूर्ण बाहर रूक्ष दीखते हैं, अन्य लोग बैर के समान बाहर ही सुन्दर दीखते हैं ॥ १०६ ॥ महात्माओं के मन वचन कर्म में एक निश्चय कथन व्यवहार रहते हैं, दुरात्माओं के के मन आदि में भेद रहता है ॥ १०७-१०८ ॥ संपत्तियों में महात्माओं का चित्त कमल के समान कोमल होता है, विपत्तियों में महापर्वत के पाषाण संघ के तुल्य कठिन होता है ॥१०९॥ प्रलय में समुद्र भी मर्यादा रहित होते हैं, इससे प्रलय में भेद चाहते हैं, साधु नहीं ॥ ११० ॥ स्वभाव से शुद्धात्मा सज्जन व्यजन (पंखा) के समान अन्य के संताप की निवृत्ति के लिये सदा परिभ्रमण करते हैं ॥ १११ ॥ चन्दन लोक में शीतल होता है उससे भी अधिक शीतल चन्द्रमा है, परन्तु उन दोनों में अन्तर शान्ति का हेतु अधिक शीतल सत्संग है ॥ ११२ ॥ गंगा पाप को हरती है, चन्द्रमा ताप हरता है, कल्पवृक्ष दीनता (दरिद्रता) को हरता है, और साधुसंग तीनों को हरता है ॥ ११३ ॥ मलयगिरि के सम्बन्ध से लकड़ी चन्दन तुल्य होती है, तैसे सज्जन के संग से दुर्जन सज्जन होता है ॥ ११४ ॥ महापुरुष का सम्बन्ध किस की उन्नति का कारक नहीं होता ? कमलपत्र पर स्थिर जल भी मोती की शोभा को धारण करता है ॥ ११५ ॥ सत्पुरुष से खेला में कही गई बात शिलालिखित अक्षर तुल्य होती है, शपथ पूर्वक असत्पुरुष से कही गई जल में लिखित अक्षर तुल्य होती है ॥११६॥ जहाँ सन्त रहते हैं तहाँ पद्यरूप श्लोक यशरूप श्लोकता को प्राप्त करता है । और जहाँ असाधु रहते हैं, तहाँ उसका लकार लुप्त होता है, जिससे शोक बन जाता है ॥११७॥

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः ।
नादन्ति सस्यं खलु वारिवाहाः परोपकाराय सतां विभूतयः ॥११८॥ कविवाक्यान्येतानि ।
गर्वं नोद्वहते न निन्दति परं नो भाषते निष्ठुरम् , श्रुत्वा काव्यमलक्षणं परकृतं सन्तिष्ठते मूकवत् ।
उक्तं केनचिदप्रियं च सहते क्रोधं च नालम्बते, दोषांश्छादयते गुणान् निगदते चैतत्सतां लक्षणम् ॥११९॥
तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः, सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनान् ।
मान्यान् मानय विद्विषोऽप्यनुनय संरक्षय स्वान् गुणान्, कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत्सतां लक्षणम् ॥
जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति ? पुंसाम् ॥१२१॥ भर्तृहरिवाक्यानि ।
नातः परतरं किञ्चिन्मन्ये कुशलमात्मनः । सन्तो यदनुगम्यन्ते सन्त्यक्तसकलैषणाः ॥ १२२ ॥
आपातमात्ररम्येभ्यो भोगेभ्यः किमवाप्यते । सत्सङ्गचिन्तामणितः सर्वसारमवाप्यते ॥ १२३ ॥
योगवासिष्ठप्र० ६।२०।३८-३९ ॥
दर्शनध्यानसंस्पर्शैर्मत्सी कूर्मी च पक्षिणी । शिशुं पालयते नित्यं तथा सज्जनसङ्गतिः ॥ १२४ ॥
इति साधुतत्सङ्गादि पञ्चमं प्रकरणम् । चाणक्यनी० अ० ४।३ ॥

अथ वैष्णवभागवतवर्णनम् ॥ ६ ॥

वैष्णवाय नमो भागवताय पण्डिताय च । यत्सङ्गत्या भिदा मोहः कामः क्रोधश्च नश्यति ॥ १ ॥
आत्ममध्ये जगत् सर्वमिदं स्थावरजङ्गमम् । आत्ममध्ये च गोविन्दं यः पश्यति स वैष्णवः ॥ २ ॥

नदियाँ स्वयं जल नहीं पीती हैं, न वृक्ष स्वयं फल खाते है, न मेघ ही सस्य (फल) खाते हैं, तैसे ही परोपकार के लिये सत्पुरुषों की विभूति (ऐश्वर्य) होती है ॥ ११८ ॥ सत्पुरुष गर्व को नहीं प्राप्त करते, न अन्य की निन्दा करते, न कठोर शब्द बोलते हैं, अन्य रचित लक्षण रहित काव्य को सुनकर मूक तुल्य रहते हैं, किसी के अप्रिय वचन को सहते हैं, क्रोधको नहीं आश्रय लेते, दोषों को छिपाते हैं, गुणों को कहते हैं, ये ही उनके लक्षण हैं ॥ ११९ ॥ इच्छा लोभ को नष्ट करो क्षमा को सेवो गर्व को त्यागो, पाप में प्रेम नहीं करो, सत्य बोलो, साधुमार्ग को प्राप्त करो, उसमें चलो, विद्वानों को सेवो, मान्यों को मानो, शत्रुओं को भी अनुनय (शान्त प्रसन्न) करो, अपने गुणों की रक्षा करो, यश का पालन, दुःखी पर दया करो, यही सब सत्पुरुषों के लक्षण हैं ॥ १२० ॥ सत्संगति बुद्धि की जड़ता को हरती है, वाक् में सत्य को सींचती है, सत्य बोलने की शिक्षा देती है, मानों की उन्नति को देती है, पाप को नष्ट करती है, चित्त को प्रसन्न शुद्ध करती है, दिशाओं में कीर्त्ति को फैलाती है, तो कहो कि सत्संगति मनुष्य के लिये क्या नहीं करती है ? अर्थात् सब शुभ करती है, इसलिये सत्संग करके सन्त के लक्षणों को प्राप्त करके सुखी मुक्त होना चाहिये ॥ १२१ ॥ पाँचवाँ साधुतत्सङ्ग प्रकरण समाप्त ।

अथ वैष्णवभागवत—विद्वान् ज्ञानी वैष्णव भागवत को नमस्कार है कि जिन की सङ्गति से भेदादि नष्ट होते हैं ॥ १ ॥ जिससे अपनी सत्यात्मा में ही इस सब चराचर जगत् को जो कल्पित देखता है, तथा

आत्मा नारायणो ब्रह्म चात्मैव सकलं जगत् । अहं स सोऽहमित्येव यो जानाति स वैष्णवः ॥ ३ ॥
तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च सर्वं विष्णुमयं जगत् । तन्मयेनैव भावेन यः पश्यति स वैष्णवः ॥ ४ ॥
मालाधारं वपु र्यस्य हरिस्मरणमात्रतः । सुधापुरायते सद्यो विष्णुभक्तः स उच्यते ॥ ५ ॥
यस्यात्मा मोहनिर्मुक्तो विधूम इव पावकः । प्रदीप्यते दिव्यभासा विष्णुभक्तः स उच्यते ॥ ६ ॥
सर्वभूतमयं विष्णुं पश्यन् योऽव्यभिचारिणीम् । भक्तिं सर्वेषु भूतेषु कुरुते स हि वैष्णवः ॥ ७ ॥
मतिरूर्ध्वमुखी यस्य नैवाधो याति कर्हिचित् । शिखा हुताशनस्येव विष्णुभक्तः स उच्यते ॥ ८ ॥
यस्य वै दर्शनात्स्पर्शात्संकल्पाच्च सहासनात् । क्षीयन्ते सर्वपापानि विष्णुभक्तः स उच्यते ॥ ९ ॥
अहौ हारे भये लोष्टे विष्ठायां चन्दने तथा । वैष्णवं तं विजानीयात्सर्वत्र समदर्शनम् ॥ १० ॥
एकश्छिनत्ति वास्याऽङ्गं चान्यो लिम्पति चन्दनैः । द्वयोरेव समप्रीति र्यः स वैष्णव उच्यते ॥ ११ ॥
आत्मा योगसमारूढो भित्त्वा संसारकुञ्झटीम् । तैजसे रमते लोके यस्य स वैष्णवः स्मृतः ॥ १२ ॥
यस्तृणीकृतसंसारो गिरिराज इवाचलः । परमे पुरुषार्थेऽसौ वैष्णवः परिकीर्त्तितः ॥ १३ ॥
अनन्ताज्जायते विश्वमनन्ते च प्रलीयते । इति विश्वरहस्यं यो बुध्यते स हि वैष्णवः ॥ १४ ॥
मोहं दम्भोलिदुर्भेद्यं निर्भिद्य रमते सदा । यस्यात्मा सच्चिदानन्दे विष्णुभक्तः स उच्यते ॥ १५ ॥
अहितेऽपि हितो नित्यं प्रियवाक् परुषेऽपि यः । विगात्मन्यमृतात्मा च विष्णुभक्तः स उच्यते ॥ १६ ॥
श्रीकृष्णभक्तिरसामृते ॥

आत्मा में गोविन्द को अभिन्न रूप से देखता है सो वैष्णव है ॥ २ ॥ क्योंकि सत्यात्मा ही नारायणादि स्वरूप है, इससे मैं उस गोविन्द नारायणादि स्वरूप हूँ, और सो गोविन्द मेरा स्वरूप है, ऐसा ही जो जानता है सो वैष्णव है ॥ ३ ॥ तिरछे ऊपर नीचे सब जगत् विष्णुमय है, इस प्रकार जो विष्णुमय भावना से देखता है, सो वैष्णव है ॥ ४ ॥ जिसका मालाधारी शरीर हरि के स्मरण मात्र से शीघ्र ही आनन्दामृत के स्थान नगर के समान होता है, सो विष्णु भक्त कहाता है ॥ ५ ॥ धूमरहित अग्नि के समान मोहरहित जिसका सत्यात्मा दिव्य प्रकाशरूप प्रकट प्रकाशक है, सो विष्णुभक्त कहाता है, ॥ ६ ॥ विष्णु को सर्वभूतमय देखता हुवा जो सब प्राणियों में अव्यभिचरित (अनन्य-अखण्ड) भक्ति करता है, वही वैष्णव है, ॥ ७ ॥ जिसकी बुद्धि अग्नि की शिखा के समान ऊर्ध्वमुखी (आत्मधर्मपरायण) रहती है, कभी नीचे अनात्मा अधर्म में नहीं जाती है, सो विष्णु भक्त कहाता है ॥ ८ ॥ जिनके दर्शनादि से सब पाप नष्ट होते हैं, वे विष्णु भक्त कहाते हैं ॥ ९ ॥ सर्प, हार, भयजनक, ढेला आदि में सर्वत्र ही उस वैष्णव को समान दृष्टिवाला जानना चाहिये ॥ १० ॥ एक कोई बसुला से अङ्ग को काटे, दूसरा कोई चन्दन से लेप करे तहाँ दोनों में आत्मदृष्टि से तुल्य प्रीतिवाला जो हो सो वैष्णव कहाता है ॥ ११ ॥ योग में सम्यगारूढ़ जिसका मन संसार के झगड़े को त्याग कर ज्ञानादि तप आदि के तेज प्रभावयुक्तलोक (जन भुवन) में रमता है सो वैष्णव कहा गया है ॥ १२ ॥ जो संसार को तुच्छ समझने वाला परम पुरुषार्थ में सुमेरु के समान अचल रहता है, वही वैष्णव कहा गया है ॥ १३ ॥ देशकाल वस्तुकृत अन्त-रहित तत्त्व से विश्व उत्पन्न होता है, और उसी में लीन होता है, इस प्रकार संसार के रहस्य (मर्म) को जो जानता है वही वैष्णव है ॥ १४ ॥ वज्र के समान दुर्भेद्य वज्र से भी दुर्भेद्य मोह को विवेक से नष्ट करके जिसका मन सदा सच्चिदानन्द स्वरूप में रमता है, वह विष्णुभक्त कहाता है ॥ १५ ॥ अहित

न चलति निजवर्णधर्मतो यस्सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे ।
न हरति न हन्ति किञ्चिदुच्चैः स्थितमनसं तमवेहि विष्णुभक्तम् ॥१७॥ विष्णुपु० अंश०३।७।२०॥

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः । भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥ १८ ॥
ईश्वरे तदधीनेषु वालिशेषु द्विषत्सु च । प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥ १९ ॥
अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते । न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥ २० ॥
गृहीत्वाऽपीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति । विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः ॥ २१ ॥

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो जन्माऽप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः स्मृत्या हरे र्भागवतप्रधानः ॥ २२ ॥

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः । वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥ २३ ॥
न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः । सज्जतेऽस्मिन्नहं भावो देहे स वै हरेः प्रियः ॥ २४ ॥
न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा । सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥ २५ ॥
श्रीमद्भागवते स्क० ११।२।४५-५२ ॥

ये हिताः सर्वजन्तूनां गतासूया अमत्सराः । वशिनो निस्पृहाः शान्तास्ते वै भागवतोत्तमाः ॥ २६ ॥
मनसा कर्मणा वाचा परपीडां न कुर्वते । अपरिग्रहशीलाश्च ते वै भागवताः स्मृताः ॥ २७ ॥

में भी जो सदा हित रहता है, क्रूर में प्रियवक्ता होता है, विषतुल्य मनवाले में अमृत तुल्य मनवाला होता है, सो विष्णुभक्त कहाता है ॥ १६ ॥ जो अपने वर्णधर्म से विचलित नहीं होता है, और अपने मित्र शत्रुपक्ष में तुल्यमतिवाला रागद्वेषरहित रहता है, न किसी का कुछ हरता है न किसी को मारता है, उच्च अवस्था में स्थिर मनवाले उसको वैष्णव समझो ॥ १७ ॥ सब प्राणी में जो आत्मा को नित्य भगवान् स्वरूप देखता है, तथा भगवत्स्वरूप आत्मा में ही सब प्राणियों को समझता है, सो अभेद द्रष्टा भागवतोत्तम है ॥ १८ ॥ ईश्वर, भक्त, अज्ञ, शत्रु, में क्रम से प्रेमादि करनेवाला मध्यम भागवत है ॥ १९ ॥ मूर्ति में ही जो हरि के लिये श्रद्धा से पूजा करता है, हरि भक्त वा अन्य में नहीं करता है, सो प्राकृत (प्रारब्ध भक्तिवाला) है ॥ २० ॥ इस संसार को विष्णु की मायारूप (मिथ्या) देखता हुवा, जो इन्द्रियों द्वारा अर्थों का ज्ञान करता हुवा भी रागद्वेषवाला नहीं होता है, सो भागवतोत्तम है ॥ २१ ॥ देहादि के जन्म, नाश, भूख, पिपासा, भय, तृष्णा, और कृच्छ्र (श्रम-कष्ट) रूप संसार धर्म से जो हरि के स्मरण के प्रभाव से मोहित नहीं होता है, सो भागवतों में प्रधान है ॥ २२ ॥ जिसके मन में काम (इच्छा) कर्म बीज (वासना) की उत्पत्ति नहीं होती है, सो एक ईश्वराश्रित पुरुष भागवतोत्तम है ॥ २३ ॥ श्रेष्ठकुल में जन्म, सत्कर्म, वर्ण, आश्रम, जाति, इन सब के द्वारा जो इस देह में आसक्त अभिमानी नहीं होता है, सो हरि का प्रिय है ॥ २४ ॥ जिसको धन वा आत्मा में स्वकीय परकीय, स्व पर भेद नहीं है, सब भूतों में समतावाला वह शान्तपुरुष भागवतोत्तम है ॥ २५ ॥ सब प्राणी का हित, सद्गुण में दोष का आरोप रूप असूया, अन्य के शुभ में द्वेष रूप मत्सर से रहित जितेन्द्रिय निष्काम शान्त भागवत्तोत्तम है ॥ २६ ॥ मन आदि से परपीडा को नहीं करने वाले अपरिग्रह (असंग्रह) के स्वभाव वाले भागवत कहाते हैं ॥ २७ ॥

शिवे च परमेशे च विष्णौ च परमात्मनि। समबुद्धया प्रवर्त्तन्ते ते वै भागवताः स्मृताः ॥ २८ ॥

नारदीयपु० अ० ५।५०–५१–७२॥ पू० अ० ॥

अहमेव परो विष्णु र्मयि सर्वमिदं जगत् । इति यः सततं पश्येत्तं विद्यादुत्तमोत्तमम् ॥ २९ ॥

चाण्डालोऽपि मुनिश्रेष्ठ ! विष्णुभक्तो द्विजाधिकः । विष्णुभक्तिविहीनश्च द्विजोऽपि श्वपचाधमः ॥३०॥

नारदीयपु० अ० १५।५ ॥ नारदीयपु० अ० ३४।४१॥

स किं गुरुः स किं तातः स किं पुत्रः स किं सखा । स किं राजा स किं वन्धु र्न दद्याद्यो हरौ मतिम् ॥३१॥

अवैष्णवाद् द्विजाद् विप्र ! चाण्डालो वैष्णवो वरः । सगुणः श्वपचो मुक्तो ब्राह्मणो नरकं व्रजेत् ॥ ३२ ॥

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्राश्चतस्त्रो जातयो यथा । स्वतन्त्रा जातिरेका च विश्वस्मिन् वैष्णवाभिधा ॥ ३३ ॥

ब्रह्मवैवर्त्तपु० ब्रह्मखं० अ० ११ ॥

श्वपचो विष्णुसेवी च वंशानां कोटिमुद्धरेत् । हरेरभक्तो विप्रश्च स्वं च रक्षितुमक्षमः ॥ ३४ ॥

एतावदेव मर्त्त्यानां परं श्रेयः सनातनम् । यदीश्वरकथायां वै जाता भक्तिरहैतुकी ॥ ३५ ॥

ब्रह्म० व० अ० ३६ ॥

सत्यं क्षमा दया तुष्टिरेते स्यु र्यस्य मानसे । नारायणो भवेन्मित्रं चाण्डालस्यापि सर्वदा ॥ ३६ ॥

यथा सन्तुष्यते विष्णुः सत्यादिव्रतपालनैः । न तथा तुलसीपुष्पधूपदीपै र्मनोहरैः ॥ ३७ ॥

प्रपञ्चसारे ५।५५–५६ ॥

वेदपारायणरताः कर्म कुर्वन्ति वैदिकम् । सत्यं वदन्ति ये देवि ! नासूयन्ति परान् क्वचित् ॥ ३८ ॥

परनिन्दां न कुर्वन्ति परस्वं न हरन्ति च । न स्मरन्ति न पश्यन्ति न स्पृहन्ति कदाचन ॥

परदारान् सुरूपांश्च ये च तान् विद्धि वैष्णवान् ॥ ३९ ॥

और परमेश शिव तथा परमात्मा विष्णु में समवुद्धि से प्रवृत्त होने वाले भागवत कहे गये हैं ॥२८॥ मैं ही पर विष्णु हूँ और मुझ (आत्मा) में ही यह सव जगत् स्थित कल्पित हैं, इस प्रकार जो सदा देखता है, उस को उत्तम से भी उत्तम भागवत जानना चाहिये ॥ २९ ॥ विष्णु का भक्त चाण्डाल भी भक्ति रहित द्विज से श्रेष्ठ है, हे मुनिश्रेष्ठ ! विष्णुभक्ति से रहित द्विज भी श्वपच से नीच है ॥ ३० ॥ जो हरि विषयक वुद्धि (ज्ञान) को नहीं दे सो गुरु आदि क्या है ? (नहीं है) ॥ ३१ ॥ अवैष्णव द्विज से वैष्णव चाण्डाल श्रेष्ठ है, हे विप्र ! सगुण (भक्त ज्ञानी) श्वपच मुक्त होता है, और निर्गुण ब्राह्मण नरक में जाता है ॥ ३२ ॥ ब्राह्मणादि जैसे चार जाति हैं, तैसे ही इन सब में स्वतन्त्र वैष्णव नामक जाति है ॥ ३३ ॥ विष्णुसेवाशील वैष्णव श्वपच अपने कोटि वंशों का नरकादि से उद्धार करता है, और हरि की भक्ति रहित विप्र अपनी रक्षा करने में भी असमर्थ होता है ॥३४॥ मनुष्यों का इतना ही सनातन (अनादि-नित्य) उत्तम श्रेयः (कल्याण का मार्ग) है, जो ईश्वर की कथा कीर्त्तनादि में अहैतुकी (निष्कामा) भक्ति उत्पन्न हुई है ॥३५॥ जिसके मन में सत्य क्षमा दया और सन्तोष होते हैं, उस चाण्डाल के भी सदा के लिये नारायण मित्र हो जाते हैं ॥३६॥ सत्यादि व्रतों के पालन से जैसे विष्णु सन्तुष्ट होते हैं, तिस प्रकार मनोहर (सुन्दर) तुलसी पुष्प धूप दीप से नहीं सन्तुष्ट होते हैं ॥ ३७ ॥ हे देवि ! जो वेद के पारायण (पाठ) में रत, वैदिक कर्म करते हैं, सत्य बोलते हैं, कहीं अन्य के गुण में दोष का कारोप नहीं करते है । न अन्य की निन्दा करते हैं, न अन्य का धन हरते हैं, न कभी दूसरे की सुरूप स्त्री का स्मरण करते हैं, न उसे देखते हैं न उसकी इच्छा

सर्वभूतदयावन्तः सर्वभूतहिते रताः । सदा गायन्ति देवेशमेतान् भक्तानवेहि वै ॥ ४० ॥

येन केन च सन्तुष्टाः स्वदारनिरताश्च ये । वीतरागभयक्रोधास्तान् भक्तान् विद्धि वैष्णवान् ॥ ४१ ॥

स्कन्दपु० वेङ्कटाचमा० खं० २ अ० ६।५४–५७। पद्मावत्युक्तिः ॥

ये हिताः सर्वजन्तूनां गतासूया विमत्सराः । ज्ञानिनो निस्पृहाः शान्तास्ते वै भागवतोत्तमाः ॥ ४२ ॥

कर्मणा मनसा वाचा परपीडां न कुर्वते । अपरिग्रहशीलाश्च ते वै भागवतोत्तमाः ॥ ४३ ॥

सत्कथाश्रवणे येषां वर्त्तते सात्त्विकी गतिः । मत्पादाम्बुजभक्ता ये ते वै भागवतोत्तमाः ॥ ४४ ॥

मातृपित्रोश्च शुश्रूषां कुर्वते ये नरोत्तमाः । ये तु देवार्चनरता ये तु तत्साधका नराः ॥
पूजां दृष्ट्वा तु मोदन्ते ते वै भागवतोत्तमाः ॥ ४५ ॥

वर्णिनां च यतीनां च परिचर्यापराश्च ये । परनिन्दामकुर्वाणास्ते वै भागवतोत्तमाः ॥ ४६ ॥

सर्वेषां हितवाक्यानि ये वदन्ति नरोत्तमाः । ये गुणग्राहिणो लोके ते वै भागवतोत्तमाः ॥ ४७ ॥

आत्मवत्सर्वभूतानि ये पश्यन्ति नरोत्तमाः । तुल्याः शत्रुषु मित्रेषु ते वै भागवतोत्तमाः ॥ ४८ ॥

धर्मशास्त्रप्रवक्तारः सत्यवाक्यरताश्च ये । तेषां शुश्रूषवो ये च ते वै भागवतोत्तमाः ॥ ४९ ॥

ये गोब्राह्मणशुश्रूषां कुर्वन्ति सततं नराः । तीर्थयात्रापरा ये च ते वै भागवतोत्तमाः ॥ ५० ॥

अन्येषामुदयं दृष्ट्वा येऽभिनन्दन्ति मानवाः । हरिनामपरा ये च ते वै भागवतोत्तमाः ॥ ५१ ॥

आरामारोपणरतास्तटाकपरिरक्षकाः । कासारकूपकर्त्तारस्ते वै भागवतोत्तमाः ॥ ५२ ॥

ये वै तटाककर्त्तारो देवसद्मानि कुर्वते । गायत्रीनिरता ये च ते वै भागवतोत्तमा ॥ ५३ ॥

करते हैं, उन्हें वैष्णव जानो ॥ ३८–३९ ॥ सब भूत में दया वाले, सब भूत के हित में तत्पर और सदा देवेश्वर को गानेवाले लोगों को भक्त समझो ॥ ४० ॥ प्रारब्धानुसार प्राप्त जिस किसी वस्तु से सन्तुष्ट, स्वस्त्री मात्र में निरत, रागादिरहित उन भक्तों को वैष्णव जानो ॥ ४१ ॥ जो सब प्राणी के हित असूया-मत्सर रहित ज्ञानी निष्काम शान्त हैं सो भागवतोत्तम हैं ॥ ४२ ॥ कर्मादि द्वारा परपीड़ा नहीं करनेवाले असंग्रही भागवतोत्तम ही हैं ॥४३॥ सत्कथा के सुनने में जिनकी सात्त्विकी बुद्धि है, और जो मेरे (भगवान् के) चरण कमल के भक्त हैं, सो भागवतोत्तम हैं ॥ ४४ ॥ जो नरोत्तम माता पिता की सेवा करते हैं, और जो देवपूजा में सप्रेम प्रवृत्त होते हैं, जो उस देव पूजा आदि के साधक होते हुए पूजा देखकर प्रसन्न सुखी होते हैं, सो भागवतोत्तम हैं ॥ ४५ ॥ सब वर्ण और संन्यासी की सेवा परायण पर निन्दा रहित भागतोत्तम हैं ॥ ४६ ॥ जो नरोत्तम सब को हितवचन बोलते हैं, लोक में गुणग्राही हैं ॥ ४७ ॥ अपने तुल्य सब प्राणियों को देखते हैं, शत्रु और मित्र में तुल्य (रागद्वेष रहित) रहते हैं ॥ ४८ ॥ धर्मशास्त्र के प्रवक्ता होते हुए जो सत्यवाक्य में रत रहते हैं, और तिस धर्मशास्त्रादि के जो शुश्रुषु (श्रवणेच्छुक) हैं ॥ ४९ ॥ जो मनुष्य गोब्राह्मण की सदा सेवा करते हैं, तीर्थयात्रा परायण रहते हैं ॥ ५० ॥ जो मनुष्य अन्य के उदय (उन्नति-वृद्धि) को देख कर खुशी होता है, हरि नाम परायण रहता है ॥ ५१ ॥ जो आराम (उपवन-बाग) के आरोपण (स्थापन-लगाने) में रत रहते हैं, तथा तटाक (तडाग) के परिरक्षक होते हैं, और कासार (सर) कूप के कर्ता होते हैं ॥ ५२ ॥ जो तटाक (अगाध जलाशय) के कर्ता होते हुए देव मन्दिर बनवाते हैं, तथा जो गायत्री जप में निरत रहते हैं, वे सब भागवतोत्तम हैं ॥ ५३ ॥

येऽभिनन्दन्ति नामानि हरेः श्रुत्वाऽतिहर्षिताः । रोमाञ्चितशरीराश्च ते वै भागवतोत्तमाः ॥ ५४ ॥
तुलसीकाननं दृष्ट्वा ये नमस्कुर्वते नराः । तत्काष्ठाङ्कितकर्णाश्च ते वै भागवतोत्तमाः ॥ ५५ ॥
स्वाश्रमाचारनिरतास्तथैवातिथिपूजकाः । ये च वेदार्थवक्तारस्ते वै भागवतोत्तमाः ॥ ५६ ॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन संक्षेपात्ते ब्रवीम्यहम् । सद्गुणाय प्रवर्त्तन्ते ते वै भागवतोत्तमाः ॥ ५७ ॥
स्कन्दपु० खं० २ अ० २१।४०–५५।भगवदुक्तिः ॥

वासुदेवस्य भक्तस्य न भेदो विद्यतेऽनयोः । वासुदेवस्य ये भक्तास्तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ ५८ ॥
प्रशान्तचिन्ताः सर्वेषां सौम्याः कामजितेन्द्रियाः । कर्मणा मनसा वाचा परद्रोहमनिच्छवः ॥ ५९ ॥
दयाऽऽर्द्रमनसो नित्यं स्तेयहिंसापराङ्मुखाः । गुणेषु परकार्येषु पक्षपातमुदान्विताः ॥ ६० ॥
सदाचारावताराश्च परोत्सवनिजोत्सवाः । पश्यन्तः सर्वभूतस्थं वासुदेवममत्सराः ॥ ६१ ॥
दीनानुकम्पिनो नित्यं भृशं परहितैषिणः । राजोपचारपूजायां लालनाः स्वकुमारवत् ॥ ६२ ॥
विषयेष्वविवेकानां या प्रीतिरुपजायते । वितन्वते तु तां प्रीतिं शतकोटिगुणं हरौ ॥ ६३ ॥

उपकृतिकुशला जगत्स्वजस्रं परकुशलानि निजानि मन्यमानाः ।
अपि परपरिभावने दयाऽऽर्द्राः शिवमनसः खलुः वैष्णवाः प्रसिद्धाः ॥ ६४ ॥
शुभचरितमपि द्विषन्ति पुंसां स्वयमिह दुश्चरितानुबन्धचित्ताः ।

हरि के नामों को सुनकर जो अति हर्षयुक्त रोमाञ्चित शरीरवाले सर्वथा आनन्द युक्त होते हैं, नामों का अभिनन्दन (स्वीकार) करते हैं ॥ ५४ ॥ तुलसी के वन को देख कर जो नर उसे नमस्कार करते हैं, और उसके काष्ठ से अङ्कित (चिह्नित) कानवाले होते हैं ॥ ५५ ॥ अपने आश्रम के आचार (व्यवहार-धर्म) में प्रवृत्त रहते, तैसे ही (धर्म बुद्धि से) अतिथि के पूजक होते हैं, और वेद के अर्थों के वक्ता होते हैं, ये सब भागवतोत्तम हैं ॥ ५६ ॥ इस विषय में बहुत कहने से क्या फल है ? संक्षेप से तेरे लिये मैं कहता हूँ कि जो अहिंसा सत्यादि शौच संतोषादि शमदमादिरूप सद्गुणों के लिये प्रवृत्त होते हैं, जिनमें अमानित्वादि रहते हैं सो भागवतोत्तम हैं ॥ ५७ ॥ वासुदेव (सर्वाश्रय हरि) और भक्त इन दोनों में भेद नहीं है, तहाँ जो वासुदेव के भक्त हैं, उनके लक्षण कहूँगा ॥ ५८ ॥ सब वस्तु की चिन्ता जिनकी नष्ट हो गई है, इससे सौम्य (प्रियदर्शन-अनुग्र), काम्यविषयों से जितेन्द्रिय, कर्मादि-द्वारा परद्रोह (हिंसा) के अनिच्छुक ॥ ५९ ॥ सदा दया से आर्द्र (क्लिन्न-गीले) मनवाले, चोरी हिंसा से निवृत्त, गुण और उत्तम अन्य के कार्य में पक्षपात आनन्दयुक्त ॥ ६० ॥ सदाचार में प्रवृत्ति स्थिति-वाले, अन्य के उत्सव को अपना उत्सव समझनेवाले, सब प्राणियों में स्थिर वासुदेव को देखते हुए मत्सर रहित वैष्णव होते हैं ॥ ६१ ॥ सदा दीनों पर दयावाले, अतिशय परहितेच्छुक, राजाओं के उपचार (सेवा) तुल्यप्रभु की पूजा में अपने पुत्र के समान हरि को लालन (प्यार करने वाले) ॥ ६२ ॥ अविवेकियों की जो प्रीति विषयों में होती है, उसी प्रीति को शतकोटि गुण अधिक जिससे हो सके ऐसा विस्तारपूर्वक हरि में करते हैं ॥ ६३ ॥ संसार में सदा उपकार करने में चतुर, अन्य के शुभ को अपना शुभ माननेवाले, अन्य से अनादर तिरस्कार पाने पर भी दया से आर्द्र, कल्याणमनवाले वैष्णव प्रसिद्ध हैं ॥ ६४ ॥ जो अन्य पुरुषों के शुभचरित्र में भी द्वेष करते हैं, और आप स्वयं इस संसार में दुश्चरित्र

महदकुशलमप्यवाप्य सुस्था भगरसिका अधमा अवैष्णवास्ते ॥ ६५ ॥
परमसुखपदं हृदम्बुजस्थं क्षणमपि नानुसजन्ति मत्तभावाः ।
वितथवचनजालकैरजस्रं पिदधति नाम हरेरवैष्णवास्ते ॥ ६६ ॥

स्कन्दपु० जगन्नाथमा अ० १०।६६–इत्यादि० । इन्द्रद्युम्नाय नारदोक्तिः ॥

रागद्वेषौ परित्यज्य क्रोधलोभविवर्जितः । सर्वत्र समदर्शी च विष्णुभक्तस्य दर्शनम् ॥ ६७ ॥
सर्वेषामपि जीवानां दया यस्य हृदि स्थिता । शौचाचारसमायुक्तो योगी दुःखं न विन्दति ॥ ६८ ॥

स्कन्दपु० खं० ६ अ० २६३ ॥

विषये लुब्धचित्तानां वनेऽपि जायते रतिः । सर्वत्र समदृष्टीनां गेहे मुक्ति र्हि शाश्वती ॥ ६९ ॥

स्कन्द० पु० खं० ६। स्कन्दपु० खं० ६। अ० २६४।२८॥

नार्यस्तत्सङ्गिनश्चापि हरिभक्तिविघातकाः । नारीणां नयनादेशः सुराणामपि दुर्जयः ॥
स येन विजितो लोके हरिभक्तः स उच्यते ॥ ७० ॥ पद्मपु० भूमि खं० अ० ६१।१२॥
विष्णोरयं यतो ह्यासीत्तस्माद्वैष्णव उच्यते । सर्वेषामपि वर्णानां वैष्णवः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ७१ ॥
क्षमा दया तपः सत्यं येषां वै तिष्ठति द्विज ! । तेषां दर्शनमात्रेण पापं नश्यति तूलवत् ॥ ७२ ॥

पद्मपु० उत्तर खं० अ० ६८।४–५॥

हिंसादम्भकामक्रोधै र्वर्जिताश्चैव ये नराः । लोभमोहपरित्यक्ता ज्ञेयास्ते वैष्णवा द्विज ! ॥ ७३ ॥
पितृभक्तदयायुक्ताः सर्वप्राणिहिते रताः । अमत्सरा वैष्णवा ये विज्ञेयाः सत्यभाषिणः ॥ ७४ ॥

पद्मपु० खं० ४। अ० १ ॥

अङ्कनं चोर्ध्वपुण्ड्रश्च मन्त्रो नामविधारणम् । पञ्चमो याग इत्युक्ताः संस्काराः पूर्वसूरिभिः ॥ ७५ ॥

खं० ५ । अ० ८२ ॥ पद्मपु० ॥

में संलग्न मनवाले होते हैं, और महान अकुशल (पाप) को भी प्राप्त करके सुस्थ भगभोगासक्त रहते हैं, सो अधम्म (कुत्सित) अवैष्णव हैं ॥ ६५ ॥ परमसुख का स्थान हृदयकमल में स्थिर है, मत्तस्वाभाव वाले उसे एक क्षण भी प्रेम से नहीं समझते हैं, किन्तु मिथ्यावचन समूह से हरि के नाम को ढाँपते हैं सो अवैष्णव हैं ॥ ६६ ॥ रागद्वेष को त्याग कर क्रोधलोभ से रहित सर्वत्र समदर्शी जो विष्णुभक्त हैं, उसी का दर्शन कर्तव्य है ॥ ६७ ॥ जिसके हृदय में सब जीवों की दया स्थिर है, वही शौच सदाचार से सम्यग् युक्त योगी दुःख नहीं पाता है ॥ ६८ ॥ विषय में आसक्त मनवालों को वन में रति (रत-मैथुन) उत्पन्न होता है, सर्वत्र समदृष्टिवालों को गृह में रहते भी नित्य मुक्ति होती है ॥ ६९ ॥ स्त्री और स्त्री के संगी हरि भक्ति के विघातक होते हैं, स्त्रियों के कटाक्ष देवताओं के लिये भी दुर्जय हैं और वे जिससे जीते गये हैं, वह लोक में हरिभक्त कहाता है ॥ ७० ॥ जिससे यह भक्त विष्णु से हुवा है, इससे वैष्णव कहा जाता है, और सब वर्णों में वैष्णव श्रेष्ठ कहा जाता है ॥ ७१ ॥ हे द्विज ! जिस के अन्दर क्षमा, दया, तप, सत्य सदा रहते हैं, उनके दर्शन मात्र से अग्नि से तूलके समान पाप नष्ट होता है ॥ ७२ ॥ हिंसा, दम्भ काम क्रोध से रहित, लोभमोह को त्यागनेवाले जो मनुष्य हैं, हे द्विज ! वे वैष्णव हैं ॥ ७३ ॥ पिता के भक्त दयायुक्त सब प्राणियों के हित में तत्पर मत्सर रहित सत्य वक्ता जो हैं, सो वैष्णव हैं ऐसा जानो ॥ ७४ ॥ छाप, ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक, मन्त्र, नाम का ग्रहण, पंचम याग, ये पूर्व के विद्वानों से वैष्णव के संस्कार कहे गये हैं ॥ ७५ ॥

यथा काञ्चनतां याति कांस्यं रसविधानतः । तथा दीक्षा विधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम् ॥ ७६ ॥

तत्त्वसागरे ॥

न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः । सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये न भक्ता जनार्दने ॥७७॥ इति क्वचित् ॥

चक्राङ्कितस्य नेच्छन्ति दुर्गतिं यमकिङ्कराः । श्मशाने मागधे देशे म्लेच्छदेशेऽन्त्यजाङ्गने ॥ ७८ ॥

कर्माधीनं जगत्सर्वं विष्णुना निर्मितं पुरा । तत्कर्म केशवाधीनं रामनाम्ना विनश्यति ॥ ७९ ॥

बृहद्ब्रह्मसंहितायाम् ॥

ब्रह्मसम्बन्धकरणात्सर्वेषां देहजीवयोः । सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ॥ ८० ॥

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः । संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्या कथञ्चन ॥ ८१ ॥

ब्रह्मसम्बन्धानन्तरमिति शेषः । सिद्धान्तरहस्ये ॥

गुरुवक्त्राद् विष्णुमन्त्रो यस्य कर्णे विशत्ययम् । तं वैष्णवं महापूतं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ८२ ॥

मन्त्रग्रहणमात्रेण जीवन्मुक्तो भवेन्नरः । भित्त्वा ब्रह्माण्डमखिलं यास्यत्येव हरेः पदम् ॥ ८३ ॥

ब्रह्मवैवर्त्तपु० कृष्णजन्म खं० अ० ८३।३५–३६ ॥

दयास्ति सर्वभूतेषु सर्वं कृष्णमयं जगत् । यो जानाति महाज्ञानी स भक्तो वैष्णवो मतः ॥ ८४ ॥

ब्रह्मवै० कृ० पु० अ० १।४७ ॥

आसक्ता देहगेहादौ बन्धमायान्ति चेतसः । न जानन्ति नरा मूढाः किं देवैः सेवितैः सुखम् ॥ ८५ ॥

श्वलाङ्गूलं समाश्रित्य को हि तीर्णोऽम्बुधेर्जलम् ॥ ८६ ॥

येऽधमाः पापकर्माणो देवतान्तरसेवकाः । कामिनो विष्णुविमुखास्ते यान्ति नरके ध्रुवम् ॥ ८७ ॥

रसविधि से जैसे कांसा भी सुवर्ण होता है, तैसे दीक्षाविधि से मनुष्य को द्विजता होती है ॥ ७६ ॥ भगवान् का भक्त शूद्र नहीं रहता है, किन्तु सब भगवद्भक्त विप्र हैं, सब वर्ण वे शूद्र हैं जो भगवान् में भक्ति रहित हैं ॥ ७७ ॥ श्मशानादि में भी शरीर त्यागने पर भगवान् के चक्र से अङ्कित की दुर्गति यम के भृत्य दूत भी नहीं चाहते हैं ॥ ७८ ॥ कर्माधीन सब जगत् प्रथम विष्णु से रचा गया है, वह कर्म भगवान् के अधीन है, सो कर्म राम नाम से विनष्ट होता है ॥ ७९ ॥ मन्त्रादि द्वारा जीव का ब्रह्म के साथ संबन्ध करने से सब सम्बन्धवालों के सब दोषों की निवृत्ति होती है, जो दोष देह जीव के रहते हैं। वे दोष पाँच प्रकार के कहे गये हैं, सहज, देशोत्पन्न, कालोत्पन्न, लोकनिरूपित, वेदनिरूपित, ये पाँच दोष हैं, ब्रह्म संबन्ध के बाद संयोगज वा स्पर्शजन्य दोष किसी प्रकार भी मन्तव्य नहीं है ॥८०–८१॥ यह विष्णु मन्त्र गुरुमुख से जिसके कान में प्रवेश करता है, विद्वान् लोग उसको महापवित्र वैष्णव कहते हैं ॥ ८२ ॥ मनुष्य मन्त्र के ग्रहण मात्र से जीवन्मुक्त होता है, और सब ब्रह्माण्ड का भेदन करके हरि के स्थान स्वरूप को प्राप्त करेगा ॥ ८३ ॥ जिसको सब प्राणियों में दया है, जो महाज्ञानी सब जगत् को कृष्णमय (ब्रह्ममय) जानता है, वही भक्त वैष्णव है ॥ ८४ ॥ चित्त से देहादि में आसक्त मूढ मनुष्य बन्धन को प्राप्त होता है, और यह भी नहीं जानता कि सेवित देव से क्या सुख मिलता है ? ॥ ८५ ॥ तथा कुत्ते के पूंछ को पकड़ कर कौन समुद्र के जल को तरा ? इत्यादि ॥ ८६ ॥ जो पापकर्म वाले अनात्म देव के सेवक कामी सर्वात्मा विष्णु से विमुख हैं, सो अवश्य नरक में जाते हैं ॥ ८७ ॥

देवाश्च कर्मसचिवाः केवलं स्वहिते रताः। अपराधे कृतेऽल्पेऽपि देहद्रविणनाशकाः ॥ ८८ ॥
यै यैः संसेविता देवा नैव तेषां सुखं ध्रुवम्। सदैव सूर्यं संसेव्य पङ्गुरेवारुणोऽभवत् ॥ ८९ ॥
शिवसेवां समासाद्य क्षयं प्राप वृकोदरः। बाणो बाहुसहस्रस्य नाशं कृष्णादवाप ह ॥९०॥ आदिपु० अ० ५॥
देवतान्तरसेवा स्त्रीसङ्गमो धनसञ्चयः। स्वबान्धवेषु चासक्तिरभिमानश्च पञ्चमः ॥ ९१ ॥
एतै र्मोहितचित्तस्य न भक्तिः स्याज्जनार्दने ॥ ९२ ॥ आदिपु० अ० ७।२७।२८॥
न हि वाञ्छन्ति ये स्वर्गमणिमादिकमष्टकम्। ब्रह्मलोकं धरेशत्वं सर्वं कालपरिप्लुतम् ॥
तथा मुक्तिं न वाञ्छन्ति ये भक्तास्ते हरेः प्रियाः ॥ ९३ ॥ आदिपु० अ० ८।३ ॥
वैष्णवः पञ्चमो वर्णो वैष्णवः पञ्चमाश्रमः। वर्णानामाश्रमाणां च श्रेष्ठः श्रीवैष्णवाश्रमः ॥ ९४ ॥
वर्णाश्रमाभिमानेन श्रुतिदासो भवेन्नरः। वर्णाश्रमविहीनश्च तिष्ठति श्रुतिमूर्धनि ॥ ९५ ॥
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा। चत्वारश्चाश्रमा ह्येते पञ्चमो वैष्णवाश्रमः ॥ ९६ ॥
इत्यादि क्वचित् ॥ वस्तुतः—
मुख्यमेकं पुरस्कृत्य शून्यात्मानोऽपि साधकाः। भवन्ति तं विना नैव यथा संख्याङ्कविन्दवः ॥ ९७ ॥
सुभाषितरत्ने ॥
अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा। तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥ ९८ ॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्। हित्वाऽऽर्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः ॥ ९९ ॥

कर्म सहायवाले देव तो केवल निज हित में लगे हैं, और थोड़ा ही अपराध करने पर देह द्रव्य के नाशक होते हैं ॥ ८८ ॥ जिन जिन से अनात्म देव सेवे गये, उनको नित्य सुख नहीं मिला, सदा ही सूर्य की सेवा करके भी अरुण पङ्गु ही हुए ॥ ८९ ॥ शिव की सेवा करके भी भीम क्षयरोग पाये, और शिव सेवक बाणासुर सहस्रबाहु का नाश कृष्ण से हुआ ॥ ९० ॥ अनात्मदेव के सेवादि से मोहित चित्तवाले को जन्न (जन्म) नाशक (ज्ञानमात्र से मोक्षप्रद) सर्वात्मा हरि में भक्ति नहीं होती है ॥ ९१–९२ ॥ जो काल से व्याप्त-कम्पित विनश्वर स्वर्गादि को तथा सालोक्यादि मुक्ति को भी नहीं चाहता है, सो हरि का प्यारा है ॥ ९३ ॥ वैष्णव पञ्चम वर्ण तथा आश्रम है, सो वैष्णवाश्रम वर्णाश्रमों में श्रेष्ठ है ॥ ९४ ॥ वर्णाश्रम के अभिमान से अज्ञ कर्मकाण्ड रूप वेद का दास होता है, और वर्णाश्रम विहीन (ज्ञानी पञ्चमाश्रमी) वेद के मूर्धा (उपनिषद्) में स्थिर होता है (आत्मब्रह्मनिष्ठ ज्ञानपरायण रहता है) ॥ ९५ ॥ इससे ब्रह्मचारी आदि ये चार आश्रम हैं, और वैष्णवाश्रम पञ्चम (वर्णाश्रम पर विमुक्त) है ॥ ९६ ॥ और वस्तुतः एक मुख्यात्मा सच्चिदानन्द को लक्ष्य करके आनन्दादि शून्य देवादि में आत्मा (मन) को लगाने वाले ज्ञानादि के साधक भक्त होते हैं, मुख्यात्मा के विना नहीं, जैसे संख्यांक विन्दु होते हैं ॥ ९७ ॥ कपिलदेव अपनी माता से कहते हैं कि सर्वभूत का आत्मा मैं सदा सब भूतों में स्थिर हूँ, जिस आत्मा का अनादर करके मनुष्य मूर्ति में मूर्तिपूजारूप अनुकरण करता है ॥ ९८ ॥ सब भूतों में वर्तमान ईश्वर रूप मुझ को त्याग कर जो मूढ़ता से मूर्ति को भजता है, सो मानो अग्नि को त्यागकर राख में हवन करता है ॥ ९९ ॥

द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः । भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥ १०० ॥
अहमुच्चावचै र्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयाऽनघे ! । नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥ १०१ ॥
श्रीमद्भा० स्क० ३।२९।२१-२४ ॥
विष्णुभक्ताश्च ये केचित्सर्वे वर्णा द्विजातयः । कथितं मम गार्ग्येण गौतमेन सुमन्तुना ॥ १०२ ॥
स्कन्दपु० वैष्णवखं० मार्ग० ५ अ० ११।१७॥
ऊर्ध्वपुण्ड्रमृजुं सौम्यं ललाटे यस्य दृश्यते । स चाण्डालोऽपि शुद्धात्मा पूज्य एव न संशयः ॥ १०३ ॥
तत्रैव अ० ३।१२॥

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति सकुलं न तु भूरिमानः ॥ १०४ ॥ भागवत स्क० ७।९।१०॥

मद्भक्तजन वात्सल्यं पूजायां चानुमोदनम् । स्वयमभ्यर्चनं चैव मदर्थे चाङ्गचेष्टितम् ॥ १०५ ॥
मत्कथाश्रवणे भक्तिः स्वरनेत्राङ्गविक्रियाः । ममानुस्मरणं नित्यं यश्च मामुपजीवति ॥ १०६ ॥
एवमष्टविधं चिह्नं यस्मिन् म्लेच्छेऽपि वर्त्तते । स विप्रेन्द्रो मुनिः श्रीमान् स यतिः स च पण्डितः ॥१०७॥
न मे प्रियश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचोऽपि यः । तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम् ॥१०८॥
शिव पु० उत्तरखं० अ० १०।६८-७१ ॥

पर की देह में मुझ से द्वेष करने वाले, अभिमानी भिन्न दर्शनशील, भूतों में बद्ध वैर वाले का मन शान्ति नहीं पाता है ॥ १०० ॥ हे अनघे ! उच्चावच (छोटे बड़े) द्रव्यों से जन्य क्रिया द्वारा मूर्ति में पूजित भी मैं प्राणी समूह के अनादर करनेवाले से सन्तुष्ट नहीं होता हूँ ॥ १०१ ॥ अभिमानादि रहित जो कोई विष्णु भक्त हैं, सो सब वर्ण द्विजाति हैं, इस प्रकार मुझे गार्ग्य गौतम सुमन्तु ने कहा है ॥ १०२ ॥ जिसके कपाल में सीधा सुन्दर ऊर्ध्व तिलक दीखता है, सो चाण्डाल भी शुद्धात्मा और पूज्य है इस में संशय नहीं है ॥ १०३ ॥ "मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौजस्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः । नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ॥" [भा० स्कन्द० ७।९।९॥] धन, सत्कुल में जन्म, सौन्दर्य, तप, पाण्डित्य, ओज इन्द्रिय शक्ति-प्रकाश, तेज कान्ति-पराक्रम, प्रभाव-प्रताप, उद्यम, बुद्धि और योग ये सब परमात्माके आराधनाके लिये नहीं होते हैं, जिसके लिये भक्ति से ही भगवान् गजराज पर सन्तुष्ट हुए, ऐसा मैं मानता हूँ, इसीसे, धनादि द्विषड्गुण (द्वादश-बारह) गुणयुक्त वा "धर्मश्च सत्यं च दमस्तपश्च अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षाऽनसूया । यज्ञश्च दानं च धृतिः श्रुतं च व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य ॥" अथवा "शमो दमस्तपः शौचं क्षान्त्यार्जवविरक्तताः । ज्ञानविज्ञानसन्तोषाः सत्यास्तिक्ये द्विषड्गुणाः ।" इन वचनोक्त बारह गुण युक्त होते हुए भी अरविन्दनाभ (भगवान्) के चरण कमल से विमुख ब्राह्मण से उस श्वपच को अत्यन्त श्रेष्ठ मानते हैं, जिसने कि अपने मन वचन कर्म अर्थ और प्राणों को उस भगवान् में अर्पित किया है । और वह अपने कुल को पवित्र करता है । बहुत गर्व वाला विप्र तो किसी को नहीं पवित्र करता है ॥ १०४ ॥ मेरे भक्तजन में प्रेम, पूजा में अनुमोदन, स्वयं पूजा करना, और मेरे लिये अङ्ग की चेष्टा करना, मेरी कथा के श्रवण में प्रेम, और उनसे स्वर नेत्र और अंग में गदगद भावादि विकार, मेरा सदा स्मरण जो करता है, और जो मेरा उपजीवन (सेवन) करता है, इस प्रकार आठ प्रकार के चिह्न जिस म्लेच्छ में भी रहते हैं, वही श्रेष्ठ विप्र मुनि श्रीवाला संन्यासी और पंडित है ॥ ५-७ ॥ मेरा प्रिय चारवेदज्ञ नहीं है, किन्तु श्वपच भी जो मेरा भक्त है, उसे दान देना चाहिये,

तुलसीकाष्ठमयीं-मालां कण्ठस्थां वहते च यः । अप्यशौचोऽप्यनाचारो मामेवैति न संशयः ॥१०९॥
प्रसादमालिकाधारी पुनाति भुवनत्रयम् । प्रणमन्त्यमरास्तस्मै शिवशक्रयमादयः ॥११०॥
प्रसादमालां यः कण्ठे बिभर्त्ति जनपावनीम् । स पूज्यो जायते लोके श्वपाकोऽपि हि निश्चितम् ॥१११॥
तुलसीकाष्ठमयी माला श्रीवृन्दावनकाष्ठजा । दृश्यते यस्य कण्ठे तु स वै भागवतो नरः ॥११२॥
इत्यादि प्रपञ्चसारे ॥
दुग्धे सर्पिः स्थितं यद्वत्तिले तैलं च सर्वदा । एवं चराचरे विष्णुर्भक्त्योपायेन दृश्यते ॥११३॥
इत्याद्यभियुक्ताः ॥

इति वैष्णवभागवतवर्णनं षष्ठं प्रकरणम् ।

अथ जितेन्द्रियवर्णनम् ॥ ७ ॥

जितेन्द्रियं रागविवर्जितं जनं सुखेऽथ दुःखे च समानमानसम् ।
व्यपेतनिन्दास्तुतिमार्जवान्वितं वन्दे परानन्दविमृष्टमानसम् ॥ १ ॥ यतः
जितेन्द्रियः सर्वहितो धर्मकर्मपरायणः । यत्र तिष्ठति तत्रैव सर्वतीर्थानि देवताः ॥२॥ नारदीयपु०अ०११॥
इन्द्रियैरतिमूढात्मा मोहितो ब्रह्मणः पदे । सम्भवं निधनं चैव कर्मभिः प्रतिपद्यते ॥ ३ ॥
इन्द्रियैर्व्यतिरिक्तो वै यदा भवति योगवित् । तदा ब्रह्मत्वमापन्नः प्रलयाग्रे प्रतिष्ठति ॥ ४ ॥
हरिवंशे विष्णुप० अ० १६।३६–३८ ॥
इन्द्रियग्रामसंग्रामसेतुना भवसागरः । तीर्यते नेतरेणेह केनचिन्नाम कर्मणा ॥ ५ ॥
शास्त्रसत्सङ्गमाभ्यासात्सविवेको जितेन्द्रियः । अत्यन्ताभावमेतस्य दृश्यस्याप्यवगच्छति ॥ ६ ॥
योगवासिष्ठे प्र० ४।४।१०२॥

और उससे लेना चाहिये, वह मेरे समान पूज्य है ॥ ८ ॥ तुलसी काष्ठ की कण्ठस्थ माला का जो धारण करता है, वह शौच युक्त पवित्र हो वा आचार रहित अपवित्र हो, मुझे ही प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १०९ ॥ भगवान् के प्रसाद रूप माला को धारण करने वाला तीनों लोक को पावन करता है, और उसको शिव इन्द्र यमादि सब प्रणाम करते हैं ॥ ११० ॥ जो श्वपाक भी पावन करने वाली प्रसाद रूप माला को कण्ठ में धारण करता है, सो लोक में पूज्य होता है यह निश्चित है ॥ १११ ॥ श्री वृन्दावन के काष्ठ जन्य तुलसी की माला जिसके कण्ठ में दीखती है, सो मनुष्य वैष्णव है ॥ ११२ ॥ जैसे दूध में घृत और तिल में तेल रहता है, तैसे ही चराचर में विष्णु हैं, सो भक्ति और ध्यानादि उपाय से दीखता है ॥ ११३ ॥ छठाँ वैष्णवभागवत वर्णन प्रकरण समाप्त ।

अथ जितेन्द्रिय—रागरहित, सुखादि में तुल्य मनवाले, निन्दा स्तुतिरहित, अवक्र, उत्तमानन्दयुक्त शुद्ध मनवाले जितेन्द्रिय जन की मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥ जिससे सबके हित, धर्मरूप कर्मपरायण जितेन्द्रिय जहाँ रहते हैं, वहाँ ही सब तीर्थ और देव रहते हैं ॥ २ ॥ अजितेन्द्रियों करके ही अतिमूढ़मनवाला ब्रह्म के लक्षण स्वरूपादि में मोहित हो कर कर्मों से जन्म मरण पाता है ॥ ३ ॥ योगज्ञ जब इन्द्रियों से पृथक् होता है, तब ब्रह्मरूपता को प्राप्त करके प्रलय के आगे भी रहता है ॥ ४ ॥ इन्द्रियसमूह के युद्ध (जय) रूप पुल से ही भवसागर तरा जाता है, अन्य प्रसिद्ध किसी कर्म से नहीं ॥ ५ ॥ शास्त्र सत्‌संग के अभ्यास से विवेक सहित जितेन्द्रियपुरुष इस दृश्य संसार के अत्यन्ताभाव को भी समझता है, प्राप्त

यथा देहोपयुक्तं हि करोत्यारोग्यमौषधम् । तथेन्द्रियजयेऽभ्यस्ते विवेकः फलितो भवेत् ॥ ७ ॥

योगवा० प्र० ४ ॥ स० १८।६६॥

मुक्तबुद्धीन्द्रियो मुक्तो बद्धकर्मेन्द्रियोऽपि हि । बद्धबुद्धीन्द्रियो बद्धो मुक्तकर्मेन्द्रियोऽपि हि ॥ ८ ॥

योगवा० प्र० ४ स० १५।४२॥

पौरुषं यत्नमाश्रित्य प्रोल्लङ्घ्येन्द्रियपर्वतम् । संसारजलधिं तीर्त्वा पारं गच्छ परं पदम् ॥ ९ ॥

अभ्यासवैराग्ययुतादाक्रान्तेन्द्रियपन्नगात् । नात्मनः प्राप्यते यत्तत्प्राप्यते न जगत्त्रयात् ॥ १० ॥

योगवा० प्र० ५।४३।१४—१८ ॥

सुसाध्यः करटोद्भेदो मत्तैरावतदन्तिनः । नोत्पथप्रतिपन्नानां स्वेन्द्रियाणां विनिग्रहः ॥ ११ ॥

पौरुषस्य महत्त्वस्य सत्त्वस्य महतः श्रियः । इन्द्रियाक्रमणं साधो ! सीमान्तो महतामपि ॥ १२ ॥

तावदुत्तमतामेति पुमानपि दिवौकसाम् । कृपणैरिन्द्रियैर्यावत्तृणवन्नापकृष्यते ॥ १३ ॥

योगवा० प्र० ६ उत्तरा० स० ६।४०—४२ ॥

सम्वित्प्रवृत्तिमर्थेषु विरुद्धेषु विवर्जयन् । अर्जयञ्छमसंतोषौ यः स्थितः स जितेन्द्रियः ॥ १४ ॥

विवेकवानुदारात्मा विजितेन्द्रिय उच्यते । वासनावीचिवेगेन भवाब्धौ स न मुह्यते ॥ १५ ॥

साधुसम्पर्कसच्छास्त्रसमालोकनतोऽनिशम् । जितेन्द्रियो यथा वस्तु जगत् सत्यं प्रपश्यति ॥ १६ ॥

सत्यावलोकनाच्छान्तिमेति संसारसंभ्रमः । मराविव जलज्ञानं मिथ्यापतनदुःखदम् ॥ १७ ॥

योगवा० प्र० ६ उत्तरा० स० १६३ ॥

करता है ॥ ६ ॥ जैसे देह से सेवित औषध आरोग्य करता है, कथन मात्र से नहीं, तैसे इन्द्रिय जय के अभ्यस्त होने पर ही विवेक फलयुक्त (मोक्षप्रद) होता है ॥ ७ ॥ कर्मेन्द्रियों के बद्ध (कर्म में प्रवृत्त) रहते हुए भी ज्ञानेन्द्रियों की निवृत्ति वाला मुक्त ही है, और कर्मेन्द्रियों की मुक्ति (निवृत्ति) वाला भी ज्ञानेन्द्रियों के बद्ध रहते बद्ध है, इसी से भगवान् ने कहा है कि "कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याऽऽचारः स उच्यते" ॥ ८ ॥ शारीरिक उद्यम और मानस यत्न का आश्रयण करके, इन्द्रिय रूप पर्वत को लांघ करके, संसार समुद्र को तर कर पार रूप पर पद (मोक्ष) को प्राप्त करो ॥ ९ ॥ अभ्यास वैराग्य सहित जितेन्द्रिय निजात्मा से जो नहीं मिल सकता, सो तीन लोक से नहीं मिल सकता है ॥ १० ॥ मत्त ऐरावत हाथी के कुम्भ का विदारण सुख से साध्य है, परन्तु कुमार्ग में प्राप्त अपनी इन्द्रियों का निरोध सुसाध्य नहीं है, इससे इन्हें कुमार्ग में नहीं जाने देना चाहिये ॥ ११ ॥ हे साधो ! इन्द्रियों का जय ही पुरुषार्थ, महत्ता , महाधैर्य, श्री, विश्रान्ति इन सब का सीमान्त (अवधिरूप , महात्मा ज्ञानी के लिये भी है ॥ १२ ॥ मनुष्य भी तब तक देवताओं में भी उत्तमता (मान्यता) पाता है, कि जब तक तुच्छ इन्द्रियों से तृण तुल्य नहीं खींचा जाता है ॥ १३ ॥ अपने आश्रमादि से विरुद्ध अर्थ विषयों में बुद्धि की प्रवृत्ति (इच्छा) को त्यागता हुवा, और शम सन्तोष को प्राप्त करता हुवा जो स्थिर रहता है, सो जितेन्द्रिय है ॥ १४ ॥ विवेकी महात्मा जितेन्द्रिय कहाता है, वह वासनारूप तरंग के वेग से संसार समुद्र में मोहित नहीं होता है ॥ १५ ॥ साधु संग और सदा सत्शास्त्र के अवलोकन से जितेन्द्रिय हो कर जगत् को यथार्थ वस्तु सत्य ब्रह्म मात्र ही देखता है ॥ १६ ॥ सत्य के अवलोकन से संसार का संभ्रम (संवेग-भय) शान्ति को पाता (निवृत्त होता है) जो कि

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः । वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्द्धते ॥ १८ ॥
तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रियः पुमान् । न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे ॥ १९ ॥
भागवत स्क० ११।८।२०–२१ ॥
जीयन्तां दुर्जया देहे रिपवश्चक्षुरादयः । जितेषु तेषु लोकोऽयं ननु कृत्स्नस्त्वया जितः ॥ २० ॥
किरातार्जुनीये स० ११–३२ ॥
पञ्चेन्द्रियजयो येन कृत आदौ जिगीषुणा । त्रिलोकविजयं तस्य न दूरे प्रतिभाति मे ॥ २१ ॥
विष्णुधर्मोत्तरपुराणे ॥
इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभौ । निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च ॥ २२ ॥
एष योगविधिः कृत्स्नो यावदिन्द्रियधारणम् । एतन्मूलं हि तपसः कृत्स्नस्य नरकस्य च ॥ २३ ॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमार्च्छत्यसंशयम् । सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ २४ ॥
अप्रकीर्णेन्द्रियं दान्तं शुचिं नित्यमतन्द्रितम् । आस्तिकं श्रद्दधानं च वर्जयन्ति सदा ग्रहाः ॥ २५ ॥
महाभा० वनप० अ० २११ ॥
इन्द्रियाणि सदेहानि रागे दृप्तानि कारणम् । दर्प आहारजस्तेषां क्षय आहारसंक्षयात् ॥ २६ ॥
यथाऽयं न पतेद् देहो न च दर्पं समाऽऽव्रजेत् । तथा वर्णाश्रमप्रोक्तमाहारं पुरुषो ग्रसेत् ॥ २७ ॥
एवं तपस्यतो नाशं दर्पो देहादिगो भवेत् । दर्पनाशाच्च चित्तस्थो रागोऽपि विलयं व्रजेत् ॥ २८ ॥
आत्मपु० अ० १० ॥
इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु । संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥ २९ ॥

मरु भूमि में जल ज्ञान के समान मिथ्या वस्तु में धावन से दुःखद है ॥ १७ ॥ निराहार विद्वान् रसना विना अन्येन्द्रियों को शीघ्र जीतने वाला भी तब तक जितेन्द्रिय नहीं होता, कि जब तक रसना को नहीं जीतता है, इससे अल्पाहारादि से रसना को जीतने पर सब विजित होते हैं ॥ १८–१९ ॥ देह में वर्तमान दुर्जय शत्रुरूप नेत्रादि जीते जायँ कि जिनके जीतने से यह सब लोक ही तुम से विजित होगा ॥२०॥ जिस विजयेच्छुक ने पांच इन्द्रियों का विजय प्रथम किया है, उसका तीनों लोक का विजय मुझे दूर नहीं प्रतीत होता है ॥ २१ ॥ इन्द्रियाँ ही वे सब हैं, जो स्वर्ग नरक दो स्वरूप हैं, वशीभूत इन्द्रिय स्वर्ग के लिये हैं, और विषयो में त्यक्त प्रवृत्त इन्द्रिय नरक के लिये हैं ॥ २२ ॥ सब इन्द्रियों का निरोध यही सम्पूर्ण योग का उपाय है, तप का कारण है, और निरोध विना सब नरक के कारण हैं ॥ २३ ॥ इन्द्रियों की विषयों में आसक्ति से मनुष्य अवश्य दोष को प्राप्त होता है, और उनका संयम निरोध करके उनसे ही सिद्धि पाता है ॥ २४ ॥ अचंचल इन्द्रिय वाला दान्त सदा पवित्र सावधान आस्तिक श्रद्धालु को ग्रह भी सदा त्यागते हैं ॥ २५ ॥ दर्पयुक्त देहसहित इन्द्रियाँ राग में कारण हैं, सो दर्प आहारविशेष से होता है, और आहार के नाश से दर्प का नाश होता है ॥ २६ ॥ इसलिये जिस प्रकार के आहार से न देह नष्ट हो, न दर्प को प्राप्त हो, तैसे वर्णाश्रम के लिये विहित आहार को पुरुष खावे ॥ २७ ॥ इस प्रकार तप कर्ता का देहादिगत दर्प नाश को प्राप्त होता हैं, फिर दर्पनाश से चित्तगत राग भी लय को पाता है ॥ २८ ॥ अपहरण (आकर्षण (शील विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के संयम में विद्वान् यत्न करे, जैसे घोड़ों के संयम में सारथी संयम करता है ॥ २९ ॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् । सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ३० ॥
न तथैतानि शक्यन्ते सन्नियन्तुमसेवया । विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥ ३१ ॥
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः । न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥३२॥
इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् । तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥ ३३ ॥
वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा । सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥ ३४ ॥
मनुस्मृ० अ० २।८८ इत्यादिः ॥
अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च । ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्त्तयेत् ॥ ३५ ॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च । अहिंसया च भूतानाममृतत्त्वाय कल्पते ॥ ३६ ॥
मनुः अ० ६।५९-६० ॥
वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः । अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम् ॥ ३७ ॥
सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् । तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ ३८ ॥
मनुस्मृ० अ० १२।८३-८५ ॥
ज्ञानान्वितेषु युक्तेषु शास्त्रज्ञेषु कृतात्मसु । न तेषु सज्जते स्नेहः पद्मपत्रेष्विवोदकम् ॥ ३९ ॥
शिश्नोदरकृतेऽप्राज्ञः करोति विघसं बहु । मोहरागवशाक्रान्त इन्द्रियार्थवशानुगः ॥ ४० ॥

क्योंकि इन्द्रियों के विषयों में प्रसंग (संबन्ध आसक्ति) से पुरुष अवश्य ही दृष्ट और अदृष्ट दोषों को प्राप्त करता है, और उन इन्द्रियों का ही संयम करके सिद्धि (ज्ञान मोक्ष की योग्यता) को पाता है, तिससे अवश्य संयम करे ॥ ३० ॥ विषयों के असेवन (संग उपभोग के त्याग) से ये इन्द्रिय तैसे संयम (निरोध) के योग्य नहीं हैं, कि जैसा विषयों में प्रसक्त इन्द्रिय भी विषयों के सदा दोष दर्शन रूप ज्ञान से शरीरादि के दोष ज्ञानादि से संयम के योग्य हैं ॥ ३१ ॥ अनुकूल प्रतिकूल शब्द स्पर्श रूप रस गंध का श्रवणादि करके भी जो हर्ष शोक नहीं करता, उसको जितेन्द्रिय जानना ॥ ३२ ॥ सब इन्द्रियों में से यदि एक इन्द्रिय भी विषय परायण होती है, तो उसी द्वारा इस विषयी जीव का सब तत्त्व ज्ञान नष्ट होता है स्थिर नहीं रहता है जैसे चर्मपात्र के एक छिद्र से भी सब जल निकल जाता है ॥ ३३ ॥ बाहर के इन्द्रिय समूह को वश में करके तथा मन का संयम करके और युक्ताहारादि योग (उपाय) से शरीर को भी क्षीण (पीड़ित) नहीं करता हुआ सब पुरुषार्थ को सम्यक् सिद्ध करे ॥ ३४ ॥ अल्पान्नभोजन एकान्तनिवास आदि के द्वारा विषयों से आकृष्ट इन्द्रियों को रोके ॥ इन्द्रियों के निरोध रागद्वेष की निवृत्ति प्राणियों की अहिंसा से मोक्ष के योग्य समर्थ होता है ॥ ३५-३६ ॥ उपनिषदादि ज्ञानमय ग्रन्थ और उसके अर्थ का अभ्यास (आवृत्ति) तप (भोग का संक्षेप-विचारादि) ब्रह्मात्मा का ज्ञान, अहिंसा गुरु की सेवा ये सब उत्तम कल्याण कारक हैं ॥ ३७ ॥ इन सब में भी आत्मज्ञान सब से उत्तम कहा गया है, जिससे वह सब विद्याओं में मुख्य है, क्योंकि उसी से मोक्ष पाया जाता है ॥ ३८ ॥ विवेक रूप ज्ञानवाले सावधान उद्योगी शास्त्रों के ज्ञानी पवित्रात्मा उन प्रसिद्ध पुरुषों में राग इस प्रकार नहीं लिप्त होता है कि जैसे कमल के पत्र में जल नहीं लिप्त होता है ॥ ३९ ॥ अप्राज्ञ (अज्ञ) प्राणी शिश्न (लिङ्ग) और उदर की तृप्ति भोग के लिये ही बहुत 'विघस' (यज्ञशेष) करता है, क्योंकि वह मोह (अज्ञान) और राग जन्य 'वश' (इच्छा) से और ऐश्वर्यादि से आक्रान्त (पराभूत) दबा रहता है, और इन्द्रियार्थ (विषय) के वश में होकर गमन

ह्रियते बुध्यमानोऽपि नरो हारिभिरिन्द्रियैः । विमूढसंज्ञो दुष्टाश्वैरुद्भ्रान्तैरिव सारथिः ॥ ४१ ॥

महाभा० वनप० अ० २।३३–६५–६६ ॥

नाकृतात्मा कृतात्मानं जातु विद्याज्जनार्दनम् । आत्मनस्तु क्रियोपायो नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ॥ ४२ ॥

इन्द्रियाणामुदीर्णानां कामत्यागोऽप्रमादतः । अप्रमादोऽविहिंसा च ज्ञानयोनिरसंशयम् ॥ ४३ ॥

इति जितेन्द्रियवर्णनं सप्तमं प्रकरणम् । महाभा० उद्योगप० अ० ६६।१७–१८॥

अथ पण्डित वर्णनम् ॥ ८ ॥

हर्षं शोकं मदं मोहं कामं क्रोधं च मत्सरम् । ईर्ष्यामुत्सृज्य दूरे यस्तिष्ठति स सुखी बुधः ॥ १ ॥

वैराग्यशास्त्रशक्त्यादीनाश्रित्य सुविचारवान् । आत्मज्ञानादिकं गृह्णन् न क्वचिद् दुःखभाग् भवेत् ॥ २ ॥

तस्मात्—

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता । यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ ३ ॥

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते । अनास्तिकः श्रद्दधान एतत्पण्डितलक्षणम् ॥ ४ ॥

क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्रीः स्तम्भो मान्यमानिता । यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ ५ ॥

यथाशक्ति चिकीर्षन्ति यथाशक्ति च कुर्वते । न किञ्चिदवमन्यन्ते नराः पण्डितबुद्धयः ॥ ६ ॥

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।
नापृष्टो व्युपयुङ्क्ते परार्थे तत्प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥ ७ ॥

करता है, विषयार्थी रहता है ॥ ४० ॥ विमोह युक्त चित्तवाला परमार्थ ज्ञान रहित वह विषयार्थी नर समझता हुआ भी हरणशील इन्द्रियों से इस प्रकार हरा जाता है कि जैसे उद्भ्रान्त (चंचल) दुष्ट अश्वों के द्वारा सारथी हरा जाता है ॥ ४१ ॥ अजितात्मा विषयी प्राणी कृतात्मा (नित्य सिद्ध अन्तरात्मा) जनार्दन (ईश्वर) को कभी नहीं जान सकता है । क्योंकि इन्द्रिय निग्रह के विना यागादिरूपक्रिया आत्मा की प्राप्ति का उपाय नहीं है ॥ ४२ ॥ अप्रमाद (सावधानी) से काम का त्याग चंचल इन्दियों के निरोध का साधन है, और इन्द्रिय सम्बन्धी अप्रमाद से काम का त्याग, अप्रमाद और अविहिंसा (सर्वथा हिंसा का त्याग) ये निश्चित ज्ञान के कारण हैं ॥ ४३ ॥ सातवाँ जितेन्द्रिय वर्णन प्रकरण समाप्त ।

अथ पण्डित—लौकिक हर्षादि को दूर में त्याग कर, जो निज स्वरूप में स्थिर रहता है, सो सुखी पण्डित है ॥ १ ॥ जो सुन्दर विचार वाला प्रथम वैराग्य शास्त्र शक्ति आदि का आश्रय लेकर आत्म ज्ञानादि का ग्रहण करता है, सो कहीं दुःखी नहीं होता है ॥ २ ॥ शास्त्रानुसार आत्मज्ञान, शक्त्यनुसारआरम्भ, वैराग्यानुसार तितिक्षा, श्रद्धायुक्तधर्म नित्यता होने से आत्म ज्ञानादि जिस को पुरुषार्थ से च्युत नहीं करते, सो पण्डित कहाता है ॥ ३ ॥ स्तुति योग्य पुण्य कर्मादि को सेवता है, निषिद्ध निन्दित को नहीं सेवता, नास्तिकता रहित, और गुरु देवादि में श्रद्धायुक्त पण्डित रहता है, यही उस का लक्षण है ॥ ४ ॥ क्रोध हर्ष दर्प (परावज्ञा) स्तम्भ (जड़ता अनम्रता) अभिमानिता, ये सब जिस को पुरुषार्थ से नहीं हटाते सो पण्डित है ॥ ५ ॥ शक्ति के अनुसार ही जो करना चाहता है और करता है, किसी का अनादर नहीं करता वही मनुष्य पण्डित की बुद्धिवाला है ॥६॥ शीघ्र समझता है, परन्तु ज्ञान की दृढता के लिये चिर काल तक श्रवण करता है, समझ कर ही जो अर्थों को सेवता है, काम वश नहीं सेवता, न विना पूछे जो दूसरे के

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्। आपत्सु न विमुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥ ८ ॥
निश्चित्य यः प्रक्रमते नान्त र्वसति कर्मणः। अवध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते ॥ ९ ॥
आर्यकर्मणि रज्यन्ते भूतिकर्माणि कुर्वते। हितं च नाभ्यसूयन्ति पण्डिता भरतर्षभ ! ॥ १० ॥
न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमाने च तप्यते। गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते ॥ ११ ॥
तत्त्वज्ञः सर्वभूतानां योगज्ञः सर्वकर्मणाम्। उपायज्ञो मनुष्याणां नरः पण्डित उच्यते ॥ १२ ॥
श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा। असम्भिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ॥ १३ ॥

महाभा० उद्योगप० अ० ३३ ॥

यदेतच्चेतनं जीवो विशीर्णो जन्मजङ्गले। एतमात्मानमिच्छन्ति ये ते ज्ञाः पण्डिता अपि ॥ १४ ॥

योगवासि० प्र० ३।७।१५ ॥

अपरिज्ञानमात्रं यत्स्वयं वै परमात्मनः। तदेतत्कर्मबन्धाय तत्तज्ज्ञस्योपशाम्यति ॥ १५ ॥
यावद्यावत्परिज्ञानं पण्डितस्य प्रवर्त्तते। तावत्तावत्तदैवास्य कर्म शाम्यति बन्धदम् ॥ १६ ॥
यन्नाम किल नास्त्येव तच्छान्तौ का कदर्थना। परमार्थादृते बन्धः किञ्चिन्नाम न विद्यते ॥ १७ ॥
तावन्माया भवभयकरी पण्डितत्वं न यावत्, तत्पाण्डित्यं पतसि न पुनर्येन संसारचक्रे।
यत्नं कुर्यादविरलमतः पण्डितत्त्वेऽमलात्मन् !, ज्ञानोदारे भयमितरथा नैव वः शान्तिमेति ॥ १८ ॥

योगवा० प्र० ६।१४२ ॥ ४३-४६ ॥ उत्तरार्ध ॥

अर्थ में वाग्व्यय करता (बोलता है, यही पण्डित का प्रथम प्रज्ञान (चिह्न) है ॥ ७ ॥ अप्राप्य वस्तु की इच्छा, नष्ट की चिन्ता, आपत्ति में मोह (व्यग्रता) पण्डित बुद्धि वाले नहीं करते ॥ ८ ॥ कर्म में स्वयत्न-साध्यता निश्चय करके जो कर्म का आरम्भ करते हैं, इसीसे जो कर्म के मध्य में नहीं वसते (उपरत होते) हैं सो निरर्थक काल को नहीं बिताने वाले, वशीभूत मन वाले ही पण्डित कहाते हैं ॥ ९ ॥ आर्य (श्रेष्ठ शिष्ट) लोगों के योग्य कर्म में प्रेम करते हैं, ऐश्वर्यार्थक कर्म करते हैं, हे युधिष्ठिर ! हित की असूया (अनादरादि) नहीं करते हैं, सो पण्डित हैं ॥ १० ॥ जो अपने सम्मान में अति हर्ष और अनादर में अति शोक नहीं करते, इससे गंगा के गंभीर जलस्थान के समान अचंचल रहते हैं, सो पण्डित कहाते हैं ॥ ११ ॥ सब भूत ऐश्वर्यादि के तत्त्वज्ञ, सब कर्म के योग (युक्ति) 'ज्ञ' मनुष्यों के उपाय (अर्थसाधन) को जानने वाले मनुष्य मनुष्यों में पंडित कहाते हैं ॥१२॥ बुद्धि के अधीन जिस का श्रवण है, और श्रवण के अनुसार बुद्धि है, आर्यों की मर्यादा को नष्ट नहीं करने वाले वह पुरुष पण्डित नाम का लाभ करता है ॥ १३ ॥ जो यह चेतन रूप जीव जन्मादि रूप संसार जंगल में त्यक्त विहिंसित हैं, इस को जो आत्मा जानना चाहते हैं सो ज्ञानी पण्डित हैं ॥ १४ ॥ जो यह परमात्मा के अज्ञानमात्र (अज्ञान से काम जन्य) कर्म है, वही कर्म स्वयं बन्धन के लिये होता है, सो कर्म ज्ञानी का नष्ट हो जाता है ॥ १५ ॥ जैसे २ आत्म-ज्ञान विवेकी के प्रवृत्त होता है, तैसे २ उसके बन्धप्रद कर्म उसी समय निवृत्त होते हैं ॥ १६ ॥ क्यों कि जो वस्तु मिथ्या माया मात्र अज्ञान जन्य है, उस की निवृत्ति में कठिनता ही क्या है ? परमार्थ वस्तु की सत्तादि बिना बन्ध कोई वस्तु नहीं है ॥ १७ ॥ माया तभी तक भय करने वाली है कि जब तक पण्डिताई नहीं है, और पण्डितता वह है कि जिससे फिर संसारचक्र (जन्मादिप्रवाह) में नहीं गिरोगे। इससे हे अमल ! (विमल) मन वाले !, ज्ञान से उदार (महान्) उस पण्डितता विषयक निरन्तर यत्न

सर्वेषामेव धर्माणां कर्मणां शर्मणामपि । पण्डितः पुण्डरीकाणां मार्तण्ड इव मण्डनम् ॥ १९ ॥
आत्मज्ञानविदो यान्ति यां गतिं गतिकोविदाः । पण्डितास्तत्र शक्रश्री जीर्णतृणलवायते ॥ २० ॥
योगवा० प्र० ६ उ० स० १४३॥१-२ ॥
न नश्यति स्मृति र्यस्य विमला बोधशालिनी । अयं द्वैतपिशाचस्तं मनागपि न बाधते ॥२१॥ स० १४७।१२॥
जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च सर्वं तुर्यं प्रबोधिनः । नाविद्या विद्यते तस्य द्वयस्थोऽप्यैव सोऽद्वयः ॥ २२ ॥
द्वैताद्वैतसमुद्भेदै र्वाक्यसन्दर्भविभ्रमैः । क्रीडन्त्यबुद्धाः शिशवो बोधवृद्धा हसन्ति तान् ॥ २३ ॥
द्वैताद्वैतविवादेहा हृदयाकाशमञ्जरी । विनैतयेह नोदेति प्रबोधाकाशमार्जनम् ॥ २४ ॥
सुहृद् भूत्वा विवादेन द्वैताद्वैतविचारणा । कृता हृदयगेहेऽन्तरविद्याभस्ममार्जनी ॥ २५ ॥
तच्चित्तास्तद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् । कथयन्तश्च तन्नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ २६ ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । जायते बुद्धियोगोऽसौ येन ते यान्ति तत्पदम् ॥ २७ ॥
विना यत्नभरेणेदं न कदाचन सिद्ध्यति । महतोऽभ्यासवृक्षस्य फलं विद्धि परं पदम् ॥ २८ ॥
योगवा० प्र० ६। उ० स० १६३।३५ इत्यादि ॥
अविश्रामे निरालम्बे दीर्घे संसारवर्त्मनि । चित्त्वादात्मनि विश्रान्तिः प्राप्ता येन जयत्यसौ ॥ २९ ॥
सदेहा व्यवहारस्था अपि सुप्ता इवोत्तमाः । प्रक्षीणा इव लक्ष्यन्ते जडाभा न तु ते जडाः ॥ ३० ॥
योगवा० प्र० ६। उ० स० १६६।१०-१३॥

करना चाहिये, अन्यथा आप का भय शान्ति नहीं पावेगा (निवृत्त नहीं होगा) ॥ १८ ॥ सब धर्म धर्माविरुद्ध सब लौकिक कर्म और उन दोनों के फल रूप शम (सुख) के भी निर्णय में पण्डित ही सभामण्डन (भूषण) हैं, जैसे कमलों के विकाश में सूर्य खमण्डन हैं ॥ १९ ॥ आत्मज्ञानज्ञ गतिमर्मज्ञ पण्डित जिस गति (मुक्ति) को प्राप्त करते हैं, उसके आगे इन्द्र की लक्ष्मी जीर्णतृण तुल्य तुच्छ भासती है ॥ २० ॥ बोध से शोभित विमल स्मृति जिस की नष्ट नहीं होती, यह द्वैतरूप पिशाच भी उसकी अल्प पीड़ा भी नहीं करता है ॥ २१ ॥ क्योंकि जाग्रदादि सब द्वैत उस ज्ञानी को तुर्य (आत्म) स्वरूप ही भासता है, अविद्या नहीं रहती है, इससे शरीरादि द्वैत में रहता हुआ भी वह अद्वैत ही रहता है ॥२२॥ द्वैताद्वैत सिद्धान्त भेद से प्रकट होनेवाले वाक्य समूह रूप विभ्रम से भी अप्रबुद्ध अज्ञ ही रागद्वेष पूर्वक क्रीडा विवाद करते हैं, ज्ञान वृद्ध तो उन्हें हँसते हैं ॥ २३ ॥ ज्ञानियों की जो द्वैताद्वैतविवाद चेष्टा है, सो तो हृदयाकाश की मञ्जरी (पुष्पसमूह) फलप्रदा है, इसके बिना यहाँ शिष्य के हृदय में प्रबोधरूप आकाश का मार्जन नहीं होता है ॥ २४ ॥ इसखे सुहृद होकर विवाद द्वारा भी किया गया, द्वैताद्वैत का विचार, हृदय रूप गृह के अन्दर अविद्या रूप भस्म को हटाने वाली है ॥ २५ ॥ अविद्यारूप भस्म के निवृत्त होने पर तिस ब्रह्मगतचित्त और प्राणेन्द्रिय वाले परस्पर बोध कराते सदा कहते हुए भी तुष्ट होते और रमते हैं ॥ २६ ॥ उन सदा युक्त और प्रीति पूर्वक भजन विचारादि करने वालों को वह ज्ञानयोग होता है कि जिससे परम पद को पाते हैं ॥ २७ ॥ यत्न के भर (अतिशय) बिना यह परम पद कभी नहीं सिद्ध होता है, इससे महान् अभ्यासरूप वृक्ष के फल रूप परम पद को समझो ॥ २८ ॥ विश्राम रहित निराश्रय दीर्घ संसार मार्ग में चिन्मात्रता के निश्चय से जिस ने आत्मा में विश्रान्ति पाई है, वही विजय पाया है ॥ २९ ॥ सदेह और व्यवहारस्थ होते भी उत्तम लोग सुप्त और प्रक्षीण (मुक्त) के समान दीखते हैं, जड़ (मुग्ध)

एतावदेव बोधस्य बोधत्वं यद्वितृष्णता । पाण्डित्यं नाम तन्मौर्ख्यं यत्र नास्ति वितृष्णता ॥ ३१ ॥

यो० वासि० प्र० ६ उ० सं० १९४।३४॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः । ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ ३२ ॥

भगवद्गीता० अ० ४।१६॥

पक्षं संत्यज्य यत्नेन बालस्यापि सुभाषितम् । गृह्णाति धर्मतत्त्वं च व्यवस्यति स पण्डितः ॥ ३३ ॥

मीमांसातर्कवेदान्तशब्दशासनतत्परः । ऊहवान् बोधितुं शक्तस्तत्त्वतः शास्त्रविच्च यः ॥ ३४ ॥

अपि स्थाणुवदासीत शुष्यन् परिगतः क्षुधा । नत्वेवानर्थसम्पन्नां वृत्तिमीहेत पण्डितः ॥३५॥ इत्यभियुक्ताः॥

ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके । अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः ॥ ३६ ॥

भागवत स्कन्द० ११।१६।१४॥

मातृवत्परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्ठवत् । आत्मवत्सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति ॥ ३७ ॥

आपस्तम्ब० अ० १०।११॥

वैद्यं पानरतं नटं कुपठितं स्वाध्यायहीनं द्विजम्, योधं कापुरुषं हयं गतरयं मूर्खं परिव्राजकम् ।

राजानं च कुमन्त्रिभिः परिवृतं देशं च सोपद्रवम् । भार्यां यौवनगर्वितां पररतां मुञ्चन्ति ते पण्डिताः ॥३८॥

सुभाषितरत्ने ॥

धनदारेषु वृद्धेषु दुःखं युक्तं न तुष्टयः । वृद्धायां मोहमायायां कः समाश्वासवानिह ॥ ३९ ॥

यैरेव जायते रागो मूर्खस्याधिकतागतैः । तैरेव भोगैः प्राज्ञस्य विराग उपजायते ॥ ४० ॥

अनागतानां भोगानामवाञ्छनमकृत्रिमम् । आगतानां च संभोग इति पण्डितलक्षणम् ॥ ४१ ॥

इत्यष्टमं पण्डितप्रकरणम् । योगवासिष्ठप्र० ४।४६।४-५-८॥

के समान दीखने पर भी वे जड नहीं रहते हैं ॥ ३० ॥ ज्ञान की यही ज्ञानता है कि जो तृष्णारहितता है, वह पाण्डित्य (ज्ञान) भी मूर्खता रूप है कि जिसमें तृष्णारहितपन नहीं है ॥ ३१ ॥ जिसके सभी सत्कर्म इच्छा संकल्प से रहित होते हैं, ज्ञानाग्नि से दग्धकर्मवाले उसपुरुष को ज्ञानी लोग पण्डित कहते हैं ॥ ३२ ॥ आग्रह को यत्न से त्याग कर बालक के भी सुन्दर वचन को जो ग्रहण करता है, धर्मतत्त्व का निश्चय करता है सो पण्डित है ॥३३॥ मीमांसा, न्याय, वेदान्त, शब्दोपदेश में तत्पर, तर्कवाला, बोध करने में समर्थ यथार्थरूप से शास्त्र ज्ञाता भी जो चाहे भूख से व्याप्त सूखता हुवा भी पाप से सिद्ध जीविका को नहीं चाहता है, सो पण्डित है ॥ ३४-३५ ॥ ब्राह्मणादि में समदृष्टिवाला पण्डित माना गया है ॥ ३६ ॥ माता आदि तुल्य परस्त्री आदि को समझने वाला ही द्रष्टा पण्डित है ॥ ३७ ॥ मद्यप वैद्य, कुविद्यावाला नट, वेदाध्ययन रहित द्विज, कायर योधा, वेगरहित अश्व, मुर्ख संन्यासी, कुमन्त्रियुक्त राजा, उपद्रव सहित देश व्यभिचारिणी स्त्री को त्यागता है सो पण्डित है ॥ ३८ ॥ संसाररूप रोग की वृद्धि के हेतु धन दारा आदि के बढ़ने पर दुःख मानना उचित है, तुष्टि हर्षादि होना मानना उचित नहीं है, क्योंकि मोह के हेतु माया के बढने पर यहाँ समाश्वास (शान्ति) वाला कौन है ? ॥ ३९ ॥ अधिकता (वृद्धि) को आगत (प्राप्त) जिन पदार्थों से भोगों से मूर्ख को राग हर्षादि होता है, उन भोगों से ही विवेकी विद्वान् को विराग होता है ॥४०॥ क्योंकि अनागत (भावी अप्राप्त) भोगों को स्वाभाविक अनिच्छा, और प्राप्त भोग्यों का रागासक्ति विना संभोग (उचित भोजनादि) यही पण्डितों के लक्षण हैं ॥ ४१ ॥ आठवाँ पण्डित प्रकरण समाप्त ।

अथ ज्ञानवान्, ज्ञानबन्धुश्च ॥ ९ ॥

ज्ञानवान् सुखवाँल्लोके ज्ञानवान् मुक्त उच्यते । सैव महोपकर्त्ता च धर्त्ता सर्वस्य सत्पिता ॥ १ ॥
तस्माज्ज्ञानवता भाव्यं न जातु ज्ञानबन्धुना । अज्ञं तस्माद्वरं मन्ये ज्ञानगर्वादिवर्जितम् ॥२॥ उक्तं च ।
ज्ञानिनैव सदा भाव्यं राम ! न ज्ञानबन्धुना । अज्ञातारं वरं मन्ये न पुन र्ज्ञानबन्धुताम् ॥ ३ ॥
व्याचष्टे यः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत् । यतते नत्वनुष्ठाने ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥ ४ ॥
आत्मज्ञानमनासाद्य ज्ञानान्तरलवेन ये । सन्तुष्टाः कष्टचेष्टन्ते ते स्मृता ज्ञानबन्धवः ॥ ५ ॥
कर्मस्पन्देषु नो बोधः फलितो यस्य दृश्यते । बोधशिल्पोपजीवित्वाज्ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥ ६ ॥
अत्राहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्यं, कुर्यादाहारं प्राणसन्धारणार्थम् ।
प्राणाः संधार्यास्तत्त्वजिज्ञासनार्थं, तत्त्वं जिज्ञास्यं येन भूयो न दुःखम् ॥७॥ योगवा० प्र०६उ०स०२१ ॥
ज्ञानेन ज्ञेयनिष्ठत्वाद्योऽचित्तं चित्तमेव च । न बुध्यते कर्मफलं स ज्ञानीत्यभिधीयते ॥ ८ ॥
ज्ञात्वा सम्यगनुज्ञानं दृश्यते येन कर्मसु । निर्वासनात्मकं ज्ञस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते ॥ ९ ॥
अन्तःशीतलतेहासु प्राज्ञै र्यस्यावलोक्यते । अकृत्रिमैकशान्तस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते ॥ १० ॥
योगवा० प्र० ६ उत्तरा० स० २२।१-३॥
ब्रह्मैव पश्यति ब्रह्म नाब्रह्म ब्रह्म पश्यति । सर्गादिनाम्ना प्रथितः स्वभावोऽस्यैव चेदृशः ॥ ११ ॥
योगवा० प्र० ३।२१।३६॥

अथ ज्ञानवान्—ज्ञानी ही लोक में सुखी और मुक्त कहा जाता है, और वही महान् उपकार कर्ता सब का धारण कर्ता सत्य पिता है ॥ १ ॥ तिससे ज्ञानी होना चाहिये, ज्ञानबन्धु नहीं, ज्ञानबन्धु से ज्ञान के अभिमानादि से रहित अज्ञ को श्रेष्ठ मानते हैं ॥ २ ॥ सो कहा है कि हे राम ! ज्ञानी ही सदा होना चाहिये, ज्ञानबन्धु नहीं, अज्ञ को श्रेष्ठ मानते हैं, ज्ञानबन्धुता को नहीं ॥ ३ ॥ जो शिल्पितुल्य भोग के लिये शास्त्र को पढ़ता है, और व्याख्यान करता है, परन्तु आत्मज्ञान के साधनों के अनुष्ठान (संपादन) में यत्न नहीं करता सो ज्ञान के बहाने से सत्कर्मादि का भी त्यागी अनर्थों से स्वपर को बाँधनेवाला ज्ञान बन्धु कहाता है ॥ ४ ॥ आत्मज्ञान को नहीं प्राप्त कर के ज्ञान के लेश मात्र से संतुष्ट होकर जो कष्टचेष्टावाले कर्म करते हैं, सो ज्ञानबन्धु कहे गये हैं ॥ ५ ॥ जिसका शास्त्र जन्य बोध (ज्ञान) कर्मस्पन्द (व्यवहार) में सफल नहीं दीखता है, सो बोधरूप शिल्प की जीविका वाला होने से ज्ञानबन्धु कहाता है ॥ ६ ॥ इसलिये मुमुक्षु को चाहिये कि संसार व्यवहार में आहार के लिये अनिन्दित शुभ कर्म करे, और प्राणों को सम्यग् धारण के लिये आहार करे, और तत्त्वजिज्ञासा-विचारादि के लिये प्राणधारण को योग्य समझे, तत्त्व (सत्यात्मा) इसलिये विचारार्ह है, कि जिस के विचारादि से फिर दुःख नहीं होता है ॥ ७ ॥ आत्मज्ञान से सर्वात्मा सत्यज्ञेय ब्रह्मनिष्ठ होने के कारण जो अचित्त (शब्दादिविषय) चित्त (कामसंकल्पादि) को सत्य नहीं समझता है, तथा प्रारब्धरूप कर्मफल को भोगते हुए भी उसे सत्य नहीं समझता है, सो ज्ञानी कहाता है, ॥ ८ ॥ और 'ज्ञ' (प्रमाता-जीव) के सभी कर्म (विषय-व्यवहार) में जिससे अनुज्ञान (सब ज्ञानों) में (सब वृत्तिरूप ज्ञानों में) निर्वासनात्मक (शुद्ध) ज्ञान सम्यग् जान कर वही सर्वत्र सत्य देखा जाता है, सो ज्ञानी कहाता है ॥ ९ ॥ अकृत्रिम (सत्य) एक आत्मलाभ से ही शान्त जिस के सब व्यवहारों में भी अन्तर्गत शीतलता ज्ञानियों से देखी जाती है, सो ज्ञानी कहाता है ॥ १० ॥ ब्रह्मरूप ही ज्ञानी ब्रह्म

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः । यत्र क्वचनशायी च स सम्राडिव राजति ॥ १२ ॥
वर्णधर्मसमाचारशास्त्रयन्त्रेण योज्झितः । निर्गच्छति जगज्जालात्पञ्जरादिव केशरी ॥ १३ ॥
तनुं त्यजतु वा तीर्थे श्वपचस्य गृहेऽथवा । ज्ञानसम्प्राप्तिसमये मुक्तोऽसौ विगताशयः ॥ १४ ॥
स पूजनीयः स स्तुत्यो नमस्कार्यः स यत्नतः । स निरीक्ष्योऽभिवाद्यश्च विभूतिविभवैषिणा ॥ १५ ॥

न यज्ञतीर्थैर्न तपःप्रदानैरासाद्यते तत्परमं पवित्रम् ।
आसाद्यते क्षीणभवामयानां भक्त्या सतामात्मविदां यदङ्ग ! ॥१६॥ योगवा० प्र० ६। १२२॥
एतावदेव खलु लिङ्गमलिङ्गमूर्त्तेः संशान्तसंसृतिचिरभ्रमनिर्वृतस्य ।
तज्ज्ञस्य यन्मदनकोपविषादमोहलोभापदामनुदिनं निपुणं तनुत्वम् ॥ १७ ॥

शकुन्तानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके । यथा गति र्न दृश्येत तथा ज्ञानविदां गतिः ॥ १८ ॥
सर्वभूतात्मभूतस्य विभो र्भूतहितस्य च । देवापि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥ १९ ॥
महाभा० शान्तिप० अ० २३६॥
अभयं सर्वभूतेभ्यो भूतानामभयं यतः । तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ २० ॥
ज्ञानारामस्य बुद्धस्य सर्वभूताविरोधिनः । नावृत्तिभयमस्तीह परलोकभयं कुतः ॥ २१ ॥
महाभा० शां० अ० १६० ।
ज्ञानवानेव सुखवान् ज्ञानवानेव जीवति । ज्ञानवानेव बलवांस्तस्माज्ज्ञानमयो भव ॥ २२ ॥

को जानता है, तथा ब्रह्म स्वयं प्रकाश स्वरूप है, इससे ब्रह्म से भिन्न ब्रह्म को नहीं जानता है, और इस ब्रह्म का ऐसा स्वभाव (सत्ता-माया) ही सर्गादि नाम से प्रसिद्ध है ॥ ११ ॥ जिस किसी से वस्त्राच्छादित भोजित जहाँ कहीं सोने वाला वह ज्ञानी योगी स्वतन्त्र राजा के समान शोभता है ॥ १२ ॥ वर्णधर्म के सम्यगाचरण विषयक शास्त्र के नियमों से जो रहित है, सो जगत् के जाल वासना कामादि से पिंजरा से सिंह के समान निकलता है ॥ १३ ॥ वह ज्ञानी तीर्थादि में कहीं भी शरीर को त्यागे परन्तु उस त्याग से पहले ही वासना रहित होने से वह ज्ञान की प्राप्ति काल में ही मुक्त हो चुका है ॥ १४ ॥ ऐश्वर्य धन चाहने वालों से भी वह ज्ञानी यत्नपूर्वक ही पूजा स्तुति आदि के योग्य है ॥१५॥ और हे अङ्ग ! (प्यारे !) संसार रोगों से रहित आत्मज्ञानी सत्पुरुष की भक्ति से जो पवित्र परम पद प्राप्त होता है सो यज्ञतीर्थ तप दान से नहीं प्राप्त होता है ॥ १६ ॥ संशान्त (निवृत्त) संसार के अनादि भ्रम से निर्वृत (विश्रान्त सुखी) निश्चिह्न ब्रह्मस्वरूप ज्ञानी का इतना ही चिह्न है कि जो प्रतिदिन कामादिरूप आपत्तियों का निपुण (अत्यन्त) तनुता (नाश) होना है॥ १७ ॥ पक्षियों की जैसे आकाश में गति होती है, मछलियों की जल में जैसे गति होती है, परन्तु मार्ग का चिह्न जैसे नहीं दीखता हैं, तैसे ज्ञान स्वरूप ब्रह्म के ज्ञानी की ब्रह्मप्राप्ति रूप गति वा उसके मार्ग नहीं दीखते हैं ॥ १८ ॥ इसीसे सब के अन्तरात्मा रूप, विभु, सबके हित, अपद (मार्ग रहित) ब्रह्म पद (वस्तु) सत्य स्वरूप को अन्वेषणेच्छुक के मार्ग में देव भी मोहित होते हैं, क्योंकि उसका मार्ग ही नहीं है ॥ १९ ॥ जिसको सब प्राणी से भय नहीं होता, न जिससे प्राणी को भय होता है, देह से विमुक्त उस ज्ञानी को फिर किसी से भी भय नहीं है ॥ २० ॥ ज्ञान स्वरूप में आराम वाले सर्वप्राणियों के अविरोधी ज्ञानी को यहाँ पुनरावृत्ति का भय नहीं है, तो परलोक का भय भी किससे हो ? ॥ २१ ॥ इससे भय रहित ज्ञानी ही सुखी सफल जीवी बलवान् हैं, तिससे ज्ञानी होवो ॥ २२ ॥

विचारेण परिज्ञातस्वभावस्य महामतेः। अनुकम्प्या भवन्त्येते ब्रह्मविष्णिवन्द्रशङ्कराः ॥ २३ ॥

योगवाशि० प्र० ५।६२।४६। प्र० ३।६।१६॥

य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳसर्वं भवति तस्य न देवाश्च नाभूत्या ईशते-आत्मा ह्येषां स भवति॥२४॥

बृहदा० अ० १।४।१०॥

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः। नचास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥ २५ ॥

उत्तरगीता अ० १।२३॥ शिवधर्मोत्तरे च॥

यथा वह्नि र्महान् दीप्तः शुष्कमार्द्रं च निर्दहेत्। तथा शुभाशुभं कर्म ज्ञानाग्निर्दहते क्षणात् ॥ २६ ॥

पद्मपत्रं यथा तोयैः स्वस्थैरपि न लिप्यते। शब्दादिविषयाम्भोभिस्तद्वज्ज्ञानी न लिप्यते ॥ २७ ॥

मन्त्रौषधिबलैर्यद्वज्जीर्यते भक्षितं विषम्। तद्वत्सर्वाणि पापानि जीर्यन्ते ज्ञानिनः क्षणात् ॥ २८ ॥

शिवधर्मोत्तरे।

अव्यक्तादिविशेषान्ते विकारेऽस्मिन् निवर्त्तिते। चेतनाचेतनं ज्ञात्वा ज्ञाने ज्ञानी स उच्यते ॥ २९ ॥

मत्स्यपु० अ० १४५।५५॥

तीर्त्वा मोहार्णवं हत्वा रागद्वेषादिराक्षसान्। योगी शान्तिसमायुक्तो ह्यात्मारामो विराजते ॥ ३० ॥

यल्लाभान्नापरं लाभो यत्सुखान्नापरं सुखम्। यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥३१॥ आत्मबोधे॥

न तेन स्थविरो भवति येनास्य पलितं शिरः। बालोऽपि यः प्रजानाति तं देवाः स्थविरं विदुः ॥३२॥

महाभा० वनप० अ० १३३।११॥

विचार से परिज्ञात है जिन्हें स्वकीय नित्य सत्य स्वरूप, उन महाबुद्धि वाले ज्ञानियों की कृपा के पात्र ये ब्रह्मा आदि भी होते हैं ॥ २३ ॥ और जो ऐसा जानता है, कि मैं ब्रह्म हूँ, सो इस सब संसार रूप (सब का आत्मा) हो जाता है, उसकी अभूति (विभूति में विघ्न) के लिये देव सब भी समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह ज्ञानी देव सब का भी आत्मा परमप्रिय हो जाता है ॥ २४ ॥ ज्ञान स्वरूपता की प्राप्ति से कृतार्थ मुक्त ज्ञानी को कुछ कर्तव्य नहीं है, जिस को कर्तव्य है वह ज्ञानी नहीं है ॥ २५ ॥ जैसे महान् ज्वलित अग्नि कच्चे सूखे सब को जलाती है, तैसे ही ज्ञानाग्नि शुभाशुभ सब कर्म को क्षण में जलाती है ॥ २६ ॥ और कमलपत्र जैसे अपने में स्थिर जल से भी लिप्त नहीं होता है, तैसे ही शब्दादि विषयरूप जल से ज्ञानी लिप्त नहीं होता है ॥ २७ ॥ मन्त्रौषधि के बल से जैसे खाया गया विष पच जाता है, तैसे ज्ञानी के सब पाप ज्ञान से क्षण में नष्ट होते हैं ॥ २८ ॥ चेतन और अचेतन को विवेक पूर्वक जान कर स्थिर ज्ञानी को अव्यक्तादि अविशेष (घोरादि भेदरहित) और विशेषपर्यन्त वस्तुरूप इस विकारी वस्तु के अपरोक्ष ज्ञान होने पर उस ज्ञान से निवर्तित (नष्ट) होने पर वह ज्ञानी कहा जाता है ॥ २९ ॥ वह ज्ञानी मोहसमुद्र को तर कर रागद्वेषादिरूप राक्षसों को मार कर शान्ति से संयुक्त आत्माराम योगी होकर विराजता है ॥ ३० ॥ इस लिये जिस ब्रह्म के लाभ से बढ़ कर अन्य लाभ नहीं है, जिस सुख स्वरूप से अन्य सुख नहीं है, जिसके ज्ञान स्वरूप से अन्य ज्ञान नहीं है वही ब्रह्म है ऐसा निश्चय करे ॥ ३१ ॥ उस जीर्णत्व से यह मनुष्य वृद्ध नहीं होता है कि जिससे इसका शिर उजला केशवाला हो गया है, किन्तु बालक होता हुवा भी जो ज्ञानी है, उसको देव वृद्ध समझते हैं ॥ ३२ ॥

शिशु वैं अङ्गिरसः मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत्, (स अध्यापयन्) पितॄन् पुत्रका इत्यामन्त्रयत् । तं पितरोऽब्रुवन्नधर्मं करोषि यो नः पितॄन् सतः पुत्रका इत्यामन्त्रयसे ॥ सोऽब्रवीदहं वाव पिता यो मन्त्रकृदस्मि इति ॥ ते देवेषु अपृच्छन्त, ते देवा अब्रुवन्नेष वाव पिता यो मन्त्रकृदिति, तद्वै स उदजयत् ॥ ३३ ॥ ताण्ड्य ब्रा० १३।३।२४॥

विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः । न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ॥ शतपथब्रा० १०।५।४।१६॥

अन्या जगद्धितमयी मनसः प्रवृत्तिरन्यैव कापि रचना वचनावलीनाम् ।
लोकोत्तरा च कृतिराकृतिरार्यहृद्या विद्यावतां सकलमेवगिरां दवीयः ॥३४॥ भामिनीविलासे ॥

गुणातीतः स पुरुषः परमात्मा सनातनः । यस्तं वेद महात्मानं सर्वं वेद स मोक्षवित् ॥ ३५ ॥

किं तेषां सकलैस्तीर्थैराश्रमै र्वा प्रयोजनम् । येषां चानन्तकं चित्तमात्मन्येव व्यवस्थितम् ॥ ३६ ॥

आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था सत्योदका शीलशमादियुक्ता ।
तस्यां स्नातः पुण्यकर्मा पुनाति न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥ ३७ ॥
एतत्प्रधानं पुरुषस्य कर्म यदात्मसंबोधमुखे प्रविष्टम् ।
ज्ञेयं तदेव प्रवदन्ति सन्तस्तत्प्राप्य देही विजहाति कामान् ॥३८॥ वामनपु० अ० ४३।२३। इत्यादि ॥

इति नवमं ज्ञानवज्ज्ञानबन्धु प्रकरणम् ।

अंगिरा का बालक मन्त्र श्रोताओं का मन्त्रोपदेशक हुवा, वह पढ़ाता हुवा पितृओं को भी पुत्र शब्द से बुलाया, पितृलोग उससे बोले कि जो तुम हम पितरों को पुत्र कह कर पुकारते हो, सो अधर्म करते हो, वह बालक बोला कि मैं ही पिता हूँ जो मन्त्रोपदेश करता हूँ । पितृलोगों ने देवसभा में पूछा, तो वे देव भी बोले कि यह मन्त्रोपदेशक ही पिता है, तिससे वह विजय पाया ॥ ३३ ॥ जिस स्वरूप में प्राप्त होने से सब काम (इच्छा) निवृत्त होते हैं पूर्ण होते हैं, उस में विद्या से ज्ञानी ही प्राप्त होते हैं, दक्षिणा देनेवाले कर्मठ वा अज्ञ तपस्वी नहीं प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥ विद्वानों के सब व्यवहारादि वाणी के अविषय होते हैं, क्योंकि जगत् के हितमयी मन की प्रवृत्ति, वचन समूह की कोई विलक्षण रचना, लोक से उत्तम कृति (क्रिया) और आर्य लोगों के हृदय की प्रिय आकृति ये सब ही ज्ञानी के अन्य (असदृश) ही होते हैं, सब से विलक्षण होते हैं ॥३५॥ सनातन (नित्य अनादि वह परमात्मा रूप पुरुष तीन गुणों से पर है, तिस महात्मा (विभु) परमात्मा को जो जानता है, सो सब को जानता है, और मोक्ष को जानता है पाता है ॥ ३५ ॥ जिसका नाश विघ्नादि रहित चित्त आत्मा में ही विशेष रूप से स्थिर है, उसको सब तीर्थ वा आश्रमों से भी क्या प्रयोजन है ? वह कृत कृत्य है ॥ ३६ ॥ संयमरूप पवित्र तीर्थ (मार्ग क्षेत्र) वाली, सत्यरूप जल वाली शील शमादि सहित जो आत्मस्वरूप नदी है, उस में स्नात (उसके विवेकी ज्ञानी) ही अन्य को भी पवित्र मुक्त करता है केवल जल से अन्तरात्मा (मन) नहीं शुद्ध होता है ॥ ३७ ॥ यही पुरुष का मुख्य कर्म है कि जो कर्म आत्म संबोधमुख (आत्मज्ञानादि) में प्रविष्ट है, आत्मविवेक विज्ञानादि का हेतु है, और सन्त लोग उस ब्रह्म तथा उसके ज्ञान को ही ज्ञेय (जानने योग्य प्राप्य) कहते हैं, कि जिसको प्राप्त करके प्राणी सब कामों को त्याग देती है ॥ ३८ ॥ नवाँ ज्ञानवज्ज्ञानबन्धु प्रकरण समाप्त ।

अथ कालः ॥ १० ॥

कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत । काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वितिष्ठते ॥ १ ॥
कालो ह भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः । काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षु र्विपश्यति ॥ २ ॥
काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम् । कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥ ३ ॥
अथर्ववेद का० १९ ६।८५-७॥

पुरन्दरसहस्राणि चक्रवर्तिशतानि च । निर्वापितानि कालेन प्रदीपा इव वायुना ॥ ४ ॥
पद्मपु० उत्तर खं० अ० २३६।६१॥

महाविद्योऽल्पविद्यश्च बलवान् दुर्बलश्च यः । दर्शनीयो विरूपश्च सुभगो दुर्भगश्च यः ॥ ५ ॥
सर्वं कालः समादत्ते गम्भीरः स्वेन तेजसा । तस्मिन् कालवशं प्राप्ते का व्यथा मे विजानतः ॥ ६ ॥
महाभा० शान्तिप० अ० २२४।१८-१९॥

नाकाले म्रियते जन्तुर्विद्धः शरशतैरपि । तृणाग्रेण सुसंस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति ॥ ७ ॥
न कालस्य प्रियः कश्चिद् द्वेष्यश्चास्य न विद्यते । आयुष्ये कर्मणि क्षीणे प्रसह्य हरते जनम् ॥ ८ ॥
विष्णुस्मृ० अ० २० ॥

कालः पचति भूतानि कालः संहरते तथा । कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ९ ॥
महाभा० स्त्रीप० २।२४ ॥

न मन्त्रो न तपो दानं न मित्राणि न बान्धवाः । शक्नुवन्ति परित्रातुं नरं कालेन पीडितम् ॥ १० ॥
पद्मपु० भूमिख० ८१।३३ ॥

किं श्रिया किं च राज्येन किं कामेन किमीहितैः । दिनैः कतिपयैरेव कालः सर्वं निकृन्तति ॥ ११ ॥
योगवा० प्र० १।१८।३७ ॥

अथ काल—सब का प्रेरक उपदेशक साधकादि स्वरूप परमात्मा रूप काल ने ही दूरवर्ती उस स्वर्ग को और प्रत्यक्ष अनेक खण्डादियुक्त इस भूमि को भी उत्पन्न किया है, भूत (स्वयं सिद्ध) काल में ही भव्य (भविष्यत्) और वर्तमान भी इष्ट वस्तु आश्रित रहती है ॥ १ ॥ काल ही भूति (होने वाले जगत्) को सिरजा है, प्रेरक काल के रहते ही सूर्य प्रकाशते हैं, काल में ही सब भूत स्थिर हैं, तथा काल में ही चक्षुः (नेत्रादि) इन्द्रियों द्वारा नेत्रादिवाला दर्शनादि करता है ॥ २ ॥ काल ही में समष्टि व्यष्टि मन प्राण हैं, तथा सब नाम भी उसी में स्थिर हैं, विशेष काल के ही आने से सब प्रजा सुखी होती है ॥ ३ ॥ वायु से दीप के समान काल से ही अनन्त इन्द्र और चक्रवर्ती भी नष्ट किये गये हैं ॥ ४ ॥ इन्द्र द्वारा वामन से पराजित बलि इन्द्र से कहता है कि गम्भीर काल अपने तेज से महाविद्वानादि सब को ग्रहण करता है, तिस काल के वश में प्राप्त होने पर मुझ ज्ञानी को व्यथा (दुःख) क्या है ? ॥ ५-६ ॥ अकाल (काल विना) सैकड़ों शर से वेधित प्राणी भी नहीं मरता है, प्राप्त काल होने पर तृण के अग्र भाग से स्पर्श युक्त होने पर भी नहीं जीता है ॥ ७ ॥ इस काल का प्रिय वा द्वेषी कोई नहीं है, किन्तु आयु के हेतु कर्म के नष्ट होने पर वह हठ से जन को नष्ट करता है ॥ ८ ॥ काल ही प्राणी को पकाता (वृद्धादि करता) है, तथा संहार (नाश) करता है, सब के सोने पर भी काल जागता है सो दुर्निवार है ॥ ९ ॥ उस काल से पीडित नर की रक्षा के लिये मन्त्रादि कोई भी समर्थ नहीं हैं ॥ १० ॥ फिर लक्ष्मी राज्यादि से क्या फल है ? कैक दिनों में इन सब को भी काल नष्ट ही करता है ॥ ११ ॥

यस्य वा मृत्युना सख्यं यो वा स्यादजरामरः । तस्येदं युज्यते वक्तुमिदं मे श्वो भविष्यति ॥१२॥

स्कन्दपु० खं० १-२ अ० १२।१८ ॥

यथा व्यालगलस्थोऽपि भेको दंशानपेक्षते । तथा कालाहिना ग्रस्तो लोको भोगानशाश्वतान् ॥ १३ ॥

अध्यात्मरा० अ० कां० स० ४।२१ ॥

कालः पचति भूतानि सर्वाण्येवात्मनात्मनि । यस्मिंस्तु पच्यते कालस्तं वेदेह न कश्चन ॥ १४ ॥

महाभा० शान्तिप० अ० २३६ ॥२५॥

कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः । सर्वे कालस्य वशगा न कालः कस्यचिद्वशे ॥ १५ ॥

कूर्मपु० उत्तरार्द्ध अ० ३।१६ ॥

यन्मुहुर्त्तः प्रजेशस्य स मनो र्जीवितं मुने ! । जीवितं यद्विरिश्चस्य तद्दिनं किल चक्रिणः ॥ १६ ॥

विष्णोर्यज्जीवितं राम ! तद्वृषाङ्कस्य वासरः । ध्यानप्रक्षीणचित्तस्य न दिनानि न रात्रयः ॥ १७ ॥

योगवासि० प्र० ३।६०।२५-२६ ॥

संसारावलयो ग्रस्ता निगीर्णा रुद्रकोटयः । भुक्तानि विष्णुवृन्दानि क्व न शक्ता वयं मुने ! ॥ १८ ॥

स्वयमेवोर्ध्वं प्रयात्यग्निः स्वयं यान्ति पयांस्यधः । भोक्तारं भोजनं याति सृष्टिं चाप्यन्तकः स्वयम् ॥१९॥

नेह कर्त्ता न भोक्ताऽस्ति दृष्टया नष्टकलङ्कया । बहवश्चेह कर्त्तारो दृष्टयाऽनष्टकलङ्कया ॥ २० ॥

यो० वा० प्र० ४।१०।२७-२६-३१। भृगुं प्रति कालोक्तिः ॥

इति दशमं काल प्रकरणम् ।

जिसको मृत्यु (काल) से मित्रता हो, वा जो अजर अमर हो, उसी का यह कहना भी युक्त उचित होगा कि यह मेरी वस्तु अगले दिनों में रहेगी ॥ १२ ॥ आश्चर्य है कि जैसे सांप के गले में स्थित मण्डूक दंश की इच्छा करता है, तैसे कालरूप सर्प से ग्रस्त प्राणी अनित्य भोगों की इच्छा करता है ॥ १३ ॥ काल के वशवर्ती भोगेच्छु जीव रूप काल पंचभूतमय सब भोगों को मन से अपने में पकाता है, जीर्ण लीन करता है, और जिस परमात्मा में वह काल (जीव) जीर्ण होता पचता है, जिसे जान कर मुक्त होता है, उसको यहाँ कोई अविवेकी नहीं समझता है ॥ १४ ॥ 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः' [भ० गी० अ० ११।३२] इत्यादि वचनों के अनुसार सर्वात्मा ईश्वर स्वरूप काल ही सब प्रजा की सृष्टि और संहार (प्रलय) करता है, इससे सब चराचर काल के वशवर्त्ती हैं, परन्तु काल किसी के वश में नहीं है ॥ १५ ॥ हे मुने ! ब्रह्मा की दो घड़ी मनु का जीवन (आयु) होता है, और ब्रह्मा का जीवन विष्णु का एक दिन होता है, हे राम ! विष्णु का जीवन शिव का एक दिन होता है, यह चित्त से कल्पित भेद है, और ध्यान से नष्ट चित्त वाले के लिये दिन रात्रि का भेद नहीं रहता है ॥ १६-१७ ॥ हे मुने ! (भृगो !) मुझ (काल) से अनेक संसार (सृष्टि) की पंक्ति (परंपरा) निगली गई है । करोड़ों रुद्र निगीर्ण (ग्रस्त) हुए हैं, विष्णु के अनेक वृन्द (संघ) खाये गये हैं, इससे हम किस काम में समर्थ नहीं हैं ? ॥ १८ ॥ जैसे स्वभाव से ही अग्नि की ज्वाला ऊपर जाती है, पानी नीचे जाता है, भोक्ता को भोजन प्राप्त होता है, तैसे काल भी स्वयं (स्वभाव से) सृष्टि को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ दोष रहित दृष्टि से देखने पर इस संसार में सत्य कर्त्ता और भोक्ता कालादि सत्य नहीं है, परन्तु दोष सहित दृष्टि से देखने पर यहाँ बहुत कर्त्ता (कालादि) हैं ॥ २० ॥

दसवाँ काल प्रकरण समाप्त ।

अथोदारः ॥ ११ ॥

उदारो ज्ञानवान् दाता महान् सरल उच्यते । सर्वहितो हि यत्नेन कृपणाज्ञसुखप्रदः ॥ १ ॥ यतः—
अयं बन्धुरयं नेति गणना लघुचेतसाम् । उदारचरितानां तु विगतावरणैव धीः ॥ २ ॥
न तदस्ति न यत्राऽहं न तदस्ति न यन्मम । इति निर्णीय धीराणां विगतावरणैव धीः ॥ ३ ॥
सर्वा एव हि ते भूतजातयो राम ! बन्धवः । अत्यन्तासंयुता एतास्तव राम ! न काश्चन ॥ ४ ॥
विविधजन्मशताहितसंभ्रमे, जगति बन्धुरबन्धुरितीक्षणम् ।
भ्रमदशैव विवल्गति वस्तुतस्त्रिभुवनं चिरबन्धुरबन्ध्वपि ॥ ५ ॥ योगवा० प्र० ५।१८।६१-६५ ॥
दाता नीचोऽपि सेव्यः स्यान्निष्फलो न महानपि । जलार्थी वारिधिं त्यक्त्वा पश्य कूपं निषेवते ६ सुभा०र०॥
याचितो यः प्रहृष्येत दत्त्वा च प्रीतिमान् भवेत् । तं दृष्ट्वाऽप्यथवा श्रुत्वा नरः पुण्यमवाप्नुयात् ७ भोजप्रबन्धे७१॥
शतेषु जायते शूरः सहस्रेषु च पण्डितः । वक्ता दश सहस्रेषु दाता भवति वा न वा ॥ ८ ॥
व्यासससंहिता अ० ४।५८ ॥
कर्णस्त्वचं शिबिर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः । ददौ दधीचिरस्थीनि नास्त्यदेयं महात्मनाम् ॥ ९ ॥
अयं बन्धुरयं नेति गणना लघुचेतसाम् । उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ १० ॥
इत्येकादेशोदारप्रकरणम् । महोपनिष० अ० ६।७१॥

अथ उदार—'उद् (ब्रह्म) में प्राप्त ज्ञानी सब का हित महापुरुष, और दाता, तथा सरल (निष्कपट शुद्ध) को उदार कहा जाता है, जो कि प्रयत्न से कृपण और अज्ञ को दान ज्ञानादि से पक्षपात विना सुख देते हैं ॥ १ ॥ क्योंकि यह मेरा बन्धु है, यह नहीं है, ऐसी बुद्धि वा विचारादि छोटे चित्तवालों में होती है, महानचरित वालों की बुद्धि तो भेदभावादि रूप आवरण से रहित ही होती है ॥ २ ॥ वह वस्तु वा स्थान नहीं है कि जहाँ सर्वात्मा रूप मैं नहीं हूँ, वह वस्तु भी नहीं है कि जो मेरी नहीं है । ऐसा निर्णय (निश्चय) करके धीर (ज्ञानी) की बुद्धि आवरण रहित ही रहती है ॥ ३ ॥ हे राम ! सब भूतों की जातियाँ तेरे बन्धु हैं, ये कोई भी तुझ से अत्यन्त असंयुक्त नहीं है, अनादि संसार में सभी कभी के बन्धु ही हैं ॥ ४ ॥ विविध जन्मों के सैकड़ों भेद से जिसमें संभ्रम स्थापित हैं, ऐसा इस जगत् में यह बन्धु है यह अबन्धु है, इस प्रकार का दर्शन भ्रमदशा ही रूप विस्तार है, वस्तुतः तो जीव भाव से सब बन्धु हैं, आत्मदृष्टि से अबन्धु (स्वस्वरूप) हैं ॥ ५ ॥ नीच भी दाता सेवनीय होता है, निष्फल (दानादि रहित) महान् भी सेव्य नहीं होता, देखो कि जलेच्छुक अपेय जल वाले समुद्र को छोड कर कूप को सेवता है ॥ ६ ॥ जो धनी दाता मांगने पर खुशी होता है, और दान देकर भिक्षुक से प्रीतिवाला होता है, उस दाता को देख कर वा सुन कर साधारण मनुष्य पुण्य को प्राप्त करता है, जैसे कि सुदामा के प्रति दाता श्रीकृष्ण के दर्शन श्रवण से पुण्य पाता है ॥ ७ ॥ सैकड़ों में कोई शूर होता है, हजारों में पण्डित होता है, दश हजार में कोई सत्य वक्ता होता है, कृष्णदेवादि के समान दाता तो कभी संसार में होता है, कभी नहीं भी होता है ॥८॥ सर्वथा ही नहीं होता, यह बात नहीं है क्योंकि कर्ण ने अपने त्वग्रूप स्वभाव सिद्ध कवच को भी दे दिया, शिवि नामक राजा ने अपने मांस को बाज़ को दिया, जीमूतवाहन ने प्राण दिये, और दधीचि ने हाँड दिये इससे महात्मा के लिये कुछ भी अदेय नहीं है ॥ ९ ॥ यह बन्धु है, यह नहीं ऐसा विचार अल्पज्ञ कृपणों का होता है, उदार चरित्र वाले दाताओं के लिये भूमि निवासी सब कुटुम्ब हैं ॥ १० ॥ ग्यारहवाँ उदार प्रकरण समाप्त ॥

अथ मित्रम् ॥ १२ ॥

सन्मित्रं मित्र एवोक्तः सदर्थस्य प्रकाशकः । शिक्षकः समये नित्यमुदित एव हर्षदः ॥ १ ॥ यतः
मित्रवान् साधयत्यर्थान् दुःसाध्यानपि वै यतः । तस्मान्मित्राणि कुर्वीत समानान्येव चात्मनः ॥ २ ॥
पञ्चतं० मित्रसंप्रा० ४२६॥
आपन्नाशाय विबुधैः कर्तव्याः सुहृदोऽमलाः । न तरत्यापदं कश्चिद्योऽत्र मित्रविवर्जितः ॥३॥ पं० मि०५१९॥
कराविव शरीरस्य नेत्रयोरिव पक्ष्मणी । अविचार्य प्रियं कुर्यात् तन्मित्रं मित्रमुच्यते ॥४॥ सुभाषितरत्ने॥
स्वाभाविकं तु यन्मित्रं भाग्येनैवाभिजायते । तदकृत्रिमसौहार्दमापत्स्वपि न मुञ्चति ॥५॥ हितोपदेशे ॥
न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चात्मनि । विश्वासस्तादृशः पुंसां यादृङ् मित्रे स्वभावजे ॥ ६ ॥
गरुडपु० आचारखं० अ० ११४।४॥
तदेवास्य परं मित्रं यत्र संक्रामति द्वयम् । दृष्टे सुखं च दुःखं च प्रतिच्छायेव दर्पणे ॥ ७ ॥
भोजन प्रबन्धे ।१४६॥
आर्त्तिरार्त्ते प्रिये प्रीतिरेतावन्मित्रलक्षणम् । विपरीतं तु वोद्धव्यमरिलक्षणमेव तत् ॥ ८ ॥
महाभा० शां० प० अ० १०३।५०॥
यस्तु वृद्ध्या न तृप्येत क्षये दीनतरो भवेत् । एतदुत्तममित्रस्य निमित्तमिति चक्षते ॥ ९ ॥
व्यसनान्नित्यभीतो यः समृद्ध्या यो न तुष्यति । यत्स्यादेवं विधं मित्रं तदात्मसममुच्यते ॥ १० ॥
महाभा० शान्तिप० अ० ८०।१६-२०॥
मित्रद्रोहो न कर्तव्यः पुरुषेण विशेषतः । मित्रध्रुङ्नरकं घोरमनन्तं प्रतिपद्यते ॥ ११ ॥

अथ मित्र—सच्चा मित्र वस्तुतः मित्र (सूर्य) स्वरूप ही कहा गया है, जो कि सत्य अर्थ का प्रकाशक समय में सदा उदित (प्रकट) हो कर हर्षदाता ही होता है ॥ १ ॥ जिससे मित्रवाला दुःख से साध्य अर्थ को सुगमता से सिद्ध करता है, इसलिये स्वभावादि से अपने समान मित्र करे ॥ २ ॥ आपत्ति के नाश के लिये विद्वानों को भी पवित्र मित्र कर्तव्य हैं, क्योंकि जो कोई मित्र रहित है, सो आपत्ति रहित नहीं होता है ॥ ३ ॥ और देह की रक्षा हाथों से, नेत्रों की रक्षा पलकों से जैसे स्वाभाविक की जाती है, तैसे बिना विचारे प्रिय करे सोई मित्र कहाता है ॥ ४ ॥ परन्तु जो वैसा मित्र भाग्य से मिलता है, सो स्वाभाविक मित्रता को आपत्ति में भी नहीं त्यागता हैं ॥ ५ ॥ माता आदि में भी वह विश्वास नहीं होता, जो कि स्वाभाविक मित्र में होता है ॥ ६ ॥ दर्पण में प्रतिविम्ब के समान जिस मित्र में अपना सुख दुःख दर्शन मात्र से प्राप्त हो, वही इसका परम मित्र है ॥ ७ ॥ दुःखी रहते जिसमें दुःख हो प्रिय रहते प्रीति हो, यही मित्र का लक्षण है, इससे विपरीत तो शत्रु का ही लक्षण जानने योग्य है ॥ ८ ॥ जो मित्र मित्र की वृद्धि में तृप्त नहीं हो अतिवृद्धि चाहे, और क्षय में अति दीन हो, यह उत्तम मित्र का निमित्त (लक्षण) कहते हैं । वृद्धि में अतुष्ट और क्षय में अदीन शत्रु होता है ॥ ९ ॥ जो व्यसन (विपत् कामादिजन्य दोष) से सदा भीत (डरा) रहे, समृद्धि से तुष्ट नहीं हो (अधिक चाहे) जो इस प्रकार का मित्र होता है, सो आत्मसम कहा जाता है ॥ १० ॥ पुरुष को विशेष करके मित्र के साथ द्रोह (विरोध) नहीं करना चाहिये, मित्र का अपकार नहीं करना चाहिये, क्योंकि मित्र का द्रोही भयानक अनन्त नरक

कृतज्ञेन सदा भाव्यं मित्रकामेन चैव हि । मित्राच्च लभते सर्वं मित्रात्पूजां लभेत च ॥ १२ ॥
मित्राद् भोगांश्च भुञ्जीत मित्रेणापत्सु मुच्यते । सत्कारैरुत्तमै र्मित्रं पूजयेत विचक्षणः ॥ १३ ॥
महाभा० शां० प० अ० १७३।२१-२३॥

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा । निष्कृति र्विहिता राजन् ! कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥१४॥
मित्रद्रोही कृतघ्नश्च नृशंसश्च नराधमः । क्रव्यादैः कृमिभिश्चैव न भुज्यन्ते हि तादृशाः ॥१५॥
महाभा० शां० प० अ० १७२।२५-२६॥

इति द्वादश मित्रप्रकरणम् ।

इति श्रीतत्त्वार्थमणिमालायां स्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्रिसंगृहीतायां
प्रथमं पूज्यकाण्डं समाप्तम् ।



में प्राप्त होता है ॥ ११ ॥ सदा कृतज्ञ (प्रत्युपकारक) होना चाहिये, और मित्र की इच्छा वाला होना चाहिये, क्योंकि मित्र से सब वस्तु को पाता है, और पूजा सत्कार पाता है ॥ १२ ॥ मित्र से भोगों को भोगता है, मित्र से आपत्ति में मुक्त होता है, आपत्ति से छूटता है, इससे उत्तम सत्कार द्वारा विचक्षण (विद्वान्) मित्र को पूजे ॥ सर्वात्मा ईश्वर परम मित्र है, इस पूजा विधि से ईश्वर गुरु आदि की पूजा भी समझना चाहिये ॥ १३ ॥ ब्रह्मघाती, मद्यप, चोर व्रतत्यागी, हे राजन् ! इन सब के दोषों की निष्कृति (निवृत्ति का उपाय) है, उन सब के लिये प्रायश्चित विहित है, परन्तु कृतघ्न होने पर निष्कृति नहीं है ॥ १४ ॥ मित्र के द्रोही, कृतघ्न, और क्रूर नराधम, ऐसे लोग मरने पर भी क्रव्याद (अपक्वमांसाशी) गीदरादि से और कीड़ों से भी नहीं खाये जाते है ॥ १५ ॥ बारहवाँ मित्र प्रकरण समाप्त ।

स्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्रिसंगृहीततत्त्वार्थमणिमाला में
प्रथम पूज्यकाण्ड समाप्त हुआ ।



ओम् नमः सच्चिदानन्दाय

अथ द्वितीयं वर्णाश्रमतद्धर्माधर्मादिकाण्डम्

तत्र च प्रथमं विप्रतद्धर्मप्रकरणम्

सत्यसन्धं[1] जगन्मित्रमसक्तं सत्सुहृद्धितम् । सुवृत्तं शीलसम्पन्नं विप्रं योगप्रियं नुमः ॥ १ ॥
येन पूर्णमिवाकाशं भवत्येकेन सर्वदा । शून्यं येन समाकीर्णं[2] तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ २ ॥
अहेरिव गणाद् भीतः सुहृदो[3] नरकादिव । कुणपादिव नारीभ्यस्तं[4] देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३ ॥
न हृष्येत[5] विषीदेत मानितोऽमानितस्तथा । सर्वभूतेष्वभयदस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ४ ॥
पद्मपु० खं० १।१५।३६५-६७ ॥ ब्रह्मोक्तिः ॥

अनुत्तरीयवसनमनुपस्तीर्यशायिनम् । बाहूपधायिनं शान्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ५ ॥
महाभा० शां० प० अ० २६६।३० ॥

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः । यत्र क्वचन शायी स्यात्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ६ ॥
कन्थाकौपीनवासा यो दण्डधृग् ध्यानतत्परः । एकाकी रमते नित्यं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ७ ॥
जन्मना यस्तु निर्विण्णो मरणेन तथैव च । आधिभि र्व्याधिभिश्चैव तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ८ ॥
अहेरिव गणाद्भीतः सम्मानान्मरणादिव । कुणपादिव यः स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ९ ॥
श्रद्धा ध्यानं तपः शौचं वित्तं यस्य चतुष्टयम् । स्मरणं चाद्वितीयस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ १० ॥

अथ द्वितीय वर्णाश्रमतद्धर्माधर्मादि द्वितीय काण्ड—

विप्र और विप्रधर्म—सच्ची सन्धा (प्रतिज्ञा मर्यादा) वाले, जगत के मित्र, सत्पुरुष के सुहृद् सबके हित, सुन्दर चरित्रवाले, शीलयुक्त योग प्रिय विप्र को नमस्कार करते हैं ॥ १ ॥ जिस एक से ही आकाश पूर्ण व्याप्त के समान होता है, और शून्यस्थान जनों से व्याप्त के तुल्य शोभता है, उस सर्वात्ममय को देव ब्राह्मण समझते हैं ॥ २ ॥ जो जनसंघ से सर्प से जैसे लोग डरते हैं, तैसे डरते हैं, सुहृद् से नरक से जैसे डरा जाय तैसे आसक्ति जानकर डरते हैं, मृतक देह तुल्य स्त्री से डरते हैं, उनको देव सब ब्राह्मण समझते हैं ॥३॥ मान अवमान पाने पर जो हर्ष विषाद नहीं करते उन्हें देव सब ब्राह्मण जानते हैं ॥४॥ कौपीनमात्रधारी उत्तरीय ओढने के वस्त्र से रहित, बिछौना से रहित भूमि में सोनेवाले, बाहुरूप तकिया युक्त शान्त को देव ब्राह्मण जानते हैं ॥ ५ ॥ जिस किसी से वस्त्र द्वारा आवृत्त और भोजित, जहाँ कहीं अनिश्चित स्थान में सोनेवाले विरक्त ज्ञानी को देव ब्राह्मण जानते हैं ॥ ६ ॥ कन्था (गुदरी) लंगोटी रूप वस्त्रवाले, वाग्दण्डादियुक्त, ध्यानपरायण, सदा अकेले रमनेवाले, जन्मादि हेतुओं से विरक्त, सर्प समान समूह से डरनेवाले, सम्मान से मरणतुल्य भय भीत, स्त्रियों से मुर्दा तुल्य भागनेवाले को देव ब्राह्मण जानते हैं ॥ ७–९ ॥ श्रद्धा आदि जिसके चार धन हैं, और अद्वैत ब्रह्म का स्मरण है उसे देव ब्राह्मण जानते हैं ॥ १० ॥

---

१. नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति । छा० ४।४।५ इस सत्य को ब्राह्मण से अन्य विशेषरूप से नहीं कह सकता है ॥
२. जनाकीर्णम्–इतिपाठान्तरम् ॥ ३. सौहित्यादिति भारते ॥ ४. च स्त्रीभ्यः । पा० ॥ ५ न क्रुध्येन्न प्रहृष्येच्चेति पाठान्तरम् ॥

न जातिः कारणं तात ! गुणः कल्याणकारणम् । वृत्तस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥११॥

महाभा० शां० प० अ० २४५ ॥ श्रीव्यासोक्तिः ॥

योगस्तपो दमो दानं सत्यं शौचं दया स्मृतम् । विद्या विज्ञानमास्तिक्यमेतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥१२॥

सर्वत्र दान्ताः श्रुतिपूर्णकर्णा जितेन्द्रियाः प्राणिवधे निवृत्ताः ।

प्रतिग्रहे संकुचिताग्रहस्तास्ते ब्राह्मणास्तारयितुं समर्थाः ॥ १३ ॥ वसिष्ठस्मृतौ ॥

यं न सन्तं नचासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम् । न सद्वृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स ब्राह्मणः ॥ १४ ॥

इति क्वचित् ॥

मात्रश्च ब्राह्मणश्चैव श्रोत्रियश्च ततः परम् । अनूचानस्तथा भ्रूण ऋषिकल्प ऋषिर्मुनिः ॥ १५ ॥

एते ह्यष्टौ समुद्दिष्टा ब्राह्मणाः प्रथमं श्रुतौ । तेषां परः परः श्रेष्ठो विद्यावृत्तविशेषतः ॥ १६ ॥

ब्राह्मणानां कुले जातो जातिमात्रो यदा भवेत् । अनुपेतः क्रियाहीनो मात्र इत्यभिधीयते ॥ १७ ॥

एकोद्देश्यमतिक्रम्य वेदस्याचारवानृजुः । स ब्राह्मण इति प्रोक्तो निभृतः सत्यवाग् घृणी ॥ १८ ॥

एकां शाखां सकल्पां च षड्भिरङ्गैरधीत्य च । षट्कर्मनिरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित् ॥ १९ ॥

वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञः शुद्धात्मा पापवर्जितः । श्रेष्ठः श्रोत्रियवान् प्राज्ञः सोऽनूचान इति स्मृतः ॥ २० ॥

अनूचानगुणोपेतो यज्ञस्वाध्याययन्त्रितः । भ्रूण इत्युच्यते शिष्टैः शेषभोजी जितेन्द्रियः ॥ २१ ॥

वैदिकं लौकिकं चैव सर्वं ज्ञानमवाप्य यः । आश्रमस्थो वशी नित्यमृषिकल्प इति स्मृतः ॥ २२ ॥

ऊर्ध्वरेता भवत्यग्र्यो नियताशी न संशयी । शापानुग्रहयोः शक्तः सत्यसन्धो भवेदृषिः ॥ २३ ॥

हे तात ! कोई भी जाति कल्याण का कारण नहीं है किन्तु सद्गुण कारण हैं, इससे सच्चरित्र में स्थिर जो चाण्डाल उस को भी देव ब्राह्मण जानते हैं ॥ ११ ॥ योगादि और शास्त्रीय विद्या तथा आत्मज्ञानादि यही ब्राह्मण के लक्षण हैं ॥ १२ ॥ और सदा सर्वत्र इन्द्रियादि के दमन से युक्त श्रवण से पूर्ण कानवाले जितेन्द्रिय, प्राणिवध में प्रवृत्ति रहित, प्रतिग्रह लेने में संकुचितअंगुलीवाले वे ब्राह्मण ही अन्य को तारने में भी समर्थ हैं ॥१३॥ वेषादि के अभिमानादि से रहित जिस विज्ञ को कोई सत्पुरुषादि कुछ नहीं जान सके सो ब्राह्मण है ॥ १४ ॥ मात्रादि नाम वाले आठ प्रकार के ब्राह्मण श्रुति (वेद) में प्रथम समुद्दिष्ट (नाममात्र से कहे गये) हैं । उनमें विद्या और वृत्त (चरित्र) विशेष से आगे २ वाले श्रेष्ठ हैं ॥ १५-१६ ॥ ब्राह्मण के घर में जन्मे हुए जातिमात्रवाले. उपनयन रहित, क्रिया रहित, जब रहते हैं, तब मात्र कहाते हैं ॥ १७ ॥ किसी एक सत्य उद्देश्य (लक्ष्य) को त्याग कर, वेद के आचारवाला ऋजु (अक्रूर) निभृत (विनीत–शिक्षित सत्यवक्ता दयालु ब्राह्मण कहाता है ॥ १८ ॥ कल्पसहित एक वेद की शाखा षडङ्ग युक्त पढ़कर, षट्कर्म में निरत धर्मज्ञ विप्र श्रोत्रिय कहाता है ॥ १९ ॥ सब वेद और वेदाङ्ग का तत्त्वज्ञ शुद्ध मनवाला पाप रहित श्रेष्ठ, श्रोत्रिय कुलादिवाला पण्डित अनूचान कहाता है ॥२०॥ अनूचान के गुणों से युक्त और यज्ञ वेदाध्ययन में नियम से प्रवृत्त यज्ञशेष भोजी जितेन्द्रिय पुरुष शिष्टों से भ्रूण कहा जाता है ॥ २१ ॥ वैदिक लौकिक सब ज्ञान को प्राप्त करके जो आश्रम में स्थिर सदा वश्यात्मा रहता है सो ऋषिकल्प (तुल्य) कहा गया है ॥ २२ ॥ जो अग्र्य (मुख्य) उर्ध्वरेता (ब्रह्मचारी) नियमानुसार भोजन कर्ता संशय रहित, शाप और वरदान में समर्थ, सत्यप्रतिज्ञ होता है, सो ऋषि होता

निवृत्तः सर्वतत्त्वज्ञः कामक्रोधविवर्जितः । ध्यानस्थो निष्क्रियो दान्तस्तुल्यमृत्काञ्चनो मुनिः ॥२४॥
यश्च याचनिको नित्यं न स स्वर्गस्य भाजनम् । उद्वेजयति भूतानि यथा चौरस्तथैव सः ॥ २५ ॥

स्कन्दपु० खं० १-२। अ० ५।११ इत्यादि ॥

न छन्दांसि वृजिनात्तारयन्ति मायाविनं माययाऽऽवर्त्तमानम् ।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाश्छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले ॥ २६ ॥

स्कन्दपु० खं० १-३। अ० १३।८८ ॥

असन्तोषपरा ये च विप्रा नष्टा न संशयः । सन्तुष्टा ये हि विप्रास्ते नान्ये वेषधरा ह्यमी ॥ २७ ॥
स्वधर्मनिरता राजन् ! निर्दम्भा निरवग्रहाः। निर्मत्सरा जितक्रोधा वदान्या हि महामते ! ॥
विप्रास्ते हि महाभाग ! तैरियं धार्यते मही ॥ २८ ॥ स्कन्दपु० खं० १-२।अ० १८।१६४ ॥
श्रुतिः स्मृतिश्च विप्राणां चक्षुषी परिकीर्त्तिते । काणस्तत्रैकया हीनो द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्त्तितः ॥ २९ ॥
श्रुतिस्मृतिपुराणानि विदुषां लोचनत्रयम् । यस्त्रिभिर्नयनैः पश्येत्सोंऽशो माहेश्वरो मतः ॥ ३१ ॥

स्कन्दपु० खं० ५-३। अ० १।१५-१६॥

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते । शापानुग्रहसामर्थ्यं तथा क्रोधः प्रसन्नता ॥ ३१ ॥

स्कन्दपु० खं० ६। अ० २३९।३१॥

हस्तावुपस्थमुदरं वाक् चतुर्थी चतुष्टयम् । एतत्सुसंयतं यस्य स विप्रः कथ्यते बुधैः ॥ ३२ ॥
परवित्तं न गृह्णाति न हिंसां कुरुते तथा । नाक्षक्रीडारतो यस्तु हस्तौ तस्य सुसंयतौ ॥ ३३ ॥

हैं, सो ऋषि होता कहाता है ॥ २३ ॥ संसार झंझट से निवृत्त, सब तत्त्वों का ज्ञाता, कामादि रहित, ध्यानस्थ, निष्क्रिय, दान्त (जितेन्द्रिय विरक्त मुनि कहाता है ॥ २४ ॥ जो सदा याचना से जीनेवाला याचक है, सो स्वर्ग का पात्र नहीं है, वह तो प्राणी को उद्विग्न करनेवाला चोर जैसा हो, तैसा है ॥ २५ ॥ और जो मायावी (कपटी) माया से सर्वथा व्यवहार करता है, उससे अधीत छन्द (वेद) भी उसे वृजिन (पाप कुटिलता) से मुक्त नहीं करते हैं, किन्तु पक्ष (पांख) होने पर जैसे पक्षी नीड (खोते) को त्यागता है, तैसे अन्तकाल में उसको वेद त्याग देते हैं ॥ २६ ॥ असन्तोष परायण जो विप्र है, सो नष्ट ही है इसमें संशय नहीं है, जो सन्तुष्ट है, सोई विप्र है, अन्य नहीं अन्य केवल विप्रवेषधारी है ॥ २७ ॥ हे महाभाग ! महामते ! राजन् ! अपने धर्म में तत्पर, दम्भरहित, निरवग्रह (प्रतिबन्ध से मुक्त) निर्मत्सर, क्रोधविजेता, वदान्य (दाता) जो है, सो विप्र है, उनसे ही यह भूमि धृत है ॥ २८ ॥ विप्रों के वेद और धर्मशास्त्र दो नेत्र कहे गये हैं, उन में एक से रहित काणे और दोनों से रहित अन्धे कहाते हैं ॥ २९ ॥ वेद धर्मशास्त्र और पुराण विद्वान् के ये तीन नेत्र हैं, जो इन तीनों नेत्रों से देखता है सो शिव का अंश माना गया है ॥ ३० ॥ जन्म से मनुष्य शूद्र ही उत्पन्न होता है, संस्कार कर्म से द्विज कहा जाता है, और संस्कार विशेष से शापानुग्रह का सामर्थ्य तथा सफल क्रोध और प्रसन्नता ये सब होते हैं ॥ ३१ ॥ हाथ, लिङ्गेन्द्रिय, पेट, चौथी वाक् , ये चारो जिसके वश में रहते हैं, सो विद्वानों से विप्र कहा जाता है ॥ ३२ ॥ जो अन्य के धन को नहीं लेता है, न हिंसा करता है, न जुआ में प्रेम करता है, तिस के हाथ वश में हैं ॥ ३३ ॥

परस्त्रीवर्जनरतस्तस्योपस्थं सुसंयतम् । अलोलुपमिदं भुङ्क्ते जठरं तस्य संयतम् ॥ ३४ ॥
सत्यं हितं मितं ब्रूते यस्माद्वाक् तस्य संयता । यस्य संयतान्येतानि तस्य किं तपसाऽध्वरैः ॥ ३५ ॥
सर्वभूतेषु कारुण्यं विद्वेषं विषयेषु च । गुप्तशिश्नोदरादिश्च कुर्वन् योगी विमुच्यते ॥ ३६ ॥ ग० पु० खं० १ अ० १३५॥
हेयोपादेय तत्त्वज्ञास्त्यक्तान्यायपथागमाः । जितेन्द्रियमनोवाचः सदाचारपरायणाः ॥ ३७ ॥
नियमाचारवृत्तस्था हिताऽन्वेषणतत्पराः । संसाररक्षणोपायक्रियायुक्तमनोरथाः ॥ ३८ ॥
सम्यग् दर्शनसम्पन्नाः समाधिस्था हतक्रुधः । स्वाध्यायभक्तहृदयास्त्यक्तसङ्गा विमत्सराः ॥ ३९ ॥
विशोका विमदाः शान्ताः सर्वप्राणिहितैषिणः । सुखदुःखसमालोका विविक्तस्थानवासिनः ॥ ४० ॥
व्रतोपयुक्तसर्वाङ्गा धार्मिकाः पापभीरवः । निर्ममा निरहङ्कारा दानशूरा दयापराः ॥ ४१ ॥
सत्यब्रह्मविदः शान्ताः सर्वशास्त्रेषु निष्ठिताः । ब्रह्मणा कृतमर्यादास्त एव ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ ४२ ॥
बृहत्त्वाद् भगवान् ब्रह्मा नाभेयस्तस्य ये जनाः । भक्त्या सक्ताः प्रपन्नाश्च ब्राह्मणास्ते प्रकीर्त्तिताः ॥ ४३ ॥
क्षमा दमो दया दानं सत्यं शौचं धृति र्घृणा । मार्दवार्जवसन्तोषानहंकारतपःशमाः ॥ ४४ ॥
धर्मो ज्ञानमपैशुन्यं ब्रह्मचर्यममूढता । ध्यानमास्तिक्यमद्वेषो वैराग्यं च समात्मता ॥ ४५ ॥
पापभीरुत्वमस्तेयममात्सर्यमतृष्णता । नैःसङ्ग्यं गुरुशुश्रूषा मनोवाक्कायसंयमः ॥ ४६ ॥
य एवं भूतमाचारमनुतिष्ठन्ति मानवाः । ब्राह्मण्यं पुष्कलं तेषां नित्यमेव प्रवर्द्धते ॥ ४७ ॥
योगस्तपो दया दानं सत्यं धर्मः श्रुतिर्घृणा । ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यमेतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥ ४८ ॥

परस्त्री के त्याग में सावधान पुरुष का लिङ्ग वश में है, और जो अलोलुप (अत्यन्त लोभ बिना) भोग तृष्णा बिना, उदरपूर्ति मात्र के लिये इस भोग्य वस्तु को खाता है, तिस का पेट वश में है ॥ ३४ ॥ जिससे सत्यहित परिमित वचन बोलता है, तिससे तिस की वाग् वश में रहती है ॥ ३५ ॥ और लिङ्ग उदरादि को वश में रखने वाला योगी सब प्राणी में दया विषयों में विद्वेष करता हुवा भी विमुक्त होता है ॥ ३६ ॥ त्याग ग्रहण योग्य तत्त्व वस्तु स्वरूप) का ज्ञाता, अन्याय पथ और आगम का त्यागी, इन्द्रिय-मन वचन के विजेता, सदाचार में तत्पर, शौचादि नियम के आचरणरूप चरित्र में स्थित, सर्वहित के अन्वेषण में तत्पर, संसार की रक्षा का उपाय रूप जो क्रिया उससे युक्त मनोरथ वाले, सम्यक् (यथार्थ) ज्ञान से सम्पन्न (युक्त) समाधिस्थ, क्रोधरहित, वेद की भक्ति से युक्त हृदयवाले, असंग, मत्सररहित, विशोक, विमद, शान्त, सब प्राणियों के हितेच्छुक, सुख दुःख में सम बुद्धिवाले, एकान्त निवासी, व्रत में उपयुक्त (सफल) सब अङ्गवाले, धर्म कर्ता, पापभीरु, ममता अहंकार रहित, दान वीर, दया परायण, सत्य ब्रह्म के ज्ञाता, शान्त (जीवन्मुक्त), सर्वशास्त्र में निष्ठा (सिद्धि) वाले, ब्रह्म से कृत मर्यादा वाले जो होते हैं सो ब्राह्मण कहे गये हैं ॥ ३७-४२ ॥ बृहद् होने से विष्णु भगवान् की नाभि से उत्पन्न भगवान् ही ब्रह्मा हैं, उनका जो जन है, भक्ति से उन में आसन्न शरण में आपन्न (प्राप्त) हैं सो ब्राह्मण कहा गया है ॥ ४३ ॥ क्षमा दमादि पाप कर्म से घृणा (जुगुप्सा) तथा मृदुता सरलता सन्तोषादि धर्मादि परदोषासूचकता, ब्रह्मचर्यादि, ममात्मबुद्धि, पापभीरु-त्वादि निष्कामता असङ्गता आदि रूप जो इस प्रकार के आचरण हैं, उन्हें जो मनुष्य करते हैं, उन की पुष्कल (श्रेष्ठ पूर्ण) ब्राह्मणता सदा ही बढ़ती है ॥ ४४-४७ ॥ योग तप दया दानादि यह ब्राह्मण के

शिखा ज्ञानमयी यस्य पवित्रं च तपोमयम् । ब्राह्मण्यं पुष्कलं तस्य मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥ ४९ ॥
यत्र वा तत्र वा वर्णे उत्तमाधममध्यमाः । निवृत्तः पापकर्मभ्यो ब्राह्मणः स विधीयते ॥ ५० ॥
शूद्रोऽपि शीलसम्पन्नो ब्राह्मणादधिको भवेत् । ब्राह्मणो विगताचारः शूद्राद्धीनतरो भवेत् ॥ ५१ ॥
भविष्यपु० पर्व० १।४४॥

गोवर्गमध्यश्च गतो यथाश्वो निर्धार्यते ज्ञैः सुविलक्षणत्वात् ।
मनुष्यभावादविशिष्यमाणस्तद्वद्द्विजः शूद्रगणान्न भिन्नः ॥ ५२ ॥
मनुष्यजाते र्न परो विशेषो यः कल्प्यते सर्वनरानुयायी ।
संस्कारयुक्ता हि क्रिया विशिष्टा द्विजन्मानां शूद्र विवेकहेतुः ॥ ५३ ॥
ब्राह्मण्यमध्रुवमिदं किल कृत्रिमत्वादकृत्रिमं भवति सामयिकत्वयोगात् ।
सांकेतिकं सुकृतलेशविशेपलब्धं वाणिज्यभेषजकृतामिव जातिभेदः ॥५४॥

तस्मान्न गोऽश्ववत्कश्चिज्जातिभेदोऽस्ति देहिनाम् । कार्यशक्तिनिमित्तस्तु संकेतः कृत्रिमो भवेत् ॥५५॥
भविष्यपु० प० १ अ० ४०॥

सद्गुणो ब्राह्मणो वर्णः क्षत्रियस्तु रजोगुणः । तमोगुणस्तथा वैश्यो गुणसाम्यात्तु शूद्रता ॥ ५६ ॥
भविष्यपु० पर्व० ३-४।२३॥

न जाति र्न कुलं तात ! न स्वाध्यायो न च श्रुतम् । कारणानि द्विजातेश्च वृत्तमेव तु कारणम् ॥ ५७ ॥
अनेके मुनयस्तात ! तिर्यग्योनिसमुद्भवाः । स्वधर्माचारनिरता ब्रह्मलोकमितो गताः ॥ ५८ ॥

लक्षण हैं ॥ ४८ ॥ जिस की ज्ञानमयी शिखा (चूडा ज्वाला) है, तपोमय पवित्र (कुश) है, उस का श्रेष्ठ ब्राह्मणत्व है, सो स्वायंभूके पुत्र मनु ने कहा है ॥ ५९ ॥ जिस किसी वर्ण में जो उत्तम अधम मध्यम लोग होते हैं, उनमें जो पाप कर्मों से निवृत्त हैं, वही ब्राह्मण विहित होता है ॥ ५० ॥ शील (सुस्वभाव) से सम्यग् युक्त शूद्र भी शील रहित ब्राह्मण से अधिक होता है, आचार रहित ब्राह्मण उस शूद्र से अति हीन हो जाता है ॥ ५१ ॥ गो-समूह के मध्य में प्राप्त भी घोड़ा अत्यन्त विलक्षणता से विद्वानों से गौओं से पृथक् समझा जाता है, वैसे द्विज शूद्र से भिन्न नहीं हैं, क्यों कि शूद्र से विशेष लक्षणादि भेद रहित द्विज भी मनुष्यत्वधर्म से सब के तुल्य ही हैं ॥ ५२ ॥ सर्व नरों में रहने वाला जो मनुष्यता रूप विशेष धर्म सिद्ध है, उससे पर (भिन्न) मनुष्य जाति का विशेष (भेद) गो अश्व के समान नहीं है, तिससे संस्कार सहित श्रेष्ठ क्रिया ही द्विजो का शूद्र से विभेद का कारण हैं ॥ ५३ ॥ कृत्रिम (कार्य) होने से यह ब्राह्मणता अध्रुव (अनिश्चल) है, सामयिकता (सांकेतिकता) के संबन्ध से अकृत्रिम होती है (स्वाभाविक समझी जाती है) वह सांकेतिक भी पुण्य के लेश विशेष से प्राप्त होती है, इससे वाणिज्य औषधि आदि करने वालों की उपाधि के तुल्य जाति भेद है ॥ ५४ ॥ तिससे गो अश्व के समान मनुष्यों का कोई जाति भेद नहीं है, किन्तु अध्ययन युद्ध वाणिज्यादि रूप कार्य को शक्ति रूप निमित्त हेतु से कृत्रिम संकेत होता है ॥ ५५ ॥ सत्त्वगुणवाला ब्राह्मण वर्ण रजोगुणलाला क्षत्रिय, तमोगुणवाला वैश्य हैं, गुणों की समता से शूद्रता होती है ॥ ५६ ॥ हे तात ! द्विजातिपन का कारण जाति (गोत्र) कुल अध्ययन श्रवण नहीं हैं, किन्तु सच्चरित्र ही कारण हैं ॥ ५७ ॥ हे तात ! तिर्यग्योनि में उत्पन्न अनेक मुनि अपने धर्माचरण में तत्पर रहकर

योऽग्निहोत्ररतो दान्तः सन्तोषनिरतः शुचिः । तपः स्वाध्यायशीलश्च तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ५९ ॥
सर्वद्वन्द्वसहो धीरः सर्वसङ्गविवर्जितः । सर्वभूतहिते युक्तस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ६० ॥
सत्यं दमस्तपो दानमहिंसेन्द्रियनिग्रहः । दृश्यते यत्र राजेन्द्र ! स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ ६१ ॥
शूद्रे चैवं भवेद् वृत्तं ब्राह्मणे न च विद्यते । शूद्रोऽपि ब्राह्मणो ज्ञेयो ब्राह्मणः शूद्र एव च ॥६२॥
कामक्रोधानृतद्रोहलोभमोहमदादयः । न सन्ति यत्र राजेन्द्र ! तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥६३॥
न जातिर्न कुलं पुंसो गुणाः कल्याणहेतवः । वृत्तस्थोऽपि हि चाण्डालः सोऽपि सद्गतिमाप्नुयात् ॥६४॥

इतिहाससमुच्चये अ० २८ ॥

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा । दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र ! स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ ६५ ॥
शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्चेन्न विद्यते । न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥ ६६ ॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प ! वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः । यत्रैतन्न भवेत्सर्प ! तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥ ६७ ॥

महाभा० वनप० अ० १८० । युधिष्ठिरोक्तिः ॥

क्रोधः शत्रुः शरीरस्थो मनुष्याणां द्विजोत्तम! । यः क्रोधमोहौ त्यजति तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥६८॥
यो वदेदिह सत्यानि गुरुं सन्तोषयेत च । हिंसितश्च न हिंसेत तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ६९ ॥
जितेन्द्रियो धर्मपरः स्वध्यायनिरतः शुचिः । कामक्रोधौ वशौ यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ७० ॥
यस्य चात्मसमो लोको धर्मज्ञस्य मनस्विनः । सर्वधर्मेषु चरतस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ७१ ॥

यहाँ से ब्रह्मलोक में गये ॥ ५८ ॥ अग्नि होत्र में तत्पर जितेन्द्रिय संतोषी पवित्रात्मा तप अध्ययन के स्वभाव वाले जो हैं, उनको देव सब ब्राह्मण जानते हैं ॥ ५९ ॥ शीतोष्णादि सब द्वन्द्वों को सहने वाले, धीर, असंग, सब प्राणियों के हित में प्रवृत्त को देव ब्राह्मण जानते हैं ॥ ६० ॥ हे राजेन्द्र ! जिनमें सत्यादि दीखते हैं, सो ब्राह्मण कहे गये हैं ॥ ६१ ॥ यदि इस प्रकार का चरित्र शुद्र में हो, और ब्राह्मण में नहीं हो, तो उस शूद्र को ब्राह्मण जानना चाहिये, और वह ब्राह्मण शूद्र ही है ॥ ६२ ॥ हे राजेन्द्र ! जिसमें कामादि दोष नहीं हैं, उसको देव ब्राह्मण जानते हैं ॥ ६३ ॥ जाति वा कुल पुरुष के कल्याण का कारण नहीं है किन्तु सत्यादि-गुण कल्याण के कारण हैं, इससे सद्वृत्त में स्थिर जो चाण्डाल है सो भी सद्गति पावेगा ॥ ६४ ॥ सत्यादि और शील (सुस्वभाव सद्वृत्त) आनृशंस्य (अक्रूरता-अहिंसकता) तप दया जिस में दीखें, हे नागेन्द्र ! (सर्वश्रेष्ठ !) वह ब्राह्मण कहा गया है ॥ ६५ ॥ यदि ये सत्यादि ब्राह्मण के लक्ष्म (चिह्न-लक्षण) शूद्र में रहें, और द्विज में नहों रहें, तो वह शूद्र शूद्र नहीं है, और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है ॥ ६६ ॥ हे सर्प ! जहाँ यह सत्यादि वृत्त (चरित्र) दीखे वही ब्राह्मण है, जहां नहीं दीखे उसी को शूद्र कहना चाहिये ॥ ६७ ॥ हे विप्र ! मनुष्यों का शरीरस्थ शत्रु क्रोध है, और जो क्रोध मोह दोनों को त्यागता है उसको देव सब ब्राह्मण जानते हैं ॥ ६८ ॥ जो यहाँ सत्य बोलता है, सच्चरित्र से गुरु को सन्तुष्ट करता है, और अन्य से हिंसित पीडित होने पर भी क्षमा से उस की हिंसा नहीं करता है, उसको देव ब्राह्मण जानते हैं ॥ ६९ ॥ जो जितेन्द्रिय, धर्मपरायण, वेदाध्ययन में तत्पर, पवित्रात्मा, कामक्रोध को वश में रखने वाला है, उसे देव ब्राह्मण जानते हैं ॥ ७० ॥ सब स्वधर्माचार करने वाले जिस धर्मज्ञ विद्वान् को अपने तुल्य सब लोक भासते हैं, उसे देव ब्राह्मण जानते हैं ॥ ७१ ॥

ब्रह्मचारी वदान्यो यो ऽप्यधीयाद् द्विजपुङ्गवः । स्वाध्यायवानमत्तो वै तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥७२॥

महाभा० वनप० अ० २०६ । ब्राह्मणाय पतिव्रतोक्तिः ॥

तपः श्रुतं च योनिश्चाऽप्येतद् ब्राह्मणकारणम् । त्रिभिर्गुणैः समुदितस्ततो भवति वै द्विजः ॥ ७३ ॥

महाभा२ अनुशासन प० अ० १२१।७॥

कर्मभिः शुचिभिर्देवि ! विशुद्धात्मा जितेन्द्रियः । शूद्रोऽपि द्विजवत्सेव्य इति ब्रह्माऽब्रवीत् स्वयम् ॥७४॥

स्वभावः कर्म च शुभं यत्र शूद्रेऽपि तिष्ठति । विशिष्टः स द्विजाते वै विज्ञेय इति मे मतिः ॥७५॥

न योनि र्नापि संस्कारो न श्रुतं न च सन्ततिः । कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम् ॥ ७६ ॥

सर्वोऽयं ब्राह्मणो लोके वृत्तेन तु विधीयते । वृत्ते स्थितस्तु शूद्रोऽपि ब्राह्मणादधिको भवेत् ॥७७॥

ब्राह्मः स्वभावः सुश्रोणि ! समः सर्वत्र मे मतिः । निर्गुणं निर्मलं ब्रह्म यत्र तिष्ठति स द्विजः ॥ ७८ ॥

स्थितो ब्राह्मणधर्मेण ब्राह्मण्यमुपजीवति । क्षत्रियो वाऽथ वैश्यो वा ब्रह्मभूयं स गच्छति ॥ ७९ ॥

ब्राह्मणो वाप्यसद्वृत्तः सर्वसंकरभोजनः । ब्राह्मण्यं स समुत्सृज्य शूद्रो भवति तादृशः ॥ ८० ॥

महाभा० अनुशासनप० अ० १४३। शिवोक्तयः । ब्रह्माण्डपु० अ० ११५ ॥

ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः । वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणामसितस्तथा ॥ ८१ ॥

अत्र भारद्वाजप्रश्नः

कामः क्रोधो भयं लोभः शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रमः । सर्वेषां नः प्रभवति कस्माद्वर्णो विभिद्यते ॥ ८२ ॥

स्वेदमूत्रपुरीषाणि श्लेष्मा पित्तं सशोणितम् । तनुः क्षरति सर्वेषां कस्माद्वर्णो विभिद्यते ॥ ८३ ॥

श्रीभृगुरुवाच

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् । त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः ॥८४॥

ब्रह्मचारी दाता जो द्विजश्रेष्ठ अध्ययन करे, फिर सावधान रहकर वेदाध्ययनवान् हो उसे देव ब्राह्मण जानते हैं ॥७२॥ तप (स्वकर्म) शास्त्र का ज्ञान, योनि (वासनादि) ये ब्राह्मणत्व के कारण हैं, इन तीनों गुणों से जब सम्यक् उदित ऊर्ध्वगत) हो तब द्विज होता है ॥७३॥ हे देवि ! पवित्र कर्मों से शुद्धात्मा जितेन्द्रिय शूद्र भी द्विज के तुल्य सेव्य होता है, सो ब्रह्मा ने स्वयं कहा है ॥ ७४ ॥ सुन्दर स्वभाव और शुभ कर्म जिस शूद्र में भी रहते हैं, वह स्वभावादि रहित द्विजाति से भी श्रेष्ठ है, ऐसा जानना चाहिये यह मेरी बुद्धि है ॥७५॥ क्योंकि योनि आदि द्विजता के कारण नहीं हैं किन्तु सच्चरित्र ही कारण है ॥ ७६ ॥ लोक में यह सब चरित्र से ही ब्राह्मण सिद्ध होता है, इससे सच्चरित्र में स्थिर शूद्र भी चरित्र रहित ब्राह्मण से अधिक होता है ॥ ७७ ॥ हे सुकटि ! ब्रह्म सम्बन्धी स्वभाव सर्वत्र तुल्य है, यह मेरी बुद्धि है, इससे निर्गुण निर्मल ब्रह्म जहाँ प्रकट स्थिर है वह द्विज है ॥ ७८ ॥ ब्राह्मण के धर्म से युक्त होकर जो स्थिर है, सो ब्राह्मणता को प्राप्त करता है, सो क्षत्रिय वा वैश्य भी ब्राह्मणता को प्राप्त करता है ॥ ७९ ॥ असच्चरित्र वाला सर्वसंकर (अशुद्ध) के साथ भोजन वाला ब्राह्मण भी ब्राह्मणता को त्याग कर उस संकर के समान ही शूद्र हो जाता है ॥ ८० ॥ ब्राह्मणों का सित (शुक्ल-सत्त्वगुण) वर्ण है, क्षत्रियों का लोहित (रक्त-रजोगुण) है, वैश्यों का पीत (रजस्तमः) वर्ण है, शूद्रों का असित (कृष्ण-तमः) वर्ण है ॥८१॥ प्रश्न काम क्रोधादि हम सब को होते हैं वर्ण भेद किस कारण से है ? पसीना आदि अशुद्ध वस्तु को सब का शरीर चुवाता है, वर्ण भेद किससे है ? ॥८२-८३॥ उत्तर— वर्णों का विशेष (भेद) नहीं है, यह सब जगत् ब्रह्मा का संतान है, अपने

गोभ्यो वृत्तिमुपस्थाय पीताः कृष्युपजीविनः । स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः ॥ ८५ ॥
हिंसाऽनृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः । कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः ॥८६॥
इत्येते कर्मभि र्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः । धर्मो यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते ॥ ८७ ॥
इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती । विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभात्त्वज्ञानतां गताः ॥ ८८ ॥
महाभा० शान्तिप० अ० १८८ ॥ नारदीपु० अ० ४३ ॥

जातकर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः । वेदाऽध्ययनसम्पन्नः षट्सु कर्मस्ववस्थितः ॥ ८९ ॥
शौचाचारस्थितः सम्यग् विद्याशाली गुरुप्रियः । नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते ॥ ९० ॥
सत्यं दानमथाऽद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा । तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ ९१ ॥
शूद्रे चैतद् भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते । न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥ ९२ ॥
सर्वोपायैस्तु लोभस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः । एतत्पवित्रं ज्ञानानां तथा चैवात्मसंयमः ॥ ९३ ॥
शौचेन सततं युक्तः सदाचारसमन्वितः । सानुक्रोशश्च भूतेषु तद् द्विजातिषु लक्षणम् ॥ ९४ ॥
महाभा० शान्तिप० अ० १८९॥

ब्राह्मणः पतनीयेषु वर्त्तमानो विकर्मसु । दाम्भिको दुष्कृतः प्राज्ञः शूद्रेण सदृशो भवेत् ॥ ९५ ॥
यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः । तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजः ॥ ९६ ॥
महाभा० वनप० अ० २१६ । धर्मव्याधं प्रति ब्राह्मणोक्तिः ॥

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं विधित्सावेगमुदरोपस्थवेगम् ।

सत्त्विक धर्म को त्यागने वाला राजस द्विज ही क्षत्रियता को प्राप्त हुवा है ॥ ८४ ॥ गौओं से जीविका करके कृषि कर्म करने वाले द्विज ही अपने धर्म को नहीं करते हैं, इससे पीत होकर वैश्यपन को प्राप्त हुए हैं ॥८५॥ हिंसा झूठ से प्रेम करने वाले, सब कर्म से जीविका वाले द्विज शौच से रहित कृष्ण होकर शूद्र पन को पाये हैं ॥ ८६ ॥ इस प्रकार कर्म से ये द्विज व्यस्त व्याकुल) पृथक् होकर वर्णान्तरता को प्राप्त हुए हैं, धर्म और यज्ञ कर्म तिनके लिये सदा निषिद्ध नहीं हैं ॥८७॥ ये चारो वर्ण हैं जिन की ब्राह्मी सरस्वती (वेदमयी) वाणी है, सो ब्रह्मा से चारो वर्णों के लिये प्रथम विहित हुई है, परन्तु लोभ से उसके अज्ञानिता को प्राप्त हुए हैं ॥ ८८ ॥ जातकर्मादिरूप संस्कारों से संस्कार युक्त, पवित्र वेदाध्ययन सहित, अध्ययनादि षट् कर्मों में स्थिर, शौच सदाचार में स्थिर, सम्यग् विद्या से शोभित गुरु के प्रेमी, सदा व्रत परायण, सत्य परायण जो है सोई ब्राह्मण कहाता है ॥ ८९-९० ॥ सत्य, दान, अहिंसा, अक्रूरता, कुकर्म से लज्जा, दया और तप जिस में दिखें सो ब्राह्मण है ॥ ९१ ॥ यह लक्ष्य (व्यवहृत लक्षण) शूद्र में हो और द्विज में नहीं हो, तो वह शूद्र शूद्र नहीं है, और ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है ॥ ९२ ॥ सब उपायों से लोभ और क्रोध को वश में करना और मन को वश में रखना यही ज्ञानों में भी पवित्र वस्तु है ॥ ९३ ॥ और सदा शौच से युक्त रहना सदाचार से सम्यक् संयुक्त रहना प्राणियों में सदा दया युक्त रहना, यही द्विजातियों में लक्षण है ॥९४॥ पतन के हेतु कर्मों में प्रवृत्त, दम्भ से व्यवहार करने वाला पापी ब्राह्मण प्राज्ञ (विद्वान्) होता हुआ भी शूद्र के तुल्य होता है ॥९५॥ जो शूद्र भी सत्य और धर्म में सदा तत्पर प्रवृत्त रहता है, उसको मैं ब्राह्मण मानता हूँ । चरित्र से ही द्विज होता है ॥ ९६ ॥ वाक् का वेग, मन का क्रोधरूप वेग, विधानेच्छा रूप

एतान् वेगान् यो विसहेदुदीर्णांस्तं मन्येऽहं ब्राह्मणं वै मुनिं च ॥९७॥ महाभा० शान्तिप० अ० २६६।१४॥

न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव वा । न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः ॥ ९८ ॥

ब्रह्मणस्तु समुत्पन्नाः सर्वे ते किं न ब्राह्मणाः । न वर्णतो न जनकाद् ब्राह्मं तेजः प्रपद्यते ॥ ९९ ॥

ज्ञान कर्मोपासनाभि र्देवताऽऽराधने रतः । शान्तो दान्तो दयालुश्च ब्राह्मणस्तु गुणैः कृतः ॥ १०० ॥

महाभा० वनप० अ० १८०॥ शुक्रनी० अ० १॥

क्षमा दया च विज्ञानं सत्यं चैव दमः शमः । अध्यात्मनित्यता ज्ञानमेतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥१०१॥

पद्मपु० खं० ३।५४।२५। कूर्मपु० व्यासगीता० अ० १५।२७॥

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम् । यद्यन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत् ॥ १०२ ॥

भागवत स्क० ७।११।३५। नारदोक्तिः ॥

सन्तुष्टो येन केनापि सदाचारपरायणः । पराधीनो द्विजो न स्यात्स तरेद् भवसागरम् ॥ १०३ ॥

लघ्वाश्वलायनस्मृ० ॥

भृत्यद्वारा स्वयं यद्वा यो विप्रो वृषवाहकः । स कृतघ्न इति ख्यातः प्रसिद्धो भारते नृप ! ॥ १०४ ॥

ब्रह्मवैवर्त्तपु० प्रकृतिखं० अ० ५१।५८। जरत्कारुः॥

पूर्वं ये राक्षसा राजंस्ते कलौ ब्राह्मणाः स्मृताः । पाखण्डनिरताः प्रायो भवन्ति जनवञ्चकाः ॥१०५॥

असत्यवादिनः सर्वे वेदधर्मविवर्जिताः । दाम्भिका लोकचतुरा मानिनो वेदवर्जिताः ॥ १०६ ॥

तथैव क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च धर्मवर्जिताः । असत्यवादिनः पापास्तथा वर्णेतराः कलौ ॥

प्रायश्चित्तं तु पापानां श्रीदेवीनामसंस्मृतिः ॥ १०७ ॥ देवीभा० स्क० ६।११॥ तस्माद्—

वेग, पेट (भूख) उपस्थ (लिंग) का वेग, इन बढे हुए वेगों को रोकने में जो समर्थ है, उसी को मैं ब्राह्मण और मुनि मानता हूँ ॥ ९७ ॥ यहाँ जाति मात्र से कोई ब्राह्मणादि नहीं है, किन्तु गुण कर्म से भिन्न भिन्न हैं ॥९८॥ प्र० ब्रह्म से ही सब उत्पन्न हुए हैं, तो वे सब ब्राह्मण क्यों नहीं हैं उत्तर है कि वर्णमात्र से वा पिता से ब्रह्म सम्बन्धी तेज नहीं पाया जाता है, और उस तेज बिना ब्राह्मण नहीं होता है । किन्तु ज्ञानकर्मोपासना रूप गुणों से देवता की आराधना में तत्पर शान्त दान्त दयालु ही ब्राह्मण किया गया है ॥ ९९–१०० ॥ क्षमादि और अध्यात्म विचार परायणता ज्ञान यह ब्राह्मण के लक्षण हैं ॥ १०१ ॥ जिसका जो लक्षण कहा गया है, जो कि वर्ण का अभिव्यञ्जक (प्रकट बोधक) है, वह यदि अन्य में दीख पड़े, तो उसको उसी लक्षण के अनुसार व्यवहार करे ॥ १०२ ॥ जो न्याय लब्ध जिस किसी वस्तु से सन्तुष्ट होकर सदाचार में तत्पर रहे, और पराधीन नहीं हो, सो द्विज भवसागर को तरता है ॥ १०३ ॥ सेवक द्वारा वा स्वयं बैल को हलादि में जोतने हांकने वाला जो विप्र है, हे नृप ! सो कृतघ्न इस प्रकार कहा गया है, यह वात भारत में प्रसिद्ध है ॥ १०४ ॥ प्रायः जो पाखण्ड में तत्पर और जनों को ठगने वाले होते हैं, हे राजन् ! ऐसे जो पहले राक्षस होते थे, वे कलि में ब्राह्मण कहे गये हैं ॥ १०५ ॥ वे सब असत्यवादी, वेद विहित धर्म से रहित, दम्भ से व्यवहारी, लोक में चतुर, अभिमानी, वेदरहित होते हैं ॥ १०६ ॥ तैसे ही कलि में क्षत्रिय वैश्य और शूद्र भी धर्म रहित असत्यवादी और पापी होते हैं, तथा वर्णेतर (अन्त्यज) भी वैसे ही होते है उन पापों की निवृत्ति के लिये श्रीदेवी नाम का सम्यक् स्मरण प्रायश्चित्त कर्म है ॥ १०७ ॥

द्विजत्वं विद्ध्यनुष्ठानाद्विप्रत्वं वेदपाठतः । ब्राह्मण्यं ब्रह्मज्ञानादिति वेदान्तडिंडिमः ॥ १०८ ॥
भेदसंसर्गहीनोऽर्थः स्वमहिम्नि व्यवस्थितः । साक्षादित्यादिरूपोऽथ ब्रह्म ब्राह्मण उच्यते ॥ १०९ ॥
इमामवस्थां संप्राप्य सर्वो ब्राह्मण उच्यते । ब्राह्मण्यं गौणमन्यत्र सर्वभूमिषु नाञ्जसा ॥ ११० ॥
बृहदारण्यक वार्ति० अ० ३ ब्रा० ५।१९।१९१॥

यावतीः वै देवताः, सर्वाः ताः वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति । तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भ्यो दिवे दिवे नमस्कुर्यात् । न अश्लीलं कीर्त्तयेत् । एता एव देवताः प्रीणाति ॥ १११ ॥ तैति० आ० २।१५॥

ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसो अनूचानास्ते विप्राः ॥ ११२ ॥ शतपथब्रा० ३।५।३॥ यो वै ज्ञातो अनूचानः स ऋषिः ॥ शत० ४।३।४।१६॥ ब्राह्मणो वै आर्षेयः सर्वाः देवताः ॥ शत० १२।४।४।६॥

प्रजापतिः यज्ञमसृजत, यज्ञं सृष्टमनु द्वय्यः प्रजा असृज्यन्त हुतादश्च अहुतादश्च । एता वै प्रजा हुतादो यद् ब्राह्मणाः, अथैता अहुतादो यद्राजन्यो वैश्यः शूद्रः ॥ ११३ ॥ ऐतरेय ब्रा० ३४।१॥
एतावद् वै इदं सर्वं यावद् ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रः । मानव्यो हि एताः सर्वाः प्रजाः ॥ ११४ ॥
तैत्तिरीय सं० ५।१।५। शत० १४।४।२।२७॥

ब्राह्मणधर्मः

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च । तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ॥ १ ॥
आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते । आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत् ॥ २ ॥
मनु० अ० १।१०८-६ ॥

तिससे संस्कारादि के अनुष्ठान करने से द्विजत्व समझो, वेद पाठ से विप्रत्व, ब्रह्मविज्ञान से ब्राह्मणत्व समझो, यह वेदान्त का ढिंढोरा है ॥ १०८ ॥ भेदसंबन्ध से रहित असङ्गात्मवस्तु स्वमहिमा स्वरूप में स्थिर है, जो साक्षाद् अपरोक्ष ब्रह्मस्वरूप है तत् स्वरूप ब्राह्मण कहा जाता है ॥ १०९ ॥ इस अवस्था को सम्यक् प्राप्त होने पर सब ब्राह्मण कहे जाते हैं, सब भूमि (स्थान) में अन्य में गौण ब्राह्मत्व रहता है, अञ्जसा (तत्त्वतःसत्य) ब्राह्मणत्व नहीं रहता है ॥११०॥ जितनी देवता हैं, सो सब वेदज्ञ ब्राह्मण में वसती हैं, तिससे वेदवेत्ता ब्राह्मण के प्रति प्रतिदिन नमस्कार करे, अश्लील (अश्रीकर-ग्राम्य) वचन को नहीं कहे, वह ब्राह्मण ही इन देवताओं को प्रसन्न करता है, तथा अश्लील भिन्न नमस्कार क्रिया देवता को प्रसन्न करती है ॥ श्रवणेच्छुक अनूचान (साङ्गवेदाध्येता) अङ्गसहित वेद का ज्ञाता जो ब्राह्मण सो विप्र है । जो स्वयं प्रख्यात अनूचान है सो ऋषि है । आर्षेय (वेद में कुशल) ब्राह्मण ही सब देवता स्वरूप है । प्रजा पति ने यज्ञ की सृष्टि की, उत्पन्न हुए यज्ञ के वाद हुतभोजी अहुतभोजी ये दो प्रकार की प्रजा की सृष्टि की, तिस में ये ब्राह्मण रूप प्रजा हुताद (हवन से अवशिष्ट की भोक्ता) हुई, और क्षत्रियादि अहुताद प्रजा हुई । इतना ही यह सब संसार है, जो ब्राह्मणादि हैं, ये मनु के अपत्य रूप सब प्रजा हैं ॥ ११४ ॥

ब्राह्मणधर्म—वेद और स्मृति में कथित सदाचार ही परम धर्म है, इससे सदाचार में आत्मवान् (वश्यात्मा स्वहितेच्छु) द्विज सदा नित्य (अवश्य) संयुक्त हो ॥ १ ॥ अचार से पतित विप्र वेदाध्ययन

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः । नाऽयन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥ ३ ॥
मनु० अ०२।११८ ॥

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् । वाक् चैवमधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥४॥
मनु० अ० २।१५६ ॥

नारुन्तुदः स्यादार्त्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः । ययाऽस्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥ ५ ॥
मनु० अ० २।६१ ॥

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् । स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ ६ ॥
मनु० अ० २।१६८ ॥

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् । स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥ ७ ॥
मनु० अ० २।१०३

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः । या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥ ८ ॥
मनु० अ० ४।२ ॥

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा । सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥ ९ ॥

ऋतमुञ्छशीलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् । मृतं तु याचितं भैक्ष्यं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥ १० ॥

सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते । सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥ ११ ॥
मनु० अ० ४।२-६ ॥

यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति । स याति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः ॥ १२ ॥
मनु० अ० ११।२५ ॥

दयादानतपोदेवयज्ञस्वाध्यायतत्परः । नित्योदकी भवेद्विप्रः कुर्याच्चाग्निपरिग्रहम् ॥ १३ ॥

का फल नहीं पाता है, और आचार से संयुक्त विप्र तो संपूर्ण फल भागी होता है ॥ २ ॥ सावित्री मन्त्र-मात्र का ज्ञाता भी विप्रादि शास्त्र से सुयन्त्रित (नियमित) हो, विधि के अनुसार कर्म कर्ता हो तो वह श्रेष्ठ है, सर्ववेदज्ञ भी निषिद्ध भोजन विक्रय कर्ता वर नहीं है ॥ ३ ॥ धर्म चाहने वाले को शिष्यादि रूप प्राणी के श्रेयः (कल्याण) का अनुशासन (शिक्षा) भी अहिंसा से ही कर्तव्य है, और वाणी भी मधुर तथा श्लक्ष्णा (सूक्ष्म) अक्रूरा वक्तव्य है ॥ ४ ॥ पीडित होता हुआ भी दूसरे का अरुन्तुद (मर्मभेदी) नहीं हो, और अन्य के द्रोह (हिंसा अपकार) के लिये कर्म और बुद्धि नहीं करे, और इसके जिस वचन से अन्य उद्विग्न दुःखी हो, परलोक के विरोधी उस वचन को नहीं बोले ॥ ५ ॥ वेद को नहीं पढ़ कर जो द्विज अन्यत्र श्रम करता है (अर्थादि परायण होता है) सो इसी जीवन में वंश सहित शूद्रता को शीघ्र पाता है ॥ ६ ॥ जो पूर्व पर की संध्या में जपादि को नहीं करता है, सो शूद्र के समान सभी द्विज कर्मों से बहिष्कार योग्य है, भूतों के अद्रोह वा अल्प द्रोह से जो जीविका हो सके, आपत्ति के विना उसी जिविका को ग्रहण कर विप्र जीवे ॥ ८ ॥ आपत्ति विना ऋतादि वृत्ति से जीवे, परन्तु कुत्ते की वृत्ति से कभी नहीं जीवे ॥ ९ ॥ एक २ अन्न का संचय रूप उञ्छ और बाल का संचय रूपशील कर्म को ऋत कहते हैं, बिना याचना के प्राप्त अन्नादि को अमृत कहते हैं। याचना से प्राप्त भिक्षा को मृत कहते हैं, खेत जोतने से प्राप्त को प्रमृत कहते हैं ॥१०॥ वाणिज्य को सत्यानृत कहते हैं, उससे भी जीविका होती है, सेवा श्वानवृत्ति कही गई है, तिससे उसे त्यागो ॥ ११ ॥ यज्ञ के लिये द्रव्य मांग कर जो विप्र यज्ञ में सब द्रव्य नहीं देता है, सो सौ वर्ष तक भासनामक पक्षी वा काक होता है ॥ १२ ॥ दया, दान, तप, देवपूजा, वेदाध्ययन में तत्पर विप्र सदा

सर्वलोकहितं कुर्यान्नाहितं कस्यचिद् द्विजाः ! । मैत्री समस्तभूतेषु ब्राह्मणस्योत्तमं धनन् ॥ १४ ॥

ब्रह्मपु० अ० ११४ ॥ विष्णुपु० अंश० ३।७ ॥

यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते । अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

निरुक्त० १।८ ॥

न वेदपाठमात्रेण सन्तुष्टः स्याद् द्विजोत्तमः । पाठमात्रावसायी तु पङ्के गौरिव सीदति ॥ १६ ॥

योऽधीत्य विधिवद् विप्रो न वेदार्थं विचारयेत् । स सान्वयः शूद्रसमः पात्रतां न प्रपद्यते ॥ १७ ॥

कूर्मपु० अ० २ ॥

विद्यालक्षणसम्पन्नाः सर्वत्र समदर्शिनः । एते ब्रह्मसमा राजन् ! ब्राह्मणाः परिकीर्त्तिताः ॥ १८ ॥

ऋग्यजुःसामसम्पन्नाः स्वेषु कर्मस्ववस्थिताः । एते देवसमा राजन् ! ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ १९ ॥

जन्मकर्मविहीना ये कदर्य्या ब्रह्मबन्धवः । एते शूद्रसमा राजन् ! ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ २० ॥

अश्रोत्रियाः सर्व एव सर्वे चानाहिताग्नयः । तान् सर्वान् धार्मिको राजा बलिं विष्टिं च कारयेत् ॥२१॥

आह्वायका देवलका नाक्षत्रा ग्रामयाजकाः । एते ब्राह्मणचाण्डाला महापथिकपञ्चमाः ॥ २२ ॥

ऋत्विक् पुरोहितो मन्त्री दूतो वार्तानुकर्षकः । एते क्षत्रसमा राजन् ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ २३ ॥

अश्वारोहा गजारोहा रथिनोऽथ पदातयः । एते वैश्यसमा राजन् ! ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ २४ ॥

एतेभ्यो बलिमादद्याद्धीनकोशो महीपतिः । ऋते ब्रह्मसमेभ्यश्च देवकल्पेभ्य एव च ॥ २५ ॥

इति प्रथमं ब्राह्मणधर्मप्रकरणम् ॥ १२९ ॥ महाभा० शान्तिप० अ० ७६ ॥

शौचार्थक जल युक्त रहे, और हवन के लिये अग्नि का परिग्रह करे ॥१३॥ हे द्विज ! विप्र सब लोक का हित करे, अहित किसी का नहीं करे, सब प्राणियों में मित्रताही ब्राह्मण का उत्तम धन है ॥ १४ ॥ जो वेद वचन अर्थज्ञान के विना गृहीत (ज्ञात) हैं, सो अग्निरहित भस्म में शुष्क काठ के समान प्रकाश तेज को नहीं बढ़ाते हैं ॥ १५ ॥ इससे द्विजोत्तम पाठ मात्र से सन्तुष्ट नहीं हो, पाठमात्र के निश्चय वाला पंक में गौ के समान सभा आदि में दुःखी होता है ॥ १६ ॥ और जो विप्र वेदों को विधि युक्त पढ़ कर भी उन के अर्थों को नहीं विचारता है, वह वंश सहित शूद्र तुल्य हो कर दानादि के पात्रपन को नहीं पाता है ॥ १७ ॥ हे राजन् ! विद्या और ब्राह्मण के लक्षणों से युक्त समदर्शी ये ब्राह्मण ब्रह्मतुल्य कहे गये हैं ॥ १८ ॥ ऋगादि वेदों के अध्ययन से युक्त अपने कर्मों में स्थिर ये ब्राह्मण देवतुल्य ही होते हैं ॥ १९ ॥ जन्म योग्य कर्मों से रहित कृपण कायर ब्रह्मबन्धु (ब्राह्मण के सम्बन्धी) ये लोग ब्राह्मणों में शूद्रतुल्य होते हैं ॥ २० ॥ वेदाध्ययन रहित अग्नि आधन (ग्रहण) रहित जो ब्रह्मबन्धु सब हैं, उन सब को धार्मिक राजा बलि विष्टि करावे (उनसे कर ले बेगार ले) ॥ २१ ॥ आह्वायक (पुकारने वाले) सिपाही आदि, पुजारी, ज्योतिषी, ग्राम समूह को यज्ञ कराने वाले, महामार्ग में कर लेने वाले, ये ब्राह्मण चाण्डाल तुल्य हैं ॥ २२ ॥ ऋत्विक् , यज्ञ कराने वाले, पुरोहित, मन्त्री, दूत, पत्र ले जाने वाले, ये सब ब्राह्मणों में क्षत्रिय तुल्य होते हैं ॥ २३ ॥ अश्वारोहादि फौजी ब्राह्मण ब्राह्मणों में वैश्यतुल्य होते हैं ॥ २४ ॥ ब्रह्मतुल्य देवतुल्य से अन्य इन सबसे कोश रहित राजा बलि (कर) लेवे ॥ २५ ॥ प्रथम ब्राह्मणधर्मप्रकरण समाप्त ।

अथ क्षत्रियस्तद्धर्मश्च ॥ २ ॥

यः क्षतात् त्रायते लोकान् सत्यसन्धो जितेन्द्रियः । परार्थाय धृतप्राणो मानेर्ष्यादिविवर्जितः ॥ १ ॥
असूयाविगतो धीरो वीरश्चोभयशत्रुषु । ईश्वरस्यांशभूतं तं लोकपालाधिमात्रया ॥
युतं सर्वशरण्यं च मन्ये मान्यतरं नृपम् ॥ २ ॥ तथाहि—
लोकसंरक्षणे दक्षः शूरो दान्तः पराक्रमी । दुष्टनिग्रहशीलो यः स वै क्षत्रिय उच्यते ॥ ३ ॥
महाभा० वनप० अ० १८० । शुक्रनीतौ० अ० १ ॥
क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाऽध्ययनसङ्गतः । दानादानरति र्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यते ॥ ४ ॥
महाभा० शां० प० अ० १८६ ॥ गरुडपु० अ० ४३ ६७ ॥
यस्मिन् धर्मो विराजेत तं राजानं प्रचक्षते । यस्मिन् विलीयते धर्मस्तं देवा वृषलं विदुः ॥ ५ ॥
वृषो हि भगवान् धर्मो यस्तस्य कुरुते ह्यलम् । वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं विवर्द्धयेत् ॥ ६ ॥
महाभा० शां० प० अ० ८६।१४-१५ ॥
अपारे यो भवेत्पारमप्लवे यः प्लवो भवेत् । शूद्रो वा यदि वाऽप्यन्यः सर्वथा मानमर्हति ॥ ७ ॥
नित्यं यस्तु सतो रक्षेदसतश्च निवर्त्तयेत् । स एव राजा कर्तव्यस्तेन सर्वमिदं धृतम् ॥ ८ ॥
यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः । यथा ह्यनर्थः पण्ढो वा पार्थ ! क्षेत्रं यथोषरम् ॥ ९ ॥
एवं विप्रोऽनधीयानो राजा यश्च न रक्षिता । मेघो न वर्षते यश्च सर्वथा ते निरर्थकाः ॥ १० ॥
शान्तिप० अ० ७८ ॥
यदह्वा कुरुते पापमरक्षन् भयतः प्रजाः । राजा वर्षसहस्रेण तस्यान्तमधिगच्छति ॥ ११ ॥

अथ क्षत्रिय और क्षत्रियधर्म—नाश हिंसा से जो लोकों की रक्षा करे, सत्य प्रतिज्ञा वाला जितेन्द्रिय, दूसरे के हित के लिये प्राणधारी अभिमान ईर्ष्यादि से रहित, असूया रहित, धैर्य युक्त बाहर भीतर के दोनों शत्रुओं को जीतने वाले उस ईश्वर के अंशस्वरूप और लोकपालों के अधिमात्रा (अधिक अंश) से युक्त सब शरणागतों के रक्षक नृप को अतिमान्य मानता हूँ ॥ १-२ ॥ लोक की सम्यक् रक्षा में कुशल शूर जितेन्द्रिय, शक्ति उद्योगयुक्त, दुष्टों के निग्रह के स्वभाव वाला जो है सो क्षत्रिय कहाता है ॥ ३ ॥ क्षत्रज (रक्षार्थक युद्ध) रूप कर्म को जो सेवता है, वेदाऽध्ययन से युक्त रहता है, पात्र के प्रति दान और प्रजा से कर के आदान (ग्रहण) में रति वाला क्षत्रिय कहाता है ॥ ४ ॥ जिसमें धर्म विराजता (प्रकाशता) है, उसको राजा कहते हैं और जिस में धर्म विलीन (नष्ट) होता है, उसको देव सब वृषल जानते है ॥५॥ सुख की वर्षा करने वाला भगवान् धर्म वृष हैं, उनका जो 'अलं' (खण्डन छेदन) करता है, उसे देव लोग वृषल जानते हैं, तिससे धर्म को बढ़ाना चाहिये ॥ ६ ॥ अपार दुःखादि में जो पार (उसका नाशक) हो, अप्लव (तरण साधन रहित) स्थान में प्लव हो, सो शूद्र वा अन्य भी सदा सर्वथा मान के योग्य है ॥ ७ ॥ जो सत् कर्मादि करा कर उससे रक्षा करे, और असत् कर्मादि से निवृत्त करावे, वही राजा कर्तव्य है, उसी से यह सब धृत है ॥ ८ ॥ काठ रचित हाथी, चर्म रचित मृग, स्त्री में अनर्थक नपुंसक, ऊपर खेत, नहीं वर्षने वाला मेघ, हे पार्थ ! (युधिष्ठिर !) जैसे ये सर्वथा निरर्थक हैं, तैसे ही अध्ययन रहित विप्र और रक्षा नहीं करने वाला राजा निरर्थक है ॥ ९-१० ॥ भय से प्रजा की रक्षा नहीं

यदह्ना कुरुते धर्मं प्रजा धर्मेण पालयन् । दशवर्षसहस्राणि तस्य भुङ्क्ते फलं दिवि ॥ १२ ॥

शान्तिप० अ० ७१।२८-२९ ॥

यस्मिन् भयार्दितः सम्यक् क्षेमं विन्दत्यपि क्षणम् । स स्वर्गजित्तमोऽस्माकं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥१३॥

शान्तिप० अ० ७५।३४ ॥

धिक् तस्य जीवितं राज्ञो राष्ट्रे यस्यावसीदति । द्विजोऽन्यो वा मनुष्योऽपि शिविराह वचो यथा ॥१४॥

पापं कुर्वन्ति यत्किञ्चित्प्रजा राज्ञा ह्यरक्षिताः । चतुर्थं तस्य पापस्य राजा विन्दति भारत ! ॥ १५ ॥

शुभं वा यच्च कुर्वन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः । चतुर्थं तस्य पुण्यस्य राजा चाप्नोति भारत ! ॥ १६ ॥

महाभा० अनुशासनप० अ० ६१ ॥

चाटतस्करदुर्वृत्तमहासाहसिकादिभिः । पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत्कायस्थैश्च विशेषतः ॥ १७ ॥

अरक्ष्यमाणाः कुर्वन्ति यत्किञ्चित्किल्विषं प्रजाः । तस्मात्तु नृपतेरर्द्धं यस्माद् गृह्णात्यसौ करान् ॥१८॥

याज्ञवल्क्य स्मृ० अ० १।३३६-३७ ॥

समस्तगुणजालानामध्यात्मज्ञानमुत्तमम् । तद्विद्राजा भवेद्राजा तद्विन्मन्त्री च मन्त्रवित् ॥ १९ ॥

प्रभुत्वं समदृष्टित्वं तच्च स्याद्राजविद्यया । तामेव यो न जानाति नासौ मन्त्री न सोऽधिपः ॥ २० ॥

योगवासिष्ठ० प्र० ३।८८।

पालयन्ति यथा भूपाः प्रजाः पुत्रानिवौरसान् । प्रजास्त्रियं च पश्यन्ति राजानो मातरं यथा ॥ २१ ॥

ब्रह्मवैवर्त्तप्र० कृष्णजन्मखं० अ० ५६।७४ ॥

सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः । अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥ २२ ॥

करता हुआ राजा जो एक दिन में पाप करता है, उस पाप के अन्त को हजार वर्ष में पाता है ॥ ११ ॥ और धर्म से प्रजा का पालन करने वाला राजा जो दिन भर में धर्म करता है, उसके फल को स्वर्ग में दशहजार वर्ष तक भोगता है ॥ १२ ॥ भय से पीड़ित प्राणी जिस की शरण में क्षणमात्र भी क्षेम (सुख शुभ) पाता है, वह हम लोगों में अतिशय स्वर्गजित है, यह तुम्हे मैं सत्य कहता हूँ ॥ १३ ॥ जिस राजा के राष्ट्र (देश) में द्विज वा अन्य भी मनुष्य नष्ट पीड़ित होते हैं, उसके जीवन को धिक् है, जैसा कि शिवि ने कहा है ॥ १४ ॥ राजा से अरक्षित होने से जो कुछ प्रजा पाप करती है, हे भारत ! उस पाप के चतुर्थ भाग को राजा पाता है ॥ १५ ॥ राजा से सुरक्षित प्रजा जो कुछ शुभ (पुण्य) करती है, उसके भी चतुर्थ भाग को राजा पाता है ॥ १६ ॥ चाटक (प्रतारक ठग) चोर, दुश्चरित्र, महासाहसिक (महादुष्कर्मी) हिंसकादि से और विशेष करके कायस्थ से पीड़ित प्रजा की रक्षा राजा करे ॥ १७ ॥ राजा से अरक्षित प्रजा जो कुछ पाप करती है, उसमें से आधा पाप राजा को होता है, क्योंकि वह कर लेता है, अतः उसके पाप की यह व्यवस्था है ॥ १८ ॥ सब गुण समूहों में अध्यात्मज्ञान (आत्म सम्बन्धी बोध) उत्तम है, उस बोध का ज्ञाता ही राजा वस्तुतः राजा है, वा होता है, और अध्यात्म ज्ञाता मन्त्री ही सत्य मन्त्रज्ञ है ॥ १९ ॥ समदृष्टिता ही प्रभुत्व के हेतु होने से प्रभुत्व रूप है, सो समदृष्टिता विद्याओं में श्रेष्ठ अध्यात्मविद्या से ही होती है, तिस विद्या को जो नहीं जानता है, सो न मन्त्री है न राजा है ॥२०॥ राजा सब जैसे प्रजा को औरस पुत्रों के समान पालते हैं, तैसे ही प्रजा की स्त्रियों को माता तुल्य देखते हैं ॥ २१ ॥ रक्षा करने वाले राजा को सब के धर्मों का छठा भाग मिलता है, और रक्षा नहीं करने पर अधर्म का भी छठा भाग मिलता है ॥ २२ ॥

योऽरक्षन् बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः । प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत् ॥ २३ ॥
यः क्षिप्तो मर्षयत्यार्त्तैस्तेन स्वर्गे महीयते । यस्त्वैश्वर्यान्न क्षमते नरकं तेन गच्छति ॥ २४ ॥
मनु० अ० ८।३०४-७-१३ ॥
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति । दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ २५ ॥
समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः । असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥ २६ ॥
सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः । दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद् भोगाय कल्पते ॥ २७ ॥
देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः । तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥ २८ ॥
दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः । धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ २९ ॥
मनु० अ० ७।१८। इत्यादि ॥
कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च । राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥ ३० ॥
कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगम् । कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥ ३१ ॥
मनु० अ० ९।३०१-२ ॥
कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् । इति ते संशयो माभूद् राजा कालस्य कारणम् ॥ ३२ ॥
दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक् कृत्स्नेन वर्त्तते । तदा कृतयुगं नाम कालसृष्टं प्रवर्त्तते ॥ ३३ ॥
दण्डनीत्यां यदा राजा त्रीनंशाननुवर्त्तते । चतुर्थमंशमुत्सृज्य तदा त्रेता प्रवर्त्तते ॥ ३४ ॥
अर्द्धं त्यक्त्वा यदा राजा नीत्यर्द्धमनुवर्त्तते । ततस्तु द्वापरं नाम स कालः संप्रवर्त्तते ॥ ३५ ॥

जो राजा रक्षा के विना बलि (उपहार भेंट) वा धान्यादि का षष्ठांश, कर, ग्रामवासी से ग्राह्य द्रव्य शुल्क, वाणिज्य द्रव्य, फलादि का प्रतिभाग, और व्यवहार का दण्ड लेता है, सो शीघ्र नरक में जाता है ॥ २३ ॥ जो दुःखितों से आक्षिप्त (कटु वचनोक्त) होने पर भी सहता है, सो उससे स्वर्ग में पूजित होता है, जो प्रभुता के मद से नहीं सहता है सो उससे नरक में जाता है ॥ २४ ॥ दण्ड ही प्रजाओं को शासन (आज्ञा) करता है, दण्ड सब से रक्षा करता है, सब के सोने पर भी मानो दण्ड जागता है, कि जिस के भय से दुष्ट भी पाप नहीं करते हैं, इससे दण्ड को पण्डित धर्म जानते है ॥ २५ ॥ सम्यग् विचार कर धृत (कृत) वह दण्ड सब प्रजा को प्रसन्न करता हैं, विचार के विना प्रयोग किया गया दण्ड सब को नष्ट करता है ॥ २६ ॥ सब लोक दण्ड से वश में नियम में है, स्वभाव से पवित्र मनुष्य दुर्लभ है । दण्ड के ही भय से सब प्राणी भोजनादि के लिये समर्थ होते हैं ॥ २७ ॥ देवादि भी ईश्वरादि के दण्ड के भय से ही भोग के लिये समर्थ होते हैं, वृष्टि आदि करते हैं ॥ २८ ॥ वह दण्ड अति महान् तेज रूप है अवज्ञात्माओं से दुर्धर है, इससे धर्म से विचलित बन्धुओं के समूह के सहित नृप को वह असेवित दण्ड ही नष्ट करता हैं ॥ २९ ॥ सतयुगादि सब काल भी राजा के चरित्र रूप ही हैं, इससे राजा ही युग कहा जाता है ॥ ३० ॥ मोह नींद से सोया हुवा आलसी निरुद्यम राजा कलियुग है, जानकर भी निरुद्यम द्वापर है, कर्म में प्रवृत हुआ त्रेता है, अच्छी तरह से कर्म कर्ता हुआ सतयुग है ॥ ३१ ॥ काल राजा का कारण है वा राजा युगरूप काल का कारण है, यह संशय तुझे नहीं होना चाहिये, राजा ही काल का कारण है ॥३२॥ जब राजा दण्ड-नीति में अच्छी तरह पूर्णरूप से व्यवहार करता है, तब सतयुग नामक कालसिद्ध हो कर प्रवृत्त होता है ॥३३॥ दण्डनीति में तीन अंश का ग्रहण कर के एक अंश को राजा त्यागता है तब त्रेता होता है ॥३४॥ आधे को

दण्डनीतिं परित्यज्य यदा कार्त्स्न्येन भूमिपः । प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन प्रवर्त्तते तदा कलिः ॥३६॥

महाभा० शान्तिप० अ० ६९।७६ इत्यादि ॥

ब्रह्म वै इदमग्र आसीदेकमेव, तदेकं सत् न व्यभवत्, तत् श्रेयो रूपमसृजत क्षत्रम् । तस्मात् क्षत्रात्परं न अस्ति ॥ ३७ ॥ शतपथब्रा० १४।४।२।१३ ॥

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः । उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ॥३८॥

ब्राह्मणा अग्निरूपेण खड्गरूपेण क्षत्रियाः । यावन्मामर्चयिष्यन्ति तावद्राज्यं सुखानि च ॥३९॥

इत्यादि क्वचित् ॥

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् । रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः ॥४०॥

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् । [1]आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥४१॥

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् । जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥४२॥

मनु० अ० ७।३-४३-४४ ॥

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च । सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ ४३ ॥

मनु० अ० १२।१०० ॥

दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा न्यायेन कोशस्य च संप्रवृद्धिः ।
अपक्षपातोऽर्थिषु राष्ट्ररक्षा पञ्चैव यज्ञाः कथिता नृपाणाम् ॥ ४४ ॥ अत्रिस्मृ० अ० ११२८॥

एतावान् हि प्रभोरर्थो यद्दीनपरिपालनम् । प्राणैः स्वैः प्राणिनः पान्ति साधवः क्षणभङ्गुरैः ॥ ४५ ॥

भागवतस्क० ८।७।३८॥

त्याग कर आधे का ग्रहण करता है तब द्वापर होता है ॥ ३५ ॥ सम्पूर्ण दण्डनीति को त्याग कर जब अयोग (अनुपाय-अनीति) से प्रवृत्त होता है, प्रजा को पीड़ित करता है, तब कलियुग प्रवृत्त होता है ॥ ३६ ॥ यह सब जगत् प्रथम ब्रह्मरूप ही था एक ही था, तो वह एक नहीं शोभता था, तब उसने श्रेयः (शुभ-सुन्दर) रूप क्षत्रिय को उत्पन्न किया, अतः क्षत्रिय से उत्तम अन्य नहीं है ॥ ३७ ॥ वह क्षत्रिय मोहनींद से सोया हुवा कलि होता है, जागने की चेष्टावाला द्वापर होता है, नींद से उठता हुवा त्रेता होता है, सम्यग् व्यवहार करता हुवा कृतयुग होता है ॥ ३८ ॥ तप के तेजादिमय अग्निरूप से ब्राह्मण और खड्गादि अस्त्र शस्त्र रूप से क्षत्रिय, जब तक ईश्वर की पूजा करेगें तब तक इन का राज्य और सुख भी रहेगा ॥ ३९ ॥ राजा रहित इस लोक में भय से सब को सर्वत्र भागता हुवा देख कर इन सब लोको की रक्षा के लिये प्रभु ने राजा की सृष्टि की है ॥ ४० ॥ राजा को उचित है कि तीन वेदों के ज्ञाताओं से तीन वेद रूप विद्या को पढ़े, और सदा रहने वाली दण्डनीति को, तथा आन्वीक्षिकी (तर्क विद्या) को, और आत्मज्ञान को पढ़े, और व्यवहार के आरम्भों को कुशल लोगों से सीखे (समझे) ॥ ४१ ॥ और सदा इन्द्रियों के विजय के लिये यत्न करता रहे, क्योंकि जितेन्द्रिय राजा ही प्रजा को वश में रख सकता है ॥ ४२ ॥ और वेदशास्त्र का ज्ञाता ही सेनापतित्वादि के योग्य होता है ॥ ४३ ॥ दुष्ट का दण्ड, सज्जन की पूजा, न्याय से कोश की सम्यग् वृद्धि, अर्थियों में पक्ष पात का अभाव, देश की रक्षा ये पाँच यज्ञ राजाओं के कहे गये हैं ॥ ४४ ॥ एतना ही राजा का फल है कि दीन दुःखियों

---

१. आन्वीक्षिक्यात्मविद्या स्यादीक्षणात्सुखदुःखयोः । ईक्षमाणस्तया तत्त्वं हर्षशोकौ व्युदस्यति । इति शुक्रनीतिः ॥
प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् । आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥ इति न्यायभाष्यम् ॥

प्रकीर्णविषयारण्ये धावन्तं विप्रमाथिनम् । ज्ञानाङ्कुशेन कुर्वीत वशमिन्द्रियदन्तिनम् ॥ ४६ ॥
विषयामिषलोभेन मनः प्रेरयतीन्द्रियम् । तन्निरुध्येत यत्नेन जिते तस्मिञ्जितेन्द्रियः ॥ ४७ ॥
एकस्यैव हि योऽशक्तो मनसः सन्निवर्हणे । महीं सागरपर्यन्तां स कथं ह्यवजेष्यति ॥ ४८ ॥
शुक्रनी० अ० १।१९८ इत्यादि ॥
त्रयो वै रिपवो लोके नवधा गुणतः स्मृताः । प्रहर्षः प्रीतिरानन्दस्त्रयस्ते सात्त्विका गुणाः ॥ ४९ ॥
तृष्णा क्रोधोऽभिसंरम्भो राजसास्ते गुणाः स्मृताः । श्रमस्तन्द्राश्च मोहश्च त्रयस्ते तामसा गुणाः ॥५०॥
एतान्निकृत्य धृतिमान् बाणसङ्घैरतन्द्रितः । जेतुं परानुत्सहते प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ॥ ५१ ॥
महाभा० आश्वमेधिकप० अ० ३१ ॥
पुत्रवच्च प्रजाः स्वाश्च भृत्यांश्च परिपालय । योगः क्षेमश्च ते नित्यं ब्राह्मणेष्वस्तु भारत ! ॥ ५२ ॥
अनर्थो ब्राह्मणस्यैष यद्वित्तनिचयो महान् । श्रिया ह्यभीक्ष्णं संवासो दर्पयेत् संप्रमोहयेत् ॥ ५३ ॥
ब्राह्मणेषु प्रमूढेषु धर्मो विप्रणशेद् ध्रुवम् । धर्मप्रणाशे भूतानामभावः स्यान्न संशयः ॥ ५४ ॥
धिक् तस्य जीवितं राज्ञो राष्ट्रे यस्यावसीदति । द्विजो वाऽन्यो मनुष्यो वा शिविराह वचो यथा ॥५५॥
अरक्षितारं हर्त्तारं विलोप्तारमनायकम् । तं वै राजकलिं हन्युः प्रजाः सन्नह्य निर्घृणम् ॥५६॥
अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः । स संहत्य निहन्तव्यः श्वेव सोन्माद आतुरः ॥५७॥
पापं कुर्वन्ति यत्किञ्चित्प्रजा राज्ञा ह्यरक्षिताः । चतुर्थं तस्य पापस्य राजा विन्दति भारत ! ॥५८॥
महाभा० अनुसाशनप० अ० ६१।१८–२० इत्यादि ॥

की रक्षा करना, साधु लोग अपने क्षण भंगुर प्राणों से भी प्राणियों की रक्षा करते हैं ॥ ४५ ॥ विस्तृत विषयरूप वन में दौड़ते हुए पीड़ित करने वाले इन्द्रियरूप हाथी को ज्ञानरूप अंकुश से वश में करे ॥ ४६ ॥ विषयरूप मांस के लोभ से मन ही इन्द्रियों को प्रेरित करता है, उस मन को यत्न से रोके, मन के विजित होने पर जितेन्द्रिय होता है ॥ ४७ ॥ जो एक मन के ही रोकने में असमर्थ है, सो सागर तक भूमि को कैसे जीतेगा ॥ ४८ ॥ तीन गुण ही लोक में शत्रु हैं, सो गुण भेद (वृत्तिरूप कार्य भेद) से नव प्रकार के कहे गये हैं । इष्ट वस्तु का दर्शन, प्राप्ति, भोग जन्य क्रम से प्रहर्षादि नामक वे तीन सात्त्विक गुण होते हैं ॥ ४९ ॥ तृष्णा क्रोध, और अभिसंरम्भ (क्रोध का वेग) वे राजसगुण हैं । श्रमादि तीन तामस गुण हैं ॥ ५० ॥ धैर्य वाला इनका शमदमादिरूप वाण समूह से छेदन करके सावधान जितेन्द्रिय प्रशान्तात्मा होकर के ही अन्य शत्रुओं को जीतने के लिये उत्साह करता है ॥ ५१ ॥ हे भारत ! (युधिष्ठिर !) प्रजा को अपने सम्बन्धी और भृत्यों को पुत्र के तुल्य सम्यग् पालन करो, और तुझे ब्राह्मणों का योग क्षेम सदा करना चाहिये ॥ ५२ ॥ क्योंकि महान् अनर्थ रूप ब्राह्मण के धन का निचय (संग्रह-समूह) है, लक्ष्मी का सर्वथा दर्शन और उस के साथ में वास दर्प मोहयुक्त करता है ॥ ५३ ॥ और ब्राह्मणों के प्रमूढ होने पर धर्म अवश्य नष्ट होता है, धर्म के नष्ट होने पर प्राणी का भी अभाव होता है, इसमें संशय नहीं ॥५४॥ उसके जीवन को धिक् है कि जिसके देश में द्विज वा अन्य मनुष्य दुःखी नष्ट होते हैं, सो शिवि ने कहा है ॥ ५५ ॥ रक्षा नहीं करने वाला करादि को हरने वाला नष्ट करने वाला मन्त्री आदिरूप नायक रहित, दयारहित तिस राजा रूप कलियुग को प्रजा सब सन्नद्ध होकर मिल कर नष्ट कर दे ॥ ५६ ॥ मैं आप की रक्षा करने वाला हूँ ऐसा कह कर जो राजा रक्षा नहीं करता सो कुत्ते के तुल्य उन्मादयुक्त कामातुर राजा मिल कर हन्तव्य है ॥५७॥ राजा से अरक्षित प्रजा जो कोई पाप करती है, तिसके

राज्ञो रात्रिंदिवं धर्मो दुष्टभूतविनिग्रहः । स्वधर्मत्यागिनो ये तु ते विनाशानलेन्धनम् ॥ ५९ ॥
योगवासिष्ठप्र० ३।७८।३७ ॥
द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव । राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ ६० ॥
पुत्रा इव पितु र्गेहे विषये यस्य मानवाः । निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः ॥ ६१ ॥
न यस्य कूटं कपटं न माया न च मत्सरः । विषये भूमिपालस्य तस्य धर्मः सनातनः ॥ ६२ ॥
यः सत्करोति ज्ञानानि ज्ञेये परहिते रतः । सतां वर्त्मानुगस्त्यागी स राजा राज्यमर्हति ॥ ६३ ॥
महाभा० शान्तिप० अ० ७७।३।३३-३६-३७ ॥

इति द्वितीयं क्षत्रियतद्धर्मप्रकरणं समाप्तम् !

अथ वैश्यस्तद्धर्मश्च ॥ ३ ॥

यस्मिन् सुखेन विशति विश्वं सर्वं चराचरम् । तं विशं हि विजानीयाद् धर्मार्थादिसमाश्रयात् ॥ १ ॥
क्रयविक्रयकुशला ये नित्यं पणजीविनः । पशुरक्षाः कृषिकरास्ते वैश्याः कीर्त्तिता भुवि ॥ २ ॥
महाभा० वनप० अ० १८। शुक्रनी० अ० १ ॥
न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति । वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथञ्चन ॥ ३ ॥
मनु० अ० ३।३३८ ॥
धनवृद्धिकरो वैश्यः पशुपालः कृषीवलः । रसादीनां च विक्रेता देवब्राह्मणपूजकः ॥ ४ ॥
अर्थवृद्धिकरो व्याजाद् यज्ञकर्मादिकारकः । दानमध्ययनं चेति वैश्यवृत्तिरुदाहृता ॥ ५ ॥
स्कन्दपु० खं० ६। अ० २४२।२६-२७ ॥

चतुर्थांश को राजा पाता है, इसलिये प्रजा की रक्षा ही राजा का धर्म है ॥ ५८ ॥ दुष्ट प्राणी का विनिग्रह (दण्डादि द्वारा वशीकरण) राजा का रातदिन सदा कर्तव्य धर्म है, जो लोग अपने धर्म के त्यागी हैं, सो विनाश रूप अग्नि के इन्धन हैं ॥ ५९ ॥ बिलशायी चूहा आदि को जैसे सर्प निगलता (नष्ट करता) है, तैसे ही युद्ध रहित राजा और गुरुकुलवासविद्यादि के लिये प्रवास (विदेश वास) रहित ब्राह्मण इन दोनों को भूमि ग्रसती (निगलती) है ॥ ६० ॥ पिता के घर में पुत्रों के समान जिस राजा के राज्य (देश) में मनुष्य निर्भय हो कर विचरेंगे और चरते हैं, वह राजा अति श्रेष्ठ होगा और है ॥ ६१ ॥ जिस राजा के विषय (राज्य) में कूट (दम्भ) कपट (अनृत झूठ) माया (छल) और मत्सर (अन्य के शुभ में द्वेष) ये सब नहीं रहते हैं, तिस का सनातन धर्म है ॥ ६२ ॥ जो ज्ञानियों का सत्कार करता है, और पर के हितकारक शास्त्रार्थ में जो रत (तत्पर) रहता है, और सत्पुरुषों का मार्गानुगामी होता हुवा त्यागी (दाता) है वही राजा राज्य के योग्य है ॥ ६३ ॥ द्वितीय क्षत्रियतद्धर्म प्रकरण समाप्त ।

अथ वैश्य तद्धर्म—धर्म अर्थ आदि के सम्यक् आश्रय होने से जिस में चराचर सब संसार सुख से प्रवेश स्थिति पाता है. उस को वैश्य जानना चाहिये ॥ १ ॥ खरीदने बेंचने में जो चतुर हो, और सदा व्यवहार से जीने वाला हो, जिससे पशु की रक्षा होती हो, खेती करता हो, वह भूमि में वैश्य कहा गया है ॥ २ ॥ मैं पशुओं की रक्षा नहीं करूंगा, ऐसी वैश्य की इच्छा नहीं होनी चाहिये, और पशुरक्षा करना वैश्य चाहता हो, तब तक किसी प्रकार अन्य से रक्षा के योग्य पशु नहीं हैं ॥ ३ ॥ धन वृद्धि कारक, पशुपालक, खेत कर्षक, रसादि विक्रय कर्ता वैश्य है ॥ ४ ॥ व्याज से धन को बढाने वाला यज्ञादि कर्मों का कर्ता दान और अध्ययन भी यह वैश्य की वृत्ति (व्यवहार) कही गई है ॥ ५ ॥

पाशुपाल्यं च वाणिज्यं कृषिं च मनुजेश्वर ! । वैश्याय जीविकां ब्रह्मा ददौ लोकपितामहः ॥ ६ ॥
तस्याऽप्यध्ययनं यज्ञो दानं धर्मश्च शस्यते । नित्यनैमित्तिकादीनामनुष्ठानं च कर्मणाम् ॥ ७ ॥
इति तृतीयं वैश्यतद्धर्मप्रकरणं समाप्तम् । विष्णुपु० अंश० ३।७ ॥

अथ शूद्रस्तद्धर्मश्च ॥ ४ ॥

सत्संस्कारैर्विहीनो यो निर्विकारो ह्यसंशयः । सर्वाधारोऽचलो दार्ढः शूद्रः स ह्यभिधीयते ॥ १ ॥
द्विजसेवार्चनरताः शूराः शान्ता जितेन्द्रियाः । सीरकाष्ठतृणवहास्ते नम्राः शूद्रसंज्ञकाः ॥ २ ॥
महाभा० वनप० अ० १८ ॥
दीर्घवैरमसूया च असत्यं ब्रह्मदूषणम् । पैशुन्यं निर्दयत्वं च जानीयाच्छूद्रलक्षणम् ॥ ३ ॥
वसिष्ठस्मृ० अ० ६ ॥
श्मशानमेतत्प्रत्यक्षं ये शूद्राः पापचारिणः । न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम् ॥ ४ ॥
वसिष्ठस्मृ० अ० १८ ॥
शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषु मृदुवागनहंकृतः । ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां गतिमाप्नुयात् ॥ ५ ॥
मनु० अ० ९।३३५ ॥
भार्यारतिः शुचि भृत्यभर्त्ता श्राद्धक्रियापरः । नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ॥ ६ ॥
याज्ञवल्क्यस्मृ० अ० १।१२१ ॥
वैश्वदेवेन ये भीता आतिथ्याच्च वहिष्कृताः । सर्वे ते वृषला ज्ञेयाः प्राप्तवेदा अपि द्विजाः ॥ ७ ॥
येषामध्ययनं नास्ति ये च केचिदनग्नयः । न कुलं श्रोत्रियं येषां सर्वे ते शूद्रधर्मिणः ॥८॥ लघुशाता० स्मृ०॥

हे मनुजेश्वर ! पशुपालन, वाणिज्य, खेती, रूप जीविका ब्रह्मा ने वैश्यों के लिये दी है ॥ ६ ॥ तिस वैश्य के भी अध्ययन, यज्ञ, और दान रूप धर्म प्रशंसनीय हैं, और नित्य सन्ध्या आदि नैमित्तिक श्राद्धादि कर्मों के अनुष्ठान भी प्रशंसनीय हैं ॥ ७ ॥ वैश्य और वैश्यधर्म तृतीय प्रकरण समाप्त ।

अथ शूद्र और शूद्र धर्म—सच्चे संस्कारों से रहित भी जो विकार संशय रहित है, सब का आधार (सेवक) अपने धर्म में अचल दृढ है. सो शूद्र कहाता है ॥१॥ द्विज की सेवा में तत्पर, शूर, शान्त, जितेन्द्रिय, हल काष्ठ तृण को ढोने वाला वह नम्र शूद्र नाम वाला है, नम्र के स्थान में शुक्र नीति में 'नीच' यह पाठ है ॥२॥ दीर्घ (बड़ा) वैर, असूया (गुण में दोषारोप) असत्य, वेद का अनादर, पिशुनता (चुगली) निर्दयता से शूद्र के लक्षण जानना चाहिये ॥ ३ ॥ पाप करने वाले ये शूद्र प्रत्यक्ष श्मशान रूप हैं, ऐसे अनधिकारी शूद्र के लिये ज्ञान का प्रदान नहीं करना चाहिये । न उच्छिष्ट न हविष्कृत वस्तु देना चाहिये ॥ ४ ॥ पवित्र श्रेष्ठ का सेवक कोमलभाषी अहंकाररहित सदा ब्राह्मणादि आश्रय वाला शूद्र उत्कृष्ट गति को प्राप्त करता है ॥ ५ ॥ अपनी भार्या में रति वाला पवित्र, भृत्यपोषक श्राद्धक्रिया में तत्पर होकर शूद्र भी नमस्कार रूप मन्त्र से पांच महायज्ञ करे, उन्हें त्यागे नहीं ॥ ६ ॥ वैश्वदेव नामक कर्म से डरने वाले उसके त्यागी, अतिथि-सत्कार से रहित वे वेदज्ञ द्विज सब भी शूद्र ही हैं ऐसा जानना चाहिये ॥ ७ ॥ जिनकी अध्ययन क्रिया नहीं है, जो कोई अग्नि आधान से रहित हैं, और जिनका कुल श्रोत्रिय (वेदाध्ययन युक्त) नहीं है, वे सब शूद्र धर्मवाले हैं ॥ ८ ॥

सक्रियो ब्रह्मनिरतः सच्छूद्रो योगभाग् यदि । भवेत्सद्गुरुभक्तो वा सोप्यमूर्त्तफलं लभेत् ॥ ९ ॥
स्कन्दपु० खं० ६।२६२॥

शिल्पी च नर्तकश्चैव काष्ठकारः प्रजापतिः । वर्धकिश्चित्रकश्चैव सूत्रको रजकस्तथा ॥ १० ॥
गच्छकस्तन्तुकारश्च चक्रिकश्चर्मकारकः । सूनिको ध्वनिकश्चैव लौहिको मत्स्यघातकः ॥
औनामिकस्तु चाण्डालः[1] प्रकृत्याऽष्टादशैव ते ॥ ११ ॥
शिल्पिकः स्वर्णकारश्च दारुकः कांस्यकारकः । कारुकः कुम्भकारश्च प्रकृत्या उत्तमाश्च षट् ॥ १२ ॥ इत्यादि॥
शिल्पिनः सप्त विज्ञेया उत्तमाः समुदाहृताः । स्वर्णकृत् कम्बुकश्चैव तन्दुली पुष्पकारकः ॥
ताम्बूली नापितश्चैव मणिकारश्च सप्तधा ॥ १३ ॥
सर्वेषामेव वर्णानामाश्रमाणां महामुने ! । सर्वासां प्रकृतीनां च विष्णुभक्तिः सदा शुभा ॥ १४ ॥
स्कन्दपु० खं० ६।२४२॥

शूद्रोऽपि प्रातरुत्थाय कृत्वा पादाभिवन्दनम् । विष्णु भक्तिमयाञ्श्लोकान् पठन् विष्णुत्वमाप्नुयात् ॥ १५॥
वार्षिकव्रतकृन्नित्यं तिथिवाराधिदैवतः । अन्नदः सर्वजीवानां गृहस्थः शूद्र ईरितः ॥
अमन्त्राण्यपि कर्माणि कुर्वन्नेवेह मुच्यते ॥ १६ ॥ स्कन्दपु० खं० ६।२४२।२८-२९॥
शूद्रस्य सन्नतिश्शौचं सेवा स्वामिन्यमायया । अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेयं सत्सङ्गो विप्ररक्षणम् ॥ १७ ॥
दानं च दद्याच्छूद्रोऽपि पाकयज्ञै र्यजेत च । पित्रादिकं च तत्सर्वं शूद्रः कुर्वीत तेन वै ॥ १८ ॥
विष्णुपु० अंश ३ अ० ७॥

सत्क्रिया सहित ईश्वरभक्त श्रेष्ठशूद्र यदि योगसेवी सद्गुरु का भक्त हो तो अमूर्त (मोक्ष) फल को वह भी पा सकता है ॥ ९ ॥ "तक्षा च तन्तुवायश्च नापितो रजकस्तथा । पञ्चमश्चर्मकारश्च कारवः शिल्पिनो मताः ॥" यद्यपि कर्म कर्ता इन पाँचों को शिल्पी कहा गया है, तथापि स्कन्दपुराण के वचनों में प्रकृति स्वभाव से शिल्पी आदि अठारह शूद्र जाति के भेद हैं । और शिल्पकादि छौ स्वभाव से उत्तम हैं ॥ १०-१२ ॥ स्वर्णकारादि सात शिल्पी उत्तम कथित समझना चाहिये ॥ १३ ॥ और हे महामुने ! सब वर्ण आश्रम तथा पूर्ववर्णित अठारह प्रकृति या अमात्यादि सब के लिये विष्णुभक्ति सदा शुभ है ॥ १४ ॥ शूद्र भी प्रातःकाल में उठ कर माता पिता आदि पूज्यों के पाद (चरण) की प्रेमपूर्वक वन्दना करके विष्णु के भक्तिमय श्लोकों को पढ़ता हुआ विष्णुरूपता को प्राप्त होता है ॥ १५ ॥ परिवा आदि तिथि और रवि आदि वार (दिन) को देव मानने वाला, सदा वर्ष सम्बन्धी व्रतों को करने वाला, जीवों को अन्न देने वाला गृहस्थ शूद्र कहाता है वह मन्त्र बिना भी कर्मों को करता हुआ यहाँ शुद्धिपूर्वक ज्ञान पाकर संसार से मुक्त होता है ॥ १६ ॥ शूद्र का धर्म है कि सत्पुरुषों को नमस्कार करना, शौच करना कपट बिना स्वामी की सेवा करनी, तथा वैदिक मन्त्र बिना यज्ञ, सत्संग, अस्तेय (चौरी का अभाव) विप्र की रक्षा करनी ॥ १७ ॥ शूद्र भी सत्पात्र को दान दे, और पाक यज्ञों से पितरादि को पूजे, और वह सब कर्म शूद्र तिस दान यज्ञ से ही करे ॥ १८ ॥

---

१. यस्तु प्रवर्जिताज्जातो ब्राह्मण्यां शूद्रतस्तथा । द्वावेतौ विद्धि चाण्डालौ सगोत्राद्यस्तु जायते ॥ १ ॥
गरुडपु० प्रथमखं० अ० २५।४२ ॥ ध० का० ॥

अथान्त्यजः ॥ ५ ॥

वर्णाश्रमपरिभ्रष्टा अधमा अन्त्यजातयः । अन्त्यजाः संपरिख्याता लोकद्वयबहिष्कृताः ॥ १ ॥
रजकश्चर्मकारश्च नटो बुरुड एव च । कैवर्त्तमेदभिल्लाश्च सप्तैते अन्त्यजाः स्मृताः ॥२॥ स्कन्द पुरा० ॥
त्यक्तस्वधर्माचरणा निर्घृणाः परपीडकाः । चण्डाश्च हिंसका नित्यं म्लेच्छास्ते ह्यविवेकिनः ॥ ३ ॥
इति पञ्चममन्त्यजप्रकरणं समाप्तम् । शुक्रनी० श्र० १ ॥

अथ वर्णविभागफलानि ॥ ६ ॥

ब्रह्मणा विहिता वर्णा लोकतन्त्रमभीप्सता । यदीदमेकवर्णं स्याज्जगत्सर्वं विनश्यति ॥ १ ॥
यदि ते ब्राह्मणा न स्यु र्ज्ञानयोगवहाः सदा । उभयो र्लोकयो र्देवि ! स्थिति र्न स्यात्समासतः ॥२॥
यदि निःक्षत्रियो लोको जगत्स्यादधरोत्तरम् । रक्षणात् क्षत्रियैरेव जगद् भवति शाश्वतम् ॥ ३ ॥
तथैव देवि ! वैश्याश्च लोकयात्राहिताः स्मृताः । अन्ये तानुपजीवन्ति प्रत्यक्षफलदा हि ते ॥ ४ ॥
यदि न स्युस्तु ते वैश्या न भवेयुस्तथा परे । तथैव शूद्रा विहिताः सर्वधर्मप्रसाधकाः ॥ ५ ॥
शूद्राश्च यदि ते न स्युः कर्मकर्त्ता न विद्यते । त्रयः पूर्वे शूद्रमूलाः सर्वकर्मकरास्तु ते ॥६॥ महाभारते ॥
स्वकर्मणा सर्वसिद्धिसमरत्वं लभेद् ध्रुवम् । सुरत्वं च मनुत्वं च सुरेन्द्रत्वं लभेन्नरः ॥
विष्णुत्वं च शिवत्वं च गणेशत्वं तथैव च ॥ ७ ॥ देवीभा० स्क० ६।१७ ॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः । स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ८ ॥

अथ अन्त्यज—वर्णाश्रम धर्म से गिरे हुए अधमस्वभाववाले अन्तिम जाति वाले अन्त्यज कहे गये हैं, जो लोकद्वय से बाहर समझे गये हैं ॥ १ ॥ रजकादि नाम वाले ये सात अन्त्यज कहे गये हैं ॥२॥ अपने मानव वर्णादि के धर्मों को त्यागने वाले दयारहित अन्य को पीडित करने वाले क्रूर सदा हिंसक जो अविवेकी हैं, सो म्लेच्छ हैं ॥ ३ ॥ पञ्चम अन्त्यज प्रकरण समाप्त ।

अथ वर्णविभागफल—लोक के तन्त्र (व्यवहार के प्रकार) को चाहने वाले ब्रह्माजी ने वर्णों को विहित (स्थापित) किया, समझा कि यदि यह जगत् एक वर्ण वाला होगा, तो सब विनष्ट हो जावेंगे ॥१॥ हे देवि ! यदि सदा ज्ञानयोग को धारण करने वाले वे ब्राह्मण नहीं होगें, तो समास (निराकाङ्क्ष शान्त) रूप से दोनों लोक की स्थिति नहीं होगी ॥ २ ॥ यदि क्षत्रिय रहित लोक होगा, तो जगत् अधरोत्तर (नीचे ऊपर) विनष्ट हो जायगा, क्षत्रियों से रक्षण होने से जगत् सदा रहता है ॥ ३ ॥ हे देवि ! तैसे ही लोकयात्रा (व्यवहार के उपाय) का हित रूप वैश्य कहा गया है, अन्य लोग उस के आश्रित होकर जीते हैं, वह वैश्य प्रत्यक्ष फलदाता है ॥ ४ ॥ यदि वे वैश्य नहीं हों तो वैसे ही अन्य भी नहीं रह सकते, तैसे ही शूद्र भी सब धर्म के प्रसाधक विहित हैं ॥ ५ ॥ यदि वे शूद्र नहीं हों तो कर्म कर्ता ही नहीं रहते हैं, इससे सब कर्म करने वाले पहले के तीनों भी शूद्रमूलक हैं ॥ ६ ॥ और सब अपने कर्मों से सब सिद्धि अवश्य पाते हैं, अमरत्व, सुरत्व, मनुत्व, सुरेन्द्रत्व, विष्णुत्व और गणेशत्व भी स्वकर्म से नर पाते हैं ॥ ७ ॥ अपने २ कर्म में अभिरत (प्रेम से प्रवृत्त) मनुष्य सम्यक् सिद्धि पाता है, और जैसे सिद्धि पाता है, सो प्रकार सुनो ॥ ८ ॥

यतः प्रवृत्ति र्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ९ ॥

श्रीमद्भ० गी० अ० १८ ॥

अथ ब्रह्मचारी, तद्धर्मादिश्च ॥ ७ ॥

ब्रह्माऽध्ययनसंयुक्तो ब्रह्मचर्यरतः सदा । सर्वं ब्रह्मेति यो वेद ब्रह्मचारी स उच्यते ॥१॥ सदाचारस्तो० ॥

कामचारी तु कामेन य इन्द्रियसुखे रतः । ब्रह्मचारी सदैवैष य इन्द्रियजये रतः ॥ २ ॥

अपेतव्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्मणि स्थितः । ब्रह्मभूतश्चरंल्लोके ब्रह्मचारी भवत्ययम् ॥ ३ ॥

ब्रह्मैव समिधस्तस्य ब्रह्माग्नि र्ब्रह्मसम्भवः । आपो ब्रह्म गुरु र्ब्रह्म स ब्रह्मणि समाहितः ॥ ४ ॥

महाभा० अश्वमेधप० ॥ अ० २६।१५-१७ ॥

सर्वेषामाश्रमाणां तु द्वैविध्यं तु चतुर्विधम् । ब्रह्मचार्युपकुर्वाणो नैष्ठिको ब्रह्मतत्परः ॥ ५ ॥

योऽधीत्य विधिवद् वेदान् गृहस्थाश्रममाव्रजेत् । उपकुर्वाणको ज्ञेयो नैष्ठिको मरणान्तिकः ॥ ६ ॥

गरुडपु० खं० १।अ० ४९ ॥

ब्रह्मचर्यप्रभावेन तप उग्रं प्रवर्त्तते । ब्रह्मचर्यात्परं नास्ति धर्मसाधनमुत्तमम् ॥ ७ ॥

स्कन्दपु० खं० ६ अ० २३७।१४ ॥

निष्कल्मषं ब्रह्मचर्यमिच्छता चरितुं सदा । निद्रा सर्वात्मना त्याज्या स्वप्नदोषानवेक्षता ॥ ८ ॥

महाभा० शां० प० अ० २१६ ॥

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्त्ति ॥ ९ ॥

जिसकी सत्ता प्रकाशादि से सब भूतों में प्राणियों की प्रवृत्ति होती हैं, जिससे यह सब जगत् व्याप्त है, तिस अन्तर्यामी साक्षी आदि स्वरूप ईश्वर की पूजा अपने कर्मों द्वारा करके मनुष्य सिद्धि पाता है (ज्ञान की योग्यता वाला होता है) ॥ ९ ॥ छठवाँ वर्ण विभाग फल प्रकरण समाप्त ।

अथ ब्रह्मचारी और उसके धर्मादि—वेदाध्ययन से युक्त सदा ब्रह्मचर्य (इन्द्रियनिरोध) में तत्पर जो इस सब जगत् को ब्रह्ममय देखता है, सो ब्रह्मचारी कहाता है ॥१॥ इन्द्रिय जन्य सुख में तत्पर जो काम से होता है, सो कामचारी है. और यह ब्रह्मचारी है जो सदा इन्द्रियों के विजय में तत्पर है ॥२॥ और व्रत कर्म से रहित होकर जो केवल ब्रह्मनिष्ठ है, वह ब्रह्म स्वरूप होकर लोक में विचरता हुवा भी ब्रह्मचारी होता है ॥३॥ उस मुख्य ब्रह्मचारी के समिधादि ब्रह्मस्वरूप ही हैं, और वह ब्रह्म में समाधियुक्त है ॥४॥ सब जो चार प्रकार के आश्रम हैं, उन सब में दो २ प्रकार हैं, एक ब्रह्मचारी उपकुर्वाणक होता है, और एक दूसरा ब्रह्म में तत्पर नैष्ठिक कहाता है ॥ ५ ॥ जो विधिपूर्वक वेद पढ़ कर गृहस्थाश्रम में जाता है सो उपकुर्वाणक है, मरण तक ब्रह्मचर्य से रहने वाला नैष्ठिक है ॥ ६ ॥ ब्रह्मचर्य के प्रताप से उग्र (उत्कट) तप सिद्ध होता है, और ब्रह्मचर्य से भिन्न धर्म के उत्तम साधन नहीं हैं ॥ ७ ॥ पापरहित ब्रह्मचर्य को सदा चाहने वाला स्वप्नदोष को देखता हुवा दोष जनक निद्रा को सर्वथा त्यागे ॥८॥ रोदसी (भूमिस्वर्ग) दोनों को 'इष्णन्' (व्याप्तकरता हुवा) ब्रह्मचारी दोनों में विचरता है, और देव उस में प्रसन्नयुक्त होते हैं, उसने पृथिवी और स्वर्ग का धारण किया है, और वह आचार्य को तप से पोषता है ॥ ९ ॥

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग् देवा अनुयन्ति सर्वे।
गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः। सर्वान्त्स देवान् तपसा पिपर्त्ति ॥ १० ॥
आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः। प्रजापति र्विराजति विराडिन्द्रो भवद् वशी ॥११॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति। आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छति ॥ १२ ॥
ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अनड्वान् ब्रह्मचर्येण श्वो घासं जिगीर्षति ॥ १३ ॥
अथर्ववेद कां० ११। अ० ३। सू० ५ ॥

एषः सकृद्विभातो हि ब्रह्मलोकः स वै श्रुतः। ब्रह्मचर्येण तं केप्यनुविदन्ति नचान्यथा ॥ १४ ॥
यज्ञमिष्टादिकं मौनं सर्वं स लभते व्रती। ब्रह्मचर्येण यस्मात्तत्सर्वं तद् व्रतात्मकम् ॥ १५ ॥
छान्दोग्योप० अ० ८।४-५ ॥

अधीहि भो! किं पुण्यमिति, ब्रह्मचर्यमिति। किं लोक्यमिति ब्रह्मचर्यमेवेति ॥१६॥ गोपथ० पू० २।५ ॥
दीर्घसत्रं वै एष उपैति, यो ब्रह्मचर्यमुपैति ॥ १७ ॥ शतपथ० १।१।३।३।१ ॥

अग्नीन्धनं भैक्ष्यचर्यामधः शय्यां गुरोर्हितम्। आसमावर्त्तनात् कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥ १८ ॥
लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथाऽध्यात्मिकमेव च। आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ १९ ॥
मनु० अ० २।१०८-११७ ॥

शय्याऽसनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्। शय्याऽऽसनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥२०॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपजीविनः। चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥२१॥

ब्रह्मचारी के प्रति पितर देवजन सब देव पृथक् २ उसकी रक्षा के लिये प्राप्त होते हैं, गन्धर्व इसको प्राप्त हुए, तैंतीस, वा तीन सौ तीन या छौ सहस्र जो सब देव हैं सो सब उसकी रक्षा के लिये प्राप्त होते हैं, और वह तप से सब की रक्षा करता है ॥ १० ॥ ब्रह्मचारी ही आचार्य और प्रजापति होता है, और प्रजापति 'विराजति' (विराट् होता है ... ाट ही वश में करने वाला इन्द्र हुवा है ॥ ११ ॥ ब्रह्मचर्य रूप तप से ही राजा देश की विशेष रक्षा करता है, और आचार्य भी ब्रह्मचर्य से ब्रह्मचारी की इच्छा करते हैं ॥ १२ ॥ ब्रह्मचर्य से कन्या योग्य युवा पति को पाती है, और अनड्वान् (बैल) ब्रह्मचर्य से अगले दिन घास खाता है (ब्रह्मचर्य से ज्वलिताग्नि वाला होता है जीता है) ॥ १३ ॥ जो यह सकृद्विभात (एकरस प्रकाशमान) ब्रह्मस्वरूप लोक है सो सुना गया है, उसको कोई ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त करता है, अन्यथा नहीं ॥ १४ ॥ वह व्रती (ब्रह्मचारी) इष्टादिरूपयज्ञ और मौन इन सब को ब्रह्मचर्य से पाता है, जिससे ऐसा होता है, तिससे वे सब ब्रह्मचर्य व्रतरूप ही हैं ॥ १५ ॥ स्मरण-उपदेश करो कि पुण्य क्या है ? उत्तर—ब्रह्मचर्य पुण्य है, लोक के लिये हित क्या है ? उत्तर—ब्रह्मचर्य ही है ॥ १६ ॥ यह दीर्घसत्र (भारीयज्ञ) को प्राप्त करता है, जो ब्रह्मचर्य को प्राप्त करता है ॥ १७ ॥ उपनयनसंस्कारवाला द्विज, लकड़ी से अग्नि का संदीपन, भिक्षाचरण, खट्वा रहित शय्या, गुरु का हित, समावर्तन तक करे ॥ १८ ॥ लौकिक, वैदिक, वा आध्यात्मिक ज्ञान जिससे प्राप्त करे, मान्यों में भी उन्हे प्रथम नमस्कार करे ॥ १९ ॥ जो शय्या या आसन श्रेष्ठ गुरु आदि से असाधारण रूप से स्वीकृत हो, उस पर नहीं बैठे और स्वयं शय्यासन पर हो तो गुरु के आगमन के होने पर उठ कर अभिवादन करे ॥२०॥ उठ कर वन्द-

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षि पितृतर्पणम् । देवताऽभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥ २२ ॥
वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः । शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ २३ ॥
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् । कामं क्रोधं च लोभं च नर्त्तनं गीतवादनम् ॥ २४ ॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम् । स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥ २५ ॥
एकः शयीत सर्वत्र न रेतःस्कन्दयेत् क्वचित् । कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ २६ ॥
स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः । स्नात्वाऽर्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥ २७ ॥
उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन् मृत्तिका कुशान् । आहरेद्यावदर्थानि भैक्षञ्चाहरहश्चरेत् ॥ २८ ॥
मनु० अ० २।१८२ । इत्यादि ॥

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् । तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥ २९ ॥ मनु० अ० ३।१-२ ॥
भिक्षाचर्याऽथ शुश्रूषा गुरोः स्वाध्याय एव च । सन्ध्याकर्माग्निकार्यं च धर्मोऽयं ब्रह्मचारिणः ॥ ३० ॥
मनुस्मृ० अ० २ ॥ गरुडपु० खं० १ अ० ४९।५॥
आहूताऽध्यायी गुरुकर्मस्वचोद्यः पूर्वोत्थायी चरमं चोपशायी ।
मृदुर्दान्तो धृतिमानप्रमत्तः स्वाध्यायशीलः सिद्ध्यति ब्रह्मचारी ॥३१॥ महाभा० आदिप० अ० ९१।२ ॥
नाहमिज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन च । तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा ॥ ३२ ॥
भागवतस्क० १०उ०अ० ८।३४॥

नाशील और वृद्ध सेवी की आयु आदि चारो बढ़ते हैं ॥ २१ ॥ प्रतिदिन स्नान कर के शुचि हो कर देव ऋषि पितृ का तर्पण जलादि से करे, और देव पूजा तथा लकडी से अग्नि को ज्वलित करे, और होम करे ॥ २२ ॥ मधु मांसादि और सब शुक्त (सिरका आदि) प्राणी की हिंसा को त्यागे ॥ २३ ॥ सर्वाङ्ग में तेलमर्दन, आँखों में आँजन, जूता, छाता, और काम क्रोधादि को त्यागे ॥ २४ ॥ जुआ, जनों के साथ निरर्थक वादविवाद, परिवाद (परनिन्दा) झूठ वाद, स्त्री का देखना स्पर्श, पर के अपकार-हिंसा को त्यागे ॥ २५ ॥ सर्वत्र एकाकी सोवे वीर्य का पात स्वेच्छा से कहीं नहीं करे, क्योंकि इच्छा से वीर्यपात करने पर अपने व्रत को नष्ट करता है ॥ ३६ ॥ स्वप्नादि में इच्छा बिना ब्रह्मचारी द्विज वीर्यपात करे तो स्नान करके सूर्य की पूजा करके "पुनर्मामेत्विन्द्रियम्" इस ऋग् मन्त्र को तीन वार जपे ॥ २७ ॥ जल का घट, पुष्प, गोबर, मिट्टी, कुश ये सब गुरु की जरूरत भर ले आवे, और भिक्षा भी प्रतिदिन माँगे ॥ २८ ॥ छत्तीस वर्ष तक तीन वेद सम्बन्धी व्रत गुरु कुल में करना चाहिये या उस का आधा अठारह वर्ष या उस का भी आधा नव वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत करना चहिये, या जितने दिन वर्ष में सब वेद का ग्रहण (ज्ञान) हो सके तब तक व्रत करना चाहिये, और अभ्रष्ट ब्रह्मचर्य वाला हो कर फिर गृहस्थाश्रम में उपकुर्वाणक ब्रह्मचारी प्रवेश करे ॥ २९ ॥ भिक्षाचरण, गुरु की सेवा, अध्ययन, संध्याकर्म, अग्निहोत्र, वे ब्रह्मचारी के धर्म हैं ॥ ३० ॥ गुरु से आहूत (आओ पढ़ो) इस प्रकार गुरु से आज्ञा पाकर पढ़ने वाला, और गुरु के काम में प्रेरणा बिना स्वयं श्रद्धा से प्रवृत्त होने वाला, गुरु से प्रथम सवेरे उठने वाला, और गुरु से पीछे सोने वाला, मृदु, जितेन्द्रिय, सावधान, अध्ययनशील ब्रह्मचारी सिद्धि पाता है ॥३१॥ सब के आत्मा रूप मैं यज्ञ प्रजाति (सन्तति) तप वा उपशम (निवृत्ति-वैराग्य) से वैसा सन्तुष्ट

समिध आहृत्य चाहरहः सायं प्रातरग्निं परिचरेत्। न उपरिशायी स्यात्, न गायनः, न नर्तनः, न सरणः, न निष्ठीवेत् ॥ ३३ ॥ गोपथपू० २।६–७ ॥

इति सप्तमं ब्रह्मचारितद्धर्मप्रकरणं समाप्तम्।

अथ गृहस्थस्तद्धर्मश्च ॥ ८ ॥

गृहस्थो गुणमध्यस्थः शरीरं गृहमुच्यते। गुणाः कुर्वन्ति कर्माणि नाहं कर्त्तेति बुद्धिमान्॥१॥ सदाचारस्तोत्रे ॥

विभागशीलः सततं क्षमायुक्तो दयालुकः। गृहस्थः स समाख्यातो न गृहेण गृही भवेत् ॥ २ ॥
पद्मपु० खं० २।अ० ५४।२४ ॥

विभागशीलसम्पन्नः क्षमायुक्तो दयालुकः। स्वकर्मणि सदायुक्तो गृहस्थः स्वर्गभाग् भवेत् ॥ ३ ॥

दया लज्जा क्षमा श्रद्धा प्रजा त्यागः कृतज्ञता। [1]एते यस्य गुणाः सन्ति गृहस्थो मुख्य उच्यते ॥ ४ ॥
दक्षस्मृ० अ० २।६६–६७ ॥

विभागशीलः सततं क्षमायुक्तो दयालुकः। गृहस्थस्तु समाख्यातो न गृहेण गृही भवेत् ॥ ५ ॥

विधूय मोहकलिलं लब्ध्वा योगमनुत्तमम्। गृहस्थो मुच्यते बन्धान्नात्र कार्या विचारणा ॥ ६ ॥
कूर्मपु० उत्तरार्द्धं० अ० १५।२६–३२ ॥

उदासीनः साधकश्च गृहस्थो द्विविधो भवेत्। कुटुम्बभरणे युक्तः साधकोऽसौ गृही भवेत् ॥ ७ ॥

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य त्यक्त्वा भार्याधनादिकम्। एकाकी यस्तु विचरेदुदासीनः स मौक्षिकः ॥ ८ ॥
गरुडपु० खं० १।४९ ॥

नहीं होता हूँ कि जैसा गुरु सेवा से सन्तुष्ट होता हूँ ॥ ३२ ॥ इसलिये ब्रह्मचारी गुरु सेवा आदि के लिये लकड़ी ले आकर प्रतिदिन दोनों वक्त अग्नि की सेवा करे, और गुरु की अपेक्षा उच्च आशन पर नहीं सोवे, न गायक हो न नर्तक हो, न विशेष गमनशील हो, न व्यर्थ निष्ठीवन (थुत्कार) करे ॥ ३३ ॥ सप्तम ब्रह्मचारितद्धर्म प्रकरण समाप्त।

अथ गृहस्थ और उस का धर्म—गुणात्मा न हो कर गुणों के मध्य में स्थिति वाला, और मन इन्द्रियादि रूप गुण ही करने वाले हैं, मैं कर्ता नहीं हूँ ऐसा समझने वाला बुद्धिमान् गृहस्थ है, और उसका शरीर ही गृह कहाता है ॥ १ ॥ प्राप्त अन्नादि के भृत्य अतिथि आदि के प्रति सदा विभाग के स्वभाव वाला क्षमायुक्त दयालु जो होता है सो गृहस्थ कहा गया है, गृहमात्र से गृहस्थ नहीं होता है ॥ २ ॥ विभाग और शील से युक्त क्षमायुक्त दयालु सदा अपने कर्म में तत्पर गृहस्थ स्वर्ग का भागी होता है ॥ ३ ॥ दीनों पर दया कुकर्म से लज्जा अज्ञ अपराधी पर क्षमा गुरुजन सत्कर्मादि में श्रद्धा, धर्मादि को समझने के लिये प्रज्ञा, दान, कृतज्ञपन, ये गुण जिस के हैं, वह मुख्य गृहस्थ कहाता है ॥ ४ ॥ सदा विभाग के स्वभावादि वाला गृहस्थ होता है, सो मोहरूप कलिल (गहन वन) को नष्ट करके और उत्तम योग को प्राप्त करके बन्ध से मुक्त होता है, यह निश्चित बात है, इसमें विचार कर्तव्य नहीं है ॥ ५–६ ॥ उदासीन और साधक दो प्रकार के गृहस्थ होते हैं, उनमें कुटुम्ब के पोषण में तत्पर वह गृहस्थ साधक है ॥ ७ ॥ और अध्ययन पुत्र यज्ञ द्वारा ऋषि, पितृ, देव ऋण को चुका कर, स्त्रीधनादि को छोड़ कर जो

---

१. गुणा यस्य भवन्त्येते। इति पाठान्तरम्।

जीवन्मुक्तो गृहस्थश्च स्वधर्मपरिपालकः । यशस्वी पुण्यवांश्चैव कीर्त्तिमान् धनवान् सुखी ॥ ९ ॥
यशस्वी कीर्त्तिमान् यो हि मृतो जीवति सन्ततम् । यशःकीर्त्तिविहीनो हि जीवन्नपि मृतो हि सः ॥१०॥

ब्रह्मवैवर्त्तपु० ब्रह्मखं० अ० २३।११-१२ ॥ नारदं प्रति ब्रह्मोक्तिः ॥

न गृहं बन्धनागारं बन्धने न च कारणम् । मनसा यो विनिर्मुक्तो गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥ ११ ॥

देवीभा० स्क० १।४।५५ ॥

ऊर्ध्वं सुप्तः पतत्येव न शयानः पतत्यधः । परिव्रज्य परिभ्रष्टो न मार्गं लभते पुनः ॥ १२ ॥
विहितं कर्म कुर्वाणस्त्यजँश्चिन्तान्वितं च यत् । आत्मलाभेन सन्तुष्टो मुच्यते नात्र संशयः ॥ १३ ॥

देवीभा० स्क० १।१८ ॥ जनकोक्तिः ॥

न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः । श्राद्धकृत्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥१४॥

अग्निपु० अ० ३७६ ॥ स्कन्दपु० काशीखं० अ० ४०।१६४ ॥ याज्ञवल्क्यस्मृ० अ० ३।२५० ॥

पुत्रदाराप्तबन्धूनां सङ्गमः पान्थसङ्गमः । अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा ॥१५॥
इत्थं परिमृशन् मुक्तो गृहेष्वतिथिवद् वसन् । न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहंकृतः ॥१६॥

भागवतस्क० ११।१७ ॥

देवर्षिपितृभूतेभ्य आत्मने स्वजनाय च । अन्नं संविभजन् पश्येत्सर्वं तत्पुरुषात्मकम् ॥१७॥
न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद्धर्मतत्त्ववित् । मुन्यन्नैः स्यात्परा प्रीति र्यथा न पशुहिंसया ॥१८॥
नैतादृशः परो धर्मो नृणां सद्धर्ममिच्छताम् । न्यासो दण्डस्य भूतेषु मनोवाक्कायजस्य सः ॥१९॥

मोक्षप्रयोजन वाला अकेला विचरता है सो उदासीन गृहस्थ है ॥ ८ ॥ अपने धर्म का सर्वथा पालक अतएव यशस्वी पुण्यवान् कीर्तिमान् धनवान् सुखी गृहस्थ जीवन्मुक्त होता है ॥ ९ ॥ यशस्वी होने से जिसके यश के विस्तार को लोग गाते हों, सो कीर्तिमान् मरने पर भी मानो सदा जीवता है, और यश कीर्त्ति से रहित है सो जीवित रहता हुआ भी मानों मरा है ॥१०॥ इससे गृहबन्धनागार (जेल) नहीं है, न बन्धन में कारण ही है, गृहस्थ होता हुआ भी जो मन से विनिर्मुक्त (मोहरहित) है, सो संसार बन्धन से भी विमुक्त होता है ॥११॥ ऊपर वृक्षादि पर सोया हुआ गिरता ही है, भूमि में नीचे सोया हुआ नहीं गिरता है, तैसे संन्यास लेकर पतित हुवा मनुष्य सन्मार्ग को नहीं पाता है ॥ १२ ॥ विहित कर्म को करता हुवा, और जो चिन्तायुक्त हो उस को त्यागता हुवा आत्मलाभ (अनुभव) से सन्तुष्ट रहता है, सो गृहस्थ भी मुक्त होता है, इस में संशय नहीं है ॥१३॥ न्याय से प्राप्त धन वाला, आत्मज्ञान (ध्यान) में निष्ठा वाला अतिथि का प्रेमी श्राद्धकर्ता सत्य-वक्ता गृहस्थ भी मुक्त होता है ॥१४॥ पुत्र स्त्री बन्धु का सम्बन्ध पथिकों के सम्बन्ध के तुल्य है, प्रति देह में यह होता है और देह के बाद नष्ट हो जाता है, जैसे कि निद्रा में होने वाला स्वप्न निद्रा के बाद नष्ट होता है ॥ १५ ॥ इस प्रकार विचारता हुआ गृह में अतिथि के समान वसता हुआ, ममता अहंकार रहित गृहस्थ गृहों से पश्चात् बँधता नहीं है वह मुक्त है ॥ १६ ॥ देव ऋषि पितृ अन्य प्राणी अपनी आत्मा और स्वजनों के प्रति अन्न का सम्यग् विभाग करता हुआ उन सब को उस परमात्मा स्वरूप देखे ॥ १७ ॥ श्राद्ध में मांस नहीं दे, धर्मतत्त्वज्ञ स्वयं भी नहीं खावे, मुनि-अन्नों से जैसी उत्तम प्रीति होती है, वैसी पशु-हिंसा से नहीं होती ॥ १८ ॥ धर्म चाहने वाले मनुष्यों को इस प्रकार का उत्तम धर्म अन्य नहीं है, जैसा

द्रव्ययज्ञै र्यक्ष्यमाणं दृष्ट्वा भूतानि बिभ्यति। एष माऽकरुणो हन्यादतज्ज्ञो ह्यसुतृब्ध्रुवम् ॥२०॥

भागव० स्क० ७।१५।६ इत्यादि ॥

भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद्यतः स आस्ते सह षट्सपत्नः।

जितेन्द्रियस्यात्मरते बुधस्य गृहाश्रमः किन्नु करोत्यवद्यम् ॥ २१ ॥ भागव० स्क० ५।१।१७॥

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः। वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः ॥ २२ ॥

परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम्। कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥ २३ ॥

नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः। विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्यो र्मृत्युमुपैति सः ॥ २४ ॥

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे। नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥ २५ ॥

भागव० स्क० ११।३॥

अनेकभवसम्भूतकर्मपङ्काङ्कितो बुधैः। आत्मा सद्वासनातोयैः प्रक्षाल्यो नियतेन्द्रियैः ॥ २६ ॥

विहिताऽकरणात्पुंभिरसद्भिः क्रियते तु यः। संयमो मुक्तये नासौ प्रत्युताधोगतिप्रदः ॥ २७ ॥

अविद्याप्युपकाराय विषवज्जायते नृणाम्। अनुष्ठिताऽभ्युपायेन बन्धायाऽन्यायतो भवेत् ॥ २८ ॥

मार्कण्डेयपु० अ० ६२॥

त्रिवर्गसाधने यत्नः कर्तव्यो गृहमेधिना। तत्संसिद्धौ गृहस्थस्य सिद्धिरत्र परत्र ॥ २९ ॥

पादेनाऽऽव्यस्य पारत्र्यं कुर्याच्छ्रेयः स्वमात्मवान्। अर्द्धेन चात्मभरणं नित्यं नैमित्तिकानि च ॥ ३० ॥

कि मन वाग् देहजन्य दण्ड (हिंसा) को सब प्राणियों में त्यागना है ॥ १९ ॥ द्रव्य यज्ञों द्वारा भावी यज्ञ करने वालों को देख कर प्राणी डरते हैं कि यह दया रहित स्वप्राण पोषक अज्ञानी मुझे मारेगा ॥२०॥ प्रमत्त प्रमादी को वन में भी भय होता है जिससे वह कामादि छः शत्रु सहित है, और जितेन्द्रिय आत्मप्रीति वाले ज्ञानी को तो गृहाश्रम क्या दोष करता है ? कोई दोष नहीं करता है ॥२१॥ विहित कर्म निषिद्ध अकर्म, विगत कर्म त्याग, ये तीनों वेदवाद (वेद से ज्ञेय) हैं, लौकिक नहीं हैं, और वेद ईश्वर स्वरूप है, उस में विद्वान् भी मोहित होते हैं ॥ २२ ॥ स्वर्गादि के लिये परोक्ष वादरूप जो वेद है सो तो केवल बालकों के लिये शिक्षा है, वस्तुतः कर्म की निवृत्ति के लिये वेद कर्म विधान औषध के समान करता है ॥ २३ ॥ जो स्वयं अज्ञ अजितेन्द्रिय वेदोक्त कर्म नहीं करेगा, सो विकर्म रूप अधर्म से मृत्यु को पावेगा ॥ २४ ॥ फलासक्ति रहित वेदोक्त ही कर्म को करने वाला ईश्वरार्पण पूर्वक करने से निष्कर्मता रूप सिद्धि पाता है, वेद में फलश्रवण रुचि बढ़ाने के लिये है ॥ २५ ॥ अनेक जन्म में उत्पन्न कर्मरूप पंक से लिप्त आत्मा जितेन्द्रिय पण्डित से श्रेष्ठ वासना रूप जल द्वारा शुद्ध करने योग्य है ॥२६॥ असत्पुरुषों से विहित कर्म के त्याग द्वारा जो मुक्ति के लिये संयम किया जाता है, सो मुक्ति के लिये नहीं होता, उलटा अधोगतिप्रद होता है ॥ २७ ॥ अविद्या (कर्म) भी निष्कामता आदिरूपउपाय से अनुष्ठित (कृत) होने पर शोधित विष के समान मनुष्यों के उपकार के लिये होती है, और अन्याय से अनुष्ठित होने पर बन्ध के लिये होती है ॥ २८ ॥ गृहस्थ को अर्थ धर्म काम रूप त्रिवर्ग के साधन में यत्न करना चाहिये, त्रिवर्ग की सिद्धि से गृहस्थ को लोक और परलोक में सुखादि की सिद्धि मिलती है ॥ २९ ॥ वश्यात्मा गृहस्थ आय्य (आमदनी) के चतुर्थांश से पारलौकिक श्रेयः (शुभ) को करे, और आधे भाग से आत्मपोषण नित्य नैमित्तिक कर्म करे,

पादेनैव तथाऽऽद्यस्य मूलभूतं विवर्द्धयेत् । एवमाचरतो विप्रा ! अर्थसाफल्यमृच्छति ॥ ३१ ॥

ब्रह्मपु० अ० ११३।१०-१२ ॥

धर्मादर्थोऽर्थतो भोगो भोगाद्वैराग्यसंभवः । धर्मार्जितार्थभोगेन वैराग्यमुपजायते ॥३२॥

विपरीतार्थभोगेन राग एव प्रजायते ॥३३॥

धर्मेण धनमाप्नोति तपसा दिव्यरूपताम् । निष्कामः शुद्धिमाप्नोति शुद्ध्या ज्ञानं न संशयः ॥३४॥

कृतादौ हि तपः श्लाघ्यं द्रव्यधर्मः कलौ युगे । अधर्मो हिंसिकारूपो धर्मस्तु सुखरूपकः ॥३५॥

अधर्माद् दुःखमाप्नोति धर्माद्वै सुखमेधते । विद्याद् दुर्वृत्तितो दुःखं सुखं विद्यात्सुवृत्तितः ॥३६॥

न्यायार्जितस्य वित्तस्य दानात्सिद्धिं समश्नुते । ज्ञानसिद्ध्या मोक्षसिद्धिः सर्वेषां गुर्वनुग्रहात् ॥३७॥

मोक्षात्स्वरूपसिद्धिः स्यात्परमानन्दं समश्नुते । सत्संगात्सर्वमेतद्वै नराणां जायते द्विजाः ॥३८॥

कृष्यर्जिते दशांशं हि देयं पापस्य शुद्धये । शेषेण कुर्याद्धर्मादि अन्यथा रौरवं व्रजेत् ॥३९॥

शिवपु० विद्येश्वर खं० अ० १३ ॥

अनिकेता ह्यनाहारा यत्र सायं गृहाश्च ये । तेषां गृहस्थः सर्वेषां प्रतिष्ठा योनिरेव च ॥४०॥

अतिथि र्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्त्तते । स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥४१॥

अवज्ञानमहङ्कारो दम्भश्चैव गृहे सतः । परितापोपघातौ च पारुष्यं च न शस्यते ॥४२॥

विष्णुपु० अंश० २ अ० ६ ॥

और चतुर्थांश से मूलस्वरूप (पूंजी) को बढ़ावे ॥ एवं (इस प्रकार) सदा करने वाले का अर्थ सफलता को प्राप्त करता है ॥ ३०-३१ ॥ धर्म से अर्थ को जो प्राप्त करता है. और उससे जिस के भोग सिद्ध होते हैं, तो उस को भोग से वैराग्य होता है, क्योंकि धर्म से उपार्जित अर्थ के भोग से वैराग्य की उत्पत्ति होती है, और विपरीत (अधर्मार्जित) के भोग से राग ही उत्पन्न होता है ॥३२-३३॥ जो धर्म से धन को पाता है, तप से दिव्यरूपता को पाता है, वह निष्काम होकर अन्तः करण की शुद्धि पाकर शुद्धि से आत्मज्ञान पाता है, इस में संशय नहीं है ॥ ३४ ॥ सतयुगादि में तप प्रशंसनीय था, द्रव्य साध्यधर्म (दान) कलियुग में प्रशंसनीय है, और हिंसिका (परपीडा) स्वरूप अधर्म है, परसुखस्वरूपधर्म है ॥ ३५ ॥ अधर्म से दुःख को पाता है, धर्म से सुख बढ़ता है, दुर्वृत्ति (दुष्ट जीविकादि) से दुःख और सुवृत्ति से सुख जानना चाहिये ॥ ३६ ॥ न्याय से उपार्जित धन के दान से धर्मादि की सिद्धि को सम्यक् पाता है, और दानादि से प्रसन्न गुरु की कृपा से ज्ञान की सिद्धि से मोक्ष की सिद्धि सब को होती है ॥ ३७ ॥ मोक्ष से स्वरूप में स्थिति की सिद्धि होती है, जिससे परमानन्द को प्राप्त करता है, हे द्विज ! सत्संग से भी अन्तःकरण की शुद्धि ज्ञान मोक्ष आनन्द ये मनुष्य सब के होते हैं ॥ ३८ ॥ खेती से उपार्जित वस्तु में से दशमांश पाप की निवृत्ति के लिये सत्पात्र के प्रति देना चाहिये, शेष (अवशिष्ट) से धर्मोपभोगादि करे, ऐसा नहीं करने पर रौरव नरक में जाता है ॥ ३९ ॥ गृह आहार रहित, जहाँ संध्या हो जाय वहाँ ही गृह वाले जो हैं, उन सब का गृहस्थ ही आश्रय और स्थिति का कारण है ॥ ४० ॥ अतिथि हताश होकर जिस के घर से लौटता है, सो उस गृहस्थ के लिये अपना पाप दे कर और उस के पुण्य को लेकर लौटता है ॥ ४१ ॥ गृह में रहने वाले के लिये अतिथि का अनादर, अहंकार, दम्भ, परिताप, और उपघात, तथा परुषता दुर्वाक्य प्रशंसनीय नहीं हैं। इन का त्याग पूर्वक अतिथि का सत्कार उचित है ॥ ४२ ॥

यस्य माता गृहे नास्ति गृहिणी वा सुशासिता। अरण्यं तेन गन्तव्यं यथाऽरण्यं तथा गृहम् ॥४३॥
भार्याशून्या वनसमाः सभार्याश्च गृहाः गृहाः। गृहिणीं च गृहं प्रोक्तं न गृहं गृहमुच्यते ॥४४॥
ब्रह्मवैवर्त्तपु० खं० १ अ० ५६ ॥ गृहस्थधर्मः।

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम्। शमो दानं यथाशक्ति गार्हस्थो धर्म उच्यते ॥४५॥
परदारेष्वसंसर्गो न्यासस्त्रीपरिरक्षणम्। अदत्ताऽऽदानविरमो मधुमांसस्य वर्जनम् ॥४६॥
महाभा० अनुशा० अ० १४१।२५ इत्यादि।

धर्मागतं प्राप्य धनं यजेत दद्यात्सदैवातिथीन् भोजयेच्च।
अनाददानश्च परैरदत्तं सैषा गृहस्थोपनिषत् पुराणी ॥४७॥ महाभा० आ० प० अ० ६१-३ ॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः। यथोक्तचारिणः सर्वे गच्छन्ति परमां गतिम् ॥४८॥
एको वाऽप्याश्रमानेतान् योऽनुतिष्ठेद्यथाविधि। अकामद्वेषसंयुक्तः स परत्र विधीयते ॥४९॥
महाभा० शान्तिप० अ० २४२ ॥

अतिथिः पूजितो यस्य गृहस्थस्य तु गच्छति। नान्यस्तस्मात्परो धर्म इति प्राहुर्मनीषिणः ॥५०॥
पात्रं त्वतिथिमासाद्य शीलाढ्यं यो न पूजयेत्। स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ॥५१॥
महाभा० अनुशा० प० अ० २।७०-९३ ॥

एकः सम्पन्नमश्नाति वस्ते वासश्च शोभनम्। योऽसंविभज्य भूतेभ्यः को नृशंसतरस्ततः ॥५२॥
द्वावेव न विराजेते विपरीतेन कर्मणा। गृहस्थश्च निरारम्भः कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥५३॥

जिसके घर में माता नहीं है, न सुन्दर शिक्षा युक्त स्त्री है। उसे वन में जाना चाहिये, उसके लिये वन तुल्य ही गृह है ॥ ४३ ॥ स्त्रीरहित घर वन तुल्य है, स्त्री सहित ही घर वस्तुतः घर है, गृहिणी को ही गृह कहते हैं गृहमात्र से गृहस्थ नहीं होता है ॥ ४४ ॥ अहिंसा आदि और शक्ति के अनुसार दान गृहस्थ का धर्म कहा गया है ॥ ४५ ॥ इसी प्रकार अन्य की स्त्री के साथ असंवन्ध, न्यास (निक्षेप) स्त्री की रक्षा, विना दिये वस्तु के ग्रहण का अभाव, मधुमांस का त्याग भी गृहस्थ के धर्म हैं ॥ ४६ ॥ न्याय से आये धन को पाकर यज्ञ करे, दान दे, सदा अतिथि को भोजन करावे, अन्य के नहीं दिये हुए पदार्थ को नहीं ग्रहण करे, यही वह पुराणी गृहस्थ सम्बन्धी उपनिषद् (रहस्य विचार) है ॥ ४७ ॥ ब्रह्मचारी आदि चारो आश्रम वाले शास्त्रोक्त रीति के अनुसार आचरण करने पर सब परमगति को पाते हैं ॥ ४८ ॥ जो कोई एक मनुष्य भी क्रम से इन चारो आश्रमों को विधि के अनुसार धारण सेवन तथा उनके धर्मों का आचरण करता है, सो परलोक में विहित होता है, आत्मज्ञानादि के योग्य किया जाता है ॥ ४९ ॥ जिस गृहस्थ के घर से अतिथि पूजित होकर जाता है. तो उससे उत्तम धर्म नहीं है, इस प्रकार विद्वान् लोग कहते हैं ॥ ५० ॥ पूजा के पात्र अतिथि को पाकर उस शील पूर्ण की पूजा जो नहीं करता है, उसे पाप को देकर और उसका पुण्य लेकर जाता है ॥ ५१ ॥ जो अकेला ही सम्यक् सिद्ध मिष्ठान्नादि खाता है और सुन्दर वस्त्र पहनता है, अन्य प्राणियों के प्रति उचित विभाग नहीं करता है तो उससे क्रूर (अतिघातुक) अन्य कौन है ? ॥ ५२ ॥ कर्मारम्भ रहित गृहस्थ और कार्यवाले संन्यासी ये दोनों ही विपरीत कर्मों से शोभते नहीं है ॥ ५३ ॥

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बध्वा दृढां शिलाम् । धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम् ॥५४॥

महाभा० उद्योगप० अ० ३३ । विदुरोक्तिः ॥

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं चामृतभोजनः । अमृतं यज्ञशेषं स्याद् भोजनं हविषा समम् ॥५५॥

भृत्यशेषं तु योऽश्नाति तमाहुर्विघसाशिनम् । विघसं भृत्यशेषं तु यज्ञशेषमथामृतम् ॥५६॥

महाभा० शान्ति प० अ० २४३ ॥

विभागशील[1]संयुक्तो दयावांश्च क्षमायुतः । देवतातिथिभक्तस्तु गृहस्थो धार्मिकः स्मृतः ॥५७॥

नवैतानि गृहस्थस्य कार्याण्यभ्यागते सदा । सुधाऽव्ययानि यत्सौख्यं वाक्यं चक्षुर्मनो मुखम् ॥५८॥

अभ्युत्थानमिहायात सस्नेहपूर्वभाषणम् । उपासनमनुव्रज्या गृहस्थोन्नतिहेतवे ॥५९॥

तथेषद् व्ययुक्तानि कार्याण्येतानि वै नव । आसनं पादशौचं च यथा शक्त्यासनं क्षितिः ॥६०॥

शय्यातृणजलाऽभ्यङ्गदीपा गार्हस्थ्यसिद्धिदाः ॥६१॥

तथा नव विकर्माणि त्याज्यानि गृहमेधिना । पैशुन्यं परदाराश्च द्रोहः क्रोधानृताप्रियम् ॥६२॥

द्वेषो दम्भश्च माया च स्वर्गमार्गार्गलानि हि ॥६३॥

नवावश्यककर्माणि कार्याणि प्रतिवासरम् । स्नानं सन्ध्या जपो होमः स्वाध्यायो देवतार्चनम् ॥६४॥

वैश्वदेवं तथातिथ्यं नवमं पितृतर्पणम् ॥६५॥ स्कन्दपु० काशीखं० अ० ४।७७। इत्यादि ॥

सत्यं शौचं तपोऽधीतं दत्तमिष्टं शतं समाः । तस्य सर्वमिदं नष्टमतिथिं यो न पूजयेत् ॥६६॥

दूरादतिथयो यस्य गृहमायान्ति निर्वृताः । स गृहस्थ इति प्रोक्तः शेषाश्च गृहरक्षिणः ॥६७॥

स्कन्दपु० खं ६।अ० १८६ ॥

दान रहित धनी तप रहित दरिद्र ये दोनों गले में दृढ़ शिला बाँध कर जल में डुबोने योग्य हैं ॥ ५४ ॥ सदा विघसाशी और अमृत भोजी होना चाहिये, तहाँ यज्ञ से शेष हविष तुल्य भोजन को अमृत कहते हैं, और भृत्यों के भरण पोषण से शेष को विघस कहते हैं ॥ ५५-५६ ॥ योग्यविभाग और शील से संयुक्त दयावान् क्षमायुक्त देवता अतिथि का भक्त गृहस्थ धार्मिक कहाता है ॥ ५७ ॥ अभ्यागत के विषय में सुधातुल्य अव्यय (दाम विना) ये नव गृहस्थ को सदा कर्तव्य है, जो अभ्यागत के लिये सुख, वाक्य, चक्षु, मन, मुख, अभ्युत्थान, यहाँ आइये इस प्रकार स्नेह पूर्वक भाषण, पास में बैठना, और पीछे गमन ये सब गृहस्थ के उन्नति के लिये हैं ॥ ५८-५९ ॥ तैसे ही कुछ व्यय युक्त ये नव कर्तव्य हैं, बैठने का आसन, पादशौच का जल, शक्ति के अनुसार सोने का आसन, भूमि, तृण, पीने का जल, तैल, दीप ये गृहस्थ के सिद्धिप्रद हैं ॥ ६०-६१ ॥ तैसे ही नव विरुद्ध कर्म गृहस्थ को त्यागने योग्य हैं, पिशुनता, परस्त्री, द्रोह, क्रोध, अनृत, अप्रिय, द्वेष, दम्भ, कपट, ये स्वर्ग-मार्ग के अर्गला तुल्य निरोधक हैं ॥ ६२-६३ ॥ और स्नानादि नव कर्म प्रतिदिन आवश्यक कर्तव्य हैं ॥ ६४-६५ ॥ जो अतिथि को नहीं पूजता, उस के सत्यादि और सौ वर्ष तक किया गया यज्ञदानादि ये सब नष्ट होते हैं ॥ ६६ ॥ जिसके घर पर दूर से अतिथि आते हैं, और वहाँ सुखी होते है, सो गृहस्थ कहा

---

१. विभागशीलो यो नित्यं क्षमायुक्तो दयालुकः । देवताऽतिथिभक्तश्च गृहस्थः स तु धार्मिकः ॥ इति पाठान्तरं दक्षस्मृतौ अ० २।५४ ॥

न्यायागतधनः शान्तो ब्रह्मविद्यापरायणः । स्वधर्मपालको नित्यं ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥६८॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि निःसङ्गः कामवर्जितः । प्रसन्नेनैव मनसा कुर्वाणो याति तत्पदम् ॥६९॥
ब्रह्मणा दीयते देयं ब्रह्मणे सम्प्रदीयते । ब्रह्मैव दीयते चेति ब्रह्मार्पणमिदं परम् ॥७०॥ कूर्मपु० पू० अ० ३ ॥
धर्मात्संजायते भक्ति र्भक्त्या संप्राप्यते परम् । श्रुतिस्मृतिभ्यामुदितो धर्मो यज्ञादिको मतः ॥७१॥

कूर्मपु० अ० १२।२५५ ॥

असतां प्रग्रहो यत्र सतां चैव विमानता । दण्डो दैवकृतस्तत्र सद्यः पतति दारुणः ॥७२॥

कूर्मपु० अ० १५।२७ ॥

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता न दुर्भाषिणी, सन्मित्रं सुधनं स्वयोषिति रतिश्चाज्ञापराः सेवकाः ।
आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे, साधोः सङ्गमुपासते हि सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः ॥७३॥

चाणक्यनी० अ० १२।१॥

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम् । गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥७४॥

मनु० अ० ३।७८॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा । एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥७५॥
यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् । तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥७६॥

मनु० अ० ६।८-९०॥

गृहाश्रमात्परो धर्मो नास्ति नास्ति पुनः पुनः । सर्वतीर्थफलं तस्य यथोक्तं यस्तु पालयेत् ॥७७॥

व्यासस्मृ० अ० ४।२॥

वयांसि पशवश्चैव भूतानि च जनाधिप ! । गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठो गृहाश्रमी ॥७८॥

महाभा० शान्तिप० अ० २३।५॥

गया है, अन्य गृह रक्षक हैं ॥ ६७ ॥ न्याय से प्राप्त धन वाला शान्त ब्रह्मविद्या में तत्पर और अपने धर्म का सदा पालक गृहस्थ ब्रह्मभाव (मोक्ष) के लिये समर्थ होता है ॥ ६८ ॥ आसक्ति काम से रहित हो कर ब्रह्मार्पण पूर्वक जो प्रसन्न मन से कर्म करता है, सो कर्म कर्ता भी ब्रह्मात्मा को प्राप्त होता है ॥ ६९ ॥ देने योग्य वस्तु ब्रह्म से ही दी जाती है ब्रह्म के लिये दी जाती है जो दिया जाता है सो भी ब्रह्म है, इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मसत्ता की बुद्धि ही उत्तम ब्रह्माऽर्पण है ॥७०॥ धर्म से भक्ति होती है, भक्ति से ज्ञानद्वारा परतत्त्व की प्राप्ति होती है, और श्रुतिस्मृति से कथित यज्ञादिक धर्म कहा माना गया है ॥ ७१ ॥ असत् पुरुष अधर्मी का जहाँ सत्कार-संग्रह होता है, और सत्पुरुष धर्मात्मा का अनादर होता है, तहाँ दैवकृत दारुण दण्ड शीघ्र प्राप्त होता है ॥७२॥ आनन्द सहित घर, बुद्धिमान् पुत्र, दुर्भाषण रहितस्त्री, सच्चा मित्र, सुन्दर धन, अपनी स्त्री में रति, आज्ञा परायण सेवक, प्रतिदिन अतिथि सत्कार, शिवपूजन, घर में मीठा अन्न पान, सदा साधु संग का सेवन यदि हो तो गृहस्थाश्रम धन्य है ॥ ७३ ॥ जिससे तीन आश्रमी प्रतिदिन दान अन्न द्वारा गृहस्थ से ही पाले पोषे जाते हैं तिससे गृही ज्येष्ठाश्रम है ॥७४॥ ब्रह्मचारी आदि ये चारो आश्रम गृहस्थ से होते हैं । और जैसे नदी नद सब सागर में संस्थिति पाते हैं, तैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ में संस्थिति पाते हैं ॥७५-७६॥ गृहस्थाश्रम से उत्तम धर्म नहीं है, नहीं है, यह बार २ कहा जाता है, सब तीर्थ का फल गृहस्थ को घर बैठे होता है कि यदि जैसा उसका धर्म कहा गया है, उसका वह पालन करे ॥ ७७ ॥ हे राजन् !

देवैश्चैव मनुष्यैश्च तिर्यग्भिश्चोपजीव्यते । गृहस्थः प्रत्यहं यस्मात्तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥७९॥
दक्षसं० अ० २।४७॥

योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च । तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥८०॥ मनु० अ० ४।२३५॥

तप्त्वा तपस्वी विपिने क्षुधार्त्तो गृहं समायाति सदाऽन्नदातुः ।
भक्त्या स चान्नं प्रददाति तस्मै तपो विभागं भजते हि तस्य ॥८१॥ पद्मपु० उत्तरखं० अ० ७५।१०॥

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां गृहेषु पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्त्तते निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥८२॥ पद्मपु० सृष्टिखं० अ० १९।२१७॥

अस्ति पुत्रो वशे यस्य भृत्यो भार्या तथैव च । अभावे सति सन्तोषः स्वर्गस्थोऽसौ महीतले ॥८३॥

अतिथिर्बालकः पत्नी जननी जनकस्तथा । पञ्चैते गृहिणा पोष्या इतरे च स्वशक्तितः ॥८४॥ सुभाषितरत्ने॥

निःस्वो भवेद्यदि गृही निरयी स नूनं भोक्तुं न दातुमपि यः क्षमतेऽणुमात्रम् ।
पूर्णोऽपि पूर्त्तिमभिमन्तुमशक्नुवन् यो मोहेन शं न मनुते खलु तत्र तत्र ॥८५॥ शाङ्करदिग्वि०स०२।१६॥

गृहस्थब्राह्मणधर्मः

स्वयं कृष्टे तथा क्षेत्रे धान्यैश्च स्वयमर्जितैः । निर्वपेत् पञ्च यज्ञांश्च क्रतुदीक्षां च कारयेत् ॥८६॥

तिला रसा न विक्रेया विक्रेया धान्यतः समाः । विप्रस्यैवंविधा वृत्तिस्तृणकाष्ठादिविक्रयः ॥८७॥

ब्राह्मणश्चेत् कृषिं कुर्यात्तन्महादोषमाप्नुयात् । अष्टागवं धर्महलं षड्गवं वृत्तिलक्षणम् ॥८८॥

पक्षी आदि सब गृहस्थ से पाले जाते हैं, तिससे गृहाश्रमी बड़ा है ॥ ७८ ॥ देव मनुष्य तिर्यक् प्राणी से भी जीविका आदि के लिये गृहस्थ सेव्य होता है, तिससे ज्येष्ठाश्रम गृहस्थ है ॥ ७९ ॥ जो सत्कार पूजा पूर्वक ग्रहण और दान करता है, सो दाता प्रति ग्रहीता दोनो स्वर्ग में जाते हैं, इसके उलटा करने से नरक में जाता है ॥ ८० ॥ तपस्वी वन में तप करके भी क्षुधा से पीड़ित हो कर सदा अन्न दाता के घर पर आता है, वह दाता भक्ति से उसको अन्न देता है तो उस तपस्वी के तप के विभाग को भजता है (तप में फल भागी होता है) ॥ ८१ ॥ और रागियों को वन में भी कामादि दोष होते हैं, गृहों में भी पाँच ज्ञानेन्द्रियों का निग्रह हो सके तो वह तप ही है, और जो अनिन्दित कर्म में प्रवृत्त होता है, उस रागरहित के लिये गृह भी तपोवन ही है ॥ ८२ ॥ जिसके पुत्र भृत्य भार्या वश में हैं, किसी वस्तु के अभाव के रहने पर भी सन्तोष है, वह भूमि में रहता हुआ भी स्वर्गस्थ ही है ॥ ८३ ॥ अतिथि, बालक, स्त्री माता पिता ये पाँच गृहस्थ से पोषणीय हैं, अन्य भी अपनी शक्ति के अनुसार पोषणीय हैं ॥ ८४ ॥ धनरहित यदि गृहस्थ होता है, तो वह अवश्य निरयी (नरक दुःख भागी) होता है, जो कि भोग के लिये वा अणुमात्र भी दान के लिये समर्थ नहीं होता है, और जो धनादि से पूर्ण होते हुए भी असन्तोष करके अपनी पूर्ति मानने में असमर्थ होता हुवा तत्तत् विषयों में मोह से सुख कभी नहीं मानता है, सो भी दुःखी ही होता है ॥ ८५ ॥

गृहस्थ ब्राह्मणधर्म—स्वयं कृष्ट (जोती हुई) खेती में, तथा स्वयमुपार्जितधान्य से पाँच महायज्ञ को सिद्ध करे, और यज्ञदीक्षा करावे ॥ ८६ ॥ तिल और दूधादि रस को नहीं बेंचे, बेंचे भी तो धान्य से तुल्यभाव में बदले, विप्र की इस प्रकार की वृत्ति है, कि तृणकाष्ठादि का विक्रय किया जा सकता है ॥ ८७ ॥ वक्ष्यमाण सुरीति के बिना ब्राह्मण यदि खेती करे, तो महादोष को पाता है, दिन भर जोतने में आठ बैल युक्त धर्महल,

चतुर्गवं नृशंसानां द्विगवं गोजिघांसुवत् । द्विगवं वाहयेत् पादं मध्याह्नं तु चतुर्गवम् ॥८९॥
षड्गवं तु त्रियामाहेऽष्टभिः पूर्णं तु वाहयेत् । न याति नरकेष्वेवं वर्त्तमानस्तु वै द्विजः ॥९०॥
क्षुधितं तृषितं श्रान्तं वलीवर्दं न योजयेत् । हीनाङ्गं व्याधितं क्लीवं वृषं विप्रो न वाहयेत् ॥९१॥
दानं दद्याच्च वै तेषां प्रशस्तं स्वर्गसाधनम् । सम्वत्सरेण यत्पापं मत्स्यघाती समाप्नुयात् ॥९२॥
अयोमुखेन काष्ठेन तदेकाहेन लाङ्गली । पाशको मत्स्यघाती च व्याधः शाकुनिकस्तथा ॥
अदाता कर्षकश्चैव पञ्चैते समभागिनः ॥ ७३ ॥
वृक्षं छित्त्वा महीं भित्त्वा हत्वा च कृमिकीटकान् । कर्षकः खलयज्ञेन सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥९४॥
राज्ञे दत्त्वा तु षड्भागं देवानां चैव विंशकम् । विप्राणां त्रिंशकं भागं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥९५॥
क्षत्रियोऽपि कृषिं कृत्वा देवान् विप्रांश्च पूजयेत् । वैश्यः शूद्रस्तथा कुर्यात् कृषिवाणिज्यशिल्पकम् ॥९६॥
पराशरस्मृ० अ० २।६ इत्यादि ॥
अग्निकार्यात्परिभ्रष्टाः सन्ध्योपासनवर्जिताः । वेदं चैवानधीयानाः सर्वे ते वृषलाः स्मृताः ॥९७॥
दक्षिणार्थं तु यो विप्रः शूद्रस्य जुहुयाद् हविः । ब्राह्मणस्तु भवेच्छूद्रः शूद्रस्तु ब्राह्मणो भवेत् ॥९८॥
पराशरस्मृ० अ० १२। ३६–३६ ॥
द्वौ मासौ पाययेद्वत्सं द्वौ मासौ द्वौ स्तनौ दुहेत् । द्वौ मासावेकवेलायां शेषकालं यथारुचिः ॥९९॥
आत्मशय्या च वस्त्रं च जायाऽपत्यं कमण्डलुः । आत्मनः शुचीन्येतानि परेषामशुचीनि तु ॥१००॥
आपस्तम्बस्मृतौ ॥

कहाता है, छः बैलयुक्त वृत्ति (जीविका) रूप हल कहाता है, चार बैल युक्त क्रूरों का हल होता है, दो बैलयुक्त गोघातक तुल्य होता है। दो बैलयुक्त हल को एक पहर, चार बैलयुक्त को दो पहर, छौ बैलयुक्त को तीन पहर, आठ बैलयुक्त को दिन भर जोते तो इस प्रकार वर्तमान द्विज नरकों में नहीं जाते हैं ॥८८–९०॥ भूखे प्यासे थके हुए बैल को नहीं जोते, अंग हीन, रोगी, नपुंसक बैल को भी ब्राह्मण नहीं जोतवावे ॥ ९१ ॥ और दान दे तो वह दान स्वर्ग का श्रेष्ठ साधन है, क्योंकि मत्स्यघाती एक वर्ष में जो पाप पाता है, लोहमुख वाले काठ (हल) से जोतने वाले लाङ्गली (हलवाले) उस पाप को दानादि के बिना एक दिन में पाते हैं, जुआरी, मत्स्यघाती, व्याध, पक्षीघाती, दानरहित कर्षक (लाङ्गली) ये पाँचो तुल्य पाप के भागी होते हैं ॥ ९२–९३ ॥ वृक्ष का छेदन भूमि का भेदन कृमि कीट की हिंसा कर्षक (खेती वाला) करता है, परन्तु खलंयज्ञ करके सब पापों से रहित होता है ॥ ९४ ॥ आय का छठवाँ भाग राजा को, बीसवाँ भाग देवताओं को तीसवाँ भाग विप्रों को देकर सब पापों से मुक्त होता है ॥ ९५ ॥ क्षत्रिय भी खेती करके देव और विप्र की पूजा करे, वैश्य और शूद्र भी वैसाही करे, तथा खेती वाणिज्य शिल्प को करे ॥ ९६ ॥ अग्निहोत्रादि से रहित, सन्ध्या उपासना के त्यागी वेद को नहीं पढने वाले वे सब शूद्र ही कहे गये हैं ॥ ९७ ॥ जो विप्र दक्षिणा के लिये शूद्र के हविष का हवन करता है, वह विप्र शूद्र हो जाता है, और शूद्र ब्राह्मण हो जाता है ॥ ९८ ॥ गऊ के बछड़े को दो मास तक सब दूध पिलाना चाहिये, फिर दो मास दो स्तन दुहना चाहिये, दो मास एक ही साम दुहना चाहिये फिर रुचि के अनुसार करना चाहिये ॥ ९९ ॥ अपनी शय्या आदि को अपने ही लिये पवित्र समझना चाहिये, और अन्य के अपने लिये ये सब अपवित्र हैं ॥ १०० ॥

एधोधकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत् । सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् मध्वथाऽभयदक्षिणाम् ॥१०१॥
आहृताऽभ्युदितां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम् । मेने प्रजापतिर्ग्राह्यामपि दुष्कृतकर्मणः ॥१०२॥
मनु० अ०४।२४७-४८ ॥
ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा । नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥१०३॥ मनु० अ० ४।२१ ॥
पाषण्डिनो विकर्मस्थान् बैडालव्रतिकाञ्छठान् । हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥१०४॥
नोपगच्छेत् प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्त्तवदर्शने । समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥१०५॥
मनु० अ० ४।३०-४० ॥
प्राणायामेन वचनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम् । धारणाभिः वशे कृत्वा पूर्वं दुर्धर्षणं मनः ॥१०६॥
एकाकारमनाऽनन्तं बुद्धौ रूपमनामयम् । सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं ध्यायेज्जगदाधारमच्युतम् ॥१०७॥
यत्सर्वप्राणिहृदयं सर्वेषां च हृदि स्थितम् । यच्च सर्वजनै र्ज्ञेयं सोऽहमस्मीति चिन्तयेत् ॥१०८॥
हारितस्मृ० अ० ७ ॥
सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके । अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥१०९॥
अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना । काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन् गृहे वसेत् ॥११०॥
न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत् । धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं चातिथिभोजनम् ॥१११
मनु० अ० ३।९९-१०५-१०६ ॥
अतिथिं तत्र संप्राप्तं पूजयेत् स्वागतादिना । तथासनप्रदानेन पादप्रक्षालनेन च ॥११२॥
यतिश्च ब्रह्मचारी च पक्वान्नस्वामिनावुभौ । तयोरन्नमदत्त्वा च भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥११३॥
पराशरस्मृ० अ० १ ॥

काठ जल मूल फल मधु और विना मांगे कच्चा अन्न पतितादि अन्य सब से ग्रहण करे, और मरणादि भय के निवारक दक्षिणा तुल्य वस्तु को सबसे ग्रहण करे ॥ १०१ ॥ लाई हुई सामने प्राप्त प्रथम से उस के लिये प्रेरणारहित भिक्षा रूप द्रव्य को प्रजापति ने ग्रहण योग्य माना है, यदि वह पापी का हो तो भी ॥१०२॥ ऋषियज्ञादि को शक्ति के अनुसार सदा करे, त्यागे नहीं ॥ १०३ ॥ पाषण्ड वेषधारी, निषिद्ध कर्मकारी, वैडालव्रती, शठ, कुतर्की, वकवृती को वाणीमात्र से भी नहीं पूजे ॥ १०४ ॥ रजोदर्शन होने पर कामार्त्त भी स्त्री के पास नहीं जावे, और उसके साथ एक शय्या पर नहीं सोवे ॥ १०५ ॥ प्राणायाम से वचन को प्रत्याहार से इन्द्रिय को और धारणा से दुष्ट मन को प्रथम वश में करके एकाग्र मन होकर सूक्ष्म से अति-सूक्ष्म अनन्त जगत के आधार रूप अनामय अविनाशी हरि का ध्यान करे ॥ १०७ ॥ और जो सब प्राणी के हृदय में मन के साक्षी रूप से प्राप्त होकर हृदय में स्थिर है, सब से जानने योग्य है सो मैं हूँ इस प्रकार आत्मचिन्तन करे ॥ १०८ ॥ स्वयं प्राप्त अतिथि के लिये आसन जल शक्ति के अनुसार अन्न सत्कार विधिपूर्वक दे ॥ १०९ ॥ सूर्य के रहते प्राप्त सायंकाल में अतिथि गृहस्थ से त्यागयोग्य नहीं है, अकाल (रात्रि) में भी प्राप्त अतिथि इस के घर में भूखा नहीं रहना चाहिये ॥ ११० ॥ जो अतिथि को नहीं खिलावे सो भोजन अपने भी नहीं खाना चाहिये, पवित्र, यश का हेतु आयु और स्वर्ग का कारण अतिथि का भोजन है ॥ १११ ॥ वहाँ प्राप्त अतिथि को स्वागतादि वचन आसनप्रदान पादप्रक्षालन से पूजे ॥११२॥ संन्यासी ब्रह्मचारी पक्व (सिद्ध) अन्न भागी हैं, उन्हें अन्न दिये बिना भोजन करे तो प्रायश्चित्तरूप

श्रद्धया चान्नदानेन प्रियप्रश्नोत्तरेण च । गच्छतश्चानुयानेन प्रीतिमुत्पादयेद् गृही ॥११४॥
विष्णु पु० अंश० ३।११।६० ॥

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनम् । उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥११५॥
मनु० अ० ३।१०७ ॥

अज्ञातकुलगोत्रो वा मध्याह्नादिसमागतः । अन्नाद्यर्थी मानवो यः सोऽतिथिः परिकीर्त्तितः ॥११६॥
इत्यष्टमं गृहस्थतद्धर्मप्रकरणं समाप्तम् ।　　　आत्म पु० अ० ६।६०८ ॥

अथ वनस्थस्तद्धर्मश्च ॥ ९ ॥

तपस्तप्यति योऽरण्ये यजेद्देवान् जुहोति च । स्वाध्याये चैव निरतो वनस्थस्तापसो मतः ॥१॥
तपसा कर्शितोऽत्यर्थं यस्तु ध्यानपरो भवेत् । संन्यासी स हि विज्ञेयो वानप्रस्थाश्रमे स्थितः ॥२॥
गरुडपु० खं० १ आचारकां० अ० ४६ ॥

तृतीयआयुषोभागे तृतीयाश्रम इरितः । अनुकूला स्वसेवायां विरक्ता च तपःप्रिया ।
यदि पत्नी भवेत्तर्हि तया सह वनं विशेत् ॥३॥
अन्यथा तु सुतादिभ्यस्तस्याः पोषणरक्षणम् । आदिश्य स्वयमेकाकी विरक्तो वनमाविशेत् ॥४॥
निर्भयो निवसेत्तत्र तपोरुचिरतन्द्रितः । कुर्यादुटजमग्न्यर्थं स्वयं तु बहिरावसेत् ॥५॥
भवेत्पञ्चतपा ग्रीष्मे उदवासश्च शैशिरे । आसारषाट् च वर्षासु जितक्रोधो जितेन्द्रियः ॥६॥
स्वयमेवाहरेदन्नं यथा कालं दिने दिने । काले पराऽऽहृतं वाऽपि गृह्णीयान्नान्यदा क्वचित् ॥७॥
स्कन्दपु० खं० २। वासुदेवमा० अ० ३३ ॥

किमुग्रैश्च तपोभिश्च यस्य ज्ञानमयं तपः । हर्षामर्षविनिर्मुक्तो वानप्रस्थः स उच्यते ॥८॥ सदाचारस्तोत्रे ॥

चान्द्रायण करे ॥ १३ ॥ श्रद्धा से अन्नदानादि द्वारा गृहस्थ अतिथि में प्रीति उत्पन्न करे ॥ ११४ ॥ आसनादि का प्रदान उत्तम में उत्तम करे हीन में हीन और सम में सम करे ॥ ११५ ॥ कुलगोत्रादि जिस के नहीं ज्ञात हों और मध्याह्नादि के समय आया हो, सो अन्नादि का इच्छुक मनुष्य अतिथि कहाता है ॥११६॥ अष्टम गृहस्थ तद्धर्मप्रकरण समाप्त ।

अथ वानप्रस्थतद्धर्मः—जो वन में तप देव पूजा हवन करता है, वेदाध्ययन में तत्पर रहता है वह वानप्रस्थ तपस्वी माना गया है ॥ १ ॥ तप से अत्यन्त कर्शित (कृशतायुक्त) होने पर जो ध्यानपरायण होता है, उस को वानप्रस्थाश्रम में स्थित संन्यासी समझना चाहिये ॥ २ ॥ आयु के तीसरे भाग में तीसरा आश्रम कहा गया है, यदि स्त्री अपनी सेवा में अनुकूला विरक्ता तप में प्रेम वाली हो, तो उस के साथ वन में जाय ॥ ३ ॥ इस से विपरीत हो, तो पुत्रादि के प्रति उसके पोषण रक्षा के लिये उपदेश आज्ञा दे कर, विरक्त पुरुष स्वयमेकाकी वन में जावे ॥ ४ ॥ तप में रुचियुक्त, निद्रामोहादिरहित, निर्भय होकर वहाँ वसे, और अग्नि के लिये उटज (पर्णशाला) वनावे, स्वयं बाहर बसे ॥ ५ ॥ ग्रीष्म ऋतु में पञ्चाग्नि तापे, जाड़े में जल में बसे, वर्षाऋतु में वर्षा को सहे, क्रोध और इन्द्रियों को जीते ॥ ६ ॥ समय के अनुसार स्वयं प्रतिदिन अन्न को प्राप्त करे, भोजन काल में अन्य से लाये हुए अन्न का ग्रहण करे, दूसरे समय में कहीं नहीं संग्रह करे ॥ ७ ॥ जिस को ज्ञानमयतप है, उस को उग्र कर्म तप से क्या फल है ? हर्ष

सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वाऽनुगतो वनम् । वनस्थो ब्रह्मचारी च साग्निः सोपासनो व्रजेत् ॥९॥
अकालकृष्टेनाग्नींश्च पितॄन् देवानतिथीनपि । भृत्यांश्च तर्पयेच्छ्मश्रुजटालोमभृदात्मवान् ॥१०॥
दान्तस्त्रिषवनस्नायी निवृत्तश्च प्रतिग्रहात् । स्वाध्यायवान् दानशीलः सर्वसत्त्वहिते रतः ॥११॥
चन्द्रायणैर्नयेत्कालं कृच्छ्रैर्वा वर्त्तयेत् सदा । पक्षे गते वाऽप्यश्नीयान्मासे वाऽहनि वा गते ॥१२॥
ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थो वर्षासु स्थण्डिलेशयः । आर्द्रवासास्तु हेमन्ते शक्त्या वाऽपि तपश्चरेत् ॥१३॥
याज्ञवल्क्य प्रा० अ० प्र० ३ ॥

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः । अपत्यस्यापि चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥१४॥
स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः । दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥१५॥
मनु० अ० ६।२-८॥

स्ववीर्यजीवी वृजिनान्निवृत्तो दाता परेभ्यो न परोपतापी ।
तादृङ् मुनिः सिद्धिमुपैति मुख्यां वसन्नरण्ये नियताहारचेष्टः ॥१६॥
दशैव पूर्वान् दश चापरांश्च ज्ञातीनथात्मानमथैकविंशम् ।
आरण्यवासी सुकृते दधाति विमुच्यारण्ये स्वशरीरधातून् ॥१७॥ महा भा० आदिप० अ० ९१ ॥

अग्निहोत्रं समाधाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् । ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥१८॥
मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा । एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥१९॥
वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः । पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥२०॥

आमर्ष (क्रोध) से रहित वह ज्ञानी भी वानप्रस्थ कहाता है ॥८॥ पुत्र के प्रति स्त्री त्याग पूर्वक वा उस के साथ ब्रह्मचारी वनस्थ अग्नि और उपासना के साधन सहित वन में जाय ॥ ९ ॥ फाल से जोतरहित भूमि के अन्नादि द्वारा अग्नि आदि को तृप्त करे, और वश्यात्मा होकर दाढी जटा लोम का धारण करे ॥ १० ॥ दान्त, त्रिवार स्नान के समय में स्नानशील, प्रतिग्रह लेने से निवृत्त, वेदाध्ययनवान् , दानशील, सब प्राणियों के हित में तत्पर, वानप्रस्थ चन्द्रायण व्रतों द्वारा वा कृच्छ्रचान्द्रायण द्वारा सदा काल वितावे, एक पक्ष वा मास वा दिन बीतने पर भोजन करे ॥ ११-१२ ॥ ग्रीष्म में पांच अग्नि के मध्य में स्थिर हो, वर्षा में शय्या रहित भूमि में सोवे, हेमन्त में गीले वस्त्र से युक्त रहे, वा शक्ति के अनुसार तप करे ॥१३॥ गृहस्थ जब देह में चाम का संकोच बाल का श्वेत पन देखे और पुत्र के पुत्र को देखे तो वन का आश्रयण करे ॥१४॥ अध्ययन में सदा सावधान रहे, तप के कष्ट को सहे, सब से मित्र भाव रक्खे, समाधियुक्त रहे, दाता सदा हो, दान नहीं ले, सब प्राणी पर दया करे ॥ १५ ॥ अपने उद्यम से जीवन वाला पाप से निवृत्त अन्य के प्रति दाता, अन्य को पीडित नहीं करने वाला नियमित आहार चेष्टावाला वनवासी ऐसा मुनि मुख्यसिद्धि को पाता है ॥ १६ ॥ और वह वनवासी वन में शरीर को त्याग कर दश २ पूर्वापर जाति को और अपने पुण्य स्थानादि को प्राप्त कराता है ॥१७॥ जिस अग्नि में हवन किया जाता है ऐसी अग्नि और ग्रहण के योग्य अग्नि के साधन स्रुवा आदि लेकर ग्राम से वन में निकल कर संयतेन्द्रिय होकर वहाँ वसे ॥ १८ ॥ पवित्र विविध मुनि अन्नादि से गृहस्थ के लिये वर्णित इन पाँच महायज्ञों को विधि पूर्वक करे ॥ १९ ॥ वसन्त शरद में होने वाले स्वयं लाये गये मुनि अन्न से पुरोडाश और चरु यज्ञ-

देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः । शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयं कृतम् ॥२१॥
स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च । मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्च फलसंभवान् ॥२२॥
त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसंचितम् । जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥२३॥
न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित् । न ग्रामजातान्यार्त्तोऽपि मूलानि च फलानि च ॥२४॥
तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत् । गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥२५॥
ग्रामादाहृत्य वाऽश्नीयादष्टौ ग्रासान् वने वसन् । प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥२६॥
इत्यादिः । मनुः अ० ६॥

वैखानसधर्मदौर्लभ्यादि

वैखानसाश्च मुनयो निःसङ्गा निष्परिग्रहाः । सत्ययुक्ता भवन्त्यत्र वीतरागा गततृषः ॥२७॥
दृष्टान्तदर्शनार्थाय निर्मितास्ते च तादृशाः । अन्यत्सर्वं शबलितं गुणैरेभिस्त्रिभि र्नृप ! ॥२८॥
नैकं वाक्यं पुराणेषु वेदेषु नृपसत्तम ! । धर्मशास्त्रेषु चाङ्गेषु सगुणै रचितेष्विह ॥२९॥
सगुणः सगुणं कुर्यान्निर्गुणं न करोति वै । गुणास्ते मिश्रिताः सर्वे न पृथग्भावसंगताः ॥३०॥
निर्व्यलीके स्थिरे धर्मे मतिः कस्यापि न स्थिरा ॥३१॥
असत्यो जायते राजन् ! कार्यवान् प्रथमं नरः । इन्द्रियार्थांश्चिन्तयानो न प्राप्नोति यदा नरः ॥३२॥
तदर्थं छलमादत्ते छलात्पापे प्रवर्त्तते । कामः क्रोधश्च लोभश्च वैरिणो बलवत्तराः ॥३३॥
कृताकृतं न जानन्ति प्राणिनस्तद्वशं गताः । विभवे सत्यहंकारः प्रबलः प्रभवत्यपि ॥३४॥

साधन को बना कर पृथक् २ सिद्ध करे ॥ २० ॥ और देवताओं के प्रति उन वन की पवित्र हविषों का हवन (दान) करके शेषान्न का भोजन करे, और अपना बनाया लवण खावे ॥ २१ ॥ भूमि जल में होने वाले शाक पवित्र वृक्ष के मूल फल फूल फलजन्य तेल खावे ॥ २२ ॥ आश्विन मास में पूर्व के संचित मुनि अन्न शाक मूल फल और जीर्ण वस्त्रों को त्याग दे ॥ २३ ॥ किसी से दिये गये भी हल से जोते खेत के अन्न को नहीं खावे, आर्तदशा में भी ग्राम में उत्पन्न फल मूल को नहीं खावे ॥२४॥ तपस्वी विप्रों के पास से जीवनोपयोगी भिक्षा ले, या अन्य वनवासी गृहस्थद्विज से भिक्षा ले ॥ २५ ॥ अथवा वन में वसता हुवा, ग्राम से भिक्षा ले कर, पत्र के दोने या हाथ, वा कुरवा आदि में ले कर आठ ग्रास मात्र भोजन करे ॥ २६ ॥ इत्यादि ॥ संगपरिग्रहरहित सत्ययुक्त विरक्त तृष्णारहित जो वैखानस (वानप्रस्थ) मुनि इस संसार में होते हैं, सो वैसे मुनि दृष्टान्तदेखाने के लिये रचे गये हैं, हे नृप ! उन से अन्य सब जगत् इससत्त्वादि तीन गुणों से शबलित (चित्रित-मिलित) रचा गया है ॥ २७-२८ ॥ हे नृपसत्तम ! सगुण से रचित पुराण वेद धर्मशास्त्र और वेदाङ्गो में भी यहाँ एक वाक्य (एकता) नहीं है ॥ २९ ॥ क्योंकि सगुण (भेदभावयुक्त कर्त्ता) सगुण ही पुराणादि करता है, निर्गुण (भेदरहित) नहीं करता है, और वे गुण सब मिश्रित हैं, इससे पृथक् भाव से सम्मिलित हैं ॥ ३० ॥ इससे निर्व्यलीक (अप्रिय-अकार्य-अनृत से रहित) स्थिर धर्म में किसी की बुद्धि स्थिर नहीं रहती है ॥ ३१ ॥ मति की स्थिरता बिना हे राजन् ! इन्द्रियार्थ (विषय) की चिन्ता करता हुआ मनुष्य जब विषय को नहीं पाता है तब वह कार्य वाला मनुष्य असत्य हो जाता है, और उस विषय के लिये छल का ग्रहण करता है, छल से पाप कर्म में प्रवृत्त होता है, कामादि अति बली वैरी उसे प्राप्त होते हैं, और उनके वश में प्राप्त प्राणी कृताकृत (विहिताविहित) को नहीं जानता

अहङ्काराद् भवेन्मोहो मोहान्मरणमेव च ॥३५॥

स्वार्थसक्तः पुमान् नित्यं न जानाति शुभाशुभम् । दैवाधीनः सदा कुर्यात्पापमेव न सत्कृतम् ॥३६॥

प्राजापत्याः सुराः सर्वे ह्यसुराश्च तदुद्भवाः । सर्वे ते स्वार्थनिरताः परस्परविरोधिनः ॥३७॥

इत्यादि । देवीभा० स्क० ४।४ ॥

मुच्यते लोहनिगडैर्बद्धः काष्ठमयैस्तथा । अहङ्कारनिबद्धस्तु न कदाचिद्विमुच्यते ॥३८॥

ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्रस्ते चाहङ्कारमोहिताः । भ्रमन्त्यस्मिन् महागाधे संसारे नृपसत्तम ! ॥३९॥

वसिष्ठनारदाद्याश्च मुनयो ज्ञानिनः परम् । तेऽभिभूता संसरन्ति संसारेऽस्मिन् पुनः पुनः ॥४०॥

देवीभा० स्क० ४।७।३०–३७ इत्यादि ॥

हरि र्ब्रह्मा शचीकान्तस्तथाऽन्ये सुरसत्तमाः । सर्वे छलविधौ दक्षा मनुष्याणां च का का कथा ॥४१॥

इत्यादि परीक्षिदुक्तिः । पुनः व्यासोक्तयः सन्ति—

किं विष्णुः किं शिवो ब्रह्मा मघवा किं बृहस्पतिः । देहवान् प्रभवत्येव विकारैः संयुतः सदा ॥४२॥

रागी विष्णुः शिवो रागी ब्रह्मापि रागसंयुतः । रागवानपि चातुर्याद्विदेह इव लक्ष्यते ॥४३॥

संसारोऽयं तु सन्दिग्धः कामक्रोधादिभिर्नृप ! । दुर्लभस्तद्विनिर्मुक्तः पुरुषः परमार्थवित् ॥४४॥

यो बिभेतीह संसारे स दारान्न करोत्यपि । विमुक्तः सर्वसंगेभ्यो विचरत्यविशङ्कितः ॥४५॥

देवीभा० स्क० ४।१३।१० इत्यादि ॥

इति नवमं वानप्रस्थतद्धर्मप्रकरणं समाप्तम् ।

हैं, विभव मिलने पर प्रबल अहंकार भी उस को होता है, अहंकार से मोह और मोह से मरण (नाश) होता है ॥३९–३५॥ स्वार्थ में आसक्त पुरुष सदा ही शुभाशुभ को विवेक पूर्वक नहीं जानता है, इससे सदा दैवाधीन होकर पाप ही करता है धर्म नहीं करता है ॥ ३६ ॥ प्रजापति के पुत्र सब देव, असुर भी प्रजापति से जन्य हैं, वे सब स्वार्थ में तत्पर हैं, परस्पर विरोधी है ॥ ३७ ॥ लोहे और काठ की बेडी से बँधे हुए मुक्त होते हैं, परन्तु अहंकार से बँधा हुवा कभी विमुक्त नहीं होता है, ब्रह्मा आदि भी अपने अधिकार तक अहंकार से मोहित होकर इस महा अगाध संसार में भ्रमते हैं ॥ ३८–३९ ॥ वसिष्ठनारदादि परम ज्ञानी मुनि भी अहंकार से अभिभूत (परास्त) होकर इस संसार में वार २ भ्रमते हैं ॥ ४० ॥ विष्णु ब्रह्मा इन्द्र और अन्य भी श्रेष्ठ देव सब छल करने में कुशल हैं, तो मनुष्यों की बात ही क्या है ? ॥४१॥ इत्यादि इस अध्याय में परीक्षित राजा का कथन है, फिर व्यास जी का कथन है कि विष्णु शिव और ब्रह्मा इन्द्र बृहस्पति चाहे कोई हो, देहाभिमानी सभी सदा कामादि विकारों से संयुक्त होते ही हैं ॥ ४२ ॥ विष्णु शिव ब्रह्मा सब रागी होते भी चतुरता से विदेह (रागमुक्त) के समान दीखते हैं ॥ ४३ ॥ हे नृप ! यह संसार ही कामक्रोधादि से व्याप्त लिप्त है, कामादि से सर्वथा मुक्त परमार्थ के ज्ञाता पुरुष दुर्लभ हैं ॥ ४४ ॥ जो इस संसार में कामादि से डरता है, सो स्त्री नहीं करता है, न द्रव्यादि का संग्रह करता है, इससे सब संगों से रहित शंका रहित हो कर वह विचरता है ॥ ४५ ॥ नवाँ वानप्रस्थतद्धर्म समाप्त ।

अथ संन्यासितद्धर्मश्च ॥ १० ॥

एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति ॥ १ ॥ बृहदा० ३।५।१ ॥

ब्रह्मात्मनो यदेकत्वं ब्राह्मणद्वयनिश्चितम् । एतं तमितिशब्दाभ्यां तदैक्यात्म्यमनूद्यते ॥२॥

पूर्वं विदित्वा पश्चात्तु व्युत्थायेत्यन्वयाच्छ्रुतात् । विद्वत्संन्यास आभाति ब्रह्मबोधफलात्मकः ॥३॥

व्युत्थाय विदित्वेति व्यत्ययेनार्थिकान्वयात् । सिद्धो विविदिषात्यागः स्पष्टः श्रुत्यन्तरेऽप्यसौ ॥४॥

स्वात्मलोकं स्वमिच्छन्तः प्रव्रजन्तीति वक्ष्यति । त्यागेनैकेऽमृतत्वं तु प्राप्ता इत्यपरा श्रुतिः ॥५॥

ब्राह्मणग्रहणश्रुत्या विप्राणामेव भाष्यकृत् । संन्यासेऽधिकृतिं प्राह चतुर्थाश्रमरूप्यसौ ॥६॥

विद्याङ्गतत्फलात्मानं गार्गीविदुरयोरपि । स्त्रीशूद्रयोर्भाष्यकारः संन्यासमनुमन्यते ॥७॥

भिक्षया लक्ष्यते चर्या परिग्रहविवर्जिता । किं भोग्यं परिगृह्णीयात्सर्वभोग्येषु दोषदृक् ॥८॥ वार्त्तिकसारे ॥

परेणैवात्मनश्चापि परस्यैवात्मना तथा । अभयं समवाप्नोति स परिव्राडिति स्मृतः ॥९॥

प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यासलक्षणम् । तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥१०॥

अजिह्वः षण्ढकः पङ्गुरन्धो बधिर एव च । मुग्धश्च मुच्यते भिक्षुः षड्भिरेतैर्न संशयः ॥११॥

इदमिष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जति । हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते ॥१२॥

अथ संन्यासितद्धर्म—इस अपनी अपरोक्षात्मा को तिस पर ब्रह्मात्मा रूप जान कर ब्रह्मनिष्ठ लोग पुत्र वित्त लोक की इच्छा से रहित होकर भिक्षावृत्ति करते हैं ॥ १ ॥ ब्रह्म और आत्मा की जो एकता दो ब्राह्मण ग्रन्थ से निश्चित हुई है, 'एतं' और 'तं' इन दो शब्दों से उसी एकात्मता का इस श्रुति में अनुवाद किया गया है ॥ २ ॥ प्रथम जान कर पश्चाद् विरक्त उपरत हो कर इस प्रत्यक्ष श्रुत अन्वय से ब्रह्म ज्ञान का फल रूप विद्वत्संन्यास प्रतीत होता है ॥ ३ ॥ और संन्यास ज्ञान का साधन है, इस सिद्धान्त के अनुसार, व्युत्थाय विदित्वा, उपरत हो कर फिर जान कर भिक्षा वृत्ति करते हैं, इस प्रकार उलटा अन्वय करने से विविदिषा संन्यास (ज्ञान की इच्छा से त्याग) भी सिद्ध है, सो अन्यश्रुति में स्पष्ट है ॥४॥ स्वात्मरूप लोक को अपने स्वरूप को चाहने वाले त्याग करते है, यह बात यहाँ भी कही जायगी, तथा त्याग से ही एक ऋषि ने अमृतत्व प्राप्त किया, [कैवल्य० १।२] यह अन्य श्रुति भी है ॥५॥ यहाँ ब्राह्मण पद के श्रवण से भाष्यकार ने ब्राह्मणों का ही सन्यास में अधिकार कहा, जो संन्यास चतुर्थाश्रम रूप है ॥ ६ ॥ और विद्या के अङ्गरूप तथा विद्या के फल रूप संन्यास को स्त्री शूद्र रूप गार्गी और विदुर के लिये भी भाष्यकार मानते हैं ॥ ७ ॥ भिक्षा शब्द से परिग्रहरहित चर्या (त्यागमार्ग में स्थिति) बोधित की गई है, क्योंकि सब भोग्य वस्तु में दोषदर्शी किस भोग्य का परिग्रह कर सकता है ? यह तात्पर्य है ॥८॥ अन्य से अपने को और अपने से अन्य को जिसको सर्वथा अभय प्राप्त हो, वह संन्यासी कहा गया है ॥ ९ ॥ प्रवृत्तिरूप लक्षण (चिह्न) वाला कर्म है, त्यागरूप लक्षण वाला ज्ञान है तिससे ज्ञानपूर्वक या ज्ञान को उद्देश्य करके ही बुद्धिमान् यहाँ त्याग करे ॥ १० ॥ अजिह्वादि नाम वाला इन छः लक्षणों से युक्त संन्यासी मुक्त होता है इसमें संशय नहीं है ॥ ११ ॥ जो भोजन करता हुआ इष्ट अनिष्ट भोजन को समझ कर उसमें आसक्ति नहीं करता, और

सद्यो जातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम् । शतवर्षां च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स षण्डकः ॥१३॥
भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च । योजनान्न परं याति सर्वथा पङ्गुरेव सः ॥१४॥
तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षु र्न दूरगम् । चतुर्युगां भुवं मुक्त्वा परिव्राट् सोऽन्ध उच्यते ॥१५॥
हिताहितं मनोरामं वचः शोकावहं तु यत् । श्रुत्वापि न शृणोतीव बधिरः स प्रकीर्त्तितः ॥१६॥
सान्निध्ये विषयाणां यः समर्थोऽविकलेन्द्रियः । सुप्तवद् वर्त्तते नित्यं स भिक्षु र्मुग्ध उच्यते ॥१७॥

ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्, गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा ॥ अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेदित्यादि ॥ १८ ॥

नारदपरिव्राजकोपनिषद् उपदेश० ३। जाबालोऽप्येवमाह ॥

निर्मलज्ञानदीपेन प्रदीप्तेन च तत्त्ववित् । ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं सर्वं मिथ्यैव पश्यति ॥१९॥
शश्वन्मौनी ब्रह्मचारी सम्भाषापरिवर्जितः । सर्वं ब्रह्ममयं पश्येत् स संन्यासीति कीर्त्तितः ॥२०॥
सर्वत्र समबुद्धिश्च हिंसामायाविवर्जितः । क्रोधाऽहङ्काररहितः स संन्यासीति कीर्त्तितः ॥ २१ ॥

ब्रह्मवैवर्त्तपु० खं० १ अ० ३६॥

संन्यासः कर्मणां न्यासः कृतानामकृतैः सह । कुशलाकुशलानां च प्रहाणं त्याग उच्यते ॥२२॥

वायुपु० अ० ५६।५३॥

हितसत्य परिमित बोलता है, उस को अजिह्व कहते है ॥ १२ ॥ सद्यः (तिस क्षण में) उत्पन्न वा सोरह वर्ष की या सौ वर्ष की नारी को देख कर जो निर्विकार रहता है, सो षण्ढक कहाता है ॥ १३ ॥ जिस का गमन भिक्षा या मलमूत्र के त्याग के लिये होता है, और कहीं यात्रा काल में भी चार कोश से अधिक नहीं चलता सो सर्वथा पङ्गु है ॥१४॥ खड़े वा चलते रहने पर जिस के नेत्र चतुर्युग (सोलह हाथ) भूमि को छोड़ कर दूर नहीं जाते हैं, सो संन्यासी अन्ध कहाता है ॥१५॥ हित वा अहित मनोरम, या शोकावह वचन को सुन कर भी जो मानो नहीं सुनता है, इससे हर्ष शोक युक्त नहीं होता है सो बधिर कहा गया है ॥ १६ ॥ विषयों की समीपता रहते हुए भी जो समर्थ इन्द्रियों की विकलता रहित संन्यासी सुप्त के समान सदा रहता है सो मुग्ध कहाता है ॥ १७ ॥ ब्रह्मचर्य को समाप्त कर के गृहस्थ हो, फिर वनस्थ होकर संन्यासी हो। या दूसरे प्रकार से ब्रह्मचर्य से ही वा गृहस्थ से ही वा वनस्थ से ही संन्यासी हो। या अब्रह्मचारी वा व्रती (ब्रह्मचारी) स्नातक वा अस्नातक, या त्यक्ताग्नि वा अग्निरहित (अगृहीताग्नि) पुरुष जिस दिन पूर्णविरागयुक्त हो, उसी दिन संन्यास करे ॥ १८ ॥ प्रदीप्त ज्ञानरूप दीप से तत्त्वज्ञ पुरुष ब्रह्मा से तृण तक सब संसार को मिथ्या देखता है ॥ १९ ॥ और सदा मननशील ब्रह्मचारी संभाषणरहित होकर सब को ब्रह्ममय देखता है, वह संन्यासी कहा गया है ॥ २० ॥ सर्वत्र समबुद्धिवाला हिंसा कपटरहित क्रोधाहंकार रहित संन्यासी कहा गया है ॥ २१ ॥ अकृत कर्मों के सहित कृत (सिद्ध) कर्मों का, तथा अविहित सहित विहित के त्याग को संन्यास कहते हैं। तथा शुभ अशुभ सब वस्तुओं के अत्यन्त त्याग को त्याग कहते हैं ॥ २२ ॥

गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च। ब्रह्मचारिसहस्रेण योगी ह्येको विशिष्यते ॥२३॥ वायुपु० अ० ७१।२७॥
योगाभ्यासरतो नित्यमारुरुक्षुर्जितेन्द्रियः। ज्ञानाय वर्त्तते भिक्षुः प्रोच्यते पारमेष्ठिकः ॥२४॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यान्नित्यतृप्तो महामुनिः। सम्यक् च दमसम्पन्नः स योगी भिक्षुरुच्यते ॥२५॥
ज्ञानसंन्यासिनः केचिद्वेदसंन्यासिनोऽपरे। कर्मसंन्यासिनः केचित्त्रिविधाः पारमेष्ठिनः ॥२६॥
गरुडपु० खं० १। अ० ४६॥
ज्ञानसंन्यासिनः केचिद्वेदसंन्यासिनः परे। कर्मसंन्यासिनस्त्वन्ये त्रिविधाः परिकीर्त्तिताः ॥२७॥
यः सर्वसङ्गनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वश्चैव निर्भयः। प्रोच्यते ज्ञानसंन्यासी स्वात्मन्येव व्यवस्थितः ॥२८॥
वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः। प्रोच्यते वेदसंन्यासी मुमुक्षु र्विजितेन्द्रियः ॥२९॥
यस्त्वग्नीनात्मसात् कृत्वा ब्रह्मार्पणपरो द्विजः। स ज्ञेयः कर्मसंन्यासी महायज्ञपरायणः ॥३०॥
रागद्वेषविमुक्तात्मा समलोष्टाश्मकाञ्चनः। प्राणिहिंसानिवृत्तश्च मौनी स्यात्सर्वनिष्पृहः ॥३१॥
अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं तपः परम्। क्षमा दया च सन्तोषो व्रतान्यस्य विशेषतः ॥३२॥ कूर्मपु० अ० २८॥

निःसङ्गता मुक्तिपदं यतीनां सङ्गादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः।
आरूढयोगो विनिपात्यतेऽधः सङ्गेन योगी किमुताल्पबुद्धिः ॥३३॥ विष्णुपु० अं० ४।३।१२४॥

सदन्ने वा कदन्ने वा लोष्ठे वा काञ्चने तथा। समबुद्धि र्यस्य शश्वत्स संन्यासीति कीर्त्तितः ॥३४॥
अयाचितोपस्थितं च मिष्टामिष्टं च भुक्तवान्। न याचते भक्षणार्थी स संन्यासीति कीर्त्तितः ॥३५॥

हजार गृहस्थ सौ वानप्रस्थ हजार ब्रह्मचारी के तुल्य एक योगी संन्यासी होता है, इससे सब से श्रेष्ठ है ॥ २३ ॥ योग में आरूढ होने की इच्छा वाला सदा अभ्यास में तत्पर जितेन्द्रिय जो संन्यासी ज्ञान के लिये प्रवृत्त होता है सो पारमेष्ठिक कहाता है ॥ २४ ॥ जो महामुनि आत्मप्रीति वाला नित्य तृप्त ही सम्यग् दमसंयुक्त रहता है, सो योगी संन्यासी कहाता है ॥ २५ ॥ कोई ज्ञानसंन्यासी अन्य वेदसंन्यासी कोई कर्मसंन्यासी होते हैं, परन्तु ये तीनों प्रकार के पारमेष्ठी ही हैं ॥ २६ ॥ ज्ञानसंन्यासी आदि जो तीन प्रकार के कहे गये हैं, उन में जो सब सङ्ग द्वन्द्व भय से रहित होकर स्वात्मा में विशेष अवस्थित विचारादिपरायण रहता है, सो ज्ञानसंन्यासी कहाता है ॥ २७–२८ ॥ जो मुमुक्षु जितेन्द्रिय और परिग्रह द्वन्द्व रहित होकर वेद का ही सदा अभ्यास करता है, सो वेदसंन्यासी कहाता है ॥२९ ॥ जो द्विज अग्नियों को आत्माधीन कर के ब्रह्मार्पणपरायण रहता है, सो महायज्ञ में तत्पर द्विज कर्मसंन्यासी जानने योग्य है ॥३०॥ रागद्वेष से विमुक्त मन वाला, लोष्ट (ढेला) पत्थर सुवर्ण में सम बुद्धि वाला प्राणियों की हिंसा से रहित, मौनी सब वस्तु की इच्छा से रहित संन्यासी को होना चाहिये ॥३१॥ और अहिंसादि तथा ब्रह्मचर्यरूप उत्तम तप इस संन्यासी का विशेषरूप से व्रत है ॥ ३२ ॥ असङ्गता संन्यासी की मुक्ति का स्थान है, क्योंकि संग से सब दोष होते हैं, योग में आरूढ योगी भी संग से नीचे गिराया जाता है, अल्प बुद्धि वाले की तो बात ही क्या कहना है ? ॥ ३३ ॥ सुन्दर स्वादु अन्न वा स्वादादि रहित अन्न तथा लोष्ट और सोने में जिसकी समबुद्धि सदा रहती है सो संन्यासी कहा गया है ॥ ३४ ॥ विना मांगे प्राप्त मीठे को अमीठे अन्न को जिसने खा लिया हो, और खाने की इच्छा से मांगता नहीं है, सो संन्यासी कहा गया है ॥ ३५ ॥

न हि पश्येन्मुखं स्त्रीणां न तिष्ठेत्तत्समीपतः। दारवीमपि योषां च न स्पृशेद्यः स भिक्षुकः ॥३६॥
ब्रह्मवैवर्त्तपु० अ० ३६ ॥
निष्पृहः सर्वकामेभ्यः सर्वत्र प्रियदर्शनः। सर्वत्रानित्यबुद्धिस्तु योगी मुच्येत नान्यथा ॥३७॥
ब्रह्मपु० अ० १२७।२७ ॥
न विषं कालकूटाख्यं संसारो विषमुच्यते। तस्मात्सर्वप्रयत्नेन संहरेत सुदारुणम् ॥३८॥
यथा मृगो मृत्युभयस्य भीत उच्छिन्नवासो न लभेत निद्राम्।
एवं यति र्ध्यानपरो महात्मा संसारभीतो न लभेत निद्राम् ॥३९॥ लिङ्गपु० अ० ८६ ॥
मानावमानौ द्वावेतौ तावेवाहुर्विषामृते। अवमानोऽमृतं तत्र सम्मानो विषमुच्यते ॥४०॥
चक्षुःपूतं चरेन्मार्गं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्। सत्यपूतं वदेद्वाक्यं मनःपूतं समाचरेत् ॥४१॥
मत्स्यगृह्यस्य यत्पापं षण्मासाभ्यन्तरे भवेत्। एकाहं तत्समं ज्ञेयमपूतं यज्जलं भवेत् ॥४२॥
अब्विन्दुं यः कुशाग्रेण मासि मासि समश्नुते। न्यायतो यश्चरेद् भैक्ष्यं पूर्वोक्तात्स विशिष्यते ॥४३॥
लिङ्गपु० अ० ८६ ॥
लघ्वाशी नियताहारः सकृदन्ननिषेविता। कपालवृक्षमूलानि कुचैलमसहायता ॥
उपेक्षा सर्वभूतानामेतावद् भिक्षुलक्षणम् ॥४४॥ महाभा० शान्तिप० अ० २२।४ ॥
विविक्तदेशमाश्रित्य सुखमासीनः समाहितः। यथाशक्ति समाधिस्थो भवेत्संन्यासिनां वरः ॥४५॥
क्रमाद्वाऽक्रमतो विद्वानुत्तमां वृत्तिमाश्रयेत्। उत्तमां वृत्तिमापन्नो न नीचां वृत्तिमाश्रयेत् ॥४६॥

जो स्त्री के मुख को राग से नहीं देखता है, न उस के पास में स्थिर होता है, न लकड़ी की बनी हुई स्त्री को छूता है वह संन्यासी है ॥ ३६ ॥ सब काम्य वस्तु की इच्छा से रहित, सर्वत्र परमप्रिय आत्मतत्त्व का द्रष्टा तथा सौम्य दृष्टिवाला और सर्वत्र अनित्य बुद्धि वाला योगी (संन्यासी) मुक्त होता है अन्यथा नहीं ॥ ३७ ॥ संन्यासी के लिये कालकूट नामक विष नहीं है, किन्तु संगादि जन्मादिरूप संसार ही विष कहा गया है, तिससे सब प्रयत्न से अत्यन्तदारुण (भयंकर) का संहार (त्याग नाश) करे ॥ ३८ ॥ जैसे नष्ट वास स्थान वाला मृत्यु के भय से डरा हुवा मृग सोता नहीं है, ऐसा ही ध्यान में तत्पर महात्मा संन्यासी संसार से डर कर निद्रा मोहादि को त्यागे ॥ ३९ ॥ मान अवमान जो ये दोनों है, उनको ही महात्मा लोग विष और अमृत कहते हैं, तहाँ अतिमान प्रतिष्ठा विष है, अवमान अमृत है ॥ ४० ॥ नेत्र से पवित्र मार्ग को देख कर चले, वस्त्र से पवित्र जल को पीवे, सत्य से पवित्र वचन को बोले, मानस विचार से पवित्र आचार करे ॥ ४१ ॥ मत्स्यग्राही को छः मास में जो पाप होता है, अपवित्र जो जल होता है सो एक दिन का उस के तुल्य समझा गया है ॥४२॥ कुश के अग्र भाग द्वारा जल के एक विन्दु को मास पर जो पीता है, और अन्य जो कोई न्याय से भिक्षावृत्तिद्वारा जीता है, तहाँ पूर्व कथित से यही श्रेष्ठ है ॥४३॥ लघु (हलका) भोजनवाला होना, नियमित आहार युक्त होना, एकबार खाना, कपाल (मिट्टी पात्र का खण्ड) वृक्ष का जड़ रूप स्थान, कुवस्त्र, सहायरहितता, सब प्राणियों की उपेक्षा (सर्वत्र उदासीनता) इतना ही संन्यासी के लक्षण हैं ॥ ४४ ॥ एकान्तदेश का आश्रयण कर के सुख से बैठा हुवा एकाग्रचित्त वाला जो संन्यासी शक्ति के अनुसार समाधिस्थ होता है सो संन्यासियों में श्रेष्ठ है ॥ ४५ ॥ विद्वान् पुरुष ब्रह्मचर्यादि क्रम से वा क्रम बिना उत्तम वृत्ति (संन्यास) का ग्रहण करे, और उत्तम वृत्ति का जो ग्रहण

उत्तमां वृत्तिमाश्रित्य नीचां वृतिं समाश्रितः । आरूढपतितो ज्ञेयः सर्वधर्मबहिष्कृतः ॥४७॥
सूतसंहिता० ज्ञानयोगखं० अ० ६।३०-३२॥

अथवा सर्वपापानां विशुद्ध्यर्थं समाहितः । कुर्वन् शुश्रूषणं नित्यं वेदान्तज्ञानभाषिणाम् ॥४८॥
श्रद्धाविनयसंयुक्तः शान्तिदान्त्यादिसंयुतः । यावज्ज्ञानोदयं तावद्वेदान्तार्थं निरूपयेत् ॥४९॥
नास्ति ज्ञानात्परं किञ्चित्पापकान्तारदाहकम् । मासमात्राद्विनश्यन्ति क्षुद्रपापानि सुव्रत ! ॥
षण्मासश्रवणान्नित्यं नश्यत्येवोपपातकम् ॥ ५० ॥
महापातकसंघाश्च नित्यं वेदान्तसेवनात् । नश्यन्ति वत्सरात्सर्वे सत्यमुक्तं वृहस्पते ! ॥५१॥
यः श्रद्धया युतो नित्यं वेदान्तज्ञानमभ्यसेत् । तस्य संसारविच्छित्तिः श्रवणादिति हि श्रुति ! ॥५२॥
एवमभ्यस्यतस्तस्य यदि विघ्नोऽभिजायते । सर्वलोकान् क्रमाद् भुक्त्वा भूमौ विप्रोऽभिजायते ॥५३॥
सर्वलक्षणसम्पन्नः शान्तः सत्यपरायणः । पुनश्च पूर्वभावेन विद्वांसं पर्युपासते ॥५४॥
तत्सम्पर्कात्स्वमात्मानमपरोक्षीकृतो मुनिः । स्वप्नादिव विमुच्येत स्वसंसारमहोदधेः ॥५५॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन स्वमुक्त्यर्थं वृहस्पते ! । सर्वदा सर्वमुत्सृज्य वेदान्तश्रवणं कुरु ॥५६॥
सूतसं० ज्ञानयोग खं० अ० ७। ईश्वरोक्तयः ॥

यदा मनसि वैराग्यं जातं सर्वेषु वस्तुषु । तदैव संन्यसेद्विप्रः पतितस्त्वन्यथा भवेत् ॥५७॥
वेदान्ताभ्यासनिरतः शान्तो दान्तो जितेन्द्रियः । निर्द्वन्द्वो निरहङ्कारो निर्ममः सर्वदा भवेत् ॥५८॥
नारदीयपु० अ० २४।६१-६२ ॥

करे सो फिर नीचे की वृत्ति का ग्रहण नहीं करे ॥ ४६ ॥ उत्तम वृत्ति को ग्रहण करने वाला नीच वृत्ति को प्राप्त होने पर आरूढपतित सब धर्म से बहिष्कृत समझा जाता है ॥ ४७ ॥ अथवा सब पापों की निवृत्ति के लिये सावधान हो कर वेदान्त ज्ञान के वक्ता ज्ञानी गुरु की सदा सेवा करता हुवा, श्रद्धा विनय से शान्ति दान्ति (शम दम) आदि से संयुक्त हो कर, जब तक ज्ञान का उदय नहीं हो, तब तक वेदान्त के अर्थ का विचार चिन्तन करे ॥ ४८-४९ ॥ हे सुव्रत ! ज्ञान से भी उत्तम कोई पापवन का नाशक नहीं है, ज्ञान के लिये एक मास के श्रवण से भी क्षुद्र (तुच्छ) पाप सब नष्ट होते हैं, सदा छः मास के श्रवण से उपपातक नष्ट होते हैं, सदा वेदान्त के सेवन से सब महापातक के संघ एक वर्ष में नष्ट होते हैं, हे वृहस्पते ! यह सत्य वचन कहा गया है ॥ ५०-५१ ॥ जो श्रद्धायुक्त होकर सदा वेदान्त ज्ञान का अभ्यास करे, तो उस के श्रवण विचार से ज्ञान द्वारा जन्मादि संसार की निवृत्ति होती है इस बात को श्रुति कहती है ॥ ५२ ॥ इस प्रकार तिस अभ्यासी को यदि कोई विघ्न होता है कि जिससे ज्ञान नहीं होता है, तो सब उत्तम लोक के भोगों को भोग कर क्रम से सब लोकों में जाकर भूमि में ब्राह्मण होता है ॥ ५३ ॥ सब ब्राह्मण के लक्षणों से सम्पन्न शान्त सत्य परायण वह पूर्व जन्म के स्वभाव वासना से फिर ज्ञानी गुरु की सेवा करता है ॥५४॥ उस ज्ञानी के सम्बन्ध से अपने आत्मा को प्रत्यक्ष समझने वाला वह मुनि स्वप्न तुल्य अपने संसार समुद्र से मुक्त होता है ॥५५॥ हे वृहस्पते ! तिससे अपनी मुक्ति के लिये सब प्रयत्न द्वारा अन्य सब को त्याग कर, वेदान्त का श्रवण करो ॥५६॥ जब सब वस्तु से मन में वैराग्य हो गया हो, तभी विप्र संन्यास करे, अन्यथा पतित होगा ॥ ५७ ॥ संन्यास लेने पर वेदान्त के अभ्यास में तत्पर शान्त दान्त

सर्वेषामेव वैराग्यं संन्यासे तु विधीयते । पतत्येवाविरक्तो यः संन्यासं कर्त्तुमिच्छति ॥५९॥
कूर्मपु० पू० अ० ३।११ ॥

त्यक्त्वा सर्वसुखास्वादं पुत्रैश्वर्यसुखं त्यजेत् । अपत्येषु वसेन्नित्यं ममत्वं यत्नतस्त्यजेत् ॥६०॥
त्रिदण्डं कुण्डिकां चैव भिक्षाधारं तथैव च । सूत्रं तथैव गृह्णीयान्नित्यमेव बहूदकः ॥६१॥
त्यक्त्वा पुत्रादिकं सर्वं योगमार्गं व्यवस्थितः । इन्द्रियाणि मनश्चैव कर्षन् हंसोऽभिधीयते ॥६२॥
आत्मनिष्ठः स्वयं युक्तस्त्यक्तसर्वपरिग्रहः । चतुर्थोऽयं महानेषां ध्यानभिक्षुरुदाहृतः ॥६३॥ विष्णुस्मृ० अ० ४॥

यदा मनसि सम्पन्नं वैतृष्णं सर्ववस्तुषु । तदा संन्यासमिच्छेच्च पतितः स्याद्विपर्यये ॥६४॥
भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेत् क्वचित् । यस्तु मोहेन वान्यस्मादेकान्नादी भवेद्यतिः ॥
न तस्य निष्कृतिः काचिद् धर्मशास्त्रेषु दृश्यते ॥ ६५ ॥ पद्मपु० आ० खं० अ० ५९।३-१७ ॥

न याचते मिष्टान्नं न कुर्यात्कोपमेव च । न धनग्रहणं कुर्यादेकवासा निरीहितः ॥६६॥
यानमारोहणं कृत्वा गृहीत्वा गृहिणो धनम् । अहंकृत्वा गृही रम्यात्स्वधर्मात्पतितो भवेत् ॥६७॥
ब्रह्मवैवर्त्तपु० कृष्ण जन्मखं० उ० अ० ८३।८९-९१ ॥

यो लिङ्गग्रहणं कृत्वा ततः कोपपरो भवेत् । तस्य वृथा हि तत्सर्वं यथा भस्महुतं तथा ॥६८॥
स्कन्दपु० नागरखं० ६ अ० १९८।५४ ॥

कुण्डिकां चमसं शिक्यं त्रिविष्टपमुपानहौ । शीतोपघातिनीं कन्थां कौपीनाच्छादनं तथा ॥६९॥
पवित्रं स्नानशाटीं च उत्तरासङ्गमेव च । अतोऽतिरिक्तं यत्किञ्चित्सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः ॥७०॥
कुण्डिकोपनि० । १३-१४ ॥

जितेन्द्रिय निर्द्वन्द्व अहंकार ममता रहित सदा रहे ॥ ५८ ॥ सब के संन्यास में वैराग्य ही हेतु रूप से विहित होता है, जो विराग रहित भी संन्यास करना चाहता है, और संन्यास करता है, सो पतित होता है ॥५९॥ सब सुख के आस्वाद को त्याग कर, पुत्र के ऐश्वर्य सुख को त्यागे, और अपत्य पुत्रों में ही सदा वसे ममता को त्यागे, सो कुटीचक संन्यासी होता है ॥ ६० ॥ त्रिदण्ड, भोजन का पात्ररूप कुण्डिका, भिक्षा पात्र, यज्ञसूत्र का धारण ग्रहण सदा बहूदक संन्यासी करे ॥ ६१ ॥ पुत्रादि सब को त्याग कर योग मार्ग का विशेष सेवन करने वाला इन्द्रियमन को विषयादि से रोकने वाला हंस कहाता है ॥ ६२ ॥ आत्मनिष्ठ स्वस्वरूप में समाहित सबसंग्रह का त्यागी, इन संन्यासियों में चौथा महान् ध्यानभिक्षु कहा गया है ॥६३॥ जब मन में सब वस्तु विषयक वैराग्य सिद्ध हो गया हो, तभी संन्यास की इच्छा करे, इसके उलटा करने से पतित होगा ॥ ६४ ॥ भिक्षाद्वारा प्राप्त अन्न से ही यति सदा वर्ते कहीं भी एक का अन्नखाने वाला नहीं हो, जो मोह से वा अन्य किसी कारण से एकान्नभोजी होता है, तिस के दोष के निवारण का उपाय कोई भी धर्मशास्त्रों में नहीं दीखता है ॥६५॥ मिष्टान्न किसी से नहीं मागें, न क्रोध ही करे न धन का ग्रहण करे किन्तु एक वस्त्रवाला इच्छा रहित रहे ॥ ६६ ॥ रथादि रूप यान पर आरोहण कर के गृहस्थों के धन का ग्रहण करके अहंकार करके फिर गृही हो कर रम्य (सुन्दर) अपने धर्म से पतित होता है ॥ ६७ ॥ जो संन्यास के लिङ्ग (वेष) का धारण करके फिर क्रोध परायण होता है, उस के वह वेषादि सब निरर्थक होते हैं, जैसे भस्म में किया गया हवन हो ॥ ६८ ॥ भोजन पात्र, चमस, पात्रादि के धरने का शिकहर, त्रिदण्ड, जूता, शीतनिवारक गुदरी, कौपीनसहित कटिवस्त्र, कुश की पवित्री, स्नान वस्त्र, गमछा, इन से

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमफल्गुता। दया च सर्वभूतेषु नित्यमेतद्यतिश्चरेत् ॥७१॥
ग्रामान्ते वृक्षमूले च नित्यकालनिकेतनः। पर्यटेत् कीटवद् भूमिं वर्षास्वेकत्र संविशेत् ॥७२॥
संभाषणं सह स्त्रीभिरालम्भप्रेक्षणे तथा। नृत्यं गानं सभासेवां परिवादांश्च वर्जयेत् ॥७३॥
लघुविष्णुस्मृ० अ० ४॥
अष्टौ मासा विहारस्य यतीनां संयतात्मनाम्। एकत्र चतुरो मासान् मासौ वा निवसेत्पुनः ॥७४॥
मत्स्यपु० अ० १८४।२१॥
लाभपूजानिमित्तं तु व्याख्यानं शिष्यसंग्रहः। एते चान्ये च बहवः प्रपञ्चाः कुतपस्विनाम् ॥७५॥
ध्यानं शौचं तथा भिक्षा नित्यमेकान्तशीलता। भिक्षोश्चत्वारि कर्माणि पञ्चमं नोपपद्यते ॥७६॥
दक्षस्मृ० अ० ७॥
एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान्। सिद्धिमेकस्य सम्पश्यन्न जहाति न हीयते ॥७७॥
अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्। उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥७८॥
कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता। समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥७९॥
नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्। कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥८०॥
दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्। सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥८१॥
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन। नचेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥८२॥
क्रुध्यन्तं प्रति न क्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्। सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥८३॥

अन्य सब को संन्यासी त्यागे ॥६९–७०॥ अहिंसादि और अफल्गुता (असार निरर्थकता से रहितता) सब भूतों में दया इन का आचरण यति सदा करे ॥ ७१ ॥ और ग्राम के अन्त में वृक्ष के नीचे को सदा अपना निकेतन (घर) बनावे समझे। कीट के तुल्य धीरे २ भूमि पर विचरे, वर्षा के चातुर्मासे में एक स्थान में निवास करे ॥ ७२ ॥ स्त्रियों के साथ संभाषण, उनका स्पर्श, प्रेक्षण, नाच गान और सभा के सेवन, तथा परिवादों को त्यागे ॥ ७३ ॥ वश्यात्मा यति के विहार (विचरण) के लिये आठ मास हैं, इससे चारमास एकत्र निवास करे अथवा श्रावण भाद्रपद दो मास एकत्र निवास करे ॥ ७४ ॥ द्रव्य की प्राप्ति और पूजा के लिये व्याख्यान शिष्य संग्रह करना ये और अन्य भी बहुत कुतपस्वियों के प्रपञ्च (भ्रम वञ्चना) हैं ॥७५॥ ध्यानादि चार ही संन्यासी के कर्म हैं, पञ्चम नहीं युक्त हो सकता ॥ ७६ ॥ सिद्धि के लिये सदा एकाकी सहाय रहित होकर विचरे, एकाकी की सिद्धि (मुक्ति) देखता हुवा, न किसी को प्रथम साथ लेकर फिर त्यागता है न किसी से त्यागा जाता है सदा असंग सुखी ही रहता है ॥ ७७ ॥ अग्निघर से रहित रहे, अन्न के लिये ग्राम में जाय, उपेक्षक (उदासीन) 'असंकुसुक' (स्थिरबुद्धि संचयरहित) मनन परायण, भावना से आत्मा में समाहित रहे ॥ ७८ ॥ भिक्षा के लिये मिट्टी का पात्र, वास के लिये वृक्ष के मूलादि मुक्त के लक्षण हैं, इस धारणा से मुक्त होते हैं ॥ ७९ ॥ जीवन मरण की इच्छा नहीं करे, किन्तु कर्माधीन मरणादि काल की प्रतीक्षा करे, जैसे निर्देश (आज्ञा) की प्रतीक्षा भृत्य करता है ॥ ८० ॥ दृष्टि से पवित्र स्थान को जानकर पैर दे, वस्त्र से छान कर जल पिये, सत्यता से पवित्र वचन बोले मन से विचार कर सम्यगाचार करे ॥ ८१ ॥ क्रूर वचनादि को सहे, किसी का अपमान नहीं करे, और इस देह को धरकर इस के लिये किसी के साथ वैर नहीं करे, ॥ ८२ ॥ क्रोध कर्त्ता के प्रति क्रोध नहीं करे, अन्य से निन्दित होने पर भी

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः । आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥८४॥
न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया । नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥८५॥
न तापसै र्ब्राह्मणै र्वा वयोभिरपि वा श्वभिः । आकीर्णं भिक्षुकैरन्यैरागारमुपसंव्रजेत् ॥८६॥
क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् । विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥८७॥
अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निव्रणानि च । तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥८८॥
एककालं चरेद् भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे । भैक्षे प्रसक्तो हि यति र्विषयेष्वपि सज्जति ॥८९॥
विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने । वृत्ते शरावसम्पाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥९०॥
अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः । अभिपूजितलाभैश्च यति र्मुक्तोऽपि बध्यते ॥९१॥
अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः । निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ॥९२॥
विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथाऽप्रियैः । जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥९३॥
देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भे च सम्भवम् । योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥९४॥
अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् । धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥९५॥
दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः । समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥९६॥

निन्दा नहीं करे, पाँच ज्ञानेन्द्रिय मन बुद्धि से गृहीत मिथ्या वस्तु विषयक बात नहीं बोले ॥ ८३ ॥ किन्तु आत्मविषयक प्रीतियुक्त, योगासन से युक्त, निरपेक्ष, निर्विषय रहे, सुखस्वरूप के परिचयार्थ आत्मसहाय से ही संसार में विचरे ॥ ८४ ॥ किसी उत्पात निमित्त के फल कथन द्वारा, वा नक्षत्रविद्या ज्योतिष अङ्गविद्या रेखा विचार सामुद्रिकविद्या अनुशासन (नीतिशास्त्र) और वादान्तर से भी कभी भिक्षा प्राप्ति की इच्छा नहीं करे ॥ ८५ ॥ तपस्वी ब्राह्मण पक्षी कुत्ता से अन्य भिक्षुकों से व्याप्त घर में भिक्षा के लिये नहीं प्रवेश करे ॥ ८६ ॥ साधित केसादि वाला भिक्षापात्र दण्डयुक्त और कुसुम्भ (कमण्डलुवान्) नियत हो कर सब प्राणी को अपीड़ित करता हुवा सदा विचरे ॥ ८७ ॥ यति का पात्र तैजस (धातुज) नहीं होना चाहिये, किन्तु व्रण रहित अतैजस पात्र होना चाहिये, और यज्ञ के चमसों के समान उनकी जलमात्र से शुद्धि कही गई है ॥ ८८ ॥ एक समय भिक्षा करे, और भिक्षा के विस्तार में नहीं आसक्त हो, भिक्षा के विस्तार में आसक्ति वाला विषयों में भी आसक्त होता है ॥ ८९ ॥ रसोई का धूम शान्त हो गया हो, कूटना हो गया हो, अङ्गार शान्त हो गया हो, सब जन भोजन कर चुके हों, शरावादि निःसारित हों, उस समय संन्यासी सदा भिक्षा मांगें ॥ ९० ॥ सत्कार पूजा पूर्वक भिक्षा प्राप्ति की सदा निन्दा करे, क्योंकि उससे मुक्त यति भी स्नेहद्वारा बँधता है ॥ ९१ ॥ कर्मदोष जन्य मनुष्यों की गति को विचारे समझे, नरक में प्राप्ति यमघर में यातना को समझे ॥ ९२ ॥ कर्मदोष से ही प्रिय पुत्रादि से वियोग, अप्रिय से संयोग, जरावस्था से अभिभव और व्याधियों से पीड़ा समझे ॥ ९३ ॥ इस देह से निकलना फिर गर्भ में उत्पत्ति, योनियों के करोड़ों हजारों में भ्रमण इस जीवात्मा को समझे ॥ ९४ ॥ देही के अधर्म जन्य दुःख संयोग को, और धर्मजन्य अर्थ (प्रयोजन) ज्ञान से जन्य अविनाशी सुखसंयोग (मोक्ष) को समझे ॥ ९५ ॥ जिस किसी आश्रम में स्थिर होकर, लोक से दूषित होते हुए भी सब भूत में समतायुक्त हो कर धर्माचरण करे, लिङ्गमात्र धर्म का कारण नहीं है ॥ ९६ ॥

संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा । शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥९७॥
प्राणायामै र्दहेद्दोपान् धारणाभिश्च किल्बिषम् । प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥९८॥

मनु० अ० ६।४२ इत्यादि ॥

रागं द्वेषं मदं मायां द्रोहं मोहं परात्मसु । षडेतानि यति र्नित्यं मनसापि न चिन्तयेत् ॥९९॥
मञ्चकं शुक्लवस्त्रं च स्त्रीकथा लौल्यमेव च । दिवा स्वापं च यानं च यतीनां पातकानि षट् ॥१००॥

नारदपरिव्राजकोप० उपदेश० ६ ॥

पतत्यसौ ध्रुवं भिक्षु र्यस्य भिक्षोर्द्वयं भवेत् । धीपूर्वरेतउत्सर्गो द्रव्यसंग्रह एव च ॥१०१॥
तितिक्षा-ज्ञान-वैराग्य-शमादि-गुणवर्जितः । भिक्षामात्रेण यो जीवेत् स पापी पशुवन्नरः ॥१०२॥

अत्रिस्मृ० बह्वृचपरिशि० ॥

द्रव्यस्त्रीमांससम्पर्कान्मधुमाक्षिक-लेहनात् । विचारस्य परित्यागाद्यतिः पतनमृच्छति ॥१०३॥
हिंसोद्भवं पट्टकूलं कस्तुरी रोचनं तथा । प्राण्यङ्गं च तथोर्णा च यतीनां पतनं ध्रुवम् ॥१०४॥

श्रीकात्यायनः ॥

आसनं पात्रलोपश्च सञ्चयः शिष्यसंग्रहः । दिवास्वापो वृथालापो यते र्बन्धकराणि षट् ॥१०५॥
भिक्षाटनं जपो ध्यानं स्नानं शौचं सुरार्चनम् । कर्त्तव्यानि षडेतानि यतीनां नृपदण्डवत् ॥१०६॥
स्नानं शौचं तथा भिक्षा नित्यमेकान्तशीलता । भिक्षोश्चत्वारि कर्माणि पञ्चमं नोपपद्यते ॥१०७॥
स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रियनिग्रहः । ब्रह्मामृतं पिबेद् भैक्षमेकान्तं द्वैतवर्जनम् ॥१०८॥ मेधातिथिः॥
द्वावेतौ समवीर्यौ तु सुराताम्बूलमेव च । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन ताम्बूलं वर्जयेद्यतिः ॥१०९॥ वायुपुराण०

जन्तुओं की रक्षा के लिए रात्रि वा दिन में सदा शरीर की पीड़ा काल में भूमि को देख कर ही चले ॥९७॥ प्राणायामों से रागादि दोषों को नष्ट करे देश-विशेष ब्रह्मात्मा में चित्त के बन्धन रूप धारणाओं से पाप को नष्ट करे, विषयों से इन्द्रियों के आकर्षण रूप प्रत्याहार से संसर्ग को नष्ट करे, ध्यान से अनीश्वर सम्बन्धी कामादि गुणों को नष्ट करे ॥ ९८ ॥ दूसरे में वा अपने देहादि में रागद्वेषादि छः इन दोषों को यति सदा ही मन से भी नहीं विचारे ॥ ९९ ॥ मंच (खाट), उजला वस्त्र, स्त्री की बात, चञ्चलता, दिन का शयन, यानारोह, ये छः यति के पातक हैं ॥ १०० ॥ ज्ञानपूर्वक वीर्य का त्याग, द्रव्य का संग्रह ये दो जिस संन्यासी को होते हैं, वह अवश्य पतित होता है ॥ १०१ ॥ तितिक्षादि गुण से रहित जो कोई भिक्षा-मात्र से जीता है, सो पशु तुल्य पापी मनुष्य है ॥ १०२ ॥ द्रव्यादि के सम्बन्ध, मक्खी से निर्मित मधु के स्वाद, विचार के त्याग से यति पतन पाता है ॥ १०३ ॥ हिंसाजन्यपट्टकूल (वस्त्र) कस्तूरी, गोरोचन, अन्य प्राणियों का अङ्ग, ऊनी वस्त्र ये सब यतियों के अवश्य पतन रूप हैं ॥ १०४ ॥ आसन (सदा एकत्र स्थिति) पात्र का अभाव, धन संचय, शिष्य का संग्रह, दिन का शयन, व्यर्थ बात, ये छः यति के बन्धन कारक हैं ॥ १०५ ॥ भिक्षाटनादि छः राजदण्ड के समान यतियों के अवश्य कर्तव्य हैं ॥ १०६ ॥ स्नानादि चार संन्यासी के कर्म हैं, पञ्चम नहीं युक्त होता है, तहाँ मन के रागादि मलों का त्याग मुख्य स्नान है, इन्द्रिय निग्रह शौच है, अमृत स्वरूप ब्रह्मानन्द भिक्षा का पान करे, और द्वैत भाव का त्याग एकान्त है ॥ १०७–१०८ ॥ मदिरा और पान दोनों तुल्यवीर्य वाले (कामोद्दीपक) हैं, तिससे यति सब यत्न से पान को त्यागे ॥ १०९ ॥

आसन्नमुसले भैक्षमस्तेयं शौचमेव च । अप्रमादोऽव्यवायश्च दयाभूतेषु च क्षमा ॥११०॥
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा सत्यं च दशमं स्मृतम् । दक्षलक्षणको ह्येष धर्मः प्रोक्तः स्वयंभुवा ॥१११॥
भिक्षो र्व्रतानि पञ्चात्र पञ्चैवोपव्रतानि च । [1]आचारशुद्धि र्विनयः शौचं च प्रतिकर्म च ॥
सम्यग् दर्शनमित्येवं पञ्चैवोपव्रतान्यपि ॥ ११२ ॥ वायुपु० अ० ८।१८५ इत्यादि ॥
अस्तेयं ब्रह्मचर्यं च अलोभस्त्याग एव च । व्रतानि चैव भिक्षूणामहिंसा परमार्थिता ॥११३॥
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम् । नित्यं स्वाध्याय इत्येते नियमाः परिकीर्त्तिताः ॥११४॥
इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयमिति यस्तृषितश्चरेत् । अपि कल्पसहस्रायु र्नैव ज्ञेयमवाप्नुयात् ॥११५॥
त्यक्तसङ्गो जितक्रोधो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः । पिधाय बुद्ध्या द्वाराणि ध्याने ह्येवं मनो दधेत् ॥११६॥
वाग्दण्डः कर्मदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः । यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी व्यवस्थितः ॥११७॥
वायुपु० अ० १६॥
कौपीनाच्छादनं वासः कन्थां शीतनिवारिणीम् । पादुके चापि गृह्णीयात्कुर्यान्नान्यस्य संग्रहम् ॥११८॥
देहस्थितिनिमित्तस्य वस्त्रादेः स्यात्परिग्रहः । शरीरं धर्मसंयुक्तं रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥११९॥
अग्निपु० अ० ३७२।१५-१६॥
अन्नदानपरो भिक्षुश्चतुरो हन्ति दानतः । दातारमन्नमात्मानं यस्मै चान्नं प्रयच्छति ॥१२०॥ जाबालस्मृतौ॥
यत्यन्नं नैव भोक्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि । गोमांसेन समं ज्ञेयं सुराबिन्दुसमं जलम् ॥१२१॥
यतीनां काञ्चनं दत्त्वा ताम्बूलं ब्रह्मचारिणाम् । चौराणामभयं दत्त्वा दातापि नरकं व्रजेत् ॥१२२॥

मुसलशब्द के समाप्त होने पर भिक्षा करना, चोरी का त्याग, शौच, अप्रमाद, अमैथुन, भूतों में दया, क्षमा, क्रोध का अभाव, गुरुसेवा, सत्य, ये दशलक्षण वाले यति के धर्म को ब्रह्मा जी ने कहा है ॥ ११०-१११ ॥ इन में यति के पाँच व्रत और पाँच उपव्रत कहाते हैं। आचार की शुद्धि, विनय, शौच, प्रति अङ्ग सम्बन्धी कर्म पादप्रक्षालन तिलकादि, सम्यग् दर्शन (विवेकादि) ये पाँच ही उपव्रत भी हैं ॥ ११२ ॥ अस्तेयादि और अहिंसा परमार्थित्व भी व्रत हैं, और अक्रोधादि नियमरूप संन्यासी के कहे गये हैं ॥ ११३-११४ ॥ तृष्णायुक्त हो कर जो बाहर के ज्ञान ज्ञेय में विचरता है, वह सहस्र कल्प की आयु से युक्त हो कर भी सत्य ज्ञेय को नहीं पाता है ॥११५॥ इसलिये बाहर के सङ्ग को त्याग कर क्रोधरहित सूक्ष्माहारी जितेन्द्रिय हो कर, बुद्धि से इन्द्रिय द्वारों को बन्द कर के इस प्रकार ध्यान में मन को लगावे ॥ ११६ ॥ वाक्-कर्म-मन-का दमनरूप ये तीन दण्ड जिसके नियत (सदा) रहते हैं, सो त्रिदण्डी निश्चित है ॥ ११७ ॥ कौपीनादि का संग्रह संन्यासी करे, अन्य का नहीं। क्योंकि देह की स्थिति के हेतु वस्त्रादि का संग्रह तो होता ही है, जिससे धर्मसंयुक्त देह प्रयत्न से रक्षा योग्य है ॥ ११८-११९ ॥ अन्नदान में तत्पर भिक्षु दान से चार को मारता है, जिससे अन्न लेता है उस दाता को उस अन्न को अपने को और जिसे अन्न देता है उसको ॥ १२० ॥ इसलिये कण्ठगत प्राण होने पर भी यति का अन्न नहीं खाना चाहिये, उस अन्न को गोमांस तुल्य और जल को सुराबिन्दु तुल्य समझना चाहिये ॥ १२१ ॥ यतियों को कांचन ब्रह्मचारियों को पान चोरों को अभय देकर दाता भी नरक में जाता है ॥ १२२ ॥

---

१. आहारशुद्धि र्विनयः शौचमप्रतिकर्म च । सम्यग्दर्शनमित्येवं पञ्चैवोपव्रतानि च । इति पाठान्तरम् । अप्रतिकर्म—अप्रसाधनमलंकाराभावः ।

लिङ्गे सत्यपि खल्वस्मिञ् ज्ञानमेव हि कारणम् । निर्मोक्षायेह भूतानां लिङ्गग्राहो निरर्थकः ॥१२३॥

श्रीव्यासः ॥

राम ! राम ! महाबाहो ! मा त्वं शोकपरो भव । नचास्य युज्यते वह्निर्दातुं चैव कथश्चन ॥१२४॥

ब्रह्मज्ञानप्रयुक्तस्य संन्यस्तस्य विशेषतः । अग्निदानं न युक्तं स्यात्सर्वेषामपि योगिनाम् ॥१२५॥

स्कन्दपु० नागरखं० अ० १०० ॥

एकोदिष्टं न कुर्वीत यतीनां चैव सर्वदा । अहन्येकादशे प्राप्ते पार्वणं तु विधीयते ॥१२६॥

पुरुषार्थचिन्तामणावुशनस उक्तिः ॥

एकोदिष्टं जलं पिण्डमशौचं प्रेतसत्क्रियाम् । न कुर्यात्पार्वणादन्यद् ब्रह्मीभूताय भिक्षवे ॥१२७॥

शातातपोक्तिः ॥

अभोज्यं मठिनामन्नं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् । स्पृष्ट्वा मठपतीन् वैश्य ! सवासा जलमाविशेत् ॥१२८॥

पद्मपु० उत्तरखं० अ० २४४।४०९ ॥

पारिव्राज्यं गृहीत्वा तु यः स्वधर्मे न तिष्ठति । श्वपदेनाङ्कयित्वा तं राजा शीघ्रं प्रवासयेत् ॥१२९॥

यस्य त्वावसथे भिक्षुर्मैथुनं यदि सेवते । तस्यावसथनाथस्य मूलान्यपि निकृन्तति ॥१३०॥

दक्षस्मृ० अ० ७।३५–४५ ॥

न हि संन्यासतो मुक्ति र्नटानां सा कुतो न हि । किन्तु सर्वाभिलाषस्य कोपस्य च विवर्जनात् ॥१३१॥

आत्मपु० अ० २।१८७ ॥

यतिभिस्तु विशेषेण कर्तव्यमिदमेव हि । आश्रमोऽयममीषां स्यात्सर्वभूताभयाय हि ॥१३२॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा योऽत्र चरेद्यतिः । अस्मिन् देहे तथाऽन्यस्मिन् भयं तस्य न विद्यते ॥१३३॥

आत्मपु० अ० ६।१६०८–१६१५ ॥

न्यासस्त्याग इति प्रोक्तः सम्यक्त्वं तस्य चेदृशम् । सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वत्र त्यजनं स्मृतम् ॥१३४॥

इस संन्यास के लिंग (वेष) के रहते भी ज्ञान ही प्राणी के मोक्ष का यहाँ कारण है, इस से ज्ञानादि विना लिंग का ग्रहण निरर्थक है ॥१२३॥ हे महाबाहो ! राम ! ज्ञानी लक्ष्मण के मरने से तुम शोक परायण नहीं होवो, न इस लक्ष्मण को किसी प्रकार अग्नि देना उचित है ॥१२४॥ जिसने ब्रह्म ज्ञान को पाया है, जो सर्वथा संन्यासी है, और सब योगियों को अग्नि दान उचित नहीं होता है, यह आकाश वाणी है ॥ १२५ ॥ यतियों का एकोदिष्ट कर्म भी सदा नहीं करे, मृत्यु के वाद ग्यारहवें दिन पार्वण कर्म का विधान है ॥१२६॥ अतः पार्वण से अन्य एकोदिष्टादि ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त भिक्षु के लिये नहीं करे ॥ १२७ ॥ ब्रह्म प्राप्ति स्वधर्मादि रहित मठपतियों का अन्न अभोज्य है, भूल से भोजन करके चान्द्रायण व्रत करे, हे वैश्य ! मठपतियों के स्पर्श होने से सवस्त्र स्नान करे ॥१२८॥ संन्यास का ग्रहण करके जो अपने धर्म में स्थिर नहीं रहे, उसको कुत्ते के पैर के तुल्य तप्त लोहे से चिन्हित करके राजा शीघ्र अपने देश से निकाल दे ॥ १२९ ॥ जिस के बैठक मकान में रह कर यदि यति मैथुन करता है, तो उस बैठक वाले के मूलों को भी नष्ट करता है ॥१३०॥ संन्यास के वेष से मुक्ति नहीं होती, ऐसा हो तो नटों की क्यों न हो ? किन्तु सब इच्छा और क्रोध के त्याग से मुक्ति होती है ॥ १३१ ॥ यतियों को यही विशेष रूप से कर्तव्य है कि जिससे इन के यह आश्रम सब भूतों के अभय के लिये हों ॥ १३२ ॥ जो यति सब भूतों को अभय देकर यहां विचरता है, उसे इस देह में तथा अन्य देह में भय नहीं होता है ॥१३३॥ त्याग को न्यास कहते हैं, उसका सम्यक्पन (सुन्दरता)

सुवर्णादीनि वस्तूनि सुवर्णं च विशेषतः । रागतो न स्पृशेन्नैव पश्येत्कुर्यान्न संग्रहम् ॥१३५॥
स्पर्शनात्पुष्कसस्तस्य चाण्डालो दर्शनादपि । आत्महा च भवेदेव तत्परिग्रहतः सदा ॥१३६॥
आत्मन्यत्र हते सर्वं निहतं स्याच्चराचरम् । सर्वरूपो यतः स्वात्मा सर्वेषामिह देहिनाम् ॥१३७॥

आत्मपु० अ० ११।६७९-८१८-८२० ॥

न ग्राह्यं तैजसं पात्रं भिक्षुकेण कदाचन । वराटके संगृहीते तत्र तत्र दिने दिने ॥
गोसहस्रवधं पापं श्रुतिरेषा सनातनी ॥१३८॥ स्कन्दपु० खं ४पू० अ० ४१।२५ ॥
सर्वन्यासो हरौ भूप ! धर्मः संन्यासिनां ध्रुवम् । रक्तैकवासा दण्डी च बिभर्त्ति मृत्कमण्डलुम् ॥१३९॥
सर्वत्र समदर्शी च स्मरेन्नारायणं सदा । करोति भ्रमणं नित्यं गेहे गेहे न तिष्ठति ॥१४०॥
विद्यां मन्त्रं च कस्मैचिन्न ददाति च लोभतः । करोति नाश्रमं भिक्षुः करोति नान्यवासनाम् ॥१४१॥
करोति नान्यसङ्गं च निर्मोहः सङ्गवर्जितः । न स्वादु भुङ्क्ते लोभाच्च स्त्रीमुखं न हि पश्यति ॥
न वाञ्छितं भक्ष्यवस्तु याचते गृहिणं प्रति ॥१४२॥ ब्रह्मवैवर्त्तपु० कृष्णजन्मखं० उ० अ० ५९।७७-८० ॥
कौपीनाच्छादनं यावत्तावदिच्छेच्च चीवरम् । यावत्प्राणाभिसन्धानं तावदिच्छेच्च भोजनम् ॥१४३॥

महाभा० आदिप० ६१।१२ ॥

यतिधर्मसंग्रहे यतिमहिमवाक्यानि:—

एकरात्रोषितस्यापि यते र्या गतिरुच्यते । न सा शक्या गृहस्थेन प्राप्तुं क्रतुशतैरपि ॥१४४॥
संन्यस्तमिति यो ब्रूयात्प्राणैः कण्ठगतैरपि । न तत्क्रतुशतेनापि प्राप्तुं शक्नोति मानवः ॥१४५॥

ऐसा है कि सब प्रकार से सदा सर्वत्र सर्व त्याग है ॥ १३४ ॥ सुवर्णादि वस्तु को और अधिक सुवर्ण को राग से न छुवे न देखे न संग्रह करे ॥ १३५ ॥ राग पूर्वक छूने से 'पुष्कस' (अधम) होता है दर्शन से चाण्डाल होता है, और सदा परिग्रह से आत्मघाती ही होता है, और यहाँ आत्मघात होने पर सब चराचर का घात होता है, जिससे सब देही का आत्मारूप स्वात्मा सर्वस्वरूप है ॥ १३६-१३७ ॥ भिक्षुक को कभी तैजस धातु का पात्र नहीं ग्रहण करना चाहिये, वराटक (कपर्दक के संग्रह करने पर भी तत्र तत्र स्थान में प्रतिदिन गो सहस्र वध का पाप है, यह सनातनी श्रुति है ॥ १३८ ॥ हे भूप ! सब वस्तु का हरि में समर्पण करना यह संन्यासी का नित्य धर्म है, रक्त एक वस्त्रधारी दण्डयुक्त संन्यासी मिट्टी के कमण्डलु का धारण करता है ॥ १३९ ॥ सर्वत्र समदर्शी हो कर सदा नारायण का स्मरण करे, सदा भ्रमण करता है, घर २ में ठहरता नहीं है ॥ १४० ॥ लोभ से किसी को विद्या वा मन्त्रोपदेश नहीं करता है, न आश्रम बनाता है, न अन्य वासना करता है ॥ १४१ ॥ अन्य का संग नहीं करता है, निर्मोह संग रहित रहता है, लोभ से स्वादु वस्तु को नहीं खाता है, स्त्री के मुख को नहीं देखता है, भक्ष्यवाञ्छित वस्तु की भी याचना गृहस्थ से नहीं करता है ॥ १४२ ॥ जितने वस्त्र से कौपीन आच्छादन हो सके उतना ही चीवर (वस्त्र) की इच्छा करे, और जितने भोजन से प्राणधारण हो, उतना भोजन चाहे ॥ १४३ ॥ संन्यासपूर्वक एक रात्रिमात्र उषित (स्थित) यति की जो गति कही जाती है, सो गति सैकड़ों यज्ञों द्वारा भी गृहस्थ नहीं पा सकता ॥ १४४ ॥ कण्ठगत प्राण सहित भी जो मनुष्य मुझ से जगत् त्यागा गया इस प्रकार कहता है, उस के फल को मनुष्य सौ क्रतु (यज्ञ) से भी नहीं पा सकता ॥ १४५ ॥

संन्यस्तं तु द्विजं दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः । एष मे मण्डलं भित्त्वा परं ब्रह्माधिगच्छति ॥१४६॥
इतिविष्णुः ।
त्रिंशत्परांस्त्रिंशदपरांस्त्रिंशच्च परतः परान् । सद्यः संन्यसनादेव नरकात्तारयेत् पितॄन् ॥१४७॥ इतिदक्षः ।
षष्टिं कुलान्यतीतानि षष्टिमागमकानि च । कुलान्युद्धरते प्राज्ञः संन्यस्तमिति यो वदेत् ॥१४८॥
इति अङ्गिराः ।
संन्यस्तमिति यो ब्रूयात्प्राणैः कण्ठगतैरपि । सोऽक्षयाँल्लभते लोकान् पुनर्जन्म न विद्यते ॥१४९॥
[१]दण्डग्रहणमात्रेण नरो नारायणो भवेत् ॥१५०॥ इति कपिलः ॥ ब्रह्मवैवर्त्तपु० कृष्णजन्मखं० अ० ८३।८३ ॥

इति दशमं न्यासितद्धर्मप्रकरणं समाप्तम् ।

अथ सामान्यधर्मः ॥ ११ ॥

सुधर्माय नमस्तस्मै येनेदं विधृतं जगत् । स्वात्मा च लभ्यते येन तृप्तो भवति वै जनः ॥१॥
आनृशंस्यमहिंसा चाप्रमादः संविभागिता । श्राद्धकर्मातिथेयं च सत्यमक्रोध एव च ॥२॥
स्वेषु दारेषु सन्तोषः शौचं नित्यानसूयता । आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्मः साधारणो नृप ! ॥३॥ महाभा० ।
क्षमा सत्यं दया दानं शौचमिद्रियनिग्रहः । देवपूजाग्निहरणं सन्तोषोऽस्तेयमेव च ॥
सर्वव्रतेष्वयं धर्मः सामान्यो दशधा स्मृतः ॥४॥ अग्निपु० अ० १७५।१० ॥
सत्यं तपो दया दानं चतुष्पाद्धर्म ईरितः । सर्वैरपि सदा सेव्यो जन्मतो मरणावधि ॥५॥

संन्यास युक्त द्विज को देख कर, सूर्य अपने स्थान से चलते हैं, और समझते हैं कि यह मेरा मण्डल (देशादि) का भेदन करके पर ब्रह्म को प्राप्त होगा ॥ १४६ ॥ तीस परपितृ तीस अपर पितृ और तीस पर से भी पर पितरों को नरक से संन्यास के द्वारा शीघ्र ही तारता है ॥१४७॥ जो विद्वान् कहता है मैंने संन्यास किया, सो अतीत (मृत) साठ कुलों को और आगामी साठ कुलों को नरकादि से मुक्त करता है ॥ १४८ ॥ कण्ठगत प्राण सहित भी जो कहता है कि मुझसे संन्यास किया गया सो अक्षय लोकों को प्राप्त करता है और उस का फिर जन्म नहीं होता है ॥ १४९ ॥ तथा दण्ड के ग्रहणमात्र से नर नारायण हो जाता है ॥ ५० ॥ दशवाँ संन्यासितद्धर्मं प्रकरण ससाप्त ।

अथ सामान्यधर्म—सुन्दर तिस धर्म के प्रति नमस्कार है कि जिससे जगत् का धारण आत्मलाभ जन की तृप्ति आदि होती हैं ॥ १ ॥ अक्रूरता, अहिंसा, सावधानता, उचित विभाग, श्राद्ध-कर्म, अतिथि सत्कार, सत्य, अक्रोध, अपनी स्त्री में सन्तोष, शौच सदा अनसूया, आत्मज्ञानं और तितिक्षा, हे नृप ! ये साधारण धर्म हैं ॥ २-३ ॥ क्षमा, सत्य, आदि और अग्नि की प्राप्ति स्वीकारादि सब व्रतों में ये दश प्रकार के सामान्य धर्म कहे गये हैं ॥ ४ ॥ सत्य, तप, दया और दान, इस चारपाद (चरण-अंश) वाला धर्म कहा गया है, सो सब से सदा जन्म से मरण तक सेवनीय है,

---

१. वैणवेन त्रिदण्डेन न त्रिदण्डीति चोच्यते । अध्यात्मदण्डयुक्तो यः स त्रिदण्डीति कथ्यते ॥ १ ॥
वागादिदण्डयुक्तस्तु प्रत्यगात्मन्यवस्थितः । परे ब्रह्मणि लीनो यः स त्रिदण्डी व्यवस्थितः ॥ २ ॥
वाग्दण्डे मौनमातिष्ठेत्कर्मदण्डेऽल्पभोजनम् । मानसे तु कृते दण्डे प्राणायामो विधीयते ॥ ३ ॥ इत्यादि क्वचित् ॥

चतुष्पादेष धर्मः स्यात्सर्वेषामिह देहिनाम् । न वर्णाश्रमं वापि न वयो वाप्यपेक्ष्यते ॥६॥

आत्मपु० अ० १।५७१। इत्यादि ॥

वैराग्यमथ संन्यासो ज्ञानं धर्मस्य लक्षणम् ॥७॥ मत्स्यपुरा० ॥

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् । यः स्यात्प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥८॥

धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मेण विधृताः प्रजाः । यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥९॥

अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् । यः स्यादहिंसासंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥१०॥

महाभा० शान्तिप० अ० १०९ ॥ श्रीभीष्मोक्तिः ॥

अदत्तस्यानुपादानं दानमध्ययनं तपः । अहिंसा सत्यमक्रोध इज्या धर्मस्य लक्षणम् ॥११॥

स एव धर्मः सोऽधर्मो देशकाले प्रतिष्ठितः । आदानमनृतं हिंसा धर्मो ह्यावस्थिकः स्मृतः ॥१२॥

द्विविधौ चाप्युभावेतौ धर्माधर्मौ विजानताम् । अप्रवृत्तिः प्रवृत्तिश्च द्वैविध्यं लोकवेदयोः ॥१३॥

अप्रवृत्तेरमर्त्यत्वं मर्त्यत्वं कर्मणः फलम् । अशुभस्याशुभं विद्याच्छुभस्य शुभमेव च ॥१४॥

महाभा० शान्तिप० अ० ३६ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोध आनृशंस्यं दमस्तथा । आर्जवं चैव राजेन्द्र ! निश्चितं धर्मलक्षणम् ॥१५॥

ब्रह्मचर्यात्परं तात ! मधुमांसस्य वर्जनम् । मर्यादायां स्थितो धर्मः शमश्चैवास्य लक्षणम् ॥१६॥

महाभा० अनुशासनप० अ० २२।१६-२५ ॥

इज्याऽध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा धृतिः । अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥१७॥

तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते । उत्तरस्तु चतुर्वर्गो नाऽमहात्मसु तिष्ठति ॥१८॥

महाभा० उद्योगप० अ० ३५।५६-५७ ॥

यह चारपाद वाला धर्म यहाँ सब मनुष्यों का है, इस में विशेष वर्ण वा आश्रम या अवस्था की अपेक्षा नहीं है ॥ ५-६ ॥ वैराग्य और उसके वाद संन्यास और आत्मज्ञान सब के प्रधान धर्म के लक्षण हैं ॥ ७ ॥ प्राणी का प्रभव (अभ्युदय-वृद्धि) के लिये धर्म का कथन किया गया है, जो व्यवहार प्रभवयुक्त है, सो धर्म है यह निश्चित बात है ॥८॥ धारण (रक्षण) अधः पतन से वारण द्वारा धारण को धर्म कहते हैं, धर्म से ही प्रजा विधृत हैं, इससे जो धारणयुक्त है सो धर्म है ॥ ९ ॥ प्राणी की अहिंसा के लिये धर्म कहा गया है, जो सत्यादि अहिंसायुक्त हो सो धर्म है अन्य नहीं ॥ १० ॥ बिना दिये किसी की वस्तु को नहीं लेना (अस्तेय), दान, अध्ययन, तप, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, यज्ञ, धर्म के लक्षण हैं ॥ ११ ॥ अवस्था विशेष में जो धर्म है सोई किसी अन्य अवस्था में अधर्म हो जाता है, इससे देश काल विशेष में ही प्रतिष्ठित धर्म विशेष है, इसीसे आदान (स्तेय) अनृत और अहिंसा आवस्थिक (अवस्था विशेष में होने वाले धर्म) हैं, प्राणात्यय (नाश) काल में प्राण रक्षा के लिये यत्किञ्चित्स्तेयादि धर्म ही हैं ॥ १२ ॥ जानने वालों के ये धर्माधर्म भी दो प्रकार के हैं, लोक और वेद में भी प्रवृत्ति और अप्रवृत्तिरूप दो प्रकार है ॥ १३ ॥ अप्रवृत्ति से अमर्त्यता (मोक्ष) होती है, प्रवृत्ति से मर्त्यता होती है। ये वैदिक बात है, और लौकिक अशुभ कर्म का अशुभ फल होता है, शुभ का शुभ फल होता है ॥ १४ ॥ हे राजेन्द्र ! अहिंसा आदि धर्म के निश्चित लक्षण हैं। ब्रह्मचर्य से भी उत्तम मधुमांस का त्याग है, मर्यादा (धारणा) में धर्म स्थिर है शम ही उसका लक्षण है ॥ १५-१६ ॥ यज्ञ अध्ययनादि आठ प्रकार के धर्म के मार्ग कहे गये हैं, उनमें प्रथम के चार दम्भ से भी हो सकते हैं, परन्तु सत्यादि चार महात्माओं में ही रहते हैं ॥१७-१८॥

धर्मः सुचरितः सद्भिः स च द्वाभ्यां नियच्छति । अर्थश्चात्यर्थलुब्धस्य कामश्चातिप्रसङ्गिनः ॥१९॥
धर्मार्थौ धर्मकामौ च कामार्थौ चाप्यपीडयन् । धर्मार्थकामान् योऽभ्येति सोऽत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२०॥
महाभा० शल्यप० अ० ६०।२१-२२ ॥

अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा । प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च ॥
आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः ॥२१॥ महाभा० शान्तिप० अ० ६०।८ ॥

अनसूया क्षमा शान्तिः सन्तोषः प्रियवादिता । सत्यं दानमनायासो नैष मार्गो दुरात्मनाम् ॥२२॥
महाभा० शां० प० अ० २२०।१८ ॥

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुवर्त्म तत् । अविरोधात्तु यो धर्मः सधर्मः सत्यविक्रम ! ॥२३॥
विरोधिषु महीपाल ! निश्चित्य गुरुलाघवम् । न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुपाचरेत् ॥२४॥
महाभा० वनप० अ० १३१।११-१२ ॥ शिविं प्रति श्येनोक्तिः ॥

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः । एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥२५॥
अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते । धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥२६॥
मनुस्मृ० अ० २।१२-१३ ॥

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥२७॥
मनु० अ० ६।९२ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥२८॥
मनु० अ० १०।६३ ॥

दानमध्ययनं यज्ञः पशुपाल्यं वाणिक्क्रिया । अमात्सर्य्यं च धर्मज्ञ ! धर्मः साधारणो मतः ॥२९॥
विष्णुधर्मोत्तरपु० अ० २२७।५ ॥

जो धर्म सत्पुरुषों से किया गया है, सो अत्यन्त अर्थलोभी के लोभ से, कामासक्त के काम से नियत हो जाता है, अर्थ काम से धर्म संकुचित होता है । इससे धर्मार्थ दोनों को काम से और कामार्थ दोनों को धर्म से धर्म काम को अर्थादि से अपीड़ित करता हुवा जो धर्मार्थ काम तीनों को प्राप्त करता है सो अत्यन्त सुख पाता है ॥ १९-२० ॥ अक्रोधादि अपनी स्त्री में संतानादि ये सब वर्ण के साधारण धर्म हैं ॥ २१ ॥ गुण में दोषारोपण का त्यागादि, और अनायास (शक्ति से अधिक परिश्रम का त्याग) ये सब दुष्टात्मा के मार्ग नहीं हैं ॥ २२ ॥ जो एक धर्म दूसरे धर्म को नष्ट करे, वह धर्म नहीं है, किन्तु कुमार्ग है, हे सत्य-विक्रम ! अविरोध से जो धर्म है, सो धर्म है ॥ २३ ॥ हे महीपाल ! विरोधी धर्मों में भी गुरुलाघव का निश्चय करके जिस में बाधा न हो उस का आचरण करे ॥ २४ ॥ वेदादि और अपनी आत्मा की सन्तुष्टि ये चार प्रकार के धर्म के प्रत्यक्ष लक्षण हैं । अर्थ और काम में आसक्ति रहित के लिये धर्मोपदेश का विधान है और धर्म के जिज्ञासुओं के लिये वेद ही परम प्रमाण है ॥ २५-२६ ॥ सात्त्विकधैर्य-सन्तोष, क्षमा, मन का दमन, अस्तेय-चोरी का अभाव, बाहर भीतर का शौच, विषयों से इन्द्रियों का निरोध, धी (शास्त्रज ज्ञान) आत्मविद्या, सत्य और अक्रोध दश धर्म के लक्षण हैं ॥ २७ ॥ अहिंसा आदि इन पांचो को मनु ने चारवर्ण के लिये संक्षिप्त धर्म कहा है ॥ २८ ॥ हे धर्मज्ञ ! दान अध्ययनादि और अमात्सर्य (अन्य के शुभ में द्वेषाभाव) साधारण धर्म माना गया है ॥ २९ ॥

देशे कालेऽभ्युपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम् । पात्रे प्रदीयते यत्तत्सकलं धर्मलक्षणम् ॥३०॥
इज्याऽऽचारदमाऽहिंसा दानं स्वाध्यायकर्म च । अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥३१॥
याज्ञव० स्मृ० अ० १।६-८॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः । दानं दया दमः क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥३२॥
सत्यमस्तेयमक्रोधो ह्रीः शौचं धीर्धृतिर्दमः । संयतेन्द्रियता विद्या धर्मः सर्व उदाहृतः ॥३३॥
याज्ञवल्क्यस्मृतिः ॥ अ० ३।६६ ॥

सत्यं यज्ञस्तपोदानमेतद्धर्मस्य लक्षणम् । अहिंसा सूनृता वाणी सत्यशौचे दया क्षमा ॥
वर्णिनां लिङ्गिनां चैव सामान्यो धर्म उच्यते ॥३४॥ गरुडपु० खं० १ अ० २१३।७-२२ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता । भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥३५॥
भागवतस्क० ११।१७।२१ ॥

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे । अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति ॥३६॥
वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः । जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यत्तदहैतुकम् ॥३७॥
भा० स्क० १।२।६-७ ॥

अथाऽहिंसा क्षमा सत्यं ह्रीः श्रद्धेन्द्रियसंयमः । दानमिष्टं तपो ध्यानं दशकं धर्मलक्षणम् ॥३८॥
भविष्यपु० पर्व० १।१८९।३४ ॥

क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः । अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया ॥३९॥
आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम् । अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते ॥४०॥
इति विष्णोरुक्तिः ।

वर्णनामाश्रमाणां च सदाचारः पृथक् पृथक् । सामान्यः सविशेषश्च स्वधर्मः स उदीर्यते ॥४१॥

सुन्दर देश काल में धर्मोपार्जित द्रव्य का श्रद्धा सहित सत्पात्र में दान और अन्य सब भी धर्म के लक्षण हैं ॥ ३० ॥ यज्ञ शिष्टाचारादि अपर धर्म हैं, यह परम धर्म है जो योग से आत्म दर्शन किया जाय ॥ ३१ ॥ अहिंसा आदि सब के धर्म के साधन हैं । सत्यादि कुकर्म से लज्जा, शौच शास्त्र ज्ञान धैर्य, मन का दमन, इन्द्रियनिरोध आत्मज्ञान ये सब धर्म कहे गये हैं ॥ ३२-३३ ॥ सत्य, यज्ञ, तप, दान ये धर्म के लक्षण हैं । अहिंसा, कोमल प्रिय सत्य वाणी, और सत्य शौचादि सब वर्णाश्रम के सामान्य धर्म कहे गये हैं ॥ ३४ ॥ अहिंसा सत्यादि और सब प्राणी के प्रिय और हित की चेष्टा व्यवहार ये सब वर्ण के धर्म हैं ॥ ३५ ॥ वही पुरुष का उत्तम धर्म है, कि जिससे इन्द्रियों के अविषय परतत्त्व में भक्ति हो, जो भक्ति किसी हेतु (फलेच्छा) जन्य नहीं हो, अतएव अप्रतिहत (स्थिरा हो, और जिससे आत्मा प्रसन्न होता है ॥ ३६ ॥ वासुदेव भगवान् विषयक साधित भक्ति रूप योग शीघ्र वैराग्य और ज्ञान को उत्पन्न करता है, जो वह ज्ञान किसी हेतु (तर्क) से साध्य नहीं है ॥ ३७ ॥ अहिंसा आदि और इष्ट (याग हवनादि वैदिक कर्म) तप ध्यान ये दश धर्म के लक्षण हैं ॥ ३८ ॥ क्षमा सत्य मन का दमनादि गुरुसेवा, तीर्थाटन, दया, अवक्रता, अलोभिता, देवब्राह्मणपूजा, गुण में दोषारोप का अभाव ये सामान्य धर्म कहाते हैं ॥ ३९-४० ॥ वर्ण और आश्रम के जो पृथक् २ सामान्य वा भेद सहित सदाचार है, वह अपना धर्म कहा जाता है ॥ ४१ ॥

नृणां साधारणं धर्मं सर्वेषामादितः श्रृणु । अहिंसा परमो धर्मस्तत्रादिम उदाहृतः ॥४२॥
सत्यवाग् भूतमात्रस्य द्रोहो न स्याद्यया तथा । तपश्च शास्त्रविहितभोगसङ्कोचलक्षणम् ॥४३॥
बाह्यमाभ्यन्तरं चेति द्विविधं शौचकर्म च । अनादानं परस्वस्य परोक्षं वा छलेन च ॥४४॥
यथोचितं ब्रह्मचर्यं कामलोभक्रुधां जयः । मुदा वित्तार्पणं पात्रे तुष्टि र्लब्धेन दैवतः ॥४५॥
तीर्थे क्षेत्रे च यज्ञादौ चतुर्वर्गाप्तयेऽपि वा । आत्मनो वा परस्यापि सर्वथा घातवर्जनम् ॥४६॥
जातिभ्रंशकराणां च कर्मणां परिवर्जनम् । पाणिपादोदरोपस्थवाचां संयमनं तथा ॥४७॥
सर्वेषां व्यसनानां च वर्जनं मद्यमांसयोः । व्यभिचारान्निवृत्तिश्च कुलसद्धर्मपालनम् ॥४८॥
आर्जवं साधुसेवा च विभज्यान्नादिभोजनम् । भक्तिर्भगवतश्चेति धर्माः साधारणा नृणाम् ॥४९॥
स्कन्दपु० वैष्णवखं० वासुदेवमा० अ० २० । श्रीनारायणोक्तिः ॥

शौचं तपो दया सत्यमिति धर्मपदानि च ॥५०॥ तत्रैव अ० २४।३६ ॥

सत्यं शौचमहिंसा च क्षान्तिर्दानं दया दमः । अस्तेयमिन्द्रियाकोचः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥५१॥
तत्रैव काशीखं० अ० ४।८६ ॥

सत्यं शौचमहिंसा च अनसूया तथा क्षमा । आनृशंस्यमकार्पण्यं सन्तोषश्चाष्टमो गुणः ॥
एते संक्षेपतः प्रोक्ता धर्मा वर्णाश्रमेषु च ॥५२॥ मार्कण्डेयपु० ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं दानं क्षान्तिर्दमः शमः । अकार्पण्यं च शौचं च तपश्च रजनीचर ! ॥
दशाङ्गो राक्षसश्रेष्ठ ! धर्मोऽसौ सार्ववर्णिकः ॥५३॥ वामनपु० अ० १३ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियसंयमः । दानं दया च क्षान्तिश्च ब्रह्मचर्यममानिता ॥५४॥
शुभा सत्या च मधुरा वाङ्नित्यं सत्क्रियारतिः । सदाचारनिसेवित्वं परलोकप्रदायकाः ॥५५॥
वामनपु० अ० १५ ॥

सब मनुष्यों के साधारण धर्म को आदि से ही सुनो, तिनमें अहिंसा रूप परम धर्म सब से आदिम है ॥ ४२ ॥ जिस सत्य वचन से प्राणी मात्र के द्रोह (अपकार हिंसा) का अभाव हो वह सत्यवाक् धर्म है, और शास्त्र से विहित भोगों का भी संकोच रूप तप है ॥ ४३ ॥ बाहर और भीतर के दो प्रकार के शौच-रूप कर्म हैं, परोक्ष में वा छल से अन्य के धन को नहीं लेना अस्तेय धर्म है ॥ ४४ ॥ यथोचित ब्रह्मचर्य कामादि का त्याग, आनन्द पूर्वक सत्पात्र के प्रति दान और दैव से प्राप्त वस्तु से सन्तोष धर्म है ॥ ४५ ॥ तीर्थादि में कहीं भी अर्थादि चतुर्वर्ग की प्राप्ति के लिये भी अपनी वा अन्य की हिंसा का सर्वथा त्याग धर्म है ॥ ४६ ॥ "ब्राह्मणस्य रुजः कृत्वा घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः । जैह्यं च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥' [मनु० ११।६८।] इस वचनोक्त जातिनाशक कर्मों का त्याग, हाथादि का संयम धर्म है, सब व्यसन और मद्यमांस का त्याग व्यभिचार से निवृत्ति, कुल के श्रेष्ठ धर्म का पालन, आर्जव (अक्रूरता) साधु सेवा, विभाग कर के अन्नादि का भोजन, भगवान् की भक्ति ये सब साधारण धर्म मनुष्य मात्र के हैं ॥ ४७–४९ ॥ सत्यादि और इन्द्रियों का निरोध सब के धर्म के साधन हैं ॥ ५१ ॥ सत्य शौचादि आठ ये संक्षेप से सब वर्ण और आश्रम में धर्म रूप कहे गये हैं ॥ ५२ ॥ अहिंसा सत्यादि वह दश अङ्गयुक्त धर्म सब वर्णों के हैं ॥ ५३ ॥ अहिंसा सत्यादि क्षमा ब्रह्मचर्य, निरभिमानिता, शुभ सत्य मधुर वचन, सत् कर्म में प्रेम तत्परता, सदाचार

भृत्यादिभरणार्थाय सर्वेषां च परिग्रहः। ऋतुकालेऽभिगमनं स्वदारेषु महीपते ! ॥५६॥
दया समस्तभूतेषु तितिक्षा नातिमानिता। सत्यं शौचमनायासो मङ्गलं प्रियवादिता ॥५७॥
मैत्र्यस्पृहा तथा तद्वदकार्पण्यं नरेश्वर !। अनसूया च सामान्यवर्णानां कथिता गुणाः ॥५८॥
विष्णुपु० अंश० ३।८ ॥ ब्रह्मपु० अ० ११४ ॥

विना स्वधर्मान्न सुखं स्वधर्मो हि परं तपः। तपः स्वधर्मरूपं यद् वर्द्धितं येन वै सदा ॥
देवास्तु किङ्करास्तस्य किं पुन र्मनुजा भुवि ॥५९॥ शुक्रनीतौ० अ० १।२४ ॥

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः। सुखं च न विना धर्मात्तस्माद्धर्मपरो भवेत् ॥६०॥
शुक्रनी० अ० ३।१ ॥

बहुभिर्यः स्तुतो धर्मो निन्दितोऽधर्म एव सः। धर्मतत्त्वं हि गहनं ज्ञातुं केनापि नोचितम् ॥६१॥
शुक्रनी० अ० ५।३५ ॥

येऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान्। धर्मं वै शाश्वतं लोके न जह्याद्धनकाङ्क्षया ॥६२॥
महाभा० शां० प० अ० २६२।१६ ॥

अस्थिरं जीवितं लोके ह्यस्थिरे धनयौवने। अस्थिराः पुत्रदाराश्च धर्मः कीर्त्ति र्द्वयं स्थिरम् ॥६३॥
गरुडपु० पूर्व खं० अ० ११५-२६ ।

जीवन्तं मृतवन्मन्ये देहिनं धर्मवर्जितम्। मृतो धर्मेण संयुक्तो दीर्घजीवी न संशयः ॥६४॥
चाणक्यनी० अ० १३।६ ॥

धर्मं शनैः संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः। परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥६५॥
नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः। न पुत्रदारा न ज्ञाति र्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥६६॥
मनु० अ० ४।२३८-३९ ॥

का निरन्तर सेवन, ये उत्तम लोक को देने वाले हैं ॥ ५४-५५ ॥ हे राजन् ! भृत्यादि के पोषण के लिये सब को संग्रह चाहिये, और ऋतु काल में ही स्वस्त्री गमन चाहिये ॥ ६५ ॥ सब प्राणियों पर दया, सहनशीलता, अतिअभिमानिता का अभाव, सत्य, शौच, अतिपरिश्रम का त्याग, मङ्गलमय व्यवहार, प्रियवादिता, मित्रता, निष्पृहता, अकृपणता, अनसूया, ये सब वर्णों के गुण कहे गये हैं ॥ ५७-५८ ॥ अपने धर्म के बिना सुख नहीं होता है, अपना धर्म ही उत्तम तप है, जिसने अपने धर्म रूप तप को सदा बढाया है उसके देव भी किंकर (दास) हो जाते हैं, भूमि में मनुष्य की तो बात ही फिर क्या है ॥ ५९ ॥ सब प्राणियों की सब प्रवृत्ति सुख के ही लिये मानी गई है, और धर्म बिना सुख नहीं होता है, इस लिये धर्म में तत्पर होना चाहिये ॥६०॥ बहुत विवेकी सत्पुरुष से जिस की स्तुति हो सो धर्म है, जो निन्दित हो सो अधर्म है, धर्म तत्त्व (सत्य स्वरूप) गहन है, व्यवहारादि के विना किसी से जानने योग्य नहीं है ॥ ६१ ॥ जो अहिंसा सत्यादि धर्म से प्राप्त अर्थ हैं, सो सत्य है, अधर्म से प्राप्त को धिक्कार है सनातन धर्म को लोक में धन की इच्छा से नहीं त्यागना चाहिये ॥६२॥ जीवन धन यौवन पुत्र स्त्री ये सब स्थिर रहने वाले नहीं हैं, धर्म और कीर्त्ति दोनों स्थिर हैं ॥ ६३ ॥ धर्मरहित जीवित देही को मृततुल्य मानते हैं, धर्मयुक्त मृत भी दीर्घ जीवी है, इसमें संशय नहीं है ॥ ६४ ॥ सब प्राणी को पीडा नहीं देते हुए धर्म संचय धीरे २ करे, कि जिससे परलोक में सहायता मिले जैसे पुत्तिका (दिमका) धीरे २ (वल्मीक) मिट्टी के ढेर का ढेर बनाती है तैसे धर्म का संचय करे ॥ ६५ ॥ परलोक में सहाय के लिये पिता माता पुत्र दारा जाति कोई नहीं रहते हैं, केवल धर्म रहता है ॥ ६६ ॥

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता । सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥६७॥
मनु० अ० ३।७६ ॥
सत्यमेकं परो धर्मः सत्यमेकं परं तपः । सत्यमेकं परं ज्ञानं सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः ॥६८॥
धर्ममूलमहिंसा च मनसा तां च चिन्तयन् । कर्मणा च तथा वाचा तत एतां समाचरेत् ॥६९॥
यस्मिन् धर्मे दया नैव स धर्मो दूषितो मतः । दयां विना न विज्ञानं न धर्मो ज्ञानमेव च ॥७०॥
इत्येकादशसामान्यधर्मप्रकरणं समाप्तम् । स्कन्दपु० खं० ६।२३४ ॥

अथ सनातनधर्मः ॥ १२ ॥

सत्यं दमस्तपः शौचं सन्तोषो ह्रीः क्षमार्जवम् । ज्ञानं शमो दया ध्यानमेष धर्मः सनातनः ॥१॥
सत्यं भूतहितं प्रोक्तं मनसो दमनं दमः । तपः स्वधर्मवर्त्तित्वं शौचं सङ्करवर्जनम् ॥२॥
सन्तोषो विषयत्यागो ह्रीरकार्यनिवर्त्तनम् । क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वमार्जवं समचित्तता ॥३॥
ज्ञानं तत्त्वार्थसंबोधः शमश्चित्तप्रशान्तता । दया भूतहितैषित्वं ध्यानं निर्विषयं मनः ॥४॥ महाभारते ॥
अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा । अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥५॥
महाभा० शां० प० अ० १६२-२१ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधो दानमेतच्चतुष्टयम् । अजातशत्रो ! सेवस्व धर्म एष सनातनः ॥६॥
महाभा० अनुशासनप० अ० १६२।२३ ॥
सत्यं दमस्तपः शौचं सन्तोषश्च क्षमार्जवम् । ज्ञानं शमो दया दानमेष धर्म सनातनः ॥७॥
गरुडपु० खं० १ अ० २२१।२४ ॥
सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् । प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥८॥
मनु० अ० ४।१३८ ॥

और वह गृहस्थाश्रम अक्षय स्वर्ग सुखेच्छु से प्रयत्न से सम्यग् धारण योग्य है, और सुख चाहने वाले से धारण योग्य है, जो दुर्बलेन्द्रिय वालों से धारण योग्य नहीं है ॥ ६७ ॥ एक सत्य उत्तम धर्म उत्तम तप उत्तम ज्ञान रूप है, सत्य में धर्म स्थिर है ॥ ६८ ॥ और धर्म का मूल रूप अहिंसा है, तिस अहिंसा को मन से चिन्ता विचार करता हुवा, फिर इस अहिंसा का कर्म और वचन से सम्यक् आचरण करे ॥ ६९ ॥ जिस धर्म में दया नहीं है, वह धर्म दोष युक्त माना गया है, क्योंकि दया के विना विज्ञान धर्म और ज्ञान नहीं होता है ॥ ७० ॥ ग्यारहवाँ सामान्यधर्म समाप्त ।

अथ सनातन-धर्म—सत्यादि १२ सनातन धर्म हैं, तिनमें प्राणियों के हित वचन को सत्य कहा गया है, मन का दमन दम है, स्वधर्मनिष्ठ होना तप है, संकर (कचरा) का त्याग शौच है, विषयों का त्याग सन्तोष है, अकार्य का त्याग ह्री है, द्वन्द्वों की सहिष्णुता क्षमा है, समचित्तता आर्जव है, सत्य वस्तु को समझना ज्ञान है, चित्त की प्रशान्तता शम है, प्राणी की हितैषिता दया है, मन को विषयरहित होना ध्यान है ॥१-४॥ कर्म मन वचन से सब प्राणियों के अपकार का अभाव, दया, दान ये सत्पुरुषों के सनातन धर्म हैं ॥ ५ ॥ हे युधिष्ठिर ! अहिंसा सत्यादि चारों को सेवो ये सनातन धर्म हैं ॥ ६ ॥ सत्यादि ११ ये सनातन धर्म हैं ॥ ७ ॥ सत्य और प्रिय वचन बोलना चाहिये, परन्तु सत्य भी अप्रिय हो तो नहीं बोलना चाहिये, प्रिय भी झूठ नहीं बोलना चाहिये यह सनातन धर्म है ॥ ८ ॥

अद्रोहश्चाप्यलोभश्च दमो भूतदया तपः । ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमदम्भश्च क्षमा धृतिः ॥९॥
सनातनस्य धर्मस्य रूपमेतदुदीरितम् । तदतिक्रम्य यो वर्त्तेद् धर्मघ्नः स पतत्यधः ॥१०॥
स्कन्दपु० खं० २-९ । अ० ६।३०-३१ ॥

अद्रोहश्चाप्यलोभश्च दमो भूतदया शमः । ब्रह्मचर्यं तपः शौचमनुक्रोशः क्षमा धृतिः ॥
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतद् दुरासदम् ॥ ११ ॥ मत्स्यपु० अ० १४३।३२। वायुपुराणेऽप्येवम् ॥

इति द्वादशसनातनधर्मप्रकरणं समाप्तम् ।

अथ देवादीनां ब्राह्मणादीनां च स्वाभाविकधर्मविशेषाः ॥ १३ ॥

देवानां परमो धर्मः सदा यज्ञादिकाः क्रियाः । स्वाध्यायतत्त्ववेदित्वं विष्णुपूजा इति श्रुतिः ॥१॥
दैत्यानां बाहुशालित्वं मात्सर्यं युद्धसत्क्रियाः । वन्दनं नीतिशास्त्राणां हरभक्तिरुदाहृता ॥२॥
सिद्धानामुदितो धर्मो योगसिद्धिरनुत्तमा । स्वाध्यायो ब्रह्मविज्ञानं भक्तिर्विष्णौ हरे तथा ॥३॥
उत्कृष्टोपासनं ज्ञेयं नृत्यं वाद्येषु वेदिता । सरस्वत्यां स्थिरा भक्ति गान्धर्वो धर्म उच्यते ॥४॥
विद्याधारित्वमतुलं विज्ञानं पौरुषे मतिः । विद्याधराणां धर्मोऽयं भवान्या भक्तिरेव च ॥५॥
गान्धर्वविद्यावेदित्वं भक्तिर्भानौ तथा स्थिरा । कौशल्यं सर्वशिल्पानां धर्मः किंपुरुषः स्मृतः ॥६॥
ब्रह्मचर्यममानित्वं योगाभ्यासरति दृढा । सर्वत्र कामचारित्वं धर्मोऽयं पैतृकः स्मृतः ॥७॥
स्वाध्यायो ब्रह्मचर्यं च दानं यजनमेव च । अकार्पण्यमनायासो दयाऽहिंसा क्षमादयः ॥८॥
जितेन्द्रियत्वं शौचं च माङ्गल्यं भक्तिरच्युते । शङ्करे भास्करे देव्यां धर्मोऽयं मानवः स्मृतः ॥९॥
ब्रह्मचर्यं सदा सत्यं जप्यं ज्ञानं च राक्षस ! । नियमो धर्मवेदित्वमार्षो धर्मः प्रचक्षते ॥१०॥

अद्रोह (अहिंसा) अलोभ, दम (मन इन्द्रिय का दमन) भूतों पर दया, तप, ब्रह्मचर्य, सत्य, अदम्भ (अकपट) क्षमा सात्त्विक धैर्य ये सनातन धर्म के स्वरूप कहे गये हैं, इन को त्याग कर जो रहता है, वह धर्मघातक नीचे गिरता है ॥ ९-१० ॥ अद्रोहादि और दम (इन्द्रिय निरोध) अनुक्रोश (दया) ये सब सनातन धर्म के दुर्लभ मूल हैं ॥ ११ ॥ बारहवाँ सनातन धर्म प्रकरण समाप्त ।

अथ देव-ब्राह्मण-स्वभाविकधर्म विशेष—सदा यज्ञादि कर्म, वेद के तत्त्व का ज्ञान विष्णुदेव की पूजा देव सब के परमधर्म हैं ॥१॥ बाहुयुद्धपरायणता, परोत्कर्षासहिष्णुता, युद्ध का सत्कार, नीतिशास्त्र का वन्दन हर की भक्ति दैत्यों के धर्म कहे गये हैं ॥२॥ श्रेष्ठ योग की सिद्धि वेदाऽध्ययन ब्रह्मविज्ञान, विष्णु और हर में भक्ति सिद्धों के धर्म कहे गये हैं ॥ ३ ॥ श्रेष्ठ की उपासना, ज्ञातव्य नृत्य, वाद्य में ज्ञानिता, सरस्वती में स्थिर भक्ति गन्धर्वों के धर्म हैं ॥ ४ ॥ अतुल विद्याधारित्व, विज्ञान, पुरुषार्थ का ज्ञान, भवानी की भक्ति ये विद्याधरों के धर्म हैं ॥ ५ ॥ गान्धर्व विद्या का ज्ञान, सूर्य में स्थिर भक्ति, सब शिल्प की कुशलता ये किंपुरुषों के धर्म हैं ॥ ६ ॥ ब्रह्मचर्य, निरभिमानिता, योगाभ्यास में दृढ रति, सर्वत्र इच्छा के अनुसार गति ये पितरों के धर्म हैं ॥ ७ ॥ अध्ययन, ब्रह्मचर्य, दान यज्ञ, अकृपणता, अनायास, दया, अहिंसा, क्षमा आदि । जितेन्द्रियता, शौच, मंगलमय आचरण, अच्युत में भक्ति तथा शङ्कर सूर्यदेव की भक्ति ये सब मानव धर्म कहा गया है ॥ ९ ॥ सदा ब्रह्मचर्य, सत्य, जप योग्य का जप, ज्ञान, शौचादिरूप नियम,

धनाधिपत्यं भोगाश्च स्वाध्यायः शङ्करार्चनम् । अहंकारमशौटीर्यं धर्मोऽयं गुह्यकेष्विति ॥११॥
परदारावमर्शित्वं पारक्यार्थे च लोलुपा: । स्वाध्यायस्त्र्यम्बके भक्ति धर्मोऽयं राक्षसः स्मृतः ॥१२॥
अविवेकस्तथाऽज्ञानं शौचहानिरसत्यता । पिशाचानामयं धर्मः सदा चामिषगृध्नुता ॥१३॥
योनयो द्वादशैवैतास्तासु धर्माश्च राक्षस ! । ब्रह्मणा कथिताः पुण्या द्वादशैव गतिप्रदाः ॥१४॥

वामनपु० अ० ११। राक्षसं प्रति श्रीपुलस्त्योक्तिः ॥

शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम् । मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः ॥१५॥
तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः । स्थैर्यं ब्रह्मण्यतैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥१६॥
आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम् । अतुष्टिरर्थोपचयै वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः ॥१७॥
शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया । तत्र लब्धेन सन्तोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥१८॥
अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्कविग्रहः । कामः क्रोधश्च तर्षश्च स्वभावोऽन्तेऽवसायिनाम् ॥१९॥

भागवत स्क० ११।१७।१६-२० ॥

शमो दमस्तपः शौचमास्तिक्यं भक्तिरीशितुः । तपो ज्ञानं च विज्ञानं विप्रधर्मः स्वभावजः ॥२०॥
शूरत्वं धैर्यमौदार्यं बलं तेजः शरण्यता । गोविप्रसाधुरक्षेज्या धर्माः क्षत्रस्य कीर्त्तिताः ॥२१॥
आस्तिक्यं दाननिष्ठा च साधुब्राह्मणसेवनम् । अतुष्टिरर्थोपचये धर्मा वैश्यस्य चोद्यमः ॥२२॥
द्विजातीनां च देवानां सेवा निष्कपटं गवाम् । विशेषधर्मः कथितः शूद्रस्य मुनिसत्तम ! ॥२३॥
चातुर्वर्ण्येतरे ये तु तेषां वृत्तिः कुलोचिता । चौर्यहिंसाद्यधर्मेण रहितेव हितावहा ॥२४॥

स्कन्दपु० वैष्णवखं० वासुदेवमा० अ० २।२३।इत्यादि ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां सच्छूद्राणामथापि वा । शालिग्रामाधिकारोऽस्ति नचान्येषां कदाचन ॥२५॥

स्कन्दपु० खं० ६।अ० २४३।४५ ॥

धर्मज्ञता ऋषियों के धर्म हैं ॥ १० ॥ धन की स्वामिता, भोग, वेदाऽध्ययन, शंकर की पूजा, अहंकार, अनौदार्य, ये गुह्यक (यक्ष) के धर्म हैं ॥ ११ ॥ परदारचिन्तन, परधनलोलुपता, वेदाध्ययन, शिव भक्ति यह राक्षस धर्म है ॥ १२ ॥ अविवेक, अज्ञान, अशुचिता, असत्यता, मांसलोलुपता, पिशाचों के धर्म हैं ॥ १३ ॥ ये बारह योनियाँ हैं, उनमें ब्रह्मा से कथित द्वादश सनातन धर्म ही पुण्यरूप और सद्गति देने वाले हैं ॥ १४ ॥ शमदमादि ब्राह्मण के स्वभाव हैं, तेज (प्रभाव) बलादि क्षत्रिय के स्वभाव हैं। आस्तिकता, दान में निष्ठा (नियत स्थिति) अदम्भादि वैश्य के स्वभाव हैं, कपट बिना गो द्विज की सेवा देव सेवा और सेवा से प्राप्त वस्तु से सन्तोष शूद्र के स्वाभाव हैं ॥ १५–१८ ॥ अपवित्रता, झूठ, चोरी, निष्फल झगड़ा, कामादि अन्त्यजों के स्वभाव हैं ॥ १९ ॥ शमदमादि और ईश्वर की भक्ति तथा तप ज्ञानादि स्वभाव जन्य विप्र के धर्म हैं ॥ २० ॥ शूरता, धैर्य, उदारता, बल, तेज, शरणागत की रक्षा में कुशलता, गऊ आदि की रक्षा यज्ञ क्षत्रियों के स्वाभाविक धर्म कहे गये हैं ॥ २१ ॥ अस्तिकता आदि और उद्यम वैश्य के स्वाभाविक धर्म हैं ॥ २२ ॥ द्विजाति आदि की कपट बिना सेवा शूद्र के विशेष धर्म कथित हैं ॥ २३ ॥ चार वर्णों से जो अन्य हैं, उन की वृत्ति (जीविका व्यवहार) भी चोरी हिंसा आदि से रहित ही कुल के अनुसार हितकर है ॥ २४ ॥ ब्राह्मणादि और श्रेष्ठ शूद्र का शालिग्राम

अध्यापनं चाध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥२६॥
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च । विषयेष्वप्रसक्तिं च क्षत्रियस्य समादिशत् ॥२७॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च । वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥२८॥
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् । एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥२९॥

मनु० अ० १।८८-९१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च । ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥३०॥
शौर्यं तेजो धृति र्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् । दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥३१॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् । परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥३२॥

भगवद्गीता० अ० १८।४२-४४ ॥

पुत्रो गृत्समदस्याथ सुनको यस्य सौनकः । ब्राह्मणः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च ॥
एतस्य वंशे संभूता विचित्राः कर्मभिः कृताः ॥३३॥ वायुपुरा० ॥

इति त्रयोदशदेवब्राह्मणस्वाभाविकविशेषधर्मप्रकरणं समाप्तम् ।

अथ त्रिवर्णद्विजातिधर्मः ॥ १४ ॥

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यै निषेकादिर्द्विजन्मनाम् । कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥१॥
गार्भैर्होमै र्जातकर्म चौडमौञ्जीनिबन्धनैः । बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥२॥

की पूजा में अधिकार है, अन्य का नहीं, परन्तु यह बात भक्ति रहित के लिये हो सकती है भक्त के लिये नहीं, धर्म व्याध की कथा है कि वह शालिग्रामको बधना के पानी से पूजता था, और उसी से भगवान् प्रसन्न थे इत्यादि ॥ २५ ॥ "ॐ कारोच्चारणाद्धोमाच्छालग्रामशिलार्चनात् । मह्यं पक्वान्नदानाच्च विप्रादन्यो व्रजेदधः ॥" [ब्रह्मवैवर्त्तपु० कृष्ण जन्मखं० अ० ८३।५२ ।] इत्यादि वचन भी विचारणीय हैं ॥ २६ ॥ ब्रह्मा जी ने पढ़ाना पढ़ना यज्ञ करना कराना दान देना लेना ये छः कर्म ब्राह्मणों के सिद्ध किये ॥ २६ ॥ प्रजा की रक्षा दान यज्ञ पढना विषयों में अनासक्ति क्षत्रियों का संक्षेप से कर्म कहा ॥ २७ ॥ पशुपालनादि और बनीजी के मार्गो का सेवन, सूद का प्रयोग खेती, वैश्यों का कर्म कहा ॥ २८ ॥ गुण की निन्दा बिना इन वर्णों की सेवा ही एक प्रधान कर्म शूद्र का प्रभु ने कहा ॥२९॥ शम दमादि ब्राह्मण के स्वभाव (सत्त्विकता) जन्य कर्म हैं। शूरता आदि और ईश्वर भाव (प्रभुत्व शक्ति) क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं । खेती गोरक्षा बनीजी, वैश्य के स्वभाविक कर्म हैं, सेवा रूप कर्म शूद्र का स्वाभाविक है ॥ ३०-३२ ॥ गृत्समद नामक ऋषि के सुनक नामक पुत्र हुए, उन के सौनक नामक पुत्र हुए, फिर इस सौनक के वंश में उत्पन्न मनुष्य कर्मों से विचित्र गुण स्वभाव के होने के कारण ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र हो गये ॥ ३३ ॥ तेरहवां देवब्राह्मण स्वाभाविकविशेषधर्म प्रकरण समाप्त ।

अथ त्रिवर्णद्विजातिधर्म—वेदमूलक पुण्य (शुभ) कर्मों द्वारा द्विजाति गर्भाधानादि रूप शरीर के संस्कार कर्तव्य हैं, जो मरणे पर और यहाँ भी पावन हैं ॥ १ ॥ गर्भ की शुद्धि के लिये होमादि, जात कर्म, चूडा करण कर्म, उपनयन कर्म से बीज गर्भ सम्बन्धी दोषों का मार्जन होता है ॥ २ ॥

स्वाध्यायेन व्रतै र्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः । महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥३॥
मनु० अ० २।२६-२८ ॥

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः । भुक्त्वा चोपस्पृशेन्नित्यमद्भिः खानि च संस्पृशेत् ॥४॥
पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् । दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥५॥
नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरम् । न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत् ॥६॥
मनु० अ० २।५३-५४।५६ ॥

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते । द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥७॥
आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे । स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन् धर्मेण न दुष्यति ॥८॥
गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् । आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥९॥
मनु० अ० ८।३४८-३५० ॥

अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः । न तत्फलमवाप्नोति संग्रामे यदवाप्नुयात् ॥१०॥
यस्तु शस्त्रमनुत्सृज्य म्रियते वाहिनीमुखे । सम्मुखो वर्त्तते शूरस्स स्वर्गान्न निवर्त्तते ॥११॥
युद्धं पुण्यतमं स्वर्ग्यं रूपज्ञं सर्वतो मुखम् । सर्वेषामेव वर्णानां क्षत्रियस्य विशेषतः ॥१२॥
आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम् । जिघांसन्तं जिघांसेत्तु न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥१३॥
व्याधितं दुर्बलं बालं स्त्रीनाथं कृपणं ध्रुवम् । धनुर्भग्नं छिन्नगुणं हत्वा वै ब्रह्महा भवेत् ॥१४॥
शिवपु० खं० ५। अ० २१ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ । परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥१५॥
पराशरस्मृ० अ० ३।३२ ॥

वेदाध्ययन, ब्रह्मचर्य के व्रत नियम, अग्नि होत्र तीन वेद सम्बन्धी व्रत, यज्ञ, गृहस्थावस्था में पुत्रोत्पादन, महायज्ञ और यज्ञ द्वारा यह देह ब्रह्म प्राप्ति का साधन रूप की जाती है ॥ ३ ॥ द्विज सदा ही आचमन करके समाहित हो कर अन्न का भोजन करे, भोजन करके भी आचमन करे, और जल से शिरस्थ इन्द्रिय द्वारों का स्पर्श करे ॥ ४ ॥ सदा अन्न का सत्कार करे, निन्दा न करते हुए भोजन करे, देख कर तुष्ट प्रसन्न हो, सब अन्न का प्रतिनन्दन करे कि सदा ऐसा हो ॥५॥ जूठा अन्न किसी को नहीं दे, दिन और सायं के भोजन के मध्य में भोजन नहीं करे, अत्यन्त भोजन नहीं करे, जूठेमुख से कहीं नहीं जावे ॥ ६ ॥ द्विजों के वर्णों के धर्म जहाँ रुकते हों, ऐसे काल सिद्ध विप्लव (उपद्रव) में आत्मरक्षा में दक्षिणा निमित्तक युद्ध में, स्त्री विप्रादि की रक्षा के लिये द्विजाति को अस्त्र शस्त्र ग्रहण करना चाहिये, और धर्म युद्ध में मारता हुवा भी दोषी नहीं होता है ॥ ७-८ ॥ आततायी गुरु आदि भी आते हों, तो विना विचारे मारना चाहिये ॥ ९ ॥ वह फल बहुत दक्षिणायुक्त अग्निष्टोमादि यज्ञों से नहीं मिलता, जो युद्ध में पा सकता है ॥१०॥ जो शस्त्र को नहीं त्याग कर सेना के मार्ग में मरता है, जो शूर सामने रहता है, सो स्वर्ग से नहीं लौटता है ॥ ११ ॥ सब वर्णों के लिये धर्मयुद्ध अत्यन्त पुण्य रूप स्वर्ग का हेतु, स्वभाव स्वरूप के ज्ञान का हेतु, सर्वतो मुख वाला है, क्षत्रिय के लिये विशेष श्रेष्ठ है ॥ १२ ॥ वेदान्तपारंगत भी आततायी आता हो तो उस मारने की इच्छा वाले को मारे, उससे ब्रह्महा नहीं होता है ॥ १३ ॥ व्याधित (रोगी) आदि रूप निश्चित को और नष्टधनुष वाले छिन्न गुण वाले को मार कर ब्रह्महा (ब्रह्मघाती) होता है, इससे इन्हें नहीं मारना चाहिये ॥ १४ ॥ योगयुक्तसंन्यासी और युद्ध में सम्मुख मारा गया, लोक में ये दोनों पुरुष सूर्यमण्डलको भेदन

न दोषो हिंसायामाहवे ॥ १६ ॥ गौतमस्मृ० ॥

यो गृहाश्रममास्थाय ब्रह्मचारी भवेत्पुनः । न यति र्न वनस्थश्च स सर्वाश्रमवर्जितः ॥

अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः ॥१७॥ दक्षस्मृ० ॥

ऋतावुपेयात्सर्वत्र वा निषिद्धवर्जम् ॥१८॥ गौतमस्मृ० ॥

इति चतुर्दशत्रिवर्णद्विजातिधर्मप्रकरणं समाप्तम् ।

अथ वैश्यशूद्रयोः सामयिकधर्मः ॥ १५ ॥

वैश्योऽजीवन् स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्या तु वर्त्तयेत् । अनाचरन्नकार्याणि निवर्त्तेत च शक्तिमान् ॥१॥

अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्त्तुं द्विजन्मनाम् । पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुककर्मभिः ॥२॥

मनु० अ० १०।९८-९९॥

स एव धर्मः सोऽधर्मस्तं तं प्रति नरं भवेत् । पात्रकर्मविशेषेण देशकालावपेक्ष्य च ॥३॥

म० भा० शां० प० अ० ३१४॥

न धर्मः परिपाठेन शक्यो भारत ! वेदितुम् । अन्यो धर्मः समस्थस्य विषमस्थस्य चापरः ॥४॥

महाभा० शां० प० अ० २६६॥

यस्मिन् देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते । स एव देशकालनिमित्तान्तरेष्वधर्मो भवति ॥५॥

शारीरकशांकरभाष्य० ३।१।२५॥

शुश्रूषोः कृतकार्यस्य कृतसन्तानकर्मणः । अभ्यनुज्ञातराजस्य शूद्रस्य जगतीपते ! ॥६॥

अल्पान्तरगतस्यापि दशधर्मगतस्य वा । आश्रमा विहिताः सर्वे वर्जयित्वा निराशिषम् ॥७॥

भैक्ष्यचर्य्यां ततः प्राहुस्तस्य तद्धर्मचारिणः । तथा वैश्यस्य राजेन्द्र ! राजपुत्रस्य चैव हि ॥८॥

महाभा० शान्तिप० अ० ६३।१२-१४॥

करके ब्रह्मलोकगामी होते हैं ॥ १५ ॥ युद्ध में हिंसा होने पर दोष नहीं होता है ॥१६॥ जो गृहस्थ होकर फिर ब्रह्मचारी होते हैं, संन्यासी या वानप्रस्थ नहीं होते, सो सब आश्रम से रहित होते हैं, और एक दिन भी द्विज को आश्रम रहित नहीं रहना चाहिये ॥ १७ ॥ गृहस्थ ऋतु कालाभिगामी हो, या निषिद्ध को त्यागकर सर्वदा गामी हो ॥ १८ ॥ चौदहवाँ त्रिवर्णद्विजाति धर्म प्रकरण समाप्त ।

अथ वैश्यशूद्रसामयिक धर्म—वैश्य अपने धर्म कृषि आदि से जीवन नहीं कर सके तो शूद्र वृत्ति (सेवा) से भी जीवे, अकर्तव्य न करे, शक्तिमान् होने पर शूद्र वृत्ति को त्याग दे ॥ १ ॥ द्विजों की सेवा नहीं कर सके, पुत्र स्त्री को कष्ट मरण प्राप्त हो तो कारुक (शिल्पी) के कर्म से जीवे ॥ २ ॥ वही व्यवहार तत्तत् २ मनुष्यों के प्रति धर्म और अधर्म होता है, पात्र और कर्म विशेष से ऐसा होता है, तथा देश काल की अपेक्षा से होता है ॥ ३ ॥ हे भारत ! सर्वथा पाठ (लेख के अध्ययन) से धर्म जानने के योग्य नहीं है, समस्थ (सुख अवस्था वाले) का अन्य धर्म है, विषमस्थ (कष्टावस्था वाले) का अन्य धर्म है ॥ ४ ॥ जिस देशादि में जो धर्म किया जाता है, सोई अन्य देशादि में अधर्म हो जाता है ॥ ५ ॥ हे राजन् ! शुश्रूषु कर्तव्य कर चुकने वाले, संतान कर्म कर चुकने वाले, राजा की सम्मतियुक्त, वर्णान्तर से अल्प भेद वाले यम नियम दश धर्मों से युक्त शूद्र के लिये भी निराशिष (सर्वहितान्वेषण के त्याग) के बिना सब आश्रम विहित हैं ॥ ६-७ ॥ उस आश्रस धर्म कर्ता के लिये फिर भिक्षावृत्ति भी महात्मा कहते

न केनचिद्याचितव्यः कश्चित्किञ्चिदनापदि । इति व्यवस्था भूतानां पुरस्तान्मनुना कृता ॥९॥
आपद्येव तु याचन्ते येषां नास्ति परिग्रहः । दातव्यं धर्मतस्तेभ्यस्त्वनुक्रोशाद् भयान्नतु ॥१०॥
महाभा० शान्तिप० अ० ८८।१६-२३॥

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ।
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥११॥ आपस्तम्बसूत्र० २।५।१०-११॥

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः । शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥१२॥
नामुत्र च सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः । न पुत्रदारा न ज्ञाति धर्मस्त्ववति केवलम् ॥१३॥
प्रायशः क्षीणपापस्य नित्यं धर्मरतस्य च । नरस्योत्पद्यते ज्ञानं ज्ञानान्मोक्षं च गच्छति ॥१४॥
कर्मणा मनसा वाचा यो धर्मनिरतः सदा । अफलाकाङ्क्षिचित्तश्च स मोक्षमधिगच्छति ॥१५॥
जीवितं यस्य धर्मार्थं धर्मो ज्ञानार्थमेव च । ज्ञानं च ध्यानयोगार्थं सर्वपापैः स मुच्यते ॥१६॥
सर्वसङ्गपरित्यागः सर्वद्वन्द्वसहिष्णुता । सर्वद्वन्द्वसमत्वं च मोक्षस्य विधिरुच्यते ॥१७॥

इति पञ्चदशवैश्यशूद्रसामयिकधर्मप्रकरणं समाप्तम् । इतिहाससमुच्चये अ० १८॥

अथ युगधर्मः ॥ १६ ॥

युगभेदेन धर्मस्य भेदो भवति कुत्रचित् । इत्येवमपि मन्यन्ते पुराणादौ पुराविदः ॥१॥
चत्वारि भारते वर्षे युगान्यत्र महामुने ! । कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चान्यत्र न क्वचित् ॥२॥

हैं, तैसे ही वैश्य और राजपुत्र के लिये भी कहते हैं ॥ ८ ॥ किसी को किसी से आपत्ति के बिना कुछ भी माँगना नहीं चाहिये, प्राणियों के लिये यह व्यवस्था प्रथम मनु ने की है ॥ ९ ॥ जिनको कुछ परिग्रह (मूल धनादानादि) नहीं हैं, उनके प्रति धर्म दृष्टि से दान देना उचित हैं, सो भी दया से देना चाहिये भय से नहीं ॥ १० ॥ धर्माचरण से हीन वर्ण भी जाति के परिवर्तन से पूर्व २ वर्ण को प्राप्त होता है, और अधर्माचरण से पूर्व २ का वर्ण भी जाति के परिवर्तन से नीच २ वर्ण को प्राप्त होता है ॥ ११ ॥ इससे धर्म ही एक मित्र है जो मरने पर भी साथ जाता है, और अन्य सब शरीर के समान नाश को प्राप्त होते हैं ॥ १२ ॥ परलोक में सहाय के लिये माता पिता आदि कोई नहीं रहते हैं, किन्तु केवल धर्म रक्षा करता है ॥ १३ ॥ और सदा धर्म में तत्पर के बहुत पापों के नष्ट होने से शुद्ध मन वाला उस मनुष्य को आत्मज्ञान प्राप्त होता है कि जिससे वह मोक्ष पाता है ॥ १४ ॥ जो कर्म मन वचन से सदा धर्मपरायण रहता है, और कर्मफल को नहीं चाहता है, वह ज्ञानी होकर मोक्ष पाता है ॥ १५ ॥ जिस का जीवन धर्म के लिये, धर्म ज्ञान के लिये और ज्ञान ध्यान योग के लिये होता है, सो अविद्या सहित सब पाप रूप संसार से मुक्त होता है ॥ १६ ॥ सब संग (फलाशादि) का त्याग, सब द्वन्द्वों की सहनशीलता (तितिक्षा) सब द्वन्द्व में समता (धैर्य रागद्वेषादि का त्याग) यही मोक्ष के विधि (प्रकार) उपाय हैं ॥ १७ ॥ पन्द्रहवाँ वैश्यशूद्रसामयिकधर्मप्रकरण समाप्त ।

अथ युगधर्म—कहीं युग के भेद से धर्म का भी भेद होता है, इस प्रकार पुराणादि में पहले के विद्वान् मानते हैं ॥ १ ॥ हे महामुने ! इस भारत वर्ष में ही सतयुगादि चारयुग होते हैं, अन्यत्र कहीं

अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने ! । यतो हि कर्मभूरेषा अतोऽन्या भोगभूमयः ॥३॥
अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम ! । कदाचिल्लभते जन्तु र्मानुष्यं पुण्यसंचयात् ॥४॥
गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पद हेतुभूते, भवन्ति भूयः पुरुषा मनुष्याः ॥५॥ ब्रह्मपु० अ० १७॥ विष्णुपु० अंश० २अ० ३॥
कर्मणा मनसा वाचा यत्नाद्धर्मं समाचरेत् । अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्नतु ॥६॥
समुद्रयात्रास्वीकारः कमण्डलुविधारणम् । द्विजानामसवर्णासु कन्यासूपयमस्तथा ॥७॥
देवराच्च सुतोपत्ति र्मधुपर्के पशो र्वधः । मांसादानं तथा श्राद्धे वानप्रस्थाश्रमस्तथा ॥८॥
दत्ताक्षतायाः कन्यायाः पुनर्दानं वराय च । नैष्ठिकं ब्रह्मचर्यं च नरमेधाऽश्वमेधकौ ॥९॥
महाप्रस्थानगमनं गोमेधश्च तथा मखः । एतान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः ॥१०॥
नारदीयपु० अ० २४ ॥
तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ध्यानमेव च । द्वापरे यज्ञमेवाहु र्दानमेकं कलौ युगे ॥११॥
यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां शरदा च तत् । द्वापरे यच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ ॥१२॥
नारदीयपु० अ० ४१ ॥
ध्यानं तपः कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते । द्वापरे यज्ञमेवाहु र्दानमेकं कलौ युगे ॥१३॥
ब्रह्मा कृतयुगे देवस्त्रेतायां भगवान् रविः । द्वापरे दैवतं विष्णुः कलौ देवो महेश्वरः ॥१४॥
कूर्मपु० अ० २६ ॥
अप्रवृत्तिः कृतयुगे कर्मणोः पुण्यपापयोः । वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदासन्न संकरः ॥१५॥

नहीं ॥ २ ॥ हे महामुने ! इस जम्बु द्वीप में भी भारत खंड श्रेष्ठ है कि जिससे यह कर्म भूमि है और इससे अन्य सब भोग के स्थान हैं, ॥ ३ ॥ हे सत्तम ! जन्म हजारों के हजार द्वारा पुण्य संचय से प्राणी कभी यहाँ मनुष्यता पाता है ॥ ४ ॥ देव भी गीत गाते हैं कि जो पुरुष स्वर्ग और मोक्ष के स्थान तथा हेतु रूप भारत भूमि रूप भाग में भूयः (बहुल) होते हैं, सो धन्य हैं ॥ ५ ॥ कर्मादि से यत्नपूर्वक धर्माचरण करे, परन्तु स्वर्ग के विरोधी लोक के विद्वेषयुक्त धर्ममय कार्य भी नहीं करे ॥ ६ ॥ समुद्र द्वारा यात्रा का स्वीकार, कमण्डलु का धारण, (संन्यास) द्विजों का असवर्णा कन्याओं से विवाह, देवर से पुत्र का उत्पत्ति, मधुपर्क कर्म में पशु का वध, श्राद्ध में मांस का आदान (अर्पण) वानप्रस्थाश्रम ॥ ७–८ ॥ किसी के प्रति दी हुई अक्षत कन्या का दूसरे वर के लिये दान, नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, नरमेध अश्वमेध नामक यज्ञ, महाप्रस्थान रूप गमन, गोमेध यज्ञ, ये १३ धर्मों को कलि में विद्वान् वर्जनीय कहते हैं ॥९-१०॥ सतयुग में तप पर (उत्तम-प्रधान) था, त्रेता में ध्यान ही प्रधान था, द्वापर में यज्ञ को पर कहते हैं, एक दान कलि में पर है ॥११॥ जो पुण्य सतयुग में दश वर्ष तप आदि करने से होता था, सो त्रेता में एक वर्ष में, द्वापर में जो वही एक मास में होता था, सो कलि में एक दिन रात्रि में होता है ॥१२॥ ध्यान को कृतयुग में तप माना जाता था, त्रेता में ज्ञान को तप कहते हैं, द्वापर में यज्ञ को और कलि में दान को तप कहते हैं, ॥१३॥ सत्ययुग के पूज्य देव ब्रह्मा थे, द्वापर के भगवान् सूर्य रहे, द्वापर में दैवत (देव) विष्णु भगवान् रहे, कलि में महेश्वर देव हैं ॥१४॥ सतयुग में पुण्य पाप कर्म की प्रवृत्ति नहीं थी, न वर्णाश्रम की व्यवस्था थी न संकर वर्ण था ॥१५॥

अनिच्छाद्वेषयुक्तास्ते वर्त्तयन्ति परस्परम् । तुल्यरूपायुषः सर्वा अधमोत्तमवर्जिताः ॥१६॥
सुखप्राया ह्यशोकाश्च उत्पद्यन्ते कृते युगे । नित्यप्रहृष्टमनसो महासत्त्वा महाबलाः ॥१७॥
लाभालाभौ न तास्वास्तां मित्रामित्रे प्रियाप्रिये । मनसा विषयस्तेषां निरीहाणां प्रवर्त्तते ॥१८॥
त्रेतायुगे त्वविकलः कर्मारम्भः प्रसिद्ध्यति । वर्णानां प्रविभाश्च त्रेतायां तु प्रकीर्त्तिताः ॥१९॥
ध्यानं परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते । प्रवृत्तं द्वापरे यज्ञं दानं कलियुगे वरम् ॥२०॥
सत्त्वं कृतं रजस्त्रेता द्वापरं तु रजस्तमौ । कलौ तमस्तु विज्ञेयं युगवृत्तवशेन तु ॥२१॥

कूर्मपु० अ० २६। वायुपुराणेऽप्येवम् ॥

वामपाशुपताचारास्तथैव पाञ्चरात्रिकाः । भविष्यन्ति कलौ तस्मिन् ब्राह्मणाः क्षत्रियास्तथा ॥२२॥

कूर्मपु० अ० ३०।२५ ॥

आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः । कृतकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात्कृतयुगं विदुः ॥२३॥
वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक् । उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्विषम् ॥२४॥
त्रेतामुखे महाभाग ! प्राणान्मे हृदयात्त्रयी । विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमासं त्रिविन्मखः ॥२५॥

भागवतस्क० ११।१७।१०–१२ ॥

कृते प्रवर्त्तते धर्मश्चतुष्पात्तै र्जनै र्धृतः । सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभो र्नृप ! ॥२६॥
प्रभवन्ति यदा सत्त्वे मनोबुद्धीन्द्रियाणि च । तदा कृतयुगं विद्याज्ज्ञाने तपसि यद्रुचिः ॥२७॥
यदा कर्मसु काम्येषु भक्ति र्भवति देहिनाम् । तदा त्रेता रजोवृत्तिरिति जानीहि बुद्धिमान् ॥२८॥

रागद्वेष रहित वे लोग परस्पर वर्तते थे, तुल्यस्वरूप आयु वाले अधम वा उत्तम भाव से रहित सब होते हैं ॥१६॥ प्राय (बहुत) सुख वाले शोक रहित, सदा प्रहृष्ट मन वाले, महान् सत्त्वगुण और बल वाले सतयुग में उत्पन्न होते हैं ॥ १७ ॥ उन में लाभ अलाभ मित्र अमित्र प्रिय अप्रिय ये सब भेद नहीं रहते हैं, चेष्टारहित उन के योग्य विषय मानस संकल्प से प्राप्त होते हैं ॥ १८ ॥ त्रेतायुग में न्यूनतारहित कर्म का आरम्भ होता है, तथा वर्णों के विभाग भी त्रेता में ही कहे गये हैं ॥ १९ ॥ ध्यानादि कृतादि में प्रधान थे, कृतयुग सत्त्वगुणमय था, रजोमय त्रेता, रज तम मय द्वापर, और कलि को तमोमय गुण के स्वभाववश से जानना चाहिये ॥ २०–२१ ॥ वाममार्ग पशुपतिमत के आचार वाले और पाञ्चरात्र मत के उस कलि में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय होगें ॥ २२ ॥ प्रथम के सतयुग में मनुष्यों का हंस नामक वर्ण था, और सब जन्म से ही कृतकृत्य थे, तिससे उस को कृतयुग जानते हैं ॥ २३ ॥ प्रथम ओंकार मात्र ही वेद था, और मैं वृषरूपधारी (चारपादयुक्त) धर्म रूप था, तपोनिष्ठ लोग हंस (शुद्ध स्वरूप पाप रहित मुझको सेवते जानते थे ॥ २४ ॥ हे महाभाग ! त्रेता के आरम्भ में मेरे प्राण और हृदय से त्रयीविद्या (वेद) प्रकट हुई । तिससे मैं त्रिवृत (हौत्र, औदगात्र, आध्वर्यव) कर्म रूप मख (यज्ञ) रूप हुवा ॥ २५ ॥ सतयुग के जन से धृत धर्म उस समय चारपादयुक्त रहता है, और हे नृप ! विभु (सब धर्म) के सत्य दया तप दान ये चार पाद हैं ॥ २६ ॥ जब मन बुद्धि इन्द्रिय सत्त्वगुण में स्थिर होते हैं, ज्ञान तप में जब रुचि होती है, तब कृतयुग समझना चाहिये ॥ २७ ॥ जब देही की प्रीति काम्य कर्मों में होती है, तब रजोगुण की वृत्ति वाला त्रेता है ऐसा बुद्धिमान् तुम जानो ॥ २८ ॥

यदा लोभस्त्वसन्तोषो मानो दम्भोऽथ मत्सरः । कर्मणां चापि काम्यानां द्वापरं तद्रजस्तमः ॥२९॥
यदा मायानृतं तन्द्रा निद्रा हिंसा विषादनम् । शोको मोहो भयं दैन्यं स कलिस्तामसः स्मृतः ॥३०॥
यस्मात् क्षुद्रदृशो मर्त्या मन्दभाग्या महाशनाः । कामिनो वित्तहीनाश्च स्वैरिण्यश्च स्त्रियोऽसतीः ॥३१॥
दस्यूत्कृष्टा जनपदाः शिश्नोदरपरा द्विजाः । अव्रता वटवोऽशौचा भिक्षवश्च कुटुम्बिनः ॥३२॥

भागवतस्क० १२।३ ॥

कले र्दोषनिधेस्तात ! गुण एको महानपि । मानसं च भवेत्पुण्यं सुकृतं न हि दुष्कृतम् ॥३३॥

ब्रह्मवैवर्त्तपु० कृष्णजन्मखं० अ० ६०।२६ ॥

ये धर्मरसिका जीवास्ते वै सत्ययुगेऽभवन् । धमार्थरसिका ये तु ते वै त्रेतायुगेऽभवन् ॥३४॥
धर्मार्थकामरसिका द्वापरे चाऽभवन् युगे । अर्थकामपराः सर्वे कलावस्मिन् भवन्ति हि ॥३५॥

देवीभा० स्क० ६।११॥

सत्त्वं कृतं रजस्त्रेता द्वापरं च रजस्तमः । कलिस्तमस्तु विज्ञेयं युगवृत्तं युगेषु च ॥३६॥
ध्यानं परं कृतयुगे त्रेतायां यज्ञ उच्यते । वृत्तं च द्वापरे सत्यं दानमेव कलौ युगे ॥३७॥
कृते तु मानसी सृष्टि र्वृत्तिः साक्षाद्रजोल्लसा । तेजोमय्यः प्रजास्तृप्ताः सदानन्दाश्च भोगिनः ॥३८॥
वर्णाश्रमप्रतिष्ठा च यज्ञस्त्रेतासु चोच्यते । द्वापरे च प्रवर्त्तन्ते मतिभेदास्ततो नृणाम् ॥३९॥

स्कन्दपु० खं० १-२। अ० ४०।१७४-७७॥

आद्ये कृते तु धर्मोऽस्ति स त्रेतायां प्रवर्त्तते । द्वापरे व्याकुलीभूत्वा प्रणश्यति कलौ युगे ॥४०॥ लिङ्गपु० अ० ३९॥

जब लोभादि हो, और काम्य कर्म की प्रवृत्ति हो, तब वह रजस्तमोमय द्वापर है ॥ २९ ॥ जब कपट असत्यादि हो तो वह तामस कलियुग कहा गया है ॥ ३० ॥ जिस कलि से मनुष्य क्षुद्र (अल्पकूर) दृष्टि वाला मन्दभाग्य (अल्पभाग्य) वाला, महाभोजन वाला, कामी, धनहीन, होता है, पातिव्रत रहित स्वेच्छाचारिणी स्त्रियाँ होती हैं, चोर की उत्कृष्टता (अधिकता) वाला देश होता है, द्विज लिङ्गपेटपरायण होता है, विद्यार्थी ब्रह्मचर्य व्रत रहित होता है अपवित्र होता है, संन्यासी बालबच्चा वाला होता है ॥ ३१-३२ ॥ हे तात ! इस प्रकार दोष के समुद्ररूप कलि के भी एक महानगुण है कि सुन्दर किया गया पुण्य (धर्म) मानस भी होता है, और दुष्कृत (पाप) मानस नहीं होता है ॥ ३३ ॥ धर्म के प्रेमी जीव सतयुग में हुए, धर्म अर्थ दोनों के प्रेमी त्रेता में हुए । धर्म अर्थ काम के प्रेमी द्वापर में हुए, अर्थ और काम परायण इस कलि में होते हैं ॥ ३४-३५ ॥ सत्त्वगुण प्रधान सतयुग, रजः प्रधान त्रेता, रजस्तमः प्रधान द्वापर और तमः प्रधान कलियुग को जानना चाहिये, और युग के अनुसार युगों में युग के चरित्र भी जानना चाहिये ॥ ३६ ॥ ध्यानादि रूप चरित्र सतयुगादि में प्रधान होते हैं ॥ ३७ ॥ सतयुग में मानसी सृष्टि होती है, और वृत्ति (जीविका) साक्षात् रजोगुण से होती बढ़ती है, प्रजा सब तेजोमयी तृप्त सदा आनन्द वाली भोगयुक्त होती है ॥ ३८ ॥ वर्णाश्रम की प्रतिष्ठा (स्थापन) और यज्ञ त्रेता में कहा जाता है । उसके बाद द्वापर में मनुष्यों की बुद्धि में भेदभाव उत्पन्न होता है ॥ ३९ ॥ आद्य कृतयुग में स्वभाव से ही धर्म रहता है, द्वापर में वैदिकादि विधि के अधीन रहता है, और द्वापर में भेदभाव रागद्वेषादि के कारण अव्याकुल धर्म भी व्याकुल होकर कलियुग में नष्ट होता है ॥ ४० ॥

कृतं नाम युगं तात ! यत्र धर्मः सनातनः । कृतमेव न कर्तव्यं तस्मिन् काले युगोत्तमे ॥४१॥
न तत्र धर्माः सीदन्ति क्षीयन्ते न च वै प्रजाः । ततः कृतयुगं नाम कालेन गुणतां गतम् ॥४२॥
न साम ऋग् यजुर्वर्णाः क्रिया नासीच्च मानवी । अभिध्याय फलं तत्र धर्मः संन्यास एव च ॥४३॥
एतत्कृतयुगं नाम त्रैगुण्यपरिवर्जितम् । त्रेतामपि निबोध त्वं यस्मिन् सत्रं प्रवर्त्तते ॥४४॥
पादेन ह्रसते धर्मो रक्ततां याति चाच्युतः । सत्यप्रवृत्ताश्च नराः क्रियाधर्मपरायणाः ॥४५॥
द्वापरे च युगे धर्मो द्विभागो नः प्रवर्त्तते । विष्णु र्वै पीततां याति चतुर्धा वेद एव च ॥४६॥
ततोऽन्ये च चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथा परे । द्विवेदाश्चैकवेदाश्चाप्यनृचश्च तथा परे ॥४७॥
एवं शास्त्रेषु भिन्नेषु बहुधा नीयते क्रिया । तपोदानप्रवृत्ताश्च राजसी भवति प्रजा ॥४८॥
एकदेवस्य चाज्ञानाद्वेदास्ते बहवः कृताः । सत्त्वस्य चेह विभ्रंशात्सत्ये कश्चिदवस्थितः ॥४९॥
तामसं युगमासाद्य कृष्णो भवति केशवः । वेदाचाराः प्रशाम्यन्ति धर्मयज्ञक्रियास्तथा ॥५०॥

महाभा० वनप० अ० १४६ ॥श्रीहनुमदुक्तिः ॥

एक वर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर ! । क्रियाक्रमविभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम् ॥५१॥

महाभा० वनप० अ० १८० ॥

सौकुमार्ये तथा रूपे रत्ने चोपक्षयं गते । भविष्यन्ति युगान्ते च नार्यः केशैरलंकृताः ॥५२॥
कुशीलानार्य्यभूयिष्ठं वृथारूपसमन्वितम् । पुरुपाल्पं बहुस्त्रीकं तद्युगान्तस्य लक्षणम् ॥५३॥

हरिवंश० भविष्यप० अ० ३।२२-२४ ॥

हे तात ! (भीम !) कृत युग नामक वह समय है, कि जहाँ सनातन (स्थिर) धर्म रहता है, और सब मनुष्य कृत (कृतकृत्य) रहते हैं, तिस युगोत्तम काल में कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता है ॥ ४१ ॥ न वहाँ धर्म नष्ट होते हैं न प्रजा नष्ट होती हैं, तिसीसे कृत युग कहाता है, सो काल से गुणता (अमुख्यता) को प्राप्त हुवा ॥ ४२ ॥ सामादि वेद के वर्ण (अक्षर) भी उस समय नहीं थे, न मनुष्य की क्रिया थी, संकल्प से सब फल मिलते थे, संन्यास ही धर्म था ॥ ४३ ॥ यह कृतयुग तीनगुण के समूह राग द्वेष मोह से रहित था, त्रेता को भी तुम समझो कि जिसमें सत्र (यज्ञ) प्रवृत्त होता है ॥ ४४ ॥ धर्म एक पाद से रहित हो जाता है, सतयुग के श्वेत विष्णु त्रेता में रक्त हो जाते हैं, सत्य से प्रवृत्त मनुष्य यज्ञादि क्रियारूप धर्मपरायण होते हैं ॥ ४५ ॥ द्वापर में धर्म के दो भाग ऊन (हीन) हो जाते हैं, विष्णु पीत हो जाते हैं, वेद चार प्रकार के हो जाते हैं, त्रेता तक अथर्ववेद ऋग्वेद के अन्तर्गत रहता है ॥ ४६ ॥ उसके बाद कोई चतुर्वेदी कोई त्रिवेदी कोई द्विवेदी कोई एकवेदी कोई अनृच होते हैं ॥ ४७ ॥ इस प्रकार शास्त्रों के भेदयुक्त होने पर बहुत प्रकार से क्रिया भी प्राप्त होती है, तपदान में प्रवृत्त प्रजा राजसी होती है ॥ ४८ ॥ एक देव के अज्ञान से वेद बहुत किये गये, और सत्त्व (बुद्धि) के यहाँ नष्ट होने से धर्म में कोई ही स्थिर रहा ॥ ४९ ॥ तामस युग कलि को पा कर केशव कृष्ण (काला) होते हैं, वेद के आचार धर्म रूप यज्ञ क्रिया भी नष्ट हो जाती हैं ॥ ५० ॥ हे युधिष्ठिर ! यह संसार प्रथम एक वर्ण वाला ही था, कर्मों के क्रम (शक्ति विधि) के भेद से चारवर्ण स्थापित हुए ॥ ५१ ॥ सुकुमारता रूप रत्न के नष्ट होने से युग के अन्त में स्त्रिया केवल केश से अलंकृत होंगी ॥ ५२ ॥ युग के अन्त का लक्षण होगा कि कुस्वभाव वाले अनार्य्य नीच की बहुलता से युक्त, वृथा रूप से युक्त, पुरुष की अल्पता की

आयु र्हान्या बलग्लानि र्बलग्लान्या विवर्णता । वैवर्णाद् व्याधिसंपीडा निर्वेदो व्याधिपीडनात् ॥५४॥
निर्वेदादात्मसंबोधः संबोधाद्धर्मशीलता । एवं गत्वा परां काष्ठां प्रपत्स्यन्ति कृतं युगम् ॥५५॥
कषायोपप्लवे लोके ज्ञानविद्याप्रणाशने । सिद्धिं स्वल्पेन कालेन यास्यन्ति निरुपस्कृताः ॥५६॥
महायुद्धं महानादं महावर्षं महाभयम् । भविष्यति युगे क्षीणे तत्कषायस्य लक्षणम् ॥५७॥
विप्ररूपाणि रक्षांसि राजनः कर्णवेदिनः । पृथिवीमुपभोक्ष्यन्ति युगान्ते समुपस्थिते ॥५८॥
शुश्रूषवो भविष्यन्ति साधूनां दर्शने रताः । सत्यं च प्रतिपत्स्यन्ति व्यवहारोपसंक्षयात् ॥५९॥
हरिवंश० भविष्यप० अ० ४॥
वानप्रस्थोऽथ गार्हस्थ्यं संन्यासो ब्रह्मचर्यकम् । चतुर्णामाश्रमाणां स्यादेषां लोपः कलौ युगे ॥६०॥
पण्डिता इति विख्याता वाचालाः स्युः कलौ युगे । पाषण्डवार्ताचतुराः सन्तः ख्याता जटाधराः ॥६१॥
गुणी ख्यातः स यो मिथ्योपहासवचने रतः । वेदशास्त्रे त्यजन् दुर्वाङ् महात्मा मांसमद्यभुक् ॥६२॥
बिभ्रन् भयंकरं वेषं नृकपालधरश्च यः । भक्ष्यन्नभक्ष्यं च कलौ सिद्धो योगीति गीयये ॥६३॥
वेदान्तरामायण० स० ३० ॥
ब्रह्मचर्याश्रमो नास्ति वानप्रस्थोऽपि च प्रिये । गार्हस्थो भैक्षुकश्चैव आश्रमौ द्वौ कलौ युगे ॥६४॥
गृहस्थस्य क्रियाः सर्वा आगमोक्ताः कलौ युगे । नान्यमार्गैः क्रियासिद्धिः कदापि गृहमेधिनाम् ॥६५॥
भैक्षुकेऽप्याश्रमे देवि ! वेदोक्तं दण्डधारणम् । कलौ नास्त्येव तत्त्वज्ञे ! यतस्तच्छ्रौतसंस्कृतिः ॥६६॥

की बहुलता से युक्त जगत् हो जायगा ॥ ५३ ॥ आयु की न्यूनता होगी, तिससे कुरूपता नीचता रूप विवर्ण होगा, तिस पामरता से व्याधिजन्यपीडा होगी, तिससे निर्वेद (वैराग्य) होगा, निर्वेद से आत्म-विवेक होगा, तिससे धर्म का स्वभाव होगा, इस प्रकार परा काष्ठा (अन्तिम सीमा मोक्षप्रद ज्ञान) को प्राप्त करके सतयुग को प्राप्त करेंगे ॥ ५४–५५ ॥ ज्ञानविज्ञान को नष्ट करने वाले रागद्वेषादिरूप कषाय (दोष) से उपप्लव (उपद्रव) युक्त लोक के होने पर निरुपस्कृत (निष्परिग्रह) लोग स्वल्प काल में सिद्धि पायेंगे ॥ ५६ ॥ पुण्य के क्षीण होने के समय महायुद्धादि होंगे, वही कषाय का लक्षण होगा ॥ ५७ ॥ विप्र रूप में राक्षस होंगे, कान से सुनी बात मात्र के ज्ञाता राजा होंगे, वे ही युगान्त में पृथिवी का उपभोग करेंगे ॥ ५८ ॥ व्यवहार के नाश से शुश्रूषु साधु दर्शन में तत्पर हो कर सत्य को समझेंगे ॥५९॥ वानप्रस्थादि इन चारो आश्रमों का कलि में अभाव होगा ॥ ६० ॥ वाचाल (बहुत निन्दित वक्ता) कलि में पण्डित प्रख्यात होंगे, पाषण्ड की बात में चतुर जटाधारी सन्त कहायेंगे ॥ ६१ ॥ झूठ उपहास रूप वचन में तत्पर जो होगा, सो गुणी कहावेगा, वेदशास्त्र को त्यागता हुवा मांसमद्य का भोक्ता दुर्वादी महात्मा कहावेगा ॥ ६२ ॥ जो भयंकर वेष को धारण करता हुवा अभक्ष्य खाता हुवा मनुष्य कपाल को धरेगा, वह कलि में सिद्ध योगी कहा जायगा ॥ ६३ ॥ हे प्रिये ! (पार्वति !) कलि में ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थाश्रम नहीं हैं, किन्तु गृहस्थ संन्यास आश्रम दोनों हैं ॥ ६४ ॥ गृहस्थ की सब क्रिया आगम कथित कलि में होनी चाहिये गृहस्थ की क्रिया की सिद्धि अन्यमार्गों से कलि में कभी नहीं हो सकती ॥६५॥ हे तत्वज्ञे देवि ! संन्यासाश्रम में भी कलि में वेद कथित दण्ड धारण नहीं है, जिससे श्रौतसंस्कार है ॥६६॥

शैवसंस्कारविधिनाऽवधूताश्रमधारणम् । तदेव कथितं भद्रे ! संन्यासग्रहणं कलौ ॥६७॥
विप्राणामितरेषां च वर्णानां प्रबले कलौ । उभय आश्रमे देवि ! सर्वेषामधिकारिता ॥६८॥
सर्वेषामेव संस्काराः कर्माणि शैव वर्त्मना । विप्राणामितरेषां च कर्मलिङ्गं पृथक्पृथक् ॥६९॥
जातमात्रो गृहस्थः स्यात्संस्कारादाश्रमी भवेत् । गार्हस्थ्यं प्रथमं कुर्याद्यथाविधि महेश्वरि ! ॥७०॥
तत्त्वज्ञाने समुत्पन्ने वैराग्यं जायते यदा । तदा सर्वं परित्यज्य संन्यासाश्रममाचरेत् ॥७१॥
विद्यामुपार्जयेद् बाल्ये धनं दाराश्च यौवने । प्रौढे धर्म्याणि कर्माणि चतुर्थे प्रव्रजेत् सुधीः ॥७२॥
मातरं पितरं वृद्धं भार्यां चैव पतिव्रताम् । शिशुं च तनयं हित्वा नावधूताश्रमं व्रजेत् ॥७३॥
मातॄः पितॄञ्छिशून् दारान् स्वजनान् बान्धवानपि । यः प्रव्रजति हित्वैतान् स महापातकी भवेत् ॥७४॥
ब्रह्मनिष्ठो गृहस्थः स्याद् ब्रह्मज्ञानपरायणः । यद्यत्कर्म प्रकुर्वीत तद् ब्रह्मणि समर्पयेत् ॥७५॥
न मिथ्याभाषणं कुर्यान्न च शाठ्यं समाचरेत् । देवतातिथिपूजासु गृहस्थो निरतो भवेत् ॥७६॥
मातरं पितरं चैव साक्षात्प्रत्यक्षदेवताम् । मत्वा गृही निषेवेत सदा सर्वप्रयत्नतः ॥७७॥
आसनं शयनं वस्त्रं पानं भोजनमेव च । तत्तत्समयमाज्ञाय मात्रे पित्रे नियोजयेत् ॥७८॥
श्रावयेन्मृदुलां वाणीं सर्वदा प्रियमाचरेत् । पित्रोराज्ञानुसारी स्यात्स पुत्रः कुलपावनः ॥७९॥
औद्धत्यं परिहासं च तर्जनं परिभाषणम् । पित्रोरग्रे न कुर्वीत यदीच्छेदात्मनो हितम् ॥८०॥
मातरं पितरं वीक्ष्य नत्वोत्तिष्ठेत् सम्भ्रमः । विनाऽऽज्ञया नोपविशेत् संस्थितः पितृशासने ॥८१॥

हे भद्रे ! शैव संस्कार विधि से जो अवधूताश्रम का धारण है, कलि में वही संन्यास ग्रहण कहाता है ॥ ६७ ॥ प्रबल कलि में विप्रादि सब को दो आश्रम का अधिकारित्व है ॥ ६८ ॥ सब वर्ण के संस्कार और कर्म शैव मार्ग से ही होना चाहिये, और कर्म के चिह्न पृथक् २ होना चाहिये ॥ ६९ ॥ जातमात्र मनुष्य गृहस्थ होता है, संस्कार से आश्रम वाला होता है, तहाँ विधि के अनुसार गृहस्थआश्रम प्रथम करना चाहिये ॥ ७० ॥ जब तत्त्व ज्ञान के उत्पन्न होने से वैराग्य हो तो सबको त्याग कर संन्यास का आचरण करे ॥ ७१ ॥ बाल्यावस्था में विद्या का उपार्जन, यौवन में धन दारा का उपार्जन, प्रौढ (प्रवृद्ध) अवस्था में धर्मयुक्त कर्म का उपार्जन करे, फिर चतुर्थावस्था में विद्वान् संन्यासाश्रम में जावे ॥ ७२ ॥ परन्तु वृद्ध माता पिता आदि को त्याग कर अवधूताश्रम में नहीं जावे ॥ ७३ ॥ जो इन माता आदि को त्याग कर अवधूत होता है, सो महापातकी होता है ॥ ७४ ॥ इसलिये गृहस्थ रहते ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मज्ञानपरायण हो, और जो २ कर्म करे उसका ब्रह्मार्पण करे ॥ ७५ ॥ मिथ्या भाषण नहीं करे, न शाठ्य (कपट) का आचरण करे, और देवता अतिथि की पूजा में गृहस्थ तत्पर हो ॥ ७६ ॥ गृहस्थ माता पिता को प्रत्यक्ष देवता रूप साक्षात् मान कर सदा प्रयत्न से सेवा करे ॥ ७७ ॥ तत्तत् समय को जान कर माता पिता को आसनादि देवे ॥ ७८ ॥ कोमल वाणी सदा सुनावे, प्रिय आचरण करे, माता पिता के अनुसार रहे, वह पुत्र कुलपावन होता है ॥ ७९ ॥ यदि अपना हित चाहे तो माता पिता के आगे उद्धतपन, किसी का परिहास (क्रीड़ा-खेल) तर्जन (भर्त्सना) परिभाषण (निन्दा उपालम्भ) नहीं करे ॥ ८० ॥ माता पिता को देख कर नमस्कार करके संभ्रम (आदर सहित वेग) से उठे, पितृ-

मातरं पितरं पुत्रं दारानतिथिसोदरान् । हित्वा गृही न भुञ्जीयात् प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥८२॥
वञ्चयित्वा गुरून् बन्धून् यो भुङ्क्ते स्वोदरंभरः । इहैव लोके गर्ह्योऽसौ परत्र नारकी भवेत् ॥८३॥
गृहस्थो गोपयेद् दारान् विद्यामभ्यासयेत्सुतान् । पोषयेत् स्वजनान् बन्धूनेष धर्मः सनातनः ॥८४॥
स धन्यः पुरुषो लोके स कृती परमार्थवित् । ब्रह्मनिष्ठः सत्यसन्धो यो भवेद् भुवि मानवः ॥८५॥
न भार्यां ताडयेत् क्वापि मातृवत्पालयेत् सदा । न त्यजेद् घोरकष्टेऽपि यदि साध्वी पतिव्रता ॥८६॥
निद्रालस्यं देहयत्नं केशविन्यासमेव च । आसक्तिमशने वस्त्रे नातिरिक्तं समाचरेत् ॥८७॥
स्वीयं यशः पौरुषं च गुप्तये कथितं च यत् । कृतं यदुपकाराय धर्मज्ञो न प्रकाशयेत् ॥८८॥
समाप्याह्निककर्माणि स्वाध्यायं गृहकर्म वा । गृहस्थो नियतं कुर्यान्नैव तिष्ठेन्निरुद्यमः ॥८९॥
पुण्यतीर्थे पुण्यतिथौ ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः । जपं दानं प्रकुर्वाणः श्रेयसां निलयो भवेत् ॥९०॥
कलावन्नगताः प्राणा नोपवासः प्रशस्यते । उपवास–प्रतिविधावेकं दानं विधीयते ॥९१॥
कलौ दानं महेशानि ! सर्वसिद्धिकरं भवेत् । तत्पात्रं केवलं ज्ञेयो दरिद्रः सत्क्रियाऽन्वितः ॥९२॥
मासवत्सरपक्षाणामारम्भदिनमम्बिके ! । चतुर्दश्यष्टमी शुक्ला तथैवैकादशी कुहूः ॥९३॥
निजजन्मदिनं चैव पित्रोर्मरणवासरे । वेधोत्सवदिनं चैव पुण्यकालः प्रकीर्त्तितः ॥९४॥
गङ्गादिमहानद्यो गुरोः सदनमेव च । प्रसिद्धं देवताक्षेत्रं पुण्यतीर्थं प्रकीर्त्तितम् ॥९५॥

आज्ञा में स्थिर होकर आज्ञा बिना बैठे नहीं ॥ ८१ ॥ कण्ठगत प्राण सहित होने पर भी माता आदि को त्याग कर गृहस्थ भोजन नहीं करे ॥ ८२ ॥ गुरु आदि की वञ्चना करके अपना पेट भरने वाला जो खाता है, सो इस लोक में भी निन्दित होता है, और परलोक में नरक भोगता है ॥ ८३ ॥ गृहस्थ स्त्री की रक्षा करे, पुत्र को विद्या का अभ्यास करावे, स्वजन बन्धुओं को पोषे, यह सनातन धर्म है ॥ ८४ ॥ वही पुरुष लोक में धन्य (पुण्यवान्) कृति (निपुण) है, परमार्थ का ज्ञाता है, कि जो मानव भूमि में ब्रह्मनिष्ठ और सत्यसन्ध (सत्यप्रतिज्ञा वाला) होता है ॥ ८५ ॥ स्त्री का ताडन कहीं नहीं करे, माता तुल्य सदा उस का पालन करे, और यदि साध्वी पतिव्रता हो तो भयंकर कष्ट काल में भी उस का त्याग नहीं करे ॥ ६८ ॥ निद्रा, आलस्य, देहसम्बन्धी यत्न, केशों का विन्यास (प्रसाधन-रचना) भोजन वस्त्र में आसक्ति अधिक नहीं करे, ॥ ८७ ॥ अपने यश और पौरुष (पुरुषता तेज) की गुप्ति (रक्षा) के लिये जो कहा गया है सो करे, और जो उपकार के लिये कर्म किया हो, धर्मज्ञ उस का प्रकाश नहीं करे, ॥८८॥ दैनिक कर्म को समाप्त कर के गृहस्थ अध्ययन वा गृह कर्म अवश्य करे, निरुद्यम नहीं रहे ॥ ८९ ॥ पवित्र तीर्थादि में जपदान करने वाला कल्याणों का घर होता है ॥ ९० ॥ कलियुग में अन्नमय प्राण हैं, इससे उपवास प्रशंसनीय नहीं है, इसी से उपवास के बदले में एक दान की विधि की गई है ॥ ९१ ॥ हे महेशानि ! कलि में दान सर्वसिद्धि का हेतु होता है, उसदान का पात्र सत्कर्मयुक्त दरिद्र ही को केवल समझना चाहिये ॥ ९२ ॥ हे अम्बिके ! मासादि के आरम्भदिन शुक्ला चतुर्दशी अष्टमी और एकादशी तथा अमावस्या पुण्य काल कहा गया है ॥९३॥ अपने जन्म का दिन, माता पिता के मरण का दिन वेधोत्सव का दिन पुण्य काल है ॥ ९४ ॥ गंगादि महानदी, गुरुगृह, प्रसिद्ध देवक्षेत्र पुण्यतीर्थ कहा गया है ॥ ९५ ॥

त्यक्त्वा स्वाध्ययनं पित्रोः शुश्रूषां दाररक्षणम् । नरकाय भवेत्तीर्थं तीर्थाय व्रजतां नृणाम् ॥९६॥
न तीर्थसेवा नारीणां नोपवासादिकाः क्रियाः । नैव व्रतानां नियमो भर्त्तुः शुश्रूषणं विना ॥९७॥
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रः सामान्य एव च । कुलावधूतसंस्कारे पञ्चानामधिकारिता ॥९८॥
सर्वत्र समदृष्टिः स्यात् कीटे देवे तथा नरे । सर्वं ब्रह्मेति जानीयात्परिव्राट् सर्वकर्मसु ॥९९॥
विप्रान्नं श्वपचान्नं वा यस्मात्तस्मात्समागतम् । देशं कालं तथा पात्रमश्नीयादविचारयन् ॥१००॥
संन्यासिनां मृतं कायं दाहयेन्न कदाचन । संपूज्य गन्धपुष्पाद्यैः निखनेद्वाऽप्सु मज्जयेत् ॥१०१॥
ब्रह्मज्ञानं विना देवि ! कर्मसंन्यासनं विना । कुर्वन् कल्पशतं कर्म न भवेन्मुक्तिभाग् जनः ॥१०२॥

महानिर्वाणतं० उल्ला० ८।८ इत्यादि ॥

इति षोडशयुगतद्धर्मप्रकरणं समाप्तम् ।

अथ पूजा ॥ १७ ॥

पूजया प्राप्यते सर्वं यदि स्यात्सा विवेकजा । पूज्यपूजादितत्त्वानां विवेको ह्यतिदुर्लभः ॥ १ ॥
शास्त्रादिगुणभेदेन रुचीनां च त्रिभेदतः । विवेकं पुण्यबाहुल्याल्लभते कोऽपि सज्जनः ॥ २ ॥
नहीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते । दया मैत्री च भूतेषु दानं च मधुरा च वाक् ॥ ३ ॥
तस्मात्सान्त्वं सदा वाच्यं न वाच्यं परुषं क्वचित् । पूज्यान् संपूजयेद् दद्यान्न च याचेत् कदाचन ॥ ४ ॥

महाभा० आदिप० अ० ८७। १२-१३॥

अपना अध्ययन, माता पिता की सेवा स्त्री रक्षा, को त्याग कर तीर्थयात्रा करने वाले मनुष्यों के नरक के ही लिये तीर्थ होते हैं ॥ ९६ ॥ पति की सेवा के विना स्त्री के लिये तीर्थसेवा उपवासादि कर्म और व्रतों का नियम भी नहीं है ॥९७॥ ब्राह्मणादिपांचो को कुलावधूतसंस्कार में अधिकार है ॥ ९८ ॥ संन्यासी कीटादि सब में समात्मदृष्टि वाला हो, और सब कर्मों में सब ब्रह्म है ऐसा समझे ॥९९॥ विप्रादि के वा जिस किसी से प्राप्त अन्न को देश काल और पात्र के विचार के बिना खावे ॥१००॥ संन्यासी की मृतक देह को कभी जलावे नहीं किन्तु गंध पुष्पादि से पूज कर गाड दे वा जल में डुबो दे ॥ १०१ ॥ हे देवि ! ब्रह्म ज्ञान कर्मसंन्यास के बिना सौ कल्प तक कर्म कर्ता जन भी मुक्त नहीं हो सकता है ॥ १०२ ॥ सोलहवां युगतद्धर्मप्रकरण समाप्त ।

अथ पूजा—पूजा से सब साधन और फल मिलते हैं, यदि वह पूज्य पूजा आदि तत्त्व के विवेकजन्य हो, परन्तु वह विवेक अति दुर्लभ है ॥ १ ॥ शास्त्रादि के भेद से गुणों के भेद से रुचि के भेद से दुर्लभ भी उस विवेक को पुण्य की बहुलता से कोई सज्जन ही लाभ करता है ॥ २ ॥ तीनों लोकों में इस प्रकार का संवनन (संभजन-संपूजन) नहीं है, कि जैसा सब प्राणियों पर दया, सबसे मित्रता, दरिद्र पात्र के प्रति दान, और मधुर सत्य वचन है ॥ ३ ॥ तिससे सान्त्व (क्रोध नाशक शान्ति जनक) वचन सदा कहना चाहिये, क्रूर वचन कहीं नहीं कहना चाहिये पूज्यों की पूजा करना चाहिये, देना

[१]अनार्यत्वमनाचारः क्रूरत्वं निष्क्रियात्मता। परुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ ५ ॥
ज्यायांसमपि शीलेन विहीनं नैव पूजयेत्। अपि शूद्रं च धर्मज्ञं सद्वृत्तमभिपूजयेत् ॥६॥
महाभा० अनुशासनप० अ० ४८।४१-४८॥
रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टाऽनृतादिना। हिंसादिरहितं कर्म यत्तदीश्वरपूजनम् ॥७॥
श्रीजाबालदर्शनोपनि० खं० २।८॥
भूतावमानिनाऽर्चायामर्चितोऽहं न पूजितः ॥८॥
तावन्मामर्चयेद्देवं प्रतिमादौ स्वकर्मभिः। यावत्सर्वेषु भूतेषु स्थितं चात्मनि न स्मरेत् ॥९॥
यस्तु भेदं प्रकुरुते स्वात्मनश्च परस्य च। भिन्नदृष्टे र्भयं मृत्युस्तस्य कुर्यान्न संशयः ॥१०॥
अध्यात्मरामा० उत्तरकां० स० ७॥
अहमुच्चावचै र्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयाऽनघे ! नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥११॥
अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत्। यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥१२॥
आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम्। तस्य भिन्नदृशो मृत्यु र्विदधे भयमुल्बणम् ॥१३॥
अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्। अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याऽभिन्नेन चक्षुषा ॥४१॥
भागवतस्क० ३।२९॥
न हि सत्यस्य नानात्वमविद्वान् यदि मन्यते। नानात्वं छिद्रयो र्यद्वज्ज्योतिषो र्वातयोरिव ॥१५॥

चाहिये, परन्तु कभी मांगना नहीं चाहिये ॥ ४ ॥ अनार्यत्व (असाधुता) सदाऽऽचाररहितता, क्रूरता निष्क्रियात्मता, ये लोक में पापयोनिज पुरुष को प्रकट करते हैं ॥ ५ ॥ शील से रहित श्रेष्ठ को भी नहीं पूजे, सद्वृत्त धर्मज्ञ शूद्र को भी सर्वथा पूजे ॥ ६ ॥ रागद्वेषादि से रहित हृदय (मन) का होना झूठ क्रूरतादि से रहित वचन का होना, और हिंसा चोरी व्यभिचार से रहित जो कर्म करना है सो सब ईश्वर की पूजा है ॥ ७ ॥ प्राणी के अनादर करने वाले से मैं अर्चा (मूर्ति) में पूजित होता हुआ भी पूजित नहीं होता हूँ ॥ ८ ॥ देव रूप मुझको प्रतिमा आदि में अपने कर्मों द्वारा तभी तक पूजे कि जब तक सब भूतों में और अपने में स्थित का स्मरणादि नहीं कर सके ॥ ९ ॥ जो अपने आत्मा और परमात्मा का भेद करता (समझता) है, उस भिन्न दृष्टि वाले को मृत्यु भय देगा इस में संशय नहीं है ॥ १० ॥ हे अनघे ! छोटे बड़े द्रव्यों द्वारा उत्पन्न यज्ञादि क्रिया से मूर्ति में पूजित भी मैं भूतसमूह के अनादर करने वाले से सन्तुष्ट नहीं होता हूँ ॥ ११ ॥ अपने कर्मों को करता हुवा ईश्वर रूप मुझ को तभी तक मूर्ति आदि में पूजे कि जब तक अपने हृदय और सब भूतों में स्थिर सर्वात्मा को नहीं समझे ॥ १२ ॥ जो अपनी आत्मा और परमात्मा के अन्तरा (अन्तर-भेद) को अरम् (अल्प) उत् (अपि=भी) करता है, भिन्न दृष्टि वाले तिस को मैं ही मृत्यु रूप होकर उल्वण (स्पष्ट) भय प्राप्त कराता हूँ ॥ १३ ॥ अथ (अतः=इसी से) सब भूत में घर करने वाले (अन्तर्यामी) सब के आत्मारूप मुझ को दान-मान द्वारा मित्रता अभिन्न दृष्टि से पूजे। यह कपिल देव का माता के प्रति कथन है ॥ १४ ॥ सत्य का नानात्व (भेद) नहीं है, यदि कोई मानता है, तो वह अविद्वान् है, और वह भेद छिद्र

---

१. अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता। पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम्। मनु० अ० १०।५८॥
कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन्। तिष्ठति प्रकृताचारे स तु आर्य इति स्मृतः ॥ योगवासिष्ठ ॥
निष्ठुरता (कठोरता दयाहीनता) निष्क्रियात्मता (विहित स्वकर्म रहितता) ॥

यथा हिरण्यं बहुधा समीयते नृभिः क्रियाभि र्व्यवहारवर्त्मसु ।
एवं वचोभिर्भगवानधोक्षजो व्याख्यायते लौकिकवैदिकैर्जनैः ॥१६॥
यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो ह्यर्कांशभूतस्य च चक्षुषस्तमः ।
एवं त्वहं ब्रह्मगुणस्तदीक्षितो ब्रह्मांशकस्यात्मन आत्मबन्धनः ॥१७॥
घनो यदार्कप्रभवो विदीर्यते चक्षुः स्वरूपं रविमीक्षते तदा ।
यदा ह्यहंकार उपाधिरात्मनो जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत् ॥१८॥ भागवतस्क० १२। अ० ४ ॥

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायसो जनाः । परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः ॥१९॥
भागवतस्क० ८।७।४४ । श्रीशिवोक्तिः ॥

सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावः वैष्णवः खं मरुज्जलम् । भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र ! पूजापदानि मे ॥२०॥
भागवतस्क० ११।११।४२ ॥ श्रीभगवदुक्तिः ॥

हविषाऽग्नौ जले पुष्पै ध्यानेन हृदये हरिम् । यजन्ति सूरयो नित्यं जपेन रविमण्डले ॥२१॥
अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयं करणग्रहः । तृतीयकं भूतदया चतुर्थं क्षान्तिरेव च ॥२२॥
शमस्तु पञ्चमं पुष्पं दमः षष्ठं च सप्तमम् । ध्यानं सत्यं चाष्टमं च ह्येतैस्तुष्यति केशवः ॥२३॥
पद्मपु० पातालखं० अ० ४८ । ब्रह्मोक्ति नारदं प्रति ॥

सच्छ्रोत्रिये कुले जातो ह्यक्रियो नैव पूजितः । असत्क्षेत्रकुले पूज्यो व्यासवैभाण्डकौ यथा ॥२४॥

(उपाधि से भिन्न घटाकाश मठाकाश) के समान है, तथा जलगत आकाशगत ज्योतिष (सूर्य) के समान है, वा बाहर भीतर के वायु के समान है ॥ १५ ॥ जैसे एक सुवर्ण मनुष्यों से क्रिया द्वारा उत्पन्न प्रकाशित व्यवहार मार्ग में कटक कुण्डलादि बहुत प्रकार से किया जाता है, इसी प्रकार इन्द्रियों का अविषय सर्वात्मा भगवान् भी लौकिक वैदिक जन से वचनों द्वारा बहुधा कहा जाता है ॥ १६ ॥ जैसे मेघ सूर्य से उत्पन्न प्रकाशित होता हुआ भी सूर्य के अंशरूप नेत्र के लिये तम (निरोधक) होता है, इसी प्रकार अहंकार भी ब्रह्म का गुण (मायाजन्य त्रिगुण रूप) ब्रह्म में ईक्षित (प्रकाशित) होता हुआ ब्रह्म के अंश (आभास-प्रतिबिम्ब) रूप जीव के मन का बन्धन रूप है ॥ १७ ॥ जब सूर्य जन्य मेघ वायु से नष्ट होता है, तब नेत्र अपने स्वरूप सूर्य को देखता है, ऐसे ही जब आत्मा की उपाधि अहंकार जिज्ञासा (विचार जन्य विवेकादि) से नष्ट होती है, तब जीव सर्वात्मा हरि का स्मरण अपरोक्ष अनुभव करता है ॥ १८ ॥ प्रायः साधुजन लोक ताप से तप्त होते हैं, अखिलात्मा पुरुष की वही परमाराधना है ॥ १९ ॥ वैदिक मन्त्रों द्वारा सूर्य, सत्कार द्वारा ब्राह्मण, घासादि द्वारा गऊ, प्रेम सेवा द्वारा वैष्णव, हृदय में ध्यान-द्वारा हृदयाकाश, प्राण से अभेद दृष्टि द्वारा वायु, पुष्पादिद्वारा जल, और क्रिया विशेष द्वारा भूमि विशेष, उचित भोगादि द्वारा अपना आत्मा, उचित दान मानादि द्वारा सब प्राणी ही हे भद्र ! मेरे (भगवान् के) पूजा के स्थान हैं ॥२०॥ हवि से अग्नि में जल में पुष्पों से, ध्यान से हृदय में, जप से सूर्यमण्डल में विद्वान् लोग हरि को सदा पूजते हैं ॥ २१ ॥ अहिंसा, करण (इन्द्रिय) ग्रह (निरोध) भूतदया, क्षमा, शम, दम, ध्यान, सत्य, इन आठ पुष्पों से हरि सन्तुष्ट होते हैं ॥२२-२३॥ श्रेष्ठ वेदज्ञ के कुल में उत्पन्न भी स्वकर्म धर्म-रहित मनुष्य पूज्य नहीं होता, हीन क्षेत्र (माता) कुल में उत्पन्न भी सत्कर्मा पूज्य होता है, जैसे व्यास और

क्षत्रियाणां कुले जातो विश्वामित्रोऽस्ति मत्समः । वेश्यापुत्रो वसिष्ठश्च अन्ये सिद्धा द्विजातयः ॥२५॥

पद्मपु० खं० १ । अ० ४६ । १२६-२७ ॥

येन येन प्रकारेण यं यं देवं समर्चयेत् । तं तं देवं समाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥२६॥

यं यं कामयते कामं तं तमुद्दिश्य भक्तिमान् । आत्मज्ञमर्चयेन्नित्यमात्मज्ञमिति हि श्रुतिः ॥२७॥

सूतसं० शिवमा० अ० ८ । २७-२८ ॥

यो हि यां देवतामिच्छेत्समाराधयितुं नरः । ब्राह्मणान् पूजयेद् विद्वान् स तस्यास्तोषहेतुतः ॥२८॥

द्विजानां वपुरास्थाय नित्यं तिष्ठन्ति देवताः । पूज्यन्ते ब्राह्मणालाभे प्रतिमादिष्वपि क्वचित् ॥२९॥

कूर्मपुरा० ॥

यो भावयति या सुते येन विद्योपदिश्यते । ज्येष्ठो भ्राता च भर्त्ता च पञ्चैते गुरवः स्मृताः ॥३०॥

आत्मनः सर्वयत्नेन प्राणत्यागेन वा पुनः । पूजनीया विशेषेण पञ्चैते भूतिमिच्छता ॥३१॥

यावत् पिता च माता च द्वावेतौ निर्विकारिणौ । तावत्सर्वं परित्यज्य पुत्रः स्यात्तत्परायणः ॥३२॥

पिता माता च सुप्रीतौ स्यातां पुत्रगुणै र्यदि । स पुत्रः सकलं धर्ममाप्नुयात्तेन कर्मणा ॥३३॥

नास्ति मातृसमो देवो नास्ति तातसमो गुरुः । तयोः प्रत्युपकारो हि न कथञ्चन विद्यते ॥३४॥

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यात्कर्मणा मनसा गिरा । न ताभ्यामननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥
वर्जयित्वा मुक्तिफलं नित्यं नैमित्तिकं तथा ॥३५॥ कूर्मपुरा० व्यासगी० ॥

वैभाण्डक ऋषि हुए हैं ॥ २४ ॥ क्षत्रियों के कुल में उत्पन्न भी विश्वामित्र मेरे तुल्य हैं, वैसे वेश्या के पुत्र वसिष्ठ हैं, अन्य भी सिद्ध द्विजाति ऐसे हैं ॥ २५ ॥ जिस २ प्रकार से युक्त जिस जिस देव को मनुष्य सम्यक् पूजता है उस २ प्रकार से सहित देव को वह सम्यक् प्राप्त होता है, इसमें संशय के अभाव से विचार कर्तव्य नहीं है ॥२६॥ भक्तिमान् मनुष्य जिस २ काम्य वस्तु को इच्छा करता है, तिस २ काम्य वस्तु को उद्देश्य (लक्ष्य) करके आत्मज्ञानी को सदा पूजे तो वह काम्य वस्तु प्राप्त होती है, "यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्। तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मा दात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः।" [मुण्डक० ३।१।१०] विशुद्धान्तः करण वाला ज्ञानी अपने लिये वा अन्य के लिये जिस २ लोक का संकल्प मन से करता है, वा जिस काम्य वस्तु की इच्छा करता है, उस लोक और वस्तु को प्राप्त करता है, और कराता है, इससे विभूति चाहने वाला आत्मज्ञ को पूजे ॥२७॥ जो विद्वान् मनुष्य जिस देवता की आराधना करना चाहे सो उस देव की तुष्टि के लिये ब्राह्मणों को पूजे ॥ २८ ॥ क्यों कि ब्राह्मणों के शरीर में स्थिर हो कर सदा देवता रहती हैं, ब्राह्मण के नहीं मिलने पर कहीं प्रतिमा आदि में भी वह पूजी जाती हैं, ॥२९॥ जो पिता पोषता है, जो माता पैदा करती है, जिस गुरु से विद्या का उपदेश मिलता है, ये तीन और बडा भाई तथा भर्त्ता (स्वामी) ये पांच गुरु कहे गये हैं, ॥३०॥ विभूति चाहने वाले के अपने सब प्रयत्नों द्वारा प्राणों के त्याग से भी ये पांच अधिकरूप से पूजनीय हैं ॥ ३१ ॥ जब तक माता पिता ये दोनों निर्विकार (प्रकृति धर्म के अन्यथा भाव से रहित) रहें, तब तक पुत्र अन्य सबों को त्याग कर पितृमातृपरायण रहें ॥ ३२ ॥ पुत्र के गुण सेवा धर्मादि से यदि माता पिता सुप्रसन्न हो जायँ, तो वह पुत्र उस कर्म से सब धर्मों को पावेगा ॥ ३३ ॥ माता के समान देव पिता के समान गुरु नहीं हैं, उन का प्रत्युपकार किसी प्रकार नहीं होता है ॥ ३४ ॥ कर्मादि द्वारा उन

गुरुपूजैव पूजा स्याच्छिवस्य परमात्मनः। गुरुशेषं तु यत्सर्वमात्मशुद्धिकरं भवेत् ॥३६॥
शिवपु० विद्येश्वरखं० अ० १८।६५ ॥

अनाथत्वं पूज्यतायां न प्रयोजकतामियात् । पङ्ग्वाद्या येऽप्यनाथा हि दयापात्रं हि केवलम् ॥ ३७॥

तपोनिष्ठा ज्ञाननिष्ठाः श्रुतिशास्त्रविशारदाः । विष्णुरूपाः सदा पूज्या नेतरे तु कदाचन ॥३८॥

तत्रापि ज्ञानिनोऽत्यर्थं विप्रा विष्णोः सदैव हि । ज्ञानिनामपि भूपाल ! विष्णुरेव सदा प्रियः ॥३९॥

तस्माज्ज्ञानी सदा पूज्यः पूज्यात्पूज्यतरः स्मृतः ॥४०॥

अवज्ञा साधुवृत्तानामिहामुत्र च दुःखदा । सेवा वै महतां पुंसां पुमर्थानां हि कारणम् ॥४१॥
स्कन्दपु० वैशाखमा० अ० ६ ॥

गुरुभ्यस्त्वासनं देयमभिवाद्याभिपूज्य च । गुरुमभ्यर्च्य वर्द्धन्ते आयुषा यशसा श्रिया ॥४२॥
महाभा० शान्तिप० अ० १९३।१६ ॥

सर्वेषामेव धर्माणां गुरुपूजा परा मता । गुरुशूश्रूषया सर्वं प्राप्नोति ऋषिसत्तम ! ॥४३॥

गुरौ तुष्टे तु तुष्टाः स्यु र्देवाः सर्वे सवासवाः । गुरौ रुष्टे च रुष्टाः स्यु र्देवाः सर्वे सवासवाः ॥ ४४ ॥

कार्तिके मासि सम्प्राप्ते कृत्वा कर्माणि भूरिशः। अकृत्वा गुरुशुश्रूषां नरकानेव विन्दति ॥ ४५ ॥

यत्किञ्चिद्वा समादिष्टो गुरुणा तत्समाचरेत् । आज्ञप्तो गुरुणा विप्र ! न तद्वाक्यं तु लङ्घयेत् ॥ ४६ ॥

यदि दुःखादिकं प्राप्तं गुरुं तु शरणं व्रजेत् । मातृत्वे च पितृत्वे च गुरुमेव स्मरेद् बुधः ॥ ४७ ॥

गुरौ न प्राप्यते यत्तन्नान्यत्रापि हि लभ्यते । गुरुप्रसादात्सर्वं तु प्राप्नोत्येव न संशयः ॥ ४८ ॥

दोनों का सदा प्रिय करे, और उन की आज्ञा अनुमति विना, मोक्ष के हेतु तथा नित्य नैमित्तिक कर्मादि से अन्य धर्म नहीं करे, मोक्षफलक नित्यादि उनकी आज्ञा विना भी करे ॥ ३५ ॥ गुरु की पूजा ही परमात्मा शिव की पूजा होती है, और गुरु से शेष जो भोजन वस्त्रादि हैं, सो सब आत्मशुद्धि कारक होते हैं ॥ ३६ ॥ अनाथपन पूज्यपन का हेतु नहीं किन्तु, पङ्गु आदि जो अनाथ हैं, सो केवल दया के पात्र हैं ॥ ३७ ॥ तपःपरायण ज्ञाननिष्ठ वेदशास्त्र के पण्डित विष्णु स्वरूप पुरुष सदा पूज्य हैं, अन्य तो कभी नहीं पूज्य है ॥ ३८ ॥ उस में भी ज्ञानी विप्र विष्णु के सदा अत्यन्त प्रिय हैं, हे भूपाल ! ज्ञानी के भी सदा विष्णु ही प्रिय हैं ॥ ३९ ॥ अंतः ज्ञानी सदा पूज्य हैं, और पूज्यों से अतिपूज्य कहे गये हैं, ॥ ४० ॥ साधु कुशल चरित्र वालों की अवज्ञा (अनादर) लोक परलोक में दुःखदायी है, और महान् पुरुषों की सेवा सब पुरुषार्थ का कारण है ॥ ४१ ॥ आगत गुरु के प्रति अभिवादन (प्रणामादि) करके और वचन पुष्पादि से पूजा करके उन को आसन देना चाहिये, गुरु की अभितः पूजा करके मनुष्य आयु यश श्री इन तीनों द्वारा वृद्धि पाता है ॥ ४२ ॥ सब धर्मों में गुरुपूजा उत्तम मानी गई है, हे श्रेष्ठ ऋषि ! गुरु सेवा से सब साधन और फलों को मनुष्य प्राप्त करता है ॥ ४३ ॥ गुरु के तुष्ट होने पर इन्द्र सहित सब देव तुष्ट होते हैं, और गुरु के रुष्ट होने पर सब रुष्ट होते हैं ॥४४॥ कार्त्तिक मास के आने पर गुरु की सेवा नहीं करके अन्य बहुत कर्मों को करके भी मनुष्य नरक ही पाता है ॥४५॥ जो कुछ गुरु से आदेश किया गया हो उसका सम्यक् आचरण करे, हे विप्र ! गुरु की आज्ञा मिलने पर उन के वचन का उलंघन नहीं करे ॥ ४६ ॥ यदि दुःखादि प्राप्त हों, तो गुरु रूप रक्षक के पास जावे, और विद्वान् मातृत्व पितृत्व के स्थान में गुरु का ही स्मरण करे ॥ ४७ ॥ जो गुरु में नहीं

मेधावी कपिलश्चैव सुमतिश्च महातपाः । गौतमस्य गुरोः सम्यक् सेवयाऽमरतां गताः ॥ ४९ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कार्त्तिके विष्णुतत्परः । गुरुसेवां प्रकुर्वीत ततो मोक्षमवाप्नुयात् ॥ ५० ॥
स्कन्दपु० वैष्णवखं० कार्त्तिकमा० अ० २। ब्रह्मोक्तिर्नारदं प्रति ॥

ज्ञानाज्ञानकृतं पापं यच्चान्यत्कारितं परैः । तत्सर्वं नाशयत्याशु परिचर्या महात्मनाम् ॥ ५१ ॥
नारदीयपु० अ० ८।७॥

तस्मात—
अकृत्रिमं सुखं कीर्त्तिमायुश्चैवाभिवाञ्छता । सर्वाभिमतदानेन पूजनीया गुणान्विताः ॥ ५२ ॥
योगवा० प्र० ३।७७।२६ ॥

हरिपूजारतो नित्यं भक्तपूजारतोऽपि वा । भक्तोच्छिष्टान्नसेवी च याति विष्णोः परं पदम् ॥ ५३ ॥
गोषु क्षान्तो ब्रह्मचारी परनिन्दाविवर्जितः । अपरिग्रहशीलश्च देवपूज्यः स नारद ! ॥ ५४ ॥
स्तेयादिदोषविमुखः कृतज्ञः सत्यवाक् शुचिः । परोपकारनिरतः पूजनीयः सुरासुरैः ॥ ५५ ॥
नारदीयपु० अ० ३॥

शमबोधादिभिः पुष्पैर्देव आत्मा यदर्च्यते । तत्तु देवार्चनं विद्धि नाकारार्चनमर्चनम् ॥ ५६ ॥
योगवासिष्ठप्र० प्र० ६।२९।१२८। ईश्वरोक्तिः ॥

एवं देवार्चनं नित्यं ज्ञः कुर्वन् मुनिनायक ! । यत्रास्मदादयो भृत्यास्तत्प्रयान्ति परं पदम् ॥ ५७ ॥
योगवा० प्र० ६।४१।२६॥

पूजनं ध्यानमेवान्तर्नान्यदस्त्यस्य पूजनम् । तस्मात्त्रिभुवनाधारं नित्यं ध्यानेन पूजयेत् ॥ ५८ ॥
योगवा० प्र० ६।३८।६॥

बोधाय पूज्यतां बुद्ध्या स्वभावः परमेश्वरः । विवेकपूजितः स्वात्मा सद्यः स्फारवरप्रदः ॥
रुद्रोपेन्द्रादिपूजाऽत्र जरत्तृणलवायते ॥ ५९ ॥

मिलता है, सो अन्य स्थान में भी नहीं मिलता है, गुरु की प्रसन्नता से तो सब कुछ पाता ही है, इस में संशय नहीं ॥ ४८ ॥ मेधावी और कपिल, तथा महातपस्वी सुमति ने गौतम गुरु की सेवा से अमरता (मोक्ष) प्राप्त की ॥ ४९ ॥ अतः विष्णुपरायण पुरुष कार्तिक में सब प्रयत्न से गुरु सेवा करे तो मोक्ष पावे ॥ ५० ॥ ज्ञान वा अज्ञान से किया गया, या अन्य से कराया गया उन सब पापों को महात्माओं की सेवा पूजा शीघ्र नष्ट करती है ॥ ५१ ॥ तिससे अकार्य रूप सुख, यश, आयु के इच्छुक से सब इष्ट के दान द्वारा गुणी महात्मा पूजार्ह हैं ॥५२॥ सदा हरिपूजा में तत्पर अथवा भक्त पूजा में तत्पर और भक्तोच्छिष्ट-अन्न का सेवी विष्णु के परम पद को पाता है ॥५३॥ गऊ में क्षमायुक्त, ब्रह्मचारी, परनिन्दा रहित, परिग्रह रहित स्वभाव वाला जो होता है, हे नारद ! वह देवताओं से भी पूज्य है ॥ ५४ ॥ चोरी आदि पापों से विमुख कृतज्ञ सत्यवक्ता पवित्र परोपकार परायण मनुष्य देव असुर सब से पूजनीय है ॥ ५५ ॥ शम विवेकादि रूप पुष्प से जो आत्मा रूप देव पूजा जाता है, उसी को सत्य देवार्चन जानो, किसी आकार का पूजन पूजन नहीं है ॥ ५६ ॥ हे मुनिनायक ! एवं (आत्मस्थितिरूप) देवार्चन सदा करता हुआ ज्ञानी, जहाँ हम सब भृत्य के समान हैं उस परमपद को पाता है ॥ ५७ ॥ अन्तर में ध्यान करना ही पूजा और पूजा का साधन है, अतः त्रिलोकी के आधार को सदा ध्यान से पूजे ॥ ५८ ॥ बोध के लिये स्वसत्ता स्वरूप परमेश्वर ही पूजनीय है, बुद्धि से विवेक द्वारा पूजित निजात्मा ही शीघ्र बड़े फल वर को देने वाला है । रुद्र विष्णु की पूजा इस के आगे जीर्णतृण लव के समान हो जाती है ॥ ५९ ॥

विचारसमसत्सङ्गबलिपुष्पैकपूजितः । सद्यः मोक्षफलः साधो ! स्वात्मैव परमेश्वरः ॥६०॥
सत्यालोकनमात्रैकपूजितोऽनुत्तमार्थदः । यत्रास्त्यात्मेश्वरस्तत्र मूढः कोऽन्यं समाश्रयेत् ॥६१॥
सत्सङ्गशमसन्तोषविवेकापूजितात्मनः । शिरीषकुसुमायन्ते शस्त्राहिविषवह्नयः ॥६२॥
देवार्चनतपस्तीर्थदानान्यतिकृतान्यपि । भस्मायन्ते निरर्थत्वादविवेका महात्मनः ॥६३॥
एतान्यपि विवेकेन क्रियन्ते सफलानि चेत् । विवेक एव तत्कस्मात्स्फुटमन्त र्न साध्यते ॥६४॥

योगवा० प्र० ६। उ० स० ४२।२६-३५ ॥

इच्छाद्याः शक्तयस्तस्य चिन्तनीयाः शरीरगाः । एष देवः स परमः पूज्य एष सदा सताम् ॥६५॥

योगवा० प्र० ६।३८।१३ ॥

बोधः साम्यं शम इति पुष्पाण्यग्राणि तत्र च । शिवं चिन्मात्रममलं पूज्यं पूज्यविदो विदुः ॥६६॥

योगवा०/प्र० ६।३९।१२८ ॥

यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् । यच्च सर्वमयं नित्यं तच्चित्तत्त्वमुपास्महे ॥६७॥

योगवा० प्र० ६।२५।६६ ॥

शास्त्रयत्नविचारेभ्यो मूर्खाणा प्रपलायिनाम् । कल्पिता वैष्णवी भक्तिः प्रवृत्त्यर्थं शुभस्थितौ ॥६८॥
अभ्यासयत्नौ प्रथमं मुख्यो विधिरुदाहृतः । तदभावे तु गौणः स्यात्पूज्यपूजामयक्रमः ॥६९॥
अस्ति चेदिन्द्रियक्रान्तिः किं प्राप्यं पूजनैः फलम् । नास्ति चेन्द्रियक्रान्तिः किं प्राप्यं पूजनैः फलम् ॥७०॥
विचारोपशमाभ्यां हि न विना साद्यते हरिः । विचारोपशमाभ्यां च मुक्तस्याब्जकरेण किम् ॥७१॥

विचारसमता सत्सङ्ग रूप बलि और पुष्प मात्र से पूजित स्वात्मा रूप परमेश्वर ही हे साधो ! शीघ्र मोक्ष फल रूप होता है ॥ ६० ॥ जहाँ सत्य के आलोकनमात्र रूप एक साधन से पूजित आत्मस्वरूप ईश्वर ही सर्व श्रेष्ठ अर्थ फल का दाता है, तहाँ ऐसा मूढ भी कौन होगा कि जो अन्य (तटस्थ) की शरण लेगा ॥ ६१ ॥ क्यों कि सत्संगादिद्वारा आपूजित आत्मा से ही शस्त्रादि भी शिरीष कुसुम (पुष्प) तुल्य हो जाते हैं, इससे इनके निवारण के लिये भी तटस्थ की पूजा का कोई फल नहीं है ॥६२॥ अविवेकमय अत्यन्त किये गये भी देवार्चनादि निरर्थक होने से महात्माओं के लिये भस्म तुल्य होते है ॥ ६३ ॥ यदि ये तीर्थ यात्रादि विवेक से सफल किये जायँ, तो फिर प्रकट विवेक को ही क्यों नहीं मन में सिद्ध किया जाय ॥ ६४ ॥ उस आत्मदेव की इच्छादि शक्ति शरीरगत चिन्तनीय हैं, और वही परम देव है, वही सत्पुरुषों का परमपूज्य है ॥ ६५ ॥ तिस पूजा में बोध समता शम मुख्य पुष्प हैं, चिन्मात्र शुद्ध शिव को पूज्यज्ञ पूज्य जानते हैं ॥ ६६ ॥ इससे जो आधारादि कारकादि सब के सत्ता स्वरूप है व्यापक सर्वमय नित्य है उस चित्तत्त्व की हम उपासना पूजा करते हैं ॥ ६७ ॥ अध्यात्मशास्त्र, इन्द्रिय निरोधादियत्न आत्मविचार से भागने वाले अज्ञों की शुभस्थिति (सन्मार्ग) में कथंचित् प्रवृत्ति के लिये तटस्थ विष्णु की भक्ति कल्पित हुई है ॥ ६८ ॥ प्रथम अभ्यास और यत्न ही मुख्य उपाय ज्ञान मोक्ष के लिये कहा गया उसके अभाव की दशा में पूज्य का पूजामय क्रम (विधि) है ॥ ६९ ॥ यदि अभ्यासादि से इन्द्रिय वश में हैं, तो पूजन से क्या फल मिलना है ? यदि नहीं वश में हैं, तो भी क्या फल मिलेगा ? ॥ ७० ॥ विचार और उपशम (बाह्यविषय से निवृत्ति) के विना सर्वात्मा हरि आत्मारूप से नहीं मिलते हैं, और विचार उपशम

क्रियते माधवादीनां प्रणयप्रार्थना स्वयम् । तथैव क्रियते कस्मान्न स्वकस्यैव चेतसः ॥७२॥
सर्वस्यैव जनस्यास्य विष्णुरभ्यन्तरे स्थितः । तं परित्यज्य ये यान्ति बहिर्विष्णुं नराधमाः ॥७३॥
हृद्गुहावासिचित्तत्त्वं मुख्यं सानातनं वपुः । शङ्खचक्रगदाहस्तो गौण आकार आत्मनः ॥७४॥
यो हि मुख्यं परित्यज्य गौणं समनुधावति । त्यक्त्वा रसायनं सिद्धं साध्यं संसाधयत्यसौ ॥७५॥
यस्तु भोः स्थितिमेवास्यामात्मज्ञानचमत्कृतौ । नासादयति संमत्तमनाः स रघुनन्दन ! ॥७६॥
अप्राप्तात्मविवेकोऽन्तरज्ञचित्तवशीकृतः । शङ्खचक्रगदापाणिमर्चयेत्परमेश्वरम् ॥७७॥
तत्पूजनेन कष्टेन तपसा तस्य राघव ! । काले निर्मलतामेति चित्तं वैराग्यकारिणा ॥७८॥
नित्याभ्यासविवेकाभ्यां चित्तमाशु प्रसीदति । आम्र एव दशामेति सहकारीं शनैः शनैः ॥७९॥
एतदप्यात्मनैवात्मा फलमाप्नोति भाषितम् । हरिपूजाक्रमाख्येन निमित्तेनारिसूदन ! ॥८०॥
वरमाप्नोति यो वापि विष्णोरमिततेजसः । तेन स्वस्यैव तत्प्राप्तं फलमभ्यासशाखिनः ॥८१॥
सर्वेषामुत्तमस्थानां सर्वासां चिरसम्पदाम् । स्वमनोनिग्रहो भूमि र्भूमिः सस्यश्रियामिव ॥८२॥
तावज्जन्मसहस्राणि भ्रमन्ति भुवि मानवाः । यावन्नोपशमं याति मनोमत्तमहार्णवः ॥८३॥
ब्रह्मविष्ण्विन्द्ररुद्राद्याश्चिरसंपूजिता अपि । उपप्लवान्मनोव्याधे र्न त्रायन्तेऽपि वत्सलाः ॥८४॥
योगवा० प्र० ५।४३ ॥

से ही मुक्त को ..जकर (हरिदेह) से क्या फल होना है ? ॥ ७१ ॥ जैसे माधवादि (विष्णु आदि) से प्रणय (विश्वास याचना) पूर्वक प्रार्थना किया करते हैं, तैसे ही अपने चित्त से क्यों नहीं करते कि जिस की प्रसन्नता शुद्धि से मुक्ति मिलती है ॥ ७२ ॥ मन की ही भक्ति मुख्य है क्योंकि यह सभी जनों के अभ्यन्तर (मन) में आनन्द स्वरूप विष्णु स्थिर है, उसे त्याग कर जो बाहर के विष्णु को प्राप्त होते हैं, सो नरों में अधम हैं ॥ ७३ ॥ हृदय गुहा का वासी जो चेतनतत्त्व है सो आत्मा का मुख्य सनातन वपु (स्वरूप) है, और हस्त में शंखादि वाला गौण है ॥७४॥ जो मुख्य को त्याग कर मायागुण रचित को प्राप्त करना चाहता है, सो सिद्ध रसायन (अमृत) त्याग कर, साध्य (ओदनादि) सिद्ध करता है ॥ ७५ ॥ हे रघुनन्दन ! जो इस आत्म ज्ञानरूप प्रकाश में स्थिति नहीं पाता है, वह प्रमत्त मन वाला है ॥ ७६ ॥ इससे अन्तःकरण में आत्मविवेकरहित अज्ञ मन के वशीभूत वह शंखादियुक्तहाथवाले तटस्थ परमेश्वर को पूजे ॥ ७७ ॥ हे राघव ! उनके पूजन रूप कष्टात्मक वैराग्यजनक तप से कुछ काल में चित्त निर्मल होता है, ॥ ७८ ॥ सदा अभ्यास और विवेक से चित्त शीघ्र (अवश्य) निर्मल होता है, जैसे आम का वृक्ष ही धीरे २ सहकार (पुष्पादि से सुगन्ध) रूपता को पाता है ॥ ७९ ॥ हे अरिसूदन हरिपूजा की विधि नामक निमित्त से कथित यह फल भी आत्मा अपने ही संकल्पादि से पाता है ॥ ८० ॥ जो कोई अमित तेज वाले विष्णु से कोई वर पाता है, वह भी अपने ही अभ्यास रूप वृक्ष का वह फल पाता है ॥ ८१ ॥ सभी उत्तम पुरुषार्थ की प्रवृत्ति स्थिति तथा सभी चिरस्थायी सम्पत्ति की उत्पत्ति के स्थान अपने मन का निग्रह ही है जैसे कि सस्यश्री का स्थान भूमि है ॥ ८२ ॥ जब तक मन रूप उन्मत्त महासमुद्र नहीं उपशान्त होता है, तब तक मनुष्य भूमि में हजारों जन्म लेकर भ्रमता है ॥ ८३ ॥ ब्रह्मा आदि चिरकाल तक पूजित और वत्सल (स्निग्ध-प्रसन्न) होते भी विचारादि के बिना उपप्लव (उत्पात) रूप मनो व्याधि से रक्षा नहीं करते हैं ॥ ८४ ॥

अहिंसा चेन्द्रियजयः क्षान्ति र्ज्ञानं दया श्रुतम् । भावाष्टपुष्पैः संपूज्य देवान् स्याद् भुक्तिमुक्तिभाक् ॥८५॥
अहिंसा प्रथमं पुष्पं पुष्पमिन्द्रियनिग्रहः । सर्वपुष्पं दया भूते पुष्पं शान्तिर्विशिष्यते ॥८६॥
शमः पुष्पं तपः पुष्पं ध्यानं पुष्पं च सप्तमम् । सत्यं चैवाष्टमं पुष्पमेतैस्तुष्यति केशवः ॥८७॥
अग्निपु० अ० १०१।१६-१८॥

येन केन प्रकारेण यस्य कस्यापि देहिनः । सन्तोषं जनयेत्प्राज्ञस्तदेवेश्वरपूजनम् ॥८८॥
सुभाषितरत्नाकरदानप्र० ३१ ॥

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः । स्त्रियः श्रियश्च गेहेपु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥८९॥
मनु० अ० ९।२६॥

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः । यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥९०॥
मनु० अ० ३।५६ ॥

पूजाक्रमेपु सर्वेषु देहगेहं पवित्रकम् । त्याज्यं देहावबोधात्मपरं यत्नात्पवित्रकम् ॥९१॥
इति सप्तदशपूजाप्रकरणं समाप्तम् । योगवा० प्र० ६।३८।५॥

अथ स्त्रीधर्मः पातिव्रत्यम् ॥ १८ ॥

साध्व्याः स्त्रिया हि यत्कृत्यं लक्षणं सुकृतं हितम् । ज्ञातव्यं तन्मनुष्यैश्च भक्त्यादावुपयोगतः ॥१॥
स्त्री यथा स्वामिनो वाक्यमनादृत्य निजेच्छया । गच्छन्ती याति निरयमन्यथा स्वर्गमेव हि ॥२॥
तथा नापि परेशस्य गुरो र्वाक्यं हितं च यत् । अनादृत्य हि गर्भादौ यात्येव मुच्यतेऽन्यथा ॥३॥ तथाहि—

अहिंसा, इन्द्रियजय, क्षमा, ज्ञान, दया, शास्त्र का श्रवण, विशेष करके इन छवों से तथा आगे वर्णित भाव (भावन अभिप्राय) रूप आठपुष्पों से देवों को सम्यक् पूज कर मनुष्य भोग मोक्ष दोनों को पाता है ॥ ८५ ॥ अहिंसा प्रथम पुष्प है, इ[illegible] निग्रह दूसरा है, सब भूतों में दया सर्वहित, तीसरा पुष्प है, शान्ति रूप पुष्प चौथा उससे भी विशिष्ट (बड़ा) है, शम पञ्चम पुष्प है, तप छठवाँ पुष्प है, ध्यान सप्तम है, और सत्य अष्टम पुष्प है, इन से केशव भगवान् सन्तुष्ट होते हैं ॥ ८६-८७ ॥ सन्तसम्मत शास्त्र विहित जिस किसी प्रकार से सन्तोष योग्य जिस किसी देही का विद्वान् सन्तोष करे यही ईश्वर की पूजा है ॥ ८८ ॥ प्रजा उत्पादन के लिये महाभाग्यवाली स्त्रियाँ ही गृहस्थ के लिये वस्त्रालंकारादिद्वारा पूजन योग्य (सत्कार योग्य) हैं । ये गृह की शोभा रूप हैं, और गृहों में स्त्री और श्री में भेद नहीं है, दोनों तुल्य हैं ॥८९॥ जिस कुल में स्त्रियाँ पिता आदि पति आदि से सत्कृत होती हैं, वहाँ देवता प्रसन्न होती हैं, और ये जहाँ नहीं सत्कार पाती हैं, वहाँ सब क्रियाएँ निष्फल होती हैं ॥ ९० ॥ सब पूजा के आरम्भ में संस्कार स्नानादि से पवित्र भी देह गेह यत्न से त्याग के योग्य हैं, और देह के अवबोध स्वरूप परम पवित्र तत्त्व यत्न से परिशोधन करके ग्राह्य है, अर्थात् सर्वत्र आत्मा पूज्य है, देह नहीं ॥ ९१ ॥ सत्रहवाँ पूजाप्रकरण समाप्त ।

अथ स्त्रीधर्मपातिव्रत्य—साध्वी स्त्री के जो कर्तव्य कर्म लक्षण पुण्य हित हैं, वे मनुष्यों से ज्ञातव्य हैं, उनका भक्ति आदि में फल है ॥ १ ॥ जैसे स्त्री पति के वाक्य का अनादर करके अपनी इच्छा से चलती हुई नरक में जाती है, अन्यथा स्वर्ग में जाती है ॥ २ ॥ तैसे ना (नर) भी परमात्मा गुरु

पतिवाक्यमनादृत्य स्वेच्छया वर्त्तते तु या । सा नारी निरये घोरे पतत्याचन्द्रतारकम् ॥४॥
न स्वातन्त्र्यं तु नारीणां नोल्लङ्घ्यं पतिभाषणम् । पातिव्रत्येन पुण्येन पतिशुश्रूषणेन च ॥५॥
स्त्रियो विष्णुपदं यान्ति नचान्यैरपि सुव्रतैः । पति र्माता पति र्विष्णुः पति र्ब्रह्मा पतिः शिवः ॥६॥
पतिर्गुरुः पतिस्तीर्थमिति स्त्रीणां विदु र्बुधाः । पतिवाक्यमनादृत्य या नारी सुकृतैः परैः ॥७॥
सदैव युज्यते सापि नैव शुद्धा भवेत् सकृत् । पतिहीना तु या नारी गुरुभिः धर्मवित्तमैः ॥८॥
सा कृतज्ञा विदध्यात्तु व्रतं धर्मफलप्रदम् । पतिना प्रेरिता सैव पतिबुद्धिपरायणा ॥९॥
पतिपादाब्जतीर्थेन या स्नाता सा हरिप्रिया । सा स्नाता सर्व तीर्थेषु गङ्गादिषु न संशयः ॥१०॥

स्कन्दपु० वैष्णवखं० वंकटाचमा० अ० २६।८१ । इत्यादि ॥

सुवासिनीभि र्नारीभिः स्वपतिर्देववत्सदा । सेवनीयोऽनुवर्त्यश्च जरन् रुग्णोऽधनोऽपि वा ॥११॥
तद्बन्धवश्चानुवर्त्त्याः सेवनेन यथोचितम् । उज्ज्वलानि विधेयानि गृहोपकरणानि च ॥१२॥
चाञ्चल्यमतिलोभश्च क्रोधः स्तेयं च हिंसनम् । अधार्मिकाणां सङ्गश्च वर्ज्यः स्त्रीणां सदा नृणाम्॥१३॥
विधवा तु सदा विष्णुं सेवेत पतिभावतः । कामसम्बन्धिनी वार्त्ता न शृणुवीत न कीर्त्तयेत्॥१४॥
आसन्नसम्बन्धवतो विनाऽन्यान् पुरुषान् क्वचित् । अनापदि स्पृशेन्नैव पश्येन्नैव च कामतः ॥१५॥
स्तनपस्य च नुः स्पर्शाद् वृद्धस्य च न दुष्यति । कार्ये आवश्यके ताभ्यां भाषणे च विभर्त्तृका ॥१६॥
व्यावहारिककार्ये च विवादमधिकं नरैः । न कुर्वीतावश्यकार्ये तै र्भाषेत विना रहः ॥१७॥

के जो वाक्य हित हैं, उनका अनादर करके गर्भादि में जाता है, अन्यथा मुक्त होता है ॥ ३ ॥ लिखा हैं कि—पति के वाक्य को न मान कर जो स्त्री अपनी इच्छा से वर्ताव करती है, सो भयंकर नरक में चन्द्रतारा की स्थिति तक प्राप्त होती है ॥ ४ ॥ स्त्री को स्वतन्त्रता और पति वचन का उलंघन नहीं चाहिये, पातिव्रत्य रूप पुण्य और पति की सेवा से स्त्रियाँ विष्णुपद को प्राप्त करती हैं, अन्य सुन्दर व्रतों से भी नहीं । पति ही माता आदि तुल्य मान्य पूज्यादि हैं, इस प्रकार स्त्री के लिये विद्वान् समझते हैं, पति वाक्य को नहीं मान कर अन्य पुण्य कर्मों में सदा लगती है, सो भी एक वार में शुद्ध नहीं होती है । पति रहित जो स्त्री है सो कृतज्ञ पूर्ण धर्मज्ञ गुरु द्वारा धर्मफल के दाता व्रत को धारण करे, पति वाली वही स्त्री यदि व्रत करना चाहे तो पति से प्रेरित पतिबुद्धि की अनुसारिणी होकर करे, और पति के पदकमल के जल से स्नान करती है, सो हरि की प्यारी होती है और वह गंगादि सब तीर्थों में स्नान कर चुकी है इसमें संशय नहीं ॥ ५-१० ॥ सुवासिनी स्त्री से वृद्ध रोगी धनहीन पति भी सदा देव तुल्य सेवनीय और अनुवर्तनीय है ॥ ११ ॥ पति के बन्धु भी यथोचित्त सेवा से अनुवर्तनीय हैं (उनके इष्ट संपादनीय हैं) और गृह साधन उज्ज्वल कर्त्तव्य है, ॥ १२ ॥ स्त्री को चंचलता आदि और पापी मनुष्य का संग सदा त्यागने योग्य है ॥१३॥ विधवा स्त्री सदा विष्णु भगवान् को पति (रक्षक स्वामी) रूप से सेवे, और काम सम्बन्धी बातों को न सुने न कहे ॥१४॥ समीप के सम्बन्ध वाले से अन्य पुरुषों को आपत्ति के विना कहीं नहीं छूवे, और काम दृष्टि से देखे भी नहीं ॥१५॥ स्तनपायी बच्चा या अति वृद्ध के स्पर्श से दोष नहीं होता है, तैसे ही आवश्यक कार्य में उनके साथ बोलने से भी विधवा दूषित नहीं होती ॥१६॥ व्यवहार के काम में भी मनुष्यों से अधिक विवाद नहीं करे, अवश्य कार्य हो तो उनके साथ एकान्त विना बात करे ॥ १७ ॥

नेक्षेत मिथुनीभूतं बुद्ध्या पश्वाद्यपि क्वचित् । त्यजेच्च सकलान् भोगान् स्यात्सकृन्मितभुक् तथा ॥१८॥
सधातुसूक्ष्मवासांसि नालंकारांश्च धारयेत् । न दिवा शयनं कुर्यान्न खट्वायामनापदि ॥१९॥
ताम्बूलभक्षणं नैव कुर्यान्नाभ्यङ्गमञ्जनम् । पुंप्रसङ्गाच्च विभियात्कृष्णाहेरिव नित्यदा ॥२०॥
सधवा विधवा वा स्त्री स्वरजोदर्शनं क्वचित् । न गोपयेत्त्रिरात्रं तु मनुष्यादींश्च न स्पृशेत् ॥२१॥
स्कन्दपु० वासुदेवमा० अ० २२।५५। इत्यादि ॥
भुङ्क्ते भुक्ते स्वामिनि च तिष्ठति त्वनुतिष्ठति । विनिद्रिते या निद्राति प्रथमं परिबुध्यति ॥२२॥
अनलङ्कृतमात्मानं देशान्ते भर्त्तरि स्थिते । कार्यार्थं प्रोषिते क्वापि सर्वमण्डनवर्जिता ॥२३॥
भर्त्तुर्नाम न गृह्णाति ह्यायुषोऽस्य हि वृद्धये । पुरुषान्तरनामापि न गृह्णाति कदाचन ॥२४॥
आक्रुष्टापि च नाक्रोशेत् ताडितापि प्रसीदति । इदं कुरु कृतं स्वामिन् मन्यतामिति वक्ति च ॥२५॥
आहूता गृहकार्याणि त्यक्त्वा गच्छति सत्त्वरम् । किमर्थं व्याहृता नाथ ! स प्रसादो विधीयताम् ॥२६॥
न चिरं तिष्ठति द्वारि न द्वारमुपसेवते । अदातव्यं स्वयं किञ्चित्कर्हिंचिन्न ददात्यपि ॥२७॥
प्रतीक्षमाणा च वरं यथाकालोचितं च यत् । तदुपस्थापयेत्सर्वमनुद्विग्नातिहृष्टवत् ॥२८॥
सेवते भर्त्तुरुच्छिष्टमिष्टमन्नं फलादिकम् । दूरतो वर्जयेदेषा समाजोत्सवदर्शनम् ॥२९॥
न गच्छेत्तीर्थयात्रादिविवाहप्रेक्षणादिषु । सुखसुप्तसुखासीनं रमणं न यदृच्छया ॥३०॥

ब्रह्मचारी सन्यासी के समान विधवा भी मैथुनयुक्त पशु आदि को बुद्धि पूर्वक कहीं नहीं देखे, सब भोगों का त्याग करे, एक वार परिमित भोजन करे ॥ १८ ॥ रंगरूप धातुयुक्त और सूक्ष्म वस्त्र को धारण नहीं करे, न भूषणालंकारों को धारण करे दिन में वा खाट पर बिमारी रूप आपत्ति के विना नहीं सोवे ॥ १९ ॥ पान का भक्षण, और सम्पूर्ण अंग में तैल मर्दन पूर्वक स्नान नहीं करे, न अञ्जन करे। काले सर्प के समान पुरुषसम्बन्ध से सदा डरे ॥ २० ॥ सधवा या विधवा स्त्री अपने रजोदर्शन को कहीं नहीं छिपावे और तीन रात्रि तक मनुष्यादि का स्पर्श नहीं करे ॥ २१ ॥ पति के भोजन करने पर सधवा भोजन करे, खड़े होने पर पीछे खड़ा हो, सोने पर सोवे, और प्रथम जागे ॥ २२ ॥ किसी कार्य के लिये पति के देशान्तर में कहीं गमन और स्थिति काल में अपने आत्मा (देह) को अलंकार से रहित धारण करे, और सब मण्डन (विभूषण) से रहित रहे ॥ २३ ॥ पति के नाम को सधवा नहीं ग्रहण करे, भावना रखे कि इससे पति की आयु बढ़ती है, पुरुषान्तर के नाम का ग्रहण (उच्चारण) कभी नहीं करे ॥ २४ ॥ पति कुछ निन्दा भी करे तो उसकी निन्दा नहीं करे, ताडित होने पर भी शिक्षा मान कर प्रसन्न रहे, यह काम करो ऐसी आज्ञा पाने पर, हे स्वामिन् ! मैं अभी इस काम को कर के ही पूरा करती हूँ, आप ऐसा मानें इस प्रकार कोमल वचन बोले और आज्ञा पालन करे ॥ २५ ॥ पति से बुलाई पुकारी गई पतिव्रता घर के कार्यों को त्याग कर शीघ्र आती है, और कहती है कि हे नाथ ! किस काम के लिये बुलाया है, सो प्रसाद (अनुग्रह) किया जाय ॥ २६ ॥ वह द्वार पर देर तक खड़ी नहीं होती, न द्वार का सेवन करती है, अदेय कोई वस्तु कभी देती नहीं है ॥ २७ ॥ स्वामी की प्रतीक्षा करती हुई, जिस काल में जो भोजनादि उचित है, उन सबों को अनुद्विग्न मन से अति हृष्ट (हर्षयुक्त) के समान सिद्ध करती है ॥ २८ ॥ पति के उच्छिष्ट इष्ट अन्न फलादि को सेवन (भोजन) करती है, दूर में जनसमूह उत्सव के दर्शन को यह त्यागती है ॥ २५ ॥ तीर्थयात्रादि विवाहदर्शनादि में वह नहीं जाय, और दैवयोग से सुख से सोये वा

अन्तरायेऽपि कार्येषु पतिं नोत्थापयेत् क्वचित् । स्त्रीधर्मिणी त्रिरात्रं तु स्वमुखं नैव दर्शयेत् ॥३१॥
स्ववाक्यं श्रावयेन्नापि यावत्स्नात्वा न शुद्ध्यति । सुस्नाता भर्तृवदनमीक्षेतान्यस्य न क्वचित् ॥३२॥
अथवा मनसि ध्यात्वा पतिं भानुं विलोकयेत् । भर्तृविद्वेषिणीं नारीं नैषा संभाषते क्वचित् ॥
नैकाकिनी क्वचिद् भूयान्न नग्ना स्नाति च क्वचित् ॥ ३३ ॥ स्कन्दपु० ब्रह्मखं० अ० ७॥

शुश्रूषां परिचर्यां च करोत्यविमनाः सदा । सुप्रीता सुविनीता च सा नारी धर्मभागिनी ॥३४॥
न कामेषु न भोगेषु नैश्वर्ये न सुखे तथा । स्पृहा यस्या यथा पत्यौ सा नारी धर्मभागिनी ॥३५॥
पति हिं देवो नारीणां पतिर्बन्धुः पति र्गतिः । पत्या समा गति र्नास्ति दैवतं वा यथा पतिः ॥३६॥
श्वश्रूश्वशुरयोः पादौ जोषयन्ती गुणान्विता । मातापितृपरा नित्यं या नारी सा तपोधना ॥३७॥
महाभारत० अनुशा० प० अ० १४६ ॥

भर्त्ता हि परमं नार्या भूषणं भूषणै र्विना । एषा विरहिता तेन शोभमाना न शोभते ॥३८॥
महाभा० वनप० अ० ६८।१६ ॥

न सा स्त्रीत्यभिमन्तव्या यस्यां भर्त्ता न तुष्यति । तुष्टे भर्त्तरि नारीणां तुष्टः स्यात्परमेश्वरः ॥३९॥
महाभा० शान्तिप० अ० १४५।३ ॥

सुस्वभावा सुवचना सुव्रता सुखदर्शना । अनन्यचित्ता सुमुखी भर्त्तुः सा धर्मचारिणी ॥४०॥
महानुभा० अशा० प० अ० १४६ ॥

नास्ति भर्तृसमो नाथो नास्ति भर्तृसमं सुखम् । विसृज्य धनसर्वस्वं भर्त्ता वै शरणं स्त्रियः ॥४१॥
महाभा० शान्तिप० अ० १४८।७ ॥

बैठे हुए पति को कार्य में अन्तराय (विघ्न) होने पर भी नहीं उठावे, स्त्रीधर्म रजोदर्शनयुक्त होने पर तीन रात्रितक पति को अपना मुख नहीं दिखावे, न अपना वचन सुनावे कि जब तक स्नान कर के शुद्ध न हो जावे, और सुन्दर स्नान कर के पति के वदन को देखे, कहीं अन्य को नहीं देखे ॥ ३०–३२ ॥ अथवा पति का मन में ध्यान करके सूर्य का दर्शन करे, पति से द्वेष करने वाली स्त्री से कहीं संभाषण नहीं करे, न कहीं अकेली रहे, न कहीं नग्न होकर स्नान करे ॥ ३३ ॥ सेवा रूप परिचर्या कर्म को जो सदा अखिन्न मन वाली सुशिक्षित स्त्री प्रेमयुक्त होकर करती है सो धर्म भागिनी होती है ॥ ३४ ॥ जिसके मन में कामादि विषयक वैसी इच्छा नहीं होती कि जैसी पति विषयक होती है, सो स्त्री धर्म भागिनी है ॥ ३५ ॥ पति ही स्त्री का देव और गति (आश्रय मुक्ति) है, बन्धु है, पति के तुल्य अन्य गति वा दैवत भी नहीं है ॥ ३६ ॥ श्रद्धा भक्ति आदि गुण से युक्त होकर सासु ससुर के पदों को सेवने वाली, मातृपितृ-परायण सदा रहने वाली नारी तपरूप धन वाली होती है ॥ ३७ ॥ भूषणों के बिना भी स्त्री का पति परम भूषण है, पति विना यह शोभती हुई भी नहीं शोभती है ॥ ३८ ॥ जिसमें पति नहीं संतुष्ट हो उसे स्त्री नहीं मानना चाहिये, पति के संतुष्ट होने पर परमेश्वर भी सन्तुष्ट होता है ॥ ३९ ॥ सुन्दर स्वभाव वचनव्रत वाली सुखरूप दर्शन वाली पति में अनन्य प्रेम वाली सुमुखी वह स्त्री पतिव्रतधर्माचारिणी है ॥ ४० ॥ पति के तुल्य कोई नाथ वा सुख नहीं है, इससे धन सर्वस्व को त्याग कर स्थित स्त्री की शरण पति ही होता है ॥ ४१ ॥

एतद्धि परमं नार्याः कार्यं लोके सनातनम् । प्राणानपि परित्यज्य यद्भर्त्तुर्हितमाचरेत् ॥४२॥

महाभा० आ० अ० १० १५८।४ ॥

श्रुत्वा स्वरं द्वारगतस्य भर्त्तुः प्रत्युत्थिता तिष्ठ गृहस्य मध्ये ।
दृष्ट्वा प्रविष्टं त्वरिताऽऽसनेन पाद्येन चैनं प्रतिपूजयस्व ॥४३॥
महाकुलीनाभिरपापिकाभिः स्त्रीभिः सतीभिस्तव सख्यमस्तु ।
चण्डाश्च शौण्डाश्च महाशनाश्च चौराश्च दुष्टाश्चपलाश्च वर्ज्याः ॥४४॥

महाभा० वनप० अ० २३४।६–११ ॥ सत्यभामां प्रति द्रौपदीवा० ॥

स्त्रीणां च पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता । तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रतधारणम् ॥४५॥
या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा । हर्यात्मना हरे र्लोके पत्या श्रीरिव मोदते ॥४६॥

भागवतस्क० ७।११।२५ ॥

भर्त्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया । तद्बन्धूनां च कल्याण्याः प्रजानां चानुपोषणम् ॥४७॥

भागवत स्क० १०।२६।२४ ॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया । सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥४८॥
पत्यौ जीवति या योषिदुपवासव्रतं चरेत् । आयुः सा हरते भर्त्तुर्नरकं चैव गच्छति ॥४९॥
विशीलः कामवृत्तो वा गुणै र्वा परिवर्जितः । उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥५०॥

मनु० अ० ५।१५०। इत्यादि ॥

नारीणां भर्त्तुशुश्रूषा धर्मो नान्यः सनातनः । ममार्चनं च कल्याणि! नियोगो भर्त्तुरस्ति चेत् ॥५१॥
या नारी भर्त्तृशुश्रूषां विहाय व्रततत्परा । सा नारी नरकं याति नात्र कार्या विचारणा ॥५२॥
अथ भर्त्तृविहीना या वक्ष्ये धर्मं सनातनम् । व्रतं दानं तपः शौचं भूशय्या नक्तभोजनम् ॥५३॥

स्त्री का लोक में यही सनातन परम कर्तव्य है कि प्राणों को त्याग कर भी पति का हित करे ॥ ४२ ॥ द्वार पर आये पति के शब्द को सुन कर गृह मध्य में स्थिर हो, गृह में प्रविष्ट देख कर शीघ्रता से आसन और पादप्रक्षालनार्थक जल से इस पति का सत्कार करो ॥ ४३ ॥ और महाकुल वाली पाप रहित सती स्त्रियों के साथ तेरी मित्रता हो, अतिकोपना क्रूरा मद्यपा महाभोजना दुष्टा चंचला त्याज्या है ॥ ४४ ॥ पति को देव मानने वाली स्त्री को पति की सेवा उसकी अनुकूलता और उसके बन्धुओं के अनुकूल व्यवहार सदा उसके नियमों का धारण धर्म है-कर्तव्य है ॥ ४५ ॥ जो लक्ष्मी के समान पति परायण होकर पति को भजे, सो हरिस्वरूप पति के साथ हरि के लोक में आनन्द पाती है ॥ ४६ ॥ कपट त्याग कर पति की सेवा और उसके बन्धु तथा प्रजा का अनुपोषण, हे कल्याणि! यह स्त्री का परम धर्म है ॥ ४७ ॥ स्त्री को सदा प्रहृष्ट, गृह कार्य में कुशल, सुसंस्कृत (शुद्ध) साधन वाली और खर्च में अमुक्तहस्ता होना चाहिये ॥ ४८ ॥ पति के रहते जो उपवास व्रत करती है सो पति की आयु हरती है और नरक जाती है ॥ ४९ ॥ शील रहित कामी गुणहीन भी पति साध्वी स्त्री से सेवनीय है ॥ ५० ॥ हे कल्याणि! पति की सेवा स्त्रियों का सनातन धर्म है अन्य नहीं, पति की आज्ञा से मेरी पूजा यदि करे तो हो सकती है ॥ ५१ ॥ पति की सेवा को छोड़ कर जो स्त्री व्रतपरायण होती है, तो नरक में जाती है, इसमें विचार कर्तव्य नहीं है ॥ ५२ ॥ पति रहित स्त्री के सनातन धर्म को

ब्रह्मचर्यं सदा स्नानं भस्मना सलिलेन वा । शान्तिर्मौनं क्षमा नित्यं संविभागो यथाविधि ॥५४॥
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां पौर्णमास्यां विशेषतः । एकादश्यां च विधिवदुपवासो ममार्चनम् ॥५५॥
शिवपु० उत्तरभा० वा० सं० अ० ११।१६–२३॥
पतिसेवा व्रतं स्त्रीणां पतिसेवा परं तपः । पति सेवा परो धर्मः पतिसेवा सुरार्चनम् ॥५६॥
ब्रह्मवैवर्त्तपु० कृष्णजन्म खं० उ० अ० ५७।१८॥
व्रतं तपस्यां देवार्चां परित्यज्य प्रयत्नतः । कुर्याच्चरणसेवां च स्तवनं परितोषणम् ॥५७॥
'ओंनमः कान्ताय शान्ताय सर्वदेवाश्रयाय स्वाहा' । इत्यनेनैव मन्त्रेण दत्त्वा पुष्पं च चन्दनम् ॥५८॥
ब्रह्मवै० पु० कृष्णजन्मखं० उ० अ० ८३।११२–११८॥
न दानैः शुध्यते नारी नोपवासशतैरपि । न तीर्थसेवया तद्वद् भर्त्तुः पादोदकैर्यथा ॥५९॥
चाणकनी० अ० १७।१०॥
छायेवानुगता स्वच्छा सखीव हितकर्मसु । दासीवादिष्टकार्येषु भार्या भर्त्तुः सदा भवेत् ॥६०॥
व्याससं० अ० २।२७॥
क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम् । हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्त्तृका ॥६१॥
याज्ञव० आचारा० ८४॥
मण्डनं वर्जयेन्नित्यं तथा प्रोषितभर्त्तृका । धारयेन्मङ्गलार्थानि किञ्चिदाभरणानि च ॥
देवताराधनपरा तिष्ठेद् भर्तृहिते रता ॥६२॥ विष्णुधर्मोत्तरपु० खं० २ अ० ३४।३९॥
कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी भोज्येषु माता शयनेषु रम्भा ।
धर्मानुकूला क्षमया धरित्री षाड्गुण्यमेतद्धि पतिव्रतानाम् ॥६३॥ गरुडपु० पूर्वखं० आचारकां० अ० ६४।६॥
मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः । अमितस्य प्रदातारं भर्त्तारं का न पूजयेत् ॥६४॥
बाल्मीकीयरा० अयोध्याकां० स० ३९।३०॥ म० भा० शा० प० अ० १४८।६॥
इति स्त्रीधर्मपातिव्रत्याष्टादशप्रकरणं समाप्तम् ।

अब कहूँगा कि व्रतदानादि उसके धर्म हैं, और अष्टमी आदि तिथि में विधि पूर्वक उपवास मेरी पूजा भी उसका धर्म है यह शिव वाक्य है ॥ ५३–५४ ॥ स्त्री का पति सेवा ही व्रत उत्तम तप परम धर्म और देवार्चन हैं ॥ ५६ ॥ इसलिये व्रतादि को प्रयत्न पूर्वक त्याग कर पति के चरण की सेवा पति की स्तुति परितुष्टि करे, सो 'ॐ नमः' इत्यादि मन्त्र से पुष्प और चन्दन देकर स्तुति आदि करे ॥ ५७–५८ ॥ स्त्री दानों से सैकड़ों उपवासों से तीर्थ सेवा से तैसी शुद्ध नहीं होती है कि जैसी पति के चरणोदक से शुद्ध होती है ॥ ५९ ॥ अपने पति की छाया के तुल्य अनुगामिनी, स्वच्छ हित कर्मों में सखी तुल्य सहायक आज्ञप्तकार्यों में दासी तुल्य तत्पर भार्या (स्त्री), को सदा होना चाहिये ॥ ६० ॥ विदेशगत पति वाली स्त्री क्रीडा, शरीर के भूषणादि से संस्कार (मंडन) समाज और उत्सव का दर्शन, हास्य, परगृह में गमन इन सब व्यवहारों को त्यागे ॥ ६१ ॥ प्रोषित (विदेशगत) पति वाली स्त्री मण्डन (विभूषण) को सदा त्यागे, मंगल के लिये कुछ आभरण (अलंकार) का धारण करे । और देवता का आराधन (सेवन साधन सन्तोष) परायण, पति के हित में तत्पर रहे ॥ ६२ ॥ कर्तव्य कार्यों में मन्त्री तुल्य सद्विचार देने वाली, करण (कार्य के साधने) में दासी तुल्य, भोज्य वस्तु में माता तुल्य करने वाली, शयन में रम्भा तुल्य रहने वाली, धर्म में अनुकूल (सहायक) क्षमा से पृथवी तुल्य सहनशीलता, ये छः गुण पतिव्रता के होते हैं ॥ ६३ ॥ पिता भ्राता पुत्र नारी को परिमित वस्तु सुख देता है, और पति अमित वस्तु का दाता है, तिस को कौन नहीं पूजेगी ॥ ६४ ॥ अठारहवां स्त्रीधर्म पातिव्रत्य प्रकरण समाप्त ।

विवाहदाम्पत्यधर्मादि ॥ १९ ॥

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः । गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥१॥
कुविवाहैः क्रियालोपै र्वेदानध्ययनेन च । कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥२॥
ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः । ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः ॥३॥
मनु० अ० ३।२१-६३-३६॥
अनिज्यया कुविवाहै र्वेदस्योत्सादनेन च । कुलान्यकुलतां यान्ति धर्मस्यातिक्रमेण च ॥४॥
कुलानि समुपेतानि गोभिः पुरुषतोऽर्थतः । कुलसंख्यां न गच्छन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥५॥
वृत्ततस्त्वविहीनानि कुलान्यल्पधनान्यपि । कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ॥६॥
महाभा० उद्योगप० अ० ३६।२५-२८-२९॥
अकुलीनः कुलीनो वा मर्यादां यो न लंघयेत् । धर्मापेक्षी मृदु र्दान्तः स कुलीनशतै र्वरः ॥७॥
तत्रैव० अ० ३६।४७॥
देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः । तां साध्वीं बिभृयान्नित्यं देवानां प्रियमाचरन् ॥८॥
प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः । तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥९॥
अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः । एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥१०॥
तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ । यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥११॥
मनु० अ० ६।६५-६६-१०१-१०२॥

अथ विवाह-दाम्पत्य-धर्मादि—वस्त्रालंकारसत्कारपूर्वक विद्यासदाचारवाले को स्वयं कन्या-देना रूप ब्राह्म, यज्ञ में अलंकृत कन्या को कर्म कर्ता के प्रति देना दैव, एक २ गऊ और बैल, या दो २ वर से लेकर, फिर उन के सहित वरके प्रति कन्या का दान रूप आर्ष, तुम दोनों साथ धर्म करो ऐसा कथन पूर्वक सत्कार सहित दान रूप प्राजापत्य, कन्या के पिता आदि के प्रति और कन्या के प्रति द्रव्य दे कर जो वर स्वयं कन्या को ग्रहण करे सो आसुर, कन्यावर की इच्छा से परस्पर संबन्धरूप गान्धर्व, मार पीट कर बलात् ग्रहण रूप राक्षस, सोई मतवाली के साथ संबन्ध रूप अधम अष्टम, ये विवाह के भेद हैं ॥ १ ॥ इन में पीछे के चार कुविवाहों से तथा अपनी क्रियाओं के अभाव, वेद के अनध्ययन, ब्राह्मण के असत्कार से श्रेष्ठ कुल भी हीनता को प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥ ब्राह्मादि चार विवाहों में ही क्रम से ब्रह्मतेज वाले शिष्ट सम्मत पुत्र होते हैं ॥३॥ यज्ञ को त्याग, कुविवाह, वेद का त्याग, धर्म के उल्लंघन से सत्कुल भी दुष्टकुल होते हैं ॥ ४ ॥ पुरुष धन से युक्त भी जो कुल यदि सच्चरित्र से हीन हो जाता है, तो वह सुकुल की गिनती में नहीं आता है ॥ ५ ॥ अल्पधन युक्त कुल भी यदि सच्चरित्र रहता है, तो कुल में गिनती पाता है, और महान् यश को प्राप्त करता है ॥ ६ ॥ अकुलीन वा कुलीन जो मनुष्य धर्म मर्यादा को नहीं त्यागता है, धर्माकांक्षी मृदु दान्त रहता है, वह कुलीन सैकड़ों से भी श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥ देव से दी हुई भार्या को पति पाता है अपनी इच्छा से नहीं, देवों का प्रिय करता हुवा उस साध्वी को पोषे ॥ ८ ॥ गर्भग्रहण के लिये स्त्री की और गर्भाधान के लिये पुरुष की सृष्टि की गई है, अतः पत्नी के साथ ही यज्ञादि साधारण धर्म श्रुति में कहा गया है ॥ ९ ॥ स्त्री और पुरुष का मरण पर्यन्त धर्म अर्थ और काम में परस्पर अव्यभिचार (अपृथक्ता) होना चाहिये, यही संक्षेप से जानने योग्य इन का परम धर्म है ॥ १० ॥ इस लिये कृतक्रिय

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च । यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥१२॥

मनु० अ० ३।६०॥

सम्यग् धर्मार्थकामेषु दम्पतीभ्यामहर्निशम् । एकचित्ततया भाव्यं समानव्रतवृत्तितः ॥१३॥

इत्यूनविंशविवाहदाम्पत्यधर्मादिप्रकरणं समाप्तम् । व्यासस्मृ० अ० २।१७॥

कन्यादानविक्रयचर्चा ॥ २० ॥

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च । अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥१॥

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि । न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥२॥

मनु० अ० ६।८८-८६ ॥

आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददत् । शुल्कं हि गृह्णन् कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥३॥

एतत्तु न परे चक्रु र्नापरे जातु साधवः । यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते ॥४॥

नानुशुश्रुम जात्वेतत्पूर्वेष्वपि हि जन्मसु । शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥५॥

मनु० अ० ६।६८-१०० ॥

उद्वाहिता तु या कन्या न च प्राप्ता तु मैथुनम् । पुनरभ्येति भर्त्तारं यथा कन्या तथैव सा ॥६॥

समाक्षिप्य मतां कन्यां पिता त्वक्षतयोनिकाम् । कुलशीलवते दद्यान्न स्याद्दोषः खगाधिप ! ॥७॥

भविष्यपु० ब्राह्मखं० अ० १८२।४६-५० ॥

शुल्केन दत्त्वा कन्यां च घोरं नरकमाप्नुयात् । बहुन्यब्दसहस्राणि तथा अशुचिभुङ् नरः ॥८॥

भविष्यपु० उत्तरप० अ० १४८।५ ॥

(विवाहित) स्त्री पुरुष को सदा ऐसा यत्न करना चाहिये कि जिससे वे दोनों परस्पर धर्मादि में मरणान्तक वियुक्त नहीं हों ॥ ११ ॥ जिस कुल में स्त्री से पति सन्तुष्ट रहता है, और पति से स्त्री सन्तुष्ट रहती हैं, उस कुल में अवश्य सदा कल्याण रहता है, अन्यथा नहीं ॥ १२ ॥ इसलिये ही धर्मार्थ काम में रात दिन सदा ही समान (तुल्य) व्रत (नियम) और वृत्ति द्वारा स्त्री पुरुष को एक चित्त होकर रहना चाहिये ॥ १३ ॥ उन्नीसवां विवाहदाम्पत्यधर्मादिप्रकरण समाप्त ।

अथ कन्यादानविक्रयचर्चा—उत्कृष्ट अभिरूप (सजाति) वर के प्रति या सदृश के प्रति ऋतु आदि को अप्राप्त कन्या का विधिपूर्वक दान करे ॥ १ ॥ ऋतु को प्राप्त भी कन्या यथेष्ट अपने घर में रहे, परन्तु इसका गुण हीन अयोग्य के प्रति दान नहीं दे ॥ २ ॥ लड़की को देता हुवा अज्ञ शूद्र भी शुल्क (वरका द्रव्य) नहीं ग्रहण करे, शुल्क लेने वाला गुप्तरूप से पुत्री का विक्रय करता है ॥ ३ ॥ प्रथम के वा अब के साधु (सज्जन) यह कभी न किये न करते है कि कन्यादान के लिये अन्य के प्रति प्रतिज्ञा करके शुल्क लोभादि वश किसी अन्य को कन्या दी जाय ॥ ४ ॥ पूर्व जन्म (कल्प) में भी यह कभी नहीं सुना गया है कि शुल्ल संज्ञक मूल्य से गुप्त रूप से पुत्री वेंची जाय ॥ ५ ॥ जो कन्या विवाहित हुई हो परन्तु पति सम्बन्ध के बिना विधवा हो गई हो वह कन्या तुल्य ही है, इससे फिर पति को प्राप्त करती है ॥ ६ ॥ हे गरुड़ ! कन्या का पिता अक्षतयोनिका कन्या मानी गई उस पुत्री को लेकर कुलशील वाले वर को दे इसमें दोष नहीं है ॥ ७ ॥ शुल्क द्वारा कन्या देकर तो भयंकर

यः कन्यापालनं कृत्वा करोति यदि विक्रयम् । विक्रेता धनलोभेन कुम्भीपाकं स गच्छति ॥९॥
कन्यामूत्रं पुरीषं च तत्र भक्षति पातकी । कृमिभिः दंशितः काकैर्यावदिन्द्राश्चतुर्दश ॥१०॥
देवीभा० स्क० ६।१८।८६-८७ ॥

यो मनुष्यः स्वकं पुत्रं विक्रीय धनमिच्छति । कन्यां वा जीवितार्थाय यः शुल्केन प्रयच्छति ॥११॥
सप्तावरे महाघोरे निरये कालसाह्वये । स्वेदं मूत्रं पुरीषं च तस्मिन् मूढः समश्नुते ॥१२॥
महाभा० अनुशासनप० अ० ४५।१८-१९ ॥

अल्पेनापि शुल्केन पिता कन्यां ददाति यः । रौरवे बहुवर्षाणि पुरीषं मूत्रमश्नुते ॥१३॥
आपस्तम्बस्मृ० अ० ६।२५ ॥

सर्वेभ्यः पातकी तात ! कन्याविक्रयकारकः । मूल्यं गृहीत्वा यो दद्यात्स महारौरवं व्रजेत् ॥१४॥
कन्यालोमप्रमाणान्तं वर्षं च पितृभिः सह । कुम्भीपाके पच्यते च पुत्रश्चापि पुरोहितः ॥१५॥
ब्रह्मवैवर्त्तपु० कृष्णजन्मखं० उ० अ० ८३।६५-६६ ॥

आत्मजां रूपसम्पन्नां महतीं सदृशे वरे । न प्रयच्छति यः कन्यां तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥१६॥
महाभा० अनुशासनप० अ० २४।९ ॥

कन्याविक्रयिणो नास्ति नरकान्निष्कृतिः पुनः । कन्यादानकृतो नास्ति स्वर्गादागमनं पुनः ॥१७॥
कन्याविक्रयिणो ब्रह्मन्न पश्येद्वदनं बुधः । दृष्ट्वा चाज्ञानतो वापि कुर्यान्मार्तण्डदर्शनम् ॥१८॥
पद्मपु० ब्रह्मखं० अ० २४।२३-२७ ॥

स्वकन्यापालनं कृत्वा विक्रीणाति हि यो नरः । अर्थलोभान्महामूढो मांसकुण्डं प्रयाति सः ॥१९॥
कन्यालोमप्रमाणाब्दं तद्भोजी तत्र तिष्ठति । तं च कुण्डे प्रहारं च करोति यमकिङ्करः ॥२०॥

नरक में प्राप्त होता है, तथा वह मनुष्य बहुत सहस्र वर्षों तक अशुचिभोक्ता शूकरादि होता है ॥ ८ ॥ जो कन्या का पालन करके यदि किसी कन्या को बेंचने वाला धन के लोभ से बेंचता है तो वह कुम्भीपाक-नामक नरक में जाता है ॥ ९ ॥ और वह पापी वहाँ कन्या का मल मूत्र खाता है, चौदह इन्द्र के राज्य तक कृमि काक से दंशित भक्षित होता है ॥ १० ॥ जो मनुष्य अपने पुत्र को बेंच कर धन चाहता है, या जीवन के लिये शुल्क से कन्या देता है ॥ ११ ॥ सो मूढ 'सप्तावरे' (सात हीन स्थान वाले) महाभयंकर, कालसाह्व (कालसूत्र नामक) नरक में जाता है, और वहाँ स्वेदादि खाता है ॥ ११ ॥ जो पिता अल्प शुल्क से भी कन्या देता है, सो रौरव नरक में बहुत वर्ष तक मल मूत्र खाता है ॥ १३ ॥ हे तात ! सब से अधिक पापी कन्या बेंचने वाला होता है, जो दाम ले कर कन्या देता है, सो महा रौरव नरक में जाता है ॥ १४ ॥ कन्या के लोम-(रोम) प्रमाण वर्ष तक अनुमति दाता, पिता, पुत्र, पुरोहित के सहित कुम्भीपाक में पकता है ॥ १५ ॥ रूप सम्पन्न श्रेष्ठ अपनी कन्या को सदृश श्रेष्ठ वर के रहते जो दान नहीं करता उसे ब्रह्मघाती समझना चाहिये ॥ १६ ॥ कन्याविक्रेता को फिर नरक से शीघ्र निस्तार नहीं है, कन्यादाता को स्वर्ग से फिर शीघ्र आगमन नहीं है ॥ १७ ॥ कन्याविक्रेता के मुख को पण्डित नहीं देखे, अज्ञान से देखने पर सूर्य का दर्शन रूप प्रायश्चित्त करे ॥१८॥ अपनी कन्या का पालन करके जो मूढ मनुष्य धन के लोभ से बेंचता है, वह महामूढ मांसकुंड में प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ और कन्या के लोम प्रमाण वर्षतक मांसभोजी

मांसभारं मूर्ध्नि कृत्वा रक्तधारां लिहेत क्षुधा । ततो हि भारते पापी कन्याविट्सु कृमिर्भवेत् ॥२१॥
षष्टिवर्षसहस्राणि व्याधश्च सप्तयोनिषु । त्रिजन्मनि वराहश्च कुक्कुरः सप्तजन्मसु ॥२२॥
सप्तजन्मसु काकश्च ततः शुद्धिं लभेद् ध्रुवम् ॥२३॥ ब्रह्मवैवर्त्तपु० प्रभासखं० अ० ३०।३३-३७ ॥
अपत्यविक्रयात् कल्पं वसेत् विट्कृमिभोजने । अतो नाण्वपि कन्याया उपजीव्यं नरैर्धनम् ॥२४॥
स्कन्दपु० ब्रह्मखं० धर्मारण्यमा० २। अ० ६।३९ ॥
अलंकृत्य तु यः कन्यां वराय सदृशाय वै । ब्राह्मेण तु विवाहेन दद्यात्तां तु सुपूजिताम् ॥२५॥
स कन्यायाः प्रदानेन श्रेयो विन्दति पुष्कलम् । साधुवादं स वै सद्भिः कीर्त्तिं प्राप्नोति पुष्कलाम् ॥२६॥
ज्योतिष्टोमातिरात्राणां शतं शतगुणीकृतम् । प्राप्नोति पुरुषो दत्त्वा होममन्त्रैश्च संस्कृताम् ॥२७॥
तां दत्त्वा तु पिता कन्यां भूषणाच्छादनाशनैः । पूजयन् स्वर्गमाप्नोति नित्यमुत्सववृद्धिषु ॥२८॥
संवर्तस्मृ० ६१-६४ ॥
दशपुत्रसमा कन्या दशपुत्रान् प्रवर्द्धयन् । यत्फलं लभते मर्त्यस्तल्लभ्यं कन्ययैकया ॥२९॥
स्कन्दपु० माहेश्वर खं० २-२ अ० २४।४६ ॥
सर्वेषामेवदानानां कन्यादानं विशिष्यते । सहस्रमेव धेनूनां शतं चानडुहां समम् ॥३०॥
स्कन्दपु० वैष्णव खं० कार्तिकमा० अ० २।१२ ॥

इति कन्यादानविक्रयचर्चाविंशतितमप्रकरणं समाप्तम् ।

होकर उस कुण्ड में रहता है वहाँ रहते हुये उसे देखकर यमदूत मारते हैं ॥ २० ॥ मांस के भार को शिर पर धर कर स्थिर होता है, मांस के रक्त धारा को भूख से चाटता है, उसके बाद वह पापी भारत में साठ हजार वर्ष तक कृमि होता है, फिर सातयोनियों में व्याध होता है, तीन जन्म में शूकर होता है, फिर सात जन्म में कुत्ता होता है सात जन्म में काक होता है, तब उस पाप से शुद्धि पाता है अवश्य ॥ २१-२३ ॥ अपत्य (पुत्र पुत्री) के विक्रय से विट्कृमि के भोजन में वसता है, इससे कन्या का अणु मात्र धन भी मनुष्यों को नहीं भोगना चाहिये ॥ २४ ॥ जो मनुष्य ब्राह्म विवाह द्वारा सदृश वर के प्रति भूषण वस्त्र से कन्या को अलंकृत करके दान मान से सुपूजित उस कन्या का दान करता है ॥ २५ ॥ सो कन्या के प्रदान से पुष्कल (बहुत) श्रेय (शुभ) को प्राप्त करता है, और सत पुरुषों से साधुवाद (धन्यवाद) और पुष्कल कीर्ति पाता है ॥ २६ ॥ ज्योतिष्टोम और अतिरात्र नामक यज्ञों के शत (सौ) शतगुण करने पर जो फल होता है, सो फल होममन्त्रों द्वारा संस्कृत कन्या के दान से पुरुष पाता है ॥ २७ ॥ पिता उस कन्या का दान करने पर भी उत्सव और वृद्धि काल में भूषण वस्त्र और भोजन द्वारा उस कन्या का सदा पूजन (सत्कार) करता हुवा स्वर्ग पाता है ॥ २८ ॥ एक कन्या दशपुत्र के तुल्य है, इससे दश पुत्र के पोषण प्रवर्द्धन में मनुष्य जो फल पाता है, सो फल एक कन्या के पोषणादि से मिलता है ॥ २९ ॥ सब दानों में कन्या दान ही श्रेष्ठ है, हजार धेनु और सौ बैल के दान के तुल्य एक कन्या का दान है ॥ ३० ॥ बीसवां कन्यादानविक्रयचर्चाप्रकरण समाप्त ।

अभिवादनतदभावादि ॥ २१ ॥

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति । प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥१॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः । चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥२॥
यो न वेत्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम् । नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥३॥
मनु० अ० २।१२०–२१–२६ ॥

अभिवादयेत वृद्धान् दद्याच्चैवासनं स्वयम् । कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥४॥
मनु० अ० ४।१५४ ॥

अभिवादे कृते यस्तु न करोत्यभिवादनम् । आशीर्वा कुरुशार्दूल ! स याति नरकं ध्रुवम् ॥५॥
अभीति भगवान् विष्णु र्वादयामीति शंकरः । द्वावेव पूजितौ तेन यः करोत्यभिवादनम् ॥६॥
भविष्यपु० ब्राह्मप० अ० ४।५६–५७ ॥

अभिवादं न कुर्वीत तदयोग्यं नरं प्रति । अयोग्ये च तथा देशे काले चैवं क्रियादिषु ॥७॥ तथाहि—
नास्तिकं भिन्नमर्यादं पुत्रहीनं जडं खलम् । स्तेयिनं कितवं चैव कदाचिन्नाभिवादयेत् ॥८॥
पाषण्डं पतितं व्रात्यं वेदविक्रयिणं तथा । कृतघ्नं पापनिरतं कदाचिन्नाभिवादेत् ॥९॥
तथा स्नानं प्रकुर्वन्तं समित्पुष्पकरं तथा । उदपात्रधरं चैव भुञ्जानं नाभिवादयेत् ॥१०॥
वन्ध्यां च पुष्पिणीं जारां सूतिकां गर्भपातिनीम् । व्रतघ्नीं च तथा चण्डीं कदाचिन्नाभिवादयेत् ॥११॥

अथ अभिवादनतदभावादि—अवस्था जाति विद्या धर्म ज्ञानादि वृद्ध के आते समय मानो युवा (अल्पावस्था आदि वाले) के प्राण ऊपर निकलते हैं, तो प्रत्युत्थान (आसन छोड़ कर सामने खड़े होने) और अभिवादन (स्तुति नमस्कार) से फिर उन प्राणों को सुस्थ प्राप्त करता है ॥ १ ॥ उठ कर अभिवादन के सदा स्वभाव वाले और वृद्ध की सेवा करने वाले की आयु विद्या यश बल ये चारों बढ़ते हैं ॥ २ ॥ परन्तु यो विप्र अभिवादन के प्रत्यभिवादन की रीति को नहीं जानता हो सो विद्वान् से अभिवादन के योग्य नहीं है, वह अज्ञ शूद्र के समान है ॥ ३ ॥ वृद्ध गुरु आदि की अभिवन्दना करे और स्वयं आसन दे, अञ्जलि जोड़ कर पास में खड़ा हो, जाते हुए के पीछे चले ॥ ४ ॥ अभिवादन करने पर जो अभिवादन नहीं करता, वा आशीर्वाद भी नहीं करता, हे कुरुकुल श्रेष्ठ ! वह अवश्य नरकगामी होता है ॥ ५ ॥ अभि, यह शब्द भगवान् विष्णु का वाचक है, और वादयामि यह शंकर का बोधक है, ये दोनों उससे पूजित होते हैं, कि जो अभिवादन करता है । अभिवादन का स्वरूप विधि आदि मनुस्मृति आदि से और व्याकरण से जानने योग्य है ॥६॥ अभिवादन के अयोग्य नरनारी के प्रति अभिवादन नहीं करना चाहिये, तथा अयोग्य देश काल क्रिया में वर्तमान योग्य के प्रति भी अभिवादन नहीं करना चाहिये, सो आगे कहा जाता है ॥ ७ ॥ परलोक गुरु आदि में श्रद्धा विश्वासादि रहित नास्तिक, न्याय्य-धर्म मार्ग की स्थिति का नाशक, पुत्र रहित गृहस्थ, जड़ (अज्ञ) खल (दुर्जन-पिशुन) चोर, जुआरी, इन को कभी अभिवादन नहीं करे ॥ ८ ॥ पापदायक पाखंडी, स्वधर्म से पतित, शुभ संस्कार रहित व्रात्य, वेद विद्या विक्रेता, कृतघ्न पाप परायण को कभी अभिवादन नहीं करे ॥ ९ ॥ स्नान करते हुए, हाथ में लकड़ी या पुष्पधारी, जल पात्र धारी और भोजन करते हुये को अभिवादन नहीं करे ॥ १० ॥ वन्ध्या, रजो दर्शनयुक्ता, जारवती, सूतिका, गर्भपातिनी, पातिव्रत नाशक, और क्रूरा को कभी नहीं वन्दना

विवादशालिनं चण्डं वमन्तं जनमध्यगम् । भिक्षान्नधारिणं चैव शयानं नाभिवादयेत् ॥१२॥
सभायां यज्ञशालायां देवताऽऽयतनेष्वपि । प्रत्येकं तु नमस्कारो हन्ति पुण्यं पुराकृतम् ॥१३॥
श्राद्धव्रते नियुक्तं च देवताऽभ्यर्चकं तथा । यज्ञं च तर्पणं चैव कुर्वन्तं नाभिवादयेत् ॥१४॥
कुर्वते वन्दनं यस्तु न कुर्यात्प्रतिवन्दनम् । नाभिवाद्यः स विज्ञेयो यथा शूद्रस्तथैव सः ॥१५॥
स्कन्दपु० वंकटाचमा० अ० २२ ॥

इत्यभिवादनतदभावाद्येकविंशतितमप्रकरणं समाप्तम् ।

श्रेष्ठताक्रमः ॥ २२ ॥

श्रेष्ठतां क्रमशो ज्ञात्वा स्वकीयां च मतिं स्वयम् । शोधयेन्मोक्षलाभाय भावयेच्च हरिं समम् ॥१॥ तथाहि—
स्थावराः कृमयोऽब्जाश्च पक्षिणः पशवो नराः । क्रमेण धार्मिकास्त्वेते ह्येतेभ्यो धार्मिकाः सुराः ॥२॥
सहस्रभागः प्रथमाद् द्वितीयोऽनुक्रमात्तथा । सर्व एते महाभागा यावन्मुक्तिसमाश्रयाः ॥३॥
चतुर्णामपि भूतानां प्राणिनोऽतीव चोत्तमाः । प्राणिभ्योऽपि मुनिश्रेष्ठाः सर्वे बुद्ध्युपजीविनः ॥४॥
मतिमद्भ्यो नराः श्रेष्ठास्तेभ्यः श्रेष्ठास्तु ब्राह्मणाः । विप्रेभ्योपि च विद्वांसो विद्वद्भ्यः कृतबुद्धयः ॥५॥
कृतधीभ्यो हि कर्त्तारः कर्तृभ्यो ब्रह्मतत्पराः । न तेषामर्चनीयोऽन्यन्त्रिषु लोकेषु कुम्भज ! ॥६॥
अन्योऽन्यमर्चकास्ते वै तपो विद्याऽविशेषतः ॥ ७ ॥ स्कन्दपु० काशीखं० अ० ३५॥
भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः । बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥८॥
ब्राह्मणेषु तु विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः । कृतबुद्धिषु कर्त्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥९॥ मनु०अ०१।९६-९७॥

करे ॥ ११ ॥ विवाद कर्त्ता, वमन कर्त्ता, बहुजनमध्यगत, भिक्षान्नधारी, सोये को वन्दना न करे ॥ १२ ॥ सभा यज्ञशाला देव गृहों में प्रत्येक को नमस्कार करने से पूर्व के पुण्य नष्ट होते हैं, इससे समूह को एक वार प्रणाम करना चाहिये ॥ १३ ॥ श्राद्ध व्रत में प्रवृत्त, देवपूजक, यज्ञ वा तर्पण कर्ता को उस समय नहीं अभिवादन करे ॥ १४ ॥ वन्दना करने वाले के लिये, जो प्रतिवन्दन नहीं करता, उसको भी अभिवादन योग्य नहीं जानना चाहिये, वह शूद्र के समान ही है ॥ १५ ॥ इक्कीसवाँ अभिवादन-तदभावप्रकरण समाप्त ।

अथ श्रेष्ठताक्रम—श्रेष्ठता को क्रम से जान कर, अपनी बुद्धि को आप ही मोक्ष की प्राप्ति के लिये शुद्ध करे, और सर्वत्र सब के लिये समान हरि की भावना ध्यानादि करे ॥ १ ॥ स्थावरादि क्रम से धार्मिक हैं, और इन से देव धार्मिक हैं ॥ २ ॥ अनुक्रम से प्रथम २ से आगे २ हजार के गुना श्रेष्ठ हैं, जो जितने मुक्ति के समीप हैं, सो सब उतना ही महाभागा वाले हैं ॥३॥ चार प्रकार के भूत (जीवजन्तु) में प्रकट प्राणधारी अत्यन्त उत्तम हैं, प्राणियों में भी हिताहित देशादि के ज्ञानवाले बुद्धिजीवी पशु पक्षी श्रेष्ठ हैं, उनमें मनुष्य श्रेष्ठ हैं, मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, उनमें विद्वान् और विद्वानों में कर्तव्य के निश्चित बुद्धि वाले, उनमें भी कर्तव्यों के कर्त्ता, उनमें भी ब्रह्मपरायण श्रेष्ठ हैं, हे कुम्भज ! उन ब्रह्मपरायणों से अन्य कोई तत्त्व ज्ञातव्य वा अर्चनीय पदार्थ नहीं है । वे लोग तपोविद्या में तुल्य होने से परस्पर पूजक होते हैं ॥ ४–७ ॥ स्थावर जंगम में प्राणी स्थावर से श्रेष्ठ हैं, इत्यादि पूर्ववत् अर्थ है ॥ ८–९ ॥

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः । वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥१०॥
मनु० अ० २।१५५॥

स्थावराः कृमयोऽब्जाश्च पक्षिणः पशवो नराः । धार्मिकास्त्रिदशास्तद्वन्मोक्षिणश्च यथाक्रमम् ॥११॥
विष्णुपु० अंश० २ अ० ६।३४॥

भूतेषु विरुद्भ्य उद्भुत्तमा ये सरीसृपास्तेषु सबोधनिष्ठाः ।
ततो मनुष्याः प्रथमा ततोऽपि गन्धर्वसिद्धा विबुधानुगा ये ॥ १२ ॥
देवासुरेभ्यो मघवत्प्रधाना दक्षादयो ब्रह्मसुतास्तु तेषाम् ।
भवः परोऽसोऽथ विरिञ्चवीर्यः स मत्परोऽहं द्विजदेवदेवः ॥ १३ ॥
न ब्राह्मणैस्तुलये भूतमन्यत्पश्यामि विप्राः ! किमतः परं तु ।
यस्मिन्नृभिः प्रहुतं श्रद्धयाऽहमश्नामि कामं न तथाग्निहोत्रे ॥ १४ ॥
धृता तनुरुशती मे पुराणी येनेह सत्त्वं परमं पवित्रम् ।
शमो दमः सत्यमनुग्रहश्च तपस्तितिक्षाऽनुभवश्च यत्र ॥ १५ ॥
मत्तोऽप्यनन्तात्परतः परस्मात्स्वर्गापवर्गाधिपते र्न किञ्चित् ।
येषां किमु स्यादितरेण तेषामकिञ्चनानां मयि भक्तिभाजाम् ॥ १६ ॥भागवत० स्क०५।५।२१-२५॥

जन्तूनां नरजन्मदुर्लभमतः पुंस्त्वं ततो विप्रता, तस्माद्वैदिकधर्ममार्गपरता विद्वत्वमस्मात्परम् ।
आत्मानात्मविवेचनं स्वनुभवो ब्रह्मात्मना संस्थिति, र्मुक्ति र्नो शतकोटिजन्मसु कृतैः पुण्यैर्विना लभ्यते १७
इति श्रेष्ठताक्रमनामकं द्वाविंशतितमप्रकरणं समाप्तम् ।   विवेकचूडाम० ॥

ब्राह्मणों की ज्ञान से क्षत्रियों की वीर्य से वैश्यों की धनधान्य से शूद्रों की जन्म कृत अवस्था से श्रेष्ठता होती है ॥ १० ॥ स्थावर, कृमि, जलज, पक्षी, पशु, मनुष्य, देव, मोक्षभागी, क्रम से धार्मिक हैं ॥ ११ ॥ भूतों में स्थावर वृक्षादि से सरीसृप (जंगम) श्रेष्ठ अति उत्तम हैं। उन में बोध सहित स्थितिवाले पशु आदि श्रेष्ठ हैं, उन से मनुष्य, मनुष्यों से प्रथम (भूतादि) उन से गन्धर्व, गन्धर्वों से सिद्ध, सिद्धों से देवानुचर किन्नरादि, उन से असुर, असुरों से देव, देव से, देवों में इन्द्र, इन्द्र से ब्रह्मपुत्रदक्षादि, उन में भव (शिव) वह भव ब्रह्मवीर्यजन्य है, इससे ब्रह्मा उन से श्रेष्ठ है, सो ब्रह्मा मत्परायण (भगवद्भक्त) हैं, मैं (भगवान्) द्विजदेव (ब्राह्मण) देव (पूज्य) वाला हूँ, इसलिये हे विप्र ! ब्राह्मणों के तुल्य अन्य प्राणी को नहीं देखता हूँ, इन से अधिक तो क्या देखूँगा, जिस ब्राह्मण में श्रद्धा से हुत अन्नादि (मनुष्यों से अर्पित भोजन) को मैं यथेष्ट भोजन करता हूँ वैसे अग्निहोत्र में भी नहीं करता हूँ। और जिस ब्राह्मण से पुराणी वेदमयी मेरी पूज्य तनु धृत हैं, तथा सत्त्वादि परम पवित्र आठ गुण जिस में हैं, और जिसको मुझ अनन्त पर से पर स्वर्गापवर्ग के अधिपति से भी कुछ नहीं अपेक्षित है, उस अकिञ्चन मेरे में भक्तियुक्त को अन्य से क्या जरूरत है ॥ १२-१६ ॥ जन्तुओं में मनुष्य जन्म दुर्लभ है, उसमें पुरुषता, तिसमें विप्रता, तिससे वैदिक धर्म मार्ग परायणता, तिससे विद्वानपन, तिससे आत्म अनात्म की विवेकिता, उससे स्वस्वरूप का अनुभव, उससे भी ब्रह्म स्वरूप से स्थिति श्रेष्ठ है, वही जीवन्मुक्ति है, सो सौ करोड़ जन्म में किये गये पुण्यों के बिना नहीं मिलती है ॥ १७ ॥ बाईसवां श्रेष्ठताक्रम प्रकरण समाप्त ।

अधर्मस्तन्निवृत्तिश्च ॥ २३ ॥

अधर्मो धर्मवज्ज्ञेयः कायिको वाचिकस्तथा । मानसश्च कृतस्तद्वदनुमोदितकारितौ ॥१॥
परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसाऽनिष्टचिन्तनम् । वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥२॥
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यश्चापि सर्वशः । असम्बन्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥३॥
अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः । परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥४॥
मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम् । वाचा वाचाकृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥५॥
शरीरजैः कर्मदोषै र्याति स्थावरतां नरः । वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥६॥
शुभैः प्रयोगै र्देवत्वं व्यामिश्रै र्मानवो भवेत् । अशुभैः केवलैश्चैव तिर्यग्योनिषु जायते ॥७॥
मनु० अ० १२।५-१० ॥
त्रिविधं च शरीरेण वाचा चैव चतुर्विधम् । मनसा त्रिविधं कर्मदशाधर्मपथं त्यजेत् ॥८॥ मनु०
प्रवर्त्तकोऽत्र यः पापे जन्तु र्नारी नरोऽपि वा । तस्य स्यादधिकं दुःखं प्रवर्त्यस्य तथा न तत् ॥९॥
उभयोरागतः सङ्गे समं दुःखमुदाहृतम् । अज्ञानाच्च बलात्प्रायः कर्त्तु रेव परस्य न ॥१०॥
नारी वापि नरो वापि ग्राम्यधर्मं बलाद्यदि । प्राप्नुयान्न भवेत्पापं दुर्बलस्येच्छया विना ॥११॥
एवं बलात्कृते पापे प्रतिकारविवर्जिते । कर्त्तुः पापफलं नैव किन्तु कारयितु र्भवेत् ॥१२॥
मरणेन प्रतिकारो यद्यप्यत्र भवेत्सदा । निरुणद्धि यदा तच्च परः कर्त्तु स्तदा च न ॥१३॥
अपरे केचिदिच्छन्ति मरणं नात्मनः सदा । आत्महत्याधिकं पापं महापातककोटितः ॥१४॥

अथ अधर्म तन्निवृत्तिः—कायिकादि और कृत कारित अनुमोदित भेद युक्त धर्म के समान अधर्म भी जानने योग्य है ॥ १ ॥ अन्याय से परद्रव्य ग्रहण का विचार, अनिष्ट पाप का मन से चिन्तन, झूठ में आग्रह ये तीन प्रकार के मानस पाप हैं क्रूर, झूठ, चुगली, निष्प्रयोजन विवाद ये चार वचन के हैं। चोरी अविहित हिंसा व्यभिचार शरीर के पाप हैं। यह जीव मानस पुण्य पाप को मन से भोगता है, वचन कृत को वचन द्वारा भोगता है, शरीर जन्य को शरीर से भोगता है, शुभ कर्म से देव होता हैं, मिश्रित कर्म से मनुष्य और अशुभ से तिर्यग् योनि में जन्म लेता है ॥२-७॥ शरीर से होने वाले तीन वचन से चार मन से तीन ये दश अधर्म मार्गों को त्यागे धर्म मार्ग का ग्रहण करे जो कि अधर्म से विपरीत है ॥ ८ ॥ सातवाँ आठवाँ श्लोक सब मनुस्मृतियों में नहीं हैं, कहीं हैं। यहाँ व्यभिचारादि रूप पाप में जो नर वा नारी रूप जन्तु (प्राणी) प्रवृत्त कराने वाला होता है, उसको अधिक नरकादि जन्य दुःख होता है, प्रवृत्त होने वाले को वह दुःख वैसा नहीं होता है ॥ ९ ॥ दोनों को राग से पाप में सङ्ग होने पर तुल्य दुःख कहा गया है, अज्ञान और बल से पाप करने पर कर्ता को ही प्रायः दुःख होता है अन्य को नहीं ॥ १० ॥ नारी वा नर यदि बल से मैथुन रूप अधर्म को प्राप्त हो तो इच्छा बिना दुर्बल को पाप नहीं होता है ॥ ११ ॥ इसी प्रकार निवारण के उपाय रहित बल से किया गया किसी भी पाप में कर्ता को फल नहीं मिलता हैं किन्तु कराने वाले को मिलता है ॥ १२ ॥ यद्यपि इस पाप में प्राण त्याग से पाप का निवारण सदा हो सकता हैं, तो भी यदि वह पाप कराने वाला मरण से भी निरोध करता हो तो कर्ता को वह पाप नहीं है ॥ १३ ॥ अन्य

पापस्याकरणे यत्र मृत्युः स्यादात्मनो ध्रुवः । कर्त्तव्यं पातकं तत्र न कर्त्तव्यं कथञ्चन ॥१५॥
पापं न बलतः कर्त्तुः किन्तु कारयितु र्भवेत् । मरणे कर्त्तुरेव स्यान्न ह्यसौ कारयेदिदम् ॥१६॥
अकर्तव्यं न कर्त्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि । कर्तव्यमेव कर्त्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥१७॥
इत्यादिवचनं स्वस्य स्वाधीनकरणस्य तत् । नैतद्बलकृतौ यस्मान्मृतौ दोषोऽत्र विद्यते ॥१८॥
असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः । मृत्वा तानभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥१९॥
अज्ञानादि कृते पापे प्रायश्चित्तमुदाहृतम् । पाप्मनो विनिवृत्तस्य न प्रवृत्तस्य कर्हिचित् ॥२०॥
पापं कुर्वन् परं जन्तुः प्रायश्चित्तं करोति च । प्रायश्चित्तं तदा तस्य भवेत्कुञ्जरशौचवत् ॥२१॥

आत्मपु० अ० ६।१०-६४०। इत्यादि ॥

कृते पापेऽनुतापो वै यस्य पुंसः प्रजायते । प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम् ॥२२॥

ब्रह्मपु० अ० २०।३८॥

ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा । शौचं चैवात्मनः शुद्धिरिन्द्रियाणां च निग्रहः ॥
एतै र्विवर्द्धते तेजः पाप्मानं चापकर्षति ॥ २३ ॥ ब्रह्मपु० अ० १२८।४६॥

गुरुतल्पं हि गुर्वर्थं न दूषयति मानवम् । उद्दालकः श्वेतकेतुं जनयामास शिष्यतः ॥२४॥
स्तेयं कुर्वंश्च गुर्वर्थमापत्सु न निषिध्यते । बहुशः कामकारेण न चेद्यः संप्रवर्त्तते ॥२५॥

महाभा० शान्तिप० अ० ३४।२२-२३॥

कोई मानते हैं कि अपने आप कभी मरना नहीं चाहिये क्यों कि करोड़ों महापातक से भी आत्महत्या भारी पाप रूप है ॥ १४ ॥ इससे जहाँ पाप नहीं करने पर अपनी मृत्यु अवश्य हो, वहाँ किसी प्रकार भी नहीं करने योग्य पाप भी कर्तव्य है ॥ १५ ॥ क्योंकि बलात्कार से कराया गया पाप कर्त्ता को नहीं होता किन्तु कराने वाले को होता है, और मरण में आत्महत्या पापकर्ता ही को होगी, क्योंकि वह पाप दूसरा नहीं करवाता है ॥ १६ ॥ कण्ठगतप्राण से मरण काल में भी अकर्तव्य नहीं करना किन्तु कर्तव्य ही करना, इत्यादि वचन तो जिसका अपना कर्तव्य अपने अधीन है उसके लिये है, यह वचन बल से किये गये कर्म के लिये नहीं है, और जिससे मृत्यु में यहाँ वेद वचन से दोष भी है ॥ १७-१८ ॥ वेद का कहना है कि अन्धतम अज्ञान से आवृत्त असुरसम्बन्धी वे कीट पतंगादियोनिरूप लोक हैं, जो कोई आत्मघातीजन हैं, सो मर कर उन लोकों में जाते हैं ॥ १९ ॥ अज्ञानादि से किये गये पापों की निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त कर्म उसके लिये कहा गया है, जो कि अब पाप से निवृत्त हो चुका है, पाप में प्रवृत्त के लिये यह बात कभी नहीं है ॥ २० ॥ जो प्राणी अन्य पापों को करता हुवा पूर्वकृत पाप की निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त करता है, तो उसका प्रायश्चित्त कुञ्जर (गज) स्नान के समान होता है ॥ २१ ॥ पाप करने पर जिसको पश्चात्ताप होता है, उसके लिये तो सर्वात्मा हरि का सम्यक् स्मरण ही उत्तम प्रायश्चित्त है ॥ २२ ॥ ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, पाप कर्म से लज्जा, नम्रता, क्षमा, शौच, मन की शुद्धि, इन्द्रियों का निग्रह, इन नव साधनों से तेज बढ़ता है, और पाप को नष्ट करता है ॥ २३ ॥ गुरु की आज्ञा के अनुसार गुरु के हित के लिये गुरु तल्प (शय्या भार्या) मनुष्य को दोष युक्त नहीं करता है, इसीसे उद्दालक ने अपने शिष्य द्वारा श्वेतकेतु को पैदा किया ॥ २४ ॥ आपत्ति काल में गुरु के लिये चोरी

परस्त्रीद्रव्यसंकल्पश्चेतसाऽनिष्टचिन्तनम् । अकार्याभिनिवेशश्च चतुर्धा कर्ममानसम् ॥२६॥
अनिबद्धप्रलापित्वमसत्यश्चाप्रियं च यत् । परापवादपैशुन्यं चतुर्धा कर्म वाचिकम् ॥२७॥
अभक्ष्यभक्षणं हिंसा मिथ्याकामस्य सेवनम् । परस्वानामुपादानं चतुर्धा कर्म कायिकम् ॥२८॥
स्कन्दपु० माहेश्वरखं १-२। अ० ४१।१८-२०॥

इति त्रयोविंशतितमाधर्मतन्निवृत्तिप्रकरणं समाप्तम् ।

अथ व्यसनानि ॥ २४ ॥

व्यसनं व्यस्यति श्वभ्रे संनाशयति सर्वथा । ततस्तत्परितो बुद्ध्वा त्याज्यमेव सुखेच्छुभिः ॥१॥
व्यसनं मृत्युतो घोरं मृत्यु र्हन्ति कलेवरम् । व्यसनं सर्वधर्मादिसहितं देहिनं तनुम् ॥२॥ तानि च-
दश कामसमुत्थानि तथाऽष्टौ क्रोधजानि च । व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥३॥
मृगयाक्षो दिवा स्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः । तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥४॥
पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयाऽर्थदूषणम् । वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोष्टकः ॥५॥
द्वयोरप्येतयो र्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः । तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥६॥
पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् । एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥७॥

करने वाले का भी निषेध नहीं किया गया है, यदि वह इच्छा करके बहुत बार चोरी में नहीं प्रवृत्त होता है, तो निषेध नहीं है ॥ २५ ॥ अन्य के स्त्रीद्रव्य के लिये मन में संकल्प (विचार सम्यग् बुद्धि) करना, मन से अन्य के अहित का चिन्तन करना, अकार्य में अभिनिवेश करना, ये चार प्रकार के मानस पाप कर्म हैं ॥ २६ ॥ असम्बद्ध निरर्थक प्रलाप (विवाद) असत्यभाषण, अप्रिय भाषण, अन्य की निन्दा पिशुनता ये चार प्रकार के वाचनिक पाप कर्म हैं ॥ २७ ॥ अभक्ष्य का भक्षण, हिंसा, मिथ्या (अविहित) काम का सेवन, अन्य की वस्तु का ग्रहण (चोरी) चार प्रकार के कायिक पाप कर्म हैं ॥ २८ ॥ तेइसवां अधर्मतन्निवृत्ति प्रकरण समाप्त ।

अथ व्यसनः—व्यसन (काम क्रोध जन्य दोष) जीव को श्वभ्र (संसारविवर) में तपाता है, सर्वथा संनष्ट करता है, तिससे उसको सर्व तरफ से समझ कर सुखेच्छुक को त्यागना चाहिये ॥ १ ॥ व्यसन मृत्यु से भी भयंकर हैं, मृत्यु देह को नष्ट करता है, और व्यसन सब धर्मादि सहित देही तथा देह को कष्ट देते नष्ट करते हैं ॥ २ ॥ काम से उत्पन्न होने वाले दश और क्रोध-जन्य आठ व्यसन होते हैं जिन का अन्त नाश दुर्लभ है दुःख से होता है, उन्हें यत्न से त्यागे ॥ ३ ॥ मृगया शिकार, जुआ, दिन का शयन, परदोष कथन, स्त्री में आसक्ति, मद्यपान से मद, तौर्यत्रिक (नृत्यगान बाजा) व्यर्थ भ्रमण, ये दश परिमित गण सुखेच्छाजन्य हैं ॥ ४ ॥ पिशुनता, सज्जन का निग्रह, द्रोह (कपट अपकार) परगुणासहिष्णुता, परगुण में दोषारोपण, पर द्रव्य का दुरुपयोग, वाक् और दण्ड में क्रूरता क्रोध-जन्य ये आठ का समूह हैं ॥ ५ ॥ इन दोनों के मूल रूप जिस लोभ को कवि सब जानते हैं, उस लोभ को यत्न से जीते, उससे जन्य ये दो समूह होते हैं ॥ ६ ॥ कामजगण में मद्यपान, जुआ, स्त्री परायणता, शिकार इन चारों को क्रम से अत्यन्त कष्ट रूप जानना और त्यागना चाहिये ॥ ७ ॥ क्रोध जन्य गण में भी दण्डपातन

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे । क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं तथा ॥८॥
व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते । व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्व र्यात्यव्यसनी मृतः ॥९॥
मनुस्मृ० अ० ७।४५ इत्यादि ॥

अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ । द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः ॥१०॥
पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात्प्रभुः । ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरं च पञ्चमम् ॥११॥
अथैतानि न सेवेत बुभूषुः पुरुषः क्वचित् । विशेषतो धर्मशीलो राजा लोकपति गुरुः ॥१२॥
भागवत० स्क० १।१७।३८-३६-४१ ॥

कृमयः भस्म विष्ठा च यस्यावस्थेयमीदृशी । कथं कायस्य तस्यार्थे पापं वै कुरुते नरः ॥१३॥
योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया । स जीवंश्च मृतश्चैव न किञ्चित्सुखमेधते ॥१४॥
नापः पुनन्ति पापानि न शिला नापि चाश्रमाः । आत्मा पुनाति स्वात्मानं यदि पापान्निवर्त्तते ॥१५॥
इतिहाससमुच्चय० अ० ८ ॥

द्यूतो धनव्ययकरः पापभूतो महाखलः । व्यभिचारस्तथा चौर्यं निर्दयत्वमतो भवेत् ॥१६॥
भविष्यपु० प० ३।२११६ ॥

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्वचित् ।
ऋणवा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुपनक्तमेति ॥१७॥
ऋग्वेद० मं० १० अ० ३ सूक्त० ३४ वर्ग ४।१० ॥

(कठिनदण्ड) वाक् की क्रूरता, अर्थ का दूषण इन तीनों को अतिकष्ट रूप जान कर त्यागे ॥ ८ ॥ व्यसन और मृत्यु में व्यसन अति कष्ट (दुःख) रूप कहा जाता है, व्यसनी नीचे से नीचे नरकादि में जाता है, और व्यसन रहित मर कर स्वर्ग में जाता है ॥ ९ ॥ राजा परिक्षित् से पराजित कलि से प्रार्थित राजा ने फिर उस कलि के लिये द्यूत, मद्यपान, स्त्री, और सूना (प्राणिवध) ये चार प्रकार के अधर्म जहाँ हों वे स्थान दिये ॥ १० ॥ फिर स्थानान्तर मांगते हुए को राजा ने सुवर्ण स्थान दिया कि जिससे झूठ, मद, काम, रजोगुण जन्य हिंसा, और पञ्चम वैर होते हैं ॥११॥ अथ (अतः=इस हेतु से) अपनी स्थिति और वृद्धि चाहने वाला द्यूतादि (जुआ आदि) का सेवन कहीं नहीं करे, स्त्री और सुवर्ण की आसक्ति को त्यागे, और अन्य को सर्वथा त्यागे, विशेष रूप से धर्मशील राजा लोक के स्वामी गुरु इन को छोड़े ॥ १२ ॥ जिस देह की अवस्था अन्त में कृमि भस्म वा विष्ठा ऐसी होती है, उस के लिये कोई मनुष्य पाप कैसे करता है, यह अनुचित है ॥१३॥ जो अहिंसक प्राणी को अपने सुख की इच्छा से मारता है सो जीता हुवा वा मरने पर कुछ भी सुख नहीं पाता है ॥ १४ ॥ मनुष्य के पापों को न जल धोता है, न शिला नष्ट करती है, न आश्रम उनका नाशक हैं किन्तु आत्मा (जीव) ही अपने आत्मा को पवित्र करता है, यदि पापों को त्यागता है, उनसे निवृत्त होता है ॥ १५ ॥ जुआ धन को खर्च कराने वाला पापस्वरूप महाखल (अधम) है, इससे व्यभिचार, चोरी निर्दयता दोष होते हैं ॥ १६ ॥ कहीं विचरते हुए कितव (जुआरी) की जाया (स्त्री) हीना (उससे त्यक्त) होकर तपती (दुःखी होती) है, और कहीं घूमने वाले कितव पुत्र की उससे हीन (रहित) माता भी तपती है, तथा वह जुवारी ऋणवान् होकर सबसे डरता हुवा धन

अक्षै र्मादीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः ।
तत्र गावः कितव ! तत्र जाया तन्मे विचष्टे सविताऽयमर्यः ॥१८॥ ऋग्वेद०मं०१०।३ सू० ४ वर्ग ५।१३ ॥
द्यूतमेतत्पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं नृणाम् । तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥१९॥
मनु० अ० ९।२२७ ॥
नहीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते । यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥२०॥
मनु० अ० ४।१३४ ॥
परदारा न गन्तव्या सर्ववर्णेषु कर्हिचित् । नहीदृशमनायुष्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥२१॥
महाभा० अनुशास०प० १०४।२० ॥
मृगया पानमक्षाश्च ग्राम्ये चैवातिरक्तता । एतेषु हि नरः सक्तो धर्ममुत्सृज्य गच्छति ॥२२॥
महाभा० सभाप० अ० ६८।२० ॥
अनर्थकं विप्रवासं गृहेभ्यः पापैः सन्धि परदाराभिमर्शम् ।
दम्भं स्तैन्यं पिशुनं मद्यपानं न सेवेत यश्च सुखी सदैव ॥२३॥ महाभा० उद्योगप० अ० ३३।१०८॥
परदारोपभोगेन यत्पापं समुपार्जितम् । न तत्क्षालयितुं शक्यं प्रायश्चित्तशतैरपि ॥२४॥
शिवपु० शतरू० सं० अ० २७।३६ ॥
हरणं च परस्वानां परदाराभिमर्शनम् । सुहृदश्च परित्यागस्त्रयो दोषाः क्षयावहाः ॥२५॥
स्कन्दपु० माहेश्वरखं० १ कौ० खं० २ अ० ५।१०१ ॥
एकतश्चतुरो वेदा ब्रह्मचर्यं तथैकतः । एकतः सर्वपापानि मद्यपानं तथैकतः ॥२६॥
मद्यपस्य कुतः सत्यं दया मांसाशिनः कुतः । कामिनश्च कुतो विद्या निर्धनस्य कुतः सुखम् ॥२७॥

चाहता हुवा नक्त (रात्रि) के समय में अन्य के अस्त (गृह) में जाता है ॥ १७ ॥ इसलिये हे कितव ! मेरी बात को बहुत मानते हुए, इसमें विश्वास करते हुए, कृषी ही करो, प्रारब्धानुसार प्राप्त धन में रमो, सन्तोष करो, उस कृषि में गौ स्त्री आदि सब की प्राप्ति होगी सबको सुख होगा। तत् (इस धर्म रहस्य) को मुझे यह अर्य (ईश्वर) सविता (सूर्य) ने कहा है। यह अक्ष ऋषि की उक्ति है ॥ १८ ॥ यह द्यूत (जुआ) पूर्व कल्प में मनुष्यों के वैर का कारण देखा गया है, इससे बुद्धिमान् परिहास के लिये भी द्यूत का सेवन नहीं करे ॥ १९ ॥ और आयु का नाशक लोक में ऐसा अन्य कोई नहीं है कि जैसा यहाँ परस्त्री का सेवन है ॥ २० ॥ सब वर्णों में वर्तमान मनुष्य को कभी परदारा के प्रति गमन नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा आयु का अहित तीनों लोक में अन्य कुकर्म नहीं है ॥ २१ ॥ मृगबध, मद्यपान, जुआ, मैथुन, इनमें आसक्त मनुष्य धर्म को त्याग कर कुमार्ग में चलता है ॥ २२ ॥ निष्प्रयोजन घरों से अन्यत्र वास, पापियों से संबन्ध, परस्त्री का संग, दम्भ, चोरी, पिशुनता, मद्यपान को जो नहीं सेवता है, सो सदा ही सुखी रहता है ॥ २३ ॥ परस्त्री संग से जो पाप उपार्जित होता है, सो सैकड़ों प्रायश्चित्त कर्म से धोने योग्य नहीं होता है ॥ २४ ॥ परधन का हरण (चोरी) परस्त्री के साथ सम्बन्ध मित्र का त्याग ये तीनों दोष नाश के हेतु हैं ॥ २५ ॥ एक तरफ चार वेद हैं और एक तरफ ब्रह्मचर्य है, अर्थात् चार वेद के अध्ययन के तुल्य ब्रह्मचर्य है, तैसे ही सब पाप के तुल्य मद्यपान है ॥२६॥ मद्यप में सत्य कहाँ से हो सकता है ? मांसभोजी में दया कहाँ से ? कामी को विद्या कहाँ ? और निर्धन

चित्ते भ्रान्तिर्जायते मद्यपानाद् भ्रान्ते चित्ते पापचर्यामुपैति ।
पापं कृत्वा दुर्गतिं यान्ति मूढास्तस्मान्मद्यं नैव पेयं न पेयम् ॥२८॥
परदारा न गन्तव्या पुरुषेण विशेषतः । यतो भवन्ति दुःखानि नृणां नास्त्यत्र संशयः ॥२९॥
विषस्य विषयाणां च दृश्यते महदन्तरम् । उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि ॥३०॥ सुभा०र०भा०॥
द्यूतं मांसं सुरा वेश्या पापर्द्धिस्तेयवृत्तिता । परदाराभियोगश्च त्याज्यो धर्मधुरन्धरैः ॥३१॥
मोहादमूनि यः सप्त व्यसनान्यत्र सेवते । अपारे दुःखकान्तारे संसारे बंभ्रमीति सः ॥३२॥
अध्यात्मकल्पद्रुमे, जैनग्रन्थे ॥

द्यूतं च मद्यं पिशितं च वेश्या पापर्द्धि चौर्यं परदारसेवा ।
एतानि सप्त व्यसनानि लोके घोरातिघोरं नरकं नयन्ति ॥ ३३ ॥ सूक्ताव० ॥
विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशनास्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहंगताः ।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवास्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यस्तरेत्सागरम् ॥३४॥
भर्तृह० ॥
स्मृता भवति पापाय दृष्टा चोन्मादकारिणी । स्पृष्टा भवति मोहाय सा स्मर्तव्या न चक्षुषा ॥
द्रष्टव्या नैव च क्वापि स्पर्ष्टव्या न प्रमादतः ॥ ३५ ॥ इति चतुर्विंशतितमव्यसनप्रकरणं समाप्तम् ।

इति श्रीतत्त्वार्थमणिमालायां स्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्रसंगृहीतायां
वर्णाश्रमनामकं द्वितीयं काण्डं समाप्तम् ॥

(दरिद्र) को सुख कहाँ ? ॥२७॥ मद्य पीने से चित्त में भ्रान्ति (विपरीत ज्ञान) होता है, और भ्रमयुक्त चित्त में पापाचरण प्राप्त होता है, और मूढ मनुष्य पाप करके दुर्गति पाता है, अतः मद्य नहीं पीने योग्य है नहीं पीने योग्य है ॥ २८ ॥ और विशेष करके पुरुष को परस्त्री गमन नहीं कर्तव्य है, कि जिससे मनुष्य को दुःख होते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ २९ ॥ विष और विषयों का महान् भेद देखा जाता है कि खाया गया विष मारता है, और विषय स्मरण मात्र से भी मारते हैं, इससे इनका स्मरण भी नहीं करना चाहिये ॥ ३० ॥ जुआ, मांस, मद्य, वेश्या, पापर्द्धि (मृगया = शिकार) चोरी, परस्त्रीसंग, ये सात धर्मधुरन्धरों (धर्मनियमधारकों) से त्यागने योग्य हैं ॥ ३१ ॥ जो कोई मोह से इन सात व्यसनों का सेवन करता है सो अपार दुःख के जंगल रूप संसार में बार २ अतिशय भटकता है ॥ ३२ ॥ और जुआ, मद्य, मांस, वेश्या, मृगया, चोरी, परस्त्री सेवा, लोक में होने वाले ये सात व्यसन त्यागे बिना जीव को भयंकर से अति भयंकर नरक में प्राप्त कराते हैं, इससे ये अवश्य त्याज्य हैं ॥ ३३ ॥ वायु जल पत्र के भोजन करने वाले विश्वामित्र पराशरादि भी स्त्री के सुन्दर मुख कमल को देख कर मोह को प्राप्त हुए (कामजन्य व्यसन से युक्त हुए) तहाँ जो मनुष्य घृत सहित दूध दधियुक्त धान के भात आदि अन्नों को खाते हैं, स्त्रियों के संग दर्शनादि रहते उनकी इन्द्रियों का यदि निग्रह हो सके, तो विन्ध्य पर्वत भी सागर में तर सकता है ॥ ३४ ॥ जो स्त्री स्मरण करने से पाप के लिये होती है, देखने पर उन्माद करती है, स्पर्श से मोह करती है, वह कहीं कभी स्मरण योग्य नहीं है, न नेत्र से देखने योग्य है, न कहीं भी भूल कर भी स्पर्श के योग्य है ॥ ३५ ॥ चौबीसवाँ व्यसन प्रकरण समाप्त ।

स्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्रिसंगृहीततत्त्वार्थमणिमाला में
वर्णाश्रमनामक द्वितीय काण्ड समाप्त ॥

ॐ नमः सच्चिदानन्दाय

अथ तृतीयं सिद्धसाधकसाधनकाण्डम्

तत्र च प्रथमं शिष्यप्रकरणम्

शिष्यः शिष्टः सदाचारयुक्तस्तद्योग्य एव वा । ग्राह्यः स सुखकृत्साधुरन्यो दुःखकरो भवेत् ॥१॥
शान्तोऽनसूयुः श्रद्धावान् गुर्वर्थार्थात्मवृत्तिकः । शुचिः प्रियहितो दान्तः शिष्यश्चोक्तो मनीषिभिः ॥२॥

भरद्वाजसंहिता० अ० १।४६ ॥

कुर्वीत परमां भक्तिं गुरौ तत्प्रियवत्सलः । तदनिष्टापवादी च तन्नामगुणहर्षितः ॥३॥
नित्यं गुरुमुपासीत तद्वचः श्रवणोत्सुकः । विग्रहालोकनपरस्तस्यैवाज्ञाप्रतीक्षकः ॥४॥
यथानुजीवी नृपतिं यथा भक्तस्तु दैवतम् । तथैव देशिकं शिष्यः सेवेत विनयान्वितः ॥५॥
योऽसौ मन्त्रवरः प्रादात्संसारोच्छेदसाधनम् । प्रतीच्छेद् गुरुवर्यस्य तस्योच्छिष्टं सुपावनम् ॥६॥
अधिकैः सदृशैर्वापि कुर्यादेव तु सङ्गमम् । हीनांश्च नावमन्येत न च दोषं विभावयेत् ॥७॥

भरद्वाजसं० अ० ३।८४-८८ ॥

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः । आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या धर्मतो दश ॥८॥
नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः । जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥९॥

सिद्ध साधक काण्ड प्रारम्भ

अथ शिष्य—माता पिता से साधारण शिक्षा युक्त तथा सदाचार युक्त वा शिक्षा सदाचार के योग्य साधु स्वभाव वाला शिष्य ही ग्रहण योग्य सुख कारक है, अन्य दुःख का हेतु होता है ॥ १ ॥ शान्ति-युक्त, असूया (गुण में दोषारोपण) रहित, श्रद्धालु, गुरु के प्रयोजन के लिये अर्थ (द्रव्य) और अपनी वृत्ति वाला, पवित्र, प्रियतायुक्त हित, जितेन्द्रिय विद्वानों से शिष्य कहा गया है ॥ २ ॥ गुरु का प्रिय ही जिसको वत्सल (स्निग्ध) हो ऐसा शिष्य गुरु विषयक परम भक्ति करे और गुरु के अनिष्ट का अपवाद (निराकरण) करे, गुरु के नाम और गुण से हर्षयुक्त रहे ॥ ३ ॥ गुरु के वचन को सुनने में उत्कण्ठा युक्त होकर सदा गुरु की उपासना करे, गुरु के शरीर का दर्शन कर गुरु की ही आज्ञा कीप्रतीक्षा करे ॥४॥ जैसे सेवक राजा को और भक्त देव को सेवता है, तैसे ही विनययुक्त शिष्य गुरु को सेवे ॥ ५ ॥ जो वह श्रेष्ठ मन्त्र वाला गुरु संसार की निवृत्ति के साधन उपदेशादि को दिया है, उस गुरुवर्य के अत्यन्त पावन उच्छिष्ट के प्रति इच्छा रुचि करे ॥ ६ ॥ अपने से अधिक और तुल्य के साथ सम्बन्ध करे, और हीन का भी अनादर नहीं करे, न उसके दोष की चिन्ता करे ॥ ७ ॥ आचार्य के पुत्र, सेवक, ज्ञानान्तर के दाता, धर्मज्ञ, शुचि, विश्वासी बन्धु, ग्रहण धारण में समर्थ, धनदाता, साधु-हितेच्छु, जातिवाले, ये दश धर्म से पढाने योग्य हैं ॥ ८ ॥ शिष्य से अन्य के प्रति पूछे बिना कुछ नहीं कहे, अन्याय से पूछने पर भी नहीं

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा । तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥१०॥
विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् । असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥११॥
मनु० अ० २।१०६-११०-११२-११४ ॥

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिस्तेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽयताय न मां ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥ १२ ॥
यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्च नाह तस्मै मां ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥ १३ ॥
य आतृणत्यवितथेन कर्णाविदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्च नाह ॥ १४ ॥
अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥ १५ ॥ वसिष्ठस्मृ० अ० २ ॥

अलसं मलिनं क्लिष्टं दम्भमोहसमन्वितम् । दरिद्रं रोगिणं क्रुद्धं रागिणं भोगलालपम् ॥१६॥
असूयामत्सरग्रस्तं शठं परुषवादिनम् । अन्यायेनार्जितधनं परदाररतं सदा ॥१७॥
विदुषां वैरिणं नित्यमज्ञं पण्डितमानिनम् । भ्रष्टव्रतं क्लिष्टवृत्तिं पिशुनं दुष्टमानसम् ॥१८॥
बह्वाशिनं क्रूरचेष्टमग्रगण्यं दुरात्मनाम् । कृपणं पापिनं रौद्रमाश्रितानां भयंकरम् ॥१९॥
एवमादिगुणैर्युक्तं शिष्यं नैव परिग्रहेत् । गृह्णीयाद् यदि तद्दोषः प्रायो गुरुमुपस्पृशेत् ॥२०॥

कहे, जानता हुआ भी विद्वान् लोक में मूक तुल्य व्यवहार करे ॥ ९ ॥ जहाँ धर्म अर्थ वा विद्या के तुल्य सेवा नहीं हो, तहाँ विद्या नहीं देना चाहिये, जैसे शुभ बीज ऊपर में नहीं बोया जाता है ॥ १० ॥ विद्या-देवी ने ब्राह्मण को प्राप्त होकर कहा कि मैं तेरी शेवधि (निधि-सम्पत्ति) हूँ, मेरी रक्षा कर, असूयादिदोष वाले के प्रति मुझे नहीं दो, तो मैं अति वीर्यवती होऊँगी ॥ ११ ॥ विद्या ब्राह्मण को प्राप्त कर बोली कि मैं तेरी निधि हूँ, मेरी रक्षा कर, निन्दक, क्रूर, असंयत के प्रति मुझे नहीं दो तो वीर्यवती होऊँगी ॥ १२ ॥ जिस को शुचि प्रमाद रहित बुद्धिमान् ब्रह्मचर्ययुक्त समझो, और जो तुमसे द्रोह नहीं करे, तेरे लिये कुछ अनिष्ट नहीं बोले, हे ब्रह्मन् ! उसी विद्यारूप निधि के रक्षक के लिये मुझे कहना (दान देना) ॥ १३ ॥ जो गुरु सत्य से कान को 'आतृणत्ति' आतृणोति = पूरयति पूर्ण करता है, सो भी दुःख रहित करता हुआ अमृत सम्प्रदान करता हुआ पूर्ण करता है, उस गुरु के साथ द्रोह नहीं करना चाहिये, न कुछ कहना चाहिये ॥ १४ ॥ पढ़ने पर जो विप्र मन वचनादि से गुरु का आदर नहीं करता है, तो जैसे वह गुरु का रक्षक नहीं होता, वैसे ही उस की रक्षा वह श्रुत विद्या नहीं करती है ॥ १५ ॥ आलसी, मलिन, क्लेशयुक्त, दम्भमोहसंयुक्त, दरिद्र, रोगी, क्रोधयुक्त, रागी, भोगाभिलाषी, असूया-मत्सर से व्याप्त, शठ, क्रूरवादी, अन्याय से अर्जित धन वाला, परस्त्रीपरायण, सदा विद्वानों का वैरी, अविवेकी, पण्डितमानी, व्रत से च्युत, क्लेशयुक्त जीविका वाला, पिशुन, दुष्ट मनवाला, बहु भोजी, क्रूर चेष्टा वाला, दुरात्माओं का मुखिया, कृपण, पापी, उग्र और भयानक, आदि ऐसे दुर्गुणों से युक्त शिष्य को गुरु ग्रहण नहीं करे । यदि ग्रहण करता है, तो शिष्य के दोष प्रायः गुरु में भी प्राप्त होते हैं

अमात्यदोषो राजानं जायादोषः पतिं यथा । तथा शिष्यकृतो दोषो गुरुं प्राप्नोत्यसंशयम् ॥२१॥
तस्माच्छिष्यं गुरुर्नित्यं परीक्ष्यैव परिग्रहेत् । कायेन मनसा वाचा गुरुशुश्रूषणे रतम् ॥२२॥
अस्तेयवृत्तिमास्तिक्ययुक्तं मोक्षकृतोद्यमम् । ब्रह्मचर्यरतं नित्यं दृढव्रतमकल्मषम् ॥२३॥
प्रसन्नहृदयं शुद्धमशठं विमलाशयम् । परोपकारनिरतं स्वार्थे च विगतस्पृहम् ॥२४॥
स्वचित्तवित्तदेहैस्तु परितोषकरं गुरोः । आश्रितानां तथा पुत्रपरितोषकरं शुचिम् ॥२५॥
ईदृग्विधाय शिष्याय मन्त्रं दद्यात्तु नान्यथा । यद्यन्यथा वदेत्तस्मिन् देवताशाप आपतेत् ॥२६॥

स्कन्दपु० वैष्णवखं० मार्गशीर्षमा० अ० १६।१२ इत्यादि ॥

निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत् । जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाद्रियेत कर्मचोदनाम् ॥२७॥
यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान् मत्परः क्वचित् । मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम् ॥२८॥
अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः । असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ॥२९॥
जायापत्यगृहक्षेत्रस्वजनद्रविणादिषु । उदासीनः समं पश्यन् सर्वेष्वर्थमिवात्मनः ॥३०॥

भागवत० स्क० ११।१०।४–७॥

अनुव्रतानां शिष्याणां पुत्राणां च द्विजोत्तम ! । अनापृष्टमपि ब्रूयुर्गुरवो दीनवत्सलाः ॥३१॥

भागवत० स्क० ३।७।३६॥

॥ १६–२० ॥ जैसे मन्त्री के दोष राजा को और स्त्री के दोष पति को प्राप्त होते हैं, तैसे शिष्य के किये हुए दोष गुरु को अवश्य प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥ अतः परीक्षा करके ही मन, वचन, शरीर से सेवा में तत्पर शिष्य का ग्रहण गुरु सदा करे, अन्य का नहीं ॥ २२ ॥ चोरीवृत्ति से रहित, आस्तिकता-युक्त, मोक्ष के लिये उद्यम करने वाला, सदा ब्रह्मचर्य में तत्पर, दृढ़व्रत (नियम) वाला, पापरहित, प्रसन्न मन वाला, शुद्ध, शठता रहित, शुद्ध तात्पर्य वाला, परोपकार में तत्पर, स्वार्थ में इच्छा रहित ॥ २३–२४ ॥ अपने चित्त, धन और देह से गुरु को सन्तुष्ट करने वाला, अपने आश्रितों को पुत्र के परितोष के तुल्य परितोष करने वाला जो है उस पवित्र शिष्य को ग्रहण करे ॥ २५ ॥ और ऐसे ही शिष्य के लिये मन्त्रोपदेश दे, अन्यथा नहीं, यदि गुरु अन्यथा कहता है, तो उसमें देवता का शाप प्राप्त होता है ॥ २६ ॥ ईश्वर भगवत्परायण अहिंसादि निवृत्त कर्म का सेवन करे जो नित्य नैमित्तिक रूप कर्म हैं, और प्रवृत्त (काम्य) कर्म को त्यागे, और आत्मजिज्ञासा (विचारादि) में सम्यक् प्रवृत्त पुरुष तो निवृत्त कर्म की विधि को भी नहीं आदर करे ॥ २७ ॥ और अहिंसादि रूप यमों का सदा सेवन करे, मत्परायण नियमों का (शौचादि का) कहीं शक्ति के अनुसार ज्ञान के अविरोधी का सेवन करे, और मेरे स्वरूप के ज्ञानी मेरे स्वरूपभूत शान्त गुरु की उपासना सेवा करे ॥ २८ ॥ अभिमान मत्सर रहित दक्ष (आलस्य रहित) ममता रहित, गुरु में दृढ़ सुहृद् भाव वाला, असत्वर (अव्यग्र) असूया रहित, निरर्थक बात रहित ही अर्थ का जिज्ञासु (शिष्य) होता है, इससे यह सब उसका लक्षण है ॥ २९ ॥ और ममता रहित होने के लिये स्त्री आदि सब में उदासीन होकर अपने अर्थ (प्रयोजन) सुखस्वरूप आत्मा को विवेक से सर्वत्र सम देखता हुआ ममता रहित होकर जिज्ञासु होता है ॥ ३० ॥ हे द्विजोत्तम ! स्वानुगामी शिष्य और पुत्र को नहीं पूछे गये अर्थ को भी दीनदयालु गुरु कहते हैं ॥ ३१ ॥

अविद्योत्थपुमर्थेभ्यो विमुखीभूतमानसः। आत्मतत्त्वविजिज्ञासुस्तद्व्यावृत्तो भवेन्नरः ॥३२॥
बाह्यार्थबद्धधिषणः सम्यग् याथात्म्यवित्तये। नालं विरोधात्पुरुषः पराञ्चीत्यागमोक्तितः ॥३३॥
बृहदारण्यकवार्तिं० अ० १।६।४-५ ॥
आविरिञ्चाद्विरक्तस्य तद्विविक्तात्मकामिनः। मोक्षे पुंसोऽधिकारः स्यान्न कामापहृतात्मनः ॥३४॥
अविद्याया न चोच्छित्तौ ज्ञानादन्यदपेक्ष्यते। ज्ञानोत्पत्तौ न चैवान्यच्छमादिभ्यो ह्यपेक्षते ॥३५॥
शमाद्युत्पत्तये नान्यद् बुद्धिशुद्धेरपेक्ष्यते। बुद्धिशुद्धौ च नित्यादिकर्मभ्यो नान्यदिष्यते ॥३६॥
बृहदा० वा० अ० १ ब्रा० ३।६६-९८ ॥
सम्यक् संशुद्धधिषणः संसारं वेत्ति तत्त्वतः। दृष्टसंसारतत्त्वश्च वैराग्यं संसृते व्रजेत् ॥३७॥
आविरिञ्चाद्विरक्तश्चेत्कुम्भीपाकादिवेह यः। आप्ताशेषक्रियाकार्यो मुक्तौ स विनियुज्यते ॥३८॥
बृहदा० वा० अ० १ ब्रा० ४॥
आब्रह्मणोऽस्मात्संसाराच्छुद्धधी र्न विरज्यते। यावत्तावन्न विद्याया अधिकारी भवेन्नरः ॥३९॥
नरकादिव निर्विण्णो यावन्न ब्रह्मणो नरः। न तावदधिकारोऽस्ति कैवल्यज्ञानवर्त्मनि ॥४०॥
बृहदा० वा० अ० २।४।७१-६३ ॥
श्रद्धालुरधिकारी यो जिज्ञासुर्विनयान्वितः। अपृष्टेनापि वक्तव्या तस्मै विद्या विपश्चिता ॥४१॥
बृहदा० वा० अ० २। ब्रा० १।३५ ॥
शान्तिदान्त्यादिहीनाय विषयासक्तचेतसे। अर्थिनेऽपि न दातव्यं गुरुणापि कृपालुना ॥४२॥

अविद्याजन्य पुरुषार्थ से विमुख मन वाला और उनसे निवृत्त ही मनुष्य आत्मतत्त्व का विजिज्ञासु शिष्य होता है ॥३२॥ बाहर के अर्थ में आसक्त बुद्धि वाला पुरुष [पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः) इस कठ श्रुति के अनुसार विरोध पड़ने से सम्यग् यथार्थ आत्मतत्त्व को समझने के लिये समर्थ नहीं होता है ॥ ३३ ॥ ब्रह्मलोक तक संसार से विरक्त, उनसे भिन्न आत्मतत्त्व के जिज्ञासुपुरुष का ही मोक्ष और मोक्ष के साधन में अधिकार है, और होता है, काम से वशीकृत मन वाले का नहीं, ॥ ३४ ॥ अविद्या के नाश में ज्ञान से अन्य की अपेक्षा नहीं है, शमदमादि से अन्य की अपेक्षा ज्ञान की उत्पत्ति में नहीं है, शमादि की उत्पत्ति में बुद्धि की शुद्धि से अन्य की जरूरत नहीं है, और बुद्धि की शुद्धि में नित्यादि कर्मों से अन्य की आवश्यकता नहीं है ॥३५-३८॥ सम्यक् शुद्ध बुद्धि वाला संसार को दुःखमयादि तत्त्व रूप से जानता है, तिससे संसार के तत्त्व के ज्ञाता को तुच्छ असार मिथ्या संसार से वैराग्य होता है, ॥ ३७ ॥ और जो कुम्भीपाक के समान ब्रह्मलोक तक यहाँ यदि विरक्त होता है, तो वह सब कर्मों के कार्य (फल) को प्राप्त किया हुवा मनुष्य मुक्ति में विनियुक्त अधिकारी होता है ॥ ३८ ॥ जब तक शुद्ध बुद्धि होकर ब्रह्मलोक तक इस संसार से विरक्त नहीं होता है, तब तक मनुष्य आत्मज्ञान का अधिकारी नहीं होता है ॥ ३९ ॥ जब तक नरक के समान ब्रह्मलोक तक इस संसार से नर विरक्त नहीं होता है, तब तक मोक्ष के हेतु ज्ञानमार्ग में अधिकार नहीं है ॥ ४० ॥ विनययुक्त जिज्ञासु-श्रद्धालु जो ज्ञान का अधिकारी है, उसके प्रति प्रश्न के विना भी विद्वान् को विद्या का उपदेश करना चाहिये ॥ ४१ ॥ और शमदमादि से रहित विषय में आसक्त मन वाले ज्ञानार्थी के प्रति भी कृपालु

देववद्यो गुरुं पश्येदप्रमत्तोऽधिकारभाक् । स एव ब्रह्मविज्ञानं फलवत्प्राप्नुयान्नरः ॥४३॥
गुरुं यो मानवैरन्यैः समं पश्यति मोहतः । न तस्यास्मिन् भवेल्लोके सुखं नैव परत्र च ॥४४॥
कृतघ्नानां हि ये लोका ये लोका ब्रह्मघातिनाम् । मृत्वा तानभिसंयाति गुरुद्रोहपरो नरः ॥४५॥
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे शिवो न हि । शिवादप्यधिकं तस्माद् गुरुं यत्नेन पूजयेत् ॥४६॥
ब्रह्मघ्नादधिको ज्ञेयः कृतघ्नो मनुजो भुवि । गुरुद्रोही ततोऽपि स्यादधिकोऽयं नराधमः ॥४७॥
गुरुर्माता पिता वापि गुरुर्दैवं उदाहृतः । गुरुर्बन्धुः सखा तद्वन्न गुरोरपरः सुहृत् ॥४८॥
गन्तव्यो गुरुरेवात्र स्वात्मज्ञानेन देहिना । ततो गुरोरवज्ञानादात्मनः कुरुते त्विमाम् ॥४९॥
आत्मन्यस्मिन्नवज्ञाते विश्वावज्ञा कृता भवेत् । अवज्ञा वध उद्दिष्टः शस्त्रशून्योऽतिदारुणः ॥५०॥
हतः शस्त्रात्क्षणं दुःखं प्राप्नुयाद्वा न वा पुमान् । अवज्ञया हतो दुःखं यावज्जीवं स गच्छति ॥५१॥
विश्वदुःखकृतः केन सुखं पुंसो भविष्यति ॥ ५२ ॥
ब्रह्मचर्यादिके यद्वदप्रमत्तोऽत्र साधने । वर्त्तते गुरुभक्तौ च वर्त्तितव्यं तथैव हि ॥५३॥
तद्भ्रेषेऽपि च सन्तुष्टे गुरौ नास्ति भयं ततः । प्रायश्चित्ताद्युपायेन यत एष विशोधयेत् ॥५४॥
गुरौ विमुखतां याते विमुखाः सर्वदेवताः । भवन्ति क्रियमाणं च पुण्यं पापं हि जायते ॥५५॥
आत्मपु० अ० ८।८६१। इत्यादि ॥

गुरु को भी ज्ञान का उपदेश नहीं देना चाहिये ॥ ४२ ॥ प्रमाद रहित ज्ञान अधिकार युक्त जो मनुष्य देव (ईश्वर) तुल्य गुरु को समझता है, सोई फलयुक्त ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करता है ॥ ४३ ॥ जो कोई मोह से गुरु को अन्य मनुष्यों के समान देखता है, उसको इस लोक में वा परलोक में सुख नहीं हो सकता है ॥ ४४ ॥ कृतघ्नों को तथा ब्रह्मघाती को जो नरकादि लोक प्राप्त होते हैं, गुरु के द्रोह (अपकार) में तत्पर मनुष्य भी मर कर उन लोकों में प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥ ईश्वर के रुष्ट होने पर भी उपायों से गुरु रक्षक होते हैं, गुरु के रुष्ट होने पर ईश्वर नहीं रक्षक होता है, तिससे शिव से भी अधिक जो गुरु उनको पूजे ॥ ४६ ॥ ब्रह्मघाती से भी अधिक पापी कृतघ्न मनुष्य को भूमि में जानना चाहिये, और गुरु द्रोही यह अधम नर उस कृतघ्न से भी अधिक पापी है ॥ ४७ ॥ गुरु ही माता पिता दैव बन्धु सखा रूप कहे गये हैं, गुरु से अन्य कोई सुहृद् (निरपेक्षोपकारी) नहीं है ॥ ४८ ॥ स्वात्मज्ञान द्वारा देही को गुरुरूपता ही यहाँ प्राप्त करनी है, इससे गुरु की अवज्ञा (अनादर) से आत्मा का ही अनादर करता है ॥ ४९ ॥ इस आत्मा के अनादर से विश्व का अनादर सिद्ध होता है, और वह अवज्ञा शस्त्ररहित अतिभयंकर वध कहा गया है ॥ ५० ॥ क्योंकि शस्त्र से चोट खाया मनुष्य क्षण मात्र दुःख पाता है, वा नहीं पाता है, परन्तु अवज्ञा से मारा गया वह जीवन भर दुःख पाता है ॥ ५१ ॥ तो विश्व को दुःखीकर्ता पुरुष को सुख किससे हो सकता है ? ॥ ५२ ॥ इसलिये ब्रह्मचर्यादि रूप ज्ञान के साधन में जैसे प्रमाद रहित होकर शिष्य वर्तता है, तैसे ही गुरुभक्ति में वर्तना चाहिये ॥ ५३ ॥ गुरु के सन्तुष्ट रहते ब्रह्मचर्यादि के 'भ्रेष' (भ्रंश-नाश) होने पर भी भय नहीं हैं, क्योंकि प्रसन्न ये गुरु प्रायश्चित्तादि रूप उपायों से फिर विशुद्ध करते हैं ॥ ५४ ॥ गुरु के विमुख होने पर सब देव भी विमुख होते हैं, किया गया पुण्य भी पाप हो जाता है ॥ ५५ ॥

अशान्ताय हि यो दद्याद्विद्यां स्नेहाद्विमोहतः । आत्मानं च तथा विद्यां तं च हन्यात्स पापधीः ॥५६॥

आत्मपु० अ० ४।६६३॥

गुरुप्रसादतोऽज्ञानहरणे प्रभवेत् पुमान् । नान्यथा परमेशोऽपि सर्वशक्तियुतो हि यः ॥५७॥

ईश्वरस्यापि हि ज्ञानं वेदरूपाद् गुरोरभूत् । न स्वतन्त्रं ततस्तस्य कारणं गुरुरीरितः ॥५८॥

ईश्वरस्य यथा ज्ञानमन्यस्यापि तथा भवेत् । यदीश्वरसमः सोऽपि विशुद्धधिषणः पुमान् ॥५९॥

अज्ञानहरणं हित्वा स्वतन्त्रोऽयं सदा पुमान् । सृष्टावपि च संहारे जगतोऽस्य परेश्वरः ॥६०॥

एक एव पुमानीशः स जीवश्चापि कीर्त्यते । उपाधेस्तु विशेषेण रामकृष्णौ यथा पृथक् ॥६१॥

अलौकिकानि कर्माणि सर्वेषामपि सन्ति हि । एकैकापेक्षया यस्माच्चित्रशक्तिरयं जनः ॥६२॥

नाममात्रं यथा भेदो नभसस्तद्वदेव हि । जीवेशयोरयं भेदो नाममात्रान्न वस्तुतः ॥६३॥

ततः सर्वशरीरेषु परमात्माऽत्र संस्थितः । भेदगन्धविनिर्मुक्त ईश्वरोऽयं परः पुमान् ॥६४॥

आत्मपु० अ० १८।१५८। इत्यादि ॥

सुशीलो भव धर्मात्मा मैत्रः प्राणिहिते रतः । निम्नं यथापः प्रवणाः पात्रमायान्ति सम्पदः ॥६५॥

विष्णुपु० अंश० १।११।२४॥

शुद्धो विनयसम्पन्नो मिथ्याकटुकवर्जितः । गुर्वाज्ञापालकश्चैव शिष्योऽनुग्रहमर्हति ॥६६॥

लिङ्गपु० उ० अ० २०।३३॥

अज्ञतातज्ज्ञते पूर्वं वक्तुर्निर्णीय कार्यतः । यः करोति नरः प्रश्नं प्रच्छकः स महामतिः ॥६७॥

जो गुरु विमोह से अशान्त को स्नेह से विद्या देता है, सो अपने को विद्या को और उस शिष्य को भी पापबुद्धि होकर नष्ट करता है ॥ ५६ ॥ मोह स्नेहादि रहित गुरु की प्रसन्नता से पुरुष अज्ञान को नष्ट करने में समर्थ होता है, गुरु की प्रसन्नता बिना जो सर्वशक्तियुक्त परमेश्वर ब्रह्मा आदि हैं सो भी अज्ञान नाश में समर्थ नहीं होते हैं ॥ ५७ ॥ ईश्वर (ब्रह्मा) को भी वेदरूप गुरु से ज्ञान हुवा, स्वतन्त्र नहीं, तिससे उस ज्ञान के कारण गुरु कहे गये हैं ॥ ५८ ॥ जैसे ईश्वर को ज्ञान वेद से हुवा तैसे अन्य को भी हो सकता है, यदि वह पुरुष भी ईश्वर के समान शुद्ध बुद्धि वाला हो ॥ ५९ ॥ यह पुरुष अज्ञान नाश को छोड़ कर अन्य काम में स्वतन्त्र है, इस जगत् की सृष्टि और संहार (प्रलय) में भी परेश्वर (समर्थ) है ॥ ६० ॥ एक ही वह पुरुष (आत्मा) ईश्वर और जीव भी कहा जाता है, यह भेद उपाधि के भेद से है, जैसे राम और कृष्ण एक विष्णु देव रूप होते हुए भी शरीरादि के भेद से पृथक् हैं ॥ ६१ ॥ राम कृष्ण ब्रह्मादि के समान सभी के कर्म अलौकिक (प्रथम से लोक में अप्रसिद्ध) हैं जिससे एक एक की अपेक्षा से यह जन विचित्र शक्ति वाला है ॥ ६२ ॥ जैसे आकाश के घटाकाशादि नाममात्र ही भिन्न हैं, तैसे ही जीव ईश्वर का यह भेद नाममात्र से अन्य सत्य नहीं है ॥ ६३ ॥ तिससे सब शरीरों में स्थिर जो यहाँ परम पुरुष है सो भेद के लेश से भी रहित ईश्वर है ॥ ६४ ॥ तुम सुन्दर स्वभाव युक्त हो, धर्मात्मा, सब के मित्र सब प्राणी के हित में तत्पर हो, तो जैसे निम्न (नीची) भूमि में जल स्वयं बह कर जाता है, तैसे सत्पात्र को लौकिक अलौकिक सब सम्पत्तियाँ स्वयं प्राप्त होती हैं ॥ ६५ ॥ शौचादि से शुद्ध विनय युक्त झूठ क्रूरता से रहित गुरु की आज्ञा का पालक शिष्य अनुग्रह कृपा का पात्र होता है ॥ ६६ ॥ जो प्रश्न कर्ता मनुष्य प्रथम व्यवहार से अज्ञता

अनिर्णीय प्रवक्तारं बालः प्रश्नं करोति यः । अधमः प्रच्छकः स स्यान्न महार्थस्य भाजनम् ॥६८॥
पूर्वापरसमाधानक्षमबुद्धावनिन्दिते । पृष्टं प्राज्ञेन वक्तव्यं नाधमे पशुधर्मिणि ॥६९॥

योगवासिष्ठ० प्र० २।११।४७-४६॥

आदौ शमदमप्रायैर्गुणैः शिष्यं विशोधयेत् । पश्चात्सर्वमिदं ब्रह्म शुद्धस्त्वमिति बोधयेत् ॥७०॥
अज्ञस्यार्द्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत् । महानरकजालेषु स तेन विनियोजितः ॥७१॥

योगवा० प्र० ४।३६।२३-२४॥

युक्त्यैव बोधयित्वैष जीव आत्मनि योज्यते । अयुक्त्या साध्यते कार्यं न तद्यत्नशतैरपि ॥७२॥
सर्वं ब्रह्मेति यो ब्रूयादप्रबुद्धस्य दुर्मतेः । स करोति सुहृद्वृत्त्या स्थाणोर्दुःखनिवेदनम् ॥७३॥
युक्त्या प्रबुध्यते मूढः प्राज्ञस्तत्त्वेन बोध्यते । मूढः प्राज्ञत्वमायाति न युक्त्या बोधनं विना ॥७४॥

योगवा० प्र० ६।४९।१६-२१॥

स क्षेत्रवासो निकटे गुरोर्यो वासस्तदीयाङ्घ्रिजलं च तीर्थम् ।
गुरूपदेशेन यदात्मदृष्टिः सैव प्रशस्ताखिलदेवदृष्टिः ॥ ७५ ॥
सुजनः सुजनेन सङ्गतः परिपुष्णाति मतिं शनैः शनैः ।
परिपुष्टमतिर्विवेकगा शनकैर्हेयगुणान् विमुञ्चति ॥ ७६ ॥

इति प्रथमं शिष्यप्रकरणं समाप्तम् ॥

ज्ञानिता का विवेक करके ज्ञानी से शिष्य भाव पूर्वक पूछता है, सो प्रश्न कर्ता शिष्य विवेकी है ॥ ६७ ॥ जो बाल (अविवेकी) प्रवक्ता (गुरु) का निर्णय (विवेक) किये विना पूछता है, सो अधम प्रश्न कर्ता महान् अर्थ (ज्ञान मोक्ष) का पात्र नहीं होता है ॥ ६८ ॥ ज्ञानी को भी उपदेश के पूर्व अपर भाग का सम्यक् चित्त में आधान (धारण करने में समर्थ बुद्धि वाले अनिन्दित शिष्य के प्रति ही पूछे हुए परतत्त्व को कहना चाहिये, पशु धर्म वाले कामी अधम के प्रति नहीं ॥६९॥ प्रथम शमदम तुल्य अन्य भी बहुत श्रद्धा भक्ति आदि गुणों द्वारा गुरु शिष्य को विशुद्ध पूर्ण विवेकयुक्त करे, फिर यह सब संसार ब्रह्म रूप है (सर्वत्र ब्रह्म की ही सत्ता है) और तुम शुद्ध ब्रह्मस्वरूप हो इस प्रकार बोध करावे ॥ ७० ॥ अज्ञ अल्प विवेकी को जो गुरु सब ब्रह्म है ऐसा कहता है, उस गुरु से वह शिष्य नरक जाल मोहादि में लगाया बाँधा जाता है ॥ ७१ ॥ शमदमादि का उपदेश अनुष्ठानादि रूप युक्ति से ही विवेकादि कराकर यह जीव आत्मनिष्ठ किया जाता है, और जो कार्य युक्ति से सिद्ध किया जाता है, सो अन्य सैकड़ों यत्नों से नहीं सिद्ध होता है ॥ ७२ ॥ जो गुरु अविवेकी दुर्बुद्धि को कहता है कि यह सब संसार ब्रह्म है, सो मानो सुहृद्वृत्ति से स्थाणु (ठूंठ) को दुःख का निवेदन (कथन) करता है ॥ ७३ ॥ मूढ मनुष्य युक्ति से समझाया जाता है, प्राज्ञ (पूर्ण विवेकी) तत्त्वोपदेश से समझाया जाता है । और युक्ति से समझाए विना मूढ मनुष्य प्राज्ञता को नहीं प्राप्त करता है ॥ ७४ ॥ विवेकादि के लिये शुभ क्षेत्र का वास वही है, जो कि ज्ञानी गुरु के पास में के वास है, और गुरु का चरणोदक है सो तीर्थ है, गुरु के उपदेश से जो आत्मज्ञान है, सो श्रेष्ठ सब देवों का ज्ञान है ॥ ७५ ॥ सुजन शिष्य सुजन सन्त गुरु से मिलकर अपनी बुद्धि को धीरे २ पुष्ट करता है, और विवेकगामिनी परिपुष्टबुद्धि धीरे २ त्याज्य गुण कामादि को त्यागती है ॥ ७६ ॥ पहला शिष्य प्रकरण समाप्त ॥

अथ विवेकः ॥ २ ॥

विवेकवारिणा धौत आत्माऽयं शोभते परम् । तमो मनः समाधूय राजते सर्वदा स्वयम् ॥१॥
नित्यमात्मस्वरूपं हि दृश्यं तद्विपरीतगम् । एवं यो निश्चयः सम्यग् विवेकः वस्तुनः स वै ॥२॥
अपरोक्षानुभू० ॥
स्वविवेकचमत्कारपरामर्शविरक्तया । राजते हि धिया जन्तुर्युवेव वरमालया ॥३॥
क्रिया क्रमेण महता तपसा नियमेन च । दानेन तीर्थयात्राभिश्चिरकालं विवेकतः ॥४॥
दुष्कृते क्षयमापन्ने परमार्थविचारणे । काकतालीययोगेन बुद्धिर्जन्तोः प्रवर्त्तते ॥५॥
अविवेकिनमज्ञानमसज्जनरतिं जनम् । चिरं दूरतरे कृत्वा पूजनीया हि साधवः ॥६॥
नित्यं सज्जनसम्पर्काद्विवेक उपजायते । विवेकपादपस्यैव भोगमोक्षौ फले स्मृतौ ॥७॥
मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्त्तिताः । शमो विचारः सन्तोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः ॥८॥
एते सेव्याः प्रयत्नेन चत्वारो द्वौ त्रयोऽथवा । द्वारमुद्घाटयन्त्येते मोक्षराजगृहे तथा ॥९॥
एकं वा सर्वयत्नेन प्राणांस्त्यक्त्वा समाश्रयेत् । एकस्मिन् वशगे यान्ति चत्वारोऽपि वशं यतः ॥१०॥
सविवेको हि शास्त्रस्य ज्ञानस्य तपसः श्रुतेः । भाजनं भूषणाकारो भास्करस्तेजसामिव ॥११॥
योगवासिष्ठ० प्र० २ स० ११ ॥
विवेकं परमाश्रित्य वैराग्याभ्यासयोगतः । संसारसरितं घोरामिमामापदमुत्तरेत् ॥१२॥
योगवा० प्र० २ स० १३।३१ ॥

अथ विवेक—त्याज्य गुणों को त्यागने पर परम शुद्ध विवेक जल से शुद्ध यह आत्मा भी अत्यन्त प्रकाशता है, तम और मन को भी नष्ट करके सदा स्वयं प्रकाशता है ॥१॥ आत्मा का स्वरूप नित्य है और दृश्य संसार उससे विपरीत गति स्वभाव वाला अनित्य है, इस प्रकार का जो सम्यक् निश्चय, सोई आत्म वस्तु का विवेक है ॥ २ ॥ अपने विवेक के चमत्कार (प्रकाश) द्वारा परामर्श (विचार) से विरक्त हुई बुद्धि से जीवात्मा इस प्रकार शोभता प्रकाशता है कि जैसे युवा पुरुष श्रेष्ठ माला से शोभता है ॥ ३ ॥ तहाँ महान् सत्कर्मों के सदा अनुष्ठान, तप, नियम दान, तीर्थयात्रा, चिरकाल तक विवेकाभ्यास से पाप कर्म के नष्ट होने पर काकतालीययोग (दैवयोग) से प्राणी की बुद्धि परमार्थ के विचार में प्रवृत्त होती हैं ॥ ४–५ ॥ अविवेकी ज्ञानरहित असज्जन के प्रेमी मनुष्य को अतिदूर कर चिर काल तक सज्जन साधु पूजनीय-सेवनीय हैं ॥ ६ ॥ सदा सज्जन के साथ सम्बन्ध से विवेक उत्पन्न होता है, और विवेकरूप वृक्ष के ही उचित भोग और मोक्षरूप दोनों फल होते हैं ॥ ७ ॥ मोक्ष भवन के द्वारपाल, शम, विचार, सन्तोष, और साधुसंग ये चार कहे गये हैं ॥ ८ ॥ ये चारो शमादि प्रयत्न से सेवनीय हैं, वा शक्ति के अनुसार दो अथवा तीन सेवनीय हैं, तिस प्रकार सेवन से वे मोक्षराजगृह के द्वार को आवरण रहित करते हैं ॥ ९ ॥ अथवा चारों में से किसी एक ही को सब यत्न से प्राण की आशा छोड़ कर सेवे, तो एक के वश में होने पर स्वयं सब वश में होते है ॥ १० ॥ किसी प्रकार विवेकसहित ही शास्त्र ज्ञान तप और वेद का पात्र तथा शिरोभूषणाकार होता है, सबसे आदर पाता है, जैसे तेजो में सूर्य आदर पाते हैं ॥११॥ परम विवेक का आश्रय लेकर वैराग्य अभ्यास रूप योग से भयंकर इस संसार नदी रूप आपत्ति

अयं स देव इत्येवं संपरिज्ञानमात्रतः । जन्तो र्न जायते दुःखं जीवन्मुक्तत्वमेति च ॥१३॥
स्वपौरुषप्रयत्नेन विवेकेन विकासिना । स देवो ज्ञायते राम ! न तपःस्नानकर्मभिः ॥१४॥
योगवा० प्र० ३।६।६–९ ॥

एकं विवेकसुहृदमेकां प्रौढसखीं धियम् । आदाय विहरन्नेवं सङ्कटेषु न मुह्यति ॥१५॥
योगवा० प्र० ५।२१।६ ॥

यथा देहोपयुक्तं हि करोत्यारोग्यमौषधम् । तथेन्द्रियजयेऽभ्यस्ते विवेकः फलितो भवेत् ॥१६॥
विवेकोऽस्ति वचस्येव चित्रेऽग्निरिव भास्वरः । यस्य तेनापरित्यक्ता दुःखायैवाविवेकता ॥१७॥
यथा स्पर्शेन पवनः सत्तामायाति नो गिरः । तथेच्छातानवेनैव विवेकोऽस्य विबुध्यते ॥१८॥

चित्रामृतं नामृतमेव विद्धि, चित्रानलं नानलमेव विद्धि ।
चित्ताङ्गना नूनमनङ्गनेति, वाचा विवेकस्त्वविवेक एव ॥ १९ ॥
पूर्वं विवेकेन तनुत्वमेति, रागोऽथ वैरं च समूलमेव ।
पश्चात्परिक्षीयत एव यत्नः, स पावनो यत्रविवेकितास्ति ॥२०॥ योगवा० प्र० ४।१८।६६–७०॥

अविवेको हि सर्वेषामापदां पदमुत्तमम् । विवेकरहितो लोके पशुरेव न संशयः ॥२१॥
विवेकनियतो याति यो वा को वापि निर्वृतिम् । विवेकहीन आप्नोति को वा यो वाप्यनिर्वृतिम् ॥२२॥
नारदीयपु० पूर्वभा० अ० ९।४०–४२॥

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृश्य कारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥ २३ ॥ भारविकिरातार्जुनीये ॥

को तरना चाहिये ॥ १२ ॥ वह परात्म देव यह सब आत्म स्वरूप है इस प्रकार के सम्यक् अपरोक्ष ज्ञान मात्र से प्राणियों को दुःख नहीं होता है, और जीवन्मुक्तता को पाता है ॥ १३ ॥ अपने श्रवणादि विषयक पुरुषार्थरूप प्रयत्न और विकासी विवेक से ही वह देव जाना जाता है, हे राम ! वह तप वा स्नानादि कर्म से नहीं जाना जाता है ॥ १४॥ एक विवेक रूप मित्र और एक परमार्थ ज्ञानरूप प्रौढसखी को लेकर संसार में विचरता हुवा, संकटों में भी इस प्रकार मोहित नहीं होता है ॥ १५ ॥ जैसे देह से सेवित औषध आरोग्य करता है, कथन मात्र से नहीं, तैसे ही इन्द्रिय जय के अभ्यस्त होने पर विवेक सफल होता है ॥ १६ ॥ जिसके वचन में ही चित्र में भास्वर अग्नि के समान विवेक है, शमदमादि नहीं हैं, उससे अविवेकिता त्यागी नहीं गई है, इससे वह दुःख के लिये होगी ॥ १७ ॥ जैसे स्पर्श से वायु की सत्ता सिद्ध होती है वचन से नहीं, तैसे इच्छा की तनुता से इस जीव का विवेक समझा जाता है ॥ १८ ॥ चित्र में अमृत अग्नि और स्त्री वस्तुतः जैसे नहीं हैं, तैसे विराग शमादि बिना विवेक अविवेक ही है ॥ १९ ॥ विवेक से प्रथम रागद्वेष तनुता (सूक्ष्मता अल्पता) को प्राप्त होते हैं, फिर समूल रागद्वेष नष्ट होते हैं, तिसके बाद मोहरहित ज्ञानी के सब यत्न भी निवृत्त नष्ट हो जाते हैं, ऐसी विवेकिता जिस में है सोई पावन है ॥ २० ॥ अविवेक ही सब आपत्तियों का भारी स्थान है, क्योंकि विवेकरहित मनुष्य लोक में पशु ही है इस में संशय नहीं है ॥ २१ ॥ विवेक संयत (निरुद्ध) मन इन्द्रिय वाला जो कोई होता है सो सुख मोक्ष को पाता है, विवेकरहित जो कोई होता है सो दुःख संसार को पाता है ॥ २२॥ सहसा (विचार विवेक किये बिना) क्रिया का विधान (आरम्भ) नहीं करे, क्योंकि अविवेक

नन्दन्ति मन्दाः श्रियमाप्य नित्यं परं विषीदन्ति विपद्गृहीताः ।
विवेकदृष्ट्या चरतां नराणां श्रियो न किञ्चिद्विपदो न किञ्चिद् ॥ २४ ॥
दधति तावदमी विषयाः सुखं स्फुरति यावदियं हृदि मूढता ।
मनसि तत्त्वविदां तु विवेचके क्व विषयाः ? क्व सुखं ? क्व परिग्रहः ? ॥ २५ ॥

अधीत्य चतुरो वेदान् व्याकृत्याष्टादशस्मृतीः । अहो श्रमस्य वैफल्यमात्माऽपि कलितो न चेत् ॥२६॥

विवेक एव व्यसनं पुंसां क्षपयितुं क्षमः । अपहर्त्तुं समर्थोऽसौ रविरेव निशातमः ॥२७॥

सुभाषितरत्नादौ ॥

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यजातं, परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥ २८ ॥ भर्तृह० ॥

तलवद्दृश्यते व्योम खद्योतो हव्यवाडिव । न चैवास्ति तलं व्योम्नि खद्योते न हुताशनः ॥२९॥

तस्मात्प्रत्यक्षदृष्टोऽपि युक्तो ह्यर्थः परीक्षितुम् । परीक्ष्य ज्ञापयन्नर्थान्न पश्चात्परितप्यते ॥३०॥

महाभा० शान्तिप० अ० १११।६६-६७ ॥

धर्माधर्मार्थकामानां कार्याकार्यादिकर्मणाम् । विविच्य ज्ञानमारम्भः सम्यग्धी र्हि विवेकिता ॥३१॥

मोक्षार्थोऽस्ति विवेकोऽन्यः सर्वसाधारणोऽपरः । द्वाभ्यां सुयुक्त एव स्याल्लौकिकः पारमार्थिकः ॥३२॥

इति द्वितीयं विवेकप्रकरणं समाप्तम् ।

परम आपत्ति का स्थान है, और विचार कर विवेकपूर्वक कार्य करने वाले को गुण लुब्ध सम्पत्तियाँ स्वयं स्वीकार करती हैं ॥ २३ ॥ मन्द लोग लक्ष्मी को पाकर खुश होते हैं, और विपत्ति के वश में होने पर केवल विषाद शोक मनाते हैं, परन्तु विवेक दृष्टि से चलने वाले नरों को न कोई लक्ष्मी है न विपत्ति है ॥ २४ ॥ जब तक यह मूढता हृदय में संचार करती रहती है, तब तक ये विषय सुखाधान करते हैं। तत्त्वज्ञों के मन जब विवेक परायण होते हैं, तो विषय और सुख और परिग्रह कहाँ रहते हैं ? ॥ २५ ॥ चार वेद को पढ़ कर अठारह स्मृतियों का व्याख्यान करके स्थिर पुरुष के भी श्रम की विफलता आश्चर्यमय है कि यदि विवेक से आत्मा दृष्ट अनुभूत नहीं हुवा ॥ २६ ॥ एक विवेक ही पुरुषों के व्यसन को नष्ट करने के लिये इस प्रकार समर्थ है कि जैसे वह सूर्य ही रात्रि के तम को नष्ट करने के लिये समर्थ हैं ॥ २७ ॥ इससे गुणयुक्त वा अगुणयुक्त कार्यसमूह को करने वाले पण्डित को उचित है कि यत्न श्रवण विचारादि से उस कार्य के परिणाम (फल) को विवेक पूर्वक निश्चय करे तब कार्यारम्भ करे, विवेक के विना अतिवेग से किये गये कर्मों का विपत्ति पर्यन्त हृदय को जलाने वाला शल्य (शंकु) तुल्य विपाक (फल) होता है ॥ २८ ॥ आकाश नीचे नमे हुए के समान, खद्योत अग्नि के समान, दीखते हैं, परन्तु आकाश में अधःपन और खद्योतों में अग्नि नहीं है ॥ २९ ॥ तिससे प्रत्यक्ष दीखता हुवा भी पदार्थ परीक्षा विचार के योग्य है, और परीक्षा विचार से विवेक पूर्वक अर्थों को समझ कर समझाने वाला पीछे दुःखी नहीं होता है, अन्यथा स्वयं दुःखी होता है और अन्य को भो दुःखी करता है ॥ ३० ॥ धर्म अधर्म अर्थ काम कर्तव्य अकर्तव्यादि कर्मों की पृथकता युक्त ज्ञान (विवेक ज्ञान) और विवेक पूर्वक कर्तव्य का आरम्भ, अकर्तव्य या सिद्ध तत्त्व सत्य वस्तु का सम्यक् ज्ञान विवेकिता है ॥ ३१ ॥ तहाँ मोक्ष

अथ विरागः ॥ ३ ॥

विरागेण रणे जित्वा विवेकी मोहदुर्भटान् । स्वाराज्यं परमां शान्तिं प्राप्नोति न चिरादिह ॥१॥
ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वैराग्यं विषयेष्वनु । यथैव काकविष्ठायां वैराग्यं तद्धि निर्मलम् ॥२॥
ऐहिकामुष्मिकार्थेषु ह्यनित्यत्वेन निश्चयात् । नैष्पृह्यं तुच्छबुद्धिर्यत्तद्वैराग्यमितीर्यते ॥३॥
सर्वस्यानित्यत्वे सावयवत्त्वेन सर्वतः सिद्धे । वैकुण्ठादिषु नित्यत्वमतिर्भ्रम एव मूढबुद्धीनाम् ॥४॥

अपरोक्षानुभूत्यादौ स्वामिशंकराचार्याः ॥

अप्रद्वेषो ह्यनिष्टेषु तथेष्टानभिनन्दनम् । प्रीतितापविषादेभ्यो विनिवृत्तिर्विरक्तता ॥५॥

वायुपु० अ० ५९।५२ ॥ मत्स्यपु० अ० १४५ ॥

वीभत्सविषयं दृष्ट्वा को नाम न विरज्यते । सतामुत्तमवैराग्यं विवेकादेव जायते ॥६॥
ते महान्तो महाप्राज्ञा निमित्तेन विनैव हि । वैराग्यं जायते येषां तेषां ह्यमलमानसम् ॥७॥
परामृश्य विवेकेन संसाररचनामिमाम् । वैराग्यं येऽधिगच्छन्ति त एव पुरुषोत्तमाः ॥८॥
श्मशानमापदं दैन्यं दृष्ट्वा को न विरज्यते । तद्वैराग्यं परं श्रेयः स्वतो यदभिजायते ॥९॥

योगवासिष्ठ प्र० २।११॥

वैराग्यहीनस्य न सत्यवेदनं न मुक्तिसिद्धि र्न च बन्धनच्छिदा ।
न धर्मसिद्धिश्च ततः पुरातनैरिदं विशिष्टं कथितं कृपाबलात् ॥१०॥सूतसंहिता-यज्ञवैभवखं०अ०१७॥

के लिये आत्मानात्म का विवेक अन्य है और सर्वसाधारण कर्मादि का विवेक उससे अन्य है, दोनों विवेकों से सुयुक्त पुरुष ही लौकिक और परीक्षक कहाता है ॥ ३२ ॥ दूसरा विवेक प्रकरण समाप्त ॥

अथ विराग—विवेकी जीव विचारादि रूप युद्ध में मोह के दुष्ट कामादि रूप भटों को विराग द्वारा जीत कर मुक्ति=परमशान्ति को यहाँ शीघ्र प्राप्त करता है ॥ १ ॥ ब्रह्मादि से स्थावर तक विषयों में अनित्यत्वादि के विचारानन्तर उनमें काक विष्ठा तुल्य जो विराग होता है सो निर्मल वैराग्य होता है ॥ २ ॥ इस लोक परलोक के पदार्थों में अनित्यता के निश्चय से जो निस्पृहता तुच्छ बुद्धि होती है, उसको वैराग्य कहते हैं ॥ ३ ॥ सावयवता से सबको सर्वथा अनित्य सिद्ध होने पर भी जो वैकुण्ठादि में नित्यता का ज्ञान होता है, सो मोहयुक्त बुद्धि वालों को भ्रम ही है ॥ ४ ॥ अनिष्ट विषादि में द्वेषाभाव इष्ट अमृतादि के अभिनन्दन का अभाव और इसीसे प्रीति, ताप, विषाद से रहिता ही विरक्तता (वैराग्य) है ॥ ५ ॥ घृणित विकृत विषय को देख कर कौन नहीं विरक्त होता है ? सत्पुरुषों को उत्तम वैराग्य विवेक से ही होता है ॥ ६ ॥ जिनको विवेक से अन्य निमित्त के बिना ही वैराग्य होता है, वे महात्मा परम ज्ञानी हैं और उनका मन पवित्र है ॥ ७ ॥ विवेक से इस संसार रचना को समझ विचार कर जो वैराग्य को प्राप्त करते हैं वे ही पुरुषोत्तम हैं ॥ ८ ॥ श्मशान आपत्ति दीनता को देखकर कौन नहीं विरक्त होता है ? वह वैराग्य परम कल्याणरूप है जो स्वतः विवेक से होता है ॥ ९ ॥ वैराग्य रहित को

आत्मनोऽन्यस्य सर्वस्य यदनित्यत्वेन वेदनम् । तद्धि संसारवैराग्यजनकं द्विजसत्तमाः ! ॥११॥
विरक्तस्य हि संसारात् किमन्यत् काङ्क्षितं भवेत् । वैराग्ये सति संसारात्सर्वदुःखं न विद्यते ॥१२॥
तस्माद्वैराग्यलाभाय चराचरमिदं जगत् । अनित्यमिति जानीयादनात्मानमशेषतः ॥१३॥
विष्णुर्विश्वजगद्योनिः प्रादुर्भावैः स्वकैः सह । विनाशं प्रलये याति किं नित्यं गम्यतेऽनघाः ! ॥१४॥
अतः साक्षात्स्वयं ज्योतिः स्वभावः परमेश्वरः । एक एव द्विजा ! नित्यस्ततोऽन्यत्सकलं मृषा ॥१५॥
सूतसं० यज्ञवै० अ० १८।६७ इत्यादि ॥
नष्टे पापे विशुद्धं स्याच्चित्तदर्पणमुत्तमम् । पुनर्ब्रह्मादिलोकेभ्यो वैराग्यं जायते हृदि ॥१६॥
विरक्तस्य तु संसाराज्ज्ञानं कैवल्यसाधनम् । तेन पाशापहानिः स्याज्ज्ञात्वा देवमिति श्रुतिः ॥१७॥
ज्ञानामृतरसो येन सकृदास्वादितो भवेत् । स सर्वं कार्यमुत्सृज्य तत्रैव परिधावति ॥१८॥
ज्ञानामृतरसः प्रायस्तेन नास्वादितो भवेत् । यो वाऽन्यत्रापि रमते तद्विहायैव दुर्मतिः ॥१९॥
अहो ज्ञानामृतं मुक्त्वा मायया परिमोहिताः । परिभ्रमन्ति संसारे सदाऽसारे नराधमाः ॥२०॥
सूतसं० ज्ञानयोगखं० अ०।१६।५२ । इत्यादि ॥
असारः खलु संसारो दुःखरूपी विमोहकः । सुतः कस्य ? धनं कस्य ? स्नेहनाज्ज्वलतेऽनिशम् ॥२१॥
नचेन्द्रस्य सुखं किञ्चिन्न सुखं चक्रवर्त्तिनः । सुखमस्ति विरक्तस्य मुनेरेकान्तवासिनः ॥२२॥
भागवतमाहा० अ० ४ ॥

सत्य का ज्ञान नहीं होता, न मुक्ति की सिद्धि न बन्धन का छेदन न धर्म की सिद्धि ही होती है, तिससे पूर्व के महात्माओं ने कृपारूप शक्ति से इस वैराग्य को श्रेष्ठ कहा है ॥ १० ॥ हे द्विजसत्तम ! आत्मा से अन्य सब को जो अनित्य रूप से जानना वही संसार से वैराग्य का कारण है ॥ ११ ॥ संसार से विरक्त को फिर अन्य इष्ट वांछित क्या होगा ? क्योंकि संसार से वैराग्य होने पर सब दुःख भी नहीं रह जाते हैं कि जिसकी निवृत्ति भी इष्ट हो ॥१२ ॥ तिससे वैराग्य की प्राप्ति के लिये इस चराचर को अनात्मा रूप अशेषरूप से अनित्य ही जानना चाहिये ॥ १३ ॥ सब जगत् के कारण विष्णु भी अपने प्रादुर्भाव (अवतारों) के सहित प्रलय में विनष्ट होते हैं, तो हे अनघ ! किस को नित्य समझा जाय ॥ १४ ॥ इससे हे द्विज ! प्रत्यक्षस्वयंज्योति (प्रकाश = ज्ञान) स्वभाव वाला एक (अद्वैत) सच्चिदानन्द स्वरूप परमेश्वर ही सर्वात्मा सत्य अविनाशी है, उससे अन्य सब मिथ्या (विनश्वर मायामय) है ॥ १५ ॥ निष्काम सत्कर्म भक्ति आदि से पाप के नष्ट होने पर चित्तरूप उत्तम दर्पण विशुद्ध होता है फिर ब्रह्मादि लोक तक संसार से मन में वैराग्य होता है ॥ १६ ॥ संसार से विरक्त को कैवल्य (मोक्ष) का साधनरूप ज्ञान होता है, तिससे संसार बन्धन की निवृत्ति होती है, सो "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः ।" [श्वेता० १।८] इत्यादि श्रुति कहती है ॥ १७ ॥ ज्ञानामृत के आनन्द का अनुभव जिसने एक बार किया है सो सब कार्य को छोड़ कर उधर ही दौड़ता है ॥ १८ ॥ उस पुरुष ने प्रायः ज्ञानामृत के आनन्द को नहीं समझा है, कि जो दुर्मति उसे त्याग कर अन्य में रमता है ॥ १९ ॥ आश्चर्य है कि माया से अत्यन्त मोहित अधम मनुष्य ज्ञानामृत को त्याग कर असार (मिथ्या) संसार में सदा सर्वत्र भ्रमण करते हैं ॥ २० ॥ यह असार संसार दुःखरूप और विमोह को पैदा करने वाला है (मिथ्या ममता का हेतु है) और वस्तुतः कौन किस का पुत्र है ? किस का धन है ? तो भी ममता से स्नेह वाला सदा दुःखी होता है ॥ २१ ॥ न इन्द्र ही को कुछ सुख है न चक्रवर्ती राजाओं को ही सुख है,

निरोद्धुं न हि शक्यन्ते रागाद्या भोगहेतवः । बुभुत्सुबुद्धमूढानां मध्ये केनापि धीमता ॥२३॥
अभोगहेतवो ये स्युरविचारैकनिर्मिताः । ते तु बुद्धबुभुत्सुभ्यां निरुध्यन्ते विचारतः ॥२४॥
देहादिरेव भोगस्य हेतुर्नत्त्वस्य वस्तुता । अनृतेनापि भोगोऽस्ति स्वप्ने देहादिना यथा ॥२५॥
वास्तवांशस्य दग्धत्वात्प्रतीत्या भोगसम्भवात् । जीवन्मुक्तिकथा प्रोक्ता प्रारब्धान्तमनिन्दिता ॥२६॥

बृहदारण्यक वार्तिकसार० अ० १।११३५। इत्यादि ॥

निर्विद्यति नरः कामान्निर्विद्य सुखमेधते । त्यक्त्वा प्रीतिं च शोकं च लब्ध्वा बुद्धिमयं वसु ॥२७॥
पुरस्तादेव ते बुद्धिरियं कार्या विजानता । अनित्यं सर्वमेवैतदहं च मम चास्ति यत् ॥२८॥
यत्किञ्चिन्मन्यसेऽस्तीति सर्वं नास्तीति विद्धि तत् । एवं न व्यथते प्राज्ञः कृच्छ्रामप्यापदं गतः ॥२९॥
यद्धि भूतं भविष्यं च सर्वं तन्न भविष्यति । एवं विदितवेद्यस्त्वमधर्मेभ्यः प्रमोक्ष्यसे ॥३०॥

महाभा० शान्तिप० अ० १०४॥

नाहं रामो न मे वाञ्छा भावेषु न च मे मनः । शान्त आसितुमिच्छामि स्वात्मनीव जितो यथा ॥३१॥
अहंकारवशाद्यद्यन्मया भुक्तं हुतं कृतम् । सर्वं तत्तदवस्त्वेव वस्त्वहंकाररिक्तता ॥३२॥

योगवाशिष्ठ० प्र० १।१५।८-९॥

बद्धास्था ये शरीरेषु बद्धास्था ये जगत्स्थितौ । तान् मोहमदिरोन्मत्तान् धिग् धिगस्तु पुनः पुनः ॥३३॥

किन्तु मोह ममतादि रहित एकान्त वासी विरक्त मुनि को सुख है ॥२२॥ जिज्ञासु ज्ञानी और मूढ़ों के मध्य में कोई भी बुद्धिमान् प्रारब्ध भोग के हेतु रूप रागादि को रोक नहीं सकते, और उन के नहीं रोकने पर भी वैराग्य में हानि नहीं है ॥ २३ ॥ किन्तु जो रागादि प्रारब्ध भोग के हेतु नहीं हैं, तो भी अविचार अविवेक रूप एक साधन से निर्मित (जन्य) होते हैं, उन रागादिकों को ज्ञानी और जिज्ञासु रोकते हैं, और वे उनसे नष्ट किये जाते हैं ॥ २४ ॥ यदि कहा जाय कि ज्ञानी की दृष्टि में तो सब संसार मिथ्या है तो प्रारब्ध का भोग कैसे होगा ? सो कहना उचित नहीं है, क्योंकि देहादि भोग के हेतु हैं, इन की सत्यता भोग का हेतु नहीं है, इससे मिथ्या देहादि से जैसे स्वप्न में भोग होता है, तैसे ज्ञानी को भी प्रारब्ध का भोग होता है ॥ २५ ॥ सत्यतांश को ज्ञान से दग्ध होने पर भी प्रतीतिमात्र से भोग के होने से प्रारब्ध के अन्त तक जो जीवन्मुक्ति की कथा कही गई है, सो भी ठीक है ॥ २६ ॥ जब मनुष्य काम से विरक्त होता है, तब प्रीति और शोकादि को त्याग कर ज्ञानमय सम्पत्ति को पाकर वैराग्य से ही सुख पाता है ॥ २७ ॥ विवेकयुक्त तुम सुखेच्छु को प्रथम ही यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, कि यह सब संसार अनित्य है, मनुष्याद्याकार युक्त मैं और मेरी वस्तु सब अनित्य है ॥ २८ ॥ जिस किसी दृश्य अनात्मा को समझते हो कि यह है, अब समझो कि यह नहीं है मिथ्या है, ऐसा समझने वाला विद्वान् ही कठिन आपत्ति के प्राप्त होने पर भी पीडित नहीं होता है ॥ २९ ॥ और जो कुछ भूत भावी वस्तु है सो सब अनात्मवस्तु है रहने वाली नहीं हैं, इस प्रकार तुम जानने योग्य तत्त्व के ज्ञाता होकर, सब अधर्म पाप अविद्यादि से अत्यन्त मुक्त हो जावगे ॥ ३० ॥ मैं यह देह विशेषरूप राम नहीं हूँ, न मुझे पदार्थ विषयक इच्छा हैं, न मेरा मन है, मैं शान्त बैठना चाहता स्वात्मनिष्ठ होना चाहता हूँ, जैसे आत्मा ही जित हो लब्ध हो ॥ ३१ ॥ अहंकार के वश में होकर जो मुझ से भोग हुवा हवनादि किया गया, वह सब मिथ्या है, अहंकार रहितता ही सत्य है ॥ ३२ ॥ शरीरों में तथा जगत् की स्थिति में सत्यत्वादि की आस्था (यत्न

नाहं देहस्य नो देहो मम नायमहं तथा । इति विश्रान्तचित्ता ये ते मुने ! पुरुषोत्तमाः ॥३४॥

योगवा० प्र० १।१८।५२–५३॥

अनित्यं सर्वमेवेदं तापत्रितयदूषितम् । असारं निन्दितं हेयमिति निश्चित्य शाम्यति ॥३५॥

अष्टावक्रगीता०

दोषदृष्टि र्जिहासा च पुनर्भोगेष्वदीनता । असाधारणहेत्वाद्या वैराग्यस्य त्रयोऽप्यमी ॥३६॥

श्रवणादित्रयं तद्वत्तत्त्वमिथ्याविवेचनम् । पुनर्ग्रन्थेरनुदयो बोधस्यैते त्रयो मताः ॥३७॥

यमादि र्धीनिरोधश्च व्यवहारस्य संक्षयः । स्युर्हेत्वाद्या उपरतेरित्यसङ्कर ईरितः ॥३८॥

ब्रह्मलोकतृणीकारो वैराग्यस्यावधि र्मतः । देहात्मवत्परात्मत्वदार्ढ्ये बोधः समाप्यते ॥

सुप्तिवद्विस्मृतिः सीमा भवेदुपरमस्य हि ॥ ३९ ॥ पञ्चदशीप्र० ६ ॥

मूढस्यारूढदोषस्य तावत्संसृतिराततता । यावज्जन्मान्तरशतैः काकतालीययोगतः ॥

अथवा साधुसङ्गत्या वैराग्यं नाभ्युदेति हि ॥४०॥

वैराग्येऽभ्युदिते जन्तोरवश्यं भूमिकोदयः । ततो नश्यति संसार इति शास्त्रार्थसंग्रहः ॥४१॥

योगवासिष्ठप्र० ६।१२६ ॥

वशं प्राप्ते मृत्योः पितरि तनये वा सुहृदि वा, शुचा सन्तप्यन्ते भृशमुदरताडं जडधियः ।
असारे संसारे विरसपरिणामे तु विदुषां, वियोगो वैराग्यं द्रढयति वितन्वञ् शमसुखम् ॥ ४२ ॥

इति तृतीयं विरागप्रकरणं समाप्तम् । प्रबोधचन्द्रोदय० अंक० ५।२२ ॥

बाँध कर जो स्थिर हैं, उन मोहरूप मदिरा से उन्मत्त पुरुषों को वार २ धिक्कार–कष्ट है ॥ ३३ ॥ मैं इस देह का कोई सम्बन्धी नहीं हूँ, न मेरी देह है, न मैं यह जड़ देहरूप हूँ, इस विचार विरागादि से परमात्मतत्त्व में विश्रान्तियुक्त चित्त वाले जो हैं, हे मुने ! वे ही पुरुषोत्तम हैं ॥ ३४ ॥ यह सब संसार अनित्य और तीन ताप से दूषित असारनिन्दित हेय है, इस प्रकार के निश्चय से विरक्त ज्ञानी हो कर के ही शान्ति पाता है ॥ ३५ ॥ तहाँ संसार में दोष का ज्ञान, और उसे त्यागने की प्रबल इच्छा और भोगों में फिर अनासक्ति, ये क्रम से वैराग्य के हेतु स्वरूप और फल हैं ॥ ३६ ॥ और श्रवण मनन निदिध्यासन तैसे सत्य मिथ्या का विवेचन, और मोह अविवेक कामादि रूप ग्रन्थि का फिर उदय न होना, ये तीनों ज्ञान के हेतु स्वरूप और फलरूप हैं, ॥ ३७ ॥ यमनियमादि मनबुद्धि का विषयों से निरोध, लोकव्यवहार का अभाव, ये तीनों क्रम से उपरति (उपरामता-संन्यास) के हेतु स्वरूप और फल हैं ॥३८॥ ब्रह्मलोक को भी तृण तुल्य करना सर्वथा इच्छा का अभाव वैराग्य की अन्तावधि मानी गई है, और देह में प्रत्यक्ष दृढ़ आत्मता के निश्चय के समान परब्रह्म में आत्मता के दृढ़ निश्चय होने पर आत्मज्ञान की पूर्णता होती है, और सुषुप्ति के समान जागरण में अनात्म वस्तु की विस्मृति (स्मरणाभाव) उपरम (उपरति) की अन्तिम सीमा है ॥ ३९ ॥ आरूढ (व्यक्त अतिजात) दोष वाले मूढ की जन्मादि रूप संसृति तब तक आतत (निरन्तर विस्तृत) है कि जब तक सैकड़ों जन्मान्तर द्वारा काकतालीय न्याय से अथवा साधुसंगति से वैराग्य नहीं उत्पन्न होता है ॥ ४० ॥ वैराग्य के अभ्युदित (प्रकट) होने पर प्राणी के ज्ञान की भूमिकाओं का अवश्य उदय होता है, जिससे संसार (जन्मादि) का नाश (अभाव) होता है, इतना ही शास्त्रार्थ का संग्रह है ॥ ४१ ॥ तीसरा विरागप्रकरण समाप्त ॥

अथ शमः शान्तश्च ॥ ४ ॥

सुशान्ताय नमस्तस्मै विशुद्धज्ञानमूर्त्तये । यद्दर्शनसुभाषाभ्यां जनः शान्तिं समश्नुते ॥१॥
एकवृत्त्यैव मनसः स्वलक्ष्ये नियतस्थितिः । शम इत्युच्यते सद्भिः शमलक्षणवेदिभिः ॥२॥
स्वविकारं परित्यज्य वस्तुमात्रतया स्थितिः । मनसः सोत्तमा शान्तिः शुद्धसत्त्वैकलक्षणा ॥३॥
प्रत्यक्प्रत्ययसन्तानप्रवाहकरणं धियः । यदेषा मध्यमा शान्तिः शुद्धसत्त्वैकलक्षणा ॥४॥
विषयव्यावृतिं त्यक्त्वा श्रवणैकमनः स्थितिः । मनसश्चेतरा शान्ति मिश्रसत्त्वैकलक्षणा ॥५॥
प्राच्योदीच्याङ्गसद्भावे शमः सिद्ध्यति नान्यथा । तीव्रा विरक्तिः प्राच्याङ्गमुदीच्याङ्गं दमादयः ॥६॥
कामः क्रोधश्च लोभश्च मदो मोहश्च मत्सरः । न जिताः षडिमे यस्य तस्य शान्तिर्न सिद्ध्यति ॥७॥
येन नाराधितो देवो यस्य नो गुर्वनुग्रहः । न वश्यं हृदयं यस्य तस्य शान्तिर्न सिद्ध्यति ॥८॥
सर्ववेदान्तसारसंग्र० ॥
शमेनाऽऽसाद्यते श्रेयः शमो हि परमं पदम् । शमः शिवः शमः शान्तिः शमो भ्रान्तिनिवारणम् ॥९॥
पुंसः प्रशमतृप्तस्य शीतलाच्छतरात्मनः । शमभूषितचित्तस्य शत्रुरप्येति मित्रताम् ॥१०॥
यानि दुःखानि या तृष्णा दुःसहा ये दुराधयः । तत्सर्वं शान्तचेतस्सु तमोऽर्केष्विव नश्यति ॥११॥
शमशालिनि सौहार्दवति सर्वेषु जन्तुषु । सुजने परमं तत्त्वं स्वयमेव प्रसीदति ॥१२॥

अथ शम और शान्त—उस विशुद्धज्ञान मूर्त्ति सुशान्त के प्रति नमस्कार है कि जिनके दर्शन और सुन्दर वचन से जन शान्ति पाता है ॥ १ ॥ एकवृत्ति से ही मन की अपने लक्ष्य (ध्येय) में नियत स्थिति को शम के लक्षण वेत्ता सत्पुरुष शम कहते हैं ॥ २ ॥ अपने कामादि विकारों को त्याग कर सत्य वस्तु मात्र रूप में जो मन की स्थिति सो शुद्ध सत्त्वगुणरूप एक लक्षण वाली उत्तम शान्ति (शम) है ॥ ३ ॥ अन्तरात्मा के ज्ञान के सन्तानरूप प्रवाह रूप से बुद्धि को करना जो ऐसी मध्यमा शान्ति है सो भी शुद्धसत्त्वरूप एक लक्षण वाली है ॥ ४ ॥ विषय व्यापार को त्याग कर श्रवणरूप एक व्यापार में मन की स्थिति उन दोनों से अन्य मन की शान्ति है, सो मिश्रितसत्त्वरूप एक लक्षण वाली है ॥ ५ ॥ शम से पूर्व और उत्तर के अंग (साधन) के सद्भाव (सत्ता) होने पर शम सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं होता है । तहाँ तीव्र वैराग्य पूर्व का अंग है और दमश्रद्धादि उत्तर के साधन हैं ॥ ६ ॥ और कामादि ये छः दोष जिसके नहीं जीते गये हैं, उस को भी शान्ति नहीं मिलती है ॥ ७ ॥ जिससे ईश्वर की आराधना (ध्यान स्मरणादि द्वारा तुष्टि प्रसन्नता) नहीं की गई है, न जिसके ऊपर गुरु की कृपा है और न हृदय (मन) वश में है तिस को शान्ति नहीं प्राप्त होती है, अतः शान्ति के लिये ये सब कर्तव्य हैं इत्यादि ॥ ८ ॥ जिस लिये शम से श्रेयः (कल्याण) प्राप्त किया जाता है, तिससे शम परम पदरूप है, शिव है शान्ति (सब दुःखों की निवृत्ति) रूप है, अर्थात् इन सबों का साधन है ॥ ९ ॥ प्रशम से तृप्त, रागादिरहित होने से शीतल, मोहरहित होने से शुद्धतर (अतिशुद्ध) मन वाले, और शम से विभूषित चित्त वाले पुरुष का शत्रु भी मित्र हो जाता है ॥ १० ॥ जो दुःख तृष्णा दुःसह दुष्ट मानस रोग हैं, सो सब शान्त चित्त वाले में सूर्य में अंधकार के समान नष्ट होते हैं ॥ ११ ॥ शमवाले सब प्राणियों में मित्रता वाले सुजन में

न पिशाचा न रक्षांसि न दैत्या न च शत्रवः । न च व्याघ्र भुजङ्गा वा द्विषन्ति शमशालिनम् ॥१३॥
प्राणात्प्रियतरं दृष्ट्वा तुष्टिमेति न वै जनः । यामायाति जनः शान्तिमवलोक्य शमाशयम् ॥१४॥
समया शमशालिन्या वृत्त्या यः साधु वर्त्तते । अभिनन्दितया लोके जीवतीह स नेतरः ॥१५॥
अनुद्धतमनाः शान्तः साधुः कर्म करोति यत् । तत्सर्वमभिनन्दन्ति तस्येमा भूतजातयः ॥१६॥
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा शुभाशुभम् । न हृष्यति ग्लायति यः स शान्त इति कथ्यते ॥१७॥
यः समः सर्वभूतेषु भावि काङ्क्षति नोज्झति । जित्वेन्द्रियाणि यत्नेन स शान्त इति कथ्यते ॥१८॥
स्पृष्ट्वाऽवदातया बुद्ध्या यथैवान्तस्तथा बहिः । दृश्यन्ते यत्र कार्याणि स शान्त इति कथ्यते ॥१९॥
स्थितोऽपि न स्थित इव न हृष्यति न कुप्यति । यः सुप्तसमः स्वस्थः स शान्त इति कथ्यते ॥२०॥
अमृतस्यन्दसुभगा यस्य सर्वजनं प्रति । दृष्टिः प्रसरति प्रीता स शान्त इति कथ्यते ॥२१॥
योऽन्तः शीतलतां यातो यो भावेषु न मज्जति । व्यवहारी न सम्मूढः स शान्त इति कथ्यते ॥२२॥
अप्यापत्सु दुरन्तासु कल्पान्तेषु महत्स्वपि । तुच्छेऽहं न मनो यस्य स शान्त इति कथ्यते ॥२३॥
आकाशसदृशी यस्य पुंसः संव्यवहारिणः । कलङ्कमेति न मतिः स शान्त इति कथ्यते ॥२४॥
तपस्विषु बहुज्ञेषु याजकेषु नृपेषु च । बलवत्सु गुणाढ्येषु शमवानेव राजते ॥२५॥योगवासिष्ठ०प्र०२।१३॥

परम तत्त्व स्वयं प्रकट होता है ॥ १२ ॥ शम वाले से पिशाच राक्षस दैत्य शत्रु व्याघ्र सर्प भी द्वेष नहीं करते हैं ॥ १३ ॥ प्राण से भी अतिप्रिय पुत्रादि को देख कर मनुष्य उस तुष्टि को नहीं प्राप्त करता है कि जिस तुष्टि को शमयुक्त आशय (अभिप्राय) वाले को देख कर जन पाता है ॥ १४ ॥ समतायुक्त, शमता से शोभित, लोक सज्जन से अभिनन्दित वृत्ति से जो साधु (चारु-रम्य) रीति से वर्ताव व्यवहार करता है, वही, इस लोक में सफल जीवन वाला है अन्य नहीं ॥ १५ ॥ अनुद्धत (विनीत शान्त) मन वाला साधु (शान्त) पुरुष जो कर्म करता है, उसके उस कर्म का ये सब प्राणी अभिनन्दन करते हैं ॥ १६ ॥ और जो शुभाशुभ शब्दादि के श्रवणादि करके भी हर्ष शोक को नहीं प्राप्त होता सो शान्त कहा जाता है ॥१७॥ जो इन्द्रियों को यत्न से जीत कर सब प्राणियों में समतायुक्त (रागद्वेष रहित) रहता है, और भावी सुख की इच्छा नहीं करता है और न प्रारब्ध से प्राप्त को त्यागता है सो शान्त कहा जाता है ॥ १८ ॥ अन्य के अशुभ व्यवहार को भी शुद्ध बुद्धि से 'स्पृष्ट्वा' (जान कर) भी, जो बाहर भीतर एक रस निर्विकार रहता है, और जिस में मोक्षोपयोगी कार्य ही दीखते हैं, सो शान्त कहलाता है ॥ १९ ॥ हर्षकोपादि के हेतु वाले देश में रहते भी जो मानो नहीं रहता, अतः हर्ष और क्रोध से युक्त नहीं होता है, और सुप्त के समान स्वरूपस्थ रहता है सो शान्त कहलाता है ॥ २० ॥ अमृत प्रवाह के तुल्य सुन्दर सुखद जिस की दृष्टि प्रीत (तृप्त) होकर सब जनों के प्रति फैलती चलती है, सो शान्त कहलाता है ॥ २१ ॥ जिसने भीतर में शान्ति को प्राप्त किया है, जो बाहर के भाव (पदार्थ-विषय) में आसक्त नहीं होता, व्यवहार करने पर भी मोहयुक्त नहीं होता सो शान्त कहाता है ॥ २२ ॥ दुःख से अन्त योग्य आपत्तियों में महा कल्पान्तों में भी जिसका मन तुच्छ देहादि में अभिमानादि युक्त नहीं होता सो शान्त कहलाता है ॥ २३ ॥ सम्यक् व्यवहारयुक्त जिस पुरुष की आकाशतुल्य असंगबुद्धि रागद्वेषादि कलंक को नहीं प्राप्त होती सो शान्त कहलाता है ॥ २४ ॥ ऐसा शम वाला (शान्त) ही तपस्वी आदिकों में भी शोभता प्रकाशता है ॥२५॥

न रसायनपानेन न लक्ष्म्यालिङ्गनेन च । तथा सुखमवाप्नोति शमेनान्तर्यथा मनः ॥२६॥
मातरीव परं यान्ति विषमाणि मृदूनि च । विश्वासमिह भूतानि सर्वाणि शमशालिनि ॥२७॥
योगवासिष्ठ प्र० २।१३ ॥ महोपनिष० अ० ४।३१-३० ॥
अपमाने न कुप्येत सम्माने न प्रहृष्यति । समदुःखसुखो धीरः स शान्त इति कथ्यते ॥२८॥
पद्मपु० खं० १।१६।३१० ॥
यथा व्याध्यादिदोषेण विषयेच्छा न जायते । एवं विषयदोषेण विषयेच्छाजनि र्न या ॥२९॥
स शमः कथ्यते पुंसो विषयेच्छाविवर्जनम् । शम उक्तोऽभिलापोऽयमानन्दात्मस्वरूपिणः ॥
हित्वा विषयजान् सर्वानभिलाषान् सदैव हि ॥३०॥ आत्मपु० अ० १०।५८२-८३ ॥
मैथुनस्यासमारम्भो जल्पनाचिन्तनात्तथा । निवृत्तिर्ब्रह्मचर्यं च तदेतच्छमलक्षणम् ॥३१॥
मत्स्यपुरा० ॥
दानमिज्या तपः शौचं तीर्थं सेवा तथा श्रुतम् । अशान्तमनसः पुंसः सर्वमेतदनर्थकम् ॥३२॥
रागद्वेषानृतक्रोधलोभमोहमदादिभिः । सर्वदोषै र्विनिर्मुक्तो यः स शान्त इति स्मृतः ॥३३॥
इतिहास समुच्चय० अ० १२।३५-३६ ॥
बहिरङ्गं कर्मजातं संन्यासस्यान्तरङ्गता । प्रत्यासन्नतराः शान्तिदान्त्याद्या इत्यसौ क्रमः ॥३४॥
शान्तिः क्रोधपरित्यागो दान्ति र्बाह्याक्षनिग्रहः । शान्तो मुनि र्बलीवर्दो दान्त इत्युक्तिदर्शनात् ॥३५॥
बृहदार० वार्तिकसा० अ० ४।४।४४१ ॥
सदैव वासनात्यागः शमोऽयमितिशब्दितः । निग्रहो बाह्यवृत्तीनां दम इत्यभिधीयते ॥३६॥
अपरोक्षानुभू० ॥

रसायन के पान वा लक्ष्मी के आलिङ्गन से अन्तर में मन वैसा सुख नहीं पाता है कि जैसा शम से पाता है ॥२६॥ विषम (क्रूर) और मृदु सब प्राणी शमवान् में इस प्रकार यहाँ विश्वास करते हैं, कि जैसे माता में विश्वास करते हैं ॥ २७ ॥ जो अपमान से क्रुद्ध नहीं होता है, न सम्यक् मान से प्रहृष्ट ही होता है, सुख दुःख को सम समझने वाला वह धीर पुरुष शान्त कहलाता है ॥ २८ ॥ जैसे व्याधि आदि दोषों से विषयों की इच्छा नहीं होती है, वैसे ही विषयों के दोषदर्शन से जो विषयों की इच्छा नहीं होती है, उस विषयेच्छा के त्याग को ही पुरुष का शम कहा जाता है । और विषय जन्य सब अभिलाषाओं (इच्छायों) के त्यागपूर्वक सदा आत्मानन्द स्वरूप की अभिलाषा यह शम कहाता है ॥२९-३०॥ मैथुन का अनारम्भ, जल्पन चिन्तन (कथन स्मरण) द्वारा भी मैथुन की निवृत्ति ब्रह्मचर्य है, वही इस शम का लक्षण है ॥ ३१ ॥ अशान्त (शमरहित) मन वाले पुरुष के दान यज्ञ तप शौच तीर्थ सेवा श्रवण ये सब अनर्थक (निष्फल) होते हैं ॥ ३२ ॥ राग द्वेष झूठ क्रोध लोभ मोह मद आदि सब दोषों से जो रहित होता है उसे शान्त कहा जाता है ॥ ३३ ॥ कर्म समूह ज्ञान के बहिरङ्ग (बाहर-दूर के साधन) हैं, संन्यास (त्याग) की ज्ञान में अन्तरङ्गता (समीपता) है, और शमदमादि ज्ञान के प्रत्यासन्नतर (अत्यन्त समीप के अति अन्तरङ्ग साधन) हैं यह क्रम है ॥ ३४ ॥ क्रोध का सर्वथा त्याग शान्ति है, और बाहर की इन्द्रियों का निरोध दान्ति (दम) है, इसीसे क्रोध रहित मुनि को शान्त कहा जाता है, और इन्द्रियों के निरोध युक्त बैल को दान्त कहा जाता है ॥३५॥ सदा ही वासनाओं का त्याग यह शम कहा गया है, वाह्यवृत्तियों का निरोध दम

परद्रव्यपरद्रोहपरनिन्दापरस्त्रियः । नालम्बते मनो यस्य तस्य चित्तं प्रसीदति ॥३७॥

इति चतुर्थं शमप्रकरणं समाप्तम् ॥ वेदान्तसिद्धान्तसा० ॥

अथ दमो दान्तश्च ॥ ५ ॥

दमेन दलिताशेषदोषराशिं मुनीश्वरम् । बोधधूततमःकूटं कूटस्थं पावनं भजे ॥१॥

ब्रह्मचर्यादिभि धर्मै र्बुद्धेर्दोषनिवृत्तये । दण्डनं दम इत्याहु र्मनसः शान्तिसाधनम् ॥२॥

तत्तद्वृत्तिनिरोधेन बाह्येन्द्रियविनिग्रहः । योगिनो दम इत्याहु र्मनसः शान्तिसाधनम् ॥३॥

सर्वेन्द्रियाणां गतिनिग्रहेण भोग्येषु दोषाद्यवमर्षणेन ।
ईशप्रसादाच्च गुरोः प्रसादाच्छान्ति समायात्यचिरेण चित्तम् ॥४॥ सर्ववेदान्तसिद्धान्तसं० ॥

धर्मस्य विधयो नैके ये वै प्रोक्ता महर्षिभिः । स्वं स्वं विज्ञानमाश्रित्य दमस्तेषां परायणम् ॥५॥

सुखं दान्तः प्रस्वपिति सुखं च प्रतिबुध्यते । सुखं पर्येति लोकांश्च मनश्चास्य प्रसीदति ॥६॥

अदान्तः पुरुषः क्लेशमभीक्ष्णं प्रतिपद्यते । अनर्थांश्च बहूनन्यान् प्रसृजत्यात्मदोषजान् ॥७॥

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् । इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥८॥

अकार्पण्यमसंरम्भः सन्तोषः प्रियवादिता । अविहिंसाऽनसूया चाप्येषां समुदयो दमः ॥९॥

गुरुपूजा च कौरव्य ! दयाभूतेषु, पैशुनम् । जनवादं मृषावादं स्तुतिनिन्दाविवर्जनम् ॥१०॥

कहा जाता है ॥ ३६ ॥ जिस का शान्त मन अन्य के द्रव्य द्रोह निन्दा और स्त्री को ग्रहण स्वीकार नहीं करता है, उस का चित्त प्रसन्न सुखी और स्वच्छ होता है ॥ ३७ ॥ चौथा शम प्रकरण समाप्त ॥

अथ दम और दान्त—जिसके दोषों का समूह दम से नष्ट हो गया है और आत्मबोध से तम का समूह नष्ट हुवा है जिसका ऐसे निर्विकार पावन मुनीश्वर को भजता हूँ ॥ १ ॥ ब्रह्मचर्यादिधर्मों द्वारा दोषों की निवृत्ति के लिये बुद्धि को दण्ड देना ही मन की शान्ति का साधन दम है इस प्रकार सत्पुरुष कहते हैं ॥ २ ॥ उन बाह्य वृत्तियों के निरोध से जो बाह्येन्द्रियों को वश करना है, उसी को मन की शान्ति का साधन रूप दम योगी लोग कहते हैं ॥ ३ ॥ सब इन्द्रियों की अनुचित गति को रोकने से, तथा भोग्य वस्तुवों में दोषादि के विचार से ईश्वर की प्रसन्नता और गुरु की प्रसन्नता से यह चित्त शीघ्र सम्यक् शान्ति को प्राप्त करता है ॥ ४ ॥ महर्षियों से कहे गये धर्म की विधियाँ (क्रम) जो अपने अपने विज्ञान का आश्रय लेकर कही गई हैं उन सब विधियों के लिये दम परायण (उत्तम मार्ग) है ॥ ५ ॥ दान्त (दमयुक्त) प्राणी सुख पूर्वक सोता और जागता है, और सुख पूर्वक सब लोकों को प्राप्त करता है, और उसका मन प्रसन्न स्वच्छ होता है ॥ ६ ॥ दमरहित अदान्त पुरुष सदा बारंबार क्लेश पाता है, और अपने दोषों से जन्य अन्य बहुत से अनर्थों को भी पैदा उत्पन्न करता है ॥७॥ क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समता, सत्य, आर्जव (ऋजुता) इन्द्रियों का विजय, दक्षता, मृदुता, लज्जा, अचंचलता, अकृपणता, असंरम्भ (अनावेश) संतोष, प्रियवादिता, अविहिंसा और अनसूया, इन १७ का समुदय (सम्यग् अभिव्यक्ति) को दम कहते हैं ॥८–९॥ हे कौरव्य ! गुरुपूजा, सब भूतों पर दया भी दम ही है । और पिशुनता, जनवाद (कलह), स्तुतिनिन्दा का

कामं क्रोधं च लोभं च दर्पं दम्भं विकत्थनम् । रोषमीर्ष्याऽवमानं च नैव दान्तो निषेवते ॥११॥
महाभा० शान्तिप० अ० १६० ॥

दममेव प्रशंसन्ति वृद्धाः श्रुतिसमाधयः । सर्वेषामेव वर्णानां ब्राह्मणस्य विशेषतः ॥१२॥
नादान्तस्य क्रियासिद्धि र्यथावदुपपद्यते । क्रिया तपश्च सत्यं च दमे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥१३॥
क्रव्यादूभ्य इव भूतानामदान्तेभ्यः सदा भयम् । तेषां विप्रतिषेधार्थं राजा सृष्टः स्वयंभुवा ॥१४॥
आश्रमेषु च सर्वेषु दम एव विशिष्यते । यच्च तेषु फलं धर्मे भूयो दान्ते तदुच्यते ॥१५॥
तेषां लिङ्गानि वक्ष्यामि येषां समुदयो दमः । अकार्पण्यमसंरम्भः सन्तोषः श्रद्धधानता ॥१६॥
अक्रोध आर्जवं नित्यं नातिवादोऽभिमानिता । गुरुपूजाऽनसूया च दया भूतेष्वपैशुनम् ॥१७॥
जनवादमृषावादस्तुतिनिन्दाविवर्जनम् । साधुकामश्च स्पृहयेन्नायतिं प्रत्ययेषु च ॥१८॥
अवैरकृत्सूपचारः समो निन्दाप्रशंसयोः । सुवृत्तः शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्मात्मवान् प्रभुः ॥१९॥
सर्वभूतहिते युक्तो न स्म यो द्विषते जनम् । महाह्रद इवाक्षोभ्यः प्रज्ञातृप्तः प्रसीदति ॥२०॥
अभयं सर्वभूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः । नमस्यः सर्वभूतानां दान्तो भवति बुद्धिमान् ॥२१॥
महाभा० शान्तिप० अ० २२० ॥

आश्रमेषु चतुर्ष्वाहु र्दममेवोत्तमं व्रतम् । तस्य लिङ्गं प्रवक्ष्यामि येषां समुदयो दमः ॥२२॥
क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् । इन्द्रियाभिजयो धैर्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२३॥
अकार्पण्यमसंरम्भः सन्तोषः श्रद्धधानता । एतानि यस्य राजेन्द्र ! स दान्तः पुरुषः स्मृतः ॥२४॥
कामो लोभश्च दर्पश्च मन्युर्निद्रा विकत्थनम् । मान ईर्ष्या च शोकश्च नैतद्दान्तो निषेवते ॥२५॥

अत्याग, काम, क्रोध, लोभादि का सेवन दान्त नहीं करता है, इन्हें त्यागता है ॥ १०–११ ॥ वेद श्रवणादि में समाधि (एकाग्रता) वाले वृद्ध ज्ञानी जन दम की ही प्रशंसा करते हैं, सो सब वर्णों में दम की ही प्रशंसा करते हैं, और ब्राह्मण के दम की विशेषरूप से स्तुति करते हैं ॥ १२ ॥ अदान्त (दमरहित) की क्रिया यागादि की सिद्धि उचित रीति से नहीं हो सकती है, क्योंकि क्रिया तप सत्य ये सब दम में ही प्रतिष्ठित हैं, इससे दम सब का आश्रय है ॥ १३ ॥ क्रव्याद (राक्षस-तथा अपक्व मांसाशी) व्याघ्रादि के समान अदान्त मनुष्य से भी सब प्राणियों को सदा भय होता है, और उन अदान्तों से जन्य भयों की निवृत्ति के ही लिये ब्रह्मा जी ने राजा की सृष्टि की है ॥ १४ ॥ सब आश्रमों में दम विशिष्ट श्रेष्ठ वस्तु है, उन आश्रमों में धर्म करने से जो फल होता है, वह दान्त को अधिक होता है ॥ १५ ॥ जिनका समुदाय रूप दम है, उनके लिंग कहूँगा, वे अकृपणतादि हैं, और जनवादादि का त्याग रूप हैं। और साधुकाम (मोक्षार्थी) सुखादि के अनुभव में आयति (उत्तर काल) की इच्छा नहीं करे और प्राप्त को भोगे ॥ १६–१८ ॥ वैररहित सुन्दर उपचार (व्यवहार) आदि वाला, निन्दा प्रशंसा में तुल्यादि स्वरूप, प्रसन्न वशीभूत मन वाला और समर्थादि स्वरूप बुद्धिमान् दान्त होता है ॥ १९–२१ ॥ सब आश्रमों में उत्तम व्रत रूप दम है, इत्यादि पूर्व तुल्य अर्थ है ॥ २२–२४ ॥ काम, लोभ, परानादर मन्यु (क्रोध) अविहित निद्रा, वीर्यादि कथन, श्लाघा, अभिमानादि का सेवन दान्त नहीं करता है ॥ २५ ॥

अजिह्ममशठं शुद्धमेतद्दान्तस्य लक्षणम् ॥२६॥
अलोलुपस्तथाल्पेप्सुः कामानामविचिन्तिता । समुद्रकल्पः पुरुषः स दान्तः परिकीर्त्तितः ॥२७॥
महाभा० उद्योगप० अ० ६३ ॥
दमस्तेजो वर्द्धयति पवित्रो दम उच्यते । विपाप्मा चैव तेजस्वी पुरुषो दमतो भवेत् ॥२८॥
ये केचिन्नियमा लोके ये च धर्मशुभान्वयाः । सर्वयज्ञफलं चापि दमस्तेभ्यो विशिष्यते ॥२९॥
किमरण्ये त्वदान्तस्य दान्तस्यापि किमाश्रमे । यत्र यत्र वसेद्दान्तस्तदरण्यं महाश्रमः ॥३०॥
शीलवृत्तसमेतस्य निगृहीतेन्द्रियस्य च । आर्जवे वर्त्तमानस्य आश्रमैः किं प्रयोजनम् ॥३१॥
सुखं च दान्तः स्वपिति सुखेन प्रतिबुध्यते । समः सर्वेषु भूतेषु मनो यस्य प्रबुध्यते ॥३२॥
न रथेन सुखं याति न हयेन न दन्तिना । यथात्मना विनीतेन सुखं याति महापथे ॥३३॥
न तु कुर्याद्धरिः स्पृष्टः सर्पो वाप्यतिरोषितः । अरि र्वा नित्यसंक्रुद्धो यथात्मा दमवर्जितः ॥३४॥
अथाश्रमेषु सर्वेषु दम एवोत्तमं व्रतम् । तानि लिङ्गानि वक्ष्यामि यै र्दान्त इति कथ्यते ॥३५॥
अकार्पण्यमपारुष्यं सन्तोषः सुविधानता । अनसूया गुरोः पूजा दया भूतेष्वपैशुनम् ॥३६॥
षड्भिरेष दमः प्रोक्त ऋषिभिः शान्तबुद्धिभिः ॥३७॥
दमः छादयते सर्वं हीनमङ्गं पटो यथा । अधीयन्ते निरर्थं ते नाभिजानन्ति ये दमम् ॥३८॥
यद्यधीते षडङ्गानि वेदतत्त्वार्थविद् द्विजः । दमेन तु विहीनश्च पूज्यत्वं नेह गच्छति ॥३९॥

कुटिलता और शठता से रहित होना ही इस दान्त के लक्षण जानो ॥२६॥ अविलोभ रहित, अल्पेच्छुक, काम्य-विषयों की चिन्ता रहित और समुद्र तुल्य अगाध, मनुष्य दान्त कहलाता है ॥ २७ ॥ दम तेजको बढाता है दम पवित्र कहलाता है, अतः दम से पुरुष पाप रहित और तेजस्वी होता है ॥२८॥ जो कुछ लोक में नियम (शौचसन्तोषादि और व्रत) हैं, तथा धर्म के अन्वय (सन्तान) हैं, और जो सर्वयज्ञ का फल है, इन सब से दम विशिष्ट है ॥ २९ ॥ अदान्त को जंगल में क्या फल है ? और दान्त को आश्रम (मठ) में क्या हानि है ? दान्त पुरुष जहाँ २ वसता है वहाँ ही जंगल महाश्रम है ॥३०॥ सुन्दर स्वभाव सुचरित्र से युक्त, निगृहीत (वशीकृत) इन्द्रिय वाला आर्जव निष्ठ को ब्रह्मचर्यादि आश्रमों से भी क्या प्रयोजन है ? ॥३१॥ सब भूतों में समतायुक्त दान्त सुख पूर्वक सोता है, और सुख से जागता है कि जिसका मन प्रबुद्ध (मोहरहित) हो जाता है ॥ ३२ ॥ रथादि से कोई कहीं सुख पूर्वक नहीं पहुँचता है, कि जैसे विनीत (विनययुक्त) आत्मा से महापथ (मोक्षमार्ग) को सुख पूर्वक प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥ स्पर्श को प्राप्त हरि (सिंह) वा अत्यन्त क्रुद्ध सर्प वा सदा क्रुद्ध शत्रु भी वैसा अपकार दुःख नहीं करता है कि जैसा दम रहित अपना आत्मा करता है ॥ ३४ ॥ इससे सब आश्रमों में दम ही उत्तम व्रत है । उन लिङ्गों (चिह्नों लक्षणों) को कहूँगा, कि जिन से दान्त कहा जाता है ॥ ३५ ॥ वे लक्षण अकृपणता आदि रूप हैं कि जिन छौ के रहने से शान्तबुद्धि वाले ऋषि दम कहते हैं ॥३६–३७॥ सब हीन (न्यूनता दोष) को दम आच्छादित करता है, जैसे पट अंग (शरीर शरीरावयव) को ढाँपता है । ऐसे दम को जो नहीं जानते वा प्राप्त करते हैं, सो व्यर्थ पढ़ते हैं ॥ ३८ ॥ वेद के तत्त्वार्थ का ज्ञाता द्विज यदि वेद के छः अंगों को भी पढता है परन्तु दम से

दमेन हीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः ।
साङ्ख्यं च योगश्च कुलं च जन्म तीर्थाभिषेकश्च निरर्थकानि ॥४०॥ पद्मपु० खं० १।१६।२६।इत्यादि

बाह्येन्द्रियाणां विजयो दम उक्तो मनीषिभिः । वृषभस्य प्रमत्तस्य यथा बन्धनतो भवेत् ॥४१॥
आत्मपु० अ० १०।५८० ॥

आत्मार्थे वा परार्थे वा, इन्द्रियाणीह यस्य वै । विषये न प्रवर्त्तन्ते दमस्यैतत्तु लक्षणम् ॥४२॥ मत्स्यपुरा० ॥

बुद्धीन्द्रियाणि संयम्य शकुन्तानीव पञ्जरे । इन्द्रियैर्नियतैर्देही धारणाभिश्च तृप्यति ॥४३॥ शाम्बपुरा० ॥

यस्येन्द्रियाणि न वशे सद्बुद्धिस्तस्य नो भवेत् । शास्त्रे गुरूपदेशे च न ध्यानं कर्त्तुमर्हति ॥४४॥

नरस्य ध्यानहीनस्य शान्तिमाप्नोति नो मनः । शान्तिहीनो न लभते मोक्षानन्दं सुखं क्वचित् ॥४५॥

वचसा मनसा चैव जिह्वया करश्रोत्रकैः । दान्तमाहुर्हि सत्तीर्थं काकतीर्थमतः परम् ॥४६॥

इति पञ्चमं दमप्रकरणं समाप्तम् ॥ स्कन्दपु० खं० १-२ अ० १।६० ॥

अथ श्रद्धा ॥ ६ ॥

श्रद्धापूतं नरं मन्ये सद्विवेकयुतं सदा । सुखशान्तिसमायुक्तं विमुक्तं लोकबन्धनैः ॥१॥

शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्ध्यावधारणम् । सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्यया वस्तूपलभ्यते ॥२॥

गुरुवेदान्तवाक्येषु बुद्धिर्या निश्चयात्मिका । सत्यमित्येव सा श्रद्धा निदानं मुक्तिसिद्धये ॥३॥

रहित है तो वह यहाँ पूज्य नहीं होता है ॥ ३९ ॥ क्योंकि अंग सहित पढ़े गये वेद भी दम रहित को पवित्र नहीं करते हैं, और उसके लिये सांख्यादि भी निरर्थक होते हैं ॥ ४० ॥ प्रमत्त बैल के बन्धन के समान बाह्य इन्द्रियों के विजय को विद्वान् सब दम कहते हैं ॥ ४१ ॥ अपने लिये वा अन्य के लिये जिसकी इन्द्रियाँ विषयों में नहीं जातीं उस में यही दम का लक्षण है ॥ ४२ ॥ पिंजरे में पक्षियों के समान ज्ञानेन्द्रियों का संयम (निरोध) कर के नियत (नियमित वशीभूत) इन्द्रियों से और धारणाओं से पुरुष तृप्त होता है ॥ ४३ ॥ जिसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं उसकी सद्बुद्धि (सत्यविवेकादि) नहीं होती है, और न वह शास्त्र और गुरु के उपदेश में ध्यान (चित्त को स्थिर) कर सकता है ॥ ४४ ॥ ध्यानरहित मनुष्य का मन शान्ति नहीं पाता है, और शान्तिरहित मनुष्य मोक्ष का आनन्द वा सुख कहीं नहीं पाता है ॥ ४५ ॥ वचन मन जिह्वा हाथ कान इन सब से जो दान्त (दम युक्त) हैं, जिनके वचनादि निगृहीत वश में हैं, उनको सच्चा तीर्थ महात्मा लोग कहते हैं, उनसे अन्य को काकतीर्थ कहते हैं। अर्थात् सज्जन जिज्ञासु के लिये दान्त ज्ञानी तीर्थ हैं, विषयी के लिये अन्य तीर्थ है ॥ ४६ ॥ पाँचवाँ दमप्रकरण समाप्त ॥

अथ श्रद्धा—सत्य विवेक सहित श्रद्धा से पवित्र मनुष्य को सदा सुख शान्ति युक्त और लोक के बन्धनों से रहित मानता हूँ ॥ १ ॥ सत्शास्त्र और सद्गुरु के वाक्यों को सत्य बुद्धि से निश्चय को सत्पुरुषों ने श्रद्धा कहा है कि जिससे सत्य वस्तु की प्राप्ति होती है ॥ २ ॥ गुरु और वेदान्त वाक्य में 'यह सत्य है' ऐसा जो निश्चय रूप ज्ञान सो श्रद्धा है, वही मुक्ति की सिद्धि के लिये निदान (आदिकरण)

श्रद्धावतामेव सतां पुमर्थः समीरितः सिद्ध्यति नेतरेषाम् ।
उक्तं सुसूक्ष्मं परमार्थतत्त्वं श्रद्धत्स्व सौम्येति च वक्ति वेदः ॥ ४ ॥
श्रद्धाविहीनस्य तु न प्रवृत्तिः प्रवृत्तिशून्यस्य न साध्यसिद्धिः ।
अश्रद्धयैवाभिहताश्च सर्वे मज्जन्ति संसारमहासमुद्रे ॥ ५ ॥
यथार्थवादिता पुंसां श्रद्धाजननकारणम् । वेदस्येश्वरवाक्यत्वाद् यथार्थत्वे न संशयः ॥६॥
मुक्तस्येश्वररूपत्वाद् गुरोर्वागपि तादृशी । तस्मात्तद्वाक्ययोः श्रद्धा सतां सिद्ध्यति धीमताम् ॥७॥
श्रीमत्स्वामिशङ्कराचा० ॥

प्रियं श्रद्धे ! ददतः प्रियं श्रद्धे ! दिदासतः । प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥८॥
ऋग्वेद० मंडल० १०।१५१२ ॥
यजुर्वेद० अ० १९।३०॥
श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ ९ ॥

श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते श्रद्धा प्रतिष्ठा लोकस्य देवी ।
श्रद्धा देवी प्रथमजा ऋतस्य विश्वस्य भर्त्री जगतः प्रतिष्ठा ॥ १० ॥

श्रद्धावित्तत्वमप्येकं प्रोक्तं माध्यन्दिनैरिह । विश्वासातिशयः श्रद्धा वाक्येषु गुरुशास्त्रयोः ॥
श्रद्धाभक्तिज्ञानयोगादित्याथर्वणिकं वचः ॥ ११ ॥ बृहदारण्यकवार्तिकसार० अ० ४।४।४६६॥
श्रौतेस्मार्ते च विश्वासस्तदास्तिक्यमुदाहृतम् ॥ १२ ॥ श्रीजाबालदर्शनोप० २।६॥
श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः । ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥१३॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति । नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥१४॥
श्रीमद्भगवद्गीता० अ० ४।३९–४०॥

है ॥ ३ ॥ श्रद्धा वाले सत्पुरुषों को शास्त्र कथित मोक्षरूप पुरुषार्थ सिद्ध होता है, अन्य को नहीं, हे सौम्य ! (प्रियदर्शन !) इस कथित अत्यन्त सूक्ष्म परमार्थ तत्त्वार्थ में श्रद्धा करो, इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् रूप वेद अ० ६।१२।३। में कहा है ॥ ४ ॥ श्रद्धारहित की श्रवणादि में प्रवृत्ति नहीं होती, प्रवृत्तिरहित को ज्ञान मोक्ष की सिद्धि नहीं होती, इससे अश्रद्धा से नष्ट हो कर सब संसार समुद्र में डूबते हैं ॥ ५ ॥ पुरुष की यथार्थवक्तृता श्रद्धा की उत्पत्ति में कारण है, और वेद ईश्वर के वाक्य हैं इससे उस की यथार्थता में संशय नहीं है ॥ ६ ॥ जीवन्मुक्त गुरु भी ईश्वर रूप हैं, इससे गुरु वाक्य भी वेद तुल्य हैं, अतः गुरु और वेद वाक्यों में बुद्धिमान् सत्पुरुषों की श्रद्धा सिद्ध होती है ॥७॥ हे श्रद्धे ! दाता का दान की इच्छा वाले का और पालन कर्ता यज्ञ शील का प्रिय करो, मेरे इस कथन को करो ॥८॥ श्रद्धा से सत्य मिलता है ॥९॥ श्रद्धा से ही देव देवत्व को पाते हैं, श्रद्धा देवी लोक का आश्रय है, श्रद्धा देवी प्रथम उत्पन्न हुई, सब ऋत (कर्मफलादि) को पोषण धारण करती है, और जगत् का आश्रय है ॥ १० ॥ माध्यन्दिन शाखा वालों ने श्रद्धा को एक वित्तत्व कहा है, सो श्रद्धा गुरु शास्त्र वाक्यों में विश्वास का अतिशय रूप है । श्रद्धा भक्ति ज्ञान योग से समझो, इस प्रकार अथर्व श्रुति के वचन हैं ॥ ११ ॥ श्रुति और स्मृति से प्रतिपादित कर्मादि में विश्वास को आस्तिकता कहा गया है ॥ १२ ॥ गुरुशास्त्रादि में श्रद्धावाला ज्ञान में तत्पर जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान पाता है, और ज्ञान पाकर उत्तम शान्ति (मोक्षसुख) शीघ्र प्राप्त करता है ॥१३॥ अज्ञा

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् । असदित्युच्यते पार्थ ! न च तत् प्रेत्य नो इह ॥१५॥
श्रीमद्भ० गी० अ० १७।२८॥

अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचिनी । जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पो जीर्णमिव त्वचम् ॥१६॥
महाभा० शान्तिप० अ० २६४।१५॥

प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात्क्षत्रियाद्वा वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णम् ।
श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यं न श्रद्धिनं जन्ममृत्यू विशेताम् ॥१७॥
सर्वे वर्णाः ब्राह्मणा ब्रह्मजाश्च सर्वे नित्यं व्याहरन्ते च ब्रह्म ।
तत्त्वं शास्त्रं ब्रह्मबुद्ध्या ब्रवीमि सर्वं विश्वं ब्रह्म चैतत्समस्तम् ॥१८॥ महाभा०शां०मो० अ० ३१८।८८-८९॥
श्रद्धावांल्लभते धर्मं श्रद्धावानर्थमाप्नुयात् । श्रद्धया साध्यते कामः श्रद्धावान्मोक्षमाप्नुयात् ॥१९॥
नारदीयपु० प० १।४।६ ॥
श्रद्धया धार्यते धर्मो बहुभि र्नार्थराशिभिः । निष्किञ्चना हि मुनयः श्रद्धावन्तो दिवंगताः ॥२०॥
गरुडपु० प्रेतखं० अ० ८।११० ॥
श्रद्धा धर्मः परः सूक्ष्मः श्रद्धा ज्ञानं हुतं तपः । श्रद्धा स्वर्गश्च मोक्षश्च दृश्योऽहं श्रद्धया सदा ॥२१॥
लिङ्गपु० अ० १०।५३ ॥
अस्तीति परलोको हि मतिर्यस्य स आस्तिकः । तद्भावं चोचितां श्रद्धां मन्ये त्वास्तिक्यमुत्तमम् ॥२२॥
धर्माधर्मेषु विश्वास आस्तिक्यमिति योगिराट्। विश्वासलक्षणे चोभे श्रद्धास्तिक्येतिनामके ॥२३॥
इत्यभियुक्तोक्तिः ॥

इति सप्तमं श्र प्रकरणं समाप्तम् ॥

श्रद्धा रहित संशययुक्त मन वाला नष्ट होता है, संशययुक्त मन वाले को न यह लोक सुख का साधन है, न परलोक है, उसको कहीं भी सुख नहीं है ॥ १४ ॥ हे अर्जुन ! अश्रद्धा से अग्निहोत्र दान किया गया तप और अन्य भी जो कुछ किया जाता है सो सब असत् (निष्फल) कहा गया है, उसका फल न मरने पर होता है न यहाँ होता है ॥ १५ ॥ अश्रद्धा परम पापरूप है और श्रद्धा पाप को नष्ट करने वाली है, सांप जैसे पुराने त्वक् को त्यागता है वैसे श्रद्धावाला पाप को त्यागता है ॥ १६ ॥ ब्राह्मणादि से ज्ञान की प्राप्ति करके श्रद्धालु को उस ज्ञान को सदा श्रद्धादृष्टि से देखना चाहिये, क्योंकि श्रद्धावान् को जन्म मरण नहीं प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥ सब वर्ण ब्रह्म जन्य हैं, इससे ब्राह्मण हैं, और सब सदा ब्रह्म का कथन व्यवहार करते हैं । तत्त्व (यथार्थ) शास्त्र में ब्रह्मबुद्धि से कहता हूँ कि यह समस्त संसार ब्रह्मस्वरूप है ॥ १८ ॥ श्रद्धावाला ही धर्म और अर्थ को पाता है, श्रद्धा से काम सिद्ध होता है, और श्रद्धावाला मोक्ष पाता है ॥ १९ ॥ श्रद्धा से धर्म को धारण किया जाता है बहुत धन की राशियों से नहीं, श्रद्धायुक्त अकिञ्चन (अर्थ रहित) मुनि भी स्वर्ग में गये ॥ २० ॥ अत्यन्त सूक्ष्म धर्म रूप श्रद्धा है, और श्रद्धा ही ज्ञान हवन तप स्वर्ग मोक्षरूप हैं, ये सब श्रद्धा से सिद्ध होते हैं, मैं (ईश्वर) भी श्रद्धा से अपरोक्ष दीख पड़ता हूँ ॥ २१ ॥ परलोक है ऐसी बुद्धि जिसको है सो आस्तिक है, और आस्तिक का जो भाव (सत्तास्वभाव) उत्तम आस्तिकता उसी को उचित श्रद्धा मानता हूँ ॥ २२ ॥ धर्माधर्म में जो विश्वास उसको योगिराज आस्तिक्य कहते हैं, इससे श्रद्धा, आस्तिक्य नाम वाली दोनों वस्तु विश्वास रूप हैं ॥२३॥ सातवां श्रद्धाप्रकरण समाप्त ॥

अथ चित्तसमाधानम् ॥ ७ ॥

श्रुत्युक्तार्थावगाहाय विदुषा ज्ञेयवस्तुनि । चित्तस्य सम्यगाधानं समाधानमितीर्यते ॥१॥
सिद्धेश्चित्तसमाधानमसाधारणकारणम् । यतस्ततो मुमुक्षूणां भवितव्यं सदाऽमुना ॥२॥
अत्यन्ततीव्र वैराग्यं फललिप्सा महत्तरा । तदेतदुभयं विद्यात्समाधानस्य कारणम् ॥३॥
चित्तैकाग्र्यं तु सल्लक्ष्ये समाधानमिति स्मृतम् ॥४॥ श्रीमत्स्वामिशङ्कराचार्याः ॥
समाहितत्वमैकाग्र्यं मनसः श्रवणादिषु । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धयेत्यस्यैतत्काठके वचः ॥५॥
बृहदारण्यकवार्तिकसार० ॥

राज्यस्य सारं विषयेषु भोगो भोगस्य चान्ते न च किञ्चिदस्ति ।
विमृश्य चैतन्मुनयोऽप्यजस्रं मोक्षाधिकारं परिचिन्तयन्ति ॥६॥
सदैव भोगाय तपः प्रवृत्ति र्भोगावसाने हि तपो विनष्टम् ।
मैत्र्यादिसंयोगपराङ्मुखानां विमुक्तिभाजां न तपो न भोगः ॥७॥ नरसिंहपु० अ० ६३।१५-१६ ॥

इति सप्तमं चित्तसमाधानप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथोपरतिः ॥ ८ ॥

उपरतिशब्दार्थो ह्युपरमणं पूर्वदृष्टप्रवृत्तिभ्यः । सोऽपि मुख्यो गौणश्चेति वृत्त्या द्विरूपतां धत्ते ॥१॥
वृत्तेर्दृश्यपरित्यागो मुख्यार्थ इति कथ्यते । गौणार्थः कर्मसंन्यासः श्रुतेरङ्गतया मतः ॥२॥

अथ चित्तसमाधान—वेदादि सत्शास्त्र उपदेश में कथित अर्थ को हृदयंगत अपरोक्ष करने के लिये, ज्ञातव्य आत्मपरमात्मवस्तु में चित्त को सम्यक् स्थिर करना समाधान कहलाता है ॥ १ ॥ जिससे चित्त का समाधान ज्ञान का विशेष कारण है, तिससे मुमुक्षु को सदा समाधान युक्त होना चाहिये ॥ २ ॥ अत्यन्त तीव्र वैराग्य और महत्तर (अत्यन्त) मोक्षफल लाभ की इच्छा ये दोनों इस समाधान के कारण हैं, सो जानना चाहिये ॥ ३ ॥ और सत्य लक्ष्य (उद्देश्य) में चित्त की एकाग्रता को समाधान कहते हैं ॥ ४ ॥ और श्रवणादि ज्ञान साधन में मन की एकाग्रता भी समाहितत्त्व (समाधान) है, कठश्रुति अ० १।३।१२। में अग्र्य सूक्ष्म बुद्धि से आत्मा अपरोक्ष किया जाता है यह वचन है ॥ ५ ॥ विषयों में भोग मिलना ही राज्य का सार (श्रेष्ठ फल) है, और भोग के अन्त में फिर राज्य का कुछ भी फल नहीं रह जाता है, इस बात को विचार कर मुनि लोग निरन्तर समाहित चित्त से मोक्ष के अधिकार साधनों की ही चिन्ता करते हैं ॥ ६ ॥ अज्ञ को सदा भोग के लिये स्वकर्मादि रूप तप में प्रवृत्ति होती है, और भोगों के अन्त में वह तप विनष्ट हो जाता है, इसलिये मैत्री करुणादि के सम्बन्ध से शुद्ध हृदययुक्त होकर जो संसार से पराङ्मुख (विमुख) समाधान युक्त चित्त वाले हैं, उनके लिये मुक्ति भोग है, संसार के तप और भोग नहीं है ॥ ७ ॥ सातवाँ चित्तसमाधान प्रकरण समाप्त ॥

अथ उपरतिः—विवेकादि से प्रथम देखी गई प्रवृत्तियों से उपरमण (उदासीनता) उपरति शब्द का अर्थ है, सो भी वृत्ति (चित्तपरिणाम) के भेद से मुख्य और गौण इन दो रूपों को धारण करती है ॥ १ ॥ चित्तवृत्ति जो दृश्य विषय का परित्याग करती है, सो उपरति शब्द का मुख्य अर्थ है । श्रवण के

पुमर्थः कर्मणा नेति धीरेषोपरति र्भवेत् । न कर्मणा न प्रजयेत्यादिशास्त्रमधीयते ॥३॥
विषयेभ्यः परावृत्तिः परमोपरति र्हि सा ॥ ४ ॥ श्रीमत्स्वामिशङ्कराचार्याः ॥
यतो यतो निवर्त्तेत विमुच्येत ततस्ततः । एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः ॥५॥
विषयेषु गुणाध्यासात्पुंसः सङ्गस्ततो भवेत् । सङ्गात्तत्र भवेत्कामः कामादेव कलिर्नृणाम् ॥६॥
कले दुर्विषहः क्रोधस्तमस्तमनुवर्त्तते । तमसा ग्रस्यते पुंसश्चेतना व्यापिनी द्रुतम् ॥७॥
तया विरहितः साधो ! जन्तुः शून्याय कल्पते । ततोऽस्य स्वार्थविभ्रंशो मूर्च्छितस्य मृतस्य च ॥८॥
इत्यष्टमुपरतिप्रकरणं समाप्तम् ॥ भागवत स्क० ११।२१।१८-२१ ॥

अथ तितिक्षा ॥ ९ ॥

आध्यात्मिकादि यद्दुःखं प्राप्तं प्रारब्ध वेगतः । अचिन्तया तत्सहनं तितिक्षेति प्रचक्षते ॥१॥
तितिक्षया तपो दानं यज्ञस्तीर्थं व्रतं श्रुतम् । भूतिः स्वर्गोऽपवर्गश्च प्राप्यते तत्तदर्थिभिः ॥२॥
ब्रह्मचर्यमहिंसा च साधूनामपि चार्हणम् । पराक्षेपादिसहनं तितिक्षोरेव सिद्ध्यति ॥३॥
साधनेष्वपि सर्वेषु तितिक्षोत्तमसाधनम् । यत्र विघ्नाः पलायन्ते दैविका अपि भौतिकाः ॥४॥
तितिक्षोरेव विघ्नेभ्यस्त्वनिवर्त्तितचेतसः । सिद्ध्यन्ति सिद्धयः सर्वा अणिमाद्याः समृद्धयः ॥५॥
बहिरङ्गं श्रुतिः प्राह ब्रह्मचर्यादि मुक्तये । शमादिषट्कमेवैतदन्तरङ्गं विदु र्बुधाः ॥६॥
अन्तरङ्गं हि बलवद् बहिरङ्गाद्यतस्ततः । शमादिषट्कं जिज्ञासोरवश्यं भाव्यमन्तरम् ॥७॥

अंग (साधन) रूप से गौण अर्थ संन्यास माना गया है ॥ २ ॥ कर्म से मोक्ष नहीं होता, ऐसी बुद्धि उपरति है, सो 'न कर्मणा न प्रजया धनेन' इत्यादि शास्त्र हम से पढ़ा जाता है ॥ ३ ॥ विषयों से चित्त की अत्यन्त निवृत्ति ही वह परम उपरति है ॥ ४ ॥ और जहाँ २ से चित्त निवृत्त होता है, उस २ से विमुक्त होता है, इससे यह निवृत्ति मनुष्य का परमधर्म है, शोक मोह भय का नाशक है ॥ ५ ॥ विषयों में सुखादि गुण के भ्रम से पुरुष को उससे संग होता है, संग से उस में काम होता है, काम से कलि (कलह) होता है, उससे कठिन क्रोध रूप तम उस के पीछे लगता है, तमोगुण से उस की व्यापिनी चेतना (ज्ञान शक्ति) शीघ्र ग्रसित होती है । हे साधो ! उस चेतना (विवेकशक्ति) से रहित जन्तु तुच्छता (ज्ञानादिसे रहितता) के लिये होता है उससे मोहयुक्त मृत इस मनुष्य के स्वार्थ शान्ति मोक्ष सब का नाश (अप्राप्ति) होता है ॥ ६-८ ॥ आठवां उपरति प्रकरण समाप्त ।

अथ तितिक्षाः—प्रारब्ध कर्म के वेग से जो आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक दुःख प्राप्त हों उन को चिन्ता विना सहना तितिक्षा कहलाता है ॥ १ ॥ तितिक्षा से ही तप आदि को चाहने वाले तप आदि को प्राप्त करते हैं ॥ २ ॥ तितिक्षु को ही ब्रह्मचर्य, अहिंसा, साधु पूजा, परकृत निन्दादि का सहन, रूप धर्म सिद्ध होते हैं ॥ ३ ॥ ज्ञान के सब साधनों में तितिक्षा उत्तम साधन है, जिस तितिक्षा के रहते दैविक और भौतिक भी विघ्न स्वयं निवृत्त हो जाते हैं ॥ ४ ॥ विघ्नों से अवश्य कर्तव्यों से मन को नहीं हटाने वाले तितिक्षु को ही अणिमादिक सब सिद्धि और धनसम्पत्ति सिद्ध होती हैं ॥ ५ ॥ मुक्ति के लिये ब्रह्मचर्यादि को श्रुति बहिरङ्ग (बाहर-दूर के साधन) कहती है, और विद्वान् लोग इन शम

सहनं सर्वदुःखानां तितिक्षा सा शुभा मता ॥ ८ ॥ श्रीमत्स्वामिशङ्कराः ॥ अतएव उक्तं भगवता—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय ! शीतोष्णसुखदुःखदाः । आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ! ॥९॥

इति नवमं तितिक्षा प्रकरणं समाप्तम् ।

अथ मुमुक्षुत्वम् ॥ १० ॥

संसारबन्धनिर्मुक्तिः कथं मे स्यात्कदा विधे ! । इति या सुदृढा बुद्धिर्वक्तव्या सा मुमुक्षुता ॥१॥

संसारबन्धनिर्मुक्तिः कदा मे झटिति भवेत् । इति या सुदृढा बुद्धिरीरिता सा मुमुक्षुता ॥२॥

ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्यद्विद्वान् मोक्तुमिच्छति । संसारपाशबन्धं तन्मुमुक्षुत्वं निगद्यते ॥३॥

साधनानां तु सर्वेषां मुमुक्षा मूलकारणम् । अनिच्छोरप्रवृत्तस्य क्व श्रुतिः क्व नु तत्फलम् ॥४॥

तीव्रमध्यममन्दातिमन्दभेदाच्चतुर्विधा । मुमुक्षा तत्प्रकारोऽपि कीर्त्यते श्रूयतां बुधैः ॥५॥

तापैस्त्रिभि र्नित्यमनेकरूपैः सन्तप्यमानः क्षुभितान्तरात्मा ।
परिग्रहं सर्वमनर्थबुद्ध्या जहाति सा तीव्रतरा मुमुक्षा ॥ ६ ॥
तापत्रयं तीव्रमवेक्ष्य वस्तु दृष्ट्वा कलत्रं तनयान् विहातुम् ।
मध्ये द्वयोर्लोडनमात्मनो यत् सैषा मता माध्यमिकी मुमुक्षा ॥ ७ ॥

दमादि छः को अन्तरंग (समीप के साधन) जानते हैं ॥ ६ ॥ जिससे बहिरङ्ग से अन्तरंग बलवान् होता है, तिससे जिज्ञासु के शमादि छः अवश्य ही अन्तरात्मा में होना चाहिये ॥ ७ ॥ सब दुःखों को सहना सो ही शमादि का अन्तिम स्वरूप तितिक्षा संमत है ॥ ८ ॥ इसी से भगवान् ने कहा है कि—हे कौन्तेय ! इन्द्रियों के विषय के साथ संबन्ध ही शीत उष्ण सुख दुःख को देनेवाले आगमापायवाले अनित्य हैं, हे भारत ! उन्हें सहो । इन्हें सहने ही वाला मोक्ष के लिये समर्थ होता है इत्यादि ॥ ९ ॥ नववाँ तितिक्षा-प्रकरण समाप्त ॥

अथ मुमुक्षुत्व—हे विधे ! परमात्मन् ! मेरी संसार बन्धन से मुक्ति कैसे और कब होगी ? इस प्रकार की सुदृढ बुद्धि को मुमुक्षुता कहना चाहिये ॥१॥ संसार बन्धन की निवृत्ति मेरी कब शीघ्र होगी ? ऐसी जो सुदृढ़ बुद्धि सो मुमुक्षुता कही गई है ॥ २ ॥ ब्रह्मात्मा की एकता के ज्ञान से जो विद्वान् (विवेकी) संसार बन्धन को त्यागने के लिये इच्छा करता है, सो मुमुक्षुत्व (मुमुक्षुता) कहा जाता है ॥ ३ ॥ सब साधनों का मोक्षेच्छा (मुमुक्षुता) मूल कारण रूप है, मोक्षेच्छारहितों को श्रवणादि कहाँ ? और उनके फल कहाँ हो सकते हैं ? ॥ ४ ॥ तीव्र, मध्यम, मन्द, अतिमन्द, ये चार प्रकार की मोक्षेच्छा होती हैं, उनके प्रकार भी कहे जाते हैं, सो विद्वानों से सुना जाय ॥ ५ ॥ अनेक रूपों के तीनों तापों से सम्यक् तप्यमान (दुःखी) और चञ्चल मन वाला होकर जिस इच्छा अनर्थ बुद्धि से सब परिग्रह (स्त्री परिजनादि) को त्यागता है, वह बुद्धिजन्य इच्छा तीव्रतर मुमुक्षा है ॥ ६ ॥ तीव्र तापत्रय को देख कर, और आत्मवस्तु को विवेक से जान कर अपरोक्षानुभूति शान्ति के लिये पुत्रादि को त्यागने में असमर्थ होकर, ग्रहण त्याग के मध्य में जो जीवात्मा को लोडन (संशययुक्त रहना) सो यह मध्य की मुमुक्षुता मानी गई है ॥७

मोक्षस्य कालोऽस्ति किमद्य मे त्वरा भुक्त्वैव भोगान् कृतसर्वकार्यः।
मुक्त्यै यतिष्येऽहमथेति बुद्धिरेषैव मन्दा कथिता मुमुक्षा ॥ ८ ॥
मार्गे प्रयातु र्मणिलाभवन्मे लभ्येत मोक्षो यदि नाम धन्यः।
इत्याशया मूढधियां मतिर्या सैषातिमन्दा कथिता मुमुक्षा ॥ ९ ॥
यस्तु तीव्रमुमुक्षुः स्यात्स जीवन्नेव मुच्यते। जन्मान्तरे मध्यमस्तु तदन्यस्तु युगान्तरे ॥
चतुर्थः कल्पकोट्यां वा नैव बन्धाद्विमुच्यते ॥ १० ॥
नित्यानित्यविवेकश्च देहक्षणिकतामतिः। मृत्यो र्भीतिश्च तापश्च मुमुक्षावृद्धिकारणम् ॥११॥
शिरो विवेकस्त्वत्यन्तं वैराग्यं वपुरुच्यते। शमादयः षडङ्गानि मोक्षेच्छा प्राण उच्यते ॥१२॥
ईदृगङ्गसमायुक्तो जिज्ञासु र्युक्तिकोविदः। शूरो मृत्युं निहन्त्येव सम्यग्ज्ञानासिना ध्रुवम् ॥१३॥
अपरोक्षानुभूत्यादौ श्रीमत्स्वामिशंकरः ॥

इति दशमं मुमुक्षुत्वप्रकरणं समाप्तम्।

अथ श्रवणादयः ॥ ११ ॥

श्रवणान्मननाद् ध्यानात्तात्पर्येण निरन्तरम्। बुद्धेः सूक्ष्मत्वमायाति ततो वस्तूपलभ्यते ॥१॥
मन्दप्रज्ञावतां तस्मात्करणीयं पुनः पुनः। श्रवणं मननं ध्यानं सम्यग् वस्तूपलब्धये ॥२॥
सर्ववेदान्तवाक्यानां षड्भिरङ्गैः सदद्वये। परे ब्रह्मणि तात्पर्यनिश्चयं श्रवणं विदुः ॥३॥

मोक्ष का समय अभी है, आज शीघ्रता से मोक्ष में मुझे क्या विशेष फल है, भोगों को भोग कर सब कार्यों को करके फिर मुक्ति के लिये यत्न करूंगा, ऐसी बुद्धि ही मन्द मुमुक्षुता कही गई है ॥ ८ ॥ मार्ग में जाते हुए को जैसे दैव योग से मणि मिलती है, तैसे यदि मुझे मोक्ष मिले तो मैं धन्य (पुण्यात्मा) प्रसिद्ध हो जाऊँ, इस प्रकार की आशा से जो मूढ़बुद्धि वालों की मोक्ष की बुद्धि = इच्छा होती है सो यह अतिमन्द मुमुक्षुता कही गई है ॥ ९ ॥ जो तीव्र मोक्षेच्छुक होता है, सो इसी जन्म में जीवन्मुक्त होता है, मध्यम मुमुक्षु जन्मान्तर में, और उससे अन्य मन्द युगान्तर में मुक्त होता है, चतुर्थ अतिमन्द करोड़ों कल्प में मुक्त होता है, वा बन्ध से नहीं भी मुक्त होता है ॥ १० ॥ नित्यानित्य वस्तु का विवेक ज्ञान, देह में क्षणिकता का ज्ञान, मरण से भय, और त्रिविध ताप ये सब मुमुक्षा की वृद्धि के कारण हैं ॥ ११ ॥ विवेक ज्ञान शिर है, अत्यन्त वैराग्य शरीर है, शमादि छः अन्य अंग (अवयव) हैं, मोक्ष की इच्छा प्राण कहाता है ॥ १२ ॥ इस प्रकार के इन अंगों से सम्यग् युक्त और युक्ति के ज्ञाता (पंडित) जो जिज्ञासु रूप शूर सो अवश्य सम्यक् आत्मज्ञान रूप तलवार से मृत्यु अज्ञान मोहादि रूप संसार को नष्ट करता हुआ मुक्त होता है ॥ १३ ॥ दसवाँ मुमुक्षुत्व प्रकरण समाप्त।

अथ श्रवणादि—तत्परता पूर्वक श्रवण मनन निरन्तर ध्यान से बुद्धि सूक्ष्मता को प्राप्त करती है तब सत्य वस्तु की उपलब्धि ज्ञान की प्राप्ति होती है ॥१॥ तिससे मन्दबुद्धि वालों को वस्तु की पूर्ण उपलब्धि के लिये श्रवण मनन और ध्यान बार २ करना चाहिये ॥ २ ॥ सब वेदान्तवाक्यों का उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, तात्पर्य, उपपत्ति, नामक छः अङ्गों द्वारा सत्य अद्वैत परब्रह्म में तात्पर्य निश्चय

श्रुतस्यैवाद्वितीयस्य वस्तुनः प्रत्यगात्मनः । वेदान्तवाक्यानुगुणयुक्तिभिस्त्वनुचिन्तनम् ॥
मननं तच्छ्रुतार्थस्य साक्षात्कारकारणम् ॥ ४ ॥
विजातीयशरीरादिप्रत्ययत्यागपूर्वकम् । सजातीयात्मवृत्तीनां प्रवाहकरणं यथा ॥
तैलधारावदच्छिन्नवृत्त्यैतद् ध्यानमिष्यते ॥ ५ ॥
तावत्कालं प्रयत्नेन कर्तव्यं श्रवणं सदा । प्रमाणसंशयो यावत्स्वबुद्धे र्न निवर्त्तते ॥६॥
प्रमेयसंशयो यावत्तावत्तु श्रुतियुक्तिभिः । आत्मयाथात्म्यनिश्चित्यै कर्तव्यं मननं मुहुः ॥७॥
विपरीतात्मधीर्यावन्न विनश्यति चेतसि । तावन्निरन्तरं ध्यानं कर्तव्यं मोक्षमिच्छता ॥८॥
श्रीमत्स्वामिशंकरः सर्ववेदान्तसारसंग्रहे ॥

निरन्तरं विचारो यः श्रुतार्थस्य गुरोर्मुखात् । तन्निदिध्यासनं प्रोक्तं तच्चैकाग्र्येण लभ्यते ॥९॥
अनात्मन्यरुचिश्चित्ते रुचिश्चात्मनि चेद् भवेत् । पुण्यपुञ्जेन शुद्धं तच्चित्तमैकाग्र्यमर्हति ॥१०॥
शुद्ध्याऽङ्कुरितमैकाग्र्यं विवेकेनाभिवर्द्धते । प्रियाप्रियविवेकोऽतो मैत्रेय्या उपदिश्यते ॥११॥
वृहदा० वार्त्तिकसार० अ० २।४।१५-१७॥

सर्ववेदान्तवाक्यानां मयि तात्पर्यनिश्चयम् । श्रवणं नाम तत्प्राहुः सर्वे ते ब्रह्मवादिनः ॥१२॥
लोहमण्यादिदृष्टान्तयुक्तिभि र्यद्विचिन्तनम् । तदेव मननं प्राहु र्वाक्यार्थस्योपबृंहणम् ॥१३॥
निर्मोहो निरहंकारः समः सङ्गविवर्जितः । सदा शान्त्यादियुक्तः सन्नात्मन्यात्मानमीक्षते ॥
यत्सदा ध्यानयोगेन तन्निदिध्यासनं स्मृतम् ॥ १४ ॥ शिवगी० अ० १३॥

को श्रवण समझते हैं ॥ ३ ॥ सुना गया जो द्वैत (भेद) रहित वस्तु रूप सर्वान्तरात्मा उसी का वेदान्त वाक्यों की अनुकूल युक्तियों से जो अनुचिन्तन विचार वह सुने हुए अर्थ का मनन है और वस्तु के साक्षात्कार का कारण है ॥४॥ और आत्मा से विजातीय (भिन्न स्वभाव वाले) जो शरीरादि उन के ज्ञान का त्यागपूर्वक, जो तैलधार के समान अविच्छिन्न वृत्तिता से निरन्तर सजातीय (एकाकार) आत्माकार वृत्ति (ज्ञान) का प्रवाह करना इसको ध्यान माना जाता है ॥ ५ ॥ तब तक प्रयत्न से सदा श्रवण कर्तव्य है, कि जब तक अपनी बुद्धि से प्रमाण (शास्त्र) विषयक संशय निवृत्त नहीं हो जाय ॥ ६ ॥ और जब तक प्रमेय (अद्वैतात्मा) का संशय हो, तब तक आत्मा के यथार्थ स्वरूप के निश्चय के लिये श्रुति और युक्तियों द्वारा बार २ मनन करना चाहिये ॥ ७ ॥ जब तक विपरीत (भ्रमरूप) आत्मज्ञान नहीं निवृत्त हो, तब तक मोक्षेच्छुक को चित्त में निरन्तर (सदा) ध्यान कर्तव्य है ॥ ८ ॥ गुरुमुख से सुने हुए अर्थ का जो निरन्तर विचार सोई निदिध्यासन शब्द से कहा गया है, सो एकाग्रता से प्राप्त होता है ॥ ९ ॥ पुण्य समूह से जब चित्त में अनात्म वस्तु की अरुचि और आत्म वस्तु की रुचि होती है, तब वह शुद्ध चित्त एकाग्रता के योग्य होता है ॥ १० ॥ शुद्धि एकाग्रता का अङ्कुर (प्रादुर्भाव) होता है, सो विवेक से बढ़ता है, इसी हेतु से याज्ञवल्क्य जी ने मैत्रेयी के लिये अत्यन्तप्रिय आत्मा और अप्रिय अनात्मा के विवेक का उपदेश किया है ॥११॥ सब वेदान्त वाक्यों का मुझ सर्वात्मा शिवस्वरूप में तात्पर्य का निश्चय करना, इसी को वे सब ब्रह्मवादी श्रवण नामक ज्ञान का साधन कहते हैं ॥१२॥ लोहमणि आदि के दृष्टान्त और युक्तियों से जो विचारादि करना, उसी को वाक्यार्थ का उपबृंहण (प्रवर्द्धन-सहायक) रूप मनन कहते हैं ॥ १३ ॥ और जो कोई मोह अहंकार संग से रहित समता युक्त सदा शान्तियुक्त होकर ध्यान योग के द्वारा सदा

उपक्रमादिभिर्लिङ्गैः शक्तितात्पर्यनिर्णयः। सर्ववेदान्तवाक्यानामाचार्यमुखतः प्रियात् ॥१५॥
श्रवणम्............ इत्यादि ॥ मानवोपपुराण० ॥

श्रवणं त्रिविधं प्रोक्तं सात्त्विकं राजसं तथा। तामसं च महाभागाः! सुज्ञोक्तं निश्चयान्वितम् ॥१६॥
सात्त्विकं वेदशास्त्रादि साहित्यं चैव राजसम्। तामसं युद्धवार्त्ता च परदोषप्रकाशनम् ॥१७॥
सात्त्विकं त्रिविधं प्रोक्तं प्रज्ञावद्भिश्च पण्डितैः। उत्तमं मध्यमं चैव तथैवाधममित्युत ॥१८॥
उत्तमं मोक्षफलदं स्वर्गदं मध्यमं तथा। अधमं भोगदं प्रोक्तं निर्णीय विदितं बुधैः ॥१९॥
देवीभागवतस्क० १।६।१०–१३ ॥

सिद्धान्तश्रवणं प्रोक्तं वेदान्तश्रवणं बुधैः। द्विजवत्क्षत्रियस्योक्तं सिद्धान्तश्रवणं बुधैः ॥२०॥
विशां च केचिदिच्छन्ति शीलवृत्तवतां सताम्। शूद्राणां च स्त्रियश्चैव स्वधर्मस्तु तपस्विनाम् ॥
सिद्धान्तश्रवणं प्रोक्तं पुराणश्रवणं बुधैः ॥२१॥ योगयाज्ञवल्क्यसंहि० अ० २ ॥

इत्येकादशश्रवणादिप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ विचारः ॥ १२ ॥

विचारेण विविक्तं संलभ्यते येन मुच्यते। तं मन्ये परमं साध्यं साधनं सौख्यसद्गतेः ॥१॥
नोत्पद्यते विना ज्ञानं विचारेणान्यसाधनैः। यथा पदार्थभानं हि प्रकाशेन विना क्वचित् ॥२॥
कोऽहं कथमिदं जातं को वै कर्त्ताऽस्य विद्यते। उपादानं किमस्तीह विचारः सोऽयमीदृशः ॥३॥

अपने मन देह में आत्मचिन्तन दर्शन करते हैं, उनके उस चिन्तन दर्शन का ही निदिध्यासन नाम है ॥१४॥ उपक्रमादिरूप तात्पर्य के लिङ्गों द्वारा प्रिय आचार्य मुख से सुन कर सब वेदान्त वाक्यों के शक्तितात्पर्य का निर्णय श्रवण है ॥ १५ ॥ हे महाभाग! ज्ञानी से कहे गये निश्चययुक्त श्रवण सात्त्विक राजस तामस ये तीन प्रकार के कहे गये हैं ॥ १६ ॥ वेद सत्शास्त्र उपदेशादि का श्रवण सात्त्विक है, साहित्य का श्रवण राजस है, और युद्ध की वार्त्ता तथा अन्य के दोषों का वर्णन श्रवण तामस है ॥ १७ ॥ बुद्धिमान् पण्डितों से सात्त्विक भी उत्तम मध्यम और अधम भेद से तीन प्रकार का कहा गया है ॥ १८ ॥ मोक्षफल देने वाला श्रवण उत्तम है, स्वर्ग देने वाला मध्यम है, भोग देने वाला अधम है, सो विद्वानों से निर्णय पूर्वक जान कर कहा गया है ॥ १९ ॥ विद्वान् लोगों ने वेदान्त के श्रवण को सिद्धान्त का श्रवण कहा है, और ब्राह्मण के समान क्षत्रियों को भी सिद्धान्त श्रवण कहा है। शील सच्चरित्र युक्त सत्पुरुष वैश्य के सिद्धान्त श्रवण भी कोई मानते हैं। तपस्वी शूद्र और स्त्रियों के लिये उनका अपना २ धर्म ही सिद्धान्त श्रवण है, तथा पुराणों के श्रवण को सिद्धान्तश्रवण कहा है ॥ २०–२१ ॥ ग्यारहवाँ श्रवणादि प्रकरण समाप्त ॥

अथ विचार—विचार द्वारा विविक्त (पवित्र असंग) सत्यात्मा जिस को प्राप्त होता है, सो मुक्त होता है। इससे तिस विचार को विरागादि साधनों से परम साध्य और सुख सद्गति का साधन मानता हूँ ॥ १ ॥ विचार के बिना अन्य कर्मादि साधनों से ज्ञान नहीं उत्पन्न होता है, जैसे प्रकाश के बिना नेत्र से पदार्थ का ज्ञान कहीं नहीं होता है ॥ २ ॥ कर्ता भोक्तादि रूप से ज्ञात मैं कौन हूँ यह जगत्

नाऽहं भूतगणो देहो नाहं चाक्षगणस्तथा। एतद्विलक्षणः कश्चिद्विचारः सोऽयमीदृशः ॥४॥
अज्ञानप्रभवं सर्वं ज्ञानेन प्रविलीयते। सङ्कल्पो विविधः कर्त्ता विचारः सोऽयमीदृशः ॥५॥
एतयो र्यदुपादानमेकं सूक्ष्मं सदव्ययम्। यथैव मृद्घटानां हि विचारः सोऽयमीदृशः ॥६॥
अहमेकोऽपि सूक्ष्मश्च ज्ञाता साक्षी सदव्ययः। तदहं नात्र सन्देहो विचारः सोऽयमीदृशः॥७॥ अपरोक्षानुभू० ॥
शास्त्रावबोधामलया धिया परमपूतया। कर्त्तव्यः कारणज्ञेन विचारोऽनिशमात्मनः ॥८॥
विचारात्तीक्ष्णतामेत्य धीः पश्यति परंपदम्। दीर्घसंसाररोगस्य विचारो हि महौषधम् ॥९॥
न विचारं विना कश्चिदुपायोऽस्ति विपश्चिताम्। विचारादशुभं त्यक्त्वा शुभमायाति धीः सताम् ॥१०॥
बलं बुद्धिश्च तेजश्च प्रतिपत्तिः क्रियाफलम्। फलन्त्येतानि सर्वाणि विचारेणैव धीमताम् ॥११॥
युक्तायुक्तमहादीपमभिवाञ्छितसाधकम्। स्फारं विचारमाश्रित्य संसारजलधिं तरेत् ॥१२॥
आलूनहृदयाम्भोजान् महामोहमतङ्गजान्। विदारयति शुद्धात्मा विचारो नाम केसरी ॥१३॥
मूढाः कालवशेनेह यद्गताः परमं पदम्। तद्विचारप्रदीपस्य विजृम्भितमनुत्तमम् ॥१४॥
राज्यानि सम्पदः स्फारा भोगो मोक्षश्च शाश्वतः। विचारकल्पवृक्षस्य फलान्येतानि राघव! ॥१५॥

कैसे उत्पन्न हुआ ? और इसका कर्ता जीवादि में कौन है ? इस जगत् का उपादान कारण कौन है ? वह विचार इस प्रकार का हैं ॥ ३ ॥ मैं भूत (पृथिवी आदि का) गण (समूह) रूप देह नहीं हूँ, यह जड़ है मैं चेतन हूँ, अतः इन्द्रियों का समूह सूक्ष्म शरीररूप मैं नहीं हूँ किन्तु इन से विलक्षण कोई अवाच्य साक्षी स्वरूप मैं हूँ वह विचार ऐसा है ॥ ४ ॥ अज्ञानजन्य (मायोपादानजन्य) यह सब जगत् हैं, अतः ज्ञान से प्रविलीन मिथ्या बाधित होता है, अनेक प्रकार का संकल्प रूप अन्तःकरण विशिष्ट कर्ता हैं, वह विचार ऐसा है ॥ ५ ॥ इस अज्ञान और संकल्प का अव्यय सत् सूक्ष्मात्मा अधिष्ठान रूप उपादान है, सो एक सत्य द्वैत रहित हैं जैसे कि मिट्टी स्वाभिन्न घट का उपादान है, यह विचार ऐसा है ॥ ६ ॥ अहं प्रत्यय (ज्ञान) का विषय मैं सब शरीर में एक अति सूक्ष्म ज्ञाता (अहंकार देहादि का प्रकाशक) साक्षी (इन्द्रियादि बिना साक्षात् द्रष्टा) सत्य अव्यय (निर्विकार) हूँ, अतः मैं उस सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप हूँ इसमें संशय नहीं है, यह विचार ऐसा है ॥ ७ ॥ शास्त्र बोध से अमल परम पवित्र बुद्धि द्वारा कारणज्ञ (विषय, संशय, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त, प्रयोजन रूप विचार हेतुओं का ज्ञाता) पुरुष को सदा आत्मा का विचार कर्तव्य है ॥ ८ ॥ विचार से तीक्ष्णता को पाकर बुद्धि परम पद को देखती है, इससे दीर्घ (अनादि) संसार रोग का विचार ही महान औषध है ॥ ९ ॥ विचार के बिना अशुभ को त्यागने के लिये विद्वानों को भी कोई उपाय नहीं है, और विचार से अशुभ को त्याग कर सत् पुरुष की बुद्धि शुभ को प्राप्त करती है ॥ १० ॥ बल, बुद्धि, तेज (सामर्थ्य प्रभाव) प्रतिपत्ति (उचित स्फूर्ति) क्रिया और उस का फल, बुद्धिमानों के ये सब भी विचार से ही सफल होते हैं ॥ ११ ॥ उचितानुचित के प्रकाश में महादीपरूप अभिवाञ्छित को सिद्ध करने वाला स्फार (बृहद्) विचार का आश्रयण करके संसार समुद्र को तरना चाहिये ॥ १२ ॥ छिन्नभिन्न किया है हृदय गत विवेकादि कमलों को जिन्हों ने ऐसे महामोहरूप रूप हाथियों को शुद्धात्मा (छलादिरहित) विचार नामक सिंह ही नष्ट करता है ॥ १३ ॥ मूढ पुरुष भी काल पाकर उस के बल से जो परम पद को प्राप्त हो गये, वह भी विचार रूप प्रदीप का ही फल है ॥ १४ ॥ हे राम ! राज्य, बड़ी सम्पत्ति, भोग, नित्य मोक्ष ये

या विवेकविकासिन्यो मतयो महतामिह । न ता विपदि मज्जन्ति तुम्बकानीव वारिणि ॥१६॥
विचारोदयकारिण्या धिया व्यवहरन्ति ये । फलानामत्युदाराणां भाजनं हि भवन्ति ते ॥१७॥
ये केचन दुरारम्भा दुराचारा दुराधयः । अविचारेण ते भान्ति वैताला तमसा यथा ॥१८॥
विचारचारवो जीवा भासयन्तो दिशो दश । भान्ति भास्करवन्नूनं भूयो भवभयापहाः ॥१९॥
कोऽहं कस्य च संसार इत्यापद्यपि धीमता । चिन्तनीयं प्रयत्नेन सप्रतीकारमात्मना ॥२०॥
परमात्ममयी मान्या महानन्दैकसाधिनी । क्षणमेकं परित्याज्या न विचारचमत्कृतिः ॥२१॥
नित्यं विचारयुक्तेन भवितव्यं महात्मना । तथान्धकूपे पततां विचारो ह्यवलम्बनम् ॥२२॥
कोऽहं ? कथमयं दोषः ? संसाराख्य उपागतः । न्यायेनेति परामर्शो विचार इति कथ्यते ॥२३॥
विचाराज्ज्ञायते तत्त्वं तत्त्वाद्विश्रान्तिरात्मनि । अतो मनसि शान्तत्वं सर्वदुःखपरिक्षयः ॥२४॥
योगवासि० प्र० २।१४ ॥
विचारो यस्य नोदेति कोऽहं किमिदमित्यलम् । तस्यान्त र्न विमुक्तोऽसौ दीर्घो जीवज्वरभ्रमः ॥२५॥
विचारः सफलस्तस्य विज्ञेयो यस्य सन्मतेः । दिनानुदिनमायाति तानवं भोगगृध्नुता ॥२६॥
योगवासि० प्र० ४।१८।६४-६५ ॥
मनागपि विचारेण चेतसः स्वस्य निग्रहः । मनागपि कृतो येन तेनाप्तं जन्मनः फलम् ॥२७॥

सब भी विचार रूप कल्प वृक्ष के फल हैं ॥ १५ ॥ विवेक (विचार) से विकासिनी (विकस्वर-स्फुट) जो महात्माओं की यहाँ वुद्धि होती है सो जल में तुम्बा के समान विपत्ति में नहीं डूबती है ॥ १६ ॥ विचार (विवेक) को प्रकट करने वाली विचार युक्त बुद्धि से जो व्यवहार करते हैं, सो अत्यन्त उदार (श्रेष्ठ) फलों के पात्र होते हैं ॥ १७ ॥ जो कोई दुःखद दुष्ट कर्म, दुष्ट आचरण, दुष्ट मानस रोग होते हैं, सो सब अविचार से ही कर्त्तव्यादि रूप से भासते हैं कि जैसे अंधकार से वैताल (प्रेत भूतादि) मिथ्या ही भासते हैं ॥ १८ ॥ विचार से चारु (सुन्दर जीवन्मुक्त) जीव भूयः (बहुत) अज्ञ प्राणियों के ज्ञान प्रकाश द्वारा भव भय को हरते हुए सूर्य के समान दशों दिशाओं को प्रकाशते हुए सूर्य तुल्य प्रकाशते हैं ॥ १९ ॥ बुद्धिमान् को अपने ही से संसार के सप्रतीकार (निवृत्ति के उपाय के अनुष्ठान सहित) मैं कौन हूँ ? और यह संसार किस का है ? इस अर्थ को आपत्ति काल में भी प्रयत्न से चिन्तन करना चाहिये ॥२०॥ परमात्ममयी, मान्य, महाऽऽनन्द के मुख्यसाधक, विचाररूप प्रकाश को एक क्षणमात्र भी नहीं त्यागना चाहिये ॥ २१ ॥ महात्मा को सदा विचार युक्त रहना चाहिये, अन्धकूपरूप संसाररागादि में गिरते हुए को बचने के लिये आधार विचार है ॥ २२ ॥ मैं कौन हूँ ? और यह संसार नामक दोष किस प्रकार हुवा है ? युक्ति से इस अर्थ का चिन्तन विचार कहलाता है ॥२३॥ विचार से सत्य जाना जाता है, सत्य के ज्ञान से सत् में शान्ति निश्चलता होती है, इससे मन में सबदुःख का नाशरूप शान्तपन होता है, ॥ २४ ॥ जिसको यह विचार नहीं उत्पन्न होता कि मैं कौन हूँ ? यह संसार क्या है ? तो अलं (पूर्ण) इस विचार के विना उसके अन्तर्गत जो दीर्घ (अनादि) जीवपन का ज्वररूप भ्रम है वह विमुक्त (निवृत्त) नहीं होता है ॥ २५ ॥ उसी सद्बुद्धि वाले के विचार को सफल समझना चाहिये कि जिस की भोगेच्छा सदा सूक्ष्म होती हो (घटती हो) ॥ २६ ॥ मनाक् (अल्प) भी विचार से जिसने अपने मन का निग्रह मनाक्

विचारकणिका यैषा हृदि स्फुरति पेलवा । एषैवाभ्यासयोगेन प्रयाति शतशाखताम् ॥२८॥
किञ्चित्प्रौढविचारं तु नरं वैराग्यपूर्वकम् । संश्रयन्ति गुणाः शुद्धाः सरःपूर्णमिवाण्डजाः ॥२९॥
सम्यग् विचारिणं प्राज्ञं यथाभूतावलोकिनम् । आसादयन्त्यपि स्फारा नाविद्याविभवा भृशम् ॥३०॥
किं कुर्वन्तीह विषया मानस्यो वृत्तयस्तथा । आधयो व्याधयो वापि सम्यग् दर्शनसन्मतेः ॥३१॥
गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा । न विचारमयं चेतो यस्यासौ मृत उच्यते ॥३२॥
किमिदं स्याज्जगत् किं स्यादेहमित्यनिशं शनैः । विचारयाध्यात्मदृशा स्वयं वा सज्जनैः सह ॥३३॥
अन्धकारहरेणाशु विचारेण परं पदम् । दृश्यते विमलं वस्तु प्रदीपेनेव भास्वता ॥३४॥
विचारोत्थात्मविज्ञानं ज्ञानमङ्ग ! विदु र्बुधाः । ज्ञेयं तस्यान्तरेवास्ति माधुर्यं पयसो यथा ॥३५॥
योगवासि० प्र० ५।६३ ॥
दीर्घसंसारमायेयं राम ! राजसतामसैः । धार्यते जन्तुभि र्नित्यं सुस्तम्भैरिव मण्डपः ॥३६॥
सत्त्वस्थजातिभि र्धीरैस्त्वादृशै र्गुणबृंहितैः । हेलया त्यज्यते पक्वा मायेयं त्वगिवोरगैः ॥३७॥
ये सत्त्वजातयः प्राज्ञास्तथा राजससात्त्विकाः । विचारयन्ति ते साधो ! जगत्पूर्वपरम्पराम् ॥३८॥
शास्त्रसज्जनसत्कार्यसङ्गेनोपहतैनसाम् । सारावलोकिनी बुद्धि र्जायते दीपिकोपमा ॥३९॥

(किञ्चित) भी किया उसने जन्म का फल पाया अन्य नहीं ॥२७॥ विचाररूप वृक्ष का जो हृदय में प्रथम पेलव (सूक्ष्म कोमल) कणिका (अंकुर) प्रकट होता है, वही अभ्यासरूप योग से सैकड़ों शाखायुक्त महावृक्ष तुल्य होता है ॥ २८ ॥ कुछ दृढ़ विचारयुक्त मनुष्य को तो वैराग्य पूर्वक शुद्ध गुण शमादि इस प्रकार प्राप्त होते हैं कि जैसे पूर्ण सर (जलाशय) में अण्डज (पक्षी, मत्स्य) प्राप्त होते हैं ॥ २९ ॥ सम्यक् विचार वाले यथार्थात्मतत्व के ज्ञानी के प्रति तो अति विस्तृत अविद्या के विभव, काम लोभ मोहादि, प्राप्त ही नहीं होते हैं, न आत्मावलोकन के स्वभाव वाले विद्वान् को ब्रह्मलोकादि की सम्पत्तियाँ प्रलोभित करती हैं ॥ ३० ॥ सम्यग् दर्शनरूप सन्मति वाले ज्ञानी को विषय, मन की वृति, आधि व्याधि भी क्या विकार कर सकते हैं ? ॥३१॥ चलते खड़े जागते सोते हुऐ भी जिसका मन जब तक विचारमय नहीं है, तब तक वह प्राणी मृत कहाता है ॥ ३२ ॥ यह जगत् क्या ? और देह क्या है ? कैसे होता है ? इस तत्त्व को स्वयं वा सज्जनों के साथ सदा धीरे २ अध्यात्म दृष्टि से विचारो ॥ ३३ ॥ मोह प्रमाद रूप अंधकार के नाशक विचार से ही विमल वस्तुरूप परंपद शीघ्र दीखता है, जैसे प्रकाशयुक्त प्रदीप से बाह्य वस्तु दीखती है ॥ ३४ ॥ हे अङ्ग ! (प्रिय !) विचारजन्य आत्मानुभव को ही पण्डित लोग ज्ञान जानते हैं, जिस ज्ञान के अन्दर भी साक्षी आदि रूप से ज्ञेय ब्रह्मात्मा वर्तमान है, जैसे दूध में मधुरता रहती है ॥३५॥ हे राम ! दीर्घ यह संसार रूप माया का धारण राजस तामस जीवों से सदा किया जाता है, जैसे सुन्दर खंभों से मण्डप का धारण किया जाता है ॥३६॥ सत्त्वजाति वाले गुण शमादि से वृद्धि को प्राप्त तेरे तुल्य धीरों से पक्व फल तुल्य जीर्ण यह माया अनायास लीला से त्यागी जाती है, जैसे पक्व त्वक् सर्प से त्यागा जाता है ॥ ३७ ॥ जो सात्त्विक जन्म वाले और रजोमिश्रित सात्त्विक जन्म वाले हैं, हे साधो ! वे लोग जगत् की कारण परंपरा (क्रम) को विचारते हैं ॥३८॥ फिर शास्त्र सज्जन और सत्कार्य (यज्ञ दान तप आदि रूप श्रेष्ठ कर्म) के संग से पाप रहित उन लोगों की सारतत्व को समझने वाली बुद्धि दीपक

स्वयमेव विचारेण विचार्याऽऽत्मानमात्मना । यावन्नाधिगतं ज्ञेयं न तावदधिगम्यते ॥४०॥
स्वयमालोकय प्राज्ञ ! संसारारम्भदृष्टिषु । किं सत्यं किमसत्यं वा भव सत्यपरायणः ॥४१॥
आदावन्ते च यन्नास्ति कीदृशी तस्य सत्यता । आदावन्ते च यन्नित्यं तत्सत्यं नाम नेतरत् ॥४२॥
आद्यन्तासन्मये यस्य वस्तुन्यासज्जते मनः । तस्य मुग्धपशो र्जन्तो र्विवेकः केन जायते ॥४३॥
जायते मन एवेह मन एव विवर्द्धते । सम्यग् दर्शनदृष्ट्या तु मन एव हि मुच्यते ॥४४॥
पूर्वं राघव ! शास्त्रेण वैराग्येण परेण च । तथा सज्जनसङ्गेन नीयतां पुण्यतां मनः ॥४५॥
सौजन्योपहितं चेतो यदा वैराग्यमागतम् । तदानुगम्या गुरवो विज्ञानगुरवोऽपि ये ॥४६॥
ततस्तस्योपदिष्टेन कृत्वा ध्यानार्चनादिकम् । क्रमेण पदमाप्नोति यत्तत्परमपावनम् ॥४७॥
विचारेणावदातेन पश्यत्यात्मानमात्मना । इन्दुना शीतलेनान्त र्विश्वं खमिव तेजसा ॥४८॥
यथा रजोभिर्गगनं यथा कमलमम्बुभिः । न लिप्यते हि संश्लिष्टै र्देहैरात्मा तथैव च ॥४९॥
कर्दमादि यथा हेम्ना श्लिष्टमेति पृथक् स्थितिम् । नान्तः परिणतिं याति जडो देहस्तथात्मना ॥५०॥
सुखदुःखानुभावित्वमात्मनीत्यवबुध्यते । असत्यमेव गगने बिन्दुताम्लानते यथा ॥५१॥
सुखदुःखे न देहस्य सर्वातीतस्य नात्मनः । एते ह्यज्ञानकस्यैव तस्मिन्नष्टे न कस्यचित् ॥५२॥
योगवासि० प्र० ५।५॥

तुल्य उत्पन्न होती है ॥३९॥ इस प्रकार से स्वयं ही अपने से आत्मा को विचार द्वारा विवेकादि करके जब तक ज्ञेय तत्त्व को अधिगत (ज्ञात) नहीं किया जाता है, तब तक ज्ञेय (ब्रह्म) प्राप्त नहीं होता है ॥४०॥ हे प्राज्ञ ! संसार के आरम्भ विषयक दृष्टियों (ज्ञानों) में विचार से स्वयं देखो कि क्या सत्य है और क्या असत्य है, और विवेकपूर्वक देखकर सत्य दृष्टि परायण होवो ॥ ४१ ॥ जो वस्तु आदि अन्त में नहीं रहती है, उस की सत्यता कैसी ? जो सब के आदि अन्त में भी नित्य (उत्पत्ति नाश रहित एकरस) है, वही सत्य है अन्य नहीं ॥ ४२ ॥ आदि अन्त में असत्स्वरूप वस्तु में जिसका मन सत्य बुद्धि से आसक्त होता है, तिस मुग्ध पशुतुल्य मनुष्य को विवेक कैसे होगा ? ॥४३॥ वस्तुतः स्वप्न तुल्य इस संसार में मायारूप मन ही जन्मता तथा बढ़ता है, और सम्यक् ज्ञान से मन ही मुक्त होता है, आत्मा तो एक रस रहता है ॥ ४४ ॥ इसलिये हे राघव ! शास्त्र उत्तम वैराग्य और सज्जन की सङ्गति से उस मन को प्रथम पुण्यता (शुद्धता) को प्राप्त करावो ॥ ४५ ॥ जब सुजनता (निरभिमानिता) युक्त चित्त वैराग्य को प्राप्त कर लेवे, तब विज्ञान से गंभीर जो गुरु (उपदेशक) हैं, सो विधिपूर्वक अनुगम्य (सेवनीय) हैं ॥ ४६ ॥ फिर उन से उपदिष्ट मार्ग द्वारा ध्यान पूजनादि करके क्रम से जिस पद को जीव प्राप्त करता है, वह परम पावन है ॥ ४७ ॥ शुद्ध विचार से अपनी आत्मा को आप ही प्रत्यक्ष करता है, शीतल तेज रूप चन्द्रमा से विश्व (सम्पूर्ण) खम् (आकाश) जैसे व्याप्त हो, वैसे अन्तः करण में आत्मा को देखता है ॥ ४८ ॥ जैसे धूलि से आकाश जल से कमल पत्र लिप्त नहीं होता है, तैसे ही भ्रम से मिलित भासते हुए देहों से आत्मा लिप्त नहीं होता है ॥ ४९ ॥ जैसे सुवर्ण से कादो आदि मिलित होते भी पृथक् स्थिति को प्राप्त करता है, सुवर्ण के अन्दर प्रवेश नहीं करता है, जड़ देह तैसे ही आत्मा के साथ रहता है ॥ ५० ॥ अज्ञ मनुष्य आत्मा में सुख दुःख का ज्ञातृत्व (भोक्तृ पन) है ऐसा समझता है, परन्तु वह आत्मा में असत्य है, कि जैसे आकाश में बिन्दुता मलिनता है ॥ ५१ ॥ सुख और दुःख जड़ देह को नहीं हैं, न शुद्ध सर्वातीत

अस्मिन् संसारसंरम्भे जातानां देहधारिणाम् । अपवर्गक्षमौ राम ! द्वाविमावुत्तमौ क्रमौ ॥५३॥
एकस्तावद् गुरुप्रोक्तादनुष्ठानाच्छनैः शनैः । जन्मना जन्मभि र्वापि सिद्धिदः समुदाहृतः ॥५४॥
द्वितीयस्त्वात्मनैवाशु किश्चिद् व्युत्पन्नचेतसा । भवति ज्ञानसंप्राप्तिराकाशफलपातवत् ॥५५॥
योगवासि० प्र० ५।७॥
तावत्तावत्स्वकेनैव चेतसा प्रविचार्यते । यावद्यावद्विचाराणां सीमान्तः समवाप्यते ॥५६॥
न तद्गुरो र्न शास्त्रार्थान्न पुण्यात्प्राप्यते पदम् । यत्साधुसङ्गाभ्युदिताद्विचारविशदाद् धृदः ॥५७॥
सुन्दर्या निजया बुद्ध्या प्रज्ञयेव वयस्यया । पदमासाद्यते राम ! न नाम क्रिययाऽन्यया ॥५८॥
यस्योज्ज्वलति तीक्ष्णाग्रा पूर्वापरविचारिणी । प्रज्ञा दीपशिखा जातु जाड्यान्धं तं न बाधते ॥५९॥
दुरुत्तरा या विपदो दुःखकल्लोलसंकुला । तीर्यते प्रज्ञया ताभ्यो नावाऽऽपद्भ्यो महामते ! ॥६०॥
प्रज्ञावानसहायोऽपि विशास्त्रोऽप्यरिमर्दन ! । उत्तरत्येव संसारसागराद्राम ! पेलवात् ॥६१॥
प्रज्ञावानसहायोऽपि कार्यान्तमधिगच्छति । दुष्प्रज्ञः कार्यमासाद्य प्रधानमपि नश्यति ॥६२॥
शास्त्रसज्जनसंसर्गैः प्रज्ञां पूर्वं विवर्द्धयेत् । सेकसंरक्षणारम्भैः फलप्राप्तौ लतामिव ॥६३॥
प्रज्ञयेह जगत्सर्वं सम्यगेवाङ्ग ! दृश्यते । सम्यग्दर्शनमायान्ति नापदो न च संपदः ॥६४॥
य एव यत्नः क्रियते बाह्यार्थोपार्जने जनैः । स एव यत्नः कर्तव्यः पूर्वं प्रज्ञाविवर्द्धने ॥६५॥

असंग आत्मा को हैं, किन्तु यह सुखादि अज्ञानमयसंघ को हैं, और उस अज्ञान के नष्ट होने पर किसी को नहीं हैं ॥ ५२ ॥ हे राम ! इस संसार के वेग में उत्पन्न देहधारियों के मोक्ष में समर्थ ये दो क्रम उत्तम हैं ॥ ५३ ॥ एक पहला तो यह है कि गुरु कथित अनुष्ठान (आचरण) से धीरे २ एक जन्म द्वारा वा अनेक जन्म द्वारा सिद्धिप्रद कहा गया है ॥ ५४ ॥ और दूसरा क्रम यह है कि विचार द्वारा कुछ व्युत्पन्न (विवेकयुक्त) चित्त द्वारा अपने आप से ही शीघ्र ज्ञान की सम्यक् प्राप्ति होती है, जैसे आकाश से फलपात हो ॥ ५५ ॥ इससे प्रथम तब तक स्वयं अपने चित्त से पूर्ण विचार कर्तव्य है कि जब तक सब विचारों का सीमान्त नहीं पाया जाय ॥ ५६ ॥ केवल गुरु आदि से वह पद नहीं मिलता, जो कि सत्संग से प्रकट हुए विचार से शुद्ध हृदय से होता है ॥ ५७ ॥ बुद्धिवती सखी तुल्य सुन्दर अपनी बुद्धि से आत्म पद प्राप्त किया जाता है । हे राम ! अन्य प्रसिद्ध क्रिया से नहीं ॥ ५८ ॥ विचार से तीक्ष्णाग्रवाली पूर्वापर विचारवती बुद्धिरूप दीप शिखा जिस की ऊर्ध्व ज्वलित होती है उसको अज्ञानरूप अन्धकार पीडित नहीं करता है ॥ ५९ ॥ दुःखरूप तरंग से व्याप्त जो विपत्ति रूप दुरुत्तरा (दुःख से तरने योग्य) नदी है, हे महामते ! इन आपत्तियों से प्रज्ञा रूप नाव द्वारा तरा जाता है ॥ ६० ॥ हे अरिमर्दन राम ! बुद्धिमान् पुरुष शास्त्र सहाय बिना भी कोमल अल्प संसारसागर से पार होता है ॥ ६१ ॥ सहायरहित भी बुद्धिमान् कर्तव्य के अन्त को प्राप्त करता है, और दुष्प्रज्ञ (अविवेकी मूढ) प्रधान (मुख्य) होता हुआ भी कर्तव्य को प्राप्त होकर उसे पूर्ण किये बिना नष्ट होता है ॥ ६२ ॥ इसलिये शास्त्र और सज्जन के संसर्ग-द्वारा प्रथम विवेक बुद्धि को बढावे, जैसे फल की प्राप्ति के लिये सेचन संरक्षणादिरूप क्रिया से आरम्भ से ही लता बढ़ाई जाती है ॥ ६३ ॥ हे अंग ! (प्रिय !) प्रज्ञा (विवेकवती बुद्धि) से ही सब जगत् सम्यक् दीखता है, और सम्यक् दर्शन (ज्ञान) वाले को आपत्ति वा संपत्ति नहीं प्राप्त होती है ॥ ६४ ॥ मनुष्य द्वारा बाहर के अर्थ के उपार्जन में जैसा यत्न किया जाता है, वैसा ही यत्न प्रथम बुद्धि की वृद्धि के

सीमान्तं सर्वदुःखानामापदां कोशमुत्तमम् । बीजं संसारवृक्षाणां प्रज्ञामान्द्यं विनाशयेत् ॥६६॥
स्वर्गाद्यद्यच्च पातालाद्राज्याद्यत्समवाप्यते । तत्समासाद्यते सर्वं प्रज्ञाकोशान्महात्मना ॥६७॥
प्रज्ञयोत्तीर्यते भीमात्तस्मात्संसारसागरात् । न दानैर्न च वा तीर्थैस्तपसा न च राघव ! ॥६८॥
योगवा० प्र० ५।१२ ॥

विचारो भोगगर्हातो विचाराद् भोगगर्हणम् । अन्योऽन्यमेते पूर्येते समुद्रजलदाविव ॥६९॥
भोगगर्हा विचारश्च स्वात्मालोकश्च शाश्वतः । अन्योऽन्यं साधयन्त्यर्थं सुस्निग्धाः सुहृदो यथा ॥७०॥
पूर्वं दैवमनादृत्य पौरुषेण प्रयत्नतः । दन्तैर्दन्तान् प्रसंपीड्य भोगेष्वरतिमाहरेत् ॥७१॥
देशाचाराविरुद्धेन बान्धवैक्मतेन च । पौरुषेण क्रमेणादौ धनानि समुपार्जयेत् ॥७२॥
धनैराहरेद् भव्यान् सुजनान् गुणशालिनः । प्रवर्त्तते समासङ्गात्तेषां भोगविगर्हणा ॥७३॥
ततो विचारस्तदनुज्ञानं शास्त्रार्थसंग्रहः । ततः क्रमेण परमपदप्राप्तिः प्रजायते ॥७४॥
योगवासिष्ठ० प्र० ५।२४ । ६२-६७ ॥

विचारः सर्वमूलं हि सोपानं प्रथमं भवेत् । परश्रेयो महासौधप्राप्तौ जानीहि सर्वथा ॥७५॥
सुविचारमृते क्षेमप्राप्तिः कस्य कदा भवेत् । अविचारः परो मृत्युरविचारहता जनाः ॥७६॥
विमृश्यकारी जयति सर्वत्राभीष्टसङ्गमात् । विचारः सुखवृक्षस्य बीजमङ्कुरशक्तिकम् ॥७७॥

लिये कर्तव्य है ॥ ६५ ॥ सब दुःखों की परम अवधि, आपत्तियों का भारी कोश, संसार वृक्ष का बीज रूप बुद्धि की मन्दता को उस यत्न से नष्ट करना चाहिये ॥ ६६ ॥ बुद्धि की मन्दता के नष्ट होने पर, जो सुखादि स्वर्ग पाताल राज्य से प्राप्त किया जाता है, सो सब प्रज्ञा (बुद्धि) रूप कोश ही से बुद्धिमान् महात्मा प्राप्त करता है ॥ ६७ ॥ हे राघव ! इस भयानक संसार सागर से भी प्रज्ञा द्वारा ही तरा जाता है, दानादि द्वारा नहीं ॥ ६८ ॥ भोग में निन्दित दृष्टि से विचार विवेकादि होते हैं, और विचार से भोग की निन्दा सिद्ध होती है, और ये दोनों परस्पर बढ़ते पूर्ण होते हैं जैसे समुद्र और मेघ पूर्ण होते हैं ॥ ६९ ॥ भोग की निन्दा, विचार, और शाश्वत सदातन नित्य आत्मदर्शन ये परस्पर प्रयोजन (मोक्ष) को सिद्ध करते हैं, जैसे सुन्दर प्रेमयुक्त मित्र परस्पर प्रयोजन को साधते हैं ॥ ७० ॥ तहाँ सब से प्रथम यह कर्तव्य हैं कि दैव (प्रारब्ध) का अनादर करके प्रारब्ध के भरोसे पुरुषार्थ को नहीं त्याग कर दांतों को दांतों से दबाकर (सावधान होकर) अपने पुरुषार्थ विचारादि रूप प्रयत्न से भोगों में अप्रीति को प्राप्त करे॥७१॥ और उस भोग में अप्रीति के लिये भी प्रथम देश के आचार से अविरुद्ध बन्धुओं के साथ एक-मति पूर्वक पुरुषार्थ द्वारा क्रम से धन का उपार्जन करे ॥७२॥ फिर धन के द्वारा भव्य (कुशल-शुभ-योग्य) सद्‌गुणशोभित सुजनों को प्राप्त करे, तब उन के संग से भोग में गर्हणा (अरुचि-अप्रीति) प्रवृत्त होती है ॥ ७३ ॥ तब पूर्ण विचार होता है, तब ज्ञान होता है, और तब शास्त्र के अर्थ का सम्यक् ग्रहण, अद्वैत तत्त्व का अनुभव होता है, और तब क्रम से ब्रह्मसंस्थता रूप परमपद की प्राप्ति होती है, अभ्यास क्रम से ब्रह्मनिष्ठ होता है ॥ ७४ ॥ परमश्रेयः (मोक्ष) रूप महासौध (राजगृह) की प्राप्ति में सब का मूल रूप प्रथम सोपान विचार होता है, उस को सर्वथा समझो ॥ ७५ ॥ सुन्दर विचार के बिना किस को कब क्षेम (मोक्ष) की प्राप्ति हो सकती है ? क्योंकि अविचार भारी मृत्यु है, अविचार से जन नष्ट हुए हैं ॥ ७६ ॥ विचार पूर्वक साधन करने वाला अत्यन्त इष्ट की प्राप्ति = सम्बन्ध से सर्वत्र विजय पाता है, अतः

विराजते विचारेण पुरुषः सर्वतोऽधिकः । विचाराद्विधिरुत्कृष्टो विचारात्पूज्यते हरिः ॥७८॥

सर्वज्ञस्तु विचारेण शिव आसीन्महेश्वरः । अविचारवशादेव विपदं प्राप्नुवन्ति हि ॥७९॥

त्रिपुरारह० ज्ञानखं अ० २।५१। इत्यादि ॥

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले दत्तापि सर्वावनि, र्यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च संपूजिताः । संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ, यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात्८०

कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी । तथापि सुधिया भाव्यं सुविचार्यैव कुर्वता ॥८१॥

इति द्वादशविचारप्रकरणं समाप्तम् ॥ भर्तृह० । नीति० ८६॥

अथ सङ्गकामत्यागादि ॥ १३ ॥

दुःखानां कारणं सङ्गः स च संसारबन्धनम् । कामक्रोधादयः सर्वे सङ्गादेव भवन्ति च ॥१॥

कुसङ्गं सम्परित्यज्य सुसङ्गं वा ह्यसङ्गताम् । संगृह्णाति विविच्य स्वं मन्ये तं मानवोत्तमम् ॥२॥ तथाहि-

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते । स सद्भिः सह कर्त्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम् ॥३॥

कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः । मुमुक्षां प्रति कार्यः स सैव तस्यापि भेषजम् ॥४॥

मार्कण्डेयपु० अ० ३४।२३–२४ ॥

भोगेष्वासक्तचित्तानां परमार्थान्विता मतिः । भविष्यति कदा सङ्गमुपेतानां स्वबन्धुभिः ॥५॥

विचार ही सुखरूप वृक्ष का अङ्कुरशक्ति वाला बीज है ॥ ७७ ॥ विचार से ही पुरुष सब से अधिक होकर विराजता है, विचार से ही ब्रह्मा उत्कृष्ट हुए, और विचार से ही हरि पूजे जाते हैं, पूज्यता विचार का ही फल है ॥ ७८ ॥ शिव जी विचार से ही सर्वज्ञ और महेश्वर हुए। अन्य लोग अविचार के वश (अधीनता) से ही विपत्ति पाते हैं ॥ ७९ ॥ जिस का मन क्षणमात्र भी ब्रह्मविचार में स्थिरता पाता है, वह सब तीर्थों के जल में स्नान कर चुका, सब भूमि दान दे चुका, हजारों यज्ञ कर चुका, सब देवों को सम्यक् पूज चुका, संसार से अपने पितरों का उद्धार कर चुका, और वह तीनों लोक में पूज्य है ॥ ८० ॥ यद्यपि मनुष्यों के सुखादि फल कर्माधीन होते हैं, तथा कर्मानुसार ही बुद्धि होती है, तो भी सुबुद्धिवाले को भी सुन्दर विचार पूर्वक ही कर्मादि करना चाहिये ॥ ८१ ॥ बारहवाँ विचार प्रकरण समाप्त ॥

अथ कामत्याग—कुसंग दुःखों का कारण और संसार बन्धन रूप है, काम क्रोधादि भी कुसंग से होते हैं ॥ १ ॥ इस लिये कुसंग को सम्यक् सर्वत्र त्यागकर जो सुसङ्ग वा असंगता को ग्रहण करता है अपने स्वरूप का विवेक करके स्थिर हो उस को मनुष्यों में उत्तम मानता हूँ ॥ २ ॥ संग को सर्वस्वरूप से त्यागना चाहिये, यदि सब को नहीं त्याग सके, तो वह संग सत्पुरुषों के साथ करना चाहिये, क्योंकि सत्पुरुषों का संग कुसंसार रोग की निवृत्ति के लिये औषध है ॥ ३ ॥ काम भी सर्वस्वरूप से त्याग के योग्य है, यदि सब काम नहीं त्यागा जा सकता हो तो मुमुक्षा के प्रति वह काम (इच्छा) कर्तव्य है, मुझे कैसे प्रबल मोक्षेच्छा हो ऐसी इच्छा कर्तव्य है, वही सब काम रोग की औषधि है ॥ ४ ॥ भोगों में आसक्त चित्त वालों की और अपने बन्धुओं के साथ संगयुक्तों की बुद्धि परमार्थ से युक्त कब हो सकती

पुत्रमित्रकलत्रेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः । सरःपङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव ॥६॥
मार्कण्डेयपु० अ० ६३।३६-३७ ॥

मम माता मम पिता मम भार्या ममात्मजाः । ममेदमिति जन्तूनां ममता बाधते वृथा ॥७॥
नारदीयपु० अ० ३७।४१ ॥

मानुष्यमसुखं प्राप्य यः सज्जति स मुह्यति । नालं स दुःख मोक्षाय सङ्गो वै दुःखलक्षणः ॥८॥
सक्तस्य बुद्धि र्भवति मोहजालविवर्धिनी । मोहजालावृतो दुःखमिहामुत्र तथाश्नुते ॥९॥
पुत्रदारकुटुम्बेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः । सरःपङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव ॥१०॥
निबन्धिनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः । छित्त्वैनां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः ॥११॥
नारदीयपु० अ० ६०।४१ ॥ इत्यादि ॥

यस्मिन् यस्मिंश्च संयुक्तो भूत ऐश्वर्यलक्षणे । तत्रैव सङ्गं भजते तेनैव प्रविनश्यति ॥१२॥
दृश्यन्ते हि महात्मान ऋषयो दिव्यचक्षुषः । संसक्ताः सूक्ष्मभावेषु ते दोषास्तेषु संस्थिताः ॥
ऐश्वर्याज्जायते रागो विरागं ब्रह्म चोच्यते ॥१३॥ वायुपु० अ० ८।२८ ॥
सङ्गी हि बाध्यते लोके निःसङ्गः सुखमश्नुते । तेन सङ्गः परित्याज्यः सर्वदा सुखमिच्छता ॥१४॥
पञ्चदशी० प्र० ६।२७४ ॥

भोगैश्वर्यमदोन्मत्तस्तत्त्वज्ञानपराङ्मुखः । संसारसुमहापङ्के जीर्णा गौरिव मज्जति ॥१५॥
यस्त्वात्मानं निबध्नाति कर्मभिः कोशकारवत् । तस्य मुक्तिं न पश्यामि जन्मकोटिशतैरपि ॥१६॥

है ? कभी नहीं ॥ ५ ॥ पुत्र मित्र स्त्री में आसक्त प्राणी इस प्रकार पीड़ित नष्ट होते हैं कि जैसे वृद्ध वन का हाथी सर सम्बन्धी पंक के समुद्र में डूब कर नष्ट होता है ॥ ६ ॥ मेरे माता पिता स्त्री पुत्र हैं, और ये मेरी वस्तु है, इस प्रकार की ममता प्राणी को व्यर्थ ही पीड़ित करती है ॥ ७ ॥ बड़ी कठिनता से मनुष्यता को पाकर जो कुसंग करता है सो मोहित होता है, फिर वह दुःख से मुक्त (रहित) होने के लिये समर्थ नहीं होता है, क्योंकि संग ही दुःख स्वरूप है ॥ ८ ॥ संग से आसक्त की बुद्धि मोह जाल को बढ़ाने वाली होती है, और मोह जाल से आवृत्त (अच्छादित) जीव यहाँ और परलोक में दुःख ही पाता है ॥ ९ ॥ पुत्रादि में आसक्त प्राणी वृद्ध वन गज जैसे सर के पंकार्णव में पीड़ित हो वैसे पीड़ित होता है ॥ १० ॥ ग्राम में वसने वाले को जो ग्रामादि में रति (प्रीति आसक्ति) है सो बाँधने के हेतुरूप रस्सी है, इस का छेदन करके पुण्यात्मा विवेकी परम तत्त्व को प्राप्त करते हैं, पापी अविवेकी इस का छेदन नहीं करते ॥ ११ ॥ जिस-जिस ऐश्वर्यरूप भूत (भौतिक वस्तु) में जीव संयुक्त होता है, उसी में संग (आसक्ति) को भी प्राप्त करता-सेवता है, उसी से फिर प्रविनष्ट होता है ॥ १२ ॥ दिव्यदृष्टि वाले महात्मा ऋषि लोग भी सूक्ष्म पदार्थों में आसक्त दीखते हैं, इससे वे सूक्ष्म पदार्थ ही उन में सम्यक् स्थिर हैं सो दोष रूप हैं। क्योंकि ऐश्वर्य रूप पदार्थ से भी राग होता है, और विराग ब्रह्मप्राप्ति का साधन कहा जाता है ॥ १३ ॥ संग वाला जीव लोक में दुःखी होता है, संगरहित सुख पाता है, अतः सुखेच्छु को सदा संग त्याग ही योग्य है ॥ १४ ॥ भोग और ऐश्वर्य (विभूति) के अभिमान से उन्मत्त, तत्त्व ज्ञान से विमुख जीव संसार के अति भारी पंक भोगद्वन्द्व में वृद्ध गो के समान डूबता है ॥ १५ ॥ जो अपनी आत्मा को कोशकार कीट के समान स्वयं कर्मों द्वारा बाँधता है, करोड़ों सौ जन्म में भी उस की मुक्ति नहीं दीखती है ॥ १६ ॥

तस्मान्नारद ! सर्वेशं देवानां देवमव्ययम् । आराधयेत्सदा सम्यक् ध्यायेद्विष्णुं समाहितः ॥१७॥

नरसिंहपु० अ० १७।१४। इत्यादि, शिवोक्तिः ॥

दुःखमूलं हि संसारः स यस्यास्ति स दुःखितः । तस्य त्यागः कृतो येन स सुखी नापरः क्वचित् ॥१८॥

प्रभवं सर्वदुःखानामालयं सकलापदाम् । आश्रयं सर्वपापानां संसारं वर्जयेत् क्षणात् ॥१९॥

लोहदारुमयैः पाशैः पुमान् बद्धो विमुच्यते । पुत्रदारमयैः पाशै र्मुच्यते न कदाचन ॥ २०॥

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान् । तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ॥२१॥

मांसलुब्धो यथा मत्स्यो लोहशङ्कुं न पश्यति । सुखे लुब्धस्तथा देही यमबाधां न पश्यति ॥२२॥

निद्रादिमैथुनाहाराः सर्वेषां प्राणिनां समाः । ज्ञानवान् मानवः प्रोक्तो ज्ञानहीनः पशुः स्मृतः ॥२३॥

प्रभाते मलमूत्राभ्यां क्षुत्तृड्भ्यां मध्यगे रवौ । रात्रौ मदननिद्राभ्यां बाध्यन्ते मूढमानवाः ॥२४॥

स्वदेहधनदारादिनिरताः सर्वजन्तवः । जायन्ते च म्रियन्ते च हा हताऽज्ञानमोहिताः ॥२५॥

तस्मात्सङ्गः सदा त्याज्यः सर्वस्त्यक्तुं न शक्यते । महद्भिः सह कर्तव्यः सन्तः सङ्गस्य भेषजम् ॥२६॥

सत्सङ्गश्च विवेकश्च निर्मलनयनद्वयम् । यस्य नास्ति नरः सोऽन्धः कथं न स्यादमार्गगः ॥२७॥

गरुडपु० अ० ४९ ॥

देहं मूत्रपुरीषैश्च पूरितं मन्यते वरम् । मेदोऽस्थिरक्तमज्जाढ्यं रमते तत्र मोहितः ॥२८॥

यथा विष्ठासमुद्भूतः कीटस्तत्रैव मोदते । तथाऽपवित्रे स्त्रीदेहे मोदते मोहितो भृशम् ॥२९॥

आदिपु० अ० ७।३।४॥

हे नारद ! इसलिये बन्धप्रद कर्मों को त्याग कर, अव्यय देवताओं के देव रूप सर्वेश्वर विष्णु की समाहित होकर सदा आराधना ध्यान करना चाहिये ॥ १७ ॥ राग द्वेषादि रूप संसार दुःख का मूल है, इससे जिसको वह संसार है सो दुःखो है, और उस संसार का जिसने त्याग किया वही सुखी है अन्य नहीं ॥ १८ ॥ सब दुःखों के जन्म का हेतु और सब आपत्तियों के गृह, सब पाप के आश्रय रूप संसार को शीघ्र त्यागे ॥ १९ ॥ लोहा लकड़ी रचित बन्धन से बँधा मनुष्य कभी छूटता है, परन्तु पुत्र स्त्री आदि के रागादिमय बन्धन से बँधने पर कभी नहीं छूटता है ॥ २० ॥ मन के प्रिय सम्बन्धों को प्राणी जितने ही अधिक करता है उतने ही अधिक इसके हृदय में शोकरूप कील गाड़े जाते हैं ॥ २१ ॥ मांस का लोभी मछली जैसे लोहा की कांटी (शल्य वंसी) को नहीं देखती है, वैसे ही भोग का लोभी मनुष्य यम यातना को नहीं समझता है ॥ २२ ॥ निद्रा भयादि और मैथुन भोजन सब प्राणी के तुल्य हैं, ज्ञानी विवेकी मनुष्य कहा गया हैं, ज्ञान रहित पशु कहाता है ॥ २३ ॥ मूढ मनुष्य प्रातः काल में मल मूत्र से अर्धदिवस में भूख प्यास से रात्रि में काम निद्रा से पीडित होता है, कभी शान्ति नहीं पाता है ॥ २४ ॥ अपने देह धन स्त्री आदि में आसक्त अज्ञान से मोहित सब प्राणी दुःख शोक से नष्ट होते हुए जन्मते मरते हैं ॥ २५ ॥ अतः सङ्ग सदा त्याग योग्य है, सब संग नहीं त्यागे जा सकते हों तो महात्माओं के साथ संग कर्तव्य हैं, क्योंकि सन्त संग (दुःख) के औषध हैं ॥२६॥ सत्संग और विवेक ये दोनों निर्मल नेत्र है, उससे रहित मनुष्य अन्ध है तो कुमार्गगामी कैसे नहीं होगा ? ॥ २७ ॥ मलमूत्र से पूर्ण भरे हुए देह को जो कि मेद (वसा-मांसस्नेह) हाड़ रुधिर मज्जा का आढ्य (स्थान) है, उसे मनुष्य श्रेष्ठ मानता है, और मोहित होकर उसी में रमता है, पवित्रात्मा में नहीं ॥२८॥ जैसे मल से उत्पन्न कीट मल में ही आनन्द मानता है, वैसे ही

अहो श्रीमदमाहात्म्यं बुद्धिभ्रंशकरं परम् । न पश्यति जनो नूनमात्मानं ह्यधिष्ठितम् ॥३०॥
कुसङ्गदूषिता बुद्धि र्न हि गच्छति शुद्धताम् । श्रिया विकारतां यातः परलोकं न पश्यति ॥३१॥
विशेषेण श्रिया मत्तः पतनाय भवेदलम् । श्रीमदेऽतिप्रसक्तानां नूनं नरकयातनाः ॥
यतो भूतानि हन्यन्ते निर्दयैरजितात्मभिः ॥३२॥ आदिपु० अ० २९।७। इत्यादि ॥
अहो सङ्गोऽस्य देहस्य ह्येकस्याप्यतिदुःखदः । आत्म्यैक्येन गृहीतस्य किमुदारादिरूपिणः ॥३३॥
सङ्गो विनाशहेतुः स्यात्सर्वेषामिह देहिनाम् । निःसङ्गो निर्गुणो यस्मात्सङ्गाद् दुःखमुपागतः ॥३४॥
स्वभावाच्छीतलं तोयमुष्णं भवति सङ्गतः । वह्नेस्ततोऽत्र सङ्गोऽयमतिदुःखप्रदः स्मृतः ॥३५॥
सङ्गाद् वहिर्मुखं याति मनोऽन्तर्यत्प्रवर्त्तते । दुर्धियां प्राणिनां सङ्गात्पापी दुःखं समाप्नुयात् ॥३६॥
निर्दुःखो दुःखिनां सङ्गाद् दुःखी संजायते जनः । अपि सन्निधिमात्रेण भावाः कुर्वन्ति विक्रियाम् ॥
अम्लो रसो यथा कुर्याद्दन्तेषूदकनिर्गमम् ॥३७॥
करामलकवद्यस्य प्रत्यक्षं ब्रह्म विद्यते । सङ्गस्तेनापि कर्तव्यो न केनापीह कर्हिचित् ॥३८॥
विशेषतस्तु नारीणां युवतीनां ततोऽपि च । मूर्तिमानेष नरको द्विपाद् योषिदितीरितः ॥३९॥
बलिष्ठो नरकस्तद्वद्युवतिः पतितोऽत्र यः । उद्धर्तुं स्वं न शक्तः स्याद्विद्वानपि समाहितः ॥४०॥
नरकग्राममार्गोऽयं नारीदेहः प्रकीर्त्तितः । सर्वथा परिवर्ज्योऽतो मोक्षमार्गं यियासता ॥४१॥

मोहित मनुष्य अपवित्र स्त्री के देह में अत्यन्त आनन्द मानता है ॥ २९ ॥ और आश्चर्यरूप सम्पत्ति के मद (गर्व) का महात्म्य हैं, जो कि बुद्धि को अत्यन्त नष्ट करने वाला है, उसीसे हृदय में स्थित आत्मा को मनुष्य निश्चय पूर्वक नहीं समझता है ॥ ३० ॥ कुसंग से दूषित (मलिन) बुद्धि शुद्धता को नहीं प्राप्त होती है, इससे सम्पत्ति द्वारा अभिमानिता आदिरूप विकारता को प्राप्त मनुष्य परलोक को नहीं देखता है ॥ ३१ ॥ लक्ष्मी से अधिक मदयुक्त मनुष्य मनुष्यता धर्मादि से पतन के ही लिये समर्थ होता है, इस से लक्ष्मी के मद में अत्यन्त प्राप्त को अवश्य नरक संबन्धी पीड़ा होती है, जिससे अजितात्मा दयारहित उन लोगों से प्राणी मारे जाते हैं, उस का फल अवश्य भोगना होता है ॥ ३२ ॥ अपने इस एक देह का संग अद्भुत अति दुःखद है, जो देह आत्मा के साथ एक रूप से ज्ञात है, फिर स्त्री आदि रूप देह के संग की तो बात ही क्या कहना है ॥ ३३ ॥ सब प्राणियों के विनाश का हेतु संग होता है, जिससे असंग निर्गुण आत्मा भी कल्पित मिथ्या संग से दुःख युक्त भासता है ॥ ३४ ॥ स्वभाव से शीतल जल भी अग्नि के संग से ऊष्ण होता है, अतः संसार में संग को अति दुःखद कहा गया है ॥ ३५ ॥ जो मन भीतर रहता है सो संग से बहिर्मुख होता है, वैसे दुष्ट बुद्धिवाले प्राणी के संग से मनुष्य पापी होकर दुःख पाता है ॥ ३६ ॥ दुःख रहित जन भी दुःखियों के संग से दुःखी होता है, क्योंकि समीपता मात्र से पदार्थ विकार को उत्पन्न करते हैं। जैसे अम्ल (खट्टा) रस दांतों में जल को प्रकट करता है ॥ ३७ ॥ इससे हस्तस्थ आँवले के समान जिस को ब्रह्म प्रत्यक्ष हो, उसे भी किसी का कभी सङ्ग कर्तव्य नहीं है ॥ ३८ ॥ विशेष रूप से स्त्री का संग कर्तव्य नहीं है, उससे भी युवती का संग अकर्तव्य हैं, मूर्तिमान् दो पादयुक्त यह नरक है जो स्त्री कही जाती है ॥ ३९ ॥ वैसे ही युवती स्त्री अत्यन्त बली नरक है, उसमें जो पतित (आसक्त) समाहित विद्वान् भी है, वह भी अपने को उसमें से उद्धार के लिये समर्थ नहीं होता है ॥ ४० ॥ नरक के

वर्णाश्रमादिमार्गेण गच्छतामिदमेव हि । महद् भयं समुद्दिष्टं नारीदेहसमुद्भवम् ॥४२॥
कामिनां कामिनीनां च सङ्गात्कामी भवेत्पुमान् । जन्मान्तरे ततः क्रोधी लोभी मोही च जायते ॥४३॥
कामक्रोधादिसंसर्गादशुद्धं जायते मनः । अशुद्धे मनसि ब्रह्मज्ञानं तच्च विनश्यति ॥
दूरापास्तो भवेत्तत्र तस्योत्पादोऽत्र दुर्लभः ॥४४॥
कामक्रोधादिसंसक्तो ब्रह्मज्ञानविवर्जितः । मार्गद्वयपरिभ्रष्टस्तृतीयं मार्गमाव्रजेत् ॥४५॥
महावाते ज्वलन् दीपो यथा कार्यकरो न हि । सङ्गे सति तथा ब्रह्मज्ञानं कार्यं करोति न ॥
विद्यमानं कथं तद्धि तत्रोत्पत्तुं समर्हति ॥४६॥
ब्रह्मचर्यादिकं धर्मं चतुर्थाश्रमवासिनाम् । योषिदाद्याश्च कुर्वन्तु आश्रमस्य विधारणम् ॥४७॥
पतिः सर्वत्र नारीणां प्रथमः प्रोच्यते गुरुः । तदभावाद् भवेदन्य उत्तमोऽपि समोऽपि वा ॥४८॥
आत्मपु० अ० ७।९७ । इत्यादि । याज्ञवल्क्योक्तिः ॥

को वा कस्य पतिः पुत्रः का वा कस्य प्रिया प्रभो ! । संयुनक्ति विधाता च वियुनक्ति च कर्मणा ॥४९॥
संयोगे परमानन्दो वियोगे प्राणसङ्कटम् । शश्वज्जगति मूर्खस्य नात्मारामस्य निश्चितम् ॥५०॥
नश्वरो विषयः सत्यं भुवि भोगश्च बान्धवः । स्वयं त्यक्तः सुखायैव दुःखाय त्याजितः परैः ॥५१॥
ब्रह्मवैवर्त्तपु० ब्रह्मखं० अ० १३।४६। इत्यादि ॥
सङ्गो यः संसृते र्हेतुरसत्सु विहितो धिया । स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते ॥५२॥
भागवतस्क० ३।२३।५५ ॥

समुदाय वा नरक रूप ग्राम के मार्ग रूप यह नारी रूप देह कहा गया है, इससे मोक्षमार्ग की प्राप्ति चाहने वाले को सर्वथा परिवर्जनीय (त्यागार्ह) है ॥ ४१ ॥ वर्णाश्रमादि के मार्ग से चलने वालों को यह नारी की देह की सम्यक् उत्पत्ति अभिव्यक्ति ही भारी भय रूप उपदिष्ट है ॥ ४२ ॥ क्योंकि कामी और कामिनी के संग से पुरुष कामी होता है, फिर जन्मान्तर में क्रोधी लोभी मोही भी जन्मता है ॥ ४३ ॥ और काम-क्रोधादि के सम्बन्ध से मन अशुद्ध मलिन पापयुक्त होता है, तो अशुद्ध मन में वह उत्पन्न हुआ परोक्ष ज्ञान भी नष्ट हो जाता है, तो फिर उस मन में ज्ञान की उत्पत्ति यहाँ दूरक्षिप्त और दुर्लभ हो जाती है ॥ ४४ ॥ काम क्रोधादि से संसार में सम्यक् आसक्त और ब्रह्म ज्ञान से रहित मनुष्य उत्तरायण दक्षिणायन दोनों के अधिकार से पतित होकर तिर्यग् योनि रूप तीसरे मार्ग को प्राप्त करता है ॥ ४५ ॥ महावायु में उज्ज्वलित दीप भी जैसे कार्य कारक प्रकाशक नहीं होता वैसे ही संग होने पर वर्तमान ब्रह्म ज्ञान भी अपना कार्य नहीं करता है, तो उस संग में उत्पत्ति योग्य तो कैसे हो सकता है ? ॥ ४६ ॥ इसलिये ज्ञानेच्छुक स्त्री आदि भी चतुर्थाश्रमवासी के ब्रह्मचर्यादि धर्म को करें, और असङ्गता के लिये आश्रम का विशेष धारण करें ॥ ४७ ॥ सब शास्त्र में स्त्रियों का प्रधान गुरु पति कहा गया है, परन्तु उस पति के अभाव से अन्य भी उत्तम वा सम गुरु होता है ॥ ४८ ॥ वस्तुतः कौन किस का पति वा पुत्र है ? कौन किस की प्रिया स्त्री है ? विधाता (ईश्वर) कर्म से संयोग और वियोग करता है ॥ ४९ ॥ मूर्ख को संयोग में परम आनन्द होता है, वियोग में प्राण का संकट (संबाधा) होता है, सो सदा जगत् में यह बात निश्चित है, और आत्मा में आरमण वाले को यह बात अवश्य नहीं है ॥ ५० ॥ पृथिवी के विषय भोग बान्धव ये सब नश्वर हैं, यह वचन सत्य है, और ये सब स्वयं त्यागने से सुख के लिये होते हैं, और अन्य से बलात् त्याग कराने से दुःख के लिये होते हैं ॥ ५१ ॥ जो संग असत्पुरुषों में बुद्धि से किया

चेतः खल्वस्य बंधाय मुक्तये चात्मनो मतम् । गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये ॥५३॥
अहं ममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभि र्मलैः । वीतं यदा मनः शुद्धमदुःखमसुखं समम् ॥५४॥
सदा पुरुष आत्मानं केवलं प्रकृतेः परम् । निरन्तरं स्वयंज्येतिरणिमानमखण्डितम् ॥५५॥
ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना । परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम् ॥५६॥
न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि । सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥५७॥
प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ॥५८॥
तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् । अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥५९॥

भागवत स्क० ३।२५।१५। इत्यादि ॥

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृति र्न निवर्त्तते । ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥६०॥

भागवत० स्क० ३।२७।४ ॥

सह देहेन मानेन वर्द्धमानेन मन्युना । करोति विग्रहं कामी कामिष्वन्ताय चात्मनः ॥६१॥
भूतैः पञ्चभिरारब्धे देहे देह्यबुधोऽसकृत् । अहं ममेत्यसद्ग्राहः करोति कुमति र्मतिम् ॥६२॥
तदर्थं कुरुते कर्म यद्बद्धो याति संसृतिम् । योऽनुयाति ददत्क्लेशमविद्याकर्मबन्धनः ॥६३॥

जाता है, सो संसार में जन्मादि का हेतु होता है, वही संग साधुओं में किया गया, निःसङ्गता (असंगता) के लिये समर्थ होता है ॥ ५२ ॥ वस्तुतः इस जीव का चित्त ही बन्ध और मोक्ष के लिये महात्माओं से सम्मत (स्वीकृत) है, तहाँ त्रिगुणमयविषय लोक देहादि में आसक्त चित्त बन्धन के लिये है, और पुरुष (आत्मा) में रत (आसक्त) चित्त मोक्ष के लिये है ॥ ५३ ॥ अहंकार ममतारूप अभिमान से जन्य कामलोभादिरूप मल से जब मन वीत (विरहित-मुक्त) होता है, सुख दुःखरहित सम शुद्ध होता है ॥ ५४ ॥ तब यह पुरुष (जीव) शुद्ध निर्णीत एक, प्रकृति से पर, निरन्तर, स्वयं ज्योतिः स्वरूप, अतिसूक्ष्म, अखण्डित, उदासीन (असङ्ग) आत्मा को ज्ञानवैराग्ययुक्त और भक्तियुक्त मन से अपरोक्ष जानता है, और प्रकृति को बलहीन देखता है ॥ ५५–५६ ॥ सर्वात्मा भगवान् विषयक प्राप्त भक्ति के समान योगियों को ब्रह्मप्राप्ति के लिये कल्याण रूप शुभ अन्य कोई मार्ग नहीं है ॥ ५७ ॥ जीवात्मा के बन्धन के लिये प्रसङ्ग (आसक्ति संग) को ही कवि लोग अजर पाश जानते हैं, वही प्रसङ्ग (आसक्ति प्रेम) साधुओं में किया गया मोक्ष का खुला द्वार रूप है ॥ ५८ ॥ तितिक्षु (दुःख को सहने वाला) दयालु, सब प्राणियों का सुहृद् (मित्र) शत्रु बुद्धिरहित शान्त साधु (शास्त्रानुवर्ती विवेकी) साधुता सुशील रूप भूषण वाले होते हैं ॥ ५९ ॥ विषयों का ध्यान चिन्तन करने वाला इस संसारी संगसहित पुरुष की जन्ममरणादि रूप संसृति (संसार) बाह्यपदार्थों के नहीं रहते मिथ्या होते भी निवृत्त नहीं होती है, जैसे कि स्वप्न में पदार्थ के बिना भी वासनादि के द्वारा अनर्थ की प्राप्ति होती है ॥ ६० ॥ देह के साथ बढ़ते हुए अभिमान से कामी अन्य पुरुष विषयक मन्यु (क्रोध) अपनी आत्मा के अन्त (नाश) के ही लिये कामी पुरुष विग्रह (युद्ध) करता है ॥ ६१ ॥ अहं मम इस प्रकार के मिथ्या ग्राह (ग्रहण निश्चय) वाला अज्ञ कुमति मनुष्यरूप देही पांच भूत से आरब्ध (जन्य) देह में ही असकृत् (बार २) आत्मबुद्धि करता है ॥ ६२ ॥ और उस देह के लिये कर्म करता है, फिर उस कर्म से बंधकर जन्मादि संसृति को प्राप्त करता है, जो देह अविद्या और कर्मरूप बन्धन वाली होती हुई क्लेश देती

यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः । आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत् ॥६४॥
सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्री ह्रीं र्यशः क्षमा । शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति संक्षयम् ॥६५॥
तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु । सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च ॥६६॥
न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः । योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥६७॥
प्रजापति र्दुहितरं दृष्ट्वा तद्रूपधर्षितः । रोहिद्भूतां सोऽन्वधावदृक्षरूपो हतत्रपः ॥६८॥
योपयाति शनै र्माया योषिद्देवविनिर्मिता । तामीक्षेदात्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम् ॥६९॥
यां मन्यते पतिं मोहान्मन्मायामृषभायतीम् । स्त्रीत्वं स्त्रीसङ्गतः प्राप्तो वित्तापत्यगृहप्रदम् ॥७०॥
तामात्मनो विजानीयात् पत्यपत्यगृहात्मकम् । दैवोपसादितं मृत्युं मृगयो र्गायनं यथा ॥७१॥

भागवत० स्क० ३।३१।२६ इत्यादि ॥

स वञ्चितो बतात्मध्रुक् कृच्छ्रेण महता भुवि । लब्ध्वाऽपवर्ग्यं मानुष्यं विषयेषु विसज्जते ॥७२॥

भागवत० स्क० ४।२३।२८ ॥

कौमार आचरेत्प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह । दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ॥७३॥
सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम् । सर्वत्र लभ्यते दैवाद् यथा दुःखमयत्नतः ॥७४॥

ही हुई फिर प्राप्त होती है ॥ ६३ ॥ यदि यह प्राणी शिश्न द्वारा भोग और उदरपूर्ति ही के लिये उद्यम करने वाले असत् पुरुषों के साथ फिर संसार मार्ग में आस्थित (अधिष्ठित-संगत) हो कर रमता है, तो पूर्व के समान फिर तम अज्ञानमय योनि आदि में प्रविष्ट होता है ॥ ६४ ॥ जिस तमो गुणी के संग से सत्यादि और भग (ऐश्वर्य वीर्य ; ये सब नष्ट होते हैं ॥ ६५ ॥ उन अशान्त, मूढ, खण्डितात्मा (अविवेकी) असाधु, शोचनीय, स्त्रियों के क्रीडामृगरूप असत् तमोगुणियों में संग नहीं करना चाहिये ॥ ६६ ॥ इस जीव को वैसा मोह और बन्धन अन्य के संग से नहीं होता कि जैसा पुरुष को स्त्री के संग और स्त्रीसंगी के संग से होता है ॥ ६७ ॥ प्रजापति भी अपनी पुत्री को देखकर और उस रूप से पराजित आकर्षित होकर लज्जारहित होकर मृगी रूप उसके पीछे मृग रूप होकर दौड़ पड़े ॥ ६८ ॥ जो स्त्रीरूप देवनिर्मित माया पास में आती है, उसको तृण से आवृत्त कूप के समान अपनी मृत्यु रूप जानना चाहिये ॥ ६९ ॥ मोक्षेच्छायुक्त स्त्री के प्रति उपदेश है कि 'ऋषभायतीं' (पुरुष तुल्य आचार करती हुई) जिस मेरी माया को ही जो स्त्री पति मानती है, जो पति वित्त अपत्य गृह देने वाला है, उसे यद्यपि स्त्री पति मानती है, परन्तु वह स्त्री संग से स्त्रीत्व को माया पन को प्राप्त है ॥ ७० ॥ उचित है कि जो जिस पति अपत्य गृहरूप माया को वित्तादिप्रद पति मानती है, सो उसको दैव से प्रापित अपनी मृत्युरूप शिकारी के गायन तुल्य समझे ॥ ७१ ॥ महा कष्ट से भूमि में मनुष्यता को पाकर जो मनुष्यता मोक्ष का हेतु है, तो भी जो विषयों में आसक्त होता है, वह आत्मद्रोही है, और माया आदि से वञ्चित है ठगा गया है ॥ ७२ ॥ बुद्धिमान् मनुष्य बाल्य के बाद कुमार अवस्था में ही भागवत धर्म अहिंसादि नवधा भक्ति आदि का आचरण करे, क्योंकि मानुष जन्म अर्थ (प्रयोजन सुफल) का दाता होता हुआ भी दुर्लभ और अध्रुव (अनिश्चल-अनिश्चित) है ॥ ७३ ॥ हे दैत्य ! देह के सम्बन्ध से इन्द्रिय सम्बन्धी सुख तो सब योनियों में दुःख के समान दैव से ही यत्न बिना भी मिलता है, धर्म नहीं मिलता ॥ ७४ ॥

पुंसो वर्षशतं ह्यायुस्तदर्द्धं चाजितात्मनः । निष्फलं यदसौ रात्र्यां शेतेऽन्धं प्रापितस्तमः ॥७५॥
मुग्धस्य बाल्ये कौमारे क्रीडतो याति विंशतिः । जरया ग्रस्तदेहस्य यात्यकल्पस्य विंशतिः ॥७६॥
दुरापूरेण कामेन मोहेन च बलीयसा । शेषं गृहेषु सक्तस्य प्रमत्तस्यापयाति हि ॥७७॥
को गृहेषु पुमान् सक्तमात्मानमजितेन्द्रियः । स्नेहपाशै र्दृढं बद्धमुत्सहेत विमोचितुम् ॥७८॥
कोऽन्वर्थतृष्णां विसृजेत् प्राणेभ्योऽपि य ईप्सितः । यं क्रीणात्यसुभिः प्रेष्ठैस्तस्करः सेवको वणिक् ॥७९॥
भागवत० स्क० ७।६। प्रह्लादोक्तिः ॥

न तथाऽस्य भवेत् क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः । योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥८०॥
भागवत० स्क० ११।१४।३०॥

सत्त्वसङ्गादृषीन् देवान् रजसाऽसुरमानुषान् । तमसा भूततिर्यक्त्वं भ्रामितो याति कर्मभिः ॥८१॥
भा० स्क० ११।२२।५१॥

सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित् । तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगोऽन्धवत् ॥८२॥
भा० स्क० ११।२६।३॥

स्त्रियः सदा परित्याज्याः सङ्गं नैव च कारयेत् । कुणपेषु यथा चित्तं तथा कुर्याद् विचक्षणः ॥८३॥
विण्मूत्रोत्सर्गकालेषु बहि र्भूमौ यथा मतिः । तथा कार्या रतौ चापि स्वदारे चान्यतः कुतः ॥८४॥
अङ्गारसदृशी नारी घृतकुम्भसमः पुमान् । तस्मान्नारीषु संसर्गं दूरतः परिवर्जयेत् ॥८५॥
लिङ्गपु० अ० ८।२१-२३॥

पुरुष को "शतायु वैं पुरुषः" इस शास्त्र के अनुसार सौ वर्ष की आयु होती है, अजितात्मा की आधी आयु निष्फल जाती है, क्योंकि वह रात्रि में अन्ध तम को प्रापित होकर सोता है, भजनादि नहीं करता ॥ ७५ ॥ अविवेकी मूढ़ के बाल्य कुमार अवस्था में क्रीड़ा खेल करने ही में बीस वर्ष बीत जाते हैं, वृद्धावस्था से युक्त देह वाले असमर्थ बीस वर्ष बीतते हैं ॥ ७६ ॥ गृहों में आसक्त प्रमाद युक्त की शेष आयु भी दुःख से पूर्ण होने वाले काम और अति बली मोह से ही गृहासक्ति में व्यर्थ नष्ट होती है ॥ ७७ ॥ गृहों में आसक्त स्नेह बन्धन से दृढ़ बन्धन युक्त अपने आत्मा को अजितेन्द्रिय कौन पुरुष विमुक्त करने के लिये उत्साह कर सकता है ? ॥ ७८ ॥ जो अर्थ (द्रव्य) प्राणों से भी ईप्सित (प्रिय) हैं, उनकी तृष्णा को फिर कौन त्याग सकता है ? कि जिस अर्थ को अत्यन्त प्रिय प्राणों द्वारा चोर सेवक वणिक् (व्यापारी) खरीदते (प्राप्त करते) हैं ॥ ७९ ॥ इस पुरुष को वैसा क्लेश और बन्धन अन्य पदार्थ के संग से नहीं होता है कि जैसा स्त्री और स्त्री के संगी के संग से होता है ॥८०॥ यह मनुष्य सत्त्वगुण के संग (ज्ञान सुख में आसक्ति) से ऋषि देव को प्राप्त होता है, रजोगुण से असुर मनुष्यों को प्राप्त होता है, तमोगुण से भ्रमयुक्त होकर कर्मों द्वारा भूत (प्रेतत्व) और तिर्यक्त्व को प्राप्त होता है। गुण वश कर्म भ्रमयुक्तों की यह गति है, निर्गुण तत्त्व निष्ठ मुक्त होता है ॥ ८१ ॥ इसलिये शिश्नोदर को तृप्त करने वाले असत् पुरुषों का संग कहीं नहीं करे। उनके पीछे चलने वाला अन्ध के पीछे चलने वाले अन्ध के समान अन्धतम नरकादि में गिरता है ॥ ८२ ॥ स्त्री सदा त्याग योग्य है, उसका संग न करे न करावे, मुर्दा (मृतक देह) में जैसा चित्त होता है, वैसा चित्त चतुर पुरुष स्त्री में करे ॥ ८३ ॥ मलमूत्र के त्याग काल में बाहर भूमि मल स्थान में जैसे अपवित्र बुद्धि होती है, वैसी बुद्धि अपनी स्त्री में रति में कर्तव्य है, अन्य से तो किसी प्रकार रति ही नहीं कर्तव्य है ॥८४॥ अग्नि के अंगार के तुल्य स्त्री है, और घृतकुम्भ के समान पुरुष है, अतः

अमूढत्वमसङ्गित्वं कामक्रोधविवर्जनम् । अदैन्यमनुदीर्णत्वमनुद्वेगो ह्यवस्थितिः ॥
एष मार्गो हि मोक्षस्य प्रसन्नो विमलः शुचिः ॥ ८६ ॥ ब्रह्मपु० अ० ३०।५१॥
यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ । समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥८७॥
स्नेहेन तिलवत् सर्वं सर्गचक्रे विपीड्यते । तिलपीडैरिवाक्रम्य क्लेशैरज्ञानसम्भवैः ॥८८॥
सञ्चिनोत्यशुभं कर्म कलत्रापेक्षया नरः । एकः क्लेशानवाप्नोति परत्रेह च मानवः ॥८९॥
पुत्रदारकुटुम्बेषु प्रसक्ताः सर्वमानवाः । शोकपङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव ॥९०॥
असुहृत्ससुहृच्चापि सशत्रु मित्रवानपि । सप्रज्ञः प्रज्ञया हीनो दैवेन लभते सुखम् ॥९१॥
धेनुर्वत्सस्य गोपस्य स्वामिनस्तस्करस्य च । पयः पिवति यस्तस्या धेनुस्तस्येति निश्चयः ॥९२।
ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः । ते नराः सुखमेधन्ते क्लिश्यन्त्यन्तरिता जनाः॥९३॥
सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम् । प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥९४॥
शोकस्थानं सहस्राणि भयस्थानं शतानि च । दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥९५॥
बुद्धिमन्तं कृतप्रज्ञं शुश्रूषुमनसूयकम् । दान्तं जितेन्द्रियं चापि शोको न स्पृशते नरम् ॥९६॥
महाभा० शान्तिप० अ० १७४॥ ब्राह्मणोक्तिः ॥
सङ्गः कारणमर्थानां सङ्गः संसारकारणम् । सङ्गः कारणमाशानां सङ्गः कारणमापदाम् ॥९७॥
सङ्गत्यागं विदु र्मोक्षं सङ्गत्यागादजन्मता । सङ्गं त्यज त्वं भावानां जीवन्मुक्तो भवानघ ! ॥९८॥

नारी विषयक संग को दूर से त्यागे ॥ ८५ ॥ मोहसंग से राहित्य, कामक्रोध का त्याग, अदीनता, अहिंसकता अक्रूरता, अनुद्वेग, और अवस्थिति यही मोक्ष का प्रसन्न (स्वच्छ) विमल शुचि मार्ग है ॥८६॥ महानदी में बहता हुवा एक काठ जैसे दूसरे काठ से मिलता है, और वियुक्त होता है, तैसे ही प्राणियों के भी सम्बन्ध हैं ॥ ८७ ॥ संसारचक्र (जन्मादि) में स्नेह (मोह) से अज्ञान जन्य क्लेशों द्वारा वशीभूत होकर तिलपेरक से तिल के समान सब प्राणी पीड़ित होते हैं ॥ ८८ ॥ कलत्र (स्त्री) की अपेक्षा (पालनादि की दृष्टि) से मनुष्य अशुभ कर्म का संचय करता है, परन्तु वह मनुष्य परलोक में और यहाँ एकाकी दुःख पाता है ॥ ८९ ॥ पुत्रादि में आसक्त सब मनुष्य शोकरूप पंक के समुद्र में इस प्रकार डूबते हैं, कि जैसे वन का वृद्ध हाथी पंक में डूबे ॥ ९० ॥ मित्ररहित, मित्र वाले, शत्रु वाले, मित्र वाले, बुद्धिमान् और निर्बुद्धि, सब दैव (प्रारब्ध) से सुख पाते हैं ॥ ९१ ॥ दूध देने वाली गऊ के सम्बन्धी यद्यपि वत्स्यादि सब हैं, तथापि प्रारब्ध के बल से जो जब उसका दूध पीता है, तब उसी की वह गऊ है ॥ ९२ ॥ अतः मोहममतादि से रहित प्रारब्ध भोक्ता अत्यन्त मूढ़, या बुद्धि से परतत्त्व को प्राप्त जो ज्ञानी हैं, वे ही लोक में सुख पाते हैं, बीच के अभिमानी चिन्तायुक्त मनुष्य दुःख पाते हैं ॥९३॥ इस लिये हृदय (मन) से अपराजित होकर (अभिमानादि को त्याग कर) प्राप्त सुखादि को सुखार्थी भोगे ॥ ९४ ॥ इसके विना मूढ़ को प्रतिदिन हजारो शोक के स्थान और सैकड़ों भय के स्थान प्राप्त होते हैं, पण्डित को नहीं प्राप्त होते ॥ ९५ ॥ क्यों कि बुद्धिमान् कृतप्रज्ञ (विवेकी) सद्गुरु आदि के सेवक भक्त, असूया दोष रहित, मन को दमन करने वाले जितेन्द्रिय नर को शोक नहीं प्राप्त होता है ॥९६॥ संग ही अर्थ संसार आशा आपत्ति का कारण है ॥ ९७ ॥ संग के त्याग

भावाभावे पदार्थानां हर्षामर्षविकारिता । मलिना वासना यैषा सा सङ्ग इति कथ्यते ॥९९॥

योगवासि० प्र० ५।६३।८१। इत्यादि ॥

दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः ॥ कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशकरत्वात् ॥ महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥ कस्तरति मायां यः सङ्गांस्त्यजति यो महानुभावं सेवते निर्ममो भवति ॥ यो विविक्तस्थानं सेवते यो लोकबन्धमुन्मूलयति निस्त्रैगुण्यो भवति ॥१००॥ नारदीयभक्तिसूत्राणि ॥

इति त्रयोदशसङ्गकामत्यागादिप्रकरणं समाप्तम् ।

अथ भक्तिः ॥ १४ ॥

भक्तिं मन्ये भवाम्भोधौ दृढां नावं जगद्गुरौ । अनन्यां जगतामीशे चिदानन्दे सदात्मनि ॥१॥

ज्ञानात्पूर्वं परस्ताच्च भक्तिर्भवति तत्र च । पूर्वं विध्यादितन्त्रा स्यात्पश्चाद्वस्तुस्वभावजा ॥२॥

सेवारतिप्रधाना स्यात्पूर्वा स्थितिस्वरूपिणी । पश्चिमा ज्ञानसम्प्राप्ते निष्ठाशब्देन सोच्यते ॥३॥ तथाहि-

मोक्षकारणसमग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी । स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥ स्वात्मतत्त्वानुसंधानं भक्तिरित्यपरे जगुः ॥ ४ ॥ विवेकचूडाम० ॥

पाषाणे पतितं बीजं यथा नैव प्ररोहति । न फलत्युपदेशोऽपि भक्तिहीने तथा नरे ॥५॥

भवदुःखारघट्टेन पिष्यन्ते सर्वजन्तवः । दुःखमुक्तः सदानन्दो हरिभक्तो हि केवलः ॥६॥

को महात्मा मोक्ष समझते हैं, क्यों कि संग के त्याग से जन्मरहितता होती है, इसलिये हे अनघ ! तुम पदार्थों के संग (आसक्ति संबन्ध वासना) को विवेकादि से त्यागो, और जीवन्मुक्त हो ॥ ९८ ॥ प्रिय अप्रिय पदार्थों के भाव अभाव काल में जो हर्ष (आनन्द) और अमर्ष (क्रोध) रूप विकार से विकारित्व ही जो यह मलिन वासना है, सोई संग का हेतु होने से संग कहाती है ॥ ९९ ॥ कुसंग सर्वथा ही त्याग के योग्य है, क्योंकि वह काम क्रोध मोह को उत्पन्न करता है, सुन्दर स्मरण ध्यानादि को छुड़ाता है, सुबुद्धि को नष्ट करता है। महापुरुषों का संग तो दुर्लभ, अप्राप्य, अमोघ (अवश्य सत्फलप्रद) है। मायामय संसार दुःखसागर को कौन तरता है कि जो कुसंगों को त्यागता है, महानुभाव (महा प्रभाववाले) ज्ञानी गुरु महात्मा को सेवता है, और ममता को त्यागता है। जो एकान्त स्थान का सेवन करता है, लोकबन्धन (रागादि) को अज्ञान मोहरूप मूल सहित नष्ट करता है, त्रिगुण से परे होता है ॥ १०० ॥ तेरहवाँ सङ्गकामत्यागप्रकरण समाप्त।

अथ भक्तिः—जगदीश्वर चिदानन्दसत्यात्मस्वरूप जगद्गुरु में अनन्य भक्ति को ही संसार समुद्र में दृढ नौका मानता हूँ ॥ १ ॥ ज्ञान से प्रथम और पीछे भी भक्ति होती है, उन में प्रथम की भक्ति विधि संगादि के अधीन होती है, जो कि सेवा में प्रीतिप्रधान रूप वाली होती है, पीछे वाली स्थिति (धारणा) स्वरूप वाली होती है, सो निष्ठा शब्द से कही जाती है ॥ २-३ ॥ मोक्ष के कारण समूह में भक्ति ही अति श्रेष्ठ है, सो अपने स्वरूप का चिन्तन रूप है, अन्य कोई अपने आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप के चिन्तन को भक्ति कहते हैं ॥ ४ ॥ पत्थर पर गिरा हुवा बीज जैसे नहीं जमता है, वैसे भक्तिरहित मनुष्य में उपदेश सफल नहीं होता है ॥ ५ ॥ संसार के जन्ममरणादिजन्य दुःखरूप अरघट्ट

मज्जत्यात्मा भक्तिहीनो महामोहमये भवे। अन्धकूपे निरालम्बच्छिन्नरज्जु र्घटो यथा ॥७॥
भगवद्भक्तिहीनस्य दुःखस्यान्तो न विद्यते। तरणी भक्तिरेकैव भवदुःखमहाम्बुधौ ॥८॥
तत्रैव नाकः किल यत्र भक्ति, र्यत्रास्ति मानो नरकश्च तत्र।
स्वर्गस्य मूलं हरिभक्तिरेका, तथाभिमानो नरकस्य मूलम् ॥ ९ ॥
स्थायी भावो भगवति यश्चिदानन्दमङ्गले। स्वतः प्रकाशते चित्ते स भक्तिरिति कथ्यते ॥१०॥
भक्तिरुद्वोधयत्येका वृत्तीः सर्वा हि सात्त्विकीः। यथैव नलिनीः सुप्ताः प्रभाततरणिप्रभाः ॥११॥
द्रुतस्यं भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता। सर्वेशे मनसो वृत्ति र्भक्तिरित्यभिधीयते ॥१२॥
प्रथमं महतां सेवा तद्दयापात्रतां गतः। श्रद्धाऽथ तेषां धर्मेषु ततो हरिगुणश्रुतिः ॥१३॥
ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः स्वरूपाधिगतिस्ततः। प्रेमवृद्धिः परानन्दे तस्याथ स्फुरणं ततः ॥१४॥
भगवद्धर्मनिष्ठातः स्वस्मिंस्तद्गुणशालिता। प्रेमोऽथ परमा काष्ठेत्युदिता भक्तिभूमिका ॥१५॥
भक्तिरसायन० ॥ १ ॥
भक्ति र्भक्त्यैव कर्तव्या तथा कर्माणि भक्तितः। कर्मभक्तिविहीनो हि सिद्धिमेति न मानवः ॥१६॥
यथाऽऽलोको हि जन्तूनां चेष्टाकारणतां गतः। तथैव सर्वसिद्धीनां भक्तिः परमकारणम् ॥१७॥
यथा समस्तलोकानां जीवनं सलिलं स्मृतम्। तथा समस्तसिद्धीनां जीवनं भक्तिरिष्यये ॥१८॥

(घटीयंत्र) से सब प्राणी सदा पीसे जाते हैं, दुःख से रहित सदा आनन्द स्वरूप केवल हरि भक्त ही रहते हैं ॥ ६ ॥ भक्तिरहित जीवात्मा महामोहमय संसार में इस प्रकार डूबता है कि जैसे अंध कूप में निरालम्ब (आधाररहित) छिन्नरज्जु वाला घट डूबता है ॥ ७ ॥ ईश्वर की भक्ति से रहित जीव के दुःख का अन्त (नाश) नहीं है, एक भक्ति ही संसार के दुःखरूप महासमुद्र में तरणी (नौका) है ॥ ८ ॥ जहाँ भक्ति है तहाँ ही नाक (स्वर्ग) है, जहाँ अभिमान है वहाँ नरक है। जैसे स्वर्ग का मूल (आदि कारण) एक हरिभक्ति है, तैसे ही अभिमान नरक का मूल है ॥ ९ ॥ चेतनानन्द मङ्गल स्वरूप भगवद् विषयक जो चित्त में स्थायी भाव (स्थिर प्रेम) स्वभाव से प्रकाशित है, सोई भक्ति इस शब्द से कही जाती है ॥ १० ॥ एक भक्ति ही शम दम श्रद्धा आदि सभी सात्त्विक वृत्तियों को प्रकट करती है, जैसे प्रसुप्त कमलिनी को प्रभात कालिक तरणि (सूर्य) की प्रभा जागृत करती है ॥ ११ ॥ भगवद्धर्म दयादानादि के अनुष्ठान से द्रुत (विलीन) मन की सर्वेश्वर विषयक धारावाहिकता (प्रवाह रूपता) को प्राप्त वृत्ति को भक्ति कहते हैं ॥ १२ ॥ भक्ति में प्रथम महान् (सन्त) की सेवा कर्तव्य है, उससे सन्त की दया की पात्रता को प्राप्त होता है, फिर उन के धर्मों में श्रद्धा होती है, फिर हरि के गुणों का श्रवण होता है, तब प्रेम के अङ्कुर की उत्पत्ति होती है, फिर स्वरूप का ज्ञान होता है, फिर उत्तमानन्दविषयक प्रेम की वृद्धि होती है, फिर उस का स्फुरण (अनुभव) होता है ॥ १३–१४ ॥ भगवद्धर्म (ज्ञान ऐश्वर्यादि) में निष्ठा (निर्वाह = नियत स्थिति-प्रेम) से अपनी उन गुणों से युक्तता होती है, फिर प्रेम अन्तिम सीमा को प्राप्त करता है, यह भक्ति की अवस्था कही गई है ॥ १५ ॥ सेवा आदि रूप भक्ति प्रेमरूप भक्तिपूर्वक ही कर्तव्य है, तैसे ही सत्कर्म भी प्रेम से कर्त्तव्य हैं, कर्म और भक्ति से रहित मनुष्य किसी सिद्धि को नहीं पाता है ॥१६॥ जैसे आलोक (प्रकाश) प्राणियों की चेष्टा का कारण है, तैसे ही सब सिद्धियों का कारण भक्ति है ॥ १७ ॥ जैसे सब लोक का जल जीवन कहा गया है, तैसे ही सब सिद्धि का जीवन भक्ति मानी जाती है

असूयोपेतमनसां भक्तिदानादि कर्म यत् । अवेहि निष्फलं सर्वं तेषां दूरतरो हरिः ॥१९॥
भक्त्या सिद्ध्यन्ति कर्माणि कर्मभिस्तुष्यते हरिः । तस्मिंस्तुष्टे भवेज्ज्ञानं ज्ञानान्मोक्षमवाप्यते ॥२०॥

नारदीयपु० पूर्वखं० अ० ४ ॥

यस्य नारायणे भक्तिर्विभौ विश्वेश्वरेऽव्यये । तस्य स्यात्सफलं जन्म मुक्तिश्चैव करे स्थिता ॥२१॥

नारदीयपु० पू० खं० अ० १।७८ ॥

या प्रीतिरविवेकानां हृदयेष्वनपायिनी । त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥२२॥
धर्मार्थकामैः किं तस्य मुक्तिस्तस्य करे स्थिता । समस्तजगतां मूले यस्य भक्तिः स्थिरा त्वयि ॥२३॥

विष्णुपु० अं० १ अ० २०।२६–२७ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥२४॥

भगवद्गीता० अ० १८।५५ ॥

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः । नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥२५॥
धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते । नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥२६॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो, जीवेत यावता । जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ॥२७॥
वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् । ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥२८॥
तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया । पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया ॥२९॥

॥ १८ ॥ असूया (परगुण में दोषारोप) युक्त मनवालों के जो भक्ति और दानादि कर्म हैं, उन्हें निष्फल जानो, और उनके लिये हरि भी अति दूर हैं ॥ १९ ॥ भक्ति से सत्कर्म सिद्ध होते हैं, और कर्मों से हरि सन्तुष्ट होते हैं, और हरि के सन्तुष्ट होने पर आत्मज्ञान होता है, उस ज्ञान से मोक्ष मिलता है ॥ २० ॥ जिस की विभु विश्वेश्वर निर्विकार नारायण में भक्ति है, उस का जन्म सफल है, और मुक्ति मानो हाथ ही में प्राप्त है ॥ २१ ॥ अविवेकियों के हृदयों में जो अनपायिनी (नाश रहित) सांसारिक प्रीति रहती है, हे प्रभो ! तेरा स्मरण करते हुए मेरे हृदय से वैसी प्रीति कभी हटे नहीं, या वह सांसारिक प्रीति मेरे हृदय से हे 'माप !' (लक्ष्मीपते !) 'सर्पतु' (चली) जाय ॥२२॥ सब जगत् के कारण रूप तुम में जिस की स्थिर भक्ति है, धर्मादि से उस को क्या जरूरत है ? उस के हाथ में मुक्ति स्थिर है ॥ २३ ॥ ज्ञानादि रूप परा भक्ति से मुझ को सर्वात्मा जानता है, उपाधिकृत जितने स्वरूप वाला और जिस सत्य सत्यानन्द-स्वरूप हूँ सो समझता है, तब मुझे यथार्थरूप से समझ कर उस में तदनन्तर ही प्रवेश करता है ॥ २४ ॥ पुरुष से सम्यक् किया गया भी जो धर्म हरिकथा में यदि प्रीति को नहीं उत्पन्न करता है, तो वह धर्म केवल श्रमरूप ही है ॥ २५ ॥ मोक्ष के हेतु रूप धर्म के अर्थ (प्रयोजन-फल) रूपता के लिये अर्थ (द्रव्य) नहीं समर्थ है, धर्म के लिये निश्चित धर्मातिशययुक्त अर्थ (द्रव्य) के काम लाभ (फल) के लिये नहीं कहा गया है ॥ २६ ॥ काम (इच्छा) का ऐन्द्रिक सुख फल रूप नहीं है, किन्तु जितने से जीवन हो उतना ही काम का फल है, और जीवन का तत्त्व जिज्ञासा विचारादि फल है, जो यहाँ कर्म से प्राप्त होता है सो फल नहीं है ॥ २७ ॥ तत्त्वज्ञ उस तत्त्व को कहते हैं कि जो ज्ञानस्वरूप द्वैत (भेद) रहित है, और ब्रह्म परमात्मा भगवान् इत्यादि शब्दों से कहा जाता है ॥ २८ ॥ श्रद्धायुक्त मुनि लोग शास्त्र के श्रवणादि से गृहीत (ज्ञात-प्राप्त) ज्ञानवैराग्ययुक्त भक्ति से उस ब्रह्म स्वरूप आत्मा को अपनी आत्मा में अभिन्न

शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः । स्यान्महत्सेवया विप्राः ! पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥३०॥
शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः । हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥३१॥
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया । भगवत्युत्तमश्लोके भक्ति र्भवति नैष्ठिकी ॥ ३२॥
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये । चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥३३॥
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः । भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥३४॥
भागव० स्क० १।८। इत्यादि ॥

भक्तियोगो बहुविधो मार्गै र्भामिनि ! भाव्यते । स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते ॥३५॥
अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा । संरम्भी भिन्नदृग् भावं मयि कुर्यात्स तामसः ॥३६॥
विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा । अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग् भावः स राजसः ॥३७॥
कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम् । यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग भावः स सात्त्विकः ॥३८॥
मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये । मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाऽम्भसोऽम्बुधौ ॥३९॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् । अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥४०॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥४१॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः । येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥४२॥
भागवत० स्क० ३।२९।७। इत्यादि भगवतः कपिलस्योक्तिः ॥

देखते हैं ॥ २९ ॥ हे विप्र ! महापुरुष (सन्त) की सेवा पुण्यतीर्थ के निरन्तर सेवन से शुश्रूषु श्रद्धा युक्त मनुष्य को वासुदेव की कथा में रुचि होती है ॥३०॥ पवित्र हैं जिन के श्रवण और कीर्त्तन सो सत्पुरुषों के सुहृद् कृष्ण अपनी कथा के श्रोताओं के हृदय में स्थिर होकर उन के पापों को नष्ट करते हैं ॥ ३१ ॥ सदा भागवत (सन्त) की सेवा से पापों के बहुत अंश के नष्ट होने पर उत्तम यशयुक्त भगवान् में निष्ठायुक्त भक्ति होती है ॥ ३२ ॥ उस भक्ति के होने पर, रजस्तमोगुणमयभाव (पदार्थ) रूप जो काम लोभादि हैं, उन से रहित चित्त सत्त्व गुण में स्थिर हो कर प्रसन्न स्वच्छ होता है ॥३३॥ इस प्रकार प्रसन्न मनवाले असङ्गपुरुष को भगवद्भक्तिरूप योग से भगवत् तत्त्व का विज्ञान होता है ॥ ३४ ॥ हे भामिनि ! मार्गों द्वारा बहुत प्रकार का भक्तियोग किया जाता है, क्योंकि स्वभाव और गुणों के मार्ग से पुरुषों के भाव (तात्पर्य) भिन्न हो जाते हैं ॥ ३५ ॥ 'संरम्भी' (क्रोध के वेगवशवर्ती) भिन्नद्रष्टा जो मनुष्य किसी की हिंसा, दम्भ (कपट) वा मात्सर्य (अन्य शुभ में द्वेष) का विचार ध्यान पूर्वक मुझ परमात्मा में भाव प्रेम करता है, वह तामस भक्त है ॥ ३६ ॥ जो भेद भावनावाले विषय यश या ऐश्वर्य की ही इच्छापूर्वक मूर्त्ति आदि में मेरी पूजा करता है सो राजसी है ॥ ३७ ॥ जो भेद भावनावाले पाप कर्म की निवृत्ति की इच्छा से वा परमात्मा में कर्मों के अर्पण की इच्छा से वा पूज्यदृष्टि मात्र से मेरी पूजा करता है, सो सात्त्विक भक्त है ॥ ३८ ॥ मेरे गुणों के श्रवणमात्र से सब के हृदय-गुफा-वासी मुझ में जिस की निरन्तर मन की गति होती है, जैसे कि गंगा जल की समुद्र में गति होती है, यही निर्गुण भक्तियोग का लक्षण कहा गया है कि जो भक्ति किसी हेतु (लौकिक फल की इच्छा के बिना निरन्तर पुरुषोत्तम में होती है ॥३९-४०॥ निर्गुण भक्ति वाले भक्तजन मेरी भक्ति के बिना अन्य किसी साधन से प्रसन्न देवादि से दिया गया भी सालोक्यादि रूप मुक्ति विशेष का ग्रहण नहीं करते हैं ॥ ४१ ॥ वही आत्यन्तिक (निश्चित) भक्तियोग

श्रवणं कीर्त्तनं[1] विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥४३॥
इति पुंसाऽर्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा । क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥४४॥
भागवत० स्क० ७।५।२३–२४ ॥ प्रह्लादोक्तिः ॥

न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह । वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत् ॥४५॥
भागवत० स्क० २।२।३३ ॥

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥४६॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु । तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥४७॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् । न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥४८॥
तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता । मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥४९॥
अस्मिल्लोके वर्त्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः । ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया ॥५०॥
स्वर्गिणोऽप्येतमिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा । साधकं ज्ञानभक्तिभ्यामुभयं तदसाधकम् ॥५१॥
भा गवत० स्क० ११।२०।६। इत्यादि ॥

संतां सङ्गतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम् । द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणेरणम् ॥५२॥
व्याख्यातृत्वं मद्वचसां चतुर्थं साधनं भवेत् । आचार्योपासनं भद्रे ! मद्बुद्ध्याऽमायया सदा ॥५३॥

नामक योग कहा गया है कि जिससे तीन गुण को त्याग कर मनुष्य मेरे सच्चिदानन्द स्वरूपता को प्राप्त होता है ॥४२॥ परमात्म सम्बन्धी कथा नाम गुण यश आदि का श्रवण, कीर्त्तन (कथन-गानादि) विष्णु (व्यापक) परमात्मा का स्मरण, नाम का जप, सद्गुरु आदिरूप विष्णु के पाद का सेवन, अर्चन (पूजन) वन्दना (स्तुति) दासभाव, मित्रभाव, आत्मसमर्पण, ये नव लक्षण वाली भक्ति विष्णु भगवान् में अर्पण पूर्वक (फलेच्छा रहित) श्रद्धा (सत्य) रूप से यदि पुरुष द्वारा की जाती है, तो मैं उत्तम अध्ययन समझता हूँ ॥ ४३–४४ ॥ सब संसार जिसमें वसता है ऐसे सर्वाधिष्ठान देवरूप भगवान् में जिस मार्ग से भक्ति योग हो, उस मार्ग से अन्य शिव (शुभ) मार्ग इस संसार में पैठनेवाले के लिये नहीं है ॥ ४५ ॥ मनुष्यों के शुभ के विधान की इच्छावाले मुझ से ज्ञानादि तीन योग कहे गये हैं, इनसे अन्य कहीं शुभ का उपाय नहीं है ॥ ४६ ॥ कर्मों से विरक्त संन्यासियों के लिये यहाँ ज्ञान योग है, और कर्मों से अविरक्त कामियों के लिये कर्म योग है ॥ ४७ ॥ स्वतन्त्रता = दैवयोग से मेरी कथा आदि में उत्पन्न श्रद्धा वाला जो मनुष्य न अति विरक्त न अति आसक्त है उसको भक्ति योग सिद्धि देता है ॥ ४८ ॥ कर्म तभी तक करना चाहिये कि जब तक विरक्त न हो, या जब तक मेरी कथा के श्रवणादि में श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती हो ॥ ४९ ॥ इस लोक में वर्त्तमान अपने धर्म में स्थिर पाप रहित पवित्र मनुष्य स्वतन्त्रता से विशुद्ध ज्ञान या मेरी भक्ति को प्राप्त करता है ॥ ५० ॥ इस लोक को स्वर्गवासी और नरकवासी दोनों चाहते हैं, क्योंकि यह लोक ज्ञान और भक्ति का साधक है, और उनके द्वारा स्वर्ग मोक्ष का साधक है, वे दोनों असाधक हैं ॥ ५१ ॥ यहाँ सत्संग भक्ति का प्रथम साधन कहा गया है, मेरी कथा का गान दूसरा साधन है, मेरे गुणों का गान तीसरा साधन है, मेरे वचनों की व्याख्यानकर्तृता चौथा साधन

---

१ हृदाऽऽकाशेन संपश्यन् जन्मकर्माणि वै मम । प्रीत्योच्चारणं तेषामेतत् कीर्त्तनमुच्यते ॥ शिवपु० सतीखं० २अ० २३।२६ ॥

पञ्चमं पुण्यशीलत्वं यमादि नियमादि च । निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठसाधनमीरितम् ॥५४॥
मम मन्त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते । मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥५५॥
बाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादिसहितं तथा । अष्टमं नवमं तत्त्वविचारो मम भामिनि ! ॥
एवं नवविधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा ॥५६॥

अध्यात्मरा० अरण्यका० स० १०।२२ । इत्यादि । शेवरीं प्रति श्रीरामोक्तिः ॥

कामक्रोधाभिभूतानां दृष्ट्वा याऽन्यं च पश्यताम् । लब्धये चाभिचाराय भक्तिः स्यात्पार्थ ! तामसी ॥५७॥
यशसे चातिरिक्ताय परस्य स्पर्द्धयाऽपि वा । प्रसङ्गात्परलोकाय भक्तिः सा राजसी स्मृता ॥५८॥
आमुष्मिकं स्थिरतरं दृष्ट्वा भावान् विनश्वरान् । पश्यताऽऽश्रमवर्णोक्तान् धर्मान्नैव जिहासता ॥५९॥
आत्मज्ञानाय या भक्तिः क्रियते सा तु सात्त्विकी । जगच्चेदं जगन्नाथो नान्यं चापि न कारणम् ॥
अहं च न ततो भिन्नो मत्तोऽसौ न पृथक् स्थितः ॥६०॥
हीनं बहिरुपाधीनां प्रेमोत्कर्षेण भावनम् । दुर्लभा भक्तिरेषा हि मुक्तयेऽद्वैतसंज्ञिता ॥६१॥
सात्त्विक्या ब्रह्मणः स्थानं राजस्या शक्रलोकताम् । प्रयान्ति भुक्त्वा भोगान् हि तामस्या पितृलोकताम् ६२
पुनरागत्य भूलोकं भक्तिं तां वैपरीत्यतः । तामसो राजसीं कुर्याद् राजसः सात्त्विकीं तथा ॥
सात्त्विको मुक्तिमाप्नोति कृत्वा चाद्वैतभावनाम् ॥६३॥

स्क०पु० वै०खंण्ड० ज०मा० अ० १।८३। इत्यादि ॥ नारदोक्तिः ॥

है । हे भद्रे ! ईश्वर बुद्धि से कपट के बिना सदा आचार्य की उपासना पञ्चम साधन है, तथा पुण्य शीलता और यमादि नियमादि भी पञ्चम है, और मेरी पूजा में सदा निष्ठा (प्रेमस्थिति) षष्ठ साधन कहा गया है ॥ ५२-५४ ॥ मेरे मन्त्र (रामनाम) की उपासना सप्तम साधन है, मेरे भक्तों में मुझ से भी अधिक पूजा, सब प्राणी में रामरूपता का ज्ञान, बाहर के विषयों में शमदमादि सहित वैराग्य अष्टम साधन है। मेरे तत्त्व (पारमार्थिक स्वरूप सर्वात्मता) का विचार, हे भामिनि ! यह नवम साधन है । इस प्रकार के नवधा भक्ति रूप साधन जिस किसी का भी होता है, इस में वर्णाश्रमादि का कोई नियम नहीं ॥५५-५६॥ हे पार्थ ! अन्य (भिन्न-अनात्मा) को देखने वाले और अन्य को देख कर काम क्रोध से पराजित मनुष्य की जो भक्ति अन्य वस्तु की प्राप्ति के लिये या शत्रु के अभिचारण (मारण) के लिये होती है, सो तामसी भक्ति है ॥ ५७ ॥ सम्यग् अधिक यश के लिये वा अन्य की स्पर्द्धा से वा प्रसङ्ग से परलोक के लिये जो भक्ति की जाती है, सो राजसी है ॥ ५८ ॥ पारलौकिक स्थिरतरवस्तु को देखकर, विनश्वर वस्तुओं को देखने वाला वर्णाश्रम के कथित धर्मों को त्यागने की इच्छा से रहित मनुष्य द्वारा जो आत्मज्ञान के लिये भक्ति की जाती है सो सात्त्विकी है। और यह सब जगत् जगन्नाथ (ईश्वरमय) हैं, उस ईश्वर से अन्य जगत् नहीं है, न जगत् का कारण अन्य है, न मैं उससे भिन्न हूँ, न वह मुझ से भिन्न है, इस प्रकार बाह्य उपाधियों के सम्बन्ध से हीन (रहित) शुद्ध स्वरूप के प्रेम की उत्कर्षता से चिन्तन रूप ही यह अद्वैत नाम वाली दुर्लभ भक्ति मुक्ति के लिये होती है ॥ ५९-६१ ॥ सात्त्विकी भक्ति से ब्रह्मलोक, राजसी से इन्द्रलोक, तामसी से पितृलोक को मनुष्य यहाँ के भोगों को भोग कर प्राप्त करता है ॥ ६२ ॥ फिर भूलोक में आकर उस भक्ति को प्रथम की अपेक्षा उलटी रीति से करता है, अर्थात्

पुत्रदारादिकं सर्वं जानाति श्रीहरेरिति । आत्मंना मनसा वाचा स भक्तः कथितो बुधैः ॥६४॥

ब्रह्मवैवर्त्तपु० कृष्णजन्मखं० ।

भक्ति र्जनित्री ज्ञानस्य भक्ति र्मोक्षप्रदायिनी । भक्तिहीनेन यत्किञ्चित्कृतं सर्वमसत्फलम् ॥६५॥

अध्यात्मरा० युद्धकां० स० ७।६७॥

चिन्त्यमानः समस्तानां क्लेशानां हानिदो हि यः। समुत्सृज्याखिलं चिन्त्यं सोऽच्युतःकिंन चिन्त्यते॥६६॥

गङ्गास्नानसहस्रेषु पुष्करस्नानकोटिषु । यत्पापं विलयं याति स्मृते नश्यति तद्धरौ ॥६७॥

गरुडपु०य० १।१३०।८–१८॥

गतस्वार्थमिमं देहं विरक्तो मुक्तबन्धनः । अविज्ञातगति र्जह्यात्स वै धीर उदाहृतः ॥६८॥

यः स्वकात्परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान् । हृदि कृत्वा हरिं गेहात्प्रव्रजेत्स नरोत्तमः ॥६९॥

भागवत स्क० १।१३ ॥

तावद्विमोहवशतश्चितिराकुलेषु सङ्गेषु संसरति जन्मदशासु तासु ।
यावन्न पश्यति परं तमथाशु दृष्ट्वा तत्रैव मज्जति घनं मधुनीव भृङ्गी ॥७०॥
सम्प्राप्य कस्त्यजति नाम तदात्मतत्त्वं प्राप्यानुभूय च जहाति रसायनं कः ।
शाम्यन्ति येन सकलानि निरन्तराणि दुःखानि जन्मप्रभृतिमोहमयानि राम ! ॥७१॥

योगवासि० प्र० ६ उ० स० ८५।२७–२८॥

तामस राजसी, राजस सात्विकी भक्ति करता है, और सात्त्विक पुरुष अद्वैत भावना करकें मुक्ति को पाता ॥६३॥ कर्म मन और वचन से जो पुत्र स्त्री आदि सब संसार को श्रीयुक्त हरि (मायी ईश्वर) के कार्यादि और ईश्वर की वस्तु जानता है, इससे विशेष ममता मोहादि रहित असंगादि रहता है, सो विद्वानों द्वारा भक्त कहा गया है ॥ ६४ ॥ भक्ति ज्ञान का उत्पादक और मोक्ष की प्रदायिनी है, भक्ति से रहित जो कुछ कर्मादि किये जाते हैं, सो सब निष्फल होते हैं "अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् । असदित्युच्यते पार्थ ! न च तत्प्रेत्य नो इह" ॥ ६५ ॥ जो अच्युत (अखण्ड सच्चिदानन्द एक रस हरि) चिन्त्यमान (स्मृत) होने पर समस्त क्लेश (अविद्यादि दुःख) के नाशक होते हैं, अन्य सब चिन्तनीय को त्याग कर वे ही हरि क्यों न ध्येय किये जायँ ? हरि ही अवश्य ध्येय हैं ॥६६॥ हजारो गंगास्नान और करोड़ों पुष्कर स्नानों से जिस पाप का नाश होता है, उसका हरि के स्मरण रूप भक्ति से ही नाश हो जाता है ॥ ६७ ॥ अन्य जनों से अविज्ञात गति वाला लोक मोहादि बन्धनरहित विरक्त जो पुरुष स्वार्थरहित इस देह को वश में करता है, इसमें आसक्ति के त्याग से इसे त्यागता है, सो धीर कहलाता है ॥ ६८ ॥ जो अपने विचार से वा अन्य के उपदेश से इस संसार में वैराग्ययुक्त आत्मवान् (वश्यात्मा) होकर, हृदय में हरि को धारण कर के गृह से गमन करता है सो मनुष्यों में उत्तम है ॥ ६९ ॥ शिवेच्छा जीव रूप चिति व्याकुल संग तिस जन्मावस्थाओं में तब तक मोह से भ्रमती है कि जब तक घन (निरन्तर) तिस पर शिव को नहीं देखती है, उस को देख कर तो मधु में भृङ्गी के समान उसी में लीन होती है ॥ ७० ॥ उस आत्मतत्त्व को सम्यक् प्राप्त कर के फिर त्याग कौन सकता है ? भला प्राप्त और अनुभव कर के रसायन को कौन त्यागता है ? हे राम ! अपरोक्ष जिस आत्मतत्त्व से जन्मादि रूप मोहमय निरन्तर होनेवाले सब दुःख निवृत्त हो जाते हैं ॥ ७१ ॥

अस्माकं तु निसर्गसुन्दर ! चिराच्चेतो निमग्नं त्वयीत्यद्धानन्दनिधौ तथापि तरलं नाद्यापि सन्तृप्यते। तन्नाथ ! त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रतां याते चेतसि नाप्नुवाम शतशो याम्याः पुनर्यातनाः ७२

कुसुमाञ्ज० । ५।१८॥

अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ॥ सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ॥ पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः ॥ कथादिष्विति गर्गः ॥ आत्मरत्यविरोधेन शाण्डिल्यः ॥ नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ॥ ॥ ७३ ॥ नारदीय भक्तिसू० ॥

देवध्यानादि मानसी भक्तिः । मन्त्रवेदादीनां जापचिन्तादिकं वाचिकी भक्तिः ॥ व्रतोपवासादिनियमैरिन्द्रियजयेन च सर्वश्रेष्ठा कायिकी भक्तिः । अन्नवस्त्रादिसमर्पणनृत्यवादित्रादिभिश्च लौकिकी भक्तिः । ऋग् यजुः साम्नां जपाऽध्ययनानि च देवानुद्दिश्य क्रियमाणानि वैदिकी भक्तिः । सांख्यादिरीत्या चिदचित्तत्त्वानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां चिन्तनमाध्यात्मिकी भक्तिः । प्राणायामादिपूर्वकं क्रियमाणा योगजा भक्तिरिति कथ्यते ॥ ७४ ॥ पद्मपु० पातालखं० अ० ८५॥

गुरोरुत्तीर्णता केन शिष्याणामस्ति कर्मणा । कायवाङ्मनसा तस्माच्छिष्यैरात्मनिवेदनम् ॥
गुरोरुत्तीर्णता सैव नान्या केनापि कर्मणा ॥ ७५ ॥ योगवासिष्ठ० प्र० ६।२ सं० २१६।२३॥

गुरुभक्तिं सदा कुर्याच्छ्रेयसे भूयसे नरः । गुरुभक्तिविहीनस्य सत्यात्मा न प्रकाशते ॥७६॥
गुरुभक्तिः प्रसादश्च मते द्वन्द्वजयस्तथा । धर्मश्चैवाप्रमादश्च बलं पञ्चविधं स्मृतम् ॥७७॥

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का ?
का जाति विंदुरस्य ? यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम् ? ।
कुब्जायाः कमनीयरूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनम् ?
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणै भंक्तिप्रियो माधवः ॥७८॥

परीक्षितश्च श्रवणं कीर्त्तनं नारदे शुके । स्मरणं शिवप्रह्लादौ लक्ष्म्याश्च पादसेवनम् ॥७९॥

हे स्वभाव से सुन्दर जगन्नाथ ! हमारा चित्त सत्यानन्दसमुद्र तुम में चिरकाल में निमग्न हुआ (लगा) है, तो भी चंचल यह अभी तृप्त नहीं होता है, अतः हे नाथ ! शीघ्र करुणा करो, कि जिस से तुम में चित्त की एकाग्रता से फिर सैकड़ों बार यमयातना को नहीं पाऊं ॥ ७२ ॥ अन्य स्पष्ट है। "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्त्वमेति ।" [छा० २।२३।१।] एवं "विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीडः ।" [छा० ७।२५।२।] इत्यादि श्रुतियों का पूर्वोक्त अर्थ में ही तात्पर्य है ॥ ७३-७४ ॥ कायवागादि द्वारा आत्मसमर्पण विना गुरु से शिष्यों को उत्तीर्णता किसी कर्म से नहीं है, आत्मसमर्पण ही कर्तव्य है सोई उत्तीर्णता है ॥ ७५ ॥ अत्यन्त भारी श्रेष्ठ शुभ के लिये मनुष्य गुरु भक्ति सदा करे, गुरु भक्ति रहित को सत्यात्मा का अनुभव नहीं होता है ॥ ७६ ॥ गुरु भक्ति बुद्धि की प्रसन्नता आदि पांचों शुभों के लिये बल है ॥ ७७ ॥ व्याधादि के आचरण, अवस्था, विद्या, जाति, पुरुषार्थ, रूप, धन के नहीं होने पर भी विष्णु भगवान् केवल भक्ति से सन्तुष्ट हुए, इससे उन्हें भक्ति ही प्रिय है, गुण नहीं ॥७८॥ परीक्षित ने श्रवण किया, नारद और शुकदेव में कीर्त्तन

अर्चनं सर्वभावेन पृथुराजादिना कृतम् । अक्रूरे वन्दनं प्रोक्तं दास्यं तार्क्ष्यहनूमतोः ॥८०॥
विज्ञेयमर्जुने सख्यं बलौ चात्मनिवेदनम् । भक्तिं नवविधां कृत्वा कैवल्यं प्राप्यते परम् ॥८१॥
इत्याद्यभियुक्ताः ॥

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति । भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥८२॥
इति चतुर्दशभक्तिप्रकरणं समाप्तम् ॥ पञ्चतन्त्र० मि० सम्प्रा० ४४६ ॥

अथ हरिस्मरणम् ॥ १५ ॥

हरेः सुस्मरणं वेत्ति यो जनस्तत् करोति च । अहिंसको दयायुक्तः स मुक्तो नात्र संशयः ॥१॥ तथाहि—
हरि र्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः । अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥२॥
नारदीयपु० अ० ११।१०० ॥
सर्वं जगदिदं विष्णु र्विष्णुः सर्वस्य कारणम् । अहं च विष्णु र्यज्ज्ञानं तद्विष्णुस्मरणं विदुः ॥३॥
नारदीयपु० १६।३२ ॥
महतः श्रेयसो मूलं प्रसवः पुण्यसन्ततेः । जीवितस्य फलं स्वादु नियतं स्मरणं हरेः ॥४॥
गरुडपु० पूर्वखं० अ० २२७ ॥
विष्णुमानन्दमद्वैतं विज्ञानं सर्वगं प्रभुम् । प्रणमामि सदा भक्त्या चेतसा हृदयालयम् ॥५॥
योऽन्तस्तिष्ठन्नशेषस्य पश्यतीशः शुभाशुभम् । तं सर्वसाक्षिणं विष्णुं नमस्ये परमेश्वरम् ॥६॥
गरुडपु० पूर्वखं० अ० २२८ ॥
प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपःकर्मात्मकानि वै । यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम् ॥७॥

था, शिव और प्रह्लाद स्मरण करते थे, लक्ष्मी का पादसेवन व्रत है, पृथुराजादि से सर्वभावपूर्वक अर्चन किया गया, अक्रूर में वन्दन कहा गया है, गरुड हनूमान् में दास्य भाव था, अर्जुन में मित्रभाव जानना, बलि में आत्मार्पण था। नव प्रकार की भक्ति करके परम कैवल्य (मोक्ष) पाया जाता है ॥ ७९–८१ ॥ दानादि छः प्रकार के प्रीति के लक्षण हैं ॥ ८२ ॥ चौदहवां भक्तिप्रकरण समाप्त ॥

अथ हरिस्मरण—जो अहिंसक दयालु हरि के सुन्दर स्मरण को जानता और करता है, सो मुक्त है इसमें संशय नहीं ॥ १ ॥ दुष्ट चित्त वालों से चिन्तित हरि भी उनके पापों को नष्ट करते हैं, जैसे इच्छा बिना भी छू जाने पर अग्नि जलाती ही है ॥ २ ॥ यह सब जगद् विष्णु स्वरूप है, सर्वत्र उसी की सत्ता है, क्योंकि विष्णु ही सब के निमित्तोपादान उभय कारण है, इससे मैं भी विष्णु हूँ, ऐसा जो ज्ञान सन्त उसी को विष्णु स्मरण जानते हैं ॥ ३ ॥ महान् शुभ (मोक्ष) के मूल, और पुण्यरूप सन्तति (सन्तान-वंश) के प्रसव (उत्पत्ति) तथा जीवन के स्वादुफल रूप हरि के नियत (नित्य-सदा) स्मरण है, ॥ ४ ॥ इसलिये अद्वैत विज्ञान आनन्द स्वरूप सर्वग (व्यापक) प्रभु (सर्वेश्वर) सर्व हृदय-वासी विष्णु को सदा भक्ति पूर्वक चित्त से प्रणाम करता हूँ ॥ ५ ॥ जो ईश्वर सब के अन्तःकरण में रहता हुवा सब के शुभाशुभ कर्मादि को देखता है, उस सर्वसाक्षी सर्वेश्वर विष्णु को प्रणाम करता हूँ ॥ ६ ॥ तप और कर्मरूप जो सब प्रायश्चित हैं, उन सब में विष्णु का स्मरण उत्तम है ॥ ७ ॥

कृते पापेऽनुपातो वै यस्य पुंसः प्रजायते । प्रायश्चित्तं हि तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम् ॥८॥

विष्णुपु० अंश० २ अ० ६ ॥

कृते पापे तु वै तापो यस्य पुंसः प्रजायते । प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं शिवसंस्मरणं परम् ॥९॥

तस्मादहर्निशं शम्भुं संस्मरन् पुरुषोत्तमः । न याति नरकं शुद्धः संक्षीणाखिलपातकः ॥ १०॥

स्कन्दपु० खं० ५।२६ ॥ अवन्तिकामा० ॥

सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्वदेवमयो हरिः । सर्वयज्ञमयो वेदः सर्वधर्ममयी दया ॥११॥

तत्रैव-अ० ४२ ॥

शुक्लाम्बरधरं देवं शशिवर्णं चतुर्भुजम् । प्रसन्नवदनं ध्यायेत् सर्वविघ्नोपशान्तये ॥१२॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः । येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः ॥१३॥

अभीप्सितार्थसिद्ध्यर्थं पूज्यते यः सुरासुरैः । सर्वविघ्नहरस्तस्मै गणाधिपतये नमः ॥१४॥

सहस्राक्षः सहस्रपात् सहस्रवदनोज्ज्वलः । सहस्रनामानन्ताक्षः सहस्रबाहु र्नमोस्तु ते ॥१५॥

स्कन्दपु० खं० ५।६२ ॥ अवन्तिकामा० ॥

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया । जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः ॥१६॥

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतो भयम् । योगिनां नृप ! निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम् ॥१७॥

स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः ।

पाप कर लेने पर जिस पुरुष को पश्चात्ताप होता है, उस के लिये एक हरि का सम्यक् स्मरण ही उत्तम प्रायश्चित है ॥८॥ पाप करने पर जिस पुरुष को अत्यन्त ताप (सन्ताप) होता है, उसके लिये एक शिव स्वरूप का सम्यक् स्मरण उत्तम प्रायश्चित है । यहाँ शिव विष्णु के स्वरूप को एक समझना चाहिये जो सर्वात्मा सर्वसाक्षी है । शरीरमूर्त्ति अवलम्ब मात्र है, यही आशय सर्वत्र ज्ञेय है, ध्येय तत्त्व एक है ॥ ९ ॥ अतः सदा शम्भु (सुख हेतु ब्रह्म) को स्मरण करने वाला सब पापों के नाश से शुद्ध पुरुषोत्तम होकर फिर कभी गर्भादि रूप नरक में नहीं प्राप्त होता है ॥ १० ॥ गङ्गा सब तीर्थरूप है, हरि सब देव रूप हैं, सब यज्ञ के बोधक वेद हैं, सब धर्म से साध्य दया अहिंसा है ॥ ११ ॥ सब विघ्नों की निवृत्ति के लिये श्वेत-वस्त्रधारी शशी (चन्द्र) तुल्यरूप वाले प्रसन्न मुखयुक्त चतुर्भुज देव का ध्यान करे, ॥ १२ ॥ नीलकमल तुल्य श्याम जनार्दन (ज्ञानादि से जन्मनाशक) जिनके हृदयस्थ हैं, उनको लाभ और जय है, पराजय किसी से नहीं ॥ १३ ॥ सर्वथा इष्ट वस्तु की सिद्धि के लिये जो सुर (देव) असुर सबसे पूजे जाते हैं, और सब विघ्नों के जो नाशक हैं तिस गणाधिपति (सर्वेश्वर) को नमस्कार है ॥ १४ ॥ सर्वात्मा सर्वस्वरूप होने से सबके नेत्रादि जिस परमात्मा के नेत्रादि हैं, और स्वयं वस्तुतः नेत्रादि रहित है, तिस वेदोक्त सहस्र (अनन्त) आंख, अनन्त पाद (पैर) अनन्त मुख, अनन्त नाम, अनन्तबाहु वाले उज्ज्वल (शुद्ध प्रकाश) स्वरूप तेरे प्रति नमस्कार है ॥ १५ ॥ सांख्य योग के अभ्यास और अपने धर्म में सर्वथा स्थिति से पुरुष को इतना ही जन्म का सर्वोत्तम लाभ (फल) है कि-अन्त में नारायण (सर्वजनाश्रय) विष्णु की स्मृति हो, ॥ १६ ॥ हे नृप ! सब से अभय चाहनेवाले विरक्त योगियों को यह हरि के नाम का अनुकीर्त्तन (हरि स्मरणपूर्वक नाम का जप) ही निर्णीत धर्म है ॥ १७ ॥ सो हरि सब की बुद्धि वृत्ति द्वारा सब पदार्थों को अनुभव करने वाला

तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत नान्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः ॥१८॥ भागव० स्क० २।१।६-११-३९॥
ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्त्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ! ते चरणारविन्दम् ॥१९॥ भागव० स्क० ११।५।३३॥
नताः स्म ते नाथ ! पदारविन्दं बुद्धीन्द्रियप्राणमनोवचोभिः ।
यच्चिन्त्यतेऽन्तर्हृदि भावयुक्तै र्मुमुक्षुभिः कर्ममयोरुपाशात् ॥ २० ॥ भागव० स्क० ११।६।७॥
येषां संस्मरणात्पुंसां सद्यः शुद्धयन्ति वै गृहाः । किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः ॥२१॥
भागव० स्क० १।१९।३३॥
लौकिकानुभवो बाध्यो वैदिको बाधको यथा । तज्जन्ययोरपि स्मृत्यो र्बाध्यबाधकता तथा ॥२२॥
स्वास्थ्यास्वास्थ्यप्रदे यस्माद् ब्रह्मानात्मस्मृती ततः । मुक्त्वाऽनात्मस्मृतिं ब्रह्मस्मृतिमेवाश्रयेत्ततः ॥२३॥
बृहदा० वार्त्तिकसा० अ० १।४।८३ इत्यादि ॥
व्यापकं देवि ! मां दृष्ट्वा नित्यं सर्वत्र सर्वदा । निर्भयत्वं सदा लोके स्मरणं तदुदाहृतम् ॥२४॥
गरुड़पु० आदिकां० अ० २३४।२७॥

इति हरिस्मरणनामकं पञ्चदशप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ सदाचारः ॥ १६ ॥

सदाचारेण लोकोऽयं दुस्तरं तरति ध्रुवम् । लभते च परं श्रेयो विचारेण चिरान्न हि ॥१॥ तथाहि-
सदाचारी जपन्नित्यं ध्यायन् भद्रं समश्नुते । सदाचारं प्रवक्ष्यामि सम्यग् धर्मस्य साधनम् ॥२॥

है, और जैसे स्वप्न के जनों का द्रष्टा एक जीवात्मा रहता है, वैसे सर्वात्मा हरि एक सत्य है, उसी सत्य आनन्द समुद्र को भजना चाहिये, अन्य असत्य अनात्मा में आसक्त नहीं होना चाहिये क्योंकि उससे अपने स्वरूप से पतित होता है ॥ १८ ॥ हे महापुरुष ! सदा ध्यानार्ह, अनादर के नाशक, अभीष्ट के पूर्णकर्ता, तीर्थों के आश्रय, शिव ब्रह्मा से स्तुत=नमस्कृत, शरणागत रक्षक, दासदुःखहर्त्ता, नम्र भक्तों के पालक, संसार समुद्र के नौका रूप, तेरे चरण कमल को वन्दना करता हूँ ॥ १९ ॥ हे नाथ ! मैं तेरे पद कमल को बुद्धि इन्द्रिय प्राण मन और वचन द्वारा नमस्कार करता हूँ जिस पद कमल को कर्ममय बहुत बन्धन से मोक्ष की इच्छा वाले प्रेमयुक्त भक्त अपने हृदय के अन्दर चिन्तन करते हैं ॥ २० ॥ जिन सत्पुरुषों के स्मरण मात्र से पुरुषों के गृह भी शीघ्र शुद्ध हो जाते हैं, फिर उनके दर्शन स्पर्श पादप्रक्षालन आसनादि से तो कहना ही क्या है ? ॥ २१ ॥ जैसे लौकिक अनुभव (देहात्मतानुभवादि) बाध्य (निवृत्तियोग्य) है, और वेदजन्य अनुभव उसका बाधक (नाशक) है, तैसे लोक वेदजन्य स्मरणों को भी बाध्य बाधकभाव है ॥ २२ ॥ और जिससे ब्रह्म (आत्मा) और अनात्मा के स्मरण क्रम से स्वास्थ्य (शान्ति) अस्वाथ्य (अशान्ति) को देने वाले हैं, तिससे अनात्म स्मरण को प्रथम त्याग कर, तब फिर ब्रह्म स्मरण का आश्रयण करे ॥ २३ ॥ हे देवि ! मुझे व्यापक समझ कर संसार में सर्वत्र सर्वदा निर्भय रहना हरिस्मरण कहा गया है ॥ २४ ॥ पन्द्रहवाँ हरिस्मरण प्रकरण समाप्त ॥

अथ सदाचारः—सदाचार से यह लोक=जन, दुस्तर दुःखादि को अवश्य तरता है, और सदाचार पूर्वक विचार से पर श्रेय को शीघ्र पाता है ॥ १ ॥ सदाचारी जन सदा जप ध्यान करता हुवा

यस्मादाचारहीनस्य साधनं निष्फलं भवेत् । आचारः परमो धर्म आचारः परमं तपः ॥३॥
आचारः परमा विद्या आचारः परमा गतिः । सदाचारवतां पुंसां सर्वत्राऽप्यभयं भवेत् ॥४॥
तद्वदाचारहीनानां सर्वत्रैव भयं भवेत् ॥ ५ ॥
सदाचारेण देवत्वमृषित्वं च वरानने ! । उपयाति कुयोनित्वं तद्वदाचारलङ्घनात् ॥६॥
उदयास्तमयात्पूर्वमारभ्य विधिना शुचिः । कामान्मोहाद्भयाल्लोभात्सन्ध्यां नातिक्रमेद् द्विजः ॥७॥
सन्ध्यातिक्रमणाद्विप्रो ब्राह्मण्यात्पतते यतः ॥ ८ ॥
असत्यं न वदेत् किञ्चिन्न सत्यं च परित्यजेत् । यत्सत्यं ब्रह्म इत्याहुरसत्यं ब्रह्मदूषणम् ॥९॥
परदारान् परद्रव्यं परहिंसां च सर्वदा । क्वचिच्चापि न कुर्वीत वाचा च मनसा तथा ॥१०॥
अन्नशुद्धौ सत्त्वशुद्धि र्न मृदा न जलेन वै । सत्त्वशुद्धौ भवेत् सिद्धिस्ततोऽन्नं परिशोधयेत् ॥११॥
अस्नात्वा न च भुञ्जीयादजपोऽग्निमपूज्य च । पर्णपृष्ठे न भुञ्जीयाद्रात्रौ दीपं विना तथा ॥१२॥
आस्येन न पिबेत्तोयं तिष्ठन्नञ्जलिनापि वा । वामहस्तेन शय्यायां तथैवान्यकरेण वा ॥१३॥
श्रेयोऽर्थी यस्तु गुर्वाज्ञां मनसापि न लङ्घयेत् । गुर्वाज्ञापालकः सम्यग् ज्ञानसम्पत्तिमश्नुते ॥१४॥
पापिनां च यथा सङ्गात्तत्पापैः पतनं भवेत् । तद्वदाचार्यसङ्गेन तद्धर्मफलभाग् भवेत् ॥१५॥
यथैव वह्निसम्पर्कान्मलं त्यजति काञ्चनम् । तथैव गुरुसम्पर्कात्पापं त्यजति मानवः ॥१६॥

कल्याण को पाता है, अतः धर्म के साधन सदाचार को सम्यक् कहूँगा ॥ २ ॥ आचार रहित का साधन निष्फल होता है, अतः आचार परम धर्म तप है ॥ ३ ॥ आचार परम विद्या परम गति रूप है, सदाचार वालों को सर्वत्र अभय होता है ॥ ४ ॥ तैसे ही आचार हीनों को सर्वत्र भय होता है ॥ ५ ॥ हे वरानने ! पार्वति ! जैसे सदाचार से देवत्व ऋषित्व को प्राप्त होता है, वैसे ही सदाचार के उल्लंघन (त्याग) से कुयोनित्व को पाता है ॥ ६ ॥ सूर्योदय और सूर्यास्त से प्रथम सन्ध्या का आरम्भ कर के विधि पूर्वक शुचि द्विज सदा सन्ध्या वन्दन करे, कामादि से कभी उस का त्याग नहीं करे ॥ ७ ॥ जिस से सन्ध्या के त्याग से ब्राह्मण ब्राह्मणता से पतित हो जाता है ॥ ८ ॥ असत्य कुछ भी नहीं बोले न सत्य का त्याग करे, जिससे सत्य को ब्रह्म कहते हैं, और असत्य ब्रह्म का दूषण रूप है ॥ ९ ॥ सदा पर स्त्री द्रव्य का कहीं ग्रहण नहीं करे, न कहीं परहिंसा मन वचनादि से करे ॥ १० ॥ अन्न की शुद्धि पूर्वक भोजनादि से सत्त्व (अन्तः करण) की शुद्धि होती है, और सत्त्व की शुद्धि से सिद्धि (आत्मज्ञानादि) होती है, अतः अन्न का शोधन सर्वथा करना चाहिये ॥ ११ ॥ स्नान जप अग्निहोत्र को किये बिना भोजन नहीं करे, न पत्र के पीठ पर भोजन करे, न रात्रि के समय दीपक बिना भोजन करे ॥ १२ ॥ पात्र बिना जलाशय में मुख से पानी नहीं पीवे, या खड़ा होकर अञ्जलि से भी नहीं पीवे, वैसे ही बायें हाथ से, शय्या पर, या अन्य किसी के हाथ से जल नहीं पीवे ॥१३॥ जो शुभ चाहे सो गुरु की आज्ञा को मनसे भी नहीं उल्लंघन करे । सम्यग् गुरु की आज्ञा को पालन करने वाला ज्ञान रूप सम्पत्ति, या ज्ञान सहित सम्पत्ति को पाता है ॥ १४ ॥ पापियों के संग से जैसे उनके पापों से संग कर्त्ता का पतन होता है, वैसे ही आचार्य गुरु के संग से आचार्य के धर्म का भागी होता है ॥ १५ ॥ जैसे अग्नि के सम्बन्ध से सुवर्ण मल को त्यागता है, वैसे मनुष्य गुरु के संग से पाप को त्यागता है ॥ १६ ॥ जैसे अग्नि के पास में स्थिर घृतकुम्भ विलीन

यथा वह्निसमीपस्थो घृतकुम्भो विलीयते । तथा पापं विलीयेत, आचार्यस्य समीपतः ॥१७॥
दुर्गुणे ख्यापिते तस्य नैर्गुण्यशतभाग् भवेत् । गुणे तु ख्यापिते तस्य सार्वगुण्यं फलं भवेत् ॥१८॥

लिङ्गपु० अ० ८५।२७। इत्यादि ॥

आचारः परमो धर्म आचारः परमं तपः । आचाराद्वर्द्धते ह्यायुराचारात्पापसंक्षयः ॥१९॥
विद्वेषरागरहिता अनुतिष्ठन्ति यं मुने ! । विद्वांसस्तं सदाचारं धर्ममूलं विदु र्बुधाः ॥२०॥
दुराचाररतो लोके गर्हणीयः पुमान् भवेत् । व्याधिभिश्चाभिभूयेत सदाल्पायुः सुदुःखभाग् ॥२१॥
त्याज्यं कर्म पराधीनं कार्यमात्मवशं सदा । दुःखी यतः पराधीनः सदैवात्मवशः सुखी ॥२२॥
यस्मिन् कर्मण्यन्तरात्मा क्रियमाणे प्रसीदति । तदेव कर्म कर्तव्यं विपरीतं न च क्वचित् ॥२३॥

स्कन्दपु० काशीखं० अ० ३५॥

अग्न्यागारे गवां गोष्ठे देवब्राह्मणसन्निधौ । स्वाध्याये भोजने चैव पादुके वै विवर्जयेत् ॥२४॥
खलक्षेत्रगतं धान्यं कूपवापीषु यज्जलम् । अग्राह्यादपि तद्ग्राह्यं यच्च गोष्ठगतं पयः ॥२५॥

स्कन्दपु० का० खे० अ० ४०॥

साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः । तेषामाचरणं यस्तु सदाचारः स उच्यते ॥२६॥

विष्णुपु० अंश० ३।११।३॥

नासमञ्जनशीलैस्तु सहासीत कथञ्चन । सद्वृत्तसन्निकर्षो हि क्षणार्द्धमपि शस्यते ॥२७॥
नोदूर्ध्वं न तिर्यङ् दूरं वा न पश्यन् पर्यटेद् बुधः । युगमात्रं महीपृष्ठं नरो गच्छेद्विलोकयन् ॥२८॥

होता है, वैसे आचार्य की समीपता से पाप विलीन होते हैं ॥ १७ ॥ उस गुरु आचार्य के दुर्गुण को प्रख्यात कथन करने से सैकड़ों निर्गुणता का भागी होता है, और उस गुरु के गुणों को प्रख्यात करने से सर्व सद्गुणवत्ता फल होता है, अतः गुरु संग गुरु आज्ञा पालन कर्ता होकर, गुरुगुण गायक होना चाहिये इत्यादि ॥ १८ ॥ सदाचार परम धर्म परम तप है, उससे आयु की वृद्धि और पाप का नाश होता है ॥१९॥ हे मुने ! रागद्वेष रहित विद्वान् जिस आचरण को करते हैं, धर्म के मूल रूप उस सदाचार को पण्डित जानते हैं ॥ २० ॥ दुष्ट आचार में रत पुरुष लोक में निन्दार्ह होता है, तथा सदा रोग से पोड़ित अल्पायु दुःखभागी होता है ॥ २१ ॥ सदा पराधीन कर्म त्याज्य हैं, स्ववश कर्म कर्तव्य हैं । क्यों कि पराधीन सदा दुःखी रहता है, स्वाधीन ही सुखी होता है ॥ २२ ॥ जिस कर्म के करने से अन्तरात्मा प्रसन्न हो, वही कर्म कर्तव्य है, उससे विपरीत कहीं नहीं कर्तव्य है ॥ २३ ॥ अग्नि के गृह में, गऊ के स्थान में, देव ब्राह्मण के समीप में और वेदादि के अध्ययन तथा भोजन काल में पादुकाएँ त्याग दे ॥ २४ ॥ खल (अन्न तैयार करने के स्थान) में प्राप्त और खेत में स्थिर अन्न, कूप वापी का जल, गोशाला का दूध, ये सब अग्राह्य-अछूत से भी ग्राह्य-हैं ॥ २५ ॥ क्षीण दोषवाले, हिंसा असत्यादि रागद्वेषादि दोषों से रहित विचारवान् पुरुष सब साधु हैं। और सत् शब्द साधु का वाचक है, उन साधुओं के जो आचरण हैं, वही सदाचार कहलाता है ॥ २६ ॥ असमञ्जस स्वभाव वालों के साथ किसी प्रकार भी नहीं बैठे, सच्चरित्र वालों के साथ सम्बन्ध तो आधा क्षण भी प्रशंसनीय है ॥ २७ ॥ ऊपर या तिर्यक् (टेढ़ा) या दूर देशादि को देखता हुआ विद्वान् गमन नहीं करे, किन्तु युगमात्र (चार हाथ) भूमि पृष्ठ को देखता

दोषहेतूनशेषांश्च वश्यात्मा यो निरस्यति । तस्य धर्मार्थकामानां हानि र्नाल्पापि जायते ॥२९॥
सदाचाररतः प्राज्ञो विद्याविनयशिक्षितः । पापेऽप्यपापः पुरुषे ह्यभिधत्ते प्रियाणि यः ॥
मैत्रीद्रवान्तःकरणस्तस्य मुक्तिः करे स्थिता ॥३०॥
ये कामक्रोधलोभानां वीतरागा न गोचरे । सदाचारस्थितास्तेषामनुभावै र्धृता मही ॥३१॥
तस्मात्सत्यं वदेत् प्राज्ञो यत्परप्रीतिकारणम् । सत्यं यत्परदुःखाय तदा मौनपरो भवेत् ॥३२॥
प्रियमुक्तं हितं नैतदिति मत्वा न तद् वदेत् । श्रेयस्तत्र हितं वाच्यं यद्यप्यत्यन्तमप्रियम् ॥३३॥
विष्णुपु० अंश० ३।१२ ॥
शय्या भार्या शिशु र्वस्त्रमुपवीतं कमण्डलुः । आत्मनः कथिताः शुद्धा न परेषां कदाचन ॥३४॥
न भुञ्जीतैकवस्त्रेण न स्नायादेकवाससा । न धारयेत् परस्यैवं स्नानवस्त्रं कदाचन ॥३५॥
न क्षौरं कारयेद्धीरः कुजस्याह्नि कदाचन । मलं न धारयेद्दन्ते नखं न वदने क्षिपेत् ॥३६॥
तैलाऽभ्यङ्गं न कुर्वीत वासरे रविभौमयोः । स्वगात्रासनयो र्वाद्यं गुरोरेकासनादनम् ॥३७॥
मलिनां नाभिवन्देत गुरुपत्नीं कदाचन । न स्पृशेत्तां च मेधावी स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति ॥३८॥
स तया सह केलिं च वर्जयेच्च सदैव हि । शृणुयाच्च वचो नूनं न पश्येच्च गुरोः स्त्रियम् ॥३९॥
वधूं पुत्रस्य भ्रातुश्च स्वपुत्रीं युवतीं ध्रुवम् । अन्यां च गुरुपत्नीं च नेक्षेत स्पर्शं न कारयेत् ॥४०॥
ब्रह्मपु० खं० १। अ० ५१ ॥

हुआ चले ॥ २८ ॥ सभी दोषों के कारणों को जो वश्यात्मा (जितेन्द्रिय) त्यागता है, उस के धर्म, अर्थ और काम की अल्प भी हानि नहीं होती है ॥ २९ ॥ विद्या विनय से शिक्षायुक्त सदाचार में तत्पर जो विद्वान् पापी पुरुष में भी अपापी होता है, अपकारक का भी अहित नहीं करता है, तथा उस को प्रिय वचन कहता है, और मित्रभाव दया से जिस का अन्तःकरण द्रवित कोमल रहता है, उस के हाथ में मुक्ति स्थिर है ॥ ३० ॥ जो वीतराग (विरक्त) काम, क्रोध और लोभ के गोचर में (विषय के वश में) नहीं है, और सदाचार में स्थिर हैं, उन के प्रभाव से पृथिवी धृत है ॥ ३१ ॥ अतः विद्वान् वह सत्य बोले जो अन्य की प्रीति (सुख) का कारण हो, जहाँ सत्य अन्य के दुःख का हेतु हो, वहाँ मौनपरायण हो ॥ ३२ ॥ प्रिय कहा गया भी यदि हित नहीं है ऐसा समझे तो वह बात नहीं बोले, और यदि उस कथन में शुभ हो तो वह हित वचन यदि अत्यन्त अप्रिय हो तो भी वक्तव्य है ॥ ३३ ॥ अपने शय्यादि अपने लिये शुद्ध कहे गये हैं, अन्य के अपने लिये कभी शुद्ध नहीं हैं ॥ ३४ ॥ एक वस्त्र से युक्त होकर भोजन और स्नान नहीं करे, और दूसरे के स्नानवस्त्र को भी धारण कभी नहीं करे ॥ ३५ ॥ धीर पुरुष मङ्गलवार में कभी क्षौर नहीं करावे, न दाँतों में मल रक्खे, न मुख में नख देवे ॥ ३६ ॥ रविवार और मङ्गलवार में सर्वाङ्ग में तेल नहीं लगावे, और अपने देह आसन को बाजा तुल्य नहीं बजावे, न गुरु के साथ एक आसन पर बैठे, न एक आसन पर भोजन करे ॥ ३७ ॥ रजोवती गुरुपत्नी को अभिवादन कभी नहीं करे, न बुद्धिमान् उसका स्पर्श करे, भूल से स्पर्श होने पर स्नान से शुद्ध होता है ॥ ३८ ॥ वह शिष्य गुरुपत्नी के साथ केलि (क्रीडा) को सदा ही त्यागे, उसके वचन को अवश्य सुने, परन्तु गुरुस्त्री को देखे नहीं ॥ ३९ ॥ पुत्र और भ्राता की स्त्री को अपनी युवती पुत्री को अन्य युवतियों

न वदेत् परपापानि स्वपुण्यं न प्रकाशयेत् । स्वकं नाम स्वनक्षत्रं मानं चैवातिगोपयेत् ॥४१॥

नारदीयपु० अ० २४।२८ ॥

यज्ञदानतपांसीह पुरुषस्य न भूतये । भवन्ति यः समुल्लङ्घ्य सदाचारं प्रवर्त्तते ॥४२॥

दुराचारो हि पुरुषो नेह नामुत्र नन्दते । कार्यो यत्नः सदाचारे आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥४३॥

वामनपु० अ० १३।१६–१७ ॥

पिप्पलं च वटं चैव शणशाकं तथैव च । उदुम्बरं न खादेत भव्यार्थी पुरुषः सदा ॥४४॥

सायं प्रातश्च भुञ्जीत नान्तराले कदाचन । सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितम् ॥२५॥

गुरुणा वैरनिर्बन्धो न कर्तव्यः कदाचन । अनुमान्यः प्रसाद्यश्च गुरुः क्रुद्धो विजानता ॥४६॥

कामः क्रोधो भयं हर्षो लोभो दर्पस्तथैव च । रिपवः षड् विजेतव्याः पुरुषेण विपश्चिता ॥४७॥

देशकालानुबन्धार्थं धर्माणामविरोधि यत् । तत्तत् सुखं निषेवेत नाकस्मान्निःसुखी भवेत् ॥४८॥

रूपसंस्पर्शनश्रव्यरसगन्धान् सदा जयेत् । वसन्नपि सदो मध्ये ह्यसक्तो मनसा भवेत् ॥४९॥

परेषां तन्न सन्दध्यात्प्रतिकूलं यदात्मनः । कृच्छ्रेष्वपि न तत्कुर्यात्साधूनां यदसम्मतम् ॥५०॥

जीर्णाशी च मिताशी च हिताशी च तथा भवेत् । दुःखे दुःखाधिकान् पश्येत् सुखे पश्येत् सुखाधिकान् ॥

नत्वेवं मूढवद्ध्यादात्मानं सुखदुःखयोः ॥५१॥ विष्णुधर्मोत्तरपु० खं० २।२३३ ॥

को तथा गुरुपत्नी को तो बिल्कुल ही नहीं देखे न कभी स्पर्श करे ॥ ४० ॥ अन्य के पापों का वर्णन नहीं करे, न अपने पुण्य को प्रकट करे, अपने नाम अपने जन्म नक्षत्र और मान को अति गुप्त रक्खे ॥४१॥ जो सदाचार को त्याग कर प्रवृत्त होता है उस पुरुष के यज्ञ दान तप भी विभूति के लिये नहीं होते हैं ॥ ४२ ॥ दुराचारी पुरुष यहाँ वा परलोक में सुखी समृद्ध नहीं होता है, इससे सदाचार में यत्न कर्तव्य है, सदाचार कुलक्षण दोष को नष्ट करता है ॥ ४३ ॥ कल्याणार्थी पुरुष सदा पिप्पलवट गूलर के फलों को एवं शण के शाक को नहीं खावे ॥४४॥ सायं सवेरे भोजन करे, मध्य में कभी भोजन नहीं करे, मनुष्यों के सायं प्रातःकाल के भोजन देवनिर्मित हैं ॥ ४५ ॥ गुरु के साथ बैर से निर्बन्ध (हठ सम्बन्ध) कभी कर्तव्य नहीं है, विवेकी से क्रुद्ध गुरु भी अनुमत अनुकूल और प्रसन्न कर्तव्य हैं ॥ ४६ ॥ कामादि छः शत्रु पण्डित पुरुष से जीतने लायक हैं ॥ ४७ ॥ देशकाल के अनुबन्ध (संबन्ध-प्रारब्धभोग) के लिये धर्म के अविरोधी जो खानपानादिजन्य तत् तत् सुख हैं उनका सेवन करे, कारण बिना सुखरहित नहीं हो, शब्दादि विषयों को वश में करे, इनके वश में नहीं रहे, इन्द्रिय जीत हो, इससे सभा के मध्य में बसता हुआ भी मन से आसक्ति रहित ही रहे ॥ ४९ ॥ अन्य के उस बात व्यवहार का चिन्तन नहीं करे कि जो अपनी आत्मा के प्रतिकूल (अहित) हो, दुःख आपत्ति काल में भी उस कर्मादि को नहीं करे कि जो साधुओं को अमान्य हो ॥ ५० ॥ भुक्त अन्न के पचने पर भोजन करे, परिमित भोजन करे, हित वस्तु का भोजन करे, दुःख की अवस्था में अपने से अधिक दुःखी को समझ कर घबड़ावे नहीं, सुख की अवस्था में अपने से अधिक सुखी को समझ कर अभिमान नहीं करे, इस प्रकार अपने आत्मा को सुख दुःख की अवस्था में मूढ़ के समान नहीं चिन्तन करे ॥ ५१ ॥

उभौ कालौ तु भुञ्जानस्त्वन्तरा परिवर्जयेत् । पानीयमपि विप्रेन्द्र! ब्राह्मं लोकं प्रपद्यते ॥५२॥

विष्णुध० खं० २।२३७ ॥

आहारे मैथुने चैव प्रस्रवे दन्तधावने । स्नाने भोजनकाले च षट्सु मौनं समाचरेत् ॥५३॥

लघुहारितस्मृ० ॥

आचारः परमो धर्मः सर्वेषामितिनिश्चयः । हीनाचारपरीतात्मा प्रेत्य चेह विनश्यति ॥५४॥

आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः ।
छन्दास्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः ॥५५॥
नैनं छन्दांसि वृजिनात्तारयन्ति मायाविनं मायया वर्त्तमानम् ।
द्वेऽप्यक्षरे सम्यगधीयमाने पुनाति तद्ब्रह्म यथावदिष्टम् ॥५६॥

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः । दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥५७॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः । श्रद्दधानोऽनसूयुश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥५८॥

वसिष्ठस्मृ० ६ ॥ मनु० अ० ४।१५७–१५८ ॥

सरस्वतीदृषद्वत्यो र्देवनद्यो र्यदन्तरम् । तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ॥५९॥
तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः । वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥६०॥

मनुस्मृ० अ० २।१७–१८ ॥

वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः । न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥६१॥
मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः । दक्षिणाभिमुखो रात्रौ सन्ध्ययोश्च यथा दिवा ॥६२॥
नाग्निं मुखेनोपधमेन्नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम् । नामेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत् ॥६३॥

हे विप्रेन्द्र ! दो समय भोजन करता हुआ मध्य में पानी को भी त्यागे, तो ब्रह्म लोक को प्राप्त करता है ॥ ५२ ॥ आहार (भोजन की सिद्धि के समय) मैथुन, पेशाब, दातून, स्नान, भोजन, इन छः कालों में मौन रहे ॥ ५३ ॥ आचार सब का परम धर्म है यह निश्चय है, हीन आचार से व्याप्तात्मा मर कर और यहाँ भी दुःखी होता है ॥ ५४ ॥ अंगों के सहित पढ़ा हुवा वेद भी सदाचार रहित को पवित्र नहीं करता है, वेद इस को मृत्यु काल में इस प्रकार त्यागते हैं कि जैसे पक्षी पांख होने पर वृक्ष को त्यागते हैं ॥ ५५ ॥ कपटी माया से वर्त्तने वाले इस जीव को वेद पाप से नहीं तारते हैं, दो अक्षर के भी सम्यग् अध्ययन करने पर वह इष्ट ब्रह्म सदाचारी को सम्यग् यथावत् पवित्र करता है ॥ ५६ ॥ दुष्टाचारी पुरुष लोक में निन्दित दुःखभागी सदा रोगी अल्पायु होता है ॥ ५७ ॥ अन्य सब सुलक्षणों से रहित भी जो नर सदाचारी श्रद्धालु असूया रहित होता है सो सौ वर्ष जीता है ॥ ५८ ॥ सरस्वती दृषद्वती नामक देव नदियों के मध्य में जो देव निर्मित (उत्तम) देश है उस को ब्रह्मावर्त्त कहते हैं ॥ ५९ ॥ उस देश में संकर जाति सहित सब वर्णों का जो आचार परंपरा के क्रम से आया है सो सदाचार कहलाता है ॥६०॥ वायु आदि की तरफ दृष्टि (दर्शन) करते हुए कभी मलमूत्र का त्याग नहीं करे ॥ ६१ ॥ अन्धकार छाया आदि के बिना दिन में उत्तर मुख होकर और रात्रि में दक्षिण मुख होकर मलमूत्र का त्याग करे, दोनों सन्ध्या में दिन के समान करे ॥ ६२ ॥ अग्नि को मुख से फूक कर नहीं दीप्त करे, नग्न स्त्री को नहीं

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत् । अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ॥६४॥
बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथाऽऽसनम् । नच्छिन्द्यान्नखलोमानि दन्तै र्नोत्पाटयेन्नखान् ॥६५॥
न मृल्लोष्टं च मृद्नीयान्नच्छिन्द्यात्करजैस्तृणम् । न कर्म निष्फलं कुर्यान्नाऽऽयत्यामसुखोदयम् ॥६६॥
न विगर्ह्यकथां कुर्याद् बहि र्माल्यं न धारयेत् । गवां च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥६७॥
नाक्षैः क्रीडेत् कदाचित्तु स्वयं नोपानहौ हरेत् । शयनस्थो न भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ॥६८॥
आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत् । आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥६९॥
अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हिचित् । न विण्मूत्रमुदीक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेत् ॥७०॥
ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् । कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥७१॥
हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान् विद्याहीनान् वयोऽधिकान् । रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥७२॥
अनातुरः स्वानि खानि न स्पृशेदनिमित्ततः । रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥७३॥
मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः । जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥७४॥

मनुस्मृ० अ० ४॥

परोपकारे विरतं स्वभावेन प्रवर्त्तते । यः स साधुरिति प्रोक्तः प्रमाणं त्वस्य चेष्टितम् ॥७५॥
साध्वाचारवशाल्लोको भोगसम्प्राप्तिशङ्कया । सन्देहश्चाप्यतत्त्वज्ञः शास्त्रादौ सम्प्रवर्त्तते ॥७६॥

देखे, अपवित्र वस्तु को अग्नि में नहीं डाले, न पैर को अग्नि में प्रत्यक्ष तपावे ॥ ६३ ॥ जल में मूत्र मल श्लेष्मा (कफादि) को नहीं डाले, अन्य वस्तु भी जो अपवित्र से लिप्त हों उन्हे नहीं डाले, न रुधिर या विषादि को जल में त्यागे ॥ ६४ ॥ बालातपादि को त्यागे, और नख लोम को बढ़े बिना नहीं काटे, न दाँतों से नख को काटे ॥ ६५ ॥ बिना प्रयोजन के मृत्तिका के लोष्ट (ढेला) को नहीं मर्दे, न अंगुलियों से तृण को छेदे, न निष्फल कोई कर्म करे, न परिणाम में दुःखकारक कर्मों को करे ॥ ६६ ॥ निन्दित कथा नहीं करे, केशादि से बाहर माल्य का धारण नहीं करे, गऊ के पृष्ठ पर चढ़ कर चलना सर्वथा निन्दित है ॥ ६७ ॥ पाशा से क्रीड़ा कभी नहीं करे, अपने जूतों को अपने हाथ से नहीं ले चले, शय्यादि पर रह कर भोजन नहीं करे, न हाथ पर अन्न धरकर पात्र बिना भोजन करे ॥ ६८ ॥ जल से आर्द्र पादयुक्त होकर भोजन करे, परन्तु सोवे नहीं, गीले पादयुक्त सदा भोजन से दीर्घायु को पाता है ॥ ६९ ॥ नेत्र के अविषय दुर्गम स्थान में कभी नहीं जावे, मल मूत्र को नहीं देखे, न बाहु से नदी को तरे ॥ ७० ॥ ब्राह्ममुहूर्त (रात्रि के अन्तिम पहर) में जागे और धर्म, अर्थ, शरीर के क्लेश, क्लेशों के कारण, तथा वेद के तत्त्वार्थ को उस समय विचारे ॥ ७१ ॥ न्यून अधिक अंग युक्त, विद्याहीन, वृद्ध, रूप द्रव्यरहित, जाति हीन की निन्दा नहीं करे ॥ ७२ ॥ अनातुर (निरोग) होते हुए अपने इन्द्रियों के गोलकों को और गुप्त स्थान के रोमों को बिना कारण के नहीं छूवे ॥ ७३ ॥ मंगलमय व्यवहार और सदाचार में संलग्न रहना चाहिये तथा पवित्रात्मा जितेन्द्रिय हो कर सदा जप और आलस्य रहित हो कर अग्नि होत्र करना चाहिये ॥ ७४ ॥ परोपकार में तत्परता पूर्वक जो स्वभाव से ही प्रवृत्त होता है, सो साधु कहा गया है। उस की चेष्टा और आचार सब लोगों को प्रमाण रूप होते हैं ॥ ७५ ॥ संदेह (शास्त्रादि में संशयुक्त) भी अतत्त्वज्ञ साधु के आचार के वश से भोग प्राप्ति की शंका से शास्त्रादि में प्रवृत्त होता है ॥ ७६ ॥

भोगार्थं सम्प्रवृत्तोऽसौ भोगमोक्षावुभावपि । तस्मात्प्राप्नोति दार्वर्थी वनाच्चिन्तामणिं यथा ॥७७॥
केचिच्चन्दनदारूणि केचिच्चिन्तामणिं मणिम् । केचित्सामान्यरत्नानि प्राप्नुवन्ति यथा वनात् ॥७८॥
केचित्कामं केचिदर्थं केचिद्धर्मं त्रयं तु वा । केचिन्मोक्षमशेषं च लभन्ते शास्त्रतस्तथा ॥७९॥
वर्गत्रयोपदेशो हि शास्त्रादिष्वस्ति राघव ! । ब्रह्मप्राप्तिस्त्ववाच्यत्वान्नास्ति तच्छासनेष्वपि ॥८०॥
केवलं सर्ववाक्यार्थैं र्ध्वन्यमानाऽवगम्यते । कालश्रीः प्रसवेनेव स्वयं स्वानुभवेन सा ॥८१॥
न शास्त्रान्न गुरो र्वाक्यान्न दानान्नेश्वरार्चनात् । एष सर्वपदातीतो बोधः सम्प्राप्यते परः ॥८२॥
एतान्यकारणान्येव कारणत्वं गतान्यलम् । परमात्मैकविश्रान्तौ यथा राघव ! तच्छृणु ॥८३॥
शास्त्रादभ्यासयोगेन चित्तं यातं विशुद्धताम् । अनिच्छदेवमेवाशु पदं पश्यति पावनम् ॥८४॥
त्रिवर्गमात्रसिद्ध्यै यन्न मोक्षाय च तच्छ्रुतम् । विपुलश्रुतचर्चासु तुच्छमश्रुतमेव तत् ॥८५॥
तच्छ्रुतं यत्किल ज्ञप्त्यै सा ज्ञप्तिः समता यया । तत्साम्यं यत्र सौषुप्ती स्थिति र्जाग्रति जायते ॥८५॥
शास्त्रार्थभावनवशेन गिरा गुरूणां, तत्सङ्गमेन नियमेन शमेन राम ! ।
तत्प्राप्यते सकलविश्वपदादतीतं, सर्वेश्वरं परममाद्यमनादि शर्म ॥८७॥ योगवा० प्र० ६।२।स० १६७ ॥
अभिवाञ्छेन्न मरणमभिवाञ्छेन्न जीवितम् । यथाप्राप्तसमाचारो विचरेदविहिंसकः ॥८८॥
योगवा० प्र० ६।२। स० १६८।४२ ॥

भोग के लिये प्रवृत्त हुआ भी वह भोग और मोक्ष दोनों उस शास्त्रादि से पाता है, जैसे काष्ठार्थी जंगल से चिन्तामणि पाता है ॥ ७७ ॥ जैसे कोई वन से चन्दन काष्ठ, कोई चिन्तामणि नामक मणि, कोई सामान्य मणि रत्न प्राप्त करता है ॥ ७८ ॥ वैसे ही शास्त्र से भी कोई काम, कोई अर्थ, कोई धर्म, कोई त्रिवर्ग, कोई मोक्ष और अशेष (सब) इष्टों को प्राप्त करते हैं ॥ ७९ ॥ हे राम ! शास्त्रादि में वर्गत्रय (अर्थ, धर्म, काम) का उपदेश है, अवाच्य (वाणी के अविषय) होने से ब्रह्मप्राप्ति तो ब्रह्म के उपदेशरूप शास्त्रों में भी शक्ति वृत्ति से नहीं है ॥ ८० ॥ तो भी सब वाक्यार्थों द्वारा केवल ध्वन्यमान (व्यञ्जित-लक्षित) ब्रह्म प्राप्ति अवगत होती है, जैसे पुष्प फलादि की उत्पत्ति से कालश्री स्वानुभव से ज्ञात होती है, वैसे स्वानुभव ज्ञेय लक्षित ब्रह्मप्राप्ति है ॥ ८१ ॥ स्वानुभवादि विना शास्त्र गुरु वाक्य और ईश्वरार्चन से भी यह सर्वपदातीत उत्तम बोध नहीं प्राप्त होता है ॥ ८२ ॥ ये शास्त्रादि साक्षात् कारण (बोध के हेतु) नहीं होने पर भी जैसे एक परमात्मा में विश्राम (स्थिति) में पूर्ण कारणता को प्राप्त हैं, सो हे राम ! सुनो ॥ ८३ ॥ शास्त्र श्रवण अभ्यास योग द्वारा विशुद्धता को प्राप्त सर्व इच्छारहित चित्त 'एवमेव' (इस अभ्यास द्वारा ही) पावन पद ब्रह्म का अनुभव करता है ॥ ८४ ॥ जो श्रवण त्रिवर्ग की सिद्धिमात्र के लिये है, और वह यदि मोक्ष के लिये नहीं है, तो वह बहुश्रुत वेदज्ञों की चर्चाओं में तुच्छ और अश्रुत (अश्रवण) ही है ॥ ८५ ॥ इससे वस्तुतः वह श्रुत (श्रवण शास्त्र) है जो आत्मज्ञान के लिये है, वह ज्ञान है कि जिससे समता रागद्वेषाभाव हो, वह समता है कि जिसमें सुषुप्तिकालिक स्थिति जाग्रत् में ही होती है ॥ ८६ ॥ हे राम ! सब संसार के सुख स्थान रहित सर्वेश्वर स्वरूप सब के आदि अनादि सुख-स्वरूप वह मोक्षपद गुरु वचन से शास्त्रार्थ के बोधनादि द्वारा सत्सङ्ग नियम शम से ही प्राप्त होता है ॥ ८७ ॥ मरण जीवनादि की इच्छा नहीं करता हुआ अहिंसक मनुष्य यथायोग्य प्राप्त सम्यगाचार वाला

हेयोपादेयदृष्टी द्वे यस्य क्षीणे हि तस्य वै । क्रियात्यागेन कोऽर्थः स्यात् क्रियासंश्रयणेन वा ॥८९॥
न तदस्तीह यत्त्याज्यं ज्ञस्योद्वेगकरं भवेत् । न वाऽस्ति यदुपादेयं तज्ज्ञसंश्रेयतां गतम् ॥९०॥
यावदायुरियं राम ! निश्चितं स्पन्दते तनुः । तद्यथाप्राप्तमव्यग्रं स्पन्दतामपरेण किम् ॥९१॥
अन्यथाऽन्यत्र चेत्कार्या क्रिया त्यक्त्वा निजं क्रमम् । समाने हि क्रियास्पन्दे को दोषः सत्क्रमे किल ॥९२॥

योगवासि० प्र० ६।२। स० १६६ ॥

आत्यन्तिकी विरसता ज्ञस्य दृश्येषु दृश्यते । स बुद्धो नाप्रबुद्धस्य दृश्यत्यागे हि शक्रता ॥९३॥
स्वभावो दृश्यवैरस्यमेव तत्त्वविदो निजः । दृश्यस्पन्दनमेवाहुरतत्त्वज्ञत्वमुत्तमाः ॥९४॥
अतज्ज्ञायैव विषयाः स्वदन्ते न तु तद्विदः । न हि पीतामृतस्यान्तः स्वदन्ते कटुकाञ्जिकम् ॥९५॥
वितृष्णस्यात्मनिष्ठत्वादेषणात्रयमुज्झतः । ज्ञस्याप्यनिच्छतो ध्यानमर्थायातं प्रवर्त्तते ॥९६॥
परं विषयवैतृष्ण्यं समाधनमुदाहृतम् । आहृतं येन तन्नूनं तस्मै नृब्रह्मणे नमः ॥९७॥
नूनं विषयवैतृष्ण्ये परिप्रौढिमुपागते । न शक्नुवन्ति निर्हर्त्तुं ध्यानं सेन्द्राः सुरासुराः ॥९८॥
परं विषयवैतृष्ण्यं वज्रध्यानं प्रसाध्यताम् । भेदे विगलिते ज्ञानादन्यध्यानतृणेन किम् ॥९९॥
उपाय एकः शास्त्रार्थो द्वितीयो ज्ञसमागमः । ध्यानं तृतीयं निर्वाणे श्रेष्ठस्तत्रोत्तरोत्तरः ॥१००॥

योगवा० प्र० ६।२। स० ४५ ॥

होकर विचरे ॥८८॥ जिस की हेय और उपादेय दो दृष्टियाँ नष्ट हो गई हैं, उस सदाचारी को क्रिया के त्याग या क्रिया के सम्यक् आश्रयण से कोई फल विशेष नहीं होता है ॥८९॥ वह त्याज्य कर्म नहीं है, जो ज्ञानी को उद्वेग कारक हो, वह उपादेय वस्तु कर्म भी नहीं है, जो ज्ञानी के लिये अवश्य अनुष्ठेयता कर्तव्यता को प्राप्त हो ॥ ९० ॥ हे राम ! जब तक आयु है, तब तक यह शरीर अवश्य ही स्पन्द (चेष्टा) करता है, अतः यथाप्राप्त (सदाचार के अनुसार) व्याकुलता विना चेष्टा व्यवहार करे, सदाचार से अन्य व्यापारों से क्या फल है ? ॥ ९१ ॥ यदि निज क्रम (सदाचार) को त्याग कर अन्यथा क्रिया अन्यत्र करना ही हो तो, क्रिया रूप स्पन्द के समान होते भी सत्क्रम (सदाचार) में क्या दोष है ? कि–जिससे उसे त्यागा जाय ? निर्दोष अपने घर के रहते अन्यत्र स्थिति का कोई फल नहीं है ॥ ९२ ॥ ज्ञानी को दृश्य वस्तु में अत्यन्त वैराग्य दीखता है, वही संसार स्वप्न से जागा है, अप्रबुद्ध (सुप्त) अज्ञ को दृश्य के त्याग में शक्रता (इन्द्रता = समर्थता) नहीं है ॥ ९३ ॥ तत्त्वज्ञों की दृश्य से विरक्तता निज स्वभाव ही है, उत्तम पुरुष दृश्य में प्रवृत्ति को ही अज्ञता कहते हैं ॥ ९४ ॥ अज्ञ को ही विषय स्वादु लगते हैं ज्ञानी को नहीं, अमृत पीने वाले को कटु काञ्जिक (मद्य–तक्र) स्वादु नहीं लगते हैं ॥ ९५ ॥ तृष्णारहित लोक देह शास्त्र वासना के त्यागी इच्छारहित ज्ञानी सदाचारी को अर्थायात (वस्तु स्वभाव से प्राप्त) ध्यान सदा प्रवृत्त होता है ॥ ९६ ॥ विषयों में वितृष्णता को ही उत्तम समाधि कहा गया है, जिस पुरुष ने उस को आहृत (संपादित-प्राप्त) किया है, उस नररूप ब्रह्म को नमस्कार है ॥ ९७ ॥ विषय वितृष्णता की अत्यन्त दृढता होने पर इन्द्र सहित सब सुर वा असुर भी उस ज्ञानी के ध्यान को नष्ट करने के लिये समर्थ नहीं होते, यह निश्चित बात है ॥ ९८ ॥ उत्तम विषय वितृष्णतारूप वज्र (दृढ) ध्यान को अच्छी तरह सिद्ध करनेवालों को आत्मज्ञान से भेदभाव के नष्ट होने पर, अन्य ध्यानरूपतृण फल क्या है ? ॥ ९९ ॥ निर्वाण

यावन्नाधिगतं ब्रह्म न विश्रान्तं परे पदे । तावत्तन्मननत्त्वेन न ध्यानमवगम्यते ॥१०१॥
परमार्थैकतामेत्य न जाने क्व मनोगतम् । क्व वासना क्व कर्माणि क्व हर्षामर्षसंविदः ॥१०२॥
सर्वार्थशीतलत्वेन बलाद् ध्याने यदागतम् । ज्ञानाद्विषयवैरस्यं स समाधिर्हि नेतरः ॥१०३॥
दृढं विषयवैरस्यमेव ध्यानमुदाहृतम् । तदेव परिपाकेन वज्रसारं भवत्यलम् ॥१०४॥
सम्यग् ज्ञानं समुच्छूनं सदैवोज्झितवासनम् । ध्यानं भवति निर्वाणमानन्दपदमागतम् ॥१०५॥
अस्ति चेद् भोगवैतृष्ण्यं किमन्यद् ध्यानदुर्धिया । नास्ति चेद् भोगवैतृष्ण्यं किमन्यद् ध्यानदुर्धिया ॥१०६॥
दृश्यस्वदनमुक्तस्य सम्यग् ज्ञानवतो मुनेः । निर्विकल्पसमाधानमविरामं प्रवर्त्तते ॥१०७॥
यस्मै न स्वदते दृश्यं स सम्बुद्ध इति स्मृतः । न स्वदन्ते यदा भोगाः सम्यग् बोधस्तदोदितः ॥१०८॥
श्रुतपाठजपान्तेषु समाधिनिरतो भवेत् । समाधिविरतः श्रान्तः श्रुतपाठजपाञ्छ्रयेत् ॥१०९॥
योगवासि० प्र० ६।२। स० ४६ ॥
संसारभारसुश्रान्तः सङ्कटेषु लुठत्तनुः । योऽभिवाञ्छति विश्रान्तिं तस्य क्रममिमं शृणु ॥११०॥
पूर्वं विवेककणिका यदा स्वहृदि जायते । संसारनिर्वेदमयी कारणाद्वाप्यकारणाद् ॥१११॥
तदा श्रयन्ति सच्छायान् साधुत्वसुविशालिनः । अध्वश्रमहरांस्तापतप्ता मार्गतरूनिव ॥११२॥

(विश्रान्ति मोक्ष) में शास्त्रार्थ का अभ्यास एक प्रथम साधन है, दूसरा सत्संग, तीसरा ध्यान है, तिनमें उत्तर २ का श्रेष्ठ है ॥१००॥ जब तक ब्रह्म अनुभूत प्राप्त नहीं हुवा है, मन परम पद (ब्रह्म) में विश्राम नहीं पाया है, तब तक वह मन अन्य पदार्थ के मनन विचार रूपता से ध्यान को नहीं पाता है ॥ १०१ ॥ परन्तु परमार्थ-वस्तु से एकता को पाकर स्थिर मैं नहीं जानता हूँ कि-मन वासना कर्म और हर्ष अमर्ष के ज्ञान ये सब कहाँ गये ? ये सब नष्ट हो गये ॥ १०२ ॥ ज्ञानरूप बल से सर्वार्थ में शीतलता द्वारा जो ध्यान में विषय-विरसता (वैराग्य) आता है, वही समाधि है, अन्य नहीं ॥ १०३ ॥ दृढ़ (निश्चित) विषय विराग ही ध्यान कहा गया है, वही परिपक्व अवस्था को प्राप्त कर के वज्रसार (दृढ़समाधि) पूर्ण होता है ॥ १०४ ॥ सम्यग् ज्ञान ही उच्छून (प्रवृद्ध) हो कर अविद्या के नाश द्वारा वासनारहित होता हुवा ध्यान रूपता को प्राप्त कर के सर्वदुःखरहित निर्वाण (मोक्ष) रूप आनन्द पद को आगत (प्राप्त) होता है ॥ १०५ ॥ इसलिये यदि सब सुख का मूल विषय वैराग्य है, तो अन्य ध्यानरूप दुर्बुद्धि से क्या फल है ? और यदि विषय से वैराग्य नहीं है तो भी अन्य ध्यानरूप दुर्बुद्धि से कोई फल नहीं है ॥ १०६ ॥ दृश्य विषय स्वाद से मुक्त सम्यग् ज्ञानवाले मुनि की निर्विकल्प समाधि निरन्तर प्रवृत्त रहती है ॥ १०७ ॥ जिसको विषय दृश्य नहीं रुचता है, वही सम्यग् ज्ञानी कहा गया है, क्योंकि-जब भोग रुचिकर प्रिय नहीं होते हैं, तब सम्यग् बोध प्रकट होता है ॥ १०८ ॥ श्रवण पाठ जप के अन्त में समाधि तत्पर हो, और समाधि से उपरत श्रान्त हो कर श्रवणादि करे ॥ १०९ ॥ संसार के भार से अत्यन्त परिश्रान्त और रोगादि सङ्कटों में पीड़ित देह वाला जो मनुष्य विश्राम चाहता है, उसके विश्राम का यह क्रम सुनो ॥ ११० ॥ जब प्रथम लौकिक हेतु से या उसके विना संस्कार से ही अपने हृदय में संसार से विरागमयी विवेक का अंकुर उत्पन्न होता है ॥ १११ ॥ तब साधुत्व से सुन्दर विशालता वाले गुण धर्म उस पुरुष को आश्रयण करते (प्राप्त होते) हैं, जैसे सुन्दर छायावाले, मार्गश्रम को हरने

दूरे परिहरत्यज्ञान् यज्ञयूपानिवाध्वगः । स्नानदानतपोयज्ञान् करोति विबुधानुगः ॥११३॥
पेशलं चानुरूपं च व्यवहारमकृत्रिमम् । लोक्यमाह्लादनं धत्ते चन्द्रविम्बमिवामृतम् ॥११४॥
परप्रज्ञानुगो भव्यः परार्थपरिपूरकः । पवित्रकर्मरसिकः कोऽपि सौम्यः प्रवर्त्तते ॥११५॥
नवनीतस्थलीवाच्छा स्निग्धा मृद्वी मनोहरा । जनं सुखयति स्वाद्वी तदीया नवसङ्गतिः ॥११६॥
शीतलानि पवित्राणि चरितानि विवेकिनः । इन्दोरिवांशुजालानि जनं शीतलयन्त्यलम् ॥११७॥
न तथोद्यानखण्डेषु पुष्पप्रकरहारिषु । विश्राम्यते वीतभयं यथा साधुसमागमे ॥११८॥
तथाऽनुगच्छति प्राज्ञः शास्त्रसाधुसमागमौ । यथाऽत्यन्तानुसङ्गेन तावेवानुभवत्यसौ ॥११९॥
क्रमात्सज्जनतामेत्य शास्त्रार्थभरभावितः । भाति भोगानधः कुर्वन् पञ्जरादिव निर्गतः ॥१२०॥
पूर्वं संसृतिवैरस्यमन्तरेवोदितात्मनः । जायते जीर्णजाड्यस्य पाकादिव शरत्तरोः ॥१२१॥
ततः सज्जनसम्पर्कमुदर्कश्रेयसे स्वयम् । करोति स्वस्थतागृध्नु भिषगाश्रयणं यथा ॥१२२॥
सज्जनो हि समुत्तार्य विपद्भ्यो निकटस्थितम् । नियोजयति सम्पत्सु स्वालोकेष्विव भास्करः ॥१२३॥

इति षोडशसदाचार प्रकरणं समाप्तम् ॥ योगवासि० प्र० ६।२। स० ४७ ॥

वाले मार्गतरुओं का ताप से तप्त पथिक स्वयं आश्रयण करते हैं ॥ ११२ ॥ फिर वह मनुष्य देवानुगामी हो कर (दिव्यगुण वाले पण्डित ज्ञानी का मार्गगामी हो कर) अज्ञों को दूर से त्यागता है, जैसे यज्ञस्तम्भ को पथिक त्यागता है, और स्नान दान तप यज्ञ करता है ॥ ११३ ॥ पेशल (सुन्दर) अपनी शक्ति आदि के अनुरूप, परलोक के साधन, वर्तमान में सुखद अकृत्रिम् (विहित) व्यवहार को धारण करता है, जैसे चन्द्रविम्ब अमृत को धारण करता है ॥११४॥ पर (उत्तम) अन्य की बुद्धि के अनुगामी (पक्षादिरहित) अन्य के प्रयोजन द्रव्य के परिपूरक पवित्र कर्म के प्रेमी, भव्य (सर्वजनप्रिय) कोई सौम्य (प्रिय दर्शन) होकर प्रवृत्त होता है ॥११५॥ नवनीत (मक्खन) की स्थली (मुख्याश्रय) दधिभण्ड के समान 'अच्छ' (निर्मल) स्निग्ध (चिक्कण = मित्र=हित) मृदु, मनोहर, स्वादु, उसकी नवीन सङ्गति जन को सुखी करती है ॥११६॥ विवेकी का शीतल (शान्तियुक्त) पवित्र चरित्र चन्द्रमा के किरण समूह के समान जनों को पूर्ण शीतल करता है ॥ ११७ ॥ पुष्प के प्रकार भेदों को धारण करने वाले बनखण्डों में तैसा निर्भय विश्राम नहीं पाया जाता कि जैसा साधुसंगम में पाया जाता है ॥ ११८ ॥ बुद्धिमान् शास्त्र और साधुगुरुसमागम को उस प्रकार से सेवन करता है कि जिस प्रकार से अत्यन्त अनुसंग (प्रेमासक्ति) से वह स्वप्नादि में भी उन्हीं का अनुभव करता है ॥ ११९ ॥ फिर दोष त्याग सद्गुण संग्रह के क्रम से सज्जनता को पाकर शास्त्रार्थ के अभ्यास भर (अतिशय) से भावित (प्रभावित = वासित) होकर भोगों को अधः (तिरस्कृत) करता हुवा संसार पञ्जर (बन्धन से रहित) पञ्जर से निर्गत सिंहादि के समान शोभता है ॥ १२०॥ उदितात्मा (गुरु से उक्त और प्रकटित आत्मा वाले) को प्रथम अन्तःकरण में संसार से वैराग्य होता है नीरसता होती है, जैसे जीर्ण जडता से युक्त शरत् के तरु के पाक से होती है ॥ १२१ ॥ तब फिर उदर्क (भाविफल) रूप श्रेय (शुभ) के लिये स्वयं सत्संग करता है, जैसे स्वस्थता चाहने वाला वैद्य का आश्रयण करता है ॥ १२२ ॥ फिर वह सज्जन निकटवर्त्ती को विपत्ति से रहित करके सम्पत्ति में प्राप्त कराता है, जैसे सूर्य अपने प्रकाश में प्राप्त कराते हैं इत्यादि ॥ १२३ ॥ सोलहवाँ सदाचारप्रकरण समाप्त ॥

अथ शिष्टाचारः ॥ १७ ॥

शिष्टाचारेण पूतात्मा प्राप्नोति पदमुत्तमम् । ज्ञानेन मुक्तबन्धोऽत्र पूज्यो वन्द्यो भवेत्सदा ॥१॥
शिष्टवाक्यं समाकर्ण्य वर्त्तते यः सुकर्मणि । स सदा सुखभागी स्यान्निष्पृहश्च विमुच्यते ॥२॥ तन्नत्सत्यादि तु-
सत्यं तपस्तथा यज्ञो दया क्षमात्वलोभता । ब्रह्मचर्यं दमोऽक्रोधो दानं शिष्टस्य लक्षणम् ॥३॥ मत्स्यपुराणे ॥
सत्यं दानं दयाऽलोभो विद्येज्या पूजनं दमः । अष्टौ तानि पवित्राणि शिष्टाचारस्य लक्षणम् ॥४॥
गरुडपु० खं० १ आचारका० अ० २१३।५ ॥
दानं सत्यं तपोऽलोभो विद्येज्याप्रजनौ दया । अष्टौ तानि चरित्राणि शिष्टाचारस्य लक्षणम् ॥५॥
वायुपु० अ० ५६।३७ ॥
अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद् भवेत् । यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥६॥
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः । ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥७॥
मनुस्मृ० अ० १२।१०८-१०६ ॥
यज्ञो दानं तपो वेदाः सत्यं च द्विजसत्तम ! । पञ्चैतानि पवित्राणि शिष्टाचारेषु नित्यदा ॥८॥
कामक्रोधौ वशे कृत्वा दम्भं लोभमनार्जवम् । धर्ममित्येव सन्तुष्टास्ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः ॥९॥
न येषां विद्यते वृत्तं यज्ञस्वाध्यायशीलिनाम् । आचारपालनं चैव द्वितीयं शिष्टलक्षणम् ॥१०॥
गुरुशुश्रूषणं सत्यमक्रोधो दानमेव च । एतच्चतुष्टयं ब्रह्मन् शिष्टाचारेषु नित्यदा ॥११॥
वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः । दमस्योपनिषत् त्यागः शिष्टाचारेषु नित्यदा ॥१२॥

अथ शिष्टाचारः—शिष्टाचार से पवित्र मन वाला उत्तम पद (स्थान वस्तु) को पाता है, और ज्ञान से बन्धन रहित हो कर संसार में सदा पूज्य वन्दनीय होता है ॥ १ ॥ शिष्ट के वाक्यों को सुनकर जो सुकर्म में प्रवृत्त होता है, सो कामी भी सदा सुखभागी होता है, और निष्काम ज्ञान पाकर मुक्त होता है ॥ २ ॥ तहाँ सत्यादि दश शिष्ट के लक्षण हैं ॥ ३ ॥ सत्यादि विद्या यज्ञ गुरु आदि की पूजा दम (इन्द्रिय मन का दमन निरोध) ये भी पवित्र आठ शिष्ट के लक्षण हैं ॥ ४ ॥ दानादि और प्रजन (सन्तानार्थक गर्भाधानादि) और दया ये आठ चरित्र भी शिष्ट के लक्षण हैं । 'प्रजनौ' के स्थान में 'प्रजनं' पाठान्तर है ॥५॥ वेद शास्त्र में विशेष रूप से अनाम्नात (अकथित) धर्मों में यदि संशय हो कि-यह कैसे होना चाहिये, तो जिस अर्थ को शिष्ट ब्राह्मण कहें, सोई निश्चित धर्म होता है ॥ ६ ॥ ब्रह्मचर्यादि धर्म पूर्वक धर्मदृष्टि से जिन ब्राह्मणों ने वेदाङ्ग धर्मशास्त्रपुराण रूप उपबृंहण (वेदप्रवर्द्धक) सहित वेदों को पढ़ा है, सो श्रुति के प्रत्यक्ष करने में हेतुरूप ब्राह्मण शिष्ट हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥ ७ ॥ हे द्विजश्रेष्ठ ! यज्ञादि ये पांच पवित्र व्यवहार शिष्टाचार में सदा रहते हैं ॥ ८ ॥ काम क्रोध दम्भ (कपट) लोभ और अनार्जव (अनृजुता=कुटिलता) को वश में करके (त्याग कर) जो धर्म ही करते हैं और उसी से सन्तुष्ट रहते हैं, वे ही शिष्टों (शिक्षितों) से माने गये शिष्ट हैं ॥ ९ ॥ जिन यज्ञ वेदाध्ययनादि के स्वभाव वालों का वृत्त (स्वेच्छा से गृहीत चरित्र) नहीं है और सदाचार का पालन है, उन में यही दूसरा शिष्ट का लक्षण है ॥ १० ॥ गुरु सेवा सत्यादि ये चार भी हे ब्रह्मन् ! शिष्टाचार में सदा रहते हैं ॥ ११ ॥ वेद की उपनिषद् (धर्म-गुप्त रहस्य) सत्य है, सत्य का रहस्य धर्म फल दम है, दम की उपनिषद् त्याग (दान-

नास्तिकान् भिन्नमर्यादान् क्रूरान् पापमतौ स्थितान् । त्यज तान् ज्ञानमाश्रित्य धार्मिकानुपसेव्य च ॥१३॥
कामलोभग्रहाकीर्णां पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् । नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि सन्तर ॥१४॥
अहिंसा परमो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः । सत्ये कृत्वा प्रतिष्ठां तु प्रवर्त्तन्ते प्रवृत्तयः ॥१५॥
सत्यमेव गरीयस्तु शिष्टाचारनिषेवितम् । आचारश्च सतां धर्मः सन्तश्चाचारलक्षणाः ॥१६॥
आरम्भो न्याययुक्तो यः स हि धर्म इति स्मृतः । अनाचारस्त्वधर्मेति एतच्छिष्टानुशासनम् ॥१७॥
अक्रुध्यन्तोऽनसूयन्तो निरहङ्कारमत्सराः । ऋजवः शमसम्पन्नाः शिष्टाचारा भवन्ति ते ॥१८॥
न्यायोपेता गुणोपेताः सर्वलोकहितैषिणः । सन्तः स्वर्गजितः शुक्लाः सन्निविष्टाश्च सत्पथे ॥१९॥
दातारः संविभक्तारो दीनानुग्रहकारिणः । सर्वपूज्याः श्रुतधनास्तथैव च तपस्विनः ॥
सर्वभूतदयावन्तस्ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः ॥ २० ॥
अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यमथार्जवम् । अद्रोहो नाभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः ॥२१॥
धीमन्तो धृतिमन्तश्च भूतानामनुकम्पकाः । अकामद्वेषसंयुक्तास्ते सन्तो लोकसाक्षिणः ॥२२॥
अनसूया क्षमाशान्तिः सन्तोषः प्रियवादिता । कामक्रोधपरित्यागः शिष्टाचारनिषेवनम् ॥
कर्म च श्रुतसम्पन्नं सतां मार्गमनुत्तमम् ॥ २३ ॥ म० भा० वनप० अ० २०७।६२।इ०। धर्मव्याधोक्तिः ॥
ज्ञानं हि परमं श्रेयः कैवल्यं तेन वेत्यलम् । कालातिवाहनायैव विनोदायोदिता क्रिया ॥२४॥

निवृत्ति) है, सो शिष्टाचार में सदा रहते हैं ॥ १२ ॥ इसलिये जो मर्यादा के नाशक, नास्तिक, क्रूर, पाप-बुद्धिस्थ हैं, उन्हें, ज्ञान के आश्रयण और धार्मिकों की सेवा पूर्वक त्यागो ॥ १३ ॥ काम लोभरूप ग्रहों से व्याप्त पाँच ज्ञानेन्द्रियरूप जल सहित संसार नदी को और जन्मरूप दुर्गम स्थानों को धर्ममयी नौका बना कर तरो ॥ १४ ॥ अहिंसा परम धर्म है सो सत्य में प्रतिष्ठित है, इससे सत्य में प्रतिष्ठा (स्थिति) करके प्रवृत्ति (अविच्छिन्न धार्मिक व्यवहार) प्रवृत्त होती हैं ॥ १५ ॥ शिष्टाचार द्वारा सदा सेवित सत्य ही परम गुरु (श्रेष्ठ) वस्तु है, सत्पुरुषों का सदाचार धर्म है, और सन्त आचार के लक्षण हैं=स्वरूप हैं ॥१६॥ न्याययुक्त जो कर्मादि का आरम्भ सोई धर्म कहा गया है, दुराचार कर्तव्य का त्याग अधर्म है यह शिष्टों का उपदेश है ॥ १७ ॥ क्रोध, असूया, अहङ्कार, मत्सर रहित, ऋजु शमयुक्त ही वे शिष्टाचार वाले होते हैं ॥ १८ ॥ और न्याययुक्त, सद्गुणयुक्त, सर्वलोक के हितेच्छुक, स्वर्ग विजेता, सात्त्विक, और सन्मार्ग, में सन्निविष्ट (प्रवृत्त) सन्त शिष्टाचारी होते हैं ॥ १९ ॥ दानी, सम्यग् विभागकर्त्ता, दीनदयालु, सर्वपूज्य, श्रुत (श्रवणादि) धन वाले, तपस्वी, सब प्राणियों में दयायुक्त वे शिष्ट शिष्टों के सम्मत (मान्य) हैं ॥ २० ॥ अहिंसा, सत्यवचन, अक्रूरता, नम्रता, अद्रोह, निरभिमानिता, कुकर्मादि से लज्जा, तितिक्षा (सहनशीलता) दम और शम, इन सबों के धी (बुद्धि ज्ञान धारणा) वाले, धैर्ययुक्त, भूतानुग्रह कर्त्ता, काम द्वेषरहित वे शिष्टाचारी सन्त सब लोक के साक्षी (प्रकाशक) स्वरूप होते हैं ॥ २१-२२ ॥ और अनसूया (परनिन्दा गुण में दोषारोप से राहित्य) क्षमा, शान्ति, सन्तोष, प्रियवादिता, कामक्रोध का त्याग, शिष्टाचार का निरन्तर सेवन, वेदशास्त्र से सम्पन्न (सम्मत) कर्म यह सत्पुरुषों के श्रेष्ठ मार्ग हैं ॥ २३ ॥ आत्मज्ञान परमश्रेयःस्वरूप है, उससे कैवल्य (नित्यमुक्त) स्वरूप को पूर्णरूप से अधिकारी जानता है, सुख से काल विगम के लिये और विनोद (मनोरञ्जन)

अलब्धज्ञानदृष्टीनां क्रिया पुत्रपरायणम् । यस्य नास्त्यम्बरं पट्टं कम्बलं किं त्यजत्यसौ ॥२५॥
वासनामात्रसारत्वादज्ञस्य सफलाः क्रियाः । सर्वा एवाफला ज्ञस्य वासनामात्रसंक्षयात् ॥२६॥
साधूनां समदृष्टीनां परिप्रश्नेन सेवया । सङ्गमेन च सा युक्ति र्लभ्यते मुच्यते यया ॥२७॥
योगवाशि० प्र० ६।८७।१६-१८-३३॥
सन्तोऽतीतं न शोचन्ति भविष्यच्चिन्तयन्ति नो । वर्तमानं च गृह्णन्ति कर्म प्राप्तमखण्डितम् ॥२८॥
इति सप्तदशशिष्टाचारप्रकरणं समाप्तम् ॥ योगवा० प्र० ६।१२४।१३॥

अथ परोपकारः ॥ १८ ॥

परोपकारयुक्तं हि सविवेकं जितेन्द्रियम् । पक्षपातविनिर्मुक्तं मन्ये हीशांशसम्भवम् ॥१॥ तथाहि—
ते धन्याः सर्वलोकेषु सर्वधर्माश्रयाश्च ते । यतन्ते सर्वभावेन परोपकरणाय ये ॥२॥
आत्मार्थं जीवलोकेऽस्मिन् को न जीवति मानवः । परं परोपकारार्थं यो जीवति स जीवति ॥३॥
स्कन्दपु० काशीखं० अ० ४७।३६-४२॥
दृष्ट्वाऽन्धान् कृपणान् व्यङ्गाननाथान् रोगिणस्तथा । दया न जायते यस्य स रक्ष इति मे मतिः ॥४॥
स्कन्दपु० प्रभासखं० ७-१ अ० ३३२।२०॥
परोपकारः कर्त्तव्यः प्राणैः कण्ठगतैरपि । परोपकारजं पुण्यं न स्यात् क्रतुशतैरपि ॥५॥
पद्मपु० मा० म० अ० २४।६३॥
परोपकारशून्यस्य धिङ् मनुष्यस्य जीवितम् । धन्यास्ते पशवो येषां चर्माप्युपकरिष्यति ॥६॥

के लिये क्रिया कही गई है ॥२४॥ ज्ञान दृष्टि रहित की क्रिया का स्त्री पुत्रादि परम आश्रय है, जिसको पट्टाम्बर (उत्तम रेशमी वस्त्र) नहीं है, क्या वह कम्बल को त्यागता है ? अर्थात् अज्ञ अविरक्त के लिये कर्म त्यागादि उचित नहीं है ॥ २५ ॥ वासनामात्र की सारता क्रिया में होने से अज्ञ वासना युक्त की सब क्रियाएँ सफल होती है, और ज्ञानियों की सब वासनाओं के संक्षय (विनाश) से सब क्रिया भी ज्ञानी की निष्फल होती है ॥२६॥ तहाँ समदृष्टि ज्ञानी साधु की सेवा विधिपूर्वक प्रश्न और सङ्गम से वह ज्ञानादि रूप युक्ति मिलती है कि जिससे मुक्त होता है ॥ २७ ॥ सन्त लोग अतीत हानि आदि को सोचते नहीं है, न भावी सुखादि की चिन्ता करते हैं किन्तु वर्तमान कर्म से प्राप्त अखण्डित (सदा स्थित) सुखादि का ग्रहण अनुभव करते है, वे ही शिष्ट हैं ॥ २८ ॥ सत्रहवाँ शिष्टाचार प्रकरण समाप्त ॥

अथ परोपकारः—परोपकारी पक्षपात रहित जितेन्द्रिय विवेकी को ईश्वर के अंशावतार मानते हैं ॥ १ ॥ जो सर्वाभिप्राय से परोपकार के लिये यत्न करते हैं, वे लोक (जन) सब लोकों में पुण्यात्मा और सर्वधर्म के आश्रय रक्षक हैं ॥ २ ॥ अपने लिये इस जीव के लोक में कौन मनुष्य नहीं जीता है ? किन्तु पर=केवल परोपकार के लिये जो जीता है, उसका सच्चा जीवन है ॥ ३ ॥ अन्ध कृपण (क्षुद्र) व्यङ्ग (विकलाङ्ग) अनाथ और रोगी को देख कर जिसको दया नहीं होती, वह राक्षस है ऐसी मेरी मति है ॥४॥ इससे मनुष्यों को परोपकार रूप धर्म कण्ठगत प्राण द्वारा भी कर्तव्य है, परोपकार जन्य पुण्य सैकड़ों क्रतुओं (यज्ञविशेषों) से भी नहीं होता है ॥५॥ परोपकाररहित मनुष्य के जीवन को धिक् है,

रविश्चन्द्रो घना वृक्षा नदी गावश्च सज्जनाः । एते परोपकाराय युगे दैवेन निर्मिताः ॥७॥

सुभाषित० ॥

परोपकारो देहेन भवेच्चेत् किमतः परम् । देहिनः करणीयं स्याज्जातं देहफलं यतः ॥८॥

आत्मपु० अ० १।२८६॥

परोपकरणं येषां जागर्त्ति हृदये सताम् । विपदश्चैव नश्यन्ति सम्पदः स्युः पदे पदे ॥९॥

स्कन्दपु० काशीखं० ४। पू० अ० ६।४॥

इत्यष्टादशपरोपकारप्रकरणं समाप्तम् ।

अथ प्रारब्धपुरुषकारौ ॥ १९ ॥

प्रारब्धपौरुषे द्वे हि यद्यपि फलसाधके । तथापि परमं मन्ये पौरुषेण हितंकरम् ॥१॥ यतः

साधारणं द्वयं ह्येतद् दैवमुत्थानमेव च । पौरुषं हि परं मन्ये दैवं निश्चित्य मुच्यते ॥२॥

महाभा० शान्तिप० अ० ५६।१५। श्रीभीष्मोक्तिः ॥

दैवं पुरुषकारश्च स्थितावन्योन्यसंश्रयात् । उदाराणां तु सत्कर्म दैवं क्लीवा उपासते ॥३॥

शान्तिप० अ० १३४।८२॥ शान्तिप० अ० १३९।८२ ॥

कर्मदायादवांल्लोकः कर्मसम्बन्धलक्षणः । कर्माणि चोदयन्तीह यथाऽन्योऽन्यं तथा वयम् ॥४॥

यथा मृत्पिण्डतः कर्त्ता कुरुते यद्यदिच्छति । एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते ॥५॥

महाभा० अनुशासनप० अ० १।६३–९४ ॥

यथा वीजं विना क्षेत्रमुप्तं भवति निष्फलम् । तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति ॥६॥

वे पशु धन्य हैं जिन का चाम भी उपकार करेगा ॥ ६ ॥ सूर्य चन्द्र मेघ वृक्ष नदी गऊ सज्जन ये सब परोपकार के लिये ही सब युग में दैव (ईश्वर) से रचे गये हैं ॥७॥ यदि देह से परोपकार हो, तो इससे अन्य देही का क्या कर्तव्य बाकी है ? जिससे देह का फल परोपकार हो चुका ॥ ८ ॥ जिस सत्पुरुष के हृदय में परोपकार की भावना जागृत (वर्तमान) है, उसकी विपत्तियाँ अवश्य नष्ट होती हैं, और पद २ में सम्पत्ति होती हैं ॥ ९ ॥ अठारहवाँ परोपकार प्रकरण समाप्त ॥

अथ प्रारब्धपुरुषकारः—प्रारब्ध कर्म दोनों यद्यपि सुखादि फल के साधक हैं, तो भी कर्म द्वारा स्व पर हित करने वालों को श्रेष्ठ मानता हूँ ॥ १ ॥ जिससे दैव और उत्थान (उद्यम) यद्यपि दोनों साधारण (सामान्य) फल के हेतु हैं, तो भी पौरुष को उत्तम मानता हूँ, उद्यम करने पर कार्य की असिद्धि से दैव को निश्चय करके कार्य से विमुक्त होता है ॥ २ ॥ दैव और पौरुष परस्पर की सहायता से स्थिर हैं, उदारों के (दाता महापुरुषों के) सत् कर्म प्रसिद्ध हैं, क्लीव (सामर्थ्य रहित) दैव (प्रारब्ध) की उपासना करते हैं ॥ ३ ॥ सब लोक कर्मरूप दायाद (सुतबन्धु) वाले हैं, तथा कर्मरूप सम्बन्ध और लक्षण वाले हैं, कर्म ही यहाँ तिस प्रकार की प्रेरणा करता है कि जैसे हम लोग परस्पर प्रेरणा करते हैं ॥ ४ ॥ जैसे कर्त्ता (कुम्भकार) मिट्टी के पिण्ड से इच्छा के अनुसार घट कुरवा आदि को बनाता है, इसी प्रकार से मनुष्य अपने कर्म और फलों को इच्छा वासना व्यापार से पाते हैं ॥ ५ ॥ जैसे अंकुरशक्ति युक्त बीज के बिना बोया हुआ खेत भी निष्फल होता है, वैसे ही

यथाग्निः पवनोद्धूतः सुसूक्ष्मोऽपि महान् भवेत् । तथा कर्मसमायुक्तं दैवं साधु विवर्द्धते ॥७॥

यथा तैलक्षयाद्दीपः प्रह्रासमुपगच्छति । तथा कर्मक्षयाद्दैवं प्रह्रासमुपगच्छति ॥८॥

महाभा० अनु० प० अ० ६। ब्रह्मोक्तिः ॥

आबद्धा मानुषाः सर्वे निबद्धाः कर्मणो र्द्वयोः । दैवे पुरुषकारे च परं ताभ्यां न विद्यते ॥९॥

न हि दैवेन सिद्ध्यन्ति कार्याण्येकेन सत्तम ! । न चाऽपि कर्मणैकेन द्वाभ्यां सिद्धिस्तु योगतः ॥१०॥

ताभ्यामुभाभ्यां सर्वार्था निबद्धा अधमोत्तमाः । प्रवृत्ताश्चैव दृश्यन्ते निवृत्ताश्चैव सर्वशः ॥११॥

शक्नोति जीवितुं दक्षो नालसः सुखमेधते । दृश्यन्ते जीवलोकेऽस्मिन् दक्षाः प्रायो हितैषिणः ॥१२॥

यदि दक्षः समारम्भात्कर्मणो नाश्नुते फलम् । नास्य वाच्यं भवेत् किञ्चिल्लब्धव्यं वाधिगच्छति ॥१३॥

वृद्धानां वचनं श्रुत्वा योऽभ्युत्थानं प्रयोजयेत् । उत्थानस्य फलं सम्यक् तदा स लभतेऽचिरात् ॥१४॥

रागात् क्रोधाद् भयात्स्नेहाद्योऽर्थानीहति मानवः । अनीशश्चावमानी च स शीघ्रं भ्रश्यते श्रियः ॥१५॥

महाभा० सौप्तिकप० अ० २।कृपाचार्योक्तिः ॥

स्वभावाद्यत्नमातिष्ठेद् यत्नवान्नावसीदति । जरामरणरोगेभ्यः प्रियमात्मानमुद्धरेत् ॥१६॥

महाभा० शां० प० अ० ३३१।२ ॥

न त्वात्माऽवमन्तव्यः पुरुषेण कदाचन । नह्यात्मपरिभूतस्य भूति र्भवति शोभना ॥१७॥

महाभा० वनप० अ० ३२।५८ ॥

उद्यम के विना प्रारब्ध भी नहीं सिद्ध होता है ॥ ६ ॥ जैसे वायु से उज्ज्वलित अनल अत्यन्त सूक्ष्म भी महान् हो जाता है, वैसे ही कर्म से सम्यग् युक्त सुन्दर दैव भी सुन्दर वृद्धि पाता है ॥ ७ ॥ जैसे तेल के नाश से दीप 'प्रह्रास' (लघुता = नाश) को प्राप्त होता है, वैसे ही कर्म के क्षय से प्रारब्ध भी घटता नष्ट होता है ॥ ८ ॥ सब मनुष्य दैव और उद्यम रूप दोनों कर्मों में अच्छी तरह सदा बद्ध हैं, और उन दोनों से पर (भिन्न) कुछ नहीं है ॥ ९ ॥ हे सत्तम ! एक दैव (प्रारब्ध) वा कर्म (उद्यम) से कार्य नहीं सिद्ध होते हैं, किन्तु सम्बन्ध द्वारा दोनों से कार्यों की सिद्धि होती है ॥ १० ॥ प्रवृत्त (दान यज्ञादिरूप) निवृत्त (अहिंसा विराग शम दमादि रूप) सब धर्म और अधमोत्तम सब अर्थ उन दोनों से ही सदा सम्बद्ध (सम्बन्ध वाले) देखे जाते हैं ॥ ११ ॥ दक्ष (सुन्दर उद्यम वाला) सुख पूर्वक जीने के लिये समर्थ होता हैं, आलसी सुख की वृद्धि को नहीं पाता है, और इस जीव लोक में प्रायः दक्ष ही स्व पर हितैषी देखे जाते हैं ॥ १२ ॥ यदि दक्ष मनुष्य सुन्दर आरम्भयुक्त कर्म के फलों को यहाँ नहीं भी पाते हैं, तो भी उनका कुछ दोष अपराध वक्तव्य नहीं होगा, वा ये लाभ योग्य इष्ट को प्राप्त करते हैं ॥ १३ ॥ ज्ञानवृद्धादि के वचनों को सुन कर जो उद्यम सत्कर्म का प्रयोग (योजना = आरम्भ) जब करेगा, तब उस उद्यम का सम्यक् फल वह शीघ्र पावेगा, और पाता है ॥ १४ ॥ परन्तु जो असमर्थ अन्य का अनादर कर्ता मनुष्य राग, क्रोध, भय, स्नेह से अर्थों को चाहता है, न्याय धर्मादि नहीं चाहता, वह प्राप्त श्री से भी शीघ्र ही पतित होता है ॥ १५ ॥ स्वभाव से ही यत्न का आश्रयण करे, यत्नवाला पीडित–नष्ट नहीं होता है । और यत्न द्वारा जरा मरण रोग से अपने प्रिय आत्मा का उद्धार करे ॥ १६ ॥ पुरुष को अपनी आत्मा–आत्मशक्ति आदि का अनादर कभी नहीं करना चाहिये, अपने आत्मा से

स्वयमेव कर्म दैवाख्यं विद्धि देहान्तरार्जितम् । तस्मात्पौरुषमेवेह श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः ॥१८॥
प्रतिकूलं तथा दैवं पौरुषेण विहन्यते । मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यमुत्थानशालिनाम् ॥१९॥
येषां पूर्वकृतं कर्मसात्त्विकं मनुजोत्तम ! । पौरुषेण विना तेषां केषांचिद् दृश्यते फलम् ॥२०॥
पौरुषेणाऽऽप्यते राजन् प्रार्थितव्यं फलं नरैः । दैवमेव विजानाति नराः पौरुषवर्जिताः ॥२१॥
दैवं पुरुषकारश्च कालश्च पुरुषोत्तम ! । त्रयमेतन्मनुष्यस्य पिण्डितं स्यात् फलावहम् ॥२२॥
कृषिवृष्टिसमायोगाद् दृश्यन्ते फलसिद्धयः । तास्तु काले प्रदृश्यन्ते नैवाकाले कथञ्चन ॥२३॥
तस्मात्सदैव कर्तव्यं सधर्मं पौरुषं नरैः । विपत्तावपि यस्येह परलोके फलं ध्रुवम् ॥२४॥

मत्स्यपु० मनुं प्रति मत्स्योक्तिः अ० २२१ ॥

उद्यमेन विना कामं न सिद्ध्यन्ति मनोरथाः । कातरा एव जल्पन्ति यद्भाव्यं तद् भविष्यति ॥२५॥

देवीभा० स्क० ५।२७।३७ ॥

स्वयं च कर्म जनकः कर्म वै दैवकारणम् । स्वभावो जायते नृणां स्वात्मनः पूर्वकर्मणः ॥२६॥
स्वकर्मणां च सर्वेषां जन्तूनां प्रति जन्मनि । सुखं दुःखं भयं शोकं स्वात्मतश्च प्रजायते ॥२७॥
स्वकर्मफलभोक्ता च जीवो हि सगुणः सदा । आत्मा भोजयिता साक्षी निर्गुणः प्रकृतेः परः ॥२८॥

ब्रह्मवैवर्त्तपु० प्रकृतिखं० अ० ६०।२८। इत्यादि ॥

पञ्चैतानि हि दृश्यन्ते गर्भस्थस्यैव हि देहिनः । आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च ॥२९॥
यथा मृत्पिण्डकं कर्त्ता कुरुते यद्यदिच्छति । तथा कर्मकृतं चैव कर्त्तारं प्रतिपद्यते ॥३०॥

आप परिभूत (अनादृत) को सुन्दर विभूति कभी नहीं होती है ॥ १७ ॥ देहान्तर में पूर्व उपार्जित अपने ही कर्मों को आज दैव (प्रारब्ध) नामक समझो, इसलिये विद्वान् सब उद्यम को ही श्रेष्ठ कहते हैं ॥ १८ ॥ गुरुसेवादि मंगलमयाचार वाले सदा उद्योगियों के प्रतिकूल (अनिष्ट) दैव भी भक्ति आदिरूप पौरुष से नष्ट होते हैं ॥ १९ ॥ हे मनुजोत्तम ! जिस किसी का पूर्वजन्म का किया हुवा सात्त्विक कर्म रहता है, उस को उद्यम के विना भी फल दीखता है ॥ २० ॥ अन्य सब नरों को पौरुष (उद्यम) से ही प्रार्थितव्य=अवश्य प्राप्त करने योग्य फल, मिलता हैं, तो भी उद्यम रहित मनुष्य दैव को ही फलप्रद समझते हैं ॥ २१ ॥ यद्यपि कृषि (क्षेत्रकर्षण) वृष्टि के सम्यग् आयोग (उचित सम्बन्ध) से अन्नादिरूप फलों की सिद्धि देखी जाती है, तो भी वह सिद्धि फलकाल में देखी जाती है, समय के बिना किसी प्रकार भी नहीं देखी जाती है । इसी प्रकार से हे पुरुषोत्तम ! दैव, (प्रारब्ध) उद्यम और काल ये तीनो मिल कर मनुष्यों के फल प्रापक होते हैं ॥ २२-२३ ॥ अतः धर्मयुक्त वह उद्यम मनुष्यों को सदा ही करना चाहिये, जिससे यहाँ विपत्ति होने पर भी परलोक में उसका फल अवश्य हो ॥ २४ ॥ उद्यम के विना यथेष्ट मनोरथ नहीं सिद्ध होते हैं, तो भी कायर लोग कहते हैं कि जो होना होगा सो होगा ॥ २५ ॥ स्वयं जीव कर्म का जनक (उत्पादक) होता है, और कर्म प्रारब्ध का कारण होता है, अपने ही पूर्व के कर्मों से मनुष्यों के सात्त्विकादि स्वभाव होते हैं ॥ २६ ॥ सब प्राणियों के अपने ही कर्मों के फलरूप सुखादि सब जन्मों में अपने आत्मा ही से उत्पन्न होते हैं ॥ २७ ॥ सत्त्वादि गुणयुक्त जीव अपने ही कर्मों के फलों का सदा भोक्ता होते हैं, और गुणमय प्रकृति से पर निर्गुण साक्षी स्वरूप आत्मा सत्तामात्र से माया द्वारा भोग कराता है ॥ २८ ॥ गर्भस्थ ही देही (जीव) के आयु, कर्म, धन, विद्या और मृत्यु ये पांच साक्षी स्वरूप ईश्वर से दृष्ट निश्चित हो जाते हैं ॥२९॥ जैसे मृत् पिण्ड को कर्ता कुम्भकार इच्छा के अनुसार घटादिरूप देता है, वैसे ही

आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहितं सुखम् । गर्भशय्यामुपादाय भुञ्जते पौर्वदेहिकम् ॥३१॥
पूर्वदेहकृतं कर्म न कश्चित्पुरुषोत्तमः । बलेन प्रज्ञया वापि समर्थः कर्त्तुमन्यथा ॥३२॥
स्वकृतान्येव भुञ्जन्ति दुःखानि च सुखानि च । हेतुतः कारणै र्वाऽपि सोऽहङ्कारेण बध्यते ॥३३॥
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् । तद्वच्छुभाशुभं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति ॥३४॥

पद्मपु० खं० २।६४॥ महाभारत० शां० प० अ० १८१।१६। इत्यादि ॥

अलसानां मनुष्याणां सदा दुःखं दरिद्रता । आलस्यं पातकं लोके आलस्यं भूतिनाशनम् ॥३५॥
उत्थानधीरः पुरुषो वाग्वीरानधितिष्ठति । उत्थानधीरं वाग्वीरा रमयन्त उपासते ॥३६॥

विष्णुधर्मोत्तरपु० खं० २। अ० २६५।२-६॥

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे, विष्णु र्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे ।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः, सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥३७॥

दाता बलि र्याचनको मुरारि र्दानं मही विप्रमुखस्य मध्ये ।
दत्त्वा फलं बन्धनमेव लब्धं नमोऽस्तु ते दैव ! यथेष्टकारिणे ॥ ३८ ॥

पुराधीता च या विद्या पुरा दत्तं च यद्धनम् । पुरा कृतानि कर्माणि ह्यग्रे धावति धावतः ॥३९॥

गरुडपु० पूर्वखं० अ० ११३॥

मानुष्यं दुर्लभं लब्ध्वा कदाचिद्दैवयोगतः । अनुग्रहेण महतां हरिं ज्ञात्वा विमुच्यते ॥४०॥

किए हुए कर्म तत्तत् स्वरूप से कर्ता को प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥ पूर्व देह सम्बन्धी अपने ही से विहित (सम्पादित) दुःख और सुख (दुःखसुख हेतु कर्म) को गर्भरूप शय्या को प्राप्त कर के जीव भोगता है ॥३१॥ कोई पुरुषोत्तम भी पूर्वदेह से किए हुए प्रारब्ध रूपता को प्राप्त असाध्य रोग के तुल्य कर्म को बल वा बुद्धि से अन्यथा करने में समर्थ नहीं है ॥३२॥ वह अपने ही से किये गये दुःख सुखों को किसी हेतु से वा कारणों द्वारा भोगता है, और अहंकार से बँधता है ॥३३॥ जैसे हजारों गऊ में बछड़ा अपनी माता को प्राप्त करता है, वैसे ही शुभ अशुभ कर्त्ता को ही प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥ आलसी मनुष्यों को सदा दरिद्रता और दुःख प्राप्त होते हैं, क्योंकि आलस्य लोक में पातक रूप और विभूति का नाशक है ॥३५॥ उद्यम में धीर (स्थिर) तथा उद्यम के पण्डित पुरुष आलसी वाक्यवीर (केवल वक्ता) सबों को वश में करता है, इससे वाग्वीर सब उद्यमधीर को रमण कराते हुवे सेवते हैं ॥३६॥ ब्रह्मा जिस कर्म से ब्रह्माण्ड रूप भाण्ड (पात्र) के उदर में कुलाल के समान नियमित (बाँधे) गये हैं और महासङ्कट (सङ्कीर्ण, दश अवताररूप गहन (वन=दुःख=खोह) में विष्णु जिससे क्षिप्त प्रेरित) हुए हैं, और नरकपालयुक्त हस्तपुटक (दोना) में रुद्र को जिसने भिक्षाटन करवाया, जिस कर्म ही से सूर्य सदा गगन में भ्रमते हैं, उस कर्म को नमस्कार है ॥ ३७ ॥ विप्रादि के मध्य में बलि दाता हुए मुरारि विष्णु याचक हुए, देय द्रव्य भूमि हुई, तो भी दान देकर बलि ने बन्धन रूप फल प्राप्त किया जिस दैव से ऐसी व्यवस्था हुई, हे दैव ! यथेष्टकारी तुझ को नमस्कार है ॥३८॥ प्रथम की पढ़ी हुई विद्या, दिया हुवा धन, किये गये कर्म ये सब वासनादिवश अनन्त योनिस्थानादि में दौड़ने वाले जीव के आगे ही दौड़ते हैं ॥ ३९ ॥ दुर्लभ मनुष्यता को कभी दैव योग से पाकर महात्माओं के अनुग्रह से हरि को जानकर मुक्त होता है ॥ ४० ॥ रोगरूप ग्राह युक्त मोह जाल वाले अपार

रोगग्राहं मोहजालमपारं भवसागरम् । न पश्यामि तत्तुमन्यद्रामसंस्मरणं विना ॥४१॥
नवनीतं यथा दध्नो ज्योतिः काष्ठादपि क्वचित् । मन्थनैः साधनैरेवं परं ज्ञात्वा सुखी भवेत् ॥४२॥
आत्मा नित्योऽव्ययः सत्यः सर्वगः सर्वभृन्महान् । अप्रमेयः स्वयंज्योतिरग्राह्यो मनसाऽपि यः ॥४३॥
सच्चिदानन्दरूपोऽसौ सर्वप्राणिहृदि स्थितः । विनश्यत्स्वपि भावेषु न विनश्यति कर्हिचित् ॥४४॥
गरुडपु० प्रेतखं० अ० ६ ॥
प्राक्कर्मफलभोगार्हा बुद्धिः सञ्जायते नृणाम् । पापकर्मणि पुण्ये वा कर्त्तुं शक्यो न चान्यथा ॥४५॥
बुद्धिरुत्पद्यते तादृग् यादृक् कर्मफलोदयः । सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता ॥४६॥
प्राक्कर्मवशतः सर्वं भवत्येवेति निश्चितम् । तदोपदेशा व्यर्थाः स्युः कार्याकार्यप्रबोधकाः ॥४७॥
धीमन्तो वन्द्यचरिता मन्यन्ते पौरुषं महत् । अशक्ताः पौरुषं कर्त्तुं क्लीवा दैवमुपासते ॥४८॥
दैवे पुरुषकारे च खलु सर्वं प्रतिष्ठितम् । पूर्वजन्मकृतं कर्मेहार्जितं तद् द्विधा कृतम् ॥४९॥
अनुकूले यदा दैवे क्रियाऽल्पा सुफला भवेत् । महती सत्क्रियानिष्टफला स्यात्प्रतिकूलके ॥५०॥
भवतीष्टं सत्क्रिययाऽनिष्टं तद्विपरीतया । शास्त्रतः सदसज्ज्ञात्वा त्यक्त्वाऽसत् सत् समाचरेत् ॥५१॥
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्मफलं नरैः । प्रतिकारं विना नैव प्रतिकारे कृते सति ॥५२॥
शुक्रनीति० अ० १ ॥
उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः । न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥५३॥
शुक्रनीतिः अ० ४।११२५ ॥

भवसागर को तरने के लिये राम के स्मरण बिना अन्य साधन को नहीं देखता हूँ ॥४१॥ जैसे मन्थन द्वारा दधि से नवनीत पाया जाता है, और कहीं आग काठ से प्रकट होती है, तैसे ही साधनों से परब्रह्म को जानकर सुखी होवे ॥ ४२ ॥ जो आत्मा नित्य निर्विकार सत्य सर्वगत सर्वाधिष्ठानाधार व्यापक प्रमाणों का अविषय स्वयं प्रकाश मन से भी अग्राह्य है सो सब प्राणियों के हृदय में व्यक्त है, नष्ट होने वालों के नष्ट होने पर भी उस में स्थिर आत्मा नष्ट नहीं होता है ॥ ४३-४४ ॥ पूर्व कर्म के फलों के भोग के योग्य पुण्यपापकर्मविषयक मनुष्यों की बुद्धि उत्पन्न होती है सो अन्यथा करने में समर्थ पदार्थ रूप नहीं है ॥ ४५ ॥ वैसी बुद्धि उत्पन्न होती है कि जैसा फल का उदय (प्रकट) होना होता है, और जैसी भवितव्यता होती है वैसे ही सहायक भी मिलते हैं ॥ ४६ ॥ परन्तु पूर्व कर्म के बल से ही सब फल साधनादि होते ही हैं, यदि ऐसा निश्चित तत्त्व हो तो कर्त्तव्य अकर्त्तव्य के प्रबोधक उपदेश व्यर्थ होंगे ॥४७॥ इससे बुद्धिमान् वन्दनीय चरित्र वाले उद्यम को महान् मानते हैं, उद्यम करने में असमर्थ कायर दैव की उपासना करते हैं ॥ ४८ ॥ वस्तुतः दैव और उद्यम दोनों में सब जगत् प्रतिष्ठित है, पूर्व जन्मकृत कर्म और यहाँ उपार्जित कर्म ही यह दो प्रकार वाला किया गया है ॥४९॥ जब दैव अनुकूल रहता है तब अल्प क्रिया भी सुन्दर फल वाली होती हैं, दैव के प्रतिकूल रहने पर भारी सत्कर्म भी अनिष्ट फल वाला होता है ॥५०॥ सामान्यतः तो सत्कर्म से इष्ट होता है असत्कर्म से अनिष्ट (दुःख) होता है. इसलिये शास्त्र से सत् असत् कर्मों को समझ कर असत् कर्म को त्यागे, सत्कर्म (पुण्य) का आचरण करे ॥ ५१ ॥ प्रतिकार (निवृत्ति के उपाय) बिना किये हुए कर्मों के फलों को अवश्य भोगना होता है, प्रतिकार करने पर नहीं ॥ ५२ ॥ उद्यम से ही सब कार्य सिद्ध होते हैं, मनोरथ (इच्छा) मात्र से नहीं, क्योंकि-सोते

दैवे पुरुषकारे च कर्मसिद्धि र्व्यवस्थिता । तत्र दैवमभिव्यक्तं पौरुषं पौर्वदेहिकम् ॥५४॥
केचिद् दैवात्स्वभावाद्वा कालात्पुरुषकारतः । संयोगे केचिदिच्छन्ति फलं कुशलबुद्धयः ॥५५॥
यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गति र्भवेत् । एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति ॥५६॥
याज्ञवल्क्यस्मृ० अ० १।३४७। इत्यादि ॥
प्राप्य व्याधिविनिर्मुक्तं देहमल्पाधिवेदनम् । तथात्मानं समादध्याद्यथा भूयो न जायते ॥५७॥
दैवं पुरुषकारेण यो निवर्त्तितुमिच्छति । इह वाऽमुत्र जगति स सम्पूर्णाभिवाञ्छितः ॥५८॥
ये समुद्योगमुत्सृज्य स्थिता दैवपरायणाः । ते धर्ममर्थं कामं च नाशयन्त्यात्मविद्विषः ॥५९॥
सम्वित्स्पन्दो मनः स्पन्द ऐन्द्रियस्पन्द एव च । एतानि पुरुषार्थस्य रूपाण्येभ्यः फलोदयः ॥६०॥
योगवा० प्र० २।७।१–४॥
शास्त्रतो गुरुतश्चेति स्वतश्चेति त्रिसिद्धयः । सर्वत्र पुरुषार्थस्य न दैवस्य कदाचन ॥६१॥
अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत् । प्रयत्नाच्चित्तमित्येष सर्वशास्त्रार्थसङ्ग्रहः ॥६२॥
यच्छ्रेयो यदतुच्छं च यदपायविवर्जितम् । तत्तदाचर यत्नेन पुत्रेति गुरवः स्थिताः॥६३॥ प्र० २।७।११–१३॥
पुरुषार्थात् फलप्राप्ति र्देशकालवशादिह । प्राप्ता चिरेण शीघ्रं वा याऽसौ दैवमिति स्मृता ॥६४॥
अर्थप्रापककार्यैकप्रयत्नपरता बुधैः । प्रोक्ता पौरुषशब्देन सर्वमासाद्यतेऽनया ॥६५॥

हुए सिंह के मुख में मृग स्वयं नहीं पैठते हैं ॥ ५३ ॥ दैव और उद्यम दोनों में कर्म (कार्य) की सिद्धि व्यवस्थित है, उन में पूर्व देह सम्बन्धी उद्यम ही अभिव्यक्त हुआ दैव है ॥ ५४ ॥ कुशल बुद्धिवाले कोई दैव से, कोई स्वभाव से, कोई काल से, कोई उद्यम से, कोई सब के संयोग होने पर फल को मानते और चाहते हैं ॥५५॥ और जैसे एक चक्र से रथ की गति नहीं होती है, वैसे ही उद्यम के विना दैव भी फल नहीं देता है, न दैव सिद्ध होता है ॥ ५६ ॥ व्याधि से रहित, अल्प आधिवेदना (मानस दुःख भोग) युक्त देह को पाकर, इस प्रकार मन के समाधान के लिये यत्न करे कि जिस से फिर जन्म नहीं हो ॥ ५७ ॥ जो कोई दैव को यत्न से निवृत्त करना चाहता है, वह यहाँ वा परलोक रूप जगत् में पूर्ण वाञ्छित वाला होता है ॥ ५८ ॥ जो दैवपरायण निजात्मविद्वेषी (शत्रु) श्रेष्ठ उद्योग को त्याग कर स्थिर होते हैं, सो धर्मादि को नष्ट करते हैं ॥५९॥ सम्वित्स्पन्द (पुरुषार्थ तत्साधन की स्फूर्ति विचारादि) साधनेच्छारूप मनः स्पन्द प्रवृत्ति रूप इन्द्रिय स्पन्द ये सब पुरुषार्थ के स्वरूप हैं, इन से फल की सिद्धि होती है ॥६०॥ लौकिक सिद्धि स्वप्रयत्न से होती है, यागादि स्वतः और शास्त्र से होते हैं, ज्ञानादि स्वतः शास्त्र और गुरु से होते हैं; सो सर्वत्र पुरुषार्थ के फल हैं दैव के कभी नहीं ॥ ६१ ॥ इसलिये अशुभ में समाविष्ट चित्त को प्रयत्नों से शुभ में लाना चाहिये, यही सभी शास्त्रों के अर्थों का संग्रह है ॥ ६२ ॥ जो कर्म श्रेयः (सर्वोत्कृष्ट) अतुच्छ (सत्यफलप्रद) नाशरहित (नित्यफलशाली) है उसी कर्म उपासनादि को यत्न से करो, हे पुत्र ! दैवादि के अधीन समझ कर यत्न को नहीं त्यागो, यह बात उपस्थित गुरु कहते हैं ॥ ६३ ॥ पुरुषार्थ से फल की प्राप्ति देश कालवश (द्वारा) यहाँ होती है, यह फल की सिद्धि देरी से वा शीघ्र जो होती है, वही दैव कहलाती है ॥ ६४ ॥ सदर्थ को प्राप्त कराने वाला कर्तव्यकर्मार्थैकएकप्रयत्नपरायणता तत्परता को ही विद्वान् लोग पौरुष शब्द से कहते हैं, और इसी द्वारा सब फल पाये जाते हैं ॥ ६५ ॥

अनर्थप्राप्तिकार्यैकप्रयत्नपरता तु या । प्रोक्ता प्रोन्मत्तचेष्टेति न किञ्चित्प्राप्यतेऽनया ॥६६॥
अनन्तसमतानन्दं परमार्थं स्वकं विदुः । स येभ्यः प्राप्यते यत्नात्सेव्यास्ते शास्त्रसाधवः ॥६७॥
योगवासिष्ठप्र० १।७।२१-२४-२६-२८॥
साधूपदिष्टमार्गेण यन्मनोङ्गविचेष्टितम् । तत्पौरुषं तत्सफलमन्यदुन्मत्तचेष्टितम् ॥६८॥
यो यमर्थं प्रार्थयते यदर्थं चेहते क्रमात् । अवश्यं तदवाप्नोति न चेदर्धान्निवर्त्तते ॥६९॥
पौरुषेण प्रयत्नेन त्रैलोकैश्वर्यसुन्दराम् । कश्चित्प्राणिविशेषो हि शक्रतां समुपागतः ॥७०॥
पौरुषेणैव यत्नेन सहसाम्भोरुहास्पदम् । कश्चिदेव चिदुल्लासो ब्रह्मतामधितिष्ठति ॥७१॥
सारेण पुरुषार्थेन स्वेनैव गरुडध्वजः । कश्चिदेव पुमानेव पुरुषोत्तमतां गतः ॥७२॥
पौरुषेणैव यत्नेन ललनावलिताकृतिः । शरीरी कश्चिदेवेह गतश्चन्द्रार्द्धचूडताम् ॥७३॥
प्राक्तनं चैहिकं चेति द्विविधं विद्धि पौरुषम् । प्राक्तनोऽद्यतनेनाशु पुरुषार्थेन जीयते ॥७४॥
योगवा० प्र० २।४।११-१७॥
शुभेन पुरुषार्थेन शुभमासाद्यते फलम् । अशुभेनाशुभं राम ! यथेच्छसि तथा कुरु ॥७५॥
आबाल्यादलमभ्यस्तैः शास्त्रसत्सङ्गमादिभिः । गुणैः पुरुषरत्नेन स्वार्थः सम्पद्यते हितः ॥७६॥
पौरुषेण जिता दैत्याः स्थापिता भुवनक्रियाः । रचितानि जगन्तीह विष्णुना न च दैवतः ॥७७॥
योगवासि० प्र० २।७।२०-३०-३१॥
उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति द्विविधं पौरुषस्मृतम् । तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम् ॥७८॥

अनर्थ की जिस से प्राप्ति हो ऐसे कार्यार्थक प्रयत्नैकपरायणता जो है, वह अति उन्मत्त की चेष्टा कही गई है, उस से कुछ भी शुभ नहीं मिलता है ॥ ६६ ॥ मायाकृत वैषम्य रहित अनन्त समतारूप आनन्दात्मक अपने परमार्थ (सत्य) स्वरूप को जो जानते हैं, और वह आनन्द जिन से अन्य को मिलता है, वे ही शास्त्रयुक्त साधु प्रयत्न से सेवनीय हैं ॥ ६७ ॥ साधु से उपदिष्ट (कथित) मार्ग से जो मन वचन शरीर के व्यवहार करना, वही सत्य पुरुषार्थ है, उस का सत्यफल होता है. शेष उन्मत्त की चेष्टा है ॥ ६८ ॥ जो जिस अर्थ को चाहता हैं, जिस के लिये क्रम से चेष्टा करता है, उस अर्थ को वह अवश्य प्राप्त करता है यदि आधे से नहीं लौटता है ॥ ६९ ॥ कोई प्राणिविशेष ही उद्यम प्रयत्नों से तीनों लोक के ऐश्वर्य से सुन्दरता युक्त इन्द्रता को प्राप्त हुआ है ॥ ७० ॥ कोई चिदुल्लास (जीव) ही पौरुष प्रयत्न से ही अम्बुरुहास्पद (पद्मासन) को प्राप्त करके सहसा (अचिन्तित) ब्रह्मता को पाता है ॥ ७१ ॥ कोई पुरुष ही अपने श्रेष्ठ पुरुषार्थ से ही पुरुषोत्तमता को प्राप्त गरुड़ध्वज (विष्णु) होता है ॥ ७२ ॥ कोई शरीरी जीव ही पौरुष प्रयत्न से ही स्त्री से युक्त आकार वाला होकर चन्द्रार्धचूडता (शिवरूपता) को प्राप्त है ॥ ७३ ॥ पूर्व के और इस लोक = देह के दो प्रकार के पुरुषार्थ को समझो, तहाँ वर्त्तमान कालिक पुरुषार्थ से पूर्व के पौरुष जीते जाते हैं ॥ ७४ ॥ शुभ पुरुषार्थ से शुभ फल और अशुभ से अशुभ फल प्राप्त किये जाते हैं, हे राम ! जैसी इच्छा हो वैसा करो ॥ ७५ ॥ बाल्यावस्था से ही अभ्यस्त जो शास्त्र सत्सङ्गादिरूप गुण उन के द्वारा पुरुषरत्न (विवेकी सत्पुरुष) का हितस्वार्थ सिद्ध होता है ॥ ७६ ॥ विष्णु देव ने भी पुरुषार्थ से ही दैत्यों को जीता, भुवन के क्रियाओं को स्थिर किया, और यहाँ जगत् को रचा है, दैव से नहीं ॥ ७७ ॥ शास्त्र से अबोधित निषिद्ध और शास्त्रित (शास्त्रनियमित) ये दो प्रकार के पौरुष (उद्यम) कहे गये हैं,

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत देहं नश्वरमात्मनः। सन्त्यजेत्पशुभिस्तुल्यं श्रयेत्सत्पुरुषोचितम् ॥७९॥
यथा घटः परिमितो यथा परिमितः पटः। नियतः परिमाणस्थः पुरुषार्थस्तथैव च ॥८०॥
स च सच्छास्त्रसत्सङ्गसदाचारै निंजं फलम्। ददातीति स्वभावोऽयमन्यथा नार्थसिद्धये ॥८१॥
योगवा० प्र० २।५।४–१६–२४–२५॥

विश्वामित्रेण मुनिना दैवमुत्सृज्य दूरतः। पौरुषेणैव सम्प्राप्तं ब्राह्मण्यं राम ! नान्यथा ॥८२॥
अस्माभिरपरै राम ! पुरुषै मुनितां गतैः। पौरुषेणैव सम्प्राप्ता चिरं गगनगामिता ॥८३॥
योगवा० प्र० २।८।२०–२१ ॥

ऐहिकः प्राक्तनं हन्ति प्राक्तनोऽद्यतनं बलात्। सर्वथा पुरुषस्पन्दस्तत्रानुद्वेगवाञ्जयी ॥८४॥
क्रमेणैवोपार्जितेऽप्यर्थे नष्टे कार्या न खेदिता। न बलं यत्र मे शक्तं तत्र का परिदेवना ॥८५॥
यन्न शक्नोमि तस्यार्थे यदि दुःखं करोम्यहम्। तदमारितमृत्यो में युक्तं प्रत्यहरोदनम् ॥८६॥
देशकालक्रियाद्रव्यवशतो विस्फुरन्त्यमी। सर्व एव जगद्भावा जयत्यधिकयत्नवान् ॥८७॥
तस्मात्पौरुषमाश्रित्य सच्छास्त्रैः सत्समागमैः। प्रज्ञाममलतां नीत्वा संसारजलधिं तरेत् ॥८८॥
योगवा० प्र० २।६।१८–२१–२४ ॥

दैवमेवेह चेत्कर्तृ पुंसः किमिव चेष्टया। स्नानदानासनोच्चारान् दैवमेव करिष्यति ॥८९॥
कालविद्भि र्विनिर्णीता यस्यास्ति चिरजीविता। स चेज्जीवति संछिन्नशिरास्तद्दैवमुत्तमम् ॥९०॥
योगवा० प्र० २।८।६–१८ ॥

उस में शास्त्र विरुद्ध पौरुष अनर्थ के लिये होता है, और शास्त्रबोधित परमार्थ के लिये होता है ॥ ७८ ॥ प्रतिदिन अपनी देह को नश्वर समझे, और पशुतुल्य अविवेकमयकर्म को त्यागे, सत्पुरुषों के उचित (सत्संगादि) को आश्रयण करे ॥ ७९ ॥ जैसे घट पट परिमित हैं, वैसे ही पुरुषार्थ भी तत्तत्कार्य के लिये नियत और परिमाणस्थ हैं, फलप्राप्ति से पुरुषार्थ पूर्ण हो जाता है, इससे यत्न की अनन्तता भय उचित नहीं है ॥ ८० ॥ वह पुरुषार्थ यत्न सत्शास्त्रादि सहित ही अपने फल को देता है, यह उसका स्वभाव है, इससे सत्शास्त्रादि बिना फल की सिद्धि के लिये नहीं होता है, ॥८१॥ हे राम ! विश्वामित्रमुनि ने दैव को दूर में त्याग कर पुरुषार्थ से ही ब्राह्मणता को पाया, अन्यथा नहीं ॥ ८२ ॥ मुनिता को प्राप्त विश्वामित्र से अन्य पुरुष हम सब भी पौरुष से ही गगनगामिता को चिरकाल तक पाये हैं ॥ ८३ ॥ पुरुष के उद्यम ही बल से कभी ऐहिक (वर्तमान) यत्न पूर्व के यत्नों को जीतता है, पूर्व वाला वर्तमान को बल से जीतता है, उसमें अनुद्वेगवान् विजयी होता है ॥ ८४ ॥ पौरुष क्रम से उपार्जित अर्थ के नष्ट होने पर भी शोकादि कर्तव्य नहीं है, जिस काम में मेरा बल समर्थ नहीं है, वहाँ परिदेवना क्या है ? ॥ ८५ ॥ जिस कार्य को करने के लिये मैं समर्थ नहीं हूँ उसके लिये यदि मैं दुःख चिन्ता करूं, तब तो अमारितमृत्यु (मृत्यु को नहीं मारने वाले) मुझ को रात दिन सदा रोना ही युक्त होगा ॥ ८६ ॥ ये सभी जगत् के पदार्थ देशकाल क्रिया द्रव्य के वश से अपने योग्य देश कालादि पाकर सिद्ध होते हैं, जो अधिक यत्न वाला होता है सो जीतता है ॥ ८७ ॥ अतः सत्शास्त्र और सत्सङ्ग सहित पुरुषार्थ का आश्रयण करके बुद्धि को विमल करके संसार समुद्र को तरना चाहिये ॥ ८८ ॥ यदि यहाँ दैव ही कर्ता हो तो, पुरुष की चेष्टा की जरूरत (फल) क्या है ? स्नान दान आसन उच्चार (दानादि के अंगरूप मन्त्रों का उच्चारण) भी दैव ही करेगा ॥ ८९ ॥ कालज्ञों से निर्णीत जिस का चिरजीवित्व है, वह यदि

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना सरित् । पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि ॥९१॥

योगवा० प्र० २।९।३० ॥

अज्ञोऽपि तज्ज्ञतामेति शनैः शैलोऽपि चूर्ण्यते । घुणोऽप्यत्ति महावृक्षं पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥९२॥

योगवा० प्र० ६।२। स० ६७।२६ ॥

पुण्ये कर्मणि साहाय्यं प्रायः सर्वे हि कुर्वते । रामस्य वानरा यद्वत्स्वदारपरिविन्दतः ॥९३॥

उद्यमः साहसं धैर्यं बलं बुद्धिः पराक्रमः । षडिमे यस्य तिष्ठन्ति स सर्वं प्राप्नुयात्पुमान् ॥९४॥

मनोनिरोधतः सर्वं लोकद्वयफलं भवेत् । शुभं निरोधेन विना न किञ्चिदपि लभ्यते ॥९५॥

कृषिवृष्टिसमायोगाद्यथा सस्यं सुजायते । दैवोत्थानसमायोगात्तथा मन्ये शुभं फलम् ॥९६॥

आत्मपु० अ० १।९।५२। इत्यादि ।

उद्यमः साहसं धैर्य्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः । षडेते यत्र वर्त्तन्ते तत्र देवः सहायकृत् ॥९७॥

गरुडपु० पूर्वखं० आ० अ० १११।३२ ॥

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः । नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कृत्वा यं नावसीदति ॥९८॥

भर्तृहरिः, नी० ८७ ॥

स्वमेव कर्म दैवाख्यं विद्धि देहान्तरार्जितम् । तस्मात्पौरुषमेवेह श्रेष्ठमाहु र्मनीषिणः ॥
प्रतिकूलं तथा दैवं पौरुषेण निहन्यते ॥ ९९ ॥ अग्निपु० अ० २२६ । १ ॥

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः । आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥१००॥

शत्रु से शिरश्छेदन के बाद भी जीवे तो दैव पुरुषार्थ से उत्तम हो सकता है, तथा उत्तम कारण हो सकता है ॥ ९० ॥ वासना रूप सरित् (नदी) शुभ और अशुभ दोनों मार्गों से स्वाभाविक रूप से चलती है, सो पौरुष (पुरुष के) प्रयत्न (सत्सङ्ग विचारादि) से शुभ मार्गों में ही योजनीय (स्थापनीय) है ॥ ९१ ॥ अभ्यास रूप यत्न के कार्य को देखो कि अभ्यास से अज्ञ भी विद्वत्ता को प्राप्त करता है, शिलासमूह भी चूर्ण किया जाता है, महावृक्ष को तुच्छ घुण भी खा जाता है ॥ ९२ ॥ और पुण्य रूप कर्मों में सब सहायता भी करते हैं, जैसे अपनी भार्या को प्राप्त करने वाले रामचन्द्र जी के बानर भी सहायक हो गये ॥ ९३ ॥ उद्यम (पौरुष) साहस (दम) धैर्य बल (साधन सम्पत्ति) बुद्धि और पराक्रम (विक्रम सामर्थ्यादि) ये छः जिस के रहते हैं वह पुरुष सब वस्तुओं को प्राप्त करता है ॥ ९४ ॥ पाप कुप्रवृत्ति से मन के निरोध (वारण) करने पर लोक परलोक के सब फल होते हैं, मन के निरोध के विना कुछ भी शुभ नहीं होता है ॥ ९५ ॥ खेत के कर्षण और वर्षा के सम्यक् सम्बन्ध से जैसे सस्य (फल अन्न यवादि) सुन्दर होते हैं, वैसे दैव और उद्यम के सम्यक् सम्बन्ध से शुभ फल को मानता हूँ ॥ ९६ ॥ उद्यमादि ये छः जहाँ रहते हैं वहाँ दैव भी सहायक होता है ॥ ९७ ॥ आलस्य ही मनुष्यों के शरीर में रहने वाला भारी शत्रु है, उद्यम तुल्य कोई बन्धु नहीं है कि जिस उद्यम के करने से मनुष्य पीड़ित नहीं होता है ॥ ९८ ॥ देहान्तर में उपार्जित अपने कर्मों को ही दैव जानो उससे विद्वान् लोग यहाँ उद्यम को ही श्रेष्ठ कहते हैं, और अनिष्ट दैव भी उद्यम प्रायश्चित्तादि से नष्ट किया जाता है ॥ ९९ ॥ प्रथम के असमृद्धि (धनसम्पत्ति के अभाव) से अपना अनादर नहीं करे,

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् । यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥ १०१ ॥
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् । एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥१०२॥
मनु० अ० ४।१३७–१५६–१६० ॥
आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः । कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥१०३॥
मनु० अ० ६ । ३०० ॥
अनागतविधातारमप्रमत्तमकोपनम् । स्थिरारम्भमदीनं च नरं श्रीरुपासते ॥१०४॥
काममपि श्रियमासाद्य यस्तद्वृद्धौ न चेष्टते । तस्याऽऽयतिषु न श्रेयो बीजभोजी कुटुम्बवत् ॥१०५॥
यो न संचरते देशान् यो न सेवेत पण्डितान् । तस्य सङ्कुचिता बुद्धि र्घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥१०६॥
सुभाषितरत्ने ॥ तस्मात्–
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥१०७॥
शुक्लयजुर्वे० अ० ४०।२॥

किन्तु मरण तक श्री के लिये यत्न करे, और इस श्री लक्ष्मी को दुर्लभ नहीं समझे ॥ १०० ॥ और जो २ कर्म पराधीन हो उसे यत्न से त्यागे, और जो २ स्वाधीन हो उसको यत्न से सेवे=करे ॥ १०१ ॥ क्योंकि अन्य के प्रार्थनादिसाध्य पराधीन सभी कर्म दुःख रूप हैं, और स्वाधीन भक्ति ज्ञान विरागादि सुख रूप सुख के हेतु हैं। इससे यही संक्षेप से सुखदुःख का लक्षण (चिन्ह कारण) जाने ॥ १०२ ॥ बार बार श्रान्त होता हुआ भी कर्तव्य कर्मों का आरम्भ करना ही चाहिये, कर्मों के आरम्भ वाले को श्री अवश्य सेवती है ॥ १०३ ॥ "हेयं दुःखमनागतम्" इस योगसूत्रादि के अनुसार अनागत=भावी दुःख की निवृत्ति और हित की प्राप्ति के लिये विधान उपाय करने वाले, प्राप्त हित में अप्रमत्त (प्रमाद रहित रक्षक) क्रोध रहित निश्चित स्थिर आरम्भ वाले अदीन (अभय) को लक्ष्मी सेवती है ॥ १०४ ॥ यथेष्ट लक्ष्मी को प्राप्त कर के भी जो उसकी वृद्धि रक्षा के लिये चेष्टा नहीं करता है, उसकी आयति (आगामी काल) में शुभ नहीं होता है, बीज भोक्ता कुटुम्बतुल्य अशुभ होता है ॥ १०५ ॥ जो आलसी ज्ञान गुण धर्मादि की प्राप्ति अनुभूति के लिये=बुद्धि की वृद्धि के लिये, सुन्दर देशों में नहीं विचरता है, न विद्वानों की सेवा भक्ति आदि बुद्धि की वृद्धि के साधनों को करता है, उसकी दैवाधीन प्राप्त बुद्धि भी जलगत घृतबिन्दु के समान प्रतिदिन संकुचित होती है ॥ १०६ ॥ अतः उचित है कि विहित शुभ कर्मों को करता ही हुआ "शतायु वैं पुरुष" इस शास्त्र वर्णित सौ वर्ष तक मनुष्य सम्बन्धी जीवन की आशा करे, पशु आदि तुल्य अकर्मण्य भोग प्रमादादि परायण जीवन की आशा नहीं करे। पशु आदि योनि भोग के स्थान हैं, कर्म के नहीं, इससे उन्हें भोग परायण रहते भी उनके स्वाभाविक कर्म उन में लिप्त नहीं होते हैं, और मनुष्य कर्मादि के अधिकारी हैं, इससे विहित शुभ कर्म नहीं करने पर भी स्वाभाविक राजस तामसादि कर्म होते ही हैं। इसी से गीता का वचन है कि "न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः । [अ० १८।११] इत्यादि । देहाभिमानी अज्ञ मनुष्य सब कर्मों को त्याग नहीं सकता है, इस लिये सुकर्म करते ही निष्काम कर्मफलेच्छा रहित रूप से जीवन बितानेपर ही तुम नरत्व के अभिमानी में कर्म लिप्त नहीं होगे, क्योंकि विहित में लगे रहने से अविहित का अवसर ही नहीं रहेगा, शुभ कर्म से शुभ वासनादि द्वारा अशुभ से घृणापूर्वक सर्वथा निवृत्ति होगी, प्रबल वासना होने से पूर्व की अशुभवासना नष्ट होगी, शुद्धान्तःकरण में ज्ञान होने पर ज्ञानाग्नि से कर्मवन का नाश होगा, इससे यद्यपि

प्रारब्धप्राबल्यम्—

येन यत्रैव भोक्तव्यं सुखं वा दुःखमेव वा । स तत्र बद्ध्वा रज्ज्वेव बलाद्दैवेन नीयते ॥१०८॥

पद्मपु० भूमिखं० अ० ८१।५३॥

अचोद्यमानानि च यथा पुष्पाणि च फलानि च । स्वं कालं नातिवर्त्तन्ते तथा कर्म पुराकृतम् ॥१०९॥

महाभा० शां० प० अ० १८१।१२ ॥

अचेष्टमपि चासीनं श्रीः कञ्चिदुपतिष्ठति । कश्चित्कर्माणि कुर्वन् हि न प्राप्यमधिगच्छति ॥११०॥

उपर्युपरि लोकस्य सर्वो गन्तुं समीहते । यतते च यथाशक्ति न च तद्वर्त्तते तथा ॥१११॥

महाभा० शां० अ० १३१।१३-३८॥

सन्ति पुत्राः सुबहवो दरिद्राणामनिच्छताम् । नास्ति पुत्रः समृद्धानां विचित्रं विधिचेष्टितम् ॥११२॥

दृश्यते हि युवैवेह विनश्यन् वसुमान्नरः । दरिद्रश्च परिक्लिष्टः शतवर्षो जरान्वितः ॥११३॥

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते । काष्ठान्यपि हि जीर्यन्ते दरिद्राणां च सर्वशः ॥११४॥

महाभा० शां० प० अ० २८।२४-२७-२९॥

नालं सुखाय सुहृदो नालं दुःखाय शत्रवः । न च प्रजाऽलमर्थानां न सुखानामलं धनम् ॥११५॥

शास्त्र कहता है कि "कर्मणा बध्यते जन्तु र्विद्यया तु विमुच्यते" कर्म से जीव बँधता है, और ज्ञान से मुक्त होता है, तथापि वह विद्या जिस कर्म से प्राप्त होती है, उससे अन्य स्वाभाविक सकाम कर्मों में उस शास्त्र का तात्पर्य है, इसलिये इस निष्काम कर्मपूर्वक जीवन से अन्यथा (अन्य प्रकार का) कोई उपाय नहीं है कि जिससे तुम में कर्म लिप्त नहीं हो। पशु को अपनी पशुता हित है, मनुष्य को तो मनुष्यता ही हित है, वह मनुष्यता विवेक विचार सत्सङ्गादि द्वारा अपने कर्तव्यों का जीवन भर पालनरूप ही है ॥ १०७ ॥ जिस जीव को प्रारब्ध कर्म के फल सुख वा दुःख जिन योनि कुल स्थानादि में अवश्य भोगना है, उस जीव को वह दैव ही बल से मानों रस्सी बाँध कर वहाँ ले जाता है, योनि आदि में प्राप्ति काल में यदि पुरुषार्थ जीव कर सकता, तो कुरूप कुयोनि आदि में कोई जीव नहीं जाता ॥ १०८ ॥ जैसे किसी से अप्रेरित भी पुष्पफल अपने समय का उल्लंघन नहीं करते हैं ऋतु के अनुसार प्रकटादि होते हैं, वैसे ही प्रथम किये गये कर्म प्रारब्धरूप होकर अपने समय को नहीं त्यागते हैं, समय पर अवश्य फल देते हैं ॥ १०९ ॥ प्रारब्ध के ही बल से किसी चेष्टा रहित बैठे हुए को लक्ष्मी प्राप्त होती है, कोई कर्मों को करता, ही रहता है, परन्तु जो वस्तु चाहता है उसको नहीं पाता है ॥ ११० ॥ सब मनुष्य अन्य लोक के ऊपर २ जाने के लिये बहुत इच्छा चेष्टा यत्न शक्ति के अनुसार करते हैं, परन्तु तिससे वैसा कभी होता नहीं ॥ १११ ॥ पुत्र की इच्छारहित दरिद्रों के भी पुत्र बहुत हैं, जिनके पालनादि में वह दुःख भोग रहे हैं, धनिकों को एक पुत्र भी नहीं है, इससे वह भी दुःखी है, यह विचित्र विधि (प्रारब्ध) की ही चेष्टा है ॥ ११२ ॥ धनवान् युवा ही मनुष्य यहाँ मरते हुए दीखते हैं, और अत्यन्त क्लेश युक्त दरिद्र जरावस्थायुक्त सौ वर्ष जीने वाला दीखता है ॥ ११३ ॥ प्रायः लक्ष्मी वालों को लोक में भोग्य भोगने की शक्ति नहीं रहती है, और दरिद्रों को काठ तुल्य क्रूर रुक्ष अन्न भी सभी पच जाते हैं ॥ ११४ ॥ सुहृद् लोग सुख के लिये अलं = पर्याप्त = समर्थ नहीं हैं, न शत्रु दुःख के लिये समर्थ हैं, न प्रजा अर्थों का पूर्ण कारण है, न धन सुखों का हेतु है ॥ ११५ ॥

बुद्धिमन्तं च शूरं च मूढं भीरुं जडं कविम् । दुर्बलं बलवन्तं च भागिनं भजते सुखम् ॥११६॥
महाभा० शां० प० अ० १७४।२६-३१॥

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं, सर्वो जनः सुजनतामुपयाति तस्य ।
कृत्स्ना च भू र्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा, यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य ॥११७॥ भर्तृह० नीतिश० ॥
कर्मणा बाध्यते बुद्धि र्न बुद्ध्या कर्म बाध्यते । सुबुद्धिरपि यद्रामो हैमं हरिणमन्वगात् ॥११८॥
यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति, यच्चेतसापि न कृतं तदिहाभ्युपैति ।
प्रातर्भवामि वसुधाधिपचक्रवर्त्ती, सोऽहं व्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी ॥ ११९ ॥
विपत्तौ किं विषादेन सम्पत्तौ हर्षणेन किम् । भवितव्यं भवत्येव कर्मणामीदृशी गतिः ॥१२०॥
अवश्यं भाविभावानां प्रतिकारो भवेद् यदि । तदा दुःखै र्न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः ॥१२१॥
अवश्यं भाविनो भावा भवन्ति महतामपि । नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाहिशयनं हरेः ॥१२२॥
रात्रि र्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं, भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः ।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे, हा मूलतः कमलिनीं गज उज्जहार ॥१२३॥
स एवाहं पार्थस्तदपि वरलब्धं धनुरिदं, त एवामी बाणाः प्रमथितसुरारातिपृतनाः ।
इमास्ता वृष्णीनां हरिबलमुखानां युवतयो, ह्रियन्ते गोपालै र्विधिरतिबलीयान्न पुरुषः ॥१२४॥

क्योंकि बुद्धिमान् , शूर, मूढ़, भीरु, जड़ = अज्ञ, कवि = विद्वान्, दुर्बल, बलवान् जो भी भाग्यवान् होता है, उसको सुख सेवता (मिलता) है ॥ ११६ ॥ जिस मनुष्य के पूर्व के बहुत पुण्य हैं, उसको भयानक वन भी प्रधान (-मुख्य) पुर हो जाता है, सब जन उसके सौजन्य को प्राप्त होते हैं, सम्पूर्ण भूमि उसके लिये श्रेष्ठनिधि और रत्न से पूर्ण होती है ॥ ११७ ॥ कर्म से बुद्धि बाधित अभिभूत होती है, और बुद्धि से कर्म नहीं बाधित होते हैं, जिससे बुद्धिमान् रामचन्द्र भी कर्म जन्य बुद्धि की बाधा से सुवर्ण के हरिण के पीछे लगे ॥ ११८ ॥ रामचन्द्र जी का कथन है कि यहाँ जिस राज्यादि का चिन्तन किया था सो दूर जा रहा है, और जिसका कभी मन से चिन्तन भी नहीं किया था, सोई यहाँ प्राप्त हो रहा है, क्यों कि जो समझा था कि प्रातःकाल में पृथिवी पति चक्रवर्त्ती होऊँगा सो मैं जटायुक्त तपस्वी होकर वन में जा रहा हूँ ॥ ११९ ॥ विपत्ति में विषाद = शोक से और सम्पत्ति में हर्ष से क्या फल है ? भवितव्य होता ही है, कर्मों की ऐसी गति है ॥ १२० ॥ अवश्य होने वाली घटनाओं का यदि प्रतिकार हो सके तो नल, राम, और युधिष्ठिर दुःखों से व्याकुल नहीं होते ॥ १२१ ॥ जरूर होने वाली बात बड़े लोगों की भी होकर ही रहती है जैसे शङ्कर जी का नग्न रहना और विष्णु भगवान् का सर्पों के ऊपर शयन करना ॥ १२२ ॥ सन्ध्या के समय कमल के कोश (संपुट) में द्विरेफ = भ्रमर बँध गया और सोचने लगा कि रात्रि बीतेगी, सुन्दर प्रातःकाल होगा, सूर्योदय होगा, तब पंकज = कमल की श्री हँसेगी, कमल विकसित होगा, फिर मैं निर्बन्ध होऊँगा, इस प्रकार वह भ्रमर चिन्ता कर ही रहा था कि हाथी ने उस कमलिनी को जड़ से उखाड़ लिया, यह कर्म गति है कि कमल को विकसने की आशा नहीं रही ॥ १२३ ॥ अर्जुन का कथन है कि बड़े २ वीरों को जीतने वाला पार्थ (अर्जुन) मैं आज भी वही हूँ, वर द्वारा प्राप्त यह धनुष भी वही है, देव शत्रु की सेना को नष्ट करने वाले बाण भी वे ही हैं, हरि (कृष्ण) बलभद्रादि के प्रभाव वाली वे ही स्त्रियाँ हैं, सो गोपालों से

भाग्यवन्तं प्रसूयेथा मा शूरं मा च पण्डितम् । शूराश्च कृतविद्याश्च वने सीदन्ति पाण्डवाः ॥१२५॥

इत्याद्यभियुक्तोक्तयः ।

याज्ञवल्क्यस्मृतौ, आचाराध्याये राजधर्मप्रकरणे तु—

दैवे पुरुषकारे च कर्मसिद्धि र्व्यवस्थिता । तत्र दैवमभिव्यक्तं पौरुषं पौर्वदेहिकम् ॥१२६॥

उपसंहारः

केचिद्दैवात्स्वभावाद्वा कालात्पुरुषकारतः । संयोगे केचिदिच्छन्ति फलं कुशलबुद्धयः ॥१२७॥

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गति र्भवेत् । एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति ॥१२८॥

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी दैवेन देयमिति का पुरुषा वदन्ति ।

दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥१२९॥

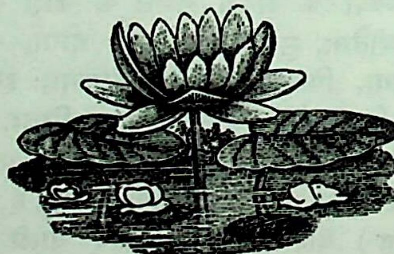
इत्यूनविंशं प्रारब्धपुरुषकारप्रकरणं समाप्तम् ॥

इति श्रीतत्त्वार्थमणिमालायां स्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्रिसंगृहीतायां
सिद्धसाधकसाधननामकं तृतीयं काण्डं समाप्तम् ॥



हरी जा रही हैं, इससे विधि ही (दैव ही) अति बली है, पुरुष नहीं ॥ १२४ ॥ हे माता ! भाग्यवान् जनों को पैदा करना भाग्य रहित शूर वा पण्डित को नहीं, क्योंकि शूर और प्राप्त विद्या वाले भी पाण्डव वन में दुःखी होते हैं ॥ १२५ ॥ प्रारब्ध और पुरुषार्थ (उद्यम) दोनों में कर्मफल की सिद्धि व्यवस्थित है, उन दोनों में पूर्व जन्म का कर्म पुरुषार्थ ही फल के लिये अभिव्यक्त होकर दैव कहलाता है ॥१२६॥ कोई दैव से कोई स्वभाव से कोई काल से कोई पुरुषार्थ से फल की सिद्धि मानते हैं, परन्तु कुशल बुद्धिवाले दैवादि के संयोग (समुच्चय) से फल मानते हैं ॥ १२७ ॥ और जैसे एक चक्र से रथ की गति नहीं होती है, वैसे उद्यम विना दैव नहीं सिद्ध होता है ॥१२८॥ उद्योगी श्रेष्ठ पुरुष को लक्ष्मी स्वयं प्राप्त होती है, भाग्य से मिलेगा ऐसा कायर कहते हैं; अतः भाग्य की परवाह न करके शक्ति अनुसार पुरुषार्थ करो, यत्न करने पर भी यदि कार्य की सिद्धि नहीं हो तो दोष नहीं है ॥ २९ ॥ उन्नीसवाँ प्रारब्धपुरुषकारप्रकरण समाप्त ॥

स्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्रिसंगृहीत तत्त्वार्थमणिमाला में सिद्धसाधकसाधननामक तीसरा काण्ड समाप्त ॥



अथ चतुर्थं दोषदोषिकाण्डम्

तत्र च प्रथमं कामक्रोधप्रकरणम्

काम इच्छादि पर्यायस्तत्र कल्याणकारकः । कश्चिद्धर्मादिविषयः कश्चित्कल्मषकारकः ॥१॥
रिरंसारतिरूपश्च संसारस्यैव कारणम् । क्रोधः सर्वत्र पापात्मा तयोस्त्यागः सुखावहः ॥२॥ तथाहि—
कामेन स्वर्गमाप्नोति कामेन नरकं ततः । विधिना सेवितः कामः स्वर्गदः स्वभ्रमन्यथा ॥३॥
सौरपु० अ० ३१।२३॥
काममूलमिदं जन्म कामः पापस्य कारणम् । यशः क्षयकरः कामस्तस्मात्तं परिवर्जयेत् ॥४॥
क्रोधमूलो मनस्तापः क्रोधः संसारबन्धनम् । धर्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात्तं परिपरिवर्जयेत् ॥५॥
नारदीयपु० अ० ३४॥
परित्यजेदर्थकामौ धर्मपीडाकरौ नृप ! । धर्ममप्यसुखोदर्कं लोकविद्विष्टमेव च ॥६॥
विष्णुपु० अंश० २।११।७॥
काम एष महाशत्रुस्तमेकं निर्जयेद् दृढम् । जितकामा महात्मनस्तै र्जितं निखिलं जगत् ॥७॥
स्कन्दपु० खं० ६। अ० २३८।२१॥
क्रोध एकः परः शत्रुः क्रोध एको विनाशकः । क्रोधाभिभूतः पुरुषस्त्वात्मानमपि घातयेत् ॥८॥
अर्थानर्थौ न जानाति कार्याकार्ये तथैव च । नरः क्रोधसमाविष्टो नान्यं मित्रमपि द्विजान् ॥९॥

चतुर्थ दोषदोषिकाण्ड प्रारम्भ

अथ कामक्रोधः—इच्छा आदि शब्द भी जिसके पर्याय (समानार्थक शब्द) हैं तथा इच्छादि का प्रकार रूप जो काम है, उस काम में कोई शुभकारक है, जो धर्म ज्ञानादि विषयक है, और कोई पापकारक है ॥ १ ॥ स्त्री से रमण की इच्छा स्त्री से रति रूप काम संसार का ही हेतु है और क्रोध सर्वत्र ही पापरूप है, और पाप के और संसार के हेतु काम और क्रोध का त्याग सुख देने वाला है ॥ २ ॥ काम से स्वर्ग और नरक भी पाता है, वहाँ शास्त्रादि विधि से सेवित कामजन्योपभोगादि स्वर्गदायक होता है, विधि विना स्वभ्र (श्वभ्र बिल नरक) देता है ॥ ३ ॥ कामरूप मूल कारण वाला ही यह जन्म है, विधि रहित काम पाप का कारण है तथा यश का नाशक है, अतः उस काम को सर्वथा त्यागे ॥ ४ ॥ क्रोधरूप मूल वाले मन में पाप दुःख शोकादि होते हैं, क्रोध संसार में बन्धन रूप है, धर्म का नाशक है, इसलिये उस क्रोध को त्यागे ॥ ५ ॥ धर्म को पीडा करने वाले (धर्म के विरोधी) अर्थ और काम दोनों को त्यागे, हे नृप ! असुखोदर्क (दुःखरूप भावी फल) वाले परिणाम में दुःख रूप धर्म और लोक से विद्विष्ट (निन्दित) धर्म को भी त्यागे ॥ ६ ॥ यह काम महाशत्रु है, इस एक दृढ शत्रु को अवश्य जीते । जो काम को जीतने वाले महात्मा हैं, उन से सब जगत् जीता गया है, वे मुक्त हैं ॥ ७ ॥ एक क्रोध भारी शत्रु और विनाशक है, क्रोध से पराजित मनुष्य आत्मघात भी करता है ॥८॥ अर्थ अनर्थ कार्य अकार्य को अति क्रोधी विवेक पूर्वक नहीं जानता है, न अन्य वा मित्र या द्विजों को उचित रूप से समझता है ॥९॥

गुरूनाक्षिपति क्रोधान्नैनं हि नमते जनः । अनर्थैः सह संसर्गस्तस्मात् क्रोधं विवर्जयेत् ॥१०॥
क्रोधं मूलमनर्थानां द्वारं हि नरकस्य च । आपदामास्पदं घोरं तं प्रयत्नेन वर्जयेत् ॥११॥
क्रोधेन विजितो यस्तु कथमन्यं स जेष्यति । क्रोधे जिते जितं विद्धि त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥१२॥
यज्ञश्च दानानि तपः पवित्रं तीर्थोपसेवा च तथैव वेदाः ।
क्रोधाभिभूतस्य भवन्ति मिथ्या नरस्य तस्मात्परिवर्जयेत्तम् ॥१३॥ विष्णुधर्मोत्तरपु० अ० २४६॥
कामानुसारी पुरुषः कामादनुविनश्यति । यस्तु केवलकामात्मा सोऽचिराद् भ्रश्यते श्रियः ॥१४॥
क्षयो धर्मार्थयोः कामे ध्रुवं भवति सेविते । कामान्धो न विजानाति कर्तव्यं किञ्चिदेव तु ॥१५॥
परदारे त्वगम्ये वा प्रपातं नावबुध्यते । ध्रुवं प्राणवियोगेऽपि क्रीडामित्येव मन्यते ॥१६॥
यस्तु केवलकामात्मा धमार्थपरिवर्जितम् । काममासेवते नित्यं विज्ञेयः पुरुषाधमः ॥१७॥
धर्मे क्षीणे तथैवार्थे काममासेविते द्विजाः ! । ध्रुवं नरकपातः स्यान्नात्र कार्या विचारणा ॥१८॥
धमार्थयुक्तं पुरुषस्तु कामं संसेवमानो हि न जातु कामैः ।
वियोगमाप्नोति ततस्तु विद्वान् धर्मार्थयुक्तं सततं निषेवेत् ॥१९॥ विष्णुधर्मोत्तरपु० अ० २४१॥
कामं कामयमानस्य यदि कामः प्रसिद्धयति । अथैनमपरः कामो भूयो विद्धयति वाणवत् ॥२०॥
कामानभिलषन्मोहान्न नरः सुखमेधते । श्येनालयतरुच्छायां व्रजन्निव कपिञ्जलः ॥२१॥
पद्मपु० सृष्टिखं० अ० १६।२५७-२५८॥

मनुष्य क्रोध से गुरुजन की भी निन्दा अनादर करता है, इस गुरु को नमस्कार भी नहीं करता है, अतः अनर्थों के साथ जीव को सम्बन्ध होता है, इसलिये क्रोध को सर्वथा त्यागे ॥१०॥ जो क्रोध अनर्थों (सत्-फल=रहित वचन व्यवहार पापों) का मूल कारण, नरक का द्वार, आपत्तियों का आस्पद (प्रतिष्ठा आश्रय) है, उस घोर (भयंकर) क्रोध को प्रयत्न से त्यागे ॥ ११ ॥ जो स्वयं क्रोध से विजित (हारा) है सो अन्य को कैसे जीतेगा ? क्रोध के जीतने पर चराचर सहित तीनों लोक को विजित (पराजित) समझो ॥ १२ ॥ क्रोध से पराजित मनुष्य के यज्ञ, दान, पवित्र तप, तीर्थ सेवन, वेदाध्ययन, ये सब मिथ्या (असत्य-निरर्थक) होते हैं, अतः इस क्रोध को त्यागे ॥ १३ ॥ कामानुसरणशील कामी पुरुष काम के पीछे नष्ट होता है, जो केवल (सर्वथा) कामात्मा है सो शीघ्र श्री से पतित होता है ॥ १४ ॥ विवेक विना काम के सेवित होने पर धर्म और अर्थ का अवश्य ही नाश होता है, क्योंकि कामान्ध मनुष्य कुछ भी कर्तव्य नहीं समझता है ॥ १५ ॥ परस्त्री वा वेश्यादि अगम्य स्त्री पदार्थ प्रपात (पतन के स्थान पापादि) को कामी नहीं समझता है, अवश्य प्राण के वियोग के स्थानादि को भी क्रीड़ा ही मानता है ॥ १६ ॥ जो सिर्फ कामात्मा होकर धर्मार्थ से रहित काम का ही सदा सेवन करता है, वह पुरुषो में अधम (नीच) है ऐसा समझना चाहिये ॥ १७ ॥ हे द्विज ! काम के अतिशय सेवन से धर्म तथा अर्थ के नष्ट होने पर अवश्य ही नरक में पात होता है, इसमें विचार नहीं करना है ॥ १८ ॥ धर्म अर्थ सहित काम को विधि से सेवने वाला पुरुष कभी काम से वियुक्त दुःखी नहीं होता है, इससे विद्वान् धर्मार्थ युक्त काम का विधि से सेवन सदा करे ॥ १९ ॥ मोह से काम=काम्य को चाहने वाले को काम=काम्य प्राप्त भी होता है तो फिर इसको दूसरा काम (इच्छा) वाण के तुल्य पीडित करता है ॥ २० ॥ इससे विवेक के विना मोह से काम्य वस्तु की अभिलाषा (इच्छा) करने

कामक्रोधौ स्थितौ यत्र तत्र दोषास्तदात्मकाः। दुःखानि च समस्तानि संस्थितानि न संशयः ॥२२॥
विशीर्णजन्ममरणं सर्वाशित्वं हविर्भुजः। स्त्रीवधः कामासक्तिश्च सारथ्यं पाण्डवे बले ॥२३॥
रुद्रेण त्रिपुरं दग्धं दक्षयज्ञो विनाशितः। स्कन्दस्य जन्म वै शुक्रात् क्रीडादीनां सहस्रशः ॥२४॥
एवं त्रयोऽपि रागाद्यैर्दोषैर्देवाः समन्विताः। एवमेतज्जगत्सर्वमन्योन्यातिशये स्थितम् ॥२५॥
दुःखैराकुलितं ज्ञात्वा निर्वेदं परमं व्रजेत्। निर्वेदाच्च विरागः स्याद्विरागाज्ज्ञानसम्भवः ॥२६॥

पद्मपु० भूमिखं० अ० ६६।२१७ इत्यादि ॥

योऽयं हिंस्रं सापराधं शपेत् कोपेन धार्मिकः। विनाशः सापराधस्य धर्मो नष्टश्च धर्मिणः ॥२७॥
मधुमत्तः सुरामत्तः काममत्तो विचेतनः। मृत्युं न गणयेत्कामी कामेन हृतमानसः ॥२८॥

ब्रह्मवैवर्त्तपु० कृष्णज० अ० ५६।६-११०॥

भगन्दरसमा योनि मूत्रगन्धविदूषिता। कामिनः स्वर्गसदृशी प्रतिभाति विमोहतः ॥२९॥
पुरुषस्य यथा कामान्नारी भात्यमृतोपमा। नार्या अपि तथा कामात्पुमानमृततां व्रजेत् ॥३०॥
यद्वन्नारी दुःखकरी कामिनः पुरुषस्य हि। नार्या अपि च कामिन्याः पुमान् दुःखकरस्तथा ॥३१॥
ततो दुःखकरः कामो न नारी न नरोऽपि च। एवं विज्ञाय मतिमान् कामं शत्रुमिमं त्यजेत् ॥३२॥
सङ्कल्पाज्जायते कामः सङ्कल्पो गुणबोधनात्। गुणबोधस्य नाशः स्याद्दोषाणामवलोकनात् ॥३३॥

वाला नर सुख नहीं पाता है, जैसे श्येन के गृहरूप वृक्ष की छाया को प्राप्त करने वाला कपिञ्जल नामक पक्षी सुख नहीं पाता है ॥ २१ ॥ जिसमें कामक्रोध वर्तमान हैं, उसमें उस कामादि रूप ही आशा तृष्णा लोभोद्वेगादिदोष और सब दुःख भी वर्तमान हैं, इसमें संशय नहीं ॥ २२ ॥ हवि भोक्ता अग्नि को विशीर्ण विहिंसन) स्वरूप जन्म मरण और सर्वाशित्व=सर्वभक्षित्व प्राप्त है, तथा कृष्णदेव को पूतना ताड़का नामक स्त्री का वध, काम से गोपी में आसक्ति, पाण्डव बल (सेना) में सारथित्व प्राप्त हुआ ॥२३॥ रुद्र ने त्रिपुर को जलाया, दक्ष के यज्ञ को नष्ट कराया, उनके वीर्य से स्कन्द का जन्म हुआ, हजारों क्रीडा हुईं ॥ २४ ॥ इस प्रकार ये तीनों महान् देव भी रागादि दोषों से युक्त हैं, और इसी प्रकार यह सब जगत् परस्पर के अतिशय (न्यूनाधिक भाव) रागद्वेषादि में स्थिर है ॥ २४ ॥ जगत को दुःख से व्याकुल देखकर परम निर्वेद (दुःख=खेद=चिन्ता) को प्राप्त होता है, निर्वेद से विराग होता है, और विराग से ज्ञान होता है ॥ २६ ॥ और यह धर्माचारी क्रोध से अपराधी हिंसक को शाप देता है, तो शाप से अपराधी का विनाश होता है, और धार्मिक का धर्म भी नष्ट होता है, ॥ २७ ॥ मधु (पुष्परस) पान वा सुरापान से मतवाला काम से मतवाला चेतना=बुद्धि रहित कामी काम से नष्ट मानस (मन-विवेक) वाला हो कर मृत्यु को भी नहीं गिनता है ॥ २८ ॥ भगन्दर के तुल्य मूत्र दुर्गन्ध से विदूषित योनि भी कामी को विमोह से स्वर्ग तुल्य प्रतीत होती है ॥ २९ ॥ पुरुष को काम से जैसे नारी अमृत तुल्य भासती है, वैसे ही नारी को भी काम से पुरुष अमृतत्व को प्राप्त हुआ सा प्रतीत होता है ॥ ३० ॥ कामी पुरुष को जैसे नारी दुःख का हेतु है, वैसे कामिनी नारी को भी पुरुष दुःख का हेतु है ॥ ३१ ॥ अतः काम ही दुःख कारक है, नारी वा नर नहीं, बुद्धिमान् इस प्रकार समझ कर इस काम रूप शत्रु को त्यागे ॥ ३२ ॥ संकल्प (यह सुन्दर है कर्तव्य है इस निश्चय) से काम होता है, गुण के ज्ञान से सङ्कल्प होता है, फिर

दोषाणामवलोकेन मोहोऽयं जगदान्ध्यकृत् । अतत्त्वे तत्त्वधीहेतुस्तृष्णाबीजं विनश्यति ॥३४॥
तस्मिन्नष्टे स्वयं कामो निर्मूल इव पादपः । विनश्यति क्षणादस्मिन्नष्टे क्रोधोऽपि नश्यति ॥३५॥
इच्छाविघाते सत्येष क्रोधो द्वेषाभिधो नृणाम् । जायतेऽनिच्छतः केन क्रोध उत्पद्यते पुनः ॥३६॥
विवेकवह्निना दग्धे कामक्रोधे समूलके । संसारे भगवानेष आनन्दात्मा प्रसीदति ॥३७॥
आत्मपु० अ० १ ॥
विपाके दुःखं कामस्य नाधुना सर्वदेहिनाम् । विपाकेऽप्यधुना क्रोधः सर्वदा दुःखदः स्मृतः ॥३८॥
जायते यत्र स क्रोधस्तं दहेदेव सर्वतः । विषयं च क्वचित्क्रोधः सफलो निर्दहेदयम् ॥३९॥
अश्ववारं यथा दुष्टो बाजी गर्त्ते निपातयेत् । एवं क्रोधोऽपि नरके नरमाशु निपातयेत् ॥४०॥
न हि संन्यासतो मुक्ति र्नटानां स कुतो न हि । किन्तु सर्वाभिलाषस्य कोपस्य च विवर्जनात् ॥
सर्वात्मनाऽप्यशक्यत्वे साधुशास्त्रसमाश्रयात् ॥४१॥
कालुष्यं हि यथा हन्यान्नीराणां हि शरच्छनैः । कामक्रोधौ तथा दीप्तौ साधुशास्त्रे हतः शनैः ॥४२॥
आत्मपु० अ० २।१७१। इत्यादि ॥
कामक्रोधौ महाशत्रू देहिनां सहजावुभौ । तौ विहाय परं शत्रुं यो जयेत् स तु मन्दधीः ॥४३॥
कामेन विजितो ब्रह्मा कामेन विजितो हरः । कामेन विजितो विष्णुः शक्रः कामेननिर्जितः ॥
अपरे त्वमराः किन्तु नारीक्रीडामृगा हि ये ॥४४॥
जयन्ति मुनयः केचित्पश्चवाणं कथञ्चन । तदीयं तनयं क्रोधं शक्ता जेतुं न तेऽपि हि ॥४५॥

दोषों को देखने से गुण ज्ञान का नाश होता है, और दोषों के ही अवलोकन ज्ञान विचार से जगत् को अन्धा करने वाला, झूठ में सत्यज्ञान का हेतु, तृष्णा का बीज रूप यह मोह भी विनष्ट होता है ॥ ३३–३४ ॥ उस मोह के नष्ट होने पर निर्मूल वृक्ष के समान काम भी स्वयं क्षणमात्र में नष्ट होता है, इसके नष्ट होने पर क्रोध भी नष्ट होता है ॥ ३५ ॥ क्योंकि काम के ही विघात होने पर द्वेषनामक क्रोध मनुष्यों को काम विघातक पर होता है, इच्छारहित को फिर क्रोध किस हेतु से उत्पन्न होगा ? ॥ ३६ ॥ विवेकाग्नि से मूल सहित काम क्रोध के नष्ट होने पर संसार में आनन्द स्वरूप यह सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होता है ॥ ३७ ॥ काम के फलकाल में सब प्राणी को दुःख होता है, वर्तमान काल में नहीं, और क्रोध तो सदा ही दुःखदायी कहा गया है ॥ ३८ ॥ क्योंकि जिसमें क्रोध होता है, उसको सर्व तरफ से दग्ध करता है, और क्रोध के विषय (जिस पर क्रोध होता है) को तो यह सफल क्रोध कहीं दग्ध करता है, सर्वत्र नहीं ॥ ३९ ॥ जैसे दुष्ट बाजी (अश्व) अश्ववार को गर्त (खड्ढे) में गिराता है, ऐसे ही क्रोध भी मनुष्य को शीघ्र ही नरक में गिराता है ॥ ४० ॥ काम क्रोध के रहते संन्यासाश्रम के वेष से मुक्ति नहीं होती, यदि ऐसा हो तो वेषधारी नटों को मुक्ति क्यों नहीं होगी ? इसी से सब काम क्रोध के त्यागने से मुक्ति मानी गई है ॥ ४१ ॥ जैसे शरदृऋतु जलों के कलुषता (मलिनता) को धीरे से नष्ट करती है, वैसे साधु और शास्त्र धीरे २ दीप्त काम क्रोध को नष्ट करते हैं ॥ ४२ ॥ काम क्रोध दोनों देहधारी के सहज महाशत्रु हैं, इन्हें त्याग कर जो अन्य शत्रुओं को जीतता है, सो मन्द (अल्प) बुद्धि वाला है ॥ ४३ ॥ काम से ब्रह्मा, हर, विष्णु और इन्द्र भी जीते गये हैं, जो स्त्रियों के मानो क्रीडा के लिये मृग रूप ही हैं, ऐसे अन्य देवों की तो बात ही क्या है ? ॥ ४४ ॥ कोई मुनि

क्रोधोऽतो दुर्जयः शत्रु र्बाधते सर्वदा जनान् । सोऽपि येन जितस्तं हि मन्ये वीरवरं मुनिम् ॥४६॥
सर्पाणां च शुनां वा को विशेषो विदुषां भवेत् । अपकारिणि चेत्कोपं कुर्वन्ति ज्ञानिनोऽपि च ॥४७॥
अपकारिणि ये कोपं न कुर्वन्ति महाधियः । उपकारं च कुर्वन्ति विद्वांसस्ते न चेतरे ॥४८॥
अपि कोपः कुतः कार्यो विद्वद्भिरपकारिणि । अपकारो जडे चेत्स्यात्किमायातमिहात्मनः ॥४९॥
अल्पं वा शृणुयाच्छास्त्रं न वा किञ्चिन्नरोत्तमः । द्रुह्येन्नैव च भूतेभ्यो यः स सर्वविदीरितः ॥५०॥
कर्मणा मनसा वाचा भूतद्रोहपरो नरः । न याति सुखमेतैः स इह लोके परत्र वा ॥५१॥
आत्मपु० अ० ४ ॥
कामक्रोधावुभौ ज्ञेयौ संसारस्य च कारणम् । अतन्मयो यदा भूयाज्जीवन्मुक्तस्तदा भवेत् ॥५२॥
अविद्या मन आश्रित्य वर्त्तते जयकाशिनी । मनः कामं समाश्रित्य जयेद् विश्वं चराचरम् ॥५३॥
न सुखं सार्वभौमस्य विद्यते न विडौजसः । ब्रह्मणो न सुखं यत्स्यात्पुंसः कामविवर्जनात् ॥५४॥
अकामस्यात्मविज्ञानमहं ब्रह्मेति जायते । जाते तस्मिन्न निर्याति तस्य लिङ्गं मनो बहिः ॥५५॥
अज्ञाननाशतः कामो मूलाभावाद् विनश्यति । कामनाशाज्जगद् वृक्षो निर्बीजो न भविष्यति ॥५६॥
कामानां हृदये वासः संसार इति कीर्त्तितः । तेषां सर्वात्मना नाशो मोक्ष उक्तो मनीषिभिः ॥५७॥

काम को किसी प्रकार जीतते हैं, वे भी उस काम के पुत्र क्रोध को जीतने के लिये समर्थ नहीं होते हैं॥४५॥ इससे क्रोध दुःख से जीतने के योग्य शत्रु है, सो जनों को सदा पीड़ित करता है, वह क्रोध जिससे जीता गया है, उस मुनि को वीरवर मानता हूँ ॥४६॥ यदि ज्ञानी लोग भी अपकारी पर क्रोध करें, तो सर्प कुत्ता और ज्ञानी में भेद ही क्या होगा ? ॥४७॥ जो महाबुद्धिवाले अपकारी पर भी क्रोध नहीं करते हैं, किन्तु उसका भी उपकार करते हैं उपदेश देते हैं, वे ही विद्वान् हैं अन्य नहीं ॥ ४८ ॥ और विद्वानों को अपकारी पर क्रोध कर्तव्य भी कैसे हो सकता है ? यदि जड़ देह में अपकार होता है, तो इससे आत्मा को क्या दुःख प्राप्त होता है ? ॥४९॥ जो नरोत्तम शास्त्र का अल्प श्रवण करे या कुछ भी नहीं सुने परन्तु प्राणियों से द्रोह उनकी हिंसादि नहीं करे, वही सर्वज्ञ कहा गया है ॥५०॥ कर्म मन और वचन से प्राणियों के द्रोह हिंसादि परायण मनुष्य इन कर्मादिकों से इस लोक वा परलोक में सुख नहीं पाता है, न वह प्राणियों से सुखपूर्वक वृद्धि पाता है ॥ ५१ ॥ काम क्रोध दोनों को संसार जन्मादि का कारण समझना चाहिये, जब अतन्मय (कामादिमयतारहित) होगा तब जीवन्मुक्त होगा (होता) है ॥ ५२ ॥ विपरीत ज्ञानादि रूप अविद्या मन को आश्रयण करके विजयशालिनी रहती है, और काम को आश्रयण करके मन चराचर को जीतता है ॥ ५३ ॥ चक्रवर्त्ती राजा इन्द्र ब्रह्मा को जो सुख नहीं है, सो सुख काम को त्यागने से होता है ॥ ५४ ॥ कामरहित विवेकी को गुरु आदि द्वारा "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार का आत्मविज्ञान होता है, और उस ज्ञान के होने पर "न तस्यप्राणा उत्क्रामन्ति" इस श्रुति के अनुसार उस ज्ञानी का लिङ्ग (सूक्ष्मदेह) रूप मन बाहर नहीं जाता है ॥ ५५ ॥ अज्ञान के नाश से मूल के अभाव हो जाने से काम नष्ट हो जाता है, फिर काम के नाश से बीजरहित संसार वृक्ष=जन्मादि नहीं हो सकता है ॥५६॥ कामों का हृदय में बसना ही विद्वानों के द्वारा संसार कहा गया है, कामों का सर्वथा नाश

ब्रह्मज्ञानं विना नायं कामो नश्यति सर्वथा । जीवतश्चेदिदं जातं सति देहे विमुक्तिभाक् ॥५८॥

आत्मपु० अ० ६॥

सर्वस्य जगतो हेतू पुण्यपापे समीरिते । यद्यपीह परो हेतुः काम एव तयोरपि ॥५९॥
निष्फलं कर्म सर्वं स्यान्न चेत्कामपुरःसरम् । अपराधलघुत्वं च दृष्टं पुंसोऽप्यकामतः ॥६०॥
कामो गर्द्धोऽभिलाषश्च तृष्णेत्येकार्थवाचकाः । आसङ्गपूर्वकः कामो नासङ्गविरहादसौ ॥६१॥
पुंसो या विषयाऽऽदित्सा स काम इति भण्यते । तद्गुणस्मरणाभ्यासादिच्छा पुंसो विवर्द्धते ॥६२॥

बृहदारण्यकवार्ति० अ० ४।४॥

यः समुत्पतितं क्रोधं क्षमयैव निरस्यति । यथोरगस्त्वचं जीर्णां स वै पुरुष उच्यते ॥६३॥
धन्याः खलु महात्मानो ये बुद्ध्या कोपमुत्थितम् । निरुन्धन्ति महात्मानो दीप्तमग्निमिवाम्भसा ॥६४॥

वाल्मिकीयरा० सुन्दरकां० स० ५५॥

अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं रोषमयं धिया पुरः ।
अविभिद्य निशा कृतं तमः प्रभया नांशुमताऽप्युदीयते ॥ ६५ ॥ वा० किष्किन्धाकां० स० २।३६॥
काम एव यमः साक्षात्कान्ता वैतरणी नदी । विवेकिनां मुमुक्षूणां निलयं तु यमालयः ॥६६॥
यमस्य कामस्य च तारतम्यं विचार्यमाणे महदस्ति लोके ।
हितं करोत्यस्य यमोऽप्रियः सन् कामस्त्वनर्थं कुरुते प्रियः सन् ॥ ६७ ॥
यमोऽसतामेव करोत्यनर्थं सतां तु सौख्यं कुरुते हितः सन् ।

मोक्ष कहा गया है ॥ ५७ ॥ ब्रह्म ज्ञान के बिना यह काम सर्वथा नष्ट नहीं होता हैं, जीते ही को यदि यह ज्ञान हुआ तो वह मोक्षभागी है ॥ ५८ ॥ यद्यपि सब जगत् के कारण पुण्यपाप (धर्माधर्म) कहे गये हैं, तो भी यहाँ उन दोनों का परम हेतु काम ही है ॥ ५९ ॥ यदि काम = रागद्वेष पूर्वक नहीं हो, तो सब कर्म निष्फल होते हैं, इच्छा बिना पुरुष के अपराध की लघुता लोक में देखी गई है ॥ ६० ॥ काम, गर्द्ध, अभिलाषा, तृष्णा, ये सब शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं, वह काम आसङ्ग=आसक्ति पूर्वक होता है, इसीसे "सङ्गात्संजायते कामः" संग से काम होता है, यह गीता का कथन है, आसङ्ग के अभाव से वह काम नहीं होता है ॥ ६१ ॥ पुरुष को जो विषय ग्रहण की इच्छा होती है सो काम कहलाता है, उन विषयों के गुणों के स्मरण के अभ्यास से वह काम अतिशय बढ़ता है ॥ ६२ ॥ उस काम के विघात से उत्पन्न क्रोध अग्नि को जो क्षमा जल से ऐसे शान्त करता है = त्यागता है, जैसे सर्प जीर्ण त्वक् को त्यागता है, सोई पुरुष कहलाता है ॥ ६३ ॥ वे महात्मा धन्य हैं जो कि उत्पन्न क्रोध को बुद्धि से इस प्रकार रोकते हैं कि जैसे दीप्त अग्नि को जल से शान्त किया जाता है ॥ ६४ ॥ उदय (उन्नति) चाहने वाले को प्रथम क्रोध-मयतिमिर = अन्धकार को बुद्धि से हटाना चाहिये, क्योंकि सूर्य भी रात्रि से सिद्ध तम (तिमिर) को प्रभा द्वारा विभेदन = नाश किये बिना नहीं उदय पाते है ॥ ६५ ॥ काम ही साक्षात् (प्रत्यक्ष) यम है, कान्ता = कामिनी स्त्री वैतरणी नामक नदी है, जिस को अवश्य तरना है, विवेकी मुमुक्षु के निलय (अस्त के स्थान तुल्य गृह) यमालय है ॥ ६६ ॥ विचार के विषय लोक में यम और काम का बहुत तारतम्य (न्यूनाधिकभाव) है, अप्रिय होता हुआ भी यम पाप भोगाकर इस जीव का हित करता है, और प्रिय होता हुआ भी काम अनर्थ करता है ॥ ६७ ॥ यम असत् पुरुषों का ही अनर्थ करता है, सत्-

कामः सतामेव गतिं निरुन्धन् करोत्यनर्थं ह्यसतां कथा का ॥ ६८ ॥

अवेक्ष्य विषये दोषं बुद्धियुक्तो विचक्षणः । कामपाशेन यो मुक्तः स मुक्तेः पथगोचरः ॥६९॥

सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्र० ॥

ये विरज्यन्ति न स्त्रीषु कामासक्ता विचेतसः । देहोऽन्यथा वरस्त्रीणामन्यथा तैश्च चिन्तितम् ॥७०॥

जन्मभूमिषु ये रक्ता जन्मन्ते जन्तवः पुनः । मुक्तिमार्गात्पुनर्भ्रष्टा जायन्ते पशुयोनिषु ॥७१॥

स्कन्दपु० खं० ७-२।१२।४२-४३॥

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता । काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥७२॥

सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः । व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः ॥७३॥

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् । यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥७४॥

तेषु सम्यग् वर्त्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् । यथा सङ्कल्पितांश्चेह सर्वान् कामान् समश्नुते ॥७५॥

मनु० अ० २।२-५ ॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥७६॥

यश्चैतान् प्राप्नुयात्सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत् । प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते॥७७॥

मनुस्मृ० अ० २।९४-९५॥ महाभा० आदिप० अ० ७५।५०॥

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः । निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७८॥

भगवद्गी० अ० २।७१॥

पुरुषों का तो हित होकर सुख करता है, और काम तो सत्पुरुषों की सद्गति को रोकता हुआ अनर्थ करता है, असत् पुरुषों की तो कथा ही क्या है ? ॥६८॥ जो बुद्धिमान् विद्वान् विषय में दोष देख कर कामबन्धन से मुक्त है, वही मुक्ति मार्ग का गमनकर्ता है ॥ ६९ ॥ जो कामासक्त अविवेकी है, सो वरस्त्री के देह को अन्यथा = मलिन रहते भी उस को शुद्धादि समझता है ॥ ७० ॥ जन्म भूमिरूप स्त्री में जो आसक्त प्रेमयुक्त हैं, वे प्राणी फिर जन्मते हैं, मुक्ति मार्ग से (मनुष्यता से) भी फिर रहित होकर पशुयोनि में जन्मते हैं ॥ ७१ ॥ इसलिये कामात्मता (भोगस्वर्गादिफलाभिलाषिता) कामहेतुक आसक्ति श्रेष्ठ नहीं है, और इस देह संसार में सर्वथा कामराहित्य है नहीं, इससे वेद की प्राप्ति और जो वैदिक कर्मयोग (निष्काम-सत्कर्म) है सो काम्य (वाञ्छनीय) है ॥ ७२ ॥ वह काम संकल्पमूलक है, यज्ञ भी संकल्प जन्य होते हैं, व्रत और अहिंसा सत्य अस्तेयादिरूप यम नामक धर्म तथा अन्य सब कर्म धर्म भी संकल्प जन्य ही कहे गये हैं ॥ ७३ ॥ सर्वथा कामरहित की यहाँ कोई क्रिया नहीं देखी जाती है, जो २ कुछ कर्म किया जाता है, सो सब शुभ अशुभ काम का ही कार्य है ॥ ७४ ॥ उस कर्म में सम्यक् विचार विवेकपूर्वक वर्तमान (अशुभ काम्य कर्म के त्यागपूर्वक शुभ निष्काम फलेच्छा बिना कर्म कर्ता) अमरलोकता (नाशरहित प्रकाश ज्ञान स्वरूप ब्रह्मरूपता) को प्राप्त करता है, और संकल्प के अनुसार इस संसार में सब कामों को भी प्राप्त करता भोगता है ॥ ७५ ॥ इस सम्यक् वर्तमानता इन्द्रिय निरोधादि के बिना काम (काम्य) विषयों के उपभोग से कामियों का काम कभी निवृत्त नहीं होते हैं, किन्तु हविः =घृतादि से अग्नि के समान अधिक बढ़ता ही है ॥ ७६ ॥ जो कोई इन सब विषयों को प्राप्त करे, और कोई केवल इन सब विषयों को त्यागे, तहाँ सब काम्य विषयों की प्राप्ति की अपेक्षा सब का त्याग श्रेष्ठ है ॥ ७७ ॥ क्योंकि जो पुरुष सब काम्य वस्तु और काम को त्याग कर ममता अहंकार रहित होकर

यस्य न स्वदते दृश्यमदृश्यं स्वदते हृदि । स बाह्याभ्यन्तरं शान्तः स वितीर्णो भवार्णवात् ॥७९॥
इच्छोदयो यथा दुःखमिच्छाशान्ति र्यथा सुखम् । तथा न नरके नापि ब्रह्मलोकेऽनुभूयते ॥८०॥
यावती यावती जन्तोरिच्छोदेति यथा यथा । तावती तावती दुःखबीजमुष्टिः प्ररोहति ॥८१॥
यथा यथेच्छा तनुतां याति जन्तो विवेकतः । तथा तथोपशाम्यन्ति दुःखचिन्ता विषूचिकाः ॥८२॥
यतो यतो निरिच्छत्वं मुक्ततैव ततस्ततः । यावद्गति यथाप्राणं हन्यादिच्छां समुत्थिताम् ॥८३॥

योगवासि० प्र० ६–२। स० ३६।१५–२४–२६–२७–४० ॥

कोऽदात् कस्मै अदात् कामो अदात् कामायादात् । कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते ॥८४॥

यजुर्वे० अ० ७।४८ ॥

क इदं कस्म अदात् कामः कामायादात् । कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रं विवेश ।
कामेन त्वा प्रतिगृह्णामि कामैतत्ते ॥८५॥ अथर्ववे० का० ३ सू० ४ अनुवा० ६ ॥

कामो यज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥८६॥
यास्ते शिवास्तनवः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे ।
ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्वान्यत्र पापीरपेशया धियः ॥८७॥ अथर्ववे० कां०६अ०१सू०२।१६–२५॥

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरममृतं युवानम् ॥८८॥ अथर्ववे०कां०१०अ०४सू०८।४४॥

विचरता है, सो ज्ञानी शान्ति पाता है ॥ ७८ ॥ जिस के हृदय में दृश्य वस्तु नहीं रुचती है, अदृश्य आत्मा रुचता है, वह बाहर और भीतर भी शान्त पुरुष संसार सागर से पार पहुँचा है ॥ ७९ ॥ इच्छा के उदय (उत्पत्ति) जैसा दुःख है, वैसा दुःख इच्छारहित को नरक में भी नहीं है इच्छा की शान्ति जैसा सुख है वैसा सुख ब्रह्मलोक में भी नहीं अनुभूत होता है ॥ ८० ॥ जितनी २ जिस प्रकार की इच्छा प्राणियों की उन्नति पाती हैं, उतनी २ दुःख रूप फल के बीजों की मुष्टि जन्मती बढ़ती है ॥ ८१ ॥ और विवेक से जैसे २ इच्छा अल्पता को प्राप्त करती है, तैसे २ दुःख चिन्तारूप विषूचिका =(रोग विशेष निवृत्त) होती है ॥ ८२ ॥ जिस २ से निरिच्छता होती है, उस २ से मुक्तता ही होती है, इस से जितनी गति हो (जब तक विवेकादि की प्राप्ति हो) और यथा प्राण (जैसा धैर्यादि बल) हो उस के अनुसार उत्पन्न इच्छा को नष्ट करे ॥ ८३ ॥ इदं = इस दातव्य को 'क' = प्रजापति ने 'क' = प्रजापति के लिये दिया अतः दाता और प्रतिग्रहीता प्रजापति हैं, तथा काम (कामी परलोकफलाभिलाषी) काम (कामीऐहिकफलाभिलाषी) को दिया, इससे दाता प्रतिग्रहीता दोनों कामात्मक हैं, वह कामदेव समुद्र (विभु स्वरूप) में प्राप्त है, काम से ही तुम दक्षिणा रूप द्रव्य का मैं ग्रहण करता हूँ, इससे हे काम ! यह द्रव्य तेरा है ॥ ८५ ॥ काम प्रथम उत्पन्न हुआ, उसको देव पितर मनुष्य नहीं पाये, हे काम ! इससे तुम ज्येष्ठ =बड़े हो, और विश्वहा=संसार संहारक महान् हो, हे काम ! तिस तेरे प्रति नमस्कार ही करता हूँ ॥ ८६ ॥ हे काम ! जो तेरी शिव (कल्याण) स्वरूप तनु = देह हैं, भद्रा = शुभ स्वरूप हैं, जिनसे सत्य फलप्रद होते हो, जिस सत्य का स्वीकार करते हो, उनके द्वारा तुम मुझ में प्रवेश करो,

इच्छा चिकित्स्यते व्याधि र्न स्वयत्नौषधेन चेत् । तदत्र बलवन्मन्ये विद्यते नौषधान्तरम् ॥८९॥
इच्छोपशमनं कर्त्तुं यदि कृत्स्नं न शक्यते । स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं मार्गस्थो नावसीदति ॥९०॥
दुःखप्रसवशालिन्या बीजमिच्छैव संसृतेः । सम्यग् ज्ञानाग्निदग्धा सा न भूयः परिरोहति ॥९१॥

योगवासि० प्र० ६-२। स० ३६।२६-३०-३२ ॥

इति प्रथमं कामक्रोधप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ लोभः ॥ २ ॥

तृष्णा लोभादिनामा यः स लोकत्रयनाशनः । भक्तौ मुक्तौ सुखे स्वर्गे घोरविघ्नकरः खलः ॥१॥ यतः
मनसा कर्मणा वाचा परस्वादानहेतुतः । प्रपतन्ति नराः सम्यग् लोभोपहतचेतसः ॥२॥
वृथा तीर्थं वृथा दानं वृथाऽध्ययनमेव च । लोभमोहावृतानां वै कृतं तदकृतं भवेत् ॥३॥

देवीभा० स्क० ३।१६।४६-५५ ॥

एको लोभो महान् ग्राहो लोभात्पापं प्रवर्त्तते । लोभात्क्रोधः प्रभवति लोभात्कामः प्रवर्त्तते ॥४॥
लोभान्मोहश्च माया च मानः स्तम्भः परेप्सुता । अविद्याऽप्रज्ञता चैव सर्वं लोभात्प्रवर्त्तते ॥५॥

स्कन्दपु० कौमारिकखं० १-२ अ० ५।६६-१०० ॥

यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः ।
लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम् ॥६॥ भागव० स्क० ११।२३।१६ ॥

और पापयुक्त बुद्धि को अन्यत्र हटाओ ॥ ८७ ॥ काम रहित धीर पुरुष अमृत (मुक्त) और स्वयंभू ब्रह्म = स्वरूप है, रस = ब्रह्मानन्द से तृप्त है, किसी से भी ऊन (छोटा-हीन) नहीं है और उस धीर = सर्वज्ञ-अचल अमृत = नित्य युवा = सर्व सामर्थ्ययुक्त आत्मा को जानने वाला ही मृत्यु से नहीं डरता है ॥ ८८ ॥ अपने विवेकादि रूप यत्न से यदि इच्छा = काम रूप व्याधि को निवृत्ति नहीं करता है, तो बली दूसरा औषध यहाँ नहीं है ॥ ८९ ॥ यदि सर्व इच्छा की निवृत्ति नहीं कर सकता हो, तो अल्प भी निवृत्ति मार्ग में चलना चाहिये क्योंकि सुमार्गस्थ मनुष्य दुःखी नष्ट नहीं होता है ॥ ९० ॥ दुःख की उत्पत्ति से शोभने वाली संसृत्ति की इच्छा ही बीज है, सो सम्यग् ज्ञान रूप अग्नि से दग्ध होने पर फिर नहीं जमती है ॥ ९१ ॥ प्रथम कामक्रोधप्रकरण समाप्त ॥

अथ लोभः—न्याय से उचित धनादि से तृप्ति के बिना अन्याय से अनुचित धनादि की प्राप्ति भोगादि की इच्छा, उत्कट कामरूप तृष्णा लोभादि नाम वाला जो दोष है, सो तीनों लोकों का नाशक और भक्ति मुक्ति सुख और स्वर्ग में भयंकर विघ्नकारक खलरूप है ॥ १ ॥ क्योंकि लोभ से नष्ट चित्त वाले नर, मन, कर्म और वचन द्वारा दूसरे की सम्पत्ति धन के ग्रहण रूप हेतु से अत्यन्त पतित होते हैं, धर्ममर्यादा आदि से रहित होकर नरकादि में जाते हैं ॥ २ ॥ लोभ मोह से आवृत्त पुरुषों के तीर्थादि निष्फल होते हैं, कृत कर्मादि भी अकृततुल्य हो जाते हैं ॥ ३ ॥ अतः एक लोभ महाग्राह रूप है, धर्मादि को निगल जाता है, लोभ से पाप प्रवृत्त होता है, लोभ से क्रोध होता है, काम की प्रवृत्ति होती है ॥ ४ ॥ लोभ से मोह (अविवेक आसक्ति) माया (कपट) मान (अभिमान) स्तम्भ-(जडता-अनम्रता) परधनादि की अत्यन्त इच्छुकता रूप परेप्सुता, विपरीत ज्ञानरूप अविद्या, अप्रज्ञता = अविद्वत्ता ये सब लोभ से प्रवृत्त सिद्ध होते हैं ॥ ५ ॥ यशस्वियों का जो शुद्ध यश और गुणियों के जो स्तुत्य गुण, उन

सप्त द्वीपाधिपतयो नृपा वैन्यगदादयः। अर्थैः कामै र्गता नान्तं तृष्णाया इति शुश्रुम ॥७॥

भागव० स्क० ८।१६।२३ ॥

कामस्यान्तं च क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत्फलोदयात्। जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः॥८॥

असङ्कल्पाज्जयेत्कामं क्रोधं कामविवर्जनात्। अर्थानवेक्षया लोभं भयं तत्त्वविमर्शनात् ॥९॥

भागव० स्क० ७।१५।२०-२२॥

लोभः पापस्य बीजं हि मोहो मूलं च तस्य हि। असत्यं तस्य वै स्कन्धो माया शाखा सुविस्तरा॥१०॥

दम्भकौटिल्यपत्राणि कुबुद्ध्या पुष्पितः सदा। अनृतं तस्य सौगन्ध्यं फलमज्ञानमेव च ॥११॥

छद्मपाषण्डचौर्येर्ष्याः क्रूराः कूटाश्च पापिनः। पक्षिणो मोहवृक्षस्य मायाशाखासमाश्रिताः ॥१२॥

पद्मपु० खं० २।११।१६-१८॥

लुब्धो दोषान्न जानाति लुब्धः पापं न बुध्यते। नरो लोभसमाविष्टो वशमेति तथापदाम् ॥१३॥

जीर्यन्ति जीर्यतः केशा नखा जीर्यन्ति जीर्यतः। जीर्यन्ति जीर्यतो दन्तास्तृष्णाऽस्त्वेका न जीर्यति ॥१४॥

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। नालमेकस्य पर्याप्तमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥१५॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभि र्या न जीर्यति जिर्यतः। योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥१६॥

लुब्धस्य बन्धु र्न सुतो गुरु र्वा लुब्धस्य लोका न च लोकयात्रा।
लुब्धस्य दोषाः सकलाः प्रदिष्टा लोकद्वये दुःखकराः सुरौघाः ॥१७॥ वैष्ण०ध०अ०२४।५ ॥ महाभा० ॥

सब को अत्यन्त अल्प भी लोभ इस प्रकार से नष्ट करता है कि जैसे श्वेत कुष्ठ इष्ट सुन्दर रूप को नष्ट करता है ॥ ६ ॥ सात द्वीप के स्वामी भी वैन्य = पृथु, गदादि नाम वाले राजा अर्थ = द्रव्य और काम उपभोग्य वस्तु से तृष्णा के अन्त को नहीं पाये, यह बात सुने हैं ॥ ७ ॥ क्षुधा (भोजन की इच्छा) और तृषा (पिपासा) से अन्य काम के अन्त को जन प्राप्त करता है, और क्रोध के फल के उदय (प्राप्ति) से क्रोध के अन्त को भी जन पाता है, परन्तु पृथिवी को जीत कर दशदिशाओं के भोगों को भोग कर भी लोभ के अन्त को नहीं पाता है ॥ ८ ॥ इससे असंकल्प (संकल्प-के त्याग से काम को, काम के त्याग से क्रोध को जीते, और अर्थों = पदार्थों के अनवेक्षण = अदर्शन-अचिन्तन से लोभ को तथा तत्त्व = सत्य के विचार स्मरणादि से भय को जीते ॥ ९ ॥ लोभ ही पाप वृक्ष का बीज है, मोह मूल है, असत्य (सत्य का त्याग) स्कन्ध (प्रकाण्डमूलशाखा) है, माया (कपट) सुविस्तार शाखा = डाल है, दम्भ कुटिलता पत्र हैं, कुबुद्धि से पुष्प युक्त है, झूठ वचन उस की सुगन्धता है, अज्ञान (अविवेक) ही फल है, और मोहजन्य इस वृक्ष के माया रूप शाखा के आश्रित छद्म (व्याज-कपट-शठता) पाखण्ड, चोरी, ईर्ष्या, रूप क्रूर कूट (मायामय तुच्छ) पापी पक्षी बसते हैं ॥१०-१२॥ क्योंकि लोभी दोषों को नहीं जानता है, न पाप को समझता है, इससे लोभयुक्त मनुष्य आपत्तियों के वश में पड़ता है ॥ १३ ॥ जीर्ण (वृद्ध जरायुक्त) होते हुए के केश, नख और दन्त जीर्ण हो जाते हैं, परन्तु एक तृष्णा नहीं जीर्ण होती है ॥ १४ ॥ पृथिवी में जो धान यव सुवर्ण पशु स्त्रियाँ हैं, सो सब एक लोभी के लिये पर्याप्त (अच्छी तरह) 'अलं' (पूर्ण-तृप्तिकारक) नहीं है, ऐसा विचार = जान, कर शम को प्राप्त करे ॥ १५ ॥ जो तृष्णा दुर्मति से त्यागी नहीं जा सकती है, जो प्राणान्त तक का रोग है, और जीर्ण की भी जीर्ण नहीं होती है, उस तृष्णा को त्यागने वाले को सुख है ॥ १६ ॥ लोभी के कोई बन्धु आदि नहीं हैं,

लोभान्मोहादनुक्रोशाद् भयाद्वाऽथ बहुश्रुतः। नरः करोत्यकार्याणि परार्थे लोभमोहितः ॥१८॥

ब्रह्मपु० अ० १०८।१०॥

एको लोभो महाग्राहो लोभात्पापं प्रवर्त्तते। अतः पापमधर्मश्च तथा दुःखमनुत्तमम् ॥१९॥

लोभात्क्रोधः प्रभवति लोभात्कामः प्रवर्त्तते। लोभान्मोहश्च माया च मानः स्तम्भः परासुता ॥२०॥

अक्षमा ह्रीपरित्यागः श्रीनाशो धर्मसंक्षयः। अभिध्याऽप्रख्यता चैव सर्वं लोभात्प्रवर्त्तते ॥२१॥

दम्भो द्रोहश्च निन्दा च पैशुन्यं मत्सरस्तथा। भवन्त्येतानि कौरव्य ! लुब्धानामकृतात्मनाम् ॥२२॥

सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्तो बहुश्रुताः। छेत्तारः संशयानां च क्लिश्यन्तीहाल्पबुद्धयः ॥२३॥

महाभा० शान्तिप० अ० १५८। श्रीभीष्मोक्तिः॥

अज्ञानप्रभवो लोभो भूतानां दृश्यते सदा। अस्थिरत्वं च भोगानां दृष्ट्वा ज्ञात्वा निवर्त्तते ॥२४॥

महाभा० शां० प० अ० १६३।२१॥

यथैव शृङ्गं गोः काले वर्द्धमानस्य वर्द्धते। तथैव तृष्णा वित्तेन वर्द्धमानेन वर्द्धते ॥२५॥

म० शां० प० अ० २७६।७॥

तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता। अधर्मबहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी ॥२६॥

महाभा० वनप० अ० २।३५॥

भिन्दती हृदयं पुंसां मायामयविधायिनी। दौर्भाग्यदायिनी दीना तृष्णा कृष्णेव राक्षसी ॥२७॥

सर्वसंसारदोषाणां तृष्णैका दीर्घदुःखदा। अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसङ्कटे ॥२८॥

न लोक हैं, न लोकयात्रा (लोकगति) है, किन्तु उस के सब दोष प्रदिष्ट (कहे गये) हैं, और दोनों लोक में देवसमूह भी उसके दुःखकारक हैं ॥ १७ ॥ अन्य के अर्थ में लोभ से मोहित बहुत श्रवण वाला विद्वान् नर भी लोभ, मोह, अनुक्रोश = दया और भय से अकार्य अकर्तव्य कर्मों को करता है ॥ १८ ॥ एक ही लोभ महाग्राह रूप है, उससे पाप प्रवृत्त होता है, इससे पाप, धर्म का अभाव = नाश होता है तथा सबसे भारी दुःख होता है ॥ १९ ॥ लोभ से क्रोध प्रबल होता है, काम प्रवृत्त होता है, तथा मोह माया अहङ्कार और परासुता (पराधीनप्राणता) ये सब लोभ से होते हैं ॥ २० ॥ क्षमा का अभाव, कुकर्म से लज्जा का त्याग, लक्ष्मी का नाश, धर्म का संक्षय, अभिध्या (चिन्ता) अप्रख्यता (अपकीर्ति) ये सब लोभ से प्रवृत्त होते हैं ॥ २१ ॥ हे कौरव्य ! (युधिष्ठिर !) अकृतात्मा (अशुद्ध = अवशीभूत मन वाले) लोभियों को दम्भ (कपट) द्रोह निन्दा पिशुनता मत्सर ये सब होते हैं ॥ २२ ॥ अति महान् शास्त्रों को धारण करने वाले अन्य के संशयों को नष्ट करने वाले भी अल्प बुद्धि वाले (लोभी सब) यहाँ क्लेश पाते हैं ॥२३॥ अज्ञान जन्य लोभ प्राणी को सदा देखा जाता है, भोगों को अस्थिर विनश्वर मिथ्या देख कर, विवेक वैराग्यादि पूर्वक सत्यात्मा को जान कर लोभ से सर्वथा निवृत्त होता है ॥ २४ ॥ जैसे अपनी अवस्था के समय में बढ़ती हुई गऊ के साथ उसकी सींग भी बढ़ती है, वैसे ही बढ़ते हुए धन के साथ तृष्णा भी बढ़ती ही है ॥ २५ ॥ तृष्णा सब दोषों से पापिष्ठ (अतिपापयुक्त) है, सदा उद्वेग करने वाली कही गई है, अधर्म बहुल वाली भयंकर, पाप का हेतु रूप तृष्णा है ॥ २६ ॥ काली राक्षसी तुल्य तामसी तृष्णा माया और आमय (रोग) को सिद्ध करने वाली दौर्भाग्य को देने वाली दीनतायुक्त होती हुई पुरुषों के हृदय को भेदन करती है ॥ २७ ॥ सब संसार के दोषों में एक तृष्णा ही दीर्घ होती हुई दुःखप्रद

अपि मेरुसमं प्राज्ञमपि शूरमपि स्थिरम् । तृणीकरोति तृष्णैका निमेषेण नरोत्तमम् ॥२९॥
अहो बत महच्चित्रं तृष्णामपि महाधियः । दुश्छेदामपि कृन्तन्ति विवेकेनामलासिना ॥३०॥
योगवासि०प्र० १।१७।१८–३२–५०–४७॥
बलिभि र्मुखमाक्रान्तं पलितैरङ्कितं शिरः । गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥३१॥
भर्तृह० वै० १४॥
तृष्णां चेह परित्यज्य को दरिद्रः क ईश्वरः । तस्याश्च प्रसरो दत्तो दास्यश्च शिरसि स्थितम् ॥३२॥
हितोपदेशमित्रला० १८६॥
लोभः प्रतिष्ठा पापस्य प्रसूतिर्लोभ एव च । अत्र ते संशयो मा भूल्लोभः पापस्य कारणम् ॥३३॥
लोभात् क्रोधः प्रभवति लोभाद् द्रोहः प्रवर्त्तते । लोभान्मोहश्च माया च मानो मत्सर एव च ॥३४॥
नार्थैः पूरयितुं शक्यो लोभो बहुविधैरपि । नित्यं गम्भीरतोयाभिरापगाभिरिवार्णवः ॥३५॥
सर्वभूतेष्वविश्वस्तः सर्वभूतेषु हिंसकः । सर्वभूतेष्वमित्रस्तु लुब्धो भवति भारत ! ॥३६॥
सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्तो बहुश्रुताः । छेत्तारः संशयानां च लोभग्रस्ता व्रजन्त्यधः ॥३७॥
न चास्ति धर्मसम्बन्धो लोभाक्रान्तस्य देहिनः । स एव धर्मविध्वंसी लोभः परमदारुणः ॥३८॥
इति द्वितीयलोभप्रकरणं समाप्तम् ॥ इतिहाससमुच० अ० ११॥

है, जो कि अन्तःपुर (राजा के स्त्री गृह) में स्थिर को संकट में संयुक्त कराती है ॥ २८ ॥ एक तृष्णा ही मेरु पर्वत तुल्य भी गम्भीर विद्वान् और स्थिर विद्वान् तथा शूर को नरोत्तम को भी क्षण मात्र में तृण तुल्य करती है ॥ २९ ॥ आश्चर्य और हर्ष की विचित्र बात यह है कि ऐसी दुःख से छेदन योग्य तृष्णा को भी महाबुद्धि वाले ज्ञानी विवेकरूप निर्मल तलवार से छेदन करते हैं ॥ ३० ॥ विवेकादि के बिना तो जिनके मुख बलि (शिथिल चर्म) से वृद्धता कर के युक्त हो गये, और पलित (श्वेत केश) से शिर चिह्नित हो गया अवयव देह के शिथिल होते हैं, परन्तु एक तृष्णा तरुणी होती जाती है ॥ ३१ ॥ तृष्णा को त्याग कर स्थिर कौन दरिद्र है ? और कौन ईश्वर=धनी है ? तृष्णारहित में ये भेद नहीं हैं, और उस तृष्णा को यदि प्रसर (मार्ग) दिया गया, यदि तृष्णा का विसर्पण (प्रवेश-गति) हृदय में हुआ, तो दासता शिर पर स्थिर हुई ॥ ३२ ॥ लोभ पाप का आश्रय और प्रसूति (प्रसव) रूप है, इस में तुझे संशय न हो, लोभ पाप का कारण है ॥ ३३ ॥ लोभ से पाप रूप ही क्रोधादि होते हैं, और वह लोभ बहुत प्रकार के अर्थों से भी कभी पूर्ण करने के शक्य (शक्ति का विषय) इस प्रकार नहीं है, कि जैसे सदा ही गंभीर जल वाली नदियों से पूर्ण करने के शक्य समुद्र नहीं हैं ॥ ३४–३५ ॥ हे भारत ! लोभ की अपूर्णता आदि से ही लोभी अपने ही समान सब प्राणियों को जान कर सब में विश्वास रहित, सब में हिंसकता के भाव वाला सब में मित्रतारहित लोभी रहता है ॥ ३६ ॥ इससे अत्यन्त महान् शास्त्रों को अपनी बुद्धि में धारण (ज्ञान ग्रहण स्मृति) करने वाले अन्य के संशयों के छेदक बहुत श्रवण वाले भी लोभ से ग्रस्त होने पर अधः पतित होते हैं ॥ ३७ ॥ क्योंकि लोभाक्रान्त (लोभ से पराजित) यदि कोई धार्मिक व्यवहार करते भी हैं, तो उनको धर्म से सम्बन्ध नहीं है न होता है, क्योंकि वह लोभ ही परमदारुण (अति भयानक) और धर्म को विध्वंस करने वाला है। "लोभे जान गमाइया, पापे खाया पून" यह कबीर साहब का कथन है कि लोभ से व्यर्थ जीवन जाता है, और लोभ जन्य पाप पुण्य को नष्ट करता है इत्यादि ॥ ३८ ॥ दूसरा लोभप्रकरण समाप्त ॥

अथ मोहो मूढश्च ॥ ३ ॥

विवेकेन विनाऽकार्यं कुर्वन्ति ये त्यजन्ति वा । कर्तव्यं ते नरा मूढा व्यूढा बहुमनोरथैः ॥१॥
सद्वर्त्मनि च नारूढाः कामक्रोधादिसङ्कुलाः । सुगुणैश्च सदा हीना दीनास्ते दुःखभागिनः ॥२॥
ये पुष्णन्ति निजं देहं सर्वभावेन चाहताः । मूढास्ते पापिनो ज्ञेया लोकद्वयबहिष्कृताः ॥३॥
स्कन्दपु० खं० १।३३।३४।४४॥
मनसा कर्मणा वाचा बाधते यः सदा परान् । नित्यं कर्मादिभि र्युक्तो मूढधीः प्रोच्यते तु सः ॥४॥
नारदीयपु० अ० ४।७३॥
कथमेष नरेन्द्राणां मोहो बुद्धिमतामपि । येन केन सधर्माणोऽप्यतिविश्वस्तचेतसः ॥५॥
समुद्रावरणं याति भूमण्डलमथो वशम् । कियदात्मजयस्यैतन्मुक्तिरात्मजये किल ॥६॥
उत्सृज्य पूर्वजा याता यां नादाय गतः पिता । तां माममतिमूढत्वाज्जेतुमिच्छन्ति पार्थिवाः ॥७॥
विष्णुपु० अंश० ४। अ० २४॥
अनेकजन्मसाहस्रीं संसारपदवीं व्रजन् । मोहश्रमं प्रयातोऽसौ वासनारेणुकुण्ठितः ॥८॥
प्रक्षाल्यते यदा सौम्य ! रेणु ज्ञानोष्णवारिणा । तदा संसारपान्थस्य याति मोहश्रमश्शमम् ॥९॥
क्षेत्रज्ञः करणी ज्ञानं करणं तस्य तेन तत् । निष्पाद्य मुक्तिकार्यं वै कृतकृत्यं निवर्त्तते ॥१०॥
विष्णुपु० अंश० ६ अ० ७।१६-२०-६४॥

अथ मोहमूढ—बहुत मनोरथों से व्यूढ (संहत-संगत-अतिदृढ-मिलित) जो मूढ मनुष्य हैं, सो विवेक के विना अकर्तव्य करते हैं, और कर्तव्य को त्यागते हैं, इससे यह मूढ का लक्षण है ॥ १ ॥ और जो सन्मार्ग में स्थिर प्राप्त नहीं होते हैं, काम क्रोधादि से व्याप्त हैं, सुगुण से सदा हीन दीन वे लोग दुःख के भागी हैं ॥ २ ॥ जो सब भाव (तात्पर्य) से आहत (ताड़ित पीड़ित) होकर सब से देह को ही पोषता है, तितिक्षा पूर्वक धर्मादि नहीं करता, वही दोनों लोक से बहिष्कृत पापी मूढ समझा जाता है ॥ ३ ॥ जो सदा कर्मोपासनादि युक्त होता हुआ भी मन कर्म और वचन से अन्य को पीड़ित करता है, सो मूढ़ बुद्धिवाला कहा जाता है ॥ ४ ॥ बुद्धिवाले राजाओं को भी यह मोह कैसा है ? कि जिससे जिस किसी प्राणी के समान धर्म वाले होते हुए भी अत्यन्त विश्वास युक्त चित्त वाले हैं कि समुद्ररूप आवरण वाला भूमिमण्डल अब वश में आ रहा है । और यदि भूमि वश में आ भी जाय, तो आत्मविजय (जितेन्द्रियता मनोवशता) के आगे यह क्या वस्तु है ? क्योंकि आत्मविजय से अवश्य मुक्ति होती है, भूमि विजय से नहीं ॥ ५-६ ॥ और जिस भूमि को त्याग कर राजाओं के पूर्वज गये, तथा पिता भी जिस भूमि को लेकर नहीं गये; तिस मुझ भूमि को राजा सब अतिमूढता से ही जीतना चाहते हैं; यह भूमि का कथन है ॥ ७ ॥ अनेक जन्मों के सहस्रों के समूहरूप इस संसार मार्ग में चलता हुआ, मोहरूप श्रम को प्राप्त वासनारूप रेणु=धूलि से कुण्ठित (व्याप्त-मलिन-अकर्मण्यता युक्त (यह जीवरूप पथिक है ॥ ८ ॥ हे सौम्य ! जब ज्ञान रूप उष्ण जल से वह रेणु धोया जाता है, तब संसार के पथिक का मोह रूप श्रम निवृत्त होता है ॥ ९ ॥ क्षेत्रज्ञ जीवात्मा ज्ञान रूप करण (साधन) वाला है; ज्ञान उसका करण है, उस ज्ञान से उस मुक्ति रूप कार्य को सिद्ध करके कृतकृत्यता पूर्वक निवृत्त होता है ॥ १० ॥

विद्यां कुलं च धर्मं च लज्जां हित्वा भ्रमन्ति ये । धनाद्यर्थे तु ते मूढाः पतन्ति नरके ध्रुवम् ॥११॥
अन्यायव्ययकर्त्ता च अनाथकलहप्रियः । सर्वभक्षी कुचैली च हास्यमिश्रितभाषणः ॥१२॥
उदयास्तमये शायी सदा दन्तमलान्वितः । एकान्तगः पापरति गृहगुह्यप्रकाशकः ॥१३॥
खादन् व्रजन् श्वभिः क्रीडन् वह्निं पादेन संस्पृशन् । चरणौ धूपयन् पुष्पं मस्तके स्थापयन् मुदा ॥१४॥
निन्दन् स्वधर्मान् प्रीतिं च परधर्मेषु धारयन् । पित्रादीनवमन्यन् वै भार्यां सम्भावयन् पुनः ॥१५॥
सहसोच्चै विंजल्पन् सन्नात्मानं सर्वदा स्तुवन् । अजीर्णे भोजनं कुर्वन्नन्यायेन धनार्जनम् ॥१६॥
विश्वासं दुर्जनानां च वृथा देहादिवेष्टनम् । अस्थाने हर्षशोकौ च गुर्वग्रे प्रौढभाषणम् ॥१७॥
शौचादिकं शुचिस्थाने यो वै लोके विराजते । स नरो गर्दभः प्रोक्तो मूढः पापी सुदुःखभाक् ॥१८॥

प्रपञ्चसार० उ० ३।२७ ॥

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः । अर्थांश्चाकर्मणा प्रेप्सु मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥१९॥
अकामान् कामयति यः कामयानान् परित्यजेत् । बलवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहु मूढचेतसम् ॥२०॥
अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते । अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥२१॥
परं क्षिपति दोषेण वर्त्तमानः स्वयं तथा । यश्च क्रुध्यत्यनीशानः स च मूढतमो नरः ॥२२॥

महाभा० उद्योगप० अ० ३३ ॥

विद्या कुलादि को त्याग कर जो धनादि के लिये भ्रमते हैं; वे मूढ नरक में अवश्य गिरते हैं ॥ ११ ॥ अन्याय में व्यय (खर्च) करने वाला, अनाथों के साथ कलह जिसको प्रिय हो, विवेक बिना जो सर्वभक्षी हो, कुवस्त्र वाला मलिन वस्त्रधारी, हास्य के साथ बात करे, उदय अस्त के समय जिसको शयन का स्वभाव हो, सदा दाँत में मल युक्त हो, एकान्त में प्राप्त होकर पाप कर्म में तत्पर हो, घर के गुप्त व्यवहारों का प्रकाशक हो सो पापी मूढ दुःख का भागी कहा गया है ॥ १२–१३ ॥ और खाता हुआ गमन कर्ता, कुत्तों के साथ क्रीडा करता हुआ, पैर से अग्नि को छूता हुआ, अग्नि से पैरों को तपाता हुआ, अपने शिर पर आप ही पुष्प को आनन्द से स्थापित करता हुआ, अपने धर्मों की निन्दा करता हुआ और अन्य के धर्मों में प्रेम करता हुआ, पिता आदि का अनादर करता हुआ, स्त्री की बार २ स्तुति करता हुआ, सहसा (विचार विना) उच्चस्वर से विरुद्ध बात कहता हुआ, अपने आप की सदा स्तुति करता हुआ, भोजन के पचे विना भोजन कर्ता, अन्याय से धन का अर्जन करने वाला, दुर्जनों का विश्वास कर्ता, व्यर्थ ही वस्त्रों से देह को व्यष्टित कर्ता अनुचित हर्ष शोक करता, गुरु के आगे प्रौढ भाषण (प्रवृद्धभाषण) कर्ता ॥ १७ ॥ और गोष्ठ नदी तीरादि पवित्र स्थान में शौचादि (मल मूत्र के त्यागादि) को करता हुआ भी जो लोक में विराजता है; लज्जित नहीं होता है, सो मनुष्य गदहा कहा गया है; वह मूढ़ पापी दुःख भागी होता है ॥ १८ ॥ जो शास्त्रादि के श्रवण से रहित होता हुआ भी समुन्नद्ध (पण्डित मानी-गर्वयुक्त) रहता है, दरिद्र होता हुआ दानादि के लिये बड़े मन वाला रहता है, और अर्थों को अकर्म से पाना चाहता है, सो पण्डितों से मूढ़ कहा जाता है ॥१९॥ अपने को नहीं चाहने वालों को जो चाहता है, चाहने वालों को त्यागता है, बली का अप्रिय करता है, उस को मूढ़चेता कहते हैं ॥ २० ॥ विना बुलावे के कहीं जन-संघ में प्रवेश करता है, बिना पूछे बहुत बोलता है, विश्वास रहित में विश्वास करता है, वह मूढ़ चेता नराधम है ॥ २१ ॥ दोष से अन्य का अनादर करता है और स्वयं भी वैसे ही दोषयुक्त रहता है, और जो असमर्थ

आत्मानमसमाधाय समाधित्सति यः परान् । विषयेष्विन्द्रियवशं मानवाः प्रहसन्ति तान् ॥२३॥

महाभा० शां० प० अ० २६६।२७ ॥

बहिर्भ्रमति यः कश्चित् त्यक्त्वा देहस्थमीश्वरम् । स गृहे पायसं त्यक्त्वा भिक्षामटति दुर्मतिः ॥२४॥

गर्भे व्याधौ श्मशाने च पुराणे जायते मतिः । सैव चेत्सर्वदा तिष्ठेत् को न मुच्येत बन्धनात् ॥२५॥

अपकारिणि चेत्कोपः कोपे कोपः कथं न ते ? । धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसह्य परिपन्थिनि ॥२६॥

रागान्धो हि जनः सर्वो न पश्यति हिताहितम् । रागं तस्मान्न कुर्वीत यदिच्छेदात्मनो हितम् ॥२७॥

बृहस्पतेरुक्तिर्महाभा० ॥

स्वकर्मफलयोगेन प्राप्यदुःखमचेतनः । निमित्तकारणे वैरं करोति कुमतिः किल ॥२८॥

देवीभागव० स्क० ३।२०।४४ ॥

स्वतोऽनानात्मकेऽज्ञानाद्यन्नानात्मसमीक्षणम् । मिथ्याज्ञानमनात्माभं मोह इत्युपदिश्यते ॥२९॥

बृहदारण्यकवार्त्ति० ॥

अवहेलितशास्त्रार्थैरवज्ञातमहाजनैः । कष्टामप्यापदं प्राप्तो न मूढैः समतामियात् ॥३०॥

न व्याधि र्न विषं नापत् तथा नाधिश्च भूतले । खेदाय स्वशरीरस्थं मौर्ख्यमेकं यथा नृणाम् ॥३१॥

योगवासि० प्र० २।१३॥१२-१३ ॥

अनन्तानीह दुःखानि सुखं तृणलवोपमम् । नातः सुखेषु बध्नीयाद् दृष्टिं दुःखानुबन्धिषु ॥३२॥

होता हुआ भी क्रोध करता है, वह अत्यन्त मूढ़ नर है ॥२२॥ विषयों में इन्द्रियों के वशवर्ती अपने को सावधान किये बिना जो अन्य को सावधान करना चाहते हैं, उन को मनुष्य हंसते हैं ॥ २३ ॥ जो कोई दुर्मति देह में स्थित ईश्वर को त्याग कर बाहर ईश्वर की प्राप्ति के लिये भटकता है, सो घर में खीर को छोड़कर बाहर भिक्षा मांगता है ॥ २४ ॥ गर्भादि काल में जो बुद्धि होती है, सोई यदि सदा रहे, तो बन्धन से कौन नहीं मुक्त हो ? मोह से वह मति नष्ट होती है, इस से मुक्ति नहीं होती ॥२५॥ यदि तुझे अपकारक पर क्रोध होता है कि जिससे उसे दूरादि करना चाहते हो तो कोप = क्रोध पर क्रोध करके उसे क्यों नहीं नष्ट करते हो ? कि जो क्रोध हठ करके बलात्कार से धर्मादि का विरोधी शत्रु है ॥२६॥ और राग से अन्ध हुआ मनुष्य भी हित अहित को विवेक पूर्वक नहीं देखता है; इसलिये यदि अपना हित चाहे तो किसी अनात्मा में राग नहीं करे ॥ २७ ॥ राग द्वेषादि के वशवर्ती अचेतन = मूढ़ कुमति प्राणी अपने कर्मफल के सम्बन्ध से दुःख पाकर, दुःख के निमित्त कारण में वैर करता है; जिससे दुःख बढ़ता है, इससे रागादि अवश्य त्याज्य हैं ॥ २८ ॥ स्वतः 'अनानात्मक' (एक अखण्ड सत्यात्मस्वरूप) में जो अज्ञान से नाना (अनेक) स्वरूपता का दर्शन रूप अनात्मभासक मिथ्या (विपरीत) ज्ञान सो मोह कहा जाता है ॥ २९ ॥ शास्त्र के अर्थ को अनादर करने वाले, और महाजन की भी अवज्ञा = अनादर, करने वाले मूढ़ों की समता को कष्टापत्ति को पाकर भी नहीं प्राप्त करना चाहिये ॥ ३० ॥ क्योंकि व्याधि (दैहिक रोग) विष, आपत्ति और आधि = मानस रोग ये सब भूमि में वैसी खेद (दुःख) के लिये नहीं हैं, कि जैसी मनुष्यों को दुःख देने वाली शरीर में स्थिर एक मूर्खता (मोह-मूढ़ता) है, या मूढ़ की समता है ॥ ३१ ॥ इस संसार में दुःख अनन्त हैं, और सुख तो तृण के लव (लेश-अणु) तुल्य है, इसलिये दुःखानुबन्धि (दुःख के सम्बन्धी हेतु) रूप सुखों में दृष्टि (आस्था-यत्न) को नहीं लगाना चाहिये ॥ ३२ ॥

यदनन्तमनायासं तत्पदं सारसिद्धये । साधनीयं प्रयत्नेन पुरुषेण विजानता ॥३३॥

त एव पुरुषार्थस्य भाजनं पुरुषोत्तमाः । अनुत्तमपदालम्बि मनो येषां गतज्वरम् ॥३४॥

सम्भोगाशनमात्रेण राज्यादिषु सुखेषु ये । सन्तुष्टा दुष्टमनसो विद्धि तानन्धदर्दुरान् ॥३५॥

ये शठेषु दुरन्तेषु दुष्कृतारम्भशालिषु । द्विषत्सु मित्ररूपेषु भक्ता वै भोगभूमिषु ॥३६॥

ते यान्ति दुर्गमाद् दुर्गं दुःखाद् दुखं भयाद् भयम् । नरकान्नरकं मूढा मोहमन्थरबुद्धयः ॥३७॥

न स्वप्तव्यं च संसारमायास्विह विजानता । विषमूर्च्छनसम्मोहदायिनीषु विवेकिना ॥३८॥

योगवा० प्र० २।१३।२३-२८-३३॥

प्रादुर्भवन्ति वपुषः कति वा न कीटा यान् यत्नतः खलु तनोरपसारयन्ति ।

मोहः क एष जगतो यदपत्यसंज्ञां तेषां विधाय परिशोषयति स्वदेहम् ॥३९॥ प्रबो०चन्द्रो० अं० ५।२१॥

नामरूपादिना येयमसत्येवावभासते । माया तस्याः परं सौक्ष्म्यं मोहशब्देन भण्यते ॥४०॥

निगीर्णाशेषसंसारं शुद्धं संस्कारसंश्रयम् । अव्याकृतमिति ब्रह्म मोहयोगेन भण्यते ॥४१॥

बृहदा० वार्तिकसार० अ० १।२।१२८-१२९॥

इति तृतीयं मोहमूढप्रकरणं समाप्तम् ॥

सार=परमपुरुषार्थ की सिद्धि के लिये, तत्पद (उस आत्मतत्त्व की प्राप्ति का साधन) रूप जो अन्त युक्त फल रहित होने से अनन्त और सब आयास=परिश्रम खेद, रहित होने से अनायास रूप ब्रह्मात्मज्ञान है, वही प्रयत्न द्वारा विशेषज्ञ पुरुषों से साधनीय है ॥ ३३ ॥ वे ही पुरुषोत्तम परम पुरुषार्थ (मोक्षसुख) के भाजन (पात्र) हैं, कि जिनके मन सर्वश्रेष्ठ पद=वस्तु, के अवलम्ब लेने वाले और सब ज्वर तापचिन्तादि से रहित हैं ॥ ३४ ॥ जो दुष्ट मन वाले सम्यग् भोग और अशन=भोजन, मात्र से राज्यादि रूप सुखसाधनों में ही सन्तुष्ट हैं; उनको कूपगत अन्ध दर्दुर =भेक, ही समझो ॥ ३५ ॥ पापकर्म के आरम्भ के स्वभाव वाले शठ = वञ्चक, दुरन्त (दुश्छेद्य=प्रबल) शत्रुरूप मित्रों में और भोग के स्थानों में जो भक्त=आसक्त हैं, वे मोह से मन्थर (मन्द) बुद्धि वाले मूढ दुर्गम=संकट, से दुर्गम को, दुखः से दुःख को, भय से भय को, नरक से नरक को सदा प्राप्त करते हैं ॥ ३६-३७ ॥ इसलिये विष के समान मूर्छन=वृद्धि, से सम्यग् मोह देने का जिसमें स्वभाव है, उस संसार रूप माया में यहाँ विशेषज्ञ विवेकी को सोना=आसक्त होना, नहीं चाहिये ॥३८॥ देह से क्या कितने ही कीट नहीं प्रकट होते हैं ? कि जिनको लोग यत्न द्वारा देह से हटाते हैं ? जगत् को यह मोह क्या है, कि देह जन्य का अपत्य नाम रख कर उसके लिये अपने देह को सुखाते हैं ॥ ३९ ॥ जो यह माया नाम रूपादि रूप से मिथ्या ही प्रतीत होती है, उसकी अति सूक्ष्मता को मोह शब्द से कहा जाता है ॥ ४० ॥ सब संसार के लय के आधार शुद्ध संस्कार के आश्रय ब्रह्म को ही अव्याकृत कहा जाता है ॥ ४१ ॥ तीसरा मोहमूढप्रकरण समाप्त ॥

अथ मदो (ऽहङ्कारो) मत्तश्च ॥ ४ ॥

अहङ्कारो ह्यनर्थानां कारणं क्वचिदर्थदः । विवेकेन ततः सो वै त्याज्यो धार्यो मुमुक्षुभिः ॥१॥

अहङ्कारोऽभिमानश्च विमोहयति मानसम् । परमार्थो न दृश्येत तन्निराकरणादृते ॥२॥

आदिपु० अ० ४।११॥

मूलं धर्मविनाशस्य प्रथमं यदहङ्कृतिः । मूलं संसारवृक्षस्य यतः प्रोक्तो महात्मभिः ॥३॥

देवीभा० स्क० ४।७।३॥

करोत्यकार्यं पुरुषो मानेनैव तथा ध्रुवम् । मानग्राहगृहीतस्य नास्ति मोक्षः कथञ्चन ॥४॥

कामः क्रोधश्च लोभश्च सर्वजन्तुविनाशकाः । मानग्रस्तं तु पुरुषमाविशन्ति न संशयः ॥५॥

विष्णुधर्मोत्तरपु० खं० २ अ० २४३॥

अहङ्कारात्परं नास्ति लोके किञ्चिद्विनाशनम् । अहङ्कारेण भूपालाः शतशो निधनं गताः ॥६॥

अहङ्कृतास्तथा नष्टा ब्राह्मणाश्च सहस्रशः । मान्यामान्यं न जानन्ति कार्याकार्यं त्वहङ्कृताः ॥७॥

अहङ्कृतस्तथा लोके न विद्यामधिगच्छति । विपन्नकार्यश्च तथा न प्राज्ञान् परिपृच्छति ॥८॥

अहङ्कृतानां नरके प्रदिष्टा गति ध्रुवं लोकविनिन्दितानाम् ।
प्राज्ञेन तस्मात्परिवर्जनीयो दर्पो विनाशैककरः सदैव ॥९॥ विष्णुध० खं० २ अ० २४८॥

विवेकं हन्त्यहङ्कारस्त्वविवेकात्तु जीविनाम् । आपदः सम्भवन्त्येवेत्यहङ्कारं त्यजेत्ततः ॥१०॥

नारदीयपु० अ० ७।३०॥

अथ मद (अहङ्कार) मत्तः—अहङ्कार अनर्थों का कारण है, कहीं अर्थप्रद भी होता है, अतः विवेक पूर्वक मुमुक्षु उसे त्यागे और ग्रहण करे ॥ १ ॥ अहङ्कार (देहादि में अहं बुद्धि) और अभिमान (द्रव्यादि का गर्व) दोनों मन को विमोहित करते हैं, उनके नाश विना परमार्थ=सत्य, नहीं दीखता है ॥ २ ॥ धर्म विनाश का जो प्रथम (आदिस्वरूप प्रधान) मूल कारण है, सोई अहङ्कार है; इस हेतु से महात्माओं ने उस को संसार का मूल कहा है ॥ ३ ॥ अभिमान से ही मनुष्य अवश्य अकर्तव्य कर्म करता है, तथा मान (अभिमान) रूप ग्राह से गृहीत=वशीकृत को किसी प्रकार भी मोक्ष नहीं है ॥ ४ ॥ जो कामादि "त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः" इत्यादि वचनों के अनुसार सब प्राणियों के विनाशक हैं, वे सब अभिमान से ग्रस्त पुरुष में आविष्ट=प्रविष्ट, होते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ५ ॥ अहङ्कार से पर (बडा) विनाशक लोक में अन्य कोई नहीं है, अहङ्कार से ही सैकड़ों भूप मरण पाये ॥ ६ ॥ वैसे ही अहङ्कारी हजारों ब्राह्मण नष्ट हुए, क्योंकि मान्य अमान्य कर्तव्य अकर्तव्य को अहङ्कारी नहीं समझते हैं ॥ ७ ॥ वैसे ही अन्य अहङ्कारी भी लोक में विद्या नहीं पाते हैं. विपन्न=विनष्ट, कार्य वाले होते हुए भी विद्वानों को नहीं पूछते हैं ॥ ८ ॥ लोक से विनिन्दित अहङ्कारियों की अवश्य नरक में गति कही गई है, अतः विनाश के मुख्य कारण रूप दर्प = अहंकार विज्ञ से सदा त्याज्य है ॥ ९ ॥ अहंकार विवेक को नष्ट करता है, और अविवेक से प्राणियों को अवश्य आपत्ति होती हैं, अतः अहंकार को अवश्य त्यागना चाहिये ॥ १० ॥

शान्ता जितारिषड्वर्गा योगेनाप्यनहङ्कृताः। यजन्ति ज्ञानयोगेन ज्ञानरूपिणमव्ययम् ॥११॥

नारदीयपु० अ० ३५।२ ॥

अयमेव च संसारो मम यद् ब्रह्मदेशनम्। देहमन्यं समाप्स्यामि नूनं वासनयाऽनया ॥१२॥

अहं गुरुरयं शिष्य इति मे भेदधीः कुतः? । विना मायामतोऽहं स्यां प्राकृतैः प्राणिभिः समः॥१३॥

अहं ममेति यावत्स्याच्छब्दज्ञानाख्यबन्धनम्। कुतो निःसरणं तावद्देहकारागृहाद् भवेत् ॥१४॥

आत्मपु० अ० ४।६६७। इत्यादि। दध्यङ्ङ्थर्वोक्तिः ॥

अहमित्यभिमानेन यः क्रियासु प्रवर्त्तते। कार्यकारणयुक्तस्तु तदहङ्कारलक्षणम् ॥१५॥

शार्ङ्गधरसंहिता० खं० १.५ ॥

गृहक्षेत्रकलत्रादि दुस्त्यजं सर्वजन्तुभिः। त्यक्त्वापि न त्यजत्येष गर्वपर्वतमद्भुतम् ॥१६॥

दध्योदनं यथा कश्चिद् भारभृन्मस्तकस्थितम्। परित्यज्य वहेद् व्यर्थं पाषाणं हस्तिसन्निभम् ॥१७॥

तथा सुखकरं सर्वं त्यक्त्वा दारादिकं पुमान्। दुःखदं गर्वमत्यन्तं वहत्येष सुदुर्वहम् ॥१८॥

आत्मपु० अ० ६।१५६६-१५७१ ॥

मिथ्येयमिन्द्रजालश्रीः किं मे स्नेहविरागयोः। इत्यन्तरानुसन्धानादहङ्कारो न जायते ॥१९॥

त्रिविधो राघवास्तीह त्वहङ्कारो जगत्त्रये। द्वौ श्रेष्ठावितरस्त्याज्यः शृणु त्वं कथयामि ते ॥२०॥

अहं सर्वमिदं विश्वं परमात्माऽहमच्युतः। नान्यदस्तीति परमा विज्ञेया सा ह्यहङ्कृतिः ॥२१॥

कामादिरूप छः अरिओं के वर्ग=समूह, को योग से जीतने वाला शान्त अहंकाररहित मनुष्य ज्ञानयोग से ज्ञान स्वरूप अव्यय=निर्विकार, को पूजता है ॥११॥ दध्यङ्ङ्थर्वा ऋषि के पास अश्विनी कुमार ज्ञानोपदेश लेने के लिये गये तो उन्होंने उनको कहा कि कुछ दिन तप करके आओ तो आत्मज्ञान के योग्य होगे फिर उपदेश देगें। वे तप के लिये गये, और इतने में इन्द्र आये, वे भी उपदेश मांगने लगे, तो ऋषि ने उन को विराग का उपदेश दिया जिस से इन्द्र क्रुद्ध होकर बोले कि अब से किसी देव को ऐसा उपदेश दोगे तो तेरा गला काट लूंगा। उस समय ऋषि ने विचार किया कि जो ब्रह्म का उपदेश देना है, यह भी मेरा संसार है, इस उपदेश देने की वासना से भी अवश्य अन्य देह पाऊँगा ॥ १२ ॥ मैं गुरु हूँ यह मेरा शिष्य है, इस प्रकार की भेद बुद्धि माया विना कैसे किससे हो सकती है? और इससे मैं प्राकृत=पामर-नीच जन के समान होऊँगा ॥ १३ ॥ जब तक अहं मम इस प्रकार का शब्द और ज्ञान नामक बन्धन रहेगा, तब तक देहरूप कारागृह=जेल से निकलना कैसे होगा? ॥ १४ ॥ देहरूप कार्य इन्द्रियादि रूप करण कारण से युक्त (इन के अभिमानी) जो इन में अहम् इस अभिमान से क्रियाओं में प्रवृत्त होता है, वह प्रवृत्ति ही अहंकार का लक्षण है चिह्न है ॥ १५ ॥ सब प्राणियों से दुःख से त्याज्य गृहादि को त्याग कर भी यह अज्ञ प्राणी अद्भुत गर्वरूप पर्वत = भार को नहीं त्यागता है ॥ १६ ॥ जैसे कोई भार ढोने वाला शिर पर स्थिर दधि भात को त्याग कर हस्ती तुल्य पाषाण को व्यर्थ ढोवे, वैसे ही यह पुरुष सुखकारक स्त्री आदि सब को त्याग कर भी अत्यन्त भारी दुःखदायी गर्व को ढोता है ॥ १७-१८ ॥ यह संसार देहादि इन्द्रजाल की श्री रूप मिथ्या है, इस प्रकार से अन्तःकरण में निरन्तर चिन्तन से अहंकार नहीं होता है ॥ १९ ॥ हे राघव ! तीनों लोक में तीन प्रकार के अहंकार हैं, तिन में दो श्रेष्ठ हैं एक त्यागार्ह है, सो सुनो तुझे कहता हूँ ॥ २० ॥ यह सब विराड्रूप मैं हूँ, आत्मा बिना इस की सत्ता नहीं है, तथा

मोक्षायैषा न बन्धाय जीवन्मुक्तस्य विद्यते । सर्वस्माद् व्यतिरिक्तोऽहं बालाग्रशतकल्पितः ॥२२॥
इति या सम्विदेषाऽसौ द्वितीयाऽहङ्कृतिः शुभा । मोक्षायैषा न बन्धाय जीवन्मुक्तस्य विद्यते ॥२३॥
अहङ्काराभिधा या सा कल्प्यते न तु वास्तवी । पाणिपादादिमात्रोऽयमहमित्येव निश्चयः ॥२४॥
अहङ्कारस्तृतीयोऽसौ लौकिकस्तुच्छ एव सः । वर्ज्य एव दुरात्माऽसौ शत्रुरेव परः स्मृतः ॥२५॥
अहङ्कारदृशावेते पूर्वोक्ते भावयन् यदि । तिष्ठेदुपैति परमं तत्पदं पुरुषोऽनघ ! ॥२६॥
अथ ते अपि सन्त्यज्य सर्वाहं कृतिवर्जितः । सन्तिष्ठेत तथात्युच्चैः पदमेवाधिरोहति ॥२७॥
योगवासिष्ठप्र० ४। स० ३३ ॥
अयं सोऽहमिदं तन्मे इति मज्जति नात्मवान् । अयं सोऽहमिदं तन्मे इति मज्जत्यनात्मवान् ॥२८॥
सर्वमेवाहमेवेति तत्त्वज्ञो नावसीदति । न गृह्णाति पदार्थेषु विभागानर्थभावनम् ॥२९॥
योगवा० प्र० ५।स० ४९॥
प्रागनात्मैव जग्धं सदात्मतामेत्यविद्यया । स्रगालेपनवद्देहं तस्मात्पश्येद् विविक्तधीः ॥३०॥
मन्यसे तावदस्मीति यावदस्मान्न नीयसे । श्वभिः क्रोडीकृते देहे नैवं त्वमभिमंस्यसे ॥३१॥
रिपौ बन्धौ स्वदेहे च समैकात्म्यं प्रपश्यतः । विवेकिनः कुतः कोपः स्वदेहावयवेष्विव ॥३२॥

अविनाशी परमात्मा मैं हूँ, परमात्मा भी अनात्म स्वरूप नहीं है, आत्मभिन्न जगत् नहीं है, इस प्रकार का अहंकार श्रेष्ठ है, यह मोक्ष के लिये है, बन्धन के लिये नहीं, यह अहंकार जीवन्मुक्त का है। मैं सबसे भिन्न हूँ, केश के अग्रभाग के शतभाग (सौ भाग) करने पर जैसी सूक्ष्मता होती है, उस सूक्ष्मता से कथंचित् कल्पित=साधित, परम सूक्ष्म हूँ, निरवयव विभु होता हुआ भी इन्द्रियों का विषय नहीं हूँ, ऐसा जो सुनिश्चय वही शुभ दूसरा अहंकार है, यह मोक्ष के ही लिये जीवन्मुक्त को होता है, यह बन्धन के लिये नहीं है ॥२१–२३॥ जीवन्मुक्त में उक्त ऐसा अहंकार कल्पित है, वस्तुतः वह अहंकार नहीं है, वस्तु स्थिति है और हाथ पैरादि का समूह रूप जो यह देह है सोई मैं हूँ ऐसा जो निश्चय सो लौकिक तृतीय अहङ्कार है, वह तुच्छ है, वह दुरात्मा त्याग योग्य ही है, त्यागे विना वह भारी शत्रु कहा गया है ॥ २४–२५ ॥ हे अनघ ! ये पूर्व वर्णित दो अहङ्काररूप दृष्टि की भावना= वृद्धि, करता हुआ यदि जीव स्थिर होता है, तो उस परम पद को प्राप्त होता है ॥ २६ ॥ फिर सप्तम भूमिका में उन दोनों अहङ्कारों को भी त्याग कर सब अहङ्कार से रहित होकर जो स्थिर होता है, सो उस प्रकार से भी अत्युच्च पद पर स्थिर होता है ॥ २७ ॥ यह या वह देह मैं हूँ, यह वा वह वस्तु मेरी है, इस बुद्धि से आत्मज्ञानी देहादि में आसक्त नहीं होता है, किन्तु अज्ञ ही इस बुद्धि से आसक्त होता है, संसार सागर में डूबता है ॥ २८ ॥ मैं सर्वात्मा हूँ इस प्रकार से तत्त्वज्ञ भी पीड़ित नहीं होता है, जो कि पदार्थों में विभाग=भेद की अनर्थरूप भावना को ग्रहण नहीं करता है, भेदमय भावना अहङ्कार से राग द्वेष द्वारा खेद होता है, अभेद से नहीं ॥ २९ ॥ प्रथम का अनात्मा ही खाया गया (अहङ्कारादि से अपनाया गया हुआ) अविद्या से आत्मत्व को प्राप्त होता है, उससे विविक्त=असङ्ग) बुद्धि वाला माला चन्दनालेपनादि के समान देह को देखे ॥ ३० ॥ जब तक इस देह से पृथक् नहीं प्राप्त किये जाते हो, तब तक देह को मानते हो कि मैं यह हूँ, पीछे कुत्तों से इस देह के क्रोड़=अङ्क में करने पर तो इस प्रकार तुम नहीं मानोगे ॥ ३१ ॥ शत्रु बन्धु और अपने देह में सम एक आत्मा को देखने (प्रत्यक्ष जानने) वाले विवेकी

अहं ममत्वयत्नेच्छा नात्मधर्मा कृशत्ववत् । कर्मत्वेनोपलभ्यत्वादपायित्वाच्च वस्त्रवत् ॥३३॥
नात्मना न तदंशेन गुणः स्वस्थोऽवगम्यते । अभिन्नत्वात्समत्वाच्च निरंशत्वादकर्मतः ॥३४॥
योऽयं स्थाणुः पुमानेष पुंधिया स्थाणुधीरिव । ब्रह्मास्मीति धियाऽशेषामहं बुद्धिं निवर्त्तयेत् ॥३५॥
निवृत्तायामहं बुद्धौ ममधीः प्रविलीयते । अहंबीजा हि सा सिद्ध्येत्तमोऽभावे कुतः फणी॥३६॥
दृश्याः शब्दादयः क्लृप्ता द्रष्टृ च ब्रह्म निर्गुणम् । अहं तदुभयं बिभ्रद् भ्रान्तिमात्मनि यच्छति ॥३७॥

नैष्कर्म्यसि० अ० २।१२-१३-१८-२२-२६ इ० ॥

यदा ना तत्त्वमस्यादे र्ब्रह्मास्मीत्यवगच्छति । प्रध्वस्ताहंममो नैति तदा गिर्मनसोः सृतिम् ॥३८॥
तत्पदं प्रकृतार्थं स्यात्त्वंपदं प्रत्यगात्मनि । नीलोत्पलवदेताभ्यां दुःख्यनात्मत्ववारणे ॥३९॥
समानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता । लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम् ॥४०॥
विशेषं कञ्चिदाश्रित्य यत्स्वरूपं प्रतीयते । प्रत्यभिज्ञाप्रमाणेन परिणामी स देहवत् ॥४१॥
सामान्याच्च विशेषाच्च स्वमहिम्नैव यो भवेत् । व्युत्थायाप्यविकारी स्यात्कुम्भाकाशादिवत्तु नः॥४२॥

को अपने देह के अवयव तुल्य शत्रु में भी क्रोध कैसे हो सकता है ? देहाभिमान रहित ज्ञानी के कामादि विकार निवृत्त हो जाते हैं ॥ ३२ ॥ अहङ्कार, ममता, यत्न, इच्छा भी कृशता के समान आत्मा के धर्म नहीं हैं, और ज्ञान के कर्म (विषय) रूप से उपलभ्य (ज्ञेय) होने से तथा अपायी (विनश्वर) होने से भी अहङ्कार सुख, दुःख, इच्छा द्वेषादि वस्त्रादि के समान अविषय नित्यात्मा के धर्म नहीं हैं ॥ ३३ ॥ आत्मा या आत्मा के अंश से आत्मा में स्थिर गुण ज्ञात नहीं होते हैं, क्योंकि आत्मा भेद रहित निरंश अकर्म स्वरूप है ॥ ३४ ॥ पुरुष में स्थाणु=ठूंठ भ्रम के बाद पुरुष के ज्ञान होने पर, जो यह स्थाणु था सो पुरुष है, इस प्रकार पुरुष के ज्ञान से जैसे स्थाणु के ज्ञानादि की निवृत्ति होती है, वैसे ही मैं सच्चिदानन्द ब्रह्मात्मा हूँ इस ज्ञान से सब अहं बुद्धि को निवृत्त करे ॥ ३५ ॥ देहादि विषय में अहं बुद्धि की निवृत्ति बाध होने पर ममता रूप बुद्धि स्वयं निवृत्त हो जाती है, क्योंकि अहङ्कार रूप बीज वाली ही वह ममता बुद्धि सिद्ध होती है, जैसे मन्द अन्धकार में फणी=सर्प का भ्रम होता है; अन्धकार के अभाव में नहीं होता है, वैसे अहङ्कार के अभाव काल में ममता नहीं होती है ॥ ३६ ॥ दृश्य शब्दादि विषय सिद्ध हैं, द्रष्टा ब्रह्मात्मा निर्गुण वस्तु है, प्रतिबिम्बरूप से उन दोनों को धारण करने वाला अहङ्कार आत्मा में कर्तृत्वादि के भ्रम को सिद्ध करता है ॥ ३७ ॥ जब मनुष्य 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेद वाक्यों से मैं ब्रह्म हूँ ऐसा समझता है, तब अहङ्कार ममता से रहित होकर मन वाणी के मार्ग में भी नहीं आता है ॥ ३८ ॥ 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में तत्पद् प्रकरण प्राप्त ब्रह्म अर्थ वाला है, त्वम् पद अन्तरात्मा अर्थ में है, नीलोत्पल पद के समान इन दोनों पदों से आत्मा में दुःखिता और ब्रह्म में अनात्मता का निवारण होता है ॥३९॥ इस वाक्य में तत् , त्वम् इन दोनों पदों को सामानाधिकरण्य (अभिन्न एकार्थ बोधकत्व रूप एक विभक्तिवत्त्व) रूप सम्बन्ध है, दोनों पदों के अर्थों को नील कमलादि के समान विशेषण और विशेष्यता सम्बन्ध है, और पदों के वाच्यार्थ तथा वाक्य के तात्पर्य के विषय प्रत्यग् (अन्तर) आत्मा को लक्ष्य लक्षणरूप सम्बन्ध है ॥ ४० ॥ किसी सुख दुःखादि विशेष (गुण धर्मादि) का आश्रयण करके प्रत्यभिज्ञा-रूप प्रमाण से जो अर्थ प्रतीत होता है, सो देह के समान परिणाम वाला अनात्मा है ॥ ४१ ॥ अहं सुखी अहं दुःखी इत्यादि ज्ञान का विषय सामान्य (अहङ्कार) और विशेष सुखी आदि से भिन्न

बुद्धे यत्प्रत्यगात्मत्वं तत्स्याद्देहाद्युपाश्रयात्। आत्मनस्तु स्वरूपं तत्तिष्ठतीव महीभृतः ॥४३॥
तदो विशेषणार्थत्वं विशेष्यत्वं त्वमस्तथा। लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तयोः स्यात्प्रत्यगात्मना ॥४४॥
लक्षणं सर्पवद्रज्ज्वाः प्रतीचः स्यादहं तथा। तद्बाधेनैव वाक्यार्थं वेत्ति सोऽपि तदाश्रयात् ॥४५॥
यत्र स्यात्संशयो नासौ ज्ञेय आत्मेति पण्डितैः। न यतः संशयप्राप्तिरात्मनोऽवगतित्वतः ॥४६॥
बोधेऽप्यनुभवो यस्य न कथञ्चन जायते। तं कथं बोधयेच्छास्त्रं लोष्टं नरसमाकृतिम् ॥४७॥

नैष्कर्म्यसि० अ० ३।३-१६-१७-२६ इत्यादि ॥

चिच्छायावेशतो बुद्धौ भानं धीस्तु द्विधा स्थिता। एकाऽहं कृतिरन्या स्यादन्तःकरणरूपिणी ॥४८॥
छायाऽहङ्कारयोरैक्यं तप्तायःपिण्डवन्मतम्। तदहङ्कारतादात्म्याद्देहश्चेतनतामियात् ॥४९॥
अहङ्कारस्य तादात्म्यं चिच्छायादेहसाक्षिभिः। सहजं कर्मजं भ्रान्तिजन्यं च त्रिविधं क्रमात् ॥५०॥
सम्बन्धिनोः सतो नास्ति निवृत्तिः सहजस्य तु। कर्मक्षयात्प्रबोधाच्च निवर्त्तेते क्रमादुभे ॥५१॥
अहङ्कारलये सुप्तौ भवेद्देहोऽप्यचेतनः। अहङ्कृतिविकारोत्थः स्वप्नः सर्वस्तु जागरः ॥५२॥ वाक्यसु० ॥
मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि। किं वदन्तीह सत्येयं या मतिः सा गति र्नृणाम् ॥५३॥

स्वमहिमा = स्वभाव से स्वप्रकाश रूप से स्थिर है, पृथक् रूप से प्रकाशता है, सो घटाकाशादि के समान अविकारी हमारा आत्मा है ॥ ४२ ॥ बुद्धि का जो अन्तरात्मत्व है, सो देहादि की अपेक्षा से है, और आत्मा का स्वाभाविक निरपेक्ष है, जैसे पर्वत की स्वाभाविक स्थिति है ॥ ४३ ॥ तत्पद के अर्थ को विशेषणार्थत्व है, त्वंपदार्थ को विशेष्यार्थता है, उन दोनों को प्रत्यगात्मा के साथ लक्ष्य लक्षणरूप सम्बन्ध होता है ॥ ४४ ॥ अन्तरात्मा का लक्षण अहङ्कारादि इस प्रकार होता है कि जैसे कल्पित सर्प रज्जु का लक्षण होता है, जिससे कहा जाता है कि जो यह सर्प भासता है सो रज्जु है, तहाँ उस सर्प को बाध करके वाक्य के अर्थ को श्रोता समझता है, वैसे ही अहं ब्रह्मास्मि इस प्रकार जानने वाला भी उस अहङ्कार के आश्रय होने से अहङ्कार को बाध कर आत्मा को जानता है ॥ ४५ ॥ जिस में संशय हो, उसे पण्डित आत्मा नहीं जाने; जिससे ज्ञान रूप होने से आत्मा में संशय की प्राप्ति नहीं है ॥ ४६ ॥ जिस को स्वयं प्रकाश आत्मा में भी किसी प्रकार अनुभव नहीं होता है, नर तुल्य आकार वाला उस लोष्ठ = मृतपिण्ड को शास्त्र भी कैसे बोध करायेगा ? ॥ ४७ ॥ बुद्धि में चेतन की छाया के आवेश = प्राप्ति से पदार्थों का भान (ज्ञान) होता है, वह बुद्धि ही दो प्रकार से स्थिर है, एक प्रकार अहङ्कार है, अन्य = दूसरा अन्तः करण = मन रूप है ॥ ४८ ॥ चेतन की छाया = आभास और अहङ्कार की एकता तप्त लोह में लोह और अग्नि की तरह मानी गई है, और उस अहङ्कार के तादात्म्य (अभिन्नता) से देह चेतनता को प्राप्त करती है ॥ ४९ ॥ अहङ्कार का तादात्म्य सम्बन्ध, चेतन की छाया, देह और साक्षी (आत्मा) इन तीनों के साथ रहता है, तहाँ चिच्छाया के साथ सहज = स्वाभाविक, तादात्म्य रहता है, देह के साथ कर्मजन्य रहता है, साक्षी के साथ भ्रमजन्य रहता है। ये क्रम से तीन प्रकार के सम्बन्ध हैं ॥ ५० ॥ सम्बन्धियों के रहते सहज सम्बन्ध की निवृत्ति नहीं होती है, किन्तु कर्म के क्षय और आत्मानुभव से कर्मजन्य और भ्रमजन्य सम्बन्ध की क्रम से निवृत्ति होती है ॥ ५१ ॥ इसी से सुषुप्ति में अहङ्कार के लय होने से देह भी अचेतन हो जाती है, और अहङ्कार रूप विकार से ही उत्थ = जन्य सब स्वप्न तथा सब जाग्रत् होते हैं ॥ ५२ ॥ और सब अभिमान (अहङ्कार) से मुक्त पुरुष

यस्याभिमानो मोक्षेऽपि देहेऽपि ममता तथा । न च ज्ञानी न वा योगी केवलं दुःखभागसौ ॥५४॥

अष्टावक्रगी० ॥

शिवः शक्तियुतः शश्वत्त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः । वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ॥५५॥

ततो विकारा अभवन् षोडशामीषु कश्चन । उपधावन् विभूतीनां सर्वासामश्नुते गतिम् ॥५६॥

हरि र्हि निर्गुणः साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः । स सर्वदृगुपद्रष्टा च तं भजन्निर्गुणो भवेत् ॥५७॥

भागव० स्क० १०।८८।३-५ ॥

अधीयमानः पण्डितंमन्यमानो यो विद्यया हन्ति यशः परेषाम् ।
तस्यान्तवन्तश्च भवन्ति लोका न तस्य तद् ब्रह्म फलं ददाति ॥५८॥
चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि ।
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ॥५९॥
न मान्यमानो मुदमाददीत न सन्तापं प्राप्नुयाच्चावमानात् ।
सन्तः सतः पूजयन्तीह लोके नासाधवः साधुबुद्धिं लभन्ते ॥६०॥ महाभार० ॥

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः । न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥६१॥

संसार बन्धन से मुक्त है, तथा मुक्तत्व का अभिमानी मुक्त है, और बद्धत्व का अभिमानी बद्ध है, इससे जैसी मनुष्यों की मति होती है, तैसी गति होती है, यह किंवदन्ती (जनश्रुति-लोकवाद) भी यहाँ सत्य ही है ॥ ५३ ॥ जिसको मोक्षविषयक भी अभिमान है, तथा देह में भी ममता है, वह न ज्ञानी है, न योगी है, वह केवल दुःखभागी है ॥ ५४ ॥ शक्ति युक्त शिव सदा सत्त्वादिगुणों से संवृत = आवृत होता हुआ सत्त्वादि तीन लिङ्ग वाला होता है, क्योंकि वैकारिक = सात्त्विक, तैजस = राजस, और तामस ये तीन प्रकार के अहङ्कार हैं, सो शिव की उपाधि हैं, ईश्वर के भेदक हैं ॥ ५५ ॥ उस अहङ्कार से मन, दशेन्द्रिय, पाँच भूतरूप षोडश १६ विकार=कार्य हुए, उन अहङ्कार विकारों में से किसी भी उपाधि वाला ब्रह्मा आदि का ध्यान भजनादि करता हुआ मनुष्य सब विभूतियों की गति = मार्ग को प्राप्त करता है, अहङ्कारिक उपासना कर्म से उपाधि आदि के अनुसार फल पाता है ॥ ५६ ॥ गुणों से उपलक्षित निर्गुण हरि प्रकृति = माया से पर = भिन्न साक्षात् = अपरोक्ष सर्वात्मा रूप पुरुष हैं, सो सब का द्रष्टा = प्रकाशक उपद्रष्टा साक्षी है, उस साक्षी रूप को भजता हुआ मनुष्य निर्गुण = मुक्त होता है ॥ ५७ ॥ अध्ययन करता हुआ = वेद को पढ़ता हुआ, अपने को पण्डित मानता हुआ जो पुरुष विद्या द्वारा अन्य के यश को नष्ट करता है, उसके स्वर्गादिलोक अन्त वाले = विनश्वर होते हैं, और उसका वह अधीत = पढ़ा हुआ, ब्रह्म = वेद भी फल नहीं देता है ॥ ५८ ॥ अग्निहोत्र मौन अध्ययन यज्ञ ये चारो कर्म अभय करने वाले हैं, परन्तु अयथा = अविधि कृत होने पर भय देते हैं, अयथाकृत सो हैं कि जो अभिमान से कृत अग्निहोत्रादि हैं ॥ ५९ ॥ इससे किसी से सम्मानित सत्कृत होने पर भी अभिमान जन्य मोद = सुख, को नहीं प्राप्त करे, और अनादर से सन्ताप को भी नहीं प्राप्त करे, समझे कि इस लोक में सन्त सत्पुरुषों की पूजा करते हैं, और असाधु लोग साधुबुद्धि को नहीं पाते हैं ॥ ६० ॥ अभिमानादि-युक्त मनुष्य पुण्य के फल सत्कारादि चाहते हैं, परन्तु पुण्य करना नहीं चाहते हैं, और पाप के फल को

मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः। त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीतः कामी तथैव च ॥
एते धर्मं न जानन्ति नराः संहृतबुद्धयः ॥६२॥

इति चतुर्थं मदमत्तप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ मत्सरो मत्सरी च ॥ ५ ॥

मत्सरोऽन्यशुभे द्वेषस्तद्वांश्च न सुखी भवेत्। शुभं न जायते किञ्चित्तेन पापेन तस्य वै ॥१॥
समस्तदुःखजालानां मात्सर्यं कारणं स्मृतम्। नरकाणां साधनं च तस्मात्तं परिवर्जयेत् ॥२॥
नारदीयपु० अ० ३४।५७ ॥
यः स्वश्रेयोविनाशाय कुर्याद्यत्नं नरो मुने ! । सर्वेषां श्रेयसं दृष्ट्वा स कूर्यान्मत्सरं कुधीः ॥३॥
नारदीयपु० अ० ७।
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेष्वमङ्गलम्। समदृष्टेस्तदा पुंसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥४॥
दृष्टं श्रुतमसद् बुद्ध्वा नानुध्यायेन्न संविशेत्। संसृतिं चात्मनाशं च तत्र विद्वान् स चात्मदृक् ॥५॥
भागव० स्क० ६।१६।१५-२० ॥
अमात्सर्यं बुधाः प्राहु र्दाने धर्मे च संयमः। अवस्थितेन नित्यं च सत्येनामत्सरी भवेत् ॥६॥
इति पञ्चमं मत्सरमत्सरि प्रकरणं समाप्तम् ॥ महाभार० शां० प० अ० १६२॥

नहीं चाहते हैं, परन्तु यत्नपूर्वक अन्य के तिरस्कारहिंसादि रूप पाप करते हैं ॥६१॥ मत्त=अभिमानी, प्रमादी, उन्मादी, श्रान्त, क्रोधी, भूखा, वेग वाला, लोभी, भयभीत, कामी ये सब संहृत=नष्ट, सद्बुद्धिवाले मनुष्य धर्म को नहीं समझते हैं, इससे अभिमानादि निवारणीय हैं ॥ ६२ ॥ चौथा मदमत्तप्रकरण समाप्त ॥

अथ मत्सरमत्सरी—अन्य के शुभ में द्वेष मत्सर कहलाता है, उस मत्सरवाला सुखी नहीं होता है, और उस मत्सर रूप पाप से ही उसको कुछ शुभ नहीं होता है ॥ १ ॥ क्योंकि सब दुःख-जालों=समूहों का कारण मत्सर कहा गया है, और नरकों का साधन=हेतु, कहा गया है, अतः उस मत्सर को त्यागना चाहिये ॥ २ ॥ हे मुने! जो मनुष्य अपने शुभों के विनाश के लिये यत्न करता हो, वही कुबुद्धि वाला सब के शुभ को देखकर मत्सर=द्वेष करे ॥ ३ ॥ जब पुरुष सब प्राणियों में अमङ्गल=अशुभ भावना नहीं करता है, तब उस समदर्शी को सब दिशा सुखमय हो जाती हैं ॥ ४ ॥ दृष्ट=प्रत्यक्ष, लौकिक वस्तु और श्रुत=परोक्ष रूप से ज्ञात, अनात्म वस्तु को असत्=मिथ्या जानकर, उनका ध्यान=चिन्तन नहीं करे, न उन का संवेश=सेवन-संग करे, अर्थात् उनमें आसक्त नहीं हो, किन्तु उनमें जन्मादि रूप संसार को और अपने नाश को जो जानने वाला विद्वान् है, वही विद्वान् और आत्मज्ञानी है ॥ ५ ॥ दान और धर्म में संयम (मन इन्द्रिय के विजय) को विद्वान् लोग अमात्सर्य कहते हैं, और सदा अवस्थित=स्थिर सत्य से मनुष्य अमत्सरी=मत्सर रहित, होता है ॥ ६ ॥ पाँचवाँ मत्सरमत्सरिप्रकरण समाप्त ॥

अथ पाषण्डः ॥ ६ ॥

मूढादपि महाकष्टः पाषण्डो दम्भवान् नरः । ईर्ष्याऽसूयासमायुक्तः खलो मारादिसंयुतः ॥१॥
लिङ्गधर्मविहीना ये लिङ्गमात्रोपजीविनः । पाषण्डास्ते तु विज्ञेयाः सर्वधर्मबहिष्कृताः ॥२॥
सर्वेषां यानि लिङ्गानि सर्वाणि तानि सन्ति वै । येषां धर्मो न चैकोऽपि ते वै पाषण्डधर्मिणः ॥३॥
वेद धर्मविहीना ये सतां मार्गे स्थिता न च । कल्पितै र्वेषमार्गैश्च धर्मैः साधुविनिन्दितैः ॥
वर्त्तन्ते ते भवन्त्येव पाषण्डा लोकनिन्दिताः ॥४॥
कपालभस्मास्थिधरा ये ह्यवैदिकलिङ्गिनः । ऋते वनस्थाश्रमाज्जटावल्कलधारिणः ॥
अवैदिकक्रियोपेतास्ते वै पाषण्डिनः स्मृताः ॥५॥ पद्मपु० खं० ६।२३५।४ ॥
शास्त्राचारव्रतैश्चैव नानाधर्मप्रजल्पनैः । सम्मोह्य वित्तहर्त्तारः पाषण्डास्ते प्रकीर्त्तिताः ॥६॥
संस्कृतभक्तमा० ॥
पालनाच्च त्रयीधर्मः पाशब्देन निगद्यते । तं खण्डयन्ति ते[1] यस्मात्पाषण्डास्तेन हेतुना ॥७॥
इति षष्ठं पाषण्डप्रकरणं समाप्तम् ॥ अमरकोशटीकायाम् ॥

अथेर्ष्या ॥ ७ ॥

परोत्कर्षासहिष्णुत्वमीर्ष्याशब्देन कथ्यते । अविद्याद्वेषजाताऽसौ सन्तापयति देहिनम् ॥१॥
ईर्ष्यायुक्तो नरस्तप्तः सर्वदा द्वेषवह्निना । न क्वापि लभते शर्माऽकर्माग्निभिः परिज्वलन् ॥२॥

अथ पाषण्ड—मूढ़ से भी महाकष्ट = महा पीड़ा रूप, पाखण्ड और दम्भ=कपट वाला मनुष्य है, जो कि ईर्ष्या, असूया से अत्यन्त युक्त है, और मार=काम, आदि सहित है सो सब महाकष्ट रूप हैं ॥१॥ जो लोग संन्यासादि के लिङ्ग=चिह्न-वेष के धर्म से रहित होते भी लिङ्ग मात्र के उपजीवी=आश्रित हैं, उन सबों को पाखण्डी और सब धर्म से रहित जानना चाहिये ॥ २ ॥ जिन को समय के अनुसार जो सबके लिङ्ग हैं, सो सब तो हैं, परन्तु धर्म एक भी नहीं है, वे ही पाषण्ड धर्मवाले कहलाते हैं ॥ ३ ॥ जो वेद के धर्मों से रहित हैं, और सत्पुरुष सन्त के मार्ग में भी नहीं स्थिर हैं, किन्तु साधु पुरुषों से विनिन्दित कल्पित वेष मार्ग और हिंसा व्यभिचारादिमय धर्मों के सहित जो वर्तते हैं, वे लोक से भी निन्दित पुरुष पाखण्डी होते हैं ॥ ४ ॥ नृकपाल भस्म हाँड़ों के धारण करनेवाले अवैदिक लिङ्ग वाले, वानप्रस्थाश्रम के बिना जटा वल्कल धारण करनेवाले अवैदिक क्रियायुक्त जो हैं सो सब पाखण्डी कहे गये हैं ॥ ५ ॥ शास्त्र के आचार और व्रतों द्वारा तथा नाना धर्मों के कथन के द्वारा सम्मोहित करके जो धन को हरनेवाले हैं, सो पाखण्डी कहे गये हैं ॥ ६ ॥ पालन करने से वैदिक धर्म को 'पा' शब्द से कहा जाता है, तिस पालक धर्म को जो जिससे खण्डन करते हैं उस कारण से वे सब लिङ्गधारी पाखण्डी हैं ॥७॥ छठवाँ पाखण्डप्रकरण समाप्त ॥

अथ ईर्ष्या—अन्य की उन्नत्ति वृद्धि की असहनस्वभावता ईर्ष्या शब्द से कही जाती है, अविद्या और द्वेष से जन्य वह ईर्ष्या देहधारी को सन्तप्त=दुःखी करती है ॥ १ ॥ ईर्ष्या से युक्त मनुष्य द्वेषरूप अग्नि से सदा तप्त=दुःखी होता हुआ और अकर्म=पाप रूप अग्नियों से परिज्वलित=तापयुक्त होता

---

१. ते सर्वलिङ्गिनः, इत्यर्थः ।

भेदखेदपरिश्रान्तः पापसूर्यप्रतापितः। क्षेमच्छायाविहीनोऽज्ञः शान्तिं क्व लभतामसौ ॥३॥
ईर्ष्या लोभो मदः प्रीतिः क्रोधो भीतिश्च साहसम्। प्रवृत्तिच्छिद्रहेतूनि कार्ये सप्त बुधा विदुः ॥४॥
शुक्रनी० अ० ५।७४ ॥
मनसापि हि भूतानां योऽनिष्टानि विचिन्तयेत्। भवन्ति तस्य तान्येव लोकेऽस्मिन्नात्र संशयः॥५॥ पञ्चतं० ॥
रजोगुणहताद्दृष्टिस्तमःसम्परिवर्त्तते। नचाधिगम्यते सत्त्वं तत्त्वमत्यन्तदूरतः ॥६॥
धीरताऽधीरतामेति पातोत्पातपरो जनः। सुलभो दुर्जनाश्लेषो दुर्लभः सत्समागमः ॥७॥
इति सप्तममीर्ष्याप्रकरणं समाप्तम् ॥ योगवासि० प्र० १।२६।१६–२१ ॥

अथ दम्भो दम्भी च ॥ ८ ॥

लोकानां वञ्चनार्थाय धर्मानुष्ठानतत्पराः। श्रद्धाभक्तिविहीना ये दाम्भिकास्ते स्मृता बुधैः ॥१॥
सर्वत्र कपटाचारः पारार्थ्यकृतिवर्जितः। दम्भ इत्युच्यते सद्भि र्लोभमोहादिजोऽधमः ॥२॥
स्वपौरुषप्रयत्नेन विवेकेन विकासिना। स देवो ज्ञायते राम! न तपःस्नानकर्मभिः ॥३॥
रागद्वेषतमःक्रोधमदमात्सर्यवर्जनम्। विना राम! तपो दानं क्लेश एव न वास्तवम् ॥४॥
रागाद्युपहिते चित्ते वञ्चयित्वा परं धनम्। यदर्ज्यते तस्य दानाद्यस्यार्थास्तस्य तत्फलम् ॥५॥

हुआ कहीं सुख नहीं पाता है ॥ २ ॥ भेदजन्य राग द्वेषादि रूप खेद=दुःख से परिश्रान्त=थका हुआ पापरूप सूर्य से प्रतापित=पीडित, क्षेम=शुभ रूप छाया से रहित वह अज्ञ प्राणी शान्ति कहाँ पा सकता है ? ॥३॥ ईर्ष्या, लोभ, मद, प्रीति=हर्ष, क्रोध, भय, साहस इन सातों को विद्वान् लोग शुभ कार्यों में प्रवृत्ति के छिद्र=विघ्न के हेतु जानते हैं ॥ ४ ॥ और जो कोई प्राणियों के अनिष्टों का मन से भी विचार करता है, उस को इस लोक में दैवाधीन वे ही अनिष्ट=अशुभ होते हैं ॥५॥ क्योंकि दैव से सुदृष्टि रजोगुण से हत=नष्ट हो जाती है, प्रमादालस्यादि तमो गुण सम्यक् सर्वत्र प्रवृत्त हो जाते हैं, सत्त्वगुण नहीं मिलता है, इससे तत्त्व=सत्य वस्तु परमात्मा अत्यन्त दूर हो जाता है ॥ ६ ॥ धीरता, अधीरता= अस्थिरता को प्राप्त होती है, जिससे जन पातोत्पात (नीचे ऊपर गमन जन्म मरण) परायण होता है, जन्मने पर भी दैवाधीन दुर्जनों का सम्बन्ध सुलभ होता है, और सत्पुरुष का समागम दुर्लभ हो जाता है, इससे अविद्या ईर्ष्यादि को त्यागना चाहिये ॥ ७ ॥ सातवाँ ईर्ष्या प्रकरण समाप्त ॥

अथ दम्भ दम्भी—श्रद्धा भक्ति रहित जो मनुष्य लोगों को ठगने के लिये धर्म के अनुष्ठान= क्रिया में तत्पर रहते हैं, वे ही पण्डितों से दाम्भिक कहे गये है ॥ १ ॥ परोपकारादिरूप उत्तम व्यापारों से रहित जो सर्वत्र कपट से आचार=व्यवहार होता है, लोभ मोहादि जन्य वही अधम व्यवहार सत्-पुरुषों से दम्भ इस शब्द द्वारा कहा जाता है ॥ २ ॥ हे राम ! अपने पौरुष (श्रवण मननादि रूप प्रयत्न) और विकासी (विकस्वर प्रकाशशील) विवेक से वह सर्वात्मस्वरूप देव जाना जाता है, तपस्नानादि रूप कर्मों से नहीं जाना जाता है, तप आदि निष्काम कर्म ज्ञान की इच्छा को ही उत्पन्न करते हैं ॥ ३ ॥ राग द्वेष तम=प्रमाद आलस्यादि, क्रोध मद=अहङ्कार मत्सर इन सबों को त्यागे विना जो तप दानादि किये जाते हैं, हे राम ! वे क्लेश रूप ही हैं, वास्तव (सत्य फल के हेतु) नहीं है ॥ ४ ॥ क्योंकि चित्त के

रागाद्युपहिते चित्ते व्रतादि क्रियते च यत् । तद्दम्भः प्रोच्यते तस्य फलमस्ति मनाङ् न च ॥६॥
तस्मात्पुरुषयत्नेन मुख्यमौषधमाहरेत् । सच्छास्त्रसज्जनासङ्गौ संसृतिव्याधिनाशिनौ ॥७॥
इत्यष्टमं दम्भदम्भिप्रकरणं समाप्तम् ॥ योगवासि० प्र० ३।६।६-१३ ॥

अथाऽऽशा ॥ ९ ॥

आशा नित्यं महद् दुःखं संसारस्य च कारणम् । तत्त्यागेन विना सर्वं निष्फलं कर्म पौरुषम् ॥१॥
आशा भङ्गकरी पुंसामजेयारातिसन्निभा । तस्मादाशां त्यजेत्प्राज्ञो यदीच्छेच्छाश्वतं सुखम् ॥२॥
नारदीयपु० अ० ३५।२४॥
जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः । धनाशा जीविताशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यति ॥३॥
ब्रह्मपु० अ० १०।४५॥
आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य । आशा दासी येषां तेषां दासायते लोकः ॥४॥
स्कन्दपु० वैष्णवखं० वङ्कटाचमा० अ० २०।१८॥
संसारकूपे पतितं विषयै र्मूषितेक्षणम् । ग्रस्तं कालाहिनात्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः ॥५॥
आत्मैव ह्यात्मनो गोप्ता निर्विद्येत यदाऽखिलात् । अप्रमत्त इदं पश्येद् ग्रस्तं कालाहिना जगत् ॥६॥
आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम् । यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला ॥७॥
भागवतस्क० ११।८।४१। इत्यादि ॥
आशा बलवती राजन् नैराश्यं परमं सुखम् । आशा निराशां कृत्वा तु सुखं स्वपिति पिङ्गला ॥८॥

रागद्वेषादियुक्त रहते जो परवञ्चना आदि द्वारा अन्य धन का उपार्जन किया जाता है, उस धन के दान से भी जिसको धन रहता है, उसको उस दान का फल होता है दाता को नहीं होता है ॥ ५ ॥ और रागादियुक्त चित्त के रहते जो व्रत आदि किया जाता है, सो सत्पुरुषों से दम्भ कहा जाता है, उस का मनाक् = अल्प भी फल नहीं है ॥ ६ ॥ अतः दम्भ को त्याग कर संसार रूप रोग की निवृत्ति के लिये पुरुष प्रयत्न द्वारा मुख्य औषध को प्राप्त करे, तहाँ सत्शास्त्र और सत्सङ्ग ये दोनों संसार रोग को नष्ट करने वाले मुख्य औषध हैं, इन्हें प्राप्त करे ॥ ७ ॥ आठवाँ दम्भदम्भिप्रकरण समाप्त ॥

अथ आशा—आशा सदा ही महादुःख रूप और संसार का कारण है, उसके त्याग बिना सब कर्म और पुरुषकार = उद्यम निष्फल हैं ॥ १ ॥ अजेय शत्रु के समान आशा पुरुषों को भङ्ग = पराजय करने वाली है, इसलिये यदि नित्य सुख चाहे तो विद्वान् आशा को त्यागे ॥ २ ॥ वृद्ध के केश दाँत जीर्ण नष्ट हो जाते हैं, परन्तु त्यागे बिना धन और जीवन की आशा नहीं नष्ट होती है ॥ ३ ॥ और जो लोग आशा के दास = वश में हैं, सो सब लोक के दास हैं, और जिस ने आशा को दासी = वश में किया, उस के सब लोक दास हो जाते हैं ॥ ४ ॥ संसार कूप में पतित, विषयों से नष्ट विवेक दृष्टिवाले काल रूप सर्प से ग्रस्त जीवात्मा की रक्षा के लिये अन्य कौन समर्थ है ॥ ५ ॥ जब सब से विरक्त होता है, तब आप ही अपना रक्षक होता है, इससे विराग के लिये अप्रमत्त = सावधान हो कर इस जगत् को काल सर्प से ग्रस्त देखे ॥ ६ ॥ आशा ही परम दुःख रूप है, और नैराश्य = विराग संतोषादि परम सुख रूप हैं, जैसे कि कान्त की आशा को नष्ट कर के पिंगला नामक वेश्या भी सुख से सोई थी ॥ ७ ॥ हे राजन् !

सामिषं कुररं दृष्ट्वा बध्यमानं निरामिषैः । आमिषस्य परित्यागात्कुररः सुखमेधते ॥९॥
सुखं जीवन्ति मुनयो भैक्ष्यवृत्तिं समाश्रिताः । अद्रोहेणैव भूतानां सारङ्गा इव पक्षिणः ॥१०॥
गृहारम्भो हि दुःखाय न सुखाय कथञ्चन । सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥११॥
महाभार० शां० प० अ० १७८।८। इत्यादि ॥
यावद् विषयभोगाशा जीवाख्या तावदात्मनः । अविवेकेन सम्पन्ना साप्याशा न हि वस्तुतः ॥१२॥
विवेकवशतो याता क्षयमाशा यदा तदा । आत्मा जीवत्वमुत्सृज्य ब्रह्मतामेत्यनामयः ॥१३॥
ऊर्ध्वादधस्तथाऽधस्तात्पुनरूर्ध्वं व्रजंश्चिरम् । मा संसारारघट्टस्य चिन्तारज्ज्वां घटीभव ॥१४॥
इदं ममाऽहमस्येति व्यवहारघनभ्रमम् । ये मोहात्परिषेवन्तेऽधस्ताद्यान्त्यधः शठाः ॥१५॥
अस्याहमेष मे सोऽयमहमेवं तु यैः किल । मोहो बुद्ध्या परित्यक्त ऊर्ध्वादूर्ध्वं प्रयान्ति ते ॥१६॥
स्वप्रकाशं स्वमात्मानमवलम्ब्याविलम्बितम् । आस्स्व सम्पूरिताकाशं जगन्ति नृप ! पश्य हे ॥१७॥
यदैवैवं चितो रूपं ततं बुद्धमखण्डितम् । तदैव तीर्णः संसारः परमेश्वरतां गतः ॥१८॥
ब्रह्मेन्द्रविष्णुवरुणा यद्यत्कर्तुं समुद्यताः । तदहं चिद्वपुः सर्वं करोमीत्येव भावयेत् ॥१९॥
योगवासि० प्र० ६। सं० १२१॥१-८॥

=युधिष्ठिर ! आशा दुःख देने में बलवाली है, निराशता परम सुखरूप है, आशा को निराशा=त्याग कर के तो पिङ्गला नामक वेश्या भी सुख से सो गयी ॥ ८ ॥ मांस सहित कुरर नामक पक्षी को देख कर मांस रहित पक्षी उसको मारते हैं, और वह कुरर मांस के त्याग से सुखी होता है, इस कुरर को देख कर त्यागने वाला मनुष्य भी सुख पूर्वक बढ़ता है ॥ ९ ॥ भिक्षा वृत्ति को आश्रयण करने वाले मुनि प्राणियों के द्रोह=अपकार बिना ही सारङ्ग=चातक पक्षी के समान सुखपूर्वक जीते हैं ॥ १० ॥ त्याग के बिना गृह का आरम्भ=उपक्रम, दुःख के लिये होता है, सुख के लिये किसी प्रकार नहीं होता है, और त्यागी तो सर्प के समान अन्य के किये हुवे घर में रह कर भी सुख पाता है ॥ ११ ॥ जब तक विषय-भोगादि की आशा रहती है, तभी तक आत्मा का जीव नाम अविवेक से सिद्ध रहता है, और वह आशा भी आत्मा में वस्तुतः=सत्य, नहीं है ॥ १२ ॥ जब विवेक के बल से आशा क्षय (अज्ञान के नाश द्वारा बाध) को प्राप्त होती है, तब अनामय (अरोग-निरावरण) आत्मा जीवत्व को त्याग कर ब्रह्म स्वरूपता को पाता है ॥ १३ ॥ मनु इक्ष्वाकु से कहते हैं कि—आशा कर के ऊपर स्वर्गादि से नीचे में और नीचे से ऊपर में चिरकाल तक बार २ गमन करता हुआ, संसार रूप अरघट्ट=रहट के भोगों की चिन्तारूप रस्सी में घटतुल्य बद्ध तुम नहीं होना ॥ १४ ॥ मैं इसका हूँ यह मेरा है, इस प्रकार के व्यवहार रूप सघन भ्रम का जो मोह से परिसेवन करते हैं, वे शठ लोग नीचे से नीचे जाते हैं ॥ १५ ॥ मैं इसका हूँ, यह मेरा है, सो मैं इस प्रकार का हूँ, इस प्रकार के मोह को जिन्होंने विवेक बुद्धि से त्यागा है, असङ्ग एक आत्मा को समझा है, वे लोग ऊर्ध्व से ऊर्ध्व को प्राप्त होते हैं ॥ १६ ॥ हे नृप ! स्वयं प्रकाश अपने आत्मा को अविलम्बित=शीघ्र, जानकर आश्रय लेकर रहो और चराचर सब जगत् को परिपूरित (सर्वत्र व्याप्त) चिदाकाश रूप ही जानो ॥ १७ ॥ जब भी इस प्रकार चेतनात्मा का तत=पूर्ण अखण्ड स्वरूप बुद्ध (ज्ञात-अनुभूत-अपरोक्ष) होता है, तभी तरा गया संसार परमेश्वर स्वरूपता को प्राप्त होता है, आत्म स्वरूप ही संसार की सत्ता रह जाती है, संसार का स्वरूप बाधित हो जाता है ॥ १८ ॥ ब्रह्मा इन्द्र विष्णु आदि जो २ कार्य करने के लिये

आशा नाम मनुष्याणां काचिदाश्चर्यशृङ्खला । यया बद्धः प्रधावन्ति मुक्तास्तिष्ठन्ति पङ्गुवत् ॥२०॥
जैमिनीयाश्वमे० अ० ६।५५ ॥

ते धन्याः पुण्यभाजास्ते तैस्तीर्णः क्लेशसागरः । जगत्सम्मोहजननी यैराशाशीविषी जिता ॥२१॥
सुभाषितर० ॥

उपकारः परो धर्मः परार्थं कर्मनैपुणम् । पात्रे दानं परः कामः परो मोक्षो वितृष्णता ॥२२॥ सु० र० ॥

इति नवममाशाप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथाऽसूया ॥ १० ॥

सद्गुणेऽपि विमोहाद्यो दोषारोपः सतां जनैः । क्रियते सा ह्यसूया वै सर्वलोकविनाशकः ॥१॥
असूयोपेतमनसे सत्सङ्गो न हि रोचते । सद्गुणे सद्विचारादावादरो नैव जायते ॥२॥
सद्गुणाद्यै र्विहीनोऽसौ सुखं न लभते क्वचित् । असूयां हि ततस्त्यक्त्वा गुणिनमाश्रयेत्सुधीः ॥३॥
न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि । नान्यदोषेषु रमते साऽनसूया प्रकीर्त्तिता ॥४॥ अत्रिस्मृ०।
असूयोपेतमनसां दम्भाचारवतां तथा । परुषोक्तिरतानां च सुखं नेह परत्र च ॥५॥

इति दशममसूयाप्रकरणं समाप्तम् ॥ नारदीयपु० अ० ७॥

समुद्यत हैं, चेतन स्वरूप मैं ही वह सब कार्य करता हूँ, इस प्रकार की भावना करे, अर्थात् उनकी ईश्वरता भी सर्वसाक्षी आत्मा के अधीन है, इससे आत्मा ही परमेश्वर है, ऐसा जानकर अन्य आशा को त्यागे ॥ १९ ॥ आशा नाम वाली मनुष्यों को कोई आश्चर्य रूप बेड़ी (बन्धन) है कि जिससे बँधे हुए पुरुष अनेक योनि देशादि में दौड़ते हैं, और उस आशा से मुक्त होने पर पङ्गु के समान स्थिर रहते हैं ॥ २० ॥ वे लोग धन्य और पुण्य भागी हैं, तथा वे लोग क्लेशरूप समुद्र को तर गये हैं, कि जिन्होंने संसार में सम्यक् मोह को उत्पन्न करने वाली आशा रूप सर्पिणी को जीता है ॥ २१ ॥ उपकार उत्तम धर्म है, उत्तम धन कर्म की निपुणता है, सत्पात्र में दान उत्तम काम है, और आशातृष्णा राहित्य ही उत्तम मोक्ष है ॥ २२ ॥ नववाँ आशाप्रकरण समाप्त ॥

अथ असूया—दूसरे सत्पुरुषों के सद्गुणों में भी जो विमोह से लोकों से दोषों का आरोप= भ्रम कल्पना किया जाता है, सो असूया है और वह दोषारोप सब लोक का विनाशक है ॥ १ ॥ असूया-युक्त मनवाले को सत्सङ्ग अच्छा नहीं लगता है, सद्गुण वा सद्विचारादि में आदर भी उसको नहीं होता है ॥ २ ॥ इससे सद्गुणादि से रहित वह पुरुष कहीं सुख नहीं पाता है, अतः असूया को त्यागकर सुधी = विवेकी पुरुष गुणी का आश्रयण करे ॥ ३ ॥ गुणी के गुणों का जो हनन = निरादर-नाश नहीं करता है, और मन्द के, गुणों की भी स्तुति करता है, तथा अन्य के दोषों में नहीं रमता है, (अन्य के दोषों के ग्रहण कथनादि नहीं करता है) उसकी ऐसी स्थिति अनसूया कही गई है ॥ ४ ॥ असूयायुक्त मन वाले, कपटयुक्त व्यवहारवाले, क्रूर कथन में प्रेम वाले पुरुषों को यहाँ या परलोक में कहीं सुख नहीं है ॥ ५ ॥ दशवां असूयाप्रकरण समाप्त ॥

अथ परुषः ॥ ११ ॥

परुषः पुरुषौ हन्ति वक्तृश्रोत्रात्मकावुभौ । कलहशोकचिन्तानां पापानां जनकत्वतः ॥ १ ॥
श्रोत्रेण हृदयं गत्वा श्रोतुः क्रूरवचः क्षणात् । शान्तिं ज्ञानादिकं हत्वा चिन्तां क्रोधं करोति हि ॥ २ ॥
प्रतिकारेऽसमर्थश्च ह्यन्तर्दुःखेन दूयते । समर्थः क्रोधताम्राक्षः कलहाय प्रवर्त्तते ॥ ३ ॥
परुषः पुरुषं हन्ति श्रोतारं स्वस्वरूपतः । वक्तारं परिणामेन तस्मात्तं परिवर्जयेत् ॥ ४ ॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नाममर्मसु ते पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥ ५ ॥
नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीत ।
ययाऽस्य वाचा पर उद्विजेत न तां वदेद्रुशतीं पापलौल्याम् ॥ ६ ॥
अरुंतुदं पुरुषं तीव्रवाचं वाक्कण्टकै र्वितुदन्तं मनुष्यान् ।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां मुखे निबद्धं निर्ऋतिं वहन्तम् ॥ ७ ॥ मत्स्यपु० अ० ३६ ॥

वात्सल्यात्सर्वभूतेभ्यो वाच्याः श्रोत्रसुखा गिरः । परितापोपघातश्च पारुष्यं चात्र गर्हितम् ॥ ८ ॥
अवज्ञानमहङ्कारो दम्भश्चैव विगर्हितः । अहिंसा सत्यमक्रोधः सर्वाश्रमगतस्तपः ॥९॥ महाभा० शान्तिप० ॥

इत्येकादशं परुषप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ परुष—परुष=क्रूरवचन, वक्ता श्रोता रूप दोनों पुरुषों को नष्ट करता है (दुःख देता है) जिससे वह कलह शोक चिन्ता और पापों का हेतु है ॥ १ ॥ क्रूर वचन कान द्वारा श्रोता के हृदय में जा कर, उस के शान्ति ज्ञानादि को क्षण मात्र में नष्ट करके चिन्ता और क्रोध को उत्पन्न करता है ॥ २ ॥ उस क्रूरता के प्रतिकार = निवारण-बदले में असमर्थ पुरुष दुःख से भीतर तपता है, और प्रतिकार में समर्थ पुरुष क्रोध से लाल आँख वाला हो कर कलह=झगड़ा के लिये प्रवृत्त होता है ॥ ३ ॥ परुष वचन श्रोता को तो अपने स्वरूप से ही पीड़ित करता है, और वक्ता को परिणाम=फल द्वारा पीड़ित करता है, इससे उसे त्यागना चाहिये ॥ ४ ॥ जो वाग् रूप वाण=क्रूर वचन, मुख से निकलते हैं जिन से आहत (ताड़ित) प्राणी रात दिन सोचता है, क्यों कि अन्य के मर्म=हृदयादि, से अन्यत्र वे नहीं लगते हैं, इससे पण्डितपुरुष उन का अन्य में प्रयोग नहीं करे ॥ ५ ॥ अरुंतुद=मर्मभेदक-हृदयपीड़क, नहीं होना चाहिये, न नृशंस वादी=क्रूरवादी होना चाहिये, न हीन पुरुष से परम तत्त्व का ग्रहण करना चाहिये (अधर्मी दुश्चरित्र को गुरु नहीं करना चाहिये) और इस के जिस वचन से अन्य उद्विग्न हो, उस उशती =अशुभ-पाप के लिये चंचल वाणी को नहीं बोलना चाहिये ॥ ६ ॥ मर्मपीड़क क्रूरवक्ता वाग् रूप कांटों से मनुष्यों को पीड़ित करने वाले पुरुष को जनों=लोकों, में अत्यन्त अलक्ष्मीक = लक्ष्मी रहित समझना चाहिये, और मुख में निबद्ध = स्थिर, निर्ऋति = यम को ढोने वाला उस को समझना चाहिये ॥ ७ ॥ सुनने में सुखद वचन सब प्राणियों से बोलना चाहिये, अन्य का परिताप, उपघात और क्रूर वचन यहाँ निन्दित है ॥ ८ ॥ अनादर, अहंकार और दम्भ भी निन्दित है। अहिंसा सत्य और अक्रोध सब आश्रमगत तप रूप है ॥ ९ ॥ ग्यारहवाँ परुष प्रकरण समाप्त ॥

अथ स्तुतिनिन्दे ॥ १२ ॥

परस्य निन्दया स्वस्य स्तुत्या चायं जनो ध्रुवम् । निरये निपतेत्तस्मादुभये ते परित्यजेत् ॥१॥
परस्य हि गुणान् पश्येदात्मनोऽवगुणांस्तथा । गृह्णीयात्तद्गुणांश्चैवं स्वदोषांश्च परित्यजेत् ॥२॥
परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत् । विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च ॥३॥
परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति । स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः ॥४॥
भागवत स्क० ११।१८।१-२ ॥
कस्यचिन्नैव कर्माणि शपते वा प्रशंसति । नानामार्गस्थिताँल्लोकाँश्चन्द्रवल्लीयते क्षितौ ॥५॥
न द्वेष्टि नो कामयते न विरुद्धोऽनुरुध्यते । समाश्मकाञ्चनो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥६॥
अभयः सर्वभूतेभ्यो यथान्धबधिराकृतिः । न कर्मणां फलाकाङ्क्षी शिवस्याराधनं हि तत् ॥७॥
स्कन्दपु० खं० १-२। अ० ४५।२१। इत्यादि ॥
आत्मनिन्दात्मपूजा च परनिन्दा परस्तवः । अनाचरितमार्याणां वृत्तमेतच्चतुष्टयम् ॥८॥
परवाच्येषु निपुणः सर्वो भवति सर्वदा । आत्मवाच्यं न जानीते जानन्नपि च मुह्यति ॥९॥
महाभा० कर्णप० अ० ३५।४५ ॥ अ० ४५।४४ ॥
यथा सुनिपुणः सम्यक् परदोषेक्षणे रतः । तथा चेन्निपुणः स्वेषु को न मुच्येत बन्धनात् ॥१०॥
महोपनिष० अ० ३।२५ ॥

अथ स्तुतिनिन्दा—"पर निन्दा विनाशाय स्वनिन्दा यशसे परम् ।" [ब्रह्म वैवर्त्तपु० कृष्ण जन्म खं० अ० ४१।७] इत्यादि वचनों के अनुसार, पर की निन्दा और अपनी स्तुति से यह जन नरक में अवश्य गिरता है, अतः पर निन्दा स्वस्तुति इन दोनों को त्यागे ॥ १ ॥ अन्य के गुणों और अपने अवगुणों को समझे, और अन्य के गुणों का ग्रहण करे, अपने दोषों को त्यागे ॥ २ ॥ अन्य के स्वभाव और कर्मों की प्रशंसा वा निन्दा नहीं करे, और संसार को प्रकृति और पुरुष रूपता से एक स्वरूप देखे कि सब दृश्य मायात्मक प्रकृति रूप है, और सर्वत्र सच्चिदानन्द पुरुष अधिष्ठान है, इत्यादि ॥ ३ ॥ ऐसा नहीं समझ कर राग द्वेषादि वश होकर अन्य के स्वभाव कर्म की प्रशंसा निन्दा करता है, सो असत्य संसार देहादि में अभिनिवेश = आसक्ति के कारण अपने स्वार्थ से शीघ्र पतित होता है ॥ ४ ॥ जो मनुष्य किसी के कर्मों की निन्दा वा प्रशंसा नहीं करता है, और पृथिवी पर नाना मार्ग में स्थिर लोकों को जो चन्द्रमा के समान स्पर्श करता है, अर्थात् चन्द्रमा जैसे पक्षपात बिना सब को प्रकाशते और शान्ति देते हैं, वैसे जो मधुर सत्य और हित वचनादि द्वारा सब का हित ही करता है ॥ ५ ॥ और द्वेष राग = इच्छा नहीं करता है, न विरुद्ध हो कर किसी के इष्ट शुभ में अपनी इच्छा करता है कि यह मुझे ही मिले, इसी से अन्य के पत्थर और सुवर्ण में सम बुद्धि वाला धैर्ययुक्त स्तुति निन्दा में हर्ष शोक रहित, सब प्राणियों के लिये, अभय स्वरूप, और पर दोष दर्शन श्रवण में अन्ध बधिराकारवाला कर्म फलों की इच्छा से रहित मनुष्य की यह सब धारणा ही शिव तत्त्व की आराधना पूजा सेवा है ॥ ६-७ ॥ अपनी निन्दा और पूजा = स्तुति, अन्य की निन्दा और स्तुति, ये चार वृत = चरित्र, आर्यों = श्रेष्ठों से अनाचरित हैं, श्रेष्ठ लोगों ने इन चरित्रों को कभी नहीं किया है ॥ ८ ॥ अन्य के वक्तव्य दोषों में सब सदा निपुण होते हैं, अपने दोषों को नहीं जानते हैं, जानते हुए भी भूलते हैं ॥ ९ ॥ परन्तु जैसे पर के दोषों के देखने में सम्यक् रत = तत्पर और निपुण रहते हैं, वैसा ही यदि अपने दोषों में सब निपुण हों (सावधानी से अपने दोषों को देखे और

अपि यः स्वात्मनः कर्म मनसापि प्रशंसति । धिक् कुर्याद्वा परस्यापि कदाचिद् गर्वसंयुतः ॥११॥
आत्मनोऽत्र प्रशंसायामात्महत्या प्रकीर्त्तिता । परस्यापि च निन्दायां परहत्या मनीषिभिः ॥१२॥
आत्मानं योऽत्र वै हन्याल्लोके पापतमो मतः । आत्मघ्ने निष्कृति र्नास्ति कृतघ्न इव शास्त्रगा ॥१३॥
आत्मपु० अ० १५।११४ इत्यादि ॥
धर्मं चरत माऽधर्मं सत्यं वदत नानृतम् । दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं परं पश्यत माऽपरम् ॥१४॥
इति द्वादशं स्तुतिनिन्दाप्रकरणं समाप्तम् ॥ वसिष्ठस्मृ० अ० ३० ॥

अथ धनदोषः ॥ १३ ॥

अन्यायार्जितवित्तानां जन्मान्तरकृताङ्कसाम् । धनदोषा भवन्त्येव नरकाय दुरात्मनाम् ॥१॥
समर्थः श्रीमदान्धोऽयं राजानं देवतां गुरुम् । अवजानाति सहसा स्वात्मनो बलमाश्रितः ॥२॥
असह्यं दुःखमाप्नोति लोकद्वयभयंकरम् । कीर्त्तिहानिं च धिग्वादं सद्यो गच्छति मोहितः ॥३॥
लोभश्चास्मिन् समर्थे स्यात्सदृशो जातवेदसा । यावद्यावदवाप्नोति ततो भूयः स इच्छति ॥४॥
पृथिवीं धनपूर्णां चेदिमां सागरमेखलाम् । प्राप्नोति पुनरप्येष स्वर्गमिच्छति नित्यशः ॥५॥
समर्थः स्वात्मलोभेन परदाराधनादिकम् । हृत्वा चोपहसत्यन्यान् सर्वशोच्यो नराधमः ॥६॥
समर्थो मोहमापन्नो न जानाति हिताऽहितम् । स्वात्मानं द्वेष्टि चैवायं स्वात्मनो हितकारिणम् ॥७॥
आत्मपु० अ० ५।७३-७८॥

त्यागे) तो संसार बन्धन से कौन न मुक्त हों ? ॥ १० ॥ जो कोई गर्वयुक्त होकर अपने कर्म की मन से भी कभी प्रशंसा करता है, और अन्य के कर्म को धिक्कार कभी करता है ॥ ११ ॥ तहाँ अपनी प्रशंसा में आत्महत्या कही गई है, और अन्य की निन्दा में भी विद्वानों से अन्य की हत्या कही गई है ॥ १२ ॥ और जो आत्महत्या करता है, वह लोक में अत्यन्त पापी माना गया है, और कृतघ्न के समान आत्मघ्न में भी शास्त्र सम्मत निष्कृति (पापनिवारक उपाय-प्रायश्चित्त) नहीं है ॥ १३ ॥ इसलिये आत्मघात को त्याग कर सब कोई धर्म करो, अधर्म नहीं करो, सत्य बोलो, झूठ नहीं बोलो, दीर्घ = विस्तृत, विभु ब्रह्मात्मा को अपने से श्रेष्ठ गुण स्वभाव धर्मादि वालों को देखो, ह्रस्व=तुच्छ की तरफ मन को नहीं लगावो, पर = उत्तम को देखो अनुत्तम को नहीं ॥ १४ ॥ बारहवाँ स्तुतिनिन्दाप्रकरण समाप्त ॥

अथ धनदोष—अन्याय से उपार्जित धन वाले दुरात्माओं के धन निमित्तक दोष नरक के ही लिये होते हैं ॥ १ ॥ अपने आत्मा के बल = सामर्थ्य के आश्रित श्रीमद से अन्ध समर्थ यह मनुष्य विचार बिना राजा देव गुरु का भी अनादर करता है ॥ २ ॥ उससे मोहित हो कर दोनों लोक में भयकारक महा दुःख पाता है, तथा शीघ्र ही मान की हानि और धिक्कार को पाता है ॥ ३ ॥ अग्नि के तुल्य इस समर्थ में लोभ होता है, जिससे जितना २ धन पाता है, उससे अधिक ही की इच्छा करता है ॥ ४ ॥ यदि समुद्ररूप मेखला = काञ्ची-रसना वाली धन से पूर्ण इस पृथिवी को पाता है, तो फिर यह स्वर्ग की इच्छा सदा करता है ॥ ५ ॥ सब से शोचनीय नरों में अधम समर्थ पुरुष अपने लोभ से अन्य के स्त्रीधनादि को हर कर अन्य को हंसता है ॥ ६ ॥ मोह को प्राप्त समर्थ हित अहित को नहीं

मातरं पितरं पुत्रान् ब्राह्मणांश्च बहुश्रुतान् । कर्मणा मनसा वाचा समर्थो हन्ति मोहतः ॥८॥

देवीभा० तृतीयस्क० अ० १५।२२॥

लक्ष्मीवन्तो न जानन्ति प्रायेण परवेदनाम् । शेषे धराभरक्लान्ते शेते नारायणः सुखम् ॥९॥

जनयन्त्यर्जने दुःखं तापयन्ति विपत्तिषु । मोहयन्ति च सम्पत्तौ कथमर्थाः सुखावहाः ॥१०॥

धनं तावदसुलभं लब्धं कृच्छ्रेण रक्ष्यते । लब्धनाशे यथा मृत्युस्तस्मादेतन्न चिन्तयेत् ॥११॥

सुभा० रत्नाक० ॥

अर्थस्योपार्जने दुःखमर्जितस्य च रक्षणे । नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम् ॥१२॥

भागव०स्क० ११।२३।१७॥ तस्मात्—

धनस्य यस्य राजतो भयं न चास्ति चोरतः । मृतं च यन्न मुञ्चति त्वमर्जयस्व तद्धनम् ॥१३॥

महाभा० शान्तिप० अ० ३२१।४६। शुकं प्रति व्यासोक्तिः ॥

अर्थार्थी यानि कष्टानि मूढोऽयं सहते जनः । शतांशेनापि मोक्षार्थी तानि चेन्मोक्षमाप्नुयात् ॥१४॥

सा श्री र्या न मदं कुर्यात्स सुखी तृष्णयोज्झितः । तन्मित्रं यत्र विश्वासः पुरुषः स जितेन्द्रियः ॥१५॥

गरुडपु० पूर्वखं० आ० कां० अ० ११३।३६। अ० ११५।५५॥

इति त्रयोदशं धनदोषप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ हिंसाभेदाः ॥ १४ ॥

हिंसा भवति वै दोषैः कामाज्ञानादितस्तथा । स्वादं दोषादिकं त्यक्त्वा हिंसा त्याज्या सुबुद्धिभिः ॥१॥

समझता है, इससे यह अपने आत्मा के विषय में भी द्वेष करता है, और अपने हितकारक के प्रति भी द्वेष करता है ॥ ७ ॥ अपने माता पिता पुत्र को और बहुत शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों को भी मोह से मारता है ॥ ८ ॥ लक्ष्मी = सम्पत्ति, वाले प्रायः अन्य की पीड़ा को नहीं जानते हैं, इसी से तो भूमि के भार से दुःखी शेष पर भी लक्ष्मी वाले नारायण सुख पूर्वक सोते हैं ॥ ९ ॥ अर्थ = धन उपार्जन में दुःखी करते हैं, नाश में ताप शाक करते हैं, वृद्धि में मोह करते हैं, तो सुख देने वाले कैसे हैं ? ॥ १० ॥ प्रथम तो धन सुलभ नहीं है, लब्ध = प्राप्त धन भी दुःख से रक्षित रहता है, और प्राप्त के नाश होने पर तो मृत्यु के समान दुःख होता है, तिससे इस धन की चिन्ता नहीं करे ॥ ११ ॥ धन के उपार्जन में दुःख है, उपार्जित की रक्षा में दुःख है, नाश में और व्यय = खर्च में दुःख है, इससे दुःखों के भाजन = पात्र रूप धन को धिक्कार है ॥ १२ ॥ अतः जिस विद्या रूप धन को राजा वा चोरादि का भय नहीं है, और जो मृतात्मा को भी नहीं त्यागता है, तुम उस धन का उपार्जन करो ॥ १३ ॥ यह मूढ़ धनार्थी मनुष्य जिन कष्टों को सहता है, यदि मोक्षार्थी हो कर उन कष्टों के सौ भाग में से एक भाग को सहे तो उससे मोक्ष पावे ॥ १४ ॥ वस्तुतः श्री = लक्ष्मी धन वह है कि जो मद = गर्व को नहीं उत्पन्न करता है, और जो तृष्णारहित है सो सुखी है, जिस में विश्वास है वह मित्र है, जो जितेन्द्रिय है वह पुरुष है ॥ १५ ॥ तेरहवाँ धनदोष प्रकरण समाप्त ॥

अथ हिंसाभेद—रागद्वेषादि दोष तथा काम अज्ञानादि से हिंसा होती है, सो मांसादि के

हिंसाभेदान् परिज्ञाय सर्वा त्याज्या शुभेच्छुभिः। हिंसया सदृशं पापं लोके नान्यद्धि विद्यते ॥२॥
कर्मणा भूतहिंसा या प्रसिद्धा मरणप्रदा। चतुर्विधानां भूतानां शस्त्रघातादिका हि या ॥३॥
शरीररोगजननं हिंसा मन्त्रौषधादिना। वित्तदारादिरहणं नराणामधिकं सदा ॥४॥
हिंसनं तत्र विज्ञेयमाधिद्वारेण कर्मजम्। पापस्य राजभृत्यादेः कथनं हिंसनं गिरा ॥५॥
अपकीर्त्तेश्च करणं दोषकीर्त्ति गुणेष्वपि। गुणानां परकीयानां मनसाऽसहनं च यत् ॥६॥
विद्याकीर्त्यादिजातानामन्यदारादिचिन्तनम्। प्राप्त्यर्थं स्वस्य विज्ञेयं तथा द्रोहस्य चिन्तनम् ॥७॥
चतुर्विधानां भूतानां मानसं हिंसनं भवेत्। एतत् त्यक्त्वा नरः सर्वं धर्मयोगादिभाग् भवेत्॥८॥
अन्यथा नरकं याति ह्यधर्मं प्रतिपद्यते। अहिंसकोऽत्र यः कश्चित्स ज्ञेयः पुरुषोत्तमः ॥९॥

आत्मपु० अ० ६।१६१७। इत्यादि ॥

उद्वेगजननं हिंसा सन्तापकरणं तथा। रुक्कृतिः शोणितकृतिः पैशुन्यकरणं तथा ॥१०॥
हितस्यातिनिषेधश्च मर्मोद्‌घाटनमेव च। सुखापह्नुतिसंरोधौ वधो दशविधा च सा ॥११॥

अग्निपु० अ० ३७२।१५-१६ ॥

सर्वेषामेवपापानां हिंसा परमिहोच्यते। हिंसा बलमसाधूनां हिंसा लोकद्वयापहा ॥१२॥
अपि कीटः पतङ्गो वा न हन्तव्यः कथञ्चन। महद्‌दुःखमवाप्नोति पुरुषः प्राणिनाशनात् ॥१३॥

वैष्णवधर्मोत्तरपु० खं० २।२५२ ॥

कः केन हन्यते जन्तु र्जन्तुः कः केन रक्ष्यते। हन्ति रक्षति चैवात्मा ह्यसत्साधु समाचरन् ॥१४॥

स्वाद और दोषादि के त्याग द्वारा बुद्धिमानों से त्यागने योग्य है ॥ १ ॥ हिंसा के भेदों को समझ कर शुभेच्छु से सब त्यागने योग्य है, क्योंकि हिंसा के समान अन्य पाप लोक में नहीं है ॥ २ ॥ चार प्रकार के प्राणियों के मरण के हेतु जो कर्मजन्य भूत हिंसा है सो प्रसिद्ध ही है, जो कि शस्त्र से घातादि रूप है ॥ ३ ॥ मन्त्र औषधादि द्वारा किसी के देह में रोग करना और धन स्त्री आदि को हर लेना, यह अन्य भूत की अपेक्षा मनुष्यों की सदा अधिक हिंसा है ॥ ४ ॥ परन्तु वहाँ आधि (मानस रोग शोकादि) द्वारा कर्मज हिंसा समझना चाहिये। और किसी के पाप = दोष को, राजा के भृत्यादि को कहना वाणी द्वारा हिंसा है ॥ ५ ॥ वचन से किसी की अपकीर्त्ति करना गुणों में भी दोष का कथन करना वाणी जन्य हिंसा है। विद्या यश आदि के हेतु और विद्यादिजन्य अन्य के गुणों को जो मन से नहीं शह सकना, अपने लिये अन्य की स्त्री आदि का चिन्तन करना, द्रोह = अपकार का चिन्तन करना ये सब चारो प्रकार के प्राणियों की मानस हिंसा हैं, इन सब हिंसाओं को त्याग कर मनुष्य धर्मयोगादि का भागी होता है ॥ ६-८ ॥ हिंसा को त्यागे विना नरक में जाता, अधर्म दुःख पाता है, जो कोई यहाँ अहिंसक है, वह पुरुषोत्तम समझा जाता है ॥ ९ ॥ उद्वेग, सन्ताप, रोग, शोणित = रुधिर, पिशुनता, हित का अति निषेध, मर्मोद्घाटन, सुख का अपलाप = छिपाना, संरोधन, वध, ये क्रिया रूप दश प्रकार की हिंसा है ॥ १०-११ ॥ सब पापों में हिंसा यहाँ भारी पाप है, सोई असज्जनों का बल है, जो दोनों लोक का नाशक है ॥ १२ ॥ इसलिये कीट पतंग को भी नहीं मारना चाहिये, किसी प्रकार भी, प्राणी के नाश करने से पुरुष महादुःख पाता है ॥ १३ ॥ वस्तुतः कौन

कर्मणा जायते सर्वं कर्मैव गतिसाधनम् । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साधु कर्म समाचरेत् ॥१५॥

विष्णुपु० अंश १ अ० १८।३१–३२ ॥

अन्येषां यो न पापानि चिन्तयत्यात्मनो यथा । तस्य पापागमस्तात ! हेत्वभावान्न विद्यते ॥१६॥

मनसा कर्मणा वाचा परपीडां करोति यः । तद्बीजं जन्म फलति प्रभूतं तस्य चाशुभम् ॥१७॥

विष्णुपु० अंश १।अ० १६॥५–६ ॥

इच्छेत्परापकारं यः स तस्यैव भवेद् ध्रुवम् । इति मत्वाऽपकारं नो कुर्यादन्यस्य पूरुषः ॥१८॥

शिवपु० रुद्रसं० खं० १।१६।१६ ॥

इति चतुर्दशं हिंसाभेदप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ स्तम्भः ॥ १९ ॥

स्तम्भो जाड्यात्मको यस्तु बुद्धे र्मान्द्यात्मकोऽशुचिः । सर्वदुःखस्य मूलं स ह्यधर्मादिसमुद्भवः ॥१॥

कामात् क्रोधाद् भयाल्लोभाच्छोकस्नेहादिसम्प्लुतेः । अभक्ष्यभक्षणान्मोहात्कुसङ्गात्कुप्रवृत्तितः ॥२॥

नास्तिक्याच्च कुशब्दानां श्रवणात्पूर्वपापतः । बुद्धिमान्द्यं भवेत्तस्मात्कामादीनां जनि र्भवेत् ॥३॥

अन्योन्यं ते प्रवर्द्धन्ते नश्यन्ति ध्यानयोगतः । सत्सङ्गसुविचाराद्यैः पुण्यकर्मनिषेवनात् ॥४॥

शास्त्रादीनां सदाऽभ्यासाद्यमादीनां निषेवनात् । सेवनात्साधुवृत्तानां बुद्धिमान्द्यं विनश्यति ॥५॥ यतः—

यमेषु निरतो यस्तु नियमेषु च यत्नतः । विवेकिनस्तस्य चित्तं प्रसादमधिगच्छति ॥६॥

जन्तु किससे मारा जाता है ? वा रक्षित होता है ? अपने ही पाप पुण्य करता हुआ अपने को मारता है वा अपनी रक्षा करता है ॥ १४ ॥ कर्म से सब जन्म लेते हैं, और कर्म ही सुगति कुगति के साधन हैं, अतः सब प्रयत्नों से सुकर्म करना चाहिये ॥ १५ ॥ हे तात ! जो अन्य के अनिष्ट को अपने ही समान नहीं चिन्तन करता है, उसको हेतु के अभाव से अनिष्ट की प्राप्ति नहीं होती है ॥ १६ ॥ मन वचनादि से जो अन्य को दुःख देता है, वही बीज उसके जन्म रूप फल को सिद्ध करता है और उसके प्रचुर बहुत अशुभों को सिद्ध करता है ॥ १७ ॥ क्योंकि जो अन्य के अपकार की इच्छा भी करता है, सो अपकार अवश्य ही उस इच्छा करने वाले को होता है, ऐसा समझ कर यह पुरुष अन्य का अपकार नहीं करे ॥ १८ ॥ चौदहवाँ हिंसाभेदप्रकरण समाप्त ॥

अथ स्तम्भ—बुद्धि की मन्दता रूप जो जड़तात्म=जड़ता स्वरूप, अपवित्र स्तम्भ (सुप्रवृत्ति भक्ति ज्ञप्ति आदि से मन बुद्धि का निरोध अस्वच्छता) है, सो सब दुःख का मूल है, और अधर्मों से जन्य है, और अधर्मादि का जनक भी है ॥ १ ॥ और कामादि से तथा शोक स्नेह की सम्यक् प्राप्ति से तथा अभक्ष्य भक्षणादि से बुद्धि में मन्दता होती है, फिर उससे कामादि की उत्पत्ति होती है ॥ २–३ ॥ वे कामादि और स्तम्भ सब परस्पर बढ़ते हैं। और ध्यान योगादि से कामादि नष्ट होते हैं, तथा बुद्धि की मन्दता भी विनष्ट होती है ॥ ५ ॥ जिससे जो अहिंसा सत्यादि रूप यम में तत्पर रह कर, शौचादि रूप नियमों में भी प्रयत्न से तत्पर रहता है, उस विवेकी का चित्त प्रसन्नता-स्वच्छता निर्मलता रूप प्रसाद को

आसुरीं सम्पदं हित्वा भजेद्यो दैवसम्पदम् । मोक्षैककाङ्क्षया नित्यं तस्य चित्तं प्रसीदति ॥७॥
परद्रव्यपरद्रोहपरनिन्दापरस्त्रियः । नालम्बते मनो यस्य तस्य चित्तं प्रसीदति ॥८॥
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः समत्वेन पश्यति । सुखं दुःखं विवेकेन तस्य चित्तं प्रसीदति ॥९॥

शिष्टान्नमीशार्चनमार्यसेवां तीर्थाटनं स्वाश्रमधर्मनिष्ठाम् ।
यमानुषक्तिं नियमानुरक्तिं चित्तप्रसादस्य वदन्ति तज्ज्ञाः ॥१०॥

श्रुत्या सत्त्वपुराणानां सेवया सत्त्ववस्तुनः । अनुवृत्त्या च साधूनां सत्त्ववृत्तिः प्रजायते ॥११॥

सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्र० ॥

ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः । ते नराः सुखमेधन्ते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥१२॥
अन्त्येषु रेमिरे धीरा न ते मध्येषु रेमिरे । अन्त्यप्राप्तिं सुखामाहु दुःखमन्तरमन्त्ययोः ॥१३॥
ये च बुद्धिसुखं प्राप्ता द्वन्द्वातीता विमत्सराः । तान्नैवार्था नचानर्था व्यथयन्ति कदाचन ॥१४॥
अथ ये बुद्धिमप्राप्ता व्यतिक्रान्ताश्च मूढताम् । तेऽतिवेलं प्रहृष्यन्ति सन्तापमुपयान्ति च ॥१५॥
बुद्धिमन्तं कृतप्रज्ञं शुश्रूषुमनसूयकम् । दान्तं जितेन्द्रियं चापि शोको न स्पृशते नरम् ॥१६॥
यदा संहरते कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः । तदाऽऽत्मज्योतिरात्माऽयमात्मन्येव प्रपश्यति ॥१७॥

महाभा० शान्तिप० अ० १७४॥

इति पञ्चदशं स्तम्भप्रकरणं समाप्तम् ॥

प्राप्त करता है, उससे सब मन्दता नष्ट होती है ॥ ६ ॥ केवल मोक्ष की इच्छा से जो सदा आसुरी सम्पत् हिंसादि को त्याग कर, दैवी सम्पत्ति अभयादि का सेवन करता है, उसका मन प्रसन्न होता है ॥ ७ ॥ जिसका मन परद्रव्यादि को नहीं चाहता है, उसका चित्त प्रसन्न होता है ॥ ८ ॥ जो अपने समान सब प्राणियों में सुख दुःख को तुल्य रूप से विवेक द्वारा देखता है, उसका चित्त प्रसन्न होता है ॥ ९ ॥ यज्ञशिष्ट अन्न का भोजन, ईश्वर की पूजा, आर्य की सेवा, तीर्थाटन, अपने आश्रम के धर्म में स्थिति, अहिंसा सत्यादि रूप यम में अनुषक्ति = सम्बन्ध, शौचादि नियम में प्रेम को विद्वान् लोग चित्त की प्रसन्नता शुद्धि का हेतु कहते हैं ॥१०॥ सात्त्विक पुराणों के श्रवण से, सात्त्विक वस्तु के सेवन से, साधुओं की अनुवृत्ति = संग से सात्त्विक वृत्ति होती है, बुद्धि बढ़ती है ॥ ११ ॥ जो लोक में मूढ़तम = सुषुप्तिस्थ हैं, जो बुद्धि से पर प्राप्त = आत्मानिष्ठ-समाधिस्थ हैं, वे मनुष्य सुख स्वरूपता को पाते हैं, और अन्तर = भेद जिन को प्राप्त है सो भेद दर्शी अल्पज्ञ दुःखी होते हैं ॥ १२ ॥ धीर पुरुष अन्त्य = सुषुप्ति समाधि, में रमते हैं, मध्य = जाग्रत्स्वप्नादि में नहीं रमते हैं, और अन्त्य की प्राप्ति को सुखकारक कहते हैं, अन्त्य = सुषुप्ति समाधि के अन्तर = मध्य को दुखद कहते हैं ॥ १३ ॥ जो ज्ञानानन्द को प्राप्त हुए द्वन्द्व मत्सर रहित हैं, उनको अर्थ या अनर्थ कभी पीड़ित नहीं करते हैं ॥ १४ ॥ और जो आत्मज्ञान को नहीं पाये हैं, तथा मूढता को भी जो पार कर गये हैं, सो कभी अत्यन्त खुशी हर्षयुक्त होते हैं, कभी सन्ताप पाते हैं ॥ १५ ॥ बुद्धिमान् ज्ञानी शुश्रूषु असूया रहित दान्त जितेन्द्रिय मनुष्य को शोक नहीं प्राप्त होता है ॥ १६ ॥ कच्छप जैसे अंगों को समेटता है, वैसे जो जब कामों को समेटता है, तब यह जीवात्मा अपने ही में सत्यात्मज्योति को देखता है ॥ १७ ॥ पन्द्रहवाँ स्तम्भप्रकरण समाप्त ॥

अथ दुःखम् ॥ १६ ॥

बुद्धिमान्द्यादिसत्त्वे हि दुःखं भवति देहिनाम् । कर्मादिजमनन्तं तच्चिन्तनीयं मुमुक्षुभिः ॥१॥
कर्मसङ्गादिजं दुःखं सङ्ख्यातुं नैव शक्यते । सङ्गत्यागेन तत्त्यागं मन्ये कार्यमनुत्तमम् ॥२॥
दोषाणां परितस्त्यागाद् दुःखं सर्वं विनश्यति । दोषत्यागे ततो यत्नः कर्त्तव्यः सर्वमानवैः ॥३॥ तथापि—
दुःखं तु[1] त्रिविधं प्रोक्तमध्यात्ममधिभूतकम् । अधिदैवं च तत्रापि प्रथमं द्विविधं स्मृतम् ॥
शारीरं मानसं चेति वातकामादि दोषजम् ॥ ४ ॥
भूतेभ्यो मानुषादिभ्यो जातं स्यादधिभौतिकम् । देवेभ्यः शीतवातादिभवं स्यादधिदैविकम् ॥५॥ सांख्यग्रं० ।
न तद् व्यवसितं पुंसां न तत्कर्म न तद्वचः । न तद् भोग्यं समस्तीह यन्न दुःखाय जायते ॥६॥
तत्त्वतश्चिन्त्यमानं हि सर्वं दुःखं विवेकिनः । विषसम्पृक्तमधुवत्सर्वं दुःखी भवत्यदः ॥७॥
सुखाधिगमलोभेन यतमानो हि पूरुषः । सहस्रशाखमाप्नोति दुःखमेव तदर्जने ॥८॥
यत्सुखं दुःखमेवाहुः क्षणनाशानुभूतितः । अकृत्रिममनाद्यन्तं यत्सुखं तत्सुखं विदुः ॥९॥
दुःखं जन्म जरादुःखं दुःखं मृत्युः पुनः पुनः । संसारमण्डलं दुःखं पच्यन्ते यत्र जन्तवः ॥१०॥
न्यायमञ्ज० ॥
जठराग्नौ भवेत्तप्तो गर्भो मातुः सदैव हि । दुःखमेव तदा तस्य सुखं किञ्चिन्न विद्यते ॥११॥

अथ दुःख—बुद्धि की मन्दता आदि के रहते कर्मादि से जन्य अनन्त दुःख देहियों को होते हैं, सो मुमुक्षुओं से चिन्तनीय हैं ॥ १ ॥ कर्म और कुसङ्गादि से जन्य दुःख अनन्त हैं; वे विशेष रूप से गिनने के योग्य नहीं है, तो भी सङ्गादि त्याग से दुःखों के त्याग को सब कार्य से श्रेष्ठ कार्य मानता हूँ ॥ २ ॥ दोषों को सर्वथा त्यागने से सब दुःख विनष्ट होते हैं, इसलिये दोषों के त्याग में सब मनुष्यों को यत्न कर्तव्य है ॥ ३ ॥ यद्यपि विशेष व्यक्ति रूप से दुःख असंख्य है, तथापि सामान्य रूप से अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव रूप से दुःख तीन ही प्रकार के हैं; तिन में भी पहला = अध्यात्म, शारीर और मानस भेद से दो प्रकार का कहा गया है, तिनमें वातपित्तादि जन्य शारीर दुःख है, और कामादिजन्य मानस है ॥ ४ ॥ मनुष्यादि रूप = भूत प्राणी, से जन्य दुःख को आधिभौतिक कहते हैं, देव से होने वाला शीतवातादि जन्य आधिदैविक हैं ॥ ५ ॥ पुरुष के व्यवसाय = निश्चय-मानस व्यवहार दैहिक कर्म, वा वचन, और भोग्य वस्तु, कोई भी ऐसा नहीं है कि जो कभी दुःख के हेतु नहीं हो ॥ ६ ॥ यथार्थ रूप से देखी गई सब वस्तु विषयुक्त मधु के समान विवेकी के लिये दुःख का हेतु है, इसी से सब दुःखी होते हैं ॥ ७ ॥ सुख की प्राप्ति के लोभ से यत्न करने वाला मनुष्य भी उस सुख के अर्जन में हजारों शाखायुक्त दुःख ही पाता है ॥ ८ ॥ संसार के जो सुख है, वे दुःख ही हैं, क्योंकि क्षण में उन के नाश के अनुभव से इष्ट वियोग जन्य दुःख होता है, इससे अकृत्रिम आदि अन्तरहित जो सुख है, सोई सुख है ॥ ९ ॥ जन्म, जरा, बार २ मरण, संसार मण्डल (संसार के संघात-प्रदेश) में दुःख ही है, जहाँ प्राणी पीड़ित होते हैं ॥ १० ॥ माता के जठराग्नि में गर्भ = अर्भक-बच्चा सदा तपता है, इससे

---

१. अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः । सांख्यदर्श० १।१॥ हेयं दुःखमनागतम् । योगदर्श० २।१६॥

रौरवादिषु यद् दुःखं नरकेषु निरन्तरम् । गर्भे तत्कोटिगुणितं भवेद् दुःखं न संशयः ॥१२॥
व्याधिपीडा महातीव्रा क्षुत्पीडा च दिने दिने । पिपासा च महापीडा कथं याति सुखं नरः ॥१३॥
अक्षरग्रहणे पीडा, पीडा च पठने तथा । शब्दजालस्य दुःखाब्धे र्न पारो दृश्यते मया ॥१४॥
श्रौतस्मार्तसदाचारे महापीडा च दारुणा । निषिद्धपरिहारे च कथं याति सुखं नरः ॥१५॥
स्त्रीणामाराधने दुःखं तासां संरक्षणेऽपि च । तासां परिभवे दुःखं दुःखमेव विचारतः ॥१६॥
इन्द्रलोके महादुःखं प्राजापत्ये महत्तरम् । विष्णुलोके च रौद्रे च दुःखमेव विचारतः ॥१७॥
राज्यभारे महद् दुःखममात्यत्वे महत्तरम् । दासभावे महद् दुःखं दुःखमेव विचारतः ॥१८॥
वायुपीडाऽग्निपीडा च तोयपीडा तथैव च । सर्पादिदंशने पीडा दुःखमेव विचारतः ॥१९॥

सूतसं० यज्ञवैभवखं० अ० १७ ॥

इच्छाद्वेषो भयं मोहः क्षुत्तृण् निद्रा तथैव च । विण्मूत्रबाधा चेत्येतदचिकित्स्यं हि देहिनाम् ॥२०॥
सात्त्विका मोक्षमिच्छन्ति राजसा विषयानपि । तामसा विषयानेव नेच्छाशून्योऽस्ति कश्चन ॥२१॥
विषयान् सात्त्विको द्वेष्टि राजसो वैरिणोऽपि च । तामसो वैरिणः शुद्धानिति द्वेषात्मकं जगत् ॥२२॥
सात्त्विकस्य भयं मोहाद्राजसस्य यमादपि । तामसस्य च राजादेः केवलादिति भी र्नृषु ॥२३॥
सात्त्विकस्यात्मनोऽज्ञानं विद्यादे राजसस्य च । तामसस्य च सर्वत्र मोह एवं व्यवस्थितः ॥२४॥

उस समय उस को दुःख ही है, कुछ भी सुख नहीं है ॥ ११ ॥ रौरवादि नामक नरकों में जो निरन्तर दुःख होता है, गर्भ में उस के कोटिगुना दुःख होता है, इस में संशय नहीं है ॥ १२ ॥ व्याधि की पीड़ा महातीव्र होती है, तथा भूख पिपासा की महापीड़ा प्रतिदिन होती है, फिर मनुष्य सुख कैसे पाता है ? ॥ १३ ॥ अक्षर के ज्ञान करने में पढ़ने में पीड़ा है, दुःख के समुद्र रूप शब्द जाल का पार मुझे नहीं दीखता है ॥ १४ ॥ श्रुति स्मृति में वर्णित सदाचार के पालन में भयंकर महापीड़ा है, तथा निषिद्ध कर्मादि के त्याग में भी वैसी ही पीड़ा है, फिर मनुष्य सुख कैसे पावे ? ॥ १५ ॥ स्त्री के आराधने = संतुष्ट करने में, उस की रक्षा में दुःख ही है, तथा उस के परिभव = अनादर-तिरस्कार में, दुःख है, इससे विचार से दुःख ही है ॥ १६ ॥ इन्द्र लोक में असुरादि जन्य महादुःख है, प्रजापति के लोकादि में उससे भी भारी दुख है, तथा विष्णु रुद्र के लोकों में विचार से दुःख ही सिद्ध होता है ॥ १७ ॥ राज्य के भार में महादुःख है, मन्त्रिता में उससे भी अधिक दुखः है, दासता में महादुःख है, विचार से दुःख ही है ॥ १८ ॥ वायु आदि से सर्पादि काटने से पीड़ा है, विचार से दुःख ही है ॥ १९ ॥ इच्छा, द्वेष, भय, मोह, भूख, प्यास, निद्रा, शौच पेशाब की बाधा, ये आठ दुःख प्राणियों के चिकित्सा (रोगनिवारण के उपाय) रहित हैं ॥ २० ॥ क्योंकि सात्त्विक मनुष्य मोक्ष चाहते हैं, राजस विषय मोक्ष दोनों चाहते हैं, तामस केवल विषय चाहते हैं, अतः इच्छा रहित कोई नहीं है ॥ २१ ॥ सात्त्विक विषयों के द्वेषी होते हैं, राजस वैरी और विषय दोने के द्वेषी हैं तामस केवल वैरी के ही द्वेषी होते हैं, इससे द्वेषात्मक जगत् है ॥ २२ ॥ सात्त्विक को मोह से भय होता है, राजस को यम मोह दोनों से भय है, तामस को केवल राजा आदि से भय होता है, इससे मनुष्य मात्र में भय है ॥ २३ ॥ सात्त्विक को आत्मा का अज्ञान है, राजस को विद्या आदि का अज्ञान है, तामस को सर्वत्र अज्ञान है, इस

क्षुत्तृण्निद्रा च सर्वेषां भूतानामेकरूपतः । स्थावरव्यतिरिक्तानां बाधा विण्मूत्रयोरपि ॥२५॥
अथवा सर्वजन्तूनां बाधा विण्मूत्रयो र्ध्रुवम् । स्थावरा अपि दृश्यन्ते यतो निर्यासमोक्षिणः ॥२६॥
इति दोषाष्टकं सर्वैरचिकित्स्यं हि देहिभिः । विना ब्रह्मात्मताज्ञानं देहित्वाभावकारणम् ॥२७॥
मुमूर्षुं मृगपोताभं संसारवनमध्यगम् । हन्ति व्याधिशरेणैव मृगयुः कालसञ्ज्ञकः ॥२८॥
प्रस्विन्नवदनं दीनं हिक्काशतसमावृतम् । निरीक्ष्य करुणामेति न मृत्यु र्निष्ठुराशयः ॥२९॥
कोट्यर्द्धसहिता स्तिस्रः कोट्यः सूच्यः सुतीक्ष्णकाः। यादृक् शरीरिणः कुर्यु स्तादृग् दुःखं मृतौ नृणाम् ॥३०॥
मुनीनामपि देवानां ब्रह्मादीनां हि शास्त्रतः । अनुमानाच्च गम्येत सुखदुःखोपभोगिता ॥३१॥
आत्मपु० अ० १ ॥

कदलीस्तम्भवत्सर्वो देहः सारविवर्जितः । जलबुद्बुदवच्चापि विनश्यत्येव तत्क्षणात् ॥३२॥
तस्मिन् यत्साधनैः साध्यं सुखं तद् दुःखमेव हि । आनन्दात्मानमेवैकमिन्द्रं मां परिहाय च ॥३३॥
ततो हितं जगत्यस्मिन्नास्ति किञ्चित्कदाचन । कुतो हिततरं वा स्यादाशा हिततमं प्रति ॥३४॥
तथापि नरदेवादेः सुखं हितमितीरितम् । विरागस्तस्य लोकेऽस्मिन् ज्ञेयो हिततरस्ततः ॥३५॥
अस्माद्धिततमं ज्ञेयं ज्ञानं मे सविशेषणम् । उत्पन्नं न विनश्येद्यद्वासनाशतकोटिभिः ॥३६॥
विरागो दुःखसन्त्यागे हेतु र्भवति नैव हि । सुखबोध इदं त्वत्र तस्माद्धिततमं स्मृतम् ॥३७॥
आत्मपु० अ० २। प्रतर्दनं प्रति सुरेन्द्रोक्तिः ॥

प्रकार मोह = अज्ञान व्यवस्थित हैं ॥ २४ ॥ स्थावर से भिन्न सब प्राणियों को शौच पेशाब की पीड़ा अधिक और भूख पिपासा निद्रा सब को तुल्य है ॥ २५ ॥ अथवा सब प्राणियों को शौच पेशाब की बाधा भी अवश्य है, जिससे स्थावर भी निर्यास = कषाय-रस के त्यागने वाले देखे जाते हैं ॥ २६ ॥ उक्त आठ दोष देहित्व के अभाव के कारण जो ब्रह्मरूपता का ज्ञान उसके बिना सब देहियों को अनिवार्य हैं ॥ २७ ॥ संसार रूप वन के मध्यगत, मृग के पोत = शिशु-बच्चा के तुल्य मुमूर्षु = मरणोन्मुख को कालरूप मृगयु = व्याधा रोगरूप शर से मारता है ॥ २८ ॥ वह क्रूराशय मृत्यु = काल, प्रस्वेद युक्त मुख वाले, दीन सैकड़ो हिचकी युक्तों को देखकर करुणा नहीं करता है ॥ २९ ॥ साढ़े तीन करोड़ तीक्ष्ण सुइयाँ चुभाने से प्राणी को जैसा दुःख हो, वैसा दुःख मरण में मनुष्य को होता है ॥ ३० ॥ मुनि आदि के सुख दुःख के उपभोगों को भी शास्त्र और देहित्व रूप हेतु से समझना चाहिये ॥ ३१ ॥ केला के बुद्बुद के तुल्य सब देह सार रहित है तिससे क्षणमात्र में नष्ट होती ही है ॥ ३२ ॥ आनन्द स्वरूप एक सत्य आत्मा के बिना, जो साधनों से उस तुच्छ शरीर को सुख होता है; सो दुःख ही है ॥ ३३ ॥ अतः इस जगत् में कभी कुछ भी हित नहीं है, अच्छा श्रेष्ठ हित तो किससे होगा ? परन्तु मनुष्यों की आशा अति श्रेष्ठ हित के लिये रहती हैं ॥ ३४ ॥ तो भी मनुष्य और देवादि के सुख को हित कहा गया है, उस सुख के राग (इच्छा प्रेम) का अभाव रूप विराग इस लोक में उससे श्रेष्ठ हित है ऐसा जानना चाहिये ॥ ३५ ॥ उस विराग से भी अत्यन्त हित रूप = आत्मा का विशिष्ट अपरोक्ष ज्ञान है, जो उत्पन्न हुआ ज्ञान सौ करोड वासनाओं से नष्ट नहीं हो सके ॥ ३६ ॥ केवल विराग दुःखों के सम्यक् त्याग में हेतु नहीं होता हैं, न सुख स्वरूप के बोध = प्रकटता में हेतु होता है, और यह विशिष्ट ज्ञान तो इन दोनों में हेतु

शरीरेन्द्रियपुत्राद्या ब्रह्मणोऽपीश्वरस्य वा । भवन्ति सर्वथा सर्वे स्वाधीना नैव सर्वदा ॥
ततो दुःखं समुद्दिष्टा इमे सर्वे शरीरिणाम् ॥ ३८ ॥ आत्मपु० अ० ५॥
आत्माज्ञानेन जन्तूनां तथा बाह्यस्य दर्शनात् । विषये जायते कामः कामाद् दुःखं च जायते ॥३९॥
विषयावाप्तितः कामो विनश्यति तदा हि सः । यावदन्यो न जायेत तस्मिन्नपि परत्र वा ॥४०॥
कामस्य तस्य नाशेन तज्जं दुःखं विनश्यति । यावद्दुःखविनाशोऽयमात्मन्यस्मिन् स्थितो भवेत् ॥४१॥
अज्ञानावृतमेतावद्विक्षेपरहितं स्फुरेत् । आत्मरूपं ततस्तत्स्यादावृतं सुखशब्दभाक् ॥४२॥आ०पु०अ०६॥
यथा जलगतो मत्स्यो मोहितो बडिशाशया । अनवाप्य सुखं किञ्चिद् दुःखं मरणमाव्रजेत् ॥४३॥
एवं स्वर्गं च भोगं च समिच्छन् पुरुषः सदा । अनवाप्य सुखं भूरि दुःखमेवानुगच्छति ॥४४॥
आत्मपु० अ० ६॥
अज्ञानं हि यदैव स्यात्तदाऽहन्ता प्रजायते । रागद्वेषभयैः सार्द्धं ममतायास्तु कारणम् ॥४५॥
अज्ञाने विलयं याते यात्यहन्तालयं ततः । तल्लये केन दुःखानि प्राप्नुयादेष मानवः ॥४६॥
अभिमानेन रहिते यथा देहान्तरे पुमान् । सुखदुःखे न यात्येवमस्मिन्नपि वपुष्ययम् ॥४७॥
आत्मपु० अ० ८॥
क्षुत्तृष्णोपशमं तद्वच्छीताद्युपशमं सुखम् । मन्यन्ते बालबुद्धित्वाद् दुःखमेव हि तत्पुनः ॥४८॥
अत्यन्तस्तिमिताङ्गानां व्यायामेन[1] सुखैषिणाम् । भ्रान्तिज्ञानावृताक्षाणां दुःखमेव सुखायते ॥४९॥

होता है, अतएव हिततम कहा गया ह ॥ ३७ ॥ शरीर इन्द्रिय पुत्रादि पदार्थ, ब्रह्मा या ईश्वर के भी ये सब सदा सर्वथा स्वाधीन नहीं रहते हैं, अतः देहधारियों के ये देहादि सब पदार्थ दुःख रूप ही कहे गये हैं ॥ ३८ ॥ आत्मा के अज्ञान से और बाहर के वस्तुओं के दर्शनसङ्गादि से विषय की इच्छा होती है, तिससे दुःख होता है ॥ ३९ ॥ विषय की प्राप्ति से उस समय वह इच्छा नष्ट हो जाती है, फिर जब तक उस विषय की वा अन्य विषय की इच्छा नहीं होती है, तब तक उस काम के नाश से कामजन्य दुःख विनष्ट रहता है, और इच्छा के विनाश = अभाव काल तक यह जीव इस सुख स्वरूप आत्मा में स्थिर होता है ॥ ४०–४१ ॥ और जब तक यह आत्मा में स्थिर रहता है, तब तक अज्ञान से आवृत्त भी आत्मस्वरूप विक्षेप रहित प्रकाशता है, तिससे वही आवृत्त आत्मस्वरूप सुख शब्द का अर्थ होता है ॥ ४२ ॥ जैसे वंशी के अन्नादि की आशा से मोहयुक्त जलगत मछली कुछ भी सुख नहीं पा कर दुःख और मरण पाती है, तैसे ही पुरुष भी स्वर्ग और भोग को सदा चाहता हुआ, सुख नहीं पा कर बहुत दुःख ही पाता हैं ॥ ४३–४४ ॥ जब अज्ञान रहता है, तभी अहंकार भी होता है, सो अहंकार, रागद्वेष भय सहित, ममता का कारण होता है ॥ ४५ ॥ अज्ञान के विलय होने से अहंकार का विलय होता है, फिर उस अहंकार के लय होने पर यह मनुष्य दुःख किससे पा सकता है ? दुःखरहित हो जाता है ॥ ४६ ॥ अभिमान रहित दूसरे की देह में जैसे पुरुष सुख दुःख को नहीं पाता है, वैसे यह अपनी देह में भी अभिमान के अभाव काल में सुख दुःख नहीं पाता है ॥ ४७ ॥ अभिमानादि से ही भूख प्यास की निवृत्ति को तथा शीतादि की निवृत्ति को बाल बुद्धित्व = अल्पज्ञता से मनुष्य सुख मानता है, फिर भी वह दुःख ही है ॥ ४८ ॥ अत्यन्त स्तिमित = जकड़े अङ्गवालों, व्यायाम से सुख चाहने वालों,

---

१. लाघवं कर्मसामर्थ्यं स्थैर्यं क्लेशसहिष्णुता । दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते ॥ भावप्र० खं० १।४।५७॥

क्व शरीरमशेषाणां श्लेष्मादीनां महाचयः । क्व क्रान्तिशोभासौन्दर्यरमणीयादयो गुणाः ॥५०॥
मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ । देहे चेत्प्रीतिमान् मूढो भविता नरकेऽप्यसौ ॥५१॥
करोति हे दैत्यसुताः ! यावन्मात्रं परिग्रहम् । तावन्मात्रं स एवास्य दुःखं चेतसि यच्छति ॥५२॥
यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान् । तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ॥५३॥
बाल्ये क्रीडनकासक्ता यौवने विषयोन्मुखाः । अज्ञा नयन्त्यशक्त्या च वार्द्धकं समुपस्थितम् ॥५४॥
तस्माद् बाल्ये विवेकात्मा यतेत श्रेयसे सदा । बालयौवनवृद्धाद्यै र्देहभावैरसंयुतः ॥५५॥
विष्णुपु० अंश १।१७।६०। इत्यादि । प्रह्लादोक्तिः ॥

अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो नान्यत्ततः कारणकार्यजातम् ।
इदृङ्मनो यस्य न तस्य भूयो भवोद्भवा द्वन्द्वगदा भवन्ति ॥५६॥ विष्णुपु० अंश० १।२२।८७ ॥

यद्यत्प्रीतिकरं पुंसां वस्तु मैत्रेय ! जायते । तदेव दुःखवृक्षस्य बीजत्वमुपगच्छति ॥५७॥
विष्णुपु० अंश० ६।५।५५ ॥

सर्वाशी सर्वविक्रेता नमस्कारविवर्जितः । यो न मां प्रतिपद्येत ततो दुःखतरं नु किम् ॥५८॥
प्राप्तकाले वैश्वदेवे दृष्ट्वा चातिथिमागतम् । अदत्त्वा तस्य यो भुङ्क्ते ततो दुःखतरं नु किम् ॥५९॥
अकृत्वा पुष्कलं कर्म गृहे संवसते नरः । मृत्युकालवशं प्राप्तस्ततो दुःखतरं नु किम् ॥६०॥
विद्यमाने धने केचित्कृपणा भोगवर्जिताः । दरिद्रो जायते दाता ततो दुःखतरं नु किम् ॥६१॥

और भ्रम से आवृत्त विवेक वालों के लिये दुःख ही सुख रूप प्रतीत होता है ॥ ४९ ॥ कहाँ तो सब के शरीर श्लेष्मा = कफ, आदि के महान समूह रूप हैं, तो भी भ्रम से देह में कहाँ के कान्ति = तेज शोभा सुन्दरता रमणीयता आदि गुण भासते हैं ॥ ५० ॥ मांसरुधिरादि के संघात रूप देह में यदि मूढ़ पुरुष प्रीतिवाला है, तो वह नरक में भी प्रीति वाला होगा ही ॥ ५१ ॥ हे दैत्यपुत्र ! जो कोई जितना ही परिग्रह = संग्रह करता है, वह संग्रह ही उसको उतना ही दुःख चित्त में देता है ॥ ५२ ॥ प्राणी जितना ही अपने मन के प्रिय सम्बन्धों को करता है, उतने ही इसके हृदय में शोक रूप कील गाड़े जाते हैं ॥ ५३ ॥ बाल्यावस्था में क्रीडापरायण, यौवन में विषयेच्छुक अज्ञ समुपस्थित वृद्धता को अशक्ति से बिताता है ॥ ५४ ॥ अतः विवेकयुक्त मन वाला बाल्यावस्था में ही कल्याण के लिये सदा यत्न करे, और बाल्य यौवन वृद्धतादि रूप देह के भाव = स्वभावों से असंयुक्त रहे, इनकी भावना आत्मा में नहीं करे ॥ ५५ ॥ क्योंकि जिस के मन ने ऐसा निश्चय कर लिया है, कि मैं सर्वज्ञ सर्वात्मा हरि स्वरूप हूँ, और यह सब जगत् जनार्दन = हरि स्वरूप है, और उस हरि से अन्य कार्य कारण कोई वस्तु सत्य नहीं है, उस पुरुष को फिर कभी संसार में प्रकट होने वाले द्वन्द्वरूप रोग नहीं होते हैं ॥ ५६ ॥ ऐसा समझे बिना हे मैत्रेय ! जो २ वस्तु पुरुष को प्रीतिकर होती है, वही सब फिर दुःखरूप वृक्ष के बीजत्व को प्राप्त करती है ॥ ५७ ॥ सर्वभक्षी, सर्वविक्रयी, नमस्कार = संध्यावन्दनादि से रहित जो मनुष्य ईश्वर को नहीं जानता है, तो इससे अधिक दुःख का कारण क्या है ? ॥ ५८ ॥ वैश्वदेव कर्म के प्राप्त काल में आगत अतिथि को देख कर, उसे दिये बिना जो खाता है तो इससे दुःखतर क्या होगा ? ॥ ५९ ॥ जो मनुष्य गृह में सम्यग् बसता है, तथापि पुष्कल = पूर्ण-श्रेष्ठ कर्म किये बिना मृत्युकाल के वश हो गया, तो इससे दुःखतर क्या है ? ॥ ६० ॥ धन रहते कोई कृपण भोग रहित है, और दरिद्र दाता

लब्ध्वापि मानुषीं सञ्ज्ञां पञ्चभूतसमन्विताम् । मामेव न प्रपद्यन्ते ततो दुःखतरं नु किम् ॥६२॥

वराहपु० अ० ११६ ॥

देवानां चैव दैत्यानामन्योन्यविजिगीषया । दुःखमेव नृपाणां च राक्षसानां जगत्त्रये ॥६३॥

लिङ्गपु० अ० ८६।४५ ॥

व्याधेरनिष्टसंस्पर्शाच्छ्रमादिष्टविवर्जनात् । चतुर्भिः कारणै र्दुःखं शारीरं मानसं च यत् ॥६४॥

स्कन्दपु० खं० १-२।४६।२८ ॥

पुरा कृतानि पापानि दुःखानीह भवन्ति हि । तानि यः क्षमते साध्वी पुरुषो वा स उत्तमः ॥६५॥

स्कन्दपुरा० ॥

अत्रापि कर्मणां कर्त्तु रस्वातन्त्र्यं च लक्ष्यते । भोक्तुश्च सुखदुःखयोः कोऽन्वर्थं विवशं भजेत् ॥६६॥
न देहिनां सुखं किञ्चिद्विद्यते विदुषामपि । तथा च दुःखं मूढानां वृथाऽहङ्करणं परम् ॥६७॥
यदि प्राप्तिं विघातं च जानन्ति सुखदुःखयोः । तेऽप्यद्धा न विदु र्योगं मृत्यु र्न प्रभवेद्यथा ॥६८॥
कोन्वर्थः सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरन्तिके । आघातं नीयमानस्य वद्धस्येव न तुष्टिदः ॥६९॥
कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन् देहेन तैः पुनः । देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्त्यधर्मिणः ॥७०॥
यावत्स्याद् गुणवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः । नानात्वमात्मनो यावत्पारतन्त्र्यं तदैव हि ॥७१॥
यावदस्यास्वतन्त्रत्वं तावदीश्वरतो भयम् । य एतत्समुपासीरंस्ते मुह्यन्ति शुचार्पिता ः॥७२॥

भागवतस्क० ११।१०।१७। इत्यादि ॥

होता है तो इससे दुःख की बात कौन है ? ॥ ६१ ॥ पांचभूतों से सम्यग् युक्त मानुषी संज्ञा=नाम-चेतना को पाकर भी जो ईश्वर को नहीं जानता है, तो उसमें इससे अधिक दुःख का कारण क्या होगा ? ॥ ६२ ॥ देवादि सब को परस्पर विजय की इच्छा से भी सर्वत्र दुःख ही हैं ॥ ६३ ॥ रोग, अनिष्ट का सम्बन्ध, श्रम, इष्ट का अभाव इन चार कारणों से शारीरिक और मानसिक, दुःख होते हैं ॥ ६४ ॥ पूर्व जन्म का किया हुआ पाप यहाँ दुःख रूप होता है, उसको जो साध्वी स्त्री सहती हैं, उस दुःख में घबड़ाती नहीं है, न कुमार्ग में जाती है, तैसे ही पुरुष सहता है, सो सब उत्तम हैं ॥ ६५ ॥ अत्रापि (इस जीव की स्वतन्त्रता पक्ष में भी) कर्मों के कर्त्ता और सुख दुःखों के भोक्ता की अस्वतन्त्रता दीखती है, विवश अर्थ को कौन विवेकी सेवेगा ? ॥ ६६ ॥ विद्वान् देहियों को भी कुछ सुख नहीं हैं, तथा मूढ़ों को तो दुःख ही है, केवल व्यर्थ अहङ्कार मात्र है, कि हम कर्म में कुशल होने से सुखी हैं, इत्यादि ॥ ६७ ॥ यदि कोई सुख दुःख की प्राप्ति और विनाश को जानते भी हैं, तो वे भी सत्य उस प्रकार के योग को नहीं जानते हैं, कि जिस प्रकार के योग उपाय से मृत्यु न हो ॥ ६८ ॥ और वध के स्थान में बलात्कार प्राप्त कराया जाता हुआ बन्धन युक्त वध योग्य अपराधी के समान मृत्यु के पास में प्राप्त इस जीव को कौन अर्थ=धन, वा काम्य विषय सुख कारक होता है ? उस वद्ध के समान ही कोई अर्थ वा काम इस को तुष्टि प्रद नहीं होता ॥ ६९ ॥ देह से भावी दुःख रूप फलवाले कर्मों को करने वाला उन कर्मो से फिर देह पाता है, तो वहाँ मरण स्वभाव वाले को सुख क्या है ? ॥ ७० ॥ जब तक राग द्वेषादि-रूप गुणों की विषमता है, तब तक आत्मा का नानात्व है, और जब तक नानात्व भेदभाव है, तभी तक परतन्त्रता है ॥ ७१ ॥ और जब तक इस को अस्वतन्त्रता है, तब तक ईश्वर से भय है, इससे जो इस

लोकेषु निर्धनो दुःखी ऋणग्रस्तस्ततोऽधिकम् । ताभ्यां रोगयुतो दुःखी तेभ्यो दुःखी कुभार्यकः ॥७३॥
सुभाषितर० ॥

आदिमध्यावसानेषु दुःखं सर्व मिदंजगत् । तस्मात्सर्वं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवेत्सदा ॥७४॥

यः पश्येत्सर्वगं शान्तमानन्दात्मानमद्वयम् । न तेन किञ्चिदाप्तव्यं ज्ञातव्यं वाऽवशिष्यते ॥७५॥

कृतकृत्यो भवेद्विद्वाञ्जीवन्मुक्तो भवेत्सदा । आत्मन्येवारूढभावो जगदेतन्न पश्यति ॥७६॥

कदाचिद् व्यवहारे तु द्वैतं यद्यपि पश्यति । बोधात्मव्यतिरेकेण न पश्यति चिदन्वयात् ॥७७॥

शास्त्रेण नश्येत्परमार्थरूपं, कार्यक्षमं नश्यति चापरोक्षात् ।
प्रारब्धनाशात्प्रतिभासनाश, एवं त्रिधा नश्यति चात्ममाया ॥७८॥ पञ्चीकरणवा० ॥

एकमेव सदा ब्रह्म सत्यमन्यद्विकल्पितम् । को मोहस्तत्र को शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७९॥

इति षोडशं दुःखप्रकरणं समाप्तम् ॥ प्रबो०चन्द्रोद० अ० ५ ॥

अथ नरकादिप्राप्तिः ॥ १७ ॥

कामक्रोधादिभिर्युक्तो हिंसादम्भसमन्वितः । नरकान्नरकं याति मोहमायामदान्वितः ॥१॥ उक्तं च—

निर्दयः सर्वभूतेभ्यो नित्यमुद्वेगकारकः । अपि कीटपतङ्गानामशरण्यः सुनिर्घृणः ॥२॥

एवं भूतो नरो देवि ! निरयं प्रतिपद्यते । विपरीतस्तु धर्मात्मा स्वरूपेणाभिजायते ॥३॥

गुण विषमता और परतन्त्रता दुःख फलद कर्म को सेवता है, सो शोक के वश होकर मोहित होता है ॥ ७२ ॥ लोक में निर्धन दुःखी है, उससे अधिक दुःखी ऋणग्रस्त है, उन दोनों से रोगी दुःखी है, सब से अधिक दुःखी कुबुद्धि कुभार्या वाला है ॥ ७३ ॥ "परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।" [योगदर्शन० २।१५] इत्यादि शास्त्रानुभव के अनुसार, आदि मध्य अन्त में सब यह जगद् दुःख रूप ही है, तिससे सब के आशाचिन्तनादि को त्याग कर मुमुक्षु तत्त्वात्मनिष्ठ हो ॥ ७४ ॥ जो कोई विभु निरुपद्रव अद्वैत आनन्द स्वरूप को जानता है, उस को कुछ भी जानने और पाने की वस्तु बाकी नहीं रहती है ॥ ७५ ॥ इससे वह विद्वान् कृतकृत्य और जीवन्मुक्त सदा रहता है, सदा सुखी होता है, क्योंकि आत्मा में ही स्थिर भाव = स्वभाव-प्रेम वाला होने से वह फिर दुःख रूप इस द्वैत जगत् को देखता ही नहीं है ॥ ७६ ॥ यद्यपि व्यवहार काल में कभी द्वैत को देखता है, तथापि द्वैत में भी सत्तास्फूर्ति रूप से चिदात्मा के अन्वय = व्याप्ति से द्वैत को ज्ञान स्वरूप आत्मा से भिन्नरूप से नहीं देखता है, आत्मा में ही मिथ्या कल्पित जगत् को समझता है ॥ ७७ ॥ तहाँ शास्त्रजन्यपरोक्ष ज्ञान से जगत् की परमार्थ रूपता नष्ट होती है, विचार ध्यानादिजन्यअपरोक्ष अनुभव से जगत् के कार्यक्षम = कार्य में समर्थ, रूप नष्ट होता है, और प्रारब्ध के नाश से जगत् की प्रतीति का नाश होता है, इस रीति से आत्ममायामय यह दुःख रूप संसार तीन प्रकार से नष्ट होता है ॥ ७८ ॥ सत्य ब्रह्म सदा एक ही है, अन्य सब मिथ्या है, वहाँ एकता को देखने वाले को शोक मोहादि कोई नहीं है ॥ ७९ ॥ सोलहवाँ दुःख प्रकरण समाप्त ॥

अथ नरकादि प्राप्ति—काम क्रोधादि युक्त, हिंसादम्भ से सम्बन्ध वाले, तथा मोह कपटाहंकार सहित प्राणी नरक से नरक में जाते हैं ॥ १ ॥ सो कहा है कि सब प्राणियों के प्रति निर्दय, और कीट पतंगादि के भी सदा उद्वेग कारक, शरणागत के अरक्षक, अति निर्दय, हे देवि ! ऐसे मनुष्य नरक पाते

निरयं याति हिंसात्मा याति स्वर्गमहिंसकः । यातनां निरये रौद्रां सकृच्छ्रां लभते नरः ॥४॥
ब्रह्मपु० अ० ११६।४६। इत्यादि ॥

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूजनीयो न पूज्यते । त्रीणि तत्र प्रवर्त्तन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम् ॥५॥
ईश्वरस्य च ये भक्ताः शान्तास्तद्गतमानसाः । कर्मणो हि फलं तेषां प्रयच्छति सदा शिवः ॥६॥
केवलं कर्म चाश्रित्य निरीश्वरपरा जनाः । निरयं ते च गच्छन्ति कोटियज्ञशतैरपि ॥७॥
पुनः कर्ममयैः पाशै र्बद्धा जन्मनि जन्मनि । निरयेषु प्रपच्यन्ते केवलं कर्मरूपिणः ॥८॥
स्कन्दपु० केदारखं० १।३॥

देवासुराणां सर्वेषां मानुष्यमतिदुर्लभम् । तत्सम्प्राप्य तथा कुर्यान्न गच्छेन्नरकं यथा ॥९॥
सर्वस्य मूलं मानुष्यं तथा सर्वार्थसाधकम् । यदि लाभे न यत्नस्ते मूलं रक्ष प्रयत्नतः ॥१०॥
महता पुण्यमूल्येन क्रियते कायनौस्त्वया । गन्तुं दुःखोदधेः पारं तर यावन्न भिद्यते ॥११॥
अविकारिशरीरत्वं दुष्प्राप्यं प्राप्य वै ततः । नापक्रामति संसारादात्महा स नराधमः ॥१२॥
स्कन्दपु० कौमारिकखं० अ० २। नारदोक्तिः ॥

प्राणिनां परमो लाभः केवलं प्राणिसौहृदम् । दरिद्रा रागिणोऽसत्यप्रतिज्ञाता गुरुद्रुहः ॥
मित्रावमानिनः पापाः प्रायो नरकमण्डनाः ॥ १३ ॥ स्कन्दपु० खं० १-२। अ० १०।२८॥

यस्य पुण्यं पृथुतरं पापमल्पं हि जायते । स पूर्वं दुःखितो भूत्वा पश्चात्सौख्यान्वितो भवेत् ॥१४॥
पापं पृथुतरं यस्य पुण्यमल्पतरं भवेत् । पूर्वं सुखी ततो दुःखी मिश्रस्यैतद्धि लक्षणम् ॥१५॥
स्कन्दपु० खं० १-२। अ० ४७।४३-४४॥

हैं, इन से विपरीत धर्मात्मा तो स्वरूप से स्थिर होते हैं ॥ २-३ ॥ हिंसक नरक में जाता है, स्वर्ग में अहिंसक जाते हैं। और वह नारकी नरक में दैहिक कष्ट सहित रौद्र=भयानक यातना = तीव्रवेदना को सहता है ॥ ४ ॥ अपूज्य जहाँ पूजे जाते हैं, पूज्य की पूजा नहीं होती, वहाँ दुर्भिक्ष मरण और भय ये तीन प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥ जो ईश्वर के भक्त ईश्वर में लगनमनवाले शान्त पुरुष हैं. उन के कर्मों के फलों को सदा ईश्वर देता है ॥ ६ ॥ केवल कर्म को मान कर जो निरीश्वर परायण जन हैं, सो श्रद्धा भक्ति आदि के बिना सौ करोड़ यज्ञ कर के भी नरक में जाते हैं ॥७॥ फिर भी कर्ममय पाशों से बँधकर केवल कर्म वाले जन्म २ में नरकों में पकते हैं ॥ ८ ॥ देव असुर सब को मनुष्यता अत्यन्त दुर्लभ है, उस मनुष्यता को पा कर, इस प्रकार का उपाय करे, कि जिससे नरक में नहीं जावे ॥ ९ ॥ सब का मूल मनुष्यता है, और सब अर्थ= प्रयोजन का साधक=हेतु है, यदि लाभ = अधिक फल रूप वृद्धि विषयक तेरा यत्न नहीं है, तो मूल मनुष्यता की यत्न से रक्षा करो ॥१०॥ महान् पुण्यरूप मूल्य=धन-वेतन से मानवकाय रूप नौका तुमने दुःख समुद्र के पार जाने के लिये खरीदी है—बनाई है, सो जब तक छिन्न भिन्न नहीं होती है, तब तक संसार से तरो ॥११॥ जो कोई रोगादि विकाररहित शरीरिता रूप दुष्प्राप्य वस्तु को पाकर संसार से पार नहीं होता है, सोई आत्मघाती नराधम है ॥ १२ ॥ सब प्राणियों के साथ सुहृद् भाव (द्वेषादि का अभाव-मित्रता) प्राणियों का केवल परम लाभ है, उसके बिना दरिद्र, रोगी, असत्य प्रतिज्ञावाले, मित्रावमानी ये पापी सब नरक के मण्डन=अलङ्करिष्णु होते हैं ॥ १३ ॥ जिसका पुण्य पृथुतर = अति महान् रहता है, और पाप अल्प होता है, वह प्रथम दुःखी होकर पीछे सुखी होता है ॥१४॥ और जिसका पाप ही बहुत रहता है, पुण्य

सुवर्णमाषं गामेकां भूमेरप्यर्द्धमङ्गुलम् । हरन्नरकमाप्नोति यावदाभूतसम्प्लवम् ॥१६॥
ब्रह्महत्या सुरापानं दरिद्रस्य तु यद्धनम् । गुरोः पत्नीहिरण्यं च स्वर्गस्थमपि पातयेत् ॥१७॥
स्कन्दपु० खं० ७ अ० २०७ ॥
न च मन्युस्त्वया कार्यः शृणु चेदं वचो मम । अवश्यं नरकास्तात ! द्रष्टव्याः सर्वराजभिः ॥१८॥
शुभानामशुभानां च द्वौ राशी पुरुषर्षभ ! । यः पूर्वं सुकृतं भुङ्क्ते पश्चान्निरयमेव सः ॥१९॥
पूर्वं नरकभाग् यस्तु पश्चात्स्वर्गमुपैति सः । भूयिष्ठं पापकर्मा यः स पूर्वं स्वर्गमश्नुते ॥२०॥
अवश्यं नरकास्तात ! द्रष्टव्याः सर्वराजभिः । ततस्त्वया प्राप्तमिदं मुहूर्तं दुःखमुत्तमम् ॥२१॥
महाभा० स्वर्गारोहप० अ० ३।१२। इत्यादि । युधिष्ठिरं प्रति देवोक्तिः ॥
गुर्वर्थमभयार्थं वा वर्जयित्वा युधिष्ठिरः । येऽनृतं कथयन्तीह ते वै निरयगामिनः ॥२२॥
परदाराभिहर्त्तारः परदाराभिमर्शिनः । परदाराप्रयोक्तारस्ते वै निरयगामिनः ॥२३॥
ये परस्वापहर्त्तारः परस्वानां च नाशकाः । सूचकाश्च परेषां ये ते वै निरयगामिनः ॥२४॥
प्रपाणां च सभानां च सङ्क्रमाणां च भारत ! । आगाराणां च भेत्तारो नरा निरयगामिनः ॥२५॥
अनाथां प्रमदां बालं वृद्धां भीतां तपस्विनीम् । वञ्चयन्ति नरा ये च ते वै निरयगामिनः ॥२६॥
वृत्तिच्छेदं गृहच्छेदं दारच्छेदं च भारत ! । मित्रच्छेदं तथाऽऽशायास्ते वै निरयगामिनः ॥२७॥
सूचकाः सेतुभेत्तारः परवृत्त्युपजीविकाः । अकृतज्ञाश्च मित्राणां ते वै निरयगामिनः ॥२८॥
महाभा० अनुशासनप० अ० २३ ॥

अति अल्प रहता है, वह प्रथम सुखी होकर फिर दुःखी होता है, यह पुण्य पाप दोनों के मिश्रित रहने का चिह्न है ॥१५॥ एक माषा सुवर्ण, वा एक गऊ, वा एक अंगुल भी भूमि का हरने वाला प्रलय काल तक नरक पाता है ॥ १६ ॥ ब्रह्मघात, मद्यपान, दरिद्र के धन का हरण, गुरुभार्यागमन, सुवर्ण का हरण रूप पाप स्वर्गस्थ को भी गिराता है ॥ १७ ॥ हे युधिष्ठिर ! तुझे मन्यु = शोकक्रोध नहीं करना चहिये, यह मेरा वचन सुनो कि–हे तात ! सब राजाओं को अवश्य नरक देखना पड़ता है ॥१८॥ हे पुरुष श्रेष्ठ ! शुभाशुभ कर्मों की दो राशि = (समूह) होती हैं, जो प्रथम पुण्य फल को भोगता है, वह पीछे नरक ही भोगता है ॥१९॥ प्रथम जो नरक भोगता है, सो पीछे स्वर्ग पाता है, जिस पापी के पाप बहुत होते हैं, सो प्रथम स्वर्ग भोगता है ॥२०॥ हे तात ! सब राजाओं को नरक अवश्य द्रष्टव्य है, अतः तुमने भी एक मुहूर्त यह भारी दुःख पाया है ॥ २१ ॥ हे युधिष्ठिर ! गुरु के प्रयोजन के लिये या किसी भारी भय के स्थान में अभय के लिये जो झूठ कहा जाता है, उस के विना जो यहाँ झूठ बोलते हैं, वे सब नरकगामी होते हैं ॥ २२ ॥ पर = अन्य की स्त्री को हरने वाले, उसका चिन्तनादि करने वाले, और उसे अपने उपभोग में लानेवाले नरकगामी होते हैं ॥ २३ ॥ पर धन के अपहर्ता, नाशक, और अन्य चोरादि के प्रति परधन के सूचक = वक्ता, नरकगामी होते हैं ॥ २४ ॥ प्रपा = जलशाला, सभा, संक्रम = मार्ग और गृह के नाशक नरकगामी होते हैं ॥२५॥ अनाथ स्त्री, बालक, वृद्धा, भीता और तपस्विनी को जो ठगते हैं सो नरकगामी हैं ॥ २६ ॥ हे भारत ! वृत्ति = जीविका, गृह, मित्र, आशा के छेदक, नरकगामी हैं ॥२७॥ सूचक = पिशुन, पुल के नाशक, अन्य की वृत्ति = जीविका को स्वीकार करनेवाले, मित्रों के अकृतज्ञ = उपकार को नहीं मानने वाले नरकगामी हैं ॥ २८ ॥

पुरुषाः पिशुनाश्चैव मानिनोऽनृतवादिनः। अतिवद्धप्रलापाश्च नरा नरकगामिनः ॥२९॥
ये परस्वापहर्त्तारः परस्वानां च सूचकाः। परश्रियाऽभितप्यन्ते नरा नरकगामिनः ॥३०॥
सर्वभूतेष्वविश्वस्ताः सर्वभूतेषु निर्दया। सर्वभूतेषु जिह्माश्च नरा निरयगामिनः ॥३१॥
आशया समनुप्राप्तान् क्षुत्तृष्णाश्रमकर्शितान्। येऽतिथीनवमन्यन्ते नरा निरयगामिनः ॥३२॥
मद्यपानरता नित्यं गीतवाद्यरतास्तथा। द्यूतस्तेयरताश्चैव नरा निरयगामिनः ॥३३॥
अयोनौ च वियोनौ च पशुयोनौ च भारत !। ये क्षिपन्ति नराः शुक्रं ते वै नरकगामिनः ॥३४॥
इतिहाससमुच० अ० ७ ॥
यः करोति जडान्धानां वणिक्कर्मणि वञ्चनम्। स याति निरयं घोरं धनं तस्यापि हीयते ॥३५॥
इतिहा० अ० १२।२३ ॥
पापेन सर्वदुःखानां नरो भवति भाजनम्। पापेन नरकं याति द्वेषश्चेह तथा भवेत् ॥३६॥
नरः पापसमाचारः पापादपि विनश्यति। पापमेकं परं दुखं सर्वेषां द्विजपुङ्गव ! ॥३७॥
कृतपुण्योऽपि यः पापं करोति पुरुषः क्वचित्। स्वर्गेऽपि न सुखं तस्य तद्भयादुपजायते ॥
स एकः पुरुषो लोके यस्य पापं न विद्यते ॥३८॥ विष्णुधर्मोत्तरपु० खं० २।२४० ॥
हरिसेवारतः शुद्धो योगी सिद्धो व्रती सती। तपस्वी ब्रह्मचारी च न याति नरकं यतिः ॥३९॥
ब्रह्मवैवर्त्तपु० खं० १।३०।१ ॥
सर्वेषामेव पापानां नास्तिक्यं पातकं परम्। नास्तिक्याद्धि परं नास्ति किञ्चित्पापं द्विजोत्तमाः ! ॥४०॥

पिशुन, अभिमानी, असत्यवादी, अत्यन्त प्रलाप = अनर्थक वचन वाले नरकगामी हैं ॥ २९ ॥ परधन हर्ता सूचक, और अन्य की सम्पत्ति से जलनेवाले, सब प्राणियों में विश्वास रहित, दया रहित, जिह्म = कुटिल, नरकगामी हैं ॥३०-३१॥ आशा से सम्यक् समय में प्राप्त, भूख पिपासा श्रम से पीड़ित, अतिथि का अनादर करनेवाले नरकगामी हैं ॥३२॥ सदा मद्यपान परायण गीत बाजा परायण, जुआ चोरी के प्रेमी नर नरकमासी हैं ॥३३॥ अयोनि = भूमि आदि में, विरुद्ध योनि में या पशुयोनि में वीर्यपात करनेवाले मनुष्य नरकगामी होते हैं ॥ ३४ ॥ बणिक् व्यवहार में जो जड़ = मन्दबुद्धि, अन्ध की वञ्चना करते हैं, सो भयानक नरक में जाते हैं, और उनका धन भी नष्ट होता है ॥ ३५ ॥ पाप से मनुष्य सब दुःखों के पात्र होते हैं, और नरक में जाते हैं, तथा यहाँ द्वेष होता है ॥ ३६ ॥ हे द्विजश्रेष्ठ ! पाप करने वाला मनुष्य पाप से नष्ट भी होता है, और एक पाप ही सब का परम दुःखरूप है ॥ ३७ ॥ प्रथम पुण्य करने वाला भी जो कोई पुरुष पीछे कहीं पाप करता है, तो प्रथम के पुण्य से स्वर्ग में प्राप्त भी उस पुरुष को उस पाप के भय से सुख नहीं होता है। इससे सोई एक पुरुष लोक में सुखी है, कि जिसको पाप नहीं है ॥ ३८ ॥ हरिसेवा में तत्पर भक्त, शौचाचार सन्तोष से शुद्ध सदाचारी, ध्यानादि युक्त योगी, अणिमादियुक्त या दूर दर्शन श्रवणादियुक्त सिद्ध विवेकी, चान्द्रायणादि व्रतयुक्त व्रती, पतिव्रता सती, भोगासक्ति रहित तपस्वी, गुरुसेवक ब्रह्मचारी और संसार से उपरत संन्यासी, ये सब पाप रहित होने से नरक में नहीं जाते हैं ॥ ३९ ॥ सब पापों में भी नास्तिकता परम पाप है, हे द्विजोत्तम ! नास्तिकता से

अकार्याण्यपि कार्याणि कृत्वा कार्यवशान्नरः । पश्चात्तापेन संयुक्तः शीघ्रं पापं व्यपोहति ॥४१॥
कार्यबुद्ध्या त्वकार्याणि यः करोति नराधमः । कथं निवर्त्तनं तेभ्यो जायते तस्य वै द्विजाः ! ॥४१॥
नास्तिक्यस्य तथा मूलं त्वसच्छास्त्रावगाहनम् । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन तद्विवर्ज्यं विजानता ॥४३॥
सर्वो हि मानवो लोके परलोकनिबन्धनः । तत्रापि निरपेक्षस्य किन्नु लोके निबन्धनम् ॥४४॥
ये तु वै नास्तिका लोके नरा लोकं प्रति द्विजाः । नरके ते हि पच्यन्ते बहुकालं न संशयः ॥४५॥
नास्तिक्यमेकं पुरुषस्य लोके विनाशनं विप्रवराः ! प्रदिष्टम् ।
तस्मात्प्रयत्नेन विवर्जनीयो नास्तिक्यभावः सुसमीप्समानैः ! ॥४६॥ विष्णुधर्मोत्तरपु० अ० २४७ ॥
नरः परेषां प्रतिकूलमाचरन् प्रयाति घोरं नरकं सुदुःखदम् ।
सदाऽनुकूलस्य नरस्य जीवितं सुखावहं मुक्तिरदूरतः स्थिता ॥४७॥ पद्मपु० भूमिखं०अ० ६६।५२ ॥
आत्महा भ्रूणहा स्त्रीहा ब्रह्मघ्नः कूटसाक्ष्यदः । कन्या विक्रयकर्ता च मिथ्याव्रतधरस्तु यः ॥४८॥
विक्रीणाति क्रतुं यस्तु मद्यपः स्याद् द्विजस्तु यः । राजद्रोही स्वर्णचौरो ब्रह्मवृत्तिविलोपकः ॥४९॥
गोघ्नस्तु निक्षेपहरो ग्रामसीमाहरस्तु यः । सर्वे ते नरकं यान्ति या च स्त्री पतिवञ्चका ॥५०॥
स्कन्दपु० खं० ७ मार्ग० अ० ६।११६–१२१ ॥
अनाथं विकलं दीनं रोगार्त्तं बालमेव च । नानुकम्पन्ति ये मूढास्ते वै नरकगामिनः ॥५१॥
न्यासापहारिणं लुब्धं नास्तिकं लोकदम्भकम् । नृशंसं पिशुनं जिह्मं परदाराभिमर्शिनम् ॥५२॥

भारी पाप कोई नहीं है ॥ ४० ॥ नास्तिकता रहित मनुष्य किसी आवश्यक कार्यवश अकर्तव्य=पाप कर्मों को करके भी फिर पश्चात्ताप से युक्त होकर प्रायश्चित्तादि द्वारा शीघ्र ही पाप को नष्ट करता है ॥ ४१ ॥ जो नराधम = नास्तिक कर्तव्य बुद्धि से हिंसादि रूप पाप करता है, हे द्विज ! उसकी उन पापों से निवृत्ति कैसे हो सकती है ? ॥ ४२ ॥ उस नास्तिकता का मूल रूप, असत् शास्त्रों का बार २ अवलोकन है, इसलिये सब प्रयत्न द्वारा वह विवेकी से त्यागने योग्य है ॥ ४३ ॥ लोक में सब मनुष्य परलोक रूप निबन्धन=नियमन मर्यादा वाले हैं, उस परलोक में अपेक्षा रहित का लोक में निबन्धन=प्रवृत्ति नियामक, नहीं है ॥ ४४ ॥ हे द्विज ! लोक में जो परलोक के प्रति नास्तिकतायुक्त हैं, वे ही नरक में बहुत काल तक पकते हैं। इस में संशय नहीं ॥ ४५ ॥ इससे हे विप्रवर ! एक नास्तिकता ही लोक में मुख्य विनाशक कही गई है, अतः शुभ को सम्यग् चाहने वालों से यह नास्तिक्य स्वभाव सब प्रयत्न द्वारा त्यागने योग्य है ॥४६॥ नास्तिकता आदि से यह मनुष्य अन्य के प्रतिकूल=विरुद्ध आचरण करता हुआ, अति दुःखद घोर नरक में जाता है, और सदा सब के अनुकूल मनुष्य का जीवन सुखद होता है, और उस के समीप में मुक्ति स्थिर है ॥ ४७ ॥ आत्मघाती, गर्भघाती, स्त्रीघाती, ब्रह्मघाती, मायादम्भमयझूठसाक्षी दाता, कन्या विक्रेता, मिथ्यादम्भ से व्रतधारी जो हैं, तथा जो यज्ञविक्रयकर्ता, मद्यप द्विज हैं, और जो धर्मात्मा राजा के द्रोही, सुवर्ण के चोर, ब्रह्मवृत्तिनाशक, गोघातक, निक्षेपहर्ता, ग्रामसीमाहर्ता हैं, ये सब नरक में जाते हैं, और पतिवञ्चक स्त्री नरक में जाती है ॥ ४८–५० ॥ अनाथ, विकल, दीन, रोगार्त्त और बालक के ऊपर जो मूढ़ शक्ति रहते अनुकम्पा=दया, नहीं करते हैं, सो नरकगामी हैं ॥५१॥ न्यास का अपहारक, लोभी, नास्तिक,

विश्वासघातकं क्षुद्रं कृतघ्नं पापनिर्भयम् । ईदृशं पुरुषं दृष्ट्वा नरकोऽपि जुगुप्सते ॥५३॥

इतिहाससमुच० अ० ७।२३। इत्यादि ॥

पौरुषीं तनुमाश्रित्य केचिदेतत्क्रियारताः । स्वर्गान्नरकमायान्ति स्वर्गं च नरकात्पुनः ॥५४॥

केचित्स्वकर्मणि रता विरता अपि कर्मणः । नरकान्नरकं यान्ति दुःखाद् दुःखं भयाद्भयम् ॥५५॥

केचित्त्वात्मविदो धन्या विचारितमनोदृशः । विच्छिन्नतृष्णानिगड़ा यान्ति निष्केवलं पदम् ॥५६॥

योगवासि० प्र० ५।६।१–५ ॥

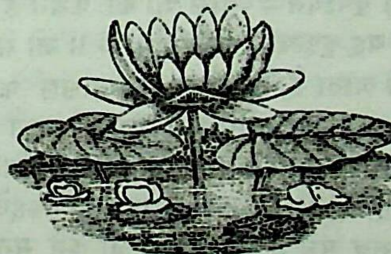
इति सप्तदशं नरकादिप्राप्तिप्रकरणं समाप्तम् ॥

इति श्रीतत्त्वार्थमणिमालायां स्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्रिसंगृहीतायां
दोषदोषिनामकं चतुर्थं काण्डं समाप्तम् ॥



लोकवञ्चक, क्रूर, पिशुन, कपटी, परदारचिन्तक, विश्वासघातक, क्षुद्र=कृपण, कृतघ्न, पाप से निर्भय, ऐसे पुरुषों को देख कर नरक भी जुगुप्सा घृणा करता है ॥ ५२–५३ ॥ मानुषी तनु को पाकर भी जो कोई "इमं विश्वपरिस्पन्दं करोमीत्यस्तवासनम् । प्रवर्त्तते यः कार्येषु स मुक्त इति मे मतिः ॥" इस वचन में वर्णित इस विश्व=सब परिस्पन्द व्यवहार को अस्तवासन = वासना बिना करता हूँ, इस दृष्टि से जो कार्यों में प्रवृत्त होता है, सो मुक्त है, इस विचार के बिना इस असङ्गतायुक्त क्रिया में नहीं रत हो आसक्तियुक्त क्रिया में रत होते हैं, सो स्वर्ग से नरक में आते हैं, और नरक से फिर स्वर्ग में जाते हैं ॥ ५४ ॥ कोई तो अकर्म (निषिद्ध कर्म पाप) में तत्पर और सत्कर्म से विरत=निवृत्त, मनुष्य नरक से नरक में जाते हैं, दुःख से दुःख, भय से भय पाते हैं ॥ ५५ ॥ कोई मन के द्रष्टा आत्मस्वरूप साक्षी के विचार कर लेने वाले, तृष्णा बेडी के विच्छेदनकर्ता धन्य आत्मज्ञ परम कैवल्य पद को पाते हैं ॥ ५६ ॥ सत्रहवाँ नरकादिप्राप्तिप्रकरण समाप्त ॥

स्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्रिसंगृहीत तत्त्वार्थमणिमाला में
दोषदोषिनामक चौथा काण्ड समाप्त ॥



अथाऽहिंसादिनामकं पञ्चमं काण्डम्

तत्र च प्रथममहिंसा प्रकरणम्

अहिंसकाय भूतानां रक्षकाय हितैषिणे । सुहृदे विदुषे ज्ञानप्रदायाऽस्तु नमो नमः ॥१॥
निष्कामोऽहिंसको धर्मनिष्ठो भवति ज्ञानभाक् । ज्ञानवान् काममुक्तो हि परं ब्रह्म सदा शिवः ॥२॥
अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परं तपः । अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्त्तते ॥३॥
अहिंसैव परो धर्मः शेषास्तु व्रतविस्तराः । अस्यास्तु परिरक्षायै पादपस्य यथाऽऽवृतिः ॥४॥
अहिंसैषा मता मुख्या स्वर्गमोक्षप्रसाधिनी । अस्याः संरक्षणार्थं च न्याय्यं सत्यादिपालनम् ॥५॥
योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया । कृष्णद्वैपायनः प्राह स्थावरत्वं स गच्छति ॥६॥
स तप्यति तपोऽजस्रं यजते च ददाति च । मधुमांसनिवृत्तो यः प्रोवाचेदं वृहस्पतिः ॥७॥
यावज्जीवं तु यो मांसं विषवत्परिवर्जयेत् । वसिष्ठो भगवानाह स्वर्गलोकं स गच्छति ॥८॥
यो भक्षयित्वा मांसानि पश्चादपि निवर्त्तते । जमदग्नि र्जगादेदं सोऽपि स्वर्गतिमाप्नुयात् ॥९॥
रूपमारोग्यमैश्वर्यं श्रुतिं स्वर्गतिमेव च । आप्नोत्यहिंस्रः पुरुषः प्राहेदमुशना मुनिः ॥१०॥
सुवर्णदानं गोदानं भूमिदानं तथैव च । नानुत्तमं प्राणदानादित्युवाच पराशरः ॥११॥
कर्मणा मनसा वाचा यो हिनस्ति न किञ्चन । तं मित्रभूतं भूतानां मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥१२॥

अहिंसादि पाँचवाँ काण्ड प्रारम्भ

अथ अहिंसा—भूतों के अहिंसक, रक्षक, हितैषी, सुहृद् , ज्ञान दाता और विद्वान् के प्रति बार २ नमस्कार है ॥ १ ॥ निष्काम अहिंसक और धर्मनिष्ठ मनुष्य ज्ञान का भागी होता है, और कामरहित ज्ञानी, पर ब्रह्म स्वरूप सदा कल्याण स्वरूप है ॥ २ ॥ अहिंसा परम धर्म, परम तप और परम सत्य स्वरूप है, जिस अहिंसा से ही धर्म प्रवृत्त सिद्ध होता है ॥ ३ ॥ अहिंसा ही परम धर्म है, और शेष=उससे अन्य सत्यादि, दानादि अहिंसा सम्बन्धी व्रत=नियम के विस्तार रूप हैं। सो इस अहिंसा की ही सर्वथा रक्षा के लिये हैं, जैसे छोटे वृक्षों की रक्षा के लिये घेरा रूप आवृति है ॥ ४ ॥ स्वर्ग और मोक्ष को सिद्ध करने वाली अहिंसा ही मुख्य मानी गई है, और इस अहिंसा की रक्षा के ही लिये सत्यादि का पालन भी न्याययुक्त है ॥ ५ ॥ जो मनुष्य अहिंसक प्राणियों को अपने सुख की इच्छा से मारते हैं, सो स्थावरत्व को प्राप्त होते हैं, यह कृष्ण द्वैपायन=व्यास जी का कथन है ॥ ६ ॥ वह सदा तप यज्ञ दान करता है, जो मधुमांस से निवृत्त है, यह वृहस्पति कहते हैं ॥ ७ ॥ जो मनुष्य जीवन भर मांस को विष के समान त्यागता है, वह स्वर्ग लोक में जाता है, यह भगवान् वसिष्ठ कहते हैं ॥ ८ ॥ जो अज्ञानादिवश प्रथम मांस खा कर भी पीछे मांस भक्षण को त्यागता है, वह भी स्वर्ग पाता है यह यमदग्नि का कथन है ॥ ९ ॥ सुन्दर रूप, रोगराहित्य, ईश्वरता, श्रुति=वेद, यश और स्वर्गगति को अहिंसक पुरुष प्राप्त करता है, यह बात उशना=शुक्राचार्य मुनि कहते हैं ॥ १० ॥ पराशर मुनि कहते हैं कि प्राणदान=अहिंसा से सुवर्ण दानादि श्रेष्ठ नहीं हैं ॥ ११ ॥ स्वायंभुव मनु ने कहा है कि जो कर्म मन वचन से किसी की हिंसा नहीं

मधुमांसं च ये नित्यं वर्जयन्तीह मानवाः । जन्मप्रभृतिमत्स्यांश्च सर्वे ते मुनयः स्मृताः ॥१३॥
अहिंस्रस्य तपोऽक्षय्यमहिंस्रो यजते सदा । अहिंस्रः सर्वभूतानां यथा माता यथा पिता ॥१४॥
सर्ववेदाधिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् । सर्वयज्ञफलं चैव नैव तुल्यमहिंसया ॥१५॥
कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा । अक्लेशजननं प्रोक्ता त्वहिंसा परमर्षिभिः ॥१६॥
यो यजेताश्वमेधेन मासि मासि यतव्रतः । वर्जयेन्मधुमांसं च सममेतद् युधिष्ठिर ! ॥१७॥
न भक्षयति यो मांसं न च हन्यान्न घातयेत् । तन्मित्रं सर्वभूतानां मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥१८॥
स्वमांसं परमांसेन यो वर्द्धयितुमिच्छति । नारदः प्राह धर्मात्मा नियतं सोऽवसीदति ॥१९॥
ददाति यजते चापि तपस्वी च भवत्यपि । मधुमांसनिवृत्त्येति प्राह चैवं बृहस्पतिः ॥२०॥
मासि मास्यश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः । न खादति च यो मांसं सममेतन्मतं मम ॥२१॥
सर्वे वेदा न तत्कुर्युः सर्वे यज्ञाश्च भारत ! । यो भक्षयित्वा मांसानि पश्चादपि निवर्त्तते ॥२२॥
दुष्करं च रसज्ञाने मांसस्य परिवर्जनम् । चर्तुं व्रतमिमं श्रेष्ठं सर्वप्राण्यभयप्रदम् ॥२३॥
सर्वभूतेषु यो विद्वान् ददात्यभयदक्षिणाम् । दाता भवति लोके स प्राणानां नात्र संशयः ॥२४॥
न हि मांसं तृणात्काष्ठादुपलाद्वापि जायते । हत्वा जन्तून् ततो मांसं तस्माद्दोषस्तु भक्षणे ॥२५॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं स्वस्त्ययनं महत् । मांसस्याभक्षणं प्राहु र्नियताः परमर्षयः ॥२६॥

करता है, वह सब प्राणियों का मित्र स्वरूप है ॥ १२ ॥ जो मनुष्य यहाँ जन्म से ही मधु और मांस तथा मत्स्य को त्यागते हैं वे सब मुनि कहे गये हैं ॥ १३ ॥ अहिंसक का अक्षय तप होता रहता है, वह मानो सदा यज्ञ ही करता है, अहिंसक सब प्राणियों के माता पिता के समान विश्वास का पात्रादि होता है ॥१४॥ सब वेदों का अध्ययन ज्ञान, सब तीर्थों का स्नान, सब यज्ञों का फल ये सब अहिंसा के तुल्य नहीं हैं ॥१५॥ कर्म मन और वचन से सदा ही प्राणियों में क्लेश नहीं पैदा करना (कभी किसी को नहीं दुःखाना) महर्षियों से यही अहिंसा कही गई है ॥१६॥ हे युधिष्ठिर ! जो कोई नियत व्रत वाला होकर हर एक मास में अश्वमेध यज्ञ द्वारा देव पूजन करता हो, और कोई यज्ञ नहीं कर के मधुमांसादि को त्यागता हो, तो ये दोनों तुल्य हैं ॥ १७ ॥ स्वायंभुव मनु ने कहा है कि जो मांस नहीं खाता है, न प्राणी को मारता है, न मरवाता है, सो सब प्राणियों का मित्र है ॥१८॥ धर्मात्मा नारद कहते हैं कि जो अपने मांस को अन्य का मांस खा कर बढ़ाना चाहता है, वह अवश्य पीड़ित नष्ट होता है ॥ १९ ॥ बृहस्पति कहते हैं कि मधु मांस के त्याग से ही मानो सदा दान देता है, यज्ञ करता है, और तपस्वी होता है ॥ २० ॥ हर एक मास में अश्वमेध द्वारा जो सौ वर्ष तक यज्ञ करता है, और जो कभी मांस नहीं खाता है, सो तुल्य है, यह मेरा मत है ॥ २१ ॥ जो अज्ञानादिवश प्रथम मांस खा कर भी पीछे त्यागता है, हे भारत ! उस के फल को सब वेद वा सब यज्ञ भी नहीं सिद्ध कर सकते हैं ॥ २२ ॥ मांस के रस=स्वाद का ज्ञान होने पर, सब प्राणियों के अभयप्रद श्रेष्ठ इस मांस के त्याग रूप व्रत को करना दुष्कर है ॥ २३ ॥ जो विद्वान् सब प्राणियों के लिये अभयरूप दक्षिणा देता है, वह लोक में प्राणों का दाता होता है, इस में संशय नहीं ॥ २४ ॥ तृण काठ वा उपल= पाषाण से मांस नहीं होता है, किन्तु प्राणी को मार कर उससे मांस होता है, अतः मांस खाने में दोष है ॥ २५ ॥ नियमादियुक्त श्रेष्ठ ऋषि लोग मांस के अभक्षण को धन्य=पुण्यवान् और यश आयु स्वर्ग

मधुमांसं च ये नित्यं वर्जयन्तीह धार्मिकाः । जन्मप्रभृति मद्यं च सर्वे ते मुनयः स्मृताः ॥२७॥

महाभा० अनुशासनप० अ० ११५।२५ । इत्यादि ॥

अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः । अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥२८॥

अहिंसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा परं फलम् । अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ॥२९॥

सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु वाऽऽप्लुतम् । सर्वदानफलं वाऽपि नैतत्तुल्यमहिंसया ॥३०॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्द्धयितुमिच्छति । नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात्स नृशंसतरो नरः ॥३१॥

शुक्राच्च तात ! सम्भूति र्मांसस्येह न संशयः । भक्षणे तु महान् दोषो निवृत्त्या पुण्यमुच्यते ॥३२॥

महाभा० अनुशा० अ० ११६॥

पूर्वं तु मनसा त्यक्त्वा तथा वाचाऽथ कर्मणा । न भक्षयति यो मांसं त्रिविधं स विमुच्यते ॥३३॥

महाभा० अनुशा० अ० ११४।८॥

अहिंसकानि भूतानि दण्डेन विनिहन्ति यः । आत्मनः सुखमन्विच्छन् स प्रेत्य न सुखी भवेत् ॥३४॥

आत्मोपमस्तु भूतेषु यो वै भवति पूरुषः । न्यस्तदण्डो जितक्रोधः स प्रेत्य सुखमेधते ॥३५॥

सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतानि पश्यतः । देवापि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥३६॥

प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये । आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति ॥३७॥

महाभा० अनु० प० अ० १३ । बृहस्पतेरुक्तिः ॥

न हि कार्यमकार्यं वा सुखं ज्ञातुं कथञ्चन । श्रुतेन ज्ञायते सर्वं तच्च त्वं नावबुध्यसे ॥३८॥

का हेतु तथा महान् स्वस्ति = क्षेम-कल्याण-पुण्य का अयन = मार्ग गृह, कहते हैं ॥ २६ ॥ जो धर्माचारी यहाँ जन्म से ही मधु मांस मद्य को सदा त्यागते हैं, वे सब मुनि कहलाते हैं ॥ २७ ॥ अहिंसा ही उत्तम धर्म, दम, दान, तप, यज्ञ, फल, मित्र, सुख रूप है ॥ २८–२९ ॥ सब यज्ञों में दिया गया दान, वा सब तीर्थों में किया गया स्नान, और सब दान के फल ये सब भी अहिंसा के तुल्य नहीं हैं ॥ ३० ॥ जो अपने मांस को अन्य के मांस से बढ़ाना चाहता है, उससे क्षुद्रतर = अतिअधम-अतितुच्छ अन्य नहीं है, अतः वह अत्यन्त क्रूर मनुष्य है ॥ ३१ ॥ हे तात ! रजोवीर्य से मांस की उत्पत्ति होती है, उसके खाने में महान् दोष पाप है, और त्याग से पुण्य कहा जाता है ॥ ३२ ॥ जो प्रथम मन से मांस हिंसादि को त्याग कर फिर वचन और कर्म से भी त्यागता है, और मांस नहीं खाता है, वह मन आदि के त्रिविध दोषों को त्यागने से त्रिविध मुक्त होता है ॥ ३३ ॥ और जो अहिंसक प्राणियों को दण्ड द्वारा नष्ट करता है, वह अपना सुख चाहने वाला मर कर सुखी नहीं हो सकता है ॥ ३४ ॥ जो पुरुष अपने समान सब प्राणियों से अहिंसक होता है, वह अन्य को नहीं दण्ड देने वाला दण्ड के त्यागी क्रोध को जीतने वाला मरकर सुख पाता है ॥ ३५ ॥ सब प्राणियों का आत्मस्वरूप और सब प्राणियों को आत्मत्वेन = आत्मस्वरूप से, देखने वाले के मार्ग में देव भी विमोहित होते हैं; जो अपद = अवाच्य आत्मपद के इच्छुक हैं ॥ ३६ ॥ प्रत्या-ख्यान = निराकरण, दान, सुख, दुःख, प्रिय, अप्रिय, में पुरुष अपनी उपमा = सदृशता से प्रमाण = हेतु को समझता है ॥ ३७ ॥ अर्जुन ने लोकों से अज्ञात संकल्प को मन में किया कि मेरे धनुष को जो निरादर धिक्कार करेगा, उसका गला काट लूंगा; जब युद्ध में कर्ण से पीडित युधिष्ठिर ने ही गाण्डीव का धिक्कार किया,

प्राणिनामवधस्तात ! सर्वज्यायान् मतो मम । अनृतां वा वदेद्वाचं न तु हिंस्यात्कथञ्चन ॥३९॥
अविज्ञानाद् भवान् यच्च धर्मं रक्षति तत्त्ववित्। प्राणिनां त्वं वधं पार्थ ! धार्मिको नावबुध्यसे ॥४०॥
अयुध्यमानस्य वधस्तथाऽशत्रोश्च मानद ! । पराङ्मुखस्य द्रवतः शरणं चापि गच्छतः ॥४१॥
कृताञ्जलेः प्रपन्नस्य प्रमत्तस्य तथैव च । न वधः पूज्यते सद्भिस्तच्च सर्वं गुरौ तव ॥४२॥
अवधेन वधः प्रोक्तो यद् गुरुस्त्वमिति प्रभुः ॥४३॥ महाभा० कर्णप० अ० ६९ ॥
अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः । न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥४४॥
महाभा० शा० अ० १६२।४ ॥
यदन्यै र्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः । न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥४५॥
जीवितुं यः स्वयंचेच्छेत्कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्। यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ॥४६॥
महाभा० शां० प०अ० २५६।२०-२२ ॥
अव्यवस्थितमर्यादै र्विमूढै र्नास्तिकै र्नरैः । संशयात्मभिरव्यक्तै हिंसा समनुवर्त्तिता ॥४७॥
सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् । कामकाराद्विहिंसन्ति बहि र्वेद्यां पशून्नराः ॥४८॥
तस्मात्प्रमाणतः कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता । अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥४९॥
महाभा० शां० प० अ० २६४ ॥

तब उनके गले को काटने के लिये उद्यत अर्जुन के प्रति भगवान् का उपदेश है, कि—कर्तव्य वा अकर्तव्य सुख से किसी प्रकार भी जानने योग्य नहीं है, श्रुत = शास्त्र से ये सब जाना जाता है, सो शास्त्र तुम जानते नहीं हो ॥ ३८ ॥ हे तात ! प्राणियों की अहिंसा सबसे श्रेष्ठ मुझे सम्मत है, चाहे झूठ वचन भले ही बोले परन्तु हिंसा किसी प्रकार नहीं करे ॥ ३९ ॥ अविज्ञान से आप धर्मप्रतिज्ञा की रक्षा करते हो, हे पार्थ ! तत्त्वज्ञ धार्मिक होकर तुम प्राणियों के वध को नहीं समझते हो ॥ ४० ॥ हे मानद ! युद्ध रहित, अशत्रु, युद्ध से विमुख, भागता हुआ, और शरणागत का वध सत्पुरुष से पूज्य = श्रेष्ठ नहीं माना गया है ॥ ४१ ॥ अञ्जलि करने वाले का, प्रथम से शरण में प्राप्त का, तथा प्रमत्त का वध सत्पुरुषों से श्रेष्ठ नहीं समझा जाता है । और सो सब बातें तेरे गुरु = ज्येष्ठ भ्राता में हैं, अर्थात् युधिष्ठिर तुमसे न युद्ध कर रहे हैं, न शत्रु हैं इत्यादि ॥ ४२ ॥ और तलवारादि से वध के बिना भी वह वध ही कहा गया है कि जो गुरु और प्रभु को 'त्वम्' इस प्रकार कहा जाता है ॥ ४३ ॥ सर्व भूतों के लिये अभय देकर जो मुनि विचरते हैं, उनको प्राणियों से कभी भी भय नहीं होता है ॥ ४४ ॥ अपने लिये अन्य से किये गये जिस कर्म को मनुष्य नहीं चाहता हो, उस कर्म को अपना अप्रिय जानता हुआ अन्य के लिये भी नहीं करे ॥ ४५ ॥ जो स्वयं जीना चाहता है, सो अन्य का प्रघात कैसे कर करा सकता है ? जो २ अपने में चाहे वही अन्य के लिये भी सोचे ॥ ४६ ॥ अव्यवस्थित = अनिश्चित मर्यादा = धारणा-स्थिति वाले मूढ नास्तिक संशययुक्त मन वाले अव्यक्त = अप्राज्ञ-अज्ञ मनुष्यों से हिंसा सम्यग् अनुवर्तित = प्रवृत्त सिद्ध होती है ॥ ४७ ॥ धर्मात्मा मनु ने सब कर्मों में अहिंसा ही कहा है, परन्तु काम के वश मनुष्य यज्ञ वेदी में और बाहर भी पशुओं की हिंसा करते हैं ॥४८॥ तिससे विज्ञ को प्रमाण = शास्त्र के अनुसार सूक्ष्म धर्म कर्तव्य है, सब भूतों की अहिंसा सब धर्म से श्रेष्ठ शास्त्र से सज्जन से सम्मत है ॥ ४९ ॥

आत्मवत्सर्वभूतेषु यो हिताय प्रवर्त्तते । अहिंसैषा समाख्याता वेदसंविहिता च या ॥५०॥

स्कन्दपु० खं० १-२ । अ० ४५।१६।

प्रत्यब्दमश्वमेधेन शतं वर्षाणि यो यजेत् । अमांसभक्षको यश्च तयोरन्त्यो विशिष्यते ॥५१॥

यथैवात्मा परस्तद्वद् द्रष्टव्यः सुखमिच्छता । सुखदुःखानि तुल्यानि यथात्मनि तथा परे ॥५२॥

सुखं वा यदि वा चान्यद्यत्किञ्चित्क्रियते परे । तत्कृतं हि पुनः पश्चात्सर्वमात्मनि सम्भवेत् ॥५३॥

स्कन्दपु० खं० ४।४०॥

मनागपि न भूतानां यस्मादुत्पद्यते भयम् । सर्वभूतानि तस्येह प्रयच्छन्त्यभयं सदा ॥५४॥

स्कन्दपु० खं० ४।४१।६॥

आत्मा सर्वगतोऽच्छेद्य अदाह्य इति या मतिः । सा चाहिंसा परा प्रोक्ता मुने ! वेदान्तवादिभिः ॥५५॥

सूतसं० शिवमा० अ० १३।५॥

आत्मवत्सर्वभूतानां हितायैव प्रवर्त्तनम् । अहिंसैषा समाख्याता या चात्मज्ञानसिद्धिदा ॥५६॥

लिङ्गपु० अ० ८।१२॥

मनसा कर्मणा वाचा सर्वदाऽहिंसकं नरम् । रक्षन्ति जन्तवः सर्वे हिंसकं बाधयन्ति च ॥५७॥

त्रैलोक्यमखिलं दत्त्वा यत्फलं वेदपारगे । तत्फलं कोटिगुणितं लभतेऽहिंसको नरः ॥५८॥

लिङ्गपु० अ० ७८।८-६॥

भूताऽपीडा ह्यहिंसा स्यादहिंसा धर्म उत्तमः । यथा गजपदेऽन्यानि पदानि पथगामिनाम् ॥

एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमभिधीयते ॥५९॥ अग्निपु० अ० ३७२।१४॥

चतुर्विधानां भूतानां कर्मणा मनसा गिरा । अहिंसायां सदाधर्मश्चतुष्पाद्धि व्यवस्थितः ॥६०॥

अहिंसा सर्वथा सर्वैः कर्तव्या बुद्धिजीविभिः । तया धर्मस्तया मोक्षो भवेत्तेषां करे स्थितः ॥

अपने समान सब भूतों में हित के लिये जो प्रवृत्त होता है, उसकी वह प्रवृत्ति ही अहिंसा कही गई है, जो वेद से सम्यग् विहित हैं ॥ ५० ॥ जो कोई प्रतिवर्ष अश्वमेध यज्ञ सौ वर्ष करे, और कोई मांस कभी नहीं खाय, तहाँ मांस नहीं खाने वाला श्रेष्ठ है ॥ ५१ ॥ सुख चाहने वाले को अपने समान अन्य को देखना चाहिये क्योंकि अपने में और अन्य में सुख दुःख तुल्य ही होते हैं ॥ ५२ ॥ सुख वा दुःख जो २ अन्य में किये जाते हैं, वह किया हुआ सभी पीछे अपने को प्राप्त होता है ॥ ५३ ॥ मनाक्=अल्प भी भय जिससे प्राणियों को नहीं होता है, उसको सब प्राणी यहाँ सदा अभय देते हैं ॥ ५४ ॥ हे मुने ! आत्मा सर्वगत=व्यापक अच्छेद्य अदाह्य = छेदन दाह के अयोग्य है, ऐसा जो निश्चय ज्ञान सोई वेदान्तवादियों से उत्तम अहिंसा कही गई है ॥ ५५ ॥ और अपने तुल्य सब भूत के हित के ही लिये प्रवृत्ति रूप जो यह अहिंसा कही गई हैं, सो आत्मज्ञान की सिद्धि को देने वाली है ॥ ५६ ॥ मन कर्मादि से सदा अहिंसक मनुष्य को सब प्राणी रक्षा करते हैं, और हिंसक को पीडित करते हैं ॥ ५७ ॥ वेदपारंगत के प्रति सब त्रिलोकी के दान करने से जो फल होता है, उस के कोटिगुना उस फल को अहिंसक पाता है ॥ ५८ ॥ प्राणी की अपीड़ा ही अहिंसा होती है, सो उत्तम धर्म है, और सभी मार्गगामियों के पद जैसे हस्ती के पद में समाते हैं, वैसे ही सब धर्म और अर्थ अहिंसा में कहे जाते हैं ॥ ५९ ॥ कर्म मन वचन से चारो प्रकार के प्राणियों की अहिंसा में ही चारपाद युक्त धर्म सदा व्यवस्थित है ॥ ६० ॥ बुद्धिपूर्वक

अर्थकामौ च किन्नाम वक्तव्यौ सुलभौ हि यौ ॥६१॥ आत्मपु० अ० ६॥

गोसहस्रं तु यो दद्याद्यस्तु मांसं न भक्षयेत् । समावेतौ पुरा प्राह ब्रह्मा वेदविदां वरः ॥६२॥

सर्वतीर्थेषु यत्पुण्यं सर्वयज्ञेषु यत्फलम् । अमांसभक्षणे विप्रास्तच्च तच्च न तत्समम् ॥६३॥

न मांसमायुषो हेतु र्नारोग्यस्य न चौजसः । दैवं कारणमेतस्य साक्षादेवेह दृश्यते ॥६४॥

ये भक्षयन्ति मांसानि सत्त्वानां जीवितैषिणाम् । भक्ष्यन्ते तेऽपि तैः सर्वैरिति ब्रह्माऽब्रवीत् स्वयम् ॥६५॥

ब्रह्मपु० अ० १०७।६५। इत्यादि ॥

सदा मुनिः सदा योगी मधुमांसस्य वर्जनात् । निर्व्याधिनिरुजौजस्वी सुरामधुविवर्जनात् ॥६६॥

भविष्यपु० पर्व० ४।७०।२३ ॥

स्त्रीहिंसा धनहिंसा च प्राणिहिंसा तथैव च । त्रिविधां वर्जयन् हिंसां ब्रह्मलोके प्रपद्यते ॥६७॥

विष्णुधर्मोत्तरपु० खं० ३।२६८।२ ॥

मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् । एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥६८॥

यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते । मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान् विवर्जयेत् ॥६९॥

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् । प्रसमीक्ष्य निवर्त्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥७०॥

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् । न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥७१॥

ये भक्षयन्ति पिशितं दिव्यभोज्येषु सत्स्वपि । सुधारसं परित्यज्य भुञ्जते ते हलाहलम् ॥७२॥

देवोपहारव्याजेन यज्ञव्याजेन वाऽथवा । धूनन्ति जन्तून् गतघृणा घोरां ते यान्ति दुर्गतिम् ॥७३॥

मनुस्मृ० अ० ५।५५-१५-४६-४८ ॥

जीवन करने वालों को सदा अहिंसा कर्तव्य है, उस अहिंसा से ही धर्म और मोक्ष उनको प्राप्त होते हैं, अर्थ और काम तो सुलभ है, उनकी प्राप्ति में तो कहना ही क्या है ? ॥ ६१ ॥ हजारों गोओं का दान करे, और कोई मांस नहीं खावे, तहाँ दोनों तुल्य हैं, यह बात वेद वेत्ताओं में श्रेष्ठ ब्रह्मा ने प्रथम कही है ॥६२॥ सब तीर्थों में जो पुण्य होता है, और सब यज्ञों में जो फल होता है, हे विप्र ! मांसभक्षण के अभाव के तुल्य वे दोनों नहीं हैं ॥ ६३ ॥ मांस आयु का हेतु नहीं है, न आरोग्य या ओज = बल का हेतु है, किन्तु इन सबों का कारण दैव है, सो यहाँ प्रत्यक्ष देखा जाता है ॥६४॥ जीवन चाहनेवाले प्राणियों के मांसों को जो यहाँ खाते हैं, वे लोग फिर उन प्राणियों से जन्मान्तर में खाये जाते हैं, सो ब्रह्मा जी ने स्वयं कहा है ॥ ६५ ॥ मधु और मांस के त्यागने से सदा मुनि और योगी होता है, सुरा और मधु को त्यागने से व्याधि रोग रहित ओजस्वी = तेजस्वी बली होता है ॥ ६६ ॥ स्त्री की हिंसा = हरणादि धन की हिंसा = चोरी आदि और प्राणी की हिंसा, इन तीनों प्रकार की हिंसाओं को त्यागने वाला ब्रह्मलोक में प्राप्त होता है ॥६७॥ जिस के मांस को मैं यहाँ खाता हूँ वह मुझे परलोक में अन्य देह में खायेगा, यही मांस का मांसत्व विद्वान् कहते हैं ॥६८॥ जो जिसके मांस को खाता है सो उसका मांसाद=मांसाशी कहलाता है, और मछली खाने वाला सर्वमांसाशी कहलाता है, इसलिये मछली को त्यागे ॥६९॥ रजोवीर्य से मांस की उत्पत्ति को और प्राणियों के बध बन्धन को देखकर सब प्रकार के मांस भक्षण से निवृत्त होना चाहिये ॥ ७० ॥ कहीं प्राणी की हिंसा किये बिना मांस नहीं उत्पन्न होता है, और प्राणियों का बध स्वर्ग का हेतु नहीं है, अतः मांस को त्यागे ॥ ७१ ॥ दिव्य = शुद्ध भोज्य वस्तु के रहते जो मांस खाते हैं, सो मानों अमृत रस को त्यागकर हलाहल विष पीते हैं ॥ ७२ ॥ देव के उपहार = उपायन-बलि के बहाने से अथवा यज्ञ के

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा । अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसात्वेन योगिभिः ॥७४॥
योगियाज्ञवल्क्यसं० अ० १।५१ ॥

अधर्मो हिंसिकारूपो धर्मस्तु सुखरूपकः । अधर्माद् दुःखमाप्नोति धर्माद्वै सुखमेधते ॥७५॥

विद्याद् दुर्वृत्तितो दुःखं सुखं विद्यात्सुवृत्तितः । धर्मार्जनमतः कुर्याद् भोगमोक्षप्रसिद्धये ॥७६॥ शिवपु० ॥

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् । परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥७७॥

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् । आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥७८॥

इति प्रथममहिंसाप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ सत्यम् ॥ २ ॥

सत्यं ब्रह्म वचः सत्यं सत्यं धर्मं च वेत्ति यः । अहिंसाव्रतसंयुक्तं पावनं तं नमाम्यहम् ॥१॥

सत्येनोत्तम्भिता भूमिः सूर्येणोत्तम्भिता द्यौः । ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमोऽधिश्रितः ॥२॥
अथर्ववे० कां० १४।१।१ ॥

द्वयं वै इदं न तृतीयमस्ति सत्यं च एव, अनृतं च । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्, तस्मात्ते यशः ॥
यशो ह भवति य एवं विद्वान् सत्यं वदति ॥३॥ शतप० १।१।१।४–५ ॥

यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्, तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदति इति, धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदति इति ।
तद्ध एवैतदुभयं भवति यत्सत्यम् ॥ ४ ॥ शतप० १४।४।२।१६ ॥

बहाने से निर्दय लोग जन्तुओं को पीडित हिंसित करते हैं, सो भयंकर दुर्गति को पाते हैं ॥ ७३ ॥ कर्म मन और वचन द्वारा सब प्राणियों में सदा अक्लेश=दुःखाभाव की सिद्धि को योगियों ने अहिंसारूप कहा है ॥ ७४ ॥ और हिंसारूप अधर्म है, सुखरूप धर्म है, अधर्म=हिंसादि, से दुःख पाता है, धर्म = उपकारादि, से सुख पाता है ॥ ७५ ॥ दुर्वृत्ति = चोरी व्यभिचारादि, से दुःख समझना चाहिये, और सुवृत्ति = सच्चरित्रादि से सुख समझना चाहिये, और इसी से भोग मोक्ष की प्राप्ति के लिए धर्म का उपार्जन करे ॥ ७६ ॥ अठारहों पुराणों में व्यास देव के दो ही वचन प्रधान हैं, कि–परोपकार पुण्य के लिये है, और परपीडन=हिंसा, पाप के लिये है ॥ ७७ ॥ धर्मरूप सर्वस्व का गुरु शास्त्र द्वारा श्रवण करो और श्रवण करके निश्चय करो कि–अपने प्रतिकूल=अहित अनिष्ट वस्तु कर्मादिकों को अन्य के लिये भी नहीं करना चाहिये ॥ ७८ ॥ पहला अहिंसाप्रकरण समाप्त ॥

अथ सत्य—जो सत्य=त्रिकालाबाध्य ब्रह्म, सत्य वचन, सत्य धर्म को जानता है, उस अहिंसाव्रतयुक्त पावन को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥ सत्य से भूमि उत्तम्भित=ऊर्ध्वधृत है, सूर्य से स्वर्ग उत्तम्भित है, और ऋत = सत्य से ही देव सब स्थिर हैं, तथा आकाश में चन्द्रमा स्थिर है ॥ २ ॥ सत्य और झूठ दो ही संसार में हैं, तृतीय नहीं है, जो सत्य है वही व्रत देव करते हैं, इसी से वे देव यश स्वरूप हैं । वह यशस्वी होता है कि जो ऐसा जानता हुआ सत्य ही बोलता है ॥ ३ ॥ जो वह धर्म है, सो भी सत्य ही है, अतः सत्य बोलने वाले को कहते हैं कि यह धर्म कहता है, या धर्म कहने वाले को कहते हैं कि यह सत्य कहता है, तिससे धर्म और सत्य ये दोनों सत्य ही हैं, तथा सत्य ही के ये दो स्वरूप हैं ॥ ४ ॥

तदेतत्पुष्पं फलं वाचः यत् सत्यम् । स ह ईश्वरो यशस्वी कल्याणकीर्ति र्भवति, यो वाव पुष्पं फलं वाचः सत्यं वदति ॥ ५ ॥
एतरेय० आ० २।३।६ ॥

सत्यस्य वदिता साधु र्न सत्याद्विद्यते परम् । सत्येन विधृतं सर्वं सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥६॥
महाभा० शां० प० अ० २५६ ॥

धारणं सर्ववेदानां सर्वतीर्थावगाहनम् । सत्यं च ब्रुवतो नित्यं समं स्यान्न च वा समम् ॥७॥
अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् । अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥८॥
सत्येन सूर्यस्तपति सत्येनाग्निः प्रदीप्यते । सत्येन मरुतो वान्ति सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥९॥
सत्येन देवाः प्रीयन्ते पितरो ब्राह्मणास्तथा । सत्यमाहुः परो धर्मस्तस्मात्सत्यं न लङ्घयेत् ॥१०॥
मुनयः सत्यनिरता मुनयः सत्यविक्रमाः । मुनयः सत्यशपथास्तस्मात्सत्यं विशिष्यते ॥११॥
महाभा० अनुशासनप० अ० ७५।२८ । इत्यादि ॥

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत् । यद् भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम ॥१२॥
महाभा० शां० प० अ० ३२९।१३ ॥

तस्मात्सत्यव्रताचारः सत्ययोगपरायणः । सत्यागमः सदा दान्तः सत्येनैवान्तकं जयेत् ॥१३॥
अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम् । मृत्युरापद्यते मोहात्सत्येनापद्यतेऽमृतम् ॥१४॥
न हि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् । न हि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात्सत्यं समाचरेत् ॥१५॥
पुत्रै र्दारै र्धनै र्वापि नानाविद्याविभूतिभिः । रक्षणीयं हि सत्यं च नानृतात्पातकं परम् ॥१६॥

जो सत्य है सोई वाक् का पुष्प फल है, और वाक् के पुष्पफल रूप सत्य को जो बोलता है, सो ईश्वर यशस्वी कल्याणकीर्त्ति होता है ॥ ५ ॥ सत्य का वक्ता साधु है, सत्य से उत्तम अन्य नहीं है, क्योंकि सत्य से ही सब विधृत है, और सत्य में सब प्रतिष्ठित हैं ॥ ६ ॥ सब वेदों का धारण, सब तीर्थों का स्नान, सदा सत्य वचन के समान होगा वा नहीं भी होगा ॥ ७ ॥ हजार अश्वमेध और सत्य को तुला = तराजु पर धरने से सत्य ही अधिक होता है ॥ ८ ॥ सत्य से सूर्य तपता है, अग्नि प्रदीप्त होती हैं, सत्य से वायु गमन करता है, सब सत्य ही में स्थिर है ॥ ९ ॥ सत्य से देव सब प्रसन्न सुखी होते हैं, तथा पितर ब्राह्मण सत्य से प्रेम करते हैं, सत्य को पर = उत्तम धर्म कहते हैं, अतः सत्य का उल्लंघन त्याग नहीं करे ॥ १० ॥ मुनि लोग सत्य में तत्पर, सत्य रूप विक्रम = शक्ति सम्पत्ति वाले, सत्य सपथ वाले होते हैं, अतः सत्य श्रेष्ठ है ॥ ११ ॥ सत्य का कहना श्रेष्ठ है, परन्तु सत्य से भी श्रेष्ठ हित कहना चाहिये, क्योंकि जो जो वचन प्राणी के अत्यन्त हित हैं, सोई सत्य स्वीकृत हैं ॥ १२ ॥ अतः सत्य व्रत और आचार वाला और सत्य योग परायण, तथा सत्य आगम शास्त्र युक्त, सदा दान्त होकर मृत्यु को जीतना चाहिये ॥ १३ ॥ अमृत = मोक्ष, सत्य सुख ब्रह्म और मृत्यु = पापादि दुःख, दोनों देह में स्थिर हैं, तहाँ मोह असत्य से मृत्यु प्राप्त होता है, और सत्य से अमृत मिलता है ॥ १४ ॥ सत्य से श्रेष्ठ धर्म और असत्य से बड़ा पाप नहीं है, न सत्य से उत्तम ज्ञान है, इसलिये सत्य का सम्यक् आचरण करे ॥ १५ ॥ पुत्र धन नाना विद्या और विभूति द्वारा सत्य ही रक्षा के योग्य है, क्यों कि झूठ से बड़ा पाप नहीं है ॥ १६ ॥ सत्य की रक्षा के लिये शत्रु के भी गुण वक्तव्य

शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि । सर्वदा सर्वयत्नेन सत्यमेव समाश्रयेत् ॥१७॥
सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः । सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम् ॥१८॥
महाभा० शां० प० अ० १७५ ॥
सत्यस्य वदिता साधु न सत्याद्विद्यते परम् । तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं पश्य सत्यमनुष्ठितम् ॥१९॥
भवेत्सत्यमवक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत् । यत्रानृतं भवेत्सत्यं सत्यं चाप्यनृतं भवेत् ॥२०॥
विवाहकाले रतिसंप्रयोगे प्राणात्यये सर्वधनापहारे ।
विप्रस्य चार्थे ह्यनृतं वदेत पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥ २१ ॥
यत्स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः । अहिंसार्थाय हिंस्राणां धर्मप्रवचनं कृतम् ॥२२॥
धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजाः । यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥२३॥
यः स्तेनैः सह सम्बन्धान्मुच्यते शपथैरपि । श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत्सत्यमविचारितम् ॥२४॥
न च तेभ्यो धनं देयं शक्ये सति कथञ्चन । पापेभ्यो हि धनं दत्तं दातारमपि पीडयेत् ॥
तस्माद्धर्मार्थमनृतमुक्त्वा नानृतभाग् भवेत् ॥२५॥ महाभा० कर्णप० अ० ६६।३१ । इत्यादि ॥
चातुर्वर्ण्यस्य धर्माणां संकरो न प्रशस्यते । अविकारितमं सत्यं सर्ववर्णेषु भारत ! ॥२६॥
सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः । सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः ॥२७॥
सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम् । सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥२८॥

हैं, तथा गुरु के दोष भी वक्तव्य हैं, इससे सदा सब यत्न से सत्य ही का आश्रयण करे ॥ १७ ॥ सत्य ही लोक में ईश्वर है, सत्य में सदा धर्म आश्रित है, सत्य मूलक ही सब वस्तु हैं, तिससे सत्य से उत्तम पद = स्थान वस्तु नहीं है ॥ १८ ॥ सत्य के वक्ता साधु हैं, सत्य से परे कोई नहीं है, परन्तु यथार्थ रूप से सत्य अत्यन्त दुर्ज्ञेय हैं, महात्माओं से अनुष्ठित = आचरित सत्य को देखो समझो ॥ १९ ॥ वहाँ सत्य भी अवक्तव्य होता है, और झूठ वक्तव्य होता है कि जहाँ झूठ ही सत्य = सर्वहित प्रद होता है, सौर सत्य ही अनृत = असत्य फलक होता है ॥ २० ॥ विवाहादि काल में झूठ बोले, ये पांच झूठ अपाप रूप कहे गए हैं ॥ २१ ॥ जो अहिंसा संयुक्त सत्य है, सो धर्म है यह निश्चय है, क्योंकि हिंसकों को अहिंसा के समझाने के लिये धर्म का व्याख्यान किया गया है ॥ २२ ॥ धारण से धर्म कहा जाता है, धर्म ही प्रजा का धारण करता है, जो वचनादि धारण संयुक्त होते हैं, सो धर्म है यह निश्चय है ॥ २३ ॥ चोर के साथ सम्बन्ध से यदि झूठ शपथ से भी छूट सके तो वहाँ झूठ बोलना ही श्रेय मार्ग है, वह झूठ भी निश्चित सत्य है ॥ २४ ॥ शक्ति रहते चोरों को धन नहीं देना चाहिये, किसी प्रकार भी चोरों को धन नहीं देना उचित है, क्यों कि पापी को दिया हुआ धन दाता को भी पीडित करता है, अतः धर्म के लिये झूठ कह कर भी झूठ का भागी नहीं होता है ॥ २५ ॥ चार वर्णों के धर्मों का संकर = संमिश्रण होना प्रशंसनीय नहीं है, इस से हे भारत ! अपने २ धर्म में स्थिति से सब वर्ण में अत्यन्त अविकारी सत्य है ॥ २६ ॥ सत्पुरुषों में सत्यरूप धर्म सदा रहता है, इससे सत्य सनातन धर्म है, सत्य को ही नमस्कार करना चाहिये, सत्य ही उत्तम गति मुक्ति रूप है ॥ २७ ॥ सत्य ही धर्म, तप, योग, सनातन ब्रह्म, उत्तम यज्ञ रूप कहा गया है, और सब सत्य ही में स्थिर है ॥ २८ ॥

सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः । अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षाऽनसूयता ॥२९॥
त्यागो ध्यानमथाऽऽर्यत्वं धृतिश्च सततं दया । अहिंसा चैव राजेन्द्र ! सत्याकारास्त्रयोदश ॥३०॥
सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च । सर्वधर्माविरुद्धेन योगेनैतदवाप्यते ॥३१॥

महाभा० शां० प० अ० १६२ ॥

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥३२॥
एकोऽहमस्मीति च मन्यसे त्वं न हृच्छयं वेत्सि मुनिं पुराणम् ।
यो वेदिता कर्मणः पापकस्य तस्यान्तिके त्वं वृजिनं करोषि ॥ ३३ ॥
मन्यसे पापकं कृत्वा न कश्चिद्वेत्ति मामिति । विदन्ति चैनं देवाश्च यश्चैवान्तरपूरुषः ॥३४॥
आदित्यचन्द्रावनलानिलौ च द्यौ र्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥ ३५ ॥
सत्यधर्मच्युतात्पुंसः क्रुद्धादाशीविषादिव । नास्तिकोऽप्युद्विजते वै जनः किं पुनरास्तिकः ॥३६॥

महाभा० आदिप० अ० ७४। दुष्यन्तं प्रति शकुन्तलोक्तिः ॥

गोभि र्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः । अलुब्धै र्दानशूरैश्च सप्तभि र्धार्यते मही ॥३७॥

स्कन्दपु० खं० १-२। अ० १ ॥

दृष्टं श्रुतं चानुमितं स्वानुभूतं यथार्थतः । कथनं सत्यमित्युक्तं परपीडाविवर्जितम् ॥३८॥ स्कन्दपुरा० ॥
सर्वं सत्यं परं ब्रह्म न चान्यदिति या मतिः । तत्सत्यं परमं प्रोक्तं वेदान्तज्ञानभावितैः ॥३९॥ सूतसंहि० ॥
सत्यं वाचनिको धर्मो यथादृष्टार्थवेदनम् । उक्तार्थतश्चाचलनेमिदमुक्तं मनीषिभिः ॥४०॥

सत्यवचन, समता, दम, अमत्सर, क्षमा, कुकर्म से लज्जा, तितिक्षा, अनसूया, त्याग, ध्यान, आर्यता, सदा धैर्य, दया और अहिंसा, हे राजेन्द्र ! ये त्रयोदश सत्य ही के आकार हैं, इस में संशय नहीं है ॥ २९-३० ॥ अविनाशी नित्य निर्विकार सत्य, सर्व धर्म से अविरुद्ध योग से मिलता है ॥ ३१ ॥ जो अन्य प्रकार के अपने आत्मा को उससे उलटा समझता हैं, उस आत्मापहारी चोर ने कौन पाप नहीं किया ? ॥ ३२ ॥ तुम समझते हो कि मैं एक हूँ, परन्तु हृदय में स्थिर उस पुराण मुनि को नहीं समझते हो, जो पाप कर्म को जानने वाला हैं, इसी से उस के पास में तुम पाप करते हो ॥ ३३ ॥ पाप कर के समझते हो कि मुझे कोई नहीं जानता है, परन्तु इस पापी को देव सब और अन्तर्यामी पुरुष जानते हैं ॥ ३४ ॥ सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, द्यौ=आकाश भूमि, जल, हृदयगत पुरुष, यम, दिन, रात्रि, दोनों सन्ध्याएँ, धर्म ये सब देव, मनुष्य के चरितों को अवश्य जानते हैं ॥ ३५ ॥ क्रुद्ध सर्प के समान सत्यरूप धर्म से पतित पुरुष से नास्तिक भी उद्विग्न होता है, फिर आस्तिक जन की तो बात ही क्या कहनी है ? ॥ ३६ ॥ गऊ, जितेन्द्रिय संतोषी विप्र, धर्म ज्ञानमय वेद, सती=पतिव्रता, सत्यवादी, निर्लोभी, और दान में शूर इन सातों से भूमि धृत रहती है ॥३७॥ जो साक्षात् देखा हुवा, सत्य वक्ता से सुना हुआ, अनुमान से निश्चित समझा हुआ, ध्यानविचारादि द्वारा यथार्थ रूप से स्वयं अनुभव किया हुआ और अन्य की पीडारहित है उस का जो कथन उसे सत्य कहा गया है ॥ ३८ ॥ सब वस्तु सत्य परब्रह्म स्वरूप है, उससे अन्य कोई वस्तु नहीं है, ऐसी बुद्धि को वेदान्त ज्ञान से प्रभावित लोगों ने परम सत्य कहा है ॥ ३९ ॥ सत्य वचनजन्य-

सत्येन वाति वातोऽयं सूर्यः सत्येन रोचते । सत्येन विधृता भूमिः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥४१॥
आत्मपु० अ० १।५७२–५७३॥

दृष्टानुभूतमर्थं च यः पृष्टो न विगूहते । यथाभूतप्रवादस्तु इत्येतत्सत्यलक्षणम् ॥४२॥
मत्स्यपु० अ० १४५।४२ ॥

यद् भूतहितमत्यन्तं वचः सत्यस्य लक्षणम् । सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ॥
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ ४३ ॥ अग्निपु० अ० ३७२।१७ ॥

असत्यं न वदेत् किञ्चिन्न सत्यं च परित्यजेत् । यत्सत्यं ब्रह्म इत्याहुरसत्यं ब्रह्मदूषणम् ॥
अनृतं परुषं शाठ्यं पैशुन्यं पापहेतुकम् ॥ ४४ ॥ लिङ्गपु० अ० ८५।१३७ ॥

सत्यमेव परं ब्रह्म सत्यमेव परं तपः । सत्यमेव परो यज्ञः सत्यमेव परं श्रुतम् ॥४५॥

सत्यं सुप्तेषु जागर्त्ति सत्यं च परमं पदम् । सत्येनैव धृता पृथ्वी सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥४६॥

सत्येन वायुरभ्येति सत्येन तपते रविः । सत्येन चाग्निर्दहति स्वर्गः सत्येन तिष्ठति ॥४७॥

पालनं सर्ववेदानां सर्वतीर्थावगाहनम् । सत्येन वहते लोके सर्वमाप्नोत्यसंशयम् ॥४८॥

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् । लक्षाणि क्रतवश्चैव सत्यमेव विशिष्यते ॥४९॥

सत्येन देवा पितरो मानवोरगराक्षसाः । प्रीयन्ते सत्यतः सर्वे लोकाश्च सचराचराः ॥५०॥

सत्यमाहुः परं धर्मं सत्यमाहुः परं पदम् । सत्यमाहुः परं ब्रह्म तस्मात्सत्यं सदा वदेत् ॥५१॥

मुनयः सत्यनिरतास्तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् । सत्यधर्मरताः सिद्धास्ततः स्वर्गं च ते गताः ॥५२॥

धर्म है, सो सत्य देखे हुए अर्थ और ज्ञान के अनुसार होता है, और प्रतिज्ञात अर्थ से अविचलित होना भी विद्वानों से यह सत्य कहा गया है ॥ ४० ॥ सत्य से वायु की गति है, सूर्य की दीप्ति है, भूमि विधृत है, इससे सब सत्य में स्थिर है ॥ ४१ ॥ दृष्ट वा अनुभूत अर्थ को पूछने पर जो छिपाता नहीं है, यथार्थ का कथन करता है, यही सत्य का लक्षण है ॥४२॥ जो प्राणियों के अत्यन्त हित वचन हैं, सो सत्य स्वरूप हैं, इसलिये प्रिय सत्य बोलना चाहिये, सत्य भी अप्रिय नहीं बोलना चाहिये, और प्रिय भी झूठ नहीं बोलना, यह सनातन धर्म है ॥ ४३ ॥ कुछ भी असत्य नहीं बोले न सत्य को त्यागे, जिस से सत्य को परब्रह्म कहते हैं, असत्य ब्रह्म का दूषण रूप है, झूठ, क्रूर, शाठ्य=कपट, पैशुन्य, ये सब वचन पाप जन्य और पाप के जनक होते हैं ॥ ४४ ॥ सत्य ही परब्रह्मादि स्वरूप है ॥ ४५ ॥ सब के सोने पर भी सत्य जागता है, सत्य से पृथ्वी धृत है सत्य में सब प्रतिष्ठित हैं ॥ ४६ ॥ सत्य से वायु की गति, सूर्य का ताप, अग्नि का दाह और स्वर्ग की स्थिति है ॥४७॥ लोक में सत्य से सब वेदों के पालन, सब तीर्थों के स्नान के सब फलों को, अवश्य पाता है ॥ ४८ ॥ हजार अश्वमेध अनेक लक्ष अन्य क्रतु= यज्ञों को और सत्य को तुला से धारण करने पर उन सब से सत्य ही अधिक होता है ॥ ४९ ॥ सत्य से देव पितर मनुष्य सर्प राक्षस चराचर सब लोक प्रसन्न=सुखी होते हैं ॥ ५० ॥ सत्य को परम धर्म परंपद परंब्रह्म कहते हैं, अतः सत्य ही सदा बोले ॥ ५१ ॥ सत्य परायण सत्यधर्म में तत्पर मुनि लोग अति दुश्चर=कठिन तप कर के सिद्ध हो कर फिर वे लोग स्वर्ग में गये ॥ ५२ ॥

अगाधे विपुले सिद्धे सत्यतीर्थे शुचिह्रदे । स्नातव्यं मनसा युक्तं स्थानं तत्परमं स्मृतम् ॥५३॥

शिवपु० उत्तरसं० ५।१२।१३। इत्यादि । पद्मपुराणेऽपि ॥

मृषावादी जगत्यस्मिन् कर्मचाण्डाल ईरितः। विशेषतो हि गुर्वादिसन्निधौ स्ववशो हि यः ॥५४॥

अकारणं हि यो वाक्यं मृषा ब्रूयान्नराधमः । तस्य जिह्वां निकृन्तन्ति संदेशै र्यमकिङ्कराः ॥५५॥

अपि प्रसिद्धा लोकेऽस्मिन्नधमाः पुरुषा हि ये। अधमः प्रथमस्तेषु योऽनृतं वक्ति मानवः ॥५६॥

आत्मपु० अ० ३।५५। इत्यादि ॥

जीवन्मृत्तः पुमान् ज्ञेयो योऽनृतं वक्ति मोहतः । अत्र निन्दन्ति मनुजा मृतश्च नरकं व्रजेत् ॥५७॥

आत्मपु० अ० ४।७०३ ॥

सत्यं न सत्यं खलु यत्र हिंसा दयान्वितं चानृतमेव सत्यम् ।

हितं नराणां भवतीह येन तदेव सत्यं न तथाऽन्यथैव ॥ ५८ ॥ देवीभा० स्क० ३।११।३६ ॥

सत्यवाचि रतो यस्तु सत्यकार्यरतः सदा । सशरीरेण स्वर्लोकमागत्याच्युततां व्रजेत् ॥५९॥

पद्मपु० खं० १।५३।५ ॥

अनुक्तेनापि सुहृदा वक्तव्यं जानता हितम् । न्यायं च प्राप्तकालं च पराभवमनिच्छता ॥६०॥

वक्तव्यं सर्वथा सद्भिरप्रियं चापि यद्धितम् । आनृण्यमेतत्स्नेहस्य सद्भिरेवादृतं पुरा ॥६१॥

अनृते धर्मभग्ने च न शुश्रूषति चाप्रिये । न प्रियं न हितं वाच्यं सद्भिरेवेति निन्दिता ॥६२॥

हरिवंश विष्णुप० अ० ७१ ॥

सत्ये धर्मे च निरतान् मानवान् विगतज्वरान् । नाकाले धर्मिणो मृत्युः शक्नोति प्रसमीक्षितुम् ॥६३॥

हरिवंश० वि० अ० ५१।४ ॥

अगाध विपुल = विशाल सिद्ध शुचि ह्रद = पवित्रतारूप अगाध जल वाले सत्य तीर्थ में मन से स्नान करने योग्य है=मन सहित स्नान करना उचित है, जिससे वह सत्य ही उत्तम तीर्थ स्नान कहा गया है ॥ ५३ ॥ मिथ्यावादी इस जगत् में कर्म चाण्डाल कहा गया है, उसमें भी जो गुरु स्वामी आदि के पास में स्ववश होता हुआ झूठ बोलता है, सो अधिक कर्मचाण्डाल है ॥५४॥ विना कारण के जो नराधम झूठ बोलता है, उसकी जिह्वा को सब यमदूत सँड़सी से काटते हैं ॥ ५५ ॥ लोक में जो प्रसिद्ध अधम = कुत्सित हैं, उन में प्रथम = प्रधान अधम वह है कि जो मनुष्य झूठ बोलता है ॥ ५६ ॥ जो मोह से झूठ बोलता है, उस को जीते जी मृतक समझना चाहिये, मनुष्य यहाँ उस की निन्दा करते हैं, और वह मरने पर नरक में जाता है ॥ ५७ ॥ वह सत्य, सत्य नहीं है कि-जिस सत्य से प्राणियों की हिंसा हो, इससे दयायुक्त झूठ ही सत्य है, जिससे मनुष्यों का यहाँ हित हो वही सत्य है, उस हित से उलटा हो तो वह सत्य नहीं है ॥ ५८ ॥ जो सत्य वचन में तत्पर, और सदा सत् कर्म में तत्पर है, वह शरीर सहित स्वर्ग में प्राप्त होकर अच्युतता=विष्णुत्व को पाता है, स्वर्ग से गिरता नहीं है, विष्णुरूप होता है ॥५९॥ पराभव नहीं चाहने वाला विशेषज्ञ मित्र बिना पूछे भी समय के अनुसार और न्याय कहे, क्योंकि-उसे कहना ही उचित है ॥ ६० ॥ सत्पुरुषों को अप्रिय भी जो हित हो, सो सर्वथा कहना चाहिये, यही प्रेम की अनृणता = ऋणरहितता है, और प्रथम के सत्पुरुषों से आदृत है ॥ ६१ ॥ असत्यवादी धर्मनाशक, शुश्रूषारहित, अप्रिय में, प्रिय वा हित नहीं कहना चाहिये, क्योंकि ऐसी कथा सत्पुरुषों से ही निन्दित है ॥ ६२ ॥ सत्य और धर्म में तत्पर ज्वर रहित धर्मी

सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः । सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येनावाप्यते परम् ॥६४॥
वाल्मीकीयरा० कां० २।१४।७ ॥

ऋषयश्चैव वेदाश्च सत्यमेव हि मेनिरे । सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम् ॥६५॥

उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः । धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते ॥६६॥

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः । सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम् ॥६७॥

कायेन कुरुते कर्म मनसा सम्प्रधार्य तत् । अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्म पातकम् ॥६८॥
वाल्मी० कां० २।१०६ ॥

धन्याः खलु महात्मानो मुनयः सत्यसम्मताः । जितात्मानो महाभागा येषां नस्तः प्रियाप्रिये ॥६९॥
वाल्मी० सुन्दरकां० स० २६।४५ ॥

अनृतं प्रवदन्मर्त्त्यः समूलं परिशुष्यति । सत्येन लभ्यते चात्मा तस्मात्सत्यं समाश्रयेत् ॥७०॥

इति द्वितीयं सत्यप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथास्तेयम् ॥ ३ ॥

अधर्मं सर्वथा त्यक्त्वा धर्मलब्धेन ये जनाः । प्राणान् धृत्वा भजन्त्येकं सत्यं देवं गुरुं तथा ॥१॥

ईशावास्यमिदं सर्वमिति ज्ञात्वाऽव्ययं हरिम् । त्यागेनैव स्वमात्मानं पान्ति तेभ्यो नमो नमः ॥२॥

अन्यदीये तृणे रत्ने काञ्चने मौक्तिकेऽपि वा । मनसापि निवृत्ति र्या तदस्तेयं विदु र्बुधाः ॥३॥

मनुष्यों को अकाल में मृत्यु देख नहीं सकती है ॥ ६३ ॥ सत्य एक पद=ओंकार-सत्यमार्ग रूप ब्रह्म है, सत्य में धर्म स्थिर है, सत्य ही अविनाशी सब वेद हैं, सत्य से ही परतत्त्व पाया जाता है ॥ ६४ ॥ सत्य को ही सब ऋषिओं और वेदों ने माना है, और इस लोक में सत्यवादी ही अक्षय परतत्त्व को प्राप्त करता है ॥ ६५ ॥ झूठ बोलने वाले से लोग इस प्रकार उद्विग्न होते हैं कि जैसे सर्प से उद्विग्न होते हैं, और लोक में सत्य उत्तमांश-सार वाला ही धर्म है, सत्य ही सब का मूल कहा जाता है ॥ ६६ ॥ सत्य ही लोक में ईश्वर है, सत्य में सदा धर्म रहता है, सत्य मूल वाले ही सब हैं, इससे सत्य से उत्तम कोई स्थान-वस्तु नहीं है ॥ ६७ ॥ मन से विचार कर शरीर से निषिद्ध कर्म करता है, और जिह्वा से झूठ बोलता है, तहाँ त्रिविध=मनः काय वाग् जन्य पाप कर्म होते हैं ॥ ६८ ॥ जिनको सत्य ही सम्मत है ऐसे जितात्मा महात्मा महाभाग्यवाले मुनि धन्य=पुण्यात्मा हैं, कि जिनका संसार में कोई प्रिय अप्रिय नहीं है, इससे सब के लिये जो हित सत्य ही बोलते हैं, और रागद्वेषरहित उदासीन रहते हैं ॥६९॥ झूठ बोलता हुआ मनुष्य मूल सहित नष्ट होता है, और सत्य से आत्मप्राप्ति होती है, तिससे सत्य का ग्रहण करे ॥ ७० ॥ दूसरा सत्यप्रकरण समाप्त ॥

अथ अस्तेय—अधर्म=हिंसा असत्य चोरी को, सर्वथा त्याग कर धर्म द्वारा प्राप्त अन्नादि से प्राणों को रक्षित रखकर जो मनुष्य एक सत्य देव और गुरु को भजते हैं, तथा ईश्वर से यह सब जगत् वास्य=आच्छादनीय है, अनन्त ईश्वर विना इसकी स्थिति आदि नहीं है, नाम रूपात्मक जगत् ईश्वर का स्वरूप अणु मात्र है, ऐसा जान कर और अव्यय हरि को जान कर त्याग से ही जो अपनी रक्षा करते हैं उनके प्रति वार २ नमस्कार है ॥ १-२ ॥ अन्य के तृण, रत्न, स्वर्ण, मोती की मन में इच्छा भी नहीं

आत्मनोऽनात्मभावेन व्यवहारविवर्जनम्। यत्तदस्तेयमित्युक्तमात्मविद्भिर्महात्मभिः॥४॥ सू०सं०अ०१३॥
यद्यात्मा मलिनः कर्ता भोक्ता च स्यात्स्वभावतः। नास्ति तस्य विनिर्मोक्षः संसाराज्जन्मकोटिभिः ॥५॥
आत्माऽयं केवलः स्वच्छः शान्तः सूक्ष्मः सनातनः। अस्ति सर्वान्तरः साक्षी चिन्मात्रसुखविग्रहः ॥६॥
अयं स भगवानीशः स्वयं ज्योतिः सनातनः। अस्माद्विजायते विश्वमत्रैव प्रविलीयते ॥७॥
अयं ब्रह्मा शिवो विष्णुरयमिन्द्रः प्रजापतिः। अयं वायुरयं चाग्निरयं सर्वाश्च देवताः ॥८॥
य एवं भूतमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते। किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥९॥
सूतसं० अ० १० ॥
अनादानं परस्वानामापद्यपि कथञ्चन। मनसा कर्मणा वाचा तदस्तेयं प्रकीर्त्तितम् ॥१०॥ स्क०पु०।
यदेतद् द्रविणं नाम प्राणा ह्येते बहिश्चराः। स तस्य हरति प्राणान् यो यस्य हरते धनम् ॥११॥
मनसा कर्मणा वाचा परद्रव्येषु निःस्पृहः। अस्तेयमित्यतः प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१२॥
कूर्मपु० अ० २६।३१ ॥ वायुपु० अ० १८।१२ ॥
अनादानं परस्वानामापद्यपि विचारतः। मनसा कर्मणा वाचा तदस्तेयं समासतः ॥१३॥
स्तेयादभ्यधिकः कश्चिन्नास्त्यधर्म इति श्रुतिः। हिंसा ह्येषा परा सृष्टा स्तैन्यं वै कथितं तथा ॥१४॥
लिङ्गपु० अ० ८।१५॥ अ० ६ ॥
यद्वा तद्वापि पारोक्ष्यमपि सर्षपमात्रकम्। अपहृत्य नरो याति नरकं नात्र संशयः ॥१५॥
भविष्यपु० पर्व० १।१६१।२१ ॥

करना, पण्डित इस को अस्तेय कहते हैं ॥ ३ ॥ और जो आत्मा को अनात्म देहादि रूप से व्यवहार का त्याग है, उसको आत्मवेत्ता महात्मा अस्तेय कहते हैं ॥ ४ ॥ यदि आत्मा स्वभाव से कर्ता भोक्ता हो तो करोड़ो जन्म में भी संसार से वह विनिर्मुक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि स्वभाव की निवृत्ति स्वरूप रहते नहीं होती है ॥ ५ ॥ इसलिये यह आत्मा केवल=एक, स्वच्छादि स्वभाव वाला सुख स्वरूप है ॥ ६ ॥ यह आत्मा ही वह भगवान् ईश्वर स्वयंप्रकाश अनादि है, और इसी से संसार होता है. फिर इसी में विलीन होता है ॥ ७ ॥ यही ब्रह्मा आदि है और सर्वदेव स्वरूप है ॥ ८ ॥ जो पुरुष इस अनन्त सर्व-स्वरूप परम पवित्र एक शान्त=अत्यन्त मुक्त, निर्द्वन्द्व सुखस्वरूप चिदात्मा को अन्यथा समझता है, उस आत्मापहारी चोर ने कौन पाप नहीं किया ? अर्थात् आत्मा के विपरीत ज्ञान, चोरी के समान सब पाप का मूल है ॥९॥ आपत्ति काल में भी अन्य की वस्तु को मन कर्म और वचन द्वारा किसी प्रकार भी नहीं लेना अस्तेय कहा गया है ॥ १० ॥ जो यह द्रव्य नामक वस्तु है सो बाहर रहने वाले प्राण हैं, इससे जो जिस के धन को हरता है, सो उसके प्राणों को हरता है ॥ ११ ॥ इससे अन्य के द्रव्य में मन कर्म वचन से निःस्पृह=निरिच्छ रहना तत्त्वदर्शी ऋषियों से अस्तेय कहा गया है ॥ १२ ॥ अन्य की वस्तु को आपत्ति में भी मन आदि द्वारा अपने विचार से जान कर न लेना ही संक्षेप में अस्तेय है ॥ १३ ॥ स्तेय=चोरी से अति अधिक कोई अधर्म नहीं है यह श्रुति कहती है, जिससे यह भारी हिंसा रूप उत्पन्न हो जाता है, जिस को स्तैन्य भी कहते हैं ॥ १४ ॥ जो कोई भी वस्तु चाहे एक सर्षप मात्र भी परोक्ष में वा सामने अन्याय

मनसा कर्मणा वाचा परद्रव्येषु निःस्पृहा । अस्तेयमिति संप्रोक्तमृषिभिः सत्यवादिभिः ॥१६॥

याज्ञवल्क्य संहिता० अ० १।५४ ॥

इह दुःखं नृपादिभ्यः परत्र नरकादितः । प्राप्नोति स्तेयतस्तेन स्तेयं त्याज्यं सदा नरैः ॥१७॥
जीवन्ति प्राणिनो येन द्रव्यतः सह बन्धुभिः । जीवितव्यं ततस्तेषां हरेत्तस्यापहारतः ॥१८॥
अर्था बहिश्चराः प्राणाः प्राणिनां येन सर्वथा । परद्रव्यं ततः सन्तो न पश्यन्ति स्वसंविदा ॥१९॥

सुभाषितरत्नसन्दो० ॥

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥२०॥ योगदर्श० ॥

इति तृतीयं स्तेयप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ दया ॥ ४ ॥

दया सर्वेषु भूतेषु मनश्चैवातिशीतलम् । गतमानं मुनिं वन्दे यस्मिन् मौनं सुनिर्मलम् ॥१॥
दयार्द्रहृदयं नित्यं ज्ञानविज्ञानतत्परम् । असक्तं कामनिर्मुक्तं युक्तं दीनप्रियं भजे ॥२॥
आत्मवत्सर्वभूतेषु कायेन मनसा गिरा । अनुकम्पा दया सैव प्रोक्ता वेदान्तवादिभिः ॥३॥

सूतसं० अ०१३ ॥

आत्मवत्सर्वभूतेषु यो हिताय शुभाय च । प्रवर्त्तते सततं हृष्टः क्रिया श्रेष्ठा दया स्मृता ॥४॥

मत्स्यपु० अ० १४५।४५ ॥

अपरे बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्टरि वा सदा । आत्मवद्वर्तनं यत्स्यात्सा दया परिकीर्त्तिता ॥५॥

भविष्यपु० अ० २।१५७ ॥

से अपहरण करके मनुष्य नरक में जाता है, इस में संशय नहीं है ॥ १५ ॥ अतः मन कर्म वचन से पर द्रव्य में इच्छा के अभाव को सत्यवादी ऋषियों ने अस्तेय नामक धर्म का सम्यग् वर्णन किया है ॥ १६ ॥ चोरी से मनुष्य इस लोक में राजा आदि द्वारा दण्ड दुःख पाता है, और परलोक में नरकादि से दुःख पाता है, अतः मनुष्यों को चोरी सदा त्यागने योग्य है ॥ १७ ॥ जिससे बन्धु सहित प्राणी अन्नादि द्रव्यों से जीते हैं, अतः तिस द्रव्य के अपहरण=चोरी आदि से उन प्राणियों के जीवितव्य=जीवन को ही चोरादि हरता है ॥ १८ ॥ क्यों कि प्राणियों के अर्थ = धनादि सर्वथा बहिश्चर प्राण हैं, अतः सन्त लोग पर द्रव्य को स्वबुद्धि से नहीं देखते हैं, परद्रव्य में ममता आदि नहीं करते हैं ॥ १९ ॥ अस्तेय की पूर्ण स्थिति होने पर भूमिस्थ सब रत्नों का उपस्थान=ज्ञान होता है ॥ २० ॥ तीसरा अस्तेयप्रकरण समाप्त ॥

अथ दया—जिन को सब प्राणी में दया है, मन अत्यन्त शीतल है, निरभिमानी उस मुनि की वन्दना करता हूँ कि जिन में मौन भी अत्यन्त निर्मल है ॥ १ ॥ दया से सदा आर्द्रहृदयवाले ज्ञान विज्ञान में तत्पर आसक्ति काम रहित योगयुक्त दीनप्रिय को भजता हूँ ॥ २ ॥ अपने तुल्य सब भूतों में काय मन और वचन से अनुकम्पा अनुग्रह होना ही वेदान्त वादियों से दया कही गई है ॥ ३ ॥ जो कोई अपने समान सब प्राणियों में हित और शुभ के लिये हर्षयुक्त प्रवृत्त होता है, तो उसकी वह श्रेष्ठ क्रिया= प्रवृत्ति दया कही गई है ॥ ४ ॥ अन्य में वा बन्धु वर्ग में वा मित्र में या शत्रु में सदा आत्मतुल्य जो

आत्मनो हितमन्विच्छन् बाधते योऽपरं नरः । कर्तव्या मूढविज्ञाने दया तत्र दयालुभिः ॥६॥
अज्ञानतः कृते दण्डं पातयन्ति बुधा यदि । बुधेभ्यस्तमहं मन्ये वरमज्ञानिनं नरम् ॥७॥
मार्कण्डेयपु० अ० १०९ ॥

यो दयावान् स पुरुषो निर्घृणो राक्षसो मतः । राक्षसानामपि घृणा विद्यते द्विजसत्तमाः ! ॥८॥
निर्घृणाः प्रतिपद्यन्ते घोरं नरकमञ्जसा । बधबन्धं परिक्लेशान् मानुष्येऽथ लभन्ति ते ॥९॥
तस्माद्दयावता भाव्यं तृणेष्वपि विपश्चिता । तृणान्यपि सजीवानि तेषां कुर्यान्न पीडनम् ॥१०॥
कीटे पतङ्गे च पशौ दया कार्या तथा मृगे । वर्णोत्तमे वर्णहीने पतिते वर्णसङ्करे ॥११॥
सर्वत्रैव दया कार्या सर्वकामफलप्रदा । व्रतानामपि सर्वेषां श्रेष्ठमेकं दयाव्रतम् ॥१२॥
दुःखार्त्तं प्राणिनं किञ्चिद् दुःखान्मोचयते जनः । वह्निष्टोमफलं प्रोक्तं नात्र कार्या विचारणा ॥१३॥
परिचर्यां तथा कृत्वा सान्त्वयेत् प्राणिनो द्विजाः ! । ब्रह्मलोकमवाप्नोति दयावान् तेन कर्मणा ॥१४॥
श्लेष्ममूत्रपुरीषाणां व्याधितस्याजुगुप्सकः । सर्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य फलमश्नुते ॥१५॥
मृतस्य चाप्यनाथस्य न जुगुप्सन्ति ये नराः । कुर्वन्ति चैव संस्कारान् ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१६॥
अग्निदाहाज्जलाच्छस्त्रात्तथान्यस्मादुपद्रवात् । प्राणिनो मोक्षणं कृत्वा स्वर्गलोके महीयते ॥१७॥
यस्माद्धि प्राणिनं दुःखात्पुरुषो मोचयेत् क्वचित् । न तद् दुःखमवाप्नोति यत्र यत्राभिजायते ॥१८॥
सर्वभूतेषु यद्दानं चैकसत्त्वे च या दया । सर्वसत्त्वप्रदानाद्धि दया ज्ञेया महाफला ॥१९॥
विष्णुधर्मोत्तरपु० खं० ३।२९२ ॥

प्रवृत्ति होती है, सो दया कही गई है, ॥ ५ ॥ जो मूढ़ मनुष्य अपना हित चाहता हुआ मोह से अन्य को पीडित करता है, उस मूढ विज्ञान वाले पर भी दयालुओं को दया कर्तव्य है ॥ ६ ॥ क्यों कि अज्ञान से अपराध करने पर यदि पण्डित भी दण्ड का प्रयोग करते हैं, तो उन पण्डितों से मैं अज्ञ नर को श्रेष्ठ समझता हूँ ॥ ७ ॥ जो दयावान् है सो मनुष्य है, निर्दय राक्षस माना गया है, हे द्विज श्रेष्ठ ! राक्षसों में भी दया होती है, इससे निर्दय राक्षस से भी हीन हैं ॥ ८ ॥ निर्दय मनुष्य शीघ्र भयानक नरक में प्राप्त होते हैं, और मनुष्य दशा में भी वे लोग बध बन्ध और सर्वतः क्लेश पाते हैं ॥ ९ ॥ अतः विद्वान् को तृण पर भी दयालु होना चाहिये, क्यों कि तृण भी सजीव हैं, उन का पीडन नहीं करे ॥१०॥ कीट पतङ्ग पशु मृग उत्तम वर्णहीन वर्ण पतित वर्णसंकर इन सब पर दया कर्तव्य है ॥ ११ ॥ सब काम और फल को देने वाली दया सर्वत्र कर्तव्य है, सब व्रतों में भी एक दयाव्रत श्रेष्ठ है ॥१२॥ जो मनुष्य दुःख से पीडित प्राणी को कुछ भी दुःख से मुक्त करता है, उस को अग्निष्टोमयज्ञ का फल कहा गया है, इस में विचारणा कर्तव्य नहीं है, यह बात निश्चित है ॥१३॥ हे द्विज ! जो दयालु आर्त प्राणियों की सेवा करके उनको सान्त्व (अत्यन्त मधुर वचन) से सन्तुष्ट करता है, सो उस कर्म से ब्रह्म लोक में जाता है ॥१४॥ रोगी के श्लेष्मा=कफ मल मूत्र की घृणा नहीं करके साफ करने वाला सब काम से पूर्ण यज्ञ के फल को पाता है ॥ १५ ॥ अथवा अनाथ मृतक की जो मनुष्य जुगुप्सा = घृणा नहीं करते हैं, और उस के संस्कारों को करते हैं, वे लोग स्वर्गगामी होते हैं ॥१६॥ अग्निदाह जल शस्त्र वा अन्य उपद्रवों से प्राणियों की रक्षा करनेवाले स्वर्ग में पूजित होते हैं ॥ १७ ॥ जिस दुःख से प्राणी को पुरुष कहीं भी मुक्त = रहित करता है, उस दुःख को वह नहीं पाता है, कि जहाँ २ जन्मता है ॥१८॥ सब प्राणियों में जो दान देना, और एक पर जो दया करना है, तहाँ सब प्राणिसम्बन्धी दान

दया दान्त्या च शान्त्या च न विनाऽत्र प्रजायते । यतो दमः शमश्चेति द्वयं साधनमीरितम् ॥२०॥
आत्मपु० अ० १।५७७ ॥

हेमधेनुधरादीनां दातारः सुलभा भुवि । दुर्लभः पुरुषो लोके सर्वभूतदयापरः ॥२१॥
सर्वे वेदा न तत्कुर्युः सर्वे यज्ञाश्च भारत ! । सर्वतीर्थाभिषेको वा यत्कुर्यात्प्राणिनां दया ॥२२॥
वाङ्मनःकर्मभि ये तु सर्वभूतहिते रताः । दयादमितपाप्मानो ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते ॥२३॥
गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा । यन्न भूतहितार्थाय तत्पशोरिव जीवितम् ॥२४॥
सदयं हृदयं यस्य भाषितं सत्यभूषितम् । कायः परहितो यस्य कलिस्तस्य करोति किम् ॥२५॥
न सा दीक्षा न सा भिक्षा न तद्दानं न तत्तपः । न तज्ज्ञानं न तद्ध्यानं दया यत्र न विद्यते ॥२६॥
यस्य चित्तं द्रवीभूतं कृपया सर्वजन्तुषु । तस्य दानेन मोक्षेण किं जटाभस्मलेपनैः ॥२७॥
इतिहाससमुच्च० अ० ४ ॥

नह्यतः सदृशं किञ्चिदिह लोके परत्र च । यत्सर्वेष्विह भूतेषु दया कौरवनन्दन ! ॥
न भयं विद्यते जातु नरस्येह दयावतः ॥२८॥
अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः । अभयं तस्य भूतानि ददतीत्यनुशुश्रुम ॥२९॥
क्षतं च स्खलितं चैव पतितं कृष्टमाहतम् । सर्वभूतानि रक्षन्ति समेषु विषमेषु च ॥३०॥
नैनं व्याला मृगा घ्नन्ति न पिशाचा न राक्षसाः । मुच्यते भयकालेषु मोक्षयेद्यो भये परान् ॥३१॥
महाभा० अनुशासनप० अ० ११६॥ २०-२३ ॥

आत्मोपमस्तु भूतेषु यो वै भवति मानवः । न्यस्तदण्डो जितक्रोधः प्रेत्येह लभते सुखम् ॥३२॥

से दया महाफल वाली समझना चाहिये ॥ १९ ॥ वह दया दान्ति और शान्ति के विना यहाँ नहीं होती है, अतः दम शम को इस दया का साधन कहा गया है ॥२०॥ सुवर्ण, गऊ, भूमि आदि के दाता भूमि में सुलभ हैं, परन्तु सब प्राणी पर दया परायण पुरुष लोक में दुर्लभ हैं ॥ २१ ॥ हे भारत ! सब वेद यज्ञ तीर्थ स्नान उस फल को नहीं सिद्ध कर सकते, कि जिस फल को प्राणी पर दया सिद्ध करती है ॥ २२ ॥ वाक् मन और कर्म से जो सब भूतों की दया में तत्पर हैं, दया से ही सब पाप के दमन करने वाले वे लोग ब्रह्मलोक में जाते हैं ॥ २३ ॥ चलते खड़े रहते जागते वा सोते हुए मनुष्य का जो जीवन प्राणी का हितार्थक नहीं है, वह पशु के समान जीवन है ॥ २४ ॥ जिसका हृदय दया युक्त है, वचन सत्यसे विभूषित है, शरीर अन्य का हितकर है, उसका कलियुग भी कुछ अपकार नहीं करता है ॥२५॥ जिसमें दया नहीं है, वह दीक्षा आदि निरर्थक है ॥ २६ ॥ सब प्राणियों पर कृपा से जिसका चित्त द्रवीभूत=कोमल-आर्द्र है, उसको दानादि के फल प्राप्त हैं, दान, मोक्ष, जटा सहित भस्मलेपन से उसे क्या जरूरत है ? ॥ २७ ॥ हे कौरव-नन्दन ! यहाँ सर्व प्राणियों में जो दया है, इसके तुल्य इस लोक में वा परलोक में अन्य कोई वस्तु कर्म नहीं है । और दया वाले नर को यहाँ कभी भी भय नहीं होता है ॥ २८ ॥ दया में तत्पर जो मनुष्य सब प्राणी को अभय देता है, उसको सब प्राणी भी अभय देते हैं, यह हम सुन चुके हैं ॥ २९ ॥ शस्त्रादि के क्षत=खंडित स्खलित=छलित, पतित, कष्ट युक्त, और आहत=ताडित दयालु की सम और विषम स्थानों में सब प्राणी रक्षा करते हैं ॥ ३० ॥ जो भय स्थान में अन्य को भय से मुक्त करता है, उसको सर्प मृग पिशाच राक्षस कोई नहीं मारते हैं ॥ ३१ ॥ जो मनुष्य प्राणियों में दया से

धर्मे स्थिता सत्यवीर्या धर्मसेतुवटारका। त्यागवाताध्वगा शीघ्रा नौस्तं संसारयिष्यति ॥३३॥
यदा निवृत्तः सर्वस्मात्कामो योऽस्य हृदि स्थितः। तदा भवति सत्त्वस्थस्ततो ब्रह्म समश्नुते ॥३४॥
वने चरन्ति ये धर्ममाश्रमेषु च भारत ! । रक्षणात्तच्छतगुणं धर्मं प्राप्नोति पार्थिवः ॥३५॥

महाभा० शां० प० अ० ६६।३६-३८-४१ ॥

इति चतुर्थं दयाप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथाऽऽर्जवम् ॥ ५ ॥

आर्जवेन जितं येन जगज्जालं सुदुर्जरम्। मायामोहमयं तीव्रं तमजिह्मतरं नुमः ॥१॥
यत्प्रकृष्टगुणैः सिंहै र्भेदकामादिवारणाः। दुर्गुणाश्चैव नश्यन्ति कथं तं नास्तिकः श्रयेत् ॥२॥
आर्जवान्न परं ज्ञानमार्जवान्न परं तपः। आर्जवान्न परा सिद्धि र्नार्जवात्परमं पदम् ॥३॥
आर्जवात्प्राप्यते विद्या सुखं लोके परत्र च। अजिह्मं दूरतो माया त्यक्त्वा क्वापि पलायते ॥४॥
ऋजुं देवाः प्रशंसन्ति मुनयो यक्षराक्षसाः। देवदेवो हरिस्त्वस्य योगं क्षेमं वहत्यपि ॥५॥
पुत्रे मित्रे कलत्रे च रिपौ स्वात्मनि सन्ततम्। ऐक्यरूप्यं मुने ! यत्तदार्जवं प्रोच्यते मया ॥६॥

सूतसंहिता० श्रीजाबालदर्शनोप० ॥

सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम्। उभे त्वेते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते ॥७॥

महाभा० उद्योगप० अ० ३५।२ ॥

सर्वभूतानुकम्पी यः सर्वभूतार्जवव्रतः। सर्वभूतात्मभूतश्च स वै धर्मेण युज्यते ॥८॥

अपने तुल्य वर्ताव करता है, दण्ड देना त्यागता है, क्रोध को जीता है, सो मर कर परलोक में और यहाँ सुख पाता है ॥३२॥ और धर्म में स्थिर, सत्य रूप वीर्य वाली धर्म को मर्यादारूप वटारका=गुण वाली, त्याग रूप वायु के मार्ग में गमन वाली शीघ्र गामिनी दया ज्ञानादि रूप नौका उस पुरुष को संसार से तारेगी ॥ ३३ ॥ जो काम इसके हृदय में स्थिर है, सो जब सब पदार्थ से निवृत्त होता है तब यह सत्त्व में स्थिर होता है, ब्रह्म को पाता है ॥ ३४ ॥ हे भारत वन में और आश्रमों में जो धर्म का आचरण करते हैं, उसके सौगुना धर्म को दया से रक्षा करने पर राजा प्राप्त करता है ॥ ३५ ॥ चौथा दयाप्रकरण समाप्त ॥

अथ आर्जव—ऋजुता=अवक्रता-सरलता से जिसने अत्यन्त दुर्जर जगत् जाल=प्रपञ्च कपटादि को जीता है, कि जो जगज्जाल माया और मोहमय है, तथा तीव्र=दृढ-तीक्ष्ण है, उसको जीतने वाले माया मोह रहित अत्यन्त अजिह्म=अकुटिल-सरल को नमस्कार है ॥ १ ॥ जिस के प्रकृष्ट गुण ज्ञानशमादि सिंह से भेद कामादि रूप हस्ती और सब दुर्गुण नष्ट हो जाते हैं, उनको नास्तिक कैसे सेवेगा ? ॥ २ ॥ ऋजुता से उत्तम ज्ञान तपसिद्धि पद नहीं है, आर्जव से विद्या लोक परलोक में सुख मिलते हैं, और कुटिलता रहित को दूर से त्याग कर माया कहीं भाग जाती है ॥ ३-४ ॥ सरल अकपटी की प्रशंसा देव मुनि यक्ष राक्षस सब करते हैं, और सब देवों के देव हरि इसके योग क्षेम को स्वयं प्राप्त कराते धारण करते हैं ॥५॥ हे मुने ! पुत्रादि सब में जो सदा एकरूपता, सो मुझ से आर्जव कहा जाता है ॥ ६ ॥ सब तीर्थों में स्नान वा सब भूत में आर्जव=समता ये दोनों सम हो सकते हैं, या आर्जव अधिक है ॥ ७ ॥ सब भूत में दयालु, सब भूत में ऋजुता व्रत वाला, सब भूत के आत्मभूत जो है, सो

सर्ववेदेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम् । उभे एते समे स्यात्तामार्जवं वा विशिष्यते ॥९॥

महाभा० शां० प० अ० १४१।२५–२६॥

विहितेषु तदन्येषु मनोवाक्कायकर्मणा । प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा ह्येकरूपत्वमार्जवम् ॥१०॥

योगियाज्ञवल्क्यसं० अ० २।६३॥

आर्जवं धर्ममित्याहुरधर्मो जिह्ममुच्यते । आर्जवेनेह संयुक्तो नरो धर्मेण युज्यते ॥११॥

व्यवहारेषु सर्वेषु मनोवाक्कायकर्मभिः । सर्वेषामपि कौटिल्यराहित्यमार्जवं विदुः ॥१२॥

इति पञ्चममार्जवप्रकरणं समाप्तम् ॥ भगवान् शङ्कर आत्मपुराणे ॥

अथ क्षमा ॥ ६ ॥

क्षमया विजितः क्रोधस्तन्मूलं काम एव च । सद्विवेकं समाश्रित्य स मुनिः सिद्ध उच्यते ॥१॥

यस्य चित्ते क्षमावृक्षो विवेकाद्भिः सुपोषितः । तदाश्रितमनस्यस्मिन् सन्तापो नैव जायते ॥२॥

विगर्हाऽतिक्रमाक्षेपहिंसाबन्धवधात्मनाम् । अन्यमन्युसमुत्थानां दोषाणां मर्षणं क्षमा ॥३॥

कूर्मपु० अ० १५।३० ॥

कायेन मनसा वाचा शत्रुभिः परिपीडिते । चित्तक्षोभनिवृत्ति र्या क्षमा सा मुनिपुङ्गव ! ॥४॥ सू०सं०॥

प्रियाप्रियेषु सर्वेषु समत्वं यच्छरीरिणाम् । क्षमा सैवेति विद्वद्भि र्गदिता वेदवादिभिः ॥५॥

योगियाज्ञवल्क्यसंहि० ॥

आक्रुष्टोऽभिहतो यस्तु नाक्रोशेत्प्रहरेदपि । अदुष्टो वाङ्मनःकायैस्तितिक्षुः सा क्षमा स्मृता ॥६॥

मत्स्यपु० अ० १४५।४६॥

वाचा मनसि काये च दुःखेनोत्पादितेन च । न कुप्यति न चाप्रीतिः सा क्षमा परिकीर्त्तिता ॥७॥ म०पु०।

अवश्य धर्म से युक्त होता है ॥८॥ सब वेद का अध्ययन सब प्राणियों में ऋजुता दोनों सम हैं, या आर्जव अधिक है ॥ ९ ॥ विहित कर्मों में मन आदि द्वारा प्रवृत्ति में अथवा निषिद्ध कर्मों से मन आदि द्वारा निवृत्ति में जो एक रूपता = रागद्वेषादि राहित्य है, सो आर्जव है ॥ १० ॥ ऋजुता को धर्म, और कुटिलता को अधर्म कहते हैं, क्यों कि आर्जव से युक्त मनुष्य यहां धर्म युक्त होता है ॥ ११ ॥ मन आदि द्वारा सबों को सभी व्यवहारों में कुटिलता राहित्य को आर्जव जानते हैं ॥ १२ ॥ पाँचवाँ आर्जवप्रकरण समाप्त ॥

अथ क्षमा—जिस ने सत्य विवेक का सम्यग् आश्रयण करके क्षमा द्वारा क्रोध को वश में किया है, और क्रोध के मूल = कारण काम को भी वश में किया है, सो मुनि सिद्ध कहलाता है ॥ १ ॥ जिस की चित्त भूमि में क्षमारूप वृक्ष विवेकरूप जल से सुपोषित है, उस के आश्रित मन वाले इस पुरुष के मन में संताप नहीं होता है ॥ २ ॥ निन्दा, अनादर, आक्षेप = भर्त्सना हिंसा बन्धन बधरूप, अन्य के क्रोध से उत्पन्न दोषों का सहन क्षमा है ॥ ३ ॥ हे मुनि श्रेष्ठ ! शत्रुओं से देह मनः वचन द्वारा परिपीडित होने पर भी जो चित्त की चंचलता की निवृत्ति है, सो क्षमा है ॥ ४ ॥ देहधारी को जो प्रिय अप्रिय सब में समता है, सोई वेदवादी विद्वानों से क्षमा कही गई है ॥ ५ ॥ आक्रुष्ट = निन्दित अभिहत = ताडित भी जो मनुष्य आक्रोश = निन्दा प्रहार = ताडन नहीं करता है, और वाक् मन देह से अदुष्ट = दोषरहित तितिक्षु रहता है, उसकी यह स्थिति क्षमा कही जाती है ॥ ६ ॥ बचन से मन और देह में उत्पादित

क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम् । य एतदेवं जानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति ॥८॥
क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च । क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत् ॥९॥
क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता । यदा हि क्षमते सर्वं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥१०॥

महाभा० वनप० अ० २९ ॥ युधिष्ठिरोक्तिः ।

अबुद्धिमाश्रितानां तु क्षन्तव्यमपराधिनाम् । न हि सर्वत्र पाण्डित्यं सुलभं पुरुषेण वै ॥११॥
अथ चेद् बुद्धिजं कृत्वा ब्रूयुस्तदबुद्धिजम् । पापान् स्वल्पेऽपि तान् हन्यादपराधे तथाऽनृजून् ॥१२॥
अजानता भवेत्कश्चिदपराधः कृतो यदि । क्षन्तव्यमेव तस्याहुः सुपरीक्ष्य परीक्षया ॥१३॥

महाभा० वनप० अ० २८ ॥ प्रह्लादोक्तिः ॥

एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते । यदेनं क्षयमा युक्तमशक्तं मन्यते जगत् ॥१४॥
सोऽस्य दोषो न मन्तव्यः क्षमा हि परमं बलम् । क्षमा गुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ॥१५॥
क्षमा वशीकृति र्लोके क्षमया किन्न साध्यते । शान्तिखड्ग करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः ॥१६॥
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति । अक्षमावान् परं दोषैरात्मानं चैव योजयेत् ॥१७॥
द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः । प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥१८॥

महाभा० उद्योगप० अ० ३३। विदुरोक्तिः ॥

यः समुत्पतितं क्रोधं क्षमयेह निरस्यति । यथोरगस्त्वचं जीर्णां स वै पुरुष उच्यते ॥१९॥

दुःख से जो न क्रुद्ध होता है, न अप्रीति होती है, सोई क्षमा कही गई है ॥ ७ ॥ क्षमा धर्म यज्ञ वेद श्रुत स्वरूप है, जो पुरुष इसको ऐसा जानता है, सो सब को क्षमा कर सकता है ॥ ८ ॥ क्षमा ब्रह्मादि स्वरूप है, इससे क्षमा से ही यह जगत् धृत है ॥ ९ ॥ विशेषज्ञ पुरुष को सदा क्षमा कर्तव्य है, जब सब अपराध अपराधी को क्षमा करता-सहता है तब ब्रह्म को सम्यग् प्राप्त करता है, ब्रह्म स्वरूप होता है ॥ १० ॥ विवेक बुद्धि को अप्राप्त अपराधियों के सब अपराध क्षन्तव्य = क्षमा योग्य ही हैं, क्योंकि पुरुष को सर्वत्र पाण्डित्य = विवेक बुद्धि सुलभ नहीं है ॥ ११ ॥ और यदि बुद्धिपूर्वक अहङ्कारादि से अपराध करके अज्ञान जन्य उस अपराध को कहे, तो पता लगने पर स्वल्प अपराध रहते भी उन पापियों का हनन करे, तथा अनृजु = क्रूरों का हनन करे = उन्हें दण्ड दे ॥ १२ ॥ अज्ञानी से यदि कोई अपराध किया गया हो तो परीक्षा के साधन से सुपरीक्षा करके क्षमा ही कर्तव्य है ॥१३॥ क्षमा वालों में एक दोष है कि क्षमा-युक्त इस को जगत् अशक्त = बलहीन समझता है, इससे अन्य दूसरा दोष नहीं सिद्ध होता है ॥ १४ ॥ वह भी एक दोष इस क्षमावान् के मानने योग्य नहीं है, क्षमा ही परम बल है, अशक्तों का क्षमा गुण है, और शक्त = समर्थ का क्षमा भूषण है ॥ १५ ॥ लोक में क्षमा वशीकरण मन्त्रादि रूप है, उस क्षमा से क्या नहीं साधा जा सकता है, और शान्ति = क्षमा रूप खड्ग = तलवार जिसके कर = मन में है, दुर्जन भी उसको क्या करेगा ? ॥१६॥ तृण काष्ठ रहित स्थान में पतित अग्नि स्वयं शान्त हो जाती है, वैसे क्षमावान् में दुर्जन का व्यापार निष्फल होता है, और क्षमा रहित प्राणी तो दूसरे को और अपने को भी दोषों से युक्त करता है ॥ १७ ॥ हे राजन् क्षमायुक्त प्रभु और उचित दान वाला दरिद्र ये दोनों पुरुष स्वर्ग के ऊपर स्थिर हैं ॥ १८ ॥ जो उत्पन्न क्रोध को क्षमा से सर्प के जीर्ण त्वक् तुल्य त्यागता है, वह पुरुष कहलाता है

यः सन्धारयते मन्युं योऽतिवादांस्तितिक्षते । यश्च तप्तो न तपति दृढं सोऽर्थस्य भाजनम् ॥२०॥

महाभा० आदिप० अ० ७८।शुक्रोक्तिः ॥

क्षिप्ताऽवमानिताध्वस्तास्ताडिताः पीडिता अपि । न विक्रिया प्रभवति प्रतिकारं न कुर्वते ॥२१॥

हितं कुर्वन्ति सर्वेषां करुणादीनवत्सलाः । तितिक्षवोऽल्पवाचो हि महान्तो लोकपावनाः ॥२२॥

आदिपु० अ० ८ ॥

क्षमा धर्मः क्षमा सत्यं क्षमा शौचं क्षमा बलम् । क्षमा यज्ञाः क्षमा दानं क्षमा च परमन्तपः ॥२३॥

आक्रुष्टस्ताडितो वापि परेषां यस्तितिक्षते । तस्मात्सुकृतमादत्ते दुष्कृतं च प्रयच्छति ॥२४॥

क्षमावान् यः स धर्मात्मा क्षमयैव द्विजोत्तमाः ! । आक्रोष्टारं निर्दहति स्वर्गलोकं स गच्छति ॥२५॥

विष्णुधर्मोत्तरपु० खं० ३।२६६ ॥

आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेवतितिक्षतः । आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥२६॥

महाभा० आदिप० अ० ८७। ययातेरुक्तिः ॥

क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वं शान्तिसौख्यप्रदा सदा । क्षमया यै र्जितः शत्रुस्तैश्च त्रिभुवनं जितम् ॥२७॥

इति षष्ठं क्षमाप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ धृतिः ॥ ७ ॥

येन धृत्या जितं चित्तं स्थापितं च परेऽव्यये । लोकान्नोद्विजते नैव चोद्विजयति तं नुमः ॥१॥

वेदादेव विनिर्मोक्षः संसारस्य न चान्यथा । इति विज्ञाननिष्पत्ति र्धृतिः प्रोक्ता हि वैदिकैः ॥२॥

॥ १९ ॥ जो क्रोध को रोकता है, अधिक वचन को सहता है, जो तपाने पर नहीं तपता, वह अर्थ का दृढ़ पात्र है ॥ २० ॥ प्रेरित अनादृत आध्वस्त=विनाशित ताडित, पीडित, भी जो लोग, प्रतिकार नहीं करते हैं, न जिनके अन्दर विकार होता है, और जो करुणा से दीन के वत्सल=प्रेमी हैं सबका हित करते हैं, वे महान् अल्प वक्ता तितिक्षु लोग लोक को पावन करने वाले हैं ॥ २१–२२ ॥ क्षमा धर्म सत्यादि स्वरूप है । निन्दित ताड़ित होने पर भी जो अन्य के अपराध को सहता है, सो उसके पुण्य को ले लेता है, और अपना पाप उसको देता है ॥ २३–२४ ॥ हे द्विजोत्तम ! जो धर्मात्मा क्षमावान् है सो क्षमा से ही निन्दक को नष्ट करता है, और आप वह स्वर्ग में जाता है ॥ २५ ॥ शत्रु आदि के द्वारा विरुद्ध बात कही जाने पर भी स्वयं विरुद्ध नहीं बोले, तितिक्षा वाले का मन्यु=शोक क्रोध ही विरुद्ध वक्ता को नष्ट करता है, और इसके पुण्य को प्राप्त करता है ॥ २६ ॥ द्वन्द्वों की सहनशीलता को क्षमा कहते हैं, सो सदा शान्ति और सुख को देने वाली है, जिन्होंने क्षमा से शत्रु को वश में किया उन्होंने त्रिलोकी को भी वश में किया है ॥ २७ ॥ छठवाँ क्षमाप्रकरण समाप्त ॥

अथ धृति—धैर्य से वशीकृत चित्त को जिस महात्मा ने परम अविनाशी तत्त्व में स्थिर किया है, इससे जो लोक से उद्विग्न नहीं होते हैं न लोक को उद्विग्न करते हैं उन्हें नमस्कार है ॥ १ ॥ वेदजन्य ज्ञान, ज्ञान के साधन वेद से ही जन्मादि रूप संसार की निवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं, इस विज्ञान की

अहमात्मा न मर्त्त्योऽस्मीत्येवमप्रच्युता मतिः । या सा प्रोक्ता धृतिः श्रेष्ठा मुने ! वेदैकवेदिभिः ॥३॥
सूत० संहि० ॥

अर्थहानौ च बन्धूनां वियोगे चापि सम्पदि । तयोः प्राप्तौ च सर्वत्र चित्तस्य स्थापनं धृतिः ॥४॥
योगियाज्ञवल्क्यसंहि० ॥

धृति र्नाम सुखे दुःखे यथा नाप्नोति विक्रियाम् । तां भजेत दशां प्राज्ञो य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥५॥
महाभा० शां० प० अ० २६२ ॥

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः । योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥६॥
यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ! । प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ ! राजसी ॥७॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च । न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ ! तामसी ॥८॥

इति सप्तमं धृतिप्रकरणं समाप्तम् ॥ भगवद्गी० अ० १८।३३–३५ ॥

अथ मितभोजनम् ॥ ८ ॥

प्रकृत्तिं स्वां स्वधर्मं च सम्यग् ज्ञात्वैव यो जनः । शुद्धं हितं मितं भुङ्क्ते मन्ये पूतं हि तं परम् ॥१॥
अल्पमिष्टाशनाभ्यां तु नास्ति योगः कथञ्चन । तस्माद्योगानुगुण्येन भोजनं मितभोजनम् ॥२॥सूतसं० ॥
अष्टौ ग्रासा मुने भक्ष्याः षोडशारण्यवासिनाम् । द्वात्रिंशच्च गृहस्थस्यानियतं ब्रह्मचारिणाम् ॥
तेषामयं मिताहारस्तत्तेषामल्पभोजनम् ॥ ३ ॥ योगियाज्ञवल्क्यसंहि० ॥

सिद्धि को वेदज्ञ धृति कहते हैं ॥ २ ॥ मैं आत्मा हूँ मनुष्य नहीं, ऐसी अप्रच्युत = स्थिर बुद्धि को ही वेदैक वेत्ता लोग धृति कहते हैं । हे मुने ! वेद को मुख्य मानने वालों से यह श्रेष्ठ धृति कही गई है ॥ ३ ॥ अर्थ की हानि, बन्धु के वियोग, या सम्पत्ति काल में तथा अर्थ और बन्धु दोनों की प्राप्ति काल में सर्वत्र चित्त का स्थापन (एक रस रखना) ही धृति है ॥ ४ ॥ धृति वह है कि सुख दुःख में अतिहर्ष शोक रूप विकार को जिससे नहीं प्राप्त होता है, इससे जो अपनी विभूति चाहे सो उस दशा को धारण करे ॥ ५ ॥ हे पार्थ ! योग = समाधान से अव्यभिचारिणी = योगयुक्त, जिस धृति से मन प्राण इन्द्रियों की क्रिया कुप्रवृत्ति से धारित = निरुद्ध की जाती है, सो समाधि के हेतु रूप धृति सात्त्विकी है ॥ ६ ॥ जिस धृति से धर्म काम और अर्थ को मन में धारण करता है, धर्मादि का कर्त्तव्यादि रूप से निश्चय अनुष्ठान करता है, और धर्मादि के धारण के प्रसङ्ग=सम्बन्ध से जो पुरुष फलेच्छु होता है, हे पार्थ ! उसकी वह धृति राजसी है ॥ ७ ॥ हे पार्थ ! जिस धृति से स्वप्न = निद्रा भय = त्रास शोक (इष्ट वियोगज सन्ताप) विषाद = इन्द्रिय खिन्नता; मद = गर्व, इन सब को दुर्बुद्धि पुरुष नहीं त्यागता है, सो तामसी धृति है ॥ ८ ॥ सप्तम धृति प्रकरण समाप्त ॥

अथ मितभोजन—अपनी प्रकृति = वात पित्तादि जन्य स्वभाव और धर्म को सम्यग् जान करके ही जो मनुष्य हित परिमित शुद्ध वस्तु का भोजन करता है उसको ही परम पवित्र मानता हूँ ॥ १ ॥ अल्प और मीठे भोजन से किसी प्रकार योग नहीं होता है, अतः योग का अनुकूल = सहायक भोजन मितभोजन है ॥ २ ॥ मुनि = संन्यासी का आठ ग्रास भोजन है, षोडश ग्रास वानप्रस्थ का भोजन है, बत्तीस ग्रास गृहस्थ का भोजन है, और ब्रह्मचारियों का अनियत = भूख के अनुसार भोजन है । इनका

अन्नेन पूरयेदर्द्धं तोयेन तु तृतीयकम् । उदरस्य तुरीयांशं संरक्षेद्वायुचारणे ॥४॥
घेरण्डसं० ॥ उपदे० ५।२२॥

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः । भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥५॥ योगकु० उपनि०॥

आहारस्य तु द्वौ भागौ तृतीयमुदकस्य तु । वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥६॥ कात्या० स्मृ०॥

सायं प्रातराश्येव स्यात् ॥ ७ ॥ शतपथब्रा० २।४।६॥

इत्यष्टमं मितभोजनप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ ब्रह्मचर्यम् ॥ ९ ॥

ब्रह्मचर्येण यो लभ्यस्तं हरिं सर्वदेहिनाम् । आत्मानमभयं वन्दे प्रियं सत्यमनामयम् ॥१॥

दर्शनं स्पर्शनं केलिः कीर्त्तनं गुह्यभाषणम् । सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया निर्वृत्तिरेव च ॥२॥

एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः । विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः ॥३॥
कठरुद्रोपनि० ५-६ ॥

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा । सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥४॥

ब्रह्मचर्याश्रमस्थानां यतीनां नैष्ठिकस्य च । ब्रह्मचर्यं च यत्प्रोक्तं तथैवारण्यवासिनाम् ॥५॥

ऋतावृतौ स्वदारेषु सङ्गति र्या विधानतः । ब्रह्मचर्यं तदेवोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम् ॥६॥

राज्ञश्चैव गृहस्थस्य ब्रह्मचर्यं प्रकीर्त्तितम् । विशां वित्तवतां चैव केचिदिच्छन्ति पण्डिताः ॥७॥

शुश्रूषैव तु शूद्रस्य ब्रह्मचर्यं प्रकीर्त्तितम् । शुश्रूषया गुरौ नित्यं ब्रह्मचर्यमुदाहृतम् ॥८॥
योगियाज्ञवल्क्यसं० ॥

वही मित भोजन है, और वही अल्प भोजन है ॥ ३ ॥ अन्न से आधा उदर=पेट को पूर्ण करे जल से तीसरे भाग को पूर्ण करे, और चतुर्थ भाग को वायु की गति के लिये खाली रक्खे ॥ ४ ॥ शिव की प्रीति के लिये जो सुन्दर स्निग्ध मधुर भोजन चतुर्थ अंश=भाग के बिना खाया जाता है, सो मित भोजन कहलाता है ॥ ५ ॥ अतः आहार के दो भाग और जल के तीसरे भाग को उदर में पूर्ण करे और वायु की सम्यग् गति के लिये चौथे भाग को शेष रक्खे ॥ ६ ॥ प्रातः, सन्ध्या दो ही समय भोजन करे ॥ ७ ॥ आठवाँ मितभोजन प्रकरण समाप्त ॥

अथ ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य से जो हरि मिलते हैं, सब देही के आत्मा अभय प्रिय सत्य अनामय तिस हरि की वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥ दर्शनादि रूप आठ अंग वाले इस मैथुन को विद्वान् लोग कहते हैं, उससे विपरीत ब्रह्मचर्य है, सो मुमुक्षुओं को कर्तव्य है ॥ १-३ ॥ सब अवस्था में सदा सर्वत्र कर्म मन और वचन से मैथुन का त्याग जो है उस को ब्रह्मचर्य कहते हैं ॥ ४ ॥ ब्रह्मचर्याश्रमी संन्यासी और नैष्ठिक का जो नित्य ब्रह्मचर्य कहा गया है, वैसा ही वानप्रस्थ का भी कहा गया है ॥ ५ ॥ ऋतु काल में ही जो विधि के अनुसार स्वभार्या के प्रति गमन है, सोई गृहस्थ का ब्रह्मचर्य कहा गया है ॥ ६ ॥ गृहस्थ राजा को ब्रह्मचर्य भी कथित है, तथा धनी वैश्य को भी ब्रह्मचर्य कोई पण्डित मानते हैं ॥ ७ ॥ शूद्र का तो सेवा

स्वर्गं मोक्षं तथा चायुरिह लोके सुखं यशः । ब्रह्मचर्येण सम्पन्नः पुमानाप्नोत्यसंशयम् ॥९॥
निरोगः कान्तिसम्पन्नः सर्वदुःखविवर्जितः । ब्रह्मचारी भवेल्लोके पाप्मना च विवर्जितः ॥१०॥
ब्रह्मचर्येण सर्वोऽपि लभ्यते दुर्लभं हि यत् । ब्रह्मचर्यं च सर्वाणि यज्ञादीनि वदन्ति हि ॥११॥
सर्वसाधनसम्पन्ना ब्रह्मचर्यविवर्जिताः । क्लेशं हि मुनयो भेजु विद्वांसोऽपि च कोटिशः ॥१२॥
ब्रह्मचर्ये रतश्चैनं प्राप्नुयाद् दुःखवर्जितम् । आनन्दात्मानमद्वैतं स्वयंज्योतिःस्वरूपिणम् ॥१३॥
ब्रह्मचर्यविहीनाय विषयासक्तचेतसे । आनन्दात्माऽपि चित्तस्थो भाति नैव कदाचन ॥१४॥
किन्तु नारी सदा भाति बहि र्या मलसञ्चया । तच्चित्तः सततं ध्यानात्संस्कारो बलवान् भवेत् ॥१५॥
बध्वाः स्वप्नादिकालेषु तामेवैषोऽत्र पश्यति । पश्यंस्तामुदरे गच्छेद्योषितः पुरुषः सदा ॥१६॥
आत्मपु० अ० १४ ॥

ब्रह्मचर्यमहिंसायामन्त र्भवति सर्वदा । उदर्के महती हिंसा जन्तूनां भोगतः स्त्रियः ॥१७॥
ग्राम्यधर्मेण गमनाद्योषितां यौवने सति । भवेद् गर्भो यतो नारीगर्भयो र्मरणोपमम् ॥
मरणं वा भवेद् दुःखं दुःसहं सर्वदेहिभिः ॥ १८ ॥
नारीसंयोगतो वीर्यं देहकारागृहप्रदम् । जन्तूनां यत एतत्स्यात्त्रिविधं दुःखमद्भुतम् ॥१९॥
रेतःसिचस्ततः पापं भवेदत्यन्तदुःखदम् । ब्रह्मचर्ये कृते नैतद् भवेत्किञ्चिद्धि हिंसनम् ॥२०॥
आत्मपु० अ० ६।१६२६ । इत्यादि ॥

क्षीरं विषेण संयुक्तं पानकाले यथा सुखम् । कुर्वंच मृतिहेतुः स्यादेवं रेतोऽत्र योषिताम् ॥२१॥

भक्ति ही ब्रह्मचर्य कहा गया है, और सबका ब्रह्मचर्य गुरुविषयक सेवा से कहा गया है ॥ ८ ॥ ब्रह्मचर्य से युक्त मनुष्य स्वर्ग मोक्ष पाता है, तथा इस लोक में भी आयु सुख यश को पाता है ॥ ९ ॥ ब्रह्मचारी लोक में निरोग शोभायुक्त तेजस्वी सब दुःखों से रहित पाप से वर्जित रहता है ॥ १० ॥ ब्रह्मचर्य से सब पदार्थ मिलते हैं, जो दुर्लभ है, सो भी मिलता है, ब्रह्मचर्य को सब यज्ञादि स्वरूप कहते हैं ॥ ११ ॥ सब साधन से सम्पन्न मुनि और करोड़ों विद्वान् भी ब्रह्मचर्य से रहित होने से क्लेश प्राप्त किये हैं ॥ १२ ॥ ब्रह्मचर्य में तत्पर पुरुष, दुःख रहित, आनन्द स्वरूप, स्वयं ज्योतिः स्वरूप, अद्वैत इस अपरोक्ष आत्मा को प्राप्त करता है ॥ १३ ॥ ब्रह्मचर्य रहित विषयों में आसक्त चित्त को स्वचित्तस्थ भी आनन्द स्वरूप आत्मा कभी नहीं भासता है ॥ १४ ॥ किन्तु बाहर जो मल के संचय युक्त नारी है सो सदा भासती है; फिर उस को सदा ध्यान से तन्मय चित्त रूप स्त्री के संस्कार बली होते हैं ॥ १४ ॥ फिर स्वप्नादि काल में यहाँ यह पुरुष उसी को सदा देखता है, फिर मरन काल में भी सदा उस को देखता हुआ स्त्री के उदर में पुरुष मर कर जाता है ॥ १६ ॥ नित्य ब्रह्मचर्य सदा अहिंसा के अन्तर्गत =अहिंसाधर्मरूप होता है, क्योंकि स्त्री के भोग से उदर्क = भाविफल काल में जन्तुओं की बड़ी हिंसा होती है ॥ १७ ॥ स्त्री के प्रति युवावस्था में ग्राम्यधर्म=मैथुन रूप से गमन से स्त्री को गर्भ होता है, जिससे स्त्री और गर्भ = बच्चा, दोनों को मरण तुल्य वा मरण रूप ही सब प्राणी से दुःसह दुःख होता है ॥ १८ ॥ स्त्री के संयोग से वह वीर्य देहरूप कारागार को देने वाला होता है, कि जिस देह से प्राणियों के यह तीन प्रकार के अद्भुत दुःख होते हैं ॥ १९ ॥ अतः रेत = वीर्य, को नारी में सींचने=देने वाले को अति दुःखप्रद पाप होता है, ब्रह्मचर्य करने पर यह कोई हिंसा नहीं हो सकती है ॥ २० ॥ विषयुक्त दूध जैसे

विषस्य दानतो यद्वत्पापं भवति पापिनः । जठरे रेतसो दातु र्योषितां तावदेव हि ॥२२॥
काराद्मनादिशालानां यावत्कर्तुं हिं पातकम् । पुत्रादिदेहजनने पितुस्तावद्धि कीर्त्तितम् ॥२३॥
अपुत्रस्य न लोकोऽस्तीत्यादिकामुककीर्त्तनम् । मातरं च स्वसारं च ते यान्तीति यतोऽवदत् ॥२४॥
पुत्रस्योत्पादनाज्जाया पत्युर्जाया प्रजायते । यथा माता तथा जाया स्पर्ष्टव्या नैव कामतः ॥२५॥
परदारान्न गच्छेद्धि कर्मणा मनसा गिरा । तान् गच्छन् भयमागच्छेदिह लोके परत्र च ॥२६॥
ततस्त्वं कामुकश्चेत्स्या दारान् सम्पादयात्मनः । गृहस्थो भव तत्रापि यज्ञदानादिकं कुरु ॥२७॥
श्येनादिविधयो यद्वत्कीर्त्तिता रागिणं प्रति । प्रजोत्पत्त्यादिविधयस्तथैते कामिनं प्रति ॥२८॥

आत्मपु० अ० ११।२२२। इत्यादि ॥

नित्यं सत्ये रतिर्यस्य पुण्यात्मा तुष्टतां व्रजेत् । ऋतौ प्राप्ते व्रजेन्नारीं स्वीयां दोषविवर्जिताम् ॥२९॥
स्वकुलस्य सदाचारं कदा नैव विमुञ्चति । एतदेव समाख्यातं गृहस्थस्य द्विजोत्तम ! ॥३०॥
ब्रह्मचर्यं मया प्रोक्तं गृहिणामुत्तमं किल । यतीनां तु प्रवक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु ॥३१॥
दमसत्यसमायुक्तः पापाद् भीतस्तु सर्वदा । भार्यासङ्गं वर्जयित्वा ध्यानज्ञानप्रतिष्ठितः ॥३२॥

पद्मपु० खं० २।१३।२। इत्यादि ॥

ब्रह्मचर्याद् ब्राह्मणस्य ब्राह्मणत्वं विधीयते । एवमाहुः परे लोके ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥३३॥

पीने के समय सुख देता हुआ भी मरण का हेतु होता है, वैसे ही वीर्य भी यहाँ स्त्रियों को सुख देता हुआ फिर मरणादि का हेतु होता है ॥ २१ ॥ विष के देने से जैसे पापी को पाप होता है, वैसे ही स्त्री के जठर =उदर में वीर्य देने वाले को पाप होता है ॥ २२ ॥ कारा = बन्धन गृह, सूना = बधालय, आदि रूप शाला =भवन को बनाने वाले को जितना पाप होता है, पुत्रादि के देहों को पैदा करने में पिता को उतना ही पाप कहा गया है ॥ २३ ॥ अपुत्र को लोक नहीं है, इत्यादि शास्त्र का कथन कामी का वचन रूप हैं, अतः कहा है कि अपुत्र का लोक नहीं मानने वाले वे पशु सब मातृ स्वसृ गमन भी करते हैं ॥ २४ ॥ पुत्र के उत्पादन से जाया =स्त्री, पति की जाया = पुत्र रूप से जन्म का स्थान हो जाती है, इससे माता के समान हो जाती है, इस लिये फिर काम से स्पर्श योग्य नहीं रहती है ॥ २५ ॥ अन्य की स्त्री के प्रति गमन नहीं करना चाहिये, उस गमन से इस लोक और परलोक में भय आता है ॥ २६ ॥ इससे यदि तुम कामी हो, तो अपनी स्त्री का सम्पादन करो, गृहस्थ होवो, और वहाँ भी यज्ञदानादि करो ॥ २७ ॥ पाप जनक भी श्येनादि विधि =शत्रुमारणादिविधि, जैसे रागी के प्रति कही गई हैं, वैसे ही ये प्रजा की उत्पत्ति आदि की विधि कामी के प्रति कही गई हैं ॥ २८ ॥ जिस को सदा सत्य में प्रेम है, सो पुण्यात्मा सन्तोष पाता है, और वह ऋतु काल के प्राप्त होने पर दोष रहित अपनी स्त्री के प्रति गमन करे ॥ २९ ॥ और अपने कुल के सदाचार =श्रेष्ठ व्यवहार को कभी नहीं त्यागे, हे द्विजोत्तम ! गृहस्थ को यही ब्रह्मचर्य कहा गया है ॥३०॥ मैंने गृहस्थों के उत्तम ब्रह्मचर्य को कहा, अब संन्यासियों के उस ब्रह्मचर्य को कहते हुए मुझ से सुनो ॥ ३१ ॥ दम और सत्य से सम्यग् युक्त संन्यासी सदा पाप से डरता हुआ, स्त्री के संग को त्याग कर ध्यान और ज्ञान में प्रतिष्ठित =तत्पर होवे ॥ ३२ ॥ लोक में जो ब्रह्मवेत्ता जन हैं, सो इस प्रकार कहते हैं कि ब्राह्मण का ब्रह्मचर्य से ही ब्राह्मणभाव सिद्ध होता है, और पर = उत्तम लोक में

ब्रह्मचर्ये स्थितं धैर्यं ब्रह्मचर्ये स्थितं तपः । ये स्थिता ब्रह्मचर्येषु ब्राह्मणास्ते दिवि स्थिताः ॥३४॥
नास्ति योगं विना सिद्धिं र्नास्ति सिद्धिं विना यशः । नास्ति लोके यशोमूलं ब्रह्मचर्यात्परं तपः ॥३५॥
हरिवं० प० १।४५।३७। इत्यादि । मत्स्यपु० अ० १७५ ॥

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वयरसायनम् । अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्तनिर्मलम् ॥३६॥ सुभा०रत्ना०॥
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत । इन्द्रो हि ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत ॥३७॥
अथर्ववेद० कां० ११।३।७।६ ॥

ब्रह्मचर्येण संयुक्तो यश्चापरिग्रही भवेत् । वेत्ति जन्मकथन्तां स चित्तदोषपरिक्षयात् ॥३८॥
अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥३९॥ योगद० साधनपा० ॥

इति नवमं ब्रह्मचर्यप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ शीलम् ॥ १० ॥

शीलेन लभ्यते स्वर्गः सौख्यं धर्मः परं पदम् । शीलवन्तं मुनिं मन्ये जितमानमदादिकम् ॥१॥
अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा । अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत्प्रशस्यते ॥२॥
यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्मपौरुषम् । अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात्कथञ्चन ॥३॥
तत्तु कर्म तथा कुर्याद्येन श्लाघ्येत संसदि । शीलं समासेनैतत्ते कथितं कुरुनन्दन ! ॥४॥
महाभा० शां० प० अ० १२४॥ ६६–६८ ॥

सर्वे च वेदाः सह षड्भिरङ्गैः साङ्ख्यं पुराणं च कुलं च जन्म ।
नैतानि सर्वाणि गतिर्भवन्ति शीलव्यपेतस्य नृप ! द्विजस्य ॥५॥ महाभा० अनुशासनप० अ० २२ ॥

ब्रह्मरूपता सिद्ध होती है ॥ ३३ ॥ ब्रह्मचर्य में धैर्य और तप स्थिर है, और जो ब्राह्मण ब्रह्मचर्य में स्थिर हैं. सो स्वर्ग में स्थिर हैं ॥ ३४ ॥ योग के विना सिद्धि नहीं है, सिद्धि विना यश नहीं है, और लोक में यश का मूल = कारण तथा तप ब्रह्मचर्य से पर = उत्तम कोई नहीं है ॥ ३५ ॥ धर्म युक्त, यश और आयु के हेतु, दोनों लोक में रस = आनन्द के अयन = मार्ग रूप अत्यन्त निर्मल ब्रह्मचर्य का हम अनुमोदन = स्वीकार करते हैं ॥ ३६ ॥ ब्रह्मचर्य रूप तप से ही देव सबों ने मृत्यु=पाप अज्ञानादि को नष्ट किया, और ब्रह्मचर्य से ही इन्द्र देव ने अन्य देव के लिये स्वर=स्वर्ग का सम्यग् धारण पोषण किया ॥ ३७ ॥ ब्रह्मचर्य से सम्यग् युक्त और परिग्रह रहित जो होता है, सो चित्त के दोषों के नाश से जन्म के प्रकार को जानता है। इसीसे योग दर्शन में कहा है कि अपरिग्रह के स्थिर होने पर जन्म की कथन्ता का (कौन जन्म कैसे हुआ इसका) सम्यग् बोध होता है ॥ ३८–३९ ॥ नवम ब्रह्मचर्यप्रकरण समाप्त ॥

अथ शील—शील से स्वर्ग सुख धर्म मोक्ष मिलता है, मानगर्वादि रहित शील वाले को मुनि मानते हैं ॥ १ ॥ कर्म, मन, वचन द्वारा सब प्राणियों में अद्रोह=अहिंसा अनुग्रह = कृपा और दान, यह शील=स्वभाव सच्चरित्र प्रशंसनीय है ॥ २ ॥ जो अपना कर्म वा पौरुष अन्य का हित नहीं हो, या जिस कर्म पौरुष से लज्जित होना पड़े, वह कर्मादि किसी प्रकार नहीं करे ॥ ३ ॥ वह कर्म करे और उस रीति से करे कि जिससे संसद्=सभा में प्रशंसनीय हो, हे कुरुनन्दन ! यह संक्षेप से तुझे शील कहा गया है ॥ ४ ॥ हे राजन् ! शील रहित ब्राह्मण के छः अङ्ग सहित वेद, सांख्य, पुराण, कुल,

शीलं प्रधानं लोकेऽस्मिंस्तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् । शीलेन सर्वमाप्नोति यत्किञ्चिन्मनसेच्छति ॥६॥
क्रियाः शीलविहीनस्य भवन्ति विफलाः कृताः । तस्माच्छीलवता भाव्यं पुरुषेण विजानता ॥७॥
शीलं समासाद्य समस्तकामान् प्राप्नोति मुख्यान् पुरुषः प्रधानः ।
तस्मात्प्रयत्नेन नरेण शीलं समर्जनीयं सुखदं सदैव ॥८॥ विष्णुधर्मोत्तरपु० अ० ३६३ ॥
सच्चरित्रं पवित्रं यत्स्वभावो यस्तु तादृशः । शीलं तत्कथ्यते प्राज्ञैस्तस्माच्छ्रेयो हि विन्दते ॥९॥
धर्मः सत्यं तथा वृत्तं बलं चैव तथाऽप्यहम् । शीलमूला महाप्राज्ञ ! सदा नास्त्यत्र संशयः ॥१०॥ महाभा०।
शीलेन हि त्रयो लोकाः शक्या जेतुं न संशयः । न हि किञ्चिदसाध्यं वै लोके शीलवतां भवेत् ॥११॥
एक रात्रेण मान्धाता त्र्यहेण जनमेजयः । सप्तरात्रेण नाभागः पृथिवीं प्रतिपेदिरे ॥१२
प्रह्लादेन हृतं राज्यं महेन्द्रस्य महात्मनः । शीलमाश्रित्य दैत्येन त्रैलोक्यं च वशे कृतम् ॥१३॥
म० भा० शां० प० अ० १२४।१५-१६-२१ ॥

इति दशमं शीलप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ शौचम् ॥ ११ ॥

अन्तः शौचं बहिश्शौचं सर्वथा यस्य विद्यते । तं देवप्रवरं मन्ये पूतः स पावयत्यपि ॥१॥
स्वदेहमलनिर्मोक्षो मृज्जलाभ्यां महामुने ! । यत्तच्छौचं भवेद् बाह्यं मानसं मननं विदुः ॥
अहं शुद्धमिति ज्ञानं शौचं वाञ्छन्ति पण्डिताः ॥२॥
ज्ञानशौचं परित्यज्य बाह्ये यो रमते नरः । स मूढः काञ्चनं त्यक्त्वा लोष्टं गृह्णाति सुव्रत ! ॥३॥
सूतसं० ज्ञानयोगख० अ० १३ ॥
आत्मा शुद्धः सदा नित्यः सुखरूपः स्वयंप्रभः । अज्ञानान्मलिनो भाति ज्ञानाच्छुद्धो विभात्ययम् ॥४॥

जन्म, ये सब गति=रक्षक आश्रय नहीं होते हैं ॥ ५ ॥ इस लोक में शील प्रधान है, और तिस शील में सब इष्ट वस्तु स्थिर हैं, इससे जो कुछ मन से चाहता है, सो सब शील से पाता है ॥ ६ ॥ शील रहित की अनुष्ठित सब क्रिया निष्फल होती हैं । इससे समझवाले को शीलयुक्त होना चाहिये ॥ ७ ॥ शील को सम्यग् प्राप्त करके पुरुष प्रधान=मुख्य-उत्तम होता हुआ मुख्य सब कामों को पाता है, अतः सदा सुखद शील प्रयत्नद्वारा पुरुष से सम्यग् अर्जनीय है ॥ ८ ॥ पवित्र जो श्रेष्ठ चरित्र और पवित्र जो श्रेष्ठ स्वभाव, सो विद्वानों से शील कहा जाता है, उससे शुभ पाता है ॥ ९ ॥ लक्ष्मी जी प्रह्लाद से बोली कि धर्मादि और मैं शील से सिद्ध होते रहते हैं, इस में संशय नहीं ॥ १० ॥ शील से तीनों लोक जीते जा सकते हैं, शीलवालों को कुछ असाध्य नहीं है ॥ ११ ॥ अतः मान्धाता, जनमेजय और नाभाग ने क्रमशः १, ३, ७ रात में पृथिवी को प्राप्त किया ॥ १२ ॥ शील के सहारे दैत्य प्रह्लाद ने महेन्द्रहृत अपने राज्य और त्रिलोकी को वश में किया ॥ १३ ॥ दसवाँ शीलप्रकरण समाप्त ॥

अथ शौच—जिसको बाहर भीतर सर्वथा पवित्रता है, उस को देव श्रेष्ठ मानते हैं, वह पवित्रात्मा दूसरे को भी पवित्र करता है ॥ १ ॥ हे महामुने ! मिट्टी जल से अपने देह के मल का जो निवारण होता है, सो बाहर का शौच है, और मनन को मानस शौच जानते हैं ॥ और मैं शुद्धात्मा हूँ इस ज्ञान को पण्डित लोग शौच मानते चाहते हैं ॥ २ ॥ हे सुव्रत ! जो मनुष्य ज्ञान रूप शौच को त्याग कर बाहर के शौचादि में रमता है सो मूढ़ सुवर्ण को त्याग कर ढेले को ग्रहण करता है ॥ ३ ॥ सदा

अज्ञानमलपङ्कं यः क्षालयेज्ज्ञानतोयतः । स एव सर्वदा शुद्धो नाज्ञः कर्मरतो हि सः ॥५॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् । कर्म कर्तव्यमित्येव बोधयेत्तान् समाहितः ॥६॥
सूतसं० ज्ञा० यो० अ० १२ ॥
शौचं च द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा । मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनःशुद्धिस्तथान्तरम् ॥७॥
मनः शुद्धिश्च विज्ञेया धर्मेणाध्यात्मविद्यया । आत्मविद्या च धर्मश्च पित्राऽऽचार्येण चानघे ! ॥८॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु सर्वैं निःश्रेयसार्थिभिः । गुरवः श्रुतसम्पन्ना मान्या वाङ्मनसादिभिः ॥९॥
योगयाज्ञवल्क्यसं० उत्तरखं० अ० १।६८। इत्यादि ॥
स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निष्पन्दान्निधनादपि । कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥१०॥
शुचिः स्वाध्यायशीलो यश्चेश्वरप्रणिधानवान् । दर्शनमिष्टदेवस्य समाधिश्चास्य सिद्ध्यति ॥११॥
योगभाष्यसाधनपा० सू० ५ ॥
अगाधे विमले शुद्धे सत्यतोये धृतिह्रदे । स्नातव्यं मानसे तीर्थे सत्त्वमालम्ब्य शाश्वतम् ॥१२॥
तीर्थशौचमनर्थित्वमार्जवं सत्यमार्दवम् । अहिंसा सर्वभूतानामानृशंस्यं दमः शमः ॥१३॥
निर्माना निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः । शुचयस्तीर्थभूतास्ते ये भैक्ष्यमुपभुञ्जते ॥१४॥
तत्त्ववित्त्वनहंबुद्धिस्तीर्थप्रवरमुच्यते । शौचलक्षणमेतत्ते सर्वत्रैवान्ववेक्षतः ॥१५॥
रजस्तमः सत्त्वमथो येषां निर्धौतमात्मनः । शौचाशौचसमायुक्ताः स्वकार्यपरिमार्गिणः ॥१६॥

शुद्धादि स्वरूप आत्मा अज्ञान से मलिन भासता है, फिर यह ज्ञान से विशुद्ध भासता है ॥ ४ ॥ अज्ञान से भासित मलरूप पंक को ज्ञान जल से जो धोता है सोई सदा शुद्ध है, अज्ञ नहीं, अज्ञ कर्म में तत्पर है ॥५॥ समाहित विद्वान् कर्म में आसक्त अज्ञों की बुद्धि का भेदन नहीं करे, प्रेम से सत्कर्म करने दे, और कर्म कर्तव्य है इस प्रकार उन्हें समझावे ॥ ६ ॥ मृद जल से बाहर का शौच और मन की शुद्धि से अन्दर का शौच ये दो प्रकार के कहे गये हैं ॥ ७ ॥ और मन की शुद्धि धर्म से तथा अध्यात्मविद्या = आत्मज्ञान से होती है, हे अनघे ! धर्म और आत्मविद्या पिता वा आचार्य से समझा जाता है ॥ ८ ॥ अतः सब मोक्षार्थी को श्रुत = शास्त्र सम्पन्न गुरु वाक् मानसादि. से सदा मान्य हैं ॥ ९ ॥ गर्भ में स्थिति, रजोवीर्य जन्यता, कफपित्तादि से उपष्टम्भ = धारण, मल मूत्रादि का निष्पन्द = निकलना, इन सब कारणों से और आधेय शौचता = कल्पित-साधित शौचता से भी पण्डित लोग देह को वस्तुतः अशुद्ध जानते हैं ॥ १० ॥ सुन्दर अध्ययन शील ईश्वर के ध्यानादि वाला जो है सो शुचि है, इस शुचि को इष्ट देव के दर्शन और समाधि सिद्ध होते हैं ॥ ११ ॥ शाश्वत = नित्य सत्त्व = निश्चय धैर्य का धारण कर के सत्य जल धैर्य ह्रदयुक्त अगाध विमल शुद्ध मानस तीर्थ में स्नान करना चाहिये ॥ १२ ॥ अर्थित्व = कामित्व का अभाव, आर्जव, सत्य, मृदुता, सब भूतों की अहिंसा, अक्रूरता, दम, शम, ये सब तीर्थ के शौच रूप हैं ॥ १३ ॥ अभिमान अहङ्कार = मोह, रहित, निर्द्वन्द्व, परिग्रह रहित शुचि जो हैं, सो तीर्थ स्वरूप हैं, और भिक्षाभोजी तीर्थ रूप हैं ॥ १४ ॥ अहङ्कार रहित, ज्ञानी तो तीर्थों में श्रेष्ठ कहलाता है, सर्वत्र विचारने वाले तुम को यही शौच का लक्षण है ॥ १५ ॥ जिनके आत्मा के रज

---

१. वल्मीकमूषिकोत्खातां मृदमन्तर्जलां तथा । शौचावशिष्टां गेहाच मृदं शौचे विवर्जयेत् ॥ विष्णुपु० ॥

सर्वत्यागेष्वभिरताः सर्वज्ञाः समदर्शिनः । शौचेन वृत्तशौचार्थास्ते तीर्थाः शुचयश्च ये ॥१७॥
नोदकक्लिन्नगात्रस्तु स्नात इत्यभिधीयते । स स्नातो यो दमस्नातः स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥१८॥
अतीतेष्वनपेक्षा ये प्राप्तेष्वर्थेषु निर्ममाः । शौचमेव परं तेषां येषां नोत्पद्यते स्पृहा ॥१९॥
प्रज्ञानं शौचमेवेह शरीरस्य विशेषतः । तथा निष्किञ्चनत्वं च मनसश्च प्रसन्नता ॥२०॥
वृत्तशौचं मनःशौचं तीर्थशौचमतः परम् । ज्ञानोत्पन्नं च यच्छौचं तच्छौचं परमं स्मृतम् ॥२१॥
मनसा च प्रदीप्तेन ब्रह्मज्ञानजलेन च । स्नाति यो मानसे तीर्थे तत्स्थानं तत्त्वदर्शिनः ॥२२॥

महाभा० अनुशासनप० अ० १०८। श्रीभीष्मोक्तिः ॥

दत्तं यच्छौचहीनेन न तद् गृह्णन्ति देवताः । बुभुत्सवश्च धर्मज्ञाः शुचिकामाश्च देवताः ॥२३॥
यक्षैश्च राक्षसैश्चैव पिशाचैश्च निशाचरैः । डाकिनीभिश्च धर्मज्ञाः ! शौचहीनोऽभिभूयते ॥२४॥
स्त्रीशौचमर्थशौचं च वाक्शौचमपि च द्विजाः । एतानि यस्य शौचानि स शुचिः परिकीर्त्तितः ॥२५॥
योऽर्थे शुचिः स हि शुचि र्न मृद्वारिशुचिः शुचिः । ततश्चाप्यधिकं शौचमहिंसा परिकीर्त्तिता ॥२६॥

विष्णुधर्मोत्तरपु० खं० ३।२४६॥

चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानै र्न शुद्ध्यति । शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचिः ॥२७॥
न तीर्थानि न दानानि न व्रतानि न चाश्रमाः । दुष्टाशयं दम्भरुचिं न पुनन्त्यजितेन्द्रियम् ॥२८॥

ब्रह्मपु० अ० २३ ॥

आदेहान्तं मृदालिप्य तीर्थतोयेषु सर्वदा । अवगाह्यापि मलिनो ह्यन्तः शौचविवर्जितः ॥२९॥

आदि तीनों गुण विवेकादि से निवृत्त हो गये हैं, शौच आशौच = सर्वथा अत्यन्त शौच से सम्यग् युक्त, स्वकार्य के अन्वेषक = खोजी, सर्वत्यागों में तत्पर, सर्वज्ञ, समदर्शी, शौच से वृत्त = प्राप्त शौच के प्रयोजन वाले जो हैं, सो शुद्धि युक्त शुचि लोग तीर्थ रूप हैं ॥ १६–१७ ॥ जल से गीली देह वाला शुचि नहीं कहा जाता है, किन्तु वह शुचि है कि जो दम से शुचि है, वह बाहर और भीतर पवित्र है ॥ १८ ॥ अतीत अर्थों में अपेक्षा = चिन्ता रहित, प्राप्त अर्थों में ममतारहित जो हैं, और जिनको स्पृहा = इच्छा नहीं उत्पन्न होती है, उन्हीं को परम शौच है ॥ १९ ॥ शरीर के शौच विशेष रूप से प्रज्ञान = विवेक ही है, तथा निष्किञ्चनता = सर्वसंग्रह रहितता शौच है, प्रसन्नता मन का शौच है ॥ २० ॥ वृत्त = चरित्र का शौच मन का शौच, तीर्थ शौच ये तीन हैं, इनसे पर = अन्य ज्ञान से जन्य जो शौच है, वह परम शौच कहा गया है ॥ २१ ॥ प्रदीप्त = शुद्ध प्रकाश युक्त मन द्वारा ब्रह्मज्ञान रूप जल से जो मानस तीर्थ वैराग्यानन्दादि रूप तीर्थ में स्नान करता है, सो तत्त्व दर्शियों = विवेकियों का तीर्थ स्थान है ॥ २२ ॥ शौचरहित से दी गई वस्तु को देवता लोग नहीं ग्रहण करते हैं । और बोधेच्छुक, धर्मज्ञ, शुचि के इच्छुक देव होते हैं ॥ २३ ॥ हे धर्मज्ञ ! यक्षादि से शौच रहित प्राणी अभिभूत = हिंसित-तिरस्कृत-पराजित होते हैं ॥ २४ ॥ हे द्विज स्त्री, अर्थ, वाक् इन तीनों के शौच जिस को रहते हैं, सो शुचि कहा गया है ॥२५॥ जो अर्थ में शुचि है जिस का अर्थ अन्यायोपार्जित नहीं है, सो शुचि है; मिट्टी जल से शुचि वस्तुतः शुचि नहीं है, उस अर्थ शौच से भी अधिक शौच अहिंसा कही गई है ॥ २६ ॥ अन्तर्गत दुष्ट चित्त तीर्थों में स्नानों से शुद्ध नहीं होता है, जल से सैकड़ों बार धोया हुआ मद्यभाण्ड तुल्य वह अशुद्ध ही रहता है ॥ २७ ॥ दुष्ट मन वाले दम्भ में रुचिवाले को तथा अजितेन्द्रिय को तीर्थादि पवित्र नहीं करते हैं ॥ २८ ॥ दम्भ दुष्टतादि के त्याग के बिना

शैवाला झषका मत्स्याः सत्त्वा मत्स्योपजीविनः । सदाऽवगाह्य सलिले विशुद्धाः किं द्विजोत्तमा ! ॥३०॥
आत्मज्ञानाम्भसि स्नात्वा सकृदालिप्य भावतः । सुवैराग्यमृदा शुद्धः शौचमेवं प्रकीर्त्तितम् ॥३१॥

लिङ्गपु० अ० ८।३३। इत्यादि ॥

गङ्गातोयेन सर्वेण मृद्भारैः पर्वतोपमैः । आमृत्योराचरेच्छौचं भावदुष्टो न शुद्धयति ॥३२॥
अन्तर्भावप्रदुष्टस्य विशतोऽपि हुताशनम् । न स्वर्गो नापवर्गश्च देहनिर्दहनं परम् ॥३३॥
गङ्गादितीर्थेषु वसन्ति मत्स्या देवालये पक्षिगणाश्च नित्यम् ।
भावोज्झितास्ते न फलं लभन्ते तीर्थावगाहाच्च तथैव दानात् ॥ ३४ ॥
ज्ञानामलाम्भसा पुंसां सद्वैराग्यमृदा पुनः । अविद्यारागविण्मूत्रलेपगन्धविशोधनम् ॥३५॥

शिवपु० सं० ५।२३ ॥

गन्धलेपापनोदार्थं शौचं देहस्य कीर्त्तितम् । द्वयस्यापगमात्पश्चाद् भावशुद्धया विशुद्धयति ॥३६॥

स्कन्दपु० अ० २।५८ ॥

सत्यं शौचं मनःशौचं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । सर्वभूते दयाशौचं जलशौचं च पञ्चमम् ॥३७॥

गरुडपु० अ० ११३ ॥

गङ्गातोयेन सर्वेण मृद्भारै गात्रलेपनैः । मर्त्यो दुर्गन्धदेहोऽसौ भावदुष्टो न शुद्धयति ॥३८॥
तीर्थस्नानैस्तपोभिश्च दुष्टात्मा न च शुद्धयति । श्वमूर्त्तिः क्षालिता तीर्थे न शुद्धिमधिगच्छति ॥३९॥

पद्मपु० खं० २।६६।८२ इत्यादि ॥

वाचा शौचं च मनसः शौचमिन्द्रियनिग्रहः । सर्वभूतदयाशौचमेतच्छौचं परार्थिनाम् ॥४०॥

अन्तर के शौच, रहित मनुष्य देह के अन्त तक मिट्टी से सदा देह को मांज कर, और तीर्थ जलों में सदा नहा कर भी मलिन ही रहता है ॥ २९ ॥ शैवाल=शैवल, झष=मीन-मछली विशेष, सामान्य मत्स्य, मत्स्याशी पक्षी आदि जल में सदा नहा कर भी हे द्विजोत्तम ! क्या वे विशुद्ध होते हैं ? ॥ ३० ॥ सुन्दर वैराग्यमृत्तिका से भाव से आलेपन करके आत्मज्ञान जल में एक वार स्नान से शुद्ध होता है, इस प्रकार का शौच कहा गया है ॥ ३१ ॥ सब गंगा जलों से और पर्वत तुल्य मिट्टी से मरण पर्यन्त शौच कर के भी भाव=स्वभाव से दुष्ट पुरुष शुद्ध नहीं होते हैं ॥ ३२ ॥ अग्नि में प्रवेश करने पर भी अन्तर में प्रदुष्ट स्वभाव वाले की केवल देह जल जाती है, परन्तु उस को स्वर्ग वा मोक्ष नहीं होता है ॥ ३३ ॥ गंगादि तीर्थों में मछलियाँ सदा वसती हैं, देवालयों में पक्षी के समूह सदा वसते हैं, परन्तु भक्ति आदि रहित होने से वे फल नहीं पाते हैं, वैसे ही मनुष्य भी भाव विना तीर्थ स्नान दान से फल नहीं पाते हैं ॥ ३४ ॥ ज्ञान रूप अमल जल और श्रेष्ठ वैराग्य रूप मिट्टी से पुरुष के अविद्या राग रूप विद्मूत्र के लेप गन्ध (संबन्ध वासना संस्कार) का विशोधन=नाश होता है ॥ ३५ ॥ गन्ध लेप की निवृत्ति के लिये देह का शौच कहा गया है, गन्ध लेप की निवृत्ति के पीछे भाव की शुद्धि से विशुद्ध होता है ॥ ३६ ॥ सत्यादि पाँच प्रकार के शौच हैं ॥ ३७ ॥ गंगा के सब जल और मिट्टी के भारों से स्नान लेपन द्वारा दुष्ट भावयुक्त मरणशील दुर्गन्ध देह शुद्ध नहीं होती है ॥ ३८ ॥ तीर्थ स्नान तप से दुष्टात्मा नहीं शुद्ध होता है, जैसे कुत्ते की देह तीर्थ में धोई हुई भी शुद्धि नहीं पाती है ॥ ३९ ॥ वाक् द्वारा शौच, मन की पवित्रता इन्द्रियों का निग्रहरूप शौच, सब प्राणियों में दया रूप शौच, ये सब शौच परोपकारी उत्तमार्थी

सर्वेषामेवशौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् । योऽर्थे शुचि र्हि स शुचि र्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥४१॥
मृदो भारसहस्रेण जलकुम्भशतेन च । न शुद्धयति दुराचारः स्नानतीर्थशतैरपि ॥४२॥
जायन्ते च म्रियन्ते च जलेष्वेव जलौकसः । न च गच्छन्ति ते स्वर्गमविशुद्धमनोमलाः ॥४३॥
न जलाऽऽप्लुतदेहस्तु स्नात इत्यभिधीयते । स स्नातो यो दमस्नातः स तु शुद्धतमो मतः ॥४४॥
न शरीरमलत्यागान्नरो भवति निर्मलः । मानसैस्तु मलै र्मुक्तो भवत्यत्यन्तनिर्मलः ॥४५॥
यो लुब्धः पिशुनः क्रूरो नास्तिको विषयात्मकः । सर्वतीर्थेष्वपि स्नातः पापो मलिन एव सः ॥४६॥
विषयेष्वपि संयोगान्मानसो मल उच्यते । तेष्वेव च विरागो हि निर्मलत्वमुदाहृतम् ॥४७॥
चित्तं समाधिभिः शुद्धं वदनं सत्यभाषणैः । ब्रह्मचर्यादिभिः कायः शुद्धो गङ्गां विनाऽप्यसौ ॥४८॥
परदारापरद्रव्यपरद्रोहपराङ्मुखः । गङ्गाप्याह कदागत्य मामयं पावयिष्यति ॥४९॥

इत्याद्यभियुक्ताः ।

शौचप्रतिष्ठायां स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ५० ॥ सत्त्वसुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयाऽऽत्मदर्शन-योग्यत्वानि च ॥ ५१ ॥ योगद० ॥

इत्येकादशं शौचप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ सन्तोषः ॥ १२ ॥

सन्तोषामृतपानेन तृप्तं तापविवर्जितम् । अद्वेष्टारं हितं मन्ये सुमित्रं सर्वदेहिनाम् ॥१॥

के होते हैं ॥ ४० ॥ सर्व शौचों में अर्थ का शौच श्रेष्ठ कहा गया है, इस से जो अर्थ में शुचि (लोभछलानृतादि रहित) है सो शुचि है, अन्य नहीं ॥ ४१ ॥ दुष्ट आचार = व्यवहार वाला पुरुष मिट्टी के हजार भार, सौ घड़े जल से स्नान और सैकड़ों तीर्थों से भी शुद्ध नहीं होता है ॥ ४२ ॥ जल में आश्रय गृह वाले प्राणी जल ही में ज़न्मते मरते हैं, परन्तु मन के मल की शुद्धि विना स्वर्ग में नहीं जाते हैं ॥ ४३ ॥ जल से स्नात = धोई देह वाला स्नात = शुचि नहीं कहा जाता है, किन्तु वह स्नात है जो दम = जितेन्द्रियता से स्नात है, वह अतिशुद्ध माना गया है ॥ ४४ ॥ शरीर सम्बन्धी मल के त्याग से मनुष्य निर्मल नहीं होता है, किन्तु मानस मलों से मुक्त = रहित नर अत्यन्त निर्मल होता है ॥ ४५ ॥ लोभी पिशुन क्रूर नास्तिक विषयासक्त जो है, सो सब तीर्थों में स्नान करने पर भी पापी और मलिन ही है ॥ ४६ ॥ विषयों में संयोग से भी मानस मल कहा जाता है, और उन विषयों में विराग ही निर्मलता कही गई है ॥ ४७ ॥ गङ्गा के विना भी समाधि से चित्त शुद्ध होता है, सत्य भाषण से मुख शुद्ध होता है, ब्रह्मचर्यादि से वह काय = देह शुद्ध होती है ॥ ४८ ॥ अन्य की स्त्री द्रव्य द्रोह से जो पराङ्मुख = विमुख है, उसके विषय में गङ्गा भी कहती है कि वह कब आकर मुझे पवित्र करेगा ? ॥ ४९ ॥ शौच की पूर्णता से अपने अङ्गों में घृणा और अन्यों के साथ असम्बन्ध होता है ॥ ५० ॥ तथा अन्तःकरण की शुद्धि, सुमनस्ता, एकाग्रता, इन्द्रियजय, और आत्मदर्शन की योग्यता, होती है ॥ ५१ ॥ ग्यारहवाँ शौचप्रकरण समाप्त ॥

अथ सन्तोष—सन्तोष रूप अमृत के पीने से तृप्त, ताप रहित, द्वेष रहित मनुष्य को सब देहियों

यदृच्छालाभतो नित्यं मनः पूर्त्तिर्भवेदथ । या धीस्तामृषयः प्राहुः सन्तोषं सुखलक्षणम् ॥२॥
योगयाज्ञवल्क्यसंहिता ॥

ब्रह्मादिलोकपर्यन्ताद्विरक्तस्य परात्मनि । प्रियं यत्तन्महाप्राज्ञाः सन्तोषं परमं विदुः ॥३॥
यदृच्छालाभतो नित्यं प्रीति र्या जायते नृणाम् । तत्सन्तोषं विदुः प्राज्ञाः परिज्ञानैकतत्पराः ॥४॥
सूतसं० ज्ञानयोगखं० अ० १४।१५ ॥

न्यायेनागतया वृत्त्या भिक्षया वार्त्तयापि च । सन्तोषो यस्य सततं सा तुष्टिरिति चोच्यते ॥५॥
स्कन्दपुरा० ॥

सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः । शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम् ॥६॥
भागवतस्क० ७।१५ ॥

यदृच्छयोपपन्नेन सन्तुष्टो वर्त्तते सुखम् । नासन्तुष्टस्त्रिभि र्लोकैरजितात्मोपसादितैः ॥७॥
पुंसोऽयं संसृते र्हेतुरसन्तोषोऽर्थकामयोः । यदृच्छयोपपन्नेन सन्तोषो मुक्तये स्मृतः ॥८॥
भागवतस्क० ८।२६।२४-२५ ॥

सन्तुष्टः को न शक्नोति फलैश्चाप्यतिवर्त्तितुम् । लुब्ध इन्द्रियलौल्येन सङ्कटान्यवगाहते ॥९॥
सर्वत्र सम्पदस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम् । उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः ॥१०॥
सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् । कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥११॥
असन्तोषः परं दुःखं सन्तोषः परमं सुखम् । सुखार्थी पुरुषस्तस्मात्सन्तुष्टः सततं भवेत् ॥१२॥
पद्मपु० खं १।१५।२५३। इत्यादि ॥

का सुन्दर मित्र मानता हूँ ॥ १ ॥ यदृच्छा=स्वतन्त्रता से जो लाभ उसी से जो मन की पूर्ति=तृप्ति और जो प्रसन्न बुद्धि होती है, सुख स्वरूप उस तृप्त बुद्धि को ऋषि लोग सन्तोष कहते हैं ॥ २ ॥ ब्रह्मलोकादि तक संसार से विरक्त को जो परात्मा में ही प्रिय=अभीष्ट-सुख होता है, महाज्ञानी लोग उस प्रिय को परम सन्तोष जानते हैं ॥ ३ ॥ यदृच्छालाभ से जो मनुष्य को प्रीति=सुख होता है, परितः=सर्वतः ज्ञानैकपरायणविद्वान उस प्रीति को सन्तोष जानते हैं ॥ ४ ॥ न्याय से प्राप्त जो वृत्ति भिक्षा वा वार्ता (कृषि वाणिज्यादि व्यवहार) से जिसको सदा सन्तोष है, उसका वह सन्तोष ही तुष्टि कही जाती है ॥ ५ ॥ सदा सन्तुष्ट मन वाले को सब दिशा सदा सुखमय भासती हैं, जैसे जूतायुक्त पैर वाले के लिये शर्करा = तुच्छ पाषाण कंकर और कांटे आदि से सदा शिव=क्षेम-रक्षा होती है ॥ ६ ॥ यदृच्छा प्राप्ति से सन्तुष्ट पुरुष सुख से रहता है, अजितात्मा असन्तुष्ट पुरुष प्राप्त किये गये तीनों लोकों से भी सुखी नहीं रहता है ॥ ७ ॥ अर्थ और काम में जो असन्तोष है, सोई पुरुष के संसार का हेतु है, और यदृच्छा प्राप्त से सन्तोष मुक्ति के लिये कहा गया है ॥ ८ ॥ सन्तुष्ट हो तो फलों से भी सुन्दर वृत्ति जीविका निर्वाह कौन नहीं कर सकता है ? लोभी तो इन्द्रियों की चञ्चलता से सङ्कटों को पाता है ॥ ९ ॥ जिसका मन सन्तुष्ट है उस को सर्वत्र सम्पत्ति सुख है, जैसे जूते से आवृत्त पैर वाले को भूमि मात्र चर्म से आवृत्त के समान है ॥ १० ॥ सन्तोष रूप अमृत से तृप्त शान्त मन वालों को जो सुख होता है, इधर उधर दौड़ने वाले धन के लोभियों को वह सुख कैसे हो ? ॥ ११ ॥ असन्तोष बड़ा

---

१. सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः । योगदर्शने ॥

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः । सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥१३॥
भागव० स्क० ११।१४।१३ ॥

सन्तोषो हि परं श्रेयः सन्तोषः सुखमुच्यते । सन्तुष्टः परमभ्येति विश्राममरिसूदन ! ॥१४॥
सन्तोषैश्वर्यसुखिनां चिरविश्रान्तचेतसाम् । साम्राज्यमपि शान्तानां जरत्तृणलवायते ॥१५॥
सन्तोषामृतपानेन ये शान्तास्तृप्तिमागताः । भोगश्रीरतुला तेषामेषा प्रतिविषायते ॥१६॥
अप्राप्तवाञ्छामुत्सृज्य सम्प्राप्ते समतां गतः । अदृष्टखेदाखेदो यः स सन्तुष्ट इहोच्यते ॥१७॥
आत्मनाऽऽत्मनि सन्तोषं यावद् याति न मानसम् । उद्भवन्त्यापदस्तावल्लता इव मनोबिलात् ॥१८॥
आशा वैवश्यविवशे चित्ते सन्तोषवर्जिते । म्लाने वक्त्रमिवादर्शे न ज्ञानं प्रतिबिम्बति ॥१९॥
अकिञ्चनोऽप्यसौ जन्तुः साम्राज्यसुखमश्नुते । आधिव्याधिविनिर्मुक्तं सन्तुष्टं यस्य मानसम् ॥२०॥
नाभिवाञ्छत्यसम्प्राप्तं प्राप्तं भुङ्क्ते यथाक्रमम् । यः सुसौम्यसमाचारः सन्तुष्ट इति कथ्यते ॥२१॥
समता सुन्दरं वक्त्रं पुरुषस्यावलोकयन् । तोषमेति यथा लोको न तथा धन सञ्चयैः ॥२२॥
योगवासि० प्र० २।१५ ॥

परस्वादानविरतिः पूर्वमेव प्रवर्त्तते । विवेकिनो निजार्थेषु सन्तोषश्चोपजायते ॥२३॥
परस्वादानविरतः सन्तोषामृतनिर्भरः । विवेकी क्रमशः स्वार्थानप्युपेक्षितुमिच्छति ॥२४॥
परार्थादानविरतिं पूर्वमभ्यस्य यत्नतः । आहर्त्तव्या विवेकेन ततः स्वार्थेष्वरक्तता ॥२५॥

दुःख है, सन्तोष परम सुख है, इससे सुखार्थी पुरुष सदा सन्तुष्ट रहे ॥ १२ ॥ निष्किञ्चन दान्त शान्त समतायुक्त चित्तवाले सदा सतुष्ट मन वाले को सब दिशाएं सुखमय हैं ॥ १३ ॥ सन्तोष परम श्रेय = मोक्ष का साधन है, इससे इसको सुख रूप कहा है, हे अरिसूदन ! सन्तुष्ट परम विश्राम पाता है ॥१४॥ सन्तोष रूप ऐश्वर्य से सुखी, चिरकाल तक विश्रान्त = खेदरहित चित्त वाले शान्त पुरुषों को साम्राज्य भी जीर्ण तृण तुल्य तुच्छ भासता है ॥ १५ ॥ सन्तोष रूप अमृत के पान से तृप्ति को प्राप्त जो शान्त पुरुष हैं, उन को यह अतुल भोगश्री प्रतिकूल विष तुल्य भासती है ॥ १६ ॥ अप्राप्त विषय की इच्छा को त्याग कर, प्राप्त विषय में समता = राग द्वेषादिरहितता को प्राप्त, खेद = दुःख-दीनता और अखेद के दर्शन से रहित जो पुरुष हैं, सो यहाँ सन्तुष्ट कहलाते हैं ॥ १७ ॥ अपने ही से अपने में मन जब तक सन्तोष नहीं पाता है, तब तक मन रूप बिल = छिद्र से लता की नाईं आपत्तियाँ प्रकट होती हैं ॥ १८ ॥ आशा की परवशता से विवश = व्याकुल सन्तोष रहित मन में ज्ञान इस प्रकार नहीं प्रकट होता है, कि जैसे मलिन दर्पण में मुख नहीं प्रगट होता है ॥ १९ ॥ अकिञ्चन = धनहीन वह प्राणी साम्राज्य के सुख को पाता है, कि जिसका मन आधिव्याधि से रहित सन्तुष्ट रहता है ॥ २० ॥ जो अप्राप्त की इच्छा नहीं करता है, और यथाक्रम प्राप्त सुखदुःख भोगता है, सो सुन्दर सौम्य = सुखद सम्यक् सदाचार वाला सन्तुष्ट कहा जाता है ॥ २१ ॥ समता से सुन्दर पुरुष के मुख को देखता हुआ लोक जैसा तोष = तुष्टि को पाता है, वैसा तोष धन के संचयों से नहीं पाता है ॥ २२ ॥ विवेकी को अन्य की सम्पत्ति के ग्रहण से निवृत्ति प्रथम ही होती है, और अपने अर्थों में सन्तोष होता है ॥ २३ ॥ अन्य की सम्पत्ति के ग्रहण से निवृत्त, सन्तोषामृत से निर्भर = अतिशय वाला, विवेकी क्रम से अपने अर्थों की भी उपेक्षा करना चाहता है ॥ २४ ॥ अन्य के अर्थ = धनादि के ग्रहण से निवृत्ति के प्रयत्न से प्रथम अभ्यास करके फिर विवेक से अपने अर्थों में अरक्तता =

न तादृशं जगत्यस्मिन् दुःखं नरककोटिषु । यादृशं यावदायुष्कमर्थोपार्जनशासनम् ॥२६॥
अस्मिन् जगति जन्तूनां जरामरणशालिनाम् । अजरामरणं कर्त्तुं सन्तोषोऽस्ति रसायनम् ॥२७॥
वसन्तो नन्दनोद्यानमिन्दुरप्सरसः स्मृताः । इत्येकतः समुदितं सन्तोषामृतमेकतः ॥२८॥
सम्पदः प्रमदाश्चैव तरङ्गोत्तुङ्गभङ्गुराः । कस्तास्वहिफणच्छत्रच्छायासु रमते बुधः ॥२९॥
अर्थोपार्जनरक्षाणां जानन्नपि कदर्थनाम् । यः करोति स्पृहां मूढो नृपशुं तं न संस्पृशेत् ॥३०॥
योगवा० प्र० ६।२। स० ४७ ॥

एतावदेव बोधस्य बोधत्वं यद्वितृष्णता । पाण्डित्यं नाम तन्मौर्ख्यं यत्र नास्ति वितृष्णता॥३१॥
योगवा० प्र० ६।२।१६४।३४ ॥

यथासम्भवया वृत्त्या लोकशास्त्राविरुद्धया । सन्तोषसन्तुष्टमना भोगगन्धं परित्यजेत् ॥३२॥
योगवा० प्र० ३।६।१६ ॥

यत्राभिलाषस्तन्नूनं संत्यज्य स्थीयते यदि । प्राप्त एवाङ्ग ! तन्मोक्षः किमेतावतिदुष्करम् ॥३३॥
योगवा० प्र० ३।६६।२१ ॥

असन्तोषपरा मूढाः सन्तोषं यान्ति पण्डिताः । असन्तोषस्य नास्त्यन्तस्तुष्टिस्तु परमं पदम् ॥३४॥
उदारस्य तृणं वित्तं शूरस्य मरणं तृणम् । विरक्तस्य तृणं भार्या निष्पृहस्य तृणं जगत् ॥३५॥
सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् । सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥३६॥ इत्यभियुक्ताः॥

वैराग्य अनासक्ति प्राप्त करने योग्य है ॥ २५ ॥ उस प्रकार के दुःख इस संसार में करोड़ों नरक में नहीं हैं कि जैसा दुःख जीवन भर अर्थोपार्जन से शासन = दण्ड रूप मिलता है = लोक परलोक में दुःख भोगना होता है ॥ २६ ॥ इस संसार में जरा मरणादि वाले प्राणियों को जरामरणादि से रहित करने के लिये सन्तोष ही रसायन रूप है ॥ २७ ॥ वसन्त ऋतु, नन्दन नामक इन्द्र का उद्यान = वन, चन्द्र अप्सरा ये सब मिले हुए सुख के साधन एक तरफ कहे गये हैं सन्तोषामृत एक तरफ है ॥ २८ ॥ संसार की सम्पत्ति और स्त्रियाँ जलतरङ्ग के उन्नति के समान भङ्गुर = विनश्वर हैं, सर्प के फणच्छत्र की छाया के तुल्य उन सम्पत्ति प्रमदाओं में कौन ज्ञानी पण्डित रम सकता है ? ॥ २९ ॥ अर्थोपार्जनरक्षण सम्बन्धी कदर्थना = पीड़ा को जानता हुआ भी जो मूढ उसकी इच्छा करता है, उस नराकार पशु के संग स्पर्श नहीं करे ॥ ३० ॥ ज्ञान में इतनी = यही ज्ञानता है, जो कि वितृष्णता = निरिच्छता-सन्तोष है, वह पण्डिताई भी मूर्खता ही है कि जिसमें वितृष्णता नहीं है ॥ ३१ ॥ इससे लोक और शास्त्र से अविरुद्ध यथा सम्भव वृत्ति = जीवनोपाय से ही सन्तुष्ट मन वाला होकर भोग की वासना आसक्ति को त्यागे ॥ ३२ ॥ हे अंग != प्रिय ! जिस विषय में अभिलाष = इच्छा हो, उसे सम्यग् त्याग कर यदि स्थिर हुआ जाय तो मोक्ष प्राप्त ही है, और इतने में दुष्कर भी क्या है ? ॥ ३३ ॥ मूढ लोग असन्तोषपरायण रहते हैं, पण्डित लोग सन्तोष को प्राप्त करते हैं, तहाँ असन्तोष = तृष्णा का तो अन्त नहीं है, और तुष्टि = सन्तोष परम पद = मोक्ष रूप है ॥ ३४ ॥ उदार = दाता को धन तृण तुल्य है, वीर को मरण तृण है, विरक्त को स्त्री तृण है, निरिच्छ को जगत् तृण है ॥ ३५ ॥ सुखार्थी मनुष्य परम सन्तोष का धारण करके संयत = नियमबद्ध होवे, जिससे सन्तोष रूप मूल वाला सुख है, और विपर्यय = सन्तोष का व्यत्यय-

रागाभिभूतः पुरुषः कामेन परिकृष्यते । इच्छा सञ्जायते तस्य ततस्तृष्णाभिवर्द्धते ॥३७॥
तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता । अधर्मबहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी ॥३८॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभि र्या न जीर्यति जीर्यतः । योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥३९॥
अन्तो नास्ति पिपासायाः सन्तोषः परमं सुखम् । तस्मात्सन्तोषमेवेह परमं पश्यन्ति पण्डिताः ॥४०॥
अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं रत्नसञ्चयः । ऐश्वर्यं प्रियसंवासो गृद्ध्येत्तत्र न पण्डितः ॥४१॥
धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता । प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य श्रेयो न स्पर्शनं नृणाम् ॥४२॥
महाभा० वनप० अ० २ ॥
सन्तोषो वै स्वर्गतमः सन्तोषः परमं सुखम् । तुष्टे र्न किञ्चित्परतः सा सम्यक् प्रतितिष्ठति ॥४३॥
यदा संहरते कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वतः । तदात्मज्योतिरचिरात्स्वात्मन्येव प्रसीदति ॥४४॥
अन्तो नास्ति पिपासायास्तुष्टिस्तु परमं पदम् । तस्मात्सन्तोषमेवेह धनं पश्यन्ति पण्डिताः ॥४५॥
महाभा० शां० प० अ० २१।२-४ ॥
आत्माधीनशरीराणां स्वपतां निद्रया स्वया । कदन्नमपि मर्त्यानाममृतत्त्वाय कल्पते ॥४६॥
अकृत्वा परसन्तापमगत्वा खलनम्रताम् । अनुत्सृज्य सतां वर्त्म यत्स्वल्पमपि तद् बहु ॥४७॥सुभा०रत्न०॥
न योजनशतं दूरं बाध्यमानस्य तृष्णया । सन्तुष्टस्य करप्राप्तेऽप्यर्थे भवति नादरः ॥४८॥
हितोपदे० मित्रला० १४६ ॥
यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम् । तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥४९॥

अभाव, दुःखों का मूल रूप है ॥ ३६ ॥ राग से पराजित पुरुष काम से खींचा जाता है, उस को प्रबल इच्छा होती है, उससे तृष्णा अत्यन्त बढ़ती है ॥ ३७ ॥ और तृष्णा ही सब से अत्यन्त पाप जनक, सदा उद्वेग करने वाली, बहुत अधर्म वाली, भयंकरी, और पापानुबन्धिनी = पाप रूप पुत्र फल वाली भी मानी गई है ॥ ३८ ॥ जो तृष्णा दुर्मतियों से दुस्त्यजा है, जो जीर्ण वृद्ध होते हुए की भी जीर्ण नहीं होती है, और जो वह तृष्णाप्राणान्त तक का रोग है, उस तृष्णा को त्यागने वाले को सुख है ॥ ३९ ॥ तृष्णा का अन्त नहीं है, और सन्तोष परम सुख है, अतः पण्डित लोग सन्तोष को ही परम = उत्तम देखते हैं ॥ ४० ॥ यौवनादि सब अनित्य हैं, इससे उनकी इच्छा पण्डित नहीं करता है ॥ ४१ ॥ जिसको धर्म के लिये धन की इच्छा है, उसको निष्कामता ही श्रेष्ठ है, क्योंकि पंक लगा कर धोने से मनुष्यों को पंक का स्पर्श न करना श्रेयः = शुभ है ॥४२॥ सन्तोष उत्तम स्वर्ग है, परम सुख है, सन्तोष से कुछ भी उत्तम नहीं है, सन्तोष सम्यग् स्थिर रहता है ॥ ४३ ॥ कूर्म जैसे अपने अङ्गों को समेटता है, वैसे जब कामों को सर्वत्र से संहृत करता है, तो शीघ्र ही आत्मज्योति निज आत्मा में ही प्रकट होती है ॥ ४४ ॥ तृष्णा का अन्त नहीं है, तुष्टि परम पद है, इसलिये पण्डित यहाँ सन्तोष को ही धन जानते हैं ॥ ४५ ॥ अपने अधीन स्वतन्त्र शरीर वाले अपनी निद्रा से सोने वाले संतोषी मनुष्यों को कदन्न भी अमृतत्व के लिये होता है ॥ ४६ ॥ अन्य के सन्ताप को नहीं कर के खल के लिये नम्रता को नहीं प्राप्त हो कर, सत्पुरुषों के मार्ग को नहीं त्याग कर स्थिर संतोषी को जो स्वल्प धनादि मिलता है सो बहुत है ॥ ४७ ॥ तृष्णा से पीड़ित को सौ योजन भी दूर नहीं है, और सन्तोषी को हाथ में प्राप्त अर्थ में भी आदर नहीं होता है ॥ ४८ ॥ लोक में जो काम जन्य सुख है, जो स्वर्ग

अर्थी करोति दैन्यं लब्धार्थो गर्वमपरितोषं च । नष्टधनश्च स शोकं सुखमास्ते निःस्पृहः पुरुषः ॥५०॥
सुभाषितरत्न० ॥

विज्ञानार्थं हि पञ्चानामिच्छा पूर्वं प्रवर्त्तते । ततस्तदर्थं यतते कर्म चारभते महत् ॥५१॥
ततो रागः प्रभवति द्वेषश्च तदनन्तरम् । ततो लोभः प्रभवति मोहश्च तदनन्तरम् ॥५२॥
लोभमोहाभिभूतस्य रागद्वेषान्वितस्य च । न धर्मे जायते बुद्धि र्व्याजाद्धर्मं करोति च ॥५३॥
व्याजेन चरते धर्ममर्थं व्याजेन रोचते । अधर्मस्त्रिविधस्तस्य वर्द्धते रागमोहजः ॥५४॥
पापं चिन्तयते चैव प्रब्रवीति करोति च । तस्याऽधर्मप्रवृत्तस्य दोषान् पश्यन्ति साधवः ॥५५॥
य एतान् प्रज्ञया दोषान् पूर्वमेवानुपश्यति । तस्य साधुसमाचारादभ्यासाच्चैव वर्द्धते ॥५६॥
प्रज्ञा धर्मे च रमते धर्मञ्चैवोपजीवति । सोऽथ धर्मादवाप्तेषु धनेषु कुरुते मनः ॥५७॥
अतृप्यमाणो निर्वेदमादत्ते ज्ञानचक्षुषा । प्रज्ञाचक्षु र्यदा कामे रसे गन्धे न रज्यते ॥५८॥
शब्दे स्पर्शे तथा रूपे न च भावयते मनः । विमुच्यते तदा कामान्नच धर्मं विमुञ्चति ॥५९॥
शनै र्निर्वेदमादत्ते पापं कर्म जहाति च । धर्मात्मा चैव भवति मोक्षं च लभते परम् ॥६०॥
महाभा० शां० प० अ० २७३ ॥

इति द्वादशसन्तोषप्रकरणं समाप्तम् ॥

का महत् सुख है, ये सब सुख तृष्णा के क्षयजन्य सुख के षोडशांश तुल्य भी नहीं हैं ॥ ४९ ॥ अर्थ की इच्छा वाला दीनता=दरिद्रता-पराधीनता करता है, धन के पाने पर गर्व और असन्तोष करता है, धन के नष्ट होने पर शोक करता है, इच्छा रहित संतोषी पुरुष सुख से सदा रहता है ॥ ५० ॥ अज्ञ असन्तोषी को प्रथम पाँच विषयों के भोग के लिये इच्छा होती है, फिर उस के लिये यत्न करता है, और भारी कर्म का आरम्भ करता है ॥ ५१ ॥ उस से राग होता है, फिर द्वेष होता है, फिर लोभ होता है, तब मोह होता है ॥ ५२ ॥ लोभ और मोह से पराजित, और रागद्वेषयुक्त मनुष्य की बुद्धि धर्म विषयक नहीं होती है, वह कपट से धर्म करता है ॥ ५३ ॥ कपट से वह धर्माचरण करता है, कपट से ही अर्थ चाहता है, इससे राग और मोह से उस के कायिक, वाचिक, मानसिक, तीन प्रकार के अधर्म बढ़ते हैं ॥ ५४ ॥ वह पाप को ही चिन्ता करता है, पाप ही कहता है और करता है, अधर्म में प्रवृत्त उस के दोषों को साधु देखते हैं, वह नहीं देखता है, इस से वह इस प्रकार से पापात्मा होता है ॥ ५५ ॥ जो इन दोषों को प्रथम ही बुद्धि से समझता है, उस की बुद्धि सदाचार और अभ्यास से बढ़ती है ॥ ५६ ॥ उस की बुद्धि धर्म में लगती है, धर्म का आश्रय लेती है, फिर वह धर्म से प्राप्त धनों में मन को लगाता है ॥ ५७ ॥ परन्तु उस से तृप्त नहीं हो कर विवेक दृष्टि से वैराग्य का ग्रहण करता है फिर विवेक दृष्टि वाला वह जब काम, रसादि में आसक्त नहीं होता है, और उस का मन शब्दादि की भावना नहीं करता है, तब वह काम से विमुक्त होता है, धर्म को नहीं छोड़ता है, धीरे २ वैराग्य को प्राप्त करता है, पाप कर्म को त्यागता है, धर्मात्मा होता है, और परमोक्ष का लाभ करता है ॥ ५८–६० ॥ बारहवाँ सन्तोष प्रकरण समाप्त ॥

अथ तपः ॥ १२ ॥

कायस्य मनसश्चैव शोधकं तत्त्वबोधकम् । रोधकं पापतापादेस्तपो मन्ये परंपदम् ॥१॥
देवत्वं तपसा यान्ति मुच्यते तेन चाञ्जसा । तत्तपो विमलं मन्ये शान्तिबोधप्रदं हि यत् ॥२॥
कोऽहं मोक्षः कथं केन संसारं प्रतिपन्नवान् । इत्यालोचनमर्थज्ञास्तपः शंसन्ति पण्डिताः ॥३॥ सू० सं०
विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः । शरीरशोषणं प्राहुस्तपसां तप उत्तमम् ॥४॥
योगयाज्ञवल्क्यसं० ॥
मनसश्चेन्द्रियाणां चाप्यैकाग्र्यं परमं तपः । तच्छ्रेष्ठं सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते ॥५॥
ब्रह्मपु० अ० ३०।१८॥ महाभा० शां० प० अ० २५०।४ ॥
अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा । एतत्तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम् ॥६॥
शान्तिप० अ० ७६।१८ ॥
तपो निःश्रेयसं जन्तोस्तस्य मूलं शमो दमः । तेन सर्वानवाप्नोति यान् कामान् मनसेच्छति ॥७॥
शां० प० अ० २३२।२२ ॥
तपः सर्वगतं तात ! हीनस्यापि विधीयते । जितेन्द्रियस्य दान्तस्य स्वर्गमार्गप्रवर्त्तकम् ॥८॥
महाभा० शां० प० अ० २७५।१४ ॥
चान्द्रायणादीनि पुनस्तपांसि विहितानि च । आहारलाघवपरः कुर्यात्तत्तप उच्यते ॥९॥ स्क० पु०
ब्रह्मचर्यं तथा मौनं निराहारत्वमेव च । अहिंसा सर्वतः शान्तिस्तप इत्यभिधीयते ॥१०॥
लिंगपु० अ० १०।१८ ॥
तपसां सञ्चयो यस्य द्रव्याणां यस्य सञ्चयः । तपःसञ्चय एवेह विशिष्टो धनसञ्चयात् ॥११॥
पद्मपु० खं० १।१६।२४१ ॥

अथ तप—शरीर और मन को शुद्ध करने वाला, तत्त्वज्ञान के हेतु और पाप तापादि के निरोधक तप को परम पद रूप मानता हूँ ॥ १ ॥ तप से देवत्व को प्राप्त करते हैं, और निष्काम तप से ज्ञान पा कर शीघ्र मुक्त होते हैं, इससे उस निष्काम तप को विमल मानते हैं, कि जो शान्ति और ज्ञान देने वाला है ॥२॥ मैं कौन हूँ ? मोक्ष कैसे होगा ? किस हेतु से मैं संसारी हुआ हूँ ? इस प्रकार के विचार चिन्तन को ही तप शब्द के अर्थ को जानने वाले पण्डित तप कहते हैं ॥ ३ ॥ शास्त्र के विधि वाक्य से वर्णित मार्ग द्वारा कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रतों से शरीर के शोषण को तपस्वियों का उत्तम तप कहते हैं ॥ ४ ॥ मन और इन्द्रियों की एकाग्रता परम तप है, सो सब धर्मों से श्रेष्ठ है और वह उत्तम धर्म है ॥ ५ ॥ धीर = धैर्य युक्त बुद्धिमान् लोग, अहिंसा, सत्य वचन, अक्रूरता, दम, दया, इन सब को तप जानते हैं, शरीर के शोषण को नहीं ॥ ६ ॥ प्राणी के निःश्रेयस = मोक्ष का साधन तप है, और उस तप का मूल शम दम है, उस तप से सब काम्य वस्तु को भी पाता है कि जिन को मन से चाहता है ॥ ७ ॥ हे तात ! तप सर्वगत साधन है, हीन के लिये भी इसका विधान है, और जितेन्द्रिय दान्त के स्वर्ग मार्ग का साधक यह तप है ॥ ८ ॥ चान्द्रायणादि जो तप विहित हैं, उन्हें आहार के लाघव=अल्पता परायण हो कर करता है, उसका वह कर्म तप कहलाता है ॥९॥ ब्रह्मचर्य, मौन, उपवास, सर्वथा सब प्राणियों की अहिंसा, शान्ति = क्षमा, तप कहा जाता है ॥ १० ॥ जिस को तप का संचय है, जिस किसी को द्रव्य का संचय है, तहाँ

तपो हि परमं प्रोक्तं तपसा विन्दते परम् । तपोरतो हि यो नित्यं मोदते सह दैवतैः ॥१२॥
पद्मपु० उत्तरखं० अ० २७।३४ ॥

अन्त र्बाह्ये हरि र्यस्य तस्य किं तपसा सुत ! । नान्त र्बाह्ये हरि र्यस्य तस्य किं तपसाऽनघ ! ॥१३॥
ब्रह्मवै० ब्र० अ० २४।२२ ॥

शीतवातातपादीनां सहनं क्षुत्पिपासयोः । सङ्कल्पात्तद्धि विज्ञेयं तपोऽत्रान्नादिवर्जितम् ॥१४॥
तपसा मुनयो देवाः स्वर्गमायान्निजेप्सितम् । सर्वमेव जगन्नित्यं तपस्येव प्रतिष्ठितम् ॥१५॥
आत्मपु० अ० १०।५७६। इत्यादि ॥

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् । वैश्यस्य तु तपो वार्त्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥१६॥
ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः । तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥१७॥
यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम् । सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥१८॥
मनु० अ० ११।२३६। इत्यादि ॥

त्रिदण्डधारणं मौनं जटाभारोऽथ मुण्डनम् । वल्कलाजिनसंवेष्टं व्रतचर्याभिषेचनम् ॥१९॥
अग्निहोत्रं वने वासः शरीरपरिशोषणम् । सर्वाण्येतानि मिथ्या स्यु र्यदि भावो न निर्मलः॥२०॥
ये पापानि न कुर्वन्ति मनोवाक्कर्मबुद्धिभिः । ते तपन्ति महात्मानो न शरीरस्य शोषणम् ॥२१॥
तिष्ठन् गृहे चैव मुनि र्नित्यं शुचिरलङ्कृतः । यावज्जीवं दयावांश्च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥२२॥
न हि पापानि कर्माणि शुद्धयन्त्यनशनादिभिः । सीदत्यनशनादेव मांसशोणितलेपनः ॥२३॥
महाभा० वनप० अ० २० ॥

धन द्रव्य संचय से तप का संचय ही श्रेष्ठ है ॥ ११ ॥ तप उत्तम कहा गया है, उससे परं पद को पाता है, जो सदा तप में तत्पर रहता है, वह देव समूहों के साथ हर्ष पाता है ॥ १२ ॥ हे सुत ! जिस के अन्तर और बाहर में हरि हैं, उस को तप से क्या लेना है ? और जिस के अन्तर बाहर में हरि का अनुभव नहीं है, उस को तप से कुछ विशिष्ट फल नहीं है ॥ १३ ॥ संकल्प से शीतादि के और भूख पिपासा के सहन को तप समझना चाहिये, सो तप यहाँ विशेष अन्नादि से रहित = उपवासरूप होता है ॥ १४ ॥ तप से मुनि और देवों ने अपने प्राप्तव्य इष्ट स्वर्ग को प्राप्त किया है । और सब जगत् सदा तप से ही स्थिर है ॥ १५ ॥ ब्राह्मण का ज्ञान तप है, क्षत्रिय का रक्षा करना तप है, वैश्य का वार्ता = प्रवृत्ति तप है, शूद्र का सेवा तप है ॥ १६ ॥ फलमूल खाने वाले, संयत = वशी भूत मन वाले ऋषि तप से ही चराचर सहित त्रिलोकी को देखते हैं ॥ १७ ॥ जो दुस्तर, दुष्प्राप्य दुर्ग दुष्कर है, सो सब तप से साध्य होता है, इससे तप ही दुरतिक्रम (दुःख से प्राप्तव्य सर्वथा अत्याज्य) है ॥ १८ ॥ तीन दण्डों का धारण, मौन, जटा का भार, मुण्डन, वल्कल = भोजपत्रादि और अजिन = मृगचर्म का संवेष्टन, व्रताचरण स्नान, अग्निहोत्र, वन में वास, शरीर का परिशोषण ये सब मिथ्या = निष्फल हो जाते हैं, यदि भाव निर्मल नहीं हो ॥ १९-२० ॥ इससे जो महात्मा = भाव शुद्धि वाले मन आदि से पापों को नहीं करते हैं, वे ही तप करते हैं, शरीर का शोषण नहीं करते हैं ॥ २१ ॥ पाप नहीं करने वाला सदा दयालु घर में रहता हुआ भी मुनि है, अलंकार = भूषण युक्त होता हुआ भी सदा शुचि है, सब जीवन भर दया वाला वह सब पापों से मुक्त होता है ॥२२॥ उपवासादि से दया आदि के बिना पाप कर्म शुद्ध = निवृत्त नहीं होते हैं, किन्तु अनशन

तपसा प्राप्यते स्वर्गस्तपसा प्राप्यते यशः । आयुःप्रकर्षो भोगश्च लभ्यते तपसा विभो ! ॥२४॥
ज्ञानं विज्ञानमारोग्यं रूपं सम्पत्तथैव च । सौभाग्यं चैव तपसा प्राप्यते भरतर्षभ ! ॥२५॥
धनं प्राप्नोति तपसा मौनेनाज्ञां प्रयच्छति । उपभोगांस्तु दानेन ब्रह्मचर्येण जीवितम् ॥२६॥
ब्रह्मचर्यं तपो मौनं निराहारत्वमेव च । इत्येत्तत्तपसो रूपं सुघोरं च दुरासदम् ॥२७॥
पुण्यादेव प्रव्रजन्ति शुद्धयन्त्यनशनानि च । न मूलफलभक्षित्वान्न मौनान्नानिलाशनात् ॥२८॥
नित्यं ह्यनशनाद्वापि नाग्निशुश्रूषणादपि । न चोदकप्रवेशेन न च च्माशयनादपि ॥२९॥
ज्ञानेन कर्मणा वापि जरामरणमेव च । व्याधयश्च प्रहीयन्ते प्राप्यते चोत्तमं पदम् ॥३०॥
यज्ञो दानं दया वेदाः सत्यं च पृथिवीपते ! । पञ्चैतानि पवित्राणि षष्ठं सुचरितं तपः ॥३१॥

महाभा० अनुशा० प० अ० ५७ । च्यवनोक्तिः ॥

तपसा प्राप्यते स्वर्गस्तपसा प्राप्यते यशः । तपसा प्राप्यते कामस्तपः सर्वार्थसाधनम् ॥३२॥
तपसा मोक्षमाप्नोति तपसा विन्दते महत् । ज्ञानविज्ञानसम्पत्तिः सौभाग्यं रूपमेव च ॥३३॥
नाना विधानि वस्तूनि तपसा लभते नरः । तपसा लभते सर्वं मनसा यद्यदिच्छति ॥३४॥
सूर्याचन्द्रमसौ देवौ सर्वलोकहिते रतौ । तपसैव प्रकाशन्ते नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ॥३५॥
न चास्ति तत्सुखं लोके यद्विना तपसा किल । तपसैव सुखं सर्वमिति वेदविदो विदुः ॥३६॥

शिवपु० खं० ५।१२।४०। इत्यादि ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् । ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥३७॥

=उपवास से मांसशोणितरूपलेपन वाली देह ही नष्ट पीड़ित होती है ॥ २३ ॥ हे विभो ! तप से स्वर्ग यश आयु की वृद्धि और भोग प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥ हे भरतर्षभ ! ज्ञानविज्ञानादि तप से मिलते हैं ॥ २५ ॥ तप से धन पाता है, मौन से सफल आज्ञा देता है, दान से उपभोग पाता है, ब्रह्मचर्य से जीवित=आयु पाता है ॥ २६ ॥ ब्रह्मचर्य तप मौन उपवास ये सब तप के स्वरूप हैं, सो कठिन और दुष्प्राप्य हैं ॥ २७ ॥ यज्ञ दान दया अहिंसादि रूप पुण्य से ही संन्यास करते हैं, और अनशनादि व्रत भी पुण्य से शुद्ध होते हैं, मूल फल भोजित्व, मौन, अनिल = वायु भोजन से नहीं होते हैं ॥ २८ ॥ सदा उपवास से वा अग्नि की सेवा से, वा जल में प्रवेश से वा भूमि में शयन से भी पुण्य विना संन्यासादि नहीं होते हैं ॥ २९ ॥ ज्ञान वा कर्म से जरा मरण व्याधि आदि सब नष्ट होते हैं, और उत्तम पद प्राप्त होता है ॥ ३० ॥ हे पृथिवीपते ! यज्ञ, दान, दया, वेद, और सत्य ये पांचों पवित्र हैं, और सुन्दर आचरित तप छठवाँ पवित्र है ॥ ३१ ॥ तप से स्वर्गादि प्राप्त होते हैं, और तप सब अर्थ का साधन है ॥३२॥ तप से मोक्ष पाता है, और तप से महत्=पूज्य वैराग्यादि पाता है, तप से ज्ञान विज्ञान की सम्पत्ति = प्राप्ति वृद्धि लक्ष्मी शोभा होती है, तथा सौभाग्य और रूप भी होता है ॥ ३३ ॥ नाना प्रकार की वस्तुओं को मनुष्य तप से पाता है, और मन से जो २ चाहता है, सो सब तप से पाता है ॥ ३४ ॥ सब लोक के हित में तत्पर चन्द्र सूर्य रूप देव और नक्षत्र तथा ग्रह ये सब तप से ही प्रकाशते हैं ॥ ३५ ॥ वह सुख लोक में नहीं है कि जो तप के विना हो सके, तप से ही सब सुख होते हैं, इस प्रकार वेदवेत्ता समझते हैं ॥ ३६ ॥ "स्वाहा स्वधामृतभुजो देवाः सत्यार्जवप्रियाः ।" [म० भा० अनु० ११५।७] इस लक्षण वाले देव ब्रह्मा विष्णु

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् । स्वाध्यायाऽभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥३८॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः । भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥३९॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः । अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥४०॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् । क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥४१॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः । परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥४२॥
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः । दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥४३॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः । मां चैवान्तः शरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥४४॥

भगवद्गी० अ० १७।१४-१६।५-६ ॥

तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्सम्प्राप्यते मनः । मनसा प्राप्यते ह्यात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्त्तते ॥४५॥
यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति । तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥४६॥
स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यगामिनः । इन्द्रियार्थाऽविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥४७॥

मैत्रेयी-मैत्रायणी चोपनिषद् ॥

तपसा देवतामग्र आयन्, तपसर्षयः स्वरन्वविन्दन्, तपः प्रथमां रक्षति, श्रद्धा द्वितीयाम् ।
सत्यं तृतीयाम्, मनश्चतुर्थीम् । अनु ह स्वर्गं लोकं विन्दति ॥४८॥ कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयब्रा० कां० ३।१२॥

आदि "तपः श्रुतं च योनिश्चाप्येतद् ब्राह्मणकारणम् । त्रिभिर्गुणैः समुदितस्ततो भवति वै द्विजः ॥" [म० भा० अनु० प० १२१।७] इत्यादि लक्षण वाले द्विज, गुरु और प्राज्ञ=ज्ञानी की पूजा और शौचादि शरीर सम्बन्धी तप है ॥ ३७ ॥ प्राणियों के अनुद्वेग कारक सत्य प्रियहित जो वाक्य और स्वाध्याय=वेदादि सत्शास्त्र के अभ्यास को वाङ्मय = वचन का तप कहते हैं ॥ ३८ ॥ मन की प्रसन्नता स्वच्छता, सौम्यता-सर्वहितैषिता, मौन-मननशीलता वाक्निग्रह, मन का निग्रह, निष्कपटता ये सब मानस तप है ॥ ३९ ॥ परम श्रद्धा से फलेच्छारहित समाहित पुरुष से किये गये ये तीनों प्रकार के तप सात्त्विक कहाते हैं ॥ ४० ॥ स्तुति आदि रूप सत्कार, नमस्कारादि रूप मान और पूजा के लिये दम्भ से किया गया जो तप, सो इस लोक में राजस कहा गया है, वह चल = क्षणिक फलद और अध्रुव=अनिश्चित फलक होता है ॥ ४१ ॥ मूढ़ता जन्य आग्रह अविवेक देहादि की पीड़ा से जो तप किया जाता है, वा अन्य के विनाश के लिये किया जाता है, वह तामस तप कहा गया है ॥ ४२ ॥ जो तप करने वाले पुरुष दम्भ अहङ्कार से युक्त, और कामराग = आसक्ति से, जो बल = आग्रह, तिससे समन्वित = मिलित, हो कर शास्त्र से अविहित भयंकर तप करते हैं तथा शरीर में स्थित इन्द्रियादि रूप भूतसमूह को और शरीर के अन्दर स्थिर सर्वात्मा अन्तर्यामी मुझ को कृश करते हुए उपवासादि से पीड़ित करते हुए अचेता=अविवेकी को असुर सम्बन्धी निश्चय वाला जानो ॥ ४३-४४ ॥ तप से सत्त्वगुण प्राप्त होता-बढ़ता है, उससे मन वश में होता है, शुद्ध होता है, शुद्ध मन से आत्म प्राप्ति=ज्ञान होता है, ज्ञान से मुक्त होता है ॥ ४५ ॥ जैसे इन्धन रहित अग्नि अपनी योनि=महातेज में लीन होती है, तैसे ज्ञान द्वारा कुवृत्तियों के क्षय से चित्त भी अपनी योनि में लीन होता है ॥ ४६ ॥ अपनी योनि में लीन सत्यगामी इन्द्रियार्थों=विषयों में मोहरहित मन के कर्म वश से प्राप्त अदृष्ट वासनादि अनृत्त=मिथ्या नष्ट हो जाते हैं ॥ ४७ ॥ तप से ही प्रथम देवता को ऋषि लोग प्राप्त किये समझे, और स्वर्ग प्राप्त किये । तप, स्वर्ग के प्रथम द्वार की रक्षा करता

तपसा वै लोकं जयन्ति ॥४९॥ शतपथ० ३।४।४।२७ ॥

मीनः स्नानरतः फणिः पवनभुङ् मेषस्तु पर्णाशनः । नैराश्यं ह्यपि चातके प्रतिदिनं शेते बिले मूषकः ॥

भस्मधृग् गजविग्रहः खलु खरो ध्यानानुरक्तो बकः । सर्वेषां फलमेव नास्ति सकलं ज्ञानप्रधानं तपः ॥५०॥

इति त्रयोदशं तपःप्रकरणं समाप्तम् ।

अथ दानम् ॥ १४ ॥

दानात्परतरं नास्ति जीवस्येह मलापहम् । विवेकेन कृतं दानं सर्वत्रैव सुखावहम् ॥१॥

दानेन सदृशं नैव मन्ये शान्तिकरं तथा । दुष्करं दुर्विवेकं च सतां संसिद्धिकारकम् ॥२॥

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे । निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा ॥३॥

शुक्लयजु० अ० ३।५० ॥ इन्द्रोक्तिः । यजमानोक्तिश्च ॥

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यः अमृतस्य नाम ।

यो मा ददाति स इदेवमाऽऽवदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥४॥ अ० ६। सामवेद० खं १।६ अन्नदेवोक्तिः ॥

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं विमलं च चतुर्विधम् । दानं पात्रे प्रदातव्यं नापात्रेऽप्यणुमात्रकम् ॥५॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां साधनं परमं स्मृतम् । दानमेव न चैवान्यदिति देवोऽब्रवीद्रविः ॥६॥

दानं फलमनुद्दिश्य सर्वदा यत्प्रदीयते । तद्दानं नित्यमित्युक्तं देवदेवेन भानुना ॥७॥

दानं पापविशुद्ध्यर्थं श्रद्धया यत्प्रदीयते । प्रोक्तं नैमित्तिकं दानमृषिभि र्वेदवादिभिः ॥८॥

है, श्रद्धा, द्वितीय द्वार की, सत्य, तृतीय द्वार की, शुद्धमन, चतुर्थ द्वार की रक्षा करता है, उस के बाद स्वर्ग लोक को जीव पाता है ॥४८॥ तप से प्रकाशमय लोक को पाते हैं ॥ ४९ ॥ मछली स्नान में तत्पर रहती है, फणि = सर्प पवनाशी होता है, मेष = भेंड़ा पर्णभोजी है, चातक में निराशता है, मूषक सदा बिल में सोता है, हाथी की देह और गदहा भस्मधारी होते हैं, बकुला ध्यान का प्रेमी होता है, परन्तु इन सब को फल नहीं मिलता है, इससे सब स्नानादि रूप तप ज्ञान = विवेकादि रूप प्रधान वाले हैं ॥ ५० ॥ तेरहवाँ तपः प्रकरण समाप्त ॥

अथ दान—जीव के पाप को नष्ट करने वाला दान से अति उत्तम यहाँ कुछ नहीं है, विवेक से किया गया दान सर्वत्र सुख ही देता है ॥१॥ दान के समान शान्तिकारक तथा दुष्कर और दुःख से विवेक वाले सत्पुरुषों की सम्यग् सिद्धि कारक अन्य को नहीं मानता हूँ ॥ २ ॥ इन्द्र देव कहते हैं, कि मेरे लिये प्रथम हवि दो, तो मैं तेरे लिए फल देता हूँ, मेरे लिए प्रथम 'निधेहि' (हवि को सिद्ध धारण करो) तो तेरे लिये मैं 'निदधे' (फल को सिद्ध करता हूँ) यजमान कहता है 'निहार' = फल मेरे लिये दो, मैं तेरे लिये निहार = मूल्य हवि समर्पण करता हूँ ॥ ३ ॥ मैं अन्न देवता अग्नि आदि देवों से पूर्व = प्रथम होने वाली हूँ, अमृत=अविनाशी ऋत = सत्य, ब्रह्म की प्रथमजा=प्रथमोत्पन्ना, प्रसिद्ध प्रजा हूँ, जो मनुष्य मुझ अन्न को अतिथि आदि के प्रति देता है, स 'इद्' = स एव, एवं=इस प्रकार सब की 'आवद्' = रक्षा करता है, अन्यथा मैं अन्य ही = अन्नमदन्तं, अन्न खाने वाले को खाता = मारता हूँ ॥ ४ ॥ नित्यादि चार प्रकार के दान पात्र को देना चाहिये, अपात्र को अणुमात्र भी नहीं देना चाहिये ॥ ५ ॥ धर्मादि का परम साधन दान ही कहा गया है, अन्य नहीं, यह बात सूर्य देव ने कही है ॥ ६ ॥ फल की इच्छा बिना जो दान सदा दिया जाता है उस दान को देवों के देव सूर्य देव ने नित्य दान कहा है ॥ ७ ॥ पाप की

पुत्रार्थं वा धनार्थं वा स्वर्गार्थं वाऽन्यतोऽपि वा । यद्दानं दीयते भक्त्या काम्यमित्यभिधीयते ॥९॥
हरस्य प्रीणनार्थं यच्छिवभक्ताय दीयते । दानं तद्विमलं प्रोक्तं केवलं मोक्षसाधनम् ॥१०॥
यत्किञ्चिद्दीयते दानं दरिद्राय विशेषतः । दानं तदधिकं प्रोक्तं स्वकुटुम्बाविरोधतः ॥११॥

सौरपु० अ० १० ॥

अर्थानामुचिते पात्रे श्रद्धया प्रतिपादनम् । दानमित्यभिनिर्दिष्टं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥१२॥
यद्ददाति विशिष्टेभ्यः शिष्टेभ्यः श्रद्धया युतः । तद्विचित्रमहं मन्ये शेषं कस्यापि रक्षति ॥१३॥
नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं दानमुच्यते । चतुर्थं निर्मलं प्रोक्तं सर्वदानोत्तमोत्तमम् ॥१४॥

कूर्मपु० अ० २६ ॥

यद्यदिष्टतमं द्रव्यं न्यायेनोपागतं च यत् । तत्तद् गुणवते देयमित्येतद्दानलक्षणम् ॥१५॥

वायुपु० अ० ५६।४६॥ मात्स्येऽप्येवम् ॥

न्यायागतानां द्रव्याणां तीर्थे सम्प्रतिपादनम् । कामाननभिसन्धाय यजते च ददाति च ॥
स दानफलमाप्नोति तच्च दानं सुखोदयम् ॥१६॥
दानेन भोगानाप्नोति स्वर्गं सत्येन गच्छति । तपसा तु सुगुप्तेन लोकान् विष्टभ्य तिष्ठति ॥१७॥

वायुपु० अ० ६१।१११-१२ ॥

दानात्परतरं चान्यत्क्वचिद्वस्तु न विद्यते । तद्दानं च महापुण्यमार्त्तेभ्यो यत्प्रदीयते ॥१८॥

स्कन्दपु० केदारखं० अ० १८।१३१ ॥

दानं वृत्तं व्रतं वाचः कीर्त्तिधर्मौ तथाऽऽयुषः । परोपकरणं कायादसारात्सारमुद्धरेत् ॥१९॥

निवृत्ति के लिये जो दान श्रद्धा से दिया जाता है, वेदज्ञ ऋषियों से वह नैमित्तिक दान कहा गया है ॥ ८ ॥ पुत्र धन स्वर्ग वा अन्य किसी फल के लिये प्रेम भक्ति से दिया गया दान काम्य कहा जाता है ॥ ९ ॥ ईश्वर की प्रसन्नता के लिये जो ईश्वर भक्त को दिया जाता है, केवल मोक्ष का साधन वह विमल दान कहा गया है ॥ १० ॥ विशेष रूप से जो दरिद्र को दान दिया जाता है, जिसमें कुटुम्ब का विरोध भी नहीं हो, वह सर्व सम्मत अधिक दान कहा गया है ॥ ११ ॥ योग्य द्रव्यों का योग्य पात्र में श्रद्धा से समर्पण को दान कहा गया है, सो भोग मोक्ष दोनों फलों का प्रदाता होता है ॥ १२ ॥ श्रद्धा सहित जो श्रेष्ठ शिक्षित के लिये देता है, उस देय वस्तु को मैं विचित्र = पारलौकिक मानता हूँ, शेष वस्तु किसी अन्य की है, जिसकी रक्षा करता है ॥ १३ ॥ नित्यादि तीन प्रकार के दान कहे जाते हैं, चौथा निर्मल दान कहा गया है, जो सब दानों में उत्तमों से उत्तम = श्रेष्ठ है ॥ १४ ॥ जो २ द्रव्य न्याय से प्राप्त हों और अति इष्ट हों, उन द्रव्यों को गुणवान् धर्मात्मा ज्ञानी को देना यही दान का लक्षण है ॥ १५ ॥ न्याय से प्राप्त द्रव्यों का गुरु आदिरूप तीर्थ में फलेच्छा विना समर्पण करना दान है, और फलेच्छा विना जो यज्ञ दान करता है, सो दान के श्रेष्ठ फल को पाता है, वह दान उसके सुख के उदय का हेतु होता है ॥ १६ ॥ दान से भोग पाता है, सत्य से स्वर्ग में जाता है, सुरक्षित तप से लोकों को धरकर स्थिर होता है ॥१७॥ दान से अति उत्तम अन्य वस्तु कहीं नहीं है, परन्तु उस दान को मैं महापुण्य रूप मानता हूँ, कि जो आर्तों के प्रति दिया जाता है ॥१८॥ महात्माओं के वचन से दान सच्चरित्र और व्रत को प्राप्त करे, आयु से कीर्त्ति और धर्म को प्राप्त करे, देह से परोपकार करे, इस प्रकार असार

धर्मे रागः श्रुतौ चिन्ता दाने व्यसनमुत्तमम् । इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं सम्प्राप्तं जन्मनः फलम् ॥२०॥
तपस्तप्यन्ति यतयो जुह्वते चात्र यज्विनः । दानानि चात्र दीयन्ते परलोकार्थमादरात् ॥२१॥
न दानाद् दुष्करतरं पृथिव्यामस्ति किञ्चन । मुने ! प्रत्यक्षमेवैतद् दृश्यते लोकसाक्षिकम् ॥२२॥
परित्यज्य प्रियान् प्राणान् धनार्थे हि महाभयाम् । प्रविशन्ति महालोभात्समुद्रमटवीं गिरिम् ॥२३॥
तस्य दुःखार्जितस्येह प्राणेभ्योऽपि गरीयसः । आयासशतलब्धस्य परित्यागः सुदुष्करः ॥२४॥
यद्ददाति यदश्नाति तदेव धनिनो धनम् । अन्ये मृतस्य क्रीडन्ति दारैरपि धनैरपि ॥२५॥
अहन्यहनि याचन्तमहं मन्ये गुरुं यथा । मार्जनं दर्पणस्येव यः करोति दिने दिने ॥२६॥
दीयमानं हि नापैति भूय एवाभिवर्द्धते । कूप उत्सिच्यमानो हि भवेच्छुद्धबहूदकः ॥२७॥
एकजन्मसुखस्यार्थे सहस्राणि विलापयेत् । प्राज्ञो जन्मसहस्रेषु सञ्चिनोत्येकजन्मनि ॥२८॥
मूर्खो हि न ददात्यर्थानिह दारिद्र्यशङ्कया । प्राज्ञस्तु विसृजत्यर्थानमुत्र तस्य शङ्कया ॥२९॥
किं धनेन करिष्यन्ति धनिनो भङ्गुराश्रयाः । यदर्थं धनमिच्छन्ति तच्छरीरमशाश्वतम् ॥३०॥
अक्षरद्वयमभ्यस्तं नास्ति नास्तीति यत्पुरा । तदिह देहि देहीति विपरीतमुपस्थितम् । ॥३१॥
बोधयन्ति च याचन्तो देहीति कृपणं जनाः । अवस्थेयमदानस्य मा भूदेवं भवानपि ॥३२॥
दातुरेवोपकाराय वदत्यर्थीति देहि मे । यस्माद्दाता प्रयात्यूर्ध्वमधस्तिष्ठेत्प्रतिग्रही ॥३३॥

संसार से सार को निकाले ॥ १९ ॥ जिस ने धर्म में प्रेम, वेद में विचार, दान में उत्तम व्यसन = आसक्ति इन्द्रियार्थ में वैराग्य किया उसने ही मानव जन्म का सम्यग् फल प्राप्त किया ॥ २० ॥ परलोक के लिये यति लोग यहाँ तप करते हैं, यज्ञशील हवनादि करते हैं, और आदर से यहाँ दान दिया जाता है ॥ २१ ॥ हे मुने ! दान से अति दुष्कर यहाँ भूमि में कुछ नहीं है, यह प्रत्यक्ष ही लोक साक्षी पूर्वक देखा जाता है ॥ २२ ॥ प्रिय प्राणों की आशा को त्याग कर महा लोभ से धन के लिये महाभय युक्त समुद्र जंगल पहाड़ में पैठते हैं ॥ २३ ॥ दुःख से उपार्जित प्राणों से भी श्रेष्ठ सैकड़ों आयास = परिश्रम यत्न से प्राप्त उस धन का त्याग = दान दुष्कर है ॥ २४ ॥ परन्तु जो देता और खाता है, वही धनी का धन है, दान भोग बिना मरे हुए की दारा और धन से अन्य लोग क्रीडा करते हैं ॥ २५ ॥ प्रति दिन मांगने वालों को मैं गुरु के समान मानता हूँ, जो कि दर्पण के समान चित्त को प्रति दिन मार्जन करते हैं, जिन के प्रति दान से धन चित्तादि शुद्ध होते हैं ॥ २६ ॥ दिया हुआ धन भी नष्ट नहीं होता है, और वह अधिक बढ़ता है, जैसे कि साफ किया गया कूप, शुद्ध एवं बहुत जल से युक्त होता है ॥२७॥ अज्ञ मनुष्य एक जन्म के सुख के लिये हजारों जन्मों को नष्ट = दुःखमय करता है, और विद्वान् एक जन्म में हजारों जन्म के सुख साधन का संचय करता है ॥ २८ ॥ मूर्ख मनुष्य यहाँ दरिद्रता की शंका से अर्थों का दान नहीं करता है, और विद्वान् पर लोक में उस दरिद्रता की शंका से अर्थों को त्यागता है ॥ २९ ॥ भङ्गुर = विनश्वर आश्रय = देहादि वाले धनी धन से क्या करेंगे ? जिस शरीर के लिये धन चाहते हैं सो नित्य नहीं है ॥ ३० ॥ जिन्होंने 'नास्ति' इन दो अक्षरों का अभ्यास प्रथम किया, सो यहाँ देहि इस विपरीत रूप से उपस्थित हुआ ॥ ३१ ॥ 'देहि' इस प्रकार मांगते हुए मनुष्य कृपण को समझाते हैं, कि अदान की यह अवस्था है, ऐसा आप नहीं बनो ॥ ३२ ॥ दाता के उपकार के ही लिये याचक कहता है कि मुझे दो जिससे दाता ऊपर

दरिद्रा व्याधिता मूर्खाः परप्रेष्यकराः सदा। अदत्तदानाज्जायन्ते दुःखस्यैव हि भाजनाः ॥३४॥
धनवन्तमदातारं दरिद्रं वाऽतपस्विनम्। उभावम्भसि मोक्तव्यौ कण्ठे बद्ध्वा महाशिलाम् ॥३५॥
शतेषु जायते शूरः सहस्रेषु च पण्डितः। वक्ता शतसहस्रेषु दाता जायेत वा न वा ॥३६॥
गोभि विंप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः। अलुब्धै र्दानशीलैश्च सप्तभि र्धार्यते मही ॥३७॥
संसारसागरे घोरे धर्माधर्मोर्मिसङ्कुले। दानं तत्र निषेवेत तच्च नौरिव निर्मितम् ॥३८॥
अनर्हते यद्ददाति न ददाति तथार्हते। अर्हानर्हापरिज्ञानाद्दानधर्मोऽपि दुष्करः ॥३९॥
स्कन्दपु० खं० १-२ अ० ३ ॥
यो नरः स्त्रीषु देहेषु अनुरक्तस्त्वसौ पशुः। परार्थाय भवत्येष पुरुषोऽन्ये पुरीषकाः ॥४०॥
स्कन्दपु० खं० १-२। अ० ३।
धर्मस्य यस्य श्रद्धा स्यान्न च सा नैव पूर्यते। पापस्य यस्य श्रद्धा स्यान्न च सापि न पूर्यते ॥४१॥
अल्पत्वं वा बहुत्वं वा दानस्याभ्युदयावहम्। श्रद्धा शक्तिश्च दानानां वृद्ध्यक्षयकरे हि ते ॥४२॥
श्रद्धया साध्यते धर्मो महद्भि र्नार्थराशिभिः। अकिञ्चना हि मुनयः श्रद्धावन्तो दिवंगताः ॥४३॥
कुटुम्बभुक्तवसनाद्देयं यदतिरिच्यते। मध्वास्वादो विषं पश्चाद्दातुः धर्मोऽन्यथा भवेत् ॥४४॥
शक्ते परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि। मध्वापानविषादः स धर्माणां प्रतिरूपकः ॥४५॥
भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौर्ध्वदेहिकम्। तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवतोऽस्य मृतस्य च ॥४६॥

स्वर्गादि में जाता है, और प्रतिग्रह लेने वाला नीचे रहता है ॥ ३३ ॥ दरिद्र रोगी मूर्ख अन्य का भृत्य सेवक दान दिये विना होता है, तथा दुःख का पात्र होता है ॥ ३४ ॥ दान रहित धनी तप रहित दरिद्र दोनों कण्ठ में शिला बांध कर जल में फेंकने योग्य हैं ॥३५॥ सैकड़ों में शूर हजारों में पण्डित दशसहस्र में वक्ता होता है, परन्तु दाता होता है कि नहीं यह निश्चय नहीं ॥ ३६ ॥ गऊ आदि से पृथिवी धारी जाती है ॥३७॥ पुण्य पाप रूप तरङ्गों से संकुल = व्याप्त घोर संसार सागर में दान रूप धर्म को सदा सेवे, सो दान संसार में नौका तुल्य निर्मित है ॥ ३८ ॥ पूज्य दान योग्य से भिन्न को जो देता है, तथा योग्य को नहीं देता है, इससे योग्य अयोग्य के पूर्ण ज्ञान के विना दान रूप धर्म भी दुष्कर है ॥ ३९ ॥ जो मनुष्य स्त्री देहों में अनुरक्त = आसक्त हं सो पशु है, परोपकार उत्तमार्थ के लिये जो प्रवृत्त होता है, वह पुरुष = मनुष्य है, अन्य पुरीष = मल हैं ॥ ४० ॥ जिसको धर्म की श्रद्धा होती है, वह न पूर्ण हो यह बात नहीं, वैसे ही पाप की जिसको श्रद्धा हो, सो न पूर्ण हो, यह बात भी नहीं। समय पा कर दोनों पूर्ण होती हैं ॥ ४१ ॥ दान की अल्पता वा बहुत्व दोनों अभ्युदय = सुखस्वर्गादि के हेतु हैं, श्रद्धा और ये दोनों दानों की वृद्धि और अक्षय = स्थिरता करने वाले हैं ॥ ४२ ॥ श्रद्धा से धर्म धारित होता है, महान् अर्थ धन के समूहों से नहीं, निष्किञ्चन = धनहीन मुनि लोग भी श्रद्धायुक्त हो कर स्वर्ग में गये ॥ ४३ ॥ कुटुम्ब के भोजन वस्त्र से अधिक हो तो देना चाहिये, इससे अन्यथा देने वाले को मधु के स्वाद वाला प्रथम धर्म हो कर पीछे वह धर्म विष रूप होता है ॥ ४४ ॥ स्वजन के दुःख से जीवन होते समर्थ पर जन में दान वाला मधु का कुछ पीने वाला विषभोजी होता है, और उस का धर्म भी धर्मों का प्रतिबिम्ब होता है, धर्म नहीं ॥ ४५ ॥ अपने भृत्यों = पोष्यों के पोषण को रोक कर जो पारलौकिक कर्म दानादि करता है,

सामान्यं याचितं न्यासमाधि र्दाराश्च दर्शनम् । अन्वाहितं च निक्षेपः सर्वस्वं चान्वये सति ॥
आपत्स्वपि न देयानि नव वस्तूनि पण्डितैः ॥ ४७ ॥
धर्ममर्थं च कामं च व्रीडाहर्षभयानि च । अधिष्ठानानि दानानां षडेतानि प्रचक्षते ॥४८॥
अपराबाधमक्लेशं स्वतन्त्रेणार्जितं धनम् । अल्पं वा विपुलं वापि देयमित्यभिधीयते ॥४९॥
स्कन्दपु० खं० १–२। अ० ४॥
भूमिदानात्परं दानं न भूतं न भविष्यति । परं निर्वाणमाप्नोति भूमिदो नात्र संशयः ॥५०॥
सर्वेषामेव वर्णानां ब्राह्मणः परमो गुरुः । तस्मै दानानि देयानि स तारयति पण्डितः ॥
ब्राह्मणः प्रतिगृह्णीयाद्वर्जयित्वा त्ववर्णकम् ॥ ५१ ॥
षण्ढस्य पुत्रहीनस्य दम्भाचाररतस्य च । वेदविद्वेषिणश्चैव द्विजविद्वेषिणस्तथा ॥५२॥
स्वकर्मत्यागिनश्चापि दत्तं भवति निष्फलम् । परदाररतस्यापि परद्रव्यरतस्य च ॥५३॥
गायकस्यापि विप्रस्य दत्तं भवति निष्फलम् । असूयाविष्टमनसः कृतघ्नस्य च मायिनः ॥५४॥
नामविक्रयिणश्चैव वेदविक्रयिणस्तथा । स्मृतिविक्रयिणश्चैव धर्मविक्रयिणस्तथा ॥५५॥
परोपतापशीलस्य दत्तं भवति निष्फलम् । ये केचित्पापनिरता निन्दिताः सुकृतैस्तथा ॥५६॥
न तेभ्यः प्रतिगृह्णीयान्न देयं वापि किञ्चन । सत्कर्मनिरतायैव श्रोत्रियायाहिताग्नये ॥
वृत्तिहीनाय वै देयं दरिद्राय कुटुम्बिने ॥५७॥
सर्वेषां ब्राह्मणानां च प्रदातुं शक्यते सदा । वन्ध्याभर्त्रे प्रदत्तं चेद्रासभो जायते नरः ॥५८॥
स्कन्दपु० वैष्णवखं० वंकटाच मा० अ० २०॥

सो कर्म जीवित मृतक दोनों दशा में दुःखद होता है ॥ ४६ ॥ सामान्य = साधारण याचित, न्यास = धरोहर आधि = बन्धक, स्त्री, दर्शन = शास्त्र, अन्वाहित (भावो यज्ञ, वपनादि के लिये रक्षित) निक्षेप और सन्तान के रहते सर्वस्व, ये नव वस्तु आपत्ति में भी पण्डितों से देने योग्य नहीं हैं ॥ ४७ ॥ धर्मादि छः दानों के अधिष्ठान = आश्रय कहे जाते हैं, अर्थात् धर्म अर्थ काम की प्राप्ति के लिये, अर्थ के रहने से तथा लज्जा आदि से दान किये जाते हैं ॥४८॥ दूसरे को बाधा = पीड़ा रहित, क्लेश रहित, स्वतन्त्रता से उपार्जित अल्प वा बहुत धन दान योग्य कहा गया है ॥ ४९ ॥ भूमि दान से श्रेष्ठ दान न हुआ न होना है, भूमि का दाता परम शान्ति को पाता है, इस में संशय नहीं ॥५०॥ सब वर्णों के पण्डित ब्राह्मण परम गुरु हैं, उनको दान देना चाहिये । वे उपदेशादिद्वारा तारते हैं, और वह ब्राह्मण भी दान ले परन्तु अवर्ण से नहीं ले ॥५१॥ और क्लीब, पुत्रहीन, दम्भाचारी, वेदविद्वेषी, द्विजविद्वेषी, स्वकर्म त्यागी पर स्त्री और धन के प्रेमी को दिया हुआ दान, तथा गायक, असूयायुक्त मन वाले, कृतघ्न और मायावी = कपटी को दिया हुआ दान निष्फल होता है ॥ ५२–५४ ॥ नाम वेद स्मृति धर्म को बेंचने वाला, अन्य को पीड़ित करने वाला, पाप में तत्पर, पुण्यात्माओं से निन्दित, इन सब के प्रति दिया हुआ दान निष्फल होता है ॥ ५५–५६ ॥ इससे उन अधर्मियों से कुछ भी लेना नहीं चाहिये, न कुछ देना ही चाहिये । किन्तु सत्कर्म में तत्पर, वेदज्ञ, आहिताग्नि को दान देना चाहिये और वृत्ति = जीविका से रहित. दरिद्र कुटुम्बी को दान देना चाहिये ॥ ५७ ॥ अन्य सब ब्राह्मणों को सदा दान दिया जा सकता है, परन्तु यदि बन्ध्यापति को दान दिया

सर्वेषामेव दानानामन्नदानं विशिष्यते। अन्नेन जायते लोको ह्यन्नेनैवाभिवर्द्धते ॥५९॥
अन्नं हि सर्वभूतानां प्राणभूतं परं विदुः। अन्नदः सर्वदो लोके सर्वयज्ञादिकृद् भवेत् ॥६०॥
तीर्थस्नानेन किं तस्य देवयात्रादिनापि वा। सर्वं सम्पद्यते ब्रह्मन्नन्नदानान्न संशयः ॥६१॥
सत्यकेतु र्द्विजः पूर्वमन्नदानेन केवलम्। सर्वपुण्यफलं प्राप्य मोक्षं प्राप सुदुर्लभम् ॥६२॥
स्कन्दपु० कार्त्तिकमा० अ० २।३८। इत्यादि ॥
सर्वेषामेव दानानामन्नदानं परं स्मृतम्। सद्यः प्रीतिकरं हृद्यं बलबुद्धिविवर्द्धनम् ॥६३॥
नास्ति क्षुधासमं दुःखं नास्ति रोगः क्षुधासमः। नास्त्यरोगसमं सौख्यं नास्ति क्रोधसमो रिपुः ॥६४॥
यस्यान्नपानतुष्टाङ्गः कुरुते पुण्यसञ्चयम्। अन्नप्रदातुस्तस्यार्द्धं कर्त्तुश्चार्द्धं न संशयः ॥६५॥
नाभिनिन्देदधिगतं न प्रणुद्यात्कथञ्चन। अपि श्वपाके शुनि वा नान्नदानं प्रणश्यति ॥६६॥
श्रान्तायादृष्टपूर्वाय ह्यन्नमध्वनि वर्त्तते। यो दद्यादपरिक्लिष्टः स समृद्धिमवाप्नुयात् ॥६७॥
अन्नं पानं च शूद्रेऽपि ब्राह्मणे च विशिष्यते ॥ ६८ ॥ शिवपु० सं ५। अ० ११ ॥
कनकं च तिला नागाः कन्था दासी गृहं रथः। मणयः कपिला गावो महादानानि वै दश ॥६९॥
शिवपु० खं ५ अ० १४।७ ॥
परित्यज्य यदा सर्वमेकाकी यास्यति ध्रुवम्। न ददाति तदा कस्मात्पाथेयार्थमिदं धनम् ॥७०॥
गृहीतदानपाथेयः सुखं याति यमालयम्। अन्यथा क्लिश्यते जन्तुः पाथेयरहिते पथि ॥७१॥
शिवपु० खं० ५। अ० २०।४३-४४ ॥

गया तो वह दाता मनुष्य, रासभ होता है ॥ ५८ ॥ सब दानों में अन्न दान श्रेष्ठ है, जिससे अन्न ही से लोक जन्मता है और बढ़ता है ॥ ५९ ॥ अन्न को सब प्राणी के उत्तम प्राण स्वरूप सब कोई जानते हैं, इससे अन्न का दाता लोक में सब वस्तु का दाता है, और सब यज्ञ का वह कर्ता होता है ॥ ६० ॥ तिस अन्न दाता को तीर्थ स्नान, वा देवयात्रादि से क्या जरूरत है ? हे ब्रह्मन् ! अन्न दान से सब फल सिद्ध होता है ॥ ६१ ॥ सत्यकेतुनामक द्विज ने केवल अन्न दान से ही पूर्व काल में सब पुण्य फल को प्राप्त करके अत्यन्त दुर्लभ मोक्ष को भी प्राप्त किया ॥६२॥ सब दानों में अन्न दान को उत्तम कहा गया है, क्योंकि अन्न शीघ्र प्रीति = सुख कारक, हृद्य = प्रिय बल बुद्धि विवर्द्धक है ॥ ६३ ॥ भूख के समान दुःख और रोग नहीं है, आरोग्य के समान सुख नहीं है, क्रोध के तुल्य शत्रु नहीं है ॥६४॥ जिसके अन्न जल से सन्तुष्ट अंग वाला हो कर पुण्य का संचय करता है, उस अन्न दाता को आधा पुण्य होता है, और कर्ता को आधा होता है ॥ ६५ ॥ प्राप्त अन्नार्थी की निन्दा नहीं करे, न किसी प्रकार गमन के लिये प्रेरणा करे, किन्तु अन्न दे, क्योंकि श्वपच या कुत्ते के प्रति भी अन्न दान निष्फल नहीं होता है ॥६६॥ मार्ग में वर्तमान, श्रान्त, पूर्व के अज्ञात अतिथि के प्रति जो क्लेश विना अन्न देता है, सो समृद्धि पाता है ॥६७॥ अन्न और पान शूद्र में और ब्राह्मण में भी विशेष फल का हेतु है ॥ ६८ ॥ सुवर्ण, तिल, हाथी, गुदरी, दासी, गृह, रथ, मणि, और कपिला गऊ, ये दश महादान हैं ॥६९॥ यदि सब को त्याग कर अवश्य एकाकी जाना है, तो पाथेय = मार्गखर्च के लिये यह धन क्यों नहीं देता है ? ॥ ७० ॥ दानरूप पाथेय के संग्रह वाला यमालय में सुख

आहारादधिकं चान्नं न दातव्यमपण्डिते । दाता नरकमाप्नोति ग्रहीता तु विशेषतः ॥७२॥

देवीभा० स्क० ३।१०।३८ ॥

शौचहीने व्रतभ्रष्टे विप्रे वेदविवर्जिते । दीयमानं रुदत्यन्नं किं मया दुष्कृतं कृतम् ॥७३॥

सगुणं निर्गुणं वापि ब्राह्मणं दैवतं परम् । नातिक्रमेद् गृहासीनं ब्राह्मणं विप्रकर्मणि ॥७४॥

अतिक्रमन् महाबाहो ! रौरवं याति भारत ! । गायत्रीमात्रसारोऽपि ब्राह्मणः पूज्यजां गतः ॥७५॥

यद्येकपङ्क्त्यां विषमं ददाति स्नेहाद्भयाद्वा यदि वार्थहेतोः ।
वेदेषु दृष्टमृषिभिश्च गीतं तां ब्रह्महत्यां मुनयो वदन्ति ॥ ७६ ॥

विद्यातपोभ्यां सम्पन्ने ब्राह्मणे गृहमागते । क्रीडन्त्यौषधयः सर्वा यास्यामः परमां गतिम् ॥७७॥

न यस्य वेदो न जपो न विद्याश्च विशाम्पते ! । स शूद्र एव मन्तव्य इत्याह भगवान् विभुः ॥७८॥

भविष्यपु० अ० ४ ॥

श्रोत्रियाय दरिद्राय गृहस्थायाग्निहोत्रिणे । पुत्रदाराभिभूताय तथा ह्यनुपकारिणे ॥७९॥

एवं विधेषु दातव्या न समृद्धेषु भारत ! । को गुणो भरतश्रेष्ठ ! समृद्धेष्वभिवर्जितम् ॥८०॥

येषां तटाकानि महोदकानि वाप्यश्च कूपाश्च प्रतिश्रयाश्च ।
अन्नस्य दानं मधुरा च वाणी यमस्य ते निर्वचना भवन्ति ॥ ८१ ॥

प्रतिग्रहं गृहीत्वा यः पुनर्ददति साधवे । फलानां फलमाप्नोति तदा दत्त्वा च भारत ! ॥८२॥

महाभा० वनप० अ० २० ॥ युधिष्ठिरोक्तिः ॥

से प्राप्त होता है, नहीं तो पाथेय रहित प्राणी मार्ग में दुःखी होता है ॥ ७१ ॥ अपण्डित = अज्ञ को भोजन से अधिक अन्न नहीं देना चाहिये, नहीं तो दाता नरक में जाता है, और दान का ग्रहण कर्ता अधिक नरक में जाता है ॥ ७२ ॥ शौचरहित, व्रत से च्युत, वेद रहित विप्र को दिया गया अन्न भी रोता है, कि मैंने पाप किया कि ऐसे विप्र के पास आया ॥ ७३ ॥ शौचव्रत वेद युक्त अन्य गुणों से सहित वा रहित परमदेव रूप गृह में स्थित ब्राह्मण को विप्र के कर्म पूजा सत्कारादि में उलंघन नहीं करे, हे भारत ! हे महाबाहो ! उस ब्राह्मण का अतिक्रमण करने वाला रौरव नरक में जाता है, क्योंकि गायत्रीमात्र भी जिसमें सार है, सो ब्राह्मण पूज्यता को प्राप्त है ॥ ७४–७५ ॥ एक पङ्क्ति में यदि स्नेह= प्रेम, भय, वा अर्थ के कारण, विषम = भेदयुक्त देता है, तो वेद में दृष्ट है और ऋषियों से कहा गया है, कि उसी विषमदान को मुनि लोग ब्रह्महत्या कहते हैं ॥ ७६ ॥ विद्या और तप से युक्त ब्राह्मण के गृह में आने पर, ओषधियाँ क्रीड़ा करती हैं, कि परम पद पावेंगे ॥ ७७ ॥ हे राजन् ! जिस ब्राह्मण को वेद जप विद्या नहीं है, वह शूद्र है ऐसा जानना, यह विभु भगवान् कहते हैं ॥ ७८ ॥ वेदाध्यायी दरिद्र अग्निहोत्री, पुत्रदारा के पोषण में असमर्थ गृहस्थ के प्रति दान देना चाहिये ॥७९॥ इस प्रकार के अन्य के प्रति भी गऊ देना चाहिये, किन्तु समृद्ध=धनी में धन का अर्पण नहीं करना चाहिये । हे भरतश्रेष्ठ ! समृद्ध में दान का कोई गुण नहीं है, इसलिये वहाँ दान अभिवर्जित = निषिद्ध है ॥ ८० ॥ जिन के महा-जल वाले तालाव, बावली, कूप, प्रतिश्रय = आश्रय अन्न का दान और मधुर वाणी हैं, वे लोग यम के निर्वचन = वचन से रहित होते हैं ॥ ८१ ॥ प्रतिग्रह = दान लेकर जो कोई फिर साधु पुरुष को देता है,

वित्तै र्नानाविधैः पूर्णां त्रिलोकीं ब्रह्मणे यदि । न्यायलब्धां कुरुक्षेत्रे सूर्यग्रह उपस्थिते ॥८३॥
स्वदेहसहितां दद्याच्छ्रद्धया परयाऽन्वितः । ततोऽपि ह्यधिकं दानमभयं परिकीर्त्तितम् ॥
स्थिरजङ्गमभूतानां मध्ये कस्यापि देहिनः ॥ ८४ ॥
अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा योऽत्र चरेद्यतिः । अस्मिन् देहे तथाऽन्यस्मिन् भयं तस्य न विद्यते॥८५॥
आत्मपु० अ० ६। यतिध० ॥
यतिहस्ते जलं दद्याद् भिक्षां दत्त्वा पुनर्जलम् । सा भिक्षा मेरुणा तुल्या तज्जलं सागरोपमम् ॥८६॥
स्कन्दपु० खं० ३।अ० १२६।१६ ॥
असतोऽपि समादाय साधुभ्यो यः प्रयच्छति । धनं स्वामिनमात्मानं सन्तारयति दुस्तरात् ॥८७॥
स्कन्दपु० खं० ७। अ० २०७।६२ ॥
सत्यं दमस्तपः शौचं सन्तोषोऽनैर्ष्यमार्जवम् । ज्ञानं शमो दया दानमेतत्पात्रस्य लक्षणम् ॥८८॥
स्कन्दपु० खं० ७। अ० २०८।१६ ॥
मातापित्रो र्गुरौ मित्रे विनीते चोपकारिणि । दीनानाथविशिष्टेषु दत्तं च सफलं भवेत् ॥८९॥
सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे । सहस्रगुणमाचार्ये ह्यनन्तं वेदपारगे ॥९०॥ दक्षस्मृ० अ० ३॥
दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्त्तिकम् । परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ॥९१॥
यत्किञ्चिदपि दातव्यं याचितेनानसूयया । उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयति सर्वतः ॥९२॥

हे भारत ! फलों में उत्तम फल को वह दान देकर पाता है "योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः सम्प्रयच्छति । स कृत्वा प्लवमात्मानं संतारयति तावुभौ ॥" [मनु० अ० ११।१५] क्योंकि जो असाधु से धन लेकर साधु को देता है सो दोनों को तारता है ॥ ८२ ॥ नाना प्रकार धन से पूर्ण न्याय से प्राप्त अपने देह सहित तीन लोक के समुदाय को यदि कुरुक्षेत्र में सूर्य ग्रहण काल में परम श्रद्धा से ब्रह्मा के प्रति दान करे, तो भी उससे अधिक दान वह है, कि जो चर अचर प्राणी में किसी देही के प्रति अभयदान कहा गया है ॥ ८४ ॥ जो यति सब प्राणियों के लिये अभय देकर यहाँ विचरता है, उस को इस देह में वा देहान्तर में भय नहीं होता है ॥ ८५ ॥ भिक्षा काल में प्रथम यति के हाथ में जल दे, फिर भिक्षा दे, भोजन के बाद फिर जल दे, तो वह भिक्षा मेरु तुल्य हो जाती है, और वह जल सागर तुल्य होता है ॥ ८६ ॥ असत् पुरुषों से भी लेकर जो साधुओं को देता है, सो उस धन, धन के स्वामी और अपने को भी दुस्तर से तारता है ॥ ८७ ॥ सत्य, दम, तप, शौच, सन्तोष, ईर्ष्या=परोत्कर्षासहिष्णुता का अभाव रूप अनीर्ष्या, आर्जव, ज्ञान, शम, दया, और दान ये सब दान के पात्र के लक्षण हैं ॥८८॥ माता, पिता, गुरु, मित्र, विनीत (जितेन्द्रिय विनय विद्यायुक्त) उपकारी, दीन=दरिद्र अनाथ, और विशिष्ट में अर्पित धन सफल होता है ॥ ८९ ॥ अब्राह्मणविषयक दान, दान के तुल्य फल प्रद होता है, ब्राह्मण कहने वाले के प्रति द्विगुण फल का हेतु होता है, आचार्य के प्रति दान सहस्रगुण फल प्रद होता है, वेद के पारंगत के प्रति अनन्त फल प्रद होता है ॥ ९० ॥ ऐष्टिक=वैदिक पौर्तिक=स्मार्त दान रूप धर्म को सत्पात्र को पा कर शक्ति के अनुसार परितुष्ट भाव से सदा सेवे, दान सदा करे, ॥ ९१ ॥ याचना करने पर असूया रहित हो कर कुछ भी अपनी शक्ति के अनुसार देना चाहिये । फिर उस दाता के पास कोई सत्पात्र प्राप्त

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते । वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥९३॥
येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति । तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥९४॥
योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च । तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥९५॥
मनुस्मृ० अ० ४।२२७-२८-३२ इत्यादि ॥
सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे । प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे ॥९६॥
मनुस्मृ० अ० ७।८५ ॥
न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता । यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्त्तितम् ॥९७॥
विद्यातपोभ्यां हीनेन न तु ग्राह्यं प्रतिग्रहम् । गृह्णन् प्रदातारमधो नयत्यात्मानमेव च ॥९८॥
श्रान्तसंवाहनं रोगिपरिचर्या सुरार्चनम् । पादशौचं द्विजोच्छिष्टमार्जनं गोप्रदानवत् ॥९९॥
प्रतिग्रहसमर्थोऽपि नादत्ते यः प्रतिग्रहम् । ये लोका दानशीलानां स तानाप्नोति पुष्कलम् ॥१००॥
याज्ञवल्क्यस्मृ० अ० १ ॥
महतामपि यज्ञानां कालेन क्षीयते फलम् । भीताभयप्रदानस्य कलां नार्हति षोडशीम् ॥१०१॥
हेमधेनुधरादीनां दातारः सुलभा भुवि । दुर्लभः पुरुषो लोके सर्वभूताभयप्रदः ॥१०२॥
युद्ध्यन्ते पशवः सर्वे पठन्ति शुकसारिकाः । दातुं शक्नोति यो वित्तं स शूरः स च पण्डितः ॥१०३॥
दाता नीचोऽपि सेव्यः स्यान्निष्फलो न महानपि । जलार्थी वारिधिं त्यक्त्वा पश्य कूपं निषेवते ॥१०४॥

दानेन भूतानि वशीभवन्ति दानेन वैराण्यपि यन्ति नाशम् ।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानै र्दानं हि सर्वव्यसनानि हन्ति ॥ १०५ ॥

होगा कि जो सर्व नरकादि से तारेगा ॥ ९२ ॥ जलादि सब दानों में ब्रह्म = वेद-ज्ञान का दान श्रेष्ठ है ॥ ९३ ॥ जिस २ भावना से जो २ दान देता है, उस २ भावना के अनुसार जन्मान्तर में प्रतिपूजित हो कर भोगादि फल पाता है ॥ ९४ ॥ जो सत्कार पूर्वक ग्रहण करता है और सत्कार पूर्वक ही देता है, सो दोनों स्वर्ग में जाते हैं, उलटा करने पर नरक में जाते हैं ॥ ९५ ॥ अब्राह्मण में दान सम होता है, ब्राह्मण में द्विगुण और उत्तम अध्ययन युक्त में लाख गुण वेदपारंगत में दान अनन्त फल प्रद होता है ॥ ९६ ॥ केवल विद्या वा केवल तप से दान की पात्रता नहीं होती है, किन्तु जिस में सच्चरित्र रूप वृत्त और विद्या तप ये दोनों भी रहते हैं, सो दान का पात्र कहा गया है ॥ ९७ ॥ विद्या और तप से रहित मनुष्य को दान नहीं लेना चाहिये, दान लेने पर वह दाता और अपने को भी अधोगामी करता है ॥९८॥ श्रान्त के संवाहन (इष्ट स्थान में प्रापण सेवा) रोगी की सेवा, देव पूजा, पादप्रक्षालन, द्विज के उच्छिष्ट का मार्जन गोदान के तुल्य होता है ॥ ९९ ॥ जो दान लेने में समर्थ होते हुए भी दान नहीं लेता है, सो दानशीलों के जो लोक हैं, उन लोकों को पुष्कल = बहुत प्राप्त करता है ॥ १०० ॥ महान् यज्ञों के फल भी काल से नष्ट होते हैं, अतः अविनाशी फल के दाता भीताभयप्रदान के षोडशांश के तुल्य भी सब यज्ञ नहीं हैं ॥१०१॥ सुवर्णादि के दाता भूमि में सुलभ हैं, सब भूतों के प्रति अभय दाता पुरुष लोक में दुर्लभ हैं ॥ १०२ ॥ युद्ध पशु सब भी करते हैं, और सुग्गा = तोता भी पढ़ते हैं, वस्तुतः जो उचित दान द्रव्य का कर सकता है, वही शूर और पण्डित हैं ॥ १०३ ॥ नीच भी दाता सेव्य होता है, दानरहित महान् भी सेव्य नहीं होता है, जलार्थी समुद्र को त्याग कर कूप को सेवता है सो देखो ॥ १०४ ॥ दान से प्राणी वश में

यद्ददाति विशिष्टेभ्यो यच्चाश्नाति दिने दिने । तत्ते वित्तमहं मन्ये शेषमन्यस्य रक्षसि ॥१०६॥
एकं वापि जलं यद्वदिक्षौ मधुरतां व्रजेत् । निम्बे कटुकतां याति पात्रापात्राय भोजनम् ॥१०७॥
न रणे विजयाच्छूरोऽध्ययनान्न च पण्डितः । न वक्ता वाक्पटुत्वेन न दाता चार्थदानतः ॥१०८॥
इन्द्रियाणां जये शूरो धर्मं चरति पण्डितः । हितप्रायोक्तिभि र्वक्ता दाता सन्मानदानतः ॥१०९॥
सर्वस्वमपि यो दद्यात्कलुषेणान्तरात्मना । न तेन धर्मभाक् स स्याद् भाव एवात्र कारणम् ॥११०॥
पर्वसु द्विगुणं दानमृतौ दशगुणं भवेत् । अयने विषुवे चैव षडशीति मुखेषु च ॥
चन्द्रसूर्योपरागे च दत्तमक्षयमुच्यते ॥१११॥ इतिहाससमुच्च० अ० ४। व्यासस्मृ० अ० ४। इत्यादि ॥
धनं फलति दानेन जीवितं जीवरक्षणात् । रूपमारोग्यमैश्वर्यमहिंसाफलमश्नुते ॥११२॥ बृहस्पतिस्मृ०
अक्रोधना धर्मपराः सत्यनित्या दमे रताः । तादृशाः साधवो विप्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥११३॥
अमानिनः सर्वसहा दृढार्था विजितेन्द्रियाः । सर्वभूतहिता मैत्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥११४॥
महाभा० अनुशा० अ० २२ ॥

याचक गर्हा

श्रेयो वै याचतः पार्थ ! दानमाहुरयाचतः । अर्हत्तमो वै धृतिमान् कृपणादधृतात्मनः ॥११५॥
क्षत्रियो रक्षणधृति र्ब्राह्मणोऽनर्थनाधृतिः । ब्राह्मणो धृतिमान् विद्वान् देवान् प्रीणाति तुष्टिमान् ॥११६॥
महाभा० अनुशा० प०अ० ६० ॥

होते हैं, वैर नष्ट होता है, अन्यशत्रु भी दानों से बन्धु बन जाते हैं, और दान ही सब व्यसन = विपत्ति-अशुभ-दोषों को नष्ट करता है ॥ १०५ ॥ जो आप विशिष्ट पुरुषों के लिये देते हो, और प्रतिदिन खाते हो, वही तुम्हारा धन मैं मानता हूँ। और शेष धन अन्य किसी का है जिस की तुम रक्षा करते हो ॥ १०६ ॥ जैसे एक ही जल ऊख में मधुर हो जाता है और निम्ब में कटु हो जाता है, तैसे पात्र और कुपात्र के भोजन के फल में भेद होता है ॥ १०७ ॥ रण में विजय से शूर नहीं, अध्ययन से पण्डित नहीं वाक् पटुता = कुशलता से वक्ता नहीं, अर्थ के दान से वस्तुतः दाता नहीं होता है ॥ १०८ ॥ किन्तु इन्द्रियों के विजय से सच्चा शूर, धर्माचरण से सच्चा पण्डित, प्रायः हित के कथन से श्रेष्ठ वक्ता, और सन्मान के दान से दाता होता है ॥ १०९ ॥ कलुष = मलिन मन से जो सर्वस्व भी देता है सो उस दान से धर्म का भागी नहीं हो सकता. क्योंकि इस धर्म में भाव ही कारण है ॥ ११० ॥ पर्व = उत्सव दर्श प्रतिपदादि में दान द्विगुण फलदाता होता है, ऋतु परिवर्तन में दशगुण होता है, उत्तर दक्षिण अयन (सूर्य के मार्ग परिवर्तन) और विषुव (रात्रिदिन की समता) काल में तथा मुख में दिया गया दान छः अधिक अस्सी = छियासी गुणा फल देता है ॥१११॥ दान से धन सफल होता है, जीवन जीव की रक्षा से सफल होता है, अहिंसा का फल रूप आरोग्य ऐश्वर्य को पाता है ॥ ११२ ॥ क्रोध रहित धर्मपरायण सदा सत्यवक्ता दम में तत्पर, ऐसे साधु विप्र हैं, उनके प्रति दिया हुआ दान महाफलप्रद होता है ॥११३॥ निर-भिमानी, सहनशील, दृढ़निर्वृत्ति-प्रयोजन वाले जितेन्द्रिय सब प्राणियों के हित, मित्र के प्रति दिया गया दान महाफल वाला होता है ॥ ११४ ॥

याचक गर्हा—हे पार्थ ! याचने वाले को दान देने की अपेक्षा नहीं याचने वाले योग्य पुरुष को देना श्रेष्ठ हैं, अधृतात्मा = धैर्यरहित कृपण = याचक से धैर्य वाला अयाचक अत्यन्त योग्य है ॥ ११५ ॥ रक्षा में

यतये काञ्चनं दत्त्वा ताम्बूलं ब्रह्मचारिणे । चौरेभ्योऽप्यभयं दत्त्वा दातापि नरकं व्रजेत् ॥११७॥

पराशरस्मृ० अ० १।६० ॥

ये धर्मादपेतेभ्यः प्रयच्छन्त्यल्पबुद्धयः । शतं वर्षाणि ते प्रेत्य पुरीषं भुञ्जते जनाः ॥११८॥

महाभा० शान्तिप० अ० २६ ॥

दातव्यमित्ययं धर्म उक्तो भूतहिते रतैः । तं मन्यन्ते धनयुताः कृपणैः सम्प्रवर्त्तितम् ॥११९॥

महाभा० शां० प० अ० २५६।१८ ॥

प्रतिश्रुत्याप्यधर्मयुक्ताय न दद्यात् ॥१२०॥ गौतमस्मृ० ॥

सदैव याचमानेषु तथा दम्भान्वितेषु च । एतेषु दक्षिणा दत्ता दावाग्नाविव दुर्हुतम् ॥१२१॥

महाभा० शां० प० अ० १८।२५ ॥

देहीति वचनं श्रुत्वा देहस्थाः पञ्च देवताः । मुखान्निर्गत्य गच्छन्ति श्रीह्रीधीधृतिकीर्त्तयः ॥१२२॥

ब्रह्मपु० अ० ६७।१० ॥

द्वारं द्वारं रटन्तीह भिक्षुकाः पात्रपाणयः । दर्शयन्त्येव लोकानामदातुः फलमीदृशम् ॥१२३॥

गते भङ्गः स्वरो हीनो गात्रे स्वेदो महद् भयम् । मरणे यानि चिह्नानि तानि चिह्नानि याचके ॥१२४॥

गरुडपु० पूर्वखं० आ० कां० अ० १०६।२४। अ० ११५।७७ ॥

वेपथु र्मलिनं वक्त्रं दीना वाक् गद्‌गदः स्वरः । मरणे यानि चिह्नानि तानि चिह्नानि याचके ॥१२५॥

वदनाच्च बहि र्यान्ति प्राणायाच्ञाक्षरैः सह । ददामीत्यक्षरै र्दातुः पुनः कर्णाद्विशन्ति हि ॥१२६॥

दक्षिणाशाप्रवृत्तस्य प्रसारितकरस्य च । तेजस्तेजस्विनोऽर्कस्य हीयतेऽन्यस्य का कथा ? ॥१२७॥

धैर्य वाला क्षत्रिय होता है, और ब्राह्मण अनर्थना=अयाचना में धैर्य वाला होता है, और धैर्य तुष्टि वाला विद्वान् ब्राह्मण देवताओं को प्रसन्न सुखी करता है ॥ ११६ ॥ संन्यासी को सुवर्ण, ब्रह्मचारी को पान और चोरों को अभय देकर दाता भी नरक में जाता है ॥ ११७ ॥ धर्म रहित पापी को जो अल्प बुद्धि वाले दान देते हैं, सो मरने पर सौ वर्ष तक मल भोजी होते हैं ॥ ११८ ॥ योग्य धर्मात्मा को दान देना चाहिये, इस धर्म को प्राणियों के हित में तत्पर महापुरुषों ने कहा है, परन्तु धनी लोग इस धर्म को कृपण=क्षुद्र से संप्रवर्तित मानते हैं ॥११९॥ देने की प्रतिज्ञा करने पर भी अधर्मी को दान नहीं देना चाहिये ॥ १२० ॥ सदा मांगने वाले और दम्भयुक्तों के प्रति दी गई दक्षिणा दावाग्नि में दुर्हवन के समान है ॥ १२१ ॥ दान दो ऐसा वचन सुनकर ही देह में स्थिर श्री लज्जा विद्या धैर्य, और कीर्ति रूप पांच देव मुख द्वारा निकल कर बाहर जाते हैं ॥ १२२ ॥ हाथ में पात्र लेकर द्वार २ पर घूमते हुए भिक्षुक यहाँ लोगों को दिखाते हैं, कि दान रहित को ऐसा ही फल मिलता है ॥ १२३ ॥ गति का भङ्ग = नाश, स्वर = आवाज की हीनता, देह में स्वेद =पसीना, महान् भय, इत्यादि जो मरण काल में चिह्न होते हैं, सो याचकों में भी होते हैं ॥ १२४ ॥ वेपथु =कम्प, मलिन मुख, दीनतायुक्त वाणी, गद्गद-स्वर, ये सब मरण के चिह्न याचक में दीखते हैं ॥ १२५ ॥ याचना के अक्षरों के साथ याचक के प्राण मानों मुख से बाहर निकलते हैं, फिर दाता के दूंगा देता हूँ इत्यादि अक्षरों के साथ कर्ण द्वारा भीतर प्रवेश करते हैं ॥ १२६ ॥ दक्षिणदिशा में प्रवृत्त किरण को फैलाने वाले तेजस्वी सूर्य का तेज भी न्यून=हीन हो जाता है, तो दक्षिणा की आशा से चलने वाले भिक्षा के लिये हाथ फैलाने वाले अन्य की कथा ही

साधुरेवार्थिभि र्याच्यः क्षीणवित्तोऽपि सर्वदा । शुष्कोऽपि हि नदीमार्गः खन्यते सलिलार्थिभिः ॥१२८॥
तन्मूलं गुरुतायास्तत्सौख्यं तद्यशस्तदौर्जित्यम्। तत्सौभाग्यं पुंसां यदेतदप्रार्थनं नाम ॥१२९॥
तावत्सर्वगुणालयः पटुमतिः साधुः सतां वल्लभः। शूरः सच्चरितः कलङ्करहितो मानी कृतज्ञः कविः ॥
दक्षो धर्मरतः सुशीलगुणवांस्तावत्प्रतिष्ठान्वितो। यावन्निष्ठुरवज्रपातसदृशं देहीति नो भाषते ॥१३०॥

सुभाषितर० ॥

ब्राह्मीं सरस्वतीं दत्त्वा निर्मलो ब्रह्मलोकभाक्। सप्तद्वीपमहीदः स ब्रह्मज्ञानं ददाति यः ॥१३१॥
वाजपेयसहस्रस्य सम्यग् दत्तस्य यत्फलम्। तत्फलं सर्वमाप्नोति विद्यादानान्न संशयः ॥१३२॥

अग्निपु० अ० २११।५२-५६ ॥

मातुः शतगुणं दानं सहस्रं पितुरुच्यते। अनन्तं दुहितुर्दानं सोदर्ये दत्तमक्षयम् ॥१३३॥

अग्निपु० अ० २०६।३२ ॥

सर्वदानं च यज्ञश्च तीर्थस्नानं व्रतं तपः। अज्ञानिज्ञानदानस्य कलां नार्हति षोडशीम् ॥१३४॥

देवीभा० स्क० ९।३८।५ ॥

सर्वेषामेव दानानां विद्यादानं विशिष्यते। विद्यादानेन सायुज्यं विष्णो र्याति नृपोत्तम! ॥१३५॥

नारदीयपु० पू० अ० १३।१०१ ॥

विद्या कामदुघा धेनुर्विद्या चक्षुरनुत्तमम्। विद्यादानात्परं दानं न भूतं न भविष्यति ॥१३६॥
विद्यावान् सर्वकामानां भाजनं पुरुषो भवेत्। तस्माद् विद्यां हि ददता सर्वं दत्तं भवेदिह ॥१३७॥
पराध्यापनतः क्लेशं पुरुषस्तु यदश्नुते। तपस्तत्परमं तस्य ब्रह्मलोकं परं स्मृतम् ॥१३८॥

विष्णुधर्मोत्तरपु० खं० ३। अ० ३०३ ॥

क्या कहना है ? ॥ १२७ ॥ क्षीण धन वाले भी साधु = सज्जन उदार से ही अर्थी याचक को माँगना चाहिये, असाधु से नहीं। नदी का सूखा हुआ भी मार्ग जलार्थी से खोदा जाता है, और उससे जल मिलता है, वैसे ही सज्जन से भिक्षा मिलती है, अर्थ मिलता है ॥ १२८ ॥ जो यह अप्रार्थना है = याचना का अभाव है सो गुरुता का मूल है, तथा पुरुष का सुख है, यश है, बलिता और सौभाग्य है ॥ १२९ ॥ जब तक क्रूर वज्रपात तुल्य देहि = दो, ऐसा वचन नहीं बोलता है, तब तक मनुष्य सब गुण का आश्रय, कुशल बुद्धि वाला, साधु, सत्पुरुषों का वल्लभ=प्रिय, शूरादि समझा जाता है इत्यादि ॥ १३० ॥ ब्राह्मी सरस्वती = वेद विद्या का दान करके निर्मल पुरुष ब्रह्मलोक को पाता है, जो ब्रह्म ज्ञान देता है, सो तो सातद्वीपयुक्त भूमि का दान करता है ॥ १३१ ॥ हजार बाजपेय यज्ञ के सम्यग् दान से जो फल होता है, सो सब फल विद्या के दान से पाता है, इस में संशय नहीं है ॥ १३२ ॥ अन्य की अपेक्षा माता के प्रति दान का सौ गुण फल है, पिता के प्रति दान का हजार गुण है, दुहिता = लड़की के दान का फल अनन्त है, भाई का दान अक्षय होता है ॥ १३३ ॥ अज्ञानी को ज्ञान दान के षोडशांश के तुल्य भी अन्य सब दान यज्ञ तीर्थस्नान व्रत और तप नहीं होते हैं ॥ १३४ ॥ हे नृपोत्तम ! सब दानों में विद्या का दान श्रेष्ठ है, विद्या के दान से विष्णुदेव के सायुज्य मोक्ष को पाता है ॥ १३५ ॥ विद्या काम दुघा धेनु गऊ है, विद्या उत्तम नेत्र है, इससे विद्या दान से उत्तम दान न हुआ न होने का है ॥ १३६ ॥ विद्या वाला पुरुष सब काम्य इष्ट वस्तु का पात्र होता है, अतः विद्या देने वाले से मानों यहाँ सब कुछ दिया जाता है ॥ १३७ ॥ दूसरे को पढ़ाने से जो पुरुष क्लेश पाता है, वह उस का परम तप है, उस को उत्तम ब्रह्म लोक का फल कहा गया है ॥ १३८ ॥

इह चत्वारि दानानि प्रोक्तानि परमर्षिभिः। विचार्य नानाशास्त्राणि शर्मणेऽत्र परत्र च ॥१३९॥
भीतेभ्यश्चाभयं देयं व्याधितेभ्यस्तथौषधम्। देया विद्यार्थिनां विद्या देयमन्नं क्षुधातुरे ॥१४०॥
शिवपु० रुद्रसं० युद्धखं० ४।अ० ५।२२–२३ ॥
दीनान्धकृपणानां च बालवृद्धातुरेषु च। यद्दीयते खगश्रेष्ठ ! तस्यानन्तफलं भवेत् ॥१४१॥
भविष्यपु० ब्र० १८६।६ ॥
आर्त्ते दानं प्रशंसन्ति मुनयो वेदवादिनः। सागरे वर्षतो भद्र ! किं मेघस्य फलं भवेत् ॥१४२॥
पद्मपु० उ० अ० २४६।१६५ ॥
पानीयं परमं दानं दानानां मनुरब्रवीत्। तस्मात् कूपांश्च वापीश्च तडागानि च खानयेत्॥१४३॥
महाभा० अनुशा० प० अ० ६५।३ ॥
जलाशयाश्च वृक्षाश्च विश्रामगृहमध्वनि। सेतुः प्रतिष्ठितो येन तेन सर्वं वशीकृतम् ॥१४४॥
अन्नदानं परं दानं विद्यादानमतः परम्। अन्नेन क्षणिका प्रीतिर्यावज्जीवं तु विद्यया ॥१४५॥ सु०र०॥
तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता। सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥१४६॥
देयमार्त्तस्य शयनं स्थितश्रान्तस्य चासनम्। तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम् ॥१४७॥
चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद्वाचं दद्यात्सुभाषितम्। उत्थाय चासनं दद्यादेष धर्मः सनातनः ॥
प्रत्युत्थायाभिगमनं कुर्यान्न्यायेन चार्चनम् ॥ १४८ ॥
अग्निहोत्रमनड्वांश्च ज्ञातयोऽतिथिबान्धवाः। पुत्रदाराश्च भृत्याश्च निर्दहेयुरपूजिताः॥१४९॥ हितोपदेशादौ॥

इति चतुर्दशं दानप्रकरणं समाप्तम् ॥

यहाँ और परलोक में सुख के लिये नाना शास्त्रों का विचार कर महर्षियों ने चार प्रकार के दान यहाँ कहे हैं ॥ १३९ ॥ भयभीत के प्रति अभयदान देना योग्य है, रोगियों को ओषध देना योग्य है, विद्यार्थियों को विद्या दातव्य है, क्षुधातुर को अन्न देय है ॥ १४० ॥ हे गरुड़ ! दीन = दरिद्र, अन्ध, कृपण = असमर्थ बालक, वृद्ध और रोगी, इन के प्रति जो दिया जाता है, उस का अनन्त फल होता है ॥ १४१ ॥ वेदवादी मुनि लोग आर्त = दुःखी के प्रति दान की प्रशंसा करते हैं, हे भद्र ! सागर में बरसने वाले मेघ का क्या फल होगा ? (धनी को दान का कुछ फल नहीं है) ॥ १४२ ॥ दानों में पानी के दान को मनु ने श्रेष्ठ कहा है, अतः कूप, बावली, तालाब, खोदवाना चाहिये ॥ १४३ ॥ जिसने जलाशय वृक्ष मार्ग में विश्राम के लिये गृह और पुल को बनवाया उस ने सब को वश में किया ॥ १४४ ॥ अन्नदान = उत्तम दान है, और विद्या का दान उससे भी उत्तम है, अन्न से क्षण भर को सुख होता है, और विद्या से जीवन भर सुख होता है ॥ १४५ ॥ अतिथि आदि के प्रति दान सत्कार के लिये सत्पुरुषों के गृहों में तृण भूमि जल और सूनृत = सत्य वाक् = वाणी इन सब का भी कभी उच्छेद = अभाव नहीं होता है ॥ १४६ ॥ अतः रोगी को शयन = शय्या. खड़े, श्रान्त, को आसन, प्यासे को जल और भूखे को भोजन देना चाहिये ॥१४७॥ प्रेम से देखे, प्रसन्न मन से सत्कार करे, कुशलादि पूछे, सुन्दर वार्ता करे, उठकर आसन दे, ये सब सनातन धर्म हैं ॥ १४८ ॥ अग्निहोत्र, बैल, ज्ञाति, अतिथि, बान्धव, पुत्र, स्त्री, और भृत्य ये सब मान दानादि से असत्कृत होने पर दुःखी करते हैं, अतः समयानुसार इनका दान मान कर्त्तव्य है ॥ १४९ ॥ चौदहवाँ दानप्रकरण समाप्त ॥

अथ सञ्चयाकिञ्चनते ॥ १५ ॥

सञ्चयोऽन्नस्य वस्त्रस्य द्रव्यस्य धर्मतः सदा । सद्गृहस्थेन कर्तव्यो वानप्रस्थेन च क्वचित् ॥१॥
तस्य सदुपयोगेन सत्पात्रादौ च यागतः । लभते परमां सिद्धिमन्यथा दुःखभाग् भवेत् ॥२॥
विरक्तेनात्मसक्तेन सर्वथा सुखमिच्छता । सञ्चयो नैव कर्तव्यो यावदर्थेन सुख्यसौ ॥३॥
आकिञ्चन्यं मुनीनां च इति वै नहुषोऽब्रवीत् । कृत्वा नृशंसं ह्यधने धिगस्त्वधनतामिह ॥४॥
यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः । यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः॥५॥
धनात्कुलं प्रभवति धनाद्धर्मः प्रवर्द्धते । नाधनस्यास्त्ययं लोको न परः पुरुषोत्तम ! ॥६॥
महाभा० शान्तिप० अ० ८। अर्जुनोक्तिः ॥
असन्तोषः प्रमादश्च मदो रागोऽप्रशान्तता । बलं मोहोऽभिमानश्चाप्युद्वेगश्चैव सर्वथा ॥७॥
एभिः पाप्मभिराविष्टो राज्यं त्वमभिकाङ्क्षसे । निरामिषो विनिर्मुक्तः प्रशान्तः सुसुखी भव ॥८॥
य इमामखिलां भूमिं शिष्यादेको महीपतिः । तस्याप्युदरमेकं वै किमिदं त्वं प्रशंससि ॥९॥
महाभा० शान्तिप० अ० १७। युधिष्ठिरोक्तिः ॥
आकिञ्चन्यं सुखं लोके पथ्यं शिवमनामयम् । अनमित्रपथो ह्येष दुर्लभः सुलभो मतः ॥१०॥
अकिञ्चनस्य शुद्धस्य उपपन्नस्य सर्वतः । अवेक्षमाणस्त्रींल्लोकान्न तुल्यमिह लक्षये ॥११॥

अथ सञ्चयाकिञ्चनता—श्रेष्ठ गृहस्थ को और कहीं वानप्रस्थ को भी धर्मपूर्वक सदा अन्न वस्त्र द्रव्यादि का सञ्चय करना ही चाहिये ॥ १ ॥ उस सञ्चित वस्तु के सत्पात्र और यागादि में सदुपयोग = उचित व्यय से परम सिद्धि पाता है, अन्यथा दुःख का भागी होता है ॥ २ ॥ विरक्त आत्मविचार ध्यानपरायण सर्वथा सुखेच्छु को सञ्चय नहीं करना चाहिये, जिस समय जितने की जरूरत हो उतने ही से वह सुखी रहता है ॥ ३ ॥ नहुष राजा ने मुनियों की अकिञ्चनता का कथन किया है, सो भी अधन = धन रहित, भीमादि में नृशंस = क्रूर कर्म करके यहाँ अधनता को धिक्कार हो ऐसा मान कर कहा है ॥ ४ ॥ और जिसको अर्थ = धन हैं, उसी के मित्र और बन्धु हैं, तथा वही लोक में पुरुष और पण्डित है ॥ ५ ॥ धन से कुल श्रेष्ठ होता है, धर्म बढ़ता है, हे पुरुषोत्तम ! धन रहित को यह लोक तथा परलोक भी नहीं है, वह सर्वत्र दुःखी रहता है ॥ ६ ॥ असन्तोष, प्रमाद, गर्व, राग, अप्रशान्तता, बल = शक्ति, आदि मोह, अभिमान, और सर्वथा उद्वेग, इन पापों से आविष्ट = युक्त, होकर तुम राज्य चाहते हो, निरामिष, पापों से निर्मुक्त = रहित अत्यन्त शान्त होकर सुखी होवो, राज्य की इच्छा से दुःखी हो ॥ ८ ॥ जो एक राजा इस सम्पूर्ण भूमि का शासन करता है, उसके भी तो उदर एक ही है, वह भी उदर भर ही खाता है, तुम यह प्रशंसा स्तुति क्या करते हो ? ॥ ९ ॥ अकिञ्चनता = निर्धनता, लोक में सुख रूप पथ्य = मोक्ष मार्गवाला शुभ अनामय = निर्विघ्न अनमित्र पथ = शत्रु रहित मार्गरूप, कामियों के लिये दुर्लभ और यह सुलभ है ॥ १० ॥ तीनों लोक को देखता हुआ मैं अकिञ्चन शुद्ध सर्वतः सम्पन्न = सब से विरक्त के तुल्य यहाँ नहीं देखता हूँ ॥ ११ ॥

आकिञ्चन्ये च राज्ये च विशेषः सुमहानयम् । नित्योद्विग्नो हि धनवान् मृत्योरास्यगतो यथा ॥१२॥
तं वै सदा कामचारमनुपस्तीर्यशायिनम् । बाहूपधानं शाम्यन्तं प्रशंसन्ति दिवौकसः ॥१३॥
श्रिया ह्यभीक्ष्णं संवासो मोहत्यविचक्षणम् । सा तस्य चित्तं हरति शारदभ्रमिवानिलः ॥१४॥
नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम् । नात्यक्त्वा चाभयः शेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भव १५

महाभा० शान्तिप० अ० १७६। श्रीभीष्मोक्तिः ॥

विषयो बहुलः कस्य चेतःसंक्षोभदो न हि । अपि ब्रह्मविदां चित्तं क्षोभयेत् किं कुटुम्बिनाम् ॥१६॥
द्रव्येण जायते कामः क्रोधो द्रव्येण जायते । द्रव्येण जायते लोभो मोहो द्रव्येण जायते ॥१७॥
दरिद्रं पुरुषं दृष्ट्वा नार्यः कामातुरा अपि । स्प्रष्टुं नेच्छन्ति कुणपं यद्वत्कृमिविदूषितम् ॥१९॥
दारिद्र्यमञ्जनं प्रोक्तं नराणां धर्मदर्शने । दरिद्रः कासुचित्कामं न कुर्याज्जननीष्विव ॥१९॥
अन्नमेकं विहायाऽन्यं किञ्चिन्नेच्छति कर्हिचित् । विवेकीव दरिद्रोऽपि कोपं न कुरुते क्वचित् ॥
राजादिभयतो नित्यं धर्मराजभयात्तथा ॥ २० ॥
पुरा कृतानां पापानां फलमेतत्समाप्तवान् । दारिद्र्यं नाम किं नाम भूयस्तस्मात्परं भवेत् ॥२१॥
विचार्यैवं दरिद्रोऽयं कुरुते पातकं न हि ॥ २२ ॥
दरिद्रो धर्मविज्ञानगन्धेन रहितो हि यः । न सोपि कुरुते पापं धर्मज्ञः किं पुनः पुमान् ॥२३॥

अकिञ्चता और राज्य में यह अतिमहान् विशेष = भेद है कि-धनवान् सदा इस प्रकार उद्विग्न रहता है कि जैसे मृत्यु के मुख में प्राप्त हो, निर्धन ऐसा उद्विग्न नहीं होता है ॥ १२ ॥ और सदा कामचारी = इच्छानुसारगामी शय्यारहित भूमि में सोने वाला, बाहु रूप तकियावाला, शान्तियुक्त, तिस अकिञ्चन की देव भी स्तुति करते हैं ॥ १३ ॥ लक्ष्मी के साथ सदा संवास, अविवेकी को संमोहित करता है, वह लक्ष्मी उसके चित्त को इस प्रकार हरती है कि जैसे वायु शरद् के मेघ को हरता है ॥ १४ ॥ अतः त्याग के बिना सुख नहीं पाता है, न परब्रह्म को पाता है, न निर्भय होकर सोता है, इससे सबको त्याग कर सुखी होवो ॥ १५ ॥ बहुत विषय किसके चित्त को क्षोभ = उद्वेग देने वाला नहीं है ? ब्रह्म ज्ञानियों के चित्त को भी वह चंचल कर सकता है, कुटुम्ब वालों की तो बात ही क्या कहना है ? ॥ १६ ॥ क्योंकि द्रव्य से काम क्रोध लोभ मोह होते हैं, उससे चित्त चंचल होता है ॥ १७ ॥ और दरिद्र पुरुष को देखकर कामातुर स्त्रियाँ भी कृमियों से विदूषित शव के समान छूना नहीं चाहती हैं ॥ १८ ॥ दरिद्रता धर्म ज्ञान में मनुष्यों के अञ्जन के तुल्य कही गई है, दरिद्र पुरुष जननी = माता के समान अन्य किसी स्त्री में भी काम दृष्टि नहीं करता है ॥१९॥ यह दरिद्र एक अन्न के बिना और कुछ कभी नहीं चाहता है, और विवेकी के समान कहीं क्रोध नहीं करता है, राजा आदि के भय से सदा काम क्रोध को त्यागता है, तथा धर्मराज के भय से त्यागता है ॥ २० ॥ प्रथम के किये हुए पापों का यह दरिद्रता रूप फल मैं पूर्ण पा चुका हूँ, इससे भारी अन्य फल क्या होगा ? ऐसा विचार कर यह दरिद्र पाप नहीं करता है ॥२१-२२॥ जो दरिद्र धर्मज्ञान गन्ध लेश से भी रहित रहता है, सो भी भयादि से पाप नहीं करता है, फिर धर्मज्ञ

लोभश्चास्मिन् समर्थे स्यात्सदृशो जातवेदसा । यावद्यावदवाप्नोति ततो भूयः स इच्छति ॥२४॥
आत्मपु० अ० ५।६१। इत्यादि ॥
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्वेधा कर्मास्ति वैदिकम् । यथाधिकारं विहितं पुरुषार्थोपलब्धये ॥२५॥
तत्र वेदोक्तविधिना स्वोचितस्त्रीपरिग्रहः । वित्तार्जनं च न्यायेन द्रव्ययज्ञाः सकामनाः ॥२६॥
वासो ग्रामे च नगरे पूर्त्तमिष्टं च कर्म यत् । प्रवृत्तं तत्तु सकलमशान्तिकृदुदीरितम् ॥२७॥
स्त्रीद्रव्ययोः परित्यागः कामलोभक्रुधां तथा । वनवासश्च वैराग्यं तपः क्षान्तिः शमो दमः ॥२८॥
ब्रह्मयज्ञा योगयज्ञा ज्ञानयज्ञाश्च सर्वशः । जपयज्ञाश्चेति मुने ! निवृत्तं कर्म कीर्त्तितम् ॥२९॥
त्रैलोक्यां गतयो धर्मं प्रवृत्तमनुतिष्ठताम् । स्वर्गलोकावधि मुने ! मनुष्याणां भवन्ति वै ॥३०॥
निवृत्तधर्मनिष्ठा ये योगिनश्च तपस्विनः । जनादीन् यान्ति लोकांस्त्रींस्ते तु त्रैलोक्यतो बहिः ॥३१॥
तत्तल्लोकैश्वर्यभोगान् भुञ्जते ते निजेप्सितान् । दैनंदिनेऽपि प्रलये वर्त्तन्ते ते यथासुखम् ॥३२॥
ब्रह्मणो द्विपरार्द्धान्ते तद्भोगैश्वर्यसम्पदः । नश्यन्ति कालशक्त्यैव लोकास्तेषां च नारद ! ॥३३॥
अथैतद् द्विविधं कर्म गुणात्मकमपि द्विज ! । कृतं चेद्विष्णुसम्बद्धं निर्गुणं स्यात्तदा तु तत् ॥३४॥
तत्फलं चाक्षयं स्याद्धि स्वेष्टादप्यधिकं नृणाम् । भक्तास्ते भगवद्धाम यान्त्यष्टावृतितः परम् ॥३५॥
स्कन्दपु० वैष्णवखं० वासुदेवमा० अ० ३॥
मर्त्तव्यमस्त्यवश्यं च काय एष पतिष्यति । कस्यार्थे क्रियते गेहमनित्यभवमध्यगैः ॥३६॥

दरिद्र तो कैसे कर सकता है ? ॥ २३ ॥ लोभ इस समर्थ=धनी में ही अग्नि तुल्य होता है, इससे जितना जितना पाता जाता है, उससे अधिक ही फिर चाहता है ॥ २४ ॥ प्रवृत्ति रूप और निवृत्ति रूप दो प्रकार के वैदिक कर्म हैं, सो अर्थादि रूप पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिये अधिकार योग्यता के अनुसार विहित हैं ॥ २५ ॥ उन दोनों में वेद कथित विधि से अपने योग्य स्त्री का परिग्रह = विवाह न्याय से धन का उपार्जन, सकाम द्रव्य साध्य यज्ञ, ग्राम नगर में वसना, इष्ट = वैदिक पूर्त = स्मार्त, कर्म ये सब जो हैं, सो अशान्ति कारक प्रवृत्त कर्म कहे गये हैं ॥ २६-२७ ॥ हे मुने ! स्त्री द्रव्य का त्याग, तथा काम, क्रोध, लोभ का त्याग, वन में वास, वैराग्य, तप, क्षमा, शम, दम, ब्रह्म यज्ञ = अध्ययनादि, योगयज्ञ = प्राणायामादि, ज्ञानयज्ञ = विचारध्यानादि, ये सब और जप, यज्ञ, निवृत्त कर्म कहे गये हैं ॥ २८-२९ ॥ हे मुने ! प्रवृत्त धर्म करने वाले मनुष्यों की स्वर्ग लोकपर्यन्त तीनों लोक में गति होती है ॥ ३० ॥ और निवृत्त धर्म में स्थिर रहने वाले जो योगी, तपस्वी होते हैं वे लोग तीन लोक से बाहर जन, तपः, सत्य, नामक तीन लोकों में जाते हैं ॥ ३१ ॥ और वे लोग अपने २ ईप्सित = इष्ट तत् तत् लोकों के ऐश्वर्य भोगों को भोगते हैं, और ब्रह्मा के दिनान्त में होने वाले प्रलयों में भी सुखपूर्वक रहते हैं ॥ ३२ ॥ हे नारद ! ब्रह्मा के द्विपरार्द्ध नामक काल के अन्त में काल की शक्ति से ही उनके लोक भोग, ऐश्वर्य, सम्पत्ति सब नष्ट हो जाते हैं ॥ ३३ ॥ हे द्विज ! ये ही दोनों प्रकार के गुणस्वरूप भी कर्म यदि विष्णुसम्बद्ध = ईश्वरार्पणपूर्वक निष्काम किया जाय तो निर्गुण हो जाता है ॥ ३४ ॥ और उस निर्गुण कर्म का फल अविनाशी होता है, मनुष्यों के इष्ट फल से भी वह अधिक फल होता है, वे भक्त सब प्रकृति के आठ आवरण से पर भगवान् के धाम में (तेज-प्रभाव-स्वरूप में) प्राप्त होते हैं ॥ ३५ ॥ मरना अवश्य है, यह देह नष्ट होगी, फिर अनित्य संसार में रहने वाले घर किसके लिये बनाते

यस्य मृत्यु र्भवेन्मित्रं पीतं वाऽमृतमुत्तमम् । तस्यैतदुचितं वक्तुमिदं मे श्वो भविष्यति ॥३७॥
स्कन्दपु॰ खं॰ १-२। अ॰ १२।१७- लोमशोक्तिः ॥

अर्थसम्पद्विमोहाय विमोहो नरकाय च । तस्मादर्थमनर्थाख्यं मोक्षार्थी दूरतस्त्यजेत् ॥३८॥
अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे । नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थो दुःखभाजनम् ॥३९॥
स्कन्दपु॰ खं॰ ६। अ॰ १८५ ॥

शरीरं मृत्युसंयुक्तं जीवितं चातिचञ्चलम् । राजादिभि र्धनं वाध्यं सम्पदः क्षणभङ्गुराः ॥४०॥
असारभूते संसारे नानादुःखसमन्विते । विश्वासो नाऽत्र कर्तव्यो निश्चितमृत्युसङ्कुले ॥४१॥
नारदीयपु॰ अ॰ ३४ ॥

नह्यन्यो जुषतो जोष्यान् बुद्धिभ्रंशोरजोगुणः । श्रीमदादभिजात्यादि र्यत्र स्त्रीद्यूतमासवः ॥४२॥
हन्यन्ते पशवो यत्र निर्दयैरजितात्मभिः । मन्यमानैरिमं देहमजरामृत्यु नश्वरम् ॥४३॥
देवसञ्ज्ञितमप्यन्ते कृमिविड्भस्मसञ्ज्ञितम् । भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः ॥४४॥
देहः किमन्नदातुः स्वं निषेक्तु र्मातुरेव वा । मातुः पितु र्वा बलिनः क्रेतुरग्नेः शुनोऽपि वा ॥४५॥
एवं साधारणं देहमव्यक्तप्रभवाप्ययम् । को विद्वानात्मसात्कृत्वा हन्ति जन्तूनृतेऽसतः ॥४६॥
असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं परमाञ्जनम् । आत्मौपम्येन भूतानि दरिद्रः परमीक्षते ॥४७॥
यथा कण्टकविद्धाङ्गो जन्तो र्नेच्छसि तां व्यथाम् । जीवसाम्यं गते लिङ्गे र्न तथाऽविद्धकण्टकः ॥४८॥

हैं ? ॥ ३६ ॥ मृत्यु जिस का मित्र हो, वा जिस ने उत्तम अमृत पी लिवा हो, उसी का यह कहना उचित है कि यह वस्तु मेरे पास कल्ह रहेगी ॥३७॥ धन सम्पत्ति विमोह के लिये होती हैं, और विमोह नरक का हेतु होता है, इससे मोक्षार्थी अनर्थनामक अर्थ को दूर से त्यागे ॥ ३८ ॥ अर्थों के अर्जन में दुःख है, तथा अर्जित की रक्षा में दुःख है, नाश में और व्यय = खर्च में भी दुःख ही है, अतः दुःख का पात्र ही अर्थ है, इससे धिक्कार योग्य है ॥ ३९ ॥ शरीर मृत्यु से संयुक्त है, जीवन अत्यन्त चञ्चल है, राजा आदि से धन बाधित होता है, सम्पत्तियाँ क्षणभंगुर हैं, इससे असार स्वरूप नाना दुःखयुक्त, निश्चितमृत्यु से व्याप्त इस संसार में विश्वास नहीं करने लायक है ॥ ४०-४१ ॥ जोष्य = प्रिय, सेव्य, विषयों को सेवने वाले के श्री = धन मद से अन्य अभिजात्यादि (कुलीनता पाण्डित्यादि) रजोगुण वैसा बुद्धि का नाशक नहीं है, कि जैसा श्रीमद है, जिस श्रीमद में स्त्री जुआ, आसव = मद्य, प्राप्त होते हैं, और जिसमें निर्दय अजितात्मा और इस नश्वर देह को अजरामर मानने वालों से पशु मारे जाते हैं ॥ ४२-४३ ॥ देव नाम वाली भी यह देह अन्त में कृमि विष्ठा भस्म नाम वाली हो जाती हैं, उस देह के लिये प्राणियों से द्रोह करने वाला अपना स्वार्थ भी क्या समझता है ? (अर्थात् नहीं समझता है) जिस भूत द्रोह से नरक होता है ॥ ४४ ॥ यह देह तो अन्न दाता का स्व = निज धन है, या माता वा पिता का है, या माता के पिता का है, या बली रक्षक का है, या क्रेता का, वा अग्नि का, वा कुत्ता का दास, दाह्य, भक्ष्य है ॥ ४५ ॥ इस प्रकार के साधारण (बहुत का अंश रूप) अव्यक्त से उत्पत्ति प्रलय वाली देह को अपना मान कर, असत् पुरुष के बिना कौन विद्वान् प्राणी का हनन कर सकता है ? ॥ ४६ ॥ श्रीमदान्ध असत् पुरुष के लिये दरिद्रता परम अंजनरूप है, जिससे केवल दरिद्र ही अपने समान सब प्राणिलों को देखता है ॥ ४७ ॥ जैसे कांटों से बेधित अंग वाला किसी हेतु से जीव की तुल्यता को जानने पर अन्य प्राणी को भी उस व्यथा = पीडा की

दरिद्रो निरहंस्तम्भो मुक्तः सर्वमदैरिह । कृच्छ्रं यदृच्छयाऽऽप्नोति तद्धि तस्य परं तपः ॥४९॥
नित्यं क्षुत्क्षामदेहस्य दरिद्रस्यान्नकाङ्क्षिणः । इन्द्रियाण्यनुशुष्यन्ति हिंसापि विनिवर्त्तते ॥५०॥
दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवः समदर्शिनः । सद्भिः क्षिणोति तं तर्षं तत आराद्धि शुद्ध्यति ॥५१॥
भागव० स्क० १०।१०। नारदोक्तिः ॥
सुखमैन्द्रियकं राजन् ! स्वर्गे नरक एव च । देहिनां यद्यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद् बुधः ॥५२॥
दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः । प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतङ्गवत् ॥५३॥
योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादिद्रव्येषु मायारचितेषु मूढः ।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः ॥ ५४ ॥
सायन्तनं श्वस्तनं वा न सङ्गृह्णीत भिक्षुकः । मक्षिका इव सङ्गृह्णन् सह तेन विनश्यति ॥५५॥
पदापि युवतीं भिक्षु र्न स्पृशेद्दारवीमपि । स्पृशन् करीव बद्ध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः ॥५६॥
भागवतस्क० ११।८ ॥ दत्तात्रेयोक्तिः ॥
परिग्रहो हि दुःखाय यद्यत्प्रियतमं नृणाम् । अनन्तं सुखमाप्नोति तद्विद्वान् यस्त्वकिञ्चनः ॥५७॥
एकचार्यनिकेतः स्यादप्रमत्तो गुहाशयः । अलक्ष्यमाण आचारै र्मुनिरेकोऽल्पभाषणः ॥५८॥
गृहाऽऽरम्भो हि दुःखाय विफलश्चाध्रुवात्मनः । सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥५९॥
यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया । स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद्वापि याति तत्तत्स्वरूपताम् ॥६०॥

इच्छा नहीं करता है ॥ ४८ ॥ अहङ्कार अनम्रता से रहित सब मद से मुक्त दरिद्र इस संसार में यदृच्छा= दैवयोग से कृच्छ्र=कष्ट पाता है, सो उस का परम तप है ॥ ४९ ॥ सदा भूख से कृश देहवाले अन्न के इच्छुक दरिद्र की इन्द्रियाँ शुष्क हो जाती हैं, और हिंसा भी निवृत्त हो जाती है ॥ ५० ॥ हिंसादि रहित दरिद्र को ही समदर्शी साधु मिलते हैं, फिर वह सत्पुरुषों द्वारा उस तृष्णा को नष्ट करता है, उस के बाद शीघ्र ही शुद्ध होता है ॥ ५१ ॥ हे राजन् ! दुःख के समान जो ऐन्द्रियक = इन्द्रिय जन्य सुख देही को स्वर्ग और नरक में भी होते हैं, अतः दुःख के समान उस सुख की इच्छा पण्डित नहीं करे ॥ ५२ ॥ देव की माया रूप स्त्री को देख कर, और उस के भावों = चेष्टादि से प्रलोभित होकर अजितेन्द्रिय पुरुष अन्धतम =मोह नरकादि में अग्नि में पतंग तुल्य गिरता है ॥ ५३ ॥ माया रचित स्त्री सुवर्ण भूषण वस्त्रादि रूप द्रव्य में उपभोग बुद्धि से प्रलोभित मन वाला मूढ़ विवेक दृष्टि से रहित होकर पतंग के समान नष्ट होता है ॥ ५४ ॥ भिक्षुक=संन्यासी सायंकाल और दूसरे दिन सवेरे के लिये भिक्षादि का संग्रह नहीं करे, संग्रह करने पर मधुमक्खी के समान संचित वस्तु सहित नष्ट होता है ॥ ५५ ॥ संन्यासी पैर से भी युवती का स्पर्श नहीं करे, चाहे वह लकड़ी की ही क्यों न हो, उसका स्पर्श करता हुआ वह हस्तिनी के अंग के संग से हाथी के समान बँध जाता है ॥ ५६ ॥ जो २ अतिप्रिय वस्तु हैं, उनका संग्रह मनुष्यों के दुःख के लिये हैं, और जो अकिञ्चन = संग्रह रहित, उस परिग्रह के दुःख का तथा आत्मतत्त्व का ज्ञाता है, सो अनन्त सुख पाता है ॥ ५७ ॥ मुनि एकाकी विचरने वाला, नियत निकेत = गृह रहित, प्रमाद रहित, गुफा निवासी गुहाशायी, आचारों से अलक्ष्यमाण = अज्ञेय, एकाकी, अल्पभाषी हो ॥ ५८ ॥ अध्रुवात्मा=नश्वर देहवाले के गृह का आरम्भ भी दुःख के लिये है, और निष्फल है, सर्प अन्यकृत घर में भी प्रविष्ट हो कर सुख से बढता है ॥ ५९ ॥ देही सकल=एकाग्र मन को बुद्धि से

कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः । याति तत्सात्मतां राजन्! पूर्वरूपमसंत्यजन् ॥६१॥

भागवतस्क० ११।६ ॥

त्यजतः सञ्चयान् सर्वान् यान्ति नाशमुपद्रवाः । न हि सञ्चयवान् कश्चिद् दृश्यते निरुपद्रवः ॥६२॥

अकिञ्चनत्वं राज्यं च तुलया समतोलयत् । अकिञ्चनत्वमधिकं राज्यादपि हितात्मनः ॥६३॥

पद्मपु० खं १।१६। श्रीवसिष्ठोक्तिः ।

अनर्थो ब्राह्मणस्यैष यस्त्वर्थनिचयो महान् । अर्थसम्पद्विमोहाय विमोहो नरकाय च ॥

तस्मादर्थमनर्थाख्यं श्रेयोर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥ ६४ ॥

यस्य धर्मार्थमर्थेहा तस्यानीहा गरीयसी । प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥६५॥

योऽर्थेन साध्यते धर्मः क्षयिष्णुः स प्रकीर्त्तितः । यः परार्थे परित्यागः सोऽक्षयो मुक्तिलक्षणः ॥६६॥

पद्मपु० खं० १।१९। श्रीकश्यपोक्तिः ॥

असुखे सुखमारोप्य विषयेऽज्ञानतो नरः । करोति सकलं कर्म तत्फलं चावशोऽश्नुते ॥६७॥

अहो मायाऽऽवृतो लोकः स्वात्मानन्दमहोदधिम् । विहाय विवशः क्षुद्रे रमते किं वदामि तम् ॥६८॥

तस्मान्मायामयं भोगमसारमखिलं नरः । विहाय विमलं नित्यमात्मानन्दं समाश्रयेत् ॥६९॥

सूतसंहि० ज्ञानयोगखं० अ० ८।४४। इत्यादि ॥

अज्ञाने सति रागद्या धर्माधर्मौ च तद्वशात् । धर्माधर्मवशात्पुंसां शरीरमुपजायते ॥

जहाँ २ स्थिर करता है, स्नेह, वा द्वेष, वा भय से मन को जहाँ २ धरता है, तत्तत् रूपता को प्राप्त होता है, अतः गृहादि में मन को नहीं लगा कर हरि आत्मा में लगाना चाहिये ॥ ६० ॥ पेशस्कृत = भृङ्ग से कुड़ी = कुटी में प्रवेशित कीट भय से उस भृङ्ग का ध्यान करता हुआ, पूर्वरूप = देह को नहीं त्यागता हुआ भी उस भृङ्ग रूपता को प्राप्त होता है. देह त्याग कर ध्यानी को हरि रूपता आदि में कहना क्या है ? ॥ ६१ ॥ सब सञ्चयों को त्यागने वाले के सब उपद्रव नष्ट हो जाते हैं, और संचय वाला कोई भी निरुपद्रव नहीं दीखता है ॥ ६२ ॥ अकिञ्चनता और राज्य को तुला = तराजु से सम्यग् तौला तो हितात्मा का राज्य से अधिक अकिञ्चनत्व हुआ ॥ ६३ ॥ अर्थ का जो महान् सञ्चय है, सो ब्राह्मण के लिये अनर्थ रूप है, क्यों कि अर्थ की सम्पत्ति = वृद्धि विमोह के लिये होती है, और विमोह नरक का हेतु है ॥ ६४ ॥ जिस को धर्म के लिये भी धन की इच्छा हो, उसको भी अनिच्छा ही श्रेष्ठ है, पंक लगा कर धोने से भला है कि दूर स्थिति से पंक का स्पर्श ही नहीं किया जाय ॥ ६५ ॥ धन से जो धर्म सिद्ध होता है, सो विनश्वर कहा गया है, जो परार्थ में परित्याग है, सो मुक्ति स्वरूप अक्षय है ॥ ६६ ॥ असुख स्वरूप संसार विषय में अज्ञान से सुख का आरोप = भ्रम कल्पना करके मनुष्य कर्म करता है, फिर विवश होकर उसका फल भोगता है ॥ ६७ ॥ आश्चर्य है कि माया से आवृत विवश लोक आत्माऽऽनन्दरूप महान् समुद्र को त्याग कर क्षुद्र = तुच्छ विषयादि में रमता है, उसको क्या कहा जाय ? ॥ ६८ ॥ अतः उचित है कि मनुष्य मायामय असार सब भोगों को त्यागकर निर्मल नित्य आत्मानन्द का आश्रयण करे ॥ ६९ ॥ अज्ञान रहने से राग द्वेषादि होते हैं, उससे धर्माधर्म = पुण्य पाप होते हैं, उससे पुरुषों के

ज्ञानेनैव निवृत्तिः स्यादज्ञानस्य न कर्मणा ॥ ७० ॥ सूतसं० ज्ञा० अ० १०।३२ ॥

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गमीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च ।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ॥७१॥

गर्भे व्याधौ श्मशाने च पुराणे या मति र्भवेत् । सा यदि स्थिरतां याति को न मुच्येत बन्धनात्७२ ग० पु०॥

नश्यति विपुलमतेरपि बुद्धिः पुरुषस्य मन्दविभवस्य । घृतलवणतैलतण्डुलवस्त्रेन्धनचिन्तया सततम्७३पं.तं.।

अन्नदोषेण चित्तस्य कालुष्यं सर्वदा भवेत् । कलुषाकृष्टचित्तानां धर्मः सम्यग् न भासते ॥७४॥

दुष्कृतं सकलं नृणामन्नाधारे व्यवस्थितम् । तस्य प्रतिग्रहं कुर्यान्नापरीक्ष्य कथञ्चन ॥७५॥

अकर्तव्यं न कर्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि । कर्तव्यमेव कर्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि॥७६॥परा०स्मृ०॥

धनप्रशंसा

पूज्यते यदपूज्योऽपि यदगम्योऽपि गम्यते । वन्द्यते यदवन्द्योऽपि स प्रभावो धनस्य च ॥७७॥

अशनादिन्द्रियाणीव स्युः कार्याण्यखिलान्यपि । एतस्मात्कारणाद्वित्तं सर्वसाधनमुच्यते ॥७८॥
स्कन्दपु० नागरखं ६।१५५।४६-४७ ॥

संसृतौ व्यवहाराय सारभूतं धनं स्मृतम् । अतो यतेत तत्प्राप्त्यै नरो ह्युपायसाहसैः ॥७९॥

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् । अतोऽर्थाय यतेतैव सर्वदा यत्नमास्थितः ॥८०॥
शुक्रनी० अ० ३।१७६। अ० ४।१२८३ ॥

अर्थेभ्यो हि विवृद्धेभ्यः सम्भृतेभ्यस्ततस्ततः । क्रियाः सर्वाः प्रवर्त्तन्ते पर्वतेभ्य इवापगाः ॥८१॥

शरीर उत्पन्न होते हैं, तहाँ ज्ञान से ही अज्ञान की निवृत्ति होगी. कर्म से नहीं ॥ ७० ॥ अज्ञान प्रमादादि से पँच विषयों में एक २ विषय से=शब्दादि में आसक्ति से मृग, हाथी, पतंग, भृङ्ग और मीन= मत्स्य, ये पाँच मारे जाते हैं, तो वह प्रमादी कैसे नहीं मारा जायगा ? कि जो पँच इन्द्रियों से पाँचों विषयों को सेवता है ॥ ७१ ॥ गर्भ, रोग, श्मशान और पुराण श्रवण काल में जो बुद्धि होती है, वह बुद्धि यदि स्थिरता को प्राप्त हो, तो संग संग्रहादि रूप बन्धन से कौन न मुक्त होगा ? ॥ ७२ ॥ अल्प विभव वाले, विपुल = विशालमति वाले पुरुष की भी बुद्धि सदा घृत लवणादि की चिन्ता से नष्ट होती है ॥ ७३ ॥ अन्न के दोष से सदा चित्त की मलिनता होती है, और कलुष=पाप आकृष्ट = वशीकृत चित्त वालों को धर्म सम्यग् नहीं भासता है ॥ ७४ ॥ मनुष्यों के सब दुष्कृत, पाप से = अन्याय से, उपार्जित अन्न रूप आधार में व्यवस्थित रहता है, इससे परीक्षा विचार किये बिना उस अन्न का किसी प्रकार प्रतिग्रह = स्वीकार संग्रह नहीं करे ॥ ७५ ॥ कण्ठगत प्राणों से अकर्तव्य=पाप नहीं करना चाहिये ॥ ७६ ॥

धन प्रशंसा—धन का यह प्रभाव है कि धन से अपूज्य भी पूज्य, अगम्य = अप्राप्य गम्य, अवन्द्य भी वन्दनीय होता है ॥७७॥ भोजन से इन्द्रिय पुष्टि के समान धन से सब कार्य होते हैं, इस कारण से वित्त सब साधन रूप कहा गया है ॥७८॥ संसार में व्यवहार के लिये सारस्वरूप धन ही कहा गया है, इससे उस की प्राप्ति के लिये उपाय और साहस = धृष्टता से मनुष्य यत्न करे ॥ ७९ ॥ अर्थ के अधीन पुरुष है, पुरुष के अधीन अर्थ नहीं है, इससे यत्न में स्थिर होकर अर्थ के लिये सदा ही यत्न करे ॥ ८० ॥ तत्तत् स्थानादि

अर्थाद्धर्मश्च कामश्च स्वर्गश्चैव नराधिप ! । प्राणयात्रापि लोकस्य विना ह्यर्थं न सिद्ध्यति ॥८२॥

अर्थेन च विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः । विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥८३॥

यः कृशार्थः कृशगवः कृशभृत्यः कृशातिथिः । स वै राजन् ! कृशो नाम न शरीरकृशः कृशः ॥८४॥

अध्येतव्या त्रयी नित्यं भवितव्य विपश्चिता । सर्वथा धनमाहार्यं यष्टव्यश्चापि यत्नतः ॥८५॥

महाभा० शां० प० अ० ८।१६। इत्यादि ॥

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्य चित् । इति सत्यं महाराज ! बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥८६॥

महाभा० भीष्मप० अ० ४३।४३ ॥

धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम् । जीवन्ति धनिनो लोके मृता ये त्वधना नराः ॥८७॥

महाभा० उद्योगप० अ० ७२।२३ ॥

धनवान् बलवांल्लोके सर्वः सर्वत्र सर्वदा । प्रभुत्वं धनमूलं हि राज्ञामप्युपजायते ॥८८॥

ब्रह्मघ्नोऽपि नरः पूज्यो यस्यास्ति विपुलं धनम् । शशिना तुल्यवंशोऽपि निर्धनः परिभूयते ॥८९॥

हितोपदे० मित्रला० १२२। सुहृद्भे० ३ ॥

दरिद्रं दुःखसम्पन्नं पापिनं प्रवदन्त्यतः । श्रीमन्तं सुखसम्पन्नं पुण्यात्मानं च लौकिकाः ॥९०॥

निर्धनं सर्व एवैते श्वसन्तं पुरुतः स्थितम् । अवजानन्ति मित्राद्या मानवा धनगर्विताः ॥९१॥

कुलं शीलं तथा विद्या गुणा नाना विधा अपि । निर्धनस्य न कार्याय क्षमन्ते शववत् स्थिताः ॥९२॥

आत्मपु० अ० १०।६००-८-६ ॥

से प्राप्त वृद्धियुक्त अर्थों से पर्वतों से नदी की नाईं सब क्रिया प्रवृत्त सिद्ध होती हैं ॥ ८१ ॥ हे नराधिप ! अर्थ से धर्म काम और स्वर्ग होते हैं, और अर्थ के बिना प्राणयात्रा=(जीवनोपाय) भी लोक की नहीं सिद्ध होती है ॥ ८२ ॥ अर्थ से रहित अल्पबुद्धि मनुष्य की ग्रीष्म में तुच्छ नदियों के समान सब क्रिया विच्छिन्न हो जाती है ॥ ८३ ॥ जो कोई कृश=अल्प धन, गऊ, भृत्य, अतिथि वाला है, हे राजन् ! वही कृश है, कृश शरीर वाला कृश नहीं है ॥ ८४ ॥ तीन वेद अवश्य पढ़ना चाहिये, विद्वान् होना चाहिये, धन को सर्वथा प्राप्त करना चाहिये और अति यत्न से यज्ञ करना चाहिये ॥ ८५ ॥ हे महाराज ! अर्थ का पुरुष दास है, और अर्थ किसी का दास नहीं है, यह बात सत्य ही है, क्योंकि मैं=भीष्म भी अर्थ द्वारा कौरव=दुर्योधनादि से बद्ध हूँ ॥ ८६ ॥ धन को उत्तम धर्म कहते हैं धन में सब जगत् स्थिर है, लोक में धनी सब जीते हैं, जो धन रहित हैं सो मृतक हैं ॥ ८७ ॥ लोक में सब धनी सर्वत्र सदा बली होते हैं राजाओं की प्रभुता भी धनमूलक ही होती है ॥ ८८ ॥ जिस को बहुत धन है सो ब्रह्मघाती होता हुआ भी पूज्य है, और चन्द्र के समान उज्वल वंश वाला भी निर्धन अनादृत होता है ॥ ८९ ॥ इसीसे दुःख युक्त दरिद्र को लौकिक जन पापी कहते हैं, और सुखयुक्त धनी को पुण्यात्मा कहते हैं ॥ ९० ॥ धन के गर्व वाले मित्रादि ये सब मनुष्य, श्वास लेते हुए आगे स्थिर निर्धन का अनादर करते हैं ॥ ९१ ॥ निर्धन के कुल शील विद्या नाना प्रकार के गुण भी शव = मुरदा के समान स्थिर रहते भी कार्य के लिये समर्थ नहीं होते हैं ॥ ९२ ॥

वाणी दरिद्रस्य शुभा हिताऽपि ह्यर्थेन शब्देन च सम्प्रयुक्ता।
न शोभते वित्तवतः समीपे भेरीनिनादोपहतेव वीणा ॥९३॥
हेतुप्रमाणयुक्तं वाक्यं न श्रूयते दरिद्रस्य। अप्यतिपरुषमसत्यं पूज्यं वाक्यं समृद्धस्य ॥९४॥ सु०र०॥

इति पञ्चदशं सञ्चयाकिञ्चनतानामकं प्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ सञ्चितान्नादाने दोषः ॥ १६ ॥

अन्नसञ्चयशीलो हि भुङ्क्तेऽदत्त्वैव यो नरः। स मृत्यो र्वशतामेति दत्त्वा मृत्यो र्विमुच्यते॥१॥ यतः-
न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुपगच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोपदस्यत्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते ॥ २ ॥
य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवानूत्सन् रफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोऽतोऽचित्स मर्डितारं न विन्दते ॥ ३ ॥
स इद् भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामाहूता उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥४॥ ऋ०वे०म० १० अनुवा० १०। सू० ११७।१-३॥
न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥ ५ ॥

अर्थ और शब्द से सम्यग् प्रयुक्त शुभ हित भी दरिद्र की वाणी धनी के समीप में नगाड़े के शब्द से उपहत वीणा के समान नहीं शोभती है ॥ ९३ ॥ हेतु और प्रमाण सहित भी दरिद्र का वाक्य नहीं सुना जाता है, और धनी का अति क्रूर असत्य वाक्य भी पूज्य श्राव्य होता है ॥ ९४ ॥ पन्द्रहवाँ सञ्चयाकिञ्चनतानामकप्रकरण समाप्त ॥

अथ सञ्चितान्नादान दोष—अन्न संचय के स्वभाव वाला जो मनुष्य अतिथि आदि को दिये बिना ही भोजन करता है, सा मृत्यु की वशता को प्राप्त होता है, और अन्न दे कर कुमृत्यु से मुक्त होता है ॥ १ ॥ देवों ने मनुष्यों को क्षुधा नहीं दी है, किन्तु 'बधमित्' क्षुधारूप बधमेव = बध ही दिया है, ऐसी क्षुधा को अन्नदान से जो निवृत्त करता है, सो दाता है, और जो दिये बिना खाता है, उस 'आशितं'=अन्न आदि खाते भोगते हुए को भी मृत्यु प्राप्त होती ही है। और पृणत् = देने वाले का रयि = विभव धन नष्ट नहीं होता है, और 'अपृणन्' = नहीं देता हुआ मनुष्य कहीं भी 'मर्डिता' = सुखदाता को नहीं पाता है ॥ २ ॥ जो अन्नवाला होता हुआ भी 'पितु' = अन्न को 'चकमान' = चाहने वाले 'आध्र'=दुर्बल, 'रफित'=दरिद्रता से पीड़ित, 'उपजग्मुष' = गृहागत के प्रति दान नहीं देने में मन को स्थिर करता है, और उसके आगे में ही आप भोगों को भोगता है, सो कहीं सुख दाता को नहीं पाता है ॥ ३ ॥ वही 'भोज' = दाता पालक है, जो 'गृहवे' = प्रतिग्रहीता अन्नेच्छुक कृश 'चरते' = गृहागत को अन्न देता है, और 'यामाहूतौ' = जिस यज्ञ में दान देता है, सो यज्ञ पूर्ण होता है, और उस यज्ञ से 'अरं' = अलं पूर्ण इस पुरुष के लिये फल होता है। और 'अपरीषु'=शत्रु की सेनाओं में, वह दाता सब को अपना 'सखा' = मित्र कर लेता है ॥ ४ ॥ 'सचाभुवे' = सदा सहवासी 'सचमान' = सेवमान मित्र को भी जो अन्न नहीं देता है, सो मित्र नहीं होता है, इस

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि बध इत् स तस्य ।
नार्यमनं पुष्यति नी सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥ ६ ॥ ऋग्वे० मं० १०।१०।११७।४-६ ॥
अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् । यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥७॥
मनु० अ० ३।११८ ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्मसनातनम् । नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ! ॥८॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः । भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥९॥
भगवद्गीता० अ० ४।३१। अ० ३।१३ ॥
ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा । नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥१०॥ मनु० अ० ४।२१॥
अन्नहीनो दहेद्राष्टं मन्त्रहीनस्तु ऋत्विजः । दातारं दक्षिणाहीनो नास्ति यज्ञसमो रिपुः ॥११॥
स्कन्दपु० खं० ५-३ अ० ३३।२७ ॥
देवताऽतिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः । न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥१२॥
इति षोडशं सञ्चितान्नादानदोषप्रकरणं समाप्तम् ॥ मनु० अ० ३।७२ ॥

अदाता से वह मित्र वियुक्त होता है अन्यत्र जाता है, तो अब वह इसका 'ओक'=आश्रय नहीं है, इससे वह अन्य दाता रूप 'अरण'=स्वामी की ही इच्छा करेगा ॥ ५ ॥ अप्रचेता=प्रकृष्ट ज्ञान रहित अविवेकी 'मोघ'=व्यर्थ ही अन्न को प्राप्त करता है, यह सत्य ही कहता हूँ कि वह अन्न का लाभ उसका बध ही है, क्यों कि वह 'अर्यमा'=सूर्य पितृ आदि देवों को नहीं पोषता है न मित्र को ही पोषता है, इससे केवल अपने खाने वाला केवल अघरूप ही होता है ॥ ६ ॥ जो केवल अपने ही लिये भोजन पकाता है, सो केवल अघ ही खाता है, यज्ञ से बचा हुआ भोजन सत्पुरुषों का विहित अन्न है ॥ ७ ॥ द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ के यथाशक्ति अनुष्ठान से अवशिष्ट जो समय उसमें यज्ञों के अवशिष्ट अन्नफलादि रूप अमृत को भोगनेवाले अन्तःकरण की शुद्धि आदि द्वारा ज्ञान पाकर सनातन = नित्य ब्रह्म को प्राप्त होते हैं=मुक्त होते हैं और हे कुरुसत्तम ! उन यज्ञों में से जिस को एक भी यज्ञ नहीं है, उस अयज्ञ पुरुष को यह सर्वसाधारण लोक भी सुखावह नहीं है, अन्य उत्तम लोक तो कैसे हो सकता है ? ॥ ८ ॥ ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ, के अनुष्ठान से अवशिष्ट अमृततुल्य अन्न के खाने के स्वभाव वाले गृहस्थ पञ्च सूना = बध स्थानों के पापों से तथा अन्य सब पापों से मुक्त होते हैं। और जो कोई केवल अपने ही लिये रसोई पकाते हैं, सो पापयुक्त होकर पाप के फल को ही भोगते हैं ॥ ९ ॥ इसलिये ऋषियज्ञ=अध्ययनाध्यापनादि, देवयज्ञ = अग्निहोत्रादि, भूतयज्ञ=प्राणियों को अन्नदानादि, नृयज्ञ=अतिथि सत्कारादि, पितृयज्ञ = माता पिता आदि को तृप्त करना आदि रूप यज्ञों को यथाशक्ति कभी नहीं त्यागे ॥ १० ॥ परन्तु द्रव्य साध्य सकाम यज्ञ यदि उचित अन्न से हीन होता है, तो राष्ट्र=देश को जलाता है, उचित मन्त्र से हीन होता है तो ऋत्विक् को नष्ट करता है, दक्षिणा से हीन होने पर यज्ञ में दाता को जलाता है, इससे विधि अंगादि से हीन सकाम यज्ञ के समान कोई शत्रु नहीं है, इस से सावधानी से अनुष्ठेय है ॥ ११ ॥ विघ्न के भयादि से जो यज्ञ ही नहीं करता है, इससे देव प्राणी दास माता पिता वृद्ध अनाथादि को अन्न नहीं देता है, न अपनी आत्मा को उचित भोग देता है, सो ऊर्ध्वश्वास लेता हुआ भी जीवित नहीं है, इससे सफल जीवन के लिये अन्न रहने पर देवादि को भी अवश्य अन्न देना गृहस्थ का धर्म है। विघ्न का भय हो तो निष्काम कर्म कर्तव्य है इत्यादि ॥ १२ ॥ सोलहवाँ सञ्चितान्नादानदोषप्रकरण समाप्त ॥

अथ यज्ञः ॥ १७ ॥

यजनं नाम यद्यज्ञः सोऽपि मोक्षाय कल्पते । चित्तशुद्ध्या ह्यकामस्य हिंसागर्वादिवर्जितः ॥१॥
स्यात्स्वर्गाय सकामस्य कामार्थप्रतिलब्धये । विधिहीनस्त्वनर्थाय दम्भादिसहितस्य च ॥२॥
अनुष्ठेयो विवेकेन ज्ञात्वैव विदुषा सदा । वेदादिषु हि दृष्टोऽसौ बहुशाखासमन्वितः ॥३॥
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ ४ ॥ ऋग्वे० अष्ट० २ वर्ग २२ म० ५० ॥
त्रिसप्त यद् गुह्यानि त्वे इत्पदा विदन्निहिता यज्ञियासः ।
तेभी रक्षन्ते अमृतं सजोषाः पशूंश्च स्थातॄंश्चरथं च पाहि ॥ ५ ॥
अथर्ववे० कां० ७।१।५॥ ऋ० वे० मण्ड० १।७।६।१६॥ ऋग्वे० १।१२।८।६।१।५।१८ ॥
नाकस्य पृष्ठे अधितिष्ठन्ति श्रितो यः पृणाति सह देवेषु गच्छति ।
तस्मा आपो घृतमर्षन्ति सिन्धवस्तस्मा इयं दक्षिणा पिन्वते सदा ॥ ६ ॥
दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः ।
दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते दक्षिणावन्तः प्रतिरन्त आयुः ॥ ७ ॥
मा पृणन्तो दुरितमेन आरन् मा जारिषुः सूरयः सुव्रतासः ।
अन्यस्तेषां परिधिरस्तु कश्चिदपृणन्तमभिसंयन्तु शोकाः ॥ ८ ॥
ऋग्वे० मण्ड० १।१८।५।५-६-७ । अनुवा० २।, वर्ग १० ॥

अथ यज्ञ—यजन = देवपूजा दानादि रूप जो प्रसिद्ध यज्ञ है, सो भी अकामी के चित्त की शुद्धि के द्वारा मोक्ष के लिये समर्थ है, कि जो यज्ञ हिंसा गर्वादि से रहित होता है ॥ १ ॥ सकाम का यज्ञ स्वर्ग के लिये और काम अर्थ की प्राप्ति के लिये होता है, और विधि से रहित तथा दम्भादि सहित का यज्ञ अनर्थ के लिये होता है ॥ २ ॥ वेदादि में देखा सुना गया बहुत शाखा विस्तारयुक्त वह यज्ञ विवेक ज्ञान से समझ कर के विद्वान् से सदा कर्तव्य है ॥ ३ ॥ भावी देव यजमान और वर्तमान देव इन्द्रादि देव सबों ने अग्निनिर्मन्थनादि रूप ज्ञानादि रूप यज्ञ से आहवनीय अग्नि रूप विष्णु रूप यज्ञ की पूजा की वे ही धर्म प्रथम्=प्रधान हुए (वे कर्म मुख्य हुए) वे यज्ञ करने वाले देव महत्त्वयुक्त हो कर नाक = स्वर्ग में गये, कि जहाँ साध्य देव रहते हैं, जो कि प्राचीन हैं ॥ ४ ॥ त्रिसप्त=इक्कीस जो गुह्य=रहस्य रूप 'पद'=यज्ञ हैं, सो हे 'अग्ने' 'त्वे इत्'=तुम में ही निहित=स्थापित-स्थिर हैं, 'यज्ञियास'=यज्ञार्ह यजमानों ने उन यज्ञों को 'अविदन्'=प्राप्त किया है और 'तेभि'=उन यज्ञों द्वारा अमृतरूप तुम को वे 'रक्षन्ते'=पालते हैं इससे 'सजोषा'=उन के साथ प्रसन्न हो कर उन के पशु स्थावर और अन्य 'चरथ'=जंगम की रक्षा करो ॥ ५ ॥ जो यज्ञादि से देवादि को 'पृणाति' तृप्त प्रसन्न करता है, सो नाक=स्वर्ग के पृष्ठ पर श्रित=प्राप्त हो कर अधिक काल तक रहता है, वह देवों में प्राप्त होता है, उसके लिये 'सिन्धु'=गमनशील 'आप'=जल 'घृत'=तेजयुक्त सार रसयुक्त होते हैं, और 'इयं' यह=भूमि, दक्षिणा=फलदान में दत्त हो कर सदा पालती है ॥ ६ ॥ दक्षिणा देने वालों को ये भूमि के विचित्र पदार्थ मिलते और बढ़ते हैं, तथा स्वर्ग सूर्यसम्बन्धी लोकादि मिलते हैं, वे लोग अमृत लोक मोक्ष को पाते हैं, उन की आयु बढ़ती है ॥७॥ देवादि को तृप्त करने

सुखाऽभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च । प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥९॥
इह वाऽमुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते । निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥१०॥
प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम् । निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥११॥
मनुस्मृ० अ० १२।८८-९० ॥

स्वाध्यायेन व्रतै होंमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः । महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥१२॥
मनुस्मृ० अ० २।२८ ॥

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः । कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥१३॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः । पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥१४॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् । होमो दैवो बलि र्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥१५॥
पञ्चैतान् यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः । स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषै र्न लिप्यते ॥१६॥
मनुस्मृ० अ० ३।६८-७१ ॥

कर्मयज्ञस्तपोयज्ञः स्वाध्यायो ध्याननिर्मितः । ज्ञानयज्ञश्च पञ्चैते महायज्ञाः प्रकीर्त्तिताः ॥१७॥
भविष्यपु० अ० १८७।२ ॥

पित्रोरर्चाऽथ पत्युश्च साम्यं सर्वजनेषु च । मित्राऽद्रोहो विष्णुभक्तिरेते पञ्चमहामखाः ॥१८॥
पद्मपु० खं० १।५०।७ ॥ श्रीव्यासोक्तिः ॥

वालों को 'दुरित' = दुःख 'एन' = पाप 'मा' आरन् = नहीं प्राप्त होता है और 'सूरि' = देवस्तोता विद्वान् तथा सुन्दर व्रतवाले जरा से जीर्ण नहीं होते हैं, किन्तु उन से अन्य कोई पापादि की 'परिधि' = सर्वथा धारक होता है, और देवादि के अतृप्त कर्ता को सर्वथा शोक प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥ संसार के सुख की वृद्धि के कारण रूप प्रवृत्त नामक कर्म, और निःश्रेयस = मोक्ष के हेतु रूप निवृत्त नामक कर्म ये दो प्रकार के वैदिक = वेदविहित कर्म हैं, यहाँ या परलोक में काम्यवस्तु के साधन रूप कर्म प्रवृत्त कहलाता है, ज्ञानार्थक अभ्यास पूर्वक निष्काम कर्म निवृत्त कहा जाता है ॥ ९-१० ॥ प्रवृत्त कर्म को सम्यग् सेव कर देवताओं की तुल्यता आदि को प्राप्त करता है, और निवृत्त कर्म को सेवता हुआ पंचभूतों का अतिक्रमण करता है, आत्मज्ञान से देहाभिमानादि को त्याग कर जीवन्मुक्त विदेह मुक्त होता है ॥ ११ ॥ वेदाध्ययन ब्रह्मचर्य सम्बन्धी व्रत = नियमपालन अग्निहोत्र, तीन वेद सम्बन्धी व्रत त्रैविद्यनामक व्रत, यज्ञ, और गृहस्थी में पुत्रोत्पादन, महायज्ञ और यज्ञों के द्वारा यह तनु ब्रह्म की प्राप्ति के योग्य की जाती है ॥ १२ ॥ गृहस्थ के लिए चुल्ही, चक्की, झाड़ू, ऊखल, जलकुम्भ ये पांच सूना = पशुबध स्थान के तुल्य हैं, कि जिनको 'वाहयन' (व्यवहार में लाता हुआ) गृहस्थ पाप से बँध जाता है ॥ १३ ॥ क्रम से उन सब के दोष पापों की निवृत्ति के लिये महर्षियों ने गृहस्थों को पञ्च महायज्ञ प्रतिदिन कर्तव्य निश्चय किये हैं ॥ १४ ॥ पढ़ाना, ब्रह्मयज्ञ ऋषियज्ञ कहलाता है, तर्पण पितृयज्ञ है, हवन दैवयज्ञ है, अन्नादि प्राणी को बलि = उपहार देना भूतयज्ञ है, अतिथि की पूजा नृयज्ञ है। इसी से पशुयज्ञ का अर्थ पशुपूजा है हिंसा नहीं ॥ १५ ॥ इन पांच महायज्ञों को जो अपनी शक्ति के अनुसार नहीं त्यागता है, सो गृह में सदा रहता हुआ भी सूना के दोषों से लिप्त नहीं होता है ॥ १६ ॥ दान पूजा आदि कर्मयज्ञ तपोयज्ञ वेदादि के अध्ययन रूप स्वाध्याययज्ञ, ध्यान से निर्मित = सिद्ध योगयज्ञ, और ज्ञानयज्ञ ये भी पांच महायज्ञ कहे गये हैं, ॥ १७ ॥ माता पिता की पूजा, पति की पूजा,

परापरविभागेन वेदार्थो द्विविधः स्मृतः । वेदार्थः परमः साक्षात्परात्परतरं परम् ॥१९॥
अपरो धर्मयज्ञः स्यात्तत्परप्राप्तिसाधनम् । अधर्मपरिहाराय वेदार्थत्वेन भक्तितः ॥
गीयते मुनिशार्दूलैः कदाचिन्नतु मुख्यतः ॥२०॥ सूतसं० यज्ञवैभवखं० अ० २।२-३ ॥
अकुर्वन्नपि विध्युक्तं निषिद्धं परिवर्जयेत् । निषिद्धपरिहारेण विहिते लभते मतिम् ॥२१॥
सूतसं० य० अ० १६।३४ ॥
शोभनत्वेन यः क्लृप्तः पदार्थः पारलौकिकः । तत्र बुद्धिं नृणां शास्त्रमुत्पादयति निश्चितम् ॥२२॥
भ्रमात्तद्भोगवाञ्छा च जायते सर्वदेहिनाम् । दृष्टाऽनुश्रविकद्वारा बुद्धिसन्ततिरात्मनः ॥२३॥
कल्पिते विषये नित्यं जायते वेदवित्तमाः । तथा योऽशोभनत्वेन पदार्थः परिकल्पितः ॥२४॥
इह लोके परत्रापि द्वेषस्तत्र हि जायते । रागद्वेषार्गलाबद्धा धर्माधर्मवशं गताः ॥२५॥
देवतिर्यङ्मनुष्यादिनिरयं यान्ति मानवाः । शुक्रं च शोणितं दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा स्मृत्वा तु मानवः ॥
उद्गारं कुरुते तद्धि शरीरं चेतनस्य तु ॥२६॥ सूतसं० ज्ञानवैभवखं० अ० १७ ॥
शाब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्था यन्नामभिर्ध्यायति धीरपार्थैः ।
परिभ्रमंस्तत्र न विन्दतेऽर्थान् मायामये वासनया शयानः ॥२७॥
अतः कवि र्नामसु यावदर्थः स्यादप्रमत्तो व्यवसायबुद्धिः ।

सब जन में समता, पिता के साथ अद्रोह और विष्णु भक्ति ये भी महायज्ञ हैं ॥ १८ ॥ पर और अपर (उत्तम अनुत्तम) विभाग = भेद से दो प्रकार के वेद के अर्थ कहे गये हैं, और परम वेदार्थ साक्षात् = अपरोक्ष पर से अति पर परब्रह्म है ॥ १९ ॥ अपर वेदार्थ धर्मयज्ञ = कर्मयज्ञ है, सो पर अर्थ की प्राप्ति का साधन है, और अधर्म की निवृति के लिये वह भक्तितः (उपचारतः गौण रूप से) वेद के अर्थरूप से श्रेष्ठ मुनियों से कहा गया है, और मुख्य = प्रधान रूप से कभी नहीं कहा गया है ॥ २० ॥ इससे कर्मविधि में वर्णित कर्म को नहीं करता हुआ भी निषिद्ध को सर्वथा त्यागे, निषिद्ध के त्याग से भी मुख्य विहित विषयक ज्ञान पाता है ॥ २१ ॥ पारलौकिक = स्वर्गादि के जो पदार्थ, स्त्री आदि, शोभन = सुन्दर रूप से क्लृप्त = निश्चित हैं, उस विषयक मनुष्य की बुद्धि को शास्त्र निश्चय पूर्वक उत्पन्न करता है ॥ २२ ॥ फिर सुखादि के भ्रम से उन पदार्थों के भोग की इच्छा सब मनुष्यों को होती है, और दृष्ट आनुश्रविक = श्रुत पदार्थ द्वारा बुद्धि के सन्तान भी कल्पित = मिथ्या विषय में जीवात्मा की सदा होती है, हे वेदवित्तम ! तैसे ही जो पदार्थ अशोभन रूप से परिकल्पित = निश्चित हैं ॥ २३-२४ ॥ सो अशोभन विषय इस लोक में हों या पर लोक में कल्पित हों, उन में द्वेष होता है, और रागद्वेष रूप अर्गला = मोक्षद्वारनिरोधक से आबद्ध (अत्यन्त बँधा हुआ) मनुष्य देवतिर्यक् मनुष्यादिशरीर रूप नरक में प्राप्त होता है, मुक्त नहीं होता । जिस शुक्र = वीर्य, रुधिर को देख कर मनुष्य वांत करता है, वही अज्ञ जीव का शरीर है ॥ २५-२६ ॥ शब्द समूह रूप कर्मकांड ब्रह्म = वेद का यह कर्म फलप्रदर्शन का प्रकार विशेष रूप पन्थ = मार्ग है, कि जिससे अपार्थ = अर्थशून्य, स्वर्गादि नाम द्वारा बुद्धि स्वर्गादि का ध्यान इच्छा करती है, और उस पथ में स्वप्नदर्शन के समान भ्रमण करता हुआ जीव मायामय संसार में वासना से सोया हुआ सत्य अर्थों को नहीं पाता है ॥ २७ ॥ इससे विद्वान्

सिद्धेऽन्यथार्थे न यतेत तत्र परिश्रमं तत्र समीक्षमाणः ॥२८॥ भागव० स्क० २।२।२-३ ॥
फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम् । श्रेयो विवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम् ॥२९॥
ते मे मतमविज्ञाय परोक्षं विषयात्मकाः । हिंसायां यदि रागः स्याद्यज्ञ एव न चोदना ॥३०॥
हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया । यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः ॥३१॥
भागव० स्क० ११।२१॥२३-२९-३० ॥
विप्रो राजन्यवैश्यौ च हरेः प्राप्ताः पदान्तिकम् । श्रौतेन जन्मनाऽथापि मुह्यन्त्याम्नायवादिनः ॥३२॥
सर्वेषु शश्वत्तनुभृत्स्ववस्थितं यथा खमात्मानमभीष्टमीश्वरम् ।
वेदोपगीतं च न शृणवतेऽबुधा मनोरथानां प्रवदन्ति वार्तया ॥ ३३ ॥
लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तो र्न हि तत्र चोदना ।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥ ३४ ॥ भागव० स्क० ११।५।५-१०-११ ॥
सात्त्विकं भोजनं ये वै नित्यं कुर्वन्ति सात्त्विकाः । न्यायार्जितं च वन्यं च तथा ऋष्यं सुसंस्कृतम् ॥३५॥
पुरोडाशपरा नित्यं वियूपा मन्त्रपूर्वकाः । श्रद्धाधिका मखा राजन् सात्त्विकाः परमाः स्मृताः ॥३६॥
देवीभा० स्क० ३।१२।३५-३६ ॥
सप्तर्षीणां मनोश्चैव आद्ये त्रेतायुगस्य तु । अबुद्धिपूर्वकं तेषामक्रियापूर्वमेव च ॥३७॥
अभिव्यक्तास्तु ते मन्त्रास्तारकाद्यैर्निदर्शनैः । आदिकल्पे तु देवानां प्रादुर्भूतास्तु ते स्वयम् ॥३८॥

नाममात्र के विषयों में जितने अर्थ से प्रयोजन हो उतने अर्थ से युक्त होकर प्रमाद रहित निश्चय बुद्धि वाला रहे, और यत्न बिना अर्थ सिद्ध हो, तो उस के लिये यत्न नहीं करे, उस में परिश्रम देखता हुआ यत्न रहित रहे ॥ २८ ॥ मनुष्यों के स्वर्गादि फल की बोधक जो यह श्रुति है सो श्रेयः = शुभ सत्य स्वरूप नहीं है, केवल प्ररोचन रूप है, सो भी अन्यश्रेय के कथन की इच्छा से कही गयी है, जैसे कि औषध की प्रशंसा की जाती है ॥ २९ ॥ वे कामी लोग मेरे परोक्ष = अस्फुट मत को नहीं जान कर हिंसा को वेदविहित जान कर यज्ञादि में हिंसा करते हैं, परन्तु वेद में हिंसा की चोदना = विधि नहीं है, किन्तु यदि हिंसा मांस में राग हो तो यज्ञ ही में करो अन्यत्र नहीं, इस प्रकार हिंसा की निवृत्ति वेदार्थ है ॥ ३० ॥ इस अर्थ के ज्ञान के बिना हिंसा से क्रीडा करने वाले खल=क्रूर दुर्जन अपने सुख की इच्छा से हिंसित पशु द्वारा यज्ञों से पितृभूतपतियों को पूजते हैं ॥ ३१ ॥ विप्र, क्षत्रिय और वैश्य भी श्रौत जन्म = संस्कारविशेष से हरिपद के समीप में पहुँच कर भी वे वेदवादी मोह को प्राप्त होते हैं, हिंसा करते हैं ॥३२॥ आकाश के समान सब देही में स्थिर वेदों से कथित अत्यन्त प्रिय ईश्वर स्वरूप सर्वात्मा को अज्ञ लोग नहीं सुनते हैं, किन्तु वाणी द्वारा मनोरथों का कथन करते हैं ॥ ३३ ॥ और लोक में मैथुन मांस मद्य का सेवन राग से ही नित्य प्राप्त है, उस में विधि नहीं है, विवाह यज्ञ सुराग्रह के वचनों द्वारा उन मैथुनादिकों में व्यवस्था की गई है, कि कामादि वश अन्यत्र नहीं गमन करना, इससे उस सेवा में भी निवृत्ति ही इष्ट है ॥ ३४ ॥ हे राजन् ! जो सात्त्विक न्याय से उपार्जित या वन में होने वाले, ऋषि के योग्य, सात्त्विक फल मूलादि का सात्त्विक भोजन सदा करते हैं, उन का सात्त्विक, उत्तम पुरोडाश=हवि युक्त, सदा यूप = यज्ञ-स्तम्भ रहित, मन्त्रपूर्वक, अधिक श्रद्धा युक्त परम मख=यज्ञ कहा गया है ॥ ३५-३६ ॥ त्रेता युग के आदि में सात ऋषि और मनु के अबुद्धि पूर्वक, तथा अक्रियापूर्वक ही वे वैदिक मन्त्र उन लोगों द्वारा तारा आदि

ऋचो यजूंषि सामानि मन्त्राश्चाथर्वणानि च । सप्तर्पिभिस्तु ते प्रोक्ताः स्मार्तं धर्मं मनुर्जगौ ॥३९॥
त्रेतादौ संहिता वेदाः केवला धर्मशेषतः । संरोधादायुषश्चैव व्यस्यन्ते द्वापरादिषु ॥४०॥
वर्णाश्रमव्यवस्थानं कृत्वा मन्त्रांश्च संहिताम् । मन्त्रान् संयोजयित्वाऽथ इहामुत्रेषु कर्मसु ॥४१॥
तथा विश्वभुगिन्द्रस्तु यज्ञं प्रावर्तयत्तदा । देवतैः सहितः सर्वैः सर्वसम्भारसम्भृतम् ॥४२॥
अथाश्वमेधे वितते समाजग्मु र्महर्षयः । यजन्ते पशुभिर्मेध्यै र्हुत्वा सर्वे समागताः ॥४३॥
थ इन्द्रियात्मका देवा यज्ञभाजस्तथा तु ये । तान् यजन्ते तदा देवाः कल्पादिषु भवन्ति ये ॥४४॥
अध्वर्यवः प्रैषकाले व्युत्थिता ये महर्षयः । महर्षयस्तु तान् दृष्ट्वा दीनान् पशुगणान् स्थितान् ॥४५॥
पप्रच्छुरिन्द्रं सम्भूय कोऽयं यज्ञविधिस्तव । अधर्मो बलवानेष हिंसा धर्मेप्सया तव ॥४६॥
नेष्टः पशुवधस्त्वेष तव यज्ञे सुरोत्तम ! । अधर्मो धर्मघाताय प्रारब्धः पशुभिस्त्वया ॥४७॥
नायं धर्मो ह्यधर्मोऽयं न हिंसा धर्म उच्यते । ते तु खिन्ना विवादेन तत्त्वयुक्ता महर्षयः ॥४८॥
सन्धाय वाक्यमिन्द्रेण पप्रच्छुश्चेश्वरं वसुम् । श्रुत्वा वाक्यं ततस्तेषामविचार्य बलाबलम् ॥४९॥
वेदशास्त्रमनुसृत्य यज्ञतत्त्वमुवाच ह । यष्टव्यं पशुभिर्मेध्यैरथ बीजैः फलैस्तथा ॥५०॥
हिंसा स्वभावो यज्ञस्य इति मे दर्शयत्यसौ । यदि प्रमाणं तान्येव मन्त्रवाक्यानि वै द्विजाः ! ॥५१॥

दृष्टान्त के तुल्य प्रकट हुए । देवताओं के आदि कल्प = विधि में वे ऋषि मनु स्वयं प्रगट हुए, और उन से ऋग् वेदादि रूप मन्त्र प्रकट हुए । तहाँ सात ऋषियों ने मन्त्रों का कथन किया, स्मार्त धर्म को मनु ने कहा ॥३७–३९॥ त्रेता के आदि में वेद सब केवल धर्म के शेष = अंग रूप संहितात्मक एक ही थे, आयु के संरोध = कम होने से पृथक २ अध्ययन के लिये द्वापर के आदि में वेद विभक्त किये जाते हैं ॥ ४० ॥ फिर वर्णाश्रम की व्यवस्था करके, मन्त्रों को संहिता रूप करके. लौकिक पारलौकिक कर्मों में मन्त्रों की योजना करके लोग मन्त्रपूर्वक कर्म करने लगे ॥४१॥ उसी प्रकार से विश्व के भोक्ता इन्द्र ने सब देवों से मिल कर उस समय सब साधन संग्रहपूर्वक यज्ञ का आरम्भ किया ॥ ४२ ॥ फिर विस्तृत उस अश्वमेध यज्ञ में ऋषि महात्मा सब आये, और वहाँ पवित्र पशुओं द्वारा प्रथम के आये ऋषि देवादि सब हवन कर के, जो इन्द्रियों के अधिदेव और जो यज्ञ भागी हैं, उन सब को वे लोग उस समय पूज रहे थे, जो देव कल्प के आदि में होते हैं, उन की वह पूजा हो रही थी ॥ ४३–४४ ॥ प्रैषमन्त्रोच्चारण काल में कर्मकर्ता अध्वर्यु नामक ऋत्विज् लोग कर्म कराने के लिये उठे, और जो महर्षि आये थे सो भी उठे, तो महर्षि लोगों ने उन दीन स्थिर पशुगणों को देख कर, और सब ने मिल कर इन्द्र से पूछा कि यह तेरी यज्ञविधि कैसी है ? धर्म प्राप्ति की इच्छा से तेरा यह बलवती अधर्मरूप हिंसा सिद्ध हो रही है ॥ ४५–४६ ॥ हे सुरोत्तम ! तेरे यज्ञ में यह पशुबध इष्ट नहीं है, पशुओं द्वारा तुमने धर्म के नाश के लिये अधर्म का आरम्भ किया है ॥ ४७ ॥ यह धर्म नहीं है, यह तो अधर्म है, हिंसा धर्म नहीं कहा गया है । इस प्रकार विवाद से खिन्न वे महर्षि लोग तत्त्व विचार से युक्त हो कर इन्द्र से मिल कर ईश्वर = समर्थ वसु को वाक्य पूछा, वसु ने उन के वाक्य को सुन कर और वाक्यादि के बल अबल को नहीं विचार कर, वेद शास्त्र के अनुसार यज्ञ के स्वरूप को कहा कि पवित्र पशु बीज और फलों से यज्ञ कर्तव्य है ॥ ४८–५० ॥ कहा कि हे द्विज ! यदि वे मन्त्ररूप वाक्य ही प्रमाण हैं, तो वे प्रमाण हमें यज्ञ का हिंसा स्वभाव ही दर्शाते हैं ॥५१॥

तदा प्रवर्ततां यज्ञो ह्यन्यथा नोऽनृतं वचः । एवं हृतोत्तरास्ते वै युक्तात्मानस्तपोधनाः ॥५२॥
अधश्च भवनं दृष्ट्वा तमर्थं वाग्यतो भव । मिथ्यावादी नृपो यस्मात्प्रविवेश रसालयम् ॥५३॥
इत्युक्तमात्रे नृपतिः प्रविवेश रसालयम् । ऊर्ध्वचारी वसुर्भूत्वा रसालयचरोऽभवत् ॥५४॥
तस्मान्न हिंसा धर्मस्य द्वारमुक्तं महर्षिभिः । ऋषिकोटिसहस्राणि कर्मभिः स्वैर्दिवं ययुः ॥५५॥
धर्ममन्त्रात्मको यज्ञस्तपश्चानशनात्मकम् । यज्ञेन देवानाप्नोति वैराग्यं तपसा पुनः ॥५६॥
ब्राह्मण्यं कर्मसंन्यासाद्वैराग्यात्प्रेक्षते लयम् । ज्ञानात्प्राप्नोति कैवल्यं पञ्चैता गतयः स्मृताः ॥५७॥
वायुपु० अ० ५७।४३ इत्यादि । ब्रह्माण्डपुराणेऽप्येवम् ॥

संरोधादायुषश्चैव दृश्यते द्वापरेषु च । वेदव्यासैश्चतुर्धा तु व्यस्यते द्वापरादिषु ॥५८॥
ऋषिपुत्रैः पुनर्वेदा भिद्यन्ते दृष्टिविभ्रमैः । मन्त्रब्राह्मणविन्यासैः स्वरवर्णविपर्ययैः ॥५९॥
संहिता ऋग्यजुःसाम्नां संहन्यन्ते श्रुतर्षिभिः । सामान्याद्वैकृताच्चैव दृष्टिभिन्नैः क्वचित्क्वचित् ॥६०॥
ब्राह्मणं कल्पसूत्राणि मन्त्रप्रवचनानि च । अन्ये तु प्रहितास्तीर्थैः केचित्तान् प्रत्यवस्थिताः ॥६१॥
द्वापरेषु प्रवर्त्तन्ते भिन्नवृत्ताश्रमा द्विजाः । एकमाध्वर्यवं पूर्वमासीद् द्वैधं पुनस्ततः ॥६२॥
सामान्यविपरीतार्थैः कृतं शास्त्राकुलं त्विदम् । आध्वर्यवस्य प्रस्तावै र्बहुधा व्याकुलं कृतम् ॥६३॥
तथैवाथर्वऋक्साम्नां विकल्पैश्चाप्यसंक्षयैः । व्याकुलं द्वापरे भिन्नं क्रियते भिन्नदर्शनैः ॥६४॥

और यदि मन्त्र प्रमाण हैं, तो यज्ञ प्रवृत्त हो, नहीं तो मेरा वचन ही झूठा है। इस प्रकार का उत्तर पाकर वे योगयुक्तात्मा तप रूप धन वाले महर्षियों ने उस वसु के अधोभवन = हीन गति को देख कर, और उससे कथित अर्थ को देख कर कहा कि अब तुम वाग्यत=चुप होवो, और तुम नृप होते हुए भी मिथ्यावादी हो जिससे रसालय में प्रवेश कर चुके हो ॥ ५२-५३ ॥ इस प्रकार महर्षियों के कहते ही वह राजा वसु रसालय् में प्रविष्ट हो गया, प्रथम ऊर्ध्वचारी वसु हो कर फिर रसालयचारी हो गया ॥ ५४ ॥ अतः महर्षियों ने हिंसा को धर्म का द्वार नहीं कहा है, और कोटि सहस्र महर्षि ऋषि लोग अपने अहिंसामय धर्मों से स्वर्ग में गये हैं ॥ ५५ ॥ वस्तुतः दान, दया आदि धर्म और मन्त्र स्वरूप यज्ञ है, और दुर्विषयों के अनशन = अभोग रूप तप हैं, और यज्ञ से देव को पाते हैं, तप से वैराग्य होता है ॥ ५६ ॥ कर्म के संन्यास से ब्रह्मनिष्ठा होती है, वैराग्य मात्र से प्रकृति में चित्त के लय को अनुभव करता है, ज्ञान से मोक्ष पाता है. ये पाँच गति कही गई हैं ॥ ५७ ॥ आयु के संरोध = (न्यूनता) से द्वापर में वेद चतुर्धा दीखता है, सो द्वापर के आदि में वेद व्यास से चार प्रकार में विभक्त किया जाता है ॥ ५८ ॥ फिर दृष्टिविभ्रम, मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों के विन्यास = रचना स्वरवर्ण के विपर्यय द्वारा ऋषियों के पुत्रों से वेद भेदित किये जाते हैं ॥ ५९ ॥ फिर श्रुतर्षि = वेद के श्रोताओं से ऋगादि के संहिता = समूह, संहत = संगत-दृढ़, सम्बन्ध युक्त किये जाते हैं, सो कहीं सामान्यधर्म से कहीं विकार = कार्य के सम्बन्ध से कहीं दृष्टि की भिन्नता से सम्बद्ध होते हैं ॥६०॥ ब्राह्मण ग्रन्थ और कल्प सूत्रों की भी रचना तथा मन्त्रों के प्रवचन = व्याख्यान करते हैं, और अन्य कोई तो संसार के प्रकृष्ट हित हो कर तीर्थ = निजगुरु सहित उन के प्रति विरुद्धरूप से स्थिर होते हैं ॥ ६१ ॥ इस प्रकार द्वापर में भिन्न २ चरित्र और आश्रम वाले द्विज सिद्ध होते हैं । प्रथम आध्वर्यव = यजुर्वेद भी एक ही था, फिर कृष्ण शुक्ल भेद से दो प्रकार का हो गया ॥ ६२ ॥ कुछ पूर्व की समानता और विपरीत अर्थों द्वारा यजुर्वेद के बहुधा प्रस्तावों से यह शास्त्र व्याकुल किया गया ॥६३॥ इसी प्रकार से अथर्व,

स्मृतिशास्त्रप्रभेदाश्च प्रस्थानानि पृथक् पृथक् । द्वापरेष्वभिवर्त्तन्ते मतिभेदास्तथा नृणाम् ॥६५॥

वायुपु० अ० ५८।११ इत्यादि ॥

त्रेतादौ संहता वेदाः केवलं धर्मसेतवः । संरोधादायुषश्चैव व्यस्यन्ते द्वापरे च ते ॥६६॥

आरम्भयज्ञः क्षत्रस्य हविर्यज्ञा विशः स्मृताः । परिचारयज्ञाः शूद्राश्च जपयज्ञाश्च ब्राह्मणाः ॥६७॥

मत्स्यपु० अ० १४२।४८-५० ॥

कथं त्रेतायुगमुखे यज्ञस्यासीत्प्रवर्त्तनम् । पूर्वे स्वायंभुवे सर्गे यथावत्प्रब्रवीहि नः ॥६८॥

इज्या दानं तपः सत्यं त्रेताधर्मास्तु वै स्मृताः । तदा प्रवर्त्तते धर्मो वर्णाश्रमविभागतः ॥६९॥

मन्त्रान् वै योजयित्वा तु इहामुत्र च कर्मसु । तथा विश्वभुगिन्द्रस्तु यज्ञं प्रावर्त्तयत् प्रभुः ॥७०॥

देवतैः सह संहृत्य सर्वसाधनसंवृतः । तस्याश्वमेधे वितते समाजग्मुर्महर्षयः ॥७१॥

इत्यादिवायुपुराणवद्-ऋषिसूतसंवादः ॥

तस्मान्न हिंसा यज्ञे स्याद्यदुक्तमृषिभिः पुरा । ऋषिकोटिसहस्राणि स्वैस्तपोभि र्दिवं गताः ॥७२॥

तस्मान्न हिंसायज्ञं च प्रशंसन्ति महर्षयः । उञ्छं मूलं फलं शाकमुदपात्रं तपोधनाः ॥७३॥

एतद्दत्त्वा विभवतः स्वर्गलोके प्रतिष्ठिताः । अद्रोहश्चाप्यलोभश्च दमो भूतदया शमः ॥७४॥

ब्रह्मचर्यं तपः शौचमनुक्रोशं क्षमा धृतिः । सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतद् दुरासदम् ॥७५॥

द्रव्यमन्त्रात्मको यज्ञस्तपश्च समतात्मकम् । यज्ञैश्च देवानाप्नोति वैराजं तपसः पुनः ॥७६॥

ऋक्, सामवेदों को भी अक्षय विकल्पों=भेदों द्वारा, व्याकुल और भिन्न, भिन्न दृष्टिवालों से द्वापर में किया जाता है ॥ ६४ ॥ स्मृति शास्त्र के अधिक भेद, और पृथक् २ प्रस्थान=(गति-चाल) द्वापर में अधिक होते हैं, तथा मनुष्यों की मति में भेद होते हैं ॥६५॥ त्रेता के आदि में वेद संहत=संगत रूप ही रहते हैं। सो केवल धर्म के सेतु = पुल रहते हैं, आयु के संरोध से सो वेद द्वापर में व्यस्त = विस्तृत होते हैं ॥ ६६ ॥ न्याययुक्त कर्मारम्भरूप यज्ञ क्षत्रिय का है, हविष यज्ञ वाला वैश्य कहा गया है, सेवा यज्ञ वाला शूद्र है, और जपरूप यज्ञ वाले ब्राह्मण हैं ॥ ६७ ॥ प्रथम स्वायंभुव सर्ग में त्रेतायुग के आरम्भ में यज्ञ की प्रवृत्ति कैसे हुई, सो हमें यथावत् कहो ॥ ६८ ॥ यज्ञ दान तप और सत्य ये त्रेता के धर्म कहे गये हैं। त्रेता में ही वर्णाश्रम के विभाग से धर्म प्रवृत्त होता है ॥ ६९ ॥ मन्त्रों की ऐहलौकिक पारलौकिक कर्मों में योजना = सम्बन्ध कर के तथा (वर्णाश्रमविभागपूर्वक) प्रभु विश्वभुक् इन्द्र ने यज्ञ का आरम्भ किया ॥ ७० ॥ देवताओं के साथ मिल कर सब साधन से युक्त हो कर इन्द्र ने यज्ञ का आरम्भ किया, तो उस के विस्तृत यज्ञ में ऋषि लोग आये इत्यादि वायु पुराण के तुल्य कथा है ॥ ७१ ॥ जिससे ऋषियों ने प्रथम कहा है, इससे यज्ञ में हिंसा नहीं हो सकती, और करोड़ों हजार ऋषि अपने तप से स्वर्ग गये हैं, इससे स्वर्ग का साधन यज्ञ ही नहीं है ॥ ७२ ॥ अतः अब भी महर्षि लोग हिंसा युक्त यज्ञ की प्रशंसा नहीं करते हैं, तप रूप धन वाले उञ्छ=संगृहीत कणादि अन्न, मूल, फल, शाक, जलपात्र, इन का ही विभव के अनुसार दान कर के स्वर्ग लोक में स्थिर हुए, और अद्रोह, अलोभ, दम, भूतदया, शम, ब्रह्मचर्य, तप, शौच, अनुक्रोश = कृपा-करुणा क्षमा और धैर्य, ये सब सनातन धर्म के दुरासद=दुर्लभ मूल हैं ॥ ७३-७५ ॥ चरुघृतादि द्रव्य और मन्त्र स्वरूप यज्ञ है, समता रूप तप है, यज्ञ से देवको पाता है, तप से विराट् पद को पाता है ॥७६॥

ब्रह्मणः कर्मसंन्यासाद्वैराग्यात्प्रकृते र्लयम् । ज्ञानात्प्राप्नोति कैवल्यं पञ्चैता गतयः स्मृताः ॥७७॥

मत्स्यपु० अ० १४३ ॥

वेदश्चैकश्चतुर्धा तु व्यस्यते द्वापरादिषु । ऋषिपुत्रैः पुनर्वेदा भिद्यन्ते दृष्टिविभ्रमैः ॥७८॥

ते तु ब्राह्मणविन्यासैः स्वरक्रमविपर्ययैः । संहृता ऋग्यजुःसाम्नां संहितास्तै र्महर्षिभिः ॥७९॥

व्याकुलो द्वापरेष्वर्थः क्रियते भिन्नदर्शनैः । द्वापरे सन्निवृत्ते तु वेदा नश्यन्ति वै कलौ ॥८०॥

तेषां विपर्ययोत्पन्ना भवन्ति द्वापरे पुनः । अदृष्टिमरणं चैव तथैव व्याध्युपद्रवाः ॥८१॥

वाङ्मनःकर्मभि र्दुःखै र्निर्वेदो जायते ततः । निर्वेदाज्जायते तेषां दुःखमोक्षविचारणा ॥८२॥

विचारणायां वैराग्यं वैराग्याद्दोषदर्शनम् । दोषाणां दर्शनाच्चैव ज्ञानोत्पत्तिस्तु जायते ॥८३॥

मत्स्यपु० अ० १४४ ॥

[महाभारतेऽपि, "ततो दीनान् पशून् दृष्ट्वा" इत्यादि पूर्ववत्] ॥

गन्धेन देवा तुष्यन्ति दर्शनाद्यक्षराक्षसाः । नागाः समुपभोगेन त्रिभिरेतैस्तु मानुषाः ॥८४॥

अपि सञ्चयबुद्धि र्हि लोभमोहवशं गतः । उद्वेजयति भूतानि पापेनाशुद्धबुद्धिना ॥८५॥

एवं लब्ध्वा धनं मोहाद्यो हि दद्याद् यजेत् वा । न तस्य स फलं प्रेत्य भुङ्क्ते पापधनागमात् ॥८६॥

एष धर्मो महायोगो दानं भूतदया तथा । ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृतिः क्षमा ॥

सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत्सनातनम् ॥ ८७ ॥ महाभा० आश्वमेधिकप० अ० ९१ ॥

प्राणैर्वियोगे छागस्य यदि श्रेयः प्रपश्यसि । छागार्थे वर्त्तते यज्ञो भवतः किं प्रयोजनम् ॥८८॥

महाभा० आश्वमे० प० अ० ८। यतिवचनम् ॥

कर्म संन्यास से ब्रह्मलोक पाता है, वैराग्य से प्रकृति में लय को पाता है, ज्ञान से मोक्ष पाता है, ये पाँच गति कही गई हैं ॥ ७७ ॥ एक ही वेद द्वापर के आदि में चार रूप से विभक्त होता है, फिर दृष्टि विभ्रम द्वारा ऋषिपुत्रों से वेद भेद युक्त होते हैं ॥७८॥ उन पूर्व के सात महर्षियों से संगृहीत ऋग्यजुःसाम की संहिताओं को वे ऋषि के पुत्र लोगों ने ब्राह्मण ग्रन्थ के विन्यास और स्वरक्रम के विपर्यय द्वारा भिन्न भिन्न करते हैं ॥ ७९ ॥ इस प्रकार द्वापर में ही भिन्न २ दृष्टि वाले वेदार्थ को व्याकुल करते हैं, द्वापर के निवृत्त होने पर कलि में वेद वेदाचार नष्ट होते हैं ॥ ८० ॥ फिर द्वापर में ही उन ऋषि पुत्रों के विपर्यय= भ्रम से उत्पन्न व्याधि और उपद्रव होते हैं, अदृष्टि, मरण होता है ॥ ८१ ॥ फिर वाक् मन कर्म द्वारा दुःख से निर्वेद=(चिन्ता) होता है, उससे दुःख की निवृत्ति का विचार होता है, विचार से वैराग्य होता है, वैराग्य से दोषों का ज्ञान होता है, उससे आत्मज्ञान होता है ॥ ८२–८३ ॥ सुगन्ध से देव सन्तुष्ट होते हैं, यक्ष राक्षस भोग्य वस्तु के दर्शन से सन्तुष्ट होते हैं, नाग सम्यग् भोग से तृप्त होते हैं, और गन्ध दर्शन भोग तीनों से मनुष्य सन्तुष्ट होते हैं ॥ ८४ ॥ इससे भोग के लिये संचय परायण बुद्धि वाला मनुष्य लोभ मोह के वश में होकर पाप युक्त अशुद्ध बुद्धि से प्राणियों को उद्विग्न करता है ॥ ८५ ॥ इस प्रकार मोह से प्राणी को पीड़ित करने वाला जो कोई धन पाकर दान देता है या यज्ञ करता है, सो पाप से धन की प्राप्ति के कारण उस दान वा यज्ञ के फल को मरने पर नहीं भोगता है ॥ ८६ ॥ दान और भूतदया यह महायोग रूप धर्म है, और ब्रह्मचर्य, सत्य, कृपा धैर्य, क्षमा ये सब सनातन धर्म के सनातन मूल हैं ॥ ८७ ॥ यज्ञ में प्राण के वियोग से यदि छाग=बकरा

अहिंसैव परो धर्मस्तत्र वेदेऽस्ति कीर्त्तितः । साक्षात्पशुवधो यज्ञे न हि वेदस्य सम्मतः ॥८९॥
चतुष्पादस्य धर्मस्य स्थापने ह्येव सर्वथा । तात्पर्यमस्ति वेदस्य न तु नाशेऽस्य हिंसया ॥९०॥
रजस्तमो दोषवशात्तथाप्यसुरपा नृपाः । मेध्येनाज्येन यष्टव्यमित्यादौ मतिजाड्यतः ॥
छागादिमर्थं बुबुधु र्व्रीह्यादिं तु न ते विदुः ॥९१॥
यादृशो हि गुणो यस्य स्वभावस्तस्य तादृशः । स्वस्वभावानुसारेण प्रवृत्तिः स्याच्च कर्मणि ॥९२॥
रजस्तमो गुणवशादासुरीं सम्पदं श्रिताः । युष्माकं याजका ह्येते सन्त्यवेदविदो यथा ॥९३॥
तत्सङ्गादेव युष्माकं साम्प्रतं व्यत्ययो मतेः । जातस्तेनेदृशं कर्म प्रारब्धमिति निश्चितम् ॥९४॥
यज्ञशेषो हि सर्वेषां यज्ञकर्मानुतिष्ठताम् । अनुज्ञातो भक्षणार्थं निगमेनैव वर्त्तते ॥९५॥
सात्त्विकानां देवतानां सुरामांसाशनं क्वचित् । अस्माभिस्त्वीक्षितं नैव न श्रुतं च सतां मुखात् ॥९६॥
तस्माद् व्रीहिभिरेवासौ यज्ञः क्षीरेण सर्पिषा । मेध्यैरन्नरसैश्चान्यैः कार्यो न पशुहिंसया ॥९७॥
तत्रापि बीजै र्यष्टव्यमजसञ्ज्ञामुपागतैः । त्रिवर्षकालमुषितै र्न येषां पुनरुद्भवः ॥९८॥
अद्रोहश्चाप्यलोभश्च दमो भूतदया तपः । ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमदम्भश्च तथा धृतिः ॥९९॥
सनातनस्य धर्मस्य रूपमेतदुदीरितम् । तदतिक्रम्य यो वर्त्तेत् धर्मघ्नः स पतत्यधः ॥१००॥ स्क०उ० ॥
एवं वेदरहस्यज्ञै र्महामुनिभिरादरात् । बोधिता अपि सन्नीत्या स्वप्रतिज्ञाविघाततः ॥
तद्वाक्यं जगृहु र्नैव तत्प्रामाण्यविदोऽपि ते ॥ १०१ ॥

के शुभ को समझते हो, तो वह यज्ञ छाग के लिये हुआ, तुमको क्या फल मिला ? ॥ ८८ ॥ उस वेद में अहिंसा ही परम धर्म कहा गया है, प्रत्यक्ष यज्ञ में पशुका बध वेदसम्मत नहीं है ॥ ८९ ॥ चारपाद युक्त धर्म के सर्वथा स्थापन में ही वेद का तात्पर्य है, हिंसा द्वारा इस धर्म के नाश में तात्पर्य नहीं है ॥ ९० ॥ तो भी रज तम दोष के वश से और बुद्धि की जड़ता से असुरों के पालक नृप लोगों ने पवित्र आज्य से यज्ञ करना इत्यादि वाक्यों से छागादि अर्थ समझा और व्रीहि आदि नहीं समझा ॥ ९१ ॥ जिसको रजस्तम आदि जैसा गुण रहता है, उसका स्वभाव भी गुण के अनुसार होता है, और अपने स्वभाव के अनुसार कर्म में प्रवृत्ति होती है ॥ ९२ ॥ हे इन्द्र ! रजस्तमो गुण के वश से आसुरी सम्पत्ति को प्राप्त ये आप के याजक = ऋत्विक् सब, अवेदवेत्ता के समान हैं ॥ ९३ ॥ उनके संग से ही आप सब देवों की बुद्धि का व्यत्यय = विपर्यय इस समय हुआ है, अतः ऐसे कर्म का प्रारम्भ हुआ है, यह निश्चय बात है ॥ ९४ ॥ और सब यज्ञ कर्म कर्ताओं को यज्ञ से शिष्ट पदार्थ भोजन के लिये वेद से ही अनुज्ञात सम्मत है ॥ ९५ ॥ और सात्त्विक देव का सुरा मांस भक्षण कहीं हम से नहीं देखा गया है, न सत् पुरुषों के मुख से सुना ही गया है ॥ ९६ ॥ इसलिये वह यज्ञ व्रीहि = धान, दूध, घृत, पवित्र अन्न रस और अन्न से कर्तव्य है, पशु हिंसा से नहीं ॥ ९७ ॥ उस अन्न में अज = जन्मशक्ति रहित सञ्ज्ञा को प्राप्त तीन वर्ष काल तक स्थिर बीजों से यज्ञ करना चाहिये कि जिन के बोने से अङ्कुर नहीं हो ॥९८॥ अद्रोह, अलोभ, दम, भूतदया, तप, ब्रह्मचर्य, सत्य, अदम्भ और धृति ये सब सनातन धर्म के स्वरूप कहे गये हैं, इन्हे त्याग कर जो रहता है, सो धर्मघातक अधःपतित होता है ॥ ९९-१०० ॥ वेदों के मर्मज्ञ महा मुनियों से इस प्रकार आदर सत्य नीति पूर्वक समझाने पर भी वे लोग अपनी

महद् व्यतिक्रमात्तर्हि मानक्रोधमदादयः । विविशुस्तेष्वधर्मस्य वंश्याश्छिद्रगवेषिणः ॥१०२॥
राजोपरिचरः श्रीमांस्तत्रैवागाद्यदृच्छया । तेजसा द्योतयन्नाशा इन्द्रस्य परमः सखा ॥१०३॥
तं दृष्ट्वा सहसा यान्तं वसुं ते त्वन्तरिक्षगम् । उचुर्द्विजातयो देवानेष च्छेत्स्यति संशयम् ॥१०४॥
देवानां तु मतं ज्ञात्वा वसुस्तत्पक्षसंश्रयात् । छागादिपशुनैवेज्यमित्युवाच वचस्तदा ॥१०५॥
एवं हि मानिनां पक्षमसन्तं स उपाश्रितः । धर्मज्ञोऽप्यवदन् मिथ्या वेदं हिंसापरं नृप! ॥१०६॥
तस्मिन्नेव क्षणे राजा वाग्दोषादन्तरिक्षतः । अधःपपात सहसा भूमिं च प्रविवेश ह ॥१०७॥
स्कन्दपु० वैष्णवखं० वासुदेवमा० अ० ५ ॥

अतिक्रमेण महतां यथार्थहितभाषिणाम् । क्रोधमानवशात्पुंसां नश्यन्त्येव च सिद्धयः ॥१०८॥
अनाश्रितस्तु सद्धर्मं पुमान् कश्चन कर्हिचित् । संसृते र्मुच्यते नैव सत्यमेतद्वचो मम ! ॥१०९॥
स्कन्दपु० वै० वा० अ० ८ ॥

इन्द्रेण कृतापमानस्य दुर्वाससः शापादतिमहतिर्दुर्भिक्षे जाते यदभूत्तदग्रे कथ्यते :—

मुनयः प्रायसस्तत्र क्षुधा व्याकुलितेन्द्रियाः । परोक्षवादवेदार्थान् विपरीतान् प्रपेदिरे ॥११०॥
अर्थं चाजादिशब्दानां मुख्यं छागादिमेव ते । बुबुधुश्चाथ ते प्राहुर्यज्ञान् कुरुत भो द्विजाः ! ॥१११॥
या वेदविहिता हिंसा न सा हिंसाऽस्ति दोपदा । उद्दिश्य देवान् पितृंश्च ततो घ्नत पशूञ्छुभान् ॥११२॥
प्रोक्षितं देवताभ्यश्च पितृभ्यश्च निवेदितम् । भुञ्जत स्वोचितं मांसं स्वार्थं तु घ्नत मा पशून् ॥११३॥

प्रतिज्ञा के विघात से उन महात्माओं की प्रामाणिकता के ज्ञाता भी वे लोग उन के वाक्यों का ग्रहण स्वीकार नहीं किया ॥ १०१ ॥ उस समय महापुरुषों के अतिक्रमण अनादर से छिद्र खोजने वाले अधर्म के वशवर्ती अभिमान क्रोध मदादि उन लोगों में प्रविष्ट हो गये ॥ १०२ ॥ वसु नामक उपरि चारी= आकाशगामी, राजा श्रीमाम् तेज से दिशाओं को प्रकाशता हुआ इन्द्र का परम मित्र दैव योग से वहाँ ही आ गया ॥ १०३ ॥ उन द्विजाति = ऋषि लोग ने सहसा = अचानक ही अन्तरिक्षगामी जाते हुए उस वसु को देख कर देवताओं से कहा कि यह वसु हम लोगों के संशयों को नष्ट करेगा ॥ १०४ ॥ फिर उस समय उस वसु ने देवताओं के मत=सिद्धान्त को समझ कर, और उन के ही पक्ष के सम्यग् आश्रयण से छागादि पशुओं से ही यज्ञ करना चाहिये, यह वचन कहा ॥ १०५ ॥ इस प्रकार अभिमानी देवों के असत् पक्ष को भी उस वसु ने स्वीकार किया, हे नृप ! पक्षाश्रयण से धर्मज्ञ होता हुआ भी बोला कि—वेद हिंसा परायण है ॥ १०६ ॥ उसी क्षण में वह अन्तरिक्षगामी राजा वाक् दोष = मिथ्या भाषण से अन्तरिक्ष से शीघ्र ही नीचे गिर गया और भूमि में घुस गया ॥ १०७ ॥ क्योंकि यथार्थ हितभाषी महापुरुषों के अतिक्रमण और क्रोध अभिमान के वश से पुरुषों की सिद्धियाँ नष्ट होती ही हैं ॥ १०८ ॥ सत्य धर्म के आश्रयण के बिना कोई पुरुष कभी संसार से मुक्त नहीं होता है, यह मेरा वचन सत्य ही है ॥ १०९ ॥ इन्द्र ने ऋषियों का अपमान किया, उस अपमान से क्रुद्ध दुर्वासा ने शाप दी जिससे दुर्भिक्ष हो गया, तो उस समय प्रायः क्षुधा से व्याकुलित = विह्वल इन्द्रिय वाले होकर, परोक्षवाद रूप वेद के अर्थों को उलटा ही समझने लगे ॥ ११० ॥ वे लोग अजादि शब्दों के मुख्य अर्थ छागादि को ही समझने लगे, और बोले कि—हे द्विज ! आप लोग यज्ञ करो ॥ १११ ॥ जो हिंसा वेद से विहित है, सो दोष के हेतु नहीं है, अतः देव और पितृ के उद्देश्य से उन की पूजा आदि के लिए शुभ पशुओं को मारो ॥ ११२ ॥ देवताओं के लिये प्रोक्षित

ततो देवर्षि भूपाला नराश्च स्वस्वशक्तितः । चक्रुस्तै र्बोधितान् यज्ञानृते ह्येकान्तिकान् हरेः ॥११४॥
गोमेधमश्वमेधं च नरमेधमुखान् मखान् । चक्रु र्यज्ञावशिष्टानि मांसानि बुभुजुश्च ते ॥११५॥
महायज्ञेष्वशक्तास्तु पितृनुद्दिश्य भूरिशः । तेषां च वंशविस्तारो महांल्लोकेष्ववर्द्धत ॥११६॥
विद्वांसस्तत्र ये जातास्ते तु धर्मं तमेव हि । मेनिरे मुख्यमेवाथ ग्रन्थांश्चक्रुश्च तादृशान् ॥११७॥
ते परम्परया ग्रन्थाः प्रामाण्यं प्रतिपेदिरे । आद्ये त्रेतायुगे हीत्थमासीद्धर्मस्य विप्लवः ॥११८॥
ततः प्रभृति लोकेषु यज्ञादौ पशुहिंसनम् । बभूव सत्ये तु युगे धर्म आसीत् सनातनः ॥११९॥
तत्रापि केचिन्मुनयो नृपा देवाश्च मानुषाः । कामक्रोधरसास्वादलोभोपहतसिद्धयः ॥
तमापद्धर्ममद्यापि प्राधान्येनैव मन्वते ॥१२०॥ स्कन्दपु० वै० वा० अ० ६ ।
मदर्थे शिव ! कुर्वन्ति तामसा जीवघातनम् । आकल्पकोटिनिरये तेषां वासो न संशयः ॥१२१॥
आवयोः पूजनं मोहाद्ये कुर्युः मांसशोणितैः । पतन्ति कुम्भीपाके ते भवन्ति पशवः पुनः ॥१२२॥
जानन्ति नो वेद पुराणतत्त्वं ये कर्मठाः पण्डितमानयुक्ताः ।
लोकाधमास्ते नरकं पतन्ति कुर्वन्ति मूर्खाः पशुघातनं चेत् ॥१२३॥
येऽज्ञानिनोमन्दधियोऽकृतार्था भवे पशुं घ्नन्ति न धर्मशास्त्रम् ।
जानन्ति नाकं नरकं न मुक्तिं गच्छन्ति घोरं नरकं नरास्ते ॥१२४॥ पद्मपुरा०
यज्ञप्रवर्त्तनं चैव त्रेतायामभवत् क्रमात् । पशुयज्ञं न सेवन्ते केचित्तत्रापि सुव्रताः ॥१२५॥

(जल से शोधित) और पितरों के लिये निवेदित=अर्पित अपने लिये उचित मांस खावो, परन्तु केवल अपने लिये पशुओं को नहीं मारो ॥ ११३ ॥ फिर देव ऋषि राजा और मनुष्य सब अपनी २ शक्ति के अनुसार हरि के एकान्तिक भक्तों से अन्य उन मुनियों से बोधित यज्ञ करने लगे ॥११४॥ और उन लोगों ने गोमेध, अश्वमेध, नरमेधादि, यज्ञ किये, और यज्ञ से अवशिष्ट मांसो को खाया ॥११५॥ महायज्ञों में असमर्थ लोग पितरों को उद्देश–निमित्त बता कर खाने लगे और उन लोगों के वंश का विस्तार भी लोक में बहुत हुआ ॥ ११६ ॥ जो उन में विद्वान् हुए वे उसी धर्म को मुख्य मानने लगे, और ग्रन्थ भी वैसे ही बनाये ॥११७॥ वे ग्रन्थ परम्परा अध्ययनादि से प्रमाणता को प्राप्त हो गये, इस प्रकार आद्य त्रेतायुग में ही धर्म का विप्लव = कलह-लुण्ठन-नाश हो गया ॥ ११८ ॥ तब से लोकों में यज्ञादि में पशुहिंसा हो गई, केवल सत्ययुग में ही सत्य सनातन धर्म रहा ॥ ११९ ॥ उस में भी कोई २ मुनि नृप देव मनुष्य, काम, क्रोध, रस, के आस्वाद लोभ से नष्ट सिद्धि = विवेकादि वाले हो कर अब भी उस आपत् धर्म = हिंसा मांस भक्षण को प्रधान रूप से ही मानते हैं ॥१२०॥ देवी, शिव जो से कहती हैं कि–हे शिव ! जो तामसी लोग मेरे लिये जीवघात करते हैं, उनको कोटि कल्प तक नरक में बास होता है, इस में संशय नहीं है ॥१२१॥ हम दोनों की पूजा जो कोई मोह से मांस रुधिर से करते हैं, सो कुम्भीपाक नरक में गिरते हैं, फिर पशु होते हैं ॥ १२२ ॥ जो पाण्डित्य के अभिमानी मूर्ख वेद पुराण के तत्त्व को नहीं जानते हैं इससे यदि पशुहिंसा करते हैं, तो वे लोकाधम नरक में जाते हैं ॥ १२३ ॥ जो अकृतार्थ मन्दबुद्धि वाले अज्ञानी संसार में पशु को मारते हैं, सो मनुष्य धर्मशास्त्र स्वर्ग नरक मुक्ति को नहीं समझते हैं, और घोर नरक में जाते हैं ॥ १२४ ॥ यज्ञ की प्रवृत्ति त्रेता में क्रम से धीरे २ हुई, वहाँ भी सात्त्विक व्रत नियम वाले पशुयज्ञ का सेवन नहीं करते थे ॥१२५॥

बलाद्विष्णुस्तदा यज्ञमकरोत्सर्वदृक् क्रमात् । द्विजास्तदा प्रशंसन्ति ततस्त्वहिंसकं मुने ! ॥१२६॥

लिङ्गपु० अ० २६।५१-५२ ॥

कर्मयज्ञसहस्रेभ्यस्तपोयज्ञो विशिष्यते । तपोयज्ञसहस्रेभ्यो जपयज्ञो विशिष्यते ॥१२७॥

जपयज्ञसहस्रेभ्यो ध्यानयज्ञो विशिष्यते । ध्यानयज्ञात्परो नास्ति ध्यानं ज्ञानस्य साधनम् ॥१२८॥

लिङ्गपु० अ० ७५।१३-१४ ॥

नास्ति ध्यानसमं तीर्थं नास्ति ध्यानसमं तपः । नास्ति ध्यानसमो यज्ञस्तस्माद् ध्यानं समाचरेत् ॥१२९॥

जिज्ञासुरपि योगस्य यां गतिं लभते नरः । न तां गतिमवाप्नोति सर्वैरपि महामखैः ॥१३०॥

शिवपु० सं० ७।३६ ॥ अत्र स्वविचारः—

पूर्वोक्तै र्वाक्यसन्दर्भै र्व्यासोक्तित्वेन सम्मतैः । वेदे यज्ञे न हिंसेति स्पष्टमेव प्रतीयते ॥१३१॥

आपद्धर्मतयाऽबोधान्मोहाद्वा यज्ञवेदयोः । हिंसासिद्धि र्हि सञ्जाता सा चाद्यापि प्रवर्त्तते ॥१३२॥

चतुष्पाद्धर्म आसीद्धि त्रेतायां स च हिंसया । जातस्त्रिपाच्च सत्यं तद् भाति जनमनःस्वपि ॥१३३॥

यद्येवं तर्हि किं व्यासस्तज्जानन् भारते स्वयम् । आज्ञापयति यज्ञाय हिंसायुक्ताय चिन्त्यताम् ॥१३४॥

तथाहि—

राजसूयाश्वमेधौ च सर्वमेधं च भारत ! । नरमेधं च नृपते ! त्वमाहर युधिष्ठिर ! ॥१३५॥

महाभा० आश्वमेधिकप० अ० ३।८॥ श्री व्यासोक्तिः ॥ अत्र विचारः—

रामाश्वमेधनामा च जैमिनीयाश्वमेधकः । ग्रन्थावपि प्रसिद्धौ वै स्तो नास्त्यत्र च संशयः॥१३६॥

परप्रमाणभूते च छान्दोग्ये दृश्यते तथा । अहिंसाऽन्यत्र तीर्थेभ्यः सा तीर्थे तेन गम्यते ॥१३७॥

बृहदारण्यकेऽश्वस्य मेध्यस्य शिर इत्यपि । आदावेव तथैवास्ति ह्येवमन्यत्र दृश्यते ॥१३८॥

सर्वद्रष्टा विष्णु देव ने उस समय सात्त्विक हिंसा रहित यज्ञ, बल से किया. तो हे मुने ! उस समय उस अहिंसक यज्ञ और विष्णु देव की उस से प्रशंसा द्विज लोगों ने की ॥ १२६ ॥ हजारों कर्मयज्ञ से तपोयज्ञ और हजारों तपोयज्ञ से जपयज्ञ और हजारों जपयज्ञ से ध्यानयज्ञ श्रेष्ठ है, और ध्यान यज्ञ से श्रेष्ठ कोई यज्ञ नहीं है, यह ध्यान ज्ञान का साधन है ॥ १२७-१२८ ॥ ध्यान के समान तीर्थ, तप, यज्ञ कोई नहीं है, अतः सम्यग् ध्यान विचार करना चाहिये ॥ १२९ ॥ ध्यान योग का जिज्ञासु मनुष्य भी जिस उत्तम गति को पाता है उस गति को सब महायज्ञों से भी कोई नहीं पाता है ॥ १३० ॥ व्यास जी की उक्ति रूप से सम्मत पूर्वोक्त वाक्य समूह से स्पष्ट प्रतीत होता है कि-वेद और यज्ञ में हिंसा की बात नहीं है ॥ १३१ ॥ किन्तु आपत्ति कालिक धर्मरूप से या अज्ञान मोह से यज्ञ और वेद में हिंसा सिद्ध हुई, सो अब भी प्रवृत्त है ॥ १३२ ॥ हिंसा के अभाव से सत्ययुग में चार पादयुक्त धर्म था, सो त्रेता में हिंसा की प्रवृत्ति से धर्म त्रिपाद हो गया, यह बात सज्जनों के मन में सत्य भासती है ॥ १३३ ॥ परन्तु यदि ऐसी बात है, तो व्यासदेव महाभारत में स्वयं किस प्रकार से हिंसायुक्त यज्ञ के लिये जनों को आज्ञा देते हैं कि हे भारत ! हे नृपते ! हे युधिष्ठिर ! राजसूय, अश्वमेध, सर्वमेध, नरमेध तुम करो ॥ १३४-१३५ ॥ रामाश्वमेध जैमिनीयाश्वमेध नामक दो ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं, इस में संशय नहीं ॥ १३६ ॥ और परम प्रमाण रूप छान्दोग्य उपनिषद् में दीखता है कि तीर्थ=यज्ञादि से अन्यत्र अहिंसा होनी चाहिये, इससे तीर्थ में हिंसा की प्रतीति होती है ॥ १३७ ॥ बृहदारण्यक में भी आदि में

तथाहि—

ऋग्वेदेऽपि हि पश्यन्तु केचित्प्रथममण्डले ॥

न वा उ एतन् म्रियसे न रिष्यसि देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः ।

हरी ते युजा पृषती अभूतामुपस्थायद् वाजी धुरि रासभस्य ॥१३९॥

ऋग्० मं० १। अनु० २२ सू० ५। मं० २१ ॥

एतद् दृष्ट्वा हि विदुषां सतामेषोऽस्ति निश्चयः । त्रिष्वाश्रमेषु नैवैषा हिंसा क्वापि प्रतीयते ॥

वामकौलाद्यसन्मार्गान् विना शास्त्रेषु कर्हिचित् ॥१४०॥

गृहस्थे सात्त्विके नास्याः सम्भवोऽपि कदाचन । राजसे राजशूरादौ तामसे प्राकृते तथा ॥१४१॥

रागाद्यैः सर्वथा प्राप्ता परिसङ्ख्यायते विधौ । चेत्सोऽप्युत्तमताप्रेप्सुस्त्यजेद्धिंसां हि सर्वथा ॥१४२॥

प्राप्नुयाद्ध गतिं श्रेष्ठां सामान्यामन्यथा लभेत् । स्वेच्छयैव प्रवृत्तौ तु निकृष्टां नारकीं गतिम् ॥

प्राप्नुयात्सा च नास्य स्यादिति शास्त्रं तथाऽब्रवीत् ॥ १४३ ॥

अहो कालस्य माहात्म्यान्नष्टाः शुद्धाः सदाश्रमाः । कलौ केवलगार्हस्थ्यमवशिष्टं सुदुःस्थितम् ॥१४४॥

सद्यज्ञै र्भगवानस्य करोतु कुशलं सदा । स्थापयत्वाश्रमान् सर्वान् यावदस्ति वसुन्धरा ॥

भारताद्यनुसारेण विचारोऽत्र तु वर्त्तते ॥१४५॥

तथाहि—

अर्चयित्वा यथान्याय्यं देवेभ्योऽन्नं निवेदयेत् । यदन्ना हि नरा राजंस्तदन्नास्तस्य देवताः ॥१४६॥

महाभा० अनुशास० प० अ० ६६।६१ ॥

यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः ॥ १४७ ॥

वाल्मीकीयरा० अयोध्याकां० स० १०३।३० ॥

ही मेध्य अश्व का शिर कहा गया है, इसी प्रकार अन्यत्र भी हिंसा की बात है ॥ १३८ ॥ कोई ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में देखे कि मारा जाता हुआ पशु से कहा जाता है कि—तुम यह अन्य अश्व के समान मर नहीं रहे हो, न हिंसित होते हो, अर्थात् तेरी मृत्यु वा हिंसा नहीं हो रही है किन्तु सुन्दर साधन मार्गों से देवों को प्राप्त कर रहे हो, तेरे लिये हरि = इन्द्र के घोड़े और मरुत देव के घोड़े रूप पृषती रथ में युक्त हो कर लग कर तुम्हें ढोवेंगे, इस लिये मिले हैं, और रासभ = सूर्य के धुर = मार्ग में वर्तमान वाजी = घोड़ा तेरे लिये प्राप्त होंगे, इत्यादि ॥ १३९ ॥ इस उपनिषदादि को देख कर विद्वान् सत् पुरुषों का यह निश्चय है कि ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, संन्यास ये तीन आश्रमों में तो कहीं भी यह हिंसा वाम कौलादि असन् मार्गों के बिना शास्त्रों में नहीं प्रतीत होती है ॥ १४० ॥ सात्त्विक गृहस्थ में भी इस हिंसा का कभी संभव नहीं है, किन्तु राजस राजा योद्धा वीरादि में तामस प्राकृत = पामर-नीचों में रागादि से यह हिंसा सर्वथा प्राप्त है, विधिशास्त्र में उस को परिसंख्या = गिनती की जाती है. कि राग से भी इतने ही स्थान में होनी चाहिये अन्यत्र नहीं । यदि वह राजस तामस भी उत्तमता की प्राप्ति चाहे तो हिंसा को सर्वथा त्यागे ॥ १४१–१४२ ॥ जो हिंसा को त्यागेगा सो श्रेष्ठ गति पायेगा, न त्याग सकने पर भी विधि परिसंख्या के अनुसार चलने पर सामान्य गति पावेगा, अपनी इच्छा राग से प्रवृत्त होने पर नारकी नीच गति पावेगा, इस राजस तामस को भी सो नारकी गति न हो, इस लिये शास्त्र ने वैसा कहा है ॥१४३॥ आश्चर्य है कि काल की महिमा से तीन शुद्ध आश्रम नष्ट हो गये, कलि में केवल गृहस्थाश्रम बाकी है सो भी अत्यन्त दुरवस्थित है ॥ १४४ ॥ श्रेष्ठ सात्त्विक यज्ञ द्वारा भगवान् इस गृहस्थ का सदा कुशल करे, और जब तक भूमि है तब तक सब आश्रमों की स्थापना करें ॥ १४५ ॥ महाभारतादि के अनुसार यहाँ विचार है, सो यह है कि देव पूजा कर के देव सब के लिये अन्न का निवेदन अर्पण करे, और समझे कि मनुष्य

इति न्यायेन ये लोका भवन्ति पिशिताशनाः । तेषां देवास्तथा कर्म पितरस्तादृशः स्मृताः ॥१४८॥
सुखार्थिन इमे लोका धर्मतत्त्वं विदन्ति नो । ते कुर्वन्तु तथा प्राज्ञैः कर्त्तव्यं न विहिंसनम् ॥१४९॥

तथा चोक्तं वाल्मीकीये युद्धकां० स० ९।३०-३१ इत्यत्र :—

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम् । धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत् ॥१५०॥
आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्षयित्वा प्रयत्नतः । प्राप्यते निपुणै धर्मो न सुखाल्लभते सुखम् ॥१५१॥

अन्यच्चोक्तमयोध्याकाण्डे स० १०९।३६ इत्यत्र :—

धर्मे रताः सत्पुरुषैः समेतास्तेजस्विनो दानगुणप्रधानाः ।
अहिंसका वीतमलाश्च लोके भवन्ति पूज्या मुनयः प्रधानाः ॥१५२॥ महाभारते तुलाधारेण चोक्तम्—

अद्रोहेण भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः । या वृत्तिः सा परो धर्मस्तेन जीवामि जाजले ! ॥१५३॥
यस्मादुद्विजते लोकः सर्वो मृत्युमुखादिव । वाक् क्रूराद् दण्डपरुषात्स प्राप्नोति महद् भयम् ॥१५४॥
न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन । यस्मान्नोद्विजते भूतं जातु किञ्चित्कथञ्चन ॥
सोऽभयं सर्वभूतेभ्यः सम्प्राप्नोति महामुने ! ॥ १५५ ॥ म० भा० शान्तिप० अ० २६१ ॥
यत्र गत्वा न शोचन्ति न च्यवन्ति व्यथन्ति च । ते तु तद्ब्रह्मणः स्थानं प्राप्नुवन्ति हि सात्त्विकाः ॥१५६॥
नैव ते स्वर्गमिच्छन्ति न यजन्ति यशोधनैः । सतां वर्त्मानुवर्त्तन्ते यजन्ते चाविहिंसया ॥१५७॥
महाभा० शान्तिप० अ० २६३ ॥
विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः । उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥१५८॥
मनु० स्मृ० अ० २।८५ ॥ वस्तुतः—

जिस अन्न वाला आप होता है, उसी अन्न वाले उस के देव होते हैं ॥ १४६--१४७ ॥ इस न्याय से जो लोग मांसाशी हैं, उन के देव कर्म तथा पितर भी मांसाशी कहे गये हैं ॥ १४८ ॥ लौकिक सुख स्वादादि को चाहने वाले जो मनुष्य धर्म के तत्त्व = सत्यस्वरूप को नहीं जानते हैं, सो वैसा करें परन्तु विद्वानों को हिंसा नहीं करनी चाहिये ॥ १४९ ॥ सो वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि धर्म से अर्थ उत्तम होता है, धर्म से श्रेष्ठ सुख मिलता है, धर्म से सब कुछ मिलता है, यह जगत् धर्म रूप सार वाला है ॥ १५० ॥ अपने शरीर मन को यत्न पूर्वक तत्तत् नियमों से कर्षण = शोधनादि कर के ही निपुण लोगों से धर्म प्राप्त किया जाता है, सुख से सुख नहीं मिलता ॥ १५१ ॥ धर्म में तत्पर सत्पुरुषों से मिलने वाले तेजस्वी प्रधान दान गुण वाले अहिंसक मल रहित पुरुष लोक में पूज्य मुनि प्रधान होते हैं ॥ १५२ ॥ हे जाजले ! प्राणियों के अद्रोह पूर्वक, या असम्भव दशा में अल्प द्रोह पूर्वक जो वृत्ति है वह परम धर्म है, उसी से मैं जीता हूँ ॥१५३॥ जिस क्रूरवक्ता, कठिन दण्डदाता, हिंसक पुरुष से मृत्यु के मुख के समान सब लोक उद्विग्न भयभीत होते हैं, वह महाभय पाता है ॥१५४॥ प्राणी की अहिंसा से श्रेष्ठ कोई धर्म नहीं है, जिससे कोई प्राणी कभी किसी प्रकार भी उद्विग्न नहीं होता है, हे महामुने ! वह भी सब प्राणियों से सदा अभय पाता है ॥ १५५ ॥ जहाँ जाकर शोक नहीं करते हैं न च्युत होते हैं न व्यथित = दुःखी होते हैं, वे संसार से तितीर्षु सात्त्विक लोग उस ब्रह्म के स्थान को पाते हैं ॥ १५६ ॥ वे लोग स्वर्ग नहीं चाहते हैं न यश के लिये धनों से यज्ञ करते हैं, किन्तु सत्पुरुषों के मार्ग में चलते हैं, और अविहिंसा से यज्ञ करते हैं ॥१५७॥ "दर्शपौर्णमासाभ्यां

क्रुत्वा छित्त्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् । यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरकं केन गम्यते ॥१५९॥
अन्धे तमसि मज्जामः पशुभि र्ये यजामहे । हिंसा नाम भवेद्धर्मो न भूतो न भविष्यति ॥१६०॥
प्राणिघातात्तु यो धर्ममीहते मूढमानसः । स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाहिमुखकोटरात् ॥१६१॥
ध्यानाग्नौ जीवकुण्डस्थे दयामारुतदीपिते । असत्कर्मसमित्क्षेपैरग्निहोत्रं कुरूत्तम ! ॥१६२॥
कषायपशुभि र्दुष्टै र्धर्मकामार्थनाशकैः । शममन्त्रहुतै र्यज्ञं विधेहि विहितं बुधैः ॥१६३॥
यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणिनां न चिकीर्षति । स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥१६४॥

इत्याद्यभियुक्ताः प्राहुः ॥

ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पतिम् । इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन् ॥१६५॥
देवीं मायां तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम् । वसुकामो वसून् रुद्रान् वीर्यकामोऽथ वीर्यवान्॥१६६॥
अन्नाद्यकामस्त्वदितिं स्वर्गकामोऽदितेः सुतान् । विश्वान् देवान् राज्यकामः साध्यान् संसाधको विशाम्॥
आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टिकाम इलां यजेत् । प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसी लोकमातरौ ॥१६८॥
रूपाभिकामो गन्धर्वान् स्त्रीकामोऽप्सरउर्वशीम् । आधिपत्यकामः सर्वेषां यजेत्परमेष्ठिनम् ॥१६९॥
यज्ञं यजेद्यशस्कामः कोशकामः प्रचेतसम् । विद्याकामस्तु गिरिशं दम्पत्यार्थ उमां सतीम् ॥१७०॥

यजेत स्वर्ग कामः ।" इत्यादि विहित यज्ञ से जपयज्ञ दसगुणा श्रेष्ठ है, उसमें भी उपांशु (समीपस्थ से भी अश्रुत) जप शतगुण श्रेष्ठ है, मानस जप सहस्र गुण श्रेष्ठ है ॥१५८॥ पशुओं के वेष्टन = बन्धन छेदन हनन रुधिर के कर्दम = कादो कर के यदि किसी की स्वर्ग में गति हो, तो नरक में किससे गति होगी ? ॥१५९॥ जो हम पशु से यज्ञ करेंगे तो अन्धतम में डूबेंगे, हिंसा नामक कर्म, न धर्म हुआ है न होगा ॥१६०॥ जो मूढ़ मन वाला प्राणियों की हिंसा से धर्म चाहता है, सो मानों काले सर्प के मुख रूप कोटर = रन्ध्र-छिद्र से अमृत की वृष्टि चाहता है ॥१६१॥ हे उत्तम पुरुष ! जीव स्वरूप अग्नि कुण्ड में स्थिर दया रूप वायु से प्रज्वलित ध्यान रूप अग्नि में असत्कर्म रूप काष्ठों के प्रक्षेप द्वारा अग्निहोत्र करो ॥१६२॥ धर्म, काम, अर्थ के नाशक दुष्ट रागद्वेषादि रूप कषाय = दोष को शम रूप मन्त्र से हवन द्वारा विद्वानों से विहित यज्ञ करो ॥ १६३ ॥ जो कोई प्राणियों के बन्धन वध क्लेशों को नहीं करना चाहता है, वह सब का हितेच्छुक अत्यन्त सुख पाता है ॥१६४॥ ब्रह्मतेज की कामना वाला, वेदपति ब्रह्मा को पूजे, इन्द्रिय पुष्टिकी इच्छा वाला, इन्द्र को और पुत्र की इच्छा वाला, प्रजापतियों को पूजे ॥ १६५ ॥ लक्ष्मी की इच्छा वाला, माया देवी दुर्गा को पूजे, तेज की इच्छा वाला, अग्नि को, वसु = धनादि की इच्छा वाला, आठ वसुओं को और वीर्य की इच्छा वाला, वीर्य वाले रुद्रों को पूजे ॥१६६॥ अन्नादि भक्ष्यादि की इच्छा वाला, अदिति देवी को, स्वर्ग की इच्छा वाला, अदिति के पुत्रों को, राज्य की इच्छा वाला, विश्वेदेव को, वैश्यादि प्रजा को वश करने की इच्छा वाला, साध्य नामक देव को पूजे ॥ १६७ ॥ आयु की इच्छा वाला, अश्विनीकुमार को, पुष्टि की इच्छा वाला भूमि को, प्रतिष्ठा की इच्छा वाला पुरुष, लोक माता रोदसी = स्वर्गभूमि को पूजे ॥ १६८ ॥ रूप की इच्छा वाला, गन्धर्वों को, स्त्री की इच्छा वाला, उर्वशी अप्सरा को सबके प्रभुत्व की इच्छा वाला, परमेष्ठी = ब्रह्मा को पूजे ॥ १६९ ॥ यश की इच्छा वाला, यज्ञ पुरुष को, कोश की इच्छा वाला, वरुण को विद्या की इच्छा वाला, महादेव को, और दाम्पत्य (स्त्री पुरुष में प्रेमादि) की इच्छा वाला, उसके लिये

धर्मार्थ उत्तमश्लोकं तन्तुं तन्वन् पितॄन् यजेत् । रक्षाकामः पुण्यजनानोजस्कामो मरुद्गणान् ॥१७१॥
राज्यकामो मनून् देवान्निर्ऋतिं त्वभिचरन् यजेत् । कामकामो यजेत्सोममकामः पुरुषं यजेत् ॥१७२॥
अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥१७३॥
एतावानेव यजता मिह निःश्रेयसोदयः । भगवत्यचलो भावो यद्भागवतसङ्गतः ॥१७४॥

इति सप्तदशं यज्ञप्रकरणं समाप्तम् ॥ भागवतस्क० २।३।२-११ ॥

अथ विद्या ॥ १८ ॥

या विद्या येन सा लभ्या यत्कार्या तन्मुमुक्षुभिः । ज्ञात्वा ग्राह्या च सेव्या सा यथायोग्यं सुखेप्सुभिः ॥१॥
विद्यया जीयते मृत्यु र्नरकस्तीर्यते तथा । लोकेऽपि च सुखं ताभि र्लभ्यते नात्र संशयः ॥२॥
परा विद्याऽपरा चैव द्विधाऽस्ति सा श्रुतौ श्रुता । परा गुरुविचाराद्यैरपरा चापि लभ्यते ॥३॥ उक्तं च—
अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः । धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्यास्त्वेताश्चतुर्दश ॥४॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चैव ते त्रयः । अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादशैव तु ॥५॥

वायुपु० अ० ॥ ६१।७८-७९ ॥ भविष्यपु० अ० २।६-७ ॥

शनै र्विद्यां शनैरर्थानारोहेत्पर्वतं शनैः । शनैरध्वसु वर्त्तेत योजनान्न परं व्रजेत् ॥६॥
योजनानां सहस्रं तु शनैः याति पिपीलिका । अगच्छन् वैनतेयोऽपि पदमेकं न गच्छति ॥७॥
अहेरिव गणाद्भीतः सौहित्यान्नरकादिव । राक्षसीभ्य इव स्त्रीभ्यः स विद्यामधिगच्छति ॥८॥

सती उमा को पूजे ॥ १७० ॥ धर्म के लिये विष्णु को, सन्तान का विस्तार करता हुआ, पितरों को, रक्षा की इच्छा वाला, यक्षों को, बलेच्छु, मरुद्गणों को पूजे ॥१७१॥ राज्येच्छुक, मनु देवों को, मारण का इच्छुक, मृत्यु को, काम्य भोग का इच्छुक, चन्द्रमा को, और निष्कामता वाला, परमपुरुष को पूजे ॥१७२॥ सब काम रहित वा सब काम वाला, वा मोक्षेच्छुक, उदार बुद्धि वाला, तीव्र = प्रबल भक्तियोग द्वारा परमपुरुष को पूजे ॥ १७३ ॥ यज्ञादि करने वालों को यही यहाँ कल्याण का उदय है कि भगवान् में अचल भाव = प्रेम हो और भगवद्भक्त ज्ञानी का संग मिले ॥ १७४ ॥ सत्रहवाँ यज्ञप्रकरण समाप्त ॥

अथ विद्या—विद्या जो वस्तु है, जिससे प्राप्त करने योग्य है, जिस कार्यवाली है, सो सब मुमुक्षु और सुखेच्छु को समझ कर यथा योग्य ग्राह्य और सेव्य है ॥१॥ विद्या से मृत्यु जीता जाता है, नरक तरा जाता है, और लोक में भी उससे सुख मिलता है, इसमें संशय नहीं है ॥२॥ 'द्वे विद्ये वेदितव्ये इतिहस्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च । [मुण्डक० १।४]" इस श्रुति में जो विद्या परा अपरा दो प्रकार की सुनी गई है, सो गुरु और विचारादि द्वारा प्राप्त होती है ॥ ३ ॥ व्याकरणादि वेदों के छः अंग चार वेद पूर्वोत्तर मीमांसा न्याय के विस्तर धर्म शास्त्र और पुराण ये चौदह विद्या है ॥ ४ ॥ आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थशास्त्र इन के सहित आठ अधिक दश विद्या है ॥ ५ ॥ शनैः = धीरे २ विद्या को प्राप्त करे, तथा अर्थों को शनैः प्राप्त करे, पर्वत पर धीरे से चढ़े, मार्ग में धीरे से वर्ते, एक योजन से आगे नहीं जाय ॥ ६ ॥ धीरे २ चलती रहने वाली चींटी भी हजार योजन जाती है, न चलता हुआ गरुड भी एक पद नहीं जाता है ॥ ७ ॥ सर्प के समान जन समूह से, नरक के समान सौहित्य

गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा । अथवा विद्यया विद्याह्यन्यथा नोपपद्यते ॥९॥
नारदीयपु० अ० ५०।२२२-२३-३५ ॥

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः । वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥१०॥
याज्ञवल्क्यस्मृ० अ० १।३॥

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् । तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥
मनुस्मृ० अ० १२।१०४ ॥

कामधेनुगुणाविद्या ह्यकाले फलदायिनी । प्रवासे मातृसदृशी विद्या गुप्तं धनं स्मृतम् ॥१२॥
चाणक्यनीति० अ० ४।५ ॥

विद्या सर्वमनुष्याणां जननी नापरा स्मृता । जातोऽनया पुमान् यस्माद् गच्छेल्लोकद्वये सुखम्॥१३॥
आत्मपु० अ० ४।२६८ ॥

न ह्येकमेव शास्त्रं जानानः किञ्चिदपि शास्त्रं जानाति ।
तस्माद् बहुश्रुतः (सन्) शास्त्रं विजानीयात्प्रयत्नतः ॥ १४ ॥ सुश्रुतम् ॥

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनम् , विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता, विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः॥१५॥
भर्तृह० ॥

अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतम् । रतिपुत्रफला दारा दत्तभुक्तफलं धनम् ॥१६॥
स्कन्दपु० खं० ६।अ० २१५।१६ ॥

न चोरहार्यं न च राजहार्यं न भ्रातृभाज्यं न च भारकारी ।

(भोजन जन्य अति तृप्ति) से, राक्षसी तुल्य स्त्री से डरने वाला विद्या पाता है ॥ ८ ॥ गुरु सेवा, पुष्कल धन वा विद्या से विद्या प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं सिद्ध होती है ॥ ९ ॥ पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, व्याकरणादि छः अंग सहित वेद ये चौदह विद्या और धर्म के स्थान हैं ॥ १० ॥ तप और विद्या दोनों विप्र के लिए परम कल्याण कारक हैं । तप से पाप को नष्ट करता है और विद्या से अमृत =मोक्ष सुख पाता है ॥ ११ ॥ कामधेनु के गुण वाली विद्या है, सो अकाल में फल देने वाली है, प्रवास = विदेश में माता के समान हितकारिणी है, इससे विद्या गुप्त धन है ॥ १२ ॥ विद्या सब मनुष्यों की जननी=माता है, अन्य नहीं मानी गई है, जिससे इस विद्या द्वारा जन्म पाने वाला पुरुष दोनों लोक में सुख पाता है ॥ १३ ॥ परन्तु एक ही शास्त्र को जानने वाला कुछ भी शास्त्र को नहीं जानता है, अतः बहुत शास्त्र का श्रोता हो कर शास्त्र के तत्त्व को प्रयत्न से समझना चाहिये ॥ १४ ॥ विद्या ही मनुष्य के लिए अधिक=श्रेष्ठ रूप है, छिपा हुवा रक्षित धन है, भोग, यश और सुख को सिद्ध करने वाली है, गुरुओं का गुरु है, विदेश में गमन काल में बन्धुजन के तुल्य है, उत्तम देवता रूप है । राजाओं में विद्या ही पूज्य होती है, धन नहीं, और विद्या=विवेकादि से सर्वथा रहित मनुष्य पशु है ॥ १५ ॥ अग्निहोत्र रूप फल वाले तथा अग्निहोत्रादि द्वारा फल देने वाले वेद हैं, शास्त्र का श्रवण शील=सुस्वभाव वृत्त=सच्चरित्र रूप फल वाला, तथा शील, वृत्त द्वारा फल देने वाला है, रति पुत्र फल वाली स्त्री है, दान भोग फल वाला धन है ॥ १६ ॥ जो विद्या रूप धन, चोर वा राजा से नहीं हरा जाता है, न भाई से बांटा जाता है, न भारकारी

व्यये कृते वर्धत एव नित्यं विद्याधनं सर्वधनप्रधानम् ॥ १७ ॥
हर्तुर्न गोचरं याति दत्ता भवति विस्तृता । कल्पान्तेऽपि न या नश्येत् किमन्यद्विद्यया समम् ॥१८॥
गतेऽपि वयसि ग्राह्या विद्या सर्वात्मना बुधैः । यद्यपि स्यान्न फलदा सुलभा सान्यजन्मनि ॥१९॥
परं पलितकायेन कर्तव्यः श्रुतसंग्रहः । न तत्र धनिनो यान्ति यत्र यान्ति बहुश्रुताः ॥२०॥सु०रत्नादौ ॥
आविर्भूतं स्वयं भानात्स्वत्वात्सन्निहितं च यत् । ब्रह्मास्मिन् कल्पितं सर्वमितिधी बोध उच्यते ॥२१॥
अनुभूतिप्रकाश० अ० ८॥

धृति दाक्ष्यं संयमो बुद्धिरात्मा धैर्यं शौर्यं देशकालाप्रमादः ।
अल्पस्य वा बहुनो वा विवृद्धौ धनस्यैतान्यष्ट समिन्धनानि ॥२२॥
विद्या तपो वा विपुलं धनं वा सर्वं ह्येतद् व्यवसायेन शक्यम् ।
बुद्ध्यायत्तं तन्निवसेद् देहवत्सु तस्माद्विद्याद् व्यवसायं प्रभूतम् ॥ २३ ॥
यत्रासते मतिमन्तो मनस्विनो शक्रो विष्णुर्यत्र सरस्वती च ।
वसन्ति भूतानि च यत्र नित्यं तस्माद्विद्वान्नावमन्येत देहम्॥२४॥ महाभा०शान्तिप० १२०।३७-४५-४६॥

इत्यष्टादशं विद्याप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ ब्राह्मण्यम् ॥ १९ ॥

परया विद्यया यस्य ब्रह्मनिष्ठा भवेद्यदा । ब्राह्मण्यं पुष्कलं तस्मिन् सदाचारिषु लौकिकम् ॥१॥
वेदाध्ययनमात्रेण ब्राह्मण्यं जायते न हि । न जन्मनापि तज्ज्ञेयं सच्छास्त्रेषु विचक्षणैः ॥२॥ तथाहि—

होता है, और दान करने से सदा बढ़ता ही है, सो सब धन से प्रधान है ॥ १७ ॥ जो हरने वाले के इन्द्रियों का विषय नहीं होती है, दी गई बढ़ती है, कल्पों के अन्त में भी नष्ट नहीं होती है, उस विद्या के समान अन्य क्या होगा ? ॥ १८ ॥ अवस्था के बीतने पर भी सर्वभाव से बुधों को विद्या का ग्रहण करना चाहिये, यदि इस जन्म में फल देने वाली नहीं भी होगी तो अन्य जन्म में वह फलदा विद्या सुलभ होगी ॥ १९ ॥ अत्यन्त पलित=श्वेत बालयुक्त देह से भी शास्त्रों का संग्रह=ज्ञान करना चाहिये, वहाँ धनी नहीं जाते हैं, कि जहाँ बहुत श्रवण वाले जाते हैं ॥ २० ॥ स्वयं प्रकाश होने से जो ब्रह्म सर्वात्म स्वरूप से आविर्भूत=प्रकट है, आत्मा होने से सन्निहित=पास में है, उसी में सब संसार कल्पित है, इस निश्चय को बोध=विद्या कहते हैं ॥२१॥ धैर्य, दाक्ष्य-चतुरता, संयम (मन इन्द्रिय का संयमन) बुद्धि, आत्मा=यत्न शूरता, देशकाल का विवेक ये आठों स्वल्प वा बहुत धन की विशेष वृद्धि में हेतु हैं ॥ २२ ॥ और विद्या वा तप वा विपुल=महत् धन ये सब व्यवसाय=उद्यम निश्चय से प्राप्ति के योग्य होते हैं, अतः व्यवस्था को प्रभूत=बहुल समझना चाहिये ॥ २३ ॥ और जिस देह में इन्द्रियों के अधिदेवादि रूप से मतिवाले विद्यावाले, ज्ञानी इन्द्र विष्णु सरस्वती आदि देव सदा बसते हैं, उस हेतु से विद्वान्=शास्त्र उस देह का अनादर नहीं करें किन्तु उस देह से धर्म आत्मविद्या को प्राप्त करें ॥ २४ ॥ अठारहवाँ विद्याप्रकरण समाप्त ॥

अथ ब्राह्मण्य—जिस को जब परा विद्या से ब्रह्मनिष्ठा=ब्रह्म में नियत स्थिति होती है, तब उस में पुष्कल=पूर्ण श्रेष्ठ ब्राह्मणता होती है, सदाचारी में लौकिक ब्राह्मणता होती है ॥ १ ॥ वेदाध्ययन मात्र से

वेदाध्ययनमप्येतद् ब्राह्मण्यं प्रतिपद्यते । विप्रवद्वैश्यराजानौ राक्षसा रावणादयः ॥३॥
श्वादचाण्डालदासाश्च लुब्धकाभीरधीवराः । येऽन्येऽपि वृषलाः केचित्तेऽपि वेदानधीयते ॥४॥
शूद्रा देशान्तरं गत्वा ब्राह्मणं क्षत्रियं श्रिताः । व्यापाराकारभाषाद्यै र्विप्रतुल्यैः प्रकल्पितैः ॥५॥
वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथा क्रमम् । प्रोद्वहन्ति शुभां कन्यां शुद्धब्राह्मणजां नराः ॥६॥
अथवाऽधीत्य वेदांस्तु क्षत्रवैश्यैस्तु वा नराः । गौडपूर्वां कृतास्मेयु र्जातिं वा दाक्षिणात्यजाम् ॥७॥
अपरिज्ञातशूद्रत्वाद् ब्राह्मण्यं याति कामतः । तस्मान्न ज्ञायते भेदो वेदाध्ययनक्रियाकृतः ॥८॥
शास्त्रकारैस्तथा चोक्तं न्यायमार्गानुसारिभिः । ते साधुमतमाकर्ण्य सन्तः सन्ति विमत्सराः ॥९॥
आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः ।
शिल्पं हि वेदाध्ययनं द्विजानां वृत्तं स्मृतं ब्राह्मणलक्षणं तु ॥ १० ॥
अधीत्य चतुरो वेदान् यदि वृत्ते न तिष्ठति । न तेन क्रियते कार्यं स्त्रीरत्नेनेव षण्डकः ॥११॥
शिखाप्रणवसंस्कारसन्ध्योपासनमेखलाः । दण्डाजिनपवित्राद्याः शूद्रेष्वपि निरङ्कुशाः ॥१२॥

वर्णप्रमाणाकृतिगर्भवासवाग्बुद्धिः कर्मेन्द्रियजीवितेषु ।
बलत्रिवर्गामयभेषजेषु न विद्यते जातिकृतो विशेषः ॥ १३ ॥
स एक एवात्र पतिः प्रजानां कथं पुन र्जातिकृतः प्रभेदः ।
प्रमाणदृष्टान्तनयप्रवादैः परीक्ष्यमाणो विघटत्वमेति ॥ १४ ॥

ब्राह्मणता नहीं होती है, न जन्म से होती है, सो शास्त्रों में विद्वानों से समझने योग्य है ॥ २ ॥ इस वेदाध्ययन को ब्राह्मणता समझता है, परन्तु ब्राह्मण के समान वैश्य क्षत्रिय रावणादि राक्षस श्वाद=श्वपच चाण्डाल, दास, लुब्धक = व्याध आभीर = गोप धीवर = कैवर्त्त और अन्य भी कोई जो वृषल=शूद्र हैं, सो भी वेदों को पढ़ते हैं ॥ ३–४ ॥ शूद्र भी देशान्तर में जा कर और ब्राह्मण क्षत्रिय के आश्रित रह कर, विप्र के तुल्य प्रकल्पित=रचित व्यापार आकार भाषादि द्वारा तीन वा दो या एक वेद को क्रम के अनुसार पढ़ कर वह मनुष्य शुद्ध ब्राह्मण से जन्मी हुई शुभ कन्या से विवाह करता है ॥ ५–६ ॥ अथवा क्षत्रिय और वैश्यों से वेदों को पढ़ कर, कृतपञ्चगौड़ सम्बन्धी पूर्वो जाति को वा दाक्षिणात्य जन्य जाति को प्राप्त होता है, और शूद्रता के अज्ञान से इच्छा के अनुसार ब्राह्मणता को प्राप्त करता है, अतः वेदाध्ययन क्रियाजन्य भेद नहीं जाना जा सकता है ॥ ७–८ ॥ इसी प्रकार न्यायमार्गानुसारी शास्त्रकारों से कहा गया है, और वे सन्त लोग साधुमत को सुन कर मत्सर रहित हैं ॥ ९ ॥ यदि छः अंगों के सहित वेद पढ़े भी गये हों, तो भी वे वेद आचार रहित को पवित्र नहीं करते हैं, और वेदाध्ययन तो द्विजों का शिल्प = कर्म है, ब्राह्मण का लक्षण तो वृत्त=सच्चरित्र ही कहा गया है ॥ १० ॥ चारो वेदों को पढ़ कर भी यदि चरित्र में नहीं रहता है, तो उस से वेद द्वारा कुछ कार्य नहीं किया जा सकता, जैसे षण्डक = शण्ढ-नपुंसक श्रेष्ठ स्त्री से भी पुत्रादि नहीं प्राप्त कर सकता ॥११॥ शिखा, ओंकारादि, मेखला=कटिसूत्र, काञ्ची अजिन = मृगचर्म, पवित्री=कुशविशेष आदि शूद्र में भी अनिवारित हैं ॥ १२ ॥ शुक्लादिवर्ण ऊंचाई आदि प्रमाण आकारादि में और बल, त्रिवर्ग=अर्थ धर्म काम आदि में जातिकृत भेद नहीं है ॥ १३ ॥ वह प्रजाओं का पति=स्वामी एक ही है, फिर जातिकृत प्रभेद, वेदादि प्रमाण और दृष्टान्त न्याय तथा प्रवाद

चत्वारि एकस्य पितुः सुताश्च तेषां सुतानां खलु जातिरेका ।
एवं प्रजानां हि पितैक एव पित्रैकभावान्न च जातिभेदः ।। १५ ।।
फलान्यथोदुम्बरवृक्षजाते यथाग्रमध्यान्तभवानि यानि ।
वर्णकृतिस्पर्शरसैः समानि तथैकतो जातिरतिप्रचिन्त्या ।। १६ ।।
ये कौशिकाः काश्यपगौतमाश्च कौण्डिन्यमाण्डव्यवसिष्ठगोत्राः ।
आत्रेयकौत्स्याङ्गिरसः सगर्गा मौद्गल्य कात्यायनभार्गवाश्च ।। १७ ।।
गोत्राणि नानाविधजातयश्च भ्रातृस्नुषा मैथुनपुत्रभावाः ।
वैवाहिकं कर्म न वर्णभेदाः सर्वाणि शिल्पानि भवन्ति तेषाम् ।। १८ ।।

मृग्यमाणे प्रयत्नेन देहे तन्नोपलभ्यते । तस्मान्न देहे ब्राह्मण्यं नापि देहात्मकं भवेत् ।।१९।।
भविष्यपु० अ० ४१।।

बहुवनस्पतिशङ्खपिपीलिका भ्रमरवारणजातिमुदाहरन् ।
गतिषु कर्ममितो नटवत्सदा भ्रमति जन्तुरलब्धसुदर्शनः ।। २० ।।
ज्ञात्वा भवपरीवर्त्तें जातीनां कोटिशतसहस्रेषु । हीनोत्तममध्यमत्वं को जातिमदं बुधः कुर्यात् ।।२१।।
ज्ञानाध्ययनमीमांसानियमेन्द्रियनिग्रहैः । विना संस्कारयोगेऽपि पुंसः शूद्रान्न भिन्नता ।।२२।।
संस्कृतोऽपि दुराचारो नरकं याति मानवः । निःसंस्कारः सदाचारो भवेद्विप्रोत्तमः सदा ।।२३।।
आचारमनुतिष्ठन्तो व्यासादिमुनिसत्तमाः । गर्भाधानादिसंस्कारकलापरहिताः स्फुटम् ।।२४।।

=प्रकृष्ट विचार वचन द्वारा परीक्ष्यमाण होने=विचारे जाने पर भी विघटत्व=युक्तत्व को कैसे पा सकता है ? ।।१४।। एक पिता के चार पुत्र होते हैं, तो उन पुत्रों की जाति एक ही होती है, इसी प्रकार सब प्रजाओं का पिता एक ही है, पिता के एकत्व से जाति भेद नहीं है ।। १५ ।। जैसे उदुम्बर=गूलर वृक्ष जाति के फल जो अग्र, मध्य, अन्त में होते हैं सो सब वर्ण आकार, स्पर्श, रस से तुल्य होते हैं, तथा एक प्रजापति के मुख बाहु आदि से जातिभेद अति विचारणीय है ।। १६ ।। और कौशिक, काश्यप, गौतमादि गोत्र हैं, सो नाना प्रकार के गोत्र और नाना प्रकार की जाति भ्राता की स्नुषा = पुत्रभार्या, मैथुन से पुत्रभाव, ये सब विवाह सम्बन्धी कर्म रूप हैं, वर्ण=जाति भेद रूप नहीं हैं, उन के सब शिल्प=कर्म होते हैं ।।१७-१८।। प्रयत्न से खोजने पर देह में वह ब्राह्मणत्व नहीं मिलता है, अतः वह देह में नहीं है, न देह रूप है ।। १९।। सुन्दर अपरोक्ष आत्मानुभव रहित जन्तु = जीव बहुत प्रकार के वनस्पति, शंख, चींटी, भ्रमर, हाथी, आदि जाति=जन्म को आगे २ धारण करता हुआ, और गतियों में कर्मों से परिमित गति वाला होता हुआ नट के समान वेष धरकर सदा संसार में भ्रमता है ।। २० ।। संसार के परीवर्त = परिवर्तन में जन्मों के करोड़ों सौ सहस्रों में हीनता, उत्तमता, मध्यमता को जान कर कौन विद्वान् जाति का मद करेगा ? ।।२१।। ज्ञान ध्यान विचारादि के विना संस्कारों से सम्बन्ध होते भी पुरुष को शूद्र से भिन्नता नहीं होती है ।।२२।। संस्कारयुक्त भी दुराचारी मनुष्य नरक में जाता है, और संस्कार रहित भी सदाचारी सदा विप्रोत्तम होता है ।। २३ ।। गर्भाधानादि संस्कार समूह से रहित भी व्यासादि मुनिश्रेष्ठों ने सदाचार का अनुष्ठान

विप्रोत्तमश्रियं प्राप्ताः सर्वलोकनमस्कृताः । बहवः कथ्यमाना ये कतिचित्तान्निबोधत ॥२५॥
जातो व्यासस्तु कैवर्त्याः श्वपाक्याश्च पराशरः । शुक्याःशुकःकणादाख्यस्तथोलुक्याः सुतोऽभवत्॥२६॥
मृगीजोऽथर्षिश्रृङ्गोऽपि वसिष्ठो गणिकात्मजः । मन्दपालो मुनिश्रेष्ठो नाविकापत्यमुच्यते ॥२७॥
माण्डव्यो मुनिराजस्तु मण्डूकीगर्भसम्भवः । बहवोऽन्येऽपि विप्रत्वं प्राप्ता ये पूर्ववद् द्विजाः ॥२८॥
भविष्यपु० अ० ४२ ॥

मिश्रदेशोद्भवा म्लेच्छाः काश्यपेनैव शासिताः । संस्कृताः शूद्रवर्णेन ब्रह्मवर्णमुपागताः ॥२९॥

शिखासूत्रं समादाय पठित्वा वेदमुत्तमम् । यज्ञैश्च पूजयामासु र्देवदेवं सचीपतिम् ॥३०॥
भविष्यपु० प्रतिसर्गप० खं० २।२०।७२-७३ ॥

सरस्वत्याज्ञया कण्वो मिश्रदेशमुपाययौ । म्लेच्छान् संस्कृतमाभाष्य तदा दश सहस्रकान् ॥
वशीकृत्य स्वयं प्राप्तो ब्रह्मावर्त्ते महोत्तमे ॥३१॥ भविष्यपु० प्र० खं० २।२१।१५५ ॥
विश्वस्फूर्जिनृपश्चासीन्महाबुद्धो महाबलः । क्षुद्रभूपान् वशीकृत्य सर्ववर्णान्नरांस्तथा ॥
स्थापयामास वै ब्राह्मे वर्णे ब्रह्मपरायणे ॥ ३२ ॥
क्षत्रविट्क्षूद्रका वर्णाः पिशाचा वर्णसङ्कराः । गुरुण्डाद्यास्तथा म्लेच्छा ब्राह्मणास्ते बभूविरे ॥३३॥
भविष्यपु० प्र० खं० २।२३।९०-९१। इत्यादि ॥
वृत्तं यत्नेन संरक्षेद्वित्तमेति प्रयाति च । अहीनो वित्ततो हीनो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥३४॥

किं कुलेनोपदिष्टेन विपुलेन दुरात्मनाम् । कृमयः किं न जायन्ते कुसुमेषु सुगन्धिषु ॥३५॥

करते हुए, स्पष्ट=प्रकट विप्रोत्तम की श्री (शोभा लक्ष्मी विद्या) को प्राप्त किया, और सब लोक से नमस्कृत पूज्य हुए, कई ऐसे जो बहुत कहे गये हैं, उन में से कई एक हुए समझो ॥ २४-२५ ॥ कैवर्ती से व्यास हुए, उन के पिता पराशर श्वपाकी से हुए, शुकी से शुक देव हुए, उलुकी से कणाद नामक ऋषि हुए ॥ २६ ॥ ऋषिश्रृङ्ग मृगी से हुए, वसिष्ठ गणिका पुत्र हुए, मन्दपाल नामक मुनिश्रेष्ठ नाविक के पुत्र कहलाते हैं ॥२७॥ माण्डव्यनामक मुनिराज मण्डूकी के गर्भ से जन्मे, और अन्य भी बहुत जो पूर्व के समान हुए सो द्विज हो कर विप्रत्व को प्राप्त किये ॥२८॥ काश्यप से शिक्षा पाने वाले मिश्रदेश में उत्पन्न म्लेच्छ, शूद्र वर्ण के संस्कार युक्त होने पर, काश्यप द्वारा संस्कृत स्वयं ब्राह्मण वर्ण को प्राप्त हुए ॥२९॥ फिर उन्होंने शिखा सूत्र=यज्ञोपवीत ग्रहण करके उत्तम वेद को पढ़ कर यज्ञों द्वारा देवों के देव सचीपति=इन्द्र की पूजा किया ॥ ३० ॥ कण्व नामक ऋषि सरस्वती की आज्ञा से मिश्रदेश में गये और उस समय संस्कृत बोल कर दस हजार म्लेच्छों को वश में करके महान् उत्तम ब्रह्मावर्त्त देश में स्वयं प्राप्त हुए ॥ ३१ ॥ विश्वस्फूर्जिनामक राजा था, सो महापण्डित और महाबली था, क्षुद्र=छोटे राजाओं को वश में करके सब वर्णों के मनुष्यों को उसने ब्रह्म परायण ब्राह्म=ब्राह्मण वर्ण में स्थिर किया ॥ ३२ ॥ जिससे क्षत्रियादि वर्ण पिशाच, वर्णशंकर, गुरुण्डादि नाम वाले म्लेच्छ वे सब ब्राह्मण हो गये ॥ ३३ ॥ वृत्त=चरित्र की यत्न से खूब रक्षा करे, धन तो आता जाता रहता है, परन्तु गया हुआ वृत्त नहीं आता है, और वित्त=धन से हीन मनुष्य यदि वृत्त हीन नहीं हो तो वह अहीन (निन्दा न्यूनता रहित) है, परन्तु वृत्त से जो हत=रहित है, सो तो नष्ट ही है ॥३४॥ दुष्टात्माओं के उपदिष्ट विपुल=विशाल कुल से क्या फल है ? क्या सुगन्ध पुष्पों में कृमि नहीं जन्म

हीनजातिप्रसूतोऽपि शौचाचारसमन्वितः । सर्वधर्मार्थकुशलः स कुलीनः सतां वरः ॥३६॥
न कुलं कुलमित्याहुराचारः कुलमुच्यते । आचार कुशलो राजन्निह चामुत्र नन्दते ॥३७॥
आचारप्रभवो धर्मः सन्तश्चाचारलक्षणाः । साधूनां च यथा वृत्तं स सदाचार उच्यते ॥३८॥
तस्मात्कुर्यादिहाचारं य इच्छेद् गतिमात्मनः । अपि पापशरीरस्य आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥३९॥
भविष्यपु० प्रति० खं० २।२०५।१६। इत्यादि ॥
पाण्डित्यबाल्यमौनानि श्रवणादीनि तैरयम् । भवति ब्राह्मणस्तच्च ब्राह्मण्यं ब्रह्मरूपता ॥४०॥
पण्डेति बुद्धे र्नामैतत्सा जाता यस्य मानतः । स पण्डितस्तस्य कर्म पाण्डित्यं श्रवणं तु तत् ॥४१॥
श्रवणं शास्त्रतात्पर्यनिश्चयो, मननं पुनः । अर्थासम्भवानोच्छित्त्यै युक्तीनामनुचिन्तनम् ॥४२॥
अनाविष्करणं बाल्यं दम्भादेरिति सूत्रकृत् ॥ ४३ ॥
पाण्डित्येन विदित्वाऽथ च्छित्त्वा बाल्येन संशयम् । मुनि र्ध्यानसमाधिभ्यां भवेद्धीवृत्तिशान्तये ॥४४॥
ब्राह्मणो बुद्धवाक्यार्थः साक्षादित्यादिलक्षणः । ब्राह्मण्यं गौणमन्यस्य ब्रह्मबोधार्थजन्मनः ॥४५॥
बृहदारण्यकवार्त्तिकसा० अ० ३। ब्राह्म० ५ ॥

इत्यूनविंशं ब्राह्मण्यप्रकरणं समाप्तम् ॥

लेते हैं ? ॥३५॥ हीन जाति में जन्मा हुआ भी जो शौच सदाचार से युक्त है, सब धर्म और अर्थ में कुशल वह कुलीन है, और सत्पुरुषों में श्रेष्ठ हैं ॥३६॥ वस्तुतः कुल=गृहादि को कुल नहीं कहते हैं किन्तु सदाचार कुल कहलाता है, हे राजन् ! आचार में कुशल मनुष्य लोक परलोक में आनन्द पाता है ॥ ३७ ॥ आचार से धर्म होता है, और आचार लक्षण वाले सन्त होते हैं, और साधुओं के समान जो चरित्र सो सदाचार कहलाता है, ॥ ३८ ॥ अतः जो अपनी सद्गति चाहे सो यहाँ सदाचार करे, पापयुक्त शरीर वाले के भी अलक्षण = दोष को सदाचार नष्ट करता है ॥ ३९ ॥ "ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याऽथ मुनिः" इत्यादि श्रुति में पाण्डित्य बाल्य मौन=मुनि कर्म शब्द श्रवण, मनन, निदिध्यासन के वाचक हैं, उन श्रवणादिकों से ब्राह्मण होता है, वह ब्राह्मणता ब्रह्मरूपता है ॥ ४० ॥ 'पण्डा' यह शब्द बुद्धि का वाचक है, वह बुद्धि=ज्ञान जिस को प्रमाण से हुई हो सो पण्डित है, और उसका कर्म पाण्डित्य है, वह श्रवण है ॥ ४१ ॥ और शास्त्र के तात्पर्य के निश्चय को श्रवण कहते हैं, और शास्त्रार्थ की असंभावना=संशय) की निवृत्ति के हेतु उपक्रमादि युक्ति के बार २ चिन्तन को मनन कहते हैं। दम्भकामादि के अनाविष्करण = अप्रकटता को सूत्रकार = व्यास मुनि बाल्य कहते हैं ॥ ४२-४३ ॥ पाण्डित्य=श्रवण से जान कर, फिर बाल्य=मनन से संशय को नष्ट कर के, बुद्धि वृत्ति की शान्ति= निवृत्ति के लिये ध्यान और समाधि से मुनि होता है ॥ ४४ ॥ तत्त्वमसीत्यादि वाक्य के अर्थ को जानने वाला ब्राह्मण होता है, सो "यत्साक्षादपरोक्षरोक्षाद् ब्रह्म", इत्यादि वाक्योक्त लक्षण वाला ब्रह्मस्वरूप ही होता है । इससे अन्य ब्रह्मज्ञानार्थक जन्म वाले को गौण ब्राह्मणता रहती है ॥ ४५ ॥

उन्नीसवाँ ब्राह्मण्यप्रकरण समाप्त ॥

अथ वागादिमाधुर्यम् ॥ २० ॥

ब्राह्मण्यमस्ति लब्धव्यं वक्तव्यं मधुराक्षरम् । कर्तव्यं सर्वकल्याणं साधुतासमुपार्जनम् ॥१॥
माधुर्यं मानसे यस्य वचने सर्वकर्मसु । स साधुः स सतां मुख्यस्तं मन्ये दैवतं परम् ॥२॥
नहीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते । दया मैत्री च भूतेषु दानं च मधुरा च वाक् ॥३॥
महाभा० आदिप० अ० ८७।१२ ॥
ये प्रियाणि प्रभाषन्ते प्रियमिच्छन्ति सत्कृतम् । श्रीमन्तो वन्द्यचरिता देवास्ते नरविग्रहाः ॥४॥
भार्या पुत्रोऽप्युद्विजते कटुवाक्यात्प्रदण्डतः । पशवोऽपि वशं यान्ति दानैश्च मृदुभाषणैः ॥५॥
शुक्रनीति० अ० १।१६६। अ० ३।८२ ॥
प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः । तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता ॥६॥
यदीच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा । परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय ॥७॥
चाणक्यनी० अ० १६।१७। अ० १४।१४ ॥
हीनेभ्योऽपि न युञ्जीत त्वंकारं कर्हिचिद् बुधः । त्वंकारो वा वधो वापि गुरूणामुभयं समम् ॥८॥
स्कन्दपु० माहेश्वरखं० १-२ अ० ४१।१६८ ॥
नहीदृशं स्वर्गयानाय यथा लोके प्रियं वचः । इहामुत्र सुखं तेषां वाग् येषां मधुरा भवेत् ॥९॥
अमृतस्यन्दिनीं वाचं चन्दनस्पर्शशीतलाम् । धर्माविरोधिनीमुक्त्वा सुखमक्षयमश्नुते ॥१०॥
भविष्यपु० ब्राह्मप० अ० १७१।३६ ॥
कामान् दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं कीर्त्तिं सूते दुष्कृतं या हिनस्ति ।
ताञ्चाप्येतां मातरं मङ्गलानां धेनुं धीराः सूनृतां वाचमाहुः ॥ ११ ॥ उत्तररामचरि० अ० ५।३० ॥

अथ वागादिमाधुर्य—ब्राह्मणता प्राप्त करने योग्य है, और मधुर अक्षर बोलने योग्य हैं, सब के लिये सब कल्याण=शुभ कर्तव्य हैं, और साधुता का सम्यग् उपार्जन कर्तव्य है ॥ १ ॥ जिस के मन वचन और सब कर्म में मधुरता=प्रियता शोभनता है, वह साधु है, सत्पुरुषों में मुख्य है, उस को उत्तम देव मानता हूँ ॥ २ ॥ तीनों लोक में ऐसा संवनन=सम्यग् भजन नहीं है, जैसा सब प्राणियों पर दया सब से मित्रता, उचित दान, और मधुर वचन है ॥३॥ जो श्रीमान् होते हुए भी प्रिय वचन बोलते हैं, मन से सब का प्रिय चाहते हैं, शरीर से सत्=शुभ-सत्य कृत विहित कर्म चाहते हैं और करते हैं, सो वन्दनार्हचरित्र वाले नर शरीरयुक्त देव हैं ॥ ४ ॥ कटु=तीक्ष्ण वाक्य=वचन से और अधिक दण्ड=दमन से स्त्री पुत्र भो उद्विग्न होते हैं, दान और मृदु भाषण से पशु भी वश में होते हैं ॥ ५ ॥ प्रिय वचन के प्रदान से सब प्राणी सन्तुष्ट होते हैं, अतः प्रिय वचन ही बोलना चाहिये, वचन में दरिद्रता क्या है ? ॥ ६ ॥ यदि एक कर्म से जगत् को वश करना चाहते हो, तो अन्य के अपवाद=निन्दा रूप सस्य=फल कृषि से चरने वाली गो=वाक्-वाणी का निवारण करो=निन्दा को त्यागो ॥ ७ ॥ विद्वान् पुरुष, हीन मनुष्यों के लिये भी कभी त्वंकार=तू शब्द का प्रयोग नहीं करे, और गुरु=(पिता बड़े भ्राता आचार्यादि के प्रति तो त्वंकार और वध दोनों तुल्य हैं ॥८॥ इस लोक में स्वर्ग की प्राप्ति के लिये ऐसा साधन अन्य नहीं है कि जैसा प्रिय वचन है, इस लोक और परलोक में उनको सुख है, कि जिनके वचन मधुर हैं ॥९॥ अमृत की प्राप्ति कराने वाली, चन्दन के स्पर्श तुल्य शीतल, धर्म के विरोध से रहित वाणी को बोलकर अविनाशी सुख को पाता है ॥ १० ॥ जो वाणो कामों को पूर्ण करतो है, अलक्ष्मी को दूर करतो है, कीर्त्ति को उत्पन्न करती है,

नासुहृत् परमं मन्त्रं नारदार्हति वेदितुम् । अपण्डितो वापि सुहृत् पण्डितो वाप्यनात्मवान् ॥१२॥
स ते सौहृदमास्थाय किञ्चिद्वक्ष्यामि नारद ! । कृत्स्नं बुद्धिबलं प्रेक्ष्य संपृच्छे त्रिदिवंगम ! ॥१३॥
दास्यमैश्वर्यवादेन ज्ञातीनां न करोम्यहम् । अर्द्धं भोक्तास्मि भोगानां वागदुरुक्तानि च क्षमे ॥१४॥
अरणीमग्निकामो वा [१]मथ्नाति हृदयं मम । वाचा दुरुक्तं देवर्षे ! तन्मे दहति नित्यदा ॥१५॥
बलं सङ्कर्षणं नित्यं सौकुमार्यं पुन गदे । रूपेण मत्तः प्रद्युम्नः सोऽसहायोऽस्मि नारद ! ॥१६॥
ममैवं क्लिश्यमानस्य नारदोभयतः सदा । वक्तुमर्हसि यच्छ्रेयो ज्ञातीनामात्मनस्तथा ॥१७॥
आपदो हि द्विधा कृष्ण ! बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ह । प्रादुर्भवन्ति वार्ष्णेय ! स्वकृता यदि वाऽन्यतः ॥१८॥
सेयमाभ्यन्तरा तुभ्यमापत्कृच्छ्रा स्वकर्मजा । अक्रूरभोजप्रभवा सर्वे ह्येते तदन्वयाः ॥१९॥
अर्थहेतो हिं कामाद्वा वाचा बीभत्सयापि वा । आत्मना प्राप्तमैश्वर्यमन्यत्र प्रतिपादितम् ॥२०॥
नाऽमहापुरुषः कश्चिन्नानात्मा नासहायवान् । महतीं धुरमाधत्ते तामुद्यम्योरसा वह ॥२१॥

इति विंशतितमं वागादिमाधुर्यप्रकरणं समाप्तम् ॥ महाभा० शान्तिप० अ० ८१ ॥

इति श्रीतत्त्वार्थमणिमालायां स्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्रिसङ्गृहीतायामहिंसादिनामकं पञ्चमं काण्डं समाप्तम् ॥

पाप को नष्ट करती है, मङ्गलों की माता रूप ऐसी वाणी को धीर लोग सत्य कहते हैं ॥ ११ ॥ भगवान् कृष्ण बोले कि हे नारद ! असुहृत् पुरुष परम मन्त्र = गुह्यवाणी को जानने के योग्य नहीं है, अपण्डित सुहृद् भी नहीं जानता है, अनात्मवान् = अवशात्मा पण्डित भी नहीं जानता है ॥ १२ ॥ हे त्रिदिवङ्गम = आकाशगामी नारद ! सो मैं आपकी सुहृदता को निश्चय ही स्थिर करके कुछ कहूँगा, और सम्पूर्ण बुद्धि के बल को देख कर पूछता हूँ ॥ १३ ॥ ऐश्वर्य के लोक में वाद = कथा, होने से ज्ञातियों की दासता तो मैं नहीं करता हूँ, परन्तु भोगों के अर्द्ध भाग का ही मैं भोक्ता हूँ, अपने अर्द्ध भोगों को ज्ञाति ही भोगते हैं, और तो भी उनकी वाक् से दुरुक्तियों = कुवचनों को सुन कर क्षमा करता हूँ सहता हूँ ॥ १४ ॥ अग्नि की इच्छा वाला जैसे अरणी = काष्ठ को मथता है, हे देवर्षे ! वैसे उनके वाक् द्वारा उच्चारित दुर्वचन मेरे हृदय को मथते हैं, सो मुझे सदा दग्ध करते हैं ॥ १५ ॥ सङ्कर्षण = बलदेव में सदा बल का अभिमान है, गद में सुकुमारता की बात है, प्रद्युम्न रूप से मतवाला है, इससे हे नारद ! मैं आपका सुहृद् भी असहाय हूँ ॥ १६ ॥ हे नारद ! इस प्रकार अक्रूर और आहुक दोनों के पक्षवर्तियों से सदा क्लिश्यमान=दुःखी मुझको शुभ कहने को आप समर्थ हो, जो शुभ मेरे लिये और ज्ञातियों के लिये भी हो, सो कह सकते हो ॥१७॥ हे वार्ष्णेय ! कृष्ण ! बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकार की आपत्तियाँ होती हैं, सो अपने से की हुई वा अन्य से की हुई प्रकट होती हैं ॥ १८ ॥ सो यह आन्तरा कठिन आपत् आपको स्वकर्म जन्य अक्रूर भोज से प्रकट हुई है, और ये बलदेवादि सब उन दोनों के ही सम्बन्धी हैं ॥ १९ ॥ अर्थ के लिये वा काम = इच्छा से वा बीभत्स वचन से आप ने अपनी आत्मा से प्राप्त ऐश्वर्य को अन्यत्र प्रतिपादित = दान किया=उग्रसेन को राज्य दिया यह बन्धु जन्य दुःख का कारण है ॥ २० ॥ महापुरुष से अन्य कोई सहाय रहित अनात्मा = अवश्यात्मा पुरुष महती धुर का धारण नहीं करता है, उसको हृदय से उठाकर धारण करो ॥ २१ ॥ बीसवाँ वागादिमाधुर्यप्रकरण समाप्त ॥

स्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्रिसंगृहीत तत्त्वार्थमणिमाला में अहिंसादिनामक पाँचवाँ काण्ड समाप्त ॥

---

१. इवार्थे वा शब्दः । अक्रूरस्याऽऽहुकस्य च वाचा दुरुक्तम् ॥

अथ षष्ठं फलकाण्डम्

तत्र च प्रथमं पापनाशप्रकरणम्

सदाचारेण सद्भक्त्या ज्ञानेनेशस्य कीर्त्तनात् । नाम्नो नश्यन्ति पापानि त्वहङ्कारो विचारणात् ।।१।।
पापनाशे हि तापानां निवृत्तिः फलमुच्यते । अहङ्कारे निवृत्ते तु कैवल्यं लभते नरः ।।२।। यतः—
यथा यथा क्षयं याति ह्यशुभं पुरुषस्य वै । तथा तथा शुभा बुद्धि र्मनुजस्य प्रवर्त्तते ।।३।।
स्वर्गः शुभफलप्राप्ति र्निरयः पापसम्भवः । नैव कश्चित्प्रदाता च नापहर्त्ता प्रदृश्यते ।।४।।
यः समः सर्वभूतेषु जितात्मा शान्तमानसः । स पापेभ्यो विमुच्येत ज्ञानवान् सर्ववेदवित् ।।५।।
तत्त्वार्थं वेत्ति यः सम्यक् पुरुषं प्रकृतिं तथा । ज्ञात्वा वा यो न मुह्येत पदं प्राप्नोति शाश्वतम् ।।६।।
अहिंस्रः सर्वभूतेषु तृष्णाक्रोधविवर्जितः । शुभन्यायः सदा यश्च स पापेभ्यः प्रमुच्यते ।।७।।
श्रद्धानो जितक्रोधः परद्रव्यविवर्जकः । अनसूयश्च यो मर्त्यः स पापेभ्यः प्रमुच्यते ।।८।।
गुरुशुश्रूषया युक्तस्त्वहिंसानिरतश्च यः । अक्षुद्रशीलस्तु नरः स पापेभ्यः प्रमुच्यते ।।९।।
प्रशस्तानि च यः कुर्यादप्रशस्तानि वर्जयेत् । मङ्गले परमो यश्च स पापेभ्यः प्रमुच्यते ।।१०।।
वराहपु० अ० २१० ।।

छठवाँ फलकाण्ड प्रारम्भ

अथ पापनाश—सदाचार सच्ची भक्ति आत्मज्ञान ईश्वर के नामों के कीर्त्तन से पाप नष्ट होते हैं, और विचार से अहङ्कार नष्ट होता है ।। १ ।। पापों के नाश से सब तापों=दुःखों की निवृत्ति रूप फल कहा जाता है, और अहङ्कार के निवृत्त होने पर मनुष्य मोक्ष पाता है ।।२।। जैसे २ पुरुषों का अशुभ = पाप नष्ट होता है, वैसे २ मनुष्य सम्बन्धी विवेकयुक्त शुभ बुद्धि प्रवृत्त होती है ।। ३ ।। शुभ बुद्धि आदि के फल की प्राप्ति रूप स्वर्ग है, और पाप से होने वाला नरक है, अपने पुण्य पाप के बिना कोई स्वर्ग नरक का प्रदाता वा अपहर्ता नहीं दीखता है ।। ४ ।। जो जितात्मा शान्त मन वाला सब प्राणियों में सम=रागद्वेष रहित रहता है, सो सर्ववेत्ता ज्ञानवान् है, वह सब पाप से मुक्त होता है ।। ५ ।। तत्त्व=परमात्मस्वरूप अर्थ को जो सम्यग् जानता है, तथा पुरुष=जीवात्मा और प्रकृति को जानता है, और जान कर जो मोह रहित होता है, सो शाश्वत=नित्य पद =स्वरूप मोक्ष को पाता है ।। ६ ।। सब प्राणियों की हिंसा से रहित, काम क्रोध से रहित, सदा शुभ न्याय=चित्त वाला जो रहता है. सो सब पाप से मुक्त होता है ।। ७ ।। जो मनुष्य श्रद्धायुक्त, क्रोध को जीतने वाला, पर द्रव्य का त्यागी, असूया=परगुण में दोषारोप रहित रहता है, सो पापों से मुक्त होता है ।। ८ ।। गुरु सेवायुक्त, अहिंसा परायण, अक्षुद्र = अकृपण, अक्रूर स्वभाव वाला जो मनुष्य होता है, सो सब पापों से मुक्त होता है ।। ९ ।। जो प्रशस्त = श्रेष्ठ कर्म करता है, और अप्रशस्त को त्यागता है, और मंगल=शुभ में जो परम=उत्तम तत्पर रहता है, सो पापों से मुक्त होता ।। १० ।।

मोहादधर्मं यः कृत्वा पुनः समनुतप्यते । मनःसमाधिसंयुक्तो न स सेवेत दुष्कृतम् ॥११॥
यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति । तथा तथा शरीरं तु तेनाधर्मेण मुच्यते ॥१२॥
महाभा० शान्तिप० अ० ११।४-५ ॥
एतस्य भूतभव्यस्य दृष्टं स्थावरजङ्गमम् । ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा ॥१३॥
शौचमाचारसंशुद्धिरिन्द्रियाणां च निग्रहः । एतै र्विवर्द्धते तेजः पाप्मानं चापकर्षति ॥१४॥
महाभा० शां० प० अ० २४०।१०-११ ॥
यो हि पापसमारम्भे कार्ये तद्भावभावितः । कुर्वन्नपि तथैव स्यात्कृत्वा च निरपत्रपः ॥१५॥
तस्मिंस्तत्कलुषं सर्वं समाप्तमिति शब्दितम् । प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति ह्रासो वा पापकर्मणः ॥१६॥
महाभा० शां० प० अ० ३३।३५-३६ ॥
ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च । पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि ॥१७॥
मनुस्मृ० अ० ११।२२८ ॥
आदीप्तं पर्वतं यद्वन्नाश्रयन्ति मृगादयः । तद्वत्सर्वाणि पापानि योगाभ्यासरतं नरम् ॥१८॥
गरुडपु० खं० १।२३०।५२ ॥
धर्मवन्तं नृपं दृष्ट्वा लिङ्गं स्वायंभुवं तथा । नदीं सागरगां चैव मुच्येत्पापादिनोद्भवात् ॥१९॥
स्कन्दपु० खं० ६।२१५।१५॥
जन्मान्तरकृतं पापं व्याधिरूपेण बाधते । तच्छान्तिरौषधै र्दानै र्जपहोमार्चनादिभिः ॥२०॥
इति प्रथमं पापनाशप्रकरणं समाप्तम् । इत्यभियुक्तोक्तिः ॥

मोह अविवेक से अधर्म=पाप करके जो फिर पश्चात्ताप करता है, स माधि=ध्यान युक्त मन वाला वह फिर पाप का सेवन नहीं कर सकता ॥ ११ ॥ जैसे २ उसका मन पाप की निन्दा करता है, वैसे २ उसका शरीर उस अधर्म से मुक्त होता है ॥ १२ ॥ इस भूतभव्य=भूतों द्वारा जन्म वाले जीवों के दृष्ट=ईक्षण-दर्शन रूप स्थावर जंगम रूप संसार है । और ध्यानादि से इसका तेज=प्रभाव बलादि बढ़ता है, और ध्यानादि से ही पाप को न्यून-नष्ट करता है ॥ १३-१४ ॥ जो मनुष्य पाप कर्म के आरम्भ करने में उस पाप की भावना चिन्तना से ही भावित=प्रभावित युक्त रहता है, और पाप करता हुआ भी वैसा ही रहता है, पाप करके भी जो लज्जा रहित रहता है, उस में वह पाप सब सम्यग् प्राप्त हुआ, ऐसा कहा जाता है, और उस पाप के प्रायश्चित्त वा ह्रास (निवृत्ति का उपाय वा न्यूनता) नहीं है ॥ १५-१६ ॥ प्रख्यापन=सत्पुरुषों में कथन पश्चात्ताप, तप, वेदादि के अध्ययन, से पापकर्ता पाप से मुक्त होता है, तथा आपत्ति काल में दान से भी पाप से मुक्त होता है ॥ १७ ॥ अग्नि से आदीप्त=दावानलयुक्त पर्वत को जैसे मृगादि नहीं सेवते हैं, वैसे ही योगाभ्यासयुक्त मनुष्य को पाप सब भी नहीं सेवन करते हैं ॥ १८ ॥ धर्मात्मा राजा, शिवलिङ्ग और सागरगामिनी नदी के दर्शन से एक दिन के उत्पन्न पाप से मुक्त हो जाता है ॥ १९ ॥ और जो जन्मान्तर में किया हुआ पूर्व का पाप इस जन्म में व्याधि रूप से पीडित करता है, उस की निवृत्ति औषध दान और जप होमादि से होती हैं ॥ २० ॥ पहला पापनाशप्रकरण समाप्त ॥

अथ सुखप्राप्तिः ॥ २ ॥

पापानां प्रविनाशेन नरकं न प्रपद्यते । लभते सौख्यमेवातः पुण्यात्किञ्चावशिष्यते ॥१॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् । विशुद्धभावो भो धर्म ! तेषां मनसि वर्त्तते ॥२॥
सत्तीर्थगमनायैव दर्शनार्थं सतामिह । वाञ्छा च महती तेषां जायते पूर्वकारिता ॥३॥
स्कन्दपु० खं० १।३१।२९-३० ॥
कल्याणगोचरं कृत्वा मनस्तृष्णां निगृह्य च । कर्मसन्ततिमुत्सृज्य स्यान्निरालम्बनः सुखी ॥४॥
तपसा महदाप्नोति बुद्ध्या वै विन्दते महत् । त्यागेन सुखमाप्नोति सदा कौन्तेय ! तत्त्ववित् ॥५॥
महाभा० शान्तिप० अ० १६।२०।२६ ॥
यस्य नास्ति गुरु धर्मे न चान्यानपि पृच्छति । सुखतंन्त्रोऽर्थलाभेषु न चिरं सुखमश्नुते ॥६॥
गुरुप्रधानो धर्मेषु स्वयमर्थानवेक्षिता । धर्मप्रधानो लाभेषु स चिरं सुखमश्नुते ॥७॥
महाभा० शां० प० अ० ६२।१८-१९ ॥
अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतेषु चार्जवम् । क्षमा चैवाप्रमादश्च यस्यैते स सुखी भवेत् ॥८॥
महाभा० शां० प० अ० २१५।६ ॥
निर्विद्यति नरः कामान्निर्विद्य सुखमेधते । त्यक्त्वा प्रीतिं च शोकं च लब्ध्वा बुद्धिमयं वसु ॥९॥
महाभा० शां० प० अ० १०४।७ ॥
आर्जवेनाप्रमादेन प्रसादेनात्मवत्तया । वृद्धशुश्रूषया शक्र ! पुरुषो लभते महत् ॥१०॥
महाभा० शां० प० अ० २२२।३४ ॥
स्नेहपाशैर्बहुविधैरासक्तमनसो नराः । प्रकृतिस्था विसीदन्ति जले सैकतवेश्मवत् ॥११॥

अथ सुखप्राप्ति—पापों के अत्यन्त नाश से नरक में नहीं जाता है, इससे पुण्य से सुख ही पाता है, फिर बाकी क्या रहता है ? ॥ १ ॥ हे धर्म ! जिस पुण्यकर्मा जन का पाप नष्ट हो गया है, उस के मन में सदा विशुद्ध भाव रहता है ॥ २ ॥ और यहाँ सत्पुरुषों के दर्शन के लिये तीर्थ गमन के लिये पूर्वपुण्यकृत उसकी बड़ी इच्छा होती है ॥ ३ ॥ कल्याण विषयक मन को करके और तृष्णा को रोक कर कर्मसन्तति को त्याग कर निरालम्बन=निरहङ्कार जीव सुखी होता है ॥४॥ तप से महत्=शुद्धि वैराग्य पाता है, विवेकवती बुद्धि से महत्=विभु ब्रह्म को पाता है, तत्त्ववेत्ता त्याग से सदा सुख पाता है ॥ ५ ॥ धर्म में जिस को गुरु नहीं हैं, अन्य से भी जो नहीं पूछता है, अर्थ के लाभों में जो सुख के अधीन=भोग परायण होता है, सो चिर काल तक सुख नहीं पाता है ॥ ६ ॥ धर्म में जो गुरुप्रधान रहता है (गुरु की आज्ञा के अनुसार धर्म करता है) अर्थों का विचार निरीक्षण जो स्वयं करता है, और अर्थों के लाभ में धर्म प्रधान होता है, अर्थ पा कर धर्म करता हैं, सो चिर काल तक सुख पाता है ॥ ७ ॥ अहिंसा सत्य वचन सब प्राणी में आर्जव=निष्कपटता, क्षमा और अप्रमाद=सावधानता जिस के ये गुण रहते हैं, सो सुखी होता है ॥८॥ हर्ष और शोकादि द्वन्द्वों को त्याग कर बुद्धिमय धन को पाकर मनुष्य काम से उपरत विरक्त निवृत्त होता है, और विरक्त उपरत हो कर सुख पाता है ॥९॥ हे शक्र=इन्द्र ! आर्जव=नम्रता अप्रमाद, प्रसाद=प्रसन्नता आत्मवत्ता=विवेकिता वृद्ध सेवा इन साधनों से पुरुष महत् पद को पाता है ॥१०॥ बहुत प्रकार के रागरूप पाश से बंधा हुआ आसक्त मन वाला प्रकृति=स्वभाव-अविद्या में स्थिर मनुष्य जल में बालू के घर के तुल्य नष्ट होता

शरीरगृहसञ्ज्ञस्य शौचतीर्थस्य देहिनः। बुद्धिमार्गप्रयातस्य सुखं त्विह परत्र च ॥१२॥
विस्ताराः क्लेशसंयुक्ताः संक्षेपास्तु सुखावहाः। परार्थं विस्तराः सर्वे त्यागमात्महितं विदुः ॥१३॥
महाभा० शान्तिप० अ० २६८।३५। इत्यादि ॥
नाग्निचिन्नरकं याति न पुत्री न च भूमिदः। शूरश्च शतवर्षी च वेदानां चैव पारगः ॥१४॥
पतिव्रता न गच्छन्ति सत्यवाक्याश्च ये नराः। अजिताश्चाशठाश्चैव स्वामिभक्ताश्च ये नराः ॥१५॥
अहिंसका न गच्छन्ति ब्रह्मचर्यव्यवस्थिताः। स्वदारनिरता दान्ताः परदारविवर्जकाः ॥१६॥
सर्वभूतात्मभूताश्च कृतिनो मौनयन्त्रिताः। नित्यस्वाध्यायिनो दान्ताः सदा सभ्याश्च ये नराः ॥१७॥
वराहपु० अ० २०७ ॥
प्रविष्टस्त्वतिथिर्यस्य निराशो यन्न गच्छति। येन केनचिद्दत्तेन ततः सौख्यतरं नु किम् ॥१८॥
अहिंसनं तु कुर्वीत विशुद्धेनान्तरात्मना। अहिंसोपरतः शुद्धः स सुखायोपजायते ॥१९॥
सहते चावमानं तु व्यसने न तु दुर्मनाः। यस्येदं विदितं सर्वं ततः सौख्यतरं नु किम् ॥२०॥
वराहपु० अ० ११६।३०। इत्यादि ॥
यत्सुखं दुःखमेवाहुः क्षणनाशानुभूतितः। अकृत्रिममनाद्यन्तं यत्सुखं तत्सुखं विदुः ॥२१॥
न तदासाद्यते राज्यान्न कान्ताजनसङ्गमात्। अनपायि सुखं सारं समत्वाद्यदवाप्यते ॥२२॥
योगवासिष्ठ० प्र० ६–२। स० ६८।३१॥ स० १६८।१० ॥

इति द्वितीयं सुखप्राप्तिप्रकरणं समाप्तम् ॥

है ॥११॥ शरीर जिस का गृह नामवाला है, और शौचरूपतीर्थ वाला जो है, विवेक बुद्धि रूप मार्ग से गमन करने वाले उस देही को लोक परलोक में सर्वत्र सुख होता है ॥ १२ ॥ धन गृह कुटुम्बादि के विस्तार क्लेशयुक्त हैं, और संक्षेप (उचित अल्प संग्रह) सुखद है, शब्द के सब विस्तार अन्य के लिये हैं, त्याग को अपना हित जानते हैं ॥ १३ ॥ अग्नि का चयन = विधि के अनुसार धारण करने वाला नरक में नहीं जाता है, वैसे ही पुत्री = सुपुत्रवान् बहुत भूमि का दाता, शूर = जितेन्द्रिय धर्मयोधा शतवर्षी (सौ वर्ष पुण्य कर्ता) वेदों में पारंगत (सब वेदों का ज्ञाता) पतिव्रता, सत्यवक्ता, अजित (कामादि के अवशीभूत) अशठ = अकृपण, स्वामी का भक्त, ये सब नरक में नहीं जाते हैं, ॥१४–१५॥ अहिंसक, ब्रह्मचर्य में पूर्ण स्थिर, स्वस्त्रीमात्र गामी, जितेन्द्रिय, परदार त्यागी, सब प्राणियों का आत्मतुल्य, विद्वान्, मौन नियमयुक्त, सदा अध्ययनशील, सदा दान्त, और सभ्य = सज्जन आर्य ये मनुष्य नरक में नहीं जाते हैं ॥१६–१७॥ किसी के गृह में प्रवृष्ट अतिथि, जो जिस किसी वस्तु के पाने में निराश हो कर नहीं जाता है, इससे बड़ा सुख का हेतु और क्या होगा ? ॥१८॥ विशुद्ध अन्तरात्मा = मन से अहिंसा धर्म करे और शरीर वचन से भी अहिंसा करे, फिर अहिंसा के सेवने से जो संसार से उपरत (उपराम विरक्त) होता है सो पुरुष सुख के लिए समर्थ सुखी होता है ॥ १९ ॥ जो समदृष्टता आदि से अवमान=अनादर को सहता है, व्यसन=विपत्ति में शोकयुक्त मन वाला नहीं होता, और जिसको यह सब जगत् माया मात्र मिथ्या विदित है, या सब प्राणी आत्मतुल्य विदित हैं, तथा सत्ता रूप में सब ब्रह्म स्वरूप, जिसको जगत् विदित = ज्ञात है, तो उससे अतिसुख क्या होगा ? ॥ २० ॥ जो विषयजन्यसुख है उसके क्षणमात्र में नाश के अनुभव होने से उस को विवेकी लोग दुःख ही कहते हैं, और अकृत्रिम = अकार्य रूप आदि अन्त रहित जो स्वरूप सुख है, उस को सुख जानते हैं ॥ २१ ॥ जो अविनाशी सार = सत्य सुख समता से मिलता है, सो सुख राज्य वा कान्ता = स्त्री जन के संगम से नहीं मिलता है ॥ २२ ॥ दूसरा सुखप्राप्तिप्रकरण समाप्त ॥

अथ स्वर्गप्राप्तिः ॥ ३ ॥

स्वर्गं गच्छन्ति धर्मस्था अधर्मपरिवर्जिताः । निषिद्धाचारसङ्गादिहीना एव विमत्सराः ॥१॥

दानिनो विमदाः शूरा दयावन्तो ह्यहिंसकाः । परोपकारकुशलाः सदा शान्ता जितेन्द्रियाः ॥२॥ तथाहि—

उञ्छं मूलं फलं शाकमुदपात्रं तपोधनाः । दानं विभवतो दत्त्वा नराः स्वर्यान्ति धार्मिकाः ॥३॥

महाभा० आश्वमेधिकप० अ० ६१।३२ ॥

अरण्ये विजने न्यस्तं परस्वं दृश्यते यदि । मनसापि न हिंसन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥४॥

तथैव परदारान् ये कामवृत्तान् रहोगतान् । मनसापि न हिंसन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥५॥

शत्रुं मित्रं च ये नित्यं तुल्येन मनसा नराः । भजन्ति मैत्राः सङ्गम्य ते नराः स्वर्गगामिनः ॥६॥

आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात्तथा । ये मृषा न वन्दतीह ते नराः स्वर्गगामिनः ॥७॥

श्लक्ष्णां वाणीं निराबाधां मधुरां पापवर्जिताम् । स्वागतेनाभिभाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥८॥

श्रुतवन्तो दयावन्तः शुचयः सत्यसङ्गराः । स्वैरर्थैः परिसन्तुष्टास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥९॥

सत्यधर्मरताः सन्तः सर्वलिङ्गविवर्जिताः । धर्मलब्धार्थभोक्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१०॥

सर्वभूतदयावन्तो विश्वास्याः सर्वजन्तुषु । त्यक्तहिंसासमाचारास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥११॥

महाभा० अनुशासनप० अ० १४४ ॥

हितं मितं प्रियं काले वश्यात्मा योऽभिभाषते । स याति लोकानाह्लादहेतुभूतान्नृपाक्षयान् ॥१२॥

धीमान् ह्रीमान् क्षमायुक्तो ह्यास्तिको विनयान्वितः । विद्याभिजनवृद्धानां याति लोकाननुत्तमान् ॥१३॥

अथ स्वर्गप्राप्ति—अधर्म रहित, निषिद्ध आचार सङ्गादि रहित, मत्सर रहित, धर्मपरायण ही स्वर्ग में जाते हैं ॥ १ ॥ दानी गर्वरहित, शूर, दयालु, अहिंसक, परोपकार में कुशल, सदा शान्त, जितेन्द्रिय, स्वर्ग में जाते हैं ॥ २ ॥ उञ्छादि अपनी शक्ति के अनुसार दान दे कर धार्मिक मनुष्य स्वर्ग में जाते हैं ॥ ३ ॥ जनशून्य जंगल में यदि अन्य का धन न्यस्त = त्यक्त दीख पड़े, तो भी जो उस धन की हिंसा = नाश-ग्रहण मन से भी नहीं करते हैं, सो मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ ४ ॥ वैसे ही एकान्त में प्राप्त कामयुक्त परस्त्री की जो मन से भी हिंसा नहीं करते, सो स्वर्गगामी हैं ॥ ५ ॥ जो सब के मित्र मनुष्य शत्रु और मित्र, दोनों को तुल्य मन से प्राप्त होकर सेवते हैं सो स्वर्गगामी हैं ॥ ६ ॥ अपने लिये या अन्य के लिये, वा नर्म = क्रीडा-खेल, हास्य = हास में भी झूठ नहीं बोलते हैं, सो स्वर्गमामी हैं ॥ ७ ॥ श्लक्ष्ण = अल्प निराबाधा = परपीडा रहित, सत्य, मधुर, पाप रहित, वाणी को जो स्वागत = सत्कार पूर्वक बोलते हैं, सो मनुष्य स्वर्गगामी हैं ॥ ८ ॥ सत्शास्त्र के श्रवण वाले, दयालु, पवित्र, सत्यसंगर = सत्य प्रतिज्ञा वाले, अपने धन से संतुष्ट मनुष्य, स्वर्गगामी हैं ॥ ९ ॥ सत्य धर्म में तत्पर, सब लिङ्ग = चिह्न-वेष से रहित, धर्म से प्राप्त अर्थ के भोक्ता मनुष्य, स्वर्गगामी हैं ॥ १० ॥ सब प्राणियों पर दयालु सब जन्तुओं में विश्वास युक्त, हिंसा मय व्यवहार के त्यागी मनुष्य, स्वर्गगामी हैं ॥ ११ ॥ हे नृप ! जो मनुष्य, मन को वश में करके समय के अनुसार हित, परिमित, प्रिय भाषण करता है, सो आनन्द के हेतुस्वरूप अक्षय लोकों में प्राप्त होता है ॥ १२ ॥ बुद्धिमान् कुकर्म से लज्जावान् , क्षमायुक्त आस्तिक,

समं नयति यः क्रुद्धात् सर्वबन्धुरमत्सरी । भीताश्वासनकृत्साधुः स्वर्गस्तस्याल्पकं फलम् ॥१४॥

विष्णुपु० अंश ३।१२ ॥

एकविंशतिः स्वर्गा वै निविशिष्टा मेरुमूर्धनि । अहिंसादानकर्त्तारो यज्ञानां तपसां तथा ॥

तत्तेषु निवसन्ति स्म जनाः क्रोधविवर्जिताः ॥ १५ ॥ नरसिंहपु० अ० ३०।२८ ॥

परस्वनिर्ममा नित्यं परदारविवर्जिताः । धर्मलब्धार्थभोक्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१६॥

मातृवत्स्वसृवच्चैव नित्यं दुहितृवच्च ये । परदारेषु वर्त्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१७॥

स्वदारनिरता ये च ऋतुकालाभिगामिनः । अग्राम्यसुखभोगाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१८॥

स्तैन्यान्निवृत्तं सततं सन्तुष्टाः स्वधनेन च । स्वभाग्यानुपजीवन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१९॥

परदारेषु ये नित्यं चरित्रावृत्तलोचनाः । जितेन्द्रियाः शीलपरास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२०॥

आत्मार्थे वा परार्थे वा अधर्माश्रितमेव च । ये मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२१॥

वृत्त्यर्थं धर्महेतो र्वा कामकारात्तथैव च । अनृतं ये न भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२२॥

परुषं ये न भाषन्ते कटुकं निष्ठुरं तथा । अपैशुन्यरताः सन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२३॥

न कोपाद् व्याहरन्ते ये वाचं हृदयदारिणीम् । शान्तिं विदन्ति ये क्रुद्धास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२४॥

ब्रह्मपु०.अ० ११६ ॥

सत्येन तपसा क्षान्त्या दानेनाऽध्ययनेन च । ये धर्ममनुवर्त्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२५॥

ये च होमजपस्नानदेवतार्चनतत्पराः । श्रद्धाना महात्मानस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२६॥

विनययुक्त मनुष्य, विद्या और अभिजन = कुल से वृद्धों के अति उत्तम लोकों को प्राप्त करता है ॥ १३ ॥ जो सब का बन्धु, मत्सर रहित, भयभीत को शान्ति का आश्वासन देने वाला साधु पुरुष क्रुद्धों को शान्त करता है, उस को स्वर्ग अल्प फल है ॥ १४ ॥ इक्कीस स्वर्ग मेरु के शिखर पर निविष्ट = रचित हैं । अहिंसा, दान, यज्ञ, तप, के करने वाले तथा क्रोध रहित, मनुष्य उन अहिंसा आदि साधनों से उन स्वर्गों में बसते हैं ॥१५॥ पर धन में सदा ममता रहित, परस्त्री से रहित, धर्म से प्राप्त अर्थ के भोक्ता मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ १६ ॥ जो पर स्त्री में माता, बहन और पुत्री तुल्य बर्ताव व्यवहार करते हैं, सो मनुष्य स्वर्गगामी हैं ॥ १७ ॥ जो अपनी स्त्री मात्र में निरत होते हुए ऋतु काल में ही स्त्रीगामी होते हैं, सो मनुष्य स्वर्गगामी हैं ॥ १८ ॥ जिन की चोरी से सदा निवृत्ति है, और अपने धन से सन्तुष्ट हो कर जो अपने भाग्य का ही सेवन करते हैं, सो मनुष्य स्वर्गगामी हैं ॥ १९ ॥ जो पर की स्त्रियों में सच्चरित्र द्वारा आवृत नेत्र वाले हैं, सो शील = सुचरित्र-स्वभाव परायण जितेन्द्रिय मनुष्य स्वर्गगामी हैं ॥ २० ॥ जो अपने लिये वा अन्य के लिये, अधर्माश्रित = अधर्म स्थित ही झूठ नहीं बोलते हैं, सो मनुष्य यहाँ स्वर्ग गामी हैं ॥ २१ ॥ जीविका के लिये, वा धर्म उपकारादि के लिये, वा काम वश जो झूठ नहीं बोलते हैं, सो मनुष्य स्वर्गगामी हैं ॥ २२ ॥ परुष = रुक्ष-अप्रिय कटुक = तीक्ष्ण-अवक्तव्य निष्ठुर = कठोर वचन जो नहीं बोलते हैं, सो पिशुनता रहित सन्त नर स्वर्गगामी हैं ॥ २३ ॥ हृदय को फाड़ने वाले वचन को जो क्रोध से नहीं बोलते हैं, और क्रुद्ध हो कर भी जो शान्ति रखते हैं, सो मनुष्य स्वर्गगामी हैं ॥२४॥ सत्यादि के द्वारा जो धर्म का अनुसरण करते हैं, सो मनुष्य स्वर्गगामी हैं ॥ २५ ॥ जो होमजपादि में

मातापित्रोश्च शुश्रूषां ये कुर्वन्त्यादृता नराः । वर्जयन्ति दिवा स्वापं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२७॥
सर्वहिंसानिवृत्ताश्च नित्यं सर्वसहाश्च ये । सर्वस्याश्रयभूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२८॥
शुश्रूषाभिस्तपोभिश्च श्रुतमादाय भारत ! । ये प्रतिग्रहनिःस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२९॥
आढ्याश्च रूपवन्तश्च यौवनस्थाश्च भारत ! । ये वै जितेन्द्रिया धीराः पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥३०॥
ये याचिताः प्रहृष्यन्ति प्रियं दत्त्वा वदन्ति च । त्यक्तदानफलेच्छाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३१॥
प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च वेदशास्त्रोक्तवर्त्म च । आचरन्ति महात्मानस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३२॥
ये परेषां श्रियं दृष्ट्वा न तपन्ति विमत्सराः । परहृष्टाश्चाभिनन्दन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३३॥
वापीकूपतडागानां प्रपानां देवसद्मनाम् । आरामाणां च कर्त्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३४॥
असत्येष्वपि सत्याश्च ऋजवोऽनार्जवेष्वपि । अरिष्टेऽपि हितेच्छाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३५॥
मनसश्चेन्द्रियाणां च नित्यं संयमने रताः । त्यक्तलोभभयक्रोधास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३६॥
यूकामत्कुणदंशादीन् ये जन्तून् खादतस्तनून् । पुत्रवत्परिरक्षन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३७॥

इतिहाससमुच्च० अ० ७ ॥

मातापितृपरा दान्ता गुरुभक्ताः प्रियंवदाः । सत्यार्जवरता ये च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३८॥
स्वाध्यायसक्तधीमन्तो गुरुशुश्रूषणे रताः । उपासकाश्च वृद्धानां ते ज्ञेयाः स्वर्गगामिनः ॥३९॥
आर्त्तप्राणप्रदा ये च ये च हिंसाविवर्जकाः । अपीडकाश्च भूतानां ते नराः स्वर्गगामिनः ॥४०॥

तत्पर श्रद्धालु महात्मा नर हैं, सो स्वर्गगामी हैं ॥ २६ ॥ जो आदरयुक्त मनुष्य, माता पिता की सेवा करते हैं और दिवाशयन को त्यागते हैं, सो स्वर्गगामी हैं ॥ २७ ॥ जो सब हिंसा से निवृत्त हैं, और धर्मानुष्ठान में शीतोष्णादि सब को सहने वाले तितिक्षु हैं, दीन दुःखी आदि सब के आश्रयस्वरूप हित कारक हैं, सो मनुष्य स्वर्गगामी हैं ॥ २८ ॥ हे भारत ! गुरु सेवा और तप के द्वारा वेद शास्त्र का ग्रहण ज्ञान कर के जो प्रतिग्रह = दान लेने में स्नेहरहित हैं, सो मनुष्य स्वर्गगामी है ॥ २९ ॥ हे भारत ! धनी रूपवान् युवा होते भी जो धीर = धैर्ययुक्त विद्वान् पुरुष जितेन्द्रिय रहते हैं; सो स्वर्गगामी हैं ॥ ३० ॥ जो याचना करने पर प्रहृष्ट होते हैं, और दान देकर प्रिय बोलते हैं, दान का फल नहीं चाहते, सो नर स्वर्गगामी हैं ॥ ३१ ॥ जो महात्मा प्रवृत्ति वा निवृत्ति में वेदशास्त्र में कथित मार्ग का आचरण करते हैं सो, मनुष्य स्वर्गगामी हैं ॥ ३२ ॥ जो विमत्सर पुरुष अन्य की लक्ष्मी को देखकर जलते नहीं हैं, प्रहृष्ट होकर अभिनन्दन करते हैं, सो मनुष्य स्वर्गगामी हैं ॥ ३३ ॥ वापी कूप तालाब प्रपा = जलशाला देवगृह, आराम=उपवन के कर्ता मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥३४॥ असत्यवक्ता के व्यवहार में भी सत्यवक्ता, अनृजु=कुटिल में भी ऋजु=अवक्र, अरिष्ट=अशुभ में भी शुभेच्छुक मनुष्य, स्वर्गगामी हैं ॥३५॥ मन और इन्द्रियों के संयम में सदा तत्पर, लोभ, क्रोध और भय के त्यागी स्वर्गगामी हैं ॥३६॥ जूका खटमल दंशादि जो जन्तु शरीर को खाते हैं, उनकी भी जो पुत्र तुल्य रक्षा करते हैं, सो मनुष्य स्वर्गगामी हैं ॥३७॥ माता, पिता की सेवा आज्ञापरायण दान्त गुरुभक्त, प्रियवक्ता, सत्य, आर्जव में तत्पर मनुष्य स्वर्गगामी हैं ॥ ३८ ॥ वेदाध्ययन में आसक्त बुद्धिवाले, गुरु सेवा में तत्पर, वृद्धों के उपासकों को स्वर्गगामी समझना ॥ ३९ ॥ आर्त्त = दुःखी को प्राण = बल देने वाले हिंसा रहित प्राणियों के अपीडक नर स्वर्गगामी हैं ॥४०॥

दरिद्रा ये च दातारः प्रभवश्च क्षमान्विताः । यौवनस्थाश्च ये शान्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥४१॥

विष्णुधर्मोत्तरपु० अ० ११७ ॥

मातापित्रोश्च शुश्रूषां ये कुर्वन्ति सदाऽऽद्दताः । वर्जयन्ति दिवा स्वापं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥४२॥

सर्वहिंसानिवृत्ताश्च साधुसङ्गाश्च ये नराः । सर्वस्यापि हिते युक्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥४३॥

सर्वलोभनिवृत्ताश्च सर्वसाहाश्च ये नराः । सर्वस्याश्रयभूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥४४॥

शुश्रूषाभिस्तपोभिश्च गुरूणां मानदा नराः । प्रतिग्रहनिवृत्ताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥४५॥

सहस्रपरिवेष्टारस्तथैव च सहस्रदाः । त्रातारश्च सहस्राणां ते नराः स्वर्गगामिनः ॥४६॥

द्विषतामपि ये दोषान्न वदन्ति कदाचन । कीर्त्तयन्ति गुणान् ये च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥४७॥

ये नराणां वचो वक्तुं न जानन्ति च विप्रियम् । प्रियवाक्यैकविज्ञातास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥४८॥

यस्मिन् कस्मिन् कुले जाता बहुपुत्राः शतायुषः । सानुक्रोशाः सदाचारास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥४९॥

आक्रोशन्तं स्तुवन्तं च तुल्यं पश्यन्ति ये नराः । शान्तात्मनो जितात्मानस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥५०॥

न वशे चेन्द्रियाणां च ये नराः संयमस्थिताः । त्यक्तलोभभयक्रोधास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥५१॥

निन्दितानि न कुर्वन्ति कुर्वन्ति विहितानि च । आत्मशक्तिं विजानन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥५२॥

पद्मपु० खं० २।६६ ॥

पात्रे दत्त्वा प्रियाण्युक्त्वा सत्यमुक्त्वा च भारत ! । अहिंसानिरतः स्वर्गं गच्छेदिति मतिर्मम ॥५३॥

दानं च सत्यं तत्त्वं वा अहिंसा प्रियमेव वा । एषां कार्यगरीयस्त्वाद् दृश्यते गुरुलाघवम् ॥५४॥

दरिद्र दाता, क्षमायुक्त प्रभु, शान्त युवा स्वर्गगामी हैं ॥ ४१ ॥ आदर पूर्वक माता पिता की सेवा करने वाले और दिन में शयन नहीं करने वाले स्वर्गगामी हैं ॥४२॥ सब हिंसाओं से रहित, साधुओं के संगवाले और सब के हित में तत्पर मनुष्य स्वर्गगामी हैं ॥ ४३ ॥ सब लोभ से रहित सब दुःखादि को सहने वाले तितिक्षु सब के आश्रय रूप मनुष्य स्वर्गगामी हैं ॥ ४४ ॥ गुरु की सेवाओं से और तप से गुरु को मान = चित्त में उन्नति देने वाले, प्रतिग्रह से निवृत्त मनुष्य स्वर्गगामी हैं ॥ ४५ ॥ हजारों को भोजन की वस्तु परोसने वाले, हजारों के दाता, हजारों के रक्षक, स्वर्गगामी हैं ॥ ४६ ॥ जो द्वेषियों के दोषों को भी कभी नहीं कहते हैं, और गुणों का कथन करते हैं, सो स्वर्गगामी हैं ॥ ४७ ॥ जो मनुष्यों को अप्रिय वचन कहना नहीं जानते हैं, और एक प्रिय वाक्य के ज्ञाता हैं, सो स्वर्गगामी हैं ॥ ४८ ॥ जिस किसी कुल में जन्म वाले, जो बहुत सुपुत्र वाले, और धर्मयुक्त सौ वर्ष के आयु वाले, दयालु, सदाचारी हैं सो स्वर्गगामी हैं ॥ ४९ ॥ निन्दा करने वाले और स्तुति करने वाले को जो मनुष्य तुल्य देखते हैं, सो शान्तात्मा, जितात्मा नर, स्वर्गगामी हैं ॥ ५० ॥ जो संयमी मनुष्य, इन्द्रियों के वश में नहीं हैं, सो लोभ भय क्रोध के त्यागी स्वर्गगामी हैं ॥ ५१ ॥ जो निन्दित = निषिद्ध कर्म नहीं करते, विहित करते हैं, और आत्मशक्ति को समझते हैं सो स्वर्गगामी हैं ॥ ५२ ॥ हे भारत ! सुपात्र को दान देकर, प्रिय और सत्य बोल कर, अहिंसा में तत्पर मनुष्य, स्वर्ग में जाता है यह मेरी मति है ॥ ५३ ॥ दान सत्य रूप तत्त्व अहिंसा और प्रिय में भी कार्य की गुरुता से गुरु लघु भाव देखा जाता है, अर्थात् प्रयोजनादि वश इन में गुरुता लघुता अनियत

त्रिस्रो वै गतयो राजन् परिदृष्टाः स्वकर्मभिः। मानुष्यं स्वर्गवासश्च तिर्यग्योनिश्च तत्त्रिधा ॥५५॥
तत्र वै मानुषाल्लोकाद्दानादिभिरतन्द्रितः। अहिंसार्थसमायुक्तैः कारणैः स्वर्गमश्नुते ॥५६॥
विपरीतैश्च राजेन्द्र! कारणै र्मानुषो भवेत्। तिर्यग्योनिस्तथा तात! विशेषश्चात्र वक्ष्यते ॥५७॥
कामक्रोधसमायुक्तो हिंसालोभसमन्वितः। मनुष्यत्वात्परिभ्रष्टस्तिर्यग्योनौ प्रजायते ॥५८॥

महाभा० वनप० अ० १८१॥ नहुषसर्पोक्तिः॥

शुभै र्देवत्वमाप्नोति मिश्रै र्मानुषतां व्रजेत्। अशुभैः कर्मभि र्जन्तु तिर्यगयोनिषु जायते ॥५९॥
प्रमाणं श्रुतिरेवात्र धर्माधर्मविनिश्चये। पापं पापेन भवति पुण्यं पुण्येन कर्मणा ॥६०॥

भविष्यपु० पर्व ४।४॥

मानुष्यं यः समासाद्य स्वर्गमोक्षप्रसाधकम्। द्वयो र्न साधयत्येकं स मृतस्तप्यते चिरम् ॥६१॥
स्वर्गापवर्गलाभाय यदि नास्ति समुद्यतः। स्वर्गस्य मूलं मानुष्यं तद्यतनादनुपालयेत् ॥६२॥

भविष्यपु० प० ४।६ ॥

परपीडामकुर्वन्तो भृत्यानां भरणादिकम्। कुर्वन्ति ते सुखं यान्ति विमानैः कनकोज्ज्वलैः ॥६३॥
ये क्षान्ताः सर्वभूतेषु प्राणिनामभयप्रदाः। क्रोधमोहविनिर्मुक्ता निर्मदाः संयतेन्द्रियाः ॥६४॥
पूर्णचन्द्रप्रकाशेन विमानेन महाप्रभाः। यान्ति वैवस्वतपुरं देवगन्धर्वसेविताः ॥६५॥
एकभावेन ये विष्णुं ब्रह्माणं त्र्यम्बकं रविम्। पूजयन्ति हि ते यान्ति सद्यः शौचसमन्विताः ॥६६॥
ये च मांसं न खादन्ति सत्यशौचदयापराः। तेऽपि यान्ति सुखेनैव धर्मराजपुरं नराः ॥६७॥

है ॥ ५४ ॥ और हे राजन्! अपने कर्मों से मनुष्यता, स्वर्गवास, और तिर्यग् योनि, रूप तीन प्रकार की गति देखी गई है ॥ ५५ ॥ तिन में सावधान मनुष्य अहिंसा और अर्थ = धन वस्तु से संयुक्त दानादि रूप कारण = कर्म द्वारा इस मानुष लोक से स्वर्ग को प्राप्त करता हैं ॥ ५६ ॥ हे राजेन्द्र! उससे विपरीत कर्मों से मनुष्य होता है, और हे तात! तिर्यग्योनि होता है, इस में भी विशेष = भेद कहूँगा, ॥ ५७ ॥ कामक्रोध से समायुक्त हिंसा लोभ से समन्वित जीव मनुष्यता से परिभ्रष्ट = पतित, होकर तिर्यग् योनि में जन्मता हैं, अन्यथा मनुष्य होता है ॥ ५८ ॥ शुभ कर्मादि से देव होता है, मिश्रित शुभाशुभ से मनुष्य होता हैं, अशुभ कर्मों से प्राणी तिर्यग्योनि में जन्मता है ॥ ५९ ॥ इस धर्माधर्म के विनिश्चय में श्रुति ही प्रमाण है, कि जो कहती है कि—पाप कर्म से पापी होता हैं पुण्य कर्म से पुण्यात्मा होता है ॥६०॥ स्वर्ग और मोक्ष के श्रेष्ठ हेतु मनुष्यता को पाकर जो दोनों में से एक को भी नहीं सिद्ध करता है। सो मर कर बहुत काल तक ताप सहता है ॥ ६१ ॥ जो स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति के लिये उद्यत = तैयार नहीं है, वह स्वर्ग का मूल जो मनुष्यता उसका यत्न से पालन करे ॥ ६२ ॥ अन्य की पीड़ा नहीं करते हुए, जो भृत्यों के पोषणादि करते हैं, सो कनक तुल्य उज्ज्वल विमान द्वारा सुख पूर्वक स्वर्ग में जाते हैं ॥ ६३ ॥ जो सब प्राणी में क्षमायुक्त, प्राणियों के अभय प्रदाता, क्रोध, मोह, मद, रहित और जितेन्द्रिय, रहते हैं सो महा प्रभा = दीप्ति युक्त और देव गन्धर्व से सेवित होकर पूर्णचन्द्र तुल्य प्रकाश वाले, विमान द्वारा वैवस्वतपुर में जाते हैं ॥ ६४-६५ ॥ विष्णु, ब्रह्मा, शिव, सूर्य को जो एक भाव से पूजते हैं, शौच से सम्यग् युक्त वे लोग शीघ्र पर लोक में जाते हैं ॥ ६६ ॥ जो सत्य शौच दया परायण मनुष्य

धर्मो माता पिता भ्राता धर्मो नाथः सुहृत्तथा । धर्मः स्वामी सखा गोप्ता तथा धाता च पोषकः ॥६८॥
धर्मादर्थोऽर्थतः कामः कामाद्भोगः सुखानि च । धर्मादैश्वर्यमैकाग्र्यं धर्मात्स्वर्गगतिः परा ॥६९॥
ब्रह्मपु० अ० १०७।५९। इत्यादि।

ब्रह्मलोको ब्राह्मणानां शाक्रः क्षत्रियजन्मनाम् । मारुतं च विशां स्थानं गान्धर्वं शूद्रजन्मनाम् ॥७०॥
ब्रह्मचारिव्रतस्थानां ब्रह्मलोकः प्रजायते । प्राजापत्यं गृहस्थानां यथाविहितकारिणाम् ॥७१॥
स्थानं सप्तऋषीणां च तथैव वनवासिनाम् । यतीनामक्षयं स्थानं यदृच्छागामिनां सदा ॥७२॥
इति तृतीयं स्वर्गप्राप्तिप्रकरण समाप्तम् ॥ गरुडपु० अ० ४॥

अथ स्वर्गस्वरूपम् ॥ ४ ॥

स्वर्गं सौख्यावहं मन्ये पाताद् दुःखं करोति च । परसौख्यप्रदं त्वन्यं मन्ये वै मोक्षलक्षणम् ॥१॥
यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥२॥
नातप्ततपसः पुंसो नामहायज्ञयाजिनः । नानृता नास्तिकाश्चैव तत्र गच्छन्ति मुद्गल ! ॥३॥
धर्मात्मानो जितात्मानः शान्ता दान्ता विमत्सराः । दानधर्मरताः पुंसः शूराश्चाहवलक्षणाः ॥
तत्र गच्छन्ति धर्माग्र्यं कृत्वा शमदमात्मकम् ॥४॥
नन्दनादीनि पुण्यानि विहाराः पुण्यकर्मणाम् । न क्षुत्पिपासे न ग्लानि र्न शीतोष्णे भयं तथा ॥५॥

मांस नहीं खाते हैं, वे भी धर्म राज के नगर में सुख से ही जाते हैं ॥ ६७ ॥ धर्म ही माता पिता भ्राता के समान सुजन्म दाता सहायक है, और = नाथ स्वामी मित्र के समान रक्षक हितकारक है, और धर्म कर्म के अनुसार ही माता आदि सब मिलते हैं, इससे धर्म ही स्वामी, सखा, रक्षक, धारक, और पोषक है ॥ ६८ ॥ धर्म से पवित्र अर्थ = द्रव्य मिलता है, अर्थ से काम्य विषय मिलते हैं, काम्य विषय से भोग और सुख होते हैं। और धर्म से ही ऐश्वर्य, एकाग्रता, उत्तम स्वर्ग की प्राप्ति ये सब होते हैं ॥६९॥ ब्राह्मणों को ब्रह्मलोक मिलता है, क्षत्रियों को इन्द्रलोक मिलता है, वैश्यों का स्थान वायुलोक है, शूद्रों का स्थान गन्धर्वलोक है ॥ ७० ॥ ब्रह्मचारियों के व्रतों में स्थिर रहने वालों को ब्रह्मलोक होता है, विधि के अनुसार कर्मादि करने वाले गृहस्थों को प्रजापति का स्थान मिलता है, वन वासियों को सप्तर्षियों का स्थान मिलता है और स्वतन्त्रगामी यतियों को अक्षय = मोक्ष स्थान मिलता है ॥ ७१-७२ ॥
तीसरा स्वर्गप्राप्तिप्रकरण समाप्त ॥

अथ स्वर्गस्वरूप—स्वर्ग को सुख देने वाला मानता हूँ, परन्तु पात = पतन से दुःख कारक भी है, परम सुख देने वाला मोक्ष रूप स्वर्ग अन्य है ॥ १ ॥ कि जो स्वर्ग पद का आस्पद = प्रतिष्ठा-अर्थ दुःख से संमिलित वा ग्रस्त नहीं है, और अनन्तर = भेद व्यवधान रहित सब की अभिलाषा का विषय सुख स्वरूप वह स्वर्ग है ॥ २ ॥ हे मुद्गल ! तप महायज्ञ रहित मिथ्याभाषी, नास्तिक, उस स्वर्ग में नहीं जाते हैं ॥ ३ ॥ धर्मात्मा, जितात्मा, शान्त, दान्त, मत्सर रहित, दान धर्म में तत्पर, आहव = युद्ध रूप लक्षण वाले शूर, शम दम रूप मुख्य धर्म द्वारा उस स्वर्ग में जाते हैं ॥ ४ ॥ नन्दनादि नामक पवित्र वन स्वर्ग में हैं, जहाँ पुण्य कर्म वालों के विहार = (क्रीडा) होते हैं, जो वन उनके विहार के स्थान हैं, और जहाँ भूख

बीभत्समशुभं वापि तत्र किञ्चिन्न विद्यते । मनोज्ञाः सर्वतो गन्धाः सुखस्पर्शाश्च सर्वशः ॥६॥
शब्दाः श्रुतिमनोग्राह्याः सर्वतस्तत्र वै मुने ! । न शोको न जरा तत्र नायासपरिदेवने ॥७॥
तैजसानि शरीराणि भवन्त्यत्रोपपद्यताम् । कर्मजान्येव मौद्गल्य ! न मातृपितृजान्युत ॥८॥
न स्वेदो न च दौर्गन्ध्यं पुरीषं मूत्रमेव च । तेषां न च रजो वस्त्रं बाधते तत्र वै मुने ! ॥९॥ इत्यादि ॥
कृतस्य कर्मणस्तत्र भुज्यते यत्फलं दिवि । नचान्यत् क्रियते कर्म मूलच्छेदेन भुज्यते ॥१०॥
सोऽत्र दोषो मम मतस्तस्यान्ते पतनं च यत् । सुखव्याप्तमनस्कानां पतनं यच्च मुद्गल ! ॥११॥
असन्तोषः परीतापो दृष्ट्वा दीप्ततराः श्रियः । यद्भवत्यवरे स्थाने स्थितानां तत्सुदुष्करम् ॥१२॥
सञ्ज्ञामोहश्च पततां रजसा च प्रधर्षणम् । प्रम्लानेषु च माल्येषु ततः पिपतिषो र्भयम् ॥१३॥
आब्रह्मभुवनादेते दोषा मौद्गल्य ! दारुणाः ॥१४॥ महाभा० वनप० अ० २६१। देवदूतोक्तिः ॥
ज्ञातिः सुहृत्स्वजनो वा यथेह, क्षीणे वित्ते त्यज्यते मानवै र्हि ।
तथा तत्र क्षीणपुण्यं मनुष्यं, त्यजन्ति सद्यः सेश्वरा देवसंघाः ॥ १५ ॥ महाभा० आदिप० अ० ६ ॥
स्वर्गे पुण्यस्य सामग्र्या भुज्यते परमं सुखम् । उत्तमेन तु पुण्येन प्राप्नोति स्वर्गमुत्तमम् ॥१६॥
मध्यमेन तथा मध्यः स्वर्गो भवति नान्यथा । कनिष्ठेन तु पुण्येन स्वर्गो भवति तादृशः ॥१७॥
परोत्कर्षासहिष्णुत्वं स्पर्द्धा चैव समैश्च तैः । कनिष्ठेषु च सन्तोषो यावत्पुण्यक्षयो भवेत् ॥१८॥
योगवासिष्ठप्र० १।१॥ ३६–३८ ॥

पिपासा नहीं लगती है, न ग्लानि = क्षीणता होती है, न शीत उष्ण वा भय व्यापते हैं ॥ ५ ॥ बीभत्स = विकृत, घृणित, अशुभ वहाँ कुछ नहीं है, किन्तु मनोज्ञ गन्ध, सर्वत्र है, और सुखद स्पर्श सर्वत्र है ॥ ६ ॥ हे मुने ! वहाँ कान मन से ग्रहण योग्य शब्द सर्वत्र हैं, शोक, जरा अवस्था, आयास = परिश्रम, थकावट, परिदेवना = विलाप ये सब नहीं हैं ॥ ७ ॥ हे मौद्गल्य ! इस स्वर्ग में जाने वालों के शरीर कर्म जन्य तैजस होते हैं, माता पिता जन्य नहीं होते हैं ॥ ८ ॥ न स्वेद = पसीना होता है, न दुर्गन्ध वा मल मूत्र ही होते हैं, न धूलि उन के वस्त्र में वहाँ लगती है, इत्यादि ॥ ९ ॥ किये हुए कर्म का जो फल होता है, सो स्वर्ग में भोगा जाता है, वहाँ अन्य कर्म किया नहीं जाता है, यहाँ का किया हुआ मूलोच्छेद सहित भोगा जाता है ॥ १० ॥ वही इस स्वर्ग में मैं दोष मानता हूँ, और उस कर्म भोग के अन्त में जो पतन है, सो भी दोष है । सुख से व्याप्त मन वालों का जो पतन है, और हे मुद्गल ! असन्तोष है, तथा अन्य की अत्यन्त दीप्त श्री को देख कर जो परिताप है, सो नीचे स्थान में रहने वालों को अति दुःखकारक होता है ॥ ११–१२ ॥ और स्वर्ग से गिरने वालों को संज्ञा = चेतना में मोह होता है, रजो गुण से प्रधर्षण = पराभव होता है, और माल्य के प्रम्लान = शुष्क होने पर पिपतिषु को भय होता है, हे मौद्गल्य ! ब्रह्मलोक तक ये भयंकर दोष हैं ॥ १३–१४ ॥ जाति मित्र वा अपना जन भी जैसे यहाँ धन के क्षय होने पर मनुष्यों से त्यागा जाता है, वैसे ही उस स्वर्ग में क्षीणपुण्य मनुष्य को ईश्वर सहित देव संघ सब शीघ्र त्यागते हैं ॥ १५ ॥ स्वर्ग में पुण्य की सामग्री = साधन समूह से परम सुख भोगा जाता है, और उत्तम पुण्य से उत्तम स्वर्ग पाता है, मध्यम पुण्य से मध्यम स्वर्ग होता है, अन्यथा नहीं होता, कनिष्ठ पुण्य से तादृश = कनिष्ठ स्वर्ग होता है ॥ १७ ॥ अन्य की उत्कर्षता = अधिकता की

तत्रैश्वर्यं सातिशयं देवानां वशवर्तिता । पतनं च तथा स्वर्गे ह्यचिकित्स्या त्रिदोषता ॥१९॥

आत्मपु० अ० १।७०० ॥

देवा देववधूवक्त्रमद्यपानेन मोहिताः । जानन्तोऽपि न जानन्ति मद्यपा इव भूमिगाः ॥२०॥

कामक्रोधौ च सर्वस्य हृदि जन्तोः प्रतिष्ठितौ । हित्वा ब्रह्मविदं त्वित्थं गुरुशास्त्राच्छ्रुतं मया ॥२१॥

देवो वा मानवो वाऽयं कृमि र्वा स्थावरोऽपि वा । भवत्युच्चावचे स्थाने काष्ठं यद्वद्धि नीरगम् ॥२२॥

अस्वप्नता हि देवानां ज्ञेया स्यादुपचारतः । देवानां प्रथमो यस्माच्छेते शेषगतो हरिः ॥२३॥

यथा क्षणे क्षणे स्वप्नं पश्यन्ति मनुजादयः । नैवं देवास्ततस्ते स्युरस्वप्ना नान्यथा क्वचित् ॥२४॥

आत्मपु० अ० ३ ॥

किं बहूक्तेन देवेन्द्र ! संक्षेपेणावधारय । समः संसार आत्मा च मम तेऽपि शुनोऽपि च ॥२५॥

निन्दयामो वयं यद्वत्कष्टं जन्म शुनोऽधुना । अस्माकं च तथैवैते निन्दन्ति ब्रह्मवादिनः ॥२६॥

श्वविष्ठासदृशो देहः शक्र ! सर्वशरीरिणाम् । हेयो धिया परित्यक्ते तस्मिन्नात्मा प्रकाशते ॥२७॥

विष्ठायां यादृशं दुःखमसह्यं जायते कृमेः । तादृशं ब्रह्मलोकेऽपि मरणादौ प्रजायते ॥२८॥

उत्पद्यते सुखं यादृक् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः । विष्ठाकृमेस्तादृगेव स्याद्योगादिन्द्रियार्थयोः ॥२९॥

जायते म्रियते ब्रह्मा विट्कृमिश्च तथैव हि । सुखदुःखकरं तद्वत्सदेहत्वं समं द्वयोः ॥३०॥

आत्मपु० अ० ४ ॥ दध्यङ्ङथर्वोक्तिः ॥

असहिष्णुता, और उन तुल्यों के साथ स्पर्द्धा = संघर्ष, विरोध होता है, कनिष्ठ में सन्तोष होता है ॥ १८ ॥ वहाँ ऐश्वर्य = विभूति अतिशय = न्यूनाधिक्य युक्त होता है, देवों की वशवर्तिता होती है और पतन होता है, इससे स्वर्ग में यही त्रिदोषता अनिवार्य है ॥ १९ ॥ देवस्त्री के मुखमद्य के पान से मोहित देव भूमिगत मद्यप के समान सब कुछ जानते हुए भी नहीं जानते हैं ॥ २० ॥ ब्रह्मज्ञानी से अन्य सब प्राणी के हृदय में काम क्रोध प्रतिष्ठित रहते हैं, इस प्रकार मैं = बलाकि ने गुरु शास्त्र से सुना है ॥ २१ ॥ देव, वा मनुष्य, वा कृमि, वा स्थावर सब उच्चावच = अनेक प्रकार के स्थान में प्राप्त होते हैं, जैसे जलगत काष्ठ होता है ॥ २२ ॥ देवों की अस्वप्नता को भी उपचार = भाक्त गौण रूप से समझना चाहिये, जिससे देव के प्रधान शेषगत हरि भी सोते हैं ॥ २३ ॥ परन्तु मनुष्यादि जैसे क्षण २ में स्वप्न देखते हैं, देव ऐसे नहीं देखते हैं, उसी से वे अस्वप्न कहाते हैं अन्यथा कहीं नहीं ॥ २४ ॥ हे देवेन्द्र ! बहुत कहने से क्या फल, संक्षेप कथन से ही यह निश्चय करो, कि-संसार और आत्मा मेरा तेरा और श्वानकुत्ते का तुल्य ही है ॥ २५ ॥ जैसे हम सब इस समय कष्ट रूप कुत्ते के जन्म की निन्दा करते हैं, वैसे ही ये ब्रह्मवादी भी हमलोगों के जन्म की निन्दा करते हैं ॥ २६ ॥ हे शक्र ! सब शरीरियों की देह कुत्ता के विष्ठा के तुल्य हैं, इससे त्याग के योग्य हैं, और बुद्धि से देह के त्याग होने पर = देहाभिमान छूटने पर उस देह में आत्मा प्रकाशता है ॥ २७ ॥ मल में कृमि को जैसा असह्य दुःख मरणादि में होता है वैसा ब्रह्म लोक में भी होता है ॥ २८ ॥ इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध से जैसा सुख परमेष्ठी = परमपद में स्थिर ब्रह्मा को होता है, विष्ठा कृमि को भी वैसा ही सुख होता है ॥ २९ ॥ जैसे ब्रह्मा जन्मते मरते हैं, वैसे विष्ठा का कृमि भी जन्मता मरता है, वैसे सुख-दुःख हेतु सदेहता = देहीपन

राज्ञोऽत्र मरणे यावद् दुःखं स्यात्सुखिनो महत् । कर्मक्षये तथा दुःखं स्वर्गिणो जायते सदा ॥३१॥
राजार्थं रचिते यद्वत्प्रासादे सप्तभूमिके । उपर्यधो वा दुःखाप्तौ भेदः कोऽपि न विद्यते ॥३२॥
हैमी लौह्यथवा यद्वच्छृंखला बन्धनप्रदा । दैवो वा मानुषो वाऽयं देहो दुःखप्रदस्तथा ॥३३॥
यो देहो येन जीवेन स्वीकृतस्तस्य सोऽधिकः । न्यूनः परो जगत्यस्मिन् सर्वत्रैवेति च स्थितम् ॥३४॥
आत्मपु० अ० १६ ॥

तपश्च दानं च शमो दमश्च ह्रीरार्जवं सर्वभूतानुकम्पा ।
स्वर्गस्य लोकस्य वदन्ति सन्तो द्वाराणि सप्तैव महान्ति पुंसाम् ॥ ३५ ॥
सर्वाणि चैतानि यथोदितानि तपः प्रधानान्यभिमर्षणेन ।
नश्यन्ति मानेन तमोऽभिभूताः पुंसः सदैवेति वदन्ति सन्तः ॥ ३६ ॥ मत्स्यपु० अ० २०७ ॥
यावत् कीर्त्तिर्मनुष्यस्य पृथिव्यां प्रथिता भवेत् । तावानेव भवेत्स्वर्गी सति पुण्ये ह्यनन्तके ॥३७॥
स्कन्दपु० खं० १-२ अ० १०।२२॥
आभूतसम्प्लवं स्थानममृतत्वं विभाव्यते । त्रैलोक्यस्थितिकालोऽयमपुनर्मार उच्यते ॥३८॥
विष्णुपु० अं० १।८।९५ ॥
भूमौ यावद्यस्य कीर्त्तिस्तावत्स्वर्गे स तिष्ठति । अकीर्त्तिरेव नरको नान्योऽस्ति नरको दिवि ॥३९॥
नरदेहाद्विना त्वन्यो देहो नरक एव सः । महत् पापफलं विद्यादाधिव्याधिस्वरूपकम् ॥४०॥
इति चतुर्थं स्वर्गस्वरूपप्रकरणं समाप्तम् ॥ शुक्रनीति० अ० ४।३-८॥

ब्रह्मा और कृमि का तुल्य ही है ॥ ३० ॥ जैसे यहाँ सुखी राजा को मरण में महान् दुःख होता है, वैसे ही स्वर्गी को भी कर्मक्षय होने पर सदा दुःख होता है ॥ ३१ ॥ जैसे राजा के लिये रचित सात महल युक्त प्रासाद में = राजभवन में ऊपर वा नीचे दुःख की प्राप्ति में कोई भेद नहीं रहता है, वैसे ही सात भुवनों के दुःखों में भेद नहीं है ॥ ३२ ॥ जैसे सुवर्ण वा लोहा की शृंखला = बेड़ी बन्धन देने वाली होती है, वैसे देव वा मनुष्य का शरीर दुःखदायी है ॥ ३३ ॥ जिस जीव ने जिस देह का ग्रहण किया है, उसको वही देह अन्य देह से अधिक = श्रेष्ठ प्रतीत होती है और अन्य देह न्यून है, इस जगत् में यह बात सर्वत्र स्थिर है ॥३४॥ तप दानादि सातों को पुरुष के लिये स्वर्ग के महान् द्वार रूप सन्त कहते हैं ॥ ३५ ॥ यथोक्त ये सब अभिमर्षण = सर्वथा तितिक्षा सहनशीलता से तपों में भी प्रधान तपरूप सिद्ध होते हैं, और तमोगुण से अभिभूत पुरुष अभिमर्षण विना अभिमान से सदा नष्ट होते हैं, सो सन्त कहते हैं ॥३६॥ मनुष्य की कीर्ति जब तक भूमि में प्रख्यात = प्रसिद्ध रहती है, तभी तक स्वर्गवासी रहता है, अनन्तपुण्य के रहते भी ॥ ३७ ॥ और सब प्राणी के प्रलय काल तक स्वर्ग में स्थिति ही स्वर्ग सम्बन्धी अमृतत्व = (मुक्ति) कहा जाता है, और तीनों लोक का यह स्थिति काल ही अपुनर्मार कहा जाता है ॥ ३८॥ भूमि में जब तक जिस की कीर्ति रहती है, तब तक वह स्वर्ग में रहता है, और अकीर्ति = अपयश ही परलोक में नरक है, अन्य नरक परलोक में नहीं है ॥ ३९ ॥ मनुष्य देह के बिना जो अन्य देह हैं, सो नरक ही है, आधि = मानस रोग, व्याधि = दैहिक रोग स्वरूप को महापाप का फल रूप समझना चाहिये ॥४०॥
चौथा स्वर्ग स्वरूप प्रकरण समाप्त ॥

अथ ब्रह्मप्राप्तिः ॥ ९ ॥

ब्रह्मप्राप्तिर्मनुष्याणां मुख्यं कार्यं न चेतरत् । तदर्थमेव यत्किञ्चित् तत्सर्वं पावनं मतम् ॥१॥
राजसांस्तामसांश्चैव नित्यं दोषान् विवर्जयेत् । सात्त्विकं मार्गमास्थाय पश्येदात्मानमात्मना ॥२॥
ज्योतिश्चात्मनि नान्यत्र रत्नं तत्रैव चैव तत् । स्वयं च शक्यं तद् द्रष्टुं सुसमाहितचेतसा ॥३॥
न विभेति परो यस्मान्न विभेति पराच्च यः । यश्च नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते स तु ॥४॥
संयोज्य तपसात्मानमीर्ष्यामुत्सार्य मोहिनीम् । त्यक्त्वा कामं च लोभं च ततो ब्रह्मत्वमश्नुते ॥५॥
यदा श्राव्ये च दृश्ये च सर्वभूतेषु चाव्ययम् । समो भवति निर्द्वन्द्वो ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥६॥
यदा स्तुतिं च निन्दां च समत्वेनैव पश्यति । काञ्चनं चायसं चैव सुखदुःखे तथैव च ॥७॥
शीतमुष्णं तथैवार्थमनर्थं प्रियमप्रियम् । जीवितं मरणं चैव ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥८॥

नारदीयपु० अ० ५६॥

तत्त्वमस्यादिवाक्येभ्यो ज्ञानं मोक्षस्य साधनम् । ज्ञाने त्वनाहते सिद्धे सर्वं ब्रह्ममयं जगत् ॥९॥

नारदीयपु० अ० ३५।३८॥

आगमोत्थं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तथोच्यते । शब्दब्रह्मागममयं परं ब्रह्म विवेकजम् ॥१०॥
ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः । भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयै र्गुणादिभिः ॥११॥
भूतेषु वसते सोऽन्त र्वसन्त्यत्र च तानि यत् । धाता विधाता जगतां वासुदेवस्ततः प्रभुः ॥१२॥

अथ ब्रह्मप्राप्ति—ब्रह्म की प्राप्ति मनुष्यों का मुख्य कर्तव्य है, अन्य नहीं, और ब्रह्म प्राप्ति के लिये जो कर्म, उपासना, ध्यान, विचारादि कुछ भी किये जाते हैं, सो सब परम पावन माने गये हैं ॥१॥ राजस तामस सकामारम्भ अधैर्य निषिद्धाचार विषयासक्ति और लोभ, क्रोध, नास्तिकता, प्रमादादि, दोषों को सदा त्यागे और सात्त्विक मार्ग धर्म अहिंसादि में स्थिर हो कर मन से आत्मा को देखे ॥२॥ आत्मा में ही ज्योति=ज्ञान है, और उसी में वह आनन्द प्रकाश स्वरूप रत्न है, सो स्वयं एकाग्र चित्त से समझने योग्य है ॥ ३ ॥ जिससे अन्य नहीं डरता, न आप अन्य से डरता है, न राग द्वेष करता, है सो ब्रह्म को सम्यग् प्राप्त करता है, ब्रह्म रूप होता है ॥ ४ ॥ तप से मन को एकाग्र कर के विचार में मन को लगा कर, मोहित करने वाली ईर्ष्या=अक्षान्ति को नष्ट करके और काम लोभ को त्याग कर फिर ब्रह्म रूपता को पाता है ॥ ५ ॥ जब श्राव्य शब्द दृश्य रूपादि में सम रागद्वेष रहित होता है, तब सब भूतों में अव्यय नित्य ब्रह्म को वह निर्द्वन्द्व पुरुष समझता प्राप्त करता है ॥६॥ जब स्तुति निन्दा, सुवर्ण लोहा, सुख, दुःख, शीत, उष्ण, अर्थ, अनर्थ, प्रिय, अप्रिय, जीवन, मरन इन सब को सम रूप से मायामय मिथ्या देखता है, तब ब्रह्म को पाता है ॥ ७–८ ॥ तत्त्वमसि इत्यादि वाक्यों से जो ज्ञान होता है, सो मोक्ष का साधन है और अनाहत =बाधारहित निश्चित अपरोक्ष ज्ञान होने पर सब जगत्, ब्रह्ममय हो जाता है ॥ ९ ॥ शास्त्रजन्य और विवेक जन्य दो प्रकार का ज्ञान कहा जाता है, तहाँ शब्द ब्रह्म=वेद का ज्ञान आगममय है, विवेक जन्य ज्ञान परब्रह्मरूप है ॥ १० ॥ हेय=त्याज्य गुण काम क्रोध लोभादि के बिना जो ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज आदि सद्गुण हैं, सो अशेषतः = सब भगवत् शब्द के अर्थ हैं ॥ ११ ॥ जिससे ज्ञानादि स्वरूप भगवान् सब भूतों में बसते हैं, और भगवान् में सब भूत बसते हैं, तिससे जगत् का धाता=पालक

तदीक्षणाय स्वाध्यायश्चक्षु र्योगस्तथाऽपरम् । न मांसचक्षुषा द्रष्टुं ब्रह्मभूतः स शक्यते ॥१३॥
विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते । आत्मनो ब्रह्मणा भेदमसन्तं कः करिष्यति ॥१४॥
जितेन्द्रिया महात्मानो ध्यानशून्या अपि द्विज ! । प्रयान्ति परमं ब्रह्म पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥१५॥

नारदीयपु० अ० ४६ ॥

यदा त्वभेदविज्ञानं जीवात्मपरमात्मनोः । भवेत्तदा मुनिश्रेष्ठ ! पाशच्छेदोऽपरात्मनः ॥१६॥

नारदीयपु० अ० ३३।६० ॥

यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येवाभिपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥१७॥
यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति । एकीभूतः परेणासौ तदा भवति केवलम् ॥१८॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति । तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥१९॥
यदा पश्यति चात्मानं केवलं परमार्थतः । मायामात्रं तदा सर्वं जगद् भवति निर्वृतः ॥२०॥
यदा जन्म जरा दुःखव्याधीनामेकभेषजम् । केवलं ब्रह्मविज्ञानं जायतेऽसौ तदा शिवः ॥२१॥

कूर्मपु० अ० २।३१। इत्यादि। ईश्वरगी० ॥

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः । नालमेकं तत्सर्वमिति कृत्वा न मुह्यति ॥२२॥
यदा भावं न कुरुते सर्वभूतेषु पातकम् । कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥२३॥
यदाऽन्येभ्यो न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति । यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥२४॥

ब्रह्मपु० अ० १०।४१ ॥

विधाता=ब्रह्मा प्रभु=ईश्वर वासुदेव हैं ॥ १२ ॥ उन्हें देखने के लिये वेद नेत्र हैं, और दूसरा नेत्र योग है, ब्रह्म स्वरूप वह वासुदेव मांसमय चक्षु से देखने योग्य नहीं हैं ॥ १३ ॥ विभेद के जनक=हेतु अज्ञान के अत्यन्त नष्ट होने पर ब्रह्म के साथ आत्मा के असद् भेद को फिर कौन कर सकता है ? ॥ १४ ॥ हे द्विज ! ध्यान रहित भी जितेन्द्रिय महात्मा पुनरावृत्ति रहित परब्रह्म को प्राप्त करते हैं ॥ १५ ॥ हे मुनिश्रेष्ठ ! जब जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप में अभेद का विज्ञान जीवात्मा को होता है, तब इस जीव के संसार बंधन का नाश होता है ॥ १६ ॥ जब सब प्राणियों को अपनी आत्मा में और आत्मा को सब प्राणियों में देखता है, तब ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥ १७ ॥ जब समाधिस्थ हो कर सब प्राणियों को नहीं देखता है, तब पर ब्रह्म के साथ एक स्वरूप वह जीव केवल=निर्णीत-शुद्ध होता है, कैवल्य मोक्ष पाता है ॥ १८ ॥ जब सब प्राणियों की पृथक्ता को एक ब्रह्म में स्थिर देखता है, और उस ब्रह्म से ही सब विस्तार संसार को जानता है, तब ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥ १९ ॥ जब आत्मा को परमार्थ रूप से केवल=एक जानता है, और सब जगत् को माया मात्र जानता है, तब निर्वृत=सुखी होता है ॥ २० ॥ जब जन्म जरा के दुःख और व्याधियों का एक औषध रूप केवल ब्रह्मविज्ञान होता है, तब वह जीव शिव = मुक्त होता है ॥ २१ ॥ पृथ्वी में जितने व्रीहि यव सुवर्ण, पशु, स्त्रिया हैं, सो सब तृष्णायुक्त एक के लिये भी पूर्ण नहीं हैं, ऐसा निश्चय कर के तृष्णाशान्ति का त्यागी फिर मोहित नहीं होता है ॥ २२ ॥ जब सब प्राणियों में पातक रूप भाव = तात्पर्य कर्म मन वचन से नहीं करता है, तब ब्रह्म रूप होता है ॥ २३ ॥ जब अन्य से न डरता है न इससे अन्य प्राणी डरते हैं, न इच्छा वा द्वेष करता है, तब ब्रह्मरूप होता है ॥ २४ ॥

सत्यधर्मरताः शान्ताः सर्वलिङ्गविवर्जिताः। नाधर्मेण न धर्मेण बध्यन्ते छिन्नसंशयाः ॥२५॥
प्रलयोत्पत्तितत्त्वज्ञाः सर्वज्ञाः समदर्शिनः। वीतरागा विमुच्यन्ते पुरुषाः कर्मबन्धनैः ॥२६॥
कर्मणा मनसा वाचा ये न हिंसन्ति किञ्चन। ये न मज्जन्ति कस्मिंश्चित्ते न बध्नन्ति कर्मभिः ॥२७॥
प्राणातिपाताद्विरताः शीलवन्तो दयान्विताः। तुल्यद्वेष्यप्रिया दान्ता मुच्यन्ते कर्मबन्धनैः ॥२८॥
ब्रह्मपु० अ० ११६ ॥

आध्यात्मिकादि भो विप्रा ज्ञात्वा तापत्रयं बुधः। उत्पन्नज्ञानवैराग्यः प्राप्नोत्यात्यन्तिकं पदम् ॥२९॥
न केवलं द्विजश्रेष्ठा ! नरके दुःखपद्धतिः। स्वर्गेऽपि पातभीतस्य क्षयिष्णो र्नास्ति निर्वृतिः॥३०॥
यद्यत्प्रीतिकरं पुंसां वस्तु विप्राः ! प्रजायते। तदेव दुःखवृक्षस्य बीजत्वमुपगच्छति ॥३१॥
कलत्रपुत्रमित्रादिगृहक्षेत्रधनादिकैः। क्रियते न तथा भूरि सुखं पुंसां यथाऽसुखम् ॥३२॥
इति संसार दुःखार्कतापतापितचेतसाम्। मुक्तिपादपच्छायामृते कुत्र सुखं नृणाम् ॥३३॥
तदस्य त्रिविधस्यापि दुःखजातस्य पण्डितैः। गर्भजन्मजराद्येषु स्थानेषु प्रभविष्यतः ॥३४॥
निरस्तातिशयाह्लादं सुखभावैकलक्षणम्। भेषजं भगवत्प्राप्तिरेका चात्यन्तिकी मता ॥३५॥
तत्प्राप्तिहेतु र्ज्ञानं च कर्म चोक्तं द्विजोत्तमाः !। आगमोत्थं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तथोच्यते ॥३६॥
शब्दब्रह्मागममयं परं ब्रह्म विवेकजम्। अन्धं तम इवाज्ञानं दीपवच्चेन्द्रियोद्भवम् ॥
यथा सूर्यस्तथा ज्ञानं यद्वै विप्रा विवेकजम् ॥ ३७ ॥ ब्रह्मपु० अ० १२६ ॥

सत्य और धर्म में तत्पर, सब लिंगों से रहित, निःसंशय मनुष्य, अधर्म वा धर्म से नहीं बँधते हैं ॥२५॥ प्रलय और उत्पत्ति के तत्त्व = सत्य स्वरूप को जानने वाले, सर्वज्ञ, समदर्शी, विरक्त पुरुष, कर्म बन्धनों से विमुक्त होते हैं ॥ २६ ॥ जो कर्म, मन, वचन से किसी की हिंसा नहीं करते हैं, न किसी में आसक्त होते हैं, वे कर्मों से नहीं बँधते हैं ॥ २७ ॥ प्राण के अतिपात = अतिक्रमण, नाश से निवृत्त, शीलवान्, दयालु, रागद्वेष रहित, दान्त पुरुष कर्मबन्धनों से मुक्त होते हैं ॥ २८ ॥ हे विप्र ! आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तीन दुःखों को जानकर उत्पन्न ज्ञान वैराग्य वाला विद्वान्, आत्यन्तिक = नित्य पद को पाता है ॥ २९ ॥ हे द्विजश्रेष्ठ ! केवल नरक में ही दुःख की पद्धति = मार्ग नहीं है, किन्तु स्वर्ग में भी पात = पतन से भीत क्षयिष्णु को निर्वृति = सुख नहीं है ॥ ३० ॥ हे विप्र ! पुरुष को जो २ वस्तु प्रथम सुख कारक होती है, सोई वस्तु फिर दुःख की बीजरूपता को प्राप्त करती है ॥ ३१ ॥ स्त्री, पुत्र, मित्रादि और गृह, क्षेत्र, धनादि चर अचर वस्तु द्वारा वैसा भूरि=बहुत सुख पुरुषों को नहीं किया जाता है, कि जैसा उन से असुख = दुःख किया जाता है ॥ ३२ ॥ इस प्रकार संसार के दुःख रूप सूर्य के ताप से प्रतप्त चित्त वाले मनुष्यों को मुक्ति रूप वृक्ष की छाया विना सुख कहाँ है ? ॥ ३३ ॥ अतः गर्भजन्मजरा आदि स्थानों में होने वाले इन तीन प्रकार के दुःख समूह के अतिशय से रहित आनन्द रूप सुख की सत्ता रूप एक लक्षण वाले भेषज = औषधि स्वरूप भगवान् = ब्रह्म की प्राप्ति ही आत्यन्तिकी = (आवश्यक) पण्डितों से मानी गई है ॥३४–३५॥ हे द्विजोत्तम ! उस भगवान् की प्राप्ति का साक्षात् हेतु ज्ञान कहा गया है, और चित्त की शुद्धिद्वारा निष्काम कर्म भी भगवत्प्राप्ति का हेतु हैं। वैसे ही आगम जन्य और विवेक जन्य दो प्रकार का ज्ञान कहा जाता है ॥ ३६ ॥ आगम मय = आगम से ज्ञेय शब्द ब्रह्म (ओंकार और ओंकार का वाच्यार्थ) है, विवेकजन्य

निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः सर्वत्र प्रियदर्शनः । सर्वत्रानित्यबुद्धिस्तु योगी मुच्येत नान्यथा ॥३८॥

ब्रह्मपु० अ० १२७।२७ ॥

नान्यत्र ज्ञानतपसो नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् । नान्यत्र सर्वसंत्यागात् सिद्धिं विन्दति कश्चन ॥३९॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । यदा पश्यति भूतात्मा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥४०॥

यावानात्मनि वेदात्मा तावानात्मा परात्मनि । य एवं सततं वेद सोऽमृतत्त्वाय कल्पते ॥४१॥

ब्रह्मपु० अ० १२८ ॥ महाभा० शां० प० अ० २३६ ॥

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पातकम् । कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥४२॥

कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम् । कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥४३॥

कामतो मुच्यमानस्तु धूम्राभ्रादिव चन्द्रमाः । विरजाः कालमाकाङ्क्षन् धीरो धैर्येण वर्त्तते ॥४४॥

महाभा० शान्तिप० अ० २५१ ॥

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं कोष्ठे भाण्डमना इव । एकाग्रं चिन्तयेन्नित्यं योगान्नोद्वेजयेन्मनः ॥४५॥

येनोपायेन शक्येत सन्नियन्तुं चलं मनः । तं च मुक्तो निषेवेत न चैव विचलेत्ततः ॥४६॥

शून्या गिरिगुहाश्चैव देवताऽऽयतनानि च । शून्यागाराणि चैकाग्रो निवासार्थमुपक्रमेत् ॥४७॥

नाभिष्वजेत्परं वाचा कर्मणा मनसा गिरा । उपेक्षको यताहारो लब्धालब्धे समो भवेत् ॥४८॥

ज्ञान के विषय शब्द का अवाच्य पर ब्रह्म है । हे विप्र ! अन्ध तम के समान अज्ञान है, और इन्द्रिय जन्य ज्ञान दीप तुल्य है, और जो विवेक जन्य ज्ञान है, सो सूर्य तुल्य है ॥ ३७ ॥ सब काम्य वस्तु की इच्छा रहित, सर्वत्र प्रिय आत्मा की दृष्टि वाला और सब मायिक वस्तु में अनित्य बुद्धि वाला योगी होने पर मुक्त होता है अन्यथा नहीं ॥ ३८ ॥ ज्ञान, तप, इन्द्रिय निग्रह, सब मायिक वस्तु के सम्यग् त्याग, इन साधनों के बिना कोई सिद्धि, मुक्ति नहीं पाता है ॥ ३९ ॥ जब जीवात्मा सब प्राणियों में एक सत्यात्मा को व्यापक जानता है और आत्मा में सब भूत को कल्पित जानता है, तब ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥ ४० ॥ वेद की आत्मा = शब्द आत्मा में = स्वरूप में देशकालादि से जितना है, उतना ही प्रमाण वाला जीवात्मा परमात्मा में है, तथा जितना अपने सुखादि को समझता है, उतना ही जो अन्य में सुखादि को समझता है और जो इस प्रकार सदा समझता है, सो मोक्ष के लिये समर्थ होता है ॥ ४१ ॥ जब कर्म मन वचन द्वारा सब प्राणी में पाप रूप भाव=व्यवहार नहीं करता है तब ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥ ४२ ॥ इस संसार में एक काम ही बन्धन है, अन्य बन्धन काम बिना नहीं हैं, इससे कामरूप बन्धन से मुक्त मनुष्य ब्रह्म भाव के लिये समर्थ होता है ॥ ४३ ॥ धूम्र = मलिन काले मेघ से ढके चन्द्रमा के समान काम से मुक्त होता हुआ विरज = निर्दोष धीर पुरुष प्रारब्धान्त काल की आकांक्षा करता हुआ रहता है ॥ ४४ ॥ भाण्ड = पात्र धनादि, मन वा जैसे कोष्ठ = गृहान्तर कुसूलादि में इन्द्रियों को रोकता है, वैसे कोष्ठ = हृदय में इन्द्रिय समूह को रोक कर एकाग्रतापूर्वक नित्य ब्रह्म का सदा चिन्तन करे और योग से मन को उद्विग्न नहीं करे ॥ ४५ ॥ और जिस व्यक्त वा अव्यक्त आलम्बन रूप उपाय से चंचल मन को वश में कर सकतो हो, उस उपाय को मुक्त = तत्त्वज्ञ योगी सदा सेवे, उससे विचलित नहीं हो ॥ ४६ ॥ शून्य पर्वत की गुफा, देवमन्दिर, शून्य गृहों में निवास के लिये एकाग्र हो कर जाय ॥ ४७ ॥ वाक् से भी अन्य का अभिसंग = संग्रह-स्वीकार नहीं करे, और कर्म मन वचन से उपेक्षक = त्यागी नियताहार वाला प्राप्ता-

यश्चैनमभिनन्देत यश्चैनमपवादयेत् । समस्तयोश्चाप्युभयो र्नाभिध्यायेच्छुभाशुभम् ॥४९॥
न प्रहृष्येत लाभेषु नालाभेषु च चिन्तयेत् । समः सर्वेषु भूतेषु सधर्मा मातरिश्वनः ॥५०॥
एवं स्वस्थात्मनः साधोः सर्वत्र समदर्शिनः । षण्मासान्नित्ययुक्तस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥५१॥
महाभा० शां० प०अ० २४०।२६-३२ ॥
विनीतमानमोहश्च बहुसङ्गविवर्जितः । तदात्मज्योतिपः साधोः निर्वाणमधिगच्छति ॥५२॥
महाभा० शां० प० अ० २६।१६ ॥
चितस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् । प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमानन्त्यमश्नुते ॥५३॥
लक्षणं तु प्रसादस्य यथा तृप्तः सुखं स्वपेत् । निवाते वा यथा दीपो दीप्येत् कुशलदीपितः ॥५४॥
पूर्वरात्रे परे चैव युञ्जानः सततं मनः । लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यन्नात्मानमात्मनि ॥५५॥
प्रदीप्तेनेव दीपेन मनोदीपेन पश्यति । दृष्ट्वात्मानं निरात्मानं स तदा विप्रमुच्यते ॥५६॥
सर्वोपायैस्तु लोभस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः । एतत्पवित्रं लोकानां तपो वै संक्रमो मतः ॥५७॥
नित्यं क्रोधात्तपो रक्षेत् धर्मं रक्षेच्च मत्सरात् । विद्यां मानापमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः ॥५८॥
आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम् । आत्मज्ञानं परं ज्ञानं सत्यं व्रतपरं व्रतम् ॥५९॥
सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यं ज्ञानं हितं भवेत् । यद्भूतहितमत्यन्तं तद्वै सत्यं परं मतम् ॥६०॥

प्राप्त में सम हो ॥४८॥ जो इस योगी की स्तुति करे या जो इसका अपवाद=निन्दा करे या करावे उन दोनों में सम=रागद्वेष रहित हो कर उनके शुभाशुभ का चिन्तन नहीं करे ॥ ४९ ॥ लाभों में अत्यन्त खुश नहीं हो, और अलाभों में शोक चिन्ता नहीं करे, किन्तु सब भूतों में समदृष्टि और वायु के तुल्य स्वभाव धर्मवाला असंगादि हो ॥ ५० ॥ इस प्रकार से छः मास तक सदा योग से युक्त स्वस्थ मन शरीर वाले सर्वत्र समदर्शी साधु=सज्जन योगी को शब्द ब्रह्म=ओङ्कार अत्यन्त प्रकाशता है ॥ ५१ ॥ मान=अभिमान और मोह से रहित, बहुत संग से रहित पुरुष, उस आत्मज्योति वाले आत्मज्ञानी साधु के निर्वाण=मोक्ष को प्राप्त करता है ॥ ५२ ॥ चित्त के प्रसाद=निर्मलता अनुग्रह से ज्ञान पा कर शुभ अशुभ सब कर्मों को नष्ट करता है, और प्रसन्न मनवाला आत्मनिष्ठ होकर अत्यन्त सुख पाता है ॥ ५३ ॥ चित्त के प्रसाद=प्रसन्नता का यह लक्षण है कि जैसे तृप्त पुरुष सुख से सोया हो, या वायु रहित देश में कुशल पुरुष द्वारा सुन्दर दीपित=बारा गया दीप जैसे निश्चल प्रकाशता हो, वैसा प्रसन्न चित्त रहता है ॥ ५४ ॥ पूर्वरात्र=संध्या और पररात्र=प्रातःकाल में सदा मन को सावधान एकाग्र करता हुआ अल्प भोजन वाला, विशुद्ध मन वाला, अपने में परमात्मा को देखता हुआ प्रदीप्त दीप तुल्य मनरूप दीप से निरात्मा=निर्गुण आत्मा को देखकर वह तब विमुक्त होता है ॥ ५५-५६ ॥ सब उपायों से लोभ और क्रोध का निवारण करना, यह पवित्र तप है, और लोकों का संक्रम=सेतु भी माना गया है ॥ ५७ ॥ क्रोध रूप शत्रु से सदा तप की रक्षा करे, और मत्सर (पर शुभ द्वेष कृपणता) से धर्म की रक्षा करे, मान अपमान से विद्या की और प्रमाद से आत्मा की रक्षा करे ॥ ५८ ॥ अक्रूरता उत्तम धर्म है, क्षमा परम बल है, आत्मज्ञान उत्तम ज्ञान है, व्रतों में उत्तम व्रत सत्य है ॥ ५९ ॥ सत्य का बोलना श्रेय है, सत्य ज्ञान और हित होता है, जो वचन प्राणी का अत्यन्त हित है वह पर उत्तम सत्य माना गया

यस्य सर्वे समारम्भा निराशीर्बन्धनाः सदा। त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी स च बुद्धिमान् ॥६१॥
यतो न गुरुरप्येनं श्रावयेदुपपादयेत्। तं विद्याद् ब्रह्मणो योगं वियोगं योगसंज्ञितम् ॥६२॥
न हिंस्यात्सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत्। नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥६३॥
आकिञ्चन्यं सुसन्तोषो निराशित्वमचापलम्। एतदेव परं ज्ञानं सदात्मज्ञानमुत्तमम् ॥६४॥
परित्यजति यो दुःखं सुखं चाप्युभयं नरः। ब्रह्म प्राप्नोति सोऽत्यन्तमसङ्गेन च गच्छति ॥६५॥
महाभा० वनप० अ० २१३।२४ इत्यादि ॥
इन्द्रियाणां निरोधेन सत्येन च दमेन च। ब्रह्मणः पदमाप्नोति यत्परं द्विजसत्तम! ॥६६॥
महाभा० वनप० अ० २०६।५४ ॥
न विक्रमो न चाप्यर्थो न मित्रं न सुहृज्जनः। तथोन्मोचयेद् दुःखाद्यथात्मा स्थिरसंयमः ॥६७॥
तस्मान्मैत्रं समास्थाय शीलमापद्य भारत!। दमस्त्यागोऽप्रमादश्च ते त्रयो ब्रह्मणो हयाः ॥६८॥
शीलरस्मिसमायुक्तः स्थितो यो मानसे रथे। त्यक्त्वा मृत्युभयं राजन् ब्रह्मलोकं स गच्छति ॥६९॥
महाभा० स्त्रीप० अ० ७।२२। इत्यादि ॥
गुरुः प्लावयिता तात! ज्ञानं प्लव इहोच्यते। विज्ञाय कृतकृत्यस्तु तीर्णस्तदुभयं त्यजेत् ॥७०॥
ज्योतिरात्मनि नान्यत्र सर्वजन्तुषु तत्समम्। स्वयं च शक्यते द्रष्टुं सुसमाहितचेतसा ॥७१॥
तमःपरिगतं वेश्म यथा दीपेन दृश्यते। तथा बुद्धिप्रदीपेन शक्य आत्मा निरीक्षितुम् ॥७२॥
महाभा० शान्तिप० अ० ३२६। जनकोक्तिः ॥

है ॥ ६० ॥ जिस के सब समारम्भ = कर्म सदा आशीष् (अभिलाषा फलेच्छा) रूप बन्धन से रहित होते हैं, इससे जिसके सब कर्मादि फल त्यागाग्नि में हुत = नष्ट हो गये हैं वही त्यागी और बुद्धिमान् है ॥ ६१ ॥ यतः गुरु भी इस ब्रह्मयोग अवाच्य परतत्त्व को साक्षात् नहीं सुनायेगें किन्तु युक्ति लक्षण से समझायेंगे, अतः चित्त के वियोग को विरुद्ध लक्षणा से योग नामवाला ब्रह्मयोग समझना चाहिये ॥६२॥ सर्व भूतों की हिंसा नहीं करे, और मैत्र = मित्रता के अयन = मार्ग में प्राप्त हो कर विचारे, इस जीवन को पाकर किसी के साथ बैर नहीं करे ॥ ६३ ॥ अकिञ्चनता = संग्रह रहितता, सुन्दर सन्तोष, निराशिता, अचञ्चलता, ये ही सब उत्तम ज्ञान = ज्ञान के साधन हैं, और आत्मज्ञान सदा उत्तम है ॥ ६४ ॥ जो मनुष्य लौकिक सुख दुःख दोनों को त्यागता है, उन में हर्ष विषाद नहीं करता है, सो ब्रह्म को अत्यन्त प्राप्त करता है, और असङ्ग = वैराग्य पूर्वक गमन करता है ॥ ६५ ॥ हे द्विजसत्तम ! इन्द्रियों के निरोध, सत्य, और दम से जो पर = उत्तम ब्रह्मपद है, उस को प्राप्त करता है ॥ ६६ ॥ विक्रम = वीरता धन, मित्र, सुहृद जन ये सब वैसे दुःख से मुक्त नहीं करते हैं, कि जैसे स्थिर संयम वाला निजाऽऽत्मा दुःख से मुक्त करता है ॥ ६७ ॥ अतः हे भारत ! मित्रता को सम्यग् प्राप्त करके शील को पाकर स्थिर पुरुष को दम, त्याग और अप्रमाद ये तीनों ब्रह्मलोक की प्राप्ति के साधन हय = घोड़े होते हैं ॥ ६८ ॥ शील रूप इन्द्रियादि हय की रस्मि = लगाम युक्त होकर जो मानस रथ पर स्थिर होता है, हे राजन् ! वह मृत्यु के भय को त्याग कर ब्रह्मलोक को पाता है ॥ ६९ ॥ हे तात ! गुरु कर्णधार हैं, ज्ञान का साधन शास्त्र प्लव = (नौका) कहा जाता है, आत्म तत्त्व को जान कर कृतकृत्य मुक्त पुरुष, गुरुशास्त्र उन दोनों को त्यागे = आत्म समर्पण करे ॥७०॥ ब्रह्म चैतन्य रूप ज्योति आत्मा = बुद्धि में व्यक्त है, अन्यत्र नहीं व्यक्त है, और सो सब प्राणी में तुल्य है, और स्वयं समाहित=एकाग्र चित्त से देखने = समझने योग्य है ॥७१॥ जैसे तम से व्याप्त गृह दीप से देखा जाता है, वैसे ही अज्ञान से व्याप्त आत्मा = ब्रह्म ज्ञान रूप प्रदीप से देखने

उच्छ्वासमात्रमपि चेद् यो ऽन्तकाले समो भवेत् । आत्मानमुपसङ्गम्य सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥७३॥
निमेषमात्रमपि चेत्संयम्यात्मानमात्मनि । गच्छत्यात्मप्रसादेन विदुषां गतिमव्ययाम् ॥७४॥
महाभा० आश्वमेधिकप० अ० ४८।२-३ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः । नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥७५॥
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे । समासेनैव कौन्तेय ! निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥७६॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च । शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥७७॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः । ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥७८॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् । विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥७९॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥८०॥
भगवद्गीता० अ० १८।४९-५४ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति । तत एव च विस्तारं ब्रह्मसम्पद्यते तदा ॥८१॥
भगवद्गीता० अ० १३।३० ॥

गुरुप्रज्ञाप्रसादेन मूर्खो वा यदि पण्डितः । यस्तु सम्बुध्यते तत्त्वं विरक्तो भवसागरात् ॥८२॥
रागद्वेषविनिर्मुक्तः सर्वभूतहिते रतः । दृढबोधश्च धीरश्च स गच्छेत्परमं पदम् ॥८३॥

योग्य है ॥ ७२ ॥ जो पुरुष अन्तकाल में भी एक उच्छ्वास = ऊर्ध्वश्वास मात्र भी यदि आत्मा को प्राप्त करके अनुभव करके समभावयुक्त होता है, तो वह भी मोक्ष के लिये समर्थ होता है ॥ ७३ ॥ यदि एक निमेष मात्र भी मन को अपरोक्षात्मा में निरोध करके स्थिर होता है, तो वह आत्मप्रसाद = मन की स्वच्छता ईश्वरानुग्रह से अविनाशी विद्वानों की गति को, मुक्ति को, प्राप्त करता है ॥ ७४ ॥ सर्वत्र आसक्ति रहित बुद्धि वाला, विजित मन वाला, इच्छा रहित पुरुष संन्यास (सम्यग् ज्ञानादि पूर्वक त्याग) से परम नैष्कर्म्यसिद्धि (निष्क्रिय आत्म रूप से स्थिति) को प्राप्त करता है ॥ ७५ ॥ सिद्धि = कर्मादि जन्य शुद्धि को प्राप्त पुरुष जिस प्रकार क्रम से ब्रह्म को प्राप्त होता है, वह प्रकार हे कौन्तेय ! संक्षेप में मुझ से समझो, और जो ज्ञान की परा = उत्तम निष्ठा = सीमा समाप्ति है, सो भी संक्षेप में सुनो ॥ ७६ ॥ वह ज्ञान की निष्ठा इस प्रकार मिलती है, कि विशुद्ध कपटादि रहित बुद्धि से युक्त हो कर, धैर्य से मन को वश में करके, शब्दादि विषयों को त्याग कर, राग द्वेष को हटा कर ब्रह्म भाव के लिये समर्थ होता है ॥ ७७ ॥ एकान्त सेवी, अल्प भोजी, वशीभूत वाक्-देह-मन वाला, सदा ध्यान योग में तत्पर, सदा वैराग्य निष्ठ पुरुष, अहङ्कार, बल = कामादियुक्त सामर्थ्य, दर्प, काम क्रोध परिग्रह को त्याग कर, ममता रहित शान्त हो कर ब्रह्म भाव के लिये समर्थ होता है ॥ ७८-७९ ॥ इस प्रकार से ब्रह्मनिष्ठ प्रसन्न = व्यक्तात्मानन्द रूप आत्मा वाला न कुछ सोचता है न चाहता है, किन्तु सब भूतों में समदृष्टि हो कर मेरी परम ज्ञान स्वरूप भक्ति को पाता है ॥८०॥ जब सब प्राणी के पृथक् भाव (पृथक्त्व-भेद) को एक ब्रह्मात्मा में कल्पित स्थिर देखता है, और ब्रह्मात्मा से ही मायाजन्य सब विस्तार संसार को जब समझता है, तब ब्रह्म-स्वरूप होता है ॥ ८१ ॥ मूर्ख = शास्त्राध्ययन रहित वा शास्त्रज्ञ पण्डित जो कोई गुरु और बुद्धि के अनुग्रह स्वच्छता से भवसागर से विरक्त हो कर तत्त्व = सत्यात्म स्वरूप को समझता है, सो रागद्वेष से रहित सभी प्राणियों के हित में तत्पर दृढ़ बोध = ज्ञान वाला धीर पुरुष परम पद = ब्रह्म को

घटे भिन्ने घटाकाश आकाशे लीयते यथा । देहाभावे तथा योगी ब्रह्मरूपे परात्मनि ॥८४॥
अवधूतगी० अ० २।२३। इत्यादि ॥

यदा मनसि चैतन्यं भाति सर्वत्रगं सदा । योगिनोऽव्यवधानेन तदा सम्पद्यते स्वयम् ॥८५॥

यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येवाभिपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ब्रह्मसम्पद्यते तदा ॥८६॥

यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति । एकीभूतः परेणासौ तदा भवति केवलः ॥८७॥
सूतसंहि० अ० २०।२३१। इत्यादि ॥

तितिक्षया करुणया मैत्र्या चाखिलजन्तुषु । समत्वेन च सर्वात्मा भगवान् सम्प्रसीदति ॥८८॥

सम्प्रसन्ने भगवति पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः । विमुक्तो जीवनिर्मुक्तो ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥८९॥
भागवत० स्क० ४।११।१३-१४॥

प्रजापतिपतिः साक्षाद् भगवान् गिरिशो मनुः । दक्षादयः प्रजाध्यक्षा नैष्ठिकाः सनकादयः ॥९०॥

मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः । भृगु र्वसिष्ठः इत्येते मदन्ता ब्रह्मवादिनः ॥९१॥

अद्याऽपि वाचस्पतयस्तपोविद्यासमाधिभिः । पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति पश्यन्तं परमेश्वरम् ॥९२॥

शब्दब्रह्मणि दुष्पारे चरन्त उरु विस्तरे । मन्त्रलिङ्गै र्व्यवच्छिन्नं भजन्तो न विदुः परम् ॥९३॥

यदा यमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः । स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ॥९४॥
भागव० स्क० ४।२९।४२। इत्यादि ॥ नारदोक्तिः ॥

पाता है, मुक्त होता है ॥ ८२-८३ ॥ जैसे घट के फूटने पर घटाकाश महाकाश में लीन होता है = मिलता है तैसे ज्ञान से अज्ञानमय देह का अभाव होने पर ज्ञानयोगी ब्रह्मरूप पर = उत्तम आत्मा में लीन होता है ॥ ८४ ॥ जब योगी को सर्वत्रग = विभु चैतन्य, अव्यवधान पूर्वक मन में सदा भासता है, तब वह स्वयं ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ ८५ ॥ जब भूतों को अपनी आत्मा में ही देखता है, और आत्मा को सब भूतों में समझता है, तब ब्रह्म स्वरूप होता है ॥ ८६ ॥ जब समाधिस्थ हो कर सब भूतों को नहीं देखता है, तब वह पर ब्रह्म के साथ एक स्वरूप हो कर केवल = निर्णीत सर्वात्मा होना है ॥ ८७ ॥ तितिक्षा, करुणा, सब प्राणियों में मित्रता और समता से सर्वात्मा भगवान् सम्यग् प्रसन्न होते हैं, और भगवान् के प्रसन्न होने पर यह पुरुष = जीवात्मा प्रकृति के गुणों से (राग द्वेष मोह से) विमुक्त और जीव = अहंकार से विमुक्त = रहित ब्रह्मनिर्वाण = मोक्ष पाता है, ब्रह्म में लीन होता है ॥ ८८-८९ ॥ साक्षात् ब्रह्मा, भगवान् शिव, मनु, दक्षादि प्रजापति, नैष्ठिक ब्रह्मचारी सनकादि, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, मेरे = नारद पर्यन्त ये सब वेद वादी वाचस्पति (वचनों के स्वामी) भी तप, विद्या, समाधि के द्वारा देखते हुए भी अभी भी उस देखने वाले सर्व साक्षी परमेश्वर को ईश्वरानुग्रहादि बिना साक्षात् नहीं देखते हैं ॥ ९०-९२ ॥ बहुत विस्तार युक्त दुष्पार शब्दब्रह्म = वेद में विचरते हुए मन्त्रों के लिङ्ग = चिह्न शक्ति द्वारा परिच्छिन्न इन्द्रादि को भजते हुए भी लोग परब्रह्म को साक्षात् नहीं जानते हैं ॥ ९३ ॥ जब अपनी आत्मा में भावित = चिन्तित भगवान् किसी को कृपादृष्टि से देखते हैं (जिस पर ईश्वर कृपा करता है) तब वह लोक और वेद में परिनिष्ठित = कर्मासक्तमति को त्यागता है ॥ ९४ ॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नाशमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥९५॥
कठ० अ० १।२।२२ ॥

यदा भावेन भवति सर्वभूतेषु निःस्पृहः। तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥९६॥
अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः। सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥९७॥
इति पञ्चमं ब्रह्मप्राप्तिप्रकरणं समाप्तम् ॥ मनुस्मृ० अ० ६।८०-८१ ॥

अथ श्रेयः ॥ ६ ॥

श्रेयो विद्या परं ब्रह्म ह्यविद्या प्रेय उच्यते। तत्र श्रेयो गृहीत्वैव लोकाञ्जयति तत्त्ववित् ॥१॥
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥ २ ॥
अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳसिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ ३ ॥ कठ० अ० १।२।२-१ ॥
गुरुपूजा च सततं वृद्धानां पर्युपासनम्। श्रवणं चैव शास्त्राणां कूटस्थं श्रेय उच्यते ॥४॥
शास्त्रं यदि भवेदेकं श्रेयो व्यक्तं भवेत्तदा। शास्त्रैश्च बहुभि र्भूयः श्रेयो गुह्यं प्रवेशितम् ॥५॥
यत्तु निःश्रेयसं सम्यग् तच्चासंशयात्मकम् ॥ ६ ॥

दुश्चरित्र=कायिक पाप से अनुपरत=अनिवृत्त अशान्त (इन्द्रिय चांचल्ययुक्त) असमाहित=विक्षिप्त मनवाला तथा अशान्त=व्यापारयुक्त मनवाला भी प्रज्ञान से इस आत्मा को नहीं प्राप्त करता है, किन्तु दुश्चरित्रादि रहित ही गुरु ज्ञानादि द्वारा पाता है ॥ ९५ ॥ जब सब पदार्थों में दोष की सत्ता भावना से इच्छा रहित होता है, तब मरने पर और यहाँ भी अविनाशी सुख का अनुभव करता है ॥ ९६ ॥ इस दोषदर्शन ज्ञानकर्मानुष्ठानादि द्वारा धीरे २ सर्वसङ्गों को त्यागकर, मानापमान रागद्वेषादि सब द्वन्द्वों से रहित मनुष्य ब्रह्म में ही स्थिर, लीन होता है ॥ ९७ ॥ पाँचवाँ ब्रह्मप्राप्तिप्रकरण समाप्त ॥

अथ श्रेयः—आत्मविद्या और परं ब्रह्म श्रेयः=शुभ हैं, और अविद्या प्रेय कहाती है, तहाँ श्रेय का ग्रहण कर के ही तत्त्ववेत्ता लोकों को जीतता है ॥ १ ॥ मनुष्य को श्रेय और प्रेय दोनों मिले हुए ही प्राप्त होते हैं, तो धीर पुरुष उन दोनों को सम्यग् समझ कर, विचार कर पृथक् करता है, और वह धीर प्रेय से भिन्न श्रेष्ठ श्रेय का ही अभिवरण=स्वीकार करता है, परन्तु मन्द=अल्प बुद्धि वाला योगक्षेम=शरीर की रक्षादि के लिये प्रेय का स्वीकार करता है ॥ २ ॥ श्रेय और प्रेय (मोक्ष और अतिप्रिय) वस्तु अन्य अन्य=भिन्न २ हैं, और वे दोनों नाना=भिन्न २ प्रयोजन रूप अर्थ वाले हैं, सो पुरुष को बाँधते हैं (कर्तव्यादि बुद्धि द्वारा अपने में पुरुष को प्रवृत्त कराते हैं) तहाँ उन में से श्रेय को ग्रहण करने वाले को साधु=शुभ होता है, जो प्रेय का ग्रहण करता है, वह सत्य अर्थ=प्रयोजन से रहित हो जाता है ॥ ३ ॥ सदा गुरु की पूजा, वृद्धों की उपासना, शास्त्रों का श्रवण कूटस्थ=निर्विकार श्रेय कहाता है ॥ ४ ॥ शास्त्र यदि एक होता तो श्रेय शीघ्र प्रगट होता, शास्त्रों के बहुत होने से श्रेय गुह्य=गुप्त स्थान में प्रवेशित हो गया है ॥ ५ ॥ क्योंकि जो वह सम्यग् निःश्रेयस है सो असंशय रूप है और बहुत से शास्त्रों से संशय

निवृत्तिः कर्मणः पापात्सततं पुण्यशीलता । सद्भिश्च समुदाचारः श्रेय एतदसंशयम् ॥७॥
सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यज्ञानं तु दुष्करम् । यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं ब्रवीम्यहम् ॥८॥
अहङ्कारस्य च त्यागः प्रमादस्य च निग्रहः । सन्तोषश्चैकचर्या च कूटस्थं श्रेय उच्यते ॥९॥
धर्मेण वेदाऽध्ययनं वेदान्तानां तथैव च । ज्ञानार्थानां च जिज्ञासा श्रेय एतदसंशयम् ॥१०॥
शब्दरूपरसस्पर्शान् सह गन्धेन केवलान् । नात्यर्थमुपसेवेत श्रेयसोऽर्थी कथञ्चन ॥११॥

महाभा० शां० प० अ० २८७ ॥

नास्ति विद्यासमं चक्षु र्नास्ति सत्यसमं तपः । नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥१२॥
सर्वोपायात्तु कामस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः । कार्यः श्रेयोर्थिना तौ हि श्रेयोघातार्थमुद्यतौ ॥१३॥
आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम् । आत्मज्ञानं परं ज्ञानं न सत्याद्विद्यते परम् ॥१४॥
सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत् । यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम ॥१५॥
सर्वारम्भपरित्यागी निराशी निष्परिग्रहः । येन सर्वं परित्यक्तं स विद्वान् स च पण्डितः ॥१६॥
अदर्शनमसंस्पर्शस्तथाऽसंभाषणं सदा । यस्य भूतैः सह मुने ! स श्रेयो विन्दते परम् ॥१७॥
आकिञ्चन्यं सुसन्तोषो निराशीस्त्वमचापलम् । एतदाहुः परं श्रेय आत्मज्ञस्य निजात्मनः ॥१८॥

महाभा० शान्तिप० अ० ३२६। शुकं प्रति नारदोक्तिः ॥

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च । अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥१९॥

मनुस्मृ० अ० २।२२४॥ बुभुक्षून् प्रतीदम् ॥

होता है ॥ ६ ॥ पाप रूप कर्म से निवृत्ति, सदा पुण्य स्वभावता और सत्पुरुषों के साथ व्यवहार यह अवश्य श्रेयः स्वरूप है ॥ ७ ॥ सत्य का कथन श्रेय है परन्तु सत्य का ज्ञान दुष्कर है, जो प्राणियों को अत्यन्त हित है, इसी को मैं सत्य कहता हूँ ॥ ८ ॥ अहङ्कार का त्याग, प्रमाद का निरोध, सन्तोष, एकचर्या =एकाकी विचरण ये सब कूटस्थ श्रेय कहाते हैं ॥ ९ ॥ धर्म दृष्टि से वेदों का अध्ययन, तथा वेदान्तों का अध्ययन, और ज्ञानार्थक साधनादि की जिज्ञासा=अनुभवेच्छा ये सब निश्चित श्रेय हैं ॥ १० ॥ श्रेयोर्थी=श्रेय चाहने वाला पुरुष गन्ध सहित केवल=सब, शब्द, रूप, रस, स्पर्श, का सेवन नहीं करे ॥ ११ ॥ विद्या के समान नेत्र नहीं है, न सत्य के समान तप है, राग के समान दुःख नहीं है, न त्याग के समान अन्य सुख है ॥ १२ ॥ श्रेय=शुभ चाहने वाला सब उपायों से काम और क्रोध को वश में करे, त्यागे, क्योंकि काम और क्रोध दोनों श्रेय के नाश के लिये उद्यत=तैयार हैं ॥ १३ ॥ अक्रूरता पर=उत्तम धर्म है, क्षमा परम बल है, आत्मज्ञान उत्तम ज्ञान है, सत्य से कोई उत्तम नहीं है ॥ १४ ॥ सत्य वचन का उच्चारण श्रेय है, परन्तु सत्य से भी उत्तम श्रेय हित को समझ कर हित रूप वचन बोले, जो प्राणियों के अत्यन्त हित है, यही सत्य मुझे स्वीकृत हैं ॥ १५ ॥ सब सकाम कर्म का परित्यागी, आशारहित, परिग्रह-रहित, हो कर, जिसने सब वस्तुओं का त्याग किया है, वही विद्वान् और पण्डित=विवेकी है ॥१६॥ हे मुने ! जिस को सब प्राणियों का अदर्शन, असंस्पर्श है तथा सबके साथ सदा असम्भाषण है, वह उत्तम श्रेय पाता है ॥१७॥ अकिञ्चनता, सुन्दर सन्तोष, निरिच्छता, अचञ्चलता, ये सब आत्मज्ञानी के निजात्मा के परश्रेय कहाते हैं ॥१८॥ कोई काम के हेतुरूप धर्म और अर्थ को श्रेय = शुभ कहते हैं, कोई सुख के हेतु काम और

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः । अहिंसा गुरु सेवा च निःश्रेयसकरं परम् ॥२०॥
सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् । तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥२१॥
षण्णामेषां तु सर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेह च । श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम् ॥२२॥
मनुस्मृ० अ० १२।८३-८५।८६ ॥
वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यसनं तपः । तद्दानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा ॥२३॥
दक्षस्मृ० अ० २।३४ ॥
योग आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे । अत्यन्तोपरति र्यत्र दुःखस्य च सुखस्य च ॥२४॥
भागवतस्क० ३।२५।१३ ॥
सन्तोषो हि परं श्रेयः सन्तोषः सुखमुच्यते । सन्तुष्टः परमभ्येति विश्राममरिसूदन ! ॥२५॥
सन्तोषशालिनी बुद्धी राम ! संसारवृत्तिषु । विषमस्थाऽप्यनुद्विग्ना न कदाचन हीयते ॥२६॥
अकिञ्चनोप्यसौ जन्तुः साम्राज्यसुखमश्नुते । आधिव्याधिविनिर्मुक्तं सन्तुष्टं यस्य मानसम् ॥२७॥
सन्तुष्टिपरतृप्तस्य महतः पूर्णचेतसः । क्षीराब्धेरिव शुद्धस्य मुखे लक्ष्मी र्विराजते ॥२८॥
योगवासि० प्र० २।१५ ॥
निवृत्तिः कर्मणः पापात्सततं पुण्यशीलता । सद्वृत्तिः समुदाचारः श्रेय एतदनुत्तमम् ॥२९॥
मानुष्यमसुखं प्राप्य यः सज्जति स मुह्यति । नालं स दुःखमोक्षाय सङ्गो वै दुःखलक्षणम् ॥३०॥

अर्थ को श्रेय कहते हैं, अर्थ काम के भी हेतु होने से कोई धर्म को ही श्रेय कहते हैं, परन्तु परस्पर अविरोधी धर्मार्थ काम ये तीनों भोगेच्छु के लिये श्रेय हैं ॥ १९ ॥ वेदाभ्यासादि परम कल्याण कारक हैं । इन सब में भी आत्मज्ञान उत्तम कहा गया है, वह सब विद्या में प्रधान है क्योंकि उससे मोक्ष मिलता है ॥ २०-२१ ॥ इन सब वेदाभ्यासादि छः कर्मों में भी मरने पर और यहाँ भी सदा कल्याण कारक वैदिक कर्म=परमार्थ ज्ञान को समझना चाहिये ॥ २२ ॥ प्रथम वेद का स्वीकार = अध्ययन, फिर विचार, फिर अभ्यास=आवृत्ति, फिर वेदानुसार तप = कर्म ध्यानादि, फिर शिष्यों के प्रति वेदों का दान= अध्यापन ये पांच प्रकार के वेदाभ्यास हैं ॥ २३ ॥ आध्यात्मिक = आत्मनिष्ठ योग = चित्त की एकाग्रता पुरुषों को निःश्रेयस के लिये है, सो मुझे सम्मत है,- कि जिस योग में सांसारिक सुख और दुःख का अत्यन्त अभाव है ॥ २४ ॥ हे अरिसूदन ! सन्तोष परश्रेय है, सन्तोष सुख कहा जाता है, सन्तुष्ट पुरुष परविश्राम पाता है ॥ २५ ॥ हे राम ! सन्तोष शोभित बुद्धि, संसार के व्यवहारों में विषमस्थ होने पर भी अनुद्विग्न रहती है और कभी नष्ट नहीं होती है ॥ २६ ॥ आधि, व्याधि से रहित सन्तुष्ट = सन्तोष युक्त जिस का मन है, वह अकिञ्चन = धनहीन प्राणी भी साम्राज्य सुख को भोगता है ॥ २७ ॥ सन्तुष्टि परायण, तृप्त, पूर्ण चित्त वाले, क्षीर सागर तुल्य महापुरुष के मुख में लक्ष्मी विराजती है ॥ २८ ॥ पाप कर्म से निवृत्ति, सदा पुण्य शीलता श्रेष्ठ वृत्ति=जीविका, सम्यग् उत्तम आचार यह अति उत्तम श्रेय है ॥ २९ ॥ कठिनता से मनुष्यता को पाकर भी जो संग आसक्ति करता है, सो मोहित होता है, और वह दुःख की निवृत्ति के लिये समर्थ नहीं होता है, क्योंकि संग ही दुःख का लक्षण=चिह्न है ॥ ३० ॥

सक्तस्य बुद्धि र्भवति मोहजालविवर्धिनी । मोहजालावृतो दुःखमिहामुत्र तथाश्नुते ॥३१॥
नारदीयपु० पू० अ० ६०।४४। इत्यादि ॥ महाभा० शां० प० अ० ३२६ ॥

आसनं शयनं यानं परिधानगृहादिकम् । वाञ्छत्यहोऽतिमोहेन सुस्थिरं स्वयमस्थिरः ॥३२॥

भोगेष्वसक्तिः सततं तथैवात्मावलोकनम् । श्रेयः परं मनुष्याणां कपिलोद्गीतमेव हि ॥३३॥

सर्वत्र समदर्शित्वं निर्ममत्वमसङ्गता । श्रेयः परं मनुष्याणां गीतं पञ्चशिखेन हि ॥३४॥

आगर्भजन्म बाल्यादिवयोऽवस्थादिवेदनम् । श्रेयः परं मनुष्याणां गङ्गाविष्णुप्रगीतकम् ॥३५॥

अध्यात्माद्यादिदुःखानामाद्यन्तादिप्रतिक्रिया । श्रेयः परं मनुष्याणां जनकोद्गीतमेव च ॥३६॥

अभिन्नयो र्भेदकरः प्रत्ययो यः परात्मनोः । तच्छान्तिः परमं श्रेयो ब्रह्मोद्गीतमुदाहृतम् ॥३७॥

हानिः सर्वविधित्सानामात्मनः सुखहैतुकी । श्रेयः परं मनुष्याणां देवलोद्गीतमीरितम् ॥३८॥

कामत्यागात्तु विज्ञानं सुखं ब्रह्मपरं पदम् । कामिनां न हि विज्ञानं सनकोद्गीतमेव तत् ॥३९॥

दया क्षमाऽनसूया च अनायासोऽथमङ्गलम् । अकार्पण्यास्पृहे ज्ञानं यस्यैते स परं व्रजेत् ॥४०॥
अग्निपु० यमगी० अ० ३८ ॥

सर्वे ते श्रेयसे प्रोक्ता आश्रमा ब्रह्मणा स्वयम् । सत्यार्जवतपः क्षान्तियोगेज्यादमपूर्वकाः ॥४१॥
वायुपु० अ० ८।१८६ ॥

दानाच्छ्रेयस्तथा यज्ञो यज्ञाच्छ्रेयस्तथा तपः । संन्यासस्तपसः श्रेयांस्तस्माज्ज्ञानं गुरुस्मृतम् ॥४२॥
वायुपु० अ० ९१।१४४ ॥

आसक्त की बुद्धि मोह जाल को बढ़ाने वाली होती है, और मोह जाल से आच्छादित जीव, लोक तथा परलोक में दुःख पाता है॥३१॥ आश्चर्य है कि स्वयं स्थिर नहीं होते हुए भी आसन, शय्या, यान=वाहन, वस्त्र, गृहादि को मोह से स्थिर रखना चाहता है ॥ ३२ ॥ परन्तु कपिल जो का कथन है, कि-सदा भोग में आसक्ति का अभाव और आत्मावलोकन=आत्मदर्शन मनुष्यों का परम श्रेय है.॥ ३३ ॥ पञ्चशिखाचार्य ने कहा है कि सर्व में समदर्शिता, निर्ममता, असङ्गता मनुष्यों का परम श्रेय ॥३४॥ गंगा विष्णु का कथन है कि गर्भ वास सहित जन्म बाल्यादि रूप वयस और अवस्था आदि की वेदना = विचारणा अनुभव मनुष्यों का परम श्रेय है, इससे विराग पूर्वक आत्मज्ञान होता है ॥ ३५ ॥ जनक जी का कथन है कि-अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव दुःखों के आदि अन्त=उत्पत्ति, लय के स्थान रूप मोह अज्ञान की प्रतिक्रिया = निवारण मनुष्यों का परम श्रेय है ॥ ३६ ॥ ब्रह्मा जी का कथन है कि अभिन्न पर = ब्रह्म और आत्मा का भेद कारक जो भ्रम ज्ञान उस की शान्ति = निवृत्ति परम श्रेय है ॥ ३७ ॥ देवल जी का कथन है, कि सर्व विधित्सा (काम्य कर्म की इच्छा) की हानि = निवृत्ति, सुख के लिये होना मनुष्यों का परश्रेय है ॥ ३८ ॥ सनक जी का कथन है कि काम के त्याग से विज्ञान सुख और ब्रह्म स्वरूप उत्तम पद = मोक्ष होता है, कामियों को विज्ञान नहीं होता है ॥ ३९ ॥ दया, क्षमा, अनुसूया = परगुण में दोषारोप का अभाव अनायास =अतिपरिश्रम का त्याग मङ्गलमय व्यवहार, अकृपणता, इच्छा का त्याग, ज्ञान, ये सब जिसको हैं, सो पर ब्रह्म को प्राप्त करेगा ॥४०॥ सत्य, आर्जव, तप, क्षमा, योग, यज्ञ, दम पूर्वक वे सब आश्रम से ब्रह्मा जी द्वारा स्वयं श्रेय के लिये ही कहे गये हैं ॥ ४१ ॥ दान से श्रेय = शुभ यज्ञ है, यज्ञ से श्रेय तप है, तप से श्रेय

यत्संयोगात्क्षयो याति पुमानग्निगतो यथा । रचिता देवमायेयं विमोहाय नृणामिह ॥४३॥
स्त्रीसङ्गाज्जायते पुंसां सुतागारादिसङ्गमः । यथा बीजाङ्कुराद् वृक्षो जायते फलपत्रवान् ॥४४॥
एकया योषिता लोका अन्धे तमसि पातिताः । यथा गजो मदोन्मत्तः करिण्या पङ्कपातितः ॥४५॥
एवं धनादिविषयेष्वासक्ता जना इह । सत्यं धर्मं दयां मैत्रीं त्यक्त्वा यान्ति भवार्णवे ॥४६॥
अतो नृलोके सत्सङ्गात् त्यक्तदुःसङ्गआत्मवान् । भक्त्या हरिं भजन्नित्यं निष्कामः श्रेय आप्नुयात्॥४७॥

आदिपु० अ० ५।२७ इत्यादि ॥

चतुर्विधशरीराणि धृत्वा भुक्त्वा सहस्रशः । सुकृतान्मानवो भूत्वा ज्ञानी चेन्मोक्षमाप्नुयात् ॥४८॥
चतुरशीतिलक्षेषु शरीरेषु शरीरिणाम् । न मानुषं विनाऽन्यत्र तत्त्वज्ञानं तु लभ्यते ॥४९॥
अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि कोटिभिः । कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसञ्चयात् ॥५०॥
सोपानभूतं मोक्षस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् । यस्तारयति नात्मानं तस्मात्पापपरोऽत्र कः ॥५१॥
आत्मैव यदि नात्मानमहितेभ्यो निवारयेत् । कोऽन्यो हितकरस्तस्मादात्मानं तारयिष्यति ॥५२॥
इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः । गत्वा निरौषधं देशं व्याधिस्थः किं करिष्यति ॥५३॥
व्याघ्रीवास्ते जरा चायु र्याति भिन्नघटाम्बुवत् । निघ्नन्ति रिपुवद्रोगास्तस्माच्छ्रेयः समभ्यसेत् ॥५४॥
यावन्नाश्रयते दुःखं यावन्नायान्ति चापदः । यावन्नेन्द्रियवैकल्यं तावच्छ्रेयः समभ्यसेत् ॥५५॥

संन्यास है, उस संन्यास से भी ज्ञान गुरु = श्रेष्ठ शुभ माना गया है ॥ ४२ ॥ जिस स्त्री के संयोग से मनुष्य अग्नि में प्राप्त होने के समान क्षय = नष्ट होता है, यह स्त्री मनुष्यों को यहाँ विमोहित करने के लिये देवमाया रूप रची गई है ॥ ४३ ॥ स्त्री के संग से पुत्रगृहादि का संग भी पुरुष को होता है, जैसे कि बीज के अंकुर से फलपत्र वाला वृक्ष होता है ॥ ४४ ॥ एक स्त्री से लोक मोहान्धतम में इस प्रकार गिराये जाते हैं, कि जैसे हस्तिनी द्वारा मदोन्मत्त हाथी पङ्क में गिराया जाता है ॥ ४५ ॥ इसी प्रकार धनादि विषयों में आसक्त जन भी सत्य, धर्म, दया, मित्रता को त्याग कर इस संसार समुद्र में जाते हैं ॥ ४६ ॥ इससे इस मर्त्य लोक में, सत्सङ्ग से दुष्ट संग रहित वश्यात्मा निष्काम पुरुष, भक्ति = प्रेम से सदा हरि को भजता हुआ श्रेय पाता है ॥ ४७ ॥ अण्डज पिण्डजादि चारों प्रकार के शरीरों को हजारों वार धर कर भोगों को भोग कर किसी पुण्य से मनुष्य होकर यदि ज्ञानी होता है, तो मोक्ष पाता है ॥ ४८ ॥ देहियों के चौरासी लाख शरीरों में मानुष शरीर के विना अन्यत्र तत्त्वज्ञान नहीं मिलता है ॥ ४९ ॥ इस संसार में हजारों जन्मों के हजारों करोड़ों के द्वारा पुण्य के संचय से प्राणी कभी मनुष्यता पाता है ॥ ५० ॥ फिर मोक्ष के सोपान = सीढ़ी रूप दुर्लभ मनुष्यता को पाकर भी जो अपने को संसार से नहीं तारता है। उससे अधिक पापी कौन है ? ॥ ५१ ॥ यदि यह जीव आप ही अपने को अहितों से नहीं रोकेगा, तो अन्य कौन इसका हितकारक है ? कि जो जीवात्मा को इस अहित संसार से तारेगा ? ॥५२॥ इस मर्त्यलोक के मानव देह में जो नरक रूप व्याधि की चिकित्सा = निवृत्ति का उपाय नहीं करता है, सो व्याधिस्थ = रोग अज्ञान कामादि युक्त प्राणी, निरौषध देश = पशु आदि जन्म में जाकर क्या करेगा ? ॥ ५३ ॥ व्याघ्री = बाघिन के समान जरा = वृद्ध अवस्था है, सछिद्र घट के जल के समान आयु जाती है, रोग शत्रु तुल्य पीडित करते हैं, अतः श्रेय का सम्यग् अभ्यास करे ॥ ५४ ॥ जब तक दुःख नहीं प्राप्त होता है, आपत्तियाँ नहीं आती

यावत्तिष्ठति देहोऽयं तावत्तत्त्वं समभ्यसेत् । सन्दीप्ते कोशभवने कूपं खनति दुर्मति ॥५६॥

इति षष्ठं श्रेयःप्रकरणं समाप्तम् ॥ गरुडपु० प्रेतखं० अ० ४६ ॥

अथ दुर्गतरणम् ॥ ७ ॥

दुर्गं ते हि तरन्त्येव ये दयाद्रुतचेतसः । धर्म्यकर्मादिनिष्ठाश्च परनिन्दाविवर्जिताः ॥ १ ॥

आश्रमेषु यथोक्तेषु यथोक्तं ये द्विजातयः । वर्त्तन्ते संयतात्मानो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २ ॥

ये दम्भान्नाचरन्ति स्म येषां वृत्तिश्च संयता । विषयांश्च निगृह्णाति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३ ॥

प्रत्याहु र्नोच्यमाना ये न हिंसन्ति च हिंसिताः । प्रयच्छन्ति न याचन्ते दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ४ ॥

ये वा पापं न कुर्वन्ति कर्मणा मनसा गिरा । निक्षिप्तदण्डा भूतेषु दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ५ ॥

ये वदन्तीह सत्यानि प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते । प्रमाणभूता भूतानां दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ६ ॥

येषां न कश्चित्त्रसति न त्रसन्ति हि कस्यचित् । येषामात्मसमो लोको दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ७ ॥

परश्रिया न तप्यन्ति ये दान्ताः पुरुषर्षभाः । ग्राम्यादर्थान्निवृत्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ८ ॥

ये न मानित्वमिच्छन्ति मानयन्ति च ये परान् । मन्यमानान्नमस्यन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ९ ॥

ये क्रोधं सन्नियच्छन्ति क्रुद्धान् संशमयन्ति च । न च कुप्यन्ति भूतानां दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥१०॥

मधु मांसं च ये नित्यं वर्जयन्तीह मानवाः । जन्मप्रभृति मद्यं च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥११॥

हैं, इन्द्रियों में विकलता नहीं है, तब तक ही श्रेय का सम्यग् अभ्यास कर लेना चाहिये ॥ ५५ ॥ जब तक यह देह स्थिर है तब तक तत्त्व=सत्य, परमात्मवस्तु का सम्यग् अभ्यास, चिन्तन करे, कोश भवन==खजाना गृह के सन्दीप्त=अग्नियुक्त होने पर जैसे दुर्मति पुरुष कूप खोदता है, वैसे वृद्ध रुग्णादि अवस्था के आने पर दुर्मति तत्त्वाभ्यास में लगता है ॥ ५६ ॥ छठवाँ श्रेयःप्रकरण समाप्त ॥

अथ दुर्गतरण—सर्वात्मा हरि सत्य निजात्मा की प्राप्ति में मध्यगत दुर्ग=पर्वत किला आदि तुल्य प्रकृति कोश. विपत्ति आदि दुर्ग स्थान और दुर्गम मार्ग को वे ही तरते हैं, कि जो दया से द्रवित चित्त वाले, धर्मयुक्त कर्म उपासनादि में स्थिर रहते हैं, और अन्य की निन्दा नहीं करते हैं ॥ १ ॥ शास्त्रोक्त आश्रमों में शास्त्र की आज्ञा के जो वश्यात्मा द्विजाति वर्त्तते हैं, सो दुर्गों को तरते हैं ॥ २ ॥ दम्भाचार रहित, संयत वृत्तिवाले, विषयों के त्यागी दुर्ग तरते हैं ॥ ३ ॥ कुछ अनुचित कहने पर भी जो नहीं बोलते हैं, दुःखाने पर भी नहीं दुःखाते, दान देते हैं, माँगते नहीं सो दुर्ग तरते हैं ॥ ४ ॥ जो किसी प्रकार भी पाप नहीं करते, भूतों को दण्ड नहीं देते सो दुर्ग तरते हैं ॥ ५ ॥ प्राण त्याग की सम्भावना में भी जो सत्य ही बोलते हैं, सब के प्रमाण स्वरूप विश्वासपात्र वे लोग, दुर्ग तरते हैं ॥ ६ ॥ जिन के व्यवहार से कोई डरता नहीं है, न स्वयं जो अन्य के व्यवहार से डरते हैं, जिन को आत्मतुल्य सब लोक है, सो दुर्गों को तरते हैं ॥ ७ ॥ जो दमयुक्त पुरुष श्रेष्ठ अन्य की सम्पत्ति से जलते नहीं हैं, और ग्राम्य अर्थ से निवृत्त हैं, सो दुर्ग तरते हैं ॥ ८ ॥ जो स्वयं मान नहीं चाहते और अन्य को मान देते हैं, मान्यों को नमस्कार करते हैं, सो दुर्ग तरते हैं ॥ ९ ॥ जो क्रोध को रोकते हैं, क्रुद्ध को शान्त करते हैं, प्राणी के व्यवहार से कुप्त नहीं होते, सो दुर्ग को तरते हैं ॥ १० ॥ जो मनुष्य सदा मधु मांस को त्यागते हैं, और जन्म से ही मद्य को त्यागते हैं

यात्रार्थं भोजनं येषां सन्तानार्थं च मैथुनम् । वाक् सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥१२॥

महाभा० शान्तिप० अ० ११० ॥

ये न मानमिहेच्छन्ति मानयन्ति च ये परान् । व्यथिता नावमानेन दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥१३॥
धर्मार्थं जीवितं येषां सन्तानार्थं च मैथुनम् । कार्यार्थं भोजनं चैव दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥१४॥
मातृवत्स्वसृवच्चैव तथा दुहितृवच्च ये । परदारेषु वर्त्तन्ते दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥१५॥
ये सदा शान्तमनसो योगध्यानपरायणाः । सत्ये स्थिता महाभागा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥१६॥
ये निवृत्ताः परस्वेभ्यो मनोवाक्कायतः सदा । परश्रिया न तप्यन्ते दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥१७॥
दुर्बलार्थं बलं येषामर्थो दानार्थमेव च । अरत्यर्थमधीतं च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥१८॥
सत्सङ्गेन परं प्राप्य दुस्तरं तरतेऽचिरात् । तस्मादतिप्रयत्नेन सत्सङ्गं सततं कुरु ॥१९॥

इतिहास समुच्च० अ० ६ ॥

वासयन्त्यतिथीन्नित्यं नित्यं ये चानसूयकाः । नित्यं स्वाध्यायशीलाश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥२०॥
कर्माण्यकुहकार्थानि येषां वाचश्च सूनृताः । येषामर्थश्च साध्वर्थो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥२१॥

विष्णुधर्मोत्तरपु० खं० २।२२ ॥

विद्यया तरति प्राप्तं दुस्तरं स्वापदार्णवम् । लोकद्वयक्षयकरं स्फीतकीर्त्तिविनाशनम् ॥२२॥
विद्या हि सर्वजन्तूनां जननी नापरा स्मृता । जातोऽनया पुमान् यस्माद् गच्छेल्लोकद्वये सुखम् ॥२३॥
विद्या हि धनमुद्दिष्टमक्षयं सर्वदेहिनाम् । वृद्धिं प्रयाति दानेन मृतं च न विमुञ्चति ॥२४॥

आत्मपु० अ० ४।२६७ । इत्यादि ॥

सो दुर्गों को तरते हैं ॥ ११ ॥ यात्रा=व्यवहार जीवन के लिये, जिस का भोजन है, सन्तान के लिये मैथुन है, सत्य वचन के लिये वाक् है, सो दुर्ग तरता है ॥१२॥ स्वयं मान को नहीं चाहता हुआ अन्य को मानने वाले और अपमान से व्यथा रहित मनुष्य, दुर्ग तरते हैं ॥ १३ ॥ जिनका जीवन धर्म के लिये है, मैथुन सन्तान के लिये है, भोजन कार्य के लिये है, सो दुर्ग तरते हैं ॥ १४ ॥ माता, भगिनी, पुत्री के समान जो परस्त्री में व्यवहार करते हैं, सो दुर्गों को तरते हैं ॥ १५ ॥ जो महाभाग वाले सदा शान्त मन युक्त हो कर योग ध्यान में तत्पर रहते हैं, सत्य में स्थिर वे लोग तरते हैं ॥ १६ ॥ मन आदि द्वारा जो सदा पर धन से निवृत्त हैं, और अन्य की लक्ष्मी से तपते नहीं हैं, सो दुर्गों को तरते हैं ॥ १७ ॥ जिन का बल दुर्बल की रक्षा के लिये है, धन दान के लिये है, अध्ययन विराग के लिये है, सो दुर्गों को तरते हैं ॥ १८ ॥ सत्संग से परब्रह्म को प्राप्त करके दुस्तर संसार सागर को शीघ्र तरता है, अतः अति प्रयत्न द्वारा सत्संग सदा करो ॥ १९ ॥ जो सदा अतिथियों को बसाते हैं, सदा असूया=गुण में दोषारोप रहित रहते हैं, सदा स्वाध्याय शील=स्वभाव वाले हैं, सो दुर्ग तरते हैं ॥ २० ॥ जिनके कर्म अहिंसा के लिये हैं, वचन सत्य है, धन साधुओं के लिये है, सो दुर्ग तरते हैं ॥२१॥ दोनों लोक के नाशक स्फीत=प्रवृद्ध उज्ज्वल कीर्त्ति के विनाशक दुस्तर प्राप्त अपनी विपत्ति रूप समुद्र को विद्या से तरता है ॥ २२ ॥ विद्या ही सब प्राणियों की जननी=माता कही गई है, अन्य नहीं, जिससे इस विद्या से जन्य पुरुष दोनों लोक में सुख पाता है ॥ २३ ॥ सब देहधारियों का अक्षय धन, विद्या ही कही गई है, जो दान से बढ़ती है, और मृत पुरुष को भी

बुद्धिमन्तं कृतप्रज्ञं शुश्रूषुमनसूयकम् । दान्तं जितेन्द्रियं चापि शोको न स्पृशते नरम् ॥२५॥
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा शोकानन्दौ भयाभये । प्रियाप्रिये परित्यज्य प्रशान्तात्मा भविष्यति ॥२६॥
इति सप्तमं दुर्गतरणप्रकरणं समाप्तम् ॥ महाभा० शान्तिप० अ० १७४ ॥

अथ परलोकगतिः ॥ ८ ॥

सद्युक्त्या परलोकादि समालोच्य सुबुद्धिमान् । मोक्षाय परलोकाय हितं कुर्यान्निरन्तरम् ॥१॥ तत्र प्रश्नः—
स्वप्नेहलोकयोस्तावत्सत्त्वं प्रत्यक्षगोचरम् । परलोकस्य सद्भावे किं प्रमाणमितीर्यताम् ॥२॥ उत्तरम्—
भूतजन्मनि यद् भुक्तं कर्म तद्भावनाञ्चितः । पौर्वदेहिकमेवातो वयस्याद्येऽभिवीक्षते ॥३॥
यियासुः परलोकं तु कर्मविद्यादिसंवृतः । भाविनो जन्मनो रूपं स्वप्ने प्रायेण पश्यति ॥४॥
बृहदारण्यकवार्त्ति० अ० ४ ब्रा० ३ ॥
सर्वेषु संहृतेष्वेवं करणेषु सवायुषु । बुद्धेः प्रद्योततेऽथाग्रं हृदयस्य यियासतः ॥५॥
स एष कर्मजो बुद्धेः प्रकाशो जायते मृतौ । स्वकर्मनिर्मितं लोकं येनात्मायं प्रपश्यति ॥६॥
कर्मणैवास्य विज्ञानं तादात्म्यमुपनीयते । पश्चादापन्नतद्भावो देहमेतं विमुञ्चति ॥७॥
भाविलोकात्मिका याऽस्य प्रत्यक्चैतन्यविम्बिता । वासनैवात्मनः प्रोक्ता प्रद्योतवचसा स्फुटम् ॥८॥
प्रद्योतनेन यथोक्तेन प्रद्योतितपथा कृत,-कर्मकार्योऽथ हृदयान्निष्क्रामति यथासुखम् ॥९॥

नहीं त्यागती है ॥२४॥ बुद्धिमान् , विवेकी, भक्त, असूयारहित, दान्त, जितेन्द्रिय मनुष्य को शोक नहीं प्राप्त होता है ॥ २५ ॥ और सत्यानृत, शोकानन्द, भयाभय, प्रियाप्रिये, इन सब सांसारिक द्वन्द्वों को मिथ्या बुद्धि से त्याग कर आत्मनिष्ठ प्रशान्तात्मा होगा ॥ २६ ॥ सातवाँ दुर्गतरणप्रकरण समाप्त ॥

अथ परलोक गतिः—सुन्दर बुद्धि वाला श्रेष्ठ युक्ति अनुमानादि से परलोकादि को समझ कर मोक्ष और परलोक के लिये हित साधन सदा करे ॥ १ ॥ तहाँ प्रश्न है कि—स्वप्न और इस जाग्रत लोक की सत्ता तो प्रत्यक्ष समझी जाती है, परन्तु परलोक की सत्ता में शास्त्र जाति स्मर योगी के अनुभव से अतिरिक्त सर्वसाधारण के लिये क्या प्रमाण है ? सो कहना चाहिये ॥ २ ॥ उत्तर है कि—पूर्वजन्म में जिस कर्म को जीव भोगा है, उसकी वासना से वासित चित्त वाला, वह प्रथम वयस=अवस्था में उस वासना से पूर्वदेह सम्बन्धी कर्म भोगादि को स्वप्नादि में देखता है ॥ ३ ॥ कर्म विद्यादि से संयुक्त होकर परलोक में जाने वाला भावी जन्म के स्वरूप को प्रायः स्वप्न में देखता है ॥ ४ ॥ परलोक जाने वाले के प्राणवायु सहित सब करण=इन्द्रियों के संहृत=व्यापार रहित होने पर, इस प्रकार फिर हृदय का अग्र बुद्धि से प्रद्योतित=प्रकाशित होता है ॥ ५ ॥ मरण काल में यह बुद्धि का प्रकाश कर्मजन्य होता है, जिससे यह जीव स्वकर्म निर्मित भावी लोक को देखता है ॥ ६ ॥ कर्म से ही इसका विज्ञान भावी लोक रूपता को पाता है, फिर यह जीव भी तद्रूपता को प्राप्त करके इस देह को त्यागता है ॥ ७ ॥ प्रत्यक्=अन्तर चैतन्य के प्रतिबिम्ब सहित जो इस जीव के भाविलोक स्वरूप वासना है सोई प्रद्योत वचन से स्फुट=प्रकट कहा गया है ॥ ८ ॥ यथोक्त वासनामय प्रद्योतन=प्रकाशन से प्रकाशित मार्ग वाला कर्मरूप कार्य किया है

साध्वेवातः प्रयत्नेन कर्म कार्यं विपश्चिता । पश्यता प्राणिणामेवं कर्ममूलामिमां गतिम् ॥१०॥
आदित्यलोक सम्प्राप्तौ चक्षुष्टोऽयं निगच्छति । ब्रह्मलोकपरिप्राप्तौ मूर्ध्न आत्मा निगच्छति ॥११॥
लिङ्गं हि सर्वतोगच्छन्न क्वचित्प्रतिहन्यते । अतिसूक्ष्मस्वभावत्वादपि लोहसमुद्गगम् ॥१२॥
उत्क्रामन्तं तमात्मानं यथोक्तेनेह वर्त्मना । प्राणोऽनुत्क्रामति ततः प्राणं प्रणास्तथा परे ॥१३॥
संहृताशेषकरणो भावनाकर्महेतुतः । सविज्ञानो यथा स्वप्ने तथोत्क्रान्तावपीष्यते ॥१४॥
विशेषज्ञानसम्बन्धः कर्मणैवास्य हेतुना । न तु स्वातन्त्र्यतो लभ्यः स्वातन्त्र्यासम्भवादिह ॥१५॥
एवमात्मा सविज्ञानो गन्तव्यं यत्पुरार्जितम् । तदात्मभावविज्ञानस्तदेवातो निगच्छति ॥१६॥
यत एवं ततः पुंभिः स्वातन्त्र्यार्थं प्रयत्नतः । योगादिसाधनाभ्यासः कर्त्तव्यः पुण्यसञ्चयः ॥१७॥
सर्वशास्त्रसमारम्भस्तदर्थोऽयं महानिह । वाङ्मनःकायसाध्यानामुपायानां प्रबुद्धये ॥१८॥
तथानर्थपरिप्राप्तावुपायानां निषेधनम् । एतावानेव शास्त्रार्थः कर्त्रधीनः सुखाप्तये ॥१९॥
: बृहदारण्यकवार्त्तिक० अ० ४ ब्रा० ४ ॥
पञ्चतन्मात्रसहितः समनोबुद्ध्यहङ्कृतिः । पुण्यपापमयैः पाशैर्बद्धो जीवस्त्यजेद् वपुः ॥२०॥
शीर्ष्णश्च सप्तभिश्छिद्रै निर्गच्छेत्पुण्यकर्मणाम् । अधश्च पापिनां याति योगिनां ब्रह्मरन्ध्रतः ॥२१॥

जिसने, सो जीव फिर हृदय से सुख पूर्वक निकलता है ॥ ९ ॥ इस प्रकार कर्म जन्य इस गति को जानने वाले विद्वान् को चाहिये कि प्रयत्न पूर्वक साधु कर्म ही करे, इस हेतु से साधु=सुन्दर कर्म ही उसके कर्तव्य है ॥ १० ॥ सूर्य लोक की सम्प्राप्ति में यह जीव आँख द्वारा निकलता है, और ब्रह्म लोक की प्राप्ति में शिर से निकलता है ॥ ११ ॥ लिंग=सूक्ष्म देह सर्वत्र सब मार्ग से गमन करता हुआ कहीं भी प्रतिरुद्ध नहीं होता है, नहीं रुकता है, अति सूक्ष्म स्वभाव से वह लोह समुद्गगत=प्राप्त भी नहीं रुकता है ॥ १२ ॥ यथोक्त प्रकाशित मार्ग से उत्क्रमण करते हुए, जाते हुए उस जीव के साथ प्राण जाते हैं, प्राण के साथ अन्य प्राण=इन्द्रियाँ जाती हैं ॥ १३ ॥ जैसे स्वप्न में बाहर से सब इन्द्रिय उपसंहृत होती हैं, वैसे उत्क्रमण = मरण काल में भी वासना और कर्मरूप हेतु से सब करण=इन्द्रियों के संहरण=संग्रह वाला जीव भावना कर्म के अनुसार विज्ञान सहित ही गमनकर्त्ता माना जाता है ॥ ५४ ॥ इस को कर्म रूप हेतु से ही विशेष ज्ञान का सम्बन्ध=लाभ होता है, स्वतन्त्रता से वह सम्बन्ध मिलने योग्य नहीं है, क्यों कि-इस मरण काल में स्वतन्त्रता का अभाव है ॥ १५ ॥ इस प्रकार विज्ञान सहित भी यह जीवात्मा जिससे प्रथम ही अपने गन्तव्य=प्राप्तव्य स्थान सुखादि को उपार्जित किया है, उसके साथ आत्मभाव= आत्मता के विज्ञान वाला होकर यहाँ से चल कर उसी स्थान = देहादि को पाता है ॥ १६ ॥ जिससे इस प्रकार स्वतन्त्रता नहीं है, उसे प्रयत्न से स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये योगादि साधनों के अभ्यास और पुण्य का सञ्चय पुरुषों का कर्तव्य है ॥ १७ ॥ इस संसार में महान् यह सब शास्त्रों का आरम्भ उसी कर्तव्य के लिये है, और वाक् , मन, देह से सिद्ध होने वाले स्वतन्त्रता के उपायों को समझाने के लिये है ॥ १८ ॥ तथा अनर्थ की प्राप्ति में उपायों का निषेध भी शास्त्रारम्भ का फल है, सुख की प्राप्ति के लिये कर्ता के अधीन शास्त्रों का अर्थ=प्रयोजन इतना ही है ॥ १९ ॥ पञ्चतन्मात्रा=सूक्ष्म पंचभूत सहित, मन बुद्धि, अहंकार सहित, पुण्य पापमय बन्धनों से बन्धन युक्त जीव, देह को त्यागता है ॥२०॥ पुण्यकर्म वालों

तत्क्षणात्सोऽथ गृह्णाति शरीरं चातिवाहिकम् । अङ्गुष्ठपर्वमात्रं तु स्वप्राणैरेव निर्मितम् ॥२२॥

इत्यष्टमं परलोकगतिप्रकरणं समाप्तम् ॥ स्कन्दपु० खं० १-२ अ० ५० ॥

गुणगतिः ॥ ९ ॥

गती गुणकृता ज्ञात्वा सर्वाः संसारलक्षणाः । तत्परात्मविमुक्त्यर्थं प्रयतेत सुबुद्धिमान् ॥१॥
सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् । एतद् व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥२॥
वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥३॥
आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कर्मपरिग्रहः । विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥४॥
लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता । याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥५॥
तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते । सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥६॥
देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः । तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥७॥
त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः । अधमा मध्यमाऽग्र्या च कर्मविद्याविशेषतः ॥८॥
स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः । पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः ॥९॥
हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः । सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥१०॥

के प्राण शिर के सात छिद्रों द्वारा निकलते हैं, पापियों के प्राण नीचे के दो द्वारों से जाते हैं, योगियों के ब्रह्मरन्ध्र से जाते हैं ॥ २१ ॥ वह योगी अपने प्राणों से ही रचित अङ्गुष्ठपर्वमात्रपरिमाणवाली आतिवाहिक देह को उसी क्षण में ग्रहण करता है ॥ २२ ॥ आठवाँ परलोकगतिप्रकरण समाप्त ॥

अथ गुणगति—संसाररूप गुण कृत सब गतियों = अवस्था फलादि को जान कर सुन्दर बुद्धिवाला विवेकी संसार गति से श्रेष्ठ आत्म विमुक्ति के लिये यत्न करे ॥ १ ॥ प्रीति, अप्रीति, विषाद रूप सत्त्वादि गुणों में सत्त्व गुण का ज्ञान = यथार्थ अनुभव लक्षण है, तमोगुण का भ्रम, संशय, अज्ञान, लक्षण है, रागद्वेष रजोगुण का लक्षण है, और इन सत्त्वादि गुणों के ये ज्ञानादि सब प्राणियों में व्यापक वपु = आकार लक्षण हैं ॥ २ ॥ वेदों का अभ्यास, तप, ज्ञान, शौच, इन्द्रिय निरोध, धर्मानुष्ठान, आत्मविचार, ध्यानादि ये सब सात्त्विक व्यवहार सत्त्व गुण के लक्षण हैं ॥ ३ ॥ सकाम कर्मारम्भ में प्रेम, अधैर्य निषिद्ध कर्माचरण, सदा विषयोपभोग रजोगुण के लक्षण हैं ॥ ४ ॥ लोभ = अधिक धनेच्छा निद्रालुता, अधृति = कायरता क्रूरता, नास्तिकता, भिन्न वृत्तिता = सदाचार का त्याग, याचना का स्वभाव, प्रमाद (धर्मादि में असावधानता) तामस गुण के लक्षण हैं ॥ ५ ॥ काम तमोगुण का, अर्थ परायणता रजोगुण का धर्मानुष्ठान सत्त्व गुण का लक्षण हैं उन में पूर्व २ से पर २ श्रेष्ठ हैं ॥ ६ ॥ सात्त्विक गुण वृत्ति वाले देव होते हैं, राजस वाले मनुष्य होते हैं, तामस वाले सदा तिर्यक् = पशु आदि होते हैं, ये गुण के अनुसार तीन प्रकार की गति = (जन्म) होती हैं ॥ ७ ॥ फिर भी गुण निमित्तक गुणजन्य गति कर्मोपासनादि के भेद से अधम, मध्यम, उत्तम रूप तीन २ प्रकार की जानना चाहिये ॥ ८ ॥ वृक्षादि स्थावर, सूक्ष्म कृमि, उन से बड़े कीट, मछली, सांप, कछुआ, पशु, मृग, ये निकृष्ट = अधम तामसी गति = (जन्म) हैं ॥ ९ ॥ हाथी,

चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः । रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः ॥११॥
झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः । द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥१२॥
राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञश्चैव पुरोहिताः । वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥१३॥
गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये । तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥१४॥
तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः । नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥१५॥
यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः । पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥१६॥
ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च । उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥१७॥
एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः । त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः ॥१८॥
मनुस्मृ० अ० १२ ॥

तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ॥ बृहदा० ४।४।२ ॥

हेतु र्जाग्रद्वासनाऽस्य स्वप्नारम्भे यथा तथा । जन्मान्तरारम्भहेतुः किं स्यादिति तदुच्यते ॥१९॥
विद्या सम्पादिता तेन पुरा कर्म च यत्कृतम् । या वासना च तत्सर्वं जन्मभोग्यादिकारणम् ॥२०॥
सम्यक्संशयमिथ्याख्यज्ञानत्रयमुदीर्यते । विद्येति, ब्रह्मविद्या तु न ग्राह्या जन्मघातिनी ॥२१॥
मनोवाक्कायसाध्यं यच्छास्त्रतो यदि वाऽन्यथा । दृष्टादृष्टार्थरूपं तत्सर्वं कर्मेह गृह्यते ॥२२॥

घोड़ा, शूद्र, निन्दित म्लेच्छ, सिंह, बाघ, सूकर यह मध्यम तामसी गति है ॥ १० ॥ चारण=बन्दी-स्तावक, पक्षी, दाम्भिक=कपटी पुरुष, राक्षस, पिशाच, यह तामसी में उत्तम गति है ॥ ११ ॥ झल्ला (व्रात्यक्षत्रिय से सवर्णा स्त्री में उत्पन्न लठबाज) मल्ल = बाहुयोधी, नट, शस्त्रजीवी पुरुष, द्यूत=जुआ मद्यपान में आसक्त पुरुष यह अधम राजसी गति है ॥ १२ ॥ राजा क्षत्रिय, राजा के पुरोहित, शास्त्रार्थ के युद्ध में प्रधान=प्रेम वाले होना यह मध्यम राजसी गति है ॥ १३ ॥ गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, देवानुचर, सब अप्सरा, यह राजसी में उत्तम गति है ॥ १४ ॥ तापस=वानप्रस्थ संन्यासी, ब्राह्मण, विमानचारी देव गण, नक्षत्र और दैत्य अधम सात्त्विक गति है ॥ १५ ॥ यज्ञशील, ऋषि, देव, वेदाभिमानी देव, ज्योति देव, वर्ष देव, पितृ देव, साध्य देव होना, मध्यम सात्त्विकी गति है ॥ १६ ॥ ब्रह्मा, विश्वस्रष्टा मरीचि आदि प्रजापति, धर्मराज, महत्तत्वाऽभिमानी देव, अव्यक्ताभिमानी देव, इन को विद्वान् उत्तम सात्त्विकी गति कहते हैं ॥ १७ ॥ मन, वचन, शरीर से होने वाले तीन प्रकार के कर्मों के फल रूप यह तीन २ प्रकार के गति स्वरूप सब प्राणि-सम्बन्धी सब संसार, यह सब कहा गया है, इसी कथन से संसार की सब गति समझी जा सकती है ॥ १८ ॥ उस जीव को विद्या और कर्म तथा पूर्वप्रज्ञा=वासना फिर जन्म देते हैं, इनके द्वारा फिर शरीर का आरम्भ होता है । तहाँ प्रश्न है, कि-जैसे स्वप्न के आरम्भ में जाग्रत की वासना कारण है, वैसे जन्मान्तर का कारण क्या होगा ? तो वह कारण कहा जाता है, कि-प्रथम जो उस ने विद्या का सम्पादन=उपार्जन किया है, जो कर्म किया है, जो वासना है, सो सब जन्म आयु भोग्य का कारण हैं ॥ १९-२० ॥ यह विद्या शब्द से सम्यग्=यथार्थ ज्ञान संशय ज्ञान, मिथ्या=भ्रम ज्ञान, ये तीनों कहा जाता है, ये तीनों जन्म के हेतु हैं, परन्तु जन्म विघातिनी (मुक्त करने वाली) ब्रह्मविद्या = आत्मज्ञान यहाँ विद्या शब्द का ग्राह्य अर्थ नहीं है ॥ २१ ॥ मन वचनादि-

कर्मणः क्रियमाणस्य संस्कारो यो हृदि स्थितः । तत्फलस्य च भुक्तस्य पूर्वप्रज्ञेति सोच्यते ॥२३॥
कर्मणो भुज्यमानस्य परिशेषो हि भावना । मूलं च जायमानस्य प्रधानं तेन भावना ॥२४॥
पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन ॥ बृहदा० ४।४।५ ॥
वासना कर्म विद्या च त्रयं जन्मप्रयोजकम् । उक्तं, तत्र प्रधानत्वं कर्मणः श्रूयते पुनः ॥२५॥
उत्तमाधमदेहाख्यवैषम्यं कर्मणा भवेत् । देहे विद्यावासनाभ्यां भवेद्भोगस्य कौशलम् ॥२६॥
पूर्वकाण्डपरा इत्थं कर्म प्राधान्यमूचिरे । अथ वेदान्तशास्त्रज्ञाः प्राहुः कामप्रधानताम् ॥२७॥
अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति, तत्क्रतु र्भवति यत्क्रतु र्भवति तत्कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते ॥ २८ ॥ बृहदा० ४।४।५ ॥
रुचेरतिशयः काम्ये विषये क्रतुरीर्यते । पाक्षिकं कर्म कामे स्यात्करोत्येव क्रतौ सति ॥२९॥
अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति॥३०॥
बृहदारण्यकवार्तिकसा० ॥
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥३१॥
कठ० अ० २।६।१५ ॥
कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभि र्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥ ३२ ॥ मुण्डक० ३।२।२ ॥

जन्य, शास्त्रद्वारा वा अन्यथा किया गया, दृष्ट अदृष्ट=प्रत्यक्ष परोक्ष रूप प्रयोजन वा जो कर्म है, सो सब यहाँ कर्म शब्द ग्राह्य है ॥ २२ ॥ किया गया कर्म, भोगे गये उसके फल का जो हृदय में स्थिर संस्कार रहता है, सो पूर्वप्रज्ञा शब्द से कहा जाता है ॥ २३ ॥ भोगे जाते हुए कर्म के परिशेष को भावना कहते हैं, वह जायमान=होनेवाले देहादि का मूल कारण है, अतः जन्म में भावना प्रधान कारण है ॥ २४ ॥ पुण्यजन्मवान् पुण्य कर्म से होता है, पाप जन्मवान् पाप कर्म से होता है । यद्यपि वासना, कर्म, विद्या ये तीनों जन्म के हेतु कहे गये हैं, तथापि उनमें कर्म की प्रधानता सुनी जाती है ॥ २५ ॥ उत्तमाधम देह नामक विषमता कर्म से होती है, और देह में भोग की कुशलता विद्या और वासना से होती है ॥२६॥ वेद के पूर्व काण्ड=कर्मकाण्ड में परायण लोगों ने इस प्रकार कर्म की प्रधानता कही है, और वेदान्त शास्त्र के ज्ञाता लोग काम की ही प्रधानता कहते हैं ॥ २७ ॥ वेदान्तज्ञ कहते हैं, कि–काममय ही यह पुरुष है, जैसा काम वाला होता है, वैसा ही क्रतु (निश्चित सङ्कल्प) वाला होता है, फिर जैसा जिस सङ्कल्प वाला रहता है, तिस कर्म को तैसा करता है, फिर जो कर्म करता है, उसका फल सिद्ध होता है ॥ २८ ॥ काम्य विषय में रुचि को अधिकता को क्रतु कहा जाता है, इससे काम के रहते भी पाक्षिक कर्म होता है और क्रतु के होने पर कर्म करता ही है ॥ २९ ॥ उक्त कामी से भिन्न जो कामना नहीं करने वाला अकामी, प्रथम के कामों का त्यागी, प्राप्त पूर्णकामवाला, ज्ञान से तृप्त है, उसके प्राण अन्त काल में उतत्क्रमण=उर्ध्वगमन नहीं करते हैं, इससे वह जीवन्मुक्त प्रथम से भी ब्रह्म ही होता हुआ उस समय भी ब्रह्म में लीन होता है ॥ ३० ॥ जब इस ज्ञानी के हृदय में रहने वाले सब काम नष्ट हो जाते हैं, तब मर्त्य=मनुष्य अमृत=मुक्त हो जाता है, और लोकान्तर में गमनादि बिना इस देह लोक में ही ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥ ३१ ॥ जो प्राणी काम्य पदार्थों का चिन्तन मनन

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥३३॥
नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति । गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥३४॥
गुणनेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् । जन्ममृत्युजरादुःखै र्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥३५॥

भगवद्गी० अ० १४ ॥

सत्त्वोदयाच्च मुक्तीच्छा कर्मेच्छा च रजोगुणात् । तमोगुणाज्जीवहिंसा कोपोऽहङ्कार एव च ॥३६॥

ब्रह्मवैवर्त्तपु० कृष्णजन्मखं० अ०, २४।६३ ॥

धर्मो राजन् गुणः श्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते । कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिणः ॥३७॥
धर्मं समाचरेत्पूर्वं ततोऽर्थं धर्मसंयुतम् । ततः कामं चरेत्पश्चात्सिद्धार्थः स हि तत्परम् ॥३८॥
यो वै न पापे निरतो न पुण्ये नार्थे न धर्मे मनुजो न कामे ।
विमुक्तदोषः समलोष्टकाञ्चनो विमुच्यते दुःखसुखार्थसिद्धेः ॥३९॥
स्नेहेन युक्तस्य न चास्ति मुक्तिरिति स्वयंभू र्भगवानुवाच ।
बुधाश्च निर्वाणपरा भवन्ति तस्मान्न कुर्यात्प्रियमप्रियं च ॥४०॥

महाभा० शान्तिप० अ० १६७॥८-२७-४४-४६ ॥

सचेतनं जीवगुणं वदन्ति स चेष्टते चेष्टयते च सर्वम् ।

करता हुआ उनकी इच्छा करता है, सो उन कामों=इच्छाओं से ही तिन २ योनि लोकादि में कामों से प्रेरित होकर जन्मता है, और आत्म ज्ञान से पर्याप्त=पूर्ण काम वाले कृतात्मा (निश्चितस्वात्मा वाले) के यहाँ ही सब काम नष्ट हो जाते हैं ॥ ३२ ॥ सात्विक वृत्त=चरित्र में स्थिर मनुष्य ऊर्ध्व=स्वर्गादि में गमन करता है, राजसवृत्तवाले मध्य= मनुष्य लोक में रहते हैं, जघन्य=अधम तमोगुण के वृत्त में स्थिर तामस पुरुष नीचे, पशु आदि में जन्मते हैं ॥ ३३ ॥ जब द्रष्टा = विद्वान् पुरुष, इन्द्रिय, मन आदि रूप गुणों से अन्य कर्त्ता को नहीं देखता है, किन्तु गुणों को कर्ता जानता है, और गुणों से भिन्न आत्मा को जानता है, तब तद्रूपता को प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥ देहों की उत्पत्ति के कारण मायामय सत्त्वादि इन तीनों गुणों को अतीत्य=तत्त्व ज्ञान से बाधकर विद्वान् देही जन्मादि से विमुक्त होकर अमृत=मोक्ष को पाता है ॥२५॥ सत्त्व गुण के उदय=अधिकता से मुक्ति की इच्छा होती है, रजोगुण के उदय से कर्म की इच्छा होती है, और तमोगुण से जीवों की हिंसा, क्रोध और अहङ्कार आदि ही होते हैं ॥ ३६ ॥ हे राजन् ! धर्म श्रेष्ठ गुण है, मध्यमगुण रूप अर्थ कहा जाता है, और काम यवीयान्=कनिष्ठ है, इस प्रकार विद्वान् सब कहते हैं ॥३७॥ प्रथम धर्म का सम्यग् आचरण करे, तब धर्म संयुक्त अर्थ का आचरण करे, तब उस के बाद काम का आचरण करे, उस के बाद वह सिद्ध अर्थ=प्रयोजन धन वाला उस पर तत्त्व का आचरण विचार ध्यानादि करे ॥ ३८ ॥ उसके बाद जो पुरुष पाप, पुण्य, अर्थ, धर्म, काम इन पाँचों में से किसी में निरत (प्रवृत्त प्रीतिमान् आसक्त) नहीं होता है, और सब दोषों से रहित, लोष्ट सुवर्ण में समदृष्टिवाला रहता है, सो सुख दुःख रूप अर्थ की सिद्धि जिस कर्मादि का फल है, उन सब से विमुक्त होता है ॥ ३९ ॥ स्नेहादियुक्त की मुक्ति नहीं होती, यह बात स्वयंभू भगवान् नें कही है, इससे मुमुक्षु विद्वान् सब स्नेहादि को त्याग कर मोक्ष परायण होते हैं, उससे प्रिय अप्रिय (रागद्वेष से किसी का इष्ट वा अनिष्ट) नहीं करना चाहिये ॥ ४० ॥ चेतन सहित जीव का गुण रूप, देह, इन्द्रिय और मन आदि हैं ऐसा विद्वान्

अतः परं क्षेत्रविदो वदन्ति प्रावर्तयद्यो भुवनानि सप्त ॥४१॥
मानसोऽग्निः शरीरेषु जीव इत्यभिधीयते । सृष्टिः प्रजायतेरेषा भूताध्यात्मविनिश्चये ॥४२॥
इति नवमं गुणगतिप्रकरणं समाप्तम् ॥ महाभा० शां० प० अ० १८७ ॥

अथ मृत्युप्रकारः ॥ १० ॥

ये सतामुपदेशं हि नेह शृण्वन्ति मानवाः । ते मृत्वा बहु शोचन्तो धावन्ते त्वितरे न हि ॥१॥
कामतृष्णाभराक्रान्ता उपदेशं विना नराः । धावमाना न च क्वापि निर्वृत्तिमाप्नुवन्ति ते ॥२॥
त्रिविधाः पुरुषाः सन्ति देहस्यान्ते मुमूर्षवः । मूर्खोऽथ धारणाभ्यासी युक्तिमान् पुरुषस्तथा ॥३॥
अभ्यस्य धारणानिष्ठो देहं त्यक्त्वा यथा सुखम् । प्रयाति धारणाभ्यासी युक्तियुक्तस्तथैव च ॥४॥
धारणा यस्य नाभ्यासं प्राप्ता नैव च युक्तिमान् । मूर्खः स मृतिकालेऽसौ दुःखमेत्यवशाशयः ॥५॥
वासनावेशवैवश्यं भावयन् विषयाशयः । दीनतां परमामेति परिलूनमिवाम्बुजम् ॥६॥
अशास्त्रसंस्कृतमतिरसज्जनपरायणः । मृतावनुभवत्यन्त र्दाहमग्नाविव च्युतः ॥७॥
यदा घर्घरकण्ठत्वं वैरूप्यं दृष्टिवर्णजम् । गच्छत्येषोऽविवेकात्मा तदा भवति दीनधीः ॥८॥
परमान्ध्यमनालोको दिवाप्युदिततारकः । साभ्रदिग्मण्डलाभोगो घनमेचकिताम्बरः ॥९॥

लोग कहते हैं, वे गुण चेष्टा करते हैं, और उन को सर्व = सर्वात्मा ब्रह्म चेष्टा कराता है, उस चेष्टा कराने वाले को विद्वान् लोग इस जीव और उस के गुणों से पर = भिन्न उत्तम कहते हैं । और परमात्मा चेष्टा कराने वाला वह है, जिसने सातो भुवनों को प्रवृत्त कराया है ॥ ४१ ॥ मानस = मन में प्रकट अग्नि तुल्य प्रकाश रूप जीवात्मा शरीरों में जीव कहा जाता है, अध्यात्म विनिश्चय होने पर यह निश्चय होता है, कि-उसी प्रकाशात्मा प्रकट प्रजापति से यह सृष्टि हुई है ॥ ४२ ॥ नववाँ गुणगति प्रकरण समाप्तम् ॥

अथ मृत्युप्रकार—जो मनुष्य सत्पुरुषों के उपदेश को नहीं सुनते हैं, सो मर कर भी बहुत चिन्ता करते हुए दौड़ते हैं, अन्य नहीं ॥ १ ॥ उपदेश के विना काम तृष्णा के भर = अतिशय से पराजित सो मनुष्य दौड़ता हुआ भी कहीं सुख नहीं पाता है ॥२॥ देह के अन्त में मरने वाले पुरुष तीन प्रकार के हैं, एक मूर्ख, दूसरे देश विशेष में मन प्राण की धारणा के अभ्यासी, तीसरे नाड़ीशोधन विचारादि युक्ति वाले पुरुष हैं ॥ ३ ॥ अभ्यास करके धारणा में स्थिर धारणाभ्यासी देह को सुख पूर्वक त्याग कर जाता है, और युक्तिवाला भी सुख से जाता है ॥ ४ ॥ जिस की अभ्यास युक्त धारणा नहीं हुई, और जो युक्तिवाला भी नहीं है, वही मूर्ख है, सो मरण काल में अवशचित्त वाला होकर दुःख पाता है ॥ ५ ॥ विषयों में आशय = अभिप्राय आसक्ति वाला वह मनुष्य वासना के आवेश = वेग से अवैवश्य = परतन्त्रता की भावना करता हुआ परिच्छिन्न कमल के समान परम दीनता को पाता है ॥ ६ ॥ शास्त्रसंस्कार से रहित बुद्धि वाला असज्जन परायण अधर्म कर्ता होकर मरण काल में अग्नि में पतित के समान अन्दर में दाह का अनुभव करता है ॥ ७ ॥ जिस समय यह अविवेकी पुरुष घर्घर शब्द युक्त कण्ठवाला होता है, दृष्टि और वर्णजन्य विरूपता = मलिनता मन्दता को प्राप्त होता है, तब दीन = भयभीत बुद्धिवाला होता है ॥ ८ ॥ परम अन्धता को पाकर आलोक = प्रकाशरहित होता है, दिन में भी उदित तारा वाला,

मर्मव्यथाविच्छुरितः प्रभ्रमद् दृष्टिमण्डलः । आकाशीभूतवसुधो वसुधाभूतखान्तरः ॥१०॥
मनःकल्पनसामर्थ्यं त्यजत्यस्य विमोहतः । अविवेकेन तेनासौ महामोहे निमज्जति ॥११॥

योगवासि० प्र० ३।५४।३५।४२।५३ ॥

पिण्डोऽथ दीयते मा वा पिण्डो दत्तो ममेति चेत् । वासना हृदि संरूढा तत्पिण्डफलभाङ् नरः ॥१२॥
यच्चित्तं तन्मयो जन्तु र्भवतीत्यनुभूतयः । सदेहेषु विदेहेषु न भवन्त्यन्यथा क्वचित् ॥१३॥

योगवा० प्र० ३।५६।२७-२८ ॥

इहामुत्र च नाशाय मूढो दुःखाय जीवति । यत्नाद्विनाशनीयोऽसौ नानर्थः परिपाल्यते ॥१४॥
अपश्यतः स्वमात्मानं मृति र्मूढस्य जीवितम् । मरणेनोदयोऽस्यास्ति पापासम्पत्तिहेतुतः ॥१५॥

योगवा० प्र० ३।७७।२०-२१ ॥

पीवराज्ञानयोगेन यस्य पर्याकुलं मनः । दुःखानि विनिकृन्तन्ति मरणं तस्य राजते ॥१६॥
कृशोऽतिदुःखी मूढोऽहमेताश्चान्याश्च भावनाः । मतिं यस्यावलुम्पन्ति मरणं तस्य राजते ॥१७॥
आशापाशनिबद्धोऽन्तरितश्चेतश्च नीयते । यो विलोलमनोवृत्त्या मरणं तस्य राजते ॥१८॥

योगवा० प्र० ५।३६।३७-३९ ॥

यथा द्वौ सदृशौ सूर्यौ यथा द्वौ सदृशौ नरौ । जाग्रत्स्वप्नौ तथैवैतौ मनागप्यत्र नान्यथा ॥१९॥
विहृत्य स्वप्नजगति स्वप्नबन्धुजनैः समम् । मृतिमाप्नोति तत्रासौ द्रष्टा स्वप्नस्य राघव ! ॥२०॥

और मेघ सहित दिग्मण्डल के आभोग=विस्तार वाला, तथा घन=मेघ तुल्यमेचकित=स्याम आकाश वाला होता है ॥ ९ ॥ हृदयादि मर्म स्थान की व्यथा=पीड़ा से व्याप्त, अत्यन्त भ्रमण युक्त दृष्टिमण्डलवाला, तथा आकाश तुल्य पृथिवी, और पृथिवी तुल्य आकाश वाला होता है ॥ १० ॥ इस का मन भी कल्पना शक्ति को विमोह से त्यागता है, उस अविवेक से वह महामोह में मग्न होता है ॥ ११ ॥ मरने पर इस को पिण्ड दिया जाय या नहीं दिया जाय, परन्तु उस के हृदय में यदि वासना स्थिर हो जाय कि मुझे पिण्ड दिया गया है, तो वह मनुष्य उस पिण्ड का फलभागी होता है ॥१२॥ क्योंकि जिस में चित्त लगता है, प्राणी तन्मय हो जाता है, ऐसा अनुभव सदेह वा विदेहों में कहीं अन्यथा नहीं होता है ॥ १३ ॥ जो मूढ़ यहाँ और परलोक में नाश और दुःख ही के लिये जीता है, वह राक्षसादि से यत्न पूर्वक विनाशनीय=नाश योग्य होता है, क्योंकि अनर्थ का परिपालन नहीं किया जाता है ॥ १४ ॥ और स्वात्मदर्शन रहित-मूढ़ का मरण ही जीवन है (जीवन से मरण श्रेष्ठ है) क्योंकि मरने से पापों की असम्पत्ति=अवृद्धि से इस के मरण से ही इस का उदय=वृद्धि हित है ॥ १५ ॥ पीन-स्थूल अज्ञान के सम्बन्ध से जिस का मन अत्यन्त व्याकुल है, और जिसको दुःख भी विकृन्तन=विभेदन करते हैं, उसको मरण शोभता है ॥ १६ ॥ मैं कृश=दुबला, दुःखी मूढ़ हूँ इत्यादि भावना और अन्य भावना भी जिस की बुद्धि को नष्ट करती हो, उसको मरण शोभता है ॥ १७ ॥ जो अन्तर में आशारूप पाश से निरन्तर बद्ध है, सो चञ्चल मन की वृत्तिद्वारा जहाँ तहाँ खींचा जाता है, उसको मरण शोभता है ॥ १८ ॥ जैसे दो दिन के सदृश दो सूर्य हों, जैसे सदृश दो मनुष्य हों, तैसे ही ये जागृत और स्वप्न हैं, मनाक्=थोड़ी भिन्नता भी जागृत् और स्वप्न में नहीं है ॥ १९ ॥ स्वप्न के बन्धु जनों के साथ स्वप्न के जगत् में विहार

मृतः सन् स्वप्नजगति स्वप्नजन्तुवियोगवान् । इह प्रबुध्यते जन्तु र्निद्रामुक्तश्च कथ्यते ॥२१॥
स्वप्नद्रष्टा यथा स्वप्नसंसारे मृतिमाप्तवान् । अन्यं जाग्रन्मयं स्वप्नं द्रष्टुं भूयः स जायते ॥२२॥
जाग्रद् द्रष्टा तथा जाग्रत्संसारे मृतिमाप्तवान् । अन्यं जाग्रन्मयं स्वप्नं द्रष्टुं भूयः स जायते ॥२३॥

योगवा० प० ६–२।१०५।१८–२५ ॥

शरीरनाशे नाशश्चेच्चिन्मात्रस्य तदुच्यताम् । हर्षस्थाने विपादः किं मरणे संसृतिक्षये ॥२४॥
न च नाम शरीरस्य नाशे नश्यति चिन्नभः । देहे नष्टेऽपि बन्धूनां म्लेच्छै र्दृष्टा पिशाचता ॥२५॥

योगवा० प्र० ६–२।१०३।५–६ ॥

नाडीप्रवाहे विधुरे यदा वातविसंस्थितिम् । जन्तुः प्राप्नोति हि तदा शाम्यतीवास्य चेतना ॥२६॥
शुद्धं हि चेतनं नित्यं नोदेति न च शाम्यति । स्थावरे जङ्गमे व्योम्नि शैलेऽग्नौ पवने स्थितम् ॥२७॥
केवलं वातसंरोधाद्यदा स्पन्दः प्रशाम्यति । मृत इत्युच्यते देहस्तदासौ जडनामकः ॥२८॥

योगवा० प्र० ३।५५।२–४ ॥

देहाद्देहान्तरप्राप्तौ नव एव महोत्सवः । मरणात्मनि किं मूढा हर्षस्थाने विसीदथ ॥२९॥
मृतिरत्यन्तनाशश्चेत्तद्भावामयसंक्षयः । भूयः शरीरलाभश्चेन्नव एव तदुत्सवः ॥३०॥
कुकर्मभ्योऽथ भीतिश्चेत्समैवेह परत्र च । तानि मा कार्ष भो तस्माल्लोकद्वितयसिद्धये ॥३१॥
मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति भाषसे । भविष्यामि भविष्यामि भविष्यामीति नेक्षसे ॥३२॥

करके, हे राघव ! वह स्वप्न का द्रष्टा वहाँ मरण पाता है, और स्वप्न के जगत् में मरा हुवा, स्वप्न के प्राणियों से वियोग वाला जन्तु यहाँ जागता है, और निद्रा से रहित कहा जाता है ॥ २०–२१ ॥ स्वप्न द्रष्टा ने जैसे स्वप्न संसार में मरण प्राप्त किया, तैसे वह जाग्रत् का द्रष्टा अन्य जाग्रत्-मय स्वप्न को देखने के लिये फिर जन्मता = जागता है, और जाग्रत् संसार में भी मरण पाकर अन्य जाग्रत्-मय स्वप्न = मिथ्या को ही देखने के लिये फिर वह जन्मता है ॥ २२–२३ ॥ यदि शरीर के नाश से ज्ञान मात्र का नाश हो तो, ज्ञानरहित जड़ के जन्माभाव से मोक्ष ही समझना चाहिये, तो कहो कि संसार के क्षय रूप हर्ष के स्थान मरण में विषाद क्यों करना है ? ॥ २४ ॥ वस्तुतः शरीर के नाश से चिदाकाश नहीं नष्ट होता है, देह के नष्ट होने पर बन्धुओं की पिशाचता म्लेच्छों से ही देखी गई है ॥ २५ ॥ नाड़ीप्रवाह से विधुर =विश्लेष-विकल होने पर जब प्राण वायु के विरुद्ध स्थिति शान्ति को प्राणी प्राप्त करता है, तब इस की चेतना = ज्ञानशक्ति शान्त तुल्य होती है, शुद्ध चेतनात्मा तो नित्य है, वह उदित नहीं होता है जो स्थावर जंगमादि में सर्वत्र स्थिर है ॥ २६–२७ ॥ केवल वायु के रुक जाने से जब स्पन्द=(क्रिया) प्रशान्त हो जाता है तब यह जड़ नाम वाला देह मृतक कहा जाता है ॥ २८ ॥ वृद्ध रुग्णादि देह से दूसरे देह की प्राप्ति में नवीन महा उत्सव है, फिर भी हे मूढ़ ! मरण रूप हर्ष के स्थान में विषाद क्यों करते हो ? ॥ २९ ॥ यदि मरण अत्यन्त नाश रूप है, तो संसार रोग का सम्यग् क्षय=नाश है, यदि फिर शरीर का लाभ = (प्राप्ति) होगा, तो वह मरण नवीन उत्सव है ॥ ३० ॥ यदि कुकर्मों से भय है, तो वह यहाँ और परलोक में तुल्य ही है, अतः दोनों लोक में सुख की सिद्धि के लिये उन कुकर्मों को नहीं करो ॥ ३१ ॥ मरूंगा यह

क्व नाम जन्ममरणे क्व भवाभयभूमयः । सम्विदात्मकमेवेदं व्योम व्योम्नि विवर्त्तते ॥३३॥
योगवा० प्र० ६–२।१०१ ॥

वासना यत्र यस्य स्यात्स तं स्वप्ने प्रपश्यति । स्वप्नवन्मरणं ज्ञेयं वासनातो वपु र्नृणाम् ॥३४॥
आत्मपुरा० ॥

ये नानृतानि नोक्तानि प्रीतिभेदः कृतो न च । आस्तिकः श्रद्धानश्च सुखं मृत्युं स गच्छति ॥३५॥

यः कामान्नापि संरम्भान्न द्वेषाद्धर्ममुत्सृजेत् । यथोक्तकारी सौम्यश्च स सुखं मृत्युमृच्छति ॥३६॥
ब्रह्मपु० अ० १०५।६–८ ॥

मृतास्त एवात्र यशो न येषामन्धास्त एव श्रुतिवर्जिता ये ।
ये दानशीला न नपुंसकास्ते ये धर्मशीला न त एव शोच्याः ॥ ३७ ॥

पराभिद्रोह निरता विस्मृतात्महिता नराः । इतस्ततो भ्रान्तचित्ता पतन्ति नरकावटे ॥३८॥
गौतमीमा० अ० ४० ॥

आत्मानं वै प्राणिनो घ्नन्ति सर्वे नैनान् मृत्यु र्दण्डपाणि र्निहन्ति ।
तस्मान्मृतान्नानुशोचन्ति धीरा मृत्युं ज्ञात्वा निश्चयं ब्रह्म सृष्टम् ॥ ३९ ॥
महाभा० द्रोणप० अ० ५४।५०। नारदोक्तिः ॥

रामं दाशरथिं चैव मृतं सृञ्जय ! शुश्रुम । यं प्रजा अन्वमोदन्त पिता पुत्रानिवौरसान् ॥४०॥

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च । सर्वभूतमनःकान्तो रामो राज्यमकारयत् ॥४१॥

रामो रामो राम इति प्रजानामभवत्कथा । रामाद्रामं जगदभूद्रामे राज्यं प्रशासति ॥
चतुर्विधाः प्रजा रामः स्वर्गं नीत्वा दिवं गतः ॥ ४२ ॥ महाभा० द्रोणप० अ० ५९। शान्तिप० अ० २६ ॥

बात बार २ कहते हो, परन्तु अवश्य रहूँगा यह नहीं देखते हो ॥ ३२ ॥ जन्म मरण कहाँ सत्य हैं ? संसार और अभय के स्थान कहाँ हैं ? ज्ञान स्वरूप ही यह जगत् है, व्योम=ब्रह्म ही व्योम में विवर्त्तता है ॥३३॥ जिसकी वासना जिस में रहती है, वह उस को स्वप्न में देखता है, स्वप्न के समान ही मनुष्य का मरण और शरीर को वासना से समझना चाहिये ॥ ३४ ॥ जिस ने झूठ नहीं बोला, न प्रीति=प्रेम का भेदन किया, वह आस्तिक श्रद्धालु सुख से मृत्यु पाता है ॥ ३५ ॥ जो काम वा क्रोध के वेग वा द्वेष से धर्म को नहीं त्यागता है, सो सुख से मृत्यु पाता है ॥ ३६ ॥ और वे ही मरे हैं जिन का यहाँ यश नहीं है, वे अन्धे हैं, जो सत् शास्त्र के श्रवण से रहित हैं, जो दान के स्वभाव से रहित हैं, सो नपुंसक हैं, और जो धर्मशील नहीं हैं, सो शोचनीय हैं ॥ ३७ ॥ अन्य की हिंसा अपकार में तत्पर, निज हित के स्मरण से रहित भ्रमयुक्त चित्त वाले मनुष्य, जहाँ तहाँ भटकते हुए नरक रूप अवट=गर्त-श्वभ्र में गिरते हैं ॥ ३८ ॥ सब प्राणी अपने को आप पापादि कर के मारते हैं, दण्ड युक्त हाथ वाला मृत्यु इन को नहीं मारता है, अतः ईश्वर रचित मृत्यु को निश्चय पूर्वक जान कर धीर पुरुष मृतकों को नहीं शोचते हैं ॥ ३९ ॥ हे सृञ्जय ! दाशरथि राम को भी मृत सुना हूँ जिन को औरस पुत्र के समान प्रजा ने अनुमोदन किया ॥४०॥ सब प्राणियों के मन के प्रिय राम ने दश हजार दश सौ वर्ष राज्य किया ॥४१॥ राम के राज्य शासन काल में

यमैश्च नियमैश्चैव यः करोत्यात्मसंयमम् । स चादृष्ट्वा तु मां याति परं ब्रह्म सनातनम् ॥४३॥ यमोक्तिः॥
प्रसुप्ते या प्रस्वपिति जागर्त्ति विबुधे स्वयम् । भुङ्क्ते तु भोजिते विप्र ! सा मृत्युं जयते ध्रुवम् ॥४४॥
देवानामपि सा साध्वी पूज्या परमशोभना । भर्त्रा चाभिहिता यापि न प्रत्याख्यापिनी भवेत् ॥४५॥
वर्त्तमानापि सविधे प्रत्याख्यातापि वा सदा । न दैवतं सम्प्रयाति पत्युरन्यं कदाचन ॥
सा च मृत्युं सुखं याति एवं या स्त्री पतिव्रता ॥ ४६ ॥
एष माता पिता बन्धुरेष मे दैवतं परम् । एवं शुश्रूषते या तु सा मां विजयते सदा ॥४७॥
गीतवादित्रनृत्यानि प्रेक्षणीयान्यनेकशः । न शृणोति न पश्येद्या मृत्युद्वारं न पश्यति ॥४८॥
देवता अर्चयन्तं वा भुञ्जानमपि च द्विज ! । पतिं न त्यजते चित्तान्मृत्युद्वारं न पश्यति ॥४९॥

वराहपु० अ० २०९ ॥

जीवन्मुक्तस्तु निष्कामो न मृतिं प्रतिपद्यते । प्राणोत्क्रान्तिर्मृतिः सा तु ज्ञानिनो न हि विद्यते॥५०॥

बृहदा० वार्त्तिक० अ० २।४।६ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योति र्मनोऽन्तरम् । बुद्धिरात्मा च सहिता धर्मं पश्यन्ति नित्यदा ॥५१॥
प्राणिनामिह सर्वेषां साक्षिभूता दिवानिशम् । एतैश्च सह धर्मो हि तं जीवमनुगच्छति ॥५२॥

ब्रह्मपु० अ० १०८।१४–१५ ॥

हृदयपुण्डरीके समुद्रस्तत्र कोशस्तस्मिंश्च-रमा-अरमा-इच्छा-अपुनर्भवा इति चतस्रो नाड्यो वर्त्तन्ते, रमा पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, अरमा पापेन पापम्, इच्छया यत्स्मरति तदभिसम्पद्यते,

---

राम राम की ही कथा प्रजा में होती थी, और राम से रामरूप ही जगत् हुआ। और चारो प्रकार की प्रजा को स्वर्ग में प्राप्त कराकर राम स्वर्ग में गये ॥ ४२ ॥ यम नियमों के द्वारा जो मन का संयम करता है, सो यम को नहीं देख कर सनातन ब्रह्म को पाता है ॥ ४३ ॥ हे विप्र ! पति के सोने पर जो सोती है, जागने पर स्वयं जागती है, भोजन करने पर भोजन करती है, सो मृत्यु को अवश्य वश करती है ॥ ४४ ॥ जो पति की आज्ञा का खण्डन नहीं करती है, सो परम सुन्दर साध्वी = पतिव्रता देवों की भी पूज्या होती है ॥ ४५ ॥ पति के पास में सदा, वर्तमान वा सदा पति से प्रत्याख्यात = दूर कृत, भी जो पतिव्रता कभी अन्य देव को नहीं संप्राप्त होती है, सो मृत्यु को सुख पूर्वक पाती हैं ॥ ४६ ॥ यह पति ही माता आदि सब स्वरूप हैं, ऐसे निश्चय पूर्वक जो सदा सेवा करती है, सो मृत्यु को जीतती है ॥ ४७ ॥ जो गीत, बाजा, नृत्य, अनेक देखने योग्य को भी न देखती है, न सुनती है, सो मृत्यु द्वार को नहीं देखती है ॥ ४८ ॥ जो देवार्चन भोजन करते हुए पति को चित्त से नहीं त्यागती है, सो मृत्युद्वार को नहीं देखती है ॥ ४९ ॥ काम रहित जीवन्मुक्त मरण नहीं पाते हैं, क्यों कि प्राणों का उत्क्रमण मरण कहलाता है, सो "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" इत्यादि श्रुति के अनुसार ज्ञानी को नहीं होता है ॥ ५० ॥ पृथिवी आदि के अभिमानी देव सब और अन्तर्गत मन बुद्धि आत्मा ये सब सदा धर्म को देखते हैं, ये सब प्राणियों के रातदिन साक्षी स्वरूप हैं, इन सब साक्षियों के सहित धर्म उस मरने वाले जीव के साथ जाता है ॥ ५१–५२ ॥ हृदय कमल के अन्दर संसार समुद्र की वासना है, इससे समुद्र है, तहाँ कोश है । तिस में रमा, अरमा,

अपुनर्भवया तु कोशं शीर्षकपालं पृथिवीं जलं तेजो वायुमाकाशं मनोभूतादिं महान्तमव्यक्तमक्षरं मृत्युं च क्रमशो भित्त्वा परे देवे स एकी भवति ॥ ५३ ॥ इत्याद्यर्थः सुबालोपनिषदि खं० ११ ॥

इति दशमं मृत्युप्रकारप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ पुरुषभेदः ॥ ११ ॥

पुरुषाः कतिधा के च तदालोच्य प्रयत्नतः । सुपुंस्त्वादि सुसम्पाद्य नरो ब्रह्मत्वमश्नुते ॥१॥
प्रवृत्तश्च निवृत्तश्च भवति द्विविधः पुमान् । स्वर्गापवर्गोन्मुखयोः शृणु लक्षणमेतयोः ॥२॥
किं यत्तन्नाम निर्वाणं वरं संसृतिरेव मे । इति कर्तव्यकर्ता यः स प्रवृत्त इति स्मृतः ॥३॥
क्रियातिशयनिर्मुक्तं किं स्याद्विश्रमणं परम् । इति निश्चयवान् योऽन्तः स निवृत्त इति स्मृतः ॥४॥
कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन् । तिष्ठति प्रकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः ॥५॥
योगवासि० प्र० ६।१२६।२-३-६-५४ ॥
सर्वभावपदातीतं सर्वभावात्मकं च वा । यः पश्यति सदात्मानं स समाहित उच्यते ॥६॥
योगवा० प्र० ५।५६।२७ ॥
सत्यां प्रज्ञामहानावि विवेके सति नाविके । संसारसागरादस्माद्यो न तीर्णो धिगस्तु तम् ॥७॥
अपारावारमाक्रम्य प्रमेयीकृत्य सर्वतः । संसाराब्धिं गाहते यः स एव पुरुषः स्मृतः ॥८॥
योगवा० प्र० ५।७६।१३-१४ ॥

इच्छा, अपुनर्भवा. इन नामों वाली चार नाड़ियाँ हैं, उनमें रमा नाडी, मरण काल में पुण्य द्वारा पुण्य पवित्र लोक में जीव को प्राप्त कराती है, अरमा पाप द्वारा पापमय लोक में प्राप्त कराती है, इच्छा द्वारा जिसको याद करता है, उसको प्राप्त होता है, अपुनर्भवा द्वारा तो कोशादि का भेदन करके वह जीव पर देव के स्वरूप में लीन होता है ॥ ५३ ॥ दसवाँ मृत्युप्रकारप्रकरण समाप्त ॥

अथ पुरुषभेद—पुरुष कितने प्रकार के और कौन हैं ? सो प्रयत्न से विचार जान कर और सुपुरुषत्वादि को सुन्दर प्राप्त करके मनुष्य ब्रह्मरूपता को पाता है ॥ १ ॥ प्रवृत्त और निवृत्त दो प्रकार के पुरुष होते हैं, स्वर्ग और अपवर्ग=मोक्ष के लिये उन्मुख = उत्कण्ठायुक्त इन दोनों के लक्षण सुनो ॥ २ ॥ जो वह निर्वाण=मोक्ष है, सो क्या है ? मुझे संसार ही भला है ऐसा निश्चय पूर्वक कर्तव्य कर्म के कर्ता जो है सो प्रवृत्त पुरुष कहलाता है ॥ ३ ॥ क्रियाजन्य अतिशय उत्पत्ति आदि से रहित वह परम विश्रान्ति=मोक्ष क्या है ? कैसे होगा ? ऐसा मन में विचार कर उसकी प्राप्ति के लिये निश्चय वाला है, सो निवृत्त कहलाता है ॥ ४ ॥ कर्तव्य को काम=यथेष्ट पूर्ण रूप से करता हुआ और अकर्तव्य को नहीं करता हुआ जो प्रकृत=प्रारब्ध आचार वाला है, सो आर्य कहा गया है ॥ ५ ॥ जो समाधि-काल में सब भाव वस्तु से रहित चिन्मात्र आत्मा को देखता है, व्यवहार में सब भाव वस्तु स्वरूप को देखता है, सो समाहित कहा जाता है ॥ ६ ॥ प्रज्ञा=बुद्धि रूप महान् नौका और विवेक रूप नाविक=केवट के रहते जो इस संसार सागर से नहीं तरा, उसको धिक्कार है ॥ ७ ॥ और जो अपारावार (वारपार रहित संसार सागर) के आक्रमण (तत्त्वज्ञान से वशीभूत बाधित) करके, और सर्व प्रकार से प्रमेय

नपुंसकः पुमान् ज्ञेयो यो न वेत्ति हृदि स्थितम् । पुरुषं स्वप्रकाशं तमानन्दात्मानमव्ययम् ॥९॥
अयमेव पुमान् योषिन्नाहं पीनपयोधरा । यतः स्वस्मात्परस्तस्य पतिरस्ति स्त्रिया यथा ॥१०॥
आत्मबोधेन ये पूर्णाः पुरुषास्त उदाहृताः । यादृशास्तादृशाः सन्तु शरीरेण द्विजोत्तम ! ॥११॥
कामक्रोधादिभिस्तद्वद् भुजगै र्भुज्यते पुमान् । अज्ञो वाराङ्गनातुल्यो नाहमेवं कथञ्चन ॥१२॥

आत्मपु० अ० ५।३३२। इत्यादि । गार्गीवचनम् ॥

यः समुत्पतितं कोपं क्षमयैव निरस्यति । यथोरगस्त्वचं जीर्णां स वै पुरुष उच्यते ॥१३॥

बाल्मीकीयरा० सुन्दरका० स० ५५।६ ॥

यस्य विद्याऽपवर्गाय परोपकृति जीवितम् । स साधु र्धीर इत्याहुः पण्डितः कवयो महान् ॥१४॥

प्रपञ्चसार० प० ११।० ॥

प्रकाशबहुलो धीरो निर्विधित्सोऽनसूयकः । अक्रोधनो नरो धीमान् दान्तश्चैव स सात्त्विकः॥१५॥
यः सात्त्विकस्त्वसंबुद्धो लोकवृत्तेन क्लिश्यते । यदा बुद्धयति बोद्धव्यं लोकवृत्तं जुगुप्सते ॥१६॥
विरागस्य च रूपं तु पूर्वमेव प्रवर्त्तते । मृदु र्भवत्यहङ्कारः प्रसीदत्यार्जवं च यत् ॥१७॥

महाभा० वनप० अ० २१३ ॥

भावमिच्छति सर्वस्य नाभावे कुरुते मनः । सत्यवादी मृदु र्दान्तो यः स उत्तमपूरुषः ॥१८॥
नानर्थकं सान्त्वयति प्रतिज्ञाय ददाति च । रन्ध्रं परस्य जानाति यः स मध्यमपूरुषः ॥१९॥

ब्रह्म स्वरूप निश्चय करके इस संसार समुद्र को गाहता है (इसमें आत्मरूप से प्रवेश द्वारा थाहता है) सोई पुरुष कहा गया है ॥८॥ हृदय में स्थिर आनन्द स्वरूप स्वयं प्रकाश तिस पुरुष=देह रूप में स्थित आत्मा को जो नहीं जानता है, वह पुरुष नपुंसक है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ९ ॥ और यह पुरुष ही वस्तुतः स्त्री है, जिससे उसके स्वरूप से भिन्न उसका पति स्वामी है, जैसे स्त्री को पति रहता है, और स्थूल स्तन वाली भी मैं स्त्री नहीं हूँ, यह गार्गी का कथन है ॥ १० ॥ हे द्विजोत्तम ! चाहे शरीर से जैसे तैसे हों, परन्तु जो आत्मज्ञान से पूर्ण हैं, वे ही पुरुष कहे गये हैं ॥ ११ ॥ स्त्री के समान अज्ञ पुरुष काम क्रोधादि रूप भुजगों=वेश्यापतियों सर्पों से भोगा जाता है, वशी किया जाता है, इससे वह अज्ञ वाराङ्गना=वेश्या तुल्य है, मैं किसी प्रकार भी एवं नहीं हूँ ॥ १२ ॥ सम्यक् उत्पन्न क्रोध को जो क्षमा अस्त्र से नष्ट, निवारण, त्याग करता है, जैसे सर्प जीर्ण त्वक् को त्यागता है, वही पुरुष कहा जाता है ॥ १३ ॥ जिस की विद्या मोक्ष के लिये है, परोपकार रूप जीवन है, वही साधु, धीर, पण्डित, महान् है, इस प्रकार कवि लोग कहते हैं ॥ १४ ॥ बहुत प्रकाश=अनुभव वाला धैर्ययुक्त काम्यकर्म की विधानेच्छा और असूया से रहित, अक्रोधी बुद्धिमान् दान्त जो मनुष्य है, सो सात्त्विक है ॥ १५ ॥ वह सात्त्विक जब तक असंबुद्ध= अज्ञ रहता है, तब तक लोक के व्यवहार चरित्र से दुःखी होता है, ज्ञातव्य तत्त्व को जब समझता है, तब लोक व्यवहार की निन्दा करता है, उसे त्यागता है ॥ १६ ॥ सात्त्विक में विराग का स्वरूप प्रथम ही प्रवृत्त होता है, और अहङ्कार मृदु=अतीक्ष्ण होता है, फिर जो आर्जव=ऋजुता-अवक्रता है सो प्रकट होती है ॥ १७ ॥ जो सब के भाव = सत्ता-विभूति शुभ को चाहता है, किसी के अभाव=नाशादि में मन नहीं लगाता, वह सत्य वक्ता मृदु=कोमल दान्त पुरुष उत्तम है ॥ १८ ॥ जो अनर्थक सान्त्वना नहीं करता=झूठ बोलकर किसी को शान्त नहीं करता किन्तु दान की प्रतिज्ञा करके देता है, और अन्य

न श्रद्दधाति कल्याणं परेभ्योप्यात्मशङ्कितः । निराकरोति मित्राणि यो वै सोऽधमपूरुषः ॥२०॥
उत्तमानेव सेवेत प्राप्तकाले तु मध्यमान् । अधमांस्तु न सेवेत य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥२१॥
यादृशैः सन्निविशते यादृशांश्चोपसेवते । यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः ॥२२॥
महाभा० उद्योगप० अ० ३६ ॥
सर्वसाम्यमनायासः सत्यवाक्यं च भारत ! । निर्वेदश्चाविधित्सा च यस्य स्यात्स सुखी नरः ॥२३॥
एतान्येव पदान्याहुः पञ्च वृद्धाः प्रशान्तये । एष स्वर्गश्च धर्मश्च सुखं चानुत्तमं मतम् ॥२४॥
तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च । अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः ॥२५॥
महाभा० शान्तिप० अ० १७७॥ श्रीभीष्मोक्तिः ॥
कुर्वते ये तु कर्माणि श्रद्दधाना विपश्चितः । अनाशीर्योगसंयुक्तास्ते धीराः साधुदर्शिनः ॥२६॥
महाभा० आश्वमेधिकप० अ० ५०।६ ॥

स्वर्गस्थितानामिह जीवलोके, चत्वारि तेषां हृदये वसन्ति ।
दानं प्रशस्तं मधुरा च वाणी, देवार्चनं ब्राह्मणतर्पणं च ॥ २७ ॥
कार्पण्यवृत्तिः स्वजनेषु निन्दा, कुचेलता नीचजनेषु भक्तिः ।
अतीव रोषः कटुका च वाणी, नरस्य चिह्नं नरकागतस्य ॥ २८ ॥

नवनीतोपमा वाणी करुणाकोमलं मनः । धर्मबीजप्रसूतानामेतत्प्रत्यक्षलक्षणम् ॥२९॥
दयादरिद्रहृदयं वचः क्रकचकर्कशम् । पापबीजप्रसूतानामेतत्प्रत्यक्षलक्षणम् ॥३०॥ पद्मपु० खं० १ अ० ५१॥

शत्रुओं के रन्ध्र=छिद्र दोषों को जानता है, सो मध्यम पुरुष है ॥१९॥ जो गुरु पिता माता आदि के कल्याण रूप शुभ वचन को श्रद्धा पूर्वक नहीं सुनता, शुभ कर्मादि में श्रद्धा नहीं रखता, और पर = उत्तम गुरु आदि से भी शंकायुक्त मन वाला रहता है, तथा मित्रों का त्याग करता है, सो अधम पुरुष है ॥ २० ॥ जो अपनी विभूति चाहे सो उत्तमों को सदा सेवे, और किसी विशेष समय के आने पर मध्यमों को सेवे, अधमों को कभी नहीं सेवे ॥ २१ ॥ क्योंकि जैसे पुरुषों के साथ बैठता सोता है, जैसे को सेवता है, और जैसा होना चाहता है, वैसा ही पुरुष होता है ॥ २२ ॥ हे भारत ! जिस को सब में समता, अनायास सत्यवाक्य, विराग, विधानेच्छा का अभाव, ये सब रहते हैं, वही मनुष्य सुखी होता है ॥ २३ ॥ इन पाँचों को ही वृद्ध लोग श्रेष्ठ शान्ति के लिये स्थान वस्तु रूप कहते हैं, यही स्वर्गधर्म और सर्वोत्तम सुख माना गया है ॥ २४ ॥ जिस के लिए प्रिय अप्रिय सुख दुःख अतीत अनागत ये दोनों तुल्य हैं, वही रागद्वेषादि रहित सन्तोषी मनुष्य, सब धन वाला है ॥ २५ ॥ जो अनिच्छा निराशा रूप योग से संयुक्त होकर श्रद्धालु विद्वान् कर्मों को करते हैं, वे ही धीर और साधुदर्शी=सत्य के ज्ञानी हैं ॥ २६ ॥ जो प्रथम स्वर्ग में स्थिर रहे, पीछे इस जीव लोक=भूमि में आये हैं, तिनके हृदय में, प्रशस्त= श्रेष्ठ दान, मधुरवाणी, देवपूजा, ब्राह्मण तर्पण=तृप्ति ये चार बसते हैं ॥ २७ ॥ नरक से आये हुए मनुष्य की कृपणता से वृत्ति=जीविका, स्वजनों में निन्दा, कुवस्त्रता, नीच जनों में प्रेम, अत्यन्त क्रोध, कटु वाणी ये सब चिह्न हैं ॥ २८ ॥ नवनीत=मक्खन के तुल्य कोमल वाणी, दया से कोमल मन, ये दोनों धर्म बीज से जन्मने वालों के प्रत्यक्ष लक्षण हैं ॥ २९ ॥ और दया के दरिद्र=दयारहित मन, आरा तुल्य

दृष्टिः प्रसन्ना मधुरा च वाणी, मत्तेभतुल्या च गतिः प्रशस्ता ।
एकैककूपप्रभवाश्च रोमाः सत्त्वप्लुतं हासमनुल्वणं च ॥३१॥
श्रान्तस्य यानमशनं च बुभुक्षितस्य पानं तृषा परिगतस्य परेषु रक्षा ।
एतानि यस्य पुरुषस्य भवन्ति काले तं धन्यमाहुरधिभूमि नरं द्विजेन्द्राः ॥३२॥

पद्मपु० खं० २।८।४२-४३ ॥

क्षणकोपा महान्तो वै पापिष्ठाः कल्पकोपनाः । जलं स्वभावतः शीतं पावकातपयोगतः ॥
उष्णं भवति तच्छीघ्रं तद्विना शिशिरं भवेत् ॥३३॥ देवीभा० स्क० ३।१० ॥

सत्ययुक्ता भवन्त्यत्र वीतरागा गततृषः । दृष्टान्तदर्शनार्थाय निर्मितास्ते च तादृशाः ॥३४॥

देवीभा० स्क० ४।४ ॥

मौनवान्निरहम्भावो निर्मलो मुक्तमत्सरः । यः करोति गतोद्वेगं महाकर्त्ता स उच्यते ॥३५॥
स्वभावेनैव यः शान्तः समतां न जहाति वै । शुभाशुभं ह्याचरन् यो महाकर्त्ता स उच्यते ॥३६॥
न किञ्चन द्वेष्टि तथा, न किञ्चिदभिकाङ्क्षति । भुङ्क्ते च प्रकृतं सर्वं महाभोक्ता स उच्यते ॥३७॥
धर्माधर्मौ सुखं दुःखं तथा मरणजन्मनी । धिया येनेति सन्त्यक्तं महात्यागी स उच्यते ॥३८॥

योगवा० प्र० ६।११५।१३-१६-२१-२३ ॥

एतावान् पुरुषस्तात ! कृतं यस्मिन्न नश्यति । यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्यादभ्यधिकं ततः ॥३९॥

महाभा० आदिप० अ० १५६।१४ ॥

कर्कश=कठोर वाणी ये दोनों पाप बीज से जन्मने वालों के प्रत्यक्ष लक्षण हैं ॥ ३० ॥ प्रसन्न दृष्टि, मधुर-वाणी, मत्तहाथी के तुल्य श्रेष्ठ गमन, एक २ रोम कूप जन्य एक २ रोम, सत्त्वगुण से व्याप्त अनुल्वण=अव्यक्त हास, श्रान्त को यान=वाहन, भूखे को भोजन पिपासित को पानी, अन्य की रक्षा, जिस पुरुष के ये सब समय के अनुसार होते हैं, श्रेष्ठ द्विज उस मनुष्य को भूमि में धन्य=पुण्यात्मा कहते हैं ॥ ३१-३२ ॥ महान् लोग क्षणिक क्रोध वाले होते हैं, पापी कल्प पर्यन्त क्रुद्ध रहता है, स्वभाव से शीतल जल, अग्नि और आतप के सम्बन्ध से उष्ण होता है, परन्तु वह शीघ्र ही अग्नि के अभाव से शिशिर=शीतल, होता है ॥ ३३ ॥ वीतराग=विरक्त तृष्णा रहित मनुष्य संसार में सत्ययुक्त होते हैं, और वैसे वे मनुष्य दृष्टान्त देखाने के लिये रचे गये हैं, बहुत नहीं हैं ॥ ३४ ॥ मौनी अहन्ता रहित निर्मल=काम लोभादिरहित मत्सर रहित हो कर जो उद्वेग बिना कर्तव्य कर्म करता है, सो महाकर्ता कहलाता है ॥ ३५ ॥ जो मित्र शत्रु आदि के लिये शुभ अशुभ आचार करता हुआ भी स्वभाव से शान्त होने के कारण समता को नहीं त्यागता है, रागद्वेष के बिना शुभाशुभ समयादि के अनुसार करता है, सो महाकर्ता कहलाता है ॥ ३६ ॥ न किसी को द्वेष करता=त्यागता है, न लेना चाहता है, सब प्रकृत=प्रारब्धाधीन प्राप्त, सुख दुःख को भोगता है, सो महाभोक्ता कहलाता है ॥ ३७ ॥ धर्माधर्म सुख दुःख जन्म मरण को मिथ्या समझ कर समता बुद्धि से जिसने त्यागा है, सो महात्यागी कहलाता है ॥ ३८ ॥ हे तात ! पुरुष का स्वरूप इतना ही है, कि-जिस में किसी से किया गया हित उपकार नष्ट नहीं होता है, जो उस उपकारक को नहीं भूलता है, इससे जितना हित अन्य कोई इस का करे, तिससे अधिक यह करे तो पुरुष है ॥ ३९ ॥

अथ त्रिलोक विजयी

जलाशयाश्च वृक्षाश्च विश्रामगृहमध्वनि । सेतुः प्रतिष्ठितो येन तेन लोकत्रयं जितम् ॥४०॥
सन्तुष्टौ पितरौ यस्मिन्ननुरक्ताः सुहृद्गणाः । गायन्ति यद्यशो लोकास्तेन लोकत्रयं जितम् ॥४१॥
सत्यमेव व्रतं यस्य दया दीनेषु सर्वथा । कामक्रोधौ वशे यस्य तेन लोकत्रयं जितम् ॥४२॥
विरक्तः परदारेषु निःस्पृहः सर्ववस्तुषु । दम्भमात्सर्यहीनो यस्तेन लोकत्रयं जितम् ॥४३॥
न विभेति रणाद्यो वै संग्रामेष्वपराङ्मुखः । धर्मयुद्धे मृतो वापि तेन लोकत्रयं जितम् ॥४४॥
ज्ञानिना लोकयात्रायै सर्वत्रः समदृष्टिना । क्रियन्ते येन कर्माणि तेन लोकत्रयं जितम् ॥४५॥

इत्येकादशं पुरुषभेदप्रकरणं समाप्तम् ॥ महानिर्वाणतं० उल्लास० ८ ॥

अथ स्त्री भेदः ॥ १२ ॥

गृहस्थस्य हि साध्वी स्त्री साधो वैं सुखदा सदा । असाधोस्तु जगद् दुःखं किं नासाध्वी करिष्यति ॥१॥
विरक्तेन हि साध्वी स्त्री द्रष्टव्या मातृवत्सदा । नरकवच्छवचान्या भुजङ्गी कालरात्रिवत् ॥२॥ यतः—
वरमग्नौ स्थिति हिंस्रजन्तूनां सन्निधौ सुखम् । ततोऽपि दुःखं पुंसां च दुष्टस्त्रीसन्निधौ ध्रुवम् ॥३॥
सुसाध्या यस्य पत्नी च सुशीला च पतिव्रता । इह स्वर्गसुखं तस्य धर्ममोक्षौ परत्र च ॥४॥

ब्रह्मवैवर्त्तपु० प्रकृतिखं० अ० ६।६०–६६ ॥

अथ त्रिलोक विजयी—जिसने जलाशय=तालावादि खुदवाया, वृक्ष रोपा, इससे जिससे जलाशय-वृक्ष सिद्ध हुए, मार्ग में विश्राम के लिये जिसने गृह बनाए, पुल को प्रतिष्ठित=स्थिर किया, उसने तीनों लोक को जीता, उससे सब लोक जीते गये ॥ ४० ॥ जिसके आचरणादि से उसके ऊपर माता पिता सन्तुष्ट=प्रसन्न रहते हैं, और सुहृद् गण अनुराग युक्त रहते हैं और जिसके यश को लोक गाते हैं, उससे तीनों लोक जीते गये हैं ॥ ४१ ॥ जिसका सत्य ही व्रत = नियम है, दीन प्राणियों में सर्वथा जिस की दया है, काम कोध जिसके वश में हैं, उससे तीनों लोक जीते गये हैं ॥ ४२ ॥ जो पर = अन्य की स्त्रियों में रागरहित है, सब वस्तु में इच्छा रहित है, दम्भ मत्सर से रहित है, उससे तीनों लोक जीते गये हैं ॥ ४३ ॥ जो धर्मयुद्ध से नहीं डरता है, संग्रामों = युद्धों में युद्ध से विमुख नहीं होता है, वा जो धर्मयुद्ध में मरा है, उस ने तीनों लोक को जीता है ॥ ४४ ॥ सर्वत्र समदृष्टि वाले जिस ज्ञानी से लोक यात्रा = लोकों के निर्वाह के लिये कर्म किये जाते हैं, उस से तीनों लोक जीते गये हैं ॥ ४५ ॥

ग्यारहवाँ पुरुषभेदप्रकरण समाप्त ॥

अथ स्त्री भेद—साधु गृहस्थ को साध्वी स्त्री सदा सुखदा होती है, असाधु को तो सब जगत् दुःख रूप है, कहीं असाध्वी स्त्री मिली तो वह क्या नहीं करेगी ? ॥ १ ॥ विरक्त पुरुष साध्वी स्त्री को सदा माता तुल्य देखे, और अन्य को नरक, मुर्दा, सर्पिणी और कालरात्रि तुल्य देखे ॥ २ ॥ जिससे अग्नि में रहना भला है, हिंसक प्राणियों के पास में सुख है, पुरुषों को अग्नि, हिंसक से भी अधिक दुःख दुष्ट स्त्री के पास में अवश्य होता है ॥ ३ ॥ जिसकी पत्नी = स्त्री सुसाध्या = वश में आज्ञा में रहने वाली सुन्दर स्वभाव वाली पतिव्रता रहती है, उस को यहाँ स्वर्ग का सुख मिलता है, परलोक में धर्म और मोक्ष मिलता है ॥ ४ ॥

पृथिव्यां यानि तीर्थानि सतीपादेषु तान्यपि । तेजश्च सर्वदेवानां मुनीनां च सतीषु च ॥५॥
सतीनां पादरजसा सद्यः पूता वसुन्धरा । पतिव्रतां नमस्कृत्य मुच्यते पातकान्नरः ॥६॥
पतिव्रता चैकपत्नी द्वितीये कुलटा स्मृता । तृतीये धर्षिणी ज्ञेया चतुर्थे पुंश्चली स्मृता ॥७॥
वेश्या च पञ्चमे षष्ठे युग्मी च परिकीर्त्तिता । अत ऊर्ध्वं महावेश्या साऽस्पृश्या सर्वजातिषु ॥८॥

ब्रह्मवै० कृष्णजन्मखं० अ० ८३ ॥

उरो मुखं स्तनं स्त्रीणां कटाक्षं हास्यमेव च । विनाशबीजं रूपं च विपदां कारणं सदा ॥९॥

ब्रह्मवै० कृ० ज० खं० अ० ७५।२१ ॥

यस्य चित्तं परस्त्रीषु सोऽशुचिः सर्वकर्मसु । न कर्मफलभाक् पापी निन्द्यो विश्वेषु सर्वतः ॥१०॥

ब्रह्मवै० प्रकृतिखं० अ० ५८।३० ॥

पतिरेव गतिः स्त्रीणां पतिः प्राणाश्च सम्पदः । धर्मार्थकाममोक्षाणां हेतुः सेतु र्भवार्णवे ॥११॥
पति र्नारायणः स्त्रीणां व्रतं धर्मः सनातनः । सर्वकर्म वृथा तासां स्वामिनां विमुखाश्च याः ॥१२॥
स्नानं च सर्वतीर्थेषु सर्वयज्ञेषु दक्षिणा । सर्वदानानि पुण्यानि व्रतानि नियमाश्च ये ॥१३॥
देवार्चनं चानशनं सर्वाणि च तपांसि च । स्वामिनः पादसेवायाः कलां नार्हति षोडशीम् ॥१४॥
सगुणं निर्गुणं वापि द्वेष्टि या सन्त्यजेत्पतिम् । पच्यते कालसूत्रे सा यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥१५॥
गृध्रः कोटिसहस्राणि शतजन्मानि शूकरः । श्वापदः शतजन्मानि सा भवेद् बन्धुहा ततः ॥१६॥
ततो मानवजन्मानि लभेच्चेत्पूर्वकर्मणः । विधवा धनहीना च रोगयुक्ता भवेद् ध्रुवम् ॥१७॥

ब्रह्मवै० ब्रह्मखं० अ० ९ ॥ दक्षकन्योक्तिः ॥

पृथिवी में जितने तीर्थ हैं, सो सब ही सती के चरणों में हैं, और सब देव, मुनियों का तेज संतियों में है ॥ ५ ॥ सती के पदरज से भूमि शीघ्र पवित्र होती है, और पातकी नर पतिव्रताओं को नमस्कार कर के पातक से मुक्त होता है ॥ ६ ॥ एक पति की स्त्री पतिव्रता होती है, दूसरे पति से कुलटा, तीसरे से धर्षिणी, चौथे से पुंश्चली, कही गई है ॥ ७ ॥ पञ्चम से वेश्या, षष्ठ से युग्मी कही गई है, इसके आगे महावेश्या कहलाती है, वह किसी जाति में स्पर्श के योग्य नहीं है ॥ ८ ॥ अन्य की स्त्री वेश्या आदि के उर=वक्ष मुखं स्तन कटाक्ष = अपाङ्ग से दर्शन हास्य ये सब विनाश के बीज हैं, और उसका रूप सदा विपत्तियों का कारण है ॥ ९ ॥ जिस का चित्त अन्य की स्त्रियों में लगा है, सो सब कर्मों में अपवित्र है, सब संसार में सर्वत्र निन्दा योग्य वह पापी कर्मफल का भागी नहीं होता है ॥ १० ॥ स्त्रियों का पति ही गति=आश्रय, प्राण और सम्पत्ति है, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का हेतु है, तथा संसार समुद्र का पुल है ॥ ११ ॥ स्त्रियों का पति ही नारायण, व्रत, सनातन धर्म रूप है, उन स्त्रियों के सब कर्म व्यर्थ हैं कि जो स्वामी से विमुख हैं ॥ १२ ॥ सब तीर्थों में स्नान, सब यज्ञों में दक्षिणा का दान, पवित्र अन्य सब दान, व्रत, नियम, देवार्चन, उपवास, सब तप, ये सब, पति की पद सेवा के षोडशांश तुल्य स्त्री के लिये नहीं हैं ॥ १३-१४ ॥ जो स्त्री सगुण वा निर्गुण पति का अनादर, द्वेष वा त्याग करती है, सो जब तक सूर्य और चन्द्रमा हैं, तब तक कालसूत्र नरक में पकता है ॥ १५ ॥ वह कोटि हजार जन्म में गीध होती है, सौ जन्म में शूकर होती है, सौ जन्म में कुत्ता तुल्य पैर वाली होती है, उस के बाद बन्धुहा होती है ॥ १६ ॥ उस के बाद यदि पूर्व के

दारग्रहोऽतिदुःखाय केवलं न सुखाय च । तपःकर्मभक्तिमुक्तिकर्मणां व्यवधायकः ॥१८॥
योषितस्त्रिविधा ब्रह्मन् गृहिणां मूढचेतसाम् । साध्वी भोग्या च कुलटास्ताः सर्वाः स्वार्थतत्पराः ॥१९॥
परलोकभिया साध्वी तथेह यशसात्मनः । कामस्नेहाच्च कुरुते भर्त्तुः सेवां च सन्ततम् ॥२०॥
भोग्या भोगार्थिनी शश्वत्कामस्नेहेन केवलम् । कुरुते कान्तसेवां च न च भोगादृते क्षणम् ॥२१॥
कुलाङ्गारसमा नारी कुलटा कुलनाशिनी । कपटात्कुरुते सेवां स्वामिनो न च भक्तितः ॥२२॥
ब्रह्मवै० ब्रह्मखं० अ० २३।२० । इत्यादि । नारदोक्तिः ॥
मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे । स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम् ॥२३॥
इतः केशा इतो रक्तमितीयं प्रमदातनुः । किमेतया निन्दितया करोति विपुलाशयः ॥२४॥
ललनाऽऽलानसंलीना मुने ! मानवदन्तिनः । प्रबोधं नाधिगच्छन्ति दृढैरपि शमाङ्कुशैः ॥२५॥
केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः । दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम् ॥२६॥
यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्व भोगभूः ।
स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥ २७ ॥ योगवासिष्ठप्र० १।२१ ॥
पत्तनं साहसानां च नरकस्यैव कारणम् । योनिकुण्डमिदं सृष्टं कुम्भीपाकसमं भुवि ॥२८॥
तावद्धृष्टमनः स्थैर्यं श्रुतं सत्यमनाकुलम् । यावन्मत्ताङ्गनाग्रे न वागुरेव विचेतसाम् ॥२९॥
तावत्तपोऽभिवृद्धिस्तु तावद्दानं दया दमः । तावत्स्वाध्यायवृत्तं च तावच्छौचं धृतं व्रतम् ॥३०॥

कर्म से मनुष्य जन्म पाती है, तो विधवा, धनहीन, रोगयुक्त अवश्य होती है ॥ १७ ॥ तप रूप कर्म भक्ति और मुक्ति के हेतु कर्म के व्यवधायक जो दारग्रह=विवाह है, सो केवल अत्यन्त दुःख के लिये है, सुख के लिये नहीं है ॥ १८ ॥ हे ब्रह्मन् ! मूढ़ चित्त वाले गृहस्थों की साध्वी, भोग्या, कुलटा ये तीन प्रकार की स्त्रियाँ होती हैं, सो सब स्वार्थ परायण होती हैं ॥ १९ ॥ साध्वी स्त्री परलोक के भय से अपने यश रूप हेतु से काम निमित्तक स्नेह से. पति की सेवा सदा करती है ॥ २० ॥ भोग चाहने वाली भोग्या केवल काम जन्य स्नेह से सदा पति की सेवा करती है, भोग बिना क्षण मात्र भी नहीं करती है ॥ २१ ॥ कुल के अङ्गार के तुल्य कुल को नष्ट करने वाली कुलटा स्त्री कपट से पति की सेवा करती है, भक्ति प्रेम से नहीं करती ॥ २२ ॥ मांस के पांचालिका=प्रतिमा रूप स्नायु=शिरा की ग्रन्थियों से शोभने वाली का यन्त्र तुल्य चञ्चल अङ्ग=देह रूप पञ्जर=पिञ्जर में शोभन तुल्य क्या है ? ॥ २३ ॥ इधर केश हैं, तो इधर रक्त है, यही सब स्त्री के देह हैं, इस निन्दित देह से पूर्ण विवेकी क्या करेगा ? ॥२४॥ हे मुने ! स्त्री रूप आलान=बन्धन, स्तम्भ में संलीन=आसक्त, मनुष्य रूप हाथी, दृढ़ शम रूप अङ्कुश से भी प्रबोध=विवेक नहीं पाते हैं ॥ २५ ॥ केश और कज्जल को धारण करने वाली पापाग्नि की शिखा=ज्वाला रूप दुःस्पर्शा=स्पर्शायोग्य लोचन प्रिया स्त्रियाँ मनुष्य को तृण तुल्य जलाती हैं ॥ २६ ॥ जिस को स्त्री है, उस को भोग की इच्छा होती है, स्त्रीरहित को भोग के स्थान की संभावना कहाँ है ? स्त्री को त्याग कर रहने वाले का जगत् स्वयं त्यक्त होता है, और जगत् को त्याग कर सुखी होता है ॥ २७ ॥ साहस=दण्ड अविवेक का पत्तन=नगर नरक का ही कारण यह योनि रूप कुण्ड कुम्भीपाक नरक तुल्य भूमि में रचा गया है ॥ २८ ॥ तब तक हर्ष युक्त मन है, स्थिरता, श्रवण, अनाकुल सत्य रहते हैं, जब तक असमाहित चित्तवालों के आगे वागुरा तुल्य जाल के समान, काममद से मत्ता स्त्री नहीं है ॥ २९ ॥ तप की वृद्धि है, दान दया

तावन्माता पिता तावद् भ्राता तावत्सुहृज्जनः। तावल्लज्जा भयं तावत्स्वाचारस्तावदेव हि ॥३१॥
ज्ञानमौदार्यमैश्वर्यं तावदेव हि भासते। यावन्मत्ताङ्गनापाशैः पातितो नैव बन्धनैः ॥३२॥

स्कन्दपु० ब्रह्मखं० धर्मारण्यमा० अ० ३।८१।इत्यादि ॥

उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः। मन्वादयस्तथाऽन्येऽपि स्त्रीबुद्धेस्तत्र किञ्च न ॥३३॥
कारा सन्तानकूटस्य संसारवनवागुरा। स्वर्गमार्गमहागर्त्ता पुंसां स्त्री वेधसा कृता ॥३४॥
वेधसा बन्धनं किञ्चिन्नृणामन्यदपश्यता। स्त्रीरूपेण ततः कोऽपि पाशोऽयं सुदृढः कृतः ॥३५॥

स्कन्दपु० खं० ६।१५८ ॥

या नारी तु पतिं त्यक्त्वा मनोवाक्कायकर्मभिः। रहः करोति वै जारं गत्वा वा पुरुषान्तरम् ॥३६॥
तेन कर्माविवेकेन सा नारी विधवा भवेत्। यः स्वनारीं परित्यज्य निर्दोषां कुलसम्भवाम् ॥३७॥
परदाराररतो हि स्यादन्यां वा कुरुते स्त्रियम्। सोऽन्यजन्मनि देवेशि! स्त्री भूत्वा विधवा भवेत् ॥३८॥

स्कन्दपुरा० ॥

जाया त्वर्द्धं शरीरस्य नृणां धर्मादिसाधने। नातस्तासु व्यथां काञ्चित्प्रतिकूलं समाचरेत् ॥३९॥

भविष्यपु० प० १।८।३७ ॥

वसिष्ठश्चन्द्रमाः शुक्रो देवाचार्यः पितामहः। तपोवृद्धा वयोवृद्धास्तेऽपि स्त्रीभिर्विमोहिताः ॥९०॥
गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेयास्त्रिविधाः सुराः। चतुर्थी स्त्री सुरा ज्ञेया ययेदं मोहितं जगत् ॥४१॥
माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा तु माद्यति। यस्माद् दृष्टमदा नारी तस्मात्तां नावलोकयेत् ॥४२॥

अग्निपु० अ० ३७२।११। इत्यादि ॥

दम, स्वाध्यायरूप, सद्वृत्त, शौच, धृत व्रत, माता पिता आदि ये सब तब तक कर्तव्य सेव्यादि रूप से भासते हैं, कि जब तक मत्तस्त्री रूप पाशों द्वारा बन्धनों से गिराया नहीं गया है ॥ ३०–३२ ॥ शुक्र बृहस्पति मनु आदि तथा अन्य भी जिस शास्त्र को जानते हैं, स्त्री में आसक्त बुद्धि से उन शास्त्रों में कुछ भी ज्ञान फल नहीं मिलता है ॥३३॥ सन्तान समूह का कारागार और संसार वन का वागुरा=जाल स्वर्गमार्ग का गर्त रूप स्त्री पुरुषों के लिये ब्रह्मा ने की है ॥ ३४ ॥ ब्रह्मा ने मनुष्यों के अन्य बन्धन नहीं देखकर स्त्री रूप कोई अपूर्व अतिदृढ़ यह बन्धन बनाया ॥३५॥ जो स्त्री पति को त्याग कर मन वचन और कायिक कर्मों द्वारा एकान्त स्थान में जार का स्वीकार करती है. वा पुरुषान्तर को प्राप्त करके कहीं जाकर जार को स्वीकृत करती है ॥३६॥ सो जार करने वाली स्त्री उस कर्म युक्त अविवेक से जन्मान्तर में विधवा होगी, और हे देवेशि ! जो पुरुष सुकुल में उत्पन्न निर्दोष अपनी स्त्री को त्यागकर अन्य की स्त्री से प्रेम करता है, वा अन्य स्त्री करता है, सो भी अन्य जन्म में स्त्री होकर विधवा होगा ॥ ३७–३८ ॥ धर्मादि के साधन यज्ञादि में मनुष्यों के शरीर का आधा भाग जाया=स्त्री है, इससे उसमें कोई व्यथा = दुःख नहीं करे, न प्रतिकूल = विरुद्ध व्यवहार करे ॥ ३९ ॥ और तपोवृद्ध = श्रेष्ठतपस्वी अवस्था में भी वृद्ध वसिष्ठ, चन्द्रमा, शुक्र, देवाचार्य = बृहस्पति पितामह = ब्रह्मा ये लोग भी स्त्रियों से विमोहित हुए ॥ ४० ॥ क्योंकि गौडी = गुड रचित, पैष्टी = पिष्टरचित, माध्वी = मधुरचित, यह तीन प्रकार की सुरा = मदिराएँ हैं, और चौथी स्त्री रूप सुरा समझना चाहिये कि जिससे यह सब जगत् मोहयुक्त होता है ॥ ४१ ॥ सुरा को तो पी कर मातता है, परन्तु स्त्री को देखकर ही मात जाता है, और जिससे नारी दृष्टमदा (देखने से

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् । तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति गीयते ॥४३॥

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् । अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥४४॥

मनु०स्मृ० अ० १।११-३२ ॥

न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति ॥४५॥ ऋग्वे० मं० १०।९५।१५ ॥

न वै स्त्रैणं सख्यमस्ति ॥४६॥ शतपथब्रा० ११।५।१।९ ॥

क्वापि सख्यं न वै स्त्रीणाम् ॥४७॥ भागवतस्क० ९।१४ ॥

इति द्वादशं स्त्रीभेदप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ पुत्रः ॥ १३ ॥

आज्ञायाः पालकः पित्रोः स्वधर्मस्य च पालकः । पित्रादेः पालकः सम्यक् सुपुत्रो विदुषां मतः ॥१॥

कुपुत्रः क्लेशदो लोके त्वसौख्यं बहुपुत्रता । बहुसत्पुत्रता यस्माद् दुर्लभा सर्वथा भुवि ॥२॥ अतः—

बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश, बहुप्रजा कृच्छ्रमापद्यते च ॥ ३ ॥ इति निरुक्त उक्तम् ॥

प्रतिकूलः पितुर्यश्च न स पुत्रः सतां मतः । मातापित्रोर्वचनकृद्धितः सत्यश्च यः सुतः ॥४॥

स पुत्रः पुत्रवद्यश्च वर्त्तते पितृमातृषु ॥ ५ ॥

यः पुत्रो गुणसम्पन्नो मातापित्रोर्हितः सदा । सर्वमर्हति कल्याणं कणीयानपि सत्तमः ॥६॥

महाभा० आदिप० अ० ८५।२५-३० ॥

मादक) है, अतः तिस पर नारी वेश्या आदि को देखे भी नहीं ॥ ४२ ॥ जो वह लोक शास्त्र में प्रसिद्ध जगत् का कारण अव्यक्त (नेत्रादि का अविषय) नित्यसदसदात्मक (भावाभाव कार्यकारण स्वरूप) ब्रह्म साक्षी स्वरूप ईश्वर है, उसी से विसृष्ट = उत्पादित वह पुरुष लोक में ब्रह्मा कहा जाता है ॥ ४३ ॥ सो ब्रह्मा अपने देह को दो खंड में विभक्त करके आधे से पुरुष और आधे से स्त्री हुए उसमें विराट को जन्माये ॥ ४४ ॥ स्त्री सम्बन्धिनी मित्रता प्रेम स्थिर रहने वाली वस्तु नहीं है ॥ ४५ ॥ इससे वह सख्य वस्तुतः नहीं है ॥ ४६ ॥ और स्त्रियों की मित्रता कहीं नहीं रहती है ॥ ४७ ॥

बारहवाँ स्त्री भेद प्रकरण समाप्त ॥

अथ पुत्र—माता पिता का आज्ञाकारी, अपने धर्मों का रक्षक, पिता आदि का सम्यग् सेवक सुपुत्र विद्वानों द्वारा मान्य है ॥ १ ॥ एक भी कुपुत्र लोक में क्लेश = पीड़ा देता है, और बहुत पुत्र असुख = दुःख स्वरूप हैं, जिससे बहुत सत्पुत्र होना भूमि में सर्वथा दुर्लभ हैं ॥ २ ॥ इससे निरुक्त में कहा है कि बहुत पुत्र वाला निर्ऋति = नरक की अलक्ष्मी में गया, और कृच्छ्र = कष्ट पाता है ॥ ३ ॥ पिता के जो प्रतिकूल = विरोधी है, वह पुत्र सत्पुरुषों को मान्य नहीं है, माता पिता का आज्ञाकारी हित जो है, सो सच्चा पुत्र है ॥४॥ वही पुत्र है जो पुत्र के समान माता पिता में वर्त्तता है ॥५॥ गुणयुक्त धर्मात्मा जो पुत्र माता पिता का सदा हित रहता है, सो कणीयान = लघु होता हुआ भी सत्तम = अतिश्रेष्ठ सब कल्याण के योग्य होता है ॥ ६ ॥

प्रत्युपकुर्वन् बह्वपि न भाति पूर्वोपकारिणा तुल्यः । एकः करोति हि कृते निष्कारणमेव कुरुतेऽन्यः ॥७॥
माता पिता तथैवाग्नि र्गुरुरात्मा च पञ्चमः । यस्यैते पूजिता पार्थ ! तस्य लोकावुभौ जितौ ॥८॥
यः प्रीणयेत्सुचरितैः पितरं स पुत्रः ॥९॥ इत्यादि ॥ महाभा० शां० प० आपद्ध० प० अ० १३८।८२ इत्यादि ॥
नापुत्रो विन्दते लोकान् कुपुत्राद्वन्ध्यता वरा । कुपुत्रो नरके यस्मात्सुपुत्रात्स्वर्ग एव हि ॥१०॥
हरिवं० भविष्यप० अ० ७३।३३ ॥
सर्वेषामपि वन्द्यानां जनकः परमो गुरुः । विद्यादाता मन्त्रदाता द्वौ समौ च पितुः परौ ॥११॥
स च शिष्यः सोऽपि पुत्रो यश्चाज्ञां पालयेद् गुरोः । न क्षेमं तस्य मूढस्य यो गुरोरवचस्करः ॥१२॥
स पण्डितः स च ज्ञानी स क्षेमी स च पुण्यवान् । गुरो र्वचस्करो यो हि क्षेमं तस्य पदे पदे ॥१३॥
ब्रह्मवैवर्त्तपु० अ० २३ ॥
को न लोके मनुष्येन्द्र ! पितुरात्मकृतः पुमान् । प्रतिकर्त्तुं क्षमो यस्य प्रसादाद् विन्दते परम् ॥१४॥
उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात्प्रोक्तकारी तु मध्यमः । अधमोऽश्रद्धया कुर्यादकर्त्तोच्चरितं पितुः ॥१५॥
भागव० स्क० ९।१८।४३-४४। ययाति प्रति पुरोरुक्तिः ॥
सर्वार्थसम्भवो देहो जनितः पोषितो यतः । न तयो र्याति निर्वेशं पित्रो र्मर्त्त्यः शतायुषा ॥१६॥
यस्तयोरात्मजः कल्प आत्मना च धनेन च । वृत्तिं न दद्यात्तं प्रेत्य स्वमांसं खादयन्ति हि ॥१७॥
भागवतस्क० १०।४५।५-६ ॥
बहुभिस्तै र्हि किञ्जातैः पुत्रै र्धर्मविवर्जितैः । वरमेकं पथि तरु र्यत्र विश्रमते जनः ॥१८॥

पीछे बहुत प्रत्युपकार करता हुआ भी मनुष्य पूर्व के उपकारी, माता. पिता, सुहृदादि के समान नहीं भासता शोभता है, क्योंकि एक तो किसी के उपकार करने पर प्रत्युपकार करता है, और अन्य बिना कारण के ही करता है ॥७॥ हे पार्थ ! माता, पिता, अग्नि=परमात्म, देव, गुरु और निजात्मा ये पाँच जिसके पूजित सत्कृतादि हुए, उस के लोक परलोक दोनों जीते गये ॥८॥ जो सुन्दर चरित्रों=कर्मों द्वारा पिता को प्रसन्न सुखी करता है सो पुत्र है ॥९॥ पुत्र रहित लोकों को नहीं पाता है, किन्तु कुपुत्र से बन्ध्यता श्रेष्ठ है, क्योंकि कुपुत्र नरक में प्राप्त कराता है, सुपुत्र से स्वर्ग होता है ॥१०॥ सब वन्दनार्ह=पूज्यों में पिता परम गुरु=श्रेष्ठ है । और पिता से भी श्रेष्ठ विद्या के दाता और मन्त्रोपदेश दाता दोनों तुल्य हैं ॥ ११ ॥ वही शिष्य और पुत्र है, जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है, उस मूढ़ को क्षेम=शुभ नहीं है, जो गुरु का आज्ञाकारी नहीं है ॥ १२ ॥ जो गुरु का आज्ञाकारी है, सोई पण्डित ज्ञानी कल्याण वाला पुण्यवान् है, और उस के पद २ में क्षेम=कल्याण है ॥ १३ ॥ हे मनुष्येन्द्र ! लोक में कौन मनुष्य आत्मकृत=जन्मदाता पिता का प्रत्युपकार करने के लिये क्षम=समर्थ है, कि जिस पिता की प्रसन्नता से पर पद को पाता है ॥ १४ ॥ उत्तम पुत्र पिता के मन में चिन्तित कार्य को भी समझ कर करता है, कथितकार्य को करने वाला मध्यम पुत्र है, अधम पुत्र कथित कार्य को श्रद्धा बिना करता है, सर्वथा नहीं करने वाला पिता का उच्चार=मल रूप है ॥ १५ ॥ सब अर्थ का हेतु रूप देह जिन से जनित=उत्पन्न और पोषित=रक्षित होती है, उन माता पिता दोनों के निर्वेश=भोग वेतन को मनुष्य सौ वर्ष की आयु से पूरा नहीं कर सकता है ॥ १६ ॥ जो समर्थ पुत्र शरीर और धन से उन माता पिता दोनों को वृत्ति=जीविका नहीं देता है, उस को मरने पर उन्हें खाने के लिये अपना मांस देना होता है ॥ १७ ॥ धर्मरहित उन बहुत पुत्रों के उत्पन्न होने से कौन

प्राणिनः प्रीणयन्ति स्म च्छायावल्कलपल्लवैः । घनच्छदाः सुतरवः पुष्पैर्देवान् फलैः पितृन् ॥१९॥
न खानिताः पुष्करिण्यो रोपिता न महीरुहः । मातु र्यौवनचौरेण तेन जातेन किं कृतम् ॥२०॥
भविष्यपु० पर्व० ४ अ० १२८ ॥
एकेनापि सुपुत्रेण विद्यायुक्तेन भासते । कुलं पुरुषसिंहेन चन्द्रेणेव हि शर्वरी ॥२१॥
एकेनापि सुवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धिना । वासितं तद्वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं यथा ॥२२॥
गरुडपु० पूर्वखं० आ० कां० अ० ११४।५६–५७ ॥
येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः । प्रीणाति मातरं येन पृथिवी तेन पूजिता ॥२३॥
येन प्रीणात्युपाध्यायं तेन स्याद् ब्रह्म पूजितम् । सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ॥
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥२४॥ महाभा० अनुशासनप० अ० ७।२५–२६ ॥
अन्धं तमः पिता यस्य दुःखोदधिसमं व्रजेत् । सुतस्य जानतः पुत्रः पितुरुच्चार एव सः ॥२५॥
आत्मपु० अ० ६।२८ ॥
लालनाद् बहवो दोषाः शासनाद् बहवो गुणाः । शिष्यस्त्रीतनयादीनामिति यत्तन्मृषा न हि ॥२६॥
वैरिणी सा च विज्ञेया माता या लालयेत्सुतम् । पितापि च यतः पुत्रो लालितो नरकं व्रजेत् ॥२७॥
मातुः पितुश्च यः शिक्षामाचार्यस्य च नान्धधीः । गृह्णीयाद्यौवने प्राप्ते स क्लेशं याति दारुणम् ॥
इह राजादिजा भीति र्यमजा परजन्मनि ॥२८॥ आत्मपु० अ० १२।३३। इत्यादि ॥
औरसः प्रतिपन्नश्च क्रीतः पालित एव च । शिष्यश्च दत्तजीवश्च तथाऽश्वत्थश्च सप्तमः ॥२९॥

फल है ? मार्ग का एक वृक्ष श्रेष्ठ है कि जहाँ जन विश्राम पाते हैं ॥ १८ ॥ सघन पत्र वाले सुन्दर वृक्ष छाया वल्कल=छाल पत्रों द्वारा प्राणियों को सुख देते हैं, और पुष्पों द्वारा देवों को, फलों द्वारा पितरों को सुखी करते हैं ॥ १९ ॥ जिस ने तालाब नहीं खोदवाया, न वृक्ष रोपा, उस माता के यौवन को चुराने =नाशने वाले ने जन्म लेकर क्या किया ? ॥२०॥ विद्यायुक्त सुपुत्र रूप एक पुरुष श्रेष्ठ से भी कुल भासता =प्रकाशता है, जैसे शर्वरी=रात्रि एक चन्द्रमा से भासती है ॥ २१ ॥ एक ही पुष्पयुक्त सुगन्ध वाले सुवृक्ष से जैसे वह सब वन वासित=सुगन्धयुक्त होता है, तैसे ही सुपुत्र से कुल सुयशयुक्त होता है ॥ २२ ॥ जिस कर्म दानादि से पिता को सुखी प्रसन्न करता है, उसी से प्रजापति भी प्रसन्न होते हैं, और जिससे माता को प्रसन्न करता है, उससे पृथिवी पूजित होती है ॥ २३ ॥ जिससे उपाध्याय=अध्यापक गुरु को प्रसन्न करता है, उससे ब्रह्म पूजित होता है, और जिस के माता, पिता, गुरु ये तीनों आदृत पूजित हैं, उस के सब धर्म भी आदृत हैं । और जिस के ये तीनों अनादृत हैं, उसकी सब क्रिया निष्फल हैं ॥२४॥ जिस पुत्र के जानते हुए उसका पिता दुःख के समुद्र तुल्य अन्ध तम=मोह चिन्ता में प्राप्त होता है, वह पुत्र, पिता के मल के समान ही है ॥२५॥ शिष्य, स्त्री, पुत्रादि के लालन से बहुत दोष होते हैं, और शासन= शिक्षा से बहुत गुण होते हैं, यह जो कथन है मृषा=झूठ नहीं है ॥२६॥ जो माता पुत्र का लालन करती है, शिक्षा नहीं देती, सो पुत्र की वैरिणी समझना चाहिये, लालन करने वाला पिता भी वैरी है, जिससे शिक्षा रहित लालित पुत्र नरक में जाता है ॥ २७ ॥ जो अन्धधी=अविवेकी माता पिता और आचार्य की शिक्षा=उपदेश का ग्रहण नहीं करता है, सो युवा अवस्था के प्राप्त होने पर दारुण=भयंकर क्लेश को पाता है ॥ २८ ॥ औरस = सजातीय स्वभार्या में स्ववीर्य से उत्पन्न, प्रतिपन्न=शरणागत पुत्र रूप से ज्ञात

पुन्नाम्नो नरकाद् घोराद्रक्षन्ति च सदा हि ते । पतन्तं पुरुषं तत्र तेन ते शोभनाः स्मृताः ॥३०॥
क्षेत्रजश्च सहोढश्च कानीनः कुण्डगोलकौ । पञ्चैते पातयन्ति स्म पितॄन् स्वर्गगतानपि ॥३१॥
स्कन्दपु० खं० ६। अ० २२३ ॥
पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते । अथ पौत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥३२॥
पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः । तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥३३॥
मनुस्मृ० अ० ९।१३७-३८ ॥
स्वाध्यायेन ऋषीन् पूज्य सोमेन च पुरन्दरम् । प्रजया च पितॄन् पूर्वाननृणो दिवि मोदते ॥३४॥
पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते । अथ पुत्रस्य पौत्रेण नाकमेवाधिरोहति ॥३५॥
बौधायनस्मृ० ३।९ ॥
सोऽयं मनुष्य लोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा । कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः ॥३६॥
पुत्रेण जय्यो लोकोऽयं पितृलोकस्तु कर्मणा । विद्यया देवलोकोऽतो द्वाभ्यां विद्या प्रशस्यते ॥३७॥
यागाध्ययनकाम्यानि कुर्वन् पुत्रः पितुर्गृहे । वसत्येतावता पुत्रजितोऽयं लोक उच्यते ॥३८॥
वृहदा० वार्त्तिकसा० अ० १।५ ॥
प्रदोषे दीपकश्चन्द्रः प्रभाते दीपको रविः । त्रैलोक्ये दीपको धर्मः सुपुत्रः कुलदीपकः ॥३९॥
सुभाषितरत्नभाण्डागा० ॥
औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च । गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥४०॥

क्रीत, पालित, शिष्य, दत्तक लेकर जीवित = रक्षित सप्तम अश्वत्थ, ये सातो पुन्नामक घोर नरक से उस में गिरते हुए पुरुष की सदा ही रक्षा करते हैं, तिससे ये सातो सुन्दर माने कहे गये हैं ॥ २९-३० ॥ क्षेत्रज (अपनी स्त्री में अन्य से उत्पन्न) सहोढ़ (गर्भिणी से विवाह होने पर उत्पन्न) कानीन (अविवाहित कन्या से उत्पन्न) कुण्ड (पति के रहते जार जन्य पुत्र) गोलक (विधवा का जार जन्य पुत्र) ये पांचो स्वर्ग गत पितरों को भी गिराते हैं ॥३१॥ पुत्र से लोकों को पाता जीतता है, और पौत्र से प्राप्त लोकों में अनन्त = बहुत काल तक रहता है, और पुत्र के पौत्र से ब्रन्ध = सूर्य के विष्टप = लोक को पाता है ॥ ३२ ॥ जो पुन्नामक नरक से पिता की रक्षा करता है, उसे स्वयंभू = ब्रह्मा ने स्वयं पुत्र कहा है ॥ ३३ ॥ स्वाध्याय (वेदादि के अध्ययन) से ऋषियों की, सोमलता से इन्द्र की, प्रजा से सब पितरों की पूजा करके ऋण रहित होकर स्वर्ग में आनन्द भोगता है ॥ ३४ ॥ पुत्र से लोक पाता है, पौत्र से लोक अनन्त होता है, पुत्र के पौत्र से स्वर्ग में अवश्य प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥ यह प्रसिद्ध मनुष्य लोक पुत्र से प्राप्तव्य है, अन्य कर्म से नहीं। कर्म से पितृ लोक और विद्या = उपासना से देव लोक मिलता है ॥ ३६ ॥ पुत्र से यह लोक, कर्म से पितृ लोक, विद्या से देव लोक जय्य है, यहाँ पुत्र कर्म दोनों से विद्या की प्रशंसा की गई है, ॥ ३७ ॥ और याग अध्ययनादि काम्य कर्मों को करता हुआ पुत्र पिता के घरमें बसता है, इसीसे पुत्र से जित यह लोक कहा जाता है ॥ ३८ ॥ प्रदोष = रात्रिप्रारम्भ के समय चन्द्रमा प्रदीप = प्रकाशक हैं, प्रातः काल में सूर्य दीपक हैं, तीनों लोक में धर्म दीपक हैं, सुपुत्र कुल का दीपक है ॥ ३९ ॥ औरस, क्षेत्रज, दत्त (पिता से अन्य को दिया गया) कृत्रिम = गुणावगुणज्ञ को पुत्र किया गया, गूढोत्पन्न (गृहस्थित स्त्री में अज्ञात अन्य पुरुष से उत्पन्न) अपविद्ध

कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा । स्वयं दत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः ॥४१॥
मनु० अ० ६।१५६-१६० ॥

ऋणमस्मिन् सन्नयति, अमृतत्वं च गच्छति । पिता पुत्रस्य जातस्य, पश्येत जीवतो मुखम् ॥४२॥

यावन्तः पृथिव्यां भोगाः, यावन्तो जातवेदसि । यावन्तो अप्सु प्राणिनां, भूयान् पुत्रे पितुस्ततः ॥४३॥
एतरेय ब्रा० ३३।१ ॥ किन्तु—

पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुः, स यदि अनेनाऽक्ष्णया अकृतं भवति, तस्मादेनं सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति, तस्मात्पुत्रो नाम ॥ ४४ ॥ शतपथब्रा० १४।४।३।२६ ॥

पूर्ववयसे पुत्राः पितरमुपजीवन्ति, उत्तरवयसे पुत्रान् पिता उपजीवति ॥ ४५ ॥ शतपथब्रा० १२।२।३।४॥

गुरुभ्यो वन्दनं व्यर्थं पितरं यो न तर्पयेत् ॥ ४६ ॥ भवि० पु० ॥

इति त्रयोदशं पुत्रप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ हरिरमणम् ॥ १४ ॥

हरे र्हि रमणं यत्र तत्रैव वर्त्तते सुखम् । अन्यत्र दुःखमेवास्य जीवस्य नात्र संशयः ॥१॥

हरे र्हि रमणं यत्र गृहे भवति सर्वदा । रमन्ते तत्र देवाश्च धर्मस्तत्र प्रवर्त्तते ॥२॥

पुण्यव्रतो गृही यत्र गृहिणी च पतिव्रता । पितृभक्ताश्च सन्तानास्तत्रैव रमते हरिः ॥३॥

आतिथ्यं हरिभक्तिश्च पातिव्रत्यं दयार्जवम् । सत्यं शौचं दया यत्र तत्रैव रमते हरिः ॥४॥

=माता पिता से त्यक्त ये छः प्रकार के पुत्र दायाद =पितृ धन के भागी और बान्धव कहलाते हैं ॥४०॥ कन्या पुत्र, गर्भयुक्त विवाहिता का पुत्र, क्रीत, पति से त्यक्त वा विधवा के साथ फिर विवाह से उत्पन्न पौनर्भव, स्वयं आत्मसमर्पण कर्त्ता स्वयं दत्त, और ब्राह्मण का शूद्रा जन्य पुत्र ये छः दायाद नहीं होते हैं, बान्धव होते हैं ॥ ४१ ॥ पिता यदि उत्पन्न पुत्र के मुख को देखता है, तो अपने ऋण को उस में समर्पण करता है, और अपने भी पुत्र रूप से अमृतत्व पाता है ॥ ४२ ॥ जितने प्राणियों के भोग पृथिवी में और जातवेदा= अग्नि होत्र निमित्त स्वर्ग में, अप=अन्तरिक्ष में हैं, उनसे अधिक भोग पिता को पुत्र में मिलते हैं ॥ ४३ ॥ किन्तु अनुशिष्ट=शिक्षित पुत्र को लोक के लिये हित कहते हैं, यदि इस पुरुष से अक्ष्णया=सामग्री समयाभाव से कोई कर्तव्य कर्म लोकादि अकृत = असम्पादित, होता है, तो वह शिक्षित पुत्र उस सब अकृत से इस पिता को मुक्त करता है, अकृत को पूर्ण करता है, अतः यह पुत्र नाम है ॥ ४४ ॥ पूर्वावस्था में पुत्र पिता के आश्रित जीते हैं, अन्तावस्था में पिता पुत्रों के आश्रित जीता है ॥ ४५ ॥ जो पिता को प्रसन्न तृप्त नहीं करता है, उस की गुरुओं के प्रति वन्दना भी व्यर्थ है ॥ ४६ ॥ तेरहवाँ पुत्रप्रकरण समाप्त ॥

अथ हरिरमण—जहाँ हरि का रमण (ईश्वर की अनुकूलता, शास्त्र सद्गुरु की आज्ञा पालनादि) हैं, तहाँ ही इस जीव को सच्चा सुख है, अन्यत्र इस को दुःख ही है, इस में संशय नहीं ॥ १ ॥ जिस गृह में हरि का सदा रमण होता है, वहाँ सब देव रमते हैं, और वहाँ धर्म रहता है ॥ २ ॥ जहाँ पुण्य रूप व्रत =नियम वाले गृहस्थ और उसकी पतिव्रता स्त्री पितृभक्त सन्तान, ये सब रहते हैं, तहाँ ही हरि रमते हैं ॥ ३ ॥ अतिथि का सत्कार, हरि की भक्ति, पतिव्रत-धर्म, दया से नम्रता, सत्य, शौच, दया ये सब जहाँ

अरिषड्वर्गदमनं दीनोपगतरक्षणम् । सर्वभूताभयं यत्र तत्रैव रमते हरिः ॥५॥
माता पिता गुरुः पत्नी ज्ञातयो बान्धवस्तथा । यत्रैते नित्यसन्तुष्टास्तत्रैव रमते हरिः ॥६॥
मोदन्ते शिशवो यत्र मोदन्ते च गृहे गणाः । तिर्यञ्चोऽपि प्रमोदन्ते तत्रैव रमते हरिः ॥७॥
यत्र निर्लिप्तभावेन संसारे वर्त्तते गृही । धर्मं चरति निष्कामं तत्रैव रमते हरिः ॥८॥
परिश्रमो मिताचारो यत्र धर्मेण जीविका । देवातिथिगुरुश्रद्धा तत्रैव रमते हरिः ॥९॥
सुसंस्कृते सुसंमृष्टे यद्गृहे सर्वतः शुचौ । विशुद्धान्यन्नपानानि तत्रैव रमते हरिः ॥ १०॥
क्षुद्रे महति तुल्यैव ममता यत्र गेहिनः । नैवात्मीयपरज्ञानं तत्रैव रमते हरिः ॥११॥
शाकान्नं धर्मतो लब्धं भोजयन्स्वजनातिथीन् । शेषं यत्र गृही भुङ्क्ते तत्रैव रमते हरिः ॥१२॥
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगत्सन्तर्पणः सदा । प्रवर्त्तते यत्र यज्ञस्तत्रैव रमते हरिः ॥१३॥
शिरो नैव करोत्युच्चैः कुर्वन्नुच्चैरपि क्रियाः । गृही यत्र सदा नम्रस्तत्रैव रमते हरिः ॥१४॥
कृष्णभक्तिरसामृते ॥

सत्यं शौचं विशेषेण प्राणिनां शिवचिन्तनम् । तत्र स्थिरायते लक्ष्मीस्तत्र नारायणो हरिः ॥१५॥
मातरं पितरं पुत्रो भ्रातरं ज्येष्ठमेव च । मन्यते बान्धवगणं तत्र लक्ष्मीः स्थिरायते ॥१६॥
जैमिनीयाश्वमेधे० अ० ६१३–४ ॥

परिक्षीणे मोहे विगलति घनेऽज्ञानजलदे, परिज्ञाते तत्त्वे समधिगत आत्मन्यतितते ।

रहते हैं, तहाँ हरि रमते हैं ॥ ४ ॥ कामादि रूप छः अरि समूह का दमन = विजय, दरिद्र शरणागत की रक्षा, सब प्राणियों का अभय जहाँ हैं, तहाँ हरि रमते हैं ॥५॥ माता, पिता, गुरु, स्त्री, जाति, बन्धु, सब जहाँ सदा सन्तुष्ट रहते हैं, तहाँ हरि रमते हैं ॥ ६ ॥ जिस गृह में बालक सब और सब गण = संघ तथा तिर्यक् = पशुपक्षी आदि भी हर्ष पूर्वक रहते हैं, वहाँ हरि रमते हैं ॥ ७ ॥ जहाँ असङ्ग रूप से संसार में गृहस्थ रहता है, और निष्काम धर्म करता है, वहाँ हरि रमते हैं ॥ ८ ॥ जहाँ परिश्रम = उचित कर्म और शास्त्रादि के अनुसार उचित आचार, और धर्म से जीविका, तथा देवादि में श्रद्धा, ये सब रहते हैं तहाँ हरि रमते हैं ॥ ९ ॥ सुन्दर संस्कार (गन्धपुष्पादि कृत देव पूजनादि) युक्त, सुन्दर संमृष्ट = शोधित, अत एव सर्वत्र शुचि जिस गृह में विशुद्ध अन्नपानादि रहते हैं, तहाँ हरि रमते हैं ॥ १० ॥ जहाँ गृहस्थ को अल्प और महान् में तुल्य ममता रहती है, और निज पर का ज्ञान = भेदभाव जहाँ नहीं रहता है, तहाँ हरि रमते हैं ॥ ११ ॥ धर्म से प्राप्त शाकादि अन्न, स्वजन, अतिथि को भोजन कराने से शेष अन्न जहाँ गृहस्थ खाता है, तहाँ हरि रमते हैं ॥ १२ ॥ ब्रह्मा से स्तम्ब = तृण तक जगत् को तृप्त करने वाला यज्ञ जहाँ सदा प्रवृत्त होता है, वहाँ हरि रमते हैं ॥ १३ ॥ उच्च कर्म को करता हुआ भी गृहस्थ जहाँ शिर ऊँचा नहीं करता है, निरभिमान रहता है, वहाँ हरि रमते हैं ॥ १४ ॥ जहाँ सत्य, शौच, प्राणियों के शुभों का चिन्तन विशेष रूप से अधिक रहते हैं, वहाँ लक्ष्मी स्थिर होती है, और नारायण हरि रहते हैं ॥ १५ ॥ पुत्र जहाँ माता पिता को और ज्येष्ठ भ्राता बन्धुगण को मानता = सत्कार करता है, वहाँ लक्ष्मी स्थिर होती है ॥ १६ ॥ आर्य = गुरु आदि के साथ विचार करके स्थिर जिस ज्ञानी के देह में

विचार्यार्यैः सार्द्धं चलितवपुषो वै सदृशतो, धिया दृष्टे तत्त्वे रमणमटनं जागतमिदम् ॥१७॥

इति चतुर्दशं हरिरमणप्रकरणं समाप्तम् ॥ योगवासि० प्र० २।१२।२० ॥

अथ रोगस्तन्निवृत्तिश्च ॥ १९ ॥

पण्डितैः सर्वरोगानां विनिवृत्त्यै क्षयाय च । सदा कारयितव्यं हि साधनं रोगवर्जितैः ॥१॥ यतः-

आधयो व्याधयश्चैव द्वयं दुःखस्य कारणम् । तन्निवृत्तिः सुखं विद्यात्तत्क्षयो मोक्ष उच्यते ॥२॥

देहदुःखं विदु र्व्याधिमाध्याख्यं वासनामयम् । मौर्ख्यमूले हि ते विद्यात्तत्त्वज्ञाने परिक्षयः ॥३॥

योगवासि० प्र० ६।८१।१२-१४ ॥ एवमेत्र-

द्वौ व्याधी देहिनो घोरावयं लोकस्तथा परः । याभ्यां घोराणि दुःखानि भुङ्क्ते सर्वैं हिं पीडितः ॥४॥

इह लोके यतन्तेऽज्ञा व्याधौ भोगैर्दुरौषधैः । आजीवं यथाशक्ति चिकित्सा नापरामये ॥५॥

परलोकमहाव्याधौ प्रयतन्ते चिकित्सनम् । शमसत्सङ्गबोधाख्यैरमृतैः पुरुषोत्तमाः ॥६॥

इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः । गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति ॥७॥

इह लोकचिकित्साभि र्जीवितं यातु मा क्षयम् । आत्मज्ञानौषधैरज्ञाः परलोकश्चिकित्स्यताम् ॥८॥

आयु र्वायुचलत्पत्रलवाम्बुकणभङ्गुरम् । परलोकमहाव्याधि र्यत्नेनाशु चिकित्स्यताम् ॥९॥

जो ज्ञान से प्रथम आत्मसदृशता भ्रम से थी, उस सदृशता से चलित = रहित वपु = शरीर वाले उस ज्ञानी के बुद्धि द्वारा तत्त्व वस्तु से परिज्ञात होने पर, तथा अतितत = व्यापक आत्मस्वरूप के अधिगत = ज्ञात-अनुभूत होनेपर, फिर समाधि से तत्त्व = ब्रह्म भाव के दर्शन होने पर, और मोह के नाश तथा घन = निबिड अज्ञान मेघ के लीन होने पर जो ज्ञानी का जगत् में यह भ्रमण होता है, सो रमण होता है ॥ १७ ॥

चौदहवाँ हरिरमण प्रकरण समाप्त ॥

अथ रोग और उसकी निवृत्ति—रोगों की निवृत्ति और उन के क्षय के लिये रोग रहित पण्डितों के द्वारा सदा साधन करवाना चाहिये ॥१॥ जिससे आधि और व्याधि दोनों दुःख के कारण हैं, इसलिए उन की तात्कालिक निवृत्ति को सुख रूप जानना चाहिये, समूल नाश मोक्ष कहलाता है ॥२॥ देह के रोगादि दुःख को व्याधि नाम से जानते हैं, और वासनामय मानस दुःख को आधि नाम से जानते हैं। ये दोनों मौर्ख्य = अज्ञान मूलक हैं, ऐसा समझना चाहिये, और अज्ञान मूलक होने से तत्त्वज्ञान होने पर इन का परिक्षय = समूल नाश होता है ॥ ३ ॥देही को इस लोक में भूखादि, रोगादि रूप व्याधि और परलोक में नरकादि व्याधि दोनों घोर = भयंकर हैं, जिन से सब = आध्यात्मिकादि रूपों द्वारा पीडित प्राणी घोर दुःखों को भोगता है ॥ ४ ॥ इस लोकरूप व्याधि की निवृत्ति के लिये भोगरूप दुरौषध द्वारा शक्ति के अनुसार जन्म भर अज्ञ लोग यत्न करते हैं, उससे अपर = अन्य पारलौकिक रोग के लिये चिकित्सा नहीं होती है ॥ ५ ॥ पुरुषोत्तम लोग परलोक रूप महाव्याधि की निवृत्ति के लिये शम सत्संग ज्ञाननामक अमृतों द्वारा चिकित्सा करने के लिये यत्न करते हैं ॥ ६ ॥ सरुज = अज्ञ कामादि युक्त जो मनुष्य यहाँ ही नरक व्याधि की चिकित्सा नहीं करता है, सो निरौषध स्थान = नरक, पशु आदि देह में जाकर क्या करेगा ? ॥ ७ ॥ हे अज्ञ ! इस लोक की चिकित्सा = भोगादि से जन्म, जीवन नष्ट न हो जाय, सत्सङ्गात्मज्ञानादि औषधियों द्वारा परलोक की चिकित्सा करो ॥८॥ वायु से चंचल पत्र = पत्ते में अल्पजल के तुल्य

परलोकमहाव्याधौ यत्नेनाशु चिकित्सिते । इह लोकमयो व्याधिः स्वयमाशूपशाम्यति ॥१०॥
अजितात्मा जनो मूढो रूढो भोगैककर्दमे । आपदां पात्रतामेति पयसामिव सागरः ॥११॥
जीवितस्य यथा बाल्यं दृष्टं प्राथमकल्पिकम् । निर्वाणस्य तथा भोगसन्त्यागो रागशान्तिदः ॥१२॥
योगवा० प्र० ६-२।३३।१० इत्यादि ॥
भोगा भवमहारोगा बन्धवो दृढबन्धनम् । अनर्थायार्थसम्पत्तिरात्मनात्मनि शाम्यताम् ॥१३॥
योगवा० प्र० ६-२।४०।४ ॥
एतदेव परं धैर्यं जन्मज्वरनिवारणम् । यद्वासनमभ्यस्ता निजकर्मसु कर्तृता ॥१४॥
योगवा० प्र० ६-२।१।२४ ॥
अद्यैव न चिकित्सां यः करोति मरणापदः । सम्प्राप्तायां मृतौ मूढः करिष्यति किमातुरः ॥१५॥
योगवा० ६-२।१०३।३८ ॥
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः । आत्माऽऽत्मना चेत्त्रातस्तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥१६॥
तर तारुण्यमस्तीदं यावत्ते तावदम्बुधेः । नूनं संसारनाम्नोऽस्माद् बुद्ध्या नावा विशुद्धया ॥१७॥
अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो वृद्धः सन् किं करिष्यसि । स्वगात्राण्यपि भाराय भवन्ति हि विपर्यये ॥१८॥
शैशवं वार्द्धकं ज्ञेयं तिर्यक्त्वं मृतिरेव च । तारुण्यमेव जीवस्य जीवितं तद्विवेकि चेत् ॥१९॥
संसारमिममासाद्य विद्युत्सम्पातचञ्चलम् । सच्छास्त्रसाधुसम्पर्कैः कर्दमात्सारमुद्धरेत् ॥२०॥
योगवा० प्र० ६-२।१६२।१८-२२ ॥

क्षण भङ्गुर आयु है, इससे परलोक रूप महाव्याधि को यत्न से शीघ्र दूर नष्ट करो ॥ ९ ॥ परलोक रूप महाव्याधि को यत्न से शीघ्र नष्ट करने पर, यह लोकमय व्याधि स्वयं शीघ्र ही निवृत्त होती है ॥ १० ॥ अजितात्मा भोगरूप कर्दम=कादो पंक में प्राप्त स्थिर मूढ़ आपत्ति का पात्र=स्थान होता है, जैसे जल का पात्र समुद्र है ॥ ११ ॥ जैसे जीवन के प्रथमकल्प=क्रम में होने वाला बालपन देखा गया है, तैसे ही मोक्ष के प्रथमारम्भ में राग को शान्त करने वाला भोग का सम्यग् त्याग है ॥ १२ ॥ क्योंकि भोग ही संसार रूप महारोग है, बन्धु दृढ़बन्धन रूप हैं, अर्थों की सम्पत्ति=वृद्धि अनर्थ के लिये है, इससे आत्मा से आत्मा में शान्त होवो=आत्मानुभव से सुखी होवो ॥ १३ ॥ जो वासना इच्छा के त्याग पूर्वक अपने कर्मों में अभ्यस्त प्रवृत्ति हैं, यही परम धैर्य और जन्मादि ज्वरों का नाशक है ॥ १४ ॥ जो मूढ मरणादि रूप आपत्तियों=रोगों की चिकित्सा आज स्वस्थावस्था में ही नहीं करता है, सो मरण के संप्राप्त होने पर आतुर=व्याधित रोगी होकर क्या करेगा ? ॥ १५ ॥ आप ही अपना बन्धु और शत्रु है, आप ने ही अपनी रक्षा यदि नहीं की, तो अन्य उपाय नहीं है ॥१६॥ जब तक यह तेरी तरुणता=युवावस्था है, तब तक ही इस संसार नामक समुद्र से विशुद्ध बुद्धि रूप नाव द्वारा तरो ॥ १७ ॥ जो श्रेय=शुभ कल्याण है, सो आज अब ही करो, वृद्ध होकर क्या करोगे ? क्योंकि युवापन के विपर्यय=अतिवृद्धता होने पर अपने गात्र=देह के अंग भी भार के लिये, बोझरूप होते हैं ॥१८॥ शैशव=बचपन तिर्यक्ता के तुल्य धर्म ज्ञानादि का असाधन है, और अति वृद्धता को मरण रूप ही समझना चाहिये, इससे तरुणता ही जीव=मनुष्य का सत्य जीवन है, यदि वह विवेक युक्त हो, अन्यथा भयावह है ॥१९॥ इससे विद्युत् सम्पात तुल्य चंचल इस देह तारुण्य को पाकर सत्शास्त्र सत्संग द्वारा मोहादि कर्दम से सार आत्मा का उद्धार करे ॥२०॥

सम्विन्मात्रचिकित्सेऽस्मिन् व्याधौ संसारनामनि । चित्तमात्रपरिस्पन्दे संरम्भो न च किञ्चन ॥२१॥
यदि सर्वं परित्यज्य तिष्ठस्युत्क्रान्तवासनः । अमुनैव निमेषेण तन्मुक्तोऽसि न संशयः ॥२२॥
यत्राभिलाषस्तन्नूनं सन्त्यज्य स्थीयते यदि । प्राप्त एवाङ्ग ! तन्मोक्षः किमेतावति दुष्करम् ॥२३॥
अपि प्राणांस्तृणमिव त्यजन्ति हि महाशयाः । यत्राभिलाषस्तन्मात्रत्यागे कृपणता कथम् ? ॥२४॥
योगवा० प्र० ३।६६।१८-१९-२१-२२ ॥
वासनानां परित्यागे यदि यत्नं करोषि च । तत्ते शिथिलतां यान्ति सर्वाधिव्याधयः क्षणात् ॥२५॥
तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च । मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः ॥२६॥
वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते ! । समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदा मुने ! ॥२७॥
त्रिभिरेतैश्चिराऽभ्यस्तै हृदयग्रन्थयो दृढाः । निःशेषमेव त्रुट्यन्ति बिसच्छेदाद् गुणा इव ॥२८॥
जन्मान्तरशताभ्यस्ता राम ! संसारसंस्थितिः । सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥२९॥
अध्यात्मविद्याऽधिगमः साधुसङ्गम एव च । वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ॥३०॥
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल । याभिस्तज्जीयते क्षिप्रं धाराभिरिव भूरुजः ॥३१॥
सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये । चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनैः ॥३२॥
प्राणायामचिराभ्यासै युक्त्या च गुरुदत्तया । आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥३३॥

ज्ञान मात्र से निवृत्त होने वाला चित्त मात्र के परिस्पन्द = गति रूप इस संसार नामक व्याधि की निवृत्ति में संरम्भ = आयास भी कोई नहीं है ॥ ॥ २१ ॥ यदि सब को त्याग कर वासना रहित चित्त वाले होकर स्थिर होते हो, तो इसी निमेष मात्र में मुक्त हो इस में संशय नहीं है ॥ २२ ॥ यदि जिस में अभिलाषा = इच्छा है, उसे सम्यग् त्याग कर निश्चय पूर्वक स्थिर हुआ जाय, तो हे अङ्ग ! = प्रिय ! मोक्ष प्राप्त ही है, इस त्याग मात्र में दुष्कर भी क्या है ? ॥ २३ ॥ महाशय ! विवेकी लोग प्राणों को भी तृण तुल्य त्यागते हैं, जिस में अभिलाषा हो, तावन्मात्र के त्याग में कृपणता = असमर्थता कैसे हो सकती है ? ॥ २४ ॥ वासनाओं के परित्याग में यदि यत्न करते हो, तो तेरी आधि, व्याधि सभी क्षण में शिथिलता = अदृढ़ता को प्राप्त होंगी ॥ २५ ॥ तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय, ये तीनों परस्पर कारणता को प्राप्त कर के स्थिर हैं, इस से दुःख से सिद्ध होने वाले हैं ॥ २६ ॥ हे महामते ! हे मुने ! वासनाक्षयादि तीनों समकाल में साथ ही चिरकाल तक अभ्यस्त होते हैं, तो सफल होते हैं ॥ २७ ॥ चिरकाल तक अभ्यस्त इन तीनों से ही हृदय के दृढ़ ग्रन्थि अध्यासकामादि सब इस प्रकार नष्ट होते हैं कि जैसे बिस = कमल के मृणाल के छेदन से उस के गुण = तन्तु छिन्न होते हैं ॥ २८ ॥ हे राम ! अनन्त जन्मान्तरों का अभ्यस्त संसार सत्यतादि की वह वासना चिरकाल तक उक्त अभ्यास योग के बिना कहीं नष्ट नहीं होती है ॥२९॥ चित्त के विजय में अध्यात्मविद्या की प्राप्ति = वेदान्त का ज्ञान सत्सङ्ग, वासनाओं का त्याग, प्राणायाम ये ही वे युक्तियाँ दृढ हैं, जिन से चित्त शीघ्र जीता जाता है, जैसे नदी की धाराओं से वृक्ष जीता जाता है ॥ ३०-३१ ॥ गुरूपदिष्ट इन युक्तियों के रहते जो तन्त्र, मन्त्र, यन्त्र, उपवासादि रूप हठ से चित्त को रोकते हैं, सो मानो दीप को त्याग कर अञ्जनों से तम को नष्ट करना चाहते हैं ॥ ३२ ॥ प्राणायाम के चिरकाल तक अभ्यास और गुरु से दी गई युक्ति धारणादि तथा आसन परिमित भोजनादि रूप योग

आदावन्ते च वस्तूनामविसम्वादि यत्स्थितम् । रूपं तद्दर्शनं ज्ञानं क्षीयते तेन वासना ॥३४॥

योगवा० प्र० ५।९२।६-१४-१७-इत्यादि ॥

ज्ञानान्निर्दुःखतामेति ज्ञानादज्ञानसंक्षयः । ज्ञानादेव परा सिद्धि र्नान्यस्माद्राम ! वस्तुतः ॥३५॥

योगवा० प्र० ५।८८।१२ ॥

द्विविधो व्याधिरस्तीह सामान्यः सार एव च । व्यवहारस्तु सामान्यः सारो जन्ममयः स्मृतः ॥३६॥

प्राप्तेनाऽभिमतेनैव नश्यन्ति व्यावहारिकाः । आधिक्षयेणाधिभवाः क्षीयन्ते व्याधयोऽप्यलम् ॥३७॥

आत्मज्ञानं विना सारो नाधि र्नश्यति राघव ! । भूयो रज्ज्ववबोधेन रज्जुसर्पो हि नश्यति ॥३८॥

योगवा० प्र० ६।८१।२३-२५ ॥

अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येत् पराक्रमम् । भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत् ॥३९॥

महाभा० स्त्रीप० अ० २।२७ ॥

दुःखोपघाते शारीरे मानसे चाप्युपस्थिते । यस्मिन्न शक्यते कर्त्तुं यत्नस्तं नानुचिन्तयेत् ॥४०॥

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत् । चिन्त्यमानं हि चाभ्येति भूयश्चापि प्रवर्त्तते ॥४१॥

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमोषधैः । एतद्विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥४२॥

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं धनसञ्चयः । आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत्तत्र न पण्डितः ॥४३॥

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति । अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम् ॥४४॥

इन सब से प्राण क्रिया निरुद्ध होती है ॥ ३३ ॥ सब वस्तु के आदि और अन्त में जो अविसम्वादि = विप्रलम्भ रहित सत्य स्वरूप वस्तु रहती है, उस के अपरोक्ष अनुभव को ज्ञान कहते हैं, उस ज्ञान से वासना नष्ट होती है ॥ ३४ ॥ हे राम ! ज्ञान से ही दुःख रहित होता है, ज्ञान से अज्ञान का नाश होता है, ज्ञान से परमसिद्धि = मुक्ति होती है, अन्य वस्तु से नहीं ॥ ३५ ॥ संसार में सामान्य = अदृढ़ और सार = दृढ दो प्रकार की व्याधि हैं, तिन में भोजनादि इच्छा कामादि व्यवहार सामान्य है, जन्मादिमय अज्ञान वासनादि सार कहा गया है ॥ ३६ ॥ प्राप्त अभिमत, इष्ट अन्नपान, स्त्री पुत्रादि से व्यावहारिक व्याधि नष्ट होती है, आधि = मानस रोग की निवृत्ति से तज्जन्य सब व्याधि भी निवृत्त होती हैं ॥३७॥ हे राघव ! आत्मज्ञान के बिना सार रूप आधि = व्याधि नहीं नष्ट होती है, जैसे भूयः = प्रत्यक्ष रज्जु स्वरूप के अनुभव विना रज्जुसर्प नहीं नष्ट होता है ॥ ३८ ॥ यदि रोग की निवृत्ति के लायक अपने पराक्रम = सामर्थ्य को समझे, तो शोक चिन्ता नहीं कर के रोग का प्रतिकार = निवारण करे, अन्यथा उसका चिन्तन नहीं करे, यही उसकी औषध है ॥ ३९ ॥ शारीरक वा मानस दुःख रूप उपघात = पीड़ा के उपस्थित = प्राप्त होने पर भी जिस की निवृत्ति के लिये यत्न नहीं कर सके उस की चिन्ता भी नहीं करे ॥ ४० ॥ इस दुःख की चिन्ता नहीं करना यही असाध्य दुःख की औषध है, चिन्त्यमान दुःख अधिक प्राप्त होता है, और बार २ आता-बढ़ता है ॥ ४१ ॥ विवेकादि रूप प्रज्ञा से मानस दुःख को नष्ट करे, शरीर के दुःखों को औषध से नष्ट करे, यही विज्ञान का सामर्थ्य है, इस से बालकों के तुल्यता नहीं प्राप्त हो = शोक चिन्ता नहीं करे ॥ ४२ ॥ यौवन रूपादि सब अनित्य है, उन की सदा प्राप्ति स्थिति के लिये विवेकी इच्छा नहीं करे ॥ ४३ ॥ जनपद = देश के दुःख को कोई एक सोचने के योग्य नहीं है, यदि वहाँ भी उपक्रम = सामर्थ्य-उचित प्रथमारम्भ समझे तो शोच नहीं करता हुआ निवृत्ति का उपाय करे ॥ ४४ ॥

सुखाद् बहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशयः । स्निग्धस्येन्द्रियार्थेषु मोहान्मरणमप्रियम् ॥४५॥

महाभा० शान्तिप० अ० २०५ ॥

स्थूलं सूक्ष्मं कारणं च शरीरं त्रिविधं स्मृतम् । अवश्यं त्रिविधोऽस्त्येव तत्र तत्रोचितो ज्वरः ॥४६॥
वातपित्तश्लेमजन्यव्याधयः कोटिशस्तनौ । दुर्गन्धित्वकुरूपत्वदाहभङ्गादयस्तथा ॥४७॥
कामक्रोधादयः शान्तिदान्त्याद्या लिङ्गदेहगाः । ज्वरा द्वयेऽपि बाधन्ते प्राप्त्याऽप्राप्त्या नरं क्रमात् ॥४८॥
स्वं परं न च वेत्त्यात्मा विनष्ट इव कारणे । आगामिदुःखबीजं चेत्येतदिन्द्रेण दर्शितम् ॥४९॥
चिदाभासे स्वतः कोऽपि ज्वरो नास्ति यतश्चितः । प्रकाशैकस्वभावत्वमेव दृष्टं न चेतरत् ॥५०॥
विविच्य भ्रान्तिमुज्झित्वा स्वमप्यगणयन् सदा । चिन्तयन् साक्षिणं कस्माच्छरीरमनुसंज्वरेत् ॥५१॥

पञ्चद० प्र० ७।२३ इत्यादि ॥

कामक्रोधौ भयं निद्रा पञ्चमः श्वास उच्यते । एते दोषाः शरीरेषु दृश्यन्ते सर्वदेहिनाम् ॥५२॥
छिन्दन्ति क्षमया क्रोधं कामं सङ्कल्पवर्जनात् । सत्त्वसंसेवनान्निद्रामप्रमादाद्भयं तथा ॥५३॥
छिन्दन्ति पञ्चमं श्वासमल्पाहारतया द्विजाः ॥ ५४ ॥ ब्रह्मपु० अ० १३२ ॥
कोषकारो यथात्मानं कीटः समनुरुन्धति । सूत्रतन्तुगणैर्नित्यं तथाऽयमगुणो गुणैः ॥
द्वन्द्वमेति च निर्द्वन्द्वस्तासु तास्विह योनिषु ॥ ५५ ॥ ब्रह्मपु० अ० १३।४ ॥
क्रोधस्तु प्रथमं शत्रुर्निष्फलो देहनाशनः । ज्ञानखड्गेन तं छित्त्वा परमं सुखमाप्नुयात् ॥५६॥

मोह से इन्द्रियार्थ = विषय में स्नेह युक्त को जीवित दशा में सुख से बहुत अधिक दुःख है, इसमें संशय नहीं है, और मोह से मरण भी अप्रिय = दुःख रूप है ॥ ४५ ॥ स्थूलादि तीन प्रकार का शरीर कहा गया है, तहाँ तत्तत् शरीरों के योग्य ज्वर = रोग व्याधि भी तीन प्रकार की अवश्य हैं ॥ ४६ ॥ स्थूल शरीर में वात, पित्त, कफ जन्य व्याधि करोड़ों है, तथा दुर्गन्धिता, कुरूपता, दाह, अङ्गभङ्गादि भी स्थूल देह में होते हैं ॥ ४७ ॥ लिङ्ग = सूक्ष्म देह में काम, क्रोधादि और शान्ति, दान्ति = शम, दम आदि व्याधि हैं, सो दोनों क्रम से प्राप्ति अप्राप्ति द्वारा पीड़ित करते हैं, कामादि प्राप्त होकर पीडित करते हैं, शमादि प्राप्ति विना पीड़ित करते हैं ॥ ४८ ॥ कारण शरीर में सुषुप्ति काल में विनष्ट = लीन जीवात्मा उस समय अपने को वा अन्य को नहीं जानता है, तथा आगामी दुःख के बीज कारण शरीर में वासनादि रहते हैं, इस बात को इन्द्र ने प्रजापति के प्रति प्रदर्शित किया है ॥ ४९ ॥ चिदाभास = जीव में शरीर के विना स्वतः = स्वभाव स्वरूप से कोई ज्वर नहीं है, जिससे चेतन का एक प्रकाश = ज्ञान ही स्वभाव देखा गया है, अन्य नहीं ॥ ५० ॥ इससे ज्ञान काल में चिदाभास रूप जीव अपने को देहों से विवेक द्वारा पृथक् करके भ्रम का त्याग कर, साक्षी स्वरूप से जुदा अपने को भी नहीं समझता हुआ, और सदा साक्षी स्वरूप का चिन्तन करता हुआ, फिर किस हेतु से शरीर के ज्वर से ज्वर युक्त हो सकता है ? ॥ ५१ ॥ कामादि ये पाँच दोष सब देहियों के देहों में दीखते हैं ॥ ५२ ॥ क्षमा से क्रोध को, संकल्प के त्याग से काम को नष्ट करते हैं, सत्त्वगुण के सम्यग् सेवन से निद्रा को, अप्रमाद से भय को, अल्पाहारादि से अधिक श्वास को द्विज लोग नष्ट करते हैं ॥ ५३-५४ ॥ कोश कार कीट जैसे सूत्रतन्तु के समूह से अपने को सदा घेरता बाँधता है, तैसे ही निर्गुण निर्द्वन्द्व स्वरूप भी यह जीव गुणों द्वारा तत्तत् योनियों में यहाँ द्वन्द्व को पाता है ॥ ५५ ॥ क्रोध प्रथम = प्रधान-आदि शत्रु और निरर्थक देहनाशक = रोग रूप है,

तृष्णा बहुविधा माया बन्धिनी पापकारिणी । छित्त्वैतां ज्ञानखड्गेन सुखं तिष्ठति मानवः ॥५७॥
गौतमीमाहा० अ० ६६ ॥

भ्रान्तिः सोपाधिकोपाधिनिवृत्त्यैव निवर्त्तते । न बोधात्तेन भासन्ते जानतोऽपि घटादयः ॥५८॥
अहङ्कारश्च चिच्छाया मिथ्या भूम्यादिवत्ततः । चिदात्मकोऽवशिष्टोऽयं जीवो ब्रह्मैव नेतरः ॥५९॥
अनुभूतिप्रका० अ० १॥

देहादभ्यन्तरः प्राणः प्राणादभ्यन्तरं मनः । ततः कर्त्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परम्परा ॥६०॥
पञ्चकोशगुहायां यदज्ञानं कारणं स्थितम् । तद्व्योमपरमं तस्मिन्निगूढं ब्रह्म तिष्ठति ॥ ६१ ॥
बाह्यजगत्पञ्चकोशांश्चापोह्यान्तर्मुखास्य धीः । ब्रह्मसाक्षात्करोत्येव सर्वोपाधिविवर्जितम् ॥६२॥
सोपाध्येव बहिर्दृष्ट्या भाति ब्रह्म न तावता । अपैति जीवता तस्मादन्तर्दृष्ट्यैव बुध्यताम् ॥६३॥
अनुभूतिप्र० अ० २ ॥

जीवस्य त्रीणि रूपाणि स्थूलसूक्ष्मपराणि च । तत्रास्य यत्परं रूपं तद्भज द्वे परित्यज ॥६४॥
पाणिपादमयो योऽयं देहो भोगाय वल्गति । भोगार्थमेतज्जीवस्य रूपं स्थूलमिहास्थितम् ॥६५॥
स्वसङ्कल्पमयाकारं यावत्संसारभावि यत् । चित्तं तद्विद्धि जीवस्य रूपं रामातिवाहिकम् ॥६६॥
आद्यन्तरहितं सत्यं चिन्मात्रं निर्विकल्पकम् । यत्तद्विद्धि परं रूपं तृतीयं विश्वरूपकम् ॥६७॥
योगवासिष्ठप्र० ६।१२४।१७-२० ॥

ज्ञान रूप तलवार से उसे नष्ट करके परम सुख पाता है ॥ ५६ ॥ बहुत प्रकार की तृष्णा बाँधने वाली, पाप कराने वाली, माया रूप है, इस को ज्ञान तलवार से काट कर मनुष्य सुख से बैठता है ॥ ५७ ॥ प्रारब्धादि उपाधि जन्य भ्रान्ति उपाधि की निवृत्ति से निवृत्त होती है. केवल बोध से नहीं निवृत्त होती है, निरुपाधिक बोध मात्र से निवृत्त होती है, जैसे रज्जु ज्ञान से रज्जु सर्प की नृविवित्ति होती है, परन्तु दर्पण के ज्ञान से प्रतिबिम्ब की निवृत्ति नहीं होती है, इससे आत्मतत्त्व को जानने वाले को भी घटादि भासते हैं ॥ ५८ ॥ अहंकार और चिदाभास, भूमि आदि के समान मायिक होने से, मिथ्या हैं, तिससे चेतन स्वरूप अवशिष्ट= मिथ्यात्वादि रहित यह जीव ब्रह्म ही है अन्य नहीं ॥५९॥ स्थूल देह के अन्दर देह से सूक्ष्म प्राणमय कोश है, उस के अन्दर मनोमय कोश है, उस के अन्दर कर्ता विज्ञानमय कोश है उसके अन्दर भोक्ता=आनन्दमय कोश है, सो यही परम्परा गुहा है, जिस में ब्रह्मात्मा है ॥६०॥ पाँच कोश रूप गुहा में जो कारण शरीर रूप अज्ञान स्थिर है, सो श्रुतिकथित परम व्योम है, तिसमें निगूढ=अत्यन्त गुप्त ब्रह्म रहता है ॥ ६१ ॥ बाहर के जगत् और पांच कोश को मिथ्या समझ कर, हटाकर, अन्तर्मुख हुई इस जीव की बुद्धि सब उपाधि से रहित ही ब्रह्म को प्रत्यक्ष करती है ॥ ६२ ॥ बाहर की दृष्टि से उपाधि सहित ब्रह्म भासता है, और उपाधि सहित ब्रह्म के ज्ञान से जीव का जीवपन नहीं निवृत्त होता है, तिससे अन्तर्दृष्टि से समझो ॥ ६३ ॥ जीव के स्थूल, सूक्ष्म और पर=उत्तम ब्रह्म ये तीन रूप हैं, तिनमें रोगादि रहित इसके पर रूप को भजो और दो रूपों का त्याग करो ॥ ६४ ॥ पाणिपादादिमय जो यह देह भोग के लिये मिलती है, चलती हं, भोग के लिये यह इस जीव के स्थूल रूप संसार में स्थिर है ॥ ६५ ॥ अपने संकल्पमय आकारवाला, मोक्षपर्यन्त स्थायी जो इस जीव का अतिवाहिक (शरीरान्तरादि में प्राप्ति का हेतु) रूप है, हे राम ! उसे चित्त जानो ॥ ६६ ॥ आदि अन्त रहित सत्य चेतन मात्र निर्विकल्प = धर्म गुणभेदादि रहित

वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः । मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥६८॥
शाम्यतें भेषजैः पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः । मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥६९॥
इति पञ्चदशं रोगतन्निवृत्तिप्रकरणं समाप्तम् ॥ वार्त्तिकटीकायाम् ॥

अथ जीवनसाफल्यम् ॥ १६ ॥

दोषान् कामादिकांस्त्यक्त्वा कृत्वा यत्नं समाहितः । संसाराम्बुधिपारं यः प्राप्नुयात्पुरुषोत्तमः ॥१॥
तस्य जीवनसाफल्यं मानुष्यं चैव शोभते । अन्यस्तु पशुवज्जीवन् पुण्यं हन्ति पुरा कृतम् ॥२॥यतः
आयुः पल्लवकोणाग्रलम्बाम्बुकणभङ्गुरम् । उन्मत्तमिव सन्त्यज्य यात्यकाण्डे शरीरकम् ॥३॥
विषयाशीविषासङ्गपरिजर्जरचेतसाम् । अप्रौढात्मविवेकानामायुरायासकारणम् ॥४॥
ये तु विज्ञातविज्ञेया विश्रान्ता वितते पदे । भावाभावसमाश्वासमायुस्तेषां सुखायते ॥५॥
प्राप्यं सम्प्राप्यते येन भूयो येन न शोच्यते । पराया निर्वृतेः स्थानं यत्तज्जीवितमुच्यते ॥६॥
तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः । स जीवति मनो यस्य मननेन न जीवति ॥७॥
जाता त एव जगति जन्तवः साधुजीविताः । ये पुन र्नेह जायन्ते शेषा जरठगर्दभाः ॥८॥
भारोऽविवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणः । अशान्तस्य मनो भारो भारोऽनात्मविदो वपुः ॥९॥
योगवासि० प्र० १।१४। महोपनिष० अ० ३ ॥

विश्व का रूपक = प्रकाशक जो जीव का रूप है, उस को तीसरा पर रूप जानो ॥ ६७ ॥ वात, पित्त, कफ, शरीर सम्बन्धी दोष का संग्रह = संक्षेप से ग्रहण कहा गया है, और रजोगुण, तमोगुण, मानस दोष का संग्रह कहा गया है, भेषज ओर दैवयुक्ति के आश्रयण से पूर्व वर्णित दैहिक दोष निवृत्त होते हैं। ज्ञान, विज्ञान, धैर्य= धारणा स्मृति =भक्ति ध्यान समाधि से मानस दोष निवृत्त होते हैं ॥ ६८–६९ ॥

पन्द्रहवाँ रोगतन्निवृत्तिप्रकरण समाप्त ॥

अथ जीवन साफल्य—कामादि दोषों को त्याग कर, एकाग्र् होकर जो यत्न करके संसार समुद्र के पार जाता है, सो पुरुषोत्तम है ॥ १ ॥ उसी का जीवन सफल है, और मनुष्यता शोभती है, अन्य तो पशु के समान जीता हुआ पूर्व कृत पुण्य को कुभोगादि से नष्ट करता है ॥ २ ॥ क्योंकि पत्र के कोणाग्र भाग में लगे हुए जल कण के तुल्य क्षणभङ्गुर आयु है, सो उन्मत्त तुल्य अकाण्ड=अनवसर में ही शरीर को त्याग कर जाती है ॥ ३ ॥ विषय रूप सर्पों के संग से अति जर्जर = शिथिल चित्तवाले अदृढ आत्मविवेकियों के लिए आयु आयास का कारण है ॥ ४ ॥ जो कोई विज्ञेय आत्मतत्त्व को जानने वाले वितत = विभु पद = वस्तु में स्थिर विश्रामयुक्त हैं, उनके भावाभाव = लाभालाभ में तुल्य शान्ति समाधान वाली आयु सुखरूप, सुख कारक है ॥ ५ ॥ प्राप्तव्य मोक्ष जिससे पाया जाय, कि जिससे फिर शोचना नहीं हो, परमनिर्वृति = जीवन्मुक्ति का आनन्द का स्थान जो जीवन है, सोई सफल जीवन कहलाता है ॥६॥ तरु = वृक्ष, मृग, पक्षी आदि भी जीते हैं, परन्तु सफल जीवन वाला सोई है कि जिसका मन मननादि-जन्यज्ञान से मृतक हो गया है ॥ ७ ॥ वे हो प्राणी संसार में श्रेष्ठ जीवन वाले उत्पन्न हुए, जो कि फिर यहाँ जन्म नहीं लेते हैं, बाकी अन्य लोग तो वृद्ध गर्दभ तुल्य अपवित्र देह के अभिमानी हैं ॥ ८ ॥ अविवेकी को

अयं बन्धुः परश्चायं ममायमयमन्यतः । इति ब्रह्मन् न जानामि तेन जीवाम्यनामयः ॥१०॥
आपादमस्तकान्तेऽस्मिन्न देहे ममता मम । त्यक्ताहङ्कारपङ्कस्य तेन जीवाम्यनामयः ॥११॥
सुखितोऽस्मि सुखसम्पन्ने दुःखितो दुःखिते जने । सर्वस्य प्रियमित्रं च तेन जीवाम्यनामयः ॥१२॥
योगवा० प्र० ६।२६।२०–२६–३४ ॥ भुशुंडोक्तिः ॥
लोकैरनिन्दिता लक्ष्मीरारोग्यं श्रीसमन्वितम् । धर्म्यं युद्धं परार्थेन जीवितस्योत्तमं फलम् ॥१३॥
अविरोधेन धर्मस्य युद्धे सम्मुखमागतम् । योधानुरूपं यो हन्ति शूरः स्वर्ग्यः स नेतरः ॥१४॥
योगवा० प्र० ६–२।११६।४–५ ॥
शास्त्रोक्ताचारयुक्तस्य प्रभोरर्थेन यो रणे । मृतो वाऽथ जयी वा स्यात्स शूरः शूरलोकभाक् ॥१५॥
अन्यथा प्राणिकृत्ताङ्गो रणे यो मृतिमाप्नुयात् । डिम्भाहवहतः प्रोक्तः स नरो नरकास्पदम् ॥१६॥
प्रजोपद्रवयुक्तस्य राज्ञोऽराज्ञोऽथवा प्रभोः । अर्थेन ये मृता युद्धे ते वै निरयगामिनः ॥१७॥
योगवा० प्र० ३।३१ ॥
नेह यत्कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते । न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः ॥१८॥
भागव० स्क० ३।२३।५६ ॥
यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते । यः समः सर्वभूतेषु जीवितं तस्य शोभते ॥१९॥
योऽन्तःशीतलया बुद्ध्या रागद्वेषविमुक्तया । साक्षिवत्पश्यतीदं हि जीवितं तस्य शोभते ॥२०॥
येन सम्यक्परिज्ञाय हेयोपादेयमुज्झता । चित्तस्यान्तेऽर्पितं चित्तं जीवितं तस्य शोभते ॥२१॥
संन्यासोपनिष० अ० २।३६–४१ ॥

शास्त्र, भार=श्रम कारक है, रागी को ज्ञान भार है, अशान्त को मन भार है, अज्ञ को देह भार है ॥ ९ ॥ यह बन्धु है, यह अन्य है, यह मेरा है, यह अन्य का है, इस प्रकार मैं नहीं जानता हूँ, अतः रोगरहित जीता हूँ ॥ १० ॥ अहङ्कार रूप पंक=दोष रहित मुझ को पद से मस्तक पर्यन्त इस देह में ममता नहीं है, अतः अनामय जीता हूँ ॥ ११ ॥ सुखसम्पन्न में मैं सुखी हूँ, दुःखी जन में दुःखी हूँ, सब का प्रियमित्र हूँ, अतः निरामय सफल जीवी हूँ ॥ १२ ॥ लोक से अनिन्दित=न्यायोपार्जित लक्ष्मी, लक्ष्मीयुक्त आरोग्य, परार्थ हेतुक धर्मयुक्त युद्ध, यह जीवन का उत्तम फल है ॥ १३ ॥ धर्म के अविरोध पूर्वक जो शूर युद्ध में प्रतियोधा के अनुसार ही अस्त्रादि लेकर युद्ध करता मारता है, वह स्वर्ग के लिये है अन्य नहीं ॥ १४ ॥ शास्त्र कथित आचरणयुक्त प्रभु के लिये जो रण में युद्ध करता है, सो शूर मर जाय या विजयी हो वह शूर-लोक का भागी होता है ॥ १५ ॥ और प्रकार से रण में लड़ने वाला, प्राणियों से छेदित अङ्ग वाला होकर जो मरण पाता है, सो डिम्भाहव=बालयुद्ध में हत कहा गया है, वह मनुष्य नरकास्पद है ॥ १६ ॥ प्रजा के उपद्रव से युक्त जो राजा वा अन्य प्रभु उसके लिये जो युद्ध में मरते हैं, सो अवश्य नरकगामी हैं ॥ १७ ॥ जिस का कर्म न यहाँ धर्म के लिये है, न विराग के लिये, न तीर्थपद=स्थान हरि की सेवा के लिये है, सो जीता हुआ भी मृतक ही है ॥ १८ ॥ जिस को अहंकृत=मैं कर्ता हूँ ऐसी भावना नहीं होती है, न जिस को कर्म फल की इच्छा होती है, जो सब प्राणियों में समात्मदर्शी है, उस का जीवन शोभता है ॥ १९ ॥ रागद्वेष रहित, अन्तर्गतशीतल बुद्धि से साक्षी तुल्य जो इस जगत् को देखता है, उस का जीवन शोभता है ॥ २० ॥ हेय उपादेय=शुभाशुभ वस्तु को त्यागने वाला जिसने अच्छी तरह समझ कर

पशूनां नखरोमादि सर्वमर्थाय कल्पते । मृतस्य नरदेहस्य सृष्टि दोषावहोदिता ॥२२॥
एकमेवामुना साध्यं ज्ञानं स्वात्मस्वरूपदम् । तद्विना तु पशुभ्यश्च नरो हीनतरो मतः ॥२३॥
भोगासक्तः पुमान् पूर्वमेकाकी रमते न हि । एषणात्रयसम्बद्धो यततेऽर्थाय नित्यदा ॥२४॥

आनन्दरामायणयुद्धकां० स० ४ ॥

स जीवति गुणा यस्य धर्मो यस्य स जीवति । गुणधर्मविहीनो यो निष्फलं तस्य जीवितम् ॥२५॥

गरुडपु० पूर्वखं० आ० कां० अ० १०८।१७ ॥

आत्मार्थं जीवलोकेऽस्मिन् को न जीवति मानवः । परं परोपकारार्थं यो जीवति स जीवति ॥२६॥

स्कन्दपु० काशीखं अ० ४७।३६ ॥

धर्मे रागः श्रुतौ चिन्ता दाने व्यसनमुत्तमम् । इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं सम्प्राप्तं जन्मनः फलम् ॥२७॥

स्कन्दपु० माहेश्वरखं० १-२।२।४७ ॥

पशवोऽपि हि जीवन्ति केवलात्मोदरंभराः । स पुनर्जीवतश्लाघ्यो यः परार्थं हि जीवति ॥२८॥

व्यासस्मृ० अ० ४।२२॥

वाणी रसवती यस्य भार्या पुत्रवती सती । लक्ष्मी दानवती यस्य सफलं तस्य जीवितम् ॥२९॥

सुभाषितरत्नाक० ॥

परोपकारशून्यस्य धिङ्मनुष्यस्य जीवितम् । धन्यास्ते पशवो येषां चर्माप्युपकरिष्यति ॥३०॥
चलं वित्तं चलं चित्तं चले जीवितयौवने । चलाचलमिदं सर्वं कीर्त्ति र्यस्य स जीवति ॥३१॥

सुभाषितर० ॥

अचिन्त्यरूपो भगवान्निरञ्जनो विश्वम्भरो ज्ञानमयश्चिदात्मा ।

चित्तादि सब दृश्य के अन्त स्वरूप सर्वसाक्षी में चित्त को स्थिर किया है, उस का जीवन शोभता है ॥२१॥ पशुओं के नख रोमादि सभी किसी प्रयोजन फल के लिये समर्थ हैं, मृतक नर देह की सृष्टि दोषावह कही गई ॥ २२ ॥ इस मनुष्य देह से स्वात्मस्वरूप को प्राप्त कराने वाला ज्ञान ही प्राप्त करने योग्य है, उसके विना पशुओं से भी मनुष्य अति हीन माना गया है ॥ २३ ॥ भोग में आसक्त मनुष्य प्रथम एकाकी नहीं रमता है, इससे लोक वित्त देहादि की इच्छा से सम्बन्ध वाला हो कर अर्थ = द्रव्य के लिये सदा यत्न करता है ॥ २४ ॥ शमादि गुण अहिंसा, दान, दया, आदि धर्म जिस के हैं, उस का जीवन सफल है, जो गुण धर्म से रहित है, उस का जीवन निष्फल है ॥ २५ ॥ अपने भोग विलासादि के लिये कौन मनुष्य नहीं जीता है ? किन्तु केवल उत्तम उपकार के लिये जो जीता है, सो सफल जीवी है ॥ २६ ॥ जिस को धर्म में राग = प्रेम है, दान में व्यसन = आसक्ति है, विषयों में वैराग्य है, वह जन्म के फल को सम्यग् पा चुका है ॥ २७ ॥ केवल अपने पेट को भरने वाले पशु भी जीते ही हैं, परन्तु जो परोपकार के लिये जीता है, वह श्लाघ्य = स्तुत्य-प्रसंशनीय जीवन वाला है ॥ २८ ॥ जिस की वाणी रस = शृङ्गारादि वाली मधुरादि गुण युक्त है, पुत्र वाली स्त्री है, दान वाली लक्ष्मी है, तिस का जीवन सफल है ॥ २९ ॥ पर के उपकार से रहित मनुष्य का जीवन धिक्कार योग्य है, वे पशु धन्य हैं कि जिन का चाम भी उपकार करेगा ॥ ३० ॥ धन, चित्त, जीवन, यौवन = युवा अवस्था ये सब चल = विनश्वर चञ्चल हैं, यह सब विश्व चलाचल = चञ्चल है, परन्तु जिस की कीर्त्ति है. सो जीता है ॥ ३१ ॥ निरञ्जन = असङ्ग

विशोधितो येन हृदि क्षणं नो वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम् ॥ ३२ ॥ रम्भाशुकसम्वाद ॥
यस्य नोत्क्रामति मतिः स्वात्मतत्त्वावलोकनात् । यथार्थदर्शिनो ज्ञस्य जीवितं तस्य शोभते ॥३३॥
यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धि र्यस्य न लिप्यते । यः समः सर्वभूतेषु जीवितं तस्य राजते ॥३४॥
योऽन्तः शीतलया बुद्ध्या रागद्वेषविमुक्तया । साक्षिवत्पश्यतीदं हि जीवितं तस्य राजते ॥३५॥
येन सम्यक् परिज्ञाय हेयोपादेयमुज्झता । चित्तस्यान्तेऽर्पितं चित्तं जीवितं तस्य शोभते ॥३६॥
यस्मिन् श्रुतिपथं प्राप्ते दृष्टे स्मृतिमुपागते । आनन्दं यान्ति भूतानि जीवितं तस्य शोभते ॥३७॥
योगवासिष्ठ प्र॰ ५।३६।४६। इत्यादि ॥

इति षोडशं जीवनसाफल्यप्रकरणं समाप्तम् ॥

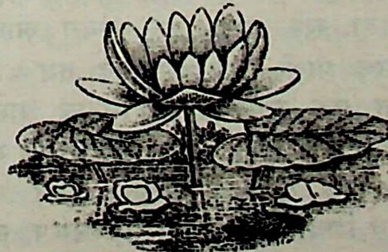
इति श्रीतत्त्वार्थमणिमालायां स्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्रिसङ्गृहीतायां
फलनामकं षष्ठं काण्डं समाप्तम् ॥



विश्वंभर = विश्वपोषक ज्ञानमय चिदात्मा अचिन्त्य स्वरूप भगवान् जिस से हृदय में क्षण मात्र भी विशोधित = चिन्तित-विचारित-ध्यात नहीं हुए, उस नर का जीवन व्यर्थ गया ॥ ३२ ॥ जिस यथार्थ = सत्यार्थ ज्ञानी की बुद्धि अपने आत्मावलोकन से उपरत नहीं होती है, उस का जीवन शोभता है ॥ ३३ ॥ जिस को अहङ्कार नहीं है, जिस की बुद्धि संसार में लिप्त नहीं होती है, जो सर्व भूतों में सम है, उस का जीवन शोभता है ॥ ३४ ॥ जो राग द्वेष रहित अन्तर में शीतल बुद्धि से साक्षी के समान इस संसार को देखता है, उस का जीवन प्रकाशता है ॥ ३५ ॥ जिस ने हेय उपादेय को अच्छी तरह जान कर उसे त्यागता हुआ चित्त के अन्त आत्मा में चित्त को स्थिर किया है, उस का जीवन शोभता है ॥ ३६ ॥ जिस के सुनने, देखने, याद करने से प्राणी आनन्द पाते हैं, उस का जीवन शोभता है ॥ ३७ ॥

सोलहवाँ जीवन साफल्य प्रकरण समाप्त ॥

स्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्रिसंगृहीत तत्त्वार्थमणिमाला में
फलनामक छठवाँ काण्ड समाप्त ॥



अथ पदार्थनामकं सप्तमं काण्डम्

तत्र च प्रथमं ब्रह्मात्मादिप्रकरणम्

वन्दे कं निर्गुणं शान्तं निर्विकारं निरञ्जनम् । निरीहं निष्क्रियं देवं निराधारं धराधरम् ॥१॥
सर्वाकारं सदाकारं सर्वाकारविवर्जितम् । साक्षिमात्रं विशुद्धं च स्वसिद्धं विद्धमव्ययम् ॥२॥
वास्यं येन जगत्सर्वं यन्न वास्यं कथञ्चन । तथापि वास्यवद्भातमजातं जातवत्तथा ॥३॥
यन्नोपास्यं तथोपास्यं मायाशक्तिसमाश्रयात् । यदज्ञानात्तमस्तीव्रं विशन्ति सर्वजन्तवः ॥४॥
यद्विज्ञानाद्विमुच्यन्ते केऽपि सर्वात्मनिश्चयाः । विविक्तसेविनो धीरा अहङ्कारादिवर्जिताः ॥५॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि सर्वभूतेषु यो वसन् । असङ्गः सर्वभृन्नित्यं सर्वात्मा निष्कलः शिवः ॥६॥
ब्रह्मणे विष्णवे तस्मै जगदीशाय शम्भवे । सुगोप्त्रे गुरवे चैव गणानां प्रभवे नमः ॥७॥

पदार्थ नामक सातवाँ काण्ड प्रारम्भ

अथ ब्रह्मात्मादि—"कं ब्रह्म" [छां० अ० ४।१०।५ ।] "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति" [छां० अ० ७।२३।१ ॥] इत्यादि शास्त्रानुभव के अनुसार शान्त=अत्यन्तमुक्त निरुपद्रव निर्विकार निरञ्जन=असङ्ग शुद्ध इच्छा क्रिया रहित देव = स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप निराधार धराधर=पृथिवी जगत् का आधार अधिष्ठान स्वरूप निर्गुण=सत्त्वादिगुणसाक्षी कं = सुख स्वरूप ब्रह्म की वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥ "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ।" [बृहदा० अ० २।५।१९ ॥] इत्यादि शास्त्रोपदेश के अनुसार जो माया से सब आकारवाला होता हुआ भी वस्तुतः "सत्यं ह्येव ब्रह्म ।" [बृहदा अ० ६।३।१ ॥] "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म !" [तैत्तिरीय० २।१ ॥] इत्यादि शास्त्र के अनुसार जो केवल सत्य आकार=स्वरूप वाला सब आकार रहित साक्षिमात्र विशुद्ध स्वयंप्रकाश व्यापक अव्यय है, उस ब्रह्म की वन्दना करता हूँ ॥ २ ॥ "ईशावास्यमिदं सर्वम् ।" [ईशोप० १ ॥] इत्यादि शास्त्र के अनुसार जिस सर्वात्मा साक्षी स्वरूप ईश्वर से सब जगत् वास्य=आच्छादनीय व्याप्य है, जिसके विना कोई पदार्थ नहीं है, और जो स्वयं किसी प्रकार भी अन्य से वास्य नहीं है, स्वतन्त्र स्वयं प्रकाश है, तो भी माया अविद्या से वास्य आवृत्त के समान अज्ञ को जो भासता है, तथा जन्मादि रहित सर्वात्मस्वरूप होता हुआ भी जो अज्ञ को जात उत्पन्न तुल्य भासता है, उस सर्वात्मा ब्रह्म की वन्दना करता हूँ ॥ ३ ॥ जो वस्तुतः उपास्य सूर्य मन देवादि रूप नहीं है, तथा माया रूप शक्ति का सम्यग् आश्रय होकर उपास्य उपासकादि रूप हुआ है, और जिसके अज्ञान से ही सब प्राणी तीव्र=गाढ़दृढ़ तम=शोक गोह अन्धकार में पैठते हैं ॥ ४ ॥ और अहङ्कार आदि रहित एक सर्वात्मा के निश्चय वाले एकान्त सेवी धीर=धैर्ययुक्त विवेकी जिसके अपरोक्ष ज्ञान से मुक्त होते हैं ॥ ५ ॥ जिसमें सब भूत कल्पित स्थिर हैं, जिस की सत्ता से सत्स्वरूप हैं और जो सङ्गवाले भूतों में बसता हुआ भी आकाशादि के समान सदा असङ्ग, सब का धारक, पोषक निरवयव शिव = कल्याण-शुभ स्वरूप सर्वात्मा है ॥ ६ ॥ तिस स्वरूप

आत्मदात्र्यै जगद्धात्र्यै विशुद्धानन्दमूर्त्तये । देव्यै विद्यात्मिकायै च सच्चिन्मूर्त्त्यै नमो नमः ॥८॥
कबीरगुरुशुद्धात्मपरब्रह्मस्वरूपिणे । नमोऽस्तु वाङ्मनःकायैः शुद्धविद्याप्रदायिने ॥९॥
अव्यक्तप्राणबुद्ध्यादौ ह्यात्मत्वस्य प्रसिद्धितः । लोकादेस्तन्न साध्यं तत् किन्तु ब्रह्मसमर्पणम् ॥१०॥
किं तद् ब्रह्मेति चेत्स्यात्सज्जिज्ञासा तर्हि तच्छृणु । श्रुत्यादिवचनाद्धीर ! धर्म्यकर्मसुसंस्कृतः ॥११॥
सुखं ब्रह्मैव नाल्पेऽस्ति सुखं क्वापि कथञ्चन । स विभुश्चैव सर्वात्मा महिम्नि स्वे प्रतिष्ठितः ॥१२॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं यत्तद् ब्रह्मानन्दविग्रहम् । तद्विज्ञानाद्विमुक्तिः स्यात्तन्निष्ठो नविभेत्यथ ॥१३॥ तथाहि—
यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥१४॥
यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥१५॥
केन० खं० १ ॥

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचꣳस उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्मा-
ल्लोकादमृता भवन्ति ॥ १६ ॥ केनखं० १।१५ ॥

ब्रह्मा, विष्णु, जगदीश शम्भु, सुरक्षक, गुरु, गणों के प्रभु के प्रति नमस्कार है ॥ ७ ॥ आत्म स्वरूप को प्राप्त प्रकाश कराने वाली जगत् को धारण करने वाली विशुद्ध आनन्द रूप मूर्त्ति=देह वाली सत्य चैतन्य मूर्ति वाली विद्या स्वरूप देवी को बारबार नमस्कार है ॥ ८ ॥ उक्त शुद्धात्मविद्या को देने के स्वभाव वाले ब्रह्म स्वरूप वीर=समर्थ गुरु शुद्धात्मस्वरूप परब्रह्मस्वरूप वाले को वाक् मन, देह से नमस्कार हो ॥ ९ ॥ अव्यक्त=प्रकृति ईश्वर, प्राण, बुद्धि, मन, इन्द्रियादि में जीव की आत्मता प्रसिद्ध है, इनके संघादि में अहंबुद्धि आदि जीवों का स्वभाव सिद्ध है, तथा लोकादि के व्यवहारादि से इन में आत्मत्व सिद्ध है, देहादि के पोषणादि के लिये जीव सदा स्वभाव से ही प्रवृत्त रहते हैं, इससे एकदेशी किसी वस्तु में शास्त्र गुरुविचारादि से वह आत्मत्व साध्य=साधनीय नहीं है, किन्तु जो प्रकृति देहादि में आत्मत्व प्रसिद्ध है, उसको सच्चिदानन्द ब्रह्म में समर्पण कर्तव्य है, इसी के लिये शास्त्रादि हैं, कि जिस समर्पण जन्य ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति रूप मोक्ष हो ॥ १० ॥ 'वह ब्रह्म क्या है ?' यदि ऐसी सत्य जिज्ञासा हो तो उस ब्रह्म उपदेश का श्रवण करो, परन्तु हे धीर ! धर्मयुक्त गुरु सेवा दानादि कर्मों से प्रथम संस्कृत=शुद्ध होकर फिर श्रुति आदि के वचनों से ब्रह्म का श्रवण करो ॥ ११ ॥ सुख स्वरूप वस्तुतः ब्रह्म ही है, किसी इष्ट वस्तु के मिलने से, अनिष्ट के निवृत्त होने से, वह ब्रह्मरूप सुख शान्त हृदय में व्यक्त अनुभूत होता है, तथा समाधि सुषुप्ति में विषयादि बिना भी वह अनुभूत होता है, अल्प=तुच्छ विषयादि में कहीं किसी प्रकार भी सुख नहीं है । और वह ब्रह्म ही विभु=व्यापक सब का आत्मा = पारमार्थिक स्वरूप है, सो अपनी महिमा में स्थिर है, अन्य में नहीं ॥ १२ सत्य ज्ञान अनन्त=देशकाल वस्तु कृत भेद रहित स्वरूप, आनन्द स्वरूप जो ब्रह्म है, उसी के ज्ञान से विमुक्ति होती है, और जो उस ब्रह्मनिष्ठ=ब्रह्म निश्चय वाला तद्गतचित्तवाला होता है, सो फिर डरता नहीं है ॥ १३ ॥ जो चिद्वस्तु, वागिन्द्रिय और इन्द्रिय जन्य पद वाक्यादिवाणी से अभ्युदित=कथित-प्रकाशित नहीं होता है, किन्तु जिस सच्चिद् वस्तु से वाग् उच्चारित प्रकाशित होती है, उसी सर्वात्मा साक्षी को तुम ब्रह्म जानो, और जिस इस अनात्मवस्तु उपाधिविशिष्टादि की उपासना उपासक करते हैं, उस उपास्य को ब्रह्म नहीं जानो ॥ १४ ॥ जो प्राण=नासिका वृत्ति घ्राण पंचवृत्ति प्राण से प्राणित = सिद्ध चेष्टित नहीं होता है किन्तु जिससे प्राण सिद्ध चेष्टायुक्त होता है, उसी ब्रह्म को तुम जानो, इदं रूप से जिसकी उपासना करते हैं, उसे ब्रह्म नहीं जानो ॥ १५ ॥ जो श्रोत्र=कर्ण

दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते । ब्रह्मशब्देन तद्ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम् ॥१७॥

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः । कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥१८॥

शुकरहस्योपनिष० २।८–१२ ॥

शुद्धमीश्वरचैतन्यं जीवचैतन्यमेव च । प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं च फलं तथा ॥१९॥

इति सप्तविधं प्रोक्तं भिद्यते व्यवहारतः । मायोपाधिविनिर्मुक्तं शुद्धमित्यभिधीयते ॥२०॥

मायासम्बन्धतश्चेशो जीवोऽविद्यावशस्तथा । अन्तःकरणसम्बन्धात्प्रमातेत्यभिधीयते ॥२१॥

तथा तद्वृत्तिसम्बन्धात्प्रमाणमिति कथ्यते । अज्ञातमपि चैतन्यं प्रमेयमिति कथ्यते ॥२२॥

तथा ज्ञातं च चैतन्यं फलमित्यभिधीयते । स्वयं मृत्वा स्वयं भूत्वा स्वयमेवावशिष्यते ॥२३॥

रुद्रकठोपनि० ॥

य एष सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥

तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ २४ ॥ कठ० २।५।८ ॥

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥२५॥

इन्द्रिय का भी श्रोत्र = आत्मा-प्रकाशक है, इसी प्रकार मन का मन, वाक् का वाक्, प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु है, इस प्रकार के ज्ञान से श्रोत्रादि में आत्मता को त्याग कर सत्यात्मा को जानकर धीर लोग इस शरीर संसार से रहित अभिमान से विमुक्त होकर अमृत होते हैं ॥ १६ ॥ इन्द्रिय मन से दृश्य विषय अनात्मा रूप सब जगत् के तत्त्व = सार को ब्रह्म शब्द से कहा जाता है, सो ब्रह्म स्वयं प्रकाश आत्म स्वरूप है ॥ १७ ॥ यह आत्मा ही कार्याविद्या अन्तःकरण रूप उपाधि = भेदक सहित हो कर जीव कहलाता है, कारण रूप माया उपाधि वाला ईश्वर है, और भाग त्याग लक्षणा विवेक विज्ञान से कार्य कारण पन को त्याग कर निश्चित स्थित वस्तु पूर्ण ज्ञान स्वरूप अवशिष्ट रहती है ॥ १८ ॥ शुद्ध = निर्गुण ब्रह्म, ईश्वर चैतन्य, जीव चैतन्य, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और फल इस प्रकार व्यवहार से सात प्रकार का चेतन कहा गया है, तहाँ माया उपाधि से रहित शुद्ध कहलाता है ॥ १९-२० ॥ माया के सम्बन्ध से ईश्वर और अविद्या की वशता से जीव, अन्तःकरण के सम्बन्ध से प्रमाता कहा जाता है ॥ २१ ॥ और अन्तःकरण की विषयाकारवृत्ति के सम्बन्ध से चेतन प्रमाण कहा जाता है, अज्ञात विषयावच्छिन्न वा अनवच्छिन्न चेतन प्रमेय कहलाता है ॥ २२ ॥ और ज्ञात = तद् तद् वृत्ति से आवरण भंग युक्त चेतन वृत्ति का फल कहलाता है. आत्मा ही देहाभिमानादि के त्याग से स्वयं मरकर और सर्वात्मा साक्षिरूपता के अनुभव से स्वयं अचल अखण्ड होकर स्वयम् ही बाकी रहता है ॥ २३ ॥ अन्तःकरण से अतिरिक्त प्राण आदि के सोने लीन होने पर भी जो यह आत्मा काम्य वस्तुओं का निर्माण = (सिद्धि रचना) करता हुआ स्वप्न में जागता है, वही शुक्र = शुद्ध है, वही सर्व साक्षी ब्रह्म है, वही अमृत = अविनाशी कहा जाता है, तथा उसी में सब लोक स्थिर हैं, उसी का कोई अतिक्रमण नहीं करता है ॥ २४ ॥ जैसे एक अग्नि भुवन = लोक में प्रविष्ट = पैठी है, सो लकड़ी आदि के तत्तद्रूपों के प्रति प्रतिरूप = भिन्न २ तत्तत् सदृश हुई है, वैसे ही सब प्राणियों का अन्तरात्मा एक होता हुआ भी रूप रूप के प्रति आभासादि

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥२६॥
एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥२७॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥२८॥ कठ० अ० २।५।८-११-१३॥

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्मनिष्कलम् । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥२९॥
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥३०॥
ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥ ३१ ॥ मुण्ड० २।२।११-१३॥

प्रत्यस्तमितभेदं च सत्तामात्रमगोचरम् । वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसञ्ज्ञितम् ॥३२॥
अग्निपु० अ० ३७९।३० ॥

दारुण्यग्निस्तिले तैलं पयस्सु च यथा घृतम् । तथाऽसौ परमात्मा वै सर्वं व्याप्यात्मवेदनः ॥३३॥
शिवपु० संहिता० ५।१६।२५॥

द्वारा भिन्न २ तत्सदृश हुआ है, और सत्य स्वरूप से उन सब रूपों से बाहर शुद्ध ही है ॥ २५ ॥ जैसे सूर्य सर्वलोक के चक्षु = नेत्र के अधिदेव होते हुए भी, अशुचि दर्शनादि जन्य बाह्य वा अन्तर के दोष पापादि से लिप्त नहीं होते हैं, वैसे ही एक सब प्राणियों का अन्तरात्मा भी लोक के दुःखों से लिप्त नहीं होता है, क्यों कि वह अज्ञान जन्य दुःखादि से बाह्य असंग है ॥ २६ ॥ वह एक सब का अन्तरात्मा वशी = स्वतन्त्र ईश्वर है, जो अपने एक स्वरूप को उपाधियों से बहुत प्रकार का करता है, उस को आत्मस्थ = हृदयस्थ जो धीर समझते हैं, उन्ही को शाश्वत = नित्य सुख है, अन्य को नहीं ॥ २७ ॥ अनित्यों = विनाशियों का नित्य = अविनाशी, आत्मा, चेतन ब्रह्मा आदि का भी चेतनात्मा जो एक सर्वात्मा बहुत प्राणियों के काम = कर्म फल को कर्मानुसार सिद्ध करता, देता है, उस को जो धीर हृदय में देखता है, उस को नित्य शान्ति मिलती है, अन्य को नहीं ॥ २८ ॥ हिरण्यमय = प्रकाशमय पर = उत्तम कोश तुल्य हृदय कमल में विरज = निर्दोष, निष्कल = निरवयव, शुभ्र = शुद्ध ज्योतियों की ज्योति वह ब्रह्म है, और वही वह ब्रह्म है कि जिस को आत्मवेत्ता समझते हैं ॥ २९ ॥ जिस सर्वात्मा ब्रह्म में सूर्य, चन्द्र, तारे नहीं प्रकाश करते हैं, तो यह अग्नि कैसे प्रकाश कर सकती है ? उस ब्रह्म के ही स्वयं प्रकाशित रहते ये सूर्यादि सब प्रकाशते हैं, इससे उसी के प्रकाश से यह सब जगत् प्रकाशता है ॥ ३० ॥ अमृत = नित्यमुक्त ब्रह्म यह आगे, पीछे, पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, नीचे, ऊपर, सर्वत्र व्यापक है, ब्रह्म ही यह विश्व सर्व स्वरूप है, ब्रह्म ही की सत्ता प्रकाश सर्वत्र है, ब्रह्म ही सर्व श्रेष्ठ स्वरूप है ॥ ३१ ॥ भेद रहित सर्वत्र सत्ता मात्र वाणियों का अविषय = अवाच्य आत्मसंवेद्य = स्वयंप्रकाश जो ज्ञान सो ब्रह्मसंज्ञा = नाम वाला हुआ है ॥ ३२ ॥ लकड़ी में व्यापक अग्नि, तिल में व्यापक तैल, दूध में व्यापक घृत के समान, आत्मसंवेदन = स्वयं प्रकाश वह परमात्मा = ब्रह्म सब को व्याप्त करके वर्तमान है ॥ ३३ ॥

यत्किञ्चिद् दृश्यते दृश्यं वर्ण्यते स्मर्यते च यत् । तत्सर्वं शिवरूपं हि नान्यदस्तीति किञ्चन ॥३४॥

शिवपु० सं० ४।१।११ ॥

शर्वो भवस्तथा रुद्र उग्रो भीमः पशोः पतिः । ईशानश्च महादेवो मूर्त्तयश्चाष्ट विश्रुताः ॥३५॥

भूम्यम्भोऽग्निमरुद्व्योमक्षेत्रज्ञार्कनिशाकराः । अधिष्ठिताश्च शर्वाद्यैरष्टरूपैः शिवस्य हि ॥३६॥

यथेह पुत्रपौत्रादेः प्रीत्या प्रीतो भवेत् पिता । तथा विश्वस्य सम्प्रीत्या प्रीतो भवति शङ्करः ॥३७॥

क्रियते यस्य कस्यापि देहिनो यदि निग्रहः । अष्टमूर्त्तेरनिष्टं तत् कृतमेव न संशयः ॥३८॥

शिवपु० सं० ३।४ ॥

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः । तैरेव च विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः ॥३९॥

महाभा० शान्तिप० अ० १८७।२३ ॥

आत्माऽयं केवलः स्वच्छः शुद्धः सूक्ष्मः सनातनः । अस्ति सर्वान्तरः साक्षाच्चिन्मात्रस्तमसः परः ॥४०॥

सोऽन्तर्यामी स पुरुषः स प्राणः स महेश्वरः । स कालोऽत्र तदव्यक्तं स च वेद इति श्रुतिः ॥४१॥

तस्माद्विजायते विश्वमत्रैव प्रविलीयते । स मायी मायया बद्धः करोति विविधास्तनूः ॥
न चायं संसरति न च संसारमयः प्रभुः ॥ ४२ ॥

जो कुछ दृश्य = दीखने योग्य वस्तु दीखती है, जो कुछ वाणी से वर्णन किया जाता है, जो कुछ वस्तु मन से विचारी समझी जाती है स्मरण ध्यान से समझी जाती है, सो सब शिव = ब्रह्म शुभ स्वरूप ही है, सब की सत्ता ब्रह्म स्वरूप है, ब्रह्म से अन्य कुछ भी नाम रूपात्मक वस्तु सत्य नहीं है ॥ ३४ ॥ शर्व, भव, रुद्र, उग्र, भीम. पशुपति. ईशान, महादेव, इन नामों वाली आठ मूर्तियाँ विश्रुत = विख्यात-प्रसिद्ध हैं ॥ ३५ ॥ उन शिव की मूर्तियों, शर्वादि नामवालों से भूमि, जल तेज, वायु, आकाश, क्षेत्रज्ञ, सूर्य, चन्द्रमा अधिष्ठित हैं, अर्थात् ब्रह्म के कल्पित कारणात्मक आठरूपसे सब भूत भौतिक पदार्थ और जीवों की स्थिति है ॥ ३६ ॥ जैसे संसार में पुत्रपौत्रादि के सुख से पिता सुखी प्रसन्न होता है, वैसे ही संसार के सुख से सर्वात्मा शंकर सुखी होता है, संसार में शान्ति से सुखस्वरूप ब्रह्म सुखरूप से व्यक्त होता है, क्यों कि वही सर्वत्र शं = सुख कारक है ॥ ३७ ॥ यदि जिस किसी भी देही का विनिग्रह = सुख प्रतिरोध बन्धन किया जाता है, तो आठ मूर्ति वाले शिव को ही वह अनिष्ट सिद्ध होता है, इसमें संशय नहीं, देही के देह में भूमि आदि आठो का भाग वर्तमान है, इससे उनका अधिष्ठाता आठ स्वरूप वाला ब्रह्म भी वहाँ है, देह के निग्रह से वह आनन्द रूप से व्यक्त नहीं होता है, इससे निग्रह ब्रह्म के लिये अनिष्ट है ॥ ३८ ॥ प्राकृत गुण अन्तःकरणादि रूप उपाधि से संयुक्त उस में प्रतिबिम्बित हो कर असंग भी आत्मा क्षेत्रज्ञ = जीव कहलाता है, और उन गुणों से विनिर्मुक्त निरुपाधिक स्वरूप से वर्तमान आत्मा ही परमात्मा ब्रह्म कहा गया है ॥ ३९ ॥ तमोगुण अविद्यादि से भिन्न यह आत्मा केवल = एक स्वच्छ = निर्मल शुद्ध सूक्ष्म सनातन = अनादि सब का अन्तरात्मा साक्षात् चेतन मात्र है ॥ ४० ॥ वह आत्मा ही अन्तर्यामी = ईश्वर माया उपाधि से कहलाता है, वही देहादि रूप पुर में रहने से पुरुष कहलाता है, और प्राण = हिरण्य गर्भ कहलाता है, तथा ऐश्वर्य से महेश्वर कहलाता है, प्रलयाधार होने से काल है, अदृश्य होने से अव्यक्त = गुप्त है, ज्ञान रूप वेद है, यह श्रुति है ॥ ४१ ॥ उसी की माया से विश्व होता है, उसी में लीन होता है, वही माया वाला माया से बद्ध = परिच्छिन्न तुल्य हो कर अनेक प्रकार के शरीर बनाता है । तो भी यह प्रभु = आत्मा जन्मता मरता नहीं है न कहीं आता जाता है, इससे यह संसारी नहीं है, न संसारमय है ॥४२॥

यथा प्रकाशतमसोः सम्बन्धो नोपपद्यते। तद्वदैक्यं न सम्बन्धः प्रपञ्चपरमात्मनोः ॥४३॥
छायातपौ यथा लोके परस्परविलक्षणौ। तद्वत्प्रपञ्चपुरुषौ विभिन्नौ परमार्थतः ॥४४॥
अहङ्कर्ता सुखी दुःखी कृशः स्थूलेति या मतिः। सा चाहङ्कारकर्तृत्वादात्मन्यारोपिता जनैः ॥४५॥
अनात्मन्यात्मविज्ञानं तस्माद् दुःखं तथेतरत्। रागद्वेषादयो दोषाः सर्वे भ्रान्तिनिबन्धनाः ॥४६॥
कर्माण्यस्य महान् दोषः पुण्यापुण्यमिति स्थितिः। तद्वशादेव सर्वेषां सर्वदेहसमुद्भवः ॥४७॥
यथा च धूमसम्पर्कान्नाकाशो मलिनो भवेत्। अन्तःकरणजै र्भावैरात्मा तद्वन्न लिप्यते ॥४८॥

कूर्मपु० ईश्वरगीता० अ० २।४। इत्यादि ॥

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह। यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति गीयते ॥४९॥
ऋषिः सर्वगतत्वाच्च शरीरी सोऽस्य यत्प्रभुः। स्वामित्वमस्य यत्सर्वं विष्णुः सर्वप्रवेशनात् ॥५०॥
भगवान् भगवद्भावान्निर्मलत्वाच्छिवः स्मृतः। परमः सम्प्रकृष्टत्वादवनादोमिति स्मृतः ॥५१॥

लिङ्गपु० अ० ७०।९६। इत्यादि ॥

न सन्ति यत्र सर्वेशे नामजात्यादिकल्पना। सत्तामात्रात्मके ज्ञेये ज्ञानात्मन्यात्मनः परे ॥५२॥

क्यों कि जैसे प्रकाश और तम का सम्बन्ध नहीं होता है, तैसे ही प्रपञ्च=संसार और परमात्मा की न एकता है न सत्य सम्बन्ध है, क्यों कि जड़ चेतन की एकता, और निरवयव निर्गुण असंग और सगुण ससङ्ग के परस्पर सम्बन्ध अयुक्त हैं ॥ ४३ ॥ जैसे लोक में छाया और आतप=अन्धकार प्रकाश परस्पर विलक्षण हैं, तैसे परमार्थ=सत्य स्वरूप से प्रपञ्च और पुरुष=आत्मा विभिन्न है ॥ ४४ ॥ मैं कर्ता सुखी दुःखी कृश स्थूल हूँ, इस प्रतीति से जो आत्मा में संसार के सम्बन्ध की प्रतीति होती है, वह प्रतीति चिदाभास युक्त अहङ्कार जन्य होती है, इससे अहङ्कार के साथ संसार का सम्बन्ध है, परन्तु अज्ञ जनों से वह बुद्धि ज्ञान आत्मा में आरोपित की गई है ॥ ४५ ॥ क्योंकि अज्ञ को अनात्म देहादि में आत्मत्व का ज्ञान है, तिसी से आत्मा में सुखदुःख भासते हैं, भ्रान्तिहेतुक ही रागद्वेषादि सब दोष होते हैं, और रागद्वेष-हेतुक भ्रम से कर्मरूप महादोष होते हैं, तथा कर्म जन्य पुण्य पाप होते हैं, यहाँ यही सिद्धान्त की बात है, और उस पुण्य पाप की वशिता=अधीनता से ही सब प्राणियों के सब देहों की उत्पत्ति होती है ॥ ४६-४७ ॥ तो भी जैसे धूम के सम्बन्ध से आकाश मलिन नहीं होता है, तैसे ही अन्तःकरण जन्य भाव = स्वभाव क्रियादि से आत्मा लिप्त नहीं होता है ॥ ४८ ॥ जिससे सुषुप्ति कालमें "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति।" [छां० ६।८।१] इस श्रुति के अनुसार सत्य तत्त्व को प्राप्त करता है, सत्य से सम्पन्न युक्त होता है, स्वप्न काल में जाग्रत् की वासना को आदान ग्रहण करता है, जाग्रत् में यहाँ विषयों को भोगता है और जिस से इसका संतत=नित्य निरंतर भाव=सत्ता है, इससे = (आप्नोति, आदत्ते, अत्ति, अतति, इति) आत्मा कहा जाता है, तीन आत्मा के व्यावहारिक स्वरूप हैं, अन्तिम पारमार्थिक है ॥ ४९ ॥ सर्वगत होने से आत्मा ऋषि कहलाता है, इस देह का जिससे प्रभु है इससे देही है, इसी के जिससे सब हैं, इससे स्वामिता है, सब में प्रवेश से विष्णु कहलाता है, ऐश्वर्य स्वभाव वाला होने से आत्मा भगवान् है, निर्मल होने से शिव = शुभ कहा गया है ॥ प्रकृष्ट होने से परम स्वरूप कहलाता है, सब का अवन = रक्षण प्रकाशादि करने से ओम् कहा गया है ॥ ५०-५१ ॥ जिस सर्वेश्वर=ब्रह्म में सत्य नाम जाति आदि की कल्पना= की सिद्धि नहीं है, क्योंकि जो सब का सत्ता मात्र और आत्मस्वरूप है, ज्ञान स्वरूप है, मन बुद्धि आदि

तद् ब्रह्म परमं धाम परमात्मा स चेश्वरः । स विष्णुः सर्वमेवेदं यतो नावर्त्तते यतिः ॥५३॥
विष्णुपु० अंश० ६।४ ॥

परमात्मा परानन्दः सर्वोपाधिविवर्जितः । ज्ञानैकवेद्यपरमः सच्चिदानन्दविग्रहः ॥५४॥
योऽसौ शुद्धोऽपि परमो ह्यहङ्कारेण संयुतः । देहीति प्रोच्यते मूढैरहोऽज्ञानविडम्बनम् ॥५५॥
नारदीयपु० पू० अ० ३।२२-२३ ॥

यत्तत्सूक्ष्ममविज्ञेयमव्यक्तमचलं ध्रुवम् । इन्द्रियैरिन्द्रियार्थैश्च सर्वभूतैश्च वर्जितम् ॥५६॥
स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चैव कथ्यते । त्रिगुणव्यतिरिक्तोऽसौ पुरुषश्चेति विश्रुतः ॥५७॥
हिरण्यगर्भो भगवान् स वै बुद्धिरिति स्मृतः । धृतं नैकात्मना येन त्रैलोक्यमिदमात्मना ॥५८॥
अशरीरः शरीरेषु सर्वेषु निवसत्यसौ । वसन्नपि शरीरेषु न स लिप्यति कर्मभिः ॥५९॥
ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहसञ्ज्ञिताः । सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित्क्वचित् ॥६०॥
सगुणो निर्गुणो विश्वो ज्ञानगम्यो ह्यसौ स्मृतः । सर्वतः पाणिपादोऽसौ सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः ॥६१॥
सर्वतः श्रुतिमांल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति । सर्वेन्द्रियगुणावासं सर्वेन्द्रियमथो ह्यसौ ॥६२॥

से पर = भिन्न है, मन आदि का अविषय है, इससे उस में विशेष नामादि मन आदि से सिद्ध नहीं हो सकते हैं, तो भी मुमुक्षु से वही ज्ञेय है, क्योंकि नामादि रहित ही ब्रह्म परम धाम = आश्रय तेज है, और वही परमात्मा और ईश्वर है, वही विष्णु है, और इस सब चराचर स्वरूप सब का आत्मा है, कि जिस को प्राप्त होकर ज्ञानी संयमी पुरुष फिर संसार में नहीं आता है ॥ ५२-५३ ॥ परमानन्दस्वरूप परमात्मा वस्तुतः माया, अविद्या, अन्तःकरणादि, सब उपाधियों से रहित = असङ्ग है, केवल ज्ञान से समझने योग्य परमोत्तम स्वरूप सच्चिदानन्द स्वरूप है, जो वह परम शुद्ध भी अहंकार से युक्त है, वही मूढ़ों से देही कहा जाता है, तथा जो परम शुद्ध भी अहंकार से युक्त और देही मूढों से कहा जाता है, यह आश्चर्य स्वरूप अज्ञान से विडम्बना = वञ्चना है ॥ ५४-५५ ॥ जो वह सूक्ष्म ब्रह्म विशेष रूप से अविज्ञेय है, अव्यक्त=गुप्त अचल ध्रुव = नित्य है, इन्द्रिय और इन्द्रियों के विषय शब्दादि से और पृथिवी आदि सब भूतों से रहित असंग है ॥ ५६ ॥ वही सब प्राणियों का अन्तरात्मा और क्षेत्रज्ञ भी कहा जाता है, तीन गुणों से भिन्न वह पुरुष इस नाम से भी विश्रुत है ॥ ५६-५७ ॥ वही हिरण्यगर्भ, भगवान् , बुद्धि ऐसा भी कहा गया है. जिस ने आप से अनेक स्वरूप द्वारा इस त्रैलोक्य का धारण किया है ॥ ५८ ॥ वह शरीर रहित होते हुए भी सब शरीरों में निरन्तर बसता है, और शरीरों में बसता हुआ भी शरीरादि के कर्मों से वह लिप्त नहीं होता है ॥ ५९ ॥ जो मेरा अन्तरात्मा है, तेरा अन्तरात्मा है. जो अन्य देह नाम वाले हैं, उनका अन्तरात्मा है, और सब का साक्षी स्वरूप भी वह किसी से कहीं ग्रहण योग्य नहीं है ॥ ६० ॥ माया से सगुण वस्तुतः निर्गुण और विश्व = सर्वस्वरूप वह आत्मा ज्ञानगम्य = ज्ञान से लभ्य कहा गया है, वह सर्वत्र पाणिपादवाला और सर्वत्र आँखमुखवाला कहा गया है, अर्थात् सब पाणिपादादि उसी की सत्ता से अपने २ व्यापारों में समर्थ होते हैं, इस से सब के पाणि आदि उसी के हैं ॥ ६१ ॥ इसीसे सर्वत्र श्रुति = कान वाला वह लोक में है, और सबको ढाँप कर स्थिर है, सब इन्द्रिय और गुण रूप आवास = वास स्थान वाला है, इस से सब इन्द्रिय गुण का आवास

यथा दीपसहस्राणि स च एकः प्रसूयते। बुध्यते स यदात्मानं तदा भवति केवलः ॥
एकत्वं प्रलये चास्य बहुत्वं च प्रवर्त्तनात् ॥ ६३ ॥
नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्थावरजङ्गमम्। ऋते तमेकमीशानं भूतं स्थावरजङ्गमम् ॥६४॥
अक्षयश्चाप्रमेयश्च सर्वगश्च स उच्यते। तस्माद्व्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम ! ॥६५॥
अव्यक्तव्यक्तभावस्था या सा प्रकृतिरुच्यते। तां योनिं ब्रह्मणो विद्धि नित्यं योऽसौ मदात्मकः ॥६६॥
लोके च पूज्यते योऽसौ दैवे पित्र्ये च कर्मणि। नास्ति तस्मात्परो ह्यन्यः पिता देवोऽपि सात्त्विकः ॥६७॥
आत्मा हि नः स विज्ञेयस्ततस्तं पूजयाम्यहम्। स्वर्गस्था अपि ये केचित्तं नमस्यन्ति देहिनः ॥६८॥

शाम्बपुरा० । मित्रोक्ति नारदं प्रति ॥

स वासुदेवः प्रकृतौ पुंसि कार्येषु चैतयोः। अन्वितश्च पृथक् चास्ते सर्वाधीशः स्वधामनि ॥६९॥
व्याप्य स्वांशैरिमांल्लोकान् यथाग्निवरुणादयः। स्वस्त्यासते स्वस्वलोके तथैव भगवान् मुने ! ॥७०॥
सर्गात्प्राक् सच्चिदानन्दः शुद्ध एकश्च निर्गुणः। अथासीत्ताद्दृगेवासावन्वितोऽप्यस्ति निर्मलः ॥७१॥
वायुतेजोजलक्ष्मासु तत्तत्कार्येषु खं यथा। अन्वीयाऽप्यस्ति निर्लेपं यथापूर्वं तथैव हि ॥७२॥
वैराजः पुरुषो योऽत्र प्रोक्तोऽसावीश्वराभिधः। ज्ञेयः स्वतन्त्रः सर्वज्ञो वश्यमायश्च नारद ! ॥७३॥

को और सब इन्द्रियों को वह अकेला ही दीप सहस्र के तुल्य उत्पन्न करता है, फिर वह जब अपने स्वरूप को समझता है, तब केवल=एक होता है। और प्रलय में भी इस की एकता ही रहती है, प्रवृत्ति से बहुत्व होता है ॥ ६२–६३ ॥ प्रलय इस से होता है कि इस जगत् में उस एक ईश्वरात्मा के विना कोई स्थावर जंगम भूत प्राणी नित्य नहीं है। इस से स्थावर जंगम भूत=अतीत नष्ट स्वरूप ही हैं ॥ ६४ ॥ वह आत्मा ही अक्षय अप्रमेय=अनन्त और सर्वगत कहा जाता है. हे द्विजसत्तम ! उसी से त्रिगुण अव्यक्त=प्रकृति उत्पन्न=कार्याभिमुख हुई ॥६५॥ अव्यक्त और व्यक्तभाव=स्वभाव में जो समय भेद से स्थिर होती हैं, वह प्रकृति कहलाती है, ब्रह्म एक रस रहता है, उस प्रकृति को ही ब्रह्म सम्बन्ध वाली जगत् की योनि जानो, तथा एक रस ब्रह्म की अभिव्यक्ति के हेतु समझो। जो वह ब्रह्म सदा मदात्मक=मैं इस बुद्धि का विषय है ॥ ६६ ॥ जो वह ब्रह्म ही सदा दैवादि कर्मों में पूजा जाता है, जिससे उससे अन्य पिता आदि वा सात्त्विक पूज्य देव नहीं हैं ॥ ६७ ॥ वह हम सब का आत्मा है, ऐसा समझना चाहिये, अतः मैं उसी को पूजता हूँ और स्वर्ग में स्थिर भी जो कोई देही हैं. सो सब भी उसी को नमस्कार करते हैं ॥ ६८ ॥ सब का अधीश्वर=स्वामी वह वासुदेव=ब्रह्म प्रकृति और पुरुष=जीव में अधिष्ठान आत्मस्वरूप से अन्वित=मिलित है, और उन दोनों के कार्यों में भी अन्वित है, तो भी सत्य स्वरूप से स्वधाम=तेज ज्ञान स्वरूप में सबसे पृथक्=असङ्ग रहता है ॥ ६९ ॥ हे मुने ! जैसे अग्नि वरुणादि देव अपने अंशों द्वारा इन लोकों में व्याप्त हो कर भी अपने २ लोकों में स्वस्ति=मंगल क्षेममय हैं, तैसे ही भगवान्=ब्रह्म प्रतिबिम्बों द्वारा सब में व्याप्त हो कर भी स्वरूप में निर्विकार रहता है ॥ ७० ॥ सृष्टि से प्रथम वह भगवान् सच्चिदानन्द एक शुद्ध निर्गुण था, सृष्टि के बाद सृष्टि में अन्वित भी वह भगवान् वैसा ही निर्मल है ॥७१॥ वायु, तेज, जल, भूमि में और उनके तत्तत् कार्यों में जैसे आकाश मिला होता हुआ भी निर्लेप है, तैसे ही यह वासुदेव=ब्रह्मात्मा सृष्टि से पूर्व के समान निर्लेप है ॥७२॥ हे नारद ! ईश्वर नाम वाला जो वह वैराज=विराट पुरुष इस संसार में कहा गया है, माया को वश में रखने वाला सर्वज्ञ स्वतन्त्र वह ज्ञेय=

एतस्यैव स्वरूपाणि ब्रह्मविष्णुशिवास्त्रयः ॥ ७४ ॥

ब्रह्मणो ये समुत्पन्ना देवासुरनरादयः । ते जीवसञ्ज्ञा स्वल्पज्ञाः परतन्त्रा भवन्ति च ॥७५॥

जीवानामीश्वराणां च तनवः क्षेत्रसञ्ज्ञकाः । महदादितत्त्वमय्यः क्षेत्रज्ञाख्यास्तु तद्विदः ॥७६॥

स्कन्दपु० वैष्णवखं० वासुदेवमा० अ० २४।६५। इत्यादि ॥

जीवः कर्मफलं भुङ्क्ते आत्मा निर्लिप्त एव च । आत्मनः प्रतिबिम्बं च देही जीवः स एव च ॥७७॥

कर्त्ता भोक्ता च देही च स्वात्मा भोजयिता सदा । भोगो विभवभेदश्च निष्कृति र्मुक्तिरेव च ॥७८॥

ब्रह्मवैवर्त्तपु० प्रकृति खं० अ० २५ ॥

परमात्मस्वरूपं च परं ब्रह्म सनातनम् । सर्वदेहस्थितं साक्षिस्वरूपं देहिकर्मणाम् ॥७९॥

प्राणाः पञ्च स्वयं विष्णु र्मनो ब्रह्म प्रजापतिः । सर्वज्ञानस्वरूपोऽहं शक्तिः प्रकृतिरीश्वरी ॥८०॥

ब्रह्मवैवर्त्तपु० ब्रह्मखं० अ० २८ ॥

अयं प्रपञ्चो मिथ्यैव सत्यं ब्रह्माहमद्वयम् । अत्र प्रमाणं वेदान्ता गुरवोऽनुभवस्तथा ॥८१॥

ब्रह्मैव पश्यति ब्रह्म नाब्रह्म ब्रह्म पश्यति । सर्गादिनाम्ना प्रथितः स्वभावोऽस्यैव चेदृशः ॥८२॥

योगवासि० प्र० ३।२१।३५-३६ ॥

आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः । अविक्रियः स्वदृग् हेतु र्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः॥८३॥

एतै र्द्वादशभि र्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः । अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत् ॥८४॥

जानने योग्य है ॥ ७३ ॥ इस विराट् का ही स्वरूप विशेष ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये त्रिदेव हैं ॥ ७४ ॥ और ब्रह्म से उत्पन्न होने वाले देव असुर मनुष्यादि जो हैं, सो सब जीव नाम वाले अल्पज्ञ और परतन्त्र ही होते हैं ॥ ७५ ॥ जीवों के और ईश्वरों=ब्रह्मादि के शरीर सब क्षेत्र नाम वाले हैं, और सब शरीर महत्तत्व अहङ्कारादि तत्त्व=स्वरूप मय हैं और उन क्षेत्रों=शरीरों को जानने वाले क्षेत्रज्ञ नाम वाले हैं ॥ ७६ ॥ जीव कर्म करता है, और कर्म के फल को भोगता है, आत्मा=ब्रह्म निर्लेप ही रहता है, आत्मा का प्रतिबिम्ब ही देही है, सोई जीव है ॥७७॥ देही कर्ता भोक्ता है, अपना आत्मा सदा भोजयिता=भोग का साक्षी है, विभव=धन सुख के भेद को भोग कहते हैं, और भोग की निवृत्ति मुक्ति ही है ॥ ७८ ॥ सब का परम अत्यन्त आत्म स्वरूप सनातन = नित्य पर ब्रह्म सब देह में स्थिर है, और देहियों के कर्मों का साक्षी = प्रकाशक स्वरूप है ॥ ७९ ॥ पाँच प्राण रूप स्वयं विष्णु हैं, कि जिस से शरीर का पालन होता है, मन स्वयं प्रजापति ब्रह्मा है, जो सङ्कल्पादि द्वारा देह की सृष्टि करता है, सब ज्ञान स्वरूप मैं = शिव हूँ, कि जिस ज्ञान से मुक्ति भी होती है, प्रकृति ईश्वरी शक्ति है ॥ ८० ॥ वस्तुतः यह मायामय प्रपञ्च=विस्तार स्वप्न तुल्य मिथ्या है, अद्वैत ब्रह्म मैं=आत्मा ही सत्य हूँ, इस अर्थ में उपनिषद्, गुरु और अनुभव प्रमाण हैं ॥८१॥ औपाधिक स्वरूप वाला ब्रह्म ही ब्रह्म को देखता जानता है, अब्रह्म=जड़ ब्रह्म को नहीं देखता है, और इस ब्रह्म का स्वभाव ही=माया ही ऐसा है, जो सर्गादि=सृष्टि आदि नाम से प्रख्यात है, सृष्टि आदि माया मात्र है ॥८२॥ आत्मा नित्य=अविनाशी, अव्यय=विकार ह्रास रहित, शुद्ध एक क्षेत्रों देहों का प्रकाशक क्षेत्रज्ञ, सर्वाधिष्ठान रूप, सर्वाश्रय, अविकारी, स्वयंप्रकाश, माया द्वारा सब का कारण, व्यापक, असङ्ग, आवरणरहित है ॥८३॥ आत्मा के उत्तम इन द्वादश=बारह लक्षणों के द्वारा विद्वान्=विवेकी पुरुष देहादि

बुद्धे जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः । ता येनानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः ॥८५॥

भागव० स्क० ७।७ । नारदोक्तिः ॥

यथा नभसि मेघौघो रेणुर्वा पार्थिवेऽनिले । एवं द्रष्टरि दृश्यत्वमारोपितमबुद्धिभिः ॥८६॥

अतः परं यदव्यक्तमव्यूढगुणव्यूहितम् । अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात्स जीवो यत्पुनर्भवः ॥८७॥

यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वयंविदा । अविद्ययाऽऽत्मनि कृते इति तद् ब्रह्मदर्शनम् ॥८८॥

एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्त्तुरजनस्य च । वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पतेः ॥८९॥

भागव० स्क० १।३।३१ इत्यादि ॥

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः । गुणस्य मायामूलत्वान्न मे बन्धो न मोक्षणम् ॥९०॥

शोकमोहौ सुखं दुःखं देहोत्पत्तिश्च मायया । स्वप्नो यथात्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी ॥९१॥

भागव० स्क० ११।११।१० ॥

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः । प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम् ॥९२॥

स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः । यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया ॥९३॥

गुणैर्विचित्राः सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः । विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया ॥९४॥

एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान् । कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते ॥९५॥

में मोहजन्य अहं ममादि रूप असत् = मिथ्या भावना को त्यागे ॥८४॥ जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति यह वृत्ति = अवस्था भी बुद्धि की हैं आत्मा की नहीं, सो वृत्तियाँ जिससे जानी जाती हैं, वह प्रत्यक्ष उन से अन्य पुरुष = आत्मा है ॥ ८५ ॥ जैसे आकाश में मेघ के समूह और वायु में पृथिवी के रेणु भासते हैं, वैसे अज्ञों से द्रष्टा = साक्षी आत्मा में दृश्यत्व = विषयता दृश्यत्वादि गुण वाला, स्थूल देह, अज्ञों से आरोपित = मिथ्या कल्पित है ॥८६॥ इस स्थूल देह से भिन्न जो अव्यक्त = सूक्ष्म है, और अव्यूढ=स्थूल सूक्ष्म समूह से रहित गुणों से व्यूहित = रचित है, वही लोक में अदृष्ट, अश्रुत, वस्तु होने से जीव = जीव की उपाधि सूक्ष्म देह है, तथा गुणमय ही कारण देह है, जिस देह से जीव को बार २ संसार में जन्म होता है ॥८७॥ ये सदसद्रूप = स्थूल, सूक्ष्म जिस ज्ञानावस्था में स्वात्मानुभव से प्रतिषिद्ध = निवारित होते हैं, जो कि अविद्या से आत्मा में कल्पित हुए हैं, उन का इस आत्म ज्ञान से निवारण होना ही ब्रह्मदर्शन है ॥ ८८ ॥ हृदय के स्वामी, अकर्त्ता, जन्म रहित, सर्वात्मा के इस प्रकार के मायामय जन्म और कर्मों को कवि लोगों ने वर्णन किया है, जो जन्मादि वेदों में गुह्य = गुप्त रूप हैं ॥८९॥ वस्तुतः आत्मा का बद्ध और मुक्त भाव भी व्यवहार त्रिगुण से ही है, और वह गुण माया जन्य है, देहादि रूप माया का कार्य है, इससे मायिक ही बन्ध मोक्ष का व्यवहार है, आत्मा को न बन्ध है न मोक्ष है ॥ ९० ॥ शोक, मोह, सुख, दुःख, देह की उत्पत्ति ये सब स्वप्न के समान आत्मा को भासते हैं, संसार सत्य नहीं है ॥ ९१ ॥ आत्मा अनादि, निर्गुण और प्रकृति से पर पुरुष है, अन्तर्ज्योति वाला स्वयं प्रकाश है, जिस प्रकाश से यह संसार समन्वित = मिलित है ॥ ९२ ॥ वही आत्मा, अविद्या से जीव हो कर वह विभु गुणमयी दैवी, सूक्ष्म दैव योग से प्राप्त प्रकृति को लीला से प्राप्त प्रकृति को यदृच्छा से = अकस्मात् स्वीकार किया ॥ ९३ ॥ गुणों से विचित्र समान स्वरूप वाली प्रजाओं की सृष्टि करने वाली प्रकृति को देख कर, उस के ज्ञानगूहया = ज्ञान को गुप्त करने वाली लीला से यहाँ शीघ्र ही मोह को प्राप्त हुआ ॥ ९४ ॥ फिर इस प्रकार पर के अभिध्यान

तदस्य संसृति र्बन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतम् । भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः ॥९६॥
कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः । भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम् ॥९७॥
यत्तत्सत्त्वगुणं स्वच्छं शान्तं भगवतः पदम् । यदाहु र्वासुदेवाख्यं चित्तं तन्महदात्मकम् ॥९८॥
भागव० स्क० ३।२६ ॥
निर्गुणोऽपि ह्यजोऽव्यक्तो भगवान् प्रकृतेः परः । स्वमायागुणमाविश्य बाध्यबाधकतां गतः ॥९९॥
सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृते र्नात्मनो गुणाः । न तेषां युगपद् राजन् ! ह्रास उल्लास एव वा ॥१००॥
जयकाले तु सत्त्वस्य देवर्षीन् रजसोऽसुरान् । तमसो यक्षरक्षांसि तत्कालानुगोऽभजत् ॥१०१॥
भागव० स्क० ७।१।६-८ ॥
आत्मा तावत्सुरा अस्ति स्वयं वेद्यो निरास्पदः । आनन्दः पूर्णचैतन्यः सदा सोऽहं न संशयः ॥१०२॥
तस्य काचित्सुराः शक्ति र्मायाख्यास्ति विमोहिनी । विचारवेलायां सात्मा भवत्येव न चान्यथा॥१०३॥
तदभेदेन सोऽप्यात्मा प्रलये जगतः स्थितः । तस्मिन् प्रपञ्चसंस्कारः स्थितः सर्वः सुरोत्तमाः ! ॥१०४॥
स्वभावादेव संक्षुब्धा वासना कर्मणा भवेत् । ततस्तत्क्षोभयुक्तात्माऽविक्रियोऽपि स्वभावतः ॥१०५॥
क्षोभकः कालतत्त्वस्य पुनः कालेन संयुतः । ईक्षणं पूर्ववत्कृत्वा पुनर्ब्रह्मादिकं जगत् ॥१०६॥

चिन्तन अध्यास से यह पुरुष प्रकृति के गुणों से किये गये कर्मों में अपनी आत्मा में कर्तृता मानता है ॥ ९५ ॥ उस मनन अविवेक से ही इस साक्षी स्वरूप स्वतन्त्र ईश्वर को परतन्त्रता भासती है, और अकर्ता को तिसी से कर्तृता है, तथा निर्वृतात्मा = सुख स्वरूप को दुःखित्व है ॥ ९६ ॥ पुरुष की प्रकृति को कार्य = देह कारण = इन्द्रिय की कर्तृता में देव लोग कारण जानते हैं, और सुख दुःख की भोक्तृता = भोग में प्रकृति से पर पुरुष का कारण जानते हैं, अर्थात् कार्यादि भूत भौतिक संसार प्रकृति जन्य है, और जीवभावापन्न आत्म से भोग का प्रकाश होता है ॥ ९७ ॥ जो वह प्रसिद्ध स्वच्छ = विशद शान्त = रागादि-रहित साक्षी स्वरूप भगवान् का पद = प्राप्ति का स्थान ज्ञानाधिकरण सत्त्वगुण है, इससे उस को वासुदेव नामक और चित्त तथा महत्तत्त्वस्वरूप भी कहते हैं ॥ ९८ ॥ प्रकृति से पर निर्गुण, अज, अव्यक्त, भी भगवान् अपनी माया के गुण में आविष्ट होकर उस के द्वारा बाध्य बाधकता को प्राप्त हुआ है ॥ ९९ ॥ सत्त्वादि प्रकृति के गुण हैं, आत्मा के नहीं, और हे राजन् ! उन गुणों का एक काल में ह्रास वा उदय नहीं होता है ॥ १०० ॥ तहाँ सत्त्व गुण के उदय काल में उस काल के अनुसार हो कर उस भगवान् ने देव और ऋषियों को सेवन किया, उन्हें बढ़ाया, रज के उदय में असुरों को और तम के उदय काल में यक्ष राक्षसों को सेवन किया ॥ १०१ ॥ हे देव ! आत्मा तो वस्तुतः प्रथम स्वयं प्रकाश, निराधार, आनन्द स्वरूप पूर्ण = विभु चैतन्य = ज्ञान स्वरूप है, सदा सोई मैं हूँ, इस में संशय नहीं है ॥ १०२ ॥ हे देव ! अति विमोहिनी मायानामक उस की कोई अनिर्वचनीय शक्ति है, विचार काल में वह शक्ति भी आत्मस्वरूप ही भासती है, अन्य रूप नहीं भासती है ॥ १०३ ॥ संसार के प्रलय काल में वह आत्मा भी उस माया से अभिन्न रूप से स्थिर रहती है, माया की सत्ता आत्मा से भिन्न नहीं रहती है, और हे सुरोत्तम ! माया से अभिन्न उस आत्मा में प्रपंच के सब संस्कार स्थिर रहते हैं ॥ १०४ ॥ फिर वह संस्कार रूप वासना सृष्टि से पूर्व काल में स्वभाव से ही संक्षुब्ध = व्यक्त चंचल होती है, फिर स्वभाव से अविकारी भी आत्मा उस के क्षोभ से युक्त स्वरूप वाला होता है ॥ १०५ ॥ क्षोभयुक्त हो कर कालतत्त्व का क्षोभक = प्रेरक होता है,

सृष्ट्वाऽनुप्राप्य तन्मोहात्सुराः संसारमण्डले । ज्ञेयज्ञात्रादिकेऽशुद्धे स्वप्नतुल्ये महत्तरे ॥१०७॥
विचार्य सर्वदुःखाद्यमनित्यं सारवर्जितम् । विरक्तो मोक्षमाकाङ्क्षन् मोक्षोपायं महत्तरम् ॥१०८॥
वेदेन दर्शितं सम्यग् सम्पाद्यात्मप्रसादतः । आत्ममात्रां परां मुक्तिं प्राप्नोत्यात्मा स्वयं सुराः ! ॥१०९॥
सर्वेषामात्मविज्ञानादेव मुक्तिर्नचान्यतः । ज्ञानादन्यत्सुराः सर्वं विज्ञानस्यैव साधनम् ॥११०॥
सूतसंहि० मुक्तिखं० अ० ८।३४। इत्यादि ॥

सच्चिदानन्दमात्मानमीशानमिमद्वयम् । अतिक्रम्य गता ये ते परिभूतास्तु देहिनः ॥१११॥
गवामनेकवर्णानामेकरूपं यथा पयः । नानाविधानां देहानामेक आत्मा तथेरितः ॥११२॥
आत्मपु० अ० १ ॥

स्वमायया कृत्स्नमिदं हि सृष्ट्वा, नभोवदन्तर्बहिरास्थितो यः ।
सर्वान्तरस्थोऽपि निगूढ आत्मा, स्वमायया सृष्टमिदं विचष्टे ॥ ११३ ॥
जगन्ति नित्यं परितो भ्रमन्ति यत्सन्निधौ चुम्बकलोहवद्धि ।
एतन्न जानन्ति विमूढचित्ताः स्वाविद्यया सम्वृतमानसा ये ॥ १४ ॥
स्वाज्ञानमप्यात्मनि शुद्धबुद्धे स्वारोपयन्तीह निरस्तमाये ।
संसारमेवानुसरन्ति ते वै पुत्रादिसक्ताः पुरुकर्मयुक्ताः ॥ ११५ ॥

बुद्ध्यवच्छिन्नचैतन्यमेकं पूर्णमथापरम् । आभासस्त्वपरं विम्बभूतमेवं त्रिधा चितिः ॥११६॥

फिर काल से युक्त होकर पूर्व सृष्टि के समान ईक्षण=आलोचन-विचार करके ब्रह्मा आदि रूप जगत् को रच कर, हे देव ! उस संसार के मोह से संसार मण्डल में प्राप्त हो कर, जो ज्ञेय ज्ञाता आदि रूप अशुद्ध अति महान् संसार है, उस में जन्माभिमानी हो कर, फिर सब दुःख के कारणरूप अनित्य साररहित संसार को विचार से जानकर, फिर विरक्त हो कर, मोक्ष की इच्छा करता हुआ, वेद से प्रदर्शित अति-महान् मोक्ष के उपाय को आत्मप्रसाद = ईश्वर गुरु की कृपा-मन की स्वच्छता से सम्पादन = सिद्ध करके, हे देव ! वह आत्मा आत्ममात्र रूप परा मुक्ति को स्वयं प्राप्त करता है ॥ १०६-१०९ ॥ सब को आत्मानुभव से ही मुक्ति होती है, अन्य से नहीं, हे देव ! ज्ञान से अन्य कर्मादि सब ज्ञान के ही साधन हैं ॥ ११० ॥ सच्चिदानन्द ईशान = ज्योतिः स्वरूप ईश्वर अद्वय = भेदरहित इस आत्मा को अतिक्रमण करके = समझे बूझे बिना जो गये सो देही पराभव पाये ॥ १११ ॥ अनेक रूप वाली अनेक गौओं का दूध जैसे एक रूप होता है, वैसे नाना प्रकार के देहों का आत्मा एक कहा गया है ॥ ११२ ॥ अपनी माया से इस सब संसार को रचकर जो आकाश के समान इस के बाहर और भीतर स्थिर है, सब के अन्तर में स्थिर भी निगूढ = अतिगुप्त आत्मा अपनी माया से जन्य इस जगत् को देखता है ॥ ११३ ॥ चुम्बक से लोहे के समान जिस आत्मा के पास में सब जगत् सर्वत्र नाचता है, जो अविद्या से आच्छादित मन वालेविमूढचित्त वाले हैं सो इस को नहीं जानते हैं ॥ ११४ ॥ जो कोई अपने अज्ञान मोह जन्मादि को माया रहित शुद्ध बुद्ध = ज्ञान स्वरूप आत्मा में आरोप करते = समझते हैं, सो पुत्रादि में आसक्त बहुत कर्मों से युक्त पुरुष संसार का ही अनुसरण करते हैं = जन्मादि पाते हैं ॥ ११५ ॥ बुद्धि से अवच्छिन्न = परिमित चेतन एक है, विम्बस्वरूप = प्रतिविम्ब का मूल स्वरूप पूर्ण = व्यापक ब्रह्म चेतन अन्य है, बुद्धि में आभास = प्रति

साभासबुद्धेः कर्तृत्वमविच्छिन्नेऽविकारिणि । साक्षिण्यारोप्यते भ्रान्त्या जीवत्वं च तथाऽबुधैः ॥११७॥
आभासस्तु मृषा बुद्धिरविद्याकार्यमुच्यते । अवच्छिन्नं तु तद् ब्रह्म विच्छेदस्तु विकल्पितः ॥११८॥
अवच्छिन्नस्य पूर्णेन एकत्वं प्रतिपाद्यते । तत्त्वमस्यादिवाक्यैश्च साभासस्याहमस्तथा ॥११९॥
ऐक्यज्ञानं यदोत्पन्नं महावाक्येन चात्मनोः । तदाऽविद्या स्वकार्यैश्च नश्यत्येव न संशयः ॥१२०॥
अहङ्कारश्च बुद्धिश्च पञ्चप्राणेन्द्रियाणि च । लिङ्गमित्युच्यते प्राज्ञैः जन्ममृत्युसुखादिमत् ॥१२१॥
स एव जीव सञ्ज्ञश्च लोके भाति जगन्मयः । अवाच्यानाद्यविद्यैव कारणोपाधिरुच्यते ॥१२२॥
स्थूलं सूक्ष्मं कारणाख्यमुपाधित्रितयं चितेः । एतै र्विशिष्टो जीवः स्याद्वियुक्तः परमेश्वरः ॥१२३॥
रज्जावहिमिवात्मानं जीवं ज्ञात्वा भयं भवेत् । परमात्माहमिति ज्ञात्वा भवदुःखै र्विमुच्यते ॥१२४॥
अध्यात्मरा० बालकां० स० १।१८ ॥
अविद्याकृतदेहादिसङ्घाते प्रतिबिम्बिता । चिच्छक्ति र्जीवलोकेऽस्मिञ्जीव इत्यभिधीयते ॥१२५॥
यावद्देहमनःप्राणबुद्ध्यादिष्वभिमानवान् । तावत्कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखादिभाग् भवेत् ॥१२६॥
आत्मनः संसृति र्नास्ति बुद्धे र्ज्ञानं न जात्विति । अविवेकाद् द्वयं युक्त्वा संसारीति प्रवर्त्तते ॥१२७॥

बिम्ब रूप उन दोनों से अन्य चेतन है, इस प्रकार चेतन तीन प्रकार का है ॥ ११६ ॥ तहाँ आभास सहित बुद्धि में कर्तृत्व है, तथा जीवत्व है, तिस को अज्ञानी लोग भ्रम से विभु निर्विकार साक्षी में आरोप करते हैं ॥११७॥ वह आभास मिथ्या है, क्योंकि उसका आश्रय रूप बुद्धि अविद्या कार्य कही जाती है, परन्तु बुद्धि से अवच्छिन्न चेतन तो वह ब्रह्म स्वरूप ही है, क्योंकि विच्छेद = भेद विकल्पित = मिथ्या कल्पनामात्र है ॥ ११८ ॥ अवच्छिन्न = बुद्धिनिष्ठ चेतन की पूर्ण के साथ एकता का प्रतिपादन = बोधन "तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि वैदिक महावाक्यों से किया जाता है, तथा आभास सहित अहङ्कार की एकता का प्रतिपादन किया जाता है ॥ ११९ ॥ जब महावाक्य से जीवात्मा परमात्मा की एकता का ज्ञान उत्पन्न होता है, तब कार्यों के सहित अविद्या नष्ट होती है, इस में संशय नहीं है ॥ १२० ॥ अहङ्कार बुद्धि, पाँच प्राण और इन्द्रियाँ इन सब के समूह को विद्वान् लोग लिङ्ग = सूक्ष्मदेह कहते हैं, सो जन्म मरणसुखादि वाला है ॥ १२१ ॥ आभास सहित वही सूक्ष्मदेह लोक में जीव नाम वाला है, जन्मादि संसारमय वही भासता है, सत् असत् आदि रूप से अवाच्य = अनिर्वचनीय अनादि अविद्या = अज्ञान-मोह ही आत्मा का कारण नामक उपाधि = (भेदक) कहा जाता है ॥ १२२ ॥ स्थूल सूक्ष्म और इन दोनों का कारण नामक अज्ञान ये तीनों चेतन की उपाधि = भेद ज्ञान के जनक हैं, इन से विशिष्ट = मिलित चेतन जीव होता है, और इन से वियुक्त परमेश्वर होता है ॥ १२३ ॥ रस्सी में सर्प के समान आत्मा को जीव = देही प्राणी जान कर व्यवहार में रहने से भय होता है, जन्मादि पाता है, और देहादि को मिथ्या समझ कर मैं परमात्मा=ब्रह्म हूँ इस प्रकार समझने से संसार के दुःखों से विमुक्त देहादि से रहित होता है ॥१२४॥ अविद्या से रचित जो देहादि के समूह उस में प्रतिबिम्ब रूप से स्थिर जो चिच्छक्ति = आत्मा, सो इस जीवलोक में जीव कहलाता है ॥ १२५ ॥ सो जीव जब तक देह, मन, प्राण, बुद्धि, आदि में अभिमान वाला है, तब तक कर्तृता, भोक्तृता, सुख दुःखादि वाला होता है ॥ १२६ ॥ आत्मा को जन्मादि संसार नहीं है और बुद्धि को कभी ज्ञान नहीं है, अविवेक से ये दोनों मिल कर संसारी = जीव हो कर प्रवृत्त होते हैं ॥ १२७ ॥

जडस्य चित्समायोगाच्चित्त्वं भूयाच्चितेस्तथा । [1]जडसङ्गाज्जडत्वं हि जलाग्न्यो र्मेलनं यथा ॥१२८॥
अध्यात्मरा० बा० स० ७।३४। इत्यादि ॥

देहेन्द्रियमनः प्राणबुद्ध्यादिभ्यो विलक्षणः । आत्मा शुद्धः स्वयं ज्योतिरविकारी निराकृतिः ॥१२९॥

यावद्देहेन्द्रियप्राणै भिन्नत्त्वं नात्मनो विदुः । तावत्संसारदुःखौघैः पीड्यन्ते मृत्युसंयुताः ॥१३०॥
अध्यात्मरा० अयोध्याकां० स० ४।३८ ॥

जगद्योनेरनिच्छस्य चिदानन्दैकरूपिणः । पुंसोऽस्ति प्रकृति र्नित्या प्रतिच्छायेव भास्वतः ॥१३१॥

अचेतनाऽपि चैतन्ययोगेन परमात्मनः । अकरोद् विश्वमखिलमनित्यं नाटकाकृतिः ॥१३२॥

प्रकृति र्विश्वजननी पूर्वं बुद्धिमजीजनत् । [2]इच्छामयी महद्रूपामहङ्कारस्ततोऽभवत् ॥१३३॥

एवं चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैः सिद्धे वपुर्गृहे । जीवात्मा नियते र्निघ्नो वसति स्वान्तदूतवान् ॥१३४॥

स देही कथ्यते पापपुण्यदुःखसुखादिभिः । व्याप्तो बद्धश्च मनसा कृत्रिमैः कर्मबन्धनैः ॥१३५॥

कामक्रोधौ लोभमोहावहङ्कारश्च पञ्चमः । दशेन्द्रियाणि बुद्धिश्च तस्य बन्धाय देहिनः ॥१३६॥
शार्ङ्गधरसंहिता० खं० १।५।५० । इत्यादि ॥

नित्योदितः स्वयंज्योतिः सर्वगः पुरुषः परः । अहङ्काराविवेकेन कर्त्ताऽहमिति मन्यते ॥१३७॥

अनात्मन्यात्मविज्ञानं तस्माद् दुःखं तथेतरत् । रागद्वेषादयो धर्माः सर्वे भ्रान्तिनिबन्धनाः ॥१३८॥

जड़ बुद्धि आदि को चेतन के साथ सम्बन्ध से चेतनता होती है, तथा चेतन को जड़ के सङ्ग से जड़ता होती है, जैसे जल और अग्नि के मेलन से अग्नि की गर्मी जल में भासती है, और जल की अप्रकाशता अग्नि में आती है ॥ १२८ ॥ तो भी देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि, आदि से विलक्षण आत्मा शुद्ध, स्वयं-प्रकाश, निर्विकार, निराकार ही है ॥ १२९ ॥ मृत्यु युक्त प्राणी जब तक देह इन्द्रिय प्राणों द्वारा विवेकादि से देहादि से भिन्न आत्मा को नहीं जानते हैं, तब तक संसार सम्बन्धी दुःख समूह से पीड़ित होते हैं ॥ १३० ॥ माया द्वारा जगत् की योनि = कारण रूप इच्छादि दुःख रहित चिदानन्द एक = अखंड स्वरूप पुरुष = आत्मा की नित्य प्रकृति = शक्ति स्वभाव सूर्य का प्रतिच्छाया के समान है ॥ १३१ ॥ सो अचेतन होते हुए भी परमात्मा के चैतन्य के योग से नाटकाकृति हो कर अनित्य सब संसार को किया है ॥ १३२ ॥ विश्व की जननी = माता प्रकृति ने इच्छामयी हो कर प्रथम महत्तत्त्वरूप = समष्टि बुद्धि को उत्पन्न किया, तिस से अहङ्कार हुआ ॥ १३३ ॥ इस प्रकार प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्च तन्मात्रा, पाँच महाभूत, ग्यारह इन्द्रियाँ, इन चौबीस तत्त्वों से देह रूप घर के सिद्ध होने पर नियति = दैव नियम के निघ्न = अधीन जीवात्मा मन रूप दूत वाला हो कर उस घर में बसता है ॥ १३४ ॥ वही देही कहलाता है और पाप पुण्य सुख दुःखादि से व्याप्त है, और कृत्रिम कर्मरूप बन्धनों से मन कर के बद्ध है ॥ १३५ ॥ उस देही के बन्धन के लिये काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार, और दशेन्द्रियाँ तथा बुद्धि ये सब हैं ॥ १३६ ॥ सदा उदित = प्रकट स्वयं प्रकाश व्यापक परपुरुष = आत्मा अहङ्कार के साथ अविवेक = एकता के भ्रम से 'मैं कर्ता हूँ' इस प्रकार मानता है ॥ १३७ ॥ और इस अविवेक से ही

---

१. असङ्गता की श्रुति से जड़ सङ्ग भी अध्यास रूप मिथ्या है, अध्यास रूप सम्बन्ध से जड़ की चेतनता ही आभास प्रतिबिम्बादि शब्दों से कही जाती है, आभास तुल्य आभास शब्द का अर्थ है, इस से रूपरहित में अरूप का आभास नहीं होता, इत्यादि विवाद अयुक्त है ॥ २. इस कथन से स्वतन्त्रता निरस्त होती है ॥

यदा जन्म जरादुःखव्याधीनामेकभेषजम् । केवलं ब्रह्म विज्ञानं जायतेऽसौ तदा शिवः ॥१३९॥

अद्भुतरामाय० स० ११ ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥१४०॥

मनु० अ० १२।९१ ॥

सर्वमात्मानि सम्पश्येत्सच्चासच्च समाहितः । सर्वं ह्यात्मनि सम्पश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥१४१॥

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् । आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥१४२॥

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥१४३॥

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना । स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥१४४॥

मनुस्मृ० अ० १२।११८-१९-२३-२५ ॥

अनादिरात्मा कथितस्तस्यादिस्तु शरीरकम् । आत्मनस्तु जगत्सर्वं जगतश्चात्मसम्भवः ॥१४५॥

याज्ञवल्क्यस्मृ० अ० ३।११७ ॥

अहङ्कारः प्रमाता स्याद्धीवृत्तिर्मानमुच्यते । घटादिकं प्रमेयं स्याच्चिद्भासा भाति तत्त्रयम् ॥१४६॥

अनात्मा=देहादि में आत्मत्व का भान होता है, तिससे जन्मादि पूर्वक दुःख सुख होते हैं, रागद्वेषादि रूप सब धर्म भी भ्रान्ति हेतुक ही हैं ॥ १३८ ॥ जन्म, जरा, दुःख रूप व्याधियों=रोगों के एक औषध रूप केवल=निश्चित ब्रह्मविज्ञान जब होता है, तब वह ज्ञाता पुरुष शिव=मुक्त होता है ॥ १३९ ॥ सब भूतों में सम=समान एक रस आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को देखता हुआ आत्मयाजी आत्मार्पण करता हुआ स्वयंप्रकाश ब्रह्मरूपता=मोक्ष पाता है ॥ १४० ॥ समाहित=एकाग्र सावधान होकर सदसत्=कार्य कारणादि सब को आत्मा में आत्म स्वरूप ही देखे, भला बुरा सबको आत्म स्वरूप जाने, ध्यान से प्रत्यक्ष करे, क्योंकि आत्मा में सब को प्रत्यक्ष जानने वाला रागद्वेषादि के अभाव से अधर्म में मन नहीं लगाता है, अतः पापरूप संसार से मुक्त होता है ॥ १४१ ॥ सब देव परमात्मस्वरूप ही है, परमात्मा सब देवता का आत्मा है, सब जगत् भी आत्मा ही में अवस्थित कल्पित सिद्ध है, आत्मा ही इन शरीरियों के कर्म सम्बन्ध भी करता है ॥ १४२ ॥ इसी परमात्मा को कोई अग्निदेव रूप कहते हैं, और यज्ञादि में उपासना पूजा करते हैं, अन्य कोई मनु नामक प्रजापति कहते हैं, कोई प्रजापति=ब्रह्मा कहते हैं, अन्य कोई इन्द्र कहते हैं, उनसे अन्य कोई प्राण कहते हैं, कोई शाश्वत =नित्य निरन्तर ब्रह्म कहते हैं ॥ १४३ ॥ पूर्व वर्णित रीति से सब भूतों में जो आत्मा को मन से स्वयं प्रत्यक्ष जानता है, जो सब में समता प्राप्त करके पर पद स्वरूप ब्रह्मरूपता को प्राप्त करता है ॥ १४४ ॥ आत्मा अनादि=उत्पत्ति कारण रहित कहा गया है। उस के आदि अभिव्यक्ति प्रथम ग्राह्य शरीर है, आत्मा से सब जगत् होता है और जगत् से आत्मा की सम्भावना होती है, मिथ्या कार्यरूप जगत् से सत्य अधिष्ठान कारण रूप जगत् की अनुमिति अनुभूति होती है ॥ १४५ ॥ आभास सहित अहङ्कार=अहं ज्ञान का विषय जीव प्रमाता=प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा वस्तु का ज्ञाता होता है, और इन्द्रियादि द्वारा होने वाली बुद्धि की वृत्ति=परिणाम, मान=प्रमाण कहलाती है, घटादि पदार्थ व्यावहारिक प्रमेय=प्रमाण से ज्ञेय कहलाते हैं, सो सब चिदाभास से प्रकाशित होते हैं=प्रमाता,

परोक्षमपि देहादि यस्य भासाऽऽपरोक्ष्यभाक् । विभात्यात्मेव तस्य स्यादापरोक्ष्यमहेतुकम् ॥१४७॥
यतो मानानि सिद्ध्यन्ति जाग्रदादित्रयं तथा । असन्त्यपि च सत्त्वेन तत्सद् ब्रह्मेति बोध्यते ॥१४८॥
[1]योऽनन्यार्थो यदर्थं च सर्वं जगदिदं प्रियम् । सर्वं प्रियतमानन्दमेष ब्रह्मेति बोध्यते ॥१४९॥
बृहदा० वार्त्तिकसा० प्रमाणपरीक्षाप्र० ॥
प्रत्यग्रूपः पराग्रूपाद् व्यावृतोऽनुभवात्मकः । प्रथते यः स आत्मेति प्राहुरात्मविदो बुधाः ॥१५०॥
अनन्यमेयतन्मानमातृवस्त्वविभागवत् । अमेयमानमात्रेकं तदात्मेति प्रचक्ष्महे ॥१५१॥
व्याप्नोत्यनवशेषेण सर्पादीन् स्रगिवाखिलान् । कल्पनाधिष्ठानतया प्रत्यङ्ङात्मा भवेत्ततः ॥१५२॥
स्वचिदाभाससमोहेन तदुत्थानखिलान् यतः । आदत्तेऽनात्मनःप्राज्ञस्ततश्चात्मेति तं विदुः ॥१५३॥
आत्माभासाः पराचीना धीवृत्ती विषयोन्मुखाः । प्रत्यङ्ङत्ति यतोऽतोऽसौ वात्मेत्युक्तो मनीषिभिः ॥१५४॥
विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक् । आनन्दभुक् तथा प्राज्ञ इति चागमशासनम् ॥१५५॥
अव्यावृताऽननुगतः पूर्णः स्वात्मन्यवस्थितः । यतोऽस्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति पठ्यते ॥१५६॥

प्रमाण, प्रमेय ये तीनों चित्प्रकाश से प्रकाशित होते हैं ॥ १४६ ॥ परोक्ष=जड़ भी देहादि जिसके प्रकाश से अपरोक्षता के आश्रय होते हैं, आत्मा तुल्य भासते हैं, तिस आत्मा की अपरोक्षता अहेतुक=स्वाभाविक है ॥ १४७ ॥ जिस सत्य आत्मा से असत्य भी प्रमाणादि और जाग्रदादि तीन अवस्था सत्य रूप से सिद्ध होती हैं, असत् भी जिस की सत्ता से सत्य भासते हैं, वही आत्मा सत्य ब्रह्म है, इस प्रकार उपनिषदादि से समझाया जाता है ॥ १४८ ॥ जो आत्मा अन्य के लिये नहीं है, और जिसके लिये यह सब जगत् है (अर्थात् आत्मा स्वतन्त्र है और सब जगत् आत्माश्रित है) आत्मार्थक होने ही से सब प्रिय हैं, इससे अतिप्रिय आनन्द स्वरूप आत्मा ब्रह्म ऐसा समझाया जाता है ॥ १४९ ॥ पराग्=बाह्य स्वरूप देहादि से व्यावृत्त=भिन्न प्रत्यग्=अन्तर्गत स्वरूप जो अनुभवस्वरूप प्रकाशता है, सो आत्मा है, इस प्रकार आत्मज्ञ विद्वान् कहते हैं ॥ १५० ॥ प्रमेय घटादि, प्रमाण प्रत्यक्षादि और प्रमाता अहङ्कार रूप वस्तु जिस से अन्य सत्ता वाले नहीं हैं, उस विभाग रहित व्यापक मेय, मान, माता से भिन्न एक ब्रह्म को आत्मा कहते हैं ॥ १५१ ॥ माला में कल्पित सर्पादि सब में जैसे माला व्यापक होता है, तैसे कल्पना के अधिष्ठानरूप से ब्रह्म सर्व स्वरूप से व्यापक होता है, तिससे ब्रह्म शब्द का अर्थ अन्तरात्मा होता है ॥१५२॥ प्राज्ञ=सुषुप्तिकालिक कारणोपाधिक आत्मा अपने चिदाभास के साथ मोह=अविवेक द्वारा उससे उत्पन्न सब अनात्म वस्तु को जिससे सुषुप्ति में ग्रहण=लीन करता है, तिससे उस को 'आदत्ते इति'=आत्मा जानते हैं ॥ १५३ ॥ अथवा बाह्यगामी आत्माभास और विषयोन्मुख बुद्धिवृत्तियों को जिससे प्रत्यक्=अन्तरात्मा स्वप्नादि में भोग करता है, इससे, 'अत्ति इति'=आत्मा विद्वानों से कहा गया है ॥ १५४ ॥ विश्व=स्थूलाभिमानी जीव सदा स्थूल भोग वाला है, और तैजस=सूक्ष्माभिमानी सूक्ष्मभोगवाला है, प्राज्ञ=कारणाभिमानी आनन्द का भोक्ता है, यह शास्त्र का उपदेश है ॥१५५॥ इस जीव का पारमार्थिक स्वरूप देश, काल, वस्तु कृत भेद रहित=अव्यावृत्त और सब पदार्थ से अननुगत=अव्याप्य होता हुआ भी स्वयं सब में पूर्ण=व्यापक रूप स्व स्वरूप में स्थिर है, और जिससे इसका

---

१. इतरानुपसर्जनत्वमुपादेयत्वं तदात्मन्येव विश्रान्तं सुखदुःखाभावयोरप्यात्मार्थत्वात् ॥

चतुर्विधनिरुक्त्याऽत्र चत्वारोऽर्थाः प्रकीर्त्तिताः । अधिष्ठानं कारणत्वं जीवभावो विमुक्तता ॥१५७॥

बृहदा० वार्त्तिकसार० अ० १।४।६–५५७इत्यादि ॥

अहङ्कृतिगतं पापमज्ञात्वाऽऽरोप्यते चिति । तेन ग्लानिर्मुखे भाति जन्मापि नरके भवेत् ॥१५८॥

ज्ञानेन कर्मणस्तस्य बीजभावो विनश्यति । जन्मप्ररोहो नैवाऽस्तीत्येवं निश्चित्य हृष्यति ॥१५९॥

दग्धबीजं यथा लोके न प्ररोहक्षमं तथा । ज्ञानाग्निदग्धं यत्कर्म न तज्जन्मप्रदं भवेत् ॥१६०॥

लोके गुणक्रियाजातिरूढयः शब्दहेतवः । नात्मन्यन्यतमोऽमीषां तेनात्मा नाभिधीयते ॥१६१॥

नित्यानन्दपरात्मा स्याज्जरामरणवर्जितः । न पुण्येन भवेद्देवो न पापेन पशु र्भवेत् ॥१६२॥

चिच्छायावानहङ्कार एव स्यात्पुण्यपापवान् । तदीये पुण्यपापे द्वे देहस्थे च जरामृती ॥१६३॥

स्वात्मन्येवारोपयेन्मूढस्ततो देवादिजन्मभाक् । आरोपे बाधिते बोधात्कर्म स्याद्दग्धबीजवत् ॥१६४॥

ततो जन्माङ्कुरो नास्ति निर्लेपे परमात्मनि । कारयित्वा पुण्यमेष कर्त्तारं स्वर्गमापयेत् ॥१६५॥

पापं तु कारयित्वा तं नरकं प्रापयेदसौ । पर्जन्यवत्प्रेरकत्वान्नास्य वैषम्यमापतेत् ॥१६६॥

शाल्यादीन् बहुधा वृष्टिर्वर्द्धयेद्विषमापि नो । उत्तमाऽधमभावोऽत्र तत्तद्बीजेन कारितः ॥१६७॥

तारतम्यं च जीवेषु स्वस्ववासनया कृतम् । अखण्डैकरसानन्दो मुक्तोऽयं स्वात्मदृष्टितः ॥१६८॥

सन्तत=नित्यनिरन्तर भाव=(सत्ता) है, तिससे आत्मा कहा जाता है ॥ १५६ ॥ आत्म शब्द के यहाँ चार प्रकार के निर्वचन=व्याख्यान से अधिष्ठानता, कारणता, जीवता, विमुक्तता ये चार अर्थ कहे गये हैं ॥ १५७ ॥ भोक्ता जीव अहङ्कारगत पाप को न जान कर शुद्ध चेतन में उस का आरोप करता है, तिससे इस के मुख में ग्लानि=मलिनता दीनता भासती है और नरक में जन्म भी होगा ॥ १५८ ॥ आत्मज्ञान से उस कर्म का बीजत्व नष्ट होता है, अतः जन्मरूप प्ररोह = अंकुर नहीं होता है, इस प्रकार निश्चय कर के खुशी होता है ॥ १५९ ॥ जला हुआ बीज जैसे लोक में अंकुर को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता, तैसे ज्ञानरूप अग्नि से दग्ध=बाधित जो कर्म है, सो जन्म दाता नहीं होगा ॥ १६० ॥ लोक में रूपादि गुण, गमनादि क्रिया, ब्राह्मणत्वादि जाति, सम्बन्ध और रूढि = अखण्डशब्द शक्ति, ये सब वाचक शब्द प्रयोग के हेतु होते हैं, निर्गुण अचल असङ्ग सर्वात्मा में इनमें से कोई नहीं है, इससे आत्मा शब्द शक्ति से नहीं कहा जाता है ॥ १६१ ॥ नित्यानन्द स्वरूप परमात्मा जन्म, जरा, मरणादि रहित है, इससे पुण्य से देव नहीं होता है, न पाप से पशु होता है ॥ १६२ ॥ चिदाभास युक्त अहङ्कार ही पुण्य पाप वाला होता है, इससे अहङ्कार के पुण्य पाप दोनों हैं, और जरा मरण दोनों स्थूल देह में हैं ॥ १६३ ॥ मूढ़ जीव इन पुण्यादिकों का अपनी शुद्धात्मा में आरोप कल्पना मिथ्या ज्ञान करता है, तिस अज्ञान मोह से जन्मादि का भागी होता है, और विवेकादि पूर्वक आत्मज्ञान से आरोप के निवृत्त होने पर कर्म सब दग्ध बीज तुल्य होते हैं ॥१६४॥ तिसमें निर्लेप परमात्मा में जन्म रूप अंकुर नहीं रहता है, किन्तु यह परमात्मा पुण्य करा कर अज्ञ कर्ता को स्वर्ग में पहुँचाता है, और पाप करा कर कर्ता को नरक में पहुँचाता है, और मेघ के समान प्रेरक होने से इस आत्मा को राग द्वेषादि विषमता भी नहीं प्राप्त होती है ॥१६५–१६६॥ शाली=धान आदि को मेघ जन्य वृष्टि बहुत प्रकार से बढ़ाती है, और किसी के लिये विषम नहीं है; जिससे इस शाली वृक्षादि में उत्तम अधम पन तत्तद् बीजादि कृत होता है, वृष्टि कृत नहीं ॥१६७॥ ऐसे जीवों में तारतम्य=अनेक भेद अपनी २ वासना जन्य हैं, और वासनादि से स्वात्मज्ञानद्वारा मुक्त यह जीव अखण्ड एक रस आनन्द स्वरूप

संसारिदृष्ट्या सर्वेशः इति विद्धि प्रतर्दन ! ॥ १६९ ॥ अनुभूतिप्रका० अ० ८ ॥
दुःखी यदि भवेदात्मा कः साक्षी दुःखिनो भवेत् । दुःखिनः साक्षिता नैव साक्षिणो दुःखिता तथा॥१७०॥
नर्ते स्याद्विक्रिया दुःखी साक्षिता का विकारिणः । धीविक्रियासहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रियः[1] ॥१७१॥
चैतन्यात्मादयः शब्दा व्युत्पन्नाः प्रतिबिम्बके । लक्षयन्ति चिदात्मानं तेन याथात्म्यवेदनम् ॥१७२॥
वेद्मीति यद्बलाद्वक्ति न वेद्मीति च यद्बलात् । योगिनोऽनुभवन्त्येतमगोचरतयैव हि ॥१७३॥
अनुभूतिप्र० अ० १० ॥

अयः स्वभावादचलं बलाच्चलत्यचेतनं चुम्बकसन्निधाविव ।
तनोति विश्वेक्षितुरीक्षितेरिता जगन्ति मायेश्वरतेयमीक्षितुः ॥ १७४ ॥
स्वभावलीनानि तमोमयानि प्रकाशयेद्यो भुवनानि सप्त ।
तमेव विद्वानतिमृत्युमेति नान्योऽस्ति पन्था भवमुक्तिहेतुः ॥ १७५ ॥ प्रबोधचन्द्रोद० अं० ६ ॥
आत्माम्बुराशौ निखिलोऽपि लोको मग्नोऽपि नाचामति नेक्षते वा ।
आश्चर्यमेतन्मृगतृष्णकाभे भवाम्बुराशौ रमते मृषैव ॥ १७६ ॥ पातञ्जलपरमार्थसा० ॥

भगवच्छब्दार्थः

सम्भर्त्तेति तथा भर्त्ता भकारोऽर्थद्वयान्वितः । नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने ! ॥१७७॥
ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥१७८॥

रहता है ॥१६८॥ हे प्रतर्दन ! संसारी की दृष्टि से वह आत्मा सर्वेश्वर है, ऐसा समझो॥१६९॥ वह सर्वसाक्षी स्वरूप आत्मा यदि दुःखी हो. तो उस दुःखी का साक्षी प्रकाशक कौन होगा ? क्योंकि दुःखी को साक्षित्व नहीं है और साक्षी को दुःखित्व नहीं है ॥ १७० ॥ जिस से विकार बिना दुःखी नहीं हो सकता है, और विकार वाले को सर्वसाक्षित्व क्या हो सकता है ? इस से अनन्त बुद्धि विकारों का साक्षी स्वरूप मैं = आत्मा अविकारी हूँ ॥ १७१ ॥ चैतन्य आत्मा आदि शब्द प्रथम चिदाभास में व्युत्पन्न = शक्ति द्वारा बोधक हो कर शुद्धात्मा को लक्षित कराते हैं, लक्षणा वृत्ति द्वारा बोध के हेतु होते हैं, अतः यथार्थ आत्म-स्वरूप का ज्ञान होता है ॥ १७२ ॥ जिस साक्षी आत्मा के बल = प्रकाश से 'मैं जानता हूँ, मैं नहीं जानता हूँ' यह प्राणी कहता है, उस को योगी लोग अगोचर = अविषय, स्वयंप्रकाश रूप से ही अनुभव करते हैं ॥ १७३ ॥ जैसे अचेतन = जड़ अचल लोहा चुम्बक के पास में चुम्बक के बल से चलता है, तैसे ही विश्वद्रष्टा से प्रकाशित प्रेरित यह माया जगत् को रचती फैलाती है, यही ईक्षिता = ईश्वर को ईश्वरता है ॥ १७४ ॥ स्वभाव से लीन = नश्वर-क्षणभङ्गुर तमोमय = जड़ सात भुवनों = स्वर्ग को जो प्रकाशता है, उसी आत्मा को जानने वाला अतिमृत्यु = मुक्ति पाता है, संसार से मुक्ति का हेतु रूप अन्य मार्ग नहीं है ॥ १७५ ॥ उस आत्मानन्द समुद्र में ही सब लोक मग्न = स्थिर हैं, तो भी उस के आनन्द स्वरूप जल को न पीता है न देखता है, किन्तु मृग तृष्णा तुल्य मिथ्या भवाम्बुराशि = विषय में ही रमता है, यह आश्चर्य है ॥ १७६ ॥ सम्यग् धारण कर्ता तथा पति रक्षक इस दो अर्थ से युक्त भगवान् शब्द में भकार है, और हे मुने ! नेता = प्रभु गमयिता = गतिदाता स्रष्टा = सृष्टि कर्ता गकार के अर्थ हैं ॥ १७७ ॥ समग्र

---

१. सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् । योगदर्श० पा० ४।१८ ॥

वसन्ति यत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि । स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः ॥१७९॥
उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥१८०॥
ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः । भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयै र्गुणादिभिः ॥१८१॥
सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि । भूतेषु च स सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः ॥१८२॥
विष्णुपु० अंश० ६।५ ॥
प्रधानपुरुषौ चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः । क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ ॥१८३॥
यथा सन्निधिमात्रेण गन्धः क्षोभाय जायते । मनसो नोपकर्तृत्वात्तथाऽसौ परमेश्वरः ॥१८४॥
स एव क्षोभको ब्रह्मन् क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तमः । स सङ्कोचविकाशाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः ॥१८५॥
इति प्रथमं ब्रह्मात्मादिप्रकरणं समाप्तम् ॥ विष्णुपु० अंश० १।२।२६ ॥

अथ त्रिदेवादिः ॥ २ ॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ १ ॥ ऋग्वे० अष्ट० २ अ० ३ व० २२ ॥
तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥२॥
यजुर्वे० अ० ३२।१ ॥

ऐश्वर्य=विभूति वीर्य=बल प्रभाव, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य इन छवों की भग संज्ञा है ॥१७८॥ भूतों के और सब के आत्मस्वरूप जिस में सब भूत बसते हैं, और जो स्वयं सब भूतों में बसता है, तिस से वह अव्यय =निर्विकार वकार का अर्थ है ॥१७९॥ भूतों की उत्पत्ति, प्रलय, गति, अगति, विद्या, अविद्या को जो जानता है वह भगवान् इस पद का वाच्यार्थ है ॥ १८० ॥ और ज्ञान की शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज, ये सब अशेष = सर्व रूप से हेय = त्याज्य गुण आदि के बिना भगवत् शब्द के अर्थ हैं ॥ १८१ ॥ सब भूत उस परमात्मा में बसते हैं, और वह सर्वात्मा भी सब में बसता है, इस से वासुदेव कहा गया है ॥१८२॥ सर्वात्मा हरि = ब्रह्म प्रधान = प्रकृति और पुरुष = जीवात्मा में मायात्मक अपनी इच्छा रूप से सृष्टि काल में प्रविष्ट हो कर विकारी निर्विकार प्रकृति पुरुष को क्षोभित किया ॥ १८३ ॥ जैसे समीपता मात्र से गन्ध मन के क्षोभ के लिये होता है, उपकारक होने से नहीं, वैसे ही यह परमेश्वर उपकार के बिना क्षोभक है ॥ १८४ ॥ हे ब्रह्मन् वह पुरुषोत्तम = ब्रह्म क्षोभ्यक्षोभक सब का आत्मा है, जीव ईश्वर स्वरूप एक ही परमात्मा हुआ है, वह दो स्वरूप संकोच और विकास से है, ज्ञान बलादि के संकोच से जीव है, और विकास से ईश्वर है, और प्रधान रूपता में भी वही सत्ता प्रकाशादि रूप से स्थिर है ॥ १८५ ॥

पहला ब्रह्मात्मादिप्रकरण समाप्त ॥

अथ त्रिदेवादि—इस सूर्य रूप से प्रकट सत्य ब्रह्म को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, कहते हैं, तथा इस अग्नि देव को इन्द्रादि कहते हैं, और यही सूर्य अग्नि देव दिव्य = दिव्-आकाश में होने वाला सुपर्ण = सुपतन-सुगतिमान् और गुरुत्मान् = गरणवान्-गुरु आत्मा महात्मा पक्षवान् है, इस प्रकार एक सत्य महान् आत्मा अग्नि को विप्र बहुत प्रकार से कहते हैं, अग्नि यम और मातरिश्वा भी कहते हैं ॥ १ ॥ वह सब का कारण रूप ब्रह्म ही अग्नि, सूर्य, वायु, और चन्द्र है, और वही शुद्ध ब्रह्म तथा प्रसिद्ध जल

आनन्दमजरं शुद्धमज्ञानेन तिरोहितम् । वेदान्तवाक्यबोधेन तच्चाज्ञानं निवर्त्तते ॥३॥
ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथञ्चन । ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः सर्वगतः शिवः ॥४॥
अद्वैतमेकं परममात्मानं ज्ञानविग्रहम् । नानात्मानं प्रपश्यन्ति मायया मोहिता जनाः ॥५॥
सौरपु० अ० ११।२४। इत्यादि ॥
ब्रह्मविष्णुमहेशाख्या यस्यांशा लोकसाधकाः । तमादिदेवं चिद्रूपं विशुद्धं परमं भजे ॥६॥
ब्रह्मेशविष्ण्वादिशरीरभेदै र्विश्वं सृजत्यत्ति च पाति विप्राः ! ।
तमादिदेवं परमं परेशमाधाय चेतस्युपयाति मुक्तिम् ॥ ७ ॥ नारदीयपु० अ० ३।२-६६ ॥
[1]ब्रह्मेन्द्ररुद्रानिलवायुमर्त्यगन्धर्वयक्षासुरदेवसङ्घैः ।
स्वमूर्त्तिभेदैः स्थित एक ईशस्तमादिमात्मानमहं भजामि ॥ ८ ॥ नारदीयपु० अ० २।३२ ॥
हरिशङ्करयोर्मध्ये ब्रह्मणश्चापि यो नरः । भेदं करोति सोऽभ्येति नरकं भृशदारुणम् ॥९॥
हरं हरिं विधातारं यः पश्यत्येकरूपिणम् । स याति परमानन्दं शास्त्राणामेष निश्चयः ॥१०॥
नारदीयपु० अ० ६।४८-४६ ॥
यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥११॥
मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन । मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥१२॥
कठोप०अ० २।४।१०-११ ॥ बृहदा० अ० ४।१६ ॥
अशोकं शोकनाशार्थं शास्त्रं शान्तिकरं शिवम् । निशम्य लभ्यते बुद्धि र्लब्धायां सुखमेधते ॥१३॥

और प्रजापति है ॥ २ ॥ आनन्द, अजर, शुद्ध स्वरूप, अज्ञान से आच्छादित है, सो अज्ञान वेदान्त वाक्य-जन्य ज्ञान से निवृत्त होता है ॥ ३ ॥ वह वृत्ति रूप ज्ञान आत्मा का धर्म वा गुण किसी प्रकार भी नहीं है, किन्तु नित्य ज्ञान स्वरूप ही आत्मा है, सो सर्वगत = विभु, शिव = कल्याण स्वरूप है ॥ ४ ॥ उस अद्वैत एक ज्ञान स्वरूप परम आत्मा को माया से मोहित जन नाना स्वरूप समझते हैं ॥ ५ ॥ ब्रह्मा, विष्णु, महेश-नामवाले जिस परमात्मा के अंश रूप और लोकों के साधक हैं, उस चित् स्वरूप परम आदि देव को भजता हूँ ॥ ६ ॥ हे विप्र ! जो परमात्मा ब्रह्मा, शिव, विष्णु आदि शरीरों के भेदों द्वारा संसार की सृष्टि आदि करता है, उस परेश परम आदिदेव को चित्त में धारण कर के मुक्ति पाता है ॥ ७ ॥ अपनी मूर्ति के भेद रूप ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, वायु, मनुष्य, गन्धर्व, यक्ष, असुर और देव समूह रूप से जो एक ईश्वर स्थिर है, उस सब के आदि स्वरूप आत्मा को मैं भजता हूँ ॥ ८ ॥ हरि, शंकर ब्रह्मा आदि में जो मनुष्य भेद दृष्टि करता है, भिन्न २ आत्मा परमात्मा को समझता है, सो अति भयङ्कर नरक में प्राप्त होता है ॥ ९ ॥ हरि आदि सबको जो एक परमात्मा स्वरूप देखता है, सो परमानन्द को पाता है, राग द्वेषादि रहित हो कर मुक्त होता है यह शास्त्रों का निश्चय है ॥ १० ॥ जो ब्रह्म यहाँ है, सो परलोक देवादि में है, जो परलोक में है सो यहाँ है। वह मृत्यु से मृत्यु को पाता है जो इस में नाना के तुल्य देखता है ॥ ११ ॥ शुद्ध मन से ही यह प्राप्त अनुभव करने योग्य है, इसमें कुछ भी नाना = भेद नहीं है, वह बार २ मृत्यु पाता है जो इसमें भिन्नता देखता है ॥ १२ ॥ शोक के कारण

---

१. अव्यक्ताच्च समुत्पन्ना ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः । इति वर्णविवेकचन्द्रिकायाम् ॥

हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानं शतानि च। दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥१४॥
अनिष्टसम्प्रयोगाच्च विप्रयोगात्प्रियस्य च। मनुष्या मानसैर्दुःखै युज्यन्ते तेऽल्पबुद्धयः ॥१५॥
नारदीयपु० अ० ६१ ॥
सूर्यो जलं मही वह्नि र्वायुराकाशमेव च। दीक्षितो ब्राह्मणश्चन्द्र इत्येता अष्ट मूर्त्तयः ॥१६॥
ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः। द्रष्टृत्वमात्मसम्बोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च ॥
अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शङ्करे ॥१७॥ कूर्मपु० अ० १०।२७-४० ॥
सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अचिन्त्यशक्तिश्च विभो र्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥ १८ ॥ शिवपुरा० ॥
ब्रह्मत्वं निष्कलं प्रोक्तमीशत्वं सकलं तथा। द्वयं ममैव संसिद्धं न मदन्यस्य कस्यचित् ॥१९॥
तस्मादीशत्वमन्येषां युवयोरपि न क्वचित् ॥ २० ॥
अहमेव परं ब्रह्म मत्स्वरूपं कलाकलम्। ब्रह्मत्वादीश्वरश्चाहं कृत्यं मेऽनुग्रहादिकम् ॥२१॥
शिवपु० विद्येश्वरसं० अ० ९।३२-३६ ॥
सृष्टिः स्थितिश्च संहारस्तिरोभावोऽप्यनुग्रहः। पञ्चैव मे जगत्कृत्यं नित्यसिद्धमजाच्युतौ ॥२२॥
शिवपु० वि० अ० १०.२ ॥
ब्रह्मा विष्णु र्महेशश्च त्रयो देवाः शिवाङ्गजाः। महेशस्तत्र पूर्णांशः स्वयमेव शिवोऽपरः ॥२३॥
शिवपु० रुद्रसं० सृष्टिखं० अ० १।१७ ॥

रागद्वेषादि रहित, शोक नाश के लिये उपदिष्ट, शान्तिकारक, अतएव शिव=शुभ जो शास्त्र उस को सुन कर एकात्मतत्त्व की बुद्धि=(ज्ञान) प्राप्त की जाती है, और बुद्धि के मिलने पर सुख प्राप्त करता है ॥ १३ ॥ उस ज्ञान के विना मूढ को प्रतिदिन अनन्त हर्ष और भय के स्थान प्राप्त होते हैं, सुख दुःख के लिये राग द्वेषादि सदा उत्पन्न होते हैं, ज्ञानी को नहीं प्राप्त होते हैं ॥ १४ ॥ जो अज्ञ मनुष्य अनिष्ट शत्रु आदि के सम्बन्ध से और इष्ट पुत्रादि के वियोग से मानस दुःख शोकादि से युक्त होते हैं, सो मन्द बुद्धि वाले हैं ॥ १५ ॥ यद्यपि मूर्त स्वरूप वाले परमात्मा का सब संसार है, तथापि सूर्यादि आठ परमात्मा शिव की श्रेष्ठ मूर्तियाँ हैं ॥ १६ ॥ और ज्ञानादि दश शंकर=सर्व सुख कर्ता ईश्वर में अव्यय=अविनाशी आत्मस्वरूप से ही सदा रहते हैं ॥ १७ ॥ सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि ज्ञान, सदा स्वतन्त्रता, अलुप्त शक्ति, और अचिन्त्य शक्ति, विभु, महेश्वर के ये छः अङ्ग=अवयव वेदज्ञ कहते हैं ॥ १८ ॥ ब्रह्मता निष्कल=निरवयव-अमूर्त कही गयी है, और ईश्वरता सकल=सावयव है, ये दोनों आत्मा ही के निरुपाधिकता सोपाधिकता से सम्यग् सिद्ध हैं, आत्मा से अन्य किसी की ब्रह्मता, ईश्वरता नहीं है ॥ १९ ॥ तिस से अन्य किसी देवादि को वा ब्रह्मा, विष्णु को भी अनात्म रूप से कहीं ईश्वरता नहीं है ॥ २० ॥ अहं=आत्मा ही परब्रह्म है, और आत्म स्वरूप ही कलाकल=मूर्तामूर्त सब वस्तु है, और ब्रह्म=विभु होने से आत्मा ही ईश्वर है, और अनुग्रहादि आत्मा के कृत्य=कार्य हैं ॥ २१ ॥ हे अजाच्युत !=ब्रह्म विष्णु ! सृष्टि, स्थिति, संहार=प्रलय और तिरोभाव=तिरस्कार तथा अनुग्रह, ये नित्य सिद्ध पाँच जगत् के कार्य ईश्वर रूप आत्मा के ही हैं ॥ २२ ॥ ब्रह्मा, विष्णु, महेश, ये तीन देव शिव=आत्मा की सर्वज्ञता आदि रूप अङ्गों से जन्य हैं, उन में महेश पूर्णांश हैं

अमनोगोचरं वाचां विषयं न कदाचन । अनामरूपवर्णं च न च स्थूलं न यत्कृशम् ॥२४॥
अह्रस्वदीर्घमलघुगुरुत्वपरिवर्जितम् । न यत्रोपचयः कश्चित्तथा नापचयोऽपि च ॥२५॥
अभिधत्ते सचकितमस्तीति श्रुतिः पुनः । सत्यं ज्ञानमनन्तं च परानन्दं परं महः ॥२६॥
शिवपु० रुद्रसं० अ० ६।६। इत्यादि ॥
सारूप्या चैव सालोक्या सान्निध्या च तथाऽपरा । सायुज्या च चतुर्थी सा व्रतेनानेन सा भवेत् ॥२७॥
मुक्तेर्दाता मुनिश्रेष्ठाः ! केवलं शिव उच्यते । ब्रह्माद्या न हि ते ज्ञेयाः केवलं च त्रिवर्गदाः ॥२८॥
ब्रह्माद्यास्त्रिगुणाधीशाश्शिवस्त्रिगुणतः परः । निर्विकारी परब्रह्म तुर्यः प्रकृतितः परः ॥२९॥
ज्ञानरूपोऽव्ययः साक्षी ज्ञानगम्योऽद्वयः स्वयम् । कैवल्यमुक्तिदः सोऽत्र त्रिवर्गस्य प्रदोऽपि हि ॥३०॥
कैवल्याख्या पञ्चमी च दुर्लभा सर्वथा नृणाम् । तल्लक्षणं प्रवक्ष्यामि श्रूयतामृषिसत्तमाः ! ॥३१॥
उत्पद्यते यतः सर्वं येनैतत्पाल्यते जगत् । यस्मिंश्च लीयते तद्धि येन सर्वमिदं ततम् ॥३२॥
तदेव शिवरूपं हि पठ्यते च मुनीश्वराः ! । सकलं निष्कलं चेति द्विविधं वेदवर्णितम् ॥३३॥
विष्णुना तच्च न ज्ञातं ब्रह्मणा न च तत्तथा । कुमाराद्यैश्च न ज्ञातं न ज्ञातं नारदेन वै ॥३४॥
शुकेन व्यासपुत्रेण व्यासेन च मुनीश्वरैः । तत्पूर्वैश्चाखिलैर्देवैर्वेदैः शास्त्रैस्तथा न हि ॥३५॥

और स्वयं अपर = अन्य शिव = आत्म ईश्वर रूप हैं, यह वर्णन उपासक की दृष्टि से है ॥ २३ ॥ "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम् ।" [बृहदा० अ० ३।८।८] इत्यादि श्रुति के अनुसार जो ब्रह्म मन का विषय नहीं है, न कभी वाणी का विषय है, नाम रूप आकार रहित है, स्थूल वा कृश नहीं है, ह्रस्व वा दीर्घ नहीं है, लघु नहीं है, गुरुत्व रहित है, जिस में कोई उपचय = वृद्धि वा अपचय = ह्रास नहीं है, उस को श्रुति भी आश्चर्य युक्त कहती है, कि "अस्तीत्येवोपलब्धव्यः ।" [कठोप० २।६।१३] अस्ति है ऐसा जानना चाहिये, वही सत्य ज्ञान अनन्त और परमानन्द स्वरूप परं महः = तेज ज्ञान स्वरूप ब्रह्मात्मा है ॥२४–२६॥ सारूप्य, सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य नामक मुक्ति इस शिवरात्रि व्रत से होती है ॥२७॥ परन्तु सत्य मुक्ति के ज्ञान द्वारा दाता केवल सर्वात्मा शिव कहा जाता है । हे मुनिश्रेष्ठ ! ज्ञान बिना मुक्ति नहीं होती है, इस से ब्रह्मा आदि देव को वह मुक्ति दाता नहीं समझना चाहिये, वे लोग कर्मोपासनादि द्वारा केवल त्रिवर्ग = अर्थ, धर्म, काम के दाता हैं ॥ २८ ॥ ब्रह्मा आदि त्रिदेव त्रिगुण के स्वामी हैं, त्रिगुण से पर निर्विकार, प्रकृति से पर तुर्य पर ब्रह्म शिव कहलाता है ॥ २९ ॥ वह शिव ज्ञान स्वरूप अव्यय सर्वसाक्षी ज्ञानलभ्य स्वयं प्रकाश ज्ञान द्वारा कैवल्य मुक्ति प्रद है, और सो यहाँ सत्ता प्रकाशादि से त्रिवर्ग दाता भी है ॥ ३० ॥ हे ऋषिसत्तम ! कैवल्य स्वरूप पञ्चमी मुक्ति मनुष्यों को सर्वथा दुर्लभ है, उस के लक्षण कहूँगा सो सुनिये ॥ ३१ ॥ जिसकी अचिन्त्य शक्ति माया द्वारा जिससे यह सब जगत् उत्पन्न होता है, और जिससे पाला जाता है, जिस में वह जगत् प्रलय में लीन होता है, और जिससे यह सब तत = व्याप्त विस्तृत है, हे मुनीश्वर ! वह ब्रह्म शिव रूप = कैवल्य मोक्ष स्वरूप कहा जाता है, और वही ब्रह्म सकल अकल = मूर्त अमूर्त-जीव ईश रूप से वेद में वर्णित है ॥ ३२–३३ ॥ वह ब्रह्म विष्णु रूप से नहीं समझा जाता है, विष्णु देव को जानने से वह ज्ञात नहीं होता है, न विष्णु देव रूपता दृष्टि काल में वह विष्णु से समझा जाता है, सब अभिमानों के त्याग काल में उस का ज्ञान होता है । इसी से ब्रह्मा वा कुमारादि रूप से तथा नारद रूप से भी वह ज्ञान नहीं होता है ॥ ३४ ॥ व्यास पुत्र शुक रूप से, व्यास रूप मुनीश्वर

सत्यं ज्ञानमनन्तं च सच्चिदानन्दसञ्ज्ञितम् । निर्गुणो निरुपाधिश्चाव्ययः शुद्धो निरञ्जनः ॥३६॥
न रक्तो नैव पीतश्च न श्वेतो नील एव च । न ह्रस्वो न च दीर्घश्च न दीर्घः सूक्ष्म एव च ॥३७॥
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । तदेव परमं प्रोक्तं ब्रह्मैव शिवसञ्ज्ञितम् ॥३८॥
तत्प्राप्तिश्चभवेदत्र शिवज्ञानोदयाद् ध्रुवम् । भजनाद्वा शिवस्यैव सूक्ष्ममत्या सतां द्विजाः ! ॥३९॥
ज्ञानं तु दुष्करं लोके भजनं सुकरं मतम् । तस्माच्छिवं च भजत मुक्त्यर्थमपि सत्तमाः ! ॥४०॥
शिवपु० रुद्रसं० उत्तरार्द्ध० अ० ४१॥

यच्चादौ हि समुत्पन्नं निर्गुणात्परमात्मनः । तदेव शिवसञ्ज्ञं हि वेदवेदान्तिनो विदुः ॥४१॥
सर्वे रुद्रं भजन्त्येव रुद्रः कञ्चिद् भजेन्न हि । स्वात्मना भक्तवात्सल्याद् भजत्येव कदाचन ॥४२॥
शिवपु० रुद्रसं० उ० अ० ४२।२-१५ ॥

विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम् । स्थितिसंयमकर्त्ताऽसौ जगतोऽसौ जगच्च सः ॥४३॥
विष्णुपु० अंश० १।१।३१ ॥

अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने । सदैकरूपरूपाय विष्णवे सर्वजिष्णवे ॥४४॥
नमो हिरण्यगर्भाय हरये शङ्कराय च । वासुदेवाय ताराय सर्वस्थित्यन्तकारिणे ॥४५॥
ज्ञानस्वरूपमत्यन्तं निर्मलं परमार्थतः । तमेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम् ॥४६॥
विष्णुपु० अंश १।२।१-२-६ ॥

रूप से, उन के पूर्व वर्तमान सब देव वा वेद शास्त्ररूप से, भी वह ज्ञात नहीं होता है ॥ ३५ ॥ वह कैवल्य सत्य, ज्ञान, अनन्त, सच्चिदानन्द नाम वाला है, और निर्गुण, निरुपाधि, अव्यय, निरञ्जन, आत्मस्वरूप है ॥ ३६ ॥ गुण भेद से रक्त = राजस, पीत = मिश्रित गुणाश्रय, श्वेत = सात्त्विक, नील = तामस वह नहीं है, न ह्रस्व = जीव है, न दीर्घ = ईश्वर है, न दीर्घ सूक्ष्म पदार्थ रूप है ॥ ३७ ॥ मन सहित वचन जिस में नहीं प्राप्त होकर निवृत्त होते हैं, वही स्वयं प्रकाश परब्रह्म शिव = कल्याण मोक्ष नाम वाला कहा गया है ॥ ३८ ॥ उस आत्म स्वरूप कैवल्य की यहाँ प्राप्ति शिवस्वरूपाऽऽत्मा के ज्ञान से अवश्य होती है, वा सूक्ष्म बुद्धि द्वारा शिव के विचारादि रूप भजन से शिव की प्राप्ति होती है, तथा सत्पुरुष ज्ञानी की सेवा से सत्पुरुष शिष्य को ज्ञान की प्राप्ति होती है ॥ ३९ ॥ हे सत्तम ! भजनादि के विना ज्ञान दुष्कर है, और सेवा भजन द्वारा ज्ञान सुकर माना है, अतः मुक्ति के हेतु ज्ञान के लिये शिवस्वरूप गुरु आदि को भजो, शिव का विचारादि करो ॥ ४० ॥ "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्" इत्यादि वेद वचन के अनुसार जो ज्ञान गर्भ वाले निर्गुण परमात्मा से माया द्वारा आदि में उत्पन्न हुआ वही शिव नाम वाला = मुक्तस्वरूप ही है, यह वेद और वेदान्ती जानते हैं, ज्ञान गर्भ होने से वह अन्य को भी ज्ञान देता है ॥ ४१ ॥ शिव स्वरूप ज्ञानी रुद्र को ज्ञान के लिये सब भजते हैं, ज्ञानी रुद्र किसी को नहीं भजता है, और कभी आत्मदृष्टि से शिष्य भक्त में प्रेम से ज्ञानी भी भक्त को भजते हैं ॥ ४२ ॥ उस सर्वात्मस्वरूप विष्णु से जगत् प्रकट हुआ, उसी में स्थिर है, इससे वह विष्णु जगत् के स्थिति और संयम कर्ता हैं और सर्वात्मा होने से जगत् का आत्मस्वरूप विष्णु हैं ॥ ४३ ॥ विकार रहित, शुद्ध, नित्य, सदा एक रूप, व्यापक, सब का जयशील, हिरण्यगर्भ, वासुदेव, तार = अतिशुद्ध, ओंकार, सब की स्थिति, अन्त कारक स्वरूप परमात्मा के प्रति नमस्कार है ॥ ४४-४५ ॥ जो परमार्थ से ज्ञान स्वरूप अत्यन्त निर्मल ब्रह्म है,

रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे।
रवीन्दुनेत्राय च लोकसाक्षिणे चिन्मात्ररूपाय परात्मरूपिणे ॥ ४७ ॥
ब्रह्मेति यस्य निगमैर्विवृतश्चिदंशो मायेश्वरः पुरुषरूपधरो यदंशः।
प्राणोदको बलधियां परमो विशुद्ध आनन्दसत्यवपुषे प्रणमामि तस्मै ॥ ४८ ॥
जीवो रहस्येव विधाय पापं न निष्कृतिं प्रैति हि विश्वमूर्त्तेः।
सर्वात्मरूपोऽन्तरतो हि शश्वत् पापं च पश्यत्यथ पुण्यकृत्यम् ॥ ४९ ॥
पापात्मभिस्तन्निभृते कृतेऽपि पापेऽनुतापानलतस्त एव।
दग्धा भवेयुः सततं तु येन नमामि तं सत्पुरुषं परेशम् ॥ ५० ॥ आदिपु० अ० १ ॥
अहं विष्णुश्च शर्वश्च देवी विघ्नेश्वरस्तथा। एकोऽहं पञ्चधा जातो नाट्ये सूत्रधरो यथा ॥५१॥
अप्रत्यक्षाः सर्वदेवाः प्रत्यक्षो भगवानयम्। सर्वे देवाः कालवशाः कालकालो दिवाकरः ॥५२॥
स्कन्दपु० वैष्णवखं० कार्त्तिकमा० अ० ३। सूर्योक्तिः ॥
सत्त्वं ब्रह्मा रजो विष्णुस्तमोऽहं संप्रकीर्त्तितः। ॐकारस्तत्परं ब्रह्म गायत्री प्रकृतिः परा ॥
उभावेतौ नरो ज्ञात्वा न विच्यवति मुच्यते ॥५३॥ स्कन्दपु० खं० ७।१०५।६०-७० ॥
प्रधानं लिङ्गमाख्यातं लिङ्गी च परमेश्वरः। हिरण्यगर्भो रजसा तमसा शङ्करः स्वयम् ॥
सत्त्वेन सर्वगो विष्णुः सर्वात्मत्वे महेश्वरः ॥५४॥ लिङ्गपु० अ० १७ ॥

उसी को भ्रान्ति ज्ञान से किसी अर्थ = शरीरादि रूप से स्थिर लोग समझते हैं ॥ ४६ ॥ संसार के जन्म में रजःसेवी, स्थिति में सत्त्ववृत्तिवाले, प्रजा के प्रलय में तमोयुक्त, सूर्य, चन्द्र, नेत्र वाला, लोकसाक्षी, चेतनमात्र स्वरूप, परमात्म स्वरूपी के प्रति नमस्कार है ॥ ४७ ॥ जिस के ज्ञान प्रधान अंश को वेदों ने ब्रह्म कहा है, माया से ईश्वर और पुरुष रूप धारी जिस का अंश है, जो बल, बुद्धि का प्रेरक होता हुआ भी परम विशुद्ध है, उस आनन्द सत्य स्वरूप के प्रति प्रणाम करता हूँ ॥४८॥ जीव एकान्त में ही पाप कर के विश्वमूर्त्ति वाले ईश्वर से निष्कृति = मुक्ति नहीं पाता है, क्योंकि वह सब का आत्मस्वरूप होता हुआ अन्तर से सदा पाप और पुण्य कर्म को देखता है ॥ ४९ ॥ तिससे पापियों से निभृत = गुप्त पाप करने पर भी, फिर अनुताप = शोक रूप अग्नि से वे हो लोग सदा जिस कर के दग्ध होते हैं तिस कर्म फल दाता सत्य पुरुष परमेश्वर को नमस्कार करता हूँ ॥ ५० ॥ सूर्य देव कहते हैं कि-नाट्य में सूत्रधार के समान मैं एक सर्वात्मा ही सूर्य, विष्णु, शिव, देवी, गणेश, पांच प्रकार के हुए हैं ॥ ५१ ॥ सब प्रत्यक्ष नहीं हैं, और यह भगवान सूर्य प्रत्यक्ष हैं, तथा सब देव काल के वश में हैं, सूर्य कालों का काल है, आत्मा प्रत्यक्ष है, और कालों का साक्षी है ॥ ५२ ॥ सत्त्वमय ब्रह्मा हैं, रजोमय विष्णु हैं; मैं = रुद्र तमोमय कहा गया हूँ, ॐ कार का लक्ष्यार्थ परब्रह्म है, गायत्री परा प्रकृति है। ब्रह्म और प्रकृति को विवेक पूर्वक जान कर मनुष्य नरकादि में नहीं गिरता है, और मुक्त होता है ॥ ५३ ॥ प्रधान = प्रकृति को लिङ्ग कहते हैं, लिङ्गवाला परमेश्वर है, सो परमेश्वर रजोगुण से व्यापक हिरण्यगर्भ ब्रह्मा होता है, तमोगुण से स्वयं शङ्कर होता है, सत्त्वगुण से व्यापक विष्णु होता है, सर्वात्मत्वस्वरूप में महेश्वर रहता है, यह सब स्वरूप व्यापक है,

एक एव जगद्योनिः प्रतियोनिषु संस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥५५॥

भविष्यपु० पर्व० ४।२।८ ॥

यो ब्रह्मा स हरिश्चैव यो हरिः स महेश्वरः । महेश्वरः स्मृतः सूर्यः सूर्यः पावक उच्यते ॥५६॥

पावकः कार्त्तिकेयोऽसौ कार्त्तिकेयो विनायकः । गौरी लक्ष्मी च सावित्री शक्तिभेदाः प्रकीर्त्तिताः ॥५७॥

देवं देवीं समुद्दिश्य यः करोति व्रतं नरः । न भेदस्तत्र मन्तव्यः शिवशक्तिमयं जगत् ॥५८॥

भविष्यपु० पर्व० ४।२०५ ॥

एष एव रजोयुक्तो ब्रह्माऽभूद् विश्वभावनः । सत्त्वाविष्टस्तथा विष्णुस्त्रिजगत्प्रतिपालकः ॥
एष रुद्रस्तामसोऽन्ते जगत्प्रलयकारणम् ॥५९॥ अध्यात्मरा० अयोध्याकां० स० ५।१४ ॥

अहं सर्वत्र समदृक् द्वेष्यो वा प्रिय एव वा । नास्ति मे कल्पकस्येव भजतोऽनुभजाम्यहम् ॥६०॥

अध्यात्मरा० अ० कां० स० ६।६६ ॥

त्वं रजोगुणतो ब्रह्मा जगतः सर्गकारणम् । सत्त्वाद्विष्णुस्त्वमेवास्य पालकः सद्भिरुच्यते ॥६१॥
लये रुद्रस्त्वमेवास्य त्वन्मायागुणभेदतः ॥ ६२ ॥

लोके त्वद्भक्तिनिरतास्त्वन्मात्रोपासकाश्च ये । विद्याप्रादुर्भवेत्तेषां नेतरेषां कदाचन ॥६३॥

साधुसङ्गतिरेवात्र मोक्षहेतुरुदाहृता । साधवः समचित्ता ये निःस्पृहा विगतैषिणः ॥
दान्ताः प्रशान्तास्त्वद्भक्ता निवृत्ताखिलकामनाः॥६४॥ अ०रा०अर०कां०सं०३॥ श्रीरामचन्द्रं प्रत्यगस्त्योक्तिः ॥

यथा चुम्बकसान्निध्याचलत्येवाय आदयः । जडा तथा त्वया दृष्टा माया सृजति वै जगत् ॥६५॥

एक में गुणकृत कल्पित भेद है ॥ ५४ ॥ जगत् का कारण = ईश्वर आत्मा एक है, सो सब योनि में स्थिर है, परन्तु वह सत्य चन्द्र और जल के प्रतिबिम्ब रूप चन्द्रों के समान स्वरूप से एक और औपाधिक रूप से बहुत दीखता है ॥५५॥ पारमार्थिक स्वरूप में जो ब्रह्मा हैं सोई हरि, महेश्वर, सूर्य, अग्नि, कहलाते हैं ॥५६॥ और अग्नि के ही सत्य स्वरूप कार्त्तिकेय गणेश हैं और गौरी आदि उस परमतत्त्व के शक्तियों के भेदों के नाम हैं ॥ ५७ ॥ इस से देव, देवी को उद्देश्य = लक्ष्य कर के जो मनुष्य व्रत करता है वहाँ भेद नहीं मानना चाहिये, क्योंकि जगत् शिवशक्तिमय = आत्मप्रकृतिस्वरूप है ॥ ५८ ॥ क्योंकि यह सर्वात्मा राम ही विश्व रचना की भावना वाला हो कर ब्रह्मा हुआ, सत्त्वयुक्त हो कर तीन लोक का पालक विष्णु हुआ, यही तामस रुद्र हो कर अन्त में जगत् के प्रलय का कारण होगा ॥५९॥ सर्वात्मा रूप मैं राम सर्वत्र समदृष्टि वाला हूँ, इस से मेरा कोई द्वेष्य = शत्रु वा प्रिय नहीं है, तो भी कल्पक = मायावी के समान भजने वाले को फिर भजता हूँ ॥ ६० ॥ अगस्त्य जी रामचन्द्र जी से बोले कि सर्वात्मरूप तुम रजोगुण से सृष्टि के कारण ब्रह्मा हो, और तुम्हीं सत्त्वगुण से इस संसार के पालक विष्णु सत्पुरुषों से कहे जाते हो ॥ ६१ ॥ और तेरी माया के गुण भेद = तमोगुण से इस संसार के लय में तुम्हीं रुद्र हो ॥ ६२ ॥ लोक में जो तेरी भक्ति = विचारादि में जो तत्पर हैं, और केवल तेरे उपासक हैं, अनात्मोपासना से रहित हो कर आत्मोपासना में तत्पर हैं, उन को आत्मज्ञान प्रकट होता है, अन्य को कभी नहीं होता है ॥ ६३ ॥ यहाँ साधुओं की सङ्गति ही मोक्ष का कारण कहा गया है, साधु वे हैं, कि जो निःस्पृह, सब कामों से निवृत्तिवाले, विगतैषी, दान्त, प्रशान्त और तेरे भक्त हैं ॥ ६४ ॥ जैसे चुम्बक की समीपता से लोहा आदि

देहद्वयमदेहस्य तत्र विश्वं रिरक्षिषोः। विराट् स्थूलं शरीरं ते सूक्ष्मं सूत्रमुदाहृतम् ॥६६॥
विराजः सम्भवन्त्येते अवताराः सहस्रशः। कार्यान्ते प्रविशन्त्येव विराजं रघुनन्दन ! ॥६७॥
अध्यात्मरा० युद्धकां० स० १४।२६। इत्यादि ॥

हृत्पद्मे भानुविमले मत्कलां जीवसञ्ज्ञिताम्। ध्यायेत्स्वदेहमखिलं तया व्याप्तमरिंदम ! ॥६८॥
तामेवावाहयेन्नित्यं प्रतिमादिषु मत्कलाम् ॥६९॥ अ० रा०किष्किं०कां० स० ४।२६। ल० प्रति० श्रीरामोक्तिः ॥
अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्। आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः ॥७०॥
आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज !। सृजन् रक्षन् हरन् विश्वे दध्रे सञ्ज्ञां क्रियोचिताम्॥७१॥
तस्मिन् ब्रह्मण्यद्वितीये केवले परमात्मनि। ब्रह्मरुद्रौ च भूतानि भेदेनाज्ञोऽनुपश्यति ॥७२॥
यथा पुमान्न स्वाङ्गेषु शिरःपाण्यादिषु क्वचित्। पारक्यबुद्धिं कुरुते एवं भूतेषु मत्परः ॥७३॥
त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्। सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमधिगच्छति ॥७४॥
भागव० स्क० ४।७।५०। इत्यादि। दक्षं प्रति भगवदुक्तिः ॥

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च। वासुदेवात्परो ब्रह्मन्न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः ॥७५॥
भागव० स्क० २।५।१४। नारदं प्रति ब्रह्मोक्तिः ॥

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरि विरिञ्चिहरेति संज्ञाःश्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनो र्नृणां स्युः॥७६॥ भा० स्क० १।२।१३॥

चलता ही है, तैसे तुम से दृष्ट = प्रकाशित माया जड़ होती हुई भी जगत् को रचती है ॥६५॥ विश्व की रक्षा की इच्छा वाले, देह रहित आप के दो देह कल्पित हैं, तहाँ विराट् तेरी स्थूल देह है और सूक्ष्म शरीर सूत्र कहा गया है ॥ ६६ ॥ हे रघुनन्दन ! विराट् से ही ये हजारों अवतार होते हैं, और कार्य के अन्त में विराट् में ही लीन हो जाते हैं ॥६७॥ हे अरिंदम ! लक्ष्मण ! सूर्य तुल्य विमल हृदय कमल में मेरी कला = आत्मा के अंश रूप जीव नामकका ध्यान विचारादि करे और उससे व्याप्त सम्पूर्ण अपने देह को समझे। उसी मेरी कला को सदा प्रतिमा आदि में भी आवाहन करे ॥ ६८–६९ ॥ जो मैं जगत् का पर कारण आत्मा ईश्वर उपद्रष्टा = साक्षी स्वयं प्रकाश, अविशेषण = निरुपाधि हूँ, सोई ब्रह्मा और शिव हैं ॥ ७० ॥ हे द्विज ! सोई मैं गुणमयी अपनी माया में समाविष्ट होकर संसार में सृष्टि पालन संहार करता हुवा, क्रिया = कर्म योग्य संज्ञाओं को धारण करता हूँ ॥ ७१ ॥ तिस अद्वितीय = सजातीयादिभेदरहित केवल = निर्गुण ब्रह्म रूप परमात्मा मुझ में अज्ञ प्राणी ब्रह्मा, रुद्र, और अन्य प्राणी को भेद दृष्टि से देखता है ॥ ७२ ॥ मत्परायण = आत्मज्ञानी भूतों में इस प्रकार कहीं भेद बुद्धि नहीं करता है, कि जैसे पुरुष कहीं अपने अंग = अवयव रूप शिर करादि में परकीय = अन्य के हैं ऐसा बुद्धि = ज्ञान नहीं करता है ॥ ७३ ॥ हे ब्रह्मन् सर्व भूतात्मा एक भाव = स्वरूप वाले तीनों में जो भेद नहीं देखता है, सो शान्ति को पाता है ॥ ७४ ॥ द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव = प्रकृति जीव, हे ब्रह्मन् ! ये सभी सर्वात्मा सर्व कारण रूप वासुदेव से पर = भिन्न अर्थ पदार्थ रूप तत्त्वतः = यथार्थ स्वरूप से नहीं हैं ॥ ७५ ॥ सत्त्व, रज, तम ये प्रकृति के गुण हैं, उन से युक्त एक ही पर पुरुष = ईश्वर इस संसार की स्थिति सृष्टि संहार के लिये हरि, ब्रह्मा, हर इन नामों को यहाँ धारण करता है, तहाँ सत्त्व तनु वाले से मनुष्यों का श्रेयः = शुभ होता है ॥ ७६ ॥

एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम् । यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः ॥७७॥
एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् । इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ॥७८॥
भागव० स्क० १।३।५-२८ ॥

भगवानेक आसेदमग्र आत्मात्मनां विभुः । आत्मेच्छानुगतो वात्मा नानामत्युपलक्षणः ॥७९॥
स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यद् दृश्यमेकराट् । मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक् ॥८०॥
सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका । माया नाम महाभाग ! ययेदं निर्ममे विभुः ॥८१॥
भागव० स्क० ३।५।२३। इत्यादि । उद्धवं प्रति मैत्रेयोक्तिः ॥

यं ध्यायन्ति बुधाः समाधिसमये शुद्धं वियत्सन्निभं । नित्यानन्दमयं प्रसन्नममलं सर्वेश्वरं निर्गुणम् ॥
व्यक्ताव्यक्तपरं प्रपञ्चरहितं ध्यानैकगम्यं विभुं । तं संसारविनाशहेतुमजरं वन्दे हरिं मुक्तिदम् ॥८२॥
ब्रह्मपु० अ० १।३ ॥

रुद्रोऽस्य मनसो जातो विष्णुर्जातोऽस्य वक्षसः । मुखेभ्यश्चतुरो वेदा वेदाङ्गानि च कृत्स्नशः ॥८३॥
सर्वं ब्रह्ममयं लोकं सर्वं ब्रह्मणि संस्थितम् । तस्मात्समर्चयेद् ब्रह्मन् य इच्छेच्छ्रेयमात्मनः॥८४॥
अप्येकवारं यो भक्त्या पूजयेत्पद्मसम्भवम् । पद्मस्थमूर्त्तिमन्तं वा ब्रह्मलोकं स गच्छति ॥८५॥
पुण्यक्षयात् क्षितिं प्राप्य भवेत् क्षितिपति र्महान् । वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो ब्राह्मणश्चापि जायते ॥८६॥

एतत् = यह आदि नारायण नामक नाना अवतारों का निधान = आश्रय और अविनाशी बीज हैं, जिसके अंशों के अंश से देवादि उत्पन्न होते हैं ॥ ७७ ॥ ये अवतार सब पुरुष के अंशों की कला हैं, और कृष्ण स्वयं भगवान् हैं, यह उपासक दृष्टि है । इन्द्रारि = असुर से व्याकुल लोक को अवतार सब युग २ में सुखी करते हैं ॥ ७८ ॥ "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।" [छां० ६।२।१] इस श्रुति के अनुसार, जीवात्माओं के सत्यात्मा विभु एक ही भगवान् स्वरूप यह जगत् सृष्टि से प्रथम था, अपनी इच्छा में = माया में अनुगत वही आत्मा नाना बुद्धि रूप उपलक्षण = उपाधि वाला सृष्टि काल में हुआ है ॥ ७९ ॥ क्योंकि वही एकराट् = अकेले प्रकाशने वाले इस द्रष्टा ने उस प्रलयकाल में अन्य दृश्य वस्तु को नहीं देखा, तब सुप्त = अप्रकट माया आदि शक्ति वाला असुप्त दृक् = चितशक्ति वाला उसने अपने को असत् के समान समझा ॥ ८० ॥ इस संद्रष्टा की वह माया नाम से प्रसिद्ध सदसदात्मक = कार्य कारण स्वरूपा दृश्यादृश्यात्मा शक्ति है, कि-जिससे उस विभु ने इस जगत् को रचा ॥८१॥ पण्डित लोग समाधि के समय जिस शुद्ध, आकाश तुल्य असङ्ग, नित्य = सदा आनन्दमय, प्रसन्न=स्वच्छ अमल, सर्वेश्वर, निर्गुण, व्यक्त अव्यक्त = कार्य कारण से पर, प्रपञ्चरहित, एक ध्यान मात्र से प्राप्य विभु का ध्यान करते हैं, जन्मादि संसार के विनाश के हेतु मुक्ति के दाता अजर उस हरि की वन्दना करता हूँ ॥ ८२ ॥ इस ब्रह्मा के मन से रुद्र उत्पन्न हुए, वक्ष स्थान से विष्णु उत्पन्न हुए, और मुखों से चार वेद और सब वेदाङ्ग हुए ॥ ८३ ॥ सब लोक ब्रह्ममय है, और सब ब्रह्म में सम्यग् स्थिर है, हे ब्रह्मन् ! तिस से ब्रह्म की सम्यग् पूजा करे, जो अपना कल्याण चाहे ॥ ८४ ॥ जो कोई एक बार भी पद्म सम्भव = ब्रह्मा वा पद्मस्थमूर्ति वाले ब्रह्मा को भक्ति से पूजता है, सो ब्रह्मलोक में जाता है ॥ ८५ ॥ पुण्य के क्षय से भूमि में आ कर महान् राजा

समासक्तं यथा चित्तं जन्तो विंषयगोचरे । यद्येवं ब्रह्मणि न्यस्तं को न मुच्येत बन्धनात् ॥८७॥
भविष्यपु० अ० १७ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि युक्त्यैवमात्मानं मत्परायणः ॥८८॥
भविष्यपु० अ० ६२।१६। आदित्योक्तिः ॥

मनसा कर्मणा वाचा प्राणिनां यो न हिंसकः । भावभक्तश्च मार्त्तण्डे तस्य दीक्षा गुणान्विता ॥८९॥
सर्वान् देवान् रविं वेत्ति सर्वलोकांश्च भास्करम् । तेभ्यश्च नान्यमात्मानं स नरः सौरतां व्रजेत् ॥९०॥
भावं न कुरुते यस्तु सर्वभूतेषु पापकम् । कर्मणा मनसा वाचा स तु दीक्षां समर्हति ॥९१॥
भविष्यपु० अ० ६३। ब्रह्मोक्तिः ॥

न भानु र्जीवदानेन न पुष्पै र्न फलैस्तथा । आराध्यते सुशुद्धेन हृदयेनैव केवलम् ॥९२॥
रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टाऽनृतादिभिः । हिंसाविरहितं कर्म भास्कराराधनं त्रयम् ॥९३॥
भविष्यपु० अ० ११२ ॥

दृष्टदेवं च यो हित्वा अदृष्टं च निषेवते । पापात्मा परमः सैकस्तिर्यग् योनिं च गच्छति ॥९४॥
भविष्यपु० मध्यप० अ० ६।१९ ॥

परतन्त्रोऽस्म्यहं नूनं पद्मयोने ! निशामय । तथा त्वमपि रुद्रश्च सर्वे चान्ये सुरोत्तमाः ॥९५॥
देवीभा० स्क० ४।१८।६०। श्रीविष्णोरुक्तिः ॥

इत्युक्त्वा भगवान् विष्णुः पुनराह प्रजापतिम् । यन्मायामोहितः सर्वस्तत्त्वं जानाति नो जनः ॥९६॥
वयं मायावृताः कामं न स्मरामो जगद्गुरुम् । परमं पुरुषं शान्तं सच्चिदानन्दमव्ययम् ॥९७॥

होता है, और वेद वेदाङ्ग का तत्त्वज्ञ ब्राह्मण होता है ॥ ८६ ॥ जैसे प्राणी का चित्त शब्दादि विषय रूप गोचर = देश में आसक्त है, ऐसे यदि ब्रह्म में न्यस्त = स्थापित हो तो बन्धन से कौन न मुक्त हो ? ॥८७॥ "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रति जाने प्रियोऽसि मे ।" [भ० गी० अ० १८।६५] इस वचन के अनुसार आदित्य देव कहते हैं कि मेरे में = ईश्वर में मन वाला ईश्वर भक्त ईश्वर पूजक हो कर ईश्वर को प्रणाम करो, इस प्रकार ईश्वर परायण होकर युक्ति से सर्वात्मा रूप ईश्वर को प्राप्त करोगे । यह प्रतिज्ञा है ॥ ८८ ॥ जो मन कर्म वचन से प्राणियों का अहिंसक होता हुआ मार्तण्ड = सूर्य में भाव से भक्त होता है, उस की दीक्षा गुणान्वित = सफल होती है ॥ ८९ ॥ जो मनुष्य सब देवों को रवि रूप जानता है, सब लोकों को भास्कर स्वरूप समझता है, सो मनुष्य सूर्य रूपता को पाता है ॥ ९० ॥ जो किसी प्राणी में पाप रूप भाव नहीं करता है, कर्मादि से पाप भाव रहित वह मनुष्य दीक्षा के योग्य होता है ॥ ९१ ॥ सूर्य की आराधना जीव के दान वा पुष्प वा फल से नहीं होती है, किन्तु केवल शुद्ध हृदय से ही होती है ॥ ९२ ॥ रागद्वेषादि से रहित हृदय होना, झूठ कपटादि से रहित वचन होना, हिंसा रहित कर्म होना यही तीनों सूर्य की आराधना है ॥ ९३ ॥ दृष्ट = प्रत्यक्ष देव को छोड़ कर जो अदृष्ट = परोक्ष को सेवता है, वह परम पापात्मा है, एकाकी तिर्यग् योनि में जाता है ॥ ९४ ॥ हे पद्मयोने ! = ब्रह्मन् ! सुनो, मैं परतन्त्र हूँ, तथा तुम परतन्त्र हो, और रुद्रादि सब देव परतन्त्र हैं । यह विष्णु देव का कथन है ॥ ९५ ॥ भगवान् विष्णु ऐसा कह कर फिर प्रजापति से बोले कि जिस से सब माया से मोहित हैं, तिसी से जन, तत्त्व = परमात्मा को नहीं जानते हैं ॥ ९६ ॥ हम सब भी माया से अत्यन्त आवृत्त हैं, इसी से शान्त =

अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शिवोऽहमिति मोहिताः । न जानीमो वयं धातः ! परं वस्तु सनातनम् ॥९८॥
देवीभा० स्क० ४।१९। श्रीव्यासोक्तिः ॥

प्राप्ते कलावहह दुष्टतरे च काले, न त्वां भजन्ति मनुजा ननु वञ्चितास्ते ।
धूर्त्तैः पुराणचतुरैर्हरिशङ्कराणां सेवापराश्च विहितास्तव निर्मितानाम् ॥९९॥ देवीभा० स्क० ५।१६।१२॥

योऽसौ नारायणो देवः परमात्मा सनातनः । भगवान् सर्वभावेन उताहो नेति शंस मे ॥१००॥
वराहपु० अ० ४ ॥ धरणीप्रश्नो वराहं प्रति ॥

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः । रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश ॥१०१॥
इत्येताः कथितास्तस्य मूर्त्तयो भूतधारिणि ! । दर्शनं प्राप्तुमिच्छूनां सोपानानि च शोभने !॥१०२॥
यत्तस्य परमं रूपं तन्न पश्यन्ति देवताः । अस्मदादिस्वरूपेण पूजयन्ति ततो धृतिम् ॥१०३॥ वराहोक्तिः ॥
स च नारायणो देवः सर्वज्ञः कामरूपवान् । सौम्यस्तु संस्थितः क्वापि प्राप्यते मनुजैःकिल॥१०४॥
आराधनं न चैतस्य परमार्थं भविष्यति ॥ १०५ ॥
किन्तु सर्वशरीरस्थः परमात्मा जगत्पतिः । स्वदेहे दृश्यते भक्त्या नैकस्थानगतस्तु सः ॥१०६॥
वराहपु० अ० ४। कपिलजैगीषव्योक्तिः ॥

शिवस्य हृदयं विष्णु र्विष्णोश्च हृदयं शिवः । एकमूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥
त्रयाणामन्तरं नास्ति गुणभेदाः प्रकीर्त्तिताः ॥ १०७ ॥ पद्मपु० भूमिखं० अ० ७१।२१ ॥
असंख्या विलयं याता ब्रह्माणः पण्डितोत्तमाः । असंख्या विष्णवो रुद्रा असङ्ख्या वासवादयः॥१०८॥
एक एव शिवः साक्षात्सृष्टिस्थित्यन्तसिद्धये । ब्रह्मविष्णुशिवाख्याभिः कल्पनाभिर्विजृम्भितः ॥१०९॥

निरुपद्रव सच्चिदानन्द रूप परम पुरुष जगद् गुरु का स्मरण नहीं करते हैं ॥ ९७ ॥ मैं विष्णु हूँ, मैं ब्रह्मा हूँ, मैं शिव हूँ, इस प्रकार मोहित=अहङ्कार युक्त हम लोग, हे धातः !=ब्रह्मन् ! सनातन पर वस्तु को नहीं समझते हैं ॥ ९८ ॥ अहह=अद्भुत खेद की बात है, कि–अतिदुष्ट काल कलियुग के प्राप्त होने पर, तुम=देवी को जो मनुष्य नहीं भजते हैं, सो मनुष्य पुराणों में चतुर धूर्तों से अवश्य वञ्चित हैं, इस से तुझ=देवी के निर्मित=कार्य रूप हरि शङ्कर के सेवा परायण हुए हैं ॥ ९९ ॥ पृथिवी देवी ने वराह भगवान् से प्रश्न किया कि–जो वह परमात्मा सनातन नारायण देव है, सो सब भाव से=सर्वथा भगवान् है, अथवा नहीं ? सो मुझे कहिये ॥ १०० ॥ वराह बोले कि हे भूतधारिणि ! मत्स्यादि ये दश तिस भगवान् की मूर्त्तियाँ कही गयीं हैं। हे शोभने ! सो मूर्त्तियाँ भगवान् के दर्शन की प्राप्ति चाहने वालों के लिये सोपान=सीढ़ी रूप हैं ॥१०१–१०२॥ जो उस भगवान् का परम स्वरूप है उस को देव सब नहीं देखते हैं, इससे हम लोगों के स्वरूप द्वारा उस परमात्मा को पूजते हैं तिससे धृति=धैर्य पाते हैं ॥ १०३ ॥ सर्वज्ञ वह नारायण देव काम रूप=इच्छामय रूप वाले हैं, सौम्य=प्रिय स्वरूप सम्यग् स्थिर कहीं मनुष्यों को मिलते हैं ॥ १०४ ॥ इस नारायण देव का आराधन उत्तम फल वाला नहीं होगा। किन्तु सब शरीरों में स्थिर जगत्पति परमात्मा की भक्ति से अपने देह में प्रत्यक्ष होता है, सो एक स्थान में गत = प्राप्त नहीं है ॥ १०५–१०६ ॥ शिव के हृदय तुल्य विष्णु हैं, विष्णु के हृदय शिव हैं. इससे एक मूर्तिवाले ब्रह्मादि तीनों देव हैं, तीनों के स्वरूप में भेद नहीं है, गुणों में भेद कहे गये हैं॥१०७॥ पण्डितों में उत्तम असंख्य = अनन्त ब्रह्मा विलय को प्राप्त किये, और असंख्य विष्णु रुद्र इन्द्रादि भी विलीन हुए ॥ १०८ ॥ एक ही साक्षात्=अपरोक्ष सर्वात्मा रूप शिव, सृष्टि, स्थिति, प्रलय की सिद्धि के लिये ब्रह्मा विष्णु

ब्रह्मणो मूर्तयोऽनन्ता जायन्ते गुणभेदतः । तथा विष्णोस्तथेशस्य गुणभेदेन सुव्रताः ! ॥११०॥
परस्परोपजीव्याः स्यु र्हिताय जगतो द्विजाः ! । सर्वमूर्त्तिष्वयं साक्षाच्छिवः सत्यादिलक्षणः ॥१११॥
अप्रच्युतात्मभावेन सदा तिष्ठति सुव्रताः ! । तमहंप्रत्ययव्याजात्सर्वे जानन्ति जन्तवः ॥
तथापि शिवरूपेण न विजानन्ति मायया ॥ ११२ ॥ सूतसं० शिवमा० अ० ८।२८ इत्यादि ॥

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् । स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः॥११३॥
स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं सनातनम् । ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥११४॥
यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत् । सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं स त्वमेव त्वमेव तत् ॥११५॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपञ्चं यत्प्रकाशते । तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥११६॥
कैवल्योप० खं० १।७-८-१६-१७ ॥

देशाद्देशान्तरं दूरं प्राप्तायाः सम्विदो वपुः । निमेषेणैव यन्मध्ये तद्रूपं परमात्मनः ॥११७॥
द्रष्टृदृश्यक्रमो यत्र स्थितोऽप्यस्तमयं गतः । यदनाकाशमाकाशं तद्रूपं परमात्मनः ॥११८॥
योगवासि० प्र० ३।७।१६-२१ ॥

अघनः केवलालोको बुधो जीवः परायते । स एवाऽन्योऽप्यनन्योऽन्तरपराह्ण इवातपः ॥११९॥

शिव नाम द्वारा कल्पनाओं से विजृम्भित = विस्तृत होता है ॥ १०९ ॥ हे सुव्रत ! गुण भेद से ब्रह्मा, विष्णु, महेश की अनन्त मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं ॥११०॥ हे द्विज ! सो मूर्तियाँ परस्पर उपजीव्य = सहायक हेतु होती है, जो जगत् के हित के लिये होती हैं, और सब मूर्तियों में सत्यानन्द स्वरूप साक्षात् शिव अप्रच्युत = स्थित आत्मस्वरूप से सदा रहता है । हे सुव्रत ! अहं प्रत्यय = ज्ञान के व्याज लक्ष्य विषय रूप से उसका सब प्राणी यद्यपि जानते हैं, तथापि माया से शिव रूप से नहीं जानते हैं ॥ १११-११२ ॥ वह अचिन्त्यादि स्वरूप सर्वात्मा शिव ही ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, अक्षर=अविनाशी परम स्वराट्=विराट् , विष्णु, प्राण = हिरण्यगर्भ, काल = मृत्यु, अग्नि, चन्द्रमा, इन सब स्वरूप हैं ॥ ११३ ॥ वही सब स्वरूप है, जो भूत भावी हैं, उसका आत्मा भी वही सनातन है, उसी को जानकर मृत्यु रहित = मुक्त होता है, मोक्ष के लिये अन्य मार्ग नहीं है ॥ ११४ ॥ जो पर ब्रह्म सबका आत्मा और संसार का महान् आयतन = आश्रय है, सो तुम हो, और तुम्हीं ब्रह्म हो ॥ ११५ ॥ जाग्रत् , स्वप्न, सुषुप्ति, आदि सब प्रपञ्च = विस्तार को जो ब्रह्म प्रकाशता है, सो ब्रह्म मैं हूँ, ऐसा जानकर सब बन्धन से मुक्त होता है ॥ ११६ ॥ वृक्ष के शाखादिदेश से देशान्तर दूर चन्द्रादि तक अन्त.करण की वृत्ति से व्यक्त होकर निमेष में प्राप्त जो सम्वित् = ज्ञान का स्वरूप उसकी जो शाखा और चन्द्र के मध्य में निर्विषय ज्ञान स्वरूप है, वही निर्विषयज्ञानस्वरूप परमात्मा का है ॥११७॥ जिस में द्रष्टा और दृश्य का क्रम=परम्परा स्थिर होती हुई भी मिथ्या होने से अस्तङ्गत = नष्ट प्राप्त है. इससे जो मिथ्या आकाश से रहित चिदाकाश = विभुचित् है, सो परमात्मा का स्वरूप है ॥११८॥ अघन=मूर्त्तिशून्य-देहाभिमान रहित, केवल चैतन्य रूप, आलोक मात्र का विवेकी जीव, परमात्मस्वरूप होता है, सो अन्य होता हुआ भी स्वरूप से अनन्य = अभिन्न होता है, जैसे मेघ रहित अपराह्ण का आतप केवल

एकदेशस्थितात्पुंसो दूरायातस्य चेतसः। यद्रूपं सकलं मध्ये तद्रूपं[१] परमात्मनः ॥१२०॥

योगवा० प्र० ६-२। स० २२।६०-६१ ॥

ईश्वरो न महाबुद्धे ! दूरे न च सुदुर्लभः। महाबोधमयैकात्मा स्वात्मैव परमेश्वरः ॥१२१॥

तस्मै सर्वं ततः सर्वं स सर्वं सर्वतश्च सः। सोऽन्तः सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥१२२॥

बोधात्मैषोऽन्तरात्मैव परमः परमेश्वरः। अस्यैव वाचको नाम प्रणवो वेदसम्मतः ॥१२३॥

योगवा० प्र० ६-२। स० ४८।२२-२३-३१ ॥

अविद्यां प्रकृतिं विद्धि गुणत्रितयधर्मिणीम्। एषैव संसृतिं जन्तोरस्याः पारं परं पदम् ॥१२४॥

अत्र ते ये त्रयः प्रोक्ता गुणास्तेऽपि त्रिधा स्मृताः। सत्त्वं रजस्तम इति प्रत्येकं भिद्यते गुणः ॥१२५॥

नवधैवं विभक्तेयमविद्या गुणभेदतः। यावत्किंचिदिदं दृश्यमनयैव तदाश्रितम् ॥१२६॥

ऋषयो मुनयः सिद्धा नागा विद्याधराः सुराः। इति भागमविद्यायाः सात्त्विकं विद्धि राघव ! ॥१२७॥

सात्त्विकस्यास्य भागस्य नागविद्याधरास्तमः। रजस्तु मुनयः सिद्धाः सत्त्वं देवा हरादयः ॥१२८॥

योगवा० प्र० ६।९।६-१० ॥

चिन्मयः परमाकाशो य एव कथितो मया। एषोऽसौ शिव इत्युक्तो भवत्येष सनातनः ॥१२९॥

स एष हरिरित्यास्ते भवत्येष पितामहः। चन्द्रोऽर्क इन्द्रो वरुणो यमो वैश्रवणोऽनलः ॥१३०॥

आलोक मात्र रहता है ॥ ११९ ॥ एक देश में स्थिर पुरुष से नेत्र द्वारा दूर गये हुए चित्त के जो मध्य में व्यक्त निर्विषय चित् स्वरूप है, सो परमात्मा का स्वरूप है ॥ १२० ॥ हे महाबुद्धे राम ! ईश्वर दूर देश में नहीं है, न अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि महाबोधमय एक आत्मा परमेश्वर ही स्वात्मा है ॥ १२१ ॥ उस एक स्वतन्त्र चेतनात्मा के लिये ही सब जगत् है, उसीसे सब है, वही सब स्वरूप है, और वह सर्वत्र व्यापक है, वह अन्त में सर्वमय है, सदा सब का अन्तरात्मा साक्षी है, उस सर्वात्मा को नमस्कार है ॥ १२२ ॥ बोध = ज्ञान स्वरूप यह अन्तरात्मा ही परम परमेश्वर है, वेद सम्मत प्रणव = ओंकार इसी ज्ञान स्वरूप का वाचक नाम है, वाचक होता हुआ नाम है ॥ १२३ ॥ चेतन = विद्या और जड़ = अविद्या दो ही पदार्थ हैं, तहाँ जगत् के मूल रूप अविद्या = जड़ को गुणत्रयधर्मवाली प्रकृति जानना चाहिये, और यही प्राणियों का संसाररूप है, इसी के पारस्वरूप परपद = मोक्ष है ॥ १२४ ॥ इस प्रकृति में जो तीन गुण कहे गये हैं, वे भी तीन २ प्रकार के हैं, सत्त्व, रज तम इस प्रकार प्रत्येक गुण भिन्न २ होते हैं ॥ १२५ ॥ इस प्रकार यह अविद्या गुण भेद से नव प्रकार में विभक्त होती है, और जो कुछ यह दृश्य जगत् है, सो इस अविद्या से ही उस आत्माश्रित है ॥१२६॥ हे राघव ! ऋषि, मुनि, सिद्ध, नाग, विद्याधर, देव, ये सब अविद्या के सात्त्विक भाग हैं, ऐसा जानो ॥ १२७ ॥ इस सात्त्विक भाग के भी नाग और विद्याधर तम रूप हैं = कनिष्ठ सत्त्व वाले हैं, मुनि और सिद्ध रजःस्वरूप हैं = मध्यमसत्त्ववाले हैं, हरादि देव उत्तम सत्त्वस्वरूप हैं ॥ १२८ ॥ चिन्मय = चेतनस्वरूप जो परमाकाश नाम से जो मुझे कहा गया है, उसे उपास्य शिव नाम से भी कहा गया है, यही सनातन = अनादि है ॥ १२९ ॥ यही हरि के उपासक के

---

१. तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। अथर्ववे० कां० ७।३।१८ ॥ अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्। कुसुमाञ्जलिः ४।४॥ चक्षुः सूर्यः ॥

तावत्तरङ्गत्वमयं करोति जीवः स्वसंसारमहासमुद्रे ।
यावन्न जानाति परं स्वभावं निरामयं तन्मयतामुपेतः ॥१३१॥ योगवा० प्र० ६–२। स० ८२॥२०–२५ ॥
भ्रमति प्रकृतिस्तावत्संसारे भ्रमरूपिणी । स्पन्दमात्रात्मिका सेच्छा चिच्छक्तिः पारमेश्वरी ॥१३२॥
यावन्न पश्यति शिवं नित्यतृप्तमनामयम् । अजरं परममाद्यन्तवर्जितं वर्जितद्वयम् ॥१३३॥
सम्विन्मात्रैकधर्मित्वात्काकतालीययोगतः । सम्विद्देवी शिवं स्पृष्ट्वा तन्मयीव भवत्यलम् ॥१३४॥
प्रकृतिः पुरुषं स्पृष्ट्वा प्रकृतित्वं समुज्झति । तदन्तरेकतां गत्वा नदी रूपमिवार्णवे ॥१३५॥
चितिः शिवेच्छा सा देवं तमेवासाद्य शाम्यति । जन्मस्थानशिलां प्राप्य तीक्ष्णधारा यथाऽऽयसी ॥१३६॥
पुंसश्छायां निजच्छाया प्रविष्टस्य शरीरकम् । यथाऽऽशु प्रविशत्येव प्रकृतिः पुरुषं तथा ॥१३७॥
चेतित्वा चिन्निजं भावं पुरुषाख्यं सनातनम् । भूयो भ्रमति संसारे नेह तत्तां प्रयाति हि ॥१३८॥
योगवा० प्र० ६–२। स० ८५।१६ इत्यादि ॥
विराजो जीवतामाहुः केचिदन्ये परात्मताम् । उभयं युक्तमेवैतद्विवक्षाया विशेषतः ॥१३९॥
सोपाधिकविवक्षायां जीव एव विराड् भवेत् । निरुपाधिकविवक्षायां परमात्मैव नेतरः ॥
वयमप्येवमेवेति यद्युच्येत तथास्तु तत् ॥ १४० ॥ बृहदा० वार्त्तिकसार० अ० १। ब्रा० ४।८६–९० ॥
अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम् । अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते ॥१४१॥

लिये हरि होता है, किसी के लिये पितामह होता है, चन्द्रादि स्वरूप भी यही होता है ॥ १३० ॥ यह जीव अपने अज्ञानमय संसार महासमुद्र में तब तक तरंगता को = जन्ममरणादि को सिद्ध करता है, कि जबतक पर ब्रह्म रूप अपने स्वभाव को नहीं जानता है, और जान कर तन्मयता = तद्रूपता को प्राप्त करके निरामय तद्रूप ही होता है ॥१३१॥ वह चेतन की शक्ति परमेश्वर सम्बन्धिनी चित्स्पन्दमात्र स्वरूप इच्छा स्वरूप भ्रम रूप वाली प्रकृति तब तक संसार में भ्रमति है, कि जब तक नित्य तृप्त, अनामय, अजर आदि अन्त रहित, अद्वैत, पर ब्रह्म को नहीं देखती है, ईश्वरीय इच्छा से तब तक जीव संसारी है, कि जब तक ज्ञान से तृप्त नहीं हुआ है ॥१३२–१३३॥ वह सम्विद् रूप देवी = प्रकृति बुद्धि, शिव स्वरूप का स्पर्श = दर्शन करके प्रकृतित्व = कारणत्व को त्याग देती है, परन्तु वह दर्शन ज्ञानमात्र एक धर्म वाला होने से दैवयोग से होता है, तब प्रकृति अत्यन्त तन्मयी तुल्य होती है। क्योंकि उसके अन्दर में एकता को प्राप्त होकर प्रकृतिता को त्यागती है, जैसे समुद्र में प्राप्त होकर नदी अपना रूप त्यागती है ॥ १३४–१३५ ॥ चिति = प्रकृति शिव की इच्छा रूप है, सो देव को प्राप्त होकर ही निवृत्त होती है, जैसे लोहे की तीक्ष्ण धारा अपने जन्म स्थान रूप शिला को पाकर शान्त होती है ॥ १३६ ॥ वनादि की छाया में प्रविष्ट पुरुष की अपनी छाया भी जैसे उस वन की छाया के शरीर में ही शीघ्र पैठ जाती है, तैसे ही ज्ञान होने पर प्रकृति पुरुष में प्रविष्ट होती है ॥ १३७ ॥ चित् प्रकृति, पुरुष नामक सनातन स्वरूप को जान कर फिर इस संसार में नहीं भ्रमती है, तद्रूपता को ही प्राप्त हो जाती है ॥ १३८ ॥ विराट् को कोई जीव कहते हैं, कोई ईश्वर कहते हैं, विवक्षा भेद से यह दोनों कथन युक्त ही है ॥ १३९ ॥ सोपाधिक की विवक्षा में विराड् जीव ही होगा, निरुपाधिक विवक्षा में परमात्मा होगा, जीव नहीं, हम लोग भी ऐसे हो सकते हैं, यदि इस प्रकार कोई कहे, तो वैसा ही वह हो ॥ १४० ॥ इस द्वैत रूप इन्द्र जाल का उपादान कारण जो अज्ञान = अविद्या माया उसको

अपास्ताज्ञान ईशोऽसावस्थूलाद्युक्तिगोचरः । साभासाज्ञानयुक्तः सन् साक्ष्यन्तर्यामितां व्रजेत् ॥१४२॥

हिरण्यगर्भो बुद्धिस्थो रजःसत्त्वतमोगुणैः । ब्रह्महरिः पिनाकी स्याद्देवमर्त्यादयस्तथा ॥१४३॥

बृहदा० वार्तिकसा० अ० १। ब्रा० २ ॥

जीवधर्माश्चेशधर्माः सन्तीत्येवं न मे मतम् । असतामेव तेषां तु भानं मायिकमिष्यते ॥१४४॥

कर्माधीनजीवधर्मा बहुधा क्लेशयन्ति हि । ईशधर्मास्तु नो किञ्चित्क्लेशयन्ति कदाचन ॥१४५॥

तिष्ठत्स्वपीशधर्मेषु धर्माणां मायिकत्वतः । ईशो निर्धर्मको बोध्यो विमुक्त्यर्थं बुभुत्सुभिः ॥१४६॥

बुभुत्सतेऽयमात्मानं सर्वै र्यज्ञादिकर्मभिः । एतमेव विदित्वाऽसौ मुनिर्भवति नान्यथा ॥१४७॥

सदा मननशीलो यो जीवन्मुक्तो मुनि र्हि सः । स्थितप्रज्ञादिभिः शब्दै र्मोक्षशास्त्रेषु वर्ण्यते ॥१४८॥

अरुचिप्रतिबन्धस्य कर्मभिः प्रक्षये सति । गृहस्थो वा परिव्राड् वा शास्त्रेणात्मानमीक्षते ॥१४९॥

बृहदा० वार्तिकसा० १। ब्रा० ४ ॥

राहुरदृश्योऽपि यथा शशिबिम्बस्थः प्रकाशते जगति । सर्वगतोऽपि तथात्मा बुद्धिस्थो दृश्यतामेति १५०

प्राणाद्यनन्तभेदैरात्मानं संवितत्य जालमिव । संहरति वासुदेवः स्वविभूत्या क्रीडमान इव ॥१५१॥

शान्त इव मनसि शान्ते हृष्टे हृष्ट इव मूढ इव मूढे । व्यवहारस्थो न पुनः परमार्थ ईश्वरो भवति ॥१५२॥

एकस्मात्क्षेत्रज्ञाद् बह्व्यः क्षेत्रज्ञजातयो जाताः । लोहगतादिव दहनात्समन्ततो विस्फुलिङ्गगणाः ॥१५३॥

उपाधि रूप से आश्रयण कर के ब्रह्म कारण कहा जाता है ॥ १४१ ॥ अज्ञान रहित वह ईश्वर "अस्थूल-मनणु" इत्यादि वचन का विषय है, आभास सहित अज्ञान युक्त हो कर साक्षी अन्तर्यामित्व को प्राप्त होता है ॥ १४२ ॥ बुद्धिस्थ हो कर साक्षी हिरण्यगर्भ होता है, रजः सत्त्व तमोगुण से ब्रह्मा, विष्णु, शंकर होता है, तथा देव मनुष्यादि होता है ॥ १४३ ॥ जीव और ईश्वर के धर्म सत्य हैं, ऐसा मेरा मत नहीं है, किन्तु असत् उन धर्मों की ही माया से प्रतीति मानी जाती है ॥ १४४ ॥ कर्माधीन होने वाले जीव के धर्म रागद्वेषादि बहुत प्रकार से क्लेश देते हैं, ईश्वर के सर्वज्ञत्वादि धर्म कभी कुछ भी क्लेश नहीं देते हैं ॥ १४५ ॥ ईश्वर के धर्मों के रहते भी धर्मों की मायिकता से बोधेच्छु को निर्धर्मक=निर्गुण ईश्वर को विमुक्ति के लिये समझना चाहिये ॥ १४६ ॥ यह जीव यज्ञ, दान, तप रूप सब कर्मों के द्वारा इस आत्मा को जानना चाहता है, फिर वह इस आत्मा को जान कर के ही मुनि होता है, अन्यथा नहीं ॥ १४७ ॥ जो सदा मनन=विचार शील है, जीवन्मुक्त है, वही मुनि है, स्थितप्रज्ञ गुणातीतादि शब्दों से मोक्ष शास्त्रों में उसी मुनि का वर्णन है ॥ १४८ ॥ बोध में अरुचि रूप प्रतिबन्धक के कर्मों से नाश होने पर गृहस्थ वा संन्यासी शास्त्र द्वारा आत्मा को जानता है ॥ १४९ ॥ जैसे जगत् में अदृश्य=अप्रत्यक्ष भी राहु चन्द्र के बिम्बस्थ होने पर प्रकाशता है, वैसे ही सर्वगत=व्यापक भी आत्मा शुद्ध बुद्धिस्थ हो कर प्रत्यक्ष होता है ॥ १५० ॥ अपनी विभूति से क्रीड़ाकारी तुल्य वासुदेव=ईश्वर प्राणादि अनन्त भेद रूप से अपनी आत्मा को जाल तुल्य फैला कर फिर समेटता है ॥ १५१ ॥ व्यवहार में स्थिर वासुदेव शान्त मन में शान्त तुल्य, हृष्ट=हर्षयुक्त मन में हृष्ट तुल्य, मूढ मन में मूढ तुल्य भासता है, परन्तु परमार्थ रूप से ईश्वर वैसा नहीं होता है, एक रस सच्चिदानन्दस्वरूप रहता है ॥ १५२ ॥ एक सर्वात्मा क्षेत्रज्ञ से औपाधिक स्वरूप वाली बहुत क्षेत्रज्ञ जाति सिद्ध हुई हैं, जैसे लोहगत अग्नि से

ते गुणसङ्गमदोषाद् बद्धा इव धान्यजातयः स्वतुषैः । जन्म लभन्ते तावद्यावन्न ज्ञानवह्निना दग्धाः ॥१५४॥
पातञ्जलपरमार्थसा० ॥

एकदेवस्त्रिदेवो वा पञ्चदेवस्त्वनन्तकः । एक आत्मा परं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणः ॥१५५॥
शास्त्रदृष्ट्याऽऽत्मदृष्ट्या हि सर्वं सत्यं परं महः । भेददृष्ट्याऽथ च व्यक्तिदृष्ट्या मिथ्या न संशयः॥१५६॥
उपास्योपासकौ भिन्नौ तद्दृष्ट्या मतभेदतः । वर्णना वर्त्तते भिन्ना वस्तु दृष्ट्या तु न क्वचित् ॥१५७॥

इति द्वितीयं त्रिदेवादिप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ जगत्कर्त्रादि ॥ ३ ॥

प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं कर्तृकर्मणी । करणं भोक्तृभोग्ये च भोगश्च नवधा जगत् ॥१॥
आकाशादिक्रमेणेदं सर्वं येन विनिर्मितम् । मायया तमहं वन्दे निर्गुणं गुणशालिनम् ॥२॥
यज्ज्ञानेन च यद्भक्त्या विरक्त्या मनसो जयात् । वासनाविलयान्मुच्येतात्मानं तं भजाम्यहम् ॥३॥
ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति । :—
किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥ ४ ॥
कालः स्वभावो नियति र्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।

सर्वत्र चारो तरफ विष्फुलिङ्गगण होते हैं ॥ १५३ ॥ सो क्षेत्रज्ञ = जीव गुणों के सम्बन्ध रूप दोषों से अपने तुषों से बद्ध धान्य जाति के समान बद्ध होकर तब तक जन्म पाते हैं, कि जब तक ज्ञानाग्नि से गुण दग्ध नहीं होते हैं ॥ १५४ ॥ एक ईश्वर देव हैं, वा ब्रह्मा, विष्णु, महेश त्रिदेव हैं, वा सूर्य, गणेश, देवी, विष्णु, शिव, पञ्चदेव हैं, वा इन्द्र, कुबेर, वरुण, अग्नि, वसु, रुद्रादि अनन्त देव हैं, परन्तु सब एक आत्मा परब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, सब में ब्रह्म ही सत्य है ॥ १५५ ॥ शास्त्रदृष्टि, आत्मदृष्टि से सब परम तेज सत्य ब्रह्म स्वरूप हैं, और भेददृष्टि, व्यक्ति दृष्टि से सब मिथ्या = मायामात्र हैं, इस में संशय नहीं है ॥ १५६ ॥ उस मिथ्या भेद व्यक्ति दृष्टि से उपास्य और उपासक भिन्न हैं, और मिथ्या दृष्टि जन्य मतभेद से ही भिन्न भिन्न वर्णन है, सत्य वस्तु दृष्टि से कहीं भेदादि नहीं है ॥ १५७ ॥ दूसरा त्रिदेव प्रकरण समाप्त ॥

अथ जगत्कर्त्रादि—अन्तःकरण सहित चिदात्मा रूप प्रमाता, इन्द्रिय मन की वृत्ति रूप प्रमाण, घटादिरूप प्रमेय, कर्मेन्द्रिय वाला कर्त्ता कार्य रूप कर्म, इन्द्रियादि रूप करण=साधन, सुखादि का भोक्ता, दुःख सुखादि और उसके साधन विषयरूप भोग्य, और उनका अनुभवरूप भोग, यह नव प्रकार का संसार है ॥१॥ माया द्वारा आकाशादि क्रम से जिससे यह सब जगत् निर्मित = उत्पन्न होता है, उस निर्गुण गुण शोभित को मैं वन्दना करता हूँ ॥२॥ जिसकी भक्ति से विरक्ति और मन के विजय से जिस के ज्ञानद्वारा वासना के विलय से जीव मुक्त होता है, तिस आत्मा को मैं भजता हूँ ॥३॥ ब्रह्मवादी लोग कहते हैं = परस्पर विचार करते हैं, कि–कारण रूप ब्रह्म क्या है ? देहेन्द्रिय वाले हम सब किससे जन्मे हैं ? किससे जीते है ? प्रलयकाल में कहाँ सम्प्रतिष्ठावाले = स्थिर थे ? और हे ब्रह्मवेत्ताओं ! किससे अधिष्ठित = धृत-प्रेरित होकर सुख और इतर = दुःख में व्यवस्था=नियम को वर्त्तते हैं ? नियम समय के अनुसार सुख दुःख भोगते हैं ? ॥४॥ काल=समय, स्वभाव-प्रकृति, नियति=भाग्य-कर्म, यदृच्छा=अकस्मात्प्राप्ति, भूत=आकाशादि, योनि=त्रिगुणात्मिका प्रकृति,

संयोग एषां नत्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥ ५ ॥
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥ ६ ॥ श्वेताश्वतरोप० अ० १।१-३॥
कालः स्वभावो नियति र्यदृच्छा भूतपञ्चकम् । प्रधानं जीव एतानि मतान्युक्तानि शास्त्रिभिः ॥ ७ ॥
ऋतुकाले भवेद् गर्भो वर्षत्तौ सस्य सम्भवः । उदाह्रियत इत्यादि बहुधा कालवादिनः ॥ ८ ॥
स्वभाववाद्यग्निमुष्णं जलं द्रवमुदाहृतम् । रूपज्ञानं चक्षुषैवेत्याहुर्नियतिवादिनः ॥ ९ ॥
धनिकत्वादिव्यवस्था यदृच्छावादिनोच्यते । भूतवादी देहगतकाठिन्यादीनुदाहरत् ॥१०॥
प्रधानवादी पुरुषान् सात्त्विकादीनुदाहरत् । जीववादी कर्मवशाज्जन्मदेवाद्युदाहरत् ॥११॥
सर्वत्र युक्ते दृष्टत्वात्किं तत्त्वमिति चिन्त्यते । सर्वेषामनिवार्यत्वात्तत्सङ्घोऽस्त्विति चेन्न तत् ॥१२॥
स्वतन्त्रे चेतने जीवे सति कालाद्यचेतनाः । समप्रधानभावेन कथं सङ्घीभवन्ति ते ॥१३॥
तर्हि जीवो हेतुरस्तु तन्न दुःखादिदर्शनात् । स्वतन्त्रः स्वात्मनो दुःखं कुर्वन् दृष्टो न हि क्वचित् ॥१४॥
दोषान् सर्वेषु पक्षेषु पश्यन्तो बहुधा तदा । मायाशक्तिमनिर्वाच्यामपश्यन् ध्यानयोगतः ॥१५॥
अनुभूतिप्रका० अ० ११ ॥

और पुरुष = विज्ञानात्मा जीव इन सब में कौन कारण ब्रह्म है ? यह चिन्तनीय है । चेतन जीवात्मा के रहने से इनका संयोग भी स्वतन्त्र कारण नहीं हो सकता, तो जीवात्मा को ही हेतु = कारण ब्रह्म कहा जाय ? तो सो भी नहीं हो सकता, क्योंकि परवश सुखदुःख के भोग रूप हेतु से जीवात्मा अनीश प्रतीत होता है ॥५॥ इस प्रकार विचार कर उन ब्रह्मवादी लोगों ने ध्यान योग में अनुगत = प्रवृत्त होकर अपने गुणों से निगूढ= गुप्त परमात्मदेव के स्वरूप भूत शक्ति = माया को देखा, जो एक परमात्मदेव काल जीवात्मा-सहित पूर्वोक्त सब कारणों का अधिष्ठाता है, उसकी शक्ति को कारण ब्रह्म समझा और शक्तिद्वारा परमात्मदेव को कारण ब्रह्म समझा ॥ ६ ॥ शास्त्रज्ञों से कालादि के कारणतावाद रूप सात मत कहे गये हैं ॥७॥ ऋतुकाल में गर्भ होता है, वर्षाऋतु में सस्य होता है, इत्यादि बहुत प्रकार के कालवादियों के मत के उदाहरण = दृष्टान्त हैं ॥ ८ ॥ स्वभाववादी स्वभाव से अग्नि को उष्ण, जल को शीत द्रव = गति स्वभाव वाला, उदाहरण रूप कहता है, रूप का ज्ञान चक्षु से ही होता है यह उदाहरण नियतिवादी कहते हैं ॥ ९ ॥ धनिकत्वादि की व्यवस्था यदृच्छावादी से उदाहरण कहा जाता है, भूतवादियों ने देहगत कठिनता आदि उदाहरण दिया है ॥ १० ॥ प्रधान वादियों ने सात्त्विकादी पुरुषों को दृष्टान्त कहा है, कर्मवादियों ने कर्मवश से देवादि जन्म का उदाहरण दिया है ॥ ११ ॥ सब मतों में उदाहरणादियुक्ति देखी जाती है, कि इन उदाहरणों के समान सब जगत् काल जन्य स्वभाव जन्यादि हैं, तहाँ तत्त्व=सत्य क्या है ? यह चिन्ता होती है, यदि कहा जाय कि कालादि सब अनिवार्य हैं, इससे इन के संघ ही कारण है, तो सो ठीक नहीं, क्योंकि स्वतन्त्र चेतन जीव के रहते अचेतन कालादि समप्रधानता रूप से संघ रूप कारण कैसे होगें ? ॥१२-१३॥ तो जीव जगत् का कारण हो, यह भी नहीं कह सकते, दुःखादि देखने से जीव भी परतन्त्र प्रतीत होता है, स्वतन्त्र अपने दुःख को करता हुआ कहीं कोई नहीं देखा गया है ॥ १४ ॥ इस प्रकार विचार काल में सब पक्षों में बहुत प्रकार के दोषों को देखते हुए ध्यान योग से माया रूप अनिर्वचनीय शक्ति को ब्रह्मवादी लोगों ने देखा ॥१५॥

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषि र्होता न्यसीदत् पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश ॥ १६ ॥
किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षा ॥ १७ ॥
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुतविश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रै र्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥ १८ ॥
ऋगवे० मण्ड० १ अनुवा० ६ सू० ८१ ॥ अजुर्वे० अ० १७।१७-१६ ॥ ऋषिर्देवश्च विश्वकर्मा ॥
सङ्कल्पादर्शनात्स्पर्शात्पूर्वेषां सृष्टिरुच्यते। दक्षात्प्राचेतसादूर्ध्वं सृष्टि र्मैथुनसम्भवा ॥१९॥ मत्स्यपु०अ०५।२॥
अव्यक्तबीजप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः। बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः ॥२०॥
महाभूतप्रशाखश्च विशेषैः पत्रवांस्तथा। धर्माधर्मसुपुष्पस्तु सुखदुःखफलोदयः ॥२१॥
आजीव्यः सर्वभूतानामयं वृक्षः सनातनः। एतद्ब्रह्मवनं चैव ब्रह्मवृक्षस्य तस्य ह ॥
अव्यक्तं कारणं यत्तु नित्यं सदसदात्मकम् ॥ २२ ॥ वायुपु० अ० ९।११४-१६ ॥
प्राक् सृष्टेः प्रलयादूर्ध्वं नासीत् किञ्चिद् द्विजोत्तम!। ब्रह्मसंज्ञमभूदेकं ज्योतिष्मत्सर्वकारणम् ॥२३॥
नित्यं निरञ्जनं शान्तं निर्गुणं नित्यनिर्मलम्। आनन्दसागरं स्वच्छं यं काङ्क्षन्ति मुमुक्षवः ॥२४॥
सर्वज्ञं ज्ञानरूपत्वादनन्तमजमव्ययम् ॥ २५ ॥

जो हम लोगों के पिता ने इन सब भुवनों को प्रलयकाल में अपनी आत्मा में हवन = लय किया, सो 'ऋषि'= सर्वज्ञ, 'होता'=संहर्ता, स्वयं 'न्यसीदत्' = स्थिति वाला था, फिर वह 'आशिषा' = इच्छा से भोग समूह रूप 'द्रविण'=धन को चाहता हुआ, प्रथम के शुद्ध स्वरूप को 'छादत'=ढापता हुआ 'अवरान्' = हीन प्राणियों के हृदय में पैठा ॥१६॥ प्रथम 'आरम्भण'=आरम्भ का हेतु उपादान कारण क्या था ? कौन कैसा था ? कोई किसी प्रकार नहीं था, किस प्रकार से आरम्भ हुआ ? कि जिससे 'विश्वकर्मा'=ईश्वर 'विश्वचक्षा'=विश्वद्रष्टा हो कर भूमि को पैदा करता हुआ है, तथा 'द्यां'=स्वर्ग को 'व्यौर्णोत्' = रचा और 'महिना' = महत्त्व रूप से भी क्या रहा ? ॥ १७ ॥ सर्वात्मा होने से सब तरफ आँख, मुख, बाहु और पाद वाला ईश्वर, बाहु से स्वर्ग को 'संधमाता' = प्रेरता है, और 'संपतत्रैः' = गमनशील पादों से भूमि को 'संधमाता' है ॥ १८ ॥ परमात्मा से अन्य की भी सृष्टि प्रथम सङ्कल्प दर्शन और स्पर्श मात्र से होती थी। प्राचेतस दक्ष से उत्तर में मैथुन-जन्य सृष्टि चली ॥ १९ ॥ अव्यक्त रूप बीज से होने वाला, अव्यक्त के ही अनुग्रह से उत्थित = खड़ा स्थिर है, बुद्धि रूप स्कन्ध = प्रकाण्ड-मूल से शाखा तक भाग वाला है, इन्द्रियों के अन्तर = गोलक रूप कोटर वाला है, पाँच महाभूत जिस की विशाखा = श्रेष्ठ शाखा हैं, विशेष पदार्थों से जो पत्र वाला है, धर्माधर्म रूप सुपुष्प वाला, सुख दुःख रूप फल के उदय वाला, सब प्राणियों के आजीव्य = उपजीव्य-आश्रय यह सनातन = प्रवाह रूप से अनादि संसार वृक्ष है, यही ब्रह्माधिष्ठित ब्रह्मवन है, तिस ब्रह्मवृक्ष का अव्यक्त जो कारण है, सो सदसदात्मक है, आत्मानात्ममिश्रित अव्यक्त का स्वरूप है ॥ २०-२२ ॥ हे द्विजोत्तम ! प्रलय के बाद सृष्टि से पहले कोई भी वस्तु नहीं थी, किन्तु सब का कारण, ज्योति-स्वरूपवाला = ज्ञानस्वरूप ब्रह्मनामवाला एक रहा ॥ २३ ॥ सो नित्य, निरञ्जन = निर्लेप, शान्त, निर्गुण, नित्य, निर्मल, आनन्द सागर, स्वच्छ था, जिस को मुमुक्षु चाहते हैं ॥ २४ ॥ ज्ञान स्वरूप होने

सर्गकाले तु सम्प्राप्ते ज्ञात्वा तु ज्ञातृनायकः । अन्तर्लीनविकारं च तत्स्रष्टुमुपचक्रमे ॥२६॥
तस्मात्प्रधानमुद्भूतं ततश्चापि महानभूत् । सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महान् ॥२७॥
वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामसः । त्रिविधोऽयमहङ्कारो महत्तत्त्वादजायत ॥२८॥
नरसिंहपु० अ० १।३६ इत्यादि ॥
प्रथमं महतः सर्गस्तन्मात्राणां द्वितीयकः । वैकारिकस्तृतीयस्तु सर्ग ऐन्द्रियकः स्मृतः ॥२९॥
मुख्यसर्गश्चतुर्थस्तु मुख्या वै स्थावराः स्मृताः । तिर्यक्स्रोतश्च यः प्रोक्तस्तिर्यग्योनिः स उच्यते॥३०॥
ततोर्ध्वस्रोतसः षष्ठो देवसर्गस्तु स स्मृतः । ततोऽर्वाक् स्रोतसः सर्गः सप्तमो मानुषः स्मृतः ॥
अष्टमोऽनुग्रहः सर्गः सात्त्विको य उदाहृतः ॥ ३१ ॥ नरसिंहपु० अ० ३।२३ इत्यादि ॥
अव्यक्तमूलप्रभवस्तस्मादग्रे तथोच्छ्रितः । बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियाङ्कुरकोटरः ॥३२॥
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः । संसरन्तीह सततं सुखदुःख समन्विताः ॥
प्रायेण प्राकृता मर्त्या ब्रह्मज्ञानपराङ्मुखाः ॥ ३३ ॥
आहारनिद्रा भयमैथुनानि सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
ज्ञानं नराणामधिकं हि लोके ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः ॥३४॥ नरसिंहपु० अ० १६।५। इत्यादि ॥
यः परः प्रकृतेः प्रोक्तः पुरुषः पञ्चविंशकः । स एव सर्वभूतानां नर इत्यभिधीयते ॥३५॥
नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति ततो विदुः । तान्येव चायनं तस्य तेन नारायणः स्मृतः ॥३६॥

से सर्वज्ञ और अनन्त अज अव्यय ब्रह्म रहा ॥ २५ ॥ सृष्टि काल के प्राप्त होने पर, उस काल को और कारण के अन्तर में लीन विकारों को जान कर उस ज्ञाताओं के नेता ने उन विकारों की सृष्टि करना आरम्भ किया ॥ २६ ॥ तो उससे प्रथम प्रधान प्रकट हुआ, प्रधान से महान् = (समष्टि बुद्धि) हुआ, सो महान् सात्त्विक राजस तामस भेद से तीन प्रकार का हुआ ॥ २७ ॥ फिर महत्तत्त्व = महान् से वैकारिक, तैजस, तामस भूतादि, तीन प्रकार का अहंकार हुआ ॥ २८ ॥ प्रथम महत्तत्त्व की सृष्टि हुई जिससे अहंकार हुआ, दूसरी सृष्टि पंचतन्मात्राओं = सूक्ष्मभूतों की हुई, तृतीय वैकारिक = सात्त्विक सृष्टि हुई, सो ऐन्द्रियक = इन्द्रिय की कही गई है ॥ २९ ॥ मुख्य सृष्टि चौथी है, स्थावरों को मुख्य कहा गया है, तिर्यक् स्रोत जो सृष्टि कही गई है, सो तिर्यग्योनि कही जाती है ॥ ३० ॥ उसके बाद ऊर्ध्वस्रोताओं की षष्ठी सृष्टि कही गई है, वह देव सृष्टि कही गई है, उस के बाद अर्वाक् = अधः स्रोताओं की सृष्टि है, सो सप्तम मानुषी सृष्टि कही गई है। अष्टम अनुग्रह सृष्टि है, जो सात्त्विक उदाहृत है ॥ ३१ ॥ अव्यक्त रूप मूल से उत्पत्ति वाला, तथा उसी अव्यक्त से आगे खड़ा स्थिर बुद्धिरूप स्कन्धयुक्त इन्द्रियरूप मुकुल = कलि वाला सब प्राणियों का आश्रय सनातन ब्रह्मवृक्ष = संसार है, ब्रह्म ज्ञान से विमुख सुख दुःख युक्त प्राकृत = पामर मनुष्य प्रायः इस संसार में भ्रमते हैं ॥ ३२-३३ ॥ भोजन शयन भय मैथुन ये सब मनुष्यों को पशु के तुल्य हैं, लोक में मनुष्यों को पशु से अधिक ज्ञान ही है, इससे ज्ञान से रहित मनुष्य पशु के समान हैं ॥ ३४ ॥ प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, मन, दशेन्द्रिय, पाँच तन्मात्रा, पाँच महाभूत, इन चौबीस तत्त्व की अपेक्षा पञ्चविंशक = पचीसवां पुरुष = आत्मा प्रकृति से पर कहा गया है, सोई सब प्राणियों का नर = नेता-अज स्वरूप कहा जाता है ॥ ३५ ॥ उस नर से तत्त्व = पाँच महाभूत हुए हैं, इससे

किं तस्य दानैः किं तीर्थैः किं तपोभिः किमध्वरैः । यो नित्यं ध्यायते देवं नारायणमनन्यधीः ॥३७॥

नरसिंहपु० अ० ६४।६०। इत्यादि ॥

नारायणः परोऽचिन्त्यः पराणामपि पूर्वजः । ब्रह्मस्वरूपो भगवाननादिः सर्वसम्भवः ॥३८॥
सृष्टिं चिन्तयतस्तस्य कल्पादिषु यथा पुरा । अबुद्धिपूर्वकस्तस्य प्रादुर्भूतस्तमोमयः ॥३९॥
तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसञ्ज्ञितः । अविद्यापञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः ॥४०॥

वराहपु० अ० २।२४-२७-२८ ॥

अबुद्धिपूर्वमेवागो यथा शाखा विचित्रताम् । करोत्येवमजश्चित्राः सर्गाभासाः ख एव खम् ॥४१॥
जातमेव न तज्जातं यज्जातं कारणं विना । यतोऽजातं तदेवाद्यं तत्समं संस्थितं तथा ॥४२॥
अबुद्धिपूर्वं सञ्जाता रत्नादीनां यथाऽर्चिषः । सत्तैव सन्निवेशेन तथैवासां जगद्दृशाम् ॥४३॥
यथा कथञ्चिदेवेदमादौ सम्पद्यते जगत् । पश्चाद् गृह्णाति नियतिमावर्त्तोऽब्धाविवात्मनि ॥४४॥
अयं चिरस्थसङ्कल्पः सर्गप्रलयविभ्रमः । ज्ञानं स्वभावकचनमज्ञानं भ्रान्तिजृम्भणम् ॥४५॥

योगवासि० प्र० ६-२। स० १६८॥१-२५० इत्यादि ॥

सर्गादिषु स्वयं भान्ति ब्रह्माद्या ये स्वयम्भुवः । विज्ञप्तिमात्रदेहास्ते न तेषां जन्मकर्मणी ॥४६॥
तेषामस्ति न संसारो न द्वैतं न च कल्पनाः । विशुद्धज्ञानदेहास्ते सर्वात्मानः सदा स्थिताः ॥४७॥
सर्गादौ प्राक्तनं कर्म विद्यते नेह कस्यचित् । सर्गादौ सर्गरूपेण ब्रह्मैवेत्थं विजृम्भते ॥४८॥

तत्त्वों को नारा = नर का अपत्य कहते जानते हैं, वे तत्त्व ही उस नर के प्रथम अयन = आश्रय थे, तिससे वह नारायण कहा गया है ॥ ३६ ॥ अनन्य बुद्धि वाला होकर जो नारायण देव का ध्यान सदा करता है, उसको दान, तीर्थ, तप और अध्वर = यज्ञ से क्या जरूरत है ? ॥ ३७ ॥ नारायण सब से पर अचिन्त्य स्वरूप और पर = उत्तम ब्रह्मादि के भी पूर्वज हैं, इसीसे ब्रह्म स्वरूप और भगवान् आदि रहित सब का कारण है ॥ ३८ ॥ कल्पों के आदि में पूर्व कल्पों के समान सृष्टि की चिन्ता करते हुए तिस नारायण की अबुद्धिपूर्वक तमोमय संसार प्रकट हुआ ॥ ३९ ॥ तमो मोहादि नाम वाली अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप पाँच पर्व=ग्रन्थि वाली यह अविद्या उस महात्मा से प्रकट हुई ॥४०॥ अग = वृक्ष जैसे अबुद्धि पूर्वक ही शाखाओं की विचित्रता करता है, तैसे ही अज परमात्मा विचित्र सर्गो-भास = संसाराध्यास करता है, सो चिदाकाश में शून्यात्मा ही करता है ॥४१॥ वह जात = उत्पन्न भी नहीं जात है जो कि कारण के बिना जात है, जिससे वह अजात = जन्मरहित है, तिससे वह आद्य सम तिस ब्रह्म स्वरूप ही जगत् स्थिर है ॥ ४२ ॥ जैसे रत्नादि के प्रकाश अबुद्धि पूर्वक होते हैं, तैसे इस जगत् दृष्टि के सन्निवेश = वेष रूप से ब्रह्मसत्ता ही भासती है ॥ ४३ ॥ यह जगत् आदि में माया से किसी प्रकार सिद्ध हो जाता है, फिर आत्मा में नियति = नियमसत्ता को ग्रहण करता है कि जैसे समुद्र में आवर्त्त हो ॥ ४४ ॥ सर्ग प्रलय का विभ्रम=ज्ञान यह चिरस्थ संकल्प रूप ही है, तहाँ तात्त्विक स्वभाव का 'कचन'= प्रकाश ज्ञान है, और भ्रान्ति का विस्तार अज्ञान है॥४५॥ सर्ग के आदि में जो स्वयंभू . ब्रह्मा सनक, कपिलादि स्वयं भासते हैं, सो विज्ञप्ति = ज्ञान मात्र देह वाले होते हैं. वस्तुतः उन के जन्म कर्म नहीं होते हैं ॥ ४६ ॥ उन के संसार द्वैत कल्पना ये सब नहीं हैं, वे लोग विशुद्ध ज्ञान रूप देह वाले सर्वात्मा स्वरूप सदा स्थिर हैं ॥ ४७ ॥ वस्तुतः सर्ग के आदि में यहाँ किसी को पूर्व कर्म नहीं रहता है, इससे सर्ग के आदि में ब्रह्म

यथा ब्रह्मादयो भान्ति सर्गादौ ब्रह्मरूपिणः । भान्ति जीवास्तथाऽन्येऽपि शतशोऽथ सहस्रशः ॥४९॥
किन्तु ये ब्रह्मणोऽन्यत्वं बुध्यन्तेऽसात्त्विकोद्भवाः । अबोधा ये त्वचिदाख्यं बुद्ध्वा द्वैतमिदं स्वयम् ॥५०॥
तेषामुत्तरकालं तत्कर्मभि र्जन्म दृश्यते । स्वयमेव तथा भूतैस्तैरवस्तुत्वमाश्रितम् ॥५१॥
योगवा० प्र० ६-२। स० १४२ ॥
स्वयं स्वप्न इवाभाति मृतस्य परलोकधीः । तमेव पश्यति चिरं न तत्राप्यस्ति सत्यता ॥५२॥
योगवा० प्र० ६-२।स० १४३।४० ॥
अस्माकं त्वं स्वप्ननरस्तव स्वप्ननरा वयम् । अयमेव चिदाकाशः सर्वदात्मात्मनि स्थितः ॥५३॥
योगवा० प्र० ६-२। स० १५१।१० ॥
उत्पन्नध्वंसिनः स्वप्नाः स्मर्यन्ते बहवो यथा । तथैव बुद्धैः स्मर्यन्ते सिद्धै र्जन्मशतान्यपि ॥५४॥
एवं समस्तसाधर्म्ये समस्तानुभवात्मनि । कचति स्वप्नवज्जाग्रज्जाग्रद्वत्स्वप्नवेदनम् ॥५५॥
योगवा० प्र० ६-२। स० १६२।३०-३१ ॥
इयं सन्निधिमात्रेण नियतिः परिजृम्भते । दीपसन्निधिमात्रेण निरिच्छैव प्रकाशते ॥५६॥
अभ्रसन्निधिमात्रेण कुटजानि यथा स्वयम् । आत्मसन्निधिमात्रेण त्रिजगन्ति तथा स्वयम् ॥५७॥
सर्वेच्छारहिते भानौ यथा व्योमनि तिष्ठति । जायते व्यवहारश्च सति देवे तथा क्रिया ॥५८॥
निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथाऽऽलोकः प्रवर्त्तते । सत्तामात्रेण देवे तु तथैवायं जगद्गणः ॥५९॥

ही सर्ग रूप से इस प्रकार विस्तृत होता है ॥ ४८ ॥ जैसे सर्ग के आदि में ब्रह्म स्वरूप ही ब्रह्मा आदि भासते हैं, तैसे ही अन्य भी सैकड़ों हजारों जीव भासते हैं ॥ ४९ ॥ किन्तु जो अबोध = अज्ञ हैं, सो अपने को ब्रह्म से अन्य समझते हैं, वे ही असात्त्विक माया से उत्पत्ति वाले अचित नामक इस द्वैत जगत को सत्य समझ कर स्वयं फिर जन्मते हैं ॥ ५० ॥ उन सत्य मानने वालों के उत्तर कालिक वे जन्म कर्मों से दीखते हैं, जिससे वे लोग स्वयम् हि उन अचेतन रूप भूतों द्वारा तत्त्व वस्तु को भूल कर अवस्तुत्व = मिथ्यात्व को आश्रित = गृहीत किये हैं ॥ ५१ ॥ मृत पुरुष को परलोक बुद्धिः स्वयं स्वप्न के समान भासती है, उसी को चिर काल तक देखता है, इससे वहाँ भी सत्यता नहीं है ॥ ५२ ॥ द्रष्टा एक है, इससे द्रष्टा स्वरूप हम सब के दृश्यात्मक तुम स्वप्न नर हो, और द्रष्टा रूप तेरे हम सब दृश्य रूप स्वप्न नर हैं, यह सर्वद्रष्टा रूप चिदाकाश आत्मा सदा स्वरूप में स्थिर निर्विकार है ॥ ५३ ॥ उत्पन्नध्वंसी = क्षणभङ्गुर स्वप्न बहुत भी जैसे स्मृत होते हैं, तैसे ही प्रबुद्ध सिद्धों से सैकड़ों जन्म स्मृत होते हैं ॥ ५४ ॥ इस प्रकार जाग्रत् स्वप्न की समस्त तुल्यता होने पर, समस्त = सब के अनुभव स्वरूप आत्मा में स्वप्न के समान जाग्रत् प्रकाशता है और जाग्रत् के समान स्वप्न का ज्ञान होता है ॥ ५५ ॥ आत्मा के सन्निधिमात्र से मायात्मक इस संसार की नियति प्रकाशती है, जैसे दीप के सन्निधि मात्र से निरिच्छ प्रभा प्रकाशती है ॥ ५६ ॥ मेघ के सन्निधि मात्र से जैसे कुटज = कुटज वृक्ष के पुष्प स्वयं होते हैं, तैसे ही आत्मा के सन्निधि मात्र से तीनों लोक स्वयं होते हैं ॥ ५७ ॥ सर्वेच्छारहित सूर्य के आकाश में रहते जैसे व्यवहार होता है, वैसे ही परमात्मदेव के रहते जगत् की क्रिया होती है ॥ ५८ ॥ इच्छारहित रत्न के स्थिर रहते जैसे आलोक = प्रकाश प्रवृत्त होता है, वैसे ही सत्तामात्र परमात्मदेव के रहते जगत् का गण = संघ होता है ॥ ५९ ॥

अतः स्वात्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम् । निरिच्छत्वादकर्त्ताऽसौ कर्त्ता सन्निधिमात्रतः ॥६०॥

योगवा० प्र० ४।५६।२७ । इत्यादि ॥

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराश्चापि षोडश । अव्यक्तं च महान्तं च तथाऽहङ्कार एव च ॥६१॥
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् । एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ विकारानपि मे शृणु ॥६२॥
श्रोत्रं त्वक् चैव चक्षुश्च जिह्वा घ्राणं च पञ्चमम् । शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ॥६३॥
वाक् च हस्तौ च पादौ च पायु र्मेढ्रं तथैव च । एते विशेषा राजेन्द्र ! महाभूतेषु पञ्चसु ॥६४॥
बुद्धीन्द्रियाण्यथैतानि सविशेषाणि मैथिल ! । मनः षोडशकं प्राहुरध्यात्मगतिचिन्तकाः ॥६५॥
अव्यक्ताच्च महानात्मा समुत्पद्यति पार्थिव ! । प्रथमं सर्गमित्येतदाहुः प्राधानिकं बुधाः ॥६६॥
महतश्चाप्यहङ्कार उत्पन्नो हि नराधिप ! । द्वितीयं सर्गमित्याहुरेतद् बुद्ध्यात्मकं स्मृतम् ॥६७॥
अहङ्काराच्च सम्भूतं मनो भूतगुणात्मकम् । तृतीयः सर्ग इत्येष आहङ्कारिक उच्यते ॥६८॥
मनसस्तु समुद्भूता महाभूता नराधिप ! । चतुर्थं सर्गमित्येतन्मानसं विद्धि मे मतम् ॥६९॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च । पञ्चमं सर्गमित्याहु भौतिकं भूतचिन्तकाः ॥७०॥
श्रोत्रं त्वक् चैव चक्षुश्च जिह्वा घ्राणं च पञ्चमम् । सर्गं षष्ठमिति प्राहु र्बहुचित्तात्मकं स्मृतम् ॥
वागादयः सप्तमः सर्गः प्राणादयोऽष्टम इति ॥ ७१ ॥

महाभा० शान्तिप० अ० ३१० ॥

अव्यक्तबीजप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान् । महाऽहङ्कारविटप इन्द्रियाङ्कुरकोटरः ॥७२॥

इससे आत्मा में कर्तृता अकर्तृता दोनों स्थिर हैं, इच्छारहित होने से वह अकर्ता है, सन्निधिमात्र से कर्ता है ॥ ६० ॥ आठ प्रकृति=कारण और षोडश विकार कहे गये हैं, तहाँ अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार, और पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, इन पाँचों की पंच तन्मात्रा, ये आठ प्रकृति हैं; विकारों को भी मुझसे सुनो ॥ ६१-६२ ॥ कान, त्वक्, नेत्र, जिह्वा, नाक ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच विषय, वाक्, हाथ, पैर, पायु=गुदा मेढ्र=लिङ्ग ये कर्मेन्द्रिय, हे राजेन्द्र ! पाँच महाभूतों में ये पन्द्रह विशेष=कार्य हैं ॥ ६३-६४ ॥ हे मैथिल !=जनक ! अन्य सब विशेष सहित ये ज्ञानेन्द्रिय और षोडशक=सोलहवाँ मन को अध्यात्म गति के चिन्तक लोग विकार कहते हैं ॥ ६५ ॥ हे पार्थिव !=भूप ! अव्यक्त से महानात्मा = महत्तत्त्व उत्पन्न होता है, बुध=पण्डित लोग इस को पहली प्रधान = प्रकृति की सृष्टि कहते हैं ॥ ६६ ॥ हे नराधिप ! महत्तत्त्व से अहंकार उत्पन्न हुआ, इसको दूसरी सृष्टि कहते हैं, यह बुद्धि रूप ही कहा गया है ॥ ६७ ॥ भूतों का गुण रूप मन अहंकार से उत्पन्न हुआ, यह तीसरी आहंकारिक सृष्टि कही जाती है ॥ ६८ ॥ हे नराधिप ! मन से महाभूत प्रकट उत्पन्न हुए, यह मेरा सम्मत मानस चतुर्थ सर्ग=(सृष्टि) समझो ॥ ६९ ॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पाँचों को भूतचिन्तक लोग पञ्चम भौतिक सर्ग कहते हैं ॥ ७० ॥ श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा, घ्राण=नाक इन को षष्ठ सर्ग कहते हैं, जो कि बहुचित्तात्मक = मानस सर्ग कहा गया है ॥ वाक् आदि कर्मेन्द्रिय सप्तम सर्ग हैं, प्राणादि अष्टम हैं, इत्यादि ॥ ७१ ॥ यह महान् संसार वृक्ष अव्यक्त रूप बीज से उत्पत्ति वाला, बुद्धि रूप स्कन्ध वाला, महाऽहंकार रूप विटप = पल्लव-विस्तार वाला, इन्द्रियरूप अङ्कुर कोटर = मुकुल

महाभूतविशेषश्च विशेषप्रतिशाखवान् । सदापर्णः सदापुष्पः सदाशुभफलोदयः ॥७३॥
आजीवः सर्वभूतानां ब्रह्मबीजः सनातनः । एतज्ज्ञात्वा च तत्त्वानि ज्ञानेन परमासिना ॥
छित्त्वा चामरतां प्राप्य जहाति मृत्युजन्मनी ॥ ७४ ॥
सत्याद् भूतानि जातानि स्थावराणि चराणि च । तपसा तानि जीवन्ति इति तद्वित्त सुव्रताः ! ॥७५॥
स्वां योनिं समतिक्रम्य वर्त्तन्ते स्वेन कर्मणा । सत्यं हि गुणसंयुक्तं नियतं पञ्चलक्षणम् ॥७६॥
ब्रह्म सत्यं तपः सत्यं सत्यं चैव प्रजापतिः । सत्याद् भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत् ॥७७॥
महाभा० आश्वमेधिकप० अ० ३५ ॥
अज्ञातात्मातिरेकेण ब्रुवतो जगतो जनिम् । सम्यग् ज्ञानान्न मुक्तिः स्यान्न ज्ञानं वस्तुनुत्क्वचित् ॥७८॥
कर्मभ्योऽपि न मुक्तिः स्यात्कर्मापि न हि वस्तुनुत् । ततो ज्ञानेन मुक्त्यर्थमज्ञातात्मैकहेतुता ॥७९॥
तमश्चिदाभासयुतं नाज्ञासिपमितीक्षणात् । जगज्जन्मस्थितिलयास्तस्मादज्ञात आत्मनि ॥८०॥
तमः प्रधानः क्षेत्राणां चित्प्रधानश्चिदात्मनाम् । परः कारणतामेति जडाऽजडभिदा ततः ॥८१॥
तत्तत्प्राणिकृतैस्तैस्तै र्भावनाज्ञानकर्मभिः । देवतिर्यङ्मनुष्यादि वैचित्र्यमुपपद्यते[1] ॥८२॥
तत्तज्जात्युदिते शिल्पे भूयोऽभ्यासेन वासना । कौशल्यातिशयाख्या या भावनेत्युच्यते हि सा ॥८३॥

छिद्र वाला है ॥ ७२ ॥ महाभूत रूप विशेष = पुष्प वाला, तथा विशेष पदार्थ रूप प्रतिशाखा वाला है, और सदा पर्ण वाला, सदा पुष्प = कर्म वाला, सदा शुभ = सुख फल के उदय वाला है ॥ ७३ ॥ सब प्राणियों का आजीव = (जीविका) रूप ब्रह्म बीज वाला, सनातन = अनादि है । इसको जान कर तत्त्वों को ज्ञान रूप उत्तम तलवार से काट कर = मिथ्या जानकर फिर अमरता = मोक्ष को प्राप्त करके जन्म मरणादि से रहित होता है ॥ ७४ ॥ हे सुव्रत ! सत्य ब्रह्म से स्थावर जंगम भूत = प्राणी उत्पन्न हुए हैं, और तप = स्वकर्म से जीते हैं, सो समझो ॥ ७५ ॥ अपनी योनि = सत्य को त्याग कर अपने कर्म से प्राणी संसार में रहते हैं, गुण संयुक्त नियत = नित्य वह सत्य पांच लक्षण वाला है ॥ ७६ ॥ एक तो ब्रह्म सत्य है, दूसरा तप सत्य है, तीसरा प्रजापति = जीव सत्य है, चौथा सत्य से जन्य भूत सत्य है, पञ्चम भूतमय जगत् सत्य है ॥ ७७ ॥ अज्ञात माया विशिष्ट आत्मा से भिन्न जगत् के जन्म कहने वालों को सम्यग् ज्ञान से मुक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञान कहीं सत्य वस्तु को नष्ट करने वाला नहीं है ॥ ७८ ॥ कर्मों से भी उनकी मुक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि कर्म भी सत्य वस्तु को नष्ट करने वाला नहीं है, तिससे ज्ञान से मुक्ति के लिये अज्ञात आत्मस्वरूप एक हेतु जन्यता संसार में माननी चाहिये ॥ ७९ ॥ सुषुप्ति में 'कुछ नहीं जाना' इस प्रकार के ज्ञान से चिदाभासयुक्त तम = अज्ञान सिद्ध होता है, तिससे अज्ञात आत्मा में जगत् के जन्म, स्थिति, लय, सिद्ध होते हैं ॥ ८० ॥ परमात्मा ही तमःप्रधान होकर शरीरादि रूप क्षेत्रों का कारण होता है, और चित्प्रधान होकर चिदात्माओं का कारण होता है, तिससे एक कारण के होते हुए भी संसार में जड़ चेतन के भेद होते हैं ॥ ८१ ॥ और तत्तत् प्राणियों से किये गये जो भावना, ज्ञान और कर्म उनके द्वारा देव, तिर्यङ्, मनुष्यादि की विचित्रता होती है ॥ ८२ ॥ तत्तज्जाति

---

१. परात्तु तच्छ्रुतेः । कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिसिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः । वेदान्तदर्श० अ० २।३।४१–४२ ॥ जीव को कर्तृत्वादि ईश्वर से होता है, श्रुति से यह सिद्ध है, और ईश्वर का भी फलदातृत्वादि जीव के पूर्व कर्मापेक्ष है, जिससे विहितादि कर्मों की व्यर्थता नहीं होती है ॥

शास्त्राभ्यासोपासनादि ज्ञानमप्यभिधीयते। विहितं प्रतिषिद्धं च कर्म तैश्चित्रजन्मता ॥८४॥

बृहदा० वार्त्तिकसा० अ० १। ब्रा०४॥

येन यद् दृश्यते तत्तु तेन सृष्टं स्वकर्मणा। दृश्यस्य भ्रान्तिरूपत्वाद्दर्शनं सृष्टिरुच्यते ॥८५॥

सृष्टं जगद्विराजेदं सदेवासुरमानुषम्। मर्त्येनापि जगत्सृष्टं सविराण्नरदेवतम् ॥८६॥

तेन तेनेक्षितः स्वप्नस्तत्तत्कर्मानुसारतः। सुखदुःखे तस्य तस्य यथा दत्ते तथा जगत् ॥८७॥

बृहदा० वार्त्तिकसा० अ० १।ब्रा० ५॥

स्वप्नवद् दृष्टिसृष्टेश्चाप्यन्यथानुपपत्तितः। जगन्मिथ्यात्वसिद्धिः सा ज्ञातमात्रैकसत्त्वभाक् ॥८८॥

साप्यनाद्यतिरिक्तेऽर्थे स्वीकृता कारणात्मना। स्थायित्वस्वीकृतेस्तत्र न बौद्धमततुल्यता ॥८९॥

अद्वैतसिद्धिसिद्धान्तसा० परिच्छे० १।२०४–२०५॥

ज्ञानज्ञेयप्रभेदेन यथा स्वप्नं प्रतीयते। विज्ञानमात्रमेवैतत् तथा जाग्रच्चराचरम् ॥९०॥

वेदान्तसिद्धान्तमुक्ताव० १६॥

निवृत्तेः सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः। अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः ॥९१॥

कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ। प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वे तु तुर्ये न सिद्ध्यतः ॥९२॥

के कथित जो शिल्प=कर्म उनमें बार २ अभ्यास से कुशलता की अधिकता नामक जो वासना होती है सो भावना कहलाती है ॥ ८३ ॥ शास्त्र के अभ्यास उपासना आदि ज्ञान कहाते हैं, और विहित प्रतिषिद्ध दो प्रकार के कर्म होते हैं, इन सबों से विचित्र जन्म वाले प्राणी होते हैं ॥ ८४ ॥ जो वस्तु जिससे देखी जाती है, सो उससे कर्म द्वारा रची गई है, उस दृश्य को भ्रान्ति रूप मिथ्या होने से उसका दर्शन ही सृष्टि कही जाती है ॥८५॥ विराट् से यह देव असुर मनुष्य सहित जगद् रचा गया है, मनुष्य से भी विराट् नर देव सहित जगत् रचा गया है ॥ ८६ ॥ तत्तत्पुरुष से देखा गया स्वप्न जैसे तत्तत् कर्मानुसार सुख दुःख देता है, तैसे ही दृष्ट जगत् भी कर्मानुसार सुख दुःख देता है ॥ ८७ ॥ स्वप्न के समान दृष्टि सृष्टि से और अन्यथा असिद्धि से जगत् की मिथ्यात्वसिद्धि होती है, वह मिथ्यात्व दृष्टि सृष्टि ज्ञातमात्रैकसत्त्वभाग् रूप है ॥ ८८ ॥ सो भी अनादि "जीवो [1]ब्रह्म विशुद्धा चिद्विभागस्त्वनयो र्द्वयोः। अविद्यातच्चितो र्योगः षडस्माकमनादयः" ॥ इस वचन में वर्णित से अन्य अर्थ में दृष्टि सृष्टि मानी गई है और कारण रूप से उस को भी स्थिर माना गया है, इससे क्षणिक बुद्धमत तुल्यता नहीं है ॥ ८९ ॥ जैसे विज्ञान मात्र आत्मा ही स्वप्न काल में ज्ञान ज्ञेय प्रभेद से प्रतीत होता है, तैसे ही जाग्रत् का चराचर भी यह विज्ञानमात्र रूप से सत्य है ॥ ९० ॥ सब दुःखों की निवृत्ति का ईशान=ईश्वर, प्रभु=समर्थ, अव्यय=निर्विकार अविनाशी, सब पदार्थों का अद्वैत स्वरूप आत्मा तुर्य=तीन अवस्था से पर विभु माना गया है ॥ ९१ ॥ अन्यथा ज्ञान रूप स्वप्नात्मक कार्य और तत्त्व का अज्ञान लय मोह रूप कारण इन दोनों से विश्व तैजस=जाग्रत्स्वप्न के अभिमानी जीव बँधे हैं, इससे वे दोनों कार्य कारण से बद्ध माने जाते हैं। प्राज्ञ=सुषुप्ति का अभिमानी कारण मात्र से बद्ध है, तुर्य में कार्य कारण दोनों नहीं रहते हैं ॥ ९२ ॥

---

१. जीवेशौ च विशुद्धा चित्। यह पाठान्तर है, यहाँ भी ब्रह्म शब्द का ईश्वर अर्थ है ॥

स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया । न निद्रा नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः ॥९३॥
अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः । विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते ॥९४॥
माण्डूक्यकारि० प्र० १।१०-११-१४-१५ ॥
नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्थावरजङ्गमम् । ऋते मामेकमव्यक्तं व्योमरूपं महेश्वरम् ॥९५॥
सोऽहं सृजामि सकलं संहरामि सदा जगत् । मायी मायामयो देवः कालेन सह सङ्गतः ॥९६॥
मत्सन्निधावेष कालः करोति सकलं जगत् । नियोजयत्यनन्तात्मा ह्येतद्वेदानुशासनम् ॥९७॥
अद्भुतरामाय० सं० १२। श्रीरामोक्तिः ॥
पूर्वं बुद्धौ घटं कृत्वा पश्चात्तं कुरुते यथा । तथा भवति या सृष्टि र्दृष्टिसृष्टीतिशब्दिता ॥९८॥
दृष्टिकालैव या सृष्टि र्दृष्टिसृष्टि र्हि स्वप्नवत् । दृष्टिरूपैव वा सृष्टिः परमस्य परेशितुः ॥९९॥
बुद्धौ कृत्वा घटं यत्र प्रमादात्कुरुतेऽन्यकम् । विनायकं प्रकुर्वाणः कुरुते वानरं यथा ॥१००॥
सुन्दरं कर्तुमिच्छन् वा कुरूपं कुरुते यदा । तत्रैव सृष्टिदृष्टि र्हि लोके भवति वै यथा ॥१०१॥
तथैवेश्वरसृष्टौ सा ज्ञेया मायाकृताऽन्यथा । पुण्यगन्धादिकं तस्माद्धरिरात्मानमुक्तवान् ॥१०२॥
अपुण्यं सर्वगन्धादि मायाऽधर्मादितो भवेत् । तथा सृष्टं जगद् दृश्यं पश्चाद्देवोऽनुपश्यति ॥१०३॥
सत्यादिबुद्धितो विश्वदर्शनं सृष्टिरित्यपि । असत्यबुद्धितो दृष्टिरदृष्टिश्च लयस्तथा ॥१०४॥
दृष्टिसृष्टिरतो विश्वे स्वप्नवद् विदुषा मता । स्वप्नेऽपि स्वप्नता बुद्ध्या स्वप्नसृष्टि र्विलीयते ॥१०५॥

अन्यथा ग्रहण=भ्रमज्ञान रूप स्वप्न और अज्ञानादि रूप निद्रा से युक्त विश्व, तैजस हैं, और प्राज्ञ अस्वप्ननिद्रा=स्वप्नरहित निद्रा से युक्त है, निश्चितात्मज्ञानवाले तुर्य में न निद्रा न स्वप्न देखते हैं ॥ ९३ ॥ अन्यथा ज्ञानवाले को स्वप्न है, तत्त्व=सत्य को न जानने वाले को निद्रा है, उन दोनों के विपर्यय के नष्ट होने पर तुरीय स्वरूप को पाता है ॥ ९४ ॥ अव्यक्त चिदाकाशरूप महेश्वर एक आत्माराम के बिना जगत् में स्थावर जंगम कोई भूत नित्य नहीं है ॥ ९५ ॥ सो सर्वात्मा मैं सब जगत् को रचता हूँ, और सदा संहार करता हूँ । मैं मायी मायामय देव=ईश्वर हूँ और काल के साथ मिला हुआ हूँ ॥ ९६ ॥ मेरे पास में यह काल सब जगत् को रचता है और वही अनन्तात्मा तत्तत्कार्यों में नियुक्त करता=लगाता है । यह वेद का अनुशासन=आज्ञा उपदेश है ॥ ९७ ॥ प्रथम बुद्धि में घट बनाने का निश्चय करके पीछे जैसे घट बनाता है, तैसे जो सृष्टि होती है, वह दृष्टिसृष्टि कहलाती है ॥९८॥ वा दृष्टि कालिक ही जो सृष्टि सो सो स्वप्नवत् दृष्टिसृष्टि है, वा परमात्मा की दृष्टि = संकल्प इच्छा रूप ही सृष्टि है, सो अन्य साधन रहित दृष्टिसृष्टि है ॥ ९९ ॥ जहाँ बुद्धि में घट बनाने का निश्चय करके प्रमाद से अन्य करता है, जैसे कोई गणेश की मूर्ति बनाता हुआ बानर की मूर्ति बनाता है ॥ १०० ॥ अथवा कोई मूर्ति आदि सुन्दर बनाने की इच्छा करता हुआ जब कुरूप बनाता है, तब वहाँ जैसे लोक में सृष्टिदृष्टि होती है, तैसे ही ईश्वर की सृष्टि में मायाकृत अन्यथात्व समझना चाहिये, तिसी से हरि ने पुण्यगन्धादि को अपनी विभूति कहा है, अपुण्य सब गन्धादि माया अधर्मादि से होते हैं, तैसे ही मायादिजन्य जगत् दृश्य को पीछे परमात्मा देखता है ॥ १०१-१०३ ॥ सत्यसुखादि दृष्टि से संसार को देखना यह भी सृष्टि है, असत्य बुद्धि से देखना वा नहीं देखना लय है ॥ १०४ ॥ इससे स्वप्नतुल्य संसार में दृष्टिसृष्टि मानी गई है, वह ज्ञानी को सम्मत

विलीनं दृश्यते तावद्दर्पणे स्वमुखं यथा । तथैवेदं जगद् दृश्यं ज्ञानिनः प्रविलीयते ॥
प्रारब्धवशतस्तावद् दृश्यते नात्र संशयः ॥ १०६ ॥
अज्ञानादिकमप्येतत्सत्त्वेनैव विनिश्चितम् । जन्मादिकारणत्वं हि याति नैवान्यथा क्वचित् ॥१०७॥
तुर्ये नास्ति जगन्नापि तद्धेतुरमलेऽद्वये । तं जानाति स मुक्तो वै सदा शुद्धोऽमलः स्वयम् ॥१०८॥
इच्छया मायिनो जातं निर्गुणस्य स्वसत्तया । अनृतत्वादजातं वा जगदेवं त्रिधा स्थितम् ॥१०९॥

इति तृतीयं जगत्कर्त्रादिप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ मायाऽविद्ये ॥ ४ ॥

दुरुत्तरा हि या माया तां तीर्त्वा ये परं गताः । तान् वै मन्ये परं ब्रह्म समं क्लेशादिवर्जितम्[१] ॥१॥
नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका । अनिर्वाच्या ततो ज्ञेया भेदबुद्धिप्रदायिनी ॥२॥
यदा विश्वं महाविष्णो भिन्नत्वेन प्रतीयते । तदा ह्यविद्या संसिद्धा भवेद् दुःखस्य साधनम् ॥३॥
ज्ञातृज्ञेयाद्युपाधिस्ते यदा नश्यति नारद ! । सर्वैकभावनाबुद्धिः सा विद्येत्यभिधीयते ॥४॥

नारदीयपु० पू० अ० ३ ॥

है, स्वप्न में भी स्वप्नता के ज्ञान से स्वप्न सृष्टि विलीन होती है ॥ १०५ ॥ विलीन भी स्वप्न जागे बिना दीखता है, जैसे कि जानने पर भी दर्पण में मुख दीखता है, तैसे ही यह जगत् रूप दृश्य ज्ञानी का लीन हो जाता है. परन्तु प्रारब्धवश तब तक दीखता है इस में संशय नहीं ॥ १०६ ॥ अज्ञान कर्मादि भी सत्यरूप से निश्चित रहने पर यह सब जन्मादि की कारणता को प्राप्त होते हैं, अन्यथा कहीं नहीं होते हैं ॥ १०७ ॥ अमल अद्वैत में जगत् नहीं है, न जगत् का हेतु है, उस तुर्य को जो जानता है सो सदा मुक्त, शुद्ध, स्वयं अमल है ॥ १०८ ॥ ईश्वर की इच्छा से और निर्गुण की सत्ता से जगत् हुआ है, अथवा मिथ्या होने से उत्पन्न ही नहीं है, इस प्रकार जगत् त्रिधा स्थित है ॥ १०९ ॥ तीसरा जगत्कर्त्रादि प्रकरण समाप्त ॥

अथ माया अविद्या—दुःख से तरने योग्य जो माया रूप नदी है, उसे तर कर जिन्होंने शुद्ध परब्रह्म को प्राप्त किया है. उन्हें क्लेशादि रहित सम परब्रह्म मानता हूँ ॥१॥ वह माया सत्=ब्रह्म रूप अविनाशिनी नहीं है, उस का ज्ञान से बाध होता है, जगत् के कारण होने से सर्वथा असत् शशशृङ्ग तुल्य नहीं है, विरोध से सदसत् उभय रूप भी नहीं है, अतः भेद बुद्धि के हेतु माया को सदादि रूप से अनिर्वाच्य जानना चाहिये ॥ २ ॥ महाविष्णु = सर्वात्मा ब्रह्म से भिन्न रूप से जब विश्व=संसार सत्य प्रतीत होता है, तब दुःख के साधन रूप अविद्या सम्यग् सिद्ध होती है ॥ ३ ॥ हे नारद ! ज्ञाता, ज्ञेयादि रूप जब तेरी उपाधि नष्ट होगी, तब सब में एकात्मभावना रूप बुद्धि होगी, वही विद्या कही जाती है ॥ ४ ॥

---

१. अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः । अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या । योगदर्श० साधनपा० ३-५ ॥ दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता । स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ इति । अविवेको मरणत्रासश्चास्मिताऽभिनिवेशशब्दार्थः । रागद्वेषौ प्रसिद्धौ । एत एव तमोमोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्रः, इति च कथ्यन्ते ॥

नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका । सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी ॥५॥
आदित्यपुरा० ॥
अनात्मन्यात्मविज्ञानमसतः सत्स्वरूपता । सुखाभावे तथा सौख्यं मायाऽविद्या विनाशिनी ॥६॥
गरुडपुरा० ॥
अहं ममेत्यविद्येयं व्यवहारस्तथाऽनयोः । परमार्थस्त्वसंलाप्यो गोचरो वचसां न यः ॥७॥
विष्णुपु० अंश० ६।७।१०० ॥
विचित्रकार्यकरणा अचिन्तितफलप्रदा । स्वप्नेन्द्रजालवल्लोके तेन माया प्रकीर्त्तिता ॥८॥
देवीपु० अ० ४५ ॥
स्थूल सूक्ष्मशरीराख्यद्वयस्यैकं हि कारणम् । आत्माज्ञानं च साभासं तदव्याकृतमुच्यते ॥९॥
न सन्नासन्न सदसदेतत्सावयवं न तत् । निर्गतावयवं नेति नाभिन्नं भिन्नमेव च ॥१०॥
भिन्नाभिन्नं ह्यनिर्वाच्यं बन्धसंसारकारणम् । एकं सद् ब्रह्मविज्ञानात्प्राप्तं नैव तु कर्मभिः ॥११॥
अग्निपु० अ० ३७७ ॥
सत्तेयं भवता ज्ञेया सर्वभेदविवर्जिता । चिदानन्दात्मिका नान्या जडा याऽत्र घटादिषु॥१२॥
स्वसजातिविजात्युत्थभेदत्रयविवर्जितम् । यस्मादेतदतः सद्भिः सदेवेति निगद्यते ॥१३॥
माया यद्यपि तस्मिन् स्याद् द्वितीया कारणे सदा । तथापि माययैवैषा वर्त्तते न तु वस्तुतः ॥१४॥

माया न सत्य रूप है, न असत्य रूप है, न सत्यासत्य उभय रूप है, किन्तु सत् असत् रूप से अनिर्वाच्य मिथ्या स्वरूप होती हुई भी सनातनी=अनादि है ॥५॥ अनात्मा में आत्मता का ज्ञान असत् में सद्रूपता, का ज्ञान, सुख के अभाव में सुख का ज्ञान, यह सब विनाश करनेवाली माया अविद्या ही का स्वरूप है, माया अविद्या से विपर्यय बुद्धि होती है ॥ ६ ॥ देहादि में अहं मम यह बुद्धि अविद्या रूप है, अहं मम का जो व्यवहार=शब्द प्रयोग क्रिया, सो भी अविद्या है, जो वचन का विषय नहीं है, सो परमार्थ=सत्यार्थ तो असंलाप्य=अवाच्य है ॥ ७ ॥ लोक में स्वप्न और इन्द्रजाल के समान विचित्र कार्य करने वाली, अचिन्तित फल को देने वाली जो है, तिससे उसे माया कहा गया है ॥ ८ ॥ स्थूल, सूक्ष्म, शरीर नामक द्वैत का कारण रूप जो एक आत्मा के आभास से सहित अज्ञान सो अव्याकृत कहलाता है ॥९॥ यह अव्याकृत सत् वा असत् नहीं है, न सत् असत् उभय स्वरूप है, यह अनादि होने से कार्य द्रव्य के समान सावयव नहीं है, तो भी निरवयव नहीं कह सकते, सावयव नहीं होते भी अन्धकार के समान सांश है, चिज्जड की एकता नहीं होने से ब्रह्म से अभिन्न नहीं है, अद्वैतश्रुतिविरोधशक्तिरूपता से भिन्न भी नहीं है, विरोध से भिन्नाभिन्न भी नहीं है, इससे अनिर्वाच्य और बन्ध संसार का कारण है, विज्ञान से एक सत्य ब्रह्म प्राप्त होता है, कर्मों से नहीं ॥१०-११॥ यह सत्ता सबभेदरहित चिदानन्दस्वरूप ही आप से ज्ञेय है, उससे अन्य जड़ जो घटादि में सत्ता है सो ज्ञेय नहीं है ॥ १२ ॥ स्वगत भेद, सजातीय भेद, विजातीय भेद से रहित जिससे यह ब्रह्म है, इससे सत्पुरुष से यह सत्य ही कहा जाता है, जो "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इस श्रुति में वर्णित है । यद्यपि इस कारण स्वरूप ब्रह्म में द्वितीय वस्तु रूप माया सदा रहती है, उस के विना ब्रह्म कारण ही नहीं हो सकता, तथापि माया से ही यह माया रहती है, मिथ्या स्वरूप ही रहती है, वस्तुतः

उलूकस्य यथा रात्रिरुलूकस्य प्रसिद्धितः । सिद्धयत्यत्र तथा माया माययैव प्रसिद्धयति ॥१५॥
आत्मपु० अ० १२।१६६-७४। इत्यादि ॥

आत्मा प्रसाधयति वेद्यपदार्थजातं स्वात्मानमप्यवगतिक्षमशक्तियोगात् ।
स्वाज्ञानमेवमिदमात्मपरप्रक्लृप्तौ शक्तं भवेदिति न कश्चन दौस्थ्यमस्ति ॥ १६ ॥ संक्षेपशारीरके ॥

नासदासीन्नो सदासीदित्याद्याः श्रुतयोऽखिलाः । प्रमाणं स्युरनिर्वाच्यभाव एव विचारतः ॥१७॥

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥ १८ ॥
सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो, भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो ।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो, महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा ॥ १९ ॥ विवेकचूडामणौ ॥

देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्त्तिता । नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धि र्विद्येति भण्यते ॥२०॥
अविद्या संसृते र्हेतु र्विद्या तस्या निवर्त्तिका । तस्माद्यत्नः सदा कार्यो विद्याभ्यासे मुमुक्षुभिः॥२१॥
अध्यात्मरा० अयो० कां० स० ४।३३-३४ ॥

अनात्मनि शरीरादावात्मबुद्धिस्तु या भवेत् । सैव माया तयैवासौ संसारः परिकल्प्यते ॥२२॥
रूपे द्वे निश्चिते पूर्वं मायाया कुलनन्दन ! । विक्षेपावरणे तत्र प्रथमं कल्पयेज्जगत् ॥
अपरं त्वखिलं ज्ञानरूपमावृत्य तिष्ठति ॥२३॥ अध्यात्मरा० आरण्यकां० स० ४।२१॥

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं दृश्यते श्रूयते च यत् । सैषा प्रकृतिरित्युक्ता सैव मायेति कीर्त्तिता ॥२४॥
अध्यात्मरा० युद्धकां० स० ६।५०॥

नहीं रहती है ॥ १३-१४ ॥ जैसे उलूक की रात्रि उलूक ही की प्रसिद्धि से होती है, सत्य भासती है, तैसे ही इस ब्रह्म में माया माया से भासती, सिद्ध होती है, ब्रह्म दृष्टि से नहीं ॥ १५ ॥ पदार्थों की अवगति=ज्ञान में समर्थशक्ति के सम्बन्ध से जैसे आत्मा पदार्थ समूह को प्रकाशता साधता है, तथा अपने स्वरूप को भी प्रकाशता है, तैसे ही यह अपना अज्ञान ही अज्ञान और अज्ञान से अन्य मिथ्या वस्तु की सिद्धि में समर्थ होता है, इससे कोई दोष नहीं है ॥१६॥ विचारने पर 'नासदासीन्नो सदासीत्' इत्यादि सब श्रुतियाँ अनिर्वचनीय भाव रूप अज्ञान में प्रमाण होती हैं ॥ १७ ॥ अव्यक्त नामवाली परमात्मा की शक्ति रूप त्रिगुणात्मक अनादि अविद्या कार्यों से पर कार्य द्वारा विद्वानों से अनुमान द्वारा जानने योग्य है, वही माया है, जिससे यह सब जगत् उत्पन्न होता है ॥ १८ ॥ सो माया अविद्या सदसदादि रूप नहीं है, न भिन्नाभिन्नादि है, न साङ्ग=सावयव निरवयवादि है, इससे महा अद्भुत अनिर्वचनीय रूप है ॥१९॥ मैं देह=ब्राह्मण गौरादि हूँ, इस प्रकार की जो बुद्धि है, सो अविद्या कही गई है । मैं देह नहीं हूँ, चिदात्मा हूँ-यह बुद्धि विद्या कहलाती है ॥ २० ॥ अविद्या जन्मादिरूपसंसृति का हेतु है, और विद्या तिसका नाशक है, तिससे मुमुक्षुओं को विद्या के अभ्यास में सदा यत्न कर्तव्य है ॥२१॥ अनात्मरूप देहादि में जो आत्मबुद्धि =(आत्मता का ज्ञान) होती है, सोई माया है, तिससे यह संसार परिकल्पित=सिद्ध होता है ॥ २२ ॥ हे कुलनन्दन ! प्रथम माया के विक्षेप और आवरण दो रूप निश्चित हैं, तिनमें प्रथम कार्यशक्तिरूप विक्षेप जगत् की कल्पना = सिद्धि करता है, और अपर=आवरण रूप सब ज्ञानस्वरूप को आवृत्त करके स्थिर रहता है ॥२३॥ ब्रह्मा से तृण पर्यन्त जो कुछ देखा सुना जाता है, सो यह सब त्रिगुण प्रकृति रूप कहा

आत्ममामामृते राजन् ! परस्यानुभवात्मनः । न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसा ॥२५॥

भागव० स्क० २।९।१ ॥

सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका । माया नाम महाभाग ! ययेदं निर्ममे विभुः ॥२६॥

भा० स्क० ३।५॥

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते । ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम् ॥२७॥

भा० स्क० ३।७।९ ॥

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः । नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम् ॥२८॥

भा० स्क० ११।७।७॥

सर्वस्य दृश्यजालस्य परमात्मन्यलक्षिते । प्रकृतत्वेन भावानां लोके प्रकृतिरुच्यते ॥२९॥

सदसत्तां नयत्याशु सत्तां वाऽसत्त्वमञ्जसा । सत्ताऽसत्ताविकल्पोऽयं तेन मायेति कथ्यते ॥३०॥

योगवासि० प्र० ३।९६।२८-२९ ॥

अविद्यां प्रकृतिं विद्धि गुणत्रितयधर्मिणीम् । एषैव संसृति र्जन्तोरस्याः पारं परं पदम् ॥३१॥

योगवा० प्र० ६।६।६ ॥

अहो विचित्रा मायेयं तात ! विश्वविमोहिनी । असत्यैवापि सद्रूपा मरुभूमिषु वारिवत् ॥३२॥

योगवा० प्र० ६।६३।७ ॥

अहन्तैव पराऽविद्या निर्वाणपदरोधिनी । तयैवान्विष्यते मूढैस्तादित्युन्मत्तचेष्टितम् ॥३३॥

योगवा० प्र० ६-२। स० ३।१ ॥

पर्जन्यो वर्षते यत्र यज्जले न प्रपूर्यते । देशो निर्जलतां याति एष माया मम प्रिये ! ॥३४॥

सोमो यत्क्षीयते पक्षे पक्षे वापि च वर्द्धते । अमायां स न दृश्येत मायेयं मम तत्त्वतः ॥३५॥

गया है, और वह प्रकृति ही माया कही जाती है ॥२४॥ हे राजन् ! आत्म सम्बन्धी माया के विना अनुभव स्वरूप परमात्मा को स्वप्नद्रष्टा के समान अर्थों के साथ सम्बन्ध अञ्जसा = तत्त्वतः नहीं बन सकता है ॥ २५ ॥ हे महाभाग ! सदसत्सवपदार्थस्वरूप वह माया नाम वाली सम्यग् द्रष्टा रूप इस परमात्मा की शक्ति है, कि जिससे उस विभु ने इस जगत् को रचा है ॥ २६ ॥ सोई यह भगवान् की माया है कि जो नय = नीति से विरुद्ध करती है, इसीसे ईश्वर और विमुक्त को कृपणता और बन्धन करती है ॥ २७ ॥ मन वचन नेत्र श्रवणादि से गृह्यमाण ज्ञात जो कुछ यह नश्वर विश्व है, उस को मायामनोमय जानो = मिथ्या समझो ॥ २८ ॥ सब दृश्य संघ के भावों = सत्ताओं को अलक्षित = अदृश्य परमात्मा में प्रकृतत्व = सम्पादकत्व से प्रकृति कही जाती है ॥ २९ ॥ सत् = वर्तमान की शीघ्र ही असत्ता करती है, असत्त्व की अञ्जसा=शीघ्र सत्ता करती है, तिससे यह सत्ता असत्ता का विकल्प ही माया कही जाती है ॥३०॥ गुणत्रय धर्मवाली अविद्या को प्रकृति जानो, यही प्राणियों का संसार है, इसके पार रूप परम पद है ॥३१॥ हे तात ! विश्व को विमोहित करने वाली यह माया विचित्र आश्चर्यस्वरूप है, जो असत्य होते हुए भी मरु भूमि में जल के समान सत्यरूप भासती है ॥ ३२ ॥ अहङ्कार ही निर्वाण = मुक्ति पद को ढांपने वाला भारी अविद्यारूप है, तिस अविद्या से ही मूढ सब उस निर्वाण पद को खोजते हैं, यह उन्मत्त की चेष्टा है ॥ ३३ ॥ जहाँ मेघ बरसता है, वहाँ सब स्थान जल से अति पूर्ण होते हैं और कोई देश निर्जल होता है, हे प्रिये ! यह मेरी माया है ॥ ३४ ॥ चन्द्रमा एक पक्ष में क्षीण होता है, एक पक्ष में बढ़ता है, अमावास्या

हेमन्ते सलिलं कूपे ऊष्णं भवति सुन्दरि ! । भवेच्च शीतलं ग्रीष्मे मायेयं मम तत्त्वतः ॥३६॥
पश्चिमां दिशमास्थाय यदस्तं याति भास्करः । उदेति पूर्वतः प्रात मायेयं मम सुन्दरि ! ॥३७॥
शोणितं चैव शुक्रं च उभे च प्राणिसंस्थिते । गर्भे च जायते जन्तु मायेयं मम सुन्दरि ! ॥३८॥
जीवः प्रविश्य गर्भे तु सुखदुःखे च विन्दति । जातश्च विस्मरेत्सर्वमेषा माया ममोत्तमा ॥३९॥
आत्मकर्माश्रितो जीवो नष्टसंज्ञो गतस्पृहः । कर्मणा नीयतेऽन्यत्र मायैषा मम चोत्तमा ॥४०॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः । अन्नात्प्रवर्त्तते जन्तुरेषा माया मम प्रिया ॥४१॥
सर्वर्त्तुषु निजाकारः स्थावरे जङ्गमे तथा । तत्त्वं न ज्ञायते तस्य मायैषां मम सुन्दरि ! ॥४२॥
मेघा वहन्ति सलिलमुद्धृत्य लवणार्णवात् । वर्षन्ति मधुरं लोके एतन्मायाबलं मम ॥४३॥
रोगार्त्ता जन्तवः केचिद् भक्षयन्ति महौषधम् । तस्य वीर्यं समाश्रित्य मायां तु विसृजाम्यहम् ॥४४॥
औषधे दीयमाने तु जन्तुः पञ्चत्वमेति यत् । निर्वीर्यमौषधं कृत्वा कालो भूत्वा हराम्यहम् ॥४५॥
यद्भूमौ निहितं बीजं तस्मात्तज्जायतेऽङ्कुरम् । पुनश्च पत्रादियुतमेतन्मायाबलं मम ॥४६॥
वराहपु० अ० १२५ ॥

गणेशजननी दुर्गा राधा लक्ष्मीः सरस्वती । सावित्री च सृष्टिविधौ प्रकृतिः पञ्चधा स्मृता ॥४७॥
देवीभा० स्क० ९।१।१ ॥

रागी कोऽपि न जानाति संसारेऽस्मिन् महामते ! । विरक्तश्च विजानाति निरीहो यो विमत्सरः ॥४८॥
देवीभा० स्क० ३।२।१२ ॥

को नहीं दीखता है, यह वस्तुतः मेरी माया है ॥ ३५ ॥ हे सुन्दरि ! हेमन्त ऋतु में कूप में जल उष्ण होता है, ग्रीष्म में शीतल होता है, यह वस्तुतः मेरी माया है ॥ ३६ ॥ सूर्य जो पश्चिम दिशा में प्राप्त होकर अस्त होता है और प्रातः काल में पूर्व से उदित होता है, हे सुन्दरि ! यह मेरी माया है ॥ ३७ ॥ रुधिर और वीर्य प्राणी में रहते हैं, वहाँ जन्तु नहीं होता और गर्भ में रुधिर वीर्य से जन्तु होता है, यह मेरी माया है ॥ ३८ ॥ जीव गर्भ में पैठ कर सुख दुःख पाता है, और जन्मते ही सब भूल जाता है, यह मेरी उत्तम = भारी कठिन माया है ॥ ३९ ॥ अपने कर्मों का आश्रित जीव मरण काल में ज्ञानरहित इच्छारहित होने पर भी कर्म से अन्यत्र प्राप्त किया जाता है, यह मेरी उत्तम माया है ॥ ४० ॥ शब्दादि पंच विषय और जिस अन्न से प्राणी जीता है, यह मेरी प्रिया माया है ॥ ४१ ॥ सब ऋतुओं में स्थावर जंगम में निजाकार = नित्यस्वरूप कारण रूप से पुष्प फलादि रहते हैं, परन्तु उस का तत्त्व = यथार्थस्वरूप नहीं समझा जाता, यह मेरी माया है ॥ ४२ ॥ लवण समुद्र से उठा कर मेघ जल धारण करते हैं, परन्तु लोक में मधुर जल बरसाते हैं, यह मेरी माया का बल है ॥ ४३ ॥ रोग से दुःखी कोई प्राणी महान् औषध खाते हैं, तहाँ उस औषध के वीर्य = शक्ति का आश्रयण करके मैं ही माया की सृष्टि करता हूँ, कि जिससे रोग निवृत्त होता है ॥ ४४ ॥ जहाँ औषध देने पर भी प्राणी मृत्यु पाते हैं, वहाँ मैं ही काल होकर औषध को निर्वीर्य करके प्राण को हरता हूँ ॥ ४५ ॥ जो प्रथम भूमि में बीज दिया जाता है, तो उससे अंकुर होता है, फिर वह पत्रादि युक्त होता है, यह मेरी माया का बल है (पृथिवी के प्रति आत्म माया का वर्णन वराह भगवान् ने किया है) ॥ ४६ ॥ पार्वती दुर्गा, राधा, लक्ष्मी, सरस्वती, सावित्री, ये पांच प्रकार की प्रकृति के नाम सृष्टि की विधि में कहे गये हैं ॥ ४७ ॥ हे महामते ! कोई भी

हरिहरद्रुहिणाश्च क्रमात्त्वया विरचितास्त्रिजगतां किल कारणाः ।
रमयसे स्वपतिं पुरुषं सदा तव गतिं न हि विद्म वयं शिवे ॥ ४९ ॥ देवीभा० स्क० ३।५।१० ॥
कारयित्वाऽथ वैकुण्ठं वस्तव्यं पुरुषोत्तम ! । कैलासं कारयित्वा च विहरस्व यथासुखम् ॥
निर्गुणः परमात्माऽसौ न तु दृश्यः कदाचन ॥ ५० ॥ देवीभा० स्क० ३।६।६३ ॥
यावन्न गुणविच्छेदस्तावत्तद्दर्शनं कुतः । तं पश्यन्ति तदा चित्ते यदाऽहङ्कारवर्जिताः ॥५१॥
देवीभा० स्क० ३।७।२१ ॥
एवं सृष्टिं समुत्पाद्य भगवान् कमलोद्भवः । चकार ब्रह्मलोकं च मेरुशृङ्गे मनोहरम् ॥५२॥
वैकुण्ठं भगवान् विष्णू रमारमणमुत्तमम् । क्रीडा स्थानं सुरम्यं च सर्वलोकोपरिस्थितम् ॥५३॥
शिवोऽपि परमं स्थानं कैलासाख्यं चकार ह । समासाद्य भूतगणं विजहार यथारुचि ॥५४॥
देवीभा० स्क० ३।१३।१७ इत्यादि ॥
अवतारा मृत्युलोके सन्तु मच्छापसम्भवाः । प्रायो गर्भभवं दुःखं भुङ्क्ष्व पापाज्जनार्दन ! ॥५५॥
सदा छलपरोऽसि त्वं कीटयोनि दुराशयः । ये च त्वां सात्त्विकं प्राहुस्ते मूर्खा मुनयः किल ॥५६॥
देवीभा० स्क० ४।११।८। इत्यादि । भृगोरुक्तिः ॥
देवपक्षमवलम्ब्य काव्यमातु र्भृगोः पत्न्याश्चक्रेण नाशनादयं शापो विष्णुना लब्धो विष्णुरुवाचः—
वयं मायाऽऽवृताः कामं न स्मरामो जगद्गुरुम् । परमं पुरुषं शान्तं सच्चिदानन्दमव्ययम् ॥५७॥
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शिवोऽहमिति मोहिताः । न जानीमो वयं धातः परं वस्तु सनातनम् ॥५८॥
देवीभा० स्क० ४।१६ ॥

रागी संसार में कुछ नहीं जानता है, किन्तु जो इच्छारहित विमत्सर विरक्त है, सो समझता है ॥ ४८ ॥ हे शिवे ! तीनों लोक के कारण हरि, हर, ब्रह्मा, भी क्रम से तुम से रचे गये हैं = माया देवी जन्य ब्रह्मादि हैं, सृष्टि द्वारा तुम अपने पति रूप पुरुष=आत्मा को सदा रमण कराती हो, तेरी गति को हमलोग नहीं समझते हैं ॥ ४९ ॥ देवी की आज्ञा है, कि हे पुरुषोत्तम ! = विष्णो ! वैकुण्ठ बनवा कर तुम बसना, कैलास बनवा कर हे हर तुम बसो, वह निर्गुण परमात्मा कभी दृश्य नहीं होता है ॥ ५० ॥ जब तक माया रूप गुण का नाश नहीं होता है, तब तक उस परमात्मा का दर्शन कैसे किस से हो ? उस को कोई अपने चित्त में तब देखते हैं, कि जब अहङ्कार रहित होते हैं ॥ ५१ ॥ उक्त आज्ञा के अनुसार कमलोत्पन्न भगवान् = ब्रह्मा ने सृष्टि को रच कर मेरु के शृङ्ग पर मनोहर ब्रह्मलोक बनाया ॥ ५२ ॥ भगवान् विष्णु ने वैकुण्ठ बनाया, जो लक्ष्मी का उत्तम रमण का स्थान है, और सुरम्य क्रीड़ा का स्थान है, वह सब लोकों के ऊपर स्थिर है ॥५३॥ शिव ने भी कैलास नामक परम स्थान बनाया और भूतगण को लेकर रुचि के अनुसार विहार किया ॥ ५४ ॥ भृगु कहते हैं कि हे जनार्दन ! मेरी स्त्री के बध रूप इस पाप से मेरे शाप जन्य तेरे मृत्यु लोक में अवतार हों और गर्भजन्य दुःख को प्रायः=बहुत, तुम भोगो ॥ ५५ ॥ तुम सदा छल परायण कीटयोनि, दुष्ट आशय वाले हो, जो मुनि तुम्हें सात्त्विक कहते हैं, वे मूर्ख हैं ॥ ५६ ॥ विष्णु बोले कि मैं अत्यन्त माया से आवृत्त हूँ, परम पुरुष शान्त सच्चिदानन्दस्वरूप अव्यय जगत् गुरु का स्मरण नहीं करता हूँ ॥५७॥ हे धात ! मैं विष्णु, मैं ब्रह्मा, मैं शिव हूँ, इस प्रकार हम सब देहादि में मोह युक्त हैं, इससे सनातन पर वस्तु को नहीं जानते हैं ॥ ५८ ॥

परतन्त्रोऽस्म्यहं नूनं पद्मयोने ! निशामय । तथा त्वमपि रुद्रश्च सर्वे चान्ये सुरोत्तमाः ॥५९॥

देवीभा० स्क० ४।१८ ॥

मायया मोहिता मन्दाः प्रवदन्ति मनीषिणः । करोति स्वेच्छया विष्णुरवतारराननेकशः ॥६०॥

मन्दोऽपि दुःखगहने गर्भवासेऽतिसङ्कटे । न करोति मतिं विद्वान् कथं कुर्यात्सचक्रभृत् ॥६१॥

देवीभा० स्क० ५।१।४७-४८ ॥

योषिद्रूपा च मे माया सर्वेषां मोहकारिणी । लीलया कुरुते मोहं स्वात्मारामस्य सन्ततम् ॥६२॥

दुःखबीजं सुखं मत्वा मूढाश्च दैवदोषतः । परस्त्रीसेवनं प्रीत्या कुर्वन्ति सततं मुदा ॥६३॥

विपत्तिः सततं तस्य परवस्तुषु यन्मनः । विशेषतः परस्त्रीषु सुवर्णेषु च भूमिषु ॥६४॥

ब्रह्मवैवर्त्तपु० कृष्णजन्मखं० अ० ३५।८५-९१-९२ ॥

एतत्तदन्धकारं यदनात्मन्यात्मताभ्रान्त्या । न विन्दति वासुदेवं सर्वात्मानं नरा मूढाः ॥६५॥

ज्वलनाद् धूमोद्गतिभि र्विविधाकृति र्यथाम्बरे भाति । तद्वद्विष्णौ सृष्टिः स्वमायया द्वैतविस्तरा भाति॥६६॥

हिमफेनबुद्बुदा इव जलस्य धूमो यथा वह्नेः । तद्वत्स्वभावभूता मायैषा कीर्त्तिता विष्णोः ॥६७॥

परमार्थसारे ॥

न्यायनयेऽदृष्ट एव मायाशब्दवाच्यो यथाहोदयनाचार्यः कुसुमाञ्जलौ प्रथमस्तवके विंशतितमश्लोके—

इत्येषा सहकारिशक्तिरसमा माया दुरुन्नीतितो, मूलत्वात्प्रकृतिः प्रबोधभयतोऽविद्येति यस्योदिता ।
देवोऽसौ विरतप्रपञ्चरचनाकल्लोलकोलाहलः, साक्षात्साक्षितया मनस्यभिरतिं बध्नातु शान्तो मम॥६८॥

हे पद्मयोने ! सुनो, मैं अवश्य परतन्त्र हूँ, तैसे तुम भी परतन्त्र हो, रुद्र परतन्त्र हैं, सब अन्य देवोत्तम परतन्त्र हैं ॥ ५९ ॥ माया से मोहित मन्द=अपटु विद्वान् लोग भी कहते हैं, कि-विष्णु अपनी इच्छा से अनेक वार अवतार धरते हैं ॥ ६० ॥ दुःख के गहन = वन रूप अति संकट गर्भवास में मन्द =अल्पज्ञ मूढ भी मति नहीं करता = जाना नहीं चाहता है, तो वह चक्रभृत्=विष्णु कैसे करेगा ? ॥ ६१ ॥ स्त्री रूप ईश्वर की माया सब को मोह करनेवाली है, सदा स्वात्माराम को लीला द्वारा मोह करती है ॥ ६२ ॥ और मूढ़ लोग तो दैव दोष से दुःख बीज को ही सुख मान कर सदा मोद प्रीति पूर्वक परस्त्री का सेवन करते हैं ॥ ६३ ॥ जिस का मन अन्य की वस्तु में लगा है, विशेष करके जिस का मन परस्त्री, सुवर्ण और भूमि में लगा है, उस को सदा विपत्ति है ॥ ६४ ॥ मूढ़ मनुष्य जो अनात्मा में आत्मता की भ्रान्ति से सर्वात्मा वासुदेव को नहीं पाता है, यही वह वेदसिद्ध अन्धकार तम है ॥ ६५ ॥ जैसे अग्नि से धूम की ऊर्ध्वगति द्वारा आकाश में विविधाकर प्रतीत होते हैं, तैसे ही सर्वात्मा विष्णु में माया द्वारा सृष्टि द्वैत का विस्तार भासता है ॥ ६६ ॥ जल के स्वभाव रूप हिम फेन बुद्बुद के समान, और अग्नि के धूम के समान, विष्णु=परमात्मा के स्वभाव स्वरूप यह माया कही गई है ॥६७॥ और न्याय सिद्धान्त में अदृष्ट=धर्माधर्म ही माया शब्द का वाच्य अर्थ है, जैसा कि कुसुमाञ्जलि ग्रन्थ में कहा है, कि जिस देव की यह अदृष्ट रूप कार्यों की ईश्वर से उत्पत्ति आदि में सहकारी शक्ति=सहकारी कारण है, सो असमा माया इस प्रकार उदिता=कही गई है, "यन्माया प्रभवं विश्वम्" इत्यादि वचनों में माया शब्द से कही गई है, और दुरुन्नेय = महाविचार से ज्ञेय होने से अन्य पदार्थों के समान नहीं है, इससे असमा अदृष्ट है, माया के समान है, जगत् के मूल होने से अदृष्ट प्रकृति है, बोध से अदृष्ट निवृत्त होता है इससे अदृष्ट के

इति वस्तुतस्तु :— "नासदासीन्नो सदासीत् । आसीदिदं तमोभूतम् ।" इत्यादि शास्त्रैः पूर्वोक्ताऽनिर्वाच्यैव माया सिद्ध्यति । "अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।" "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।" इत्यादिवचनादनादित्वम्, "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" "मायामेतां तरन्ति ते" इत्यादिभिर्ज्ञाननिवर्त्यत्वेनाविद्यात्वं सान्तत्वं च सिद्ध्यति ॥ ६९ ॥

वैशेषिकदर्शनस्य प्रशस्तपादभाष्ये :—"बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्ययः, इति पर्यायाः । सा चानेकप्रकाराऽर्थानन्त्यात्प्रत्यर्थनियतत्वाच्च । तस्याः सत्यप्यनेकविधत्वे, समासतो द्वे विधे, विद्या चाविद्या चेति । तत्राविद्या चतुर्विधा, संशयविपर्ययाऽनध्यवसायस्वप्नलक्षणा । किंस्विदित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः" । अन्यत्प्रसिद्धम् । "इन्द्रियदोषात्संस्कारदोषाच्चाविद्या" "तद् दुष्टज्ञानम् ।" इतिसूत्रे स्तः । वस्तुतः, इयं कार्यात्मिकाऽविद्या, या, "अनित्याऽशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।" इति योगदर्शनेऽप्युक्ता, कारणात्मिका तु भावभूता पूर्वोक्तैवेति ॥ ७० ॥

शाम्यति ह्यस्त्रमस्त्रेण मलेन क्षाल्यते मलः । शमं विषं विषेणैति रिपुणा हन्यते रिपुः ॥७१॥

ईदृशी राम ! मायेयं या स्वनाशेन हर्षदा । न लक्ष्यते स्वभावोऽस्याः प्रेक्षमाणैव नश्यति ॥७२॥

भय से अविद्या कही गई है, बोध से अविद्या और अदृष्ट दोनों की निवृत्ति होती है, जिस देव की ऐसी शक्ति है, वह देव प्रपञ्च=प्रतारणा की रचना का जो कल्लोल=परम्परा उससे विरत होता हुआ और शान्ति=द्वेषादि रहित होता हुआ मेरे चित्त में अभिरति=निरन्तर चिन्ता भक्ति को बाँधे=दृढ़ करे ॥६८॥ यथार्थ में तो—"प्रलय काल में सत् असत् नहीं थे" किन्तु "सत् असत् स्वरूप यह जगत् तम=अज्ञान माया रूप था" इत्यादि शास्त्र से सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त अनिर्वचनीय अविद्या माया प्रलय में थी। "अनादि माया से सुप्त = मिथ्या दर्शी जीव जब गुरु के उपदेशादि से जागता है, तब अजादि को जान कर मुक्त होता है ।" "प्रकृति पुरुष दोनों को अनादि समझो" इत्यादि वचनों से माया में अनादिता सिद्ध है, "फिर अन्त में सब माया की निवृत्ति होती है" "ज्ञानी इस माया को तरते हैं" इत्यादि कथन से ज्ञान से निवृत्ति द्वारा अविद्यात्व और अन्तयुक्तत्व सिद्ध होता है ॥ ६९ ॥ वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य में बुद्धि आदि को पर्याय = एकार्थ का वाचक कहा गया है, और सब अर्थ में नियत होने से अनन्त अर्थ की अनन्त बुद्धि अनेक प्रकार की है, परन्तु संक्षेप से दो प्रकार की है, सो विद्या और अविद्या रूप है, तिस में अविद्या चार प्रकार की है, जो संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, स्वप्न स्वरूप है। यह क्या है ? ऐसे विचार मात्र को अनध्यवसाय कहते हैं, अन्य प्रसिद्ध हैं। "इन्द्रिय के दोष संस्कार दोष से अविद्या होती है" "सो दुष्ट ज्ञानरूप है" इस अर्थ में दो सूत्र हैं। वस्तुतः यह कार्यरूप अविद्या है, जो कि "अनित्यादि में नित्यतादि ज्ञानरूप अविद्या" योग दर्शन में भी कही गई है। कारण रूप भाव स्वरूप अविद्या पूर्व वर्णित ही है ॥ ७० ॥ जैसे अस्त्र से अस्त्र शान्त होता है, क्षार मल से अन्य मल धोया जाता है, शोधित विष से अन्य विष निवृत्त होता है, रिपु से रिपु मारा जाता है ॥ ७१ ॥ हे राम ! यह माया ऐसी ही है, चिद्विशिष्ट मायिक अन्तःकरण की ब्रह्माकार वृत्ति से अपने नाश से जो हर्ष देने वाली है, इस का स्वभाव भी किसी से लक्षित = ज्ञात नहीं होता है, क्यों कि देखते ही नष्ट हो जाती है ॥ ७२ ॥

विवेकमाच्छादयति जगन्ति जनयत्यलम् । न च विज्ञायते कैषा पश्याश्चर्यमिदं जगत् ॥७३॥
योगवासि॰ प्र॰ ४।४१।१४–१६ ॥

चत्वारोऽस्याः कपर्दा युवतिरथ भवेन्नूतना नित्यमेषा,
माया वा पेशला स्यादघटितघटनापाटवं याति यस्मात् ।
स्यादारम्भे घृतास्या श्रुतिभववयुनान्येवमाच्छादयन्ती,
तस्यामेतौ सुपर्णाविव परपुरुषौ तिष्ठतोऽर्थप्रतीत्या ॥ ७४ ॥ शतश्लोकी ॥

इति चतुर्थं मायाऽविद्याप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथऽज्ञानम् ॥ ५ ॥

ब्रह्मलोकं न विन्दति प्रत्यूढा अनृतेन वै । तदानीं सदसन्नासीत्तम आसीत्तदावृतम् ॥१॥
इत्यादिश्रुतिसंसिद्धमनिर्वच्यमनादि यत् । मायाऽविद्याऽऽख्यमज्ञानं तन्निवृत्त्या विमुच्यते ॥२॥ तथाहि—
अनादि भावरूपं यद् विज्ञानेन विलीयते । तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षणं संप्रचक्षते ॥३॥
तत्त्वप्रदीपि॰ (चित्सु॰) परिच्छे॰ १।६ ॥
आगन्तु चेदिहाज्ञानमनिर्मोक्षः प्रसज्यते । पुरेवानागतो भूयो नेष्यतीत्यत्र का प्रमा ॥४॥
अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम् । अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते ॥५॥

यह माया विवेक को ढाँपती है, संसार को पैदा करती है, परन्तु समझ नहीं पड़ती की यह क्या है ? उससे जन्य इस संसार को भी आश्चर्य रूप समझो देखो ॥७३॥ इस माया के चार स्वभाव हैं, एक तो यह सदा नयी स्त्री के समान रहती है, दूसरा यह पेशला=कुशल चतुर है, कि जिस से अघटित=असंभव की घटना=(संपादन) में पटुता को प्राप्त होती है, और तीसरी बात है, कि-आरम्भ में घृतास्या=रम्या आकर्षक होती है, चौथी अवस्था है, कि-इसी प्रकार हो कर श्रुतिजन्य 'वयुन'=ज्ञानों को आच्छादित करती रहती है, तिससे इस में जीव और ईश्वर रूप उत्तम पुरुष अर्थ के ज्ञान से पक्षी के समान बसते हैं । 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि श्रुति है 'बुढि हंसि बोलै मैं नित हि बारि' इत्यादि कबीर साहब कहते हैं ॥ ७४ ॥

चौथा मायाविद्याप्रकरण समाप्त ॥

अथ अज्ञान—अनृत=मिथ्या अज्ञान से प्रत्यूढ=वशीकृत ब्रह्म स्वरूप लोक = प्रकाश स्थान को नहीं पाते हैं, प्रलय काल में सत् = पृथिवी आदि असत्=आकाशादि नहीं थे, किन्तु तम = अज्ञान था कि जिससे ब्रह्म आवृत था, सत्, असत्, आवृत्त=उसमें लीन थे ॥ १ ॥ इत्यादि श्रुतियों से सम्यग सिद्ध जो माया अविद्या नाम वाला अज्ञान उसकी निवृत्ति से जीव मुक्त होता है ॥ २ ॥ जो अनादि भाव रूप=अस्ति प्रतीति का विषय वस्तु है, और विज्ञान ज्योति से तम तुल्य विलीन होता है, वह अज्ञान है, इसे विद्वान् लोग अज्ञान का लक्षण कहते हैं ॥ ३ ॥ यदि आत्मा में अज्ञान आगन्तुक हो, तो मोक्ष की अप्राप्ति होगी, क्योंकि वर्तमान आगन्तुक अज्ञान के ज्ञान से नष्ट होने पर भी प्रथम के समान फिर अज्ञान अब नहीं आवेगा, इसमें कोई प्रमाण नहीं है ॥ ४ ॥ और इस द्वैत=भेद रूप इन्द्र जाल = मिथ्या संसार का उपादान कारण जो अज्ञान = माया प्रकृति हैं, उसका उपाश्रयण करके स्थिर ब्रह्म संसार का कारण

अविद्याघातिनः शब्दाद्याऽहं ब्रह्मेति धी र्भवेत् । नश्यत्यविद्यया सार्द्धं हत्वा रोगमिवौषधम् ॥६॥
ईशेशितव्यसम्बन्धः प्रत्यगज्ञानहेतुजः । सम्यग् ज्ञानतमोध्वस्तावीश्वराणामपीश्वरः ॥७॥
वृहदारण्यकवार्त्ति० ॥
रागो द्वेषस्तथा मोहो हर्षः शोकोऽभिमानिता । कामः क्रोधश्च दर्पश्च तन्द्री चालस्यमेव च ॥८॥
इच्छा लोभस्तथा तापः परवृद्ध्युपतापिता । अज्ञानमेतन्निर्दिष्टं पापानां चैव या क्रिया ॥९॥
उभावेतौ समफलौ समदोषौ च भारत ! । अज्ञानं चापि लोभश्चाऽप्येकं जानीहि पार्थिव ! ॥१०॥
महाभा० शान्तिप० अ० १५६।६-७-६ ॥
अहो विनिकृतो लोको लोभेन च वशीकृतः । लोभक्रोधभयोन्मत्तो नात्मानमवबुध्यते ॥११॥
मूर्खानिति परानाह नात्मानं समवेक्षते । दोषान् क्षिपति चान्येषां नात्मानं शास्तुमिच्छति ॥१२॥
अध्रुवे जीवलोकेऽस्मिन् यो धर्ममनुपालयन् । जन्मप्रभृति वर्त्तेत प्राप्नुयात्परमां गतिम् ॥१३॥
महाभा० स्त्रीपर्व० अ० ४।१२-१४ ॥
पश्यत्यात्मानमन्यच्च यावद्वै परमात्मनः । तावत्सम्भ्राम्यते जन्तु र्मोहितो निजकर्मणा ॥१४॥
विष्णुधर्मे षडध्याय्याम् ॥
सर्वेषामेव दोषाणामज्ञानं परमो मतः । अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ॥१५॥
कामः क्रोधस्तथा लोभो हर्षो मानस्सदैव च । अज्ञानेनावृतं जन्तुं विविशन्ते द्विजोत्तमाः ! ॥१६॥

कहलाता है ॥ ५ ॥ और अविद्या के नाशक शब्द से जो अहं ब्रह्म ऐसी बुद्धि वृत्ति होती है, सो तो अविद्या को नाश करके उसके साथ ही नष्ट हो जाती है, जैसे रोग को नष्ट करके औषध स्वयं नष्ट होता है ॥ ६ ॥ अन्तरात्मा के अज्ञान रूप हेतु=कारण से जन्य ही ईश्वर जीव में ईश ईशितव्य=प्रेर्य प्रेरकादि रूप सम्बन्ध है, सम्यग् ज्ञान से अज्ञान को निवृत्ति होने पर यह आत्मा ईश्वरों का ईश्वर हो जाता है ॥ ७ ॥ स्नेह आसक्ति, वैर, मोह=अविवेक हर्ष=विषयजन्य तुष्टि, शोक = इष्ट वियोग जन्य दुःख, अभिमानित्व काम, क्रोध, दर्प, 'तन्द्री'=तन्द्रा, आलस्य, इच्छा, लोभ, ताप=सन्ताप-दुःख, अन्य की उन्नति से जन्य दुःख, ये सब अज्ञान कहे गये हैं, और पापियों की जो चोरी, व्यभिचार, हिंसा, मिथ्या भाषणादि क्रियाएँ हैं, सो भी अज्ञान है ॥ ८-९ ॥ हे भारत ! हे पार्थिव ! अज्ञान और लोभ ये दोनों तुल्य फल और दोष वाले हैं, इन दोनों को एक ही समझो ॥ १० ॥ आश्चर्य है कि लोक अत्यन्त निकृत=वञ्चित हैं, और लोभ से वशीभूत किये गये हैं, इससे लोभ, क्रोध, भय से उन्मत्त होकर आत्मा को नहीं जानते हैं, इससे अज्ञान रहता है ॥ ११ ॥ दूसरे को मूर्ख कहते हैं, परन्तु आप अपने को नहीं समझते हैं, अन्य के दोषों पर आक्षेप निन्दा करते हैं, परन्तु अपने आत्मा=मन को शासन=दण्ड करना नहीं चाहते हैं ॥ १२ ॥ अनित्य इस लोक में जन्म से ही धर्म का पालन करता हुआ, जो वर्तता है, सो अज्ञान को नष्ट कर के परम गति पाता है ॥ १३ ॥ अन्यथा अज्ञान से प्राणी जब तक अपने आत्मा को परमात्मा से अन्य वस्तु रूप देखता है, तब तक अपने कर्म से मोहित हो कर संसार में भ्रमता है ॥ १४ ॥ सब दोषों में अज्ञान भारी दोष रूप माना गया है, इस से अज्ञानी श्रद्धा रहित संशय युक्त मन वाला विनष्ट होता है ॥ १५ ॥ हे द्विजोत्तम ! अज्ञान से आवृत्त प्राणी में काम क्रोधादि सदा ही अधिक

अज्ञानादेव पापानि विचिनोत्यविचक्षणः । अज्ञानादुत्पथं गत्वा नरकं प्रतिपद्यते ॥१७॥
अज्ञानेनावृतो जन्तुः शुभे मार्गे न तिष्ठति । अज्ञानशमने यत्नस्ततो कार्यो विजानता ॥१८॥
शास्त्राऽन्वेषणं तस्य वृद्धसेवा तथैव च । तथा च गुरुशुश्रूषा त्वज्ञानशमनी मता ॥१९॥
लोकद्वये नास्ति महानुभावा अज्ञानतुल्यः पुरुषस्य शत्रुः ।
अतस्तु लोकद्वितये सुखार्थी ज्ञाने तु कुर्यात्पुरुषः प्रयत्नम् ॥२०॥ विष्णुधर्मोत्तरपु० खं० १ अ० २३६ ॥
अज्ञानप्रभवो मोहस्तस्माद्रागः प्रवर्त्तते । रागाद् द्वेषस्तथा क्रोधः क्रोधान्मानोऽभिजायते ॥२१॥
मानादपार्थकं कर्म कर्मतोऽशुभलक्षणम् । जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखशोकप्रवर्त्तनम् ॥२२॥
अप्रमादो वृद्धसेवा तत्प्रज्ञामूलमिष्यते । ज्ञानाद्धर्मः सुखं धर्मान्निःश्रेयोऽभ्युदयात्मकम् ॥
इष्टेन्द्रियार्थसंयोगो भवेदुदयलक्षणम् ॥२३॥ विष्णुधर्मोत्तरपु० खं० २ अ० २३३।२७५। इत्यादि ॥
यावन्नानात्वमज्ञानात्तावत्कालकृतं भयम् । अतोऽविद्यामुपास्ते यः सोऽन्धे तमसि मज्जति ॥२४॥
अध्यात्मरा० किष्किन्धाकां० स० १।८॥
दुःखहर्षभयक्रोधलोभमोहमदादयः । अज्ञानलिङ्गान्येतानि कुतः सन्ति चिदात्मनि ॥२५॥
देहाभिमानिनो दुःखं नादेहस्य चिदात्मनः । सम्प्रसादे द्वयाभावात्सुखमात्रं हि दृश्यते ॥२६॥
बुद्ध्याद्यभावात्संशुद्धे दुःखं तत्र न दृश्यते । अतो दुःखादिकं सर्वं बुद्धेरेव न संशयः ॥२७॥
अध्यात्मरा० युद्धकां० स० १।५१। इत्यादि ॥

प्रविष्ट होते हैं ॥ १६ ॥ अविवेकी अकुशल प्राणी अज्ञान से ही पापों का उपार्जन संग्रह करते हैं, अज्ञान से ही कुमार्ग में जा कर नरक में प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥ अज्ञान से आवृत्त प्राणी सुसङ्गादि वश शुभ मार्ग में प्राप्त होने पर भी उस में स्थिर नहीं होते हैं, इससे विवेकी को अज्ञान की निवृत्ति=सर्वथा अभाव में यत्न करना चाहिये ॥ १८ ॥ तिस विवेकी को शास्त्रान्वेषण=विचारादि कर्तव्य है, शास्त्र का विचार उस अज्ञान के नाश का हेतु है, तथा ज्ञान वृद्ध की सेवा, गुरु की सेवा अज्ञान की निवृत्ति करने वाली मानी गई है ॥ १९ ॥ हे महानुभाव ! लोक परलोक में अज्ञान के समान पुरुष का अन्य शत्रु नहीं है, इस से दोनों लोकों में सुख चाहने वाला पुरुष, अज्ञान की निवृत्ति के लिये ज्ञान विषयक प्रयत्न अवश्य करे ॥२०॥ अज्ञानजन्य मोह होता है, मोह से राग होता है, राग से काम विघातजन्य द्वेष तथा क्रोध होता है, क्रोध से अभिमान होता, तिस से निष्फल दुष्ट फलवाला कर्म होता है, तिस कर्म से अशुभ लक्षणवाला जन्मादि का प्रवर्तन = (सिद्धि-प्रवृत्ति) होता है ॥ २१-२२ ॥ प्रमाद का अभाव वृद्ध की सेवा प्रज्ञा = बुद्धि-ज्ञान के मूल कारण माने जाते हैं, और ज्ञान से धर्म होता है, धर्म से सुख होता है, जो सुख निःश्रेयः = मोक्ष और अभ्युदय = स्वर्गादि स्वरूप है । क्योंकि अभ्युदय रूप वह है, कि-जो इष्ट=काम्य इन्द्रियार्थ = विषय के साथ इन्द्रियों का संयोग है ॥ २३ ॥ और जब तक अज्ञान से नानात्व = भेद रागद्वेषादि रहता है, तब तक कालजन्य भय भी रहता है, इससे जो अविद्या जन्य भेदादि का सेवन करता है, सो अन्धतम = मोह भयादि में निमग्न होता-डूबता है ॥ २४ ॥ दुःख हर्षादि ये सब अज्ञान के जो लिङ्ग = चिह्न हैं, सो शुद्ध आत्मा में कैसे हो सकते हैं ? ॥ २५ ॥ देहाभिमानियों को दुःख है, देह रहित चेतनात्मा को नहीं है, इससे संप्रसाद=सुषुप्ति अवस्था में भेद के अभाव से शुद्ध सुख आत्मा मात्र रहता है ॥ २६ ॥ अत्यन्त शुद्ध

रागद्वेषनिवृत्तिश्च तज्ज्ञानं समुदाहृतम् । अज्ञानं तमसो मूलं कर्मद्वयफलं रजः ॥
कर्मजस्तु पुनर्देहो महादुःखं प्रवर्त्तते ॥२८॥
तस्मान्मूलमनर्थानामज्ञानमुपदिश्यते । तं शत्रुमवधार्यैकं ज्ञाने यत्नं समाचरेत् ॥२९॥
ज्ञानाद्धि त्यज्यते सर्वं त्यागाद् बुद्धि र्विरज्यते । वैराग्याच्छुध्यते चापि शुद्धसत्त्वेन मुच्यते ॥३०॥
पूर्वं वियोगो ज्ञानेन द्वितीयो रागसङ्क्षयात् । तृष्णाक्षयात्तृतीयस्तु विख्यातं मोक्षकारणम् ॥३१॥
ब्रह्माण्डपु० उपसंहारपा० अ० ३ ॥
ममेति मूलं दुःखस्य न ममेति निवर्त्तनम् । दत्तात्रेयो ह्यलर्काय इदमाह महामतिः ॥३२॥
अहमित्यङ्कुरोत्पन्नो ममेति स्कन्धवान् महान् । गृहक्षेत्रादिशाखाश्च यत्र दाराऽभिपल्लवः ॥३३॥
धनधान्ये महापत्रे पापमूलोऽतिदुर्गमः । विधिवत्सुखशान्त्यर्थं जातोऽज्ञानमहातरुः ॥३४॥
छिन्नो विद्याकुठारेण ते गता लयमीश्वरे । प्राप्य ब्रह्म रसं पीतं नीरजस्कमकण्टकम् ॥३५॥
गरुडपु० पूर्वखं० अ० २६ ॥
वर्णाश्रमाभिमानी यस्त्यक्त्वा ज्ञानं द्विजोत्तमाः । अन्यत्र रमते मूढः सोऽज्ञानी नाऽत्र संशयः ॥३६॥
क्रोधो भयं तथा लोभो मोहो भेदो मदस्तमः । धर्माधर्मौ च तेषां हि तद्वशाच्च तनुग्रहः ॥३७॥
लिङ्गपु० कालकूटोपाख्याने ॥

असंग आत्मा में बुद्धि के संग के अभाव से उस में दुःख नहीं दीखता है, इससे दुःखादि सब चिदाभास युक्त बुद्धि के ही धर्म हैं, इस में संशय नहीं है ॥ २७ ॥ रागद्वेषादि की निवृत्ति ही उस ब्रह्मात्मा के ज्ञान का फल स्वरूप कहा गया है, अज्ञान तमोगुण मोह आलस्यादि का मूल है, और शुभाशुभ दोनों कर्म रूप फल वाला रजोगुण है, कर्म जन्य फिर देह होती है, जिससे महादुःख होता है ॥ २८ ॥ तिससे अनर्थों का मूल रूप अज्ञान कहा जाता है, तिस अज्ञान को एक शत्रु जान कर ज्ञान के लिये यत्न करना चाहिये ॥ २९ ॥ विवेक ज्ञान से अभिमानादि सब का त्याग होता है, त्याग से बुद्धि रागादि रहित होती है, वैराग्य से बुद्धि शुद्ध भी होती है, शुद्धान्तःकरण से ज्ञान आत्मानुभव द्वारा मुक्त होता है ॥ ३० ॥ प्रथम विवेक ज्ञान से देहादि का वियोग=उस में विपरीत बुद्धि का अभाव होता है, फिर राग के नाश से देह सम्बन्धी का दूसरा वियोग होता है, ज्ञानानुभव द्वारा तृष्णा के नाश से वासनादि का वियोग तीसरा होता है, इससे यही मोक्ष का कारण विख्यात हैं ॥ ३१ ॥ ममता दुःख का मूल है, अज्ञान की निवृत्ति से ममता का अभाव दुःख के निवृत्ति का कारण है, यह बात महामति वाले दत्तात्रेय मुनि ने अलर्क के लिये कहा है ॥ ३२ ॥ अहङ्काररूप अङ्कुर से उत्पन्न, महान् ममता रूप स्कन्ध वाला, गृह क्षेत्रादि शाखा वाला, जिस में स्त्री ही सर्वत्र नव पत्र हैं, धन धान्य महान् पत्र हैं, पाप जिस का मूल है, अति दुर्गम वह अज्ञान रूप महावृक्ष सुख के नाश के ही लिये उत्पन्न हुवा है ॥ ३३–३४ ॥ विद्या रूप कुठार से उस वृक्ष के कटने पर वे अहङ्कारादि सब ईश्वर में लीन होते हैं, और अहङ्कारादि रहित जीव ने निरुपद्रव रजो रहित ब्रह्मानन्द को पाकर अनुभव किया ॥ ३५ ॥ हे द्विजोत्तम ! जो वर्णाश्रम के अभिमानी, ज्ञान को त्याग कर अन्य में रमता है सो अज्ञानी मूढ है, इस में संशय नहीं है ॥ ३६ ॥ तिसको उस अज्ञान मोह के वश रहने से क्रोध भयादि होते हैं, तिनसे धर्माधर्म होते हैं, तिनसे शरीर का ग्रहण होता है ॥ ३७ ॥

आत्मा विनिष्कलो ह्येको देहो बहुभिरावृतः । तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम् ॥३८॥
आत्मा ज्ञानमयः पुण्यो देहो मांसमयोऽशुचिः । तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम् ॥३९॥
आत्मा नियामकश्चान्त देहो बाह्यो नियम्यकः । तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम् ॥४०॥
आत्मा प्रकाशकः स्वच्छो देहस्तामस उच्यते । तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम् ॥४१॥
आत्मा नित्यो हि चिद्रूपो देहोऽनित्यो ह्यसन्मयः । तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम् ॥४२॥
अपरोक्षानुभू० ।

अविद्या त्वविचारेण भासते तन्निरूपणे । अविद्वान् वाऽथ विद्वान् वा नोभावप्यत्र शक्नुतः ॥४३॥
अविद्यावानविद्यात्वं न निरूपयितुं क्षमः । ब्रह्मबोधात्पुरा तस्या वस्तुत्वेनैव भासनात् ॥४४॥
न निरूपयते विद्वान् विद्यादृष्टयैव बाधनात् । वेद्यं ब्रह्मैव विद्यायां भासते बाध्यते तु सा ॥४५॥
अविद्याया अविद्यात्वमिदमेवात्र लक्षणम् । मानायोगासहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते ॥४६॥
तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः । अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति ॥४७॥
वार्त्तिकसारेऽधिकारपरीक्षायाम् ॥

अध्यात्ममधिदैवं च जीवेशत्वकल्पिका । द्विधा शक्तिरविद्याया द्वैविध्यं तद्विविच्यते ॥४८॥
स्वाश्रयं मोहयेद्याऽसौ शक्ति जीवत्वकल्पिका । साऽस्य ब्रह्मत्वमावृत्य जनयेज्जीवताभ्रमम् ॥४९॥

आत्मा सब कला अवयव कर्मादि से रहित है, और देह बहुत अवयवादि दोषयुक्त है, तहाँ इन दोनों की लोग एकता समझते हैं, इससे भारी अज्ञान अविवेक अन्य क्या होगा ? यह भारी अज्ञान है ॥ ३८ ॥ आत्मा ज्ञान स्वरूप शुद्ध पवित्र है, देह मांसादिरूप अपवित्र है, इन की एकता के ज्ञान से अन्य भारी अज्ञान क्या होगा ? ॥ ३९ ॥ अन्तर्वर्ती साक्षी नेता आत्मा है, और बाहर के विषयरूप नियम का विषय पराधीन देह है, इन की एकता के ज्ञान से अन्य अज्ञान क्या होगा ? ॥ ४० ॥ आत्मा प्रकाशक स्वच्छ = अतिनिर्मल है, देह तामस = तमोमय है, इन की एकता अज्ञान से है ॥ ४१ ॥ आत्मा नित्य और चेतन स्वरूप है देह अनित्य और असत् = मायामय क्षणभंगुर है, इन की एकता अज्ञान रूप है ॥ ४२ ॥ अविद्या = (अज्ञान) अविचार से भासती है, उस के निरूपण = विचार साधन में अविद्वान् और विद्वान् दोनों यहाँ समर्थ नहीं होते हैं ॥ ४३ ॥ क्योंकि अविद्वान् मिथ्यात्व रूप अविद्यात्व के निरूपण करने के लिये समर्थ नहीं है, क्यों कि ब्रह्मज्ञान से प्रथम उस अविद्या की सत्य रूप से ही प्रतीति होती है ॥ ४४ ॥ और विद्वान् भी उसका निरूपण नहीं करता है, क्योंकि ज्ञानदृष्टि से अविद्या की निवृत्ति होती है, इससे ज्ञान होने पर वेद्य ब्रह्म ही भासता है, और वह अविद्या नष्ट होती है ॥ ४५ ॥ अविद्या का जो अविद्यास्वरूप यही यहाँ आसाधारण लक्षण माना जाता है, इष्ट है कि–जो प्रमाण के साथ पूर्णसम्बन्धासहिष्णुता है, अर्थात् प्रमाण के उदय से विलीनता ही अविद्यात्व है ॥ ४६ ॥ इसीसे 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यजन्य सम्यग् ज्ञान के जन्ममात्र से कार्यों के सहित अविद्या के त्रैकालिक अभाव का निश्चय होता है ॥ ४७ ॥ अध्यात्म और अधिदैव रूप तथा जीवत्व ईश्वरत्व का साधक अविद्या की शक्ति दो प्रकार की है, वही दोनों प्रकार विवेक पूर्वक आगे कहे जाते हैं ॥ ४८ ॥ जो शक्ति अध्यात्मरूप अपने आश्रय जीवात्मा को मोहित करती है, सो जीवत्व की साधक है, सो शक्ति इस की ब्रह्मरूपता को आवृत्त करके जीवत्व-

जीवोऽहमिति मूढोऽन्यमुपास्ते देवतामयम् । सोऽयं मोहकरी शक्ति र्विद्ययैव विनश्यति ॥५०॥
न मोहयति या शक्तिः स्वाश्रयं साऽधिदैविकी । आविर्भावतिरोभावौ व्याकृताव्याकृताभिधौ ॥५१॥
प्रतिभासत एवैषा विदुषोऽप्यत्र जीवतः । तस्याः प्रारब्धभोगान्ते प्रतिभासो निवर्त्तते ॥५२॥
वृ० वार्त्तिकसा० अ० १ ब्रा० ४।११५४। इत्यादि ॥
यद्यज्ज्ञाननिवर्त्यं स्यादज्ञानं तत्तदिष्यताम् । अज्ञानस्यैव नान्यस्य यतो ज्ञानं निवर्त्तकम् ॥५३॥
नाविद्या यदि बन्धः स्यात्तदा नश्येन्न विद्यया । विद्यानाश्या ह्यविद्यैव ततोऽविद्यैव बन्धनम् ॥५४॥
इति पञ्चममज्ञानप्रकरणं समाप्तम् ॥ विचारबिन्दुपरिच्छे० १।३४-३६ ॥

अथ मनः ॥ ६ ॥

विकल्पविप्लवै र्भ्रान्तं मनःसागरदुस्तरम् । निस्तीर्णं येन तेनात्र मायाऽविद्यादिकं जितम् ॥१॥
अनित्याशुचिदुःखेष्वनात्मन्यप्यन्यथा मतिः । कार्याऽविद्या मनोरूपा मनोनाशेन नश्यति ॥२॥
कामः सङ्कल्प इत्याद्या मनोरूपा न संशयः । कामाद्यास्तु सदा प्रोक्ता अविद्यारूपिणः स्मृतौ ॥३॥ उक्तं च—
चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् । यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥४॥
चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् । प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते ॥५॥

भ्रम को उत्पन्न करती है ॥ ४९ ॥ मैं जीव हूँ इस प्रकार मोह युक्त पुरुष देवतामय अन्य पुरुष की उपासना करता है, और यह मोह को उत्पन्न करने वाली अविद्या की शक्ति विद्या से ही नष्ट होती है ॥ ५० ॥ जो अपने आश्रय को मोहित नहीं करती है, सो आधिदैविकी है, और उस अविद्या का आविर्भाव=(प्रकटता) और तिरोभाव=(गुप्तता) ही क्रम से व्याकृत और अव्याकृत=व्यक्ताऽव्यक्त नाम वाले हैं ॥ ५१ ॥ जीवित विद्वान् को भी यह अविद्या बाधित रूप से भासती ही है, किन्तु प्रारब्ध भोग के अन्त में उस अविद्या का भासना निवृत्त होता है ॥ ५२ ॥ और जो २ गुण धर्मादि वस्तु ज्ञान से निवृत्त हों, उन सब को अज्ञान समझना चाहिये, जिससे ज्ञान अज्ञान का ही नाशक होता है, अन्य का नहीं ॥ ५३ ॥ यदि जन्मादि रूप संसार बन्धन अविद्या रूप होगा, तभी ज्ञान से नष्ट होगा, अविद्या रूप नहीं होने पर ज्ञान से नष्ट नहीं हो सकता है । और विद्या से नष्ट होने वाली अविद्या ही है, अतः अविद्या रूप बन्धन है ॥ ५४ ॥

पाँचवाँ अज्ञान प्रकरण समाप्त ॥

अथ मन—विकल्प=संशय-भ्रम रूप विप्लव=उपद्रव से भ्रान्त=चंचल मन रूप दुस्तर समुद्र को जिसने तरा, उस पुरुष ने माया अविद्या आदि को भी जीत लिया ॥ १ ॥ क्योंकि "अनित्याऽशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या" इस योग सूत्र के अनुसार जो अनित्य अपवित्र दुःख अनात्मा में उलटा भ्रम रूप ज्ञान है, सो कार्य रूप अविद्या मन की वृत्ति रूप है, इससे मन के नाश से वह अविद्या भी नष्ट होती है ॥ २ ॥ काम, संकल्प, लज्जा, आदि को श्रुति में मन रूप कहा गया है, इससे कामादि मन रूप हैं, इस में संशय नहीं है. और पूर्वोक्त स्मृति में कार्य कारण में अभेद दृष्टि से कामादि अविद्यारूप वाले कहे गये हैं ॥ ३ ॥ कहा है कि चित्त ही संसार रूप है, उस को प्रयत्न से शुद्ध करे, जिस-चित्त वाला मनुष्य रहता है, तन्मय तद्रूप हो जाता है, यह सनातन=अनादि गुह्य=गुप्त तत्त्व है ॥ ४ ॥ चित्त के प्रसाद प्रसन्नता स्वच्छता से शुभाशुभ कर्म को नष्ट करता है, और प्रसन्न मन वाला आत्मा में

समासक्तं यथा चित्तं जन्तो विंषयगोचरे । यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥६॥
मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च । अशुद्धं कामसङ्कल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥७॥
लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम् । यदा यात्यमनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥८॥
तावदेव निरोद्धव्यं हृदि यावत्क्षयं गतम् । एतज्ज्ञानं च मोक्षं च शेषास्तु ग्रन्थविस्तराः ॥९॥
समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो, निवेशितस्याऽऽत्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा, स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥ १० ॥
अपामपोऽग्निरग्नौ वा व्योम्नि व्योम न लक्षयेत् । एवमन्तर्गतं चित्तं पुरुषः प्रतिमुच्यते ॥११॥
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥१२॥
मैत्रायण्युपनिष० प्र० ४ ॥
मन एव जगत् सर्वं मन एव महान् रिपुः । मन एव हि संसारो मन एव जगत्त्रयम् ॥१३॥
तेजोविन्दूप० प्र० ५।९८ ॥
विरिञ्चो मनसो रूपं विरिञ्चस्य मनो वपुः । पृथ्व्यादि विद्यते नैव तेन पृथ्व्यादि कल्पितम् ॥१४॥
योगवासिष्ठप्र० ३।३।३५ ॥
चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशदूषितम् । तदेव तद्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥१५॥
योगवा० प्र० ३।८४।३६ ॥

स्थिर हो कर अक्षय अव्यय अविनाशी सुख को प्राप्त करता है ॥ ५ ॥ प्राणी का चित्त जैसे विषय रूप मार्ग में आसक्त है, इस प्रकार यदि ब्रह्म में आसक्त हो, तो बन्धन से कौन नहीं मुक्त हो ? ॥ ६ ॥ शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार का मन कहा गया है, तहाँ काम संकल्परूप मन अशुद्ध है, कामादि से रहित मन शुद्ध है ॥ ७ ॥ लय=सुषुप्ति विक्षेप=स्वप्न चञ्चलता से रहित, अत्यन्त निश्चल=एकाग्र मन को कर के जब मनुष्य अमनीभाव=मनरहितत्व को प्राप्त करता है, तब उस को वह परम पद=मोक्ष है ॥ ८ ॥ तब तक मन हृदय में रोकने स्थिर करने योग्य है, कि जब तक वह क्षय=एकाग्रता-आत्मलीनता को प्राप्त हो, क्योंकि इस प्रकार मन का क्षय ही ज्ञान और मोक्ष जानो, इससे अन्य उपदेश ग्रन्थ के विस्तार मात्र है ॥ ९ ॥ और समाधिनिवारित मल=दोष वाले आत्मा में निवेशित=स्थापित चित्त=मन को जो अपूर्व सुख होता है, सो उस समय वाणी से नहीं कहा जा सकता, किन्तु स्वयं वह सुख अन्तःकरण से अनुभूत होता है ॥ १० ॥ समूह जल के मध्य में पड़ा हुआ अन्य जल, अग्नि समूह में मिली हुई अग्नि, महाकाश में मिला हुआ घटाकाश जैसे पृथक् नहीं दीखते हैं, तैसे ही अन्तर्गत आत्मलीन चित्त जब पृथक् नहीं दीखता है, तब पुरुष चित्त निमित्तक संसार से मुक्त होता है ॥ ११ ॥ मन ही मनुष्यों के बंध=संसार और मोक्ष का कारण है, तहाँ विषयों में आसक्त मन बन्धन का कारण है, और निर्विषय=विषयासक्तिरहित मन मोक्ष का कारण है ॥ १२ ॥ विषयासक्त मन ही सब जगत् रूप है, और महान् शत्रु रूप दुःख प्रद है, मन ही जन्म मरणादि संसार रूप है, और मन ही जगत्त्रय=तीन अवस्था लोक रूप है ॥ १३ ॥ समष्टि मन के ही स्वरूप सृष्टिकर्ता ब्रह्मा है, और ब्रह्मा का शरीर रूप मन है, पृथिवी आदि भूत भौतिक वस्तु सत्य नहीं हैं, किन्तु तिस मन से ही पृथिवी आदि कल्पित=मिथ्या सिद्ध हैं ॥ १४ ॥ रागद्वेषादि रूप क्लेशों से दूषित मलिन मन ही संसारबन्धन रूप हैं, और वही क्लेशों से रहित होने पर

मनो हि जगतां कर्तृ मनो हि पुरुषः परः । मनः कृतं कृतं लोके न शरीरकृतं कृतम् ॥१६॥
योगवा० प्र० ३।८६।१ ॥

आब्रह्मस्थावरान्तं च सर्वदा सर्वजातयः । सर्व एव जगत्यस्मिन् द्विशरीराः शरीरिणः ॥१७॥
एकं मनः शरीरं तु क्षिप्रकारि सदा चलम् । अकिञ्चित्करमन्यत्तु शरीरं मांसनिर्मितम् ॥१८॥
मनो नाम द्वितीयोऽयं कायः कायवतामिह । स आयत्तोऽपि नायत्तो भूतानां भुवनत्रये ॥१९॥
यथा यथाऽसौ यतते मनो देहो हि देहिनाम् । तथा तथाऽसौ भवति स्वनिश्चयफलैकभाक् ॥२०॥
सफलो मांसदेहस्य न कश्चित्पौरुषक्रमः । मनोदेहस्य सफलं सर्वमेव स्वचेष्टितम् ॥२१॥
पवित्रमनुसन्धानं चेतः स्मरति सर्वदा । निष्फलास्तत्र शापाद्याः शिलायामिव सायकाः ॥२२॥
पतत्वम्भसि वह्नौ वा कर्दमे वा शरीरकम् । मनो यदनुसन्धत्ते तदेवाप्नोति तत्क्षणात् ॥२३॥
न कदाचन संसारे सावधानमना मनाक् । स्वप्नेऽपि कश्चिद् दृश्ये वा दोषजालैः खिलीकृतः ॥२४॥
मनसैव मनस्तस्मात्पौरुषेण पुमानिह । स्वकमेव स्वकेनैव योजयेत्पावने पथि ॥२५॥
न तदस्ति जगत्कोशे शुभकर्मानुपातिना । यत्पौरुषेण शुद्धेन न समासाद्यते जनैः ॥२६॥
योगवा० प्र० ३।९२।६–इत्यादि ॥

अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य सर्वशक्ते र्महात्मनः । सङ्कल्पशक्तिरचितं यद्रूपं तन्मनो विदुः ॥२७॥
भावः सदसतो र्मध्ये नृणां चलति यश्चलः । कलनोन्मुखतां यातस्तद्रूपं मनसो विदुः ॥२८॥

जन्मादि संसार का अन्त=नाश रूप कहा जाता है ॥ १५ ॥ मन ही जगत् का कर्ता है, समष्टि मन ही पर पुरुष=हिरण्यगर्भ है, इस से मन का किया काम लोक में सिद्ध होता है, शरीर का किया नहीं ॥ १६ ॥ ब्रह्मा से स्थावर तक सब जाति वाले सब देही सदा इस जगत् में दो शरीर वाले होते हैं ॥ १७ ॥ उस में एक सूक्ष्म शरीर मनःप्रधान वाला है, सो मन शीघ्र कार्यकारी और सदा चल=चञ्चल है. मांसादि से निर्मित एक अन्य स्थूल शरीर तो कुछ करने वाला नहीं है ॥ १८ ॥ देही को जो यह यहाँ मन नाम वाला देह है, सो तीनों लोक में प्राणियों के स्वाधीन होते हुए भी स्वाधीन नहीं है ॥१९॥ देही का यह मन-रूप देह जैसा २ यत्न करता है, तैसा २ वह अपने निश्चय के अनुसार फल का भोक्ता होता है ॥ २० ॥ मांसमय देह का कोई भी पुरुषार्थ रूप क्रम सफल नहीं होता है, और मन रूप देह का अपना सब व्यापार सफल होता है ॥ २१ ॥ जो चित्त=मन पवित्र अनुसन्धान=विचारादि का सदा स्मरण करता है, उस मन वाले के प्रति किसी के शापादि भी इसी प्रकार निष्फल होते हैं. कि जैसे पत्थर पर बाण निष्फल होते हैं ॥२२॥ स्थूल शरीर चाहे आग्न में वा कादो में गिरे, परन्तु मन जिसका अनुसन्धान=ध्यान विचार करता हैं, उसी को वह उस क्षण से पाता है ॥ २३ ॥ विवेक युक्त सावधान मन वाले कोई इस संसार में कभी स्वप्ने में भी वा किसी दृश्य में दोष समूहों से खिलीकृत=खंडित बद्ध नहीं होते हैं ॥ २४ ॥ तिससे पुरुष अपने मन को अपने मन और पुरुषार्थ से ही सदा यहाँ पावन मार्ग में लगावे ॥ २५ ॥ इस जगत् रूप कोश=कोष-पात्र में वह वस्तु नहीं है, कि जो वस्तु शुभ कर्मानुगत शुद्ध पुरुषार्थ द्वारा जनों से नहीं प्राप्त की जा सके, अर्थात् शुभ कर्म विषयक पुरुषार्थ से संसार की सब उत्तम वस्तु मिलती ही हैं ॥ २६ ॥ सर्वशक्ति वाले मायी ईश्वर रूप आत्मतत्त्व के सङ्कल्पशक्ति से रचित जो सङ्कल्प शक्ति वाला रूप उसको महात्मा लोग मन समझते हैं ॥ २७ ॥ सदसत् के मध्य में जो मनुष्यादि का भाव=तात्पर्य चंचल चलता

नाहं वेदावभासात्मा कुर्वाणोऽस्मीति निश्चयः। तस्मादेकान्तकलनस्तद्रूपं मनसो विदुः ॥२९॥
मनो हि न जडं राम ! नापि चेतनतां गतम् । म्लानाऽजडा तदा दृष्टि र्मन इत्येव कथ्यते ॥३०॥
मध्ये सदसतो रूपं प्रतिभूतं यदाविलम् । जगतः कारणं नाम तदेतच्चित्तमुच्यते ॥३१॥
तस्येमानि विचित्राणि नामानि कल्पितान्यलम् । अहङ्कारमनोबुद्धिजीवाद्यानीतराणि च ॥३२॥
योगवा० प्र० ३।९६।३। इत्यादि ॥
स आत्मा सर्वगो नाम नित्योदितमहावपुः । यन्मनाङ्मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ॥३३॥
योगवा० प्र० ३।१००।१४॥
एतावन्मात्रकं मन्ये रूपं चित्तस्य राघव ! । यद्भावनं वस्तुनोऽन्त र्वस्तुत्वेन रसेन च ॥३४॥
योगवासि० प्र० ५।९१।४० ॥
चिद्व्योम्नोऽत्यजतो रूपं स्वप्नवद्व्यस्तवेदनम् । तदिदं हि मनो राम ! ब्रह्मेत्युक्तः पितामहः ॥३५॥
योगवासि० प्र० ६–२स० १७३।१६ ॥
मनो नियमितं येन सर्वेच्छासु सदा गतम् । तस्य ज्ञाने च मोक्षे च कारणं मन एव हि ॥३६॥
मनो नियमने यत्नः कार्यः प्रज्ञावता सदा । मनसा सुगृहीतेन ज्ञानाप्तिरखिला ध्रुवम् ॥३७॥
तन्मनः क्षमया ग्राह्यं यथा वह्निश्च वारिणा । एकया क्षमया सर्वो नियमः कथितो बुधैः ॥३८॥
स्कन्दपु० ख० ६।२३४ ॥
धैर्योपपत्ति र्व्यक्तिश्च विसर्गः कल्पना क्षमा । सदसच्चाशुता चैव मनसो नव वै गुणाः ॥३९॥
महाभा० शान्तिप० अ० २५५।६ ॥

है कि यह क्या है ? इत्यादि, वही कलना=विचार संशय की उन्मुखता को प्राप्त जो भाव है, उसको मन का रूप जानते हैं ॥ २८ ॥ ज्ञान स्वरूप भी मैं कुछ नहीं जानता हूँ, अकर्ता भी सब कार्य करता हूँ, इत्यादि निश्चय रूप जो उस अकर्ता ज्ञान स्वरूप से एकान्त कलन=अवश्य होता है, उसको मन का रूप जानते हैं ॥ २९ ॥ हे राम ! मन जड़ नहीं है, न चेतनता को प्राप्त है, किन्तु अजडा दृष्टि= चिदात्मा ही "मन्वानो मनो भवति" इस श्रुति के अनुसार संसार दशा में मलिन उपाधिवाला होकर मन कहलाता है ॥ ३० ॥ प्रतिभूत = सब प्राणियों में सदसत् के मध्य में जो आविल=कलुषित मलिन रूप है, वह जगत् का प्रसिद्ध कारण चित्त कहलाता है ॥३१॥ उसी के अहङ्कार, मन, बुद्धि, जीवादि और अन्य भी ये विचित्र नाम बहुत कल्पित हैं ॥ ३२ ॥ वह ब्रह्म स्वरूप आत्मा सर्वगत=व्यापक प्रसिद्ध है, और सदा प्रकाशमान महा स्वरूप वाला है, वह जो जब मनाक्=किञ्चित् मनन शक्ति को धारण करता है, तब मन कहा जाता है ॥ ३३ ॥ और हे राघव ! बाह्याभ्यन्तर अनात्म वस्तु को जो सत्य वस्तु रूप से और रस = राग से जो भावना करना, इतना मात्र ही चित्त के स्वरूप को समझता हूँ ॥ ३४ ॥ हे राम ! अपने स्वरूप स्वभाव को नहीं त्यागता हुआ चिदाकाश=ब्रह्म को जो स्वप्न के समान व्यस्तवेदन=विपरीत ज्ञान होता है, वही यह मन कहलाता है, तथा समष्टि मन वाला सोपाधिक ब्रह्म पितामह इस शब्द से ही कहा गया है ॥ ३५ ॥ सब इच्छाओं में सदा प्राप्त मन को जिसने वश में, इच्छा रहित किया, उसका मन ही ज्ञान और मोक्ष का कारण है ॥ ३६ ॥ बुद्धिमान् को सदा मन के निरोध के लिये यत्न कर्तव्य है, क्योंकि सुगृहीत=निरुद्ध वशवर्ती मन से ज्ञान की प्राप्ति अवश्य पूर्ण होती है ॥ ३७ ॥ वह मन क्षमा=तितिक्षा और क्षान्ति से ग्राह्य=वश करने योग्य है, जैसे जल से अग्नि शान्ति के योग्य है, और एक क्षमा से ही सब नियम साध्य होते हैं, यह विद्वानों द्वारा कहा गया है ॥ ३८ ॥ धैर्य के साथ

सदा सदानन्दपदे निमग्नं मनो मनोभावमपाकरोति ।
गतागतायासमपास्य सद्यः परापरातीतमुपैति तत्त्वम् ॥४०॥ गीतायामधुसूदनीटीकायाम् ॥

सर्वत्यागश्च निर्वाणं निर्वाणार्थि च मे मनः । त्यक्तव्यं चेन्मया सर्वं वरं सत्त्वेषु दीयताम् ॥४१॥
शिक्षां रक्षितुकामेन चित्तं रक्ष्यं प्रयत्नतः । न शिक्षा रक्षितुं शक्या चलं चित्तमरक्षता ॥४२॥
अदान्ता मत्तमातङ्गा न कुर्वन्तीह तां व्यथाम् । करोति यामवीच्यादौ मुक्तश्चित्तमतङ्गजः ॥४३॥
बद्धश्चेच्चित्तमातङ्गः स्मृतिरज्ज्वा समन्ततः । भयमस्तं गतं सर्वं कृत्स्नं कल्याणमागतम् ॥४४॥
निवृत्तपापचित्तस्य नास्ति लोके भयं द्विषः । सुखहानिर्न तस्यास्ति यस्य चित्तं वशे स्थितम् ॥४५॥

बोधिचर्यावतारपञ्जि० परिच्छे० ३-५ ॥

मनः कर्ममयं प्राहुः सर्वप्राणभृतां बुधाः । तत्तथा चेष्टते तेषां भावि कर्मफलं यथा ॥४६॥

इत्यभियुक्ताः ॥

असम्यग् दर्शनं यस्मादनात्मन्यात्मभावनम् । यदवस्तुनि वस्तुत्वं तच्चित्तं विद्धि राघव ! ॥४७॥
दृढाभ्यासपदार्थैकवासनादतिचञ्चलम् । चित्तं सञ्जायते जन्मजरामरणकारणम् ॥४८॥

योगवासि० प्र० ५।९१।३४-३५ ॥

यो नित्यमध्यात्ममयो नित्यमन्तर्मुखः सुखी । नित्यं चिदनुसन्धानो मनः शोकैर्न बाध्यते ॥४९॥

योगवा० प्र० ५।६४।६ ॥

उपपत्ति = ऊहापोह की कुशलता व्यक्ति = स्मरण विसर्ग = भ्रान्ति कल्पना = मनोरथ इच्छा क्षमा = क्षान्ति सदसत् = वैराग्यादि आशुता = चञ्चलता ये मन के नव गुण हैं ॥ ३९ ॥ ज्ञान से सत्यानन्द वस्तु में निमग्न मन, मन के स्वभाव चञ्चलता आदि को त्याग देता है, और गमनागमन के आयास = श्रम को शीघ्र ही त्याग कर कार्य कारण से रहित शुद्ध तत्त्व को प्राप्त करता है ॥ ४० ॥ और सब का त्याग निर्वाण = मोक्ष है, और यदि निर्वाणार्थी = मोक्षार्थी मेरा मन है, और मुझे सब का त्याग करना है, तो श्रेष्ठ यह बात है, कि त्यागार्ह धन धान्य द्रव्यादि तदर्थी प्राणियों में अर्पित किये जायँ ॥ ४१ ॥ गुरु से प्राप्त शिक्षा की रक्षा करने की इच्छा वाले को अपने चित्त की रक्षा प्रयत्न से कर्तव्य है, क्यों कि चंचल चित्त की रक्षा रहित से शिक्षा की रक्षा नहीं हो सकती ॥ ४२ ॥ अदान्त = अशिक्षित मतवाला हाथी भी उस व्यथा = पीड़ा को नहीं कर सकता कि जिस व्यथा को अवीचि आदि नरकों में अवशीतभूत मन रूप हाथी करता है ॥ ४३ ॥ यदि स्मरणादि रूप रस्सी से मन रूप हाथी सब तरफ से बाँधा गया, तो सब भय नष्ट हो गये और सब कल्याण प्राप्त हो गया ॥ ४४ ॥ पाप रहित चित्त वाले को वैरी का भय लोक में नहीं है और जिस का चित्त वश में है, स्थिर है, तिस के सुख की हानि नहीं है ॥ ४५ ॥ विद्वान् लोग सब प्राणियों के मन को कर्ममय कहते हैं, इस कर्ममयता से ही वह मन उसी प्रकार की चेष्टा करता है, कि उन प्राणधारियों को कर्म का फल जैसा भावी रहता है ॥ ४६ ॥ जिससे अनात्मा = देहादि में आत्मबुद्धि असम्यग् दर्शन = अज्ञान भ्रम है, उसी से जो अवस्तु = असत्य में सत्यता का निश्चय है, हे राघव ! उसको चित्त समझो ॥ ४७ ॥ दृढ़ अभ्यास से जो देहादि पदार्थ का एक वासन = सत्यादि रूप से चिन्तन उससे चित्त अत्यन्त चञ्चल होता है, और वही चञ्चल चित्त जन्मादि का कारण होता है ॥ ४८ ॥ जो प्राणी सदा अध्यात्ममय = आत्मविचारपरायण सदा अन्तर्मुख = बाह्यासक्तिरहित

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ५० ॥
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ५१ ॥
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजानाम् ।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ५२ ॥ यजुर्वे॰ अ॰ ३४ ॥

इति षष्ठं मनःप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ मनोवृद्धिमनोनाशश्च ॥ ७ ॥

चित्तस्थौल्यं भवेद्येन तं प्रयत्नेन वर्जयेत् । तत्त्यागेन शनैश्चित्तं समूलं वै विनश्यति ॥१॥
विधेय आशु यत्नोऽसौ येन चित्तं विनश्यति । चित्तनाशेऽक्षयं सौख्यं निर्दुःखं वर्त्तते सदा ॥२॥
विचाराभ्युदयाच्चित्तं वीतरागस्य सन्मतेः । शमादिशालिनः साधो र्नश्यत्येव विवेकिनः ॥३॥ अत्र चोक्तम्—
अनात्मज्ञो हि दुःखेहः प्रस्फुरन्नपि भूतले । शव एव भ्रमत्युच्चैरात्मज्ञस्तु सचेतनः ॥४॥
दूरादात्मज्ञता याति चित्ते पीवरतां गते । आलोकलक्ष्मीरभितो महामेघ इवोत्थिते ॥५॥
भोगाभोगतिरस्कारैः कार्श्यं नेयं शनै र्मनः । रसापहारैस्तज्ज्ञेन कालेनाजीर्णपर्णवत् ॥६॥

और सदा चिदानन्द के अनुसन्धान=ध्यान वाला रहता है, वह सुखी रहता है, उस का मन शोकों से पीडित नहीं होता है ॥ ४९ ॥ जागते हुए पुरुष का जो मन दूर देश में जाता है, दैव=प्रकाश रूप आत्मदेव के ज्ञान का हेतु 'तदु'=जो मन है, और सुप्त=सोये पुरुष का जो मन गमन के समान चल आता है, दूरगामी नेत्रादि ज्योतियों की ज्योति, एक वह मेरा मन, कल्याण रूप संकल्प वाला हो ॥ ५० ॥ अपस = कर्मी, अपस्वी, विज्ञ, धीर लोग 'विदथ' = यज्ञीय पदार्थ का ज्ञान होने पर यज्ञ में जिस मन से कर्म करते हैं, और जो मन अपूर्व तथा यक्ष=पूज्य हैं, प्रजा के अन्तर्गत है, सो मेरा मन शुभ सङ्कल्प वाला हो ॥ ५१ ॥ जो मन विशेष ज्ञान का हेतु सामान्य ज्ञान का हेतु ;रूप प्रज्ञान और चेत है, और धैर्य का हेतु है, तथा प्रजाओं के अन्दर अमृत ज्योति आत्म स्वरूप है, जिसके बिना कोई कर्म नहीं किया जाता है, वह मेरा मन शिवसङ्कल्प वाला हो ॥ ५२ ॥ छठवां मनःप्रकरण समाप्त ॥

अथ मनोबुद्धिमनोनाश—चित्त की स्थूलता, वृद्धि जिस से हो उस को प्रयत्न से त्यागे । उसके त्याग से ही धीरे २ मूल सहित चित्त विनष्ट होता है ॥ १ ॥ वह यत्न शीघ्र कर्तव्य है, कि जिस से चित्त विनष्ट होता है, चित्त के नाश होने पर दुःख रहित अक्षय सुख सदा रहता है ॥ २ ॥ विचार के अभ्युदय =प्रकट होने से विवेकी विरक्त श्रेष्ठ बुद्धि वाले शमदमादि युक्त साधु का चित्त अवश्य नष्ट होता है ॥३॥ दुःखद ईहा=चेष्टा वाला अज्ञानी भूतल में गमनादि करता हुआ भी मानो शव=मृतक रूप ही बहुत भ्रमण करता है, आत्मज्ञानी ही सचेतन=जीवित है ॥ ४ ॥ और चित्त के पीवर=स्थूल होने पर कुछ प्राप्त आत्मज्ञान भी इस प्रकार दूर हो जाता है. कि जैसे महामेघ के उत्पन्न होने पर आलोक=प्रकाश रूप लक्ष्मी दूर होती है ॥ ५ ॥ इस से प्राप्त भोग के आभोग=सेवन के तिरस्कारों = अनादर त्यागादि से

अनात्मन्यात्मभावेन देहमात्रास्थयाऽनया । पुत्रदारकुटुम्बैश्च चेतो गच्छति पीनताम् ॥७॥
अहङ्कारविकारेण ममतामलहेलया । इदं ममेति भावेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥८॥
जरामरणदुःखेन व्यर्थमुन्नतिमीयुषा । दोषाशीविषकोशेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥९॥
आधिव्याधिविलासेन समाश्वासेन संसृतेः । हेयादेयप्रयत्नेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥१०॥
स्नेहेन धनलोभेन लाभेन मणियोषिताम् । आपातरमणीयेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥११॥
दुराशाक्षीरपानेन भोगानिलबलेन च । आस्थादानेन चारेण चित्ताहिर्याति पीनताम् ॥१२॥

योगवासि० प्र० ५।५०।५४ इत्यादि ॥

द्विविधश्चित्तनाशोऽस्ति सरूपोऽरूप एव च । जीवन्मुक्तः सरूपः स्यादरूपोऽदेहमुक्तजः ॥१३॥
चित्तसत्तेह दुःखाय चित्तनाशः सुखाय च । चित्तसत्तां क्षयं नीत्वा चित्तं नाशमुपानयेत् ॥१४॥
तामसै र्वासनाजालै र्व्याप्तं यज्जन्मकारणम् । विद्यमानं मनो विद्धि तद्दुःखायैव केवलम् ॥१५॥
प्राक्तनं गुणसम्भारं ममेति बहु मन्यते । यत्तु चित्तमतत्त्वज्ञं दुःखितं जीव उच्यते ॥१६॥
विद्यमानं मनो यावत्तावद्दुःखक्षयः कुतः । मनस्यस्तं गते जन्तोः संसारोऽस्तमुपागतः ॥१७॥
सुखदुःखदशाधीरं साम्यान्न प्रोद्धरन्ति यम् । निःश्वासा इव शैलेन्द्रं चित्तं तस्य मृतं विदुः ॥१८॥

और अप्राप्त भोगों के रस = राग त्यागों से विद्वान् को मन की इस प्रकार धीरे २ कृशता = तनुता करनी चाहिये, कि जैसे काल से जीर्ण पत्रों को किया जाता है ॥ ६ ॥ अनात्मा में आत्मता की भावना देह मात्र में यह आस्था = यत्न स्थिति पुत्र, स्त्री, कुटुम्बादि, इन सब से चित्त स्थूलता को प्राप्त करता है ॥ ७ ॥ अहङ्कार के विकार = विकास से ममता रूप मल में हेला = आसक्ति से तथा इस शरीरादि में ममता आदि की भावना से चित्त स्थूल होता है ॥ ८ ॥ व्यर्थ उन्नति को पाने वाला जरामरण दुःखयुक्त दोष रूप सर्प के कोश = खजाना पेटारी रूप देह से चित्त स्थूल होता है ॥ ९ ॥ मानसिक शारीरिक रोग रूप विलास = कार्य चेष्टा से, संसार की स्थिरता आदि के विश्वास से, त्याज्य ग्राह्य वस्तु विषयक प्रयत्न से चित्त स्थूल होता है ॥ १० ॥ सांसारिक स्नेह = राग, धन के लोभ, आपात रमणीय = देखने मात्र के सुन्दर मणि, स्त्री के लाभ = प्राप्ति, इन सब से चित्त स्थूल होता है ॥ ११ ॥ दुष्ट आशा रूप दूध के पान से, भोग रूप वायु के वेग से, आस्था = आश्रय के दान से, चित्त रूप सर्प स्थूल होता है ॥१२॥ सरूप अरूप भेद से दो प्रकार के चित्त का नाश होता है, तहाँ जीवन्मुक्त रूप चित्त का नाश सरूप = रूप सहित होता है, विदेहमुक्तजन्य अरूप का नाश होता है ॥ १३ ॥ इस संसार में चित्त की सत्ता दुःख के लिये होती है, चित्त का नाश सुख के लिये होता है, इस लिये चित्त की सत्ता को नष्ट कर के चित्त के नाश को प्राप्त करे ॥१४॥ अज्ञान जन्य तामस वासना समूह से व्याप्त जन्मों का कारण रूप जो मन = चित्त उसको विद्यमान = सत्तायुक्त जानो, वह केवल दुःख के लिये होता है ॥ १५ ॥ जो चित्त अनादि भ्रम से सिद्ध पूर्व के गुण संभार = देहेन्द्रियादि के धर्मों को भ्रम से आत्मा के मानता है, बहुत श्रेष्ठादि समझता है, उस तत्त्वज्ञान रहित दुःखी चित्त को जीव कहा जाता है ॥ १६ ॥ जब तक मन वर्तमान = सत् है, तब तक दुःख का क्षय किससे हो सकता है ? और मन के नष्ट होने पर प्राणियों के संसार दुःख स्वयं नष्ट हो जाते हैं ॥ १७ ॥ जिस धीर = ज्ञानी को सांसारिक सुख दुःख की अवस्था समात्मस्थिति से विचलित नहीं कर सकती, जैसे मेरु

आपत्कार्पण्यमुत्साहो मदो मान्द्यं महोत्सवः । यं नयन्ति न वैरूप्यं तस्य नष्टं विदु र्मनः ॥१९॥
मनस्तां मूढतां विद्धि यदा नश्यति साऽनघ ! । चित्तनाशाभिधानं हि तदा सत्त्वमुदेत्यलम् ॥२०॥
मैत्र्यादिभि र्गुणै र्युक्तं भवत्युत्तमवासनम् । भूयो जन्मविनिर्मुक्तं जीवन्मुक्तमनोऽनघ ! ॥२१॥
व्याप्तं वासनया यत्स्याद् भूयोजननमुक्तया । जीवन्मुक्तमनःसत्ता राम ! तत्सत्त्वमुच्यते ॥२२॥
सम्प्रत्येवानुभूतत्वात्सत्त्वाप्त्या तन्वसंयुतः । सरूपोऽसौ मनोनाशो जीवन्मुक्तस्य विद्यते ॥२३॥
मैत्र्यादयोऽथ मुदिताः शशाङ्क इव दीप्तयः । जीवन्मुक्तमनोनाशे सर्वदा सर्वथा स्थिताः ॥२४॥
समग्राग्र्यगुणाधारमपि सत्त्वं प्रलीयते । विदेहमुक्ते विमले पदे परमपावने ॥२५॥
विदेहमुक्तविषये तस्मिन् सत्त्वक्षयात्मके । चित्तनाशे विरूपाख्ये न किञ्चिदपि विद्यते ॥२६॥
न गुणा नागुणास्तत्र न श्री र्नाश्री र्न लोलता । न चोदयो नास्तमयो न हर्षामर्षसम्विदः ॥२७॥
न तेजो न तमः किञ्चिन्न सन्ध्या दिनरात्रयः । न दिशो न च वाऽऽकाशो नाधो नानर्थरूपता ॥२८॥

योगवासिष्ठप्र० ५।६०।४। इत्यादि ॥

मोक्षो मेऽस्त्विवति चिन्तान्त र्जाता चेदुत्थितं मनः । तुच्छां मोक्षधियं त्यक्त्वा बन्धबुद्धिं तथैषणाम् ॥२९॥
स्ववैराग्यविवेकाभ्यां केवलं क्षपयेन्मनः । मननोत्के मनस्युच्चै र्वपु र्दोषाय केवलम् ॥३०॥
सर्वारम्भपरित्यागी सर्वोपाधिविवर्जितः । सर्वाशासम्परित्यागी जीवन्मुक्त इति स्मृतः ॥३१॥

को निःश्वास नहीं विचलित कर सकते हैं, उस धीर के चित्त को मृत=नष्ट जानते हैं ॥ १८ ॥ आपत्ति कृपणता = दरिद्रता उत्साह = उद्यमादि मद = हर्षादि मन्दता = धनादि की अल्पता महान् उत्सव, ये सब जिसको विरूपता = भिन्नरूपता नहीं प्राप्त कर सकते, उस के मन को नष्ट जानते हैं ॥ १९ ॥ हे अनघ ! मूढ़ता को ही संसारी मनरूपता जानो, सो मनरूपता = मूढ़ता जब नष्ट होती है, तब चित्त के नाश नाम वाला शुद्ध सत्त्व स्वभाव पूर्ण प्रकट होता है ॥ २० ॥ और हे अनघ ! वह जीवन्मुक्त मन फिर जन्म से रहित उत्तम वासना वाला और मित्रतादि रूप गुणों से युक्त होता है ॥ २१ ॥ हे राम ! जो मन फिर जन्म से रहित आत्मज्ञान की वासना से व्याप्त रहता है, उस जीवन्मुक्त मन की सत्ता को सत्त्व नाम से कहा जाता है ॥ २२ ॥ शरीराभिमान से रहित सम्प्रति = व्यवहार काल में ही अनुभूत = ज्ञात होने से सत्त्व की प्राप्ति से वह जीवन्मुक्त का सरूप मनोनाश है ॥ २३ ॥ जीवन्मुक्त के मन के नष्ट होने पर चन्द्रमा के रहते प्रकाश के समान मित्रता आदि और मुदिता सदा सर्व प्रकार से स्थिर रहते हैं ॥ २४ ॥ संपूर्ण प्रधान गुण का आधार रूप सत्त्व = प्रातिभासिक मन भी परम पावन विदेह मुक्त रूप विमल पद = स्थान में अत्यन्त लीन होता है ॥ २५ ॥ विरूप = अरूप नामक सत्त्व के भी क्षय स्वरूप विदेह मुक्त के विषय = लक्ष्य प्राप्य रूप तिस चित्त के नाश में कुछ भी दृश्य वस्तु नहीं रहती है ॥ २६ ॥ क्योंकि वहाँ गुण अगुण, पुण्य पापादि, श्री, अश्री, चञ्चलता, उदय, अस्तमय=लय, हर्ष, शोक का ज्ञान नहीं रहता है, न तेज, न कुछ, तम आदि रहते हैं ॥२७–२८॥ मेरा मोक्ष हो यह चिन्ता भी यदि अन्तःकरण में हुई तो मन उत्पन्न प्रकट हो गया, इसलिये तुच्छ मोक्ष बुद्धि को त्याग कर बन्धन बुद्धि और इच्छा को त्याग कर अपने विवेक और वैराग्य से केवल मन को नष्ट करे, क्योंकि मनन के लिये उत्कण्ठा युक्त मन के होने पर शरीर होता है, सो शरीर अवश्य केवल अत्यन्त दोष के लिये होता है ॥ २९–३० ॥ और सब आरम्भ = कर्मादि को

तृणवन्नोपकुर्वन्ति यत्र त्रिभुवनश्रियः। सा परा निर्वृतिः साधो! नैराश्यादुपलभ्यते ॥३२॥
परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि। तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम् ॥३३॥
एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागतः। न शक्यते चालयितुं दैवैरपि सवासवैः ॥३४॥
योगवा० प्र० ५।७४। ६ इत्यादि ॥
बन्धाशामथ मोक्षाशां सुखदुःखदशामपि। त्यक्त्वा सदसदाशां च तिष्ठाक्षुब्धमहाब्धिवत् ॥३५॥
भावाद्वैतमुपाश्रित्य सत्ताद्वैतमयात्मकः। कर्माद्वैतमनादृत्य द्वैताद्वैतमयो भव ॥३६॥
योगवा० प्र० ५।१७।६-२६ ॥
अलग्नवासनाजाला मतिः प्रसरवर्जिता। अदृष्टरागद्वेषा या शममेति शनैः परम् ॥३७॥
मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः। ज्ञमनो नाशमभ्येति मनोऽज्ञस्य विवर्द्धते ॥३८॥
मनोमात्रं जगच्चक्रं मनो पर्वतमण्डलम्। मनो व्योम मनोदेवो मनो मित्रं मनो रिपुः ॥३९॥
योगवा० प्र० ४।३५।७-१८-१६ ॥
नेह चञ्चलताहीनं मनः क्वचन दृश्यते। चञ्चलत्वं मनोधर्मो वह्ने धर्मो यथोष्णता ॥४०॥
यत्तु चञ्चलताहीनं तन्मनो मृतमुच्यते। तदेव च तपःशास्त्रसिद्धान्तो मोक्ष उच्यते ॥४१॥
मनो विलयमात्रेण दुःखशान्तिरवाप्यते। मनो मननमात्रेण दुःखं परमवाप्यते ॥४२॥

त्यागने वाला, सब उपाधि, उपद्रव से रहित, सर्वांश से रहित होकर जीवन्मुक्त कहा गया है ॥ ३१ ॥ जिस मोक्ष में तीनों लोक की श्री तृण के तुल्य भी उपकार सहायता नहीं करती है, हे साधो! वह उत्तम निर्वृति=(मोक्ष सुख) निराशता से मिलती है ॥ ३२ ॥ जैसे अन्य पुरुष के व्यसन=काम-इच्छा वाली स्त्री घर के कर्म में व्यग्र चञ्चल रहती हुई, भी अन्तःकरण में उसी अन्य के सङ्ग रूप रसायन = आनन्द का अनुभव करती हैं ॥ ३३ ॥ तैसे ही आशा आदि को त्यागकर शुद्ध परतत्त्व = स्वरूप में विश्रान्ति आनन्द को पाया हुआ धीर ज्ञानी व्यवहार में भी आनन्द का अनुभव करता है, और इन्द्र सहित सब देवों से भी वह विचलित नहीं किया जा सकता है ॥ ३४ ॥ इसलिये देहादिरूप बन्ध की आशा और उसकी निवृत्ति रूप मोक्ष की आशा को त्यागकर, मिथ्या स्वरूप सुख, दुःख अवस्था को और सत् असत् आशा को त्याग कर क्षोभ = चञ्चलता रहित महा समुद्र के समान स्थिर रहो ॥ ३५ ॥ सर्वत्र सत्ता का अद्वैत स्वरूप होकर भावना से सत्ता अद्वैत का आश्रयण करके, और कर्माद्वैत को त्याग कर, व्यवहार में यथोचित द्वैताद्वैतमय हो, सत्यात्मा को एक समझो, व्यवहार में उचित हो कर्म करो ॥ ३६ ॥ वासनाजाल के सम्बन्ध से रहित, रागद्वेष से शून्य, चञ्चलता रहित, बुद्धि जो होती है, सो धीरे २ उत्तम शम को पाती है ॥ ३७ ॥ शमादि के विना अशुभ मन का अभ्युदय=वृद्धि ही जीवात्मा का नाश है, और मन का नाश जीवात्मा का महान् उदय कल्याण है, तहाँ ज्ञानी विवेकी विरक्त का मन नाश को प्राप्त होता है, अज्ञानी का मन बढ़ता है ॥३८॥ और बढ़ा हुआ मनोमात्र ही संसार जन्मादि का समूह अनर्थ रूप है, तथा पर्वतों का मण्डल= परिधि-घेरा आदि रूप आकाश, देव, शत्रु, मित्रादि रूप मन ही है ॥ ३९ ॥ यहाँ चञ्चलता से रहित मन कहीं देखा नहीं जाता है, अग्नि की उष्णता के समान चञ्चलता मन का धर्म है ॥ ४० ॥ जो चञ्चलता रहित मन है, सो मृत मन कहलाता है, और वही तपोविधायक शास्त्र का सिद्धान्त रूप मोक्ष कहा जाता है ॥ ४१ ॥ मन के विलय=नाश मात्र से दुःख की निवृत्ति पाई जाती है, मन के द्वारा विषयों के मनन

तस्य चञ्चलता यैव त्वविद्या राम ! सोच्यते । वासनापदनाम्नीं तां विचारेण विनाशय ॥४३॥
अविद्यया वासनया तयाऽन्तश्चित्तसत्तया । विलीनया त्यागवशात्परं श्रेयोऽधिगम्यते ॥४४॥
यत्तत्सदसतो मध्यं यन्मध्यं चित्त्वजाड्ययोः । तन्मनः प्रोच्यते राम ! द्वयो र्दोलायिताकृति ॥४५॥
जाड्यानुसन्धानहतं जाड्यात्मकतयेद्धया । चेतो जडत्वमायाति दृढाभ्यासवशेन हि ॥४६॥
विवेकैकानुसन्धानाच्चिदंशात्मतयात्मनः । चिदेकतामुपायाति दृढाभ्यासवशादिह ॥४७॥
या योदेति मनोनाम्नी वासना वासितान्तरा । तां तां परिहरेत्प्राज्ञस्ततोऽविद्याक्षयो भवेत् ॥४८॥

योगवा० प्र० ३।११२।५। इत्यादि ॥

स्वभावमात्रविजये स्वयं यस्य न वीरता । तस्योत्तमपदप्राप्तौ पशो ब्रूहि कथैव का ॥४९॥
षड्वर्गो निर्जितः पूर्वं येनोत्तमविदा स्वतः । भाजनं स महार्थानां नेतरो नरगर्दभः ॥५०॥
लोभो लज्जा मदो मोहो येनादाविति नो जितः । निरर्थकमनर्थोऽस्मिन् स किमर्थं प्रवर्त्तते ॥५१॥

योगवासि० ॥

भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं यथात्मनः । वर्त्तयन् स्वानुभूत्येह त्रीन् स्वप्नान् धुनुते मुनिः ॥५२॥

इति सप्तमं मनोवृद्धिमनोनाशप्रकरणम् ॥ श्रीमद्भा० स्क० ७।१५।६२ ॥

मात्र से परम दुःख मिलता है ॥ ४२ ॥ हे राम ! उस मन की जो चञ्चलता है, वही राजस अविद्या कही जाती है, तिस वासनाशब्द रूप नाम वाली अविद्या=चञ्चलता को विचार से विनष्ट करो ॥ ४३ ॥ बाह्यविषयादि के चिन्तनादि के त्याग के बल से चित्त के अन्तर वर्तमान वासना रूप उस अविद्या के विलीन=नष्ट होने से परम श्रेयः प्राप्त होता है ॥ ४४ ॥ हे राम ! जो वह सत् असत् का तथा चेतनता जड़ता का मध्य=सन्धि रूप है, सो मन कहा जाता है, वह दोनों स्वरूप में दोलायित=अस्थिर स्वरूप है ॥४५॥ वह मन जड़ता के चिन्तन से हत=नष्ट हो कर और जड़ रूपता से स्थिर हो कर दृढ़ अभ्यास के बल से जड़ता को प्राप्त होता है ॥४६॥ और एक विवेक के चिन्तन से आत्मा की चिदंशता से स्थिर व्याप्त होकर दृढ़ अभ्यास के बल से यहाँ चिदेकरूपता को पाता है ॥४७॥ बाह्य वासना से वासित=युक्त अन्तर वाली जो २ मनोनामवाली वासना उत्पन्न होती है, उस सब बाह्य वासना को विद्वान् त्यागे तो अविद्या का नाश होता है ॥४८॥ स्वभाव=प्रकृति मात्र के विजय में जिस को स्वयं वीरता नहीं है, उस पशु तुल्य को उत्तमपद की प्राप्ति में कथा क्या है ? सो कहो, उस के लिये कोई उपदेश सार्थक नहीं है ॥४९॥ जिस उत्तम विवेकी से मन के स्वभाव रूप कामादि छः का समूह प्रथम निर्जित=अत्यन्त वश स्वतः हुवा है, सो महान् अर्थ मोक्ष शान्ति सुखादि का पात्र है, उससे अन्य कामी आदि गर्दभ तुल्य मनुष्य नहीं पात्र है ॥ ५० ॥ जिस से लोभ, लज्जा, मद, मोह, ये सब प्रथम नहीं जीते गये हैं, सो अनर्थ रूप मनुष्य निरर्थक इस मोक्षशास्त्र में किस लिये प्रवृत्त होता है ? ॥ ५१ ॥ कार्यकारण वस्तु की एकता ज्ञानरूप भावाद्वैत, मन वचननादि से पर ब्रह्म में सर्व कर्मों का अर्पणरूप कर्माद्वैत, तथा अपने धनादि द्रव्यों और स्वार्थ की एकता आलोचन ईश्वरार्पण रूप द्रव्याद्वैत, इन तीनों अद्वैतों को वर्तता=विचारता देखता हुवा मुनि अपनी आत्मा के अनुभव से जाग्रदादि रूप तीन स्वप्न = मिथ्या अवस्था को नष्ट करके तुर्य सत्यपद में स्थिर होता है ॥ ५२ ॥ सातवाँ मनोवृद्धिमनोनाशप्रकरण समाप्त ॥

अथ संसारः ॥ ८ ॥

संसारो दुस्तराम्भोधिस्तत्पारं गन्तुमिच्छता । विवेकादि विधेयोऽत्र त्याज्यं सङ्गादि सर्वथा ॥१॥ यतः—
संसृतिः स्वप्नसदृशी सदा रोगादिसङ्कुला । गन्धर्वनगरप्रख्या मूढस्तामनुवर्त्तते ॥२॥
आयुष्यं क्षीयते यस्मादादित्यस्य गतागतैः । दृष्ट्वाऽन्येषां जरामृत्यू कथञ्चिन्नैव बुध्यते ॥३॥
स एष दिवसः सैव रात्रिरित्येव मूढधीः । भोगाननुपतत्येव कालवेगं न पश्यति ॥४॥
प्रतिक्षणं क्षरत्येतदायुराम ! घटाम्बुवत् । सपत्ना इव रोगौघाः शरीरं प्रहरन्त्यहो ॥५॥
जरा व्याघ्रीव पुरतस्तर्जयन्त्यवतिष्ठते । मृत्युः सहैव यात्येष समयं सम्प्रतीक्षते ॥६॥
देहेऽहंभावमापन्नो राजाऽहं लोकविश्रुतः । इत्यस्मिन् मन्यते जन्तुः कृमिविड्भस्मसञ्ज्ञिते ॥७॥
अध्यात्मरा० अयोध्याकां० स० ४।२५ । इत्यादि ॥
देह एव हि संसारवृक्षमूलं दृढं स्मृतम् । तन्मूलः पुत्रदारादिबन्धः किं तेऽन्यथात्मनः ॥८॥
देहस्तु स्थूलभूतानां पञ्चतन्मात्रपञ्चकम् । अहङ्कारश्च बुद्धिश्च इन्द्रियाणि तथा दश ॥९॥
चिदाभासो मनश्चैव भूतप्रकृतिरेव च । एतत्क्षेत्रमिति ज्ञेयो देह इत्यभिधीयते ॥१०॥
एतै विलक्षणो जीवः परमात्मा निरामयः । जीवश्च परमात्मा च पर्यायो नाऽत्र भेदधीः ॥११॥
अध्यात्मरा० आरण्यका० स० ७।२७ इत्यादि ।

अथ संसार—संसार दुःख से तरने योग्य समुद्र है, उसके पार जाने की इच्छा वाले को यहाँ विवेकादि कर्तव्य हैं, और कुसङ्ग कुकर्मादि त्यक्तव्य है ॥ १ ॥ जिससे रोगादि से सदा व्याप्त संसार स्वप्न तुल्य मिथ्या है, गन्धर्व नगर के समान है, तो भी मूढ = अविवेकी उसी को सेवता है ॥ २ ॥ जिस संसारासक्ति से जो सूर्य के गमनागमनों द्वारा प्रतिदिन आयुष्य = आयु घटती है, उसको अन्य के जरा-मरण देख कर भी मूढ नहीं समझता है ॥ ३ ॥ वही रवि वारादि दिन हैं, वही शुक्ल पक्षादि की रात्रि है, इस प्रकार के निश्चय वाला मूढ़ बुद्धि वाला भोगों को ही प्राप्त करता सेवता है, काल के वेग को नहीं देखता है ॥ ४ ॥ यह आयु प्रतिक्षण में कच्चे घट के जल के समान क्षीण होती है, और शत्रु तुल्य अद्भुत रोगों के समूह शरीर को नष्ट करते हैं ॥ ५ ॥ बाघिन तुल्य जरा अवस्था डराती हुई आगे स्थिर है, यह मृत्यु साथ में ही चल रही है, और समय की प्रतीक्षा = विचार कर रही है ॥ ६ ॥ तो भी मोह युक्त यह प्राणी, मरने पर कृमि विट् = विष्ठा भस्म नाम वाले इस देह में अहंभाव = अहङ्कार युक्त होकर समझता है, कि मैं लोक में प्रख्यात राजा हूँ, इत्यादि ॥ ७ ॥ यह देह ही जन्मादि रूप संसार वृक्ष का दृढ़ मूल कहा गई है, देहाभिमान से फिर जन्मादि होते हैं, और उस रूप मूल = कारण वाला ही पुत्र स्त्री आदिरूप भी बन्ध = ससार है, इस देह से अन्यथा = विलक्षण तुम आत्मा को वा तेरे आत्मा को इससे क्या फल है ? ॥ ८ ॥ देह तो स्थूल पांच महाभूत = भूमि आदि के पञ्च = पंच तन्मात्रा = सूक्ष्म पंच का समूह रूप है, शब्दादिमय है । क्योंकि अहङ्कार, बुद्धि, दश इन्द्रिय, चिदाभास = बुद्धि में चेतन का प्रकाश, मन पंच भूत प्रकृति = माया ये सब क्षेत्र = जीव के भोग के स्थान हैं, और क्षेत्र रूप से ज्ञेय जो पदार्थ है, सोई देह इस नाम से कहा जाता है ॥ ९–१० ॥ इन सब से विलक्षण जो जीव का सत्य स्वरूप है, सो निरामय = रोगादि रहित परमात्मा है, इससे जीव और परमात्मा ये दोनों शब्द पर्याय = एक अर्थ के बोधक हैं, यहाँ भेद का ज्ञान

अहङ्कारादिसम्बन्धो यावद्देहेन्द्रियैः सह । संसारस्तावदेव स्यादात्मनस्त्वविवेकिनः ॥१२॥
मिथ्यारोपितसंसारो न स्वयं विनिवर्त्तते । विषयान् ध्यायमानस्य स्वप्ने मिथ्यागमो यथा॥१३॥
अनाद्यविद्यासम्बन्धात् तत्कार्याऽहङ्कृतेस्तथा । संसारोऽपार्थकोऽपि स्याद्रागद्वेषादिसङ्कुलः ॥१४॥

अध्यात्मरा० किष्किन्धाकां० स० ३।१८। इत्यादि ॥

देहमूलमिदं दुःखं देहः कर्मसमुद्भवः । कर्म प्रवर्त्तते देहेऽहंबुद्ध्या पुरुषस्य हि ॥१५॥
अहङ्कारस्त्वनादिः स्यादविद्यासम्भवो जडः । चिच्छायया सदा युक्तस्तप्तायःपिण्डवन्मतः ॥१६॥
तेन देहस्य तादात्म्याद्देहश्चेतवान् भवेत् ॥१७॥ अध्यात्मरा० किष्किन्धाकां० स० ८ ॥
प्रसुप्तस्यानह भावात्तदा भाति न संसृतिः । जीवतोऽपि यथा तद्वद्विमुक्तस्यानहङ्कृतेः ॥१८॥
देहबुद्ध्या भवेद् भ्राता पिता माता सुहृत् प्रियः ॥ १९ ॥
विलक्षणं यदा देहाज्ज्ञानात्यात्मानमात्मना । तदा कः कस्य वा बन्धुर्भ्राता माता पिता सुहृत्॥२०॥

अध्यात्मरा० युद्धकां० स० १२।१६। इत्यादि ॥

कः कस्य हेतुर्दुःखस्य कश्च हेतुः सुखस्य वा । स्वपूर्वार्जितकर्मैव कारणं सुखदुःखयोः ॥२१॥
सुखस्य दुःखस्य न कोपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।
अहं करोमीति वृथाऽभिमानः स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः ॥ २२ ॥

नहीं होता है ॥११॥ जब तक देहेन्द्रिय के साथ अहङ्कार का सम्बन्ध है, देहादि में आत्मतादि का अभिमान है, तभी तक अविवेकी जीवात्मा को जन्मादि संसार है ॥ १२ ॥ आत्मा में मिथ्या भी कल्पित = सिद्ध संसार ज्ञानादि बिना स्वयं नहीं निवृत्त होता है, जैसे कि विषयों का ध्यान करने वाले को स्वप्न में मिथ्या विषय का आगम = (प्राप्ति) होता है, सो जागे बिना नहीं निवृत्त होता है ॥ १३ ॥ अनादि अविद्या के सम्बन्ध से तथा अविद्या के कार्य अहङ्कार से राग द्वेषादि से व्याप्त अपार्थक = निष्प्रयोजन अर्थशून्य मिथ्या भी संसार होता है ॥१४॥ देह मूलक = देह जन्य यह प्रत्यक्ष दु.ख.है, और देह कर्म से उत्पन्न होता है, फिर देह में पुरुष = जीव की अहंबुद्धि = अभिमान से कर्म सिद्ध होता है ॥ १५ ॥ अविद्या से सिद्धि वाला जड़ अहङ्कार अनादि है, सो चेतन की छाया = चिदाभास से सदा युक्त तप्त लोहपिण्ड के समान माना गया है, उस चिदाभास युक्त अहङ्कार के साथ देह को तादात्म्य = जल दूध तुल्य अभेद होने से देह भी चेतनता वाली होती है ॥ १६–१७ ॥ प्रसुप्त पुरुष को तिस सुषुप्ति काल में अहङ्कार के अभाव से जैसे उस समय संसार नहीं भासता है, तैसे ही अहङ्कार रहित जीवन्मुक्त को भी आत्मा में संसार नहीं भासता है ॥ १८ ॥ देह में आत्मबुद्धि अहङ्कार से ही माता पिता भ्राता मित्र प्रियादि होते हैं, और जब देह से विलक्षण आत्मा को आत्मा = मन से जानता है, तब कौन किस का बन्धु भ्राता आदि है ? ॥ १९–२० ॥ और कौन किस के सुख वा दुःख का भी हेतु = कारण है ? अपने ही पूर्व जन्म के उपार्जित कर्म ही अपने सुख दुःख के हेतु हैं ॥ २१ ॥ इससे सुख वा दुःख का कोई भी दाता नहीं है, तो भी अन्य कोई हमें सुखादि देता है, ऐसा निश्चय होना यह कुबुद्धि = भ्रम है, मैं कर्ता हूँ यह निश्चय भी मिथ्या व्यर्थ अभिमानरूप है, क्योंकि यह लोक = जन अपने पूर्व के कर्म रूप सूत्र से ग्रथित = बद्ध है, पूर्व कर्मानुसार ही प्रवृत्ति भी होती

अलं हर्षविषादाभ्यां शुभाशुभफलोदये । विधात्रा विहितं यद्यत्तदलङ्घ्यं सुरासुरैः ॥२३॥

अध्यात्मरा० अयोध्याकां० स० ५। निषाद प्रतिलक्ष्मणोक्तिः ॥

क्रिया शरीरोद्भवहेतुरादृता प्रियाप्रियौ तौ भवतः सुरागिणः ।

धर्मेतरौ तत्र पुनः शरीरकं पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः ॥ २४ ॥ अध्यात्मरा० उत्तरकां० स० ५॥

यथा हि पुरुषो भारं शिरसा गुरुमुद्वहन् । तं स्कन्धेन स आदत्ते तथा सर्वाः प्रतिक्रियाः ॥२५॥

नैकान्ततः प्रतीकारः कर्मणां कर्मकेवलम् । द्वयं ह्यविद्ययोपसृतं स्वप्ने स्वप्न इवानघ ! ॥२६॥

श्रीमद्भा० स्क० ४।२६।३३–३४॥ नारदोक्तिः ॥

आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत ! । तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम् ॥२७॥

एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः । त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे ॥२८॥

श्रीमद्भा० स्क० १।५।३३–३४ ॥

कर्मणा कर्मनिर्हारो नह्यात्यन्तिक इष्यते । अविद्वदधिकारित्वात्प्रायश्चित्तं विमर्शनम् ॥२९॥

नाश्नतः पथ्यमेवान्नं व्याधयोऽभिभवन्ति हि । एवं नियमकृद् राजन् शनैः क्षेमाय कल्पते ॥३०॥

श्रीमद्भा० स्क० ६।१।११–१२ ॥

जन्तुर्वै भव एतस्मिन् यां यां योनिमनुव्रजेत् । तस्यां तस्यां स लभते निर्वृतिं न विरज्यते ॥३१॥

है ॥२२॥ इससे कर्मानुसार शुभाशुभ फल की प्राप्ति होने पर हर्ष और शोक भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि विधाता = ईश्वर से जिस के लिये जो २ विहित = प्रतिपादित है, सो २ सुर असुर सब से अनुलंघनीय है ॥२३॥ शरीर की उत्पत्ति का हेतु रूप कर्म माना गया है, उस शरीरादि में अत्यन्त रागी को वह प्रसिद्ध प्रिय और अप्रिय = सुख दुःख तथा मित्र अमित्र शत्रु होते हैं, तिस से फिर तिस शरीर में राग द्वेषादि जन्य धर्माधर्म होते हैं, तिस से फिर शरीर होता है, फिर क्रिया होती है, इस प्रकार चक्र तुल्य संसार कहा जाता है ॥ २४ ॥ जैसे कोई पुरुष भारी बोझ गठरी को शिर से ढोता हुआ शिर के दुखने पर कन्धे पर वह बोझ लेता है, परन्तु उस से दुःख नहीं मिटता, थोड़ा आराम मिलता है, वैसे ही देहाभिमानी अज्ञ के सब दुःख के प्रतिकार = दुःख निवृत्ति के उपाय हैं ॥ २५ ॥ इससे हे अनघ ! कर्म जन्य दुःख की निवृत्ति के एकान्त उपाय रूप केवल कर्म नहीं है, कर्म निवृत्ति का निश्चित साधन कर्म नहीं है, जिस से स्वप्न में स्वप्न के समान दोनों अविद्याजन्य हैं ॥ २६ ॥ हे सुव्रत ! जिस घृतादि से प्राणियों को रोग होते हैं, वही रोग जनक द्रव्य उस रोग को नहीं निवृत्त करता है, द्रव्यान्तर रूप औषधि से चिकित्सित = भावित शोधित घृतादि रोग को निवृत्त करते हैं ॥ २७ ॥ इसी प्रकार मनुष्य के सब क्रिया योग संसार जन्मादि के हेतु हैं, परन्तु वे ही कर्म योग पर ब्रह्म में कल्पित = अर्पित होने पर अपनी आत्मा = दुःख रूप कर्म के विनाश के लिये होते हैं। अर्थात् निष्काम कर्म से अन्तःकरण की शुद्धि आदि द्वारा ज्ञान होता है जिस से मूल सहित अज्ञान जन्य कर्म नष्ट होते हैं ॥ २८ ॥ कर्म के अविद्वान् = अज्ञ अधिकारी होने से प्रायश्चित्त कर्म से अन्य कर्मों का अत्यन्त निर्हार = नाश नहीं होता है, क्योंकि अन्य कर्म होते जाते हैं, इस से विमर्शन = ज्ञान ही प्रायश्चित्त = मुख्य पाप नाशक है ॥ २९ ॥ परन्तु वह ज्ञान नियम लभ्य है, जैसे पथ्य से ही अन्न खाने वाले को व्याधि नहीं सताती हैं, हे राजन् ! नियम करने वाला धीरे २ तत्त्वज्ञान मोक्ष के लिये समर्थ होता है ॥ ३० ॥ यह प्राणी इस संसार में जिस २ योनि में जाता है, तिस २ में

नरकस्थोऽपि देहं वै न पुमांस्त्यक्तुमिच्छति। नारक्यां निर्वृतौ सत्यां देवमायाविमोहितः ॥३२॥
गृहेषु कूटधर्मेषु दुःखतन्त्रेष्वतन्द्रितः। कुर्वन् दुःखप्रतीकारं सुखवन्मन्यते गृही ॥३३॥
अर्थैरापादितै र्गुर्व्या हिंसयेतस्ततश्च तान्। पुष्णाति येषां पोषेण शेषभुग् यात्यधः स्वयम् ॥३४॥
श्रीमद्भा० स्क० ३।३०।४-५-६-१० ॥

नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति।
न साधु मन्ये यत आत्मनोऽयमसन्नपि क्लेशद आह देहः ॥ ३५ ॥
पराभवस्तावदबोधजातो यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम्।
यावत्क्रिया तावदिदं मनो वै कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः ॥ ३६ ॥
आनन्दमूलगुणपल्लवतत्त्वशाखा वेदान्तपुष्पफलमोक्षरसादिपूर्णः।
चेतो विहग! हरितुङ्गतरुं विहाय संसारशुष्कविटपे वद किं रतोऽसि ॥३७॥ भागव० स्क० ५।५।४-५॥
वेदेन विहितं कर्म तन्मन्ये मङ्गलं परम्। अवैदिकं तु यत्कर्म तदेवाशुभमेव च ॥३८॥
हरिभक्तो नरो यश्च स च मुक्तः श्रुतौ श्रुतम्। जन्ममृत्युजराव्याधिशोकभीतिविवर्जितः ॥३९॥
मुक्तिश्च द्विविधा साध्वि! श्रुत्युक्ता सर्वसम्मता। निर्वाणपददात्री च हरिभक्तिप्रदा नृणाम् ॥४०॥
कर्मणो बीजरूपश्च सततं तत्फलप्रदः। कर्मरूपश्च भगवाञ्छ्रीकृष्णः प्रकृतेः परः ॥४१॥

कर्मानुसार सुख पाता है, इस से विरक्त नहीं होता है ॥ ३१ ॥ नरक में स्थिर प्राणी भी, नरक सम्बन्धी सुख होने पर देव माया से विमोहित हो कर नरक के देह को भी वह पुरुष नहीं त्यागना चाहता है ॥ ३२ ॥ मायामय धर्म वाले दुःख युक्त गृहों में सावधान गृहस्थ दुःखों का प्रतीकार करता हुआ सुख मानता है ॥ ३३ ॥ भारी हिंसा द्वारा जहाँ तहाँ से प्राप्त अर्थों द्वारा उन सम्बन्धियों का पोषण करता है, कि जिन के पोषण से अवशिष्ट को भोजन करने वाला वह स्वयं नीचे नरकादि में जाता है ॥ ३४ ॥ प्रमादी पुरुष अवश्य विरुद्ध कर्म करता है, जो इन्द्रियों की प्रीति = सुख के लिये व्यापार करता है, उस को मैं साधु = शुभ नहीं मानता हूँ, कि जिस के लिये यह अपना देह असत् क्लेश के हेतु होता है, जिस देह को अज्ञ अपना कहता है ॥ ३५ ॥ जब तक आत्मतत्त्व = स्वरूप को नहीं विचारता समझता है, तब तक अज्ञान जन्य अनादर दुःख होता है, जब तक अज्ञान जन्य कर्म रहता है, तब तक यह कर्ममय मन रहता है, कि जिस से शरीर रूप बन्धन होता है ॥ ३६ ॥ हे चित्तरूप पक्षी! आनन्द रूप मूल वाले, सद्गुण रूप शाखा युक्त, वेदान्त रूप पुष्प फल के हेतु मोक्ष रूप रसादि से पूर्ण जो हरि रूप वृक्ष है, उस तुङ्ग = उच्च तरु को त्याग कर संसार रूप शुष्क वृक्ष में क्यों मग्न हो? सो कहो, अर्थात् संसारासक्ति अज्ञान से है ॥३७॥ ज्ञान के साधन रूप वेद से विहित जो कर्म हैं, उन निष्काम शुभ कर्मों को परम मङ्गल के हेतु मानता हूँ, अवैदिक = स्वार्थ जनक जो कर्म हैं, सो अशुभ ही है ॥ ३८ ॥ हरिभक्त = निष्काम शुभकर्म कर्ता जो ज्ञानी मनुष्य हैं, सो जीवन्मुक्त हैं, यह वचन वेद में श्रुत है। वह पुरुष जन्मादि संसार से रहित है ॥ ३९ ॥ हे साध्वी! जीवन्मुक्ति विदेह मुक्ति भेद से दो प्रकार की मुक्ति सर्व सम्मत है, तहाँ जीवन्मुक्ति निर्वाणपद = विदेह मुक्ति को देने वाली है, और हरिभक्ति को भी मनुष्यों को देने वाली है, जीवन्मुक्त भक्ति का उपदेश देते हैं ॥ ४० ॥ भगवान् कृष्ण = हरि कर्म के बीज रूप हैं, सदा कर्म फल

सोऽपि तद्धेतुरूपश्च कर्म तेन भवे सति । जीवः कर्मफलं भुङ्क्ते आत्मा निर्लिप्त एव च ॥४२॥
आत्मनः प्रतिबिम्बं च देही जीवः स एव च । पाञ्चभौतिकरूपश्च देहो नश्वर एव च ॥४३॥
कर्त्ता भोक्ता च देही च स्वात्मा भोजयिता सदा । भोगो विभवभेदश्च निष्कृतिं मुक्तिरेव च ॥४४॥

ब्रह्मवैवर्त्तपु० ब्रह्मखं० अ० २५। सावित्रीं प्रति यमोक्तिः ॥

सर्वेषां देहिनां तात ! देहस्तु पाञ्चभौतिकः । मिथ्या भ्रमः कृत्रिमश्च स्वप्नवन्माययान्वितः ॥४५॥
देहं गृह्णाति सर्वेषां पञ्चभूतानि नित्यशः । मायासङ्केतरूपं तदभिज्ञानं भ्रमात्मकम् ॥४६॥
को वा कस्य सुतस्तात ! का स्त्री कस्य पतिस्तु वा । कर्मणा भ्रमणं शश्वत् सर्वेषां भूरि जन्मनि ॥४७॥
कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रविलीयते । सुखं दुःखं भयं शोकं कर्मणा च प्रपद्यते ॥४८॥

ब्रह्मवै० श्रीकृष्णज० अ० ७३ । नन्दं प्रति भगवदुक्तिः ॥

जलबुद्बुदवत्सर्वं संसारं सचराऽचरम् । प्रभाते स्वप्नवन्मिथ्या मोहकारणमेव च ॥४९॥
मिथ्याकृत्रिमनिर्माणहेतुश्च पाञ्चभौतिकः । मायया सत्यबुद्ध्या च प्रतीतिं जायते नरः ॥५०॥
कामक्रोधलोभमोहैर्वेष्टितः सर्वकर्मसु । मायया मोहितः शश्वज्ज्ञानहीनश्च दुर्बलः ॥५१॥

ब्रह्मवै० कृष्णज० अ० ७८ ॥

नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि । अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥५२॥

वो देने वाला ईश्वर है, सर्वात्मा होने से कर्म रूप भी है, और वस्तुतः प्रकृति से पर है ॥ ४१ ॥ वह प्रकृति से पर भी उस प्रकृति के कार्य कर्मादि के अधिष्ठानादि रूप से हेतु हैं, इससे संसार के होने पर उनसे ही कर्म होता है, तहाँ जीव कर्म फल को भोगता है साक्षी, रूप सर्वात्मा निर्लेप ही रहता है ॥ ४२ ॥ आत्मा का प्रतिबिम्ब = चिदाभास ही देह धारी जीव है और पांच भूतों का कार्य रूप देह है, सो नश्वर ही है ॥ ४३ ॥ देही कर्मादि का कर्ता तथा फलों का भोक्ता है, निजात्मा रूप हरि सदा साक्षी अधिष्ठानादि रूप से भोग कराने वाला है, और विभव = धन के भेद = विशेष रूप भोग्य पदार्थ हैं, उनका अनुभव भोग है, भोगादि की निष्कृति = निवृत्ति नाश ही मुक्ति है ॥ ४४ ॥ हे तात ! सब देही = प्राणी के देह पांच भूतों से रचित, मिथ्या, भ्रमरूप, कृत्रिम = कार्य रूप और स्वप्न तुल्य माया से युक्त हैं ॥ ४५ ॥ पांचो भूत सदा सब के देहों का ग्रहण = विलय परिणाम करते हैं, परन्तु माया के संकेत = नियमादि रूप उस देह का अभिज्ञान = प्रत्यभिज्ञा-'सोऽयं' यह निश्चय भ्रम रूप होता हैं ॥ ४६ ॥ इससे हे तात ! कौन किस का पुत्र वा स्त्री वा पति है, कर्मों से सब को बहुत जन्मों में भ्रमण होता है ॥ ४७ ॥ कर्म से प्राणी जन्मता है तथा मरता है, सुख दुःखादि को भी कर्मों से ही पाता है ॥ ४८ ॥ चराचर प्राणी सहित सब संसार जल के बुद्बुद तुल्य क्षणभङ्गुर है, और प्रभात काल में जागने पर स्वप्न के तुल्य ज्ञानी की दृष्टि में मिथ्या है, अज्ञानियों के लिये मोह का कारण है, तथा मोह = अविवेक रूप कारण वाला है ॥ ४९ ॥ मिथ्या कृत्रिम = कार्य सुखादि का निर्माण = रचना के हेतु = कारण पंचभूत रचित देह के अभिमानी मनुष्य माया द्वारा सत्यबुद्धि से देह में प्रतीति = विश्वास आसक्ति कर के फिर संसार में जन्म लेते हैं ॥ ५० ॥ और काम क्रोधादि से वेष्टित = आच्छादित माया से मोहित ज्ञान हीन दुर्बल होकर सदा सब कर्मों में प्रवृत्त होता है ॥५१॥ अज्ञानी के कर्म भोगे बिना नष्ट नहीं होते हैं, कल्प करोड़ों शत = सौ काल से भी कर्म भोगे बिना नष्ट नहीं होते हैं । इस से किया हुआ शुभाशुभ कर्म अवश्य भोगना होता है ॥ ५२ ॥

तीर्थानां च सुराणां च साहाय्यो न नृणामिह । किञ्चिद् भवति साहाय्यं कायव्यूहेन सर्वशः ॥५३॥
प्रायश्चित्तानि चीर्णाणि निश्चितं मत्पराङ्मुखम् । न निष्पुणन्ति हे तात! सुराकुम्भमिवापगाः ॥५४॥
प्रायश्चित्तेन पुण्येन न हि शुद्ध्यन्ति मानवाः । सर्वारम्भेण वैश्येन्द्र! दानेन योगतोऽपि वा ॥५५॥
शुभाशुभं च यत्कर्म विना भोगान्न च क्षयः । भोगेन शुद्धिमाप्नोति ततो मुक्ति र्भवेन्नृणाम् ॥५६॥
न नष्टं दुष्कृतं कर्म सुकृतेन च कर्मणा । न नष्टं सुकृतं कर्म कृतेन दुष्कृतेन च ॥५७॥
ब्रह्मवै० कृष्णज० अ० ८५ ॥
एकाकी भवमायाति यात्येकाकी पुनः पुनः । प्राणी कर्मानुरोधेन स्वकर्मफलभुक् पुमान् ॥५८॥
सद्यः पतति देहोऽयं विना येन सदात्मना । तं निषेव्य कालगतिं तरत्येव हि केवलम् ॥५९॥
जन्ममृत्युजराव्याधिहरं सर्वहरं परम् । कालस्य तरणोपायं भजनं परमात्मनः ॥६०॥
ब्रह्मवै० कृष्णज० अ० ९६ ॥
प्रकृत्याद्यष्टबन्धेन बद्धो जीवः स उच्यते । प्रकृत्याद्यष्टबन्धेन निर्मुक्तो मुक्त उच्यते ॥६१॥
प्रकृत्यग्रे ततो बुद्धिरहङ्कारो गुणात्मकः । पञ्चतन्मात्रमित्येतत्प्रकृत्याद्यष्टकं विदुः ॥६२॥
प्रकृत्याद्यष्टजो देहो देहजं कर्म उच्यते । पुनश्च कर्मजो देहो जन्म कर्म पुनः पुनः ॥६३॥
शरीरं त्रिविधं ज्ञेयं स्थूलं सूक्ष्मं च कारणम् । स्थूलं व्यापारदं प्रोक्तं सूक्ष्ममिन्द्रियभोगदम् ॥६४॥

मनुष्यों को तीर्थ वा देव की सहायता भी कर्म भोग में कुछ नहीं मिलती है, सर्वत्र-कार्य व्यूह=योग द्वारा अनेक देह रचना से कुछ सहायता मिलती है ॥५३॥ हे तात! ईश्वर से विमुख निश्चित को आचरित=कृत प्रायश्चित्त कर्म भी पवित्र नहीं करते, जैसे मद्य के भाण्ड=कुम्भ को नदियाँ नहीं पवित्र करती हैं ॥ ५४ ॥ हे वैश्येन्द्र! प्रायश्चित्त कर्म रूप पुण्य से, वा सब आरम्भ=कर्म से, वा दान से वा योग से, भी मनुष्य ज्ञानादि विना शुद्ध नहीं होते हैं ॥ ५५ ॥ शुभ अशुभ जो कर्म हैं, उन का भोग के विना नाश नहीं होता है, भोग से ही अज्ञ शुद्धि पाते हैं, तब ज्ञानादि द्वारा मनुष्यों की मुक्ति होती है ॥ ५६ ॥ सुकृत=पुण्य कर्म से पाप कर्म नष्ट नहीं होता है, किये गये पाप कर्म से भी पुण्य कर्म का नाश नहीं होता है, इस से प्रारब्ध रूप पुण्य पाप का भोग से ही नाश होता है ॥ ५७ ॥ और अपने कर्मों को भोगने वाला पुरुष अकेला संसार में बार २ आता है और जाता है, अपने कर्मों के अनुसार ही आना जाना होता है ॥ ५८ ॥ और जिस सत्यात्मा के अभिव्यक्त स्वरूप के विना यह देह शीघ्र ही गिर जाती है, केवल उसी का निरन्तर सेवन कर के काल गति=जन्मादि को तरता है=मुक्त होता है ॥ ५९ ॥ जन्म मरण जरा रोग को हरने=नाशने वाला और सब दुःखादि को हरने वाला और उत्तम काल को तरने का उपाय रूप परमात्मा का भजन है ॥ ६० ॥ प्रकृति, बुद्धि, अहङ्कार, पञ्च तन्मात्रा रूप आठ बन्धनों से जीव बन्धन युक्त कहलाता है, और उन आठ बन्धनों से रहित जीव मुक्त कहलाता है ॥ ६१ ॥ प्रथम प्रकृति, तब बुद्धि, फिर त्रिगुण रूप अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा इन को प्रकृति आदि अष्टक जानते हैं ॥ ६२ ॥ प्रकृति आठ से जन्य देह होतो है, देह जन्य कर्म कहा जाता है, फिर कर्मजन्य देह और जन्म कर्म बार २ होते हैं ॥ ६३ ॥ स्थूल, सूक्ष्म, कारण ये तीन प्रकार के शरीर समझना चाहिये। स्थूल देह कर्मादि व्यापार का दाता कहा गया है, और सूक्ष्म शरीर इन्द्रियों द्वारा भोग प्रद है ॥ ६४ ॥

कारणं त्वात्मभोगार्थं जीवकर्मानुरूपतः । सुखं दुःखं पुण्यपापैः कर्मभिः फलमश्नुते ॥६५॥
शिवपु० विद्येश्वरसंहि० अ० १८॥

जानन्नपीह संसारे भ्रमते घटीयन्त्रवत् । सर्वयोनिषु दुःखार्त्तः स्थावरेषु चरेषु च ॥६६॥
एवं योनिषु सर्वासु प्रतिक्रम्य भ्रमेण च । कालान्तरवशाद्याति मानुष्यमतिदुर्लभम् ॥६७॥
व्युत्क्रमेणापि मानुष्यं प्राप्यते पुण्यगौरवात् । विचित्रगतयः प्रोक्ताः कर्मणां गुरुलाघवात् ॥६८॥
मानुष्यं च समासाद्य स्वर्गमोक्षप्रसाधनम् । न चरत्यात्मनः श्रेयः स मृतः शोचते चिरम् ॥६९॥
देवासुराणां सर्वेषां मानुष्यं चातिदुर्लभम् । तत्सम्प्राप्य तथा कुर्यान्न गच्छेन्नरकं यथा ॥७०॥
स्वर्गापवर्गलाभाय यदि नास्ति समुद्यमः । दुर्लभं प्राप्य मानुष्यं वृथा तज्जन्मकीर्त्तितम् ॥७१॥
मानुष्येऽपि च विप्रत्वं यः प्राप्य खलु दुर्लभम् । न चरत्यात्मनः श्रेयः कोऽन्यस्तस्मादचेतनः ॥७२॥
यावत्स्वास्थ्यं शरीरस्य तावद्धर्मं समाचरेत् । अस्वस्थश्चोदितोऽप्यन्यैर्न कश्चित्कर्त्तुमुत्सहेत् ॥७३॥
अध्रुवेण शरीरेण ध्रुवं यो न प्रसाधयेत् । ध्रुवं तस्य परिभ्रष्टमध्रुवं नष्टमेव च ॥७४॥
यदा न ज्ञायते मृत्युः कदा कस्य भविष्यति । आकस्मिके हि मरणे धृतिं विन्दति कस्तथा ॥७५॥
शिवपु० उमासंहि० ५।अ० २० ॥

शुक्रोऽन्नाज्जायते शुक्राद्दिव्यदेहस्य सम्भवः । ऋतुकाले यदा शुक्रं निर्दोषं योनिसंस्थितम् ॥७६॥
तदा तद्वायुसंस्पृष्टं स्त्रीरक्तेनैकतां व्रजेत् । विसर्गकाले शुक्रस्य जीवः कारणसंयुतः ॥
संवृतः संविशेद्योनिं कर्मभिः स्वैर्नियोजितः ॥७७॥ शिवपु० उमासं० अ० २२ ॥

कारण शरीर इन्द्रियादि विना सुषुप्ति में आत्मानन्द के भोग के लिये है, सब भोग जीव के कर्मानुसार होते हैं, क्योंकि पुण्य पाप कर्मों से ही जीव सुख दुःख रूप फल को पाते हैं ॥६५॥ जानता हुआ भी कर्मवश संसार में स्थावर चर सब योनियो में दुःखों से पीड़ित जीव घटीयन्त्र के समान बार २ भ्रमता है ॥६६॥ इस प्रकार भ्रम से सब योनियों में परिक्रमण=भ्रमण कर के काल के बल से अतिदुर्लभ मनुष्यता को पाता है ॥६७॥ पुण्य की गुरुता=अधिकता से व्युत्क्रम=विपरीत क्रम से अन्य योनिओं में भ्रमण के विना भी मनुष्यता मिलती है, कर्मों की गुरुता लघुता से विचित्र गति कही गई है ॥ ६८ ॥ स्वर्ग मोक्ष के श्रेष्ठ साधन मनुष्यता को पा कर जो अपना शुभ नहीं करता है, वह मरने पर बहुत काल तक शोक करता है ॥ ६९ ॥ देव असुर सब को मनुष्यता अति दुर्लभ है, तिस को पाकर ऐसा उपाय करे कि जिससे नरक में नहीं जाय ॥ ७० ॥ दुर्लभ मनुष्यता को पाकर वर्तमान भी यदि स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति के लिये श्रेष्ठ उद्यम=यत्न नहीं करता है, तो वह जन्म व्यर्थ कहा गया है ॥ ७१ ॥ मनुष्यता में भी जो दुर्लभ विप्रता को पाकर अपना शुभ नहीं करता है उससे अन्य कौन अचेतन=जड़ है ? ॥ ७२ ॥ जब तक शरीर की स्वस्थता=आरोग्य है, तब तक धर्म का सम्यग् आचरण करे, अस्वस्थ = कोई रोगी मनुष्य, अन्य से चोदित=प्रेरित भी कर नहीं सकता है ॥ ७३ ॥ अध्रुव = अनित्य-चंचल शरीर से जो ध्रुव को नहीं साधता है, उस का ध्रुव नष्ट हो गया, और अध्रुव तो नष्ट है ही ॥ ७४ ॥ जब यह नहीं जानते हैं कि कब किसकी मृत्यु होगी, तो अचानक मरण में धीरज कौन पा सकता है ? ॥ ७५ ॥ अन्न से वीर्य होता है, और वीर्य से मनोहर देह की उत्पत्ति होती है, क्योंकि ऋतु काल में जब निर्दोष वीर्य योनि में स्थिर होता है, तब वहाँ के वायु से मिल कर स्त्री के रक्त के साथ एक होता, मिलता है, और वीर्य के त्याग काल में कर्मादिरूप कारण

शुक्रशोणितसंयोगाद्देहः संजायते यतः । नित्यं विण्मूत्रसम्पूर्णस्तेनायमशुचिः स्मृतः ॥७८॥
यथान्तर्विष्ठया पूर्णश्शुचिमान् न बहिर्घटः । शोध्यमानो हि देहोऽयं तेनाऽयमशुचिस्ततः ॥७९॥
हृद्यान्यप्यन्नपानानि यं प्राप्य सुरभीणि च । अशुचित्वं प्रयान्त्याशु किमन्यदशुचिस्ततः ॥८०॥
अहो मोहस्य माहात्म्यं येनेदं छादितं जगत् । शीघ्रं पश्यन् स्वकं दोषं कायस्य न विरज्यते ॥८१॥
स्वदेहस्य विगन्धेन न विरज्येत यो नरः । विरागकारणं तस्य किमेतदुपदिश्यते ॥८२॥
सर्वस्यैव जगन्मध्ये देह एवाशुचिर्भवेत् । तन्मलावयवस्पर्शाच्छुचिरप्यशुचिर्भवेत् ॥८३॥
ज्ञात्वैवं दोषवद्देहं यः प्राज्ञः शिथिलो भवेत् । देहभोगोद्भवाद् भावाच्छमचित्तः प्रसन्नधीः ॥८४॥
सोऽतिक्रामति संसारं जीवन्मुक्तः प्रजायते । संसारकदलीसारदृढग्राह्यवतिष्ठते ॥८५॥

शिवपु० उमासं० अ० २२ ॥

संसारविषवृक्षस्य द्वेफले ह्यमृतोपमे । ज्ञानामृतरसाऽऽस्वाद आलापः सज्जनैः सह ॥८६॥

चाणक्यनीति अ० १६।१८ ॥

कार्यस्य कारणात्मत्वाद्धेतोः कार्यतया स्थितेः । अविद्यैवोदितो बन्धस्तथा दुःखमथोच्यते ॥८७॥
सति बन्धे भवेद् दुःखं बन्धाभावे न दुःखिता । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हेतुर्दुःखस्य बन्धनम् ॥८८॥
यदि बन्धाद् भवेद् भिन्नं दुःखं वा दुःखसाधनम् । मुक्तस्यापि तदा नैव विनिवर्त्तेत दुःखिता ॥८९॥

सहित जीव अज्ञानादि से आवृत्त हो कर अपने कर्मों से प्रेरित होकर योनि में संप्रवेश करता=पैठता है ॥ ७६-७७ ॥ और चूंकि वीर्य रुधिरादि के संयोग से देह होती है, और सदा मल मूत्रादि से पूर्ण रहती है, अतः वह अपवित्र कही गई है ॥ ७८ ॥ जैसे भीतर मल से पूर्ण घट बाहर शुचिवाला नहीं है, वैसे यह देह भी उक्त कारण से बाहर शुद्ध करने पर भी अपवित्र हो है ॥ ७९ ॥ सुगन्ध प्रिय अन्न पानादि वस्तु भी जिस देह के सम्बन्ध को पाकर शीघ्र ही अपवित्र हो जाते हैं, उससे अन्य कौन अशुचि होगा ? ॥ ८० ॥ अद्भुत मोह का माहात्म्य=महिमा है, कि जिस मोह से आवृत्त यह संसारी शरीर के अपने दोषों को देख कर शीघ्र विरक्त नहीं होता है ॥ ८१ ॥ जो मनुष्य शरीर के दुर्गन्ध से विरक्त नहीं होता है, उस को विराग का कारण यहाँ क्या बताया जाय ? ॥ ८२ ॥ जगत् के मध्य में सब की देह ही अशुचि ही होती है, और उस देह के मल के अवयव के स्पर्श से शुचि भी अशुचि होता है ॥ ८३ ॥ जो विद्वान् इस प्रकार दोष वाली देह को जान कर शिथिल=देहाभिमान रहित होता है, देह के भोग जन्य भावना से भी शिथिल=उपराम होता है, शम युक्त प्रसन्न चित्त वाला, शान्ति युक्त प्रसन्न बुद्धि वाला वह विद्वान् संसार का अतिक्रमण करता है=संसार को त्यागता है और जीवन्मुक्त होता है। ओर संसार रूप कदली=केला के सार=आत्मा को दृढ़ता पूर्वक ग्रहण करने वाला, वह आत्मनिष्ठ होता है, ब्रह्म में स्थिर होता है ॥ ८४-८५ ॥ इस संसार रूप विष वृक्ष के दो फल अमृत तुल्य हैं, एक तो ज्ञान रूप अमृत के आनन्द का आस्वाद=अनुभव रूप है, दूसरा सज्जनों के साथ विचारादि रूप है ॥ ८६ ॥ कार्य के उपादान कारण रूप होने से और कारण के ही कार्य रूप से स्थिर होने से अविद्या ही बंध=संसार कही गई है, फिर दुःख कही जाती है ॥ ८७ ॥ बन्ध के रहते दुःख होते हैं, बन्ध के अभाव में दुःखोपन नहीं रहता है, इससे अन्वय व्यतिरेक से बन्ध ही दुःख का हेतु सिद्ध होता है ॥ ८८ ॥ यदि बन्ध संसार से भिन्न दुःख वा दुःख का साधन हों, तो मुक्त का भी दुःख नहीं निवृत्त हो सकता है ॥ ८९ ॥

बन्धो दुःखं जिहास्यत्वाद्यन्न दुःखं न तत्तथा । यथा मोक्षस्तथा नायं तस्मान्नैव तथापि सः ॥९०॥
यथा बन्धतयाऽविद्या स्थिता बन्ध इतीर्यते । तथा दुःखतया बन्धः स्थितो दुःखमितीर्यते ॥९१॥
विचारविन्दुपरिच्छे० १।४२-४३-४६-४९-५० ॥

इत्यष्टमं संसारप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ संसरणम् ॥ ९ ॥

ज्ञानाऽभावे जनोऽवश्यं संसृतिं प्रतिपद्यते । जन्म मृतिं च कष्टं च स्मर्त्तव्यं तन्मुमुक्षुभिः ॥१॥ तथाहि–
आम्रोदुम्बरसंज्ञानां पिप्पलानां तथा फलम् । पक्वं वृन्तात्पतेदेव प्रतिकारविवर्जितम् ॥२॥
एवमस्य शरीरस्य हेतोरारम्भकस्य हि । कर्मणः प्रक्षये देही देहमेतं विमुञ्चति ॥३॥
फलानां तरुभि र्यद्वत्तादात्म्यं पतनात्पुरा । मरणात्पुरतस्तद्वत्स्थूलै र्देहैरिहात्मनः ॥४॥
तादात्म्येऽपि यथा दृष्टो वियोगस्तरुभिः सदा । फलानामात्मनोऽप्येवं वियोगः स्याच्छरीरकैः ॥५॥
आत्मपु० अ० ६।८७७। इत्यादि ॥

यदाऽयं हृदयाकाश तादात्म्यं प्रतिपद्यते । मुमूर्षु स्तस्य पुरतो मार्गसन्दर्शनाय हि ॥
हृदयस्याग्रभागोऽत्र प्रज्वलत्यतिभूरिशः ॥६॥
यथा यियासतो राज्ञो दीपिका राजमार्गगाः । प्रज्वलन्ति तथैवास्य परलोकं यियासतः ॥७॥
तेनैव प्रकाशेन प्रकाशितमहापथः । पुरादेकादशद्वारादिन्द्रो निष्क्रामतीश्वरः ॥८॥

त्याग की इच्छा का विषय होने से भी बन्ध दुःख रूप है, जो दुःख नहीं है, उस को कोई त्यागना नहीं चाहता है, जैसे कि मोक्ष को नहीं त्यागना चाहता है । यह बन्ध मोक्ष के समान नहीं है, इससे वह अत्याज्य भी नहीं है ॥ ९० ॥ जैसे बन्ध रूप से स्थिर अविद्या बन्ध कही जाती है, तैसे दुःख रूप से स्थिर बन्ध संसार दुःख कहा जाता है ॥ ९१ ॥ आठवाँ संसार प्रकरण समाप्त ॥

अथ संसरण—ज्ञान के अभाव की दशा में मनुष्य अवश्य ही संसार के प्रवाह में पड़ता है, जन्म मरण और कष्ट पाता है, सो मुमुक्षु से विचारणीय है ॥ १ ॥ जैसे आम गूलर नामक वृक्ष और पिप्पल वृक्ष का पका हुआ फल प्रतीकार रहित = अवश्य गिरता ही है ॥ २ ॥ इसी प्रकार शरीर के आरम्भ = उत्पत्ति के हेतु रूप प्रारब्ध कर्म के क्षय = भोग से निवृत्त होने पर देही = जीव इस देह को अवश्य त्यागता है ॥ ३ ॥ गिरने से पहले जैसे फलों को वृक्षों के साथ तादात्म्य = भेदाभेद सम्बन्ध रहता है, तैसे ही मरण से प्रथम जीवात्मा को संसार में स्थूल देहों के साथ तादात्म्य = भेद सहिष्णु अभेद सम्बन्ध रहता है ॥४॥ तादात्म्य = अभेद होते भी जैसे फलों का वृक्षों से सदा वियोग देखा गया है, इसी प्रकार शरीरों से आत्मा का वियोग होता है ॥ ५ ॥ जब यह मुमूर्षु = शीघ्र मरण वाला, हृदयाकाश के साथ तादात्म्य को प्राप्त करता है, अन्य देह भाग के सम्बन्ध को त्याग देता है, तब तिस के आगे मार्ग के ज्ञान के लिये यहाँ हृदय के आगे का भाग = अंश, अति अधिक प्रकाशता है ॥६॥ जैसे कहीं जाने की इच्छा वाले राजा के राजमार्ग में प्राप्त दीप प्रकाशता है, तैसे ही परलोक में जाने की इच्छा वाले इस जीवात्मा के हृदय का अग्रभाग प्रकाशता है ॥७॥ उसी प्रकाश से प्रकाशित महामार्गवाला ईश्वर इन्द्र, नाभि आदि ग्यारह द्वार वाले पुर = देह से

नारकी पायुतो गच्छेत्कामी शिश्नाध्वना पुनः । नाभिमार्गेण निर्याति प्रायः प्रेतसमः पुमान् ॥९॥
अन्नासक्तस्तु निर्याति मुखतो बहुलो जनः । गन्धप्रियो विनिर्याति नासाविवरतः पुमान् ॥१०॥
गीतज्ञः श्रोत्रदेशेन गन्धर्वान् प्रायशो व्रजेत् । चक्षुषो निर्गतो गच्छेत्सवितारं प्रभानिधिम् ॥११॥
अन्यं वा तैजसं किञ्चिदग्निं वा चन्द्रमेव वा । मूर्धतो निर्गतो गच्छेद् ब्रह्मलोकमनिन्दितम् ॥१२॥
तं शरीराद्विनिष्क्रान्तं सुखदुःखोपभोगिनम् । पूर्वसंस्कारसहिते गच्छतो ज्ञानकर्मणी ॥
शुभाशुभे समुद्बुद्धे तादृग् देहं प्रयच्छतः ॥ १३ ॥
वृत्तिभि र्नयनं यद्वद्गच्छेन्नयनमण्डलात् । बहिर्ध्रुवादिकं देशं बहुलक्षादियोजनम् ॥१४॥
धर्माधर्माख्यसंस्कारैरेवं बुद्धिश्च वृत्तिभिः । पूर्वदेहस्थिता देहमन्यं यातीश्वरेच्छया ॥१५॥
आगास्यप्यसमीचीनं समीचीनधिया पुमान् । गृह्णाति सर्वदा जन्तुरीश्वरस्य वशे स्थितः ॥१६॥
वृहदा० वार्त्तिक० ४।४।१। इत्यादि ॥
कर्म कृत्स्नं समाप्यापि तत्त्वज्ञानाद् बहिष्कृतः । लभते निर्वृतिं नैव ज्ञानादेव हि सा यतः ॥१७॥
अज्ञानिनः स्यान्मरणं संसर्गः कारणात्मनि । ज्ञानाद् ध्वान्तनिवृत्तिस्तु मरणं स्याद्विपश्चिताम् ॥१८॥
अज्ञात्वैव परं रूपमागमापायरूपिणः । अस्वभूताद्देहलोकान्म्रियते योऽवशो नरः ॥१९॥
अप्रज्ञातात्मतत्त्वः सन् यदि नाम दिवानिशम् । कल्पकोटिसहस्राणि कुर्यात्कर्म महच्छुभम् ॥२०॥
तदप्यस्य तथा भूतमन्तवत्त्वात्प्रतिक्षणम् । विध्वंसमेत्यपचयात्कोष्ठागारादिव ध्रुवम् ॥२१॥

निकलता चलता है ॥८॥ नरक को पाने वाला गुदद्वार=मलद्वार से, कामी लिङ्गद्वार से, प्रेत तुल्य मनुष्य प्रायः=अधिकतर नाभिमार्ग से जाता है ॥९॥ अन्न में आसक्त बहुत जन मुख मार्ग से जाते हैं, गन्ध के प्रेमी मनुष्य नासिका द्वार से निकलता है ॥ १० ॥ गीत का ज्ञाता कान द्वारा निकल कर प्रायः गन्धर्वों को प्राप्त करता है, नेत्र से निकला हुआ जीव प्रभा निधि = प्रकाशाश्रय सूर्य को प्राप्त करता है ॥ ११ ॥ वा अन्य किसी तैजस=तेजोमय लोकादि को वा अग्नि अथवा चन्द्र को प्राप्त करता है, और शिर से ब्रह्मरन्ध्र द्वारा निकला हुआ अनिन्दित ब्रह्मलोक में जाता है ॥ १२ ॥ शरीर से निकले हुए सुख दुःख के उपभोग वाले उस जीव के पूर्व के संस्कार सहित ज्ञान और कर्म भी साथ जाते हैं, प्राप्त होते हैं, सो समुद्बुद्ध= प्रकट वासना सहित शुभ अशुभ कर्म तैसा ही=अपने सदृश शुभाशुभ देह देते हैं ॥ १३ ॥ जैसे नेत्र अपनी वृत्ति = परिणाम रोशनी द्वारा नयन मण्डल = नेत्र गोलक से बाहर बहुत लक्ष = लाख योजन ध्रुवादिरूप देश में जाता है ॥ १४ ॥ इसी प्रकार पूर्व देह में स्थिर बुद्धि भी, धर्माधर्मनामक संस्कार= वासना और वृत्तियों द्वारा ईश्वर की इच्छा से अन्य देह में जाती है ॥ १५ ॥ ईश्वर के वश में स्थिर मनुष्य प्राणी आगामी = भावी असमीचीन = असत्य-निन्दित-असुन्दर देहादि को भी सदा समीचीन बुद्धि से कर्मादि के अनुशार ग्रहण धारण करता है ॥ १६ ॥ इससे सब कर्मों को समाप्त करके भी तत्त्वज्ञान= आत्मानुभव से बहिष्कृत=रहित प्राणी निर्वृति=(सुख-मोक्ष) नहीं पाता है, जिससे वह ज्ञान ही से होती है ॥ १७ ॥ अज्ञानी का मरण कारणात्मा=कारण स्वरूप अज्ञानादि में संसर्ग=लयादि रूप होता है, और ज्ञानियों का मरण ज्ञान से ध्वान्त=अज्ञान तम की निवृत्ति रूप होता है ॥ १८ ॥ अवश = परतन्त्र जो मनुष्य परब्रह्म स्वरूप को नहीं जान कर, आगमापाय=जन्म मरण रूप वाले अनात्म स्वरूप देहरूप लोक से मरता = निकलता है ॥ १९ ॥ सो यदि आत्मतत्त्व को अच्छी तरह नहीं जानता हुआ, दिन रात को सदा कल्पों के करोड़ों सहस्र काल तक महान् शुभ कर्म करे ॥ २० ॥ तो भी इसके वह वैसा भी कर्म

क्षयः कर्मफलस्योक्तः कृतकत्वसमन्वयात् । न क्षयो ज्ञानकार्यस्य कृतकत्वाद्यसम्भवात् ॥२२॥
वृहदा० वार्त्तिक० अ० १।४।१६०७१–७२ । इत्यादि ॥

प्रतीन्द्रियं दश दश निर्गता विषयोन्मुखाः । नाड्यः कर्मादिहेतूत्थाः स्वप्नादिफलभुक्तये ॥२३॥
वहन्त्यम्भो यथा नद्यो नाड्यः कर्लफलं तथा । अनन्तैकोर्ध्वगा नाडी तया गच्छन् विमुच्यते ॥२४॥
वृहदा० वार्त्तिक० अ० २।१।३२३–२४ ॥

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं नरकमेव वा ॥२५॥
पश्य मायाप्रभावोऽयमीश्वरेण यथा कृतः । यो हन्ति भूतै र्भूतानि मोहयित्वाऽऽत्ममायया॥२६॥
महाभा० वनप० अ० ३०।२८–३२ ॥

बीजं पिता क्षेत्रमयी जनित्री वृष्टिस्तु कर्माणि शुभाशुभानि ।
भूतानि सस्यप्रतिमानि लोके जातानि जातानि लुनाति कालः ॥२७॥ महाभा० शान्तिपर्व० ॥

ये नरा ज्ञानशीलाश्च ते यान्ति परमां गतिम् । पापशीला नरा यान्ति दुःखेन यमयातनाम् ॥२८॥
गरुडपु० प्रेतकल्पअ० १।१७ ॥

मूर्खे वा पण्डिते वापि दरिद्रे वा श्रियाऽन्विते । सबले निर्बले वापि समवर्ती यमः स्मृतः ॥२९॥
गरुडपु० प्रेतकल्पअ० ३।२६ ॥

मुखं च चक्षुषी नासे कर्णौ द्वाराणि सप्त च । एभ्यः सुकृतिनो यान्ति योगिनस्तालुरन्ध्रतः ॥३०॥
गरुडपु० प्रेतकल्पअ० ९।३७ ॥

अन्त = नाश वाला होने से प्रतिक्षण में अपचय = अपहरण-हानि से नाश को अवश्य प्राप्त होता है, जैसे कोष्ठागार = कोठो युक्त गृह से धान्यादि नष्ट होता है ॥ २१ ॥ कार्यता के सम्बन्ध से कर्म के फल का नाश कहा गया है, ज्ञान के कार्य मोक्ष का नाश नहीं होता है, क्योंकि उसमें कार्यता आदि का असम्भव है, आत्मस्वरूप मोक्ष की ज्ञान से अभिव्यक्ति होती है, इससे ज्ञान का कार्य कहलाता है, परन्तु उत्पत्ति नहीं होती है ॥ २२ ॥ विषय के लिये उन्मुख कर्मादि हेतु से जन्य, हर एक इन्द्रियद्वार पर जाने वाली दश दश नाड़ी हृदय से निकली हैं, जो कि स्वप्नादि के फलों के भोग के लिये हैं ॥ २३ ॥ जैसै नदियाँ जल को प्राप्त कराती हैं । तैसे ही मरण कालादि में कर्म फल को प्राप्त कराती हैं, अनन्ता नामक एक ऊर्ध्वगा नाड़ी है, उस द्वारा गमन करने वाला विमुक्त होता है=ब्रह्मलोक को पाता है ॥२४॥ यह अज्ञानी प्राणी, अपने सुख दुःख में अनीश = असमर्थ है, इससे ईश्वर से प्रेरित हो कर स्वर्ग वा नरक में जाता है ॥ २५ ॥ ईश्वर से किया गया जैसा यह माया का प्रभाव = तेज-सामर्थ्य है, उस को देखो, कि–जो ईश्वर अपनी माया से मोहित करके भूतों द्वारा भूतों को मारता है ॥ २६ ॥ पिता बीज है, माता खेत रूप है, शुभाशुभ कर्म वृष्टि तुल्य हैं, और लोक में प्राणी सस्य = खेती तुल्य हैं । बार २ उत्पन्न हुए इन सब को काल रूप ईश्वर काटता है ॥२७॥ और जो मनुष्य ज्ञानी हैं, सो परम गति = मोक्ष पाते हैं, पापी मनुष्य मरने पर यमयातना = यमदण्ड को दुःख से पाते सहते हैं ॥ २८ ॥ मूर्ख वा पण्डित, दरिद्र वा धनी, सबल वा निर्बल में कर्मानुसार तुल्य बर्ताव = व्यवहार कर्ता यम कहा गया है ॥२९॥ मुख, नेत्र, नासिका, कान, ये सात द्वार हैं, इनसे पुण्यात्मा लोग जाते हैं, योगी लोग तालु के विवर

मानुष्यं दुर्लभं प्राप्य नित्यं यस्तु न साधयेत् । स याति नरकं घोरं कोऽन्यस्तस्मादचेतनः ॥३१॥
अस्थिरेण शरीरेण योऽस्थिरैश्च धनादिभिः । सञ्चिनोति स्थिरं धर्मं स एव बुद्धिमान्नरः ॥३२॥
गरुडपु० प्रेतकल्प० अ० १४।७९-८० ॥

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्त्वमेति विश्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥३३॥ कठोपनिष० अ० २।६।१६॥
धर्माद्देवत्वमेति व्रजति पुनरधः पातकैः स्थावरादीन् ।
देहान् प्राप्य प्रणश्यन् क्वचिदपि लभते मानुषत्वं च ताभ्याम् ॥३४॥
कर्मज्ञानोभयेन व्रजति विधिपदं मुच्यते कोऽपि तस्मिन् ।
रागी प्रत्येति भूयो जनिमृतिविषमं बंभ्रमीतीह लोकः ॥३५॥ स्वाराज्यसि० प्र० १।५२ ॥
पति र्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स्वमातरम् । जायैव माता सम्पन्नेत्यहो संसारकष्टता ॥३६॥
अनुभूतिप्रका० अ० १ ॥

पश्यत्यात्मानमन्यत्तु यावद्वै परमात्मनः । तावत्संभ्राम्यते जन्तु र्मोहितो निजकर्मणा ॥३७॥ विष्णुध०॥
वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात्पिण्डः पिण्डात्तथेन्द्रियम् । इन्द्रियेभ्यः प्रियः प्राण आत्मा प्रियतमस्ततः ॥३८॥
अनात्मा प्रिय इत्येवं यो मुह्यति स पामरः । विनाशित्वमुदाहृत्य मूढं तं बोधयेद् बुधः ॥३९॥
अनात्मा भोगकालेऽस्य सुखं यावत्प्रयच्छति । तत्सहस्रगुणं दुःखं नाशकाले प्रयच्छति ॥४०॥
अनुभूतिप्र० अ० १३ ॥

=छिद्र द्वारा निकलते हैं ॥ ३० ॥ दुर्लभ मनुष्यता पा कर जो योगादि द्वारा नित्य मोक्षादि को नहीं सिद्ध करता=पाता है, सो भयानक नरक में जाता है, तो उससे अन्य अचेतन=जड़ कौन होगा ? ॥३१॥ अस्थिर=विनश्वर शरीर और धनादि से जो स्थिर धर्म का संचय=संग्रह करता है, वही बुद्धिमान् मनुष्य है ॥३२॥ हृदय में एक सौ एक नाड़ी हैं, उन में से एक नाड़ी निकलती हुई शिर को पहुँची है, उस नाड़ी द्वारा हृदय से ऊपर जाने वाला अमृतत्त्व=ब्रह्मलोक को पाता है, और अन्य सब नाड़ियों द्वारा उत्क्रमण=गमन होने पर विश्वक्=विष्वक्-सर्वतः अनन्त संसार में प्राप्त होते हैं ॥ ३३ ॥ धर्म से देवभाव को पाता है और पापों से बार २ अधोगति स्थावरादि को पाता है, देहों को पाकर प्रनष्ट होता हुआ कहीं उन धर्माधर्मों से कभी मनुष्यता पाता है, तिन मनुष्यों में कोई कर्मोपासना दोनों से ब्रह्मा के स्थान को पाता है, तहाँ कोई निष्काम पुरुष ज्ञान पाकर मुक्त होता है, और रागी फिर भी जन्ममरणादि से विषम=कठिन भयंकर संसार में आते हैं, इस प्रकार यहाँ लोक बार २ भ्रमते हैं ॥ ३४-३५ ॥ पति ही गर्भ=बच्चा बन कर अपनी माता में प्रवेश करता है, क्योंकि पुत्र पिता का आत्मा कहलाता है, इससे जाया=स्त्री ही माता सिद्ध हो गई, इससे संसार की कष्ट रूपता अद्भुत है ॥ ३६ ॥ और प्राणी जब तक अपने आत्मा को परमात्मा से अन्य वस्तु समझता है, तब तक अपने ही कर्म से मोहित हो कर कष्ट में संभ्रमण करता और कराया जाता है ॥ ३७ ॥ धन से पुत्र, पुत्र से देह, देह से इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से प्राण, उत्तरोत्तर अधिक प्रिय हैं और प्राण से भी आत्मा अत्यन्त प्रिय है ॥ ३८ ॥ तहाँ जो पामर=नीच अनात्मा प्रिय है, ऐसा समझ कर मोह करता है, विद्वान् पुरुष उस मूढ़ को शरीरादि की विनश्वरता अनात्मता को स्वप्नादि के विनाशित्व के उदाहरण=दृष्टान्त देकर समझावे ॥ ३९ ॥ क्योंकि इस अज्ञ को भोग

स्वप्रकाशात्मचैतन्यमज्ञानस्य न बाधकम् । भासकं प्रत्युतैतस्य स्वानन्दस्य यथा तथा ॥४१॥
अनु० प्र० अ० ४ ॥

निरुपाधिब्रह्मतत्त्वं जगदाकारभाङ् नहि। मायोपाधिक एवाऽयं सर्वज्ञः सृजते जगत्॥४२॥ अनु०प्र०अ०६॥

यस्तु भेदं प्रकुरुते स्वात्मनश्च परस्य च । भिन्नदृष्टेर्भयं मृत्युस्तस्य कुर्यान्न संशयः ॥४३॥
अध्यात्मरा० कां० ७।७।७७ ॥

एकश्च सूर्यो बहुधा जलाधारेषु दृश्यते । आभाति परमात्मापि सर्वोपाधिषु संस्थितः ॥४४॥

द्वैतभ्रान्तिरविद्याख्या विकल्पो न च तत्तथा । परत्र बन्धागारः स्यात्तेषामात्माभिमानिनाम् ॥४५॥
ब्रह्मपुरा० ॥

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् । वेदान्तदर्श० । अ० ३।१।१ ॥ देहान्तरप्राप्तौ वासनया भूतसूक्ष्मैः सहितो गच्छति, पञ्चम्यामाहुतौ यथाऽऽपः पुरुषवचसो भवन्ति तथा तस्य प्रश्नोत्तराभ्यामित्यादि ॥४६॥ इति नवमं संसरणप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ देहतत्त्वम् ॥ १० ॥

देहाद्देहान्तरप्राप्तिः संसरणमुदाहृतम् । देहतत्त्वमिदानीं तु कथ्यते वै समासतः ॥१॥ तथाहि—

रसाद्वै शोणितं जातं शोणितान्मांसमुच्यते । मांसात्तु मेदसो जन्म मेदसोऽस्थीनि चैव हि ॥

अस्थ्नो मज्जा समभवन्मज्जातः शुक्रमेव च ॥ २ ॥ हरिवं० १।४०।४८ ॥

काल में अनात्मवस्तु जितना सुख देती है, उस के हजारों गुणी दुःख नाश काल में देती है ॥ ४० ॥ स्वयं प्रकाश आत्मा रूप चेतनता मोहादि के हेतु अज्ञान का नाशक नहीं है, उलटे उसका प्रकाशक है, कि जैसे अपने आनन्द का प्रकाशक है ॥ ४१ ॥ और ज्ञान से प्राप्य निरूपाधि = माया अज्ञानादि रहित ब्रह्म स्वरूप जगदाकार = देहादि प्राप्त करने वाला नहीं है, वह निर्विकार एक रस है, माया रूप उपाधि वाला यह सर्वज्ञ ईश्वर ही जगत् को रचता है ॥ ४२ ॥ इससे जो कोई अपने शुद्धात्मा और परब्रह्म में भेदभाव करता है, उस अभिन्न को भिन्न समझता है, उस भिन्न दृष्टि वाले को मृत्यु भय करता=देता है, इस में संशय नहीं है, ॥ ४३ ॥ जैसे एक ही सूर्य जलाधार में बहुधा दीखता है, तैसे ही परमात्मा भी सब उपाधि बुद्धि आदि में सम्यग् स्थिर प्रकाशता है ॥ ४४ ॥ द्वैत की भ्रान्ति = भेद का मिथ्या ज्ञान अविद्या नामक विकल्प = विरुद्ध ज्ञान है, वह वैसा सत्य नहीं है, इससे उस द्वैत में तीन आत्माभिमानियों को परलोक में वह विकल्प भ्रम ही बन्धागार संसारादि रूप होगा ॥४५॥ क्योंकि देहान्तर की प्राप्ति में अज्ञान भ्रमादि मूलक वासना और भूतों के सूक्ष्मांशों से संवेष्टित ही जीव लोकान्तरादि में जाता है, अन्यथा नहीं, यह बात श्रुतिगत प्रश्न और उसके उत्तर से सिद्ध होती है ॥ ४६ ॥ नववाँ संसरणप्रकरण समाप्त ॥

अथ देहतत्त्व—एक देह से अन्य देह में सदा प्राप्तिरूप संसरण कहा गया है, इस समय देह के तत्त्वों = पदार्थों स्वरूपों को समास = संक्षेप से कहा जाता है ॥ १ ॥ कि–भौतिक अन्न के भोजन से रस बनता है, उस रस से रुधिर होता है, रुधिर से मांस कहा गया है, मांस से मेद की उत्पत्ति होती है, मेद से अस्थियाँ होती हैं, उससे मज्जा बनता है, मज्जा से शुक्र = वीर्य होता है, ये

शरीरं तावदेवं हि षण्णवत्यङ्गुलात्मकम् । विद्ध्येतत्सर्वजन्तूनां स्वाङ्गुलीभिरिति प्रिये ॥३॥
शरीरादधिकः प्राणो द्वादशाङ्गुलमानतः । चतुर्दशाङ्गुलं केचिद्वदन्ति मुनिपुङ्गवाः ॥
द्वादशाङ्गुलमेवेति वदन्ति ज्ञानिनो नराः ॥ ४ ॥ याज्ञवल्क्यसंहि० अ० ३ ॥
जन्ममृत्यू भजेद्देहोऽवश्यमेव जगत्त्रये । नानाभावजुषो नात्मा निर्विकारो निराकृतिः ॥५॥
अतो मृत्यो र्न भेतव्यं मृते शोको न युज्यते । विवेकेन हि बोद्धव्य आत्मा देहाद्विलक्षणः ॥६॥ उक्तंच—
श्लेष्माश्रु बान्धवै र्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः । अतो न रोदितव्यं हि तदा शोकान्निरर्थकात् ॥७॥
न हि कश्चिदुपायोऽस्ति दैवो वा मानुषोऽपि वा । यो हि मृत्युवशं प्राप्तो जन्तुः पुनरिहाव्रजेत् ॥८॥
अवश्यं भाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि । तदा दुःखै र्न युज्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः ॥९॥
गरुडपु० अ० ११ ॥
कामः क्रोधस्तथा मोहो भयं लोभस्तथैव च । व्योमजानि भवन्त्यत्र देहे सर्वस्य देहिनः ॥१०॥
कटिश्च हृदयं कण्ठ उदरं च शिरस्तथा । नभःप्रकृतिकान्यत्र भवन्ति कस्यचिन्मते ॥११॥
चलनं वलनं चैव प्रसारणं तथैव च । गमनाऽऽकुञ्चने पञ्च वायुजानि भवन्ति वै ॥१२॥
क्षुधा तृषा तथाऽऽलस्यं निद्रा कान्तिस्तथैव च । भवन्ति वह्निजान्येव देहे सर्वस्य सर्वथा ॥१३॥
वीर्यं च रुधिरं लाला मूत्रं स्वेदस्तथैव च । जलजान्यस्थि मांसं त्वङ्नाडी रोम च भूमितः ॥१४॥

ही देह में सात धातु कहलाते हैं ॥ २ ॥ इस प्रकार के सब मनुष्यों के स्थूल शरीर अपनी २ अङ्गुलियों से ९६ अङ्गुली के होते हैं, हे प्रिये ! प्रथम इसी को समझो ॥ ३ ॥ इस शरीर से द्वादश १२ अंगुल अधिक प्रमाण वाले प्राण हैं, कोई श्रेष्ठ मुनि चतुर्दश १४ अङ्गुल अधिक कहते हैं, परन्तु ज्ञानी मनुष्य द्वादश १२ अङ्गुल ही अधिक कहते हैं, यह याज्ञवल्क्यजी ने अपनी स्त्री से कहा है ॥ ४ ॥ तीनों लोक में देह अवश्य ही जन्म मरण पाती है, क्योंकि देह नाना भाव=स्वभाव अवस्था को धारण करने वाली विकारी है, और विकारों से रहित निराकार आत्मा है, इस से आत्मा जन्म मरणादि वाला नहीं है ॥ ५ ॥ इस से मरण से डरना नहीं चाहिये न किसी के मरने पर शोक ही करना चाहिये, किन्तु विवेकादि द्वारा देह से विलक्षण आत्मा को समझना चाहिये, कि जिससे अज्ञान की निवृत्ति द्वारा मुक्ति हो ॥६॥ सो कहा है, कि–बन्धुओं से मुक्त=गिराये गये कफ अश्रु = आंसू को यतः प्रेत अवश्य भोगता है, अतः उस मरणादि काल में निरर्थक शोक से रोना नहीं चाहिये ॥ ७ ॥ देव वा मनुष्य सम्बन्धी वह कोई उपाय नहीं है, कि जो जन्तु मृत्यु के वश में प्राप्त है, सो फिर यहाँ उस उपाय से आवे ॥ ८ ॥ अवश्य होने वाले भावों का यदि प्रतीकार = निवारण होता, तो नल, राम और युधिष्ठिर दुःखों से युक्त नहीं होते ॥ ९ ॥ यहाँ सब के देह में कामादि पंच आकाशतत्त्वजन्य स्वभाव होते हैं ॥ १० ॥ किसी के मत में कटि = श्रोणि-कमर, हृदय, कण्ठ, उदर, शिर, ये पांच आकाश प्रकृति = स्वभाव वाले होते हैं ॥ ११ ॥ चलन=कम्पन, वलन=संवरण-धारण, प्रसारण, गमन, आकुञ्चन, ये पांच स्वभाव वायु जन्य होते हैं ॥ १२ ॥ भूख, पिपासा, आलस्य, निन्द्रा, कान्ति=शोभा, दीप्ति, तेज, ये पांच सब की देह में सर्व प्रकार के अग्नि जन्य होते हैं ॥ १३ ॥ वीर्य, रुधिर, लार, मूत्र, स्वेद = पसीना, ये पांच ज़ल जन्य होते हैं और हाड़, मांस, त्वक्, नाड़ी, रोम, ये पांच भूमि से होते हैं ॥ १४ ॥

भीतिर्हि भूमितो व्योम्नि मोहश्च जलतो भवेत् । क्रोधश्चाग्निभवः कामो वायुजो लोभकः स्वतः ॥१५॥
वायौ व्योमभवं ज्ञेयं प्रसारणं च वह्निजम् । वलनं जलजं चैव गमनं भूमितस्तथा ॥
आकुञ्चनं हि विज्ञेयं चलनं निजतो भवेत् ॥१६॥
वह्नौ वायुभवा तृड् स्यान्निद्रा व्योमभवा तथा । जलजा कान्तिरालस्यं भूमितश्च क्षुधा स्वतः ॥१७॥
जले वह्निभवं मूत्रं पित्तं तज्जनितं तथा । वातजश्च भवेत्स्वेदो लाला व्योमभवा सदा ॥
रुधिरं भूमिजं ज्ञेयं वीर्यं स्वांशः प्रकीर्त्तितः ॥१८॥
भूमौ वारिभवं मासं नाडी वह्निभवा तथा । त्वक् च वायुभवा रोम व्योमजं च स्वतोऽस्थि यत्॥१९॥
भूतसत्त्वांशजं सर्वं बुद्धीन्द्रियमनोमुखम् । प्राणः कर्मेन्द्रियाण्येव रजोगुणभवानि वै ॥२०॥
तमस्तयोश्च साहाय्यं करोति गुणयोः किल । कार्ये साक्षी भवत्यात्मा ह्यसङ्गो दोषवर्जितः ॥२१॥

इति देहे भूतप्रकृतयः = स्वभावाः ॥

चक्षुरध्यात्मं द्रष्टव्यमधिभूतमादित्यस्तत्राधिदैवतम् ॥ २२ ॥
श्रोत्रमध्यात्मं श्रोतव्यमधिभूतं दिशस्तत्राधिदैवतम् ॥ २३ ॥
नासाऽध्यात्मं घ्रातव्यमधिभूतं पृथिवी तत्राधिदैवतम् ॥ २४ ॥
जिह्वाऽध्यात्मं रसयितव्यमधिभूतं वरुणस्तत्राधिदैवतम् ॥ २५ ॥
त्वगध्यात्मं स्पर्शयितव्यमधिभूतं वायुस्तत्राधिदैवतम् ॥ २६ ॥
मनोऽध्यात्मं मन्तव्यमधिभूतं चन्द्रस्तत्राधिदैवतम् ॥ २७ ॥

आकाश की प्रकृतियों में भूमि से भय पञ्चीकरण द्वारा प्राप्त हुआ है, मोह जल से होता है, क्रोध अग्नि जन्य है, काम वायु जन्य हैं, लोभ अपना स्वयं है ॥ १५ ॥ वायु में आकाश जन्य प्रसारण समझना, और अग्नि जन्य वलन है, जल जन्य गमन हैं, भूमि से आकुञ्चन है, चलन अपने से होता है ॥ १६ ॥ अग्नि में वायु जन्य पिपासा है, निद्रा आकाश जन्य है, जलजन्य कान्ति है, भूमि जन्य आलस्य है, भूख स्वतः है ॥ १७ ॥ जल में अग्नि जन्य मूत्र है, पित्त भी अग्नि जन्य है, वायुजन्य स्वेद होता है, लार आकाश जन्य है, रुधिर भूमि जन्य है, वीर्य अपना अंश कहा गया है ॥ १८ ॥ भूमि में जल जन्य मांस है, नाड़ी अग्नि जन्य है, त्वक् वायु जन्य है, रोम आकाश जन्य है, अपने हाँड़ हैं ॥ १९ ॥ सब भूतों के मिलित सत्त्वगुण रूप अंश से जन्य मन बुद्धि आदि सब अन्तःकरण हैं, और आकाशादि एक २ भूत के सत्त्वांश से श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रिय होती हैं, प्राण और कर्मेन्द्रिय भूतों के रजोगुण अंश से उत्पन्न होती हैं और तमोगुण उन सत्त्व रजः दोनों गुणों के कार्य में सहायता करता है, अपना कोई स्वतन्त्र कार्य नहीं उत्पन्न करता है, दोष रहित असङ्ग आत्मा कार्य में साक्षी मात्र होता है ॥ २१ ॥ चक्षु = नेत्र, अध्यात्म = जीवात्मा देह के आश्रित कहलाता है, देखने योग्य रूपादि पृथिव्यादि भूत के सम्बन्धी हैं, और वहाँ सूर्य अधिदैवत = नेत्र के अधिष्ठाता देव हैं ॥ २२ ॥ कान अध्यात्म है, तब श्रोतव्य शब्द अधिभूत है, तहाँ दिशा अधिदैवत है ॥ २३ ॥ नाक अध्यात्म है, गन्ध अधिभूत है, वहाँ पृथिवी के अभिमानी देव अधिदैवत ॥ २४ ॥ जिह्वा अध्यात्म है, रसस्वाद योग्य वस्तु अधिभूत है, वहाँ वरुण अधिदेव हैं ॥ २५ ॥ त्वक् अध्यात्म है, स्पर्श योग्य वस्तु अधिभूत है, वहाँ वायु अधिदैवत है ॥ २६ ॥ मन अध्यात्म है,

बुद्धिरध्यात्मं बोद्धव्यमधिभूतं ब्रह्मा तत्राधिदैवतम् ॥ २८ ॥

बुद्धिरध्यात्ममित्युक्तं बोद्धव्यं तत्र यद्भवेत् । अधिभूतं तदित्युक्तमधिदैवं बृहस्पतिः ॥२९॥

इति वार्त्तिकम् ॥

अहङ्कारोऽध्यात्ममहङ्कर्त्तव्यमधिभूतं रुद्रस्तत्राधिदैवतम् ॥ ३० ॥

चित्तमध्यात्मं चेतयितव्यमधिभूतं क्षेत्रज्ञस्तत्राधिदैवतम् ॥ ३१ ॥

वागध्यात्मं वक्तव्यमधिभूतमग्निस्तत्राधिदैवतम् ॥ ३२ ॥

हस्तावध्यात्ममादव्यमधिभूतमिन्द्रस्तत्राधिदैवतम् ॥ ३३ ॥

पादावध्यात्मं गन्तव्यमधिभूतं विष्णुस्तत्राधिदैवतम् ॥ ३४ ॥

पायुरध्यात्मं विसर्जयितव्यमधिभूतं मृत्युस्तत्राधिदैवतम् ॥ ३५ ॥

पायुरध्यात्ममित्याहु र्यथातत्त्वार्थदर्शिनः । विसर्गमधिभूतं च मित्रस्तत्राधिदैवतम् ॥३६॥ इतिमहाभारते॥

उपस्थोऽध्यात्ममानन्दयितव्यमधिभूतं प्रजापतिस्तत्राधिदैवतम् ॥३७॥

तमोऽध्यात्ममिति प्रोक्तं विकारस्तत्र यो भवेत् । अधिभूतं तदित्युक्तमीश्वरोऽत्राधिदैवतम् ॥३८॥

दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः । चन्द्रो विष्णुश्चतुर्वक्त्रः शम्भुश्च करणाधिपाः ॥३९॥

अत्र प्राणस्याश्विरधिदेवत्वेनोक्तः ।सुबालोपनिषदादौ ॥

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्नाख्या तृतीयका । गान्धारी गजजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ॥४०॥

अलम्बुषा कुहूश्चापि शङ्खिनी दशमी तथा । पिण्डमध्यस्थिता ह्येताः प्रधाना दशनाडिकाः ॥४१॥

प्राणोऽपानः समानाख्य उदानो व्यान एव च । नागः कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः ॥४२॥

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले । उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः ॥४३॥

मनन योग्य अधिभूत है, वहाँ चन्द्रमा अधिदेव हैं ॥ २७ ॥ बुद्धि अध्यात्म है, ज्ञेय वस्तु अधिभूत है, वहाँ ब्रह्मा अधिदैवत हैं ॥ २८ ॥ बृहस्पति को यहाँ अधिदैवत रूप वार्तिक में कहा गया है ॥ २९ ॥ अहङ्कार अध्यात्म है, अहङ्कार के विषय देहादि अधिभूत हैं, तहाँ रुद्र अधिदेव हैं ॥ ३० ॥ चित्त अध्यातम है, चित्त का विषय अधिभूत है, वहाँ क्षेत्रज्ञ अधिदैवत है ॥ ३१ ॥ वाक् अध्यात्म है, वक्तव्य शब्द अर्थ अधिभूत है, वहाँ अग्नि अधिदैव हैं ॥ ३२ ॥ हाथ अध्यात्म है, हाथ से लेने योग्य वस्तु अधिभूत है, वहाँ इन्द्र अधिदैवत हैं ॥३३॥ पैर अध्यात्म है, गन्तव्य देशादि अधिभूत हैं, तहाँ विष्णु अधिदैवत हैं ॥ ३४ ॥ पायु = गुदेन्द्रिय अध्यात्म है, त्याग योग्य मल अधिभूत है, वहाँ मृत्यु अधिदैवत है ॥ ३५ ॥ यथार्थ तत्त्व को जानने वाले पायु को अध्यात्म और मलविसर्ग=त्याग को अधिभूत, और वहाँ मित्र=सूर्य को अधिदैवत कहते हैं। यह महाभारत में कहा है ॥३६॥ उपस्थ अध्यात्म है, उससे आनन्द के लिये भोग्य वस्तु अधिभूत है, वहाँ प्रजापति अधिदैवत है ॥३७॥ तमोगुण अध्यात्म है, उस में जो विकार होता है सो अधिभूत कहा गया है, वहाँ ईश्वर अधि दैवत हैं ॥३८॥ इससे दिशा, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, मृत्यु, चन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, शम्भु, करणों = इन्द्रियों के अधिष्ठाता हैं, इस वचन में प्राण का अधिदेवत अश्विं को कहा है ॥३९॥ इडा आदि नामवाली शरीर के मध्य में स्थिर दश प्रधान नाड़ी हैं ॥ ४०-४१ ॥ ऐसे ही प्राण अपानादि नाम वाले दश प्राण देह में हैं ॥ ४२ ॥ तहाँ हृदय में मुख्य रूप से प्राण रहता है, गुदा में

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः । कृकलः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥
न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनञ्जयः ॥४४॥
भुवनानि च सर्वाणि पर्वतद्वीपसागराः । आदित्यादिग्रहाः सन्ति शरीरे पारमार्थिके ॥४५॥
पादादधस्तलं ज्ञेयं पादोर्ध्वं वितलं तथा । जानुनोः सुतलं विद्धि सक्थिदेशे महातलम् ॥४६॥
तलातलं सक्थिमूले गुह्यदेशे रसातलम् । पातालं कटिसंस्थं च सप्तलोकाः प्रकीर्त्तिताः ॥४७॥
भूर्लोकं नाभिमध्ये तु भुवर्लोकं तदूर्ध्वके । स्वर्लोकं हृदये विद्यात्कण्ठदेशे महस्तथा ॥४८॥
जनलोकं वक्त्रदेशे तपोलोकं ललाटके । सत्यलोकं ब्रह्मरन्ध्रे भुवनानि चतुर्दश ॥४९॥
इत्यादि गरुडपु० अ० ३२ ॥
मूलाधारे लिङ्गदेशे नाभ्यां हृदि च कण्ठके । भ्रुवोर्मध्ये ब्रह्मरन्ध्रे क्रमाच्चक्राणि चिन्तयेत् ॥५०॥ तत्र च-
चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षड्दलम् । नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यसंख्यादलं हृदि ॥५१॥
कण्ठे स्यात् षोडशदलं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा । सहस्रदलमाख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथे ॥५२॥ उपनिष० ॥
मानुष्ये कदलीस्तम्भ निःसारे सारमार्गणम् । करोति यः स सम्मूढो जलबुद्बुदसन्निभे ॥५३॥
पञ्चधा सम्भृतः कायो यदि पञ्चत्वमागतः । कर्मभिः स्वशरीरोत्थैस्तत्र का परिदेवना ॥५४॥
गन्त्री वसुमती नाशमुदधि दैवतानि च । फेनप्रख्यः कथं नाशं मर्त्यलोको न यास्यति ॥५५॥

अपान रहता है, नाभि देश में समान नाम वाला प्राण रहता है, उदान कण्ठ देश में और व्यान सर्व शरीर में व्यापक रहता है ॥ ४३ ॥ उद्गार = उद्गमन ढकार कार्य में हेतु रूप नाग वायु कहा गया है, नेत्र के उन्मीलनादि = खोलने आदि में हेतु रूप कूर्म कहा गया है, कृकल को क्षुत्कारक = थूकादिनिष्कासन का हेतु समझना चाहिये, देवदत्त विजृम्भण = जंभाई में हेतु है । सर्वत्र व्यापक धनंजय मृत देह को भी नहीं त्यागता है ॥ ४४ ॥ शरीर के अन्दर वर्तमान आत्मशक्ति स्वरूप पारमार्थिक शरीर में, वासनादिरूप से सब भुवन, पर्वत, द्वीप, सागर, सूर्यादिग्रह सब वर्तमान हैं ॥ ४५ ॥ तहाँ पैर से नीचे तल लोक, पाद से ऊपर वितल लोक समझना चाहिये, जानु = उरूजंघा के मध्य को सुतल लोक जानो, सक्थि उरू देश में महातल लोक जानो ॥ ४६ ॥ सक्थि के मूल देश में तलातल जानो, गुह्य देश में रसातल जानो, कटि में स्थिर पाताल को जानो, ये नीचे के सात लोक कहे गये हैं ॥ ४७ ॥ भूमि लोक नाभि के मध्य में जानो, अन्तरिक्ष लोक उस के ऊपर समझो, हृदय में स्वर्ग लोक को समझना, कण्ठ देश में मह लोक जानना, मुख देश में जन लोक जानना, ललाट में तपोलोक समझना, ब्रह्मरन्ध में सत्य लोक जानना, इस प्रकार चौदह भुवन हैं ॥ ४८-४९ ॥ और मूलाधार = गुदा देश में, लिङ्ग देश में, नाभि, हृदय, कण्ठ, दोनों भ्रू के मध्य और ब्रह्मरन्ध में, क्रम से चक्रों का चिन्तन करे ॥ ५० ॥ और उसमें आधार चक्र चार दल वाला है, स्वाधिष्ठान चक्र छः दल वाला है, नाभि में दश दल युक्त है, हृदय में बारह दल वाला है, कण्ठ में सोलह दल वाला है, दो दल वाला भ्रू मध्य में है, सहस्र दल वाला महापथ ब्रह्मरन्ध्र में कहा गया है ॥ ५१-५२ ॥ केले के स्तम्भ तुल्य जल के बद्बुद समान देह में, निःसार मनुष्यता में जो सार खोजता है, सुख चाहता है, सो अत्यन्त मूढ़ है ॥ ५३ ॥ यह देह पंचभूतमय है, पांच भूतों से अपने कर्मों द्वारा रचित और धृत है, अपनी देह से जन्य कर्मों के भोग से यदि पञ्चत्व = मृत्यु को प्राप्त हुआ, तो उस में शोक की क्या बात है ? ॥५४॥ भूमि नष्ट होने वाली है, तथा समुद्र, देव समूह भी नष्ट होने वाले हैं, तो फेन के तुल्य मनुष्य-

श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः । अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः स्वशक्तितः ॥५६॥

इति दशमं देहतत्त्वप्रकरणं समाप्तम् ॥ या०स्मृ० अ०३ आशौचप्र० ८-११ ॥

अथातिहर्षादिनिषेधः ॥ ११ ॥

स्त्रीपुत्रधनलाभाद्यै विधेया नातिहृष्टता । हृष्टो दृप्यति दृप्तोऽतिक्रामति धर्ममित्यपि ॥
आपस्तम्बस्य वचनं तथाऽन्यच्छ्रूयतामिति ॥ १ ॥

नात्यर्थहर्षः कार्यस्तु कदाचिदपि पण्डितैः । अत्यर्थहृष्टः पुरुषः कार्यं वेत्ति न किञ्चन ॥२॥
सम्पदं चञ्चलं प्राप्य हर्षं प्राज्ञो विवर्जयेत् । दृष्टा हि बहवो नष्टा लोके सम्पत्प्रलम्बिताः ॥३॥
सम्पत्तौ वा विपत्तौ वा स्वभावं न त्यजेद् बुधः । चञ्चलाः सम्पदः सर्वाः स्वभावादेव वै द्विजाः ! ॥४॥

विष्णुधर्मोत्तरपु० खं० २।२४२ ॥

किं श्रिया किं च राज्येन किं च कायेन किमीहितैः । दिनैः कतिपयैरेव कालः सर्वं निकृन्तति ॥५॥
बद्धाऽऽस्था ये शरीरेषु बद्धाऽऽस्था ये जगत्स्थितौ । तान् मोहमदिरोन्मत्तान् धिग् धिगस्तु पुनः पुनः ॥६॥
नाहं देहस्य नो देहो मम नायमहं तथा । इतिविश्रान्तचित्ता ये ते मुने ! पुरुषोत्तमाः ॥७॥

योगवासिष्ठप्र० १।१८।३७-५२-५३ ॥

प्राज्ञाः शूराःकृतज्ञाश्च पेशला मृदवश्च ये । पांशुमुष्ट्येव मणयः श्रिया ते मलिनीकृताः ॥८॥
न श्रीः सुखाय भगवन् ! दुःखायैव हि वर्द्धते । गुप्ता विनाशनं धत्ते मृतिं विषलता यथा ॥९॥

लोक कैसे नहीं नष्ट होगा ? ॥ ५५ ॥ और मरने पर बन्धुओं से मुक्त=गिराये गये कफ अश्रु को परवश प्रेत खाता है कष्ट पाता है, इससे रोना नहीं चाहिये किन्तु शक्ति के अनुसार उचित क्रिया करनी चाहिये ॥५६॥

दसवाँ देहतत्त्व प्रकरण समाप्त ॥

अथ हर्षादिनिषेध—स्त्री, पुत्र, धन की प्राप्ति आदि से अत्यन्त हर्ष रूप अति हृष्टता=अति आनन्द नहीं करना चाहिये क्योंकि हृष्ट=हर्ष से तुष्ट, विस्मित पुरुष दर्प=गर्व करता है, और दर्पयुक्त पुरुष धर्म का भी उल्लङ्घन करता है, यह आपस्तम्ब ऋषि का वचन है, और अन्य वचन भी सुनो ॥ १ ॥ पण्डितों को अर्थों से अत्यन्त हर्ष नहीं करना चाहिये, क्योंकि अर्थों = विषय धनादि से अत्यन्त हर्ष युक्त मनुष्य कर्तव्य को कुछ नहीं समझता है ॥ २ ॥ चञ्चल सम्पत्ति को पाकर विद्वान् हर्ष को त्यागे, क्योंकि हर्ष से सम्पत्ति में आसक्त बहुत नष्ट होते लोक में देखे गये हैं ॥ ३ ॥ हे द्विज ! सम्पत्ति वा विपत्ति में विद्वान् स्वभाव को नहीं त्यागे, क्योंकि स्वभाव से ही सब सम्पत्ति चञ्चल है ॥ ४ ॥ लक्ष्मी, राज्य, देह चेष्टा= व्यापार से क्या फल है ? या क्या गर्वादि करना है ? कुछ ही दिनों में ही काल सबको नष्ट करता है ॥५॥ जो शरीरों में आस्था=स्थिरता आदि के अभिमान बाँधे=किये हैं, जगत् की स्थिति में बद्ध आस्था वाले हैं, मोह रूप मदिरा से उन्मत्त उन लोगों को बार २ धिक्कार हो ॥६॥ मैं देह का संगी आदि नहीं हूँ, न देह मेरा है, न यह देह मैं हूँ, इस प्रकार निश्चय करके जो विश्रान्त=शान्तियुक्त चित्त वाले हैं, हे मुने! वे ही पुरुषोत्तम हैं ॥ ७ ॥ विद्वान्, शूर, कृतज्ञ=प्रत्युपकारक, पेशल=दक्ष-कुशल, मृदु=कोमल जो मनुष्य हैं, सो भी धूलि की मुट्ठी से मणि के समान श्री से मलिन किये गये हैं ॥ ८ ॥ हे भगवन् ! श्री सुख के लिये

श्रीमानजननिन्द्यश्च शूरश्चाप्यविकत्थनः । समदृष्टिः प्रभुश्चैव दुर्लभाः पुरुषास्त्रयः ॥१०॥
योगवासिष्ठप्र० १।१३।६-११ ॥

सुखं हि जन्तुर्यदि वापि दुःखं दैवाधीनं विन्दति नात्मशक्त्या ।
तस्मादिष्टं बलवन्मन्यमानो न संज्वरेन्नापि हृष्येत्कदाचित् ॥११॥ मत्स्यपु० अ० अ० ३८।७॥

क्रोधं द्वेषं भयं शाठ्यं पैशुन्यमसदाग्रहम् । कौटिल्यं दम्भमुद्वेगं यत्नेन परिवर्जय ॥१२॥
अत्याहारमतिक्रोधमतिनिद्रामतिश्रमम् । अत्यालापमतिक्रीडां सर्वदा परिवर्जय ॥१३॥
अतिविद्यामतिश्रद्धामतिपुण्यमतिस्मृतिम् । अत्युत्साहमतिख्यातिमतिधैर्यं च धारय ॥१४॥
स्कन्दपु० ब्रह्मोत्तरखं० पञ्चाक्षरमन्त्रमा० अ० ११।२४ ॥

यां वै दृप्तो वदति यामुन्मत्तः सा वै राक्षसी वाक् ॥१५॥ ऐतरेय ब्रा० अ० ६ खं ७ ॥

इत्येकादशमतिहर्षादिनिषेधप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ शीघ्रावश्यकर्त्तव्याकर्त्तव्ये ॥ १२ ॥

कार्यं शीघ्रमवश्यं यद्यचिरेण च तद्बुधैः । ज्ञात्वा तथैव कर्त्तव्यमकर्त्तव्यं न कर्हिचित् ॥१॥ तथाहि
दिवसेनैव तत्कुर्याद्येन रात्रौ सुखं वसेत् । अष्टमासेन तत्कुर्याद्येन वर्षाः सुखं वसेत् ॥२॥
पूर्वे वयसि तत्कुर्याद्येन वृद्धः सुखं वसेत् । यावज्जीवेत तत्कुर्याद्येन प्रेत्य सुखं वसेत् ॥३॥
महाभा० उद्योगप० अ० ३५।६७-६८ ॥

नहीं बढ़ती है, किन्तु दुःख के ही लिये बढ़ती है, और गुप्त = रक्षित हो कर भी विनाश के साधन को सिद्ध करती है, मरण को सिद्ध करती है, जैसे रक्षित विष लता करती है ॥ ९ ॥ और जनों से अनिन्द्य = निन्दा के अयोग्य, श्रीमान् = धनी, अविकत्थन = निज श्लाघा स्तुति रहित, शूर, सम दृष्टि वाला प्रभु = स्वामी, ये तीन पुरुष दुर्लभ हैं ॥ १० ॥ प्राणी सुख वा दुःख को दैवाधीन = ईश्वराधीन पाता है, अपनी शक्ति में नहीं पाता है, तिससे दिष्ट = दैव को बली मानता हुआ दुःख सुख में कभी संताप वा हर्ष नहीं करे ॥ ११ ॥ क्रोध, वैर, भय, शाठ्य = शठता कृपणता-पैशुन्य = पिशुनता-निन्दा, मिथ्या, आग्रह = हठ, कपट कुटिलता, दम्भ = पाखंड, उद्वेग, इन सब को मनुष्य यत्न से त्यागे ॥ १२ ॥ अति भोजन, अति क्रोध, अतिनिद्रा, अतिश्रम = आयास, अति आलाप = संभाषण, अतिक्रीडा को सदा त्यागे ॥ १३ ॥ अतिविद्या = ज्ञान, अतिश्रद्धा, अति पुण्य, अति स्मृति = धर्मशास्त्र-स्मरण-भजन, अति उत्साह = विक्रम-शक्ति-उद्यम, अति ख्याति = प्रसिद्धि और अति धैर्य का धारण करे ॥ १४ ॥ जिस वाक् को दर्पयुक्त मनुष्य वा उन्मत्त मनुष्य कहता है, सो राक्षसी वाक् है ॥ १५ ॥ ग्यारहवाँ अतिहर्षादि निषेधप्रकरण समाप्त ॥

अथ शीघ्रावश्यकर्त्तव्याकर्त्तव्य—जो कर्मादि शीघ्र अवश्य कर्तव्य हैं, और जो चिर = अधिक समय में कर्तव्य हैं, उन्हें समझ कर विद्वानों को करना चाहिये, और अकर्तव्य = पाप कर्मादि कभी नहीं करना चाहिये ॥ १ ॥ दिन में वह कर्म करे कि जिससे रात्रि में सुख पूर्वक वसे = रहे । आठ मास में वह कर्म करे, कि जिससे वर्षा में सुख से वसे ॥ २ ॥ प्रथम अवस्था में वह कर्म करे कि जिससे वृद्ध होकर

मृत्युनाऽभ्याहतो लोको जरया परिवारितः । अहोरात्राः पतन्त्येते ननु कस्मान्न बुध्यसे ॥४॥
अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगादयम् । अकृतेष्वेव कार्येषु मृत्यु वैं सम्प्रकर्षति ॥५॥
श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् । न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वाऽकृतम् ॥६॥
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति । युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम् ॥७॥
कृते धर्मे भवेत्कीर्त्तिरिह प्रेत्य च वै सुखम् ॥८॥
इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत्कृताकृतम् । एवमीहासुखासक्तं कृतान्तः कुरुते वशे ॥९॥
दुर्वलं बलवन्तं च शूरं भीरुं जडं कविम् । अप्राप्तसर्वकर्मार्थान् मृत्युरादाय गच्छति ॥१०॥
मृत्यु र्जरा च व्याधिश्च दुःखश्चानेककारणम् । अनुषक्तं यदा देहे किं स्वस्थ इव तिष्ठसि ॥११॥
जातमेवाऽन्तकोऽन्ताय जरा चान्वेति देहिनम् । अनुषक्ता द्वयेनैते भावाः स्थावरजङ्गमाः ॥१२॥
निवन्धिनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः । छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः॥१३॥

महाभा० शान्तिप० अ० १७५। कर्मठं पितरं प्रति पुत्रोक्तिः ॥

धर्मकार्ये त्वरा कार्या चलं यस्माद्धि जीवितम् । धर्ममार्गगतो जन्तु मृतोऽपि सुखमश्नुते ॥१४॥
क्षेत्रापत्यगृहासक्तमन्यत्र गतमानसम् । वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥१५॥

सुख से रहे, यावत् जीवन = सम्पूर्ण जीवन से वह कर्म करे कि जिससे मर कर परलोक में जाकर सुख से बसे ॥ ३ ॥ यह लोक मृत्यु से अभ्याहत = ताड़ित-पीड़ित है, जरा से व्याप्त आच्छादित है, और ये दिन रात जा रहे हैं, सो क्यों नहीं समझते हो ? ॥४॥ जो श्रेय = शुभ है, सो आज अभी करो जिससे यह काल तुम को नहीं अतिक्रमण करे, व्यर्थ नहीं बीते । ऐसा नहीं करने पर कार्यों को समाप्ति बिना ही मृत्यु वश में करता है, बल से पकड़ता है ॥ ५ ॥ अगिले दिन के कार्यों को आज करे, सायं के कार्य को सवेरे करे, क्यों कि मृत्यु इस जीव के कृत अकृत = सिद्ध-असिद्ध कर्म की प्रतीक्षा नहीं करता है ॥ ६ ॥ और कौन जानता है कि आज किस का मृत्यु काल होगा ? तिससे युवा पुरुष ही धर्मशील हो जाय, जीवन अवश्य अनित्य है ॥ ७ ॥ धर्म कर लेने पर इस लोक में कीर्त्ति = यश होता है, और मर कर परलोक में जाने पर भी सुख होता है ॥ ८ ॥ यह किया गया, यह कर्तव्य है, यह अन्य कृताकृत = अर्द्धकृत है, इस प्रकार की ईहा = तृष्णा इच्छा से सुख में आसक्त को कृतान्त = काल वश में करता है ॥ ९ ॥ दुर्बल, बली, शूर, भीरु, जड़ = अज्ञ, कवि = पण्डित, इन्हें सब अर्थ की प्राप्ति रहित रहते हो में मृत्यु लेकर चलता है ॥ १० ॥ जब देह में मृत्यु, जरा, व्याधि = रोग, अनेक कारण वाले दुःख, अनुषक्त = मिलित हैं, तो भी स्वस्थ के समान क्यों स्थिर हो ? ॥ ११ ॥ जात = उत्पन्न ही देही के नाश के लिये, अन्तक = मृत्यु और जरा उसके साथ हो जाते हैं, इससे इन अन्तक जरा नामक दोनों से स्थावर जंगम सब पदार्थ अनुषक्त = सन्बन्ध-व्याप्त हैं ॥ १२ ॥ ग्राम में बसने वाले को जो स्त्री पुत्रादि में रति = स्नेह आसक्ति है, यह निश्चित बन्धन के हेतु रज्जु रूप है, पुण्यात्मा लोग इस का छेदन = नाश कर के मुक्ति पाते हैं, पापात्मा इस का छेदन नहीं करते ॥ १३ ॥ धर्म रूप कार्य में त्वरा = अविलम्ब-शीघ्रता कर्त्तव्य है, जिससे जीवित = आयुः चंचल है, धर्ममार्ग में प्राप्त मनुष्य मर कर भी सुख पाता है ॥ १४ ॥ क्षेत्र = खेत, पुत्र, गृह में आसक्त, आत्मा धर्मादि से अन्यत्र गत = प्राप्त मन वाले को मृत्यु इस प्रकार लेकर जाती है कि जैसे वृकी =

न कालस्य प्रियः कश्चिद् द्वेष्यो वाऽस्य न विद्यते । आयुष्ये कर्मणि क्षीणे प्रसह्य हरते जनम् ॥१६॥
प्राणो वायुश्चलत्वं च वायोर्विदितमेव च । यत्र यज्जीव्यते ब्रह्मन् क्षणमात्रं तदद्भुतम् ॥१७॥
विष्णुधर्मोत्तरपु० अ० ११७ ॥

रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि । अप्रिये चैव कर्त्तव्ये चिरकारी प्रशस्यते ॥१८॥
चिरमन्वास्य विदुषश्चिरं शिष्टान्निषेव्य च । चिरं विनीय चात्मानं चिरं यात्यनवद्यताम् ॥१९॥
महाभा० शान्तिप० अ० २६६।७०-७६ ॥

सहसा न क्रियां कुर्यात् पदमेतन्महापदाम् । विमृश्य कारिणं धीरं वृण्वते सर्वसम्पदः ॥२०॥
स्कन्दपु० खं० १-२ अ० ६।७६ ॥

को जानीते कदा कस्य मृत्युः कालो भविष्यति । युवैव धर्मशीलः स्याद्यतोऽनित्यं हि जीवितम् ॥२१॥
यस्य वा मृत्युना सख्यं यो वा स्यादजरामरः । तस्येदं युज्यते वक्तुमिदं श्वो मे भविष्यति ॥२२॥
न कश्चिदपि जानीते किं कस्य श्वो भविष्यति । तस्माच्छ्वः करणीयानि कुर्यादद्यैव बुद्धिमान् ॥२३॥
इतिहाससमुच्चये ॥

अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत् । गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥२४॥
इति द्वादशं शीघ्रकर्त्तव्याकर्त्तव्यप्रकरणं समाप्तम् ॥ हितोपदेशे ॥

वृक की स्त्री उरण = मेष भेड़ा को ले जाती है ॥ १५ ॥ काल = मृत्यु का कोई प्रिय नहीं है, न इस काल का द्वेष्य = अप्रिय है, किन्तु आयु के हेतु कर्म के क्षीण = नष्ट होने पर प्रसह्य = हठ से-अवश्य जन को हरता = नाशता है ॥ १६ ॥ प्राण वायु है, और वायु की चंचलता विदित ज्ञात ही है, हे ब्रह्मन् ! तो भी जो जहाँ कहीं क्षण मात्र जीवन होता है सो अद्भुत है ॥ १७ ॥ राग, दर्प = गर्व मान, द्रोह = अपकार, पाप रूप कर्म और अप्रिय कर्तव्य में चिरकारी = विलम्ब करने वाला प्रशंसनीय होता है ॥ १८ ॥ विद्वान् का चिर = बहु काल तक अन्वासन = सेवन अनुगमन कर के चिर काल तक शिष्ट = शान्त सुबोध आस्तिक की निरन्तर सेवा कर के और चिर काल तक अपनी आत्मा को विनीत = शिक्षित नम्र करके चिर काल तक अनवद्यता = दोषरहितता शुद्धता को प्राप्त करता है ॥ १९ ॥ सहसा = विचारे बिना हठ से क्रिया नहीं करे, विचार रहित यह कर्म आपत्तियों का स्थान है, विचार कर करने वाले धीर को सब सम्पत्तियाँ वरती = स्वीकार करती-मिलती हैं ॥ २० ॥ कौन जानता है, कि कब किस का मृत्यु काल होगा ? इस से युवा ही पुरुष विचारादि युक्त धर्म स्वभाव वाला हो, जिस से जीवन अनित्य है ॥ २१ ॥ जिस को मृत्यु के साथ मित्रता हो, वा जो अजर = जरा रहित अमर हो, तिस को यह कहना युक्त = उचित हो सकता है कि यह मेरा कार्य कल्ह = अगले दिन होगा ॥ २२ ॥ और कोई भी नहीं जानता है कि = कल्ह आगे के दिन में किस को क्या होगा ? तिससे बुद्धिमान् श्वः = कल्ह के कर्तव्यों को आज ही करे ॥ २३ ॥ विद्वान् पुरुष अजर अमर के समान विद्या और अर्थ की चिन्ता विचारादि करे, और केशों में मृत्यु से गृहीत के समान धर्म का आचरण शीघ्र करे ॥ २४ ॥ बारहवाँ शीघ्र कर्तव्याकर्तव्य प्रकरण समाप्त ॥

अथ प्रलयाः ॥ १३ ॥

आत्यन्तिकप्रलयार्थं हि यत्नः कार्यो मुमुक्षुभिः । बिभ्यति ये ततस्ते तु भवन्त्यन्यलयाश्रयाः ॥१॥ तथाहि—
नैमित्तिकः प्राकृतिकस्तथैवात्यन्तिको द्विज ! । नित्यश्च सर्वभूतानां प्रलयोऽयं चतुर्विधः ॥२॥
ब्राह्मो नैमित्तिकस्तत्र शेतेऽयं जगतीपतिः । प्रयाति प्राकृतं चैव ब्रह्माण्डं प्रकृतौ लयम् ॥३॥
ज्ञानादात्यन्तिकः प्रोक्तो योगिनः परमात्मनि । नित्यः सदैव भूतानां यो विनाशो दिवानिशम् ॥४॥
विष्णुपु० अंश० १।४।४१। इत्यादि ॥
सर्वसाधारणः सर्ग एकः प्रातिस्विकोऽपरः । आकाशादिक्रमादाद्यः प्राणादिक्रमतोऽपरः ॥५॥
सर्वेषां प्राणिनां कर्मक्षये स्यात्प्रलयो महान् । पुनः कर्मोद्भवे तेषां स्यान्महासृष्टिरीश्वरात् ॥६॥
एकस्य कर्मणः क्षीणे प्रलयः सुप्तिनामभृत् ॥७॥ अनुभूतिप्रका० ६।४२। इत्यादि ॥

यत्रैतत्पुरुषः सुप्तः स्वप्नं न कश्चन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक् सर्वैं नामभिः सहाऽप्येति ॥८॥ इत्यादि ॥ कौषीतकिब्राह्मणोप० ३।३॥
सता सोम्य ! तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति ॥९॥ छान्दोग्योप० ६।८।१ ॥
स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पितजीवलोके ।
सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति ॥१०॥ कैवल्योप० १।१३ ॥

अथप्रलय—मुमुक्षुओं को आत्यन्तिक प्रलय = परमात्मा में विलीनता के लिये यत्न कर्तव्य है, जो उस प्रलय से डरते हैं, सो अन्य प्रलयों के आश्रय होते हैं ॥ १ ॥ हे द्विज ! नैमित्तिक, प्राकृतिक, आत्यन्तिक और नित्य, ये चार प्रकार के प्रलय = नाश सब प्राणियों के होते हैं ॥ २ ॥ तहाँ जब यह जगती पति = ब्रह्मा सोते हैं, तिस समय शयन रूप निमित्त = कारण जन्य नैमित्तिक प्रलय ब्राह्म भी कहलाता है, और जब प्रकृति जन्य ब्रह्माण्ड प्रकृति में लय को पाता है, तब प्राकृत प्रलय होता है ॥३॥ और ज्ञान से योगी का परमात्मा में आत्यन्तिक प्रलय कहा गया है, और जो प्राणियों का दिन रात सदा नाश होता है, सोई नित्य प्रलय है ॥ ४ ॥ सर्व प्राणियों के लिये साधारण = तुल्य एक सर्ग = सृष्टि संसार है, और प्रातिस्विक = प्रत्येक प्राणी का भिन्न २ अपर = दूसरा सर्ग है । आकाश, वायु, तेज, जल, भूमि आदि क्रम से आद्य = साधारण सर्ग है, और प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति, जल, भूमि, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक, नाम, इस क्रम से दूसरा सर्ग है, सो दोनों सर्ग तैत्तिरीयोप० वल्ली २।१। और प्रश्नोप० ६।४। में वर्णित हैं ॥ ५ ॥ सब प्राणियों के वर्तमान भोगप्रद कर्मों का क्षय होने पर महाप्रलय होता है, फिर उन के कर्मों के उद्भव = फलोन्मुख होने से महासृष्टि होती है ॥ ६ ॥ एक प्राणी के वर्तमान भोगप्रद कर्म के क्षीण होने पर सुषुप्ति नाम वाला प्रलय होता है ॥ ७ ॥ सुषुप्ति रूप प्रलय का श्रुति में वर्णन है, कि जिस समय सोया हुआ पुरुष किसी स्वप्न को भी नहीं देखता है, तब इस में प्राण एक रूप से मिलता है, सब नामों के सहित वागिन्द्रिय इस में लीन होती है, इसी प्रकार सब इन्द्रियाँ विषय सहित लीन होती हैं ॥ ८ ॥ हे सोम्य ! तिस सुषुप्ति में जीवात्मा सत्य ब्रह्म के साथ मिल जाता है, अपने स्वरूप में लीन होता है ॥ ९ ॥ अपनी माया से कल्पित जीव लोक = संसार में और स्वप्न में सुख दुःख को भोगने वाला वह जीव, सुषुप्ति काल में सब के विलीन होने पर तमो गुण

घटसम्भृतमाकाशं लीयमाने घटे यथा । घटो लीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो घटोपमः ॥११॥ ब्रह्मबिन्दूप०१३॥

सर्वेषां शुक्तिरूप्येण गतिस्तुल्या मृषात्मनाम् । आविर्भावतिरोभावबाधाऽबाधात्मिकाऽऽश्रिताः ॥१२॥

तत्तद्विशेषशून्यस्थे गभीरे तमसि स्थिताः । पूर्वदृष्टसमाकाराः संस्कारा विषमाः समाः ॥१३॥

एकीभावमिवापन्नाः सुषुप्तिप्रलयाभिधाः । तत्तद्भावविशेषाणां बीजभावमिवागताः ॥१४॥

आदौ प्रत्ययनामानो मध्ये संस्कारसञ्ज्ञिताः । उत्थायान्तेऽपदिश्यन्ते तत्तद्विशेषनामतः ॥१५॥

आधाय स्वाकृती लीनाः स्वस्वगोचरवृत्तिषु । सृष्टबीजा इवौषध्यो निर्विशेषत्वमागताः ॥१६॥

सत्त्वतां सात्त्विकाः प्राप्ता रजस्तां राजसागताः । तमस्तां तामसा याता विकारा ह्यपुनर्धियः ॥१७॥

सम्प्राप्ते प्रलये बाह्ये बीजशेषो न गम्यते । प्रजानामण्डजादीनां यतो भूयः समुद्भवः ॥१८॥

शिष्टस्याबीजतैवेष्टा यथा बीजादिभस्मनः । जायेरन् भस्मशेषेभ्यो बीजेभ्योऽप्यन्यथाङ्कुराः॥१९॥

अचिन्त्यां शक्तिमादाय मायावीव महेश्वरः । विश्वं चेत्कल्पयेत्तर्हि सत्यता कल्पितस्य का ॥२०॥

सर्वाधिष्ठानतामात्रे दृष्टान्ताः शुक्तिसम्मुखाः । सर्वोपादानतायां च दृष्टान्ता मृन्मुखाः स्थिताः॥२१॥

अधिष्ठाने निषिद्धस्य स्यादन्यत्रापि सत्त्वधीः । स्वोपादाने निषिद्धस्य क्वापि नैवास्ति सत्त्वधीः॥२२॥

से अभिभूत होता हुआ भी सुख रूप को प्राप्त करता है ॥१०॥ जैसे घट से संभृत=अन्दर कृत जो आकाश है, सो घट के फूटने पर घट नष्ट होता है, परन्तु वह आकाश नहीं नष्ट होता है, तैसे ही घटाकाश तुल्य जीव कभी नष्ट नहीं होता है, देहों का प्रलय होता है ॥ ११ ॥ मिथ्यास्वरूप सब पदार्थों की गति शुक्ति में प्रतीत रूपा के तुल्य है, और आविर्भाव=प्राकट्य, तिरोभाव बाध अबाधात्मिका=स्वरूप वाली उस गति=स्थिति के आश्रित, तथा तत्तत् विशेष=कार्य से शून्य में स्थिर गम्भीर तम में स्थिर, पूर्वदृष्ट के समान आकार वाले, विषम सम संस्कार रूप और एक रूपता की नाईं प्राप्त, तत्तत्पदार्थ विशेषों के बीजता को प्राप्त के समान ही सुषुप्ति, प्रलय नाम वाले हैं ॥ १२-१४ ॥ प्रथम प्रत्यय नामों वाले मध्य में संस्कार नाम वाले जब अन्त में उत्थित प्रकट होते हैं, तब तत्तद् विशेष नामों से कहे जाते हैं ॥ १५ ॥ बीज की सृष्टि करके जैसे ओषधि लीन होती हैं, तैसे स्वस्वगोचरवृत्तियों में अपनी आकृतियों को स्थिर करें निर्विशेषता=लय को आगत=प्राप्त सात्त्विक विकार पदार्थ, सात्त्विकता को प्राप्त हुए, राजस रजोगुण रूपता को प्राप्त हुए, तामसविकार तमोगुण रूपता को प्राप्त किये, इससे उनकी फिर बुद्धि=(ज्ञान) नहीं होने वाली है ॥ १६-१७ ॥ वाह्य वस्तु का सम्यग् प्रलय होने पर बीजों का शेष नहीं प्राप्त ज्ञात होता है, कि जिससे अण्डजादि प्रजा का फिर जन्म हो ॥ १८ ॥ प्रलय में जो शिष्ट=बाकी रहता है. उस में अबीजपन ही इष्ट है, जैसे बीज के भस्म में अबीजता है, अन्यथा भस्म रूप से अवशिष्ट बीजों से भी अङ्कुर होंगे ॥ १९ ॥ यदि सब का प्रलय होने पर भी अचिन्त्य शक्ति शक्ति को लेकर मायावी तुल्य महेश्वर विश्व की कल्पना करेगा भी तो कल्पित की सत्यता क्या होगी ? मिथ्या ही संसार होगा ॥ २० ॥ उस पर-ब्रह्म की सर्वाधिष्ठानता मात्र में शुक्ति आदि दृष्टान्त हैं, और सब के उपादानता में मृत्तिका लौहादि दृष्टान्त श्रुति में स्थिर हैं ॥ २१ ॥ अधिष्ठान=एक आश्रय में निषिद्ध पदार्थ की भी अन्यत्र सत्ता=वर्तमानता की बुद्धि होती है, परन्तु अपने उपादान में निषिद्ध की कहीं भी सत्त्व की बुद्धि नहीं है ॥ २२ ॥

नासत्यं सर्वथा कार्यं सर्वथा सत्यमेव न । यथा दृष्टं तथैवास्तु कार्यं कारणमेव नः ॥२३॥

इति त्रयोदशं प्रलयप्रकरणं समाप्तम् ॥ विचारवि० ॥

अथ जन्मपाश्चात्यम् ॥ १४ ॥

वासनाविजयायालं यज्जन्म तत्र सर्वथा । भवन्त्येव गुणाः शुद्धाः सद्भावाः सत्क्रियाक्रमाः ॥१॥
वासनाविजये तस्मिन्नन्ते जन्मनि सर्वथा । सुषमं सुषमाशीलो लीनकर्मा विराजते ॥२॥ तथाहि—
यस्येदं जन्मपाश्चात्यं तमाश्वेव महामते ! । विशन्ति विद्या विमला मुक्ता वेणुमिवोत्तमम् ॥३॥
आर्यता हृद्यता मैत्री सौम्यता करुणा ज्ञता । समाश्रयन्ति तं नित्यमन्तः पुरमिवाङ्गनाः ॥४॥
यः कुर्वन् सर्वकार्याणि पुष्टे नष्टेऽथ तत्फले । समः सन् सर्वकार्येषु न तुष्यति न शोचति ॥५॥
तमांसीव दिवा यान्ति तत्र द्वन्द्वानि संक्षयम् । शरदीव घनास्तत्र गुणा गच्छन्ति शुद्धताम् ॥६॥
पेशलाचारमधुरं सर्वे वाञ्छन्ति तं जनम् । वेणुं मधुरनिध्वानं वने वनमृगा इव ॥७॥
नरं पाश्चात्यजन्मानमेवं प्रायः गुणश्रियः । जातमेवानुधावन्ति बालाका इव वारिदम् ॥८॥
ततोऽसौ गुणसम्पन्नो गुरुमेवानुगच्छति । स तमेवं विवेके वै नियोजयति पावने ॥९॥
विचारवैराग्यवता चेतसा गुणशालिना । देवं पश्यत्यथात्मानमेकरूपमनामयम् ॥१०॥

योगवासिष्ठप्र० ५।६।८–१५ ॥

प्रतीत होने से कार्य सर्वथा असत्य नहीं है, बाध प्रलयादि से सर्वथा सत्य भी नहीं है, इससे जैसा दृष्ट है तैसा रहे, अनिर्वाच्य प्रतिभासिक है, क्योंकि हमारे लिए कारण रूप ही कार्य है, इससे कारण रूप से सत्य है, स्वरूप से मिथ्या है ॥ २३ ॥ तेरहवाँ प्रलय प्रकरण समाप्त ॥

अथ जन्मपाश्चात्य—वासना के विजय के लिये जो जन्म होता है, उस में सर्वथा शुद्ध गुण, सद्भावना, सत् कर्मों के क्रम = क्रम से आचरण अवश्य होते हैं ॥ १ ॥ उस अन्त जन्म में वासनाओं की विजय होने पर लीन कर्म वाला सुषमा = परमशोभा के स्वभाव वाला पुरुष सुषम = सुन्दर विराजता है ॥ २ ॥ हे महामते ! जिस का यह अन्तिम जन्म है, उस को शीघ्र ही विमल विद्या प्राप्त होती है, जैसे उत्तम वेणु में मुक्ता प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥ आर्यता, प्रियता, मित्रता, सौम्यता, करुणा, विवेकिता उस का सदा आश्रयण करती हैं, जैसे कुलस्त्रियाँ अन्तःपुर को सेवती हैं ॥ ४ ॥ जो सब कर्मों को करता हुआ, और उन के फल को पुष्ट = प्रवृद्ध वा नष्ट होने पर, सब कार्यों में सम होता हुआ, न तुष्ट होता है न शोक करता है ॥ ५ ॥ तिस पुरुष में दिन में तम के समान सुख दुःखादि द्वन्द्व नष्ट हो जाते हैं, और शरद् ऋतु में मेघ के समान, प्रथम के मलिन भी धैर्यादि गुण उस में शुद्धता को प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥ पेशल = सुन्दर-कोमल आचार = व्यवहार से मधुर उस मनुष्य को सब चाहते हैं, जैसे मधुर शब्द वाले वेणु = बांस को वन के मृग चाहते हैं ॥ ७ ॥ अन्तिम जन्म वाले मनुष्य को इस प्रकार के प्रायः = बहुत गुण, रूप, श्री, जात मात्र को ही = बाल्यावस्था से ही प्राप्त होते हैं, जैसे बालाका मेघ को प्राप्त होती हैं ॥ ८ ॥ फिर गुण सम्पन्न वह पुरुष गुरु की शरण में ही जाता है, तब वे गुरु उस को पावन विवेक = मननादि में इस प्रकार से लगाते हैं, कि जिस से वह विचार वैराग्य वाले गुणों से शोभित चित्त द्वारा

अस्मिन् संसारसंरम्भे जातानां देहधारिणाम् । अपवर्गक्षमौ राम ! द्वाविमावुत्तमक्रमौ ॥११॥
एकस्तावद् गुरुप्रोक्तादनुष्ठानाच्छनैः शनैः । जन्मना जन्मभि र्वापि सिद्धिदः समुदाहृतः ॥१२॥
द्वितीयस्त्वात्मनैवाशु किञ्चिद्व्युत्पन्नचेतसा । भवति ज्ञानसम्प्राप्तिराकाशफलपातवत् ॥१३॥
योगवा० प्र० ५।७ ॥
शृणु सम्पद्यते कीदृग् ज्ञातज्ञेयो नरोत्तमः । यावज्जीवं कथं चैष किमाचारोऽवतिष्ठते ॥१४॥
उपला अपि मित्राणि बन्धवो वनपादपाः । वनमध्ये स्थितस्यापि स्वजना मृगपोतकाः ॥१५॥
आकीर्णं शून्यमेवास्य विपदश्चातिसम्पदः । स्थितस्यापि महाराज्ये व्यसनान्येव सूत्सवाः ॥१६॥
असमाधिः समाधानं दुःखमेव महत्सुखम् । व्यवहारोऽपि सन्मौनं कर्मण्येवात्यकर्मता ॥१७॥
जाग्रन्नेव सुषुप्तस्थो जीवन्नेव मृतोपमः । करोति सर्वमाचारं न करोति च किञ्चन ॥१८॥
दुःखिते दुःखितकथः सुखिते सुखसङ्कथः । आस्ते सर्वास्ववस्थासु हृदयेनापराजितः ॥१९॥
कर्मणः सुकृतादन्यदस्मै किञ्चिन्न रोचते । स्वभाव एव महतां ननु यन्न विचेष्टितम् ॥२०॥
नालम्बते रसिकतां न च नीरसतां क्वचित् । नार्थेषु विचरत्यर्थी वीतरागः सरागवत् ॥२१॥
आत्मीयेष्वर्थजातेषु मिथ्यात्मसु सुतादिषु । बुद्बुदेष्विव तोयानां न स्नेहस्तत्त्वदर्शिनाम् ॥२२॥

देव = परमात्मा और निजात्मा को अनामय, एक अखण्ड आनन्द रूप देखता है ॥ ९-१० ॥ हे राम ! इस संसार के संरम्भ = वेग में उत्पन्न देहधारियों के मोक्ष में समर्थ ये दो उत्तम क्रम हैं ॥ ११ ॥ उस में प्रथम का एक क्रम गुरु कथित अनुष्ठान से धीरे २ एक जन्म द्वारा वा बहुत जन्म द्वारा सिद्धिप्रद = मोक्ष दाता कहा गया है ॥ १२ ॥ दूसरा क्रम है, किंचित् व्युत्पन्न = शास्त्रादि के संस्कार से युक्त चित्त द्वारा विचारादि वाले को अपनी आत्मा से ही शीघ्र ही ज्ञान की सम्यक् प्राप्ति, आकाश से फलपात की नाईं होती है ॥ १३ ॥ ज्ञेय ब्रह्मात्मा को जानने वाला नरोत्तम किस लक्षण वाला सम्पन्न = सिद्ध होता है ? और वह जीवन भर 'कथं' = किस स्वभाव वाला ? और किस आचार वाला रहता है ? सो सुनो ॥ १४ ॥ उस के उपल = पत्थर भी मित्र होते हैं, वन के वृक्ष भी बन्धु होते हैं, वन में स्थिर उस पुरुष के मृग के पोतक = शिशु-बच्चे स्वजन होते हैं । अर्थात् मित्रादि और उपलादि के संयोग वियोगादि में वह तुल्य स्थिति वाला होता है ॥ १५ ॥ आकीर्ण = जन समूह से व्याप्त स्थान भी इस ज्ञानी की दृष्टि में शून्य है, विपत्तियाँ भी सम्पत्ति रूप हैं, महाराज्य में स्थिर इस ज्ञानी को व्यसन = दुःखादि सुन्दर उत्सव हैं ॥१६॥ उस को असमाधि भी समाधान = एकाग्रता है, दुःख ही महा सुख है, वचन का व्यवहार भी श्रेष्ठ मौन है, दैहिक कर्म ही अकर्मता है ॥ १७ ॥ जागता हुआ ही सुषुप्ति तुल्य समाधि में स्थिर है, जीता हुआ भी देहाभिमान के अभाव से मृत तुल्य है, सब आचार को करता है, परन्तु अकर्ता आत्मा के निश्चय से कुछ नहीं करता है ॥ १८ ॥ दुःखित में दुःख की कथा वाला, सुखित में सुख की कथा वाला होता हुआ भी सब अवस्थाओं में सुख दुःखादि से अपराजित रहता है ॥ १९ ॥ पुण्य कर्म से अन्य इस को कुछ भी अच्छा नहीं लगता है, ननु = हे राम ! महात्माओं का यह स्वभाव है, कि उनसे विचेष्टित = विरुद्ध कर्म नहीं होता है ॥ २० ॥ कहीं भी रसिकता = आसक्ति का वा नीरसता = उद्दण्डता का आलम्बन महात्मा नहीं करते हैं, न धनों में अर्थी = याचक हो कर विचरते हैं, इससे सरागवत् होते भी वीतराग रहते हैं ॥२१॥ अपने अर्थ समूहों में और मिथ्यात्मा देह पुत्रादि में तत्त्वदर्शियों को स्नेह नहीं

गुणं ममेमं जानातु जनः पूजां करोतु मे । इत्यहङ्कारिणामीहा न तु तन्मुक्तचेतसाम् ॥२३॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा क्वचित् । यदुदारमनोवृत्ते र्लोभाय विदितात्मनाम् ॥२४॥

प्रज्ञाप्रासादमारूढस्त्वशोच्यः शोचतो जनान् । भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥२५॥

योगवा० प्र० ६–२।१०२ ॥

तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयं रूपम् ॥ २६ ॥ बृहदा० अ० ४।३।२१ ॥

सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति ॥ २७ ॥ बृहदा० अ० ४।३।३२ ॥

छन्दः कामः, कर्म पापं, भयं स्यात्कर्मणः फलम् । अनर्थरूपं त्रितयमद्वैते वीक्ष्यते कथम् ॥२८॥

आत्मा सलिलवच्छुद्धः कार्यकारणहानतः । स्वतोऽवबोधमात्रत्वात्कुतोऽविद्यादिसङ्गतिः ॥२९॥

द्विधेतं द्वीतमित्याहुस्तद्भावो द्वैतमुच्यते । तन्निषेधेन चाद्वैतं प्रत्यग् वस्त्वभिधीयते ॥३०॥

वार्त्तिकसा० ॥

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं रागद्वेषौ प्रहाय च । भयं हित्वा च भूतानाममृती भवति द्विजः ॥३१॥

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः । तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति ॥३२॥

याज्ञव०स्मृ० अ० ३।६१–११५ ॥

इति चतुर्दशं जन्मपाश्चात्यप्रकरणं समाप्तम् ॥

होता है, जैसे जल के बुद्बुद में नहीं होता है ॥ २२ ॥ मेरे इस गुण को मनुष्य जानें और मेरी पूजा करें, ऐसी इच्छा-चेष्टा अहङ्कारियों की होती है, वह मुक्त चित्तवालों की नहीं होती ॥ २३ ॥ वह वस्तु भूमि में वा स्वर्ग में देव सब में भी नहीं है कि जो वस्तु विदितात्मा ज्ञानियों के उदार मनोवृत्ति के लोभ के लिये हो, इससे ज्ञानी की मनोवृत्ति कहीं लोभयुक्त नहीं होती है ॥ २४ ॥ प्राज्ञ = आत्मज्ञानी, प्रज्ञा = ज्ञान रूप प्रासाद = देव गृह राजभवन पर स्थिर होता हुआ, तथा अशोच्य = अक्षुद्र शोक का अयोग्य होता हुआ, शोचते हुए अन्य जनों को इस प्रकार देखता है, कि जैसे पर्वतपर स्थिर मनुष्य भूमि में स्थिर को देखता है ॥२५॥ इस आत्मा का वह शास्त्र प्रसिद्ध स्वरूप 'अतिच्छन्दा'=काम रहित और पाप पुण्यादि रहित अभय स्वरूप है ॥२६॥ वह जल तुल्य स्वच्छ एक अद्वैत द्रष्टा है ॥ २७ ॥ छन्द=काम है, कर्म = पाप है, कर्म का फल भय होता है, अनर्थ रूप ये तीनों अद्वैत में कैसे देखे जा सकते हैं ? द्वैत में देखे जाते हैं ॥ २८ ॥ कार्य कारण = देह अविद्या की विद्या से हान निवृत्ति बाध होने से, फिर स्वतः बोधमात्र आत्मा के रहने से सलिल तुल्य आत्मा शुद्ध रहता है, फिर अविद्यादि की सङ्गति भी किस से हो ? ॥ २९ ॥ दो प्रकार से ज्ञो इत = ज्ञात-प्राप्त हो, उस के भाव को द्वैत कहा जाता है, उस के निषेध से अद्वैत अन्तरात्मा साक्षी कहा जाता है ॥ ३० ॥ इन्द्रिय समुदाय को संयत कर, राग द्वेष को छोड़ कर और प्राणियों को भय देना त्याग कर, द्विज मुक्त होता है ॥ ३१ ॥ वीणावादन का तत्त्वज्ञ, श्रुतियों की जातियों का विशारद, और तालों को जानने वाला अनायास मोक्ष मार्ग को प्राप्त करता है ॥ ३२ ॥

चौदहवाँ जन्म पाश्चात्यप्रकरण समाप्त ॥

अथ ग्रहातिग्रहौ ॥ १५ ॥

ग्रहातिग्रहवृन्दाभ्यां बध्यन्ते सर्वजन्तवः । ये तु पाश्चात्यजन्मानो मुच्यन्ते तेऽगुणे स्थिताः ॥१॥
गृहीता ये ग्रहैश्चैव बद्धास्त्वतिग्रहैस्तथा । ते सर्वत्रैव गृह्यन्ते बध्यन्ते नोत्तमा जनाः ॥२॥ तथा च
घ्राणं वाग् रसना चक्षुः श्रोत्रं पञ्चममीरितम् । मनो हस्तौ त्वगित्यष्टौ ग्रहा उक्ता मनीषिभिः ॥३॥
गन्धो नाम रसो रूपं शब्दः कामोऽपि कर्म च । अतिग्रहा इमे स्पर्शसहिता विषया मताः ॥४॥
गृह्णन्ति पुरुषं ह्येते मार्जारो मूषकं यथा । इन्द्रियाणि च गन्धाद्या मत्स्यहेव जलाशयात् ॥५॥
एकादश ग्रहास्तद्वत्तावन्तः स्युरतिग्रहाः । यद्यप्येते तथाप्यष्टौ प्रधाना इह कीर्त्तिताः॥६॥ आत्मपु०
जीवन्मुक्तमति मौनी निगृहीतेन्द्रियग्रहः । अमानमदमात्सर्यमार्यस्तिष्ठति विज्वरम् ॥७॥
योगवासिष्ठप्र० ५।६३।६५ ॥
रूक्षाणि रत्नलुब्धानि कल्लोलवलितानि च । दुर्ग्रह ग्राहघोराणि क्षाराम्बूनीन्द्रियाणि च ॥८॥
अविवेकिष्वमित्राणि मित्राणि च विवेकिषु । गहनानन्तशून्यानि काननानीन्द्रियाणि च ॥९॥
योगवा० प्र० ६–२१६।५०–५२ ॥

इति पञ्चदशं ग्रहातिग्रहप्रकरणं समाप्तम् ॥
इति श्रीतत्त्वार्थमणिमालायां स्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्रिसङ्गृहीतायां
पदार्थनामकं सप्तमं काण्डं समाप्तम् ॥

अथ ग्रहातिग्रह—ग्रहों और अतिग्रहों के वृन्द = संघ से सब प्राणी पीड़ित होते हैं, परन्तु जो निर्गुण आत्मा में स्थिर ब्रह्मनिष्ठ अन्तिम जन्म वाले हैं, सो ग्रहातिग्रह के वृन्द से मुक्त होते हैं ॥ १ ॥ जो प्राणी ग्रहों से गृहीत = वशीकृत तथा अतिग्रहों से बद्ध = बन्धन वाले हैं, सो सर्वत्र गृहीत और बद्ध होते हैं ॥ २ ॥ बृहदारण्यक० अ० ३।२। के अनुसार घ्राण = नाक, वाक्, जिह्वा, नेत्र, श्रोत्र=कान, मन, हाथ, और त्वक्, ये आठ ग्रह विद्वानों से कहे गये हैं ॥ ३ ॥ गन्ध, नाम रस, रूप, शब्द, काम, कर्म, और स्पर्श, ये विषय अतिग्रह हैं ॥ ४ ॥ ये इन्द्रिय और गन्धादि विषय, इस प्रकार प्राणी को ग्रहण करते हैं, कि जैसे मार्जार = बिल्ला चूहों को ग्रहण करता है, और जैसे मत्स्यघाती जलाशय से मछलियों को पकड़ता है ॥ ५ ॥ यद्यपि एकादश = ग्यारह इन्द्रिय ग्रह हैं और उन के उतने ही विषय अतिग्रह हैं, तो भी ये आठ २ प्रधान २ यहाँ ग्रह और अतिग्रह कहे गये हैं ॥ ६ ॥ जिसने उक्त इन्द्रिय रूप ग्रहों को निगृहीत = वशीभूत किया है, सो जीवन्मुक्त मति = बुद्धि वाला, मौनी = मननशील, आर्य = श्रेष्ठ पुरुष, मान, मद, मत्सर से रहित, ज्वर = ताप से रहित स्थिर रहता है ॥ ७ ॥ इन्द्रियाँ और क्षाराम्बु = समुद्र का जल ये दोनों रूक्ष = स्नेह शून्य, निष्ठुर–दुःस्पर्श और रत्न विषय के लोभयुक्त, तथा कल्लोल = जन्म मरण, भूख, पिपासा, शोक, मोह, रूप षड़ूर्मि और तरङ्ग से व्याप्त तथा दुःख से ग्रहण योग्य ग्राह = विषयों का ग्रहण जन्तु से भयंकर है ॥ ८ ॥ और अविवेकियों में इन्द्रियाँ अमित्र = शत्रु रूप हैं, विवेकियों में मित्ररूप हैं, और गहन = दुर्गम दुःप्रवेश अनन्त = निःसीम विश्रामादि से शून्य जंगल रूप इन्द्रियाँ हैं ॥ ९ ॥

पन्द्रहवाँ ग्रहातिग्रह प्रकरण समाप्त ॥
इति स्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्रिसंगृहीत तत्त्वार्थमणिमाला में
पदार्थनामक सातवाँ काण्ड समाप्त ॥

अथाष्टमं ज्ञानादिकाण्डम्

तत्र च प्रथमं ज्ञानप्रकरणम्

ज्ञानात्सौख्यं परां शान्तिं मुक्तिं विन्दन्ति मानवाः ।
तल्लब्धं येन तस्यैव मानुष्यमतिशोभते ॥१॥ तच्च—
ब्रह्मैवाहं समः शान्तः सच्चिदानन्दलक्षणः ।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥२॥
निर्विकारो निराकारो निरवद्योऽहमव्ययः ।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥३॥
अपरोक्षानुभू० ॥
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षं ज्ञानमेव तत् ।
अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते ॥४॥
पञ्चद० प्र० ६।१६॥
आत्मज्ञानं विदुर्ज्ञानं ज्ञानान्यन्यानि यानि तु ।
तानि ज्ञानावभासानि सारस्यानवबोधतः ॥५॥
योगवासिष्ठप्र० ६–२।२१।७ ॥

अपुनर्जन्मने यः स्याद् बोधः स ज्ञानशब्दभाक् ।
वसनाशनदा शेषा व्यवस्था शिल्पजीविका ॥६॥
योगवा० प्र० ६-२।२२।४ ॥
वैराग्याभ्यासवशतस्तथा तत्त्वावबोधनात् ।
संसारस्तीर्यते तेन तेष्वेवाभ्यासमाहर ॥७॥
सम्यक् तत्त्वावबोधेन दुर्बोधे क्षयमागते ।
गलिते वासनाऽऽवेशे विशोकं प्राप्यते पदम् ॥८॥
योगवा० प्र० ६।२।२१–२ ॥
निर्वाणं नाम परमं सुखं येन पुन र्जनः ।
न जायते न म्रियते तज्ज्ञानादेव लभ्यते ॥९॥
संसारतरणे जन्तोरुपायो ज्ञानमेव हि ।
तपो दानं तथा तीर्थमनुपायाः प्रकीर्त्तिताः ॥१०॥
योगवा० प्र० २।१०।२१–२२ ॥

आठवाँ ज्ञानकाण्ड प्रारम्भ

अथ ज्ञान—ज्ञान से सुख पर = उत्तम शान्ति मुक्ति को मनुष्य पाता है, इससे उस ज्ञान को जिस ने पाया उसी की मनुष्यता अत्यन्त शोभती है ॥ १ ॥ मैं सम = सदा एक रस शान्त = निरुपद्रव सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही हूँ, असत् स्वरूप देह मैं नहीं हूँ, ऐसा निश्चय ही वह ज्ञान पण्डितों से कहा जाता है ॥ २ ॥ विकार आकार रहित निर्दोष अव्यय = अविनाशी शिवस्वरूप-सर्वत्र सदा समान मैं हूँ, असत् स्वरूप देहादि मैं नहीं हूँ, यह निश्चय विद्वानों से ज्ञान कहलाता है ॥ ३ ॥ सच्चिदानन्द ब्रह्म है, इस प्रकार यदि जानता है, तो वह परोक्ष ही ज्ञान है, और मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ, इस प्रकार यदि जानता है, तो वह साक्षात्कार = अपरोक्ष ज्ञान कहा जाता है ॥ ४ ॥ उक्त आत्मज्ञान को ही महात्मा लोग ज्ञान = सत्यानुभव जानते हैं, और इस ज्ञान से अन्य जो ज्ञान हैं, सो ज्ञानावभास = ज्ञान तुल्य भासने वाले हैं, परन्तु सत्य ज्ञान नहीं हैं, क्योंकि उन से 'सारस्य' = ब्रह्मानन्द रूप रस सहितता का बोध नहीं होता है, इस से सत्यानन्द के अज्ञान भ्रमयुक्त अन्य ज्ञान हैं ॥ ५ ॥ जन्मादि के हेतु अनादि अज्ञान की निवृत्ति द्वारा जो बोध अपुनर्जन्म = मोक्ष के लिये होता है, वही बोध = ज्ञान, ज्ञान शब्द का भागी = अर्थ है, और वस्त्र भोजनादि को देने वाली शेष = उस से अन्य, व्यवस्था = मर्यादा-निश्चय, शिल्प तुल्य जीविका मात्र है ॥ ६ ॥ वैराग्य और अभ्यास के वश = प्रभाव से तथा तत्त्व = सत्यात्मा के अनुभव ज्ञान से संसार तरा जाता है, अतः उन में ही अभ्यास को प्राप्त करो ॥ ७ ॥ सम्यक् सत्य वस्तु के ज्ञान से दुर्बोध = संशय-भ्रमादि के क्षय होने पर, तथा वासनाऽऽवेश = वेग-अनुप्रवेश के गलित = नष्ट होने पर विशोक = शोक रहित-मोक्ष पद प्राप्त होता है ॥ ८ ॥ जिससे प्राणी फिर नहीं जन्मता मरता है, वही निर्वाण = मोक्ष नामक परम सुख है, सो ज्ञान से ही मिलता है ॥ ९ ॥ प्राणी को संसार से तरणे में उपाय = साधन रूप ज्ञान-

ज्ञानेन ज्ञेयनिष्ठत्वमेति चेतो हृदम्बरे ।
ततः सर्ववपु र्भूत्वा भूयो जीवो न जायते ॥११॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥१२॥
आत्मनोऽनन्ययोगेन तद्भावनमनारतम् ।
विविक्तदेशसेवित्वमरति र्जनसंसदि ॥१३॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं तदतोऽन्यथा ॥१४॥
रागद्वेषक्षयाकारं संसाराख्याधिभेषजम् ।
अहंभावोपशान्तौ तु राजन् ज्ञानमवाप्यते ॥१५॥
योगवा० प्र० ६।७४।२७ इत्यादि । गुरुत्रितलोक्तिः ॥
ज्ञानस्य ज्ञेयतापत्ति र्बन्ध इत्यभिधीयते ।
तस्यैव ज्ञेयताशान्ति र्मोक्ष इत्यभिधीयते ॥१६॥
सम्यग् ज्ञानेन बोधेन मन्दबुद्धिर्निवर्त्तते ।
निराकारा निजा शान्ता मुक्तिरेव प्रवर्त्तते ॥१७॥
ज्ञानस्य ज्ञेयता नास्ति केवलं ज्ञानमव्ययम् ।
अवाच्यमितिबोधान्तःसम्यग् ज्ञानमिति स्मृतम् ॥१८॥
बोधमात्रं भवेज्ज्ञानं भावसाधनमात्रकम् ।
न ज्ञानज्ञेययोर्भेदः पवनस्पन्दयोरिव ॥१९॥
योगवा० प्र० ६-२।१६० ॥
शुद्धैव सम्वित्त्रिजगत्सम्वेद्यं नान्यदस्त्यलम् ।
इत्यन्तर्निश्चयो दृढः सम्यग् ज्ञानं विदुर्बुधाः ॥२०॥
पूर्वं दृष्टमदृष्टं वा यदस्याः प्रतिभासते ।
सम्विदस्तत्प्रयत्नेन मार्जनीयं विजानता ॥२१॥

ही है, तप दान तथा तीर्थादि अनुपाय कहे गये हैं ॥ १० ॥ ज्ञान=गीता में वर्णित अमानित्व अदम्भित्व अहिंसा क्षान्ति आर्जवादि रूप ज्ञान साधन से, ज्ञेय=अनादि कार्य कारण से बिलक्षण सर्वात्मा निर्गुण ब्रह्म निष्ठता=स्थिरता को चित्त हृदयाकाश में पाता है, तिससे जीव सर्व वपु वाला=पूर्ण स्वभाव वाला हो कर फिर नहीं जन्मता है ॥ ११ ॥ पुत्र, स्त्री, गृह, दासादि में असक्ति=ममता प्रेम का त्याग और इष्ट, अनिष्ट=अनुकूल, प्रतिकूल की उपपत्ति=प्राप्ति में सदा समचित्तता ॥ १२ ॥ अनन्य-योग=अनन्य समाधि से निरन्तर आत्मा के तद्भावन=ब्रह्मरूपता का चिन्तन, विविक्त=अशुचि आदि रहित एकान्त देश की सेवन, शीलता=स्वभावता, अज्ञसाधारण जन के समूह में अप्रीति ॥१३॥ अध्यात्म ज्ञान=आत्मोद्देश से प्रवृत्त विवेक श्रवणादि का अभ्यास में नित्यत्व=स्थिरता और तत्त्व ज्ञान के अर्थ =प्रयोजन का दर्शन=मोक्ष का आलोचन, तत्त्व ज्ञान से सत्यार्थ का अनुभव, ये सब ज्ञान इस शब्द से कहे गये हैं, और इससे अन्यथा=विपरीत जो मानित्वादि आदि हैं सो अज्ञान कहा गया है ॥ १४ ॥ हे राजन ! अहंकार की उपशान्ति=निवृत्ति होने पर, रागद्वेष के क्षयस्वरूप, संसार नामक रोग की औषधि स्वरूप ज्ञान प्राप्त किया जाता है ॥१५॥ ज्ञान स्वरूप को भ्रम से ज्ञेयता की प्राप्ति संसार बन्धन कहा जाता है, भ्रम की निवृत्ति से ज्ञान स्वरूप में ज्ञेयता=ज्ञानविषयता की निवृत्ति ही मोक्ष कहलाता है ॥ १६ ॥ सम्यग् ज्ञान रूप बोध=अनुभव से मन्द बुद्धि=भ्रान्ति निवृत्त होती है, तब निराकार शान्त निज स्वरूपात्मक ज्ञेयता रहित मुक्ति ही प्रवृत्त=सिद्ध होती है ॥ १७ ॥ ज्ञान स्वरूप ब्रह्मात्मा को ज्ञेयता= ज्ञान विषयता नहीं है, वह केवल=शुद्ध ज्ञान स्वरूप स्वयं प्रकाश, अव्यय=अविनाशी है, शब्दों से अवाच्य=अकथनीय है, इस प्रकार के बोध का अन्त=(समाप्ति-पूर्णता) ही सम्यग् ज्ञान शब्द से कहा जाता है ॥ १८ ॥ "ज्ञप्ति ज्ञानम्" इस प्रकार भाव में प्रत्यय से साधन=सिद्धि वाला, भावसाधन स्वरूप ही ज्ञान होता है, सो भाव=पदार्थ का साधन=प्रकाशन स्वरूप मात्र बोध मात्र ज्ञान होता है, वहाँ पवन और उस के स्पन्द=(क्रिया) के समान=ज्ञान ज्ञेय का भेद नहीं रहता है; मायिक ज्ञेय आत्मभिन्न सत्ता रहित हैं ॥ १९ ॥ इससे शुद्ध ब्रह्म ही तीन लोकादि रूप है, अन्य संवेद्य=ज्ञेय सर्वथा नहीं है, ऐसा अन्त में सुदृढ निश्चय जो होता है, विद्वान् उस को सम्यग् ज्ञान कहते हैं ॥ २० ॥ प्रथम दृष्ट वा

तदमार्जनमात्रं हि महासंसारसङ्गतम् ।
तत्प्रमार्जनमात्रं तु मोक्ष इत्यनुभूयते ॥२२॥
योगवा० प्र० ५।९१।७३। इत्यादि ॥

यतो वाचो निवर्त्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते ।
यस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावजाः२३
यः पुमान् सांख्यदृष्टीनां ब्रह्मवेदान्तवदिनाम् ।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदामेकान्तनिर्मलम् ॥२४॥
यः शून्यवादिनां शून्यो भासको योऽर्कतेजसाम् ।
वक्ता मन्ता ऋतं भोक्ता द्रष्टा कर्त्ता सदैव सः ॥२५॥
सन्नप्यसद्यो जगति यो देहस्थोऽपि दूरगः ।
चित्प्रकाशो ह्ययं यस्मादालोक इव भास्वतः॥२६॥
यस्माद्विष्ण्वादयो देवाः सूर्यादिव मरीचयः।
यस्माज्जगन्त्यनन्तानि बुद्बुदा जलधेरिव ॥२७॥
यं यान्ति दृश्यवृन्दानि पयांसीव महार्णवम् ।
य आत्मानं पदार्थं च प्रकाशयति दीपवत् ॥२८॥
योगवा० प्र० ३।५।५। इत्यादि ॥

अस्य देवाधिदेवस्य परस्य परमात्मनः ।
ज्ञानादेव परा सिद्धि र्नत्वनुष्ठानदुःखतः ॥२९॥
अत्र ज्ञानमनुष्ठानं न त्वन्यदुपयुज्यते ।
मृगतृष्णाजलभ्रान्तिशान्तौ चेदं निरूपितम् ॥३०॥
न ह्येष दूरे नाभ्यासे नालभ्यो विषमे न च ।
स्वानन्दभासरूपोऽसौ स्वदेहादेव लभ्यते ॥३१॥
योगवा० प्र० ३।६।१। इत्यादि ॥

अवबोधं विदुर्ज्ञानं तदिदं सप्तभूमिकम् ।
मुक्तिस्तु ज्ञेयमित्युक्तं भूमिकासप्तकात्परम् ॥३२॥
ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता ।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा ॥३३॥

अदृष्ट जो वस्तु इस सम्विद् = ज्ञानस्वरूप आत्मा से भासती है, विवेकी से वह प्रयत्न द्वारा मार्जनीय = मिथ्या आदि बुद्धि से निवारणीय है ॥ २१ ॥ उस का अमार्जनमात्र महासंसार से सम्बन्धरूप है, और उस का प्रमार्जनमात्र ही मोक्ष है, ऐसा अनुभूत होता है ॥ २२ ॥ जिससे वाक् निवृत होती हैं, जिस को कह नहीं सकती, जिसे मुक्त समझते हैं, जिस के आत्मा आदि नाम कल्पित हैं, स्वभावज = स्वरूप जन्य नहीं हैं ॥ २३ ॥ सांख्य दृष्टि वालों के जो पुरुष हैं, वेदान्तवादी का जो ब्रह्म है, विज्ञान वेत्ताओं का क्षणिक विज्ञान मात्र है, और एकान्त = अत्यन्त निर्मल है ॥ २४ ॥ शून्य वादियों का जो शून्य है, जो सूर्य के तेज का भी प्रकाशक है, सोई सदा वक्ता, मन्ता, ऋत = सत्य, भोक्ता, द्रष्टा, और कर्ता है ॥ २५ ॥ जगत् में सत् होता हुआ भी जो अविद्या से असत् है, इसी से देह में रहता हुआ भी दूरगत है, सूर्य से आलोक = दीप्ति के समान जिससे यह चेतनता-प्रकाश होता है ॥२६॥ सूर्य से मरीचि = किरण के समान इसी परम देव से विष्णु आदि देव होते हैं, और जिससे अनन्त जगत् समुद्र से बुद्बुद के समान होते हैं ॥ २७ ॥ समुद्र में जल के समान प्रलय काल में जिस में दृश्य समूह लीन होते हैं, और जो अपने को और पदार्थों को दीप के समान प्रकाशता है ॥ २८ ॥ इसी सब देवों के अधिष्ठाता देव, प्रकाशक देव सब पर परमात्मा के ज्ञान से ही परा सिद्धि = मुक्ति होती है, कर्मानुष्ठान = आचरण आदि दुःख से नहीं होती है ॥ २९ ॥ इस परा सिद्धि में ज्ञान रूप अनुष्ठान ही हेतु है, अन्य अनुष्ठान यहाँ उपयोगी = हेतु नहीं है, यह बात-व्यवहार मृगतृष्णा जल की भ्रान्ति की निवृत्ति में प्रत्यक्ष देखी गई है ॥ ३० ॥ और यह सर्वात्मा परमात्मा दूर में वा समीप में नहीं है, न अलभ्य = अप्राप्य न विषम स्थान में है, किन्तु वह स्वस्वरूपानन्दप्रकाश स्वरूप है, स्वदेह से ही उपलब्ध = अनुभूत प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥ ब्रह्मात्मा के अनुभव को ज्ञान जानते हैं, सो यह ज्ञान सात भूमिका = अवस्था वाला है। और मुक्ति = मुक्त शुद्ध स्वरूप ज्ञेय इस शब्द से कहा गया है, सो सात भूमिका से पर है ॥ ३२ ॥ शुभेच्छा नामक पहली ज्ञान की अवस्था कही गई है, विचारणा दूसरी, तनुमानसा तीसरी

सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका ।
पदार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥३४॥
स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः ।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥३५॥
शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्ति र्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥३६॥
विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता ।
याऽत्र सा तनुताभावात्प्रोच्यते तनुमानसा ॥३७॥
भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात् ।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥३८॥
दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसङ्गफलेन च ।
दृढसत्त्वचमत्कारात्प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका ॥३९॥
भूमिकापञ्चकाभ्यासात्स्वात्मारामतया दृढम् ।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ॥४०॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात् ।
पदार्थभावनानाम्नी षष्ठी सञ्जायते गतिः ॥४१॥
भूमिषट्कचिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भतः ।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥४२॥
एषा हि जीवन्मुक्तेषु तुर्यावस्थेह विद्यते ।
विदेहमुक्तिविषयस्तुर्यातीतमतः परम् ॥४३॥
योगवा० प्र० ३।११८ ॥
ज्ञानेन सर्वदुःखानां विनाश उपजायते ।
कृतालोकविलासेन तमसामिव भानुना ॥४४॥
ज्ञाने प्रकटतां याते ज्ञेयं स्वयमुदेत्यलम् ।
रवावभ्युदिते भूमावालोक इव निर्मलः ॥४५॥
येन शास्त्रविचारेण ब्रह्मतत्त्वं प्रबुध्यते ।

भूमिका कही गई है ॥ ३३ ॥ सत्त्वापति चौथी होती है, तिसके बाद पाँचवीं असंसक्ति नाम वाली होती है, षष्ठी पदार्थाऽभाविनी होती है, सप्तमी तुर्यगा कहलाती है ॥ ३४ ॥ मैं मूढ़ होकर क्यों स्थिर हूँ ? शास्त्र और सज्जन गुरु द्वारा प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त करूँगा, वैराग्यादि पूर्वक जो ऐसी इच्छा होती है, सो विद्वानों द्वारा शुभेच्छा कही जाती है ॥३५॥ शास्त्र और सज्जन के साथ सम्बन्ध, वैराग्य, अभ्यास पूर्वक, जो सदाचार = श्रवण मननादि में प्रवृत्ति होती है, सो विचारणा कहलाती है ॥ ३६ ॥ विचारणा और शुभेच्छा से जो यहाँ इन्द्रियार्थ = विषय में मन की असक्तता = प्रवृत्ति आसक्ति रहितता होती है, सो यहाँ मन की तनुता = सूक्ष्मता भाव से तनुमानसा = तनु मानस वाली अवस्था कही गई है ॥ ३७ ॥ तीनों भूमिकाओं के अभ्यास के वश = प्रभाव से चित्त में अर्थ = बाह्य विषय में वैराग्य के प्रभाव से जो केवल शुद्ध सत्यात्मा में स्थिति होती है, सो सत्त्वापत्ति कही जाती है ॥ ३८ ॥ दशा = अवस्था चतुष्टय के अभ्यास से असंसङ्ग = असम्बन्ध रूप फल से और दृढ़ सत्त्व के चमत्कार = अनुभव प्रकाश से असंसक्ति नामक भूमिका कही गई है ॥ ३९ ॥ भूमिका पञ्चक के दृढ़ अभ्यास से स्वात्मारामता = स्वात्मा में ही आरामता विश्रान्ति से जो आभ्यन्तर = भीतर के और बाहर के पदार्थों का अभावन = अचिन्तन उससे, और अन्य से प्रयुक्त = कृत जो चिर काल तक प्रयत्न उससे अर्थ की भावना से पदार्थाभाविना नाम वाली गति = अवस्था होती = कहलाती है ॥ ४०-४१ ॥ भूमिकषट्क के चिरकाल तक अभ्यास से जो भेद के सर्वथा अनुपलम्भ = पर प्रयत्न से भी ज्ञानाभाव होता है, उससे जो स्वभावैकनिष्ठता = केवल आत्मस्वरूप से स्थिति होती है, सो तुर्यगा गति समझनी चाहिये ॥ ४२ ॥ यह तुर्यावस्था यहाँ जीवन्मुक्तों में रहती है, इससे यह ज्ञान की अवस्था है, इससे पर तुर्यातीत है, सो विदेह मुक्ति का विषय ब्रह्म स्वरूप है, ज्ञान की अवस्था नहीं है ॥४३॥ उक्त ज्ञान से सब दुःखों का इस प्रकार नाश होता है, कि जैसे आलोक = प्रकाश रूप विलास = चेष्टा कार्य करने पर सूर्य से अन्धकारों का नाश होता है ॥ ४४ ॥ ज्ञान के प्रकट होने पर ज्ञेय आत्मा स्वयं अत्यन्त प्रकट होता है, जैसे सूर्य के प्रकट होने पर भूमि में निर्मल आलोक होता है ॥ ४५ ॥ जिस शास्त्र विचार से

तद्भानमुच्यते ज्ञेयादभिन्नमिव संस्थितम् ॥४६॥
विचारोत्थात्मविज्ञानं ज्ञानमङ्ग ! विदुर्बुधाः ।
ज्ञेयं तस्यान्तरेवास्ति माधुर्यं पयसो यथा ॥४७॥
सम्यग् ज्ञानसमालोकः पुमान् ज्ञेयमयः स्वयम् ।
भवत्यापीतमैरेयः सदा मदमयो यथा ॥४८॥
समं स्वरूपममलं ज्ञेयं ब्रह्म परं विदुः ।
ज्ञानाधिगममात्रेण तत्स्वयं सम्प्रसीदति ॥४९॥
ज्ञानवानुदितानन्दो न क्वचित्परिमज्जति ।
जीवन्मुक्तो गतासङ्गः सम्राडात्मेव तिष्ठति ॥५०॥
योगवा० प्र० ५।६३।१८ इत्यादि ॥
त्यक्त्वा यः प्राकृतं कर्म नित्यमात्मरति र्मुनिः ।
सर्वभूतात्मभूस्तस्मात्स गच्छेदुत्तमां गतिम् ॥५१॥
यथा वारिचरः पक्षी सलिलेन न लिप्यते ।
एवमेव कृतप्रज्ञो भूतेषु परिवर्त्तते ॥५२॥
महाभा० शान्तिप० अ० १९४।४६-४७ ॥
स्निग्धत्वात्तिलवत्सर्वं चक्रेऽस्मिन् पीड्यते जगत् ।
तिलपीडैरिवाक्रम्य भोगैरज्ञानसम्भवैः ॥५३॥
बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः ।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशै र्नात्मा सम्पद्यते पुनः ॥५४॥
महाभा० शान्तिप० अ० २११।१६-१७ ॥
एकत्वं बुद्धिमनसोरिन्द्रियाणां च सर्वशः ।
आत्मनो व्यापिनस्तात ! ज्ञानमेतदनुत्तमम् ॥५५॥
तदेतदुपशान्तेन दान्तेन गुणशालिना ।
आत्मारामेण बुद्धेन बोद्धव्यं शुचिकर्मणा ॥
योगदोषान् समुच्छिद्य पञ्च यान् कवयो विदुः ॥५६॥
कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पञ्चमम् ।
क्रोधं शमेन जयति कामं सङ्कल्पवर्जनात् ॥५७॥

ब्रह्म स्वरूप तत्त्व प्रत्यक्ष समझते हैं, विचार जन्य वह बोध और विचार भान = अनुभवज्ञान कहलाता है, सो ज्ञान-भान ज्ञेय से अभिन्न के समान सम्यग् स्थिर रहता है, बाधित नहीं होता है ॥ ४६ ॥ हे अङ्ग ! = प्रिय ! विचार जन्य आत्मज्ञान को विद्वान् ज्ञान कहते हैं, ज्ञेय उसके अन्दर ही इस प्रकार रहता है, कि जैसे दूध के अन्दर माधुर्य = मधुरता रहती है ॥ ४७ ॥ सम्यग् ज्ञान के आलोक वाला पुरुष स्वयं ज्ञेयमय = आनन्द स्वरूप मय सदा होता है, जैसे खूब मदिरा पीने वाला सदा मदमय होता है ॥ ४८ ॥ सम स्वरूप अमल = निर्गुण पर ब्रह्म को ज्ञेय जानते हैं, और ज्ञान की प्राप्ति मात्र से वह ब्रह्म प्रसन्न होता = स्वच्छ भासता है ॥ ४९ ॥ प्रकट आनन्द वाला ज्ञानी कहीं आसक्त, मुग्ध नहीं होता है, किन्तु जीवन्मुक्त सङ्ग आसक्ति रहित होकर सम्राट के आत्मा के तुल्य इच्छारहित विराजता है ॥ ५० ॥ जो मुनि प्राकृत = स्वाभाविक कर्म को त्याग कर, नित्य = सदा आत्मा में रति = प्रीति वाला है, सो सब का आत्मा होता है, इससे सर्वात्मभू कहलाता है, और तिस से वह उत्तम गति को पाता है ॥ ५१ ॥ वारिचर हंसादि पक्षी जैसे जल से लिप्त नहीं होता है, तैसे ही कृतप्रज्ञ = आत्मज्ञानी भूतों में असङ्ग अलिप्त रूप से रहता है ॥ ५२ ॥ स्निग्ध = स्नेह राग युक्त होने से सब जगत् यहाँ इस संसार चक्र में अज्ञान जन्य भोगों के द्वारा वशीभूत होकर उनसे इस प्रकार पीड़ित होते हैं, कि जैसे तिलपीड़ = तेली से तिल पीडित होता है ॥ ५३ ॥ परन्तु अग्नि से उपदग्ध = भुना हुआ बीज जैसे फिर नहीं जमता है, तैसे ज्ञान से दग्ध क्लेश = अविद्यादि से जीवात्मा भी फिर देही संसारी नहीं होता है ॥ ५४ ॥ हे तात ! बुद्धि, इन्द्रियाँ या मन इन सब की सर्वथा एकता = इन्द्रिय जन्य बाह्य वृत्ति के निरोध पूर्वक मानस वृत्ति के निरोध पूर्वक बुद्धि वृत्ति का निरोध ही व्यापक आत्मा का यह उत्तमों से उत्तम ज्ञान योग मत में कहा जाता है ॥ ५५ ॥ सो यह ज्ञान शम दम युक्त गुणशाली आत्माराम = आत्मरतिमान् बुद्ध = शास्त्र तत्त्वज्ञ शुचिकर्मा = यमनियमादिमान् से गुरु द्वारा बोद्धव्य = ज्ञेय है, सो भी पाँच उन दोषों को समुच्छिन्न = नष्ट कर के बोद्धव्य है, जिन दोषों को कवि = विद्वान् सब जानते है ॥ ५६ ॥ वे दोष काम,

सत्त्वसंसेवनाद्धीरो निद्रामुच्छेतुमर्हति ।
धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा ॥५८॥
चक्षुः श्रोत्रं च मनसा मनो वाचं च कर्मणा ।
अप्रमादाद् भयं जह्याद्दम्भं प्राज्ञोपसेवनात् ॥५९॥
महाभा०शां०प०अ०२४०॥ व्यासोक्तिः॥ ब्रह्मपु०अ०१२८॥
कर्मणा बध्यते जन्तु र्विद्यया तु प्रमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥६०॥
कर्मणा जायते प्रेत्य मूर्त्तिमान् षोडशात्मकः ।
विद्यया जायते नित्यमव्यक्तं ह्यव्ययात्मकम् ॥६१॥
महाभा० शान्तिप० अ० २४१ ॥
इष्टं दत्तं तपोऽधीतं व्रतानि नियमाश्च ये ।
सर्वमेतद्विनाशान्तं ज्ञानस्यान्तो न विद्यते ॥६२॥
तस्माज्ज्ञानेन शुद्धेन प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ।
निर्ममो निरहङ्कारो मुच्यते सर्वपाप्मभिः ॥६३॥
महाभा० आश्वमेधिकप० अ० ४४।२१-२२ ॥
ज्ञानौषधमवाप्येह दूरपारं महौषधम् ।
छिन्द्याद् दुःखमहाव्याधिं नरः संयतमानसः॥६४॥
महाभा० सभाप० अ० ७।२१ ॥
ज्ञानं तु द्विविधं प्रोक्तं शाब्दिकं प्रथमं स्मृतम् ।
वेदशास्त्रार्थविज्ञानात्तद्भवेद् बुद्धियोगतः ॥६५॥
विकल्पास्तत्र बहवो भवन्ति मतिकल्पिताः ।
अनुभवाख्यं द्वितीयं तु ज्ञानं तद्दुर्लभं नृप !॥६६॥
तत्तदा प्राप्यते तस्य वेत्तुः सङ्गो यदा भवेत् ।
शब्दज्ञानान्न कार्यस्य सिद्धि र्भवति भारत !॥६७॥
देवीभा० अ० १५।५१। इत्यादि ।
क्षेत्राणां च क्षेत्रविदां प्रधानपुरुषस्य च ।
मायायाः कालशक्तेश्चाक्षरस्य च परात्मनः ॥

क्रोध, लोभ, भय, पञ्चम स्वप्न हैं, जिन्हें कवि जानते हैं. और धीर=विद्वान् क्रोध को शम से जीतता है, संकल्प के त्याग से काम को जीतता है ॥ ५७ ॥ और सत्त्व=बुद्धि के संसेवन, सात्त्विकता के ग्रहण, अर्थों के विचारादि से निद्रा को नष्ट करने के लिये समर्थ मोहादि रहित होता है । धृति=धैर्य से शिश्नोदर की रक्षा करता है = व्यभिचारादि से रोकता है, हाथ पैर की चक्षु से रक्षा करता=कण्टक कुगति से बचाता है ॥ ५८ ॥ चक्षु और श्रोत्र की मन से रक्षा करता=कुदर्शन कुश्रवण से रोकता है, मन और वचन को सत्कर्म से=यज्ञाध्ययनादि से शुद्ध करता है, अप्रमाद से भय को त्यागता है, और दम्भ को विद्वानों के उपसेवन से त्यागता है ॥ ५९ ॥ प्राणी सकाम कर्म से बँधता है, और ज्ञान से मुक्त होता है, अतः पारदर्शी=ज्ञानी यति कर्म नहीं करते हैं ॥ ६० ॥ कर्म से षोडशात्मक=षोडशविकाररूप, एकादशेन्द्रिय, पांच भूत युक्त, मूर्तिमान् देह मर कर भी कर्म से फिर उत्पन्न होती है, इससे जीवात्मा भी षोडश कलावान्, मूर्तिमान्=देहाभिमानी कर्म से होता है, और विद्या से नित्य अव्यक्त = द्वैतभिन्न अव्यय ब्रह्म स्वरूप होता है ॥ ६१ ॥ इष्ट=वैदिक कर्म, दत्त=दान, तप, अधीतशास्त्र व्रत शौचादिनियम, जो कुछ व्यवहार हैं, ये सब विनाश रूप अन्त वाले हैं, और ज्ञान के फल का अन्त नहीं है, इससे प्रशान्त मन वाला, जितेन्द्रिय, ममता अहंकार रहित पुरुष शुद्ध ज्ञान द्वारा सब पाप = अविद्यादि कर्मादि से सदा के लिये मुक्त होता है ॥ ६२-६३ ॥ संयतमन = वश्य मन वाला मनुष्य दूर पार वाला = अनन्त महा औषध रूप ज्ञानौषध को यहाँ प्राप्त करके महाव्याधि= अज्ञानादि और तज्जन्य दुःख को नष्ट करे ॥६४॥ ज्ञान दो प्रकार का कहा गया है, तिस में शाब्दिक=शब्द जन्य पहला कहा गया है, सो वेदशास्त्र के अर्थों के ज्ञान से बुद्धि के सम्बन्ध से होता है ॥ ६५ ॥ तिस में बुद्धि से कल्पित बहुत विकल्प=भेद होते हैं, हे नृप ! अनुभव नामक दूसरा ज्ञान है, सो दुर्लभ है ॥ ६६ ॥ हे भारत ! वह ज्ञान तब होता है, कि जब उस का ज्ञाता से संग होता है, और शब्द जन्य ज्ञान से कार्य की सिद्धि नहीं होती है ॥६७॥ क्षेत्रों के, क्षेत्रज्ञों के, प्रधान पुरुष के, माया के, कालशक्ति के और अक्षर=अविनाशी

पृथक्पृथग् लक्षणै र्यज्ज्ञानं तज्ज्ञानमुच्यते ॥६८॥

स्कन्दपु० वैष्णवखं० वासुदेवमा० ग्र० २४।७४ ॥

ज्ञान शून्या नरा ये तु पशवः परिकीर्त्तिताः ।
तस्मात्संसारमोक्षाय परं ज्ञानं समभ्यसेत् ॥६९॥

नारदीयपु० ग्र० ३२।४० ॥

ज्ञानं च मोक्षदं प्राहुस्तज्ज्ञानं योगिनां भवेत् ।
योगस्तु द्विविधः प्रोक्तः कर्मज्ञानप्रभेदतः ॥७०॥
अहिंसा सत्यमक्रोधो ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ।
अनीर्ष्या च दया चैव योगयोरुभयोः समम् ॥७१॥

नारदीयपु० ग्र० ३३।३१-३५ ॥

ज्ञानाग्नि र्दहते क्षिप्रमशेषं पापपञ्जरम् ।
प्रसन्नं जायते ज्ञानं साक्षान्निर्वाणसिद्धिदम् ॥७२॥
योगस्तु द्विविधो ज्ञेयो ह्यभावः प्रथमो मतः ।
अपरस्तु महायोगः सर्वयोगोत्तमोत्तमः ॥७३॥
शून्यं सर्वनिराभासं स्वरूपं यत्र चिन्त्यते ।
अभावयोगः स प्रोक्तो येनात्मानं प्रपश्यति ॥७४॥
यत्र पश्यति चात्मानं नित्यानन्दं निरञ्जनम् ।
मयैक्यं स मया योगो भाषितः परमः स्वयम् ॥७५॥

कूर्मपु० ईश्वरगी० ग्र० ११ ॥

तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये ।
आयासायापरं कर्म विद्याऽन्या शिल्पनैपुणम् ॥७६॥

विष्णुपु० ग्रंश० १।१९।४१ ॥

एको व्यापी समः शुद्धो निर्गुणः प्रकृतेःपरः ।
जन्मवृद्ध्यादिरहित आत्मा सर्वगतोऽव्ययः ॥७७॥
तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयं हि यत् ।
विज्ञानं परमार्थोऽसौ द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः ॥७८॥

विष्णुपु० ग्रंश० १।१४ ॥

आगमोत्थं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तदुच्यते ।
शब्दब्रह्मागममयं परं ब्रह्म विवेकजम् ॥७९॥

परमात्मा के लक्षणों द्वारा जो पृथक् पृथक् ज्ञान होता है, सो सब ज्ञान कहलाता है ॥ ६८ ॥ ज्ञान रहित जो मनुष्य हैं, सो पशु कहे गये हैं, तिससे संसार से मोक्ष के लिये उत्तम ज्ञान का अभ्यास करे ॥ ६९ ॥ ज्ञान को मोक्षदायक कहते हैं, सो ज्ञान योगियों को होता है, और कर्म योग ज्ञान-योग के भेद से योग दो प्रकार का कहा गया है ॥ ७० ॥ अहिंसा सत्यादि दोनों योगों में तुल्य रूप से रहते हैं ॥७१॥ विवेकादिरूप ज्ञानाग्नि प्रथम सब पाप रूप पञ्जर=पिञ्जर-बन्ध कारण को अशेष रूप से शीघ्र जलाती है, तब साक्षात् मोक्ष देने वाला प्रसन्न = स्वच्छ ज्ञान होता है ॥ ७२ ॥ योग दो प्रकार का समझना चाहिये, उस में पहला अभाव योग माना गया है, अन्य महायोग है, सो सब योगों में उत्तम से उत्तम है ॥ ७३ ॥ सब अनात्मवस्तु के आभास = प्रतीति से रहित अतएव सब से शून्य स्वरूप जिस अवस्था में चिन्तित = ध्यात होता है, सो अभाव योग कहलाता है, जिससे योगी आत्मा को जानता है ॥ ७४ ॥ और जिस अवस्था में आत्मा को नित्यानन्द स्वरूप निरञ्जन=शुद्ध और ईश्वर के साथ एक स्वरूप अभिन्न अखंड समझता है, सो योग मुझ से स्वयं परम योग कहा गया है ॥ ७५ ॥ वह कर्म है, कि जो शुभ निष्काम होने से बन्धन के लिये नहीं हो, वह विद्या ज्ञान है, जो मुक्ति के लिये है, अन्य कर्म आयास = हैरानी के लिये हैं, और अन्य विद्या शिल्प की निपुणता रूप है ॥ ७६ ॥ व्यापक, सम, शुद्ध, निर्गुण प्रकृति से पर, जन्म वृद्धि आदि से रहित, सर्वगत अव्यय = निर्विकार, आत्मा एक है ॥ ७७ ॥ अपने अन्य सब देहों में वर्तमान भी उस आत्मा का जो एकमय = एकस्वरूप सर्वत्र विज्ञान = अनुभव सो परमार्थ = सत्य अनुभव है, और द्वैती = भेददर्शी लोग मिथ्यादर्शन = ज्ञान वाले हैं ॥ ७८ ॥ आगमोत्थ = शास्त्रजन्य और विवेकादि साधन से जन्य दो प्रकार के ज्ञान होते हैं, तहाँ आगममय ज्ञान शब्दब्रह्म रूप = ओंकारार्थ रूप सोपाधिक विषयक है, और विवेकादि जन्य ज्ञान परं ब्रह्म रूप = निर्गुणरूप निरुपाधि विषयक है ॥ ७९ ॥

अन्धं तम इवाज्ञानं दीपवच्चेन्द्रियोद्भवम् ।
यथा सूर्यस्तथा ज्ञानं यद्विप्रर्षे ! विवेकजम् ॥८०॥
अशब्दगोचरस्यापि तस्य वै ब्रह्मणो द्विज ! ।
पूजायां भगवच्छब्दः क्रियते ह्युपचारतः ॥८१॥
विष्णुपु० अंश० ६।५।६१-६२-७१ ॥
अव्यक्तादौ विशेषान्ते विकारेऽस्मिन्निवर्त्तिते ।
चेतनाचेतनान्यत्वज्ञानेन ज्ञानमुच्यते ॥८२॥
अग्निपु० अ० ३७६।३ ॥
नरकस्वर्गसञ्ज्ञायै पुण्यपापे द्विजोत्तम ! ।
ययोस्त्वेकं तु दुःखायाऽन्यत्सुखायोद्भवाय च ८३
तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते ।
तस्माद्दुःखात्मकं नास्ति न च किञ्चित्सुखात्मकम् ॥
मनसः परिणामोऽयं सुखदुःखोपलक्षणः ।
ज्ञानमेव परं ब्रह्म ज्ञानं तत्त्वाय कल्पते ॥८५॥
शिवपु० उमासं० अ० १६।३६। इत्यादि ॥

परोक्षमपरोक्षं च द्विविधं ज्ञानमिष्यते ।
परोक्षमस्थिरं प्राहुरपरोक्षं तु सुस्थिरम् ॥८६॥
नापरोक्षादृते मोक्ष इति कृत्वा विनिश्चयम् ।
श्रेष्ठानुष्ठानसिद्ध्यर्थं प्रवर्त्तध्वमतन्द्रिताः ॥८७॥
शिवपु० वायवीयसं० ७ अ० ३२।६६-१०० ॥
दासोऽहमिति सम्मोहस्ततः सोऽहमिति भ्रमः ।
अहं स इति संमोहस्तथा त्रीणि परित्यजेत् ॥८८॥
निर्भेदे निर्मले नित्ये निराधारे निरञ्जने ।
दासः सोहमहं सोऽपीत्यात्मन्येतत्कथं भवेत् ॥८९॥
तस्मादज्ञानमायोत्थमिदं सर्वं जगद्बुधाः ! ।
तद्विवेकप्रदीपेन शिवं पश्यन् प्रमुच्यते ॥९०॥
विवेकालोकहस्तस्य ज्ञानमार्गेण गच्छतः ।
स्वात्मभुक्तिगृहप्राप्तिः सिद्ध्यत्यत्राचिरेण तु ॥९१॥

हे विप्रर्षे ! अन्ध तम के समान अज्ञान है, तहां इन्द्रियजन्य ज्ञान दीप तुल्य है, और विवेक जन्य ज्ञान सूर्य तुल्य है ॥ ८० ॥ हे द्विज ! शब्दों के अविषय = अवाच्य भी तिस निर्गुण ब्रह्म की पूजा में उपचार = गौणीलक्षणा वृत्ति द्वारा भगवदादि शब्दों का प्रयोग किया जाता है ॥ ८१ ॥ चेतनाचेतन के अन्यत्व ज्ञान = विवेक ज्ञान अव्यक्त आदि से लेकर सब विशेष = सुख दुःख मोह जनक कार्य पर्यन्त इस विकार विकारी वस्तु के निवृर्त्तित होने = अज्ञान की निवृत्ति होने से कार्य कारण के बाधित मिथ्या सिद्ध होने पर ज्ञान कहा जाता है ॥ ८२ ॥ हे द्विजोत्तम ! नरक स्वर्ग संज्ञा = भोग के लिये पाप पुण्य है, जिन में से एक दुःख के लिये और अन्य सुख की उत्पत्ति के लिये है ॥ ८३ ॥ तहाँ वही स्वर्गादि वस्तु प्रथम सुख के लिये हो कर फिर स्वर्गादि से पातादि काल में दुःख के लिये होता है तिससे कोई अनात्म वस्तु सदा सुख स्वरूप वा दुःख स्वरूप नहीं है ॥ ८४ ॥ सुख दुःख के उपलक्षण = बोधक रूप यह मन का परिणाम अनुकूलादि वृत्ति है, वस्तुतः ज्ञान स्वरूप पर-ब्रह्म है, उस का ज्ञान ही तत्त्व = स्वरूपस्थिति ब्रह्मप्राप्ति के लिये समर्थ होता है ॥ ८५ ॥ परोक्ष अपरोक्ष दो प्रकार के ज्ञान इष्ट माने जाते हैं, उन में परोक्ष ज्ञान को अस्थिर और अपरोक्ष को सुस्थिर कहते हैं ॥ ८६ ॥ इससे अपरोक्ष ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होता है, ऐसा विनिश्चय करके अतन्द्रित = आलस्य रहित सावधान होकर श्रेष्ठानुष्ठान = अपरोक्षानुभव, तदर्थक साधन की सिद्धि के लिये प्रवृत्त हो ॥ ८७ ॥ मैं दास हूँ यह संमोह = अज्ञान अविवेक है, उससे "सोऽहम्" यह भ्रम होता है तथा "अहं सः" = मैं वह हूँ यह भी संमोह है = प्रत्यक्ष परोक्ष नहीं हो सकता इससे तीनों को त्यागे ॥ ८८ ॥ भेद रहित, निर्मल, नित्य, निराधार, निरञ्जन आत्मा में "दासोऽहं सोहं अहं सः" यह भी कैसे होगा ? ॥ ८९ ॥ हे बुध ! तिससे अज्ञान रूप माया से उत्पन्न यह सब जगत् है, उससे आत्मा के विवेक रूप प्रदीप द्वारा शिव = कल्याण स्वरूप को देखता हुआ प्रमुक्त होता है ॥ ९० ॥ विवेक रूप आलोक युक्त हाथ = बुद्धि

संसारार्णवमग्नानां जन्तूनामविवेकिनाम् ।
अगतीनां गतिः साक्षाज्ज्ञानमेव हि केवलम् ॥९२॥
संसारदुःखतप्तानामात्मज्ञानामृताम्भसा ।
तापशान्ति र्न चान्येन सत्यमेव न संशयः ॥९३॥
स्वस्वप्नः स्वप्रबोधेन स्वात्ममात्रं यथा भवेत् ।
तथैव स्वप्रपञ्चोऽपि स्वयं स्यात्स्वप्रबोधतः ॥९४॥
सूतसं० यज्ञवैभवखं० अ० १४।३७ इत्यादि ॥

वेदान्तवाक्यजं ज्ञानं ब्रह्मात्मैकत्वगोचरम् ।
बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥९५॥
कर्त्तारं कर्म बध्नाति खलु वेदविदांवराः ! ।
ज्ञानिनो नैव कर्तृत्वं कर्तृत्वस्य तु साक्षिणः ॥९६॥
अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ।
संसारकारणाज्ञानतमसश्चण्डभास्करः ॥९७॥
सूतसं० यज्ञवै० अ० ४४ ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्याऽवस्थारूपेण भाति यः ।
स विश्वतैजसप्राज्ञसमाख्यः क्रमशो भवेत् ॥९८॥
विश्वो हि स्थूलभुङ् नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक् ।
प्राज्ञः स्वानन्दभुक् साक्षी केवलः सुखलक्षणः ९९
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चत्वेन भाति यः ।
तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते॥१००॥
सूतसं० ब्रह्मगीता० अ० ८।३१ इत्यादि ॥

कर्मयोगोद्भवं ज्ञानं तस्मात् तत्परमं पदम् ।
कर्मज्ञानोद्भवं ब्रह्म न च ज्ञानमकर्मणः ॥१०१॥
दया सर्वेषु भूतेषु क्षान्ती रक्षाऽऽतुरस्य तु ।
अनसूया तथा लोके शौचमन्तर्बहि र्द्विजाः! ॥१०२॥
अनायासेषु कार्येषु माङ्गल्याचारसेवनम् ।
न च द्रव्येषु कार्पण्यमार्त्तेषूपार्जितेषु च ॥१०३॥

वाला होकर ज्ञान रूप मार्ग से चलने वाले=अमानितादियुक्त को स्वात्म स्वरूप मुक्तिकी प्राप्ति शीघ्र ही सिद्ध होती है ॥९१॥ संसार सागर में मग्न अविवेकी गति=आश्रयादि रहित प्राणी को केवल ज्ञान ही साक्षात् गति है ॥ ९२ ॥ संसार के दुःख से तप्त मनुष्यों के ताप की शान्ति आत्मज्ञान रूप अमृत जल से होती हैं, अन्य से नहीं होती, यह बात सत्य ही है, इस में संशय नहीं है ॥ ९३ ॥ अपना स्वप्न अपने जागने से जैसे निजात्म मात्र ही हो जाता है, तैसे अपना प्रपञ्च =संसार भी स्वस्वरूप के अनुभव से स्वयं स्वरूप होता है ॥ ९४ ॥ वेदान्तवाक्य से जन्य ब्रह्म आत्मा की एकता विषयक ज्ञान, बुद्धि पूर्वक किए गए भी सब पापों को अग्नि के समान दग्ध करता है ॥ ९५ ॥ हे वेद वेत्ताओं में वर ! कर्ता को ही कर्म बाँधता है, और कर्म के साक्षी स्वरूप ज्ञानियों में कर्त्तृता=कर्तापन नहीं रहता है ॥ ९६ ॥ दैशिक = गुरु पूर्वक जो शब्द जन्य अपरोक्ष आत्मानुभव होता है, सो संसार के कारण अज्ञान रूप तम का नाशक चण्ड = तीक्ष्ण अतिदीप्त सूर्य के समान होता है ॥ ९७ ॥ जो आत्मा जाग्रत् , स्वप्न, सुषुप्ति नामक अवस्था रूप से भासता है, सो क्रम से विश्व, तैजस, प्राज्ञ नाम वाला होता है ॥ ९८ ॥ तिस में विश्व नाम वाला सदा स्थूल वस्तु का भोक्ता होता है, और तैजस प्रविविक्त = सूक्ष्म का भोक्ता होता है, प्राज्ञ स्वानन्द का भोक्ता होता है और साक्षी केवल = शुद्ध सुख स्वरूप रहता है, उस में भोग्य भोक्तृभाव नहीं है ॥ ९९ ॥ जो जाग्रत् , स्वप्न, सुषुप्ति आदि प्रपञ्च रूप से भासता है, सो ब्रह्म है, और मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार अपरोक्ष जान कर सब बन्ध से मुक्त होता है ॥ १०० ॥ कर्म योग से उत्पत्ति वाला ज्ञान होता है, तिससे वह परमपद = मोक्ष होता है, इससे कर्म और ज्ञान दोनों से उद्बुद्ध = प्रकट ब्रह्म होता है, कर्म योग रहित को ज्ञान नहीं होता है ॥ १०१ ॥ हे द्विज ! सब प्राणियों में दया, क्षमा, आतुर = रोगी की रक्षा, लोक में अनसूया = गुण में दोषारोप का अभाव, बाहर भीतर का शौच, आयास रहित कार्यों में मङ्गलयुक्त आचार का सेवन,

तथाऽस्पृहा परद्रव्ये परस्त्रीषु च सर्वदा ।
अष्टावात्मगुणाः प्रोक्ताः पुराणस्य च कोविदैः॥१०४
अयमेव क्रियायोगो ज्ञानयोगस्य साधकः॥१०५॥
द्वाविंशतिस्तथाऽष्टौ च ये संस्काराः प्रकीर्त्तिताः ।
तद्युक्तोऽपि न मोक्षाय यस्त्वात्मगुणवर्जितः॥१०६॥
मत्स्यपु० अ० ५२ ॥
गुणस्यादर्शनाद्वोपद्दष्टे र्वा क्षीणकामनः ।
सर्वक्लेशोपशान्त्यर्थमात्मज्ञानं समाश्रयेत् ॥१०७॥
बृहदारण्यकवार्त्तिकसारसम्बन्धपरीक्षायाम् ॥
चतुर्दशानां विद्यानां धारणं हि यथार्थतः ।
विज्ञानमिति तद्विद्याद्येन धर्मो विवर्द्धते ॥१०८॥
यथा स देवो भगवान् विद्यया विद्यते परः ।
साक्षाद्देवो महादेवस्तज्ज्ञानमिति कीर्त्तितम्॥१०९॥
कूर्मपु० उत्तरार्द्ध० अ० १५ ॥

यः काम्यालोचकः स्रष्टा सच्च त्यच्चाभवत् प्रभुः ।
सृष्टं सोऽनुप्रविष्टः सन्द्रष्टा श्रोता व्यवस्थितः॥११०॥
शब्दार्थप्रत्ययाकारोऽशब्दार्थप्रत्ययः स्वयम् ।
भासते व्यवहारार्हो मायया न स्वरूपतः ॥१११॥
एकं ब्रह्मास्त्रमादाय प्रोज्झ्योपायं ततः परम् ।
ब्रह्माज्ञानं परानीकं भस्मीभूतं करोत्ययम् ॥११२॥
पशून् स्वानवरुन्धाना निग्रहानुग्रहक्षमाः ।
देवा नापीशतेऽभूत्यै सर्वभूतात्मनो मुनेः ॥११३॥
सर्वस्मादविभक्तस्य विभक्तविषया विभोः ।
अनुकम्प्या भवन्तीमे देवा ब्रह्मपुरोगमाः ॥११४॥
हत्वाऽनात्मपरानीकं सम्पद्य परमं महः ।
स्वरूपेणाभिनिष्पन्नः सुखं वीरो विराजते॥११५॥

दुःख से उपार्जित द्रव्यों में और आर्तपुरुषों में कृपणता का अभाव तथा, दूसरे के द्रव्य और स्त्रियों में इच्छा का सदा अभाव, ये आठ गुण पुराण के विद्वानों से कहे गये हैं ॥ १०२-१०४ ॥ और ये ही सब ज्ञान योग के साधक=हेतु क्रिया योग हैं ॥ १०५ ॥ बत्तीस और आठ जो संस्कार कहे गये हैं, उनसे युक्त भी जो उक्त आत्मगुण=क्रिया योग से रहित हैं, सो मोक्ष के लिये समर्थ नहीं होते हैं ॥ १०६ ॥ संसार विषयादि में गुण के अदर्शन से अथवा सर्वत्र क्षयिष्णुता अपावनता आदि दोषों के ज्ञान से सब,कामना रहित विरक्त सब भावी क्लेशों की निवृत्ति के लिये आत्म ज्ञान का सम्यग् आश्रयण करे ॥ १०७ ॥ पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्रादि रूप चौदह विद्याओं का यथार्थ रूप से धारण विज्ञान है, ऐसा समझना चाहिये, कि जिस धारण से धर्म अधिक बढ़ता है ॥ १०८ ॥ और वह भगवान् रूप देव जैसे विद्या द्वारा पर=सब से असंग उत्तम स्वरूप रहता है, साक्षात् देव महादेव रहता है, तैसी वह स्थिति ही ज्ञान इस शब्द से कही गयी है । 'यथा' का 'यया' पाठ हो, तो अर्थ है कि जिस विद्या से भगवान् जाना जाता है, सो ज्ञान है ॥१०९॥ काम्य वस्तुओं के आलोचन=विचारादि का कर्ता जो सृष्टि कर्ता प्रभु, अपनी माया से स्वयं सत् और त्यत् = मूर्त और अमूर्त हुआ, और सृष्ट=उत्पादित सत् त्यत् में प्रवृष्ट होकर= पैठकर द्रष्टा श्रोता व्यवस्थित = निश्चित स्थिर हुआ ॥ ११० ॥ स्वयं वह शब्द और अर्थ के प्रत्यय = ज्ञान स्वरूप नहीं होता हुआ भी माया से व्यवहार के योग्य शब्दार्थ से ज्ञानाकार भासता है, स्वरूप से नहीं ॥ १११ ॥ फिर यह एक ब्रह्म स्वरूप अस्त्र को लेकर और उससे भिन्न उपायों को त्याग कर ब्रह्म के अज्ञान रूप जो शत्रु की सेना उस को भस्म करता है ॥ ११२ ॥ अपने पशु=अज्ञ प्राणियों को अवरुन्धन = आवरण बन्धन करने वाले, पशुओं के निग्रह अनुग्रह=दण्ड दया में समर्थ देव सब भी सर्व भूत प्राणियों के आत्म स्वरूप मुनि के अभूति=असम्पत्ति अनैश्वर्य के लिये समर्थ नहीं होते हैं ॥ ११३ ॥ सब के अविभक्त= अभिन्न प्रभु=समर्थ ज्ञानी के विभक्त विषय वाले ये ब्रह्मा आदि देव भी अनुकम्पनीय=दया के पात्र होते हैं ॥ ११४ ॥ अनात्म रूप शत्रु की सेना को मार कर परम महः= तेज-ब्रह्मात्मा को प्राप्त करके अपने स्वरूप से निष्पन्न सिद्ध सम्पन्न वीर ज्ञानी विराजता है ॥ ११५ ॥

सम्पश्यन् सर्वमात्मानमपश्यंश्चात्मनः परम् ।
निःसीममपराधीनं स्वाराज्यं विन्दते ध्रुवम् ॥११६॥
सर्वं ब्रह्मेति विद्यायां सुव्यक्तायामशेषतः ।
सविलासाद्वयाऽविद्याबाधोऽभिव्यज्यते शिवः ११७
मिथ्यात्वनिश्चयो बाधो नास्तीति निश्चयोऽथवा ।
अधिष्ठानावशेषो वा सर्वथात्मैव नापरः ॥११८॥
महानिधिमिवात्मानं दृष्ट्वा द्वैतोज्झितं बुधः ।
आविर्भूतपरानन्दो नष्टानर्थः प्रमोदते ॥११९॥
विज्ञो वीरोऽरिरज्ञानं ज्ञानं चास्त्रमनुत्तमम् ।
तद्बाधो विजयो भूतिः स्वस्वरूपतया स्थितिः १२०
सर्वं ब्रह्मतया सत्यमसत्यश्च पृथक्तया ।
निर्वक्तुं शक्यते सर्वमनिर्वाच्यमतोऽन्यथा ॥१२१॥
बाध्यत्वाद् भासमानत्वात्सत्त्वासत्त्वविरोधतः ।
अप्रकारान्तरत्वाच्च मूकत्वं परिशिष्यते ॥१२२॥

वीरत्रिज० ॥

इति प्रथमं ज्ञानप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथाभ्यासः ॥ २ ॥

अभ्यासो ह्येकतत्त्वस्य विज्ञानस्य च सन्मतेः ।
कर्त्तव्यः सर्वयत्नेन भक्तेर्मुक्तिर्यतो भवेत् ॥ १ ॥ यतश्च-
यद्येन क्रियते किञ्चिद्येन येन यदा यदा ।
विनाऽभ्यासेन तन्नेह सिद्धिमेति कदाचन ॥२॥
तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च तदभ्यासं विदुर्बुधाः ॥३॥

सब को आत्मस्वरूप देखता हुवा, और आत्मा से भिन्न को नहीं देखता हुवा वीर निःसीम=अनन्त स्वतन्त्र स्वाराज्य को पाता है ॥ ११६ ॥ सब ब्रह्म है, इस निश्चयरूप विद्या के अशेष = पूर्ण रूप से अत्यन्त व्यक्त = प्रकट होने पर, विलास =कार्य सहित मूला तूला दोनों अविद्याओं का बाध रूप शिव = शुभ मोक्ष अभिव्यक्त=प्रकट होता है ॥ ११७ ॥ मिथ्यात्व के निश्चय को अथवा अभाव के निश्चय को या अधिष्ठान के अवशेष को बाध कहते हैं, मिथ्यात्व का निश्चयादिरूप बाध है, सो सर्वात्म स्वरूप ही है, अन्य पदार्थ नहीं है ॥ ११८ ॥ द्वैतरहित महानिधि =सम्पति तुल्य आत्मा को जान कर, आविर्भूत=अभिव्यक्त परम आनन्द वाला, विनष्ट अनर्थ=संसार शोकादि वाला विद्वान् प्रमोद =अत्यन्त आनन्द पूर्वक विराजता है ॥११९॥ ज्ञानी वीर है, अज्ञान शत्रु है, ज्ञान अति उत्तम अस्त्र है उस अज्ञान का बाध विजय है, स्वस्वरूप से स्थिति विभूति ऐश्वर्य है ॥ १२० ॥ ब्रह्म रूप से सब वस्तु सत्य है और ब्रह्म से पृथक् रूप से सब असत्य है, इस प्रकार से सब निर्वचन=कथन के योग्य है, इससे अन्यथा सब अनिर्वाच्य=अकथ है ॥ १२१ ॥ बाध्य और भासमान होने से सत्त्व और असत्त्व नहीं हो सकता है, बाध्यत्व सत्त्व का विरोधी है, भासमानत्व असत्त्व का विरोधी है, और सत्त्व असत्त्व से अन्य प्रकार=सत्त्वासत्त्व उभय रूपता में भी विरोध है, इससे मौन ही अवशेष रहता है ॥ २२ ॥ पहला ज्ञानप्रकरण समाप्त ॥

अथ अभ्यास—एक तत्त्व=सत्यात्मा का ज्ञान रूप सद् बुद्धि और भक्ति का अभ्यास सब यत्न से करना चाहिये, कि जिससे मुक्ति हो ॥ १ ॥ जो कुछ जिससे किया जाता है, जिस २ से जब २ किया जाता है, सो यहाँ अभ्यास के बिना कभी नहीं सिद्ध होता है ॥ २ ॥ गुरु आदि से श्रुत असंदिग्ध का भी बुद्धि में स्थिरता के लिये चिन्तन करना, कथन करना परस्पर संबोधन = समझना, समझाना, इन सब के द्वारा केवल इसी एक तत्त्व परायण=तत्पर होना, तिसी को विद्वान् उस

ये विरक्ता महात्मानो भोगभावनतानवम् ।
भावयन्त्यभवायान्त भव्या भुवि जयन्ति ते ॥४॥
उदितौदार्यसौन्दर्यवैराग्यरसरञ्जिता ।
आनन्दस्यन्दिनी येषां मतिस्तेऽभ्यासिनः परे ॥५॥
अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातृज्ञेयस्य वस्तुनः ।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये ते ब्रह्माभ्यासिनः स्थिताः ६
सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं नास्त्येव तत्सदा ।
इदं जगदहं चेति बोधाभ्यास उदाहृतः ॥७॥
दृश्यासम्भवबोधेन रागद्वेषादितानवे ।
रति र्बलोदिता याऽसौ ब्रह्माभ्यास उदाहृतः ॥८॥
दृश्यासम्भवबोधेन विना द्वेषादितानवम् ।
तप इत्युच्यते तस्मान्न ज्ञानं तच्च दुःखतत् ॥९॥
दृश्यासम्भवबोधो हि ज्ञानं ज्ञेयं च कथ्यते ।
तदभ्यासेन निर्वाणमित्यभ्यासो महोदयः ॥१०॥
योगवासिष्ठप्र० ३।२२।२३। इत्यादि ॥
एकतत्त्वघनाभ्यासः प्राणानां विलयस्तथा ।
मनो विनिग्रहश्चेति मोक्षशब्दार्थसङ्ग्रहः ॥११॥
त्रिष्वेतेषु प्रयोगेषु मनः प्रशमनं वरम् ।
साध्यं विद्धि तदेवाशु यथा भवति तच्छिवम् १२
सवासनास्तूत्पद्यन्ते प्राणा मुञ्चन्ति देहकम् ।
तद्व्योमवायुसंश्लेषं यान्ति दुःखाय गन्धवत् १३
मनः साम्बुरिवाम्भोधौ न शाम्यति सवासनम् ।
नामनस्काः सम्भवन्ति प्राणाः सूर्य इव त्विषः १४
न जहाति मनः प्राणान् विना ज्ञानेन कर्हिचित् ।
तृणान्तरेणैव विना तृणाङ्गमिव तित्तिरिः ॥१५॥

का अभ्यास जानते हैं ॥ ३ ॥ जो विरक्त महात्मा अभ्यासादि से भोग की भावना = वासना की तनुता = अल्पता अपक्षय को यत्न से सिद्ध संपादन करते हैं, अन्तःकरण में मोक्ष के लिये वासना को नहीं रहने देते हैं, वे ही भव्य = मङ्गलमय योग्य पुरुष संसार में विजय पाते हैं ॥ ४ ॥ प्रकट औदार्य = त्याग रूप सौन्दर्य और वैराग्यरस से रञ्जित, और आनन्द के प्रवाहवाली जिन की बुद्धि है, सो उत्कृष्ट अभ्यासी हैं ॥ ५ ॥ ज्ञातृ ज्ञेय वस्तु = प्रमातादि के अत्यन्ताभाव = रूप समाधि की सिद्धि में जो युक्ति से शास्त्रों द्वारा यत्न करते हैं, वे भी स्थिर अभ्यासी हैं ॥ ६ ॥ सर्ग = सृष्टि के आदि में ही दृश्य = जगत् सत्य नहीं उत्पन्न हुआ, न अभी सत्य है, न वह आगे सदा रहता है, और "इस जगत् रूप मैं ही हूँ" = आत्म सत्ता से ही जगत् सत्य भासता है, इस अभ्यास को ज्ञानाभ्यास कहा गया है ॥ ७ ॥ दृश्य वस्तु के असम्भव = अनुत्पत्ति के बोध से राग द्वेषादि की तनुता = अल्पता होने पर जो विद्या के बल से प्रगट आत्मरति = प्रीति होती है, सो ब्रह्माऽभ्यास कहा गया है ॥८॥ दृश्य के असम्भव के ज्ञान के बिना जो हठ से रागद्वेषादि की तनुता होती है, सो तप इस शब्द का अर्थ कहलाता है, जिसमें वह ज्ञान नहीं है, वह तप दुःखतत् = दुःख का विस्तार कर्ता है ॥ ९ ॥ जिससे दृश्य के असम्भव का बोध होता है, वही ज्ञान है, और उस ज्ञान में अन्य दृश्य विषय के अभाव से वह ज्ञान ही ज्ञेय कहा जाता है, और उस ज्ञेयाभिन्न ज्ञान के अभ्यास से मोक्ष होता है, इससे ज्ञानाभ्यास महान् उदय रूप है ॥ १० ॥ एकतत्व का निरन्तराभ्यास, प्राणों का विलय और मन का निग्रह ये ही मोक्ष शब्द के अर्थ कासंग्रह = संक्षिप्त कथन है ॥ ११ ॥ इन तीनों प्रयोगों = अनुष्ठानों में मन का प्रशमन = निग्रह श्रेष्ठ है, उसी को शीघ्र सिद्ध करने योग्य समझो, कि जिस प्रकार वह मन शिवस्वरूप होता है ॥ १२ ॥ मनोगत वासना सहित ही प्राण उत्पन्न होते हैं. और देह को त्यागते हैं, और देहान्तर गत हृदयाकाश के साथ वायु के साथ वासना से ही संश्लेष = सम्बन्ध पाते हैं, जैसे तिलों में गन्ध सम्बन्ध पाता है, तिससे पीडनादि दुःख के लिये होते हैं ॥ १३ ॥ वासना सहित मन जल सहित समुद्र में डूबे हुए घट के समान मरने पर भी नहीं शान्त होता है, सूर्य से प्रकाश के समान मन रहित प्राण नहीं होते हैं ॥ १४ ॥ ज्ञान के बिना मन भी

ज्ञानाद्वासनीभावं स्वनाशं प्राप्नुयान्मनः ।
प्राणात्स्पन्दं च नादत्ते ततः शान्ति हिं शिष्यते १६
ज्ञानात्सर्वपदार्थानामसत्त्वं समुदेत्यलम् ।
ततोऽङ्ग ! वासनानाशाद्वियोगः प्राणचेतसोः ॥१७॥
ततो न पश्यति मनः प्रशान्तं देहतां पुनः ।
स्वनाशेन पदं प्राप्तं वासनैव मनो विदुः ॥१८॥
एकार्थाभ्यसनप्राणरोधचेतःपरिक्षयाः ।
एकस्मिन्नेव संसिद्धे संसिद्ध्यन्ति परस्परम् ॥१९॥
योगवा० प्र० ६।६६।२७ इत्यादि ॥
पुण्यानि यान्ति वैफल्यं वैफल्यं यान्ति मातरः ।
भाग्यानि यान्ति वैफल्यं नाभ्यासस्तु कदाचन २०
दुःसाध्याःसिद्धिमायान्ति रिपवो यान्ति मित्रताम् ।
विषाण्यमृततां यान्ति संतताभ्यासयोगतः ॥२१॥

येनाभ्यासः परित्यक्त इष्टे वस्तुनि सोऽधमः ।
कदाचिन्न तदाप्नोति वन्ध्या स्वतनयं यथा ॥२२॥
इष्टे वस्तुनि नाभ्यासं यः करोति नराधमः ।
सोऽनिष्टेऽनिष्टमाप्नोति नरकान्नरकान्तरम् ॥२३॥
तरन्ति सरितं स्फीतां संसारासारसेविनः ।
त एवात्मविचाराख्यमभ्यासं न त्यजन्ति ये ॥२४॥
अभ्यासभास्वति तपत्यवनौ वने च,
वीरस्य सिद्ध्यति न यन्न तदस्ति किञ्चित् ।
अभ्यासतो भुवि भयान्यभयीभवन्ति,
सर्वासु पर्वतगुहास्वपि निर्जनासु ॥२५॥
योगवा० प्र० ६-२।६७।३२। इत्यादि ॥
ज्ञानमेकं विना नास्ति पुण्यपापपरिक्षयः ।
ज्ञानमेवाभ्यसेत्तस्मान्मुक्त्यर्थं ब्रह्मवित्तमाः ॥२६॥

कभी प्राणों को नहीं त्यागता है, जैसे तित्तिरि तृणान्तर के बिना तृणाङ्ग को नहीं त्यागती है ॥ १५ ॥ और ज्ञान से मन वासना रहितत्व को और अपने नाश को भी प्राप्त होता है, इससे प्राण से स्पन्द = (क्रिया) चंचलता का ग्रहण नहीं करता है, तिससे शान्ति ही शेष रहती है ॥ १६ ॥ ज्ञान से सब पदार्थों का असत्त्व = मिथ्यात्व अत्यन्त प्रकट होता है, हे अङ्ग ! = प्रिय ! तिस से वासनाओं का नाश होने से प्राण और मन का वियोग होता है ॥ १७ ॥ तब तिससे प्रशान्त मन फिर देह रूपता को नहीं देखता है, और अपने नाश से ब्रह्म स्वरूप पद को प्राप्त हो जाता है, इससे वासना को ही मन जानते हैं ॥ १८ ॥ एकार्थ = अद्वैतात्मा का अभ्यास = श्रवणादि, प्राणों का निरोध, मनोनाश इन तीनों में एक के सम्यग् सिद्ध होने पर परस्पर संसिद्ध होते हैं ॥ १९ ॥ कीर्त्तनादि अपराध से पुण्य निष्फल हो जाते हैं, माताएँ निष्फल होती हैं, भाग्य = धनादि निष्फल होते हैं, परन्तु अभ्यास कभी निष्फल नहीं होता है ॥ २० ॥ सदा निरन्तर अभ्यास योग से दुःसाध्यसिद्धि को प्राप्त होता है, शत्रु मित्रता को प्राप्त होते हैं, विष अमृतत्व को प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥ जिस ने इष्ट वस्तु विषयक अभ्यास को त्यागा, सो अधम = नीच है। वह उस इष्ट को कभी नहीं पाता है, जैसे बन्ध्या अपने पुत्र को नहीं पाती है ॥ २२ ॥ जो नराधम इष्ट वस्तु = ज्ञान में अभ्यास नहीं करता है, सो अनिष्ट = देहादि के अभिमान में अनिष्ट राग द्वेषादि को प्राप्त करता है. जिससे नरक से नरकान्तर को पाता है ॥ २३ ॥ संसार जिससे असार सिद्ध होता है, उस विवेक को सेवन करने वाले जो पुरुष आत्म विचार नामक अभ्यास को नहीं त्यागते हैं, वे ही स्फीत = प्रवृद्ध संसार माया रूपी नदी को तरते हैं ॥२४॥ इन्द्रियों के जयादि में वीर के अभ्यास रूप सूर्य के प्रकाशमान रहते भूमि में या वन = जल में जो इष्ट नहीं सिद्ध हो, सो कुछ वस्तु नहीं है, अभ्यास से भूमि वन = जल आदि में और सब पर्वत गुहा में, निर्जन गुहाओं में भी भय के हेतु भी अभय हो जाते हैं ॥ २५ ॥ हे ब्रह्म वित्तम ! = श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञ ! एक ज्ञान के बिना पुण्य और पाप का परिक्षय = विनाश नहीं होता है, तिससे मुक्ति के लिये ज्ञान का ही अभ्यास

ज्ञानाभ्यासाद्धि वै पुंसां बुद्धिर्भवति निर्मला ।
तस्मात्सदाऽभ्यसेज्ज्ञानं तन्निष्ठस्तत्परायणः ॥२७॥
वर्णाश्रमाभिमानी यस्त्यक्तक्रोधो द्विजोत्तमाः ! ।
अन्यत्र रमते मूढः सोऽज्ञानी नात्र संशयः ॥२८॥
संसारहेतुरज्ञानं संसारस्तनुसङ्ग्रहः ।
मोक्षहेतुस्तथाज्ञानं मुक्तः स्वात्मन्यवस्थितः॥२९॥
संसारविषतप्तानां ज्ञानध्यानामृतेन वै ।
प्रतीकारः समाख्यातो नान्यथा द्विजसत्तमाः ! ३०
ज्ञानं धर्मोद्भवं साक्षाज्ज्ञानाद्वैराग्यसम्भवः ।
वैराग्यात्परमं ज्ञानं परमार्थप्रकाशकम् ॥३१॥
ज्ञानवैराग्ययुक्तस्य योगसिद्धिर्द्विजोत्तमाः ! ।
योगसिद्ध्या विमुक्तिः स्यात्सत्त्वनिष्ठस्य नान्यथा ३२
लिङ्गपु० अ० ८६ ॥
अत्यल्पोऽपि यथा वह्निः सुमहान्नाशयेत्तमः ।
ज्ञानाभ्यासस्तथाल्पोऽपि महत्पापं विनाशयेत् ३३
यथा वह्निर्महादीप्तः शुष्कमार्द्रं च निर्दहेत् ।
तथा शुभाशुभं कर्म ज्ञानाग्निर्दहति क्षणात् ॥३४॥
पद्मपत्रं यथा तोयैः स्वस्थैरपि न लिप्यते ।
तथा शब्दादिभिर्ज्ञानी विषयैर्न हि लिप्यते ३५
मन्त्रौषधिबलैर्यद्वज्जीर्यते भक्षितं विषम् ।
तद्वत्सर्वाणि पापानि जीर्यन्ते ज्ञानिनः क्षणात् ॥३६॥
ये द्विषन्ति महात्मानं ज्ञानवन्तं नराधमाः ।
पच्यन्ते रौरवे कल्पमेकान्ते नरके सदा ॥३७॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शिनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥३८॥
यथा राजा जनैः सर्वैः पूज्यते मुनिसत्तम ! ।
तथा ज्ञानी सदा देवैर्मुनिभिः पूज्य एव हि ॥३९॥
यस्य गेहं समुद्दिश्य ज्ञानी गच्छति सुव्रत ! ।

करे ॥ २६ ॥ ज्ञान के अभ्यास से पुरुषों की बुद्धि निर्मल होती है, तिससे ज्ञान में निष्ठा = प्रेमादि वाला ज्ञान में तत्पर होकर सदा ज्ञान का अभ्यास करे ॥ २७ ॥ हे द्विजोत्तम ! जो क्रोध का त्यागी भी वर्णाश्रम का अभिमानी मूढ ज्ञानाभ्यास से अन्य में रमता है, सो अज्ञानी है, इस में संशय नहीं है ॥ २८ ॥ संसार का हेतु अज्ञान है, और शरीर का संग्रह = धारण संसार है, और मोक्ष का हेतु ज्ञान है, और स्वात्मनिष्ठ मुक्त है ॥ २९ ॥ हे द्विज सत्तम ! संसार रूप विष से तप्त = दुःखी के दुःखों का प्रतीकार = निवारण ज्ञान ध्यान रूप अमृत से कहा गया है, अन्यथा नहीं ॥ ३० ॥ विवेक ज्ञान साक्षात् धर्म जन्य होता है, ज्ञान से पर वैराग्य होता है, फिर उस वैराग्य से परमार्थ का प्रकाशक परम ज्ञान होता है ॥ ३१ ॥ हे द्विजोत्तम ! ज्ञान वैराग्य से युक्त को योग = आत्मस्थिति की सिद्धि होती है, इससे योग की सिद्धि से सत्त्व = सत्य स्वरूप आत्मनिष्ठ को विमुक्ति होती है, इससे अन्य प्रकार से नहीं होती है ॥ ३२ ॥ अत्यन्त अल्प भी अग्नि दीप्त हो कर जैसे अत्यन्त महान् तम काष्ठादि को नष्ट करती है, तैसे ही अल्प ज्ञानाभ्यास भी महा पाप को नष्ट करता है ॥ ३३ ॥ जैसे अत्यन्त दीप्त अग्नि सूखे गीले सब काष्ठ को जलाती है, तैसे ज्ञानाग्नि भी जन्मादि के हेतु शुभाशुभ कर्मों को क्षण मात्र में नष्ट करती है ॥ ३४ ॥ और जैसे कमल का पत्र अपने में स्थिर जलों से भी लिप्त नहीं होता है, तैसे ही शब्दादि विषयों से ज्ञानी लिप्त = मुग्ध-आसक्त नहीं होता है ॥ ३५ ॥ जैसे खाया गया विष मन्त्र और औषधि के बल से पचाया नष्ट किया जाता है, तैसे ज्ञानी के संचित सब पापादि क्षण मात्र में नष्ट होते हैं ॥ ३६ ॥ जो नराधम ! ज्ञानी महात्मा के प्रति द्वेष करते हैं, सो कल्प काल पर्यन्त तीव्र रौरव नरक में सदा पकते = जलते हैं ॥ ३७ ॥ निरपेक्ष = निराकांक्ष, शान्त, निर्वैर, समदर्शी, मुनि के पीछे मैं सदा चलता हूँ कि-उन के पाद रेणु = धूलि से पवित्र होऊंगा ॥३८॥ हे मुनिसत्तम ! जैसे राजा सब जन से पूजा जाता है, तैसे ही ज्ञानी भी देव मुनि सब से सदा पूज्य हैं ॥ ३९ ॥ हे सुव्रत ! जिस के गृह को उद्देश्य = मन में अनुसन्धान कर भिक्षा आदि के लिये

तस्य क्रीडन्ति पितरो यास्यामः परमां गतिम् ४०
कुलं पवित्रं जननी कृतार्था,
विश्वम्भरा पुण्यवती च तेन ।
अपारसच्चित्सुखसागरे हि,
विलीयते यस्य मनः प्रचारः ॥४१॥
सूतसं० ज्ञानयोगखं० अ० २०।३२। इत्यादि ॥

इति द्वितीयमभ्यासप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ त्यागः ॥ ३ ॥

वित्तपुत्रेन्द्रियादिभ्य आत्मा प्रियतमः श्रुतः ।
तत्त्यागेन हि तल्लाभस्तस्मात्त्यागो महोदयः ॥१॥
ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः ।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थानशेषतः ॥२॥
मुक्तिमिच्छसि चेत्तात ! विषयान् विषवत्त्यज ।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद् भज ॥३॥
शृणु तात ! द्वयं त्याज्यमाशा भेदस्तथैव च ।
आशया दीनतां कृत्वा भेदश्च भेदवर्द्धनम् ॥४॥
छायाकार्यं यथा नास्ति तथैवायं हि देहकः ।
तत्त्वं गृहरसं त्यक्त्वा परमां स्थितिमाश्रय ॥५॥
अनित्यं सर्वमेवेदं तापत्रितयदूषितम् ।
असारं निन्दितं हेयमितिनिश्चित्य शाम्यति ॥६॥
नाना मतं महर्षीणां साधूनां योगिनां तथा ।
दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नः को न शाम्यति मानवः ॥७॥
विहाय वैरिणं काममर्थं चानर्थसङ्कुलम् ।
धर्ममप्येतयो र्हेतुं सर्वत्रानादरं कुरु ॥८॥
स्वप्नेन्द्रजालवत्पश्य दिनानि त्रीणि पञ्च वा ।
मित्रक्षेत्रधनागारदारदायादिसम्पदः ॥९॥
यत्र यत्र भवेत्तृष्णा संसारं विद्धि तत्र वै ।
प्रौढवैराग्यमाश्रित्य वीततृष्णः सुखी भव ॥१०॥
अष्टावक्रगीतादौ ॥

ज्ञानी चलता है, उस के पितर क्रीडा करते = प्रसन्न होते हैं कि–परम गति को प्राप्त करेंगे ॥ ४० ॥ जिस के मन की प्रवृत्ति अपार सच्चित्सुखसागर ब्रह्म में लीन होती है, उस का कुल पावन हो जाता है, माता कृतार्थ हो जाती है, पृथिवी भी उस से पुण्यवती होती है ॥ ४१ ॥ दूसरा अभ्यास प्रकरण समाप्त ॥

अथ त्याग—धन, पुत्र, इन्द्रियादि से आत्मा अति प्रिय सुना गया है, और वित्तादि के त्याग से आत्म लाभ = आत्मानुभव मोक्ष सुना गया है, तिससे त्याग महान् उदय रूप है ॥ १ ॥ ज्ञान विज्ञान में तत्पर धारणा युक्त बुद्धिवाला = मेधावी ग्रन्थ का अभ्यास करके धान्यार्थी जैसे पलाल = पोरा को त्यागता है, तैसे अशेष = सब ग्रन्थों को त्यागे ॥ २ ॥ हे तात ! यदि मुक्ति चाहते हो, तो विषयों को विष तुल्य त्यागो, और क्षमा, आर्जव = ऋजुता, दया, तथा सत्य को पीयूष = अमृत तुल्य भजो = सेवो ॥ ३ ॥ हे तात ! सुनो, आशा तथा भेद दोनों ही त्यागने योग्य हैं, भेद ही आशा के द्वारा दीनता करके भेद की वृद्धि त्यागे विना करता है ॥ ४ ॥ जैसे छाया का कार्य = फल नहीं है, तैसे यह देह निष्फल है, तिससे तुम देह सम्बन्धी गृह के रस = राग को त्याग कर परम स्थिति = आत्मस्थिति का आश्रयण करो ॥ ५ ॥ महर्षि, साधु, तथा योगी के नाना मतों को देख कर विवेक पूर्वक निर्वेद = वैराग्य को आपन्न = प्राप्त कौन मनुष्य शान्ति नहीं पाता है ? = सब शान्ति पाता है ॥ ७ ॥ यह सब संसार अनित्य, तीन तापों से दूषित, असार = मिथ्या निन्दित, हेय = त्याज्य है, इस प्रकार निश्चय कर के शान्ति पाता है ॥ ६ ॥ वैरी काम को त्याग कर, अनर्थों से सङ्कुल = व्याप्त अर्थ को त्याग कर, और काम अर्थ के हेतु धर्म को भी त्याग कर सब में आदर को त्यागो, अनादर अनासक्ति करो ॥ ८ ॥ मित्र, क्षेत्र, धन, गृह, स्त्री, दाय = पैतृक धन, आदि रूप सम्पत्तियों को स्वप्न इन्द्रजाल तुल्य और तीन वा पांच = अल्पकाल दिन तक स्थिर समझो ॥ ९ ॥ जहाँ २ तृष्णा होती है, वहाँ २ संसार = दुःख समझो, और प्रबल वैराग्य का आश्रयण करके तृष्णा

न त्यागः कर्मसन्त्यागो बोधस्त्याग इति स्मृतः ।
अजगत्प्रतिमैकात्मा योऽनहन्तादिरव्ययः ॥११॥
अयं सोऽहमिदं तन्मे इति निःस्नेहदीपवत् ।
शान्ते परमनिर्वाणे बोधात्मैवेति शिष्यते ॥१२॥
अयं सोऽहमिदं तन्मे शान्तमित्येव यस्य नो ।
न ज्ञानं तस्य नो शान्ति र्न त्यागो न च निर्वृतिः १३

योगवा० प्र० ६।४।२–४॥ उत्तरा० ॥

हेयोपादेय दृष्टी द्वे यस्य क्षीणे हि तस्य वै ।
क्रियात्यागेन कोऽर्थः स्यात् क्रियासंश्रयणेन वा १४
न तदस्तीह यत्त्याज्यं ज्ञस्योद्वेगकरं भवेत् ।
न वाऽस्ति यदुपादेयं तज्ज्ञसंश्रयतां गतम् ॥१५॥
यावदायुरियं राम ! निश्चितं स्पन्दते तनुः ।
तद्यथाप्राप्तमव्यग्रं स्पन्दतामपरेण किम् ॥१६॥
अन्यथाऽन्यत्र चेत्कार्या क्रिया त्यक्त्वा निजं क्रमम् ।
समाने हि क्रियास्पन्दे को दोषः सत्क्रमे किल १७

योगवा० प्र० ६–२।१६६।२–३–५–६ ॥

सर्वत्यागेन शुद्धेन सर्वमासाद्यतेऽनघ ! ।
सर्वत्यागो हि साम्राज्यं किं चिन्तामणितो भवेत् १८
अमितानन्दमुत्सृज्य सुसाध्यं यः प्रवर्त्तते ।
मिते वस्तुनि दुःसाध्ये स्वात्महा स शठः स्मृतः१९

योगवा० प्र० ६।१०।६–२२ ॥

आशा हि लोहरज्जुभ्यो विषमा विपुला दृढा ।
कालेन क्षीयते लोहं तृष्णा तु परिवर्द्धते ॥२०॥
यदा विरक्तः पुरुषो भोगाशां त्यक्तुमिच्छति ।
तदा प्रकम्पतेऽज्ञानं छेद्ये वृक्षे पिशाचवत् ॥२१॥

रहित सुखी हो ॥ १० ॥ कर्म का संत्याग ही त्याग नहीं हैं, किन्तु बोध भी त्याग इस शब्द से कहा गया है, कि–जो बोध अहन्ता = अहङ्कार ममतादि से रहित, अव्यय, और जगत् की प्रतिभा = भान से रहित एक आत्म स्वरूप = मोक्ष ही अवशिष्ट रहता है ॥ ११ ॥ सो ब्राह्मणादि मैं यह देह हूँ, तिस से ये पुत्रधनादि मेरे हैं, इस ज्ञान के निःस्नेह = तेल रहित दीप तुल्य शान्त होने पर उस परम निर्वाण = मोक्ष काल में ज्ञान स्वरूप आत्मा ही अवशिष्ट रहता है ॥ १२ ॥ यह देह सो मैं हूँ, यह वह मेरी है, लौकिक पारलौकिक वस्तु का मैं स्वामी कर्ता भोक्ता हूँ, जिस का यह ज्ञान नहीं शान्त हुआ है, उस को न ज्ञान है, न शान्ति है, न त्याग है, न सुख मोक्ष है ॥ १३ ॥ जिस की हेय उपादेय = त्याज्य ग्राह्य दोनों दृष्टि नष्ट हो गई हैं, उस को उचित क्रिया के त्याग से वा ग्रहण से कौन फल होगा ? उस के लिये दोनों सम हैं ॥ १४ ॥ हे राम ! आयु = जीवन पर्यन्त यह देह अवश्य चेष्टा करती है, तिस से प्रारब्धानुसार जैसा प्राप्त है तैसा अव्यग्र = अविकल चेष्टा करे, अन्य व्यापार से क्या फल है ? ॥ १५ ॥ वह त्याज्य वस्तु यहाँ नहीं है, जो ज्ञानी को उद्वेग कारक हो, वा वह उपादेय = ग्राह्य वस्तु भी नहीं है, जो कि तज्ज्ञ = तत्त्वदर्शी के आश्रयता को प्राप्त हो ॥ १६ ॥ प्रारब्ध सदाचारादि के अनुसार प्राप्त निज क्रम = सदाचार को त्याग कर अन्य आश्रमादि में यदि अन्य प्रकार की क्रिया कर्तव्य ही है, तो क्रिया रूप स्पन्द के समान होने पर भी अपने सदाचार रूप क्रम में कौन दोष है ? कि जिस से उसे त्यागा जाय ॥ १७ ॥ हे अनघ ! बोध वासना त्यागादि रूप शुद्ध सर्व त्याग से सब इष्ट प्राप्त किया जाता है, इस से सर्व त्याग हि साम्राज्य है, उस के बिना चिन्तामणि से भी क्या हो सकता है ॥ १८ ॥ सुसाध्य अमित = अनन्त आत्मानन्द रूप सर्व त्याग बोध को त्याग कर जो दुःसाध्य तप आदि रूप वस्तु में प्रवृत्त होता है, वह शठ अमितानन्द रूप आत्मा का घातक स्वात्महा कहा गया है ॥ १९ ॥ आशा लोह की रस्सियों से भी विषम = भयङ्कर विपुल = विस्तृत-बड़ी और दृढ़ है, लोहे का कार्य समूह काल बीतने से नष्ट क्षीण होता है, और तृष्णा सर्वत्र बढ़ती है ॥ २० ॥ जब विरक्त पुरुष भोग की आशा को त्यागने की

यदा विवेकी पुरुषो भोगान् सन्त्यज्य तिष्ठति ।
तदा पलायतेऽज्ञानं छिन्ने वृक्षे पिशाचवत् ॥२२॥
योगवा० प्र० ६।९१।६-११-१२ ॥

त्यक्ताशेषक्रियस्यैव संसारं प्रजिहासतः ।
जिज्ञासोरेव चैकात्म्यं त्रय्यन्तेष्वधिकारिता ॥२३॥

प्रत्यग् विविदिषासिद्ध्यै वेदानुवचनादयः ।
ब्रह्मावाप्त्यै तु तत्त्याग ईप्सन्तीति श्रुते र्बलात् २४

प्रवृत्तेः प्रतिकूलत्वान्मुक्तिं प्रतिविरोधतः ।
मुमुक्षोरधिकारोऽतो निवृत्तौ सर्वकर्मणाम् ॥२५॥

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः ।
अविद्या सहकार्येण नासीदस्ति भविष्यति ॥२६॥

निःशेषकर्मसंन्यासो वाक्यार्थज्ञानजन्मने ।
तस्यारादुपकारित्वात्सहायत्वाय कल्पते ॥२७॥

त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम् ।
त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक् परं पदम्॥२८॥

प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम् ।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान्॥२९॥

मुक्तेश्च बिभ्यतो देवा मोहेनापिदधुर्नरान् ।
ततस्ते कर्मसद्युक्ताः प्रावर्त्तन्ताविचक्षणाः ॥३०॥

अविद्या घस्मरज्ञान जन्ममात्रावलम्बिनः ।
पुमर्थस्याधिकं शास्त्रात् किञ्चिदत्र तु नार्थ्यते ३१

कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धि बन्धपरिक्षयात् ।
असावपि च भूतो वा भावी वा वर्त्ततेऽथवा ॥३२॥

इच्छा करता है, तब छेदनीय वृक्ष पर पिशाच के तुल्य अज्ञान प्रकम्पित होता है ॥ २१ ॥ जब विवेकी पुरुष भोगों को सम्यग् त्याग कर स्थिर होता है, तब अज्ञान भाग जाता है, जैसे कटे हुए वृक्ष से पिशाच भागता है ॥ २२ ॥ अनेक जन्म में उपार्जित सुकर्मों से शुद्ध बुद्धि वाला विवेकी हो कर जो सब क्रिया को त्यागने वाला, संसार और उस के भोगों को त्यागने की इच्छा वाला एकात्मता को जानने की इच्छा वाला है, उसी को वेदान्त में अधिकार है ॥ २३ ॥ प्रत्यक् तत्त्व आत्मा के उत्कट ज्ञान की इच्छा की सिद्धि के लिये वेदाध्ययन यज्ञ दानादि कर्म हैं, और ब्रह्म ज्ञान के लिये उन का त्याग है, यह बात "एतमेव लोकमीप्सन्तः प्रव्रजन्ति" इस श्रुति के बल से भी सिद्ध होती है ॥ २४ ॥ स्वर्गादि फलार्थक प्रवृत्ति = कर्म को मुक्ति के प्रति विरोध होने से प्रतिकूलता से मुमुक्षु को कर्म में अधिकार नहीं है, इससे सब कर्मों की निवृत्ति = त्याग में अधिकार है ॥ २५ ॥ कर्मों के बिना भी अविद्या और उस के कार्यों के आत्मा में अध्यस्त होने से, 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों से सम्यग् ज्ञान के जन्म मात्र से ही कार्य सहित अविद्या त्रैकालिक अभाव की प्रतियोगी हो जाती है ॥ २६ ॥ वाक्यार्थ के ज्ञान की उत्पत्ति के लिये जो श्रवणादि, उस के लिये अन्तरंग उपकारक होने से सब कर्मों का त्याग ज्ञानश्रवणादि में सहायता के लिये समर्थ होता है ॥ २७ ॥ इससे त्याग ही ज्ञानादि द्वारा मोक्ष का उत्तम साधन है, त्यागने वाले से ही त्यागी का वह अन्तरात्मा रूप परं पद ज्ञेय है ॥ २८ ॥ प्रवृत्ति रूप लक्षण वाला योग = कर्म है, संन्यास रूप लक्षण वाला ज्ञान है, तिससे बुद्धिमान् = विवेकी ज्ञान को लक्ष्य करके यहाँ त्याग करे ॥ २९ ॥ अपने पशु तुल्य मनुष्यों की मुक्ति से डरने वाले स्वार्थी देव मनुष्यों को कर्तृत्वादि के अभिमानादि रूप मोह से आच्छादित किये हैं, तिससे वे मनुष्य संसार के हेतु रूप कर्मों में सम्यग् उद्यत तत्पर हैं, और वे अविवेकी प्रवृत्त हुए हैं ॥ ३० ॥ अविद्या के नाशक ज्ञान के जन्म मात्र को अवलम्बन करने वाले पुरुषार्थ = मोक्ष को यहाँ शास्त्र से अन्य कुछ अपेक्षित नहीं है, शुद्ध हृदय वाले को शास्त्र जन्य उपदेश से ही ज्ञान द्वारा मोक्ष होता है ॥ ३१ ॥ वह ज्ञान किससे होता है ? इस का उत्तर है, कि प्रतिबन्धक के नाश होने पर शास्त्र से भी ज्ञान होता है, वह प्रतिबन्ध भी भूत या

न कर्म व्यापृति मुक्तावाप्त्यादीनामभावतः ।
न श्रुत्यादयस्तत्र तेन स्यान्न समुच्चयः ॥३३॥
यथा वस्त्वात्मविज्ञानं मोहमात्राश्रयाः क्रियाः ।
सम्यग् ज्ञाने कुतः कर्म कर्महेतूपमर्दनात् ॥३४॥
अनावृत्तिश्च कर्मभ्यो न क्वचिच्छ्रूयते स्फुटम् ।
ज्ञानादेव त्वनावृत्तिः श्रूयते बहुशः श्रुतौ ॥३५॥
एकरूपं च विज्ञानमेकरूपात्ममेयतः ।
भिन्नरूपाणि कर्माणि बहुकारकसंश्रयात् ॥३६॥
एकरूपस्य मोक्षस्य भिन्नरूपं न साधनम् ।
एकरूपस्य मोक्षस्य ह्येकरूपं हि साधनम् ॥३७॥
बृहदारण्यकसम्बन्धवार्त्तिकम् ॥
यथा विशुद्धमाकाशं सति वाऽसति वा मले ।
नीहारादौ तथैवात्मा कार्यकारणवस्तुनि ॥३८॥
जिज्ञासुरपि चैतस्य यथोक्तस्यात्मवस्तुनः ।
सर्वैषणानिवृत्त्यैव तज्ज्ञानं समवाप्नुयात् ॥३९॥
यस्तु त्यक्तुं न शक्नोति रागादिप्रबलत्वतः ।
रागादिहेतुनाशार्थं कार्यं कर्मैव तेन तु ॥४०॥
एषणा कामपर्यायः कामश्चाप्राप्तगोचरः ।
अवाप्ताशेषकामेऽसौ भवंस्तन्मोहतो भवेत् ॥४१॥
आनन्दैकस्वभावत्वान्नात्मनः सुखकामिता ।
विरोधात्सुखरूपस्य न दुःखेन समागमः ॥४२॥
बृहदा० वार्त्तिक अ० ३। ब्रा० ५ ॥
विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥४३॥
श्रीभगवद्गी० अ० २।७१ ॥
परित्यजेदर्थकामौ धर्मपीडाकरौ नृप ! ।
धर्ममप्यसुखोदर्कं लोकविद्विष्टमेव च ॥४४॥
विष्णुपु० अंश० ३।११।७ ॥

भावी अथवा वर्तमान होता है, तहाँ वर्तमान प्रतिबन्धक ज्ञान विरोधी है तथा भावी भी हो सकता है, भूत नहीं ॥३२॥ अज्ञान निवृत्ति से अन्य प्राप्ति, विकृति, संस्कारादि रूप कर्म फलों के मोक्ष में अभाव से वहाँ कर्म की प्रवृत्ति नहीं है, और कर्म व्यापार में श्रुति आदि प्रमाण भी नहीं हैं, तिससे मोक्ष के लिये कर्म और ज्ञान का समुच्चय=समकालिक मेल नहीं हो सकता है ॥ ३३ ॥ आत्मज्ञान वस्तु के अनुसार होता है, और कर्म मोहमात्र के आश्रित रहते हैं, इससे सम्यग् ज्ञान होने पर कर्म कैसे हो सकता है ? कर्म के हेतु वर्णादि के अभिमानादि का ज्ञान से नाश होता है ॥३४॥ और श्रुति में कर्म से पुनः संसार में अनावृत्ति=(अनागमन) कहीं स्फुट नहीं सुनी जाती है, और ज्ञान से ही अनावृत्ति बहुत बार सुनी जाती है ॥ ३५ ॥ एक स्वरूप आत्मा के मेय=प्रमेय ज्ञेय होने से ज्ञान एक रूप होता है, और बहुत कारक के आश्रित होने से कर्म भिन्न रूप वाले होते हैं, इससे समुच्चय नहीं होता है ॥ ३६ ॥ एक रूप वाले मोक्ष का भिन्न रूपवाला साधन नहीं हो सकता, किन्तु एक रूप वाला ज्ञान ही साधन है ॥ ३७ ॥ और नीहारादि = तुषार हिमादि मल के रहते वा नहीं रहते आकाश जैसे शुद्ध रहता है, तैसे ही कार्य कारण वस्तुओं में आत्मा शुद्ध है ॥३८॥ उक्त इस आत्म वस्तु के जिज्ञासु भी सब इच्छाओं की निवृत्ति द्वारा ही उसके ज्ञान को सम्यग् प्राप्त करता है ॥ ३९ ॥ रागादि की प्रबलता से जो रागादि को नहीं त्याग सकता है, उसके लिये रागादि के हेतुओं की निवृत्ति के लिये कर्म ही कर्तव्य हैं ॥ ४० ॥ एषणा काम को कहते हैं, और अप्राप्त वस्तु की कामना होती है, अशेष काम के पूर्ण प्राप्त होने पर वह काम मोह से होगा ॥ ४१ ॥ आनन्द रूप एकस्वभाव वाला होने से आत्मा में सुख की कामना नहीं है, दुःख के साथ सुख को विरोध होने से आत्मा में दुःख का समागम नहीं है ॥ ४२ ॥ जो स्थिर बुद्धि वाला संयमी निःस्पृह=इच्छा रहित ममता रहित अहङ्कार रहित होकर सब कामनाओं को त्याग कर चरता=विचरता उचित व्यवहार करता है, सो शान्ति मुक्ति पाता है ॥ ४३ ॥ हे नृप ! धर्म को पीडित करने वाले=धर्मविरोधी अर्थ और काम को

पुनर्भोजनमध्वानं भाराऽध्ययनमैथुनम् ।
दानं प्रतिग्रहं होमं श्राद्धं कृत्वाऽष्ट वर्जयेत् ॥४५॥
लिखितस्मृति० ।५८ ॥

संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत् ।
वेदसंन्यासतः शूद्रस्तस्माद्वेदं न संन्यसेत् ॥४६॥

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परं तपः ।
उपवासात्परं भैक्षं दया दानाद्विशिष्यते ॥४७॥
वसिष्ठस्मृ० अ० १० ॥

त्यज धर्ममधर्मञ्च तथा सत्यानृते त्यज ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ॥४८॥

त्यज धर्ममसङ्कल्पादधर्मञ्चाप्यलिप्सया ।
उभे सत्यानृते बुद्ध्या बुद्धिं परमनिश्चयात् ॥४९॥

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥५०॥

जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमुत्तमम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यज ॥५१॥
महाभा० शान्तिप० अ० ३२६। शुकं प्रति नारदोक्तिः ॥

असङ्कल्पाज्जयेत्कामं क्रोधं कामविवर्जनात् ।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वविमर्शनात् ॥५२॥

आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया ।
योगान्तरायान् मौनेन हिंसां कायाद्यनीहया ॥५३॥

कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात्समाधिना ।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया ॥५४॥

रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वं चोपशमेन च ।
एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत् ॥५५॥
श्रीमद्भा० स्क० ७।१५ ॥

इति तृतीयं त्यागप्रकरणं समाप्तम् ॥

सर्वथा त्यागे, और परिणाम में असुख=दुःख के हेतु धर्म को तथा लोक के विद्वेष विषय धर्म को भी त्यागे ॥ ४४ ॥ और श्राद्ध कर्म करके फिर भोजन, मार्ग गमन, भार धारण, अध्ययन, मैथुन, दान, प्रतिग्रह, होम, इन आठ कर्मों को त्यागे ॥ ४५ ॥ संन्यासाऽवस्था में सब कर्मों को त्यागे, परन्तु एक वेद= उपनिषद् ज्ञान ग्रन्थ को नहीं त्यागे, वेद के त्याग से शूद्र=सुसंस्कार रहित होता है. तिससे वेद को नहीं त्यागे ॥ ४६ ॥ एकाक्षर ओंकार पर ब्रह्म है, प्राणायाम परं तप है, उपवास से श्रेष्ठ भिक्षावृत्ति है, और दान से दया श्रेष्ठ है ॥ ४७ ॥ धर्म, अधर्म, सत्य, अनृत = कारण, कार्य को त्यागे, सत्यानृत को बुद्धि= आत्म-ज्ञान से त्याग कर = मिथ्या समझ कर जिस बुद्धि से त्यागते हो उस बुद्धि को भी त्यागो ॥ ४८ ॥ धर्म को असंकल्प = फलादि के संकल्पों के त्याग द्वारा त्यागो, अधर्म को अलिप्सा = लाभेच्छा के त्याग के द्वारा त्यागो, सत्य अनृत को विवेकादि बुद्धि से त्यागो, और बुद्धि को परम निश्चय आत्मानुभव समाधि से त्यागो ॥ ४९ ॥ अस्थि = हाँड़ रूप स्थूण = स्तम्भ वाला, स्नायु = सिरा नस युक्त, मांस, रुधिर रूप लेपन वाला, चर्म से बंधा हुआ, दुर्गन्धयुक्त, मूत्र मल से पूर्ण इस देह को त्यागो, इसमें आत्मबुद्धि नहीं करो ॥ ५० ॥ जरावस्था शोक से समाविष्ट, उत्तम रोगों के आश्रय, रजस्वल=रजोयुक्त-मलिन, अनित्य =विनश्वर और भूतों के आवास=आश्रय रूप इस देह को त्यागो=इस की ममता छोड़ो ॥ ५१ ॥ सङ्कल्प से होने वाले निषिद्ध काम को असङ्कल्प से जीते, काम के त्याग से काम जन्य क्रोध को जीते, अर्थों में राजाचोरादिकृत अनर्थ के दर्शन विचार से लोभ को जीते, तत्त्वज्ञान से भय को जीते ॥ ५२ ॥ आन्वीक्षिकी विद्या=आत्मानात्मविवेक से शोक मोह को जीते, महान् की उपासना से दम्भ को जीते, योग के विघ्नों को मौन से और हिंसा को शरीरादि की अनीहा=अचेष्टा से जीते ॥५३॥ भूत जन्य दुःखों को भूतों में कृपा से=उनके हिताचरण से उन्हें अनुकूल कर लेवे, देव निमित्तक दुःखों को समाधि से जीते, देह जन्य दुःख को प्राणायामादियोग के बल से जीते, निद्रा को सात्त्विक आहारादि के सेवन से जीते ॥५४॥ रजस्तमोगुण को सत्त्वगुण के सदा सेवन से जीते और सत्त्वगुण को उपशम=निवृत्ति वैराग्य से जीते, और इन सभी को पुरुष गुरुभक्ति द्वारा शीघ्र अनायास ही जीतता है ॥५५॥ तीसरा त्याग प्रकरण समाप्त ॥

अथ वासनात्त्यागश्च ॥ ४ ॥

वासनावशतामेत्य संसृतिमेति मानवः ।
तां त्यक्त्वा च परं तत्त्वं तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥१॥
दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणाम् ।
यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्त्तिता ॥२॥
योगवासिष्ठ० प्र० ५।६१।२९ ॥
वासनातन्तुबद्धा ये आशापाशवशीकृताः ।
वश्यतां यान्ति ते लोके रज्जुबद्धाः खगा इव ॥३॥
ये भिन्नवासना धीराः सर्वत्रासक्तबुद्धयः ।
न हृष्यन्ति न कुप्यन्ति दुर्जयास्ते महाधियः ॥४॥
यस्यान्तर्वासनारज्ज्वा ग्रन्थिबन्धः शरीरिणः ।
महानपि बहुज्ञोऽपि स बालेनापि जीयते ॥५॥
योगवा० प्र० ४।२७।१८-२० ॥
बद्धो हि वासनाबद्धो मोक्षः स्याद्वासनाक्षयः ।
वासनास्त्वं परित्यज्य मोक्षार्थित्वमपि त्यज ॥६॥
तामसी र्वासनाः पूर्वं त्यक्त्वा विषयवासिताः ।
मैत्र्यादिभावनानाम्नीं गृहाणामलवासनाम् ॥७॥
तामप्यन्तः परित्यज्य मनोबुद्धिसमन्विताम् ।
शेषे स्थितसमाधानो येन त्यजसि तत्त्यज ॥८॥
हृदयात्सम्परित्यज्य सर्वमेव महामतिः ।
यस्तिष्ठति गतव्यग्रः स मुक्तः परमेश्वरः ॥९॥
समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा ।
हृदयेनास्तसर्वास्थो मुक्त एवोत्तमाशयः ॥१०॥
नैष्कर्म्येण न तस्यार्थो न तस्यार्थोऽस्ति कर्मभिः ।
न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ॥११॥
विचारितमलं शास्त्रं चिरमुद्ग्राहितं मिथः ।
सन्त्यक्तवासनान्मौनादृते नास्त्युत्तमं पदम् ॥१२॥
योगवासि० ॥

अथ वासना तत्त्याग—मनुष्य वासनावशता को पाकर संसृति=जन्मादि पाता है, और उस वासना को त्याग कर पर तत्त्व को पाता है, तिससे उस वासना को त्यागे ॥ १ ॥ पूर्वापर विचारणा को त्याग कर वर्तमान प्राणी से जो पूर्वजन्म की दृढ़ भावना = संस्कार द्वारा पदार्थ के आदान =ग्रहण किया जाता हैं, सो आदान वासना कही गई है, क्योंकि वह जीवात्मा को अहंता ममता से वासित युक्त करता हैं, ॥२॥ जो वासना रूपी डोरी से बंधे हैं, आशारूप पाश=बन्धन से वश किये गये हैं, सो इस लोक में रस्सी से बंधे हुए पक्षी के समान सब की वशता=अधीनता को प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥ जो भिन्न=नष्ट वासना वाले धीर सर्वत्र आसक्ति रहित बुद्धि वाले हैं, सो महा बुद्धि वाले हर्ष क्रोध से रहित रहते हैं, और वे लोग कामादि सर्व से दुर्जय होते हैं ॥ ४ ॥ परन्तु जिस देही के अन्तर में वासना रूप रस्सी से कामादि रूप ग्रन्थि बन्धन रहता है, सो महान् बहुज्ञ=विद्वान् होता हुआ भी बालक से भी जीता जाता है ॥ ५ ॥ वासना से बँधाया हुआ पुरुष संसार में बन्धन युक्त है, और वासनाओं का नाश मोक्ष होता है, तुम वासनाओं को सर्वथा त्याग कर मोक्षार्थित्व को भी त्यागो ॥ ६ ॥ विषयों से वासित=युक्त प्रभावित तामसी वासनाओं को प्रथम त्याग कर मित्रता आदि की भावना नाम वाली अमल = सात्त्विक वासना को ग्रहण करो ॥ ७ ॥ मन बुद्धि सहित उस वासना को भी त्याग कर, शेष=त्यागानर्ह आत्मा में स्थिर समाधान वाला हो कर जिस विचारादि से सब को त्यागते हो, उसे भी त्यागो ॥ ८ ॥ जो महामति वाला हृदय से सब को त्याग कर व्यग्रता रहित स्थिर होता है, वह मुक्त परमेश्वर है ॥ ९ ॥ हृदय=मन से सब आस्था=अपेक्षा आसक्ति को त्यागने वाला उत्तम आशय वाला समाधि अथवा कर्म करे वा नहीं करे वह मुक्त ही है ॥ १० ॥ जिसका मन वासना रहित है, उस को नैष्कर्म्य= संन्यास से कुछ प्रयोजन नहीं है, न कर्मों से फल है, न समाधान और जप से कोई फल है ॥ ११ ॥ शास्त्र अच्छी तरह विचारे गये, और मिथः=परस्पर चिर काल तक उद्ग्राहित=अच्छी तरह प्रश्नोत्तरादि

भ्रमस्य जागतस्यास्य जातस्याकाशवर्णवत् ।
अपुनः स्मरणं मन्ये साधो ! विस्मरणं वरम् ॥१३॥
दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम् ।
सम्पन्नं चेत्समुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः ॥१४॥
अशेषेण परित्यागो वासनानां य उत्तमः ।
मोक्ष इत्युच्यते ब्रह्मन् स एव विमलक्रमः ॥१५॥
वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा ।
मलिना जन्मनो हेतुः शुद्धा जन्मविनाशिनी ॥१६॥
अज्ञानसुघनाकारा घनाहङ्कारशालिनी ।
पुनर्जन्मकरी प्रोक्ता मलिना वासना बुधैः ॥१७॥
पुनर्जन्माङ्कुरं त्यक्त्वा स्थिता सम्भृष्टबीजवत् ।
देहार्थं ध्रियते ज्ञातज्ञेया शुद्धेति चोच्यते ॥१८॥
अपुनर्जन्मकरणी जीवन्मुक्तेषु देहिषु ।
वासना विद्यते शुद्धा देहे चक्र इव भ्रमः ॥१९॥

योगवा० प्र० ११३ ॥ भरद्वाजाय वाल्मीकेरुक्तिः ॥

यस्यास्ति वासनाबीजमत्यल्पं चितिभूमिगम् ।
बृहत्सञ्जायते तस्य पुनः संसृतिकाननम् ॥२०॥
अभ्यासाद्धृदिरूढेन सत्यसम्बोधवह्निना ।
निदग्धं वासनाबीजं न भूयः प्रतिरोहति ॥२१॥
दग्धं तु वासनाबीजं न निमज्जति वस्तुषु ।
सुखदुःखादिषु स्वच्छं पद्मपत्रमिवाम्भसि ॥२२॥

योगवा० प्र० ६।५७।९-१२ ॥

पुन र्जननयोग्या या वासना घनवासना ।
सा प्रोक्ता चित्तशब्देन न सा तज्ज्ञस्य विद्यते २३

द्वारा निश्चित किये गये, तो यही सिद्ध हुवा कि सम्यग् त्यक्त वासना वाले मौन के विना उससे अन्य उत्तम पद=मोक्ष नहीं हैं ॥ १२ ॥ हे साधो ! जगद् सम्बन्धी आकाश के वर्ण=रूप तुल्य मिथ्या उत्पन्न इस प्रत्यक्ष जगत् में दृश्य की सत्यतादि भ्रम का फिर अस्मरण वाले विस्मरण को श्रेष्ठ मानता हूँ = ज्ञानद्वारा वासनादि के नाश से सदा के लिये संसार को भूल जाना मोक्ष है ॥ १३ ॥ क्योंकि दृश्य वस्तु नहीं हैं = असत्य हैं, इस बोध से यदि मन से दृश्य का मार्जन =(वासना निवारण) सिद्ध हुवा तो परम निर्वाण रूप निर्वृति = आनन्द उत्पन्न = प्रकट हो गई ॥ १४ ॥ वासनाओं का जो अशेष रूप से त्याग है, हे ब्रह्मन् ! वही उत्तम मोक्ष इस शब्द से कहा जाता है, सालोक्यादि नहीं, इससे वही विमल क्रम= साधनक्रम वाला है, तथा विमल पुरुषों से प्राप्तव्य है ॥ १५ ॥ शुद्धा और मलिना दो प्रकार की वासना कही गई हैं, तिस में मलिना जन्म का हेतु होती है, शुद्धा जन्म विनाशिनी होती है ॥ १६ ॥ अज्ञान क्षेत्र में अज्ञान रूप विषय चिन्तनादि से अत्यन्त घन = सघन आकार वाली, घन = निविड अहङ्कार से शोभने वाली, फिर जन्म के हेतु मलिना वासना विद्वानों से कही गई है ॥ १७ ॥ फिर जन्म रूप अङ्कुर शक्ति को त्याग कर भुने हुए बीज के तुल्य जो वासना ज्ञानी की देह के धारणार्थक स्थिर रहती है, देहार्थक धृत रहती है, ज्ञातज्ञेया = जिससे ज्ञेय जाना गया है वह वासना शुद्धा कहलाती है ॥ १८ ॥ फिर जन्म नहीं देने वाली शुद्धा वासना जीवन्मुक्त देही के होने पर उस के देह में इस प्रकार रहती है, कि जैसे चक्र में दण्डादि बिना भी भ्रमण रहता है ॥ १९ ॥ जिस के चिति = संवित् बुद्धि में गत अत्यन्त अल्प भी मलिन वासना रूप बीज है, उस का संसृति रूप वन फिर वृहत् = महान् हो जाता है ॥ २० ॥ अभ्यास से हृदय में स्थिर सत्यतत्त्व के ज्ञान रूप अग्नि द्वारा निदग्ध = बाधित वासना रूप बीज फिर नहीं जन्मता बढ़ता है ॥ २१ ॥ दग्ध वासना रूप बीज=दग्ध वासना वाला मन सुख दुःखादि वस्तु में आसक्त नहीं होता है, जैसे पद्मपत्र जल में नहीं आसक्त होता है, क्योंकि वह मन स्वच्छ हो गया है ॥ २२ ॥ फिर जन्म के योग्य जो निविड वासना है, वही चित्त शब्द से कही जाती है, वह

यया वासनया तज्ज्ञा विहरन्तीह कर्मसु ।
तां त्वं सत्त्वामिधां विद्धि पुनर्जननवर्जिताम् २४
जीवन्मुक्ता महात्मानः सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः ।
विहरन्ति गतासङ्गं न चित्तस्थाः कदाचन ॥२५॥
मूढं चित्तं चित्तमाहुः प्रबुद्धं सत्त्वमुच्यते ।
अप्रबुद्धा हि चित्तस्थाः सत्त्वस्थास्तु महाधियः २६
भूयः प्रजायते चित्तं सत्त्वं भूयो न जायते ।
अप्रबुद्धस्य बन्धोऽस्ति न प्रबुद्धस्य भूपते ! २७

योगवा० प्र० ६।१०१।२८। इत्यादि ॥

मौर्ख्यमोहसमुत्थाना त्वनात्मन्यात्मभावना ।
आत्मज्ञानान्महाबोधाद्विलयं याति वासना ॥२८॥
यो न निर्वासिनो नूनं सर्वधर्मपरोऽपि सः ।
सर्वज्ञोऽप्यभितो बद्धः पञ्जरस्थो यथा खगः ॥२९॥

योगवा० प्र० ६।५५।३७-४४ ॥

बद्धवासनमर्थो यः सेव्यते सुखयत्यसौ ।
यत्सुखाय तदेवाशु वस्तुदुःखाय नाशतः ॥३०॥
तनुभावनमर्थो यः सेव्यते वा विवासनम् ।
नासौ सुखायते नासौ नाशकालेन दुःखदः ॥३१॥
क्षीणवासनया बुद्ध्या यत्कर्म क्रियतेऽनघ ! ।
तद्दग्धबीजवद् भूयो नाङ्कुरं प्रतिमुञ्चति ॥३२॥

योगवा० प्र० ६।१२०।१८-२० ॥

असङ्गव्यवहारित्वाद् भवभावनवर्जनात् ।
शरीरनाशदर्शित्वाद् वासना न प्रवर्त्तते ॥३३॥
आत्माऽसङ्गस्ततोऽन्यत्स्यादिन्द्रजालमिदं जगत् ।
इत्यचञ्चलनिर्णीतं कुतो मनसि वासना ॥३४॥

योगवा० प्र० ६।१२०।१८। इत्यादि ॥

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना ।
महद्भयपरित्राणा द्वित्राणामेव जायते ॥३५॥

अवधूतगी० अ० १।१ ॥

आत्म ज्ञानी में नहीं रहती है ॥ २३ ॥ जिस वासना द्वारा ज्ञानी यहाँ कर्मों में विहार करते हैं, उस को तुम सत्त्व नामक वासना जानो, वह फिर जन्म रहित है, ऐसा समझो ॥ २४ ॥ संयत = वशीभूत इन्द्रिय वाले महात्मा = ज्ञानी, जीवन्मुक्त सत्त्व में स्थिर हो कर विहार करते हैं, कभी चित्त में स्थिर नहीं होते हैं ॥ २५ ॥ मोह युक्त चित्त को चित्त कहते हैं, प्रबोध युक्त को सत्त्व कहते हैं, अप्रबुद्ध = अज्ञ चित्तस्थ होते हैं, महा बुद्धि वाले ज्ञानी सत्त्वस्थ होते हैं ॥ २६ ॥ हे भूपते ! = शिखिध्वज ! चित्त फिर जन्मता है, सत्त्व फिर नहीं जन्मता है, इस अज्ञ को संसार बन्ध है, ज्ञानी को नहीं है ॥ २७ ॥ मूर्खता और मोह से उत्पत्ति वाली, अनात्मा देहादि में आत्मभावना होती है, सो भावना रूप वासना आत्म ज्ञान रूप महा बोध से नष्ट हो जाती है ॥ २८ ॥ और जो पुरुष वासना रहित नहीं है, सो सर्व धर्मपरायण, सर्वज्ञ भी सर्व तरफ से बन्धन युक्त है, जैसे पिञ्जर का पक्षी बन्धन युक्त रहता है ॥ २९ ॥ गृहीत वासना युक्त जो अर्थ सेवित होता = भोगा जाता है, वह सुख करता है, और जो अर्थ भोग द्वारा सुख के लिये होता है, वही नाश से शीघ्र ही दुःख के लिये हो जाता है ॥ ३० ॥ तनुभावना = सूक्ष्म दग्ध वासनायुक्त, वा वासना विना जो अर्थ सेवित होता है, वह वस्तु न सुख के लिये होती है, न वह नाश काल के द्वारा दुःखप्रद होती है, ॥ ३१ ॥ क्षीण = नष्ट वासना वाली बुद्धि से जो कर्म भी किया जाता है, हे अनघ ! दग्ध बीज तुल्य वह कर्म फिर जन्मादि रूप अंकुर को नहीं उत्पन्न करता है ॥ ३२ ॥ असङ्ग = फलेच्छारहित व्यवहार = कर्म वाला होने से, संसार के भावन = चिन्तनादि के त्याग से और शरीर के नाश को देखने मे वासना नहीं होती है ॥ ३३ ॥ आत्मा असङ्ग निर्विकार है, उससे अन्य यह जगत् इन्द्रजाल तुल्य मिथ्या है, इस प्रकार दृढ़ निर्णीत = अनुभूत होने पर मन में वासना किससे हो सकती है ? ॥ ३४ ॥ लोक देहादि में मिथ्यात्वादि के ज्ञान से उन की वासनाओं की निवृत्ति पूर्वक महाभय से रक्षा करने वाली अद्वैत वासना ईश्वर के अनुग्रह से ही दो तीन को ही होती है, इससे अद्वैत वासना

ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना ।
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते ॥३६॥
खण्डनखण्डखाद्ये १।२५ ॥

भुक्ते कर्मफले लेशो बुद्धिस्थो वासनोच्यते ।
अविद्योत्कर्षतो भाति जयघातादिवासना ॥३७॥
वार्त्तिकसा० ॥

तदत्राविद्यया मन्यन्ते॥३८॥ बृहदा०अ० ४।३।२० ॥

[अत्र-स्वप्ने भयादिकमविद्यया मन्यन्त इत्यर्थः]

अज्ञाने क्षीयमाणेऽथ जाग्रद्देवादिवासना ।
मतिं देवोऽस्मि राजाऽस्मीत्येतां स्वप्ने करोति हि३९

विद्यायाः परमोत्कर्षे जाग्रत्साक्ष्यात्मवासना ।
सर्वोऽस्मीति मतिं स्वप्ने करोत्यद्वैतभासिनीम्॥४०॥

सर्वात्मभावः परमो लोको बाधविवर्जनात् ।
बाध्यन्ते देवराजाद्या इव शब्दस्ततः श्रुतः ॥४१॥

यः सर्पो रज्जुरेवैषा यथावस्तुनिरूपणे ।
तथेदं जगदात्मैव जगन्नैवात्मनः पृथक् ॥४२॥

अतः सर्वोऽस्मीतिमति नैव स्वप्नेऽपि विभ्रमः ।
तत्त्वावेदकमानेन जाता धी विभ्रमः कथम् ॥४३॥
वार्त्तिकसा० ॥

अथ यदत्र देव इव राजेवाहमेवेदं सर्वोऽस्मीति
मन्यते सोऽस्य परमो लोकः॥४४॥ बृहदा०४।३।२०॥

नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम्।
नात्यक्त्वा चाभयः शेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भव ४५
महाभा० शां० प० अ० १७६।२२॥

इति चतुर्थं वासनातत्त्यागप्रकरणं समाप्तम् ॥

के लिये ईश्वरोपासना कर्तव्य है ॥ ३५ ॥ महाभय रूप संसार से जिसने रक्षा की है, ऐसी यह अद्वैतवासना यदि होती भी है, तो ईश्वर के अनुग्रह से दो तीन =अत्युत्तम अल्प को होती है ॥ ३६ ॥ जाग्रत् काल में कर्म फल के भोग होने पर जो बुद्धि में लेश=लव-कण है सो वासना कही जाती है, वह अविद्या के उत्कर्ष= अधिकता से स्वप्न में व्यक्त होकर जय घातादि की वासना कर्माधीन जयादि रूप से भासती है, और उस स्वप्न में भयादि को अविद्या से अपने में मानता है ॥ ३७–३८ ॥ और अज्ञान जन्य दुष्ट वासना के क्षीण होने के बाद जाग्रत् में देवादि की वासना होती है, सो स्वप्न में देव हूँ राजा हूँ, इस बुद्धि को उत्पन्न करती है ॥ ३९ ॥ विद्या के अति उत्कर्ष =(वृद्धि) होने पर जाग्रत् में साक्षी स्वरूप आत्मा की वासना होती है, सो स्वप्न में अद्वैत को प्रकाशने वाली मैं "सर्व स्वरूप हूँ" ऐसी बुद्धि उत्पन्न करती है ॥ ४० ॥ सर्वात्मता बाध रहित होने से परम लोक है, और देव, राजा आदि बाधित होते हैं, इसी से श्रुति में "इव" शब्द सुना गया है, कि राजा के समान होते हैं, वस्तुतः स्वप्न में राजा आदि नहीं होते हैं ॥ ४१ ॥ और जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम होता है, तहाँ सत्यवस्तु रज्जु के देखने जानने पर जो सर्प रहता है, सो इस रज्जु रूप ही हो जाता है, तैसे ही अज्ञान से सिद्ध यह जगत् आत्मज्ञान होने पर आत्म स्वरूप ही हो जाता है, आत्मा से पृथक् सत्य नहीं भासता है ॥ ४२ ॥ इससे स्वप्न में भी होने वाला 'सर्वोऽस्मि'=सर्व स्वरूप हूँ, यह बुद्धि=ज्ञान देवादि ज्ञान के समान विभ्रम रूप नहीं है, सत्य वस्तु की बोधक प्रमाण जन्य कोई भी बुद्धि विभ्रम कैसे हो सकती है ? ॥४३॥ इसी से श्रुति कहती है कि स्वप्न में देवादि के समानत्व का ज्ञान होता है, परन्तु मैं इस सर्व स्वरूप हूँ, ऐसा जो मानता है सो इस का परम लोक है ॥ ४४ ॥ लौकिक वासनादि के त्याग विना न सुख पाता है, न पर तत्त्व को पाता है, न अभय हो कर सोता है, इससे सब को त्याग कर सुखी हो ॥ ४५ ॥ चौथा वासनातत्त्याग प्रकरण समाप्त ॥

अथ जीवन्मुक्तिः ॥ ९ ॥

जीवन्मुक्तो भवेन्मुक्तो विदेहोऽपि विवासनः ।
मरणाद्या भवेन्मुक्तिः साऽनित्या स्वर्गलक्षणा ॥१॥
जीवन्मुक्तस्य मुक्ति र्हि स्वात्मरूपाऽतिनिर्मला ।
निर्गुणा निष्कला शान्ता निरवद्यस्वलक्षणा ॥२॥
निर्विशेषा तथाऽन्येषां सविशेषाऽथ सक्रिया ।
अतोऽनित्योपचारेण मुक्तिशब्देन भण्यते ॥३॥
ब्रह्मलोकेऽपि यो जीवन्मुक्तः स मुक्त उच्यते ।
नान्यथा परमेशोऽपि वेदाः सर्वे वदन्ति ताम् ॥४॥
उक्तं च—
तच्चित्तास्तद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च तन्नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥५॥
तेषां ज्ञानैकनिष्ठानामात्मज्ञानविचारिणाम् ।
सा जीवन्मुक्ततोदेति विदेहान्मुक्ततैव या ॥६॥
यथा स्थितमिदं यस्य व्यवहारवतोऽपि च ।
अस्तं गतं स्थितं व्योम जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥७॥
बोधैकनिष्ठतां यातो जाग्रत्येव सुषुप्तवत् ।
य आस्ते व्यवहर्त्तैव जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥८॥
नोदेति नास्तमायाति सुखे दुःखे मुखप्रभा ।
यथाप्राप्तस्थिते र्यस्य जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥९॥
यो जाग्रति सुषुप्तस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते ।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥१०॥
रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि ।
योऽन्त र्व्योमवदच्छस्थः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥११
यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धि र्यस्य न लिप्यते ।
कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते ॥१२॥

अथ जीवन्मुक्ति—वासना रहित जीवन्मुक्त ही विदेह होने पर मुक्त होता है, जीवन्मुक्ति विना मरण से जो मुक्ति होती है, सो स्वर्गरूप अनित्य मुक्ति होती है ॥ १ ॥ जीवन्मुक्त की विदेह मुक्ति निजात्म स्वरूप वाली, अत्यन्त निर्मल, निर्गुण, निष्कला=अवयव रहित, शान्त दोषरहित, निजलक्षण=स्वरूप लक्षण वाली होती है ॥ २ ॥ और निर्विशेष=भेद अतिशय आदि रहित होती है, अन्य की मुक्ति सविशेष क्रिया सहित होती है, इससे अनित्य होती है, उपचार=गुण-वृत्ति-मिथ्यावाक्य से, मुक्ति शब्द से कही जाती है ॥ ३ ॥ ब्रह्म लोक में भी जो प्रथम जीवन्मुक्त=निष्कामादि होता है, सो फिर विदेह मुक्त कहा जाता है, जीवन्मुक्ति विना परमेश्वर भी विदेह मुक्त नहीं होता है ॥ ४ ॥ तिस आत्मगतचित्त वाला, आत्मगत प्राण वाला=आत्म ज्ञानोपयोगी जीवन व्यापार वाला, उसी को परस्पर कराने वाला सदा उसी का कथन करता हुआ तुष्ट होता और रमता है ॥ ५ ॥ तिस एक ज्ञान में निष्ठा वाला आत्मज्ञान के विचार शील को वह जीवन्मुक्तता प्रकट होती है, कि जो विदेह होने से भी शुद्ध मुक्तता ही रहती है ॥ ६ ॥ जिस उचित व्यवहारयुक्त ज्ञानी का यथायोग्य स्थिर भी यह विश्व ज्ञान से अस्तङ्गत = बाधित हो गया है, और व्योम=चिदाकाश निर्मल स्थिर है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ ७ ॥ एक बोध में निष्ठता=स्थिरता को प्राप्त जो पुरुष जाग्रत् में व्यवहार कर्ता हुआ भी सुषुप्त के समान निर्विकार रहता है, सो जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ ८ ॥ सुख दुःख में जिस के मुख की प्रभा=कान्ति उदित अस्त नहीं होती है, एक रस रहती है, यथा प्राप्तस्थिति वाला सदा रहने से जिस की ऐसी स्थिति है, सो जीवन्मुक्त कहलाता है ॥९॥ जो सुषुप्तस्थ=सुषुप्त के तुल्य निर्विकार आत्मा में स्थिर होता हुआ भी जागता है=मोह रहित रहता है, जिस को लौकिक जाग्रत् नहीं रहता है=जो जाग्रत् के अभिमान से रहित रहता है, इस से जिस को वासना रहित बोध रहता है, सो जीवन्मुक्त कहलाता है ॥१०॥ रागद्वेष भयादि के अनुरूप=सदृश बाह्य मिथ्या व्यवहार करता हुआ भी जो अन्तर में आकाश तुल्य अच्छ=निर्मल आत्मनिष्ठ रहता है, सो जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ ११ ॥ क्रिया करते

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोन्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥१३॥
शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः ।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥१४॥
योगवासि० प्र० ३।६ ॥
स्वप्ने निर्वासनाबीजे यथोदेति सुषुप्तता ।
जाग्रत्यवासनाबीजे तथोदेति विमुक्तता ॥१५॥
येयं तु जीवन्मुक्तानां वासना सा न वासना ।
शुद्धसत्त्वाभिधानं तत्सत्तासामान्यमुच्यते ॥१६॥
या सुप्तवासना निद्रा सा सुषुप्तिरिति स्मृता ।
यत्सुप्तवासनं जाग्रद्घनोऽसौ मोह उच्यते ॥१७॥
प्रक्षीणवासना निद्रा तुर्यशब्देन कथ्यते ।
जाग्रत्यपि भवत्येव विदिते परमे पदे ॥१८॥
प्रक्षीणवासना येह जीवतां जीवनस्थितिः ।
अमुक्तैरपरिज्ञाता सा जीवन्मुक्ततोच्यते ॥१९॥
शुद्धसत्त्वानुपतितं चेतः प्रतनुवासनम् ।
अतिवाहिकतामेति हिमं तापादिवाम्बुताम् ॥२०॥
अतिवाहिकतां यातं बुद्धं चित्तान्तरैर्मनः ।
सर्गजन्मान्तरगतैः सिद्धैर्मिलति नेतरत् ॥२१॥
योगवा० प्र० ३।२२।४-१० ॥
आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतम् ।
न हृष्यति ग्लायति यः स मुक्त इति होच्यते ॥२२॥
हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः ।
न परामृष्यते योऽन्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥२३॥
योगवा० प्र० ५।१६।१८-२१ ॥
त्यक्तावने विटपिनो भूयः पत्राणि नो यथा ।
निर्वासनस्य जीवस्य पुनर्जन्मादि नो तथा ॥२४॥
योगवा० प्र० ५।४८।५५ ॥

हुए वा नहीं करते हुए, जिस की बुद्धि कर्तृत्व अकर्तृत्व के अभिमान से लिप्त नहीं होती है, इसी से जिस को अहंकृत=मैं करता हूँ, ऐसा भाव=भावना नहीं होती है, सो जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ १२ ॥ जिससे लोक उद्विग्न=भयभीत नहीं होता है, जो आप भी लोक से उद्विग्न नहीं होता है, हर्ष, आमर्ष=क्रोध, भय, से रहित वह जीवन्मुक्त कहलाता ॥ १३ ॥ जिस की संसार की कलना = सत्यता बुद्धि शान्त हो गई है, वह अन्य की दृष्टि से देहादि कला=अवयव वाला होता हुआ भी निरवयव है, और जो सचित्त=सचेतन होता हुआ भी निश्चित्त = मन रहित है, सो जीवनमुक्त कहलाता है ॥ १४ ॥ जैसे स्वप्न के निर्गत=अनुद्भूत वासना रूप बीज वाला होने पर सुषुप्तता प्रकट होती है, तैसे जाग्रत् के वासना बीज रहित होने पर मुक्तत्व प्रकट होता है ॥ १५ ॥ जो यह व्यवहार का हेतु जीवन्मुक्त की वासना है, सो वस्तुतः वासना नहीं है, वह तो शुद्ध सत्त्वनामवाला सत्तासामान्य कहा जाता है ॥ १६ ॥ जो सुप्त=अनुद्भूत वासना वाली निद्रा है, सो सुषुप्ति कहलाती है, और जो सुप्त=अभिभूत वासना वाला जाग्रत है, सो वासनाओं के घन रूप मोह=मूर्छा कहलाता है ॥ १७ ॥ अत्यन्त क्षीण वासना वाली निद्रा तुर्यावस्था कहलाती है, सो परमपद के विदित=ज्ञात होने पर जाग्रत् में भी होती है ॥ १८ ॥ प्रक्षीण वासना वाली जो यहाँ जीवनवालों की जीवन की स्थिति है, सो अमुक्तों से अपरिज्ञात जीवन्मुक्तता कही जाती है ॥ १९ ॥ शुद्ध सत्व रूपता को प्राप्त अत्यन्त सूक्ष्म वासना वाला चित्त अतिवाहिक रूपता को प्राप्त होता है, जैसे बर्फ ही ताप से जल होता है ॥ २० ॥ अति वाहिक पन को प्राप्त बुद्ध=ज्ञान युक्त मन सर्गान्तर्गत जन्मान्तर्गत चित्तों से सिद्धों से मिलता है, अन्य नहीं ॥ २१ ॥ समय के अनुसार निरन्तर सुख दुःख के प्राप्त होते रहते भी जो हर्ष ग्लानि को नहीं प्राप्त होता है, सो जीवन्मुक्त कहलाता है ॥२२॥ हर्ष आमर्ष=वेग, भय, क्रोध, काम, कृपणता आदि की दृष्टि=ज्ञानों से जो अन्तर में परामृष्ट=संबद्ध चिन्तित नहीं होता है, सो जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ २३ ॥ भूमि को त्यागने वाला=उखड़े हुए

असंसङ्गात्पदार्थानां मनःशान्तिर्विमुक्तता ।
सत्यसत्यपि देहे सा सम्भवत्यनघाकृतेः ॥२५॥
स्नेहसंक्षयमेवाङ्ग ! विदुः कैवल्यमुत्तमम् ।
तत्सम्भवति देहस्य भावे चाभाव एव च ॥२६॥
यो जीवति गतस्नेहः स जीवन्मुक्त उच्यते ।
स स्नेह जीवतो बद्धो मुक्त एव तृतीयकः ॥२७॥
यत्नो यत्नेन कर्त्तव्यो मोक्षार्थं युक्तिपूर्वकम् ।
यत्नयुक्तिविहीनस्य गोष्पदं दुस्तरं भवेत् ॥२८॥
योगवा० प्र० ५।७५।५२। इत्यादि ॥

कुर्वतोऽकुर्वतश्चैव मनसा यदमज्जनम् ।
शुभाशुभेषु कार्येषु तदसङ्गं विदुर्बुधाः ॥२९॥
अथवा वासनोत्साद एवासङ्ग इति स्मृतः ।
यया कयापि युक्त्यान्तः सम्पादय तमेव हि ॥३०॥
योगवा० प्र० ६-२।२८।२४-२५ ॥

यस्य न स्वदते दृश्यमदृश्यं स्वदते हृदि ।
स बाह्याभ्यन्तरं शान्तः स वितीर्णो भवार्णवात् ३१
योगवा० प्र० ६-२।३६।१५ ॥

भवेद्व्यवहृतावेव पदार्थान्तरवेदनम् ।
मोक्षोऽपि चेतसो धर्मश्चेतस्येव स तिष्ठति ॥३२॥
न देहे, देहधर्मस्तु न देहाद्विनिवर्त्तते ।
न कदाचन निर्मुक्तं चेतो भूयो निबध्यते ॥३३॥
यत्नेनापि पुनर्बद्धं केन वृन्तच्युतं फलम् ।
देहस्तु देहधर्मेण जीवन्मुक्तिमतामपि ॥३४॥
गृह्यते तद्गतं तेषां चेतस्त्वचलमेव तत् ।
मोक्षो हि न परज्ञेयो धारणादिप्रयोगवत् ॥३५॥
व्यवहारे यथैवाज्ञस्तथैव खलु पण्डितः ।
वासनाऽवासने एव कारणं बन्धमोक्षयोः ॥३६॥
योगवा० प्र० ६-२।१२५।३० इत्यादि ॥

वृक्ष के जैसे फिर पत्र नहीं होते हैं, तैसे ही वासना रहित जीव के फिर जन्मादि नहीं होते हैं ॥ २४ ॥ मन के सब पदार्थों के असंसङ्ग=सम्बन्धाभाव से मन की शान्ति विमुक्तता है, सो देह के रहते और नहीं रहते हुए भी अनघाकृति वाले को होती है ॥ २५ ॥ हे अङ्ग ! भ्रम जन्य स्नेह, राग के सम्यग् नाश को ही उत्तम कैवल्य=(मुक्ति) कहते हैं, सो देह के भाव और अभाव रहते भी होता है ॥ २६ ॥ जो स्नेह=राग-प्रेम रहित जीता है, सो जीवन मुक्त कहलाता है, स्नेह सहित जीवन से बद्ध कहलाता है, स्नेह रहित देह के अभाव वाला तीसरा मुक्त ही कहलाता है ॥ २७ ॥ मोक्ष के लिये युक्तिपूर्वक साधनरूप यत्न=सावधानी से करना चाहिये, क्योंकि यत्न युक्ति रहित को गोष्पद तुल्य तुच्छ संसार दुस्तर होता है ॥ २८ ॥ कर्मादि कर्ता वा नहीं कर्ता को जो मन से शुभाशुभ कार्यों में अमज्जन=अनासक्ति है, उसको विद्वान् असङ्ग जानते हैं ॥ २९ ॥ अथवा वासना के नाश को ही असङ्ग कहा जाता है, जिस किसी युक्ति से उस असङ्ग को ही अन्तर में सिद्ध करो ॥ ३० ॥ जिसके हृदय में दृश्य विषय स्वादु नहीं प्रतीत होते हैं, नहीं रुचते हैं, और अदृश्य ब्रह्म रुचता है, बाहर भीतर शान्त वह ज्ञानी संसार समुद्र से वितीर्ण=पार पहुँचा है ॥ ३१ ॥ जीवन्मुक्त को व्यवहार में ही पदार्थान्तर का ज्ञान होता है, समाधि में नहीं, और मोक्ष भी चित्त का धर्म है, सो समाधि काल में उस चित्त का ही निरोध होता है, इससे उसी का वह मोक्ष रहता है ॥ ३२ ॥ फिर जब चित्त देह रूपता को धारण करता है, तब देह में मोक्ष नहीं रहता है, क्योंकि देह के धर्म देह के रहते देह से निवृत्त नहीं होते हैं। तो भी वासनादि से निर्मुक्त=चित्त फिर कभी नहीं बँधता है ॥ ३३ ॥ क्योंकि वृन्त से गिरे हुए फल को फिर पूर्व के तुल्य किस ने बाँधा है ? परन्तु जीवन्मुक्त की देह तो देह धर्म से युक्त रहती ही है, चित्त नहीं ॥ ३४ ॥ इस से उन का उस देहगत भी चित्त अचल ही गृहीत=ज्ञात होता है, और वह मोक्ष धारणाध्यानादि के प्रयोग=व्यवहार तुल्य अन्य=अज्ञ से ज्ञेय=जानने योग्य नहीं है ॥ ३५ ॥ क्योंकि व्यवहार में जैसे अज्ञ रहता है, तैसे ही मुक्त

न सुखाय सुखं यस्य दुःखं दुःखाय यस्य नो ।
अन्तर्मुखमते र्नित्यं स मुक्त इति कथ्यते ॥३७॥
यस्य न स्फुरति प्रज्ञा चिद्व्योमन्यचलस्थितेः ।
प्रसृतेष्विव भोगेषु स मुक्त इति कथ्यते ॥३८॥
चिन्मात्रात्मनि विश्रान्तं यस्य चित्तमचञ्चलम् ।
तत्रैव रतिमायातं स जीवन्मुक्त उच्यते ॥३९॥
परमात्मनि विश्रान्तं यस्य व्यावृत्य नो मनः ।
रमतेऽस्मिन् पुन र्दृश्ये स जीवन्मुक्त उच्यते ॥४०॥

श्रीराम उवाच

न सुखाय सुखं यस्य दुःखं दुःखाय यस्य न ।
जडमेव मुने ! मन्ये मानवं तमचेतनम् ॥४१॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

चिद्व्योमैकान्तनिष्ठत्वात्प्रयत्नेन विना सुखम् ।
न वेत्ति शुद्धबोधात्मा यः स विश्रान्त उच्यते ॥४२॥
सर्व एव परीक्षीणाः सन्देहा यस्य वस्तुतः ।
सर्वार्थेषु विवेकेन स विश्रान्तः परे पदे ॥४३॥
यस्य कस्मिंश्चिदप्यर्थे क्वचिद्रसिकतास्ति नो ।
व्यवहारवतोऽप्यन्तः स विश्रान्त उदाहृतः॥४४॥
यः कर्मौघमनादृत्य स्वात्मन्येवावतिष्ठते ।
स आत्माराम इत्युक्तो न जडोऽसौ रघूद्वह ! ४५

योगवा० प्र० ६–२।१६६ ॥

अजोऽहममरोऽमृत्युरजरोऽभय एव च ।
सर्वज्ञःसर्वदृक् शुद्ध इति बुद्धो न जायते ॥४६॥
क्षीरात्सर्पिर्यथोद्धृत्य क्षिप्तं तस्मिन्न पूर्ववत् ।
बुद्ध्यादे र्ज्ञस्तथाऽसत्यान्न देही पूर्ववद्भवेत् ॥४७॥

उपदेशसाह० प्र० १७।५६–६१ ॥

यथा वारिचरःपक्षी न लिप्यति जले चरन् ।
विमुक्तात्मा तथा योगी गुणदोषै र्न लिप्यते॥४८॥

महाभा० शान्तिप० अ० २४८।१७ ॥

ज्ञानी रहता है, अन्तर्गत वासना और वासना का अभाव ही बंध और मोक्ष का कारण है ॥ ३६ ॥ सुख का साधन विषय जिस के सुख के लिये नहीं होता है, न दुःख का साधन दुःख के लिये होता है, क्योंकि उस की मति अन्तर्मुख आत्मनिष्ठ है, इससे अन्तर्मुख मति वाले को सुखादि नहीं होते हैं, वह जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ ३७ ॥ चिदाकाश में अचल स्थिति से जिस की प्रज्ञा = बुद्धि नहीं चलती है कि–जैसे अज्ञो की बुद्धि प्रसृत = विस्तृत भोग में आसक्त हो कर नहीं चलती है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ ३८ ॥ चेतन मात्र आत्मा में विश्राम युक्त अचञ्चल जिस का चित्त उस आत्मा में ही रति = प्रीति को प्राप्त किया है, सो जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ ३९ ॥ परमात्मा में विश्रान्त = स्थिर जिस का मन फिर वहाँ से लौट कर इस दृश्य संसार में नहीं रमता है, सो जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ ४० ॥ श्रीराम जी बोले कि हे मुने ! जिस को सुख, सुख के लिये, और दुःख, दुःख के लिये नहीं है, उस अचेतन मनुष्य को मैं जड़ ही मानता हूँ ॥ ४१ ॥ श्रीवसिष्ठ जी बोले कि एक चिदाकाश में स्थिर होने से किसी के प्रयत्न के बिना जो शुद्ध बोधात्मा सुख को नहीं जानता है, सो विश्रान्त कहलाता है, जड़ नहीं ॥ ४२ ॥ जिस को विवेक से अज्ञानादि की निवृत्ति द्वारा सर्वार्थ विषयक सब संदेह नष्ट हो गये हैं, सो पर पद में विश्रान्त है ॥ ४३ ॥ व्यवहार युक्त भी जिस मनुष्य को अन्तर में किसी अर्थ में कहीं भी रसिकता = रागित्व नहीं है, सो विश्रान्त कहा गया है ॥ ४४ ॥ जो कर्म समूह का अनादर कर के अपने आत्मा में ही स्थिर होता है. हे रघूद्वह = राम ! वह आत्माऽऽराम इस शब्द से कहा गया है, वह जड़ नहीं है ॥४५॥ मैं अज अमर=अविनाशी, मृत्यु रहित, अजर, अभय, सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा, शुद्ध हूँ, इस प्रकार जानने वाला बुद्ध=ज्ञानी नहीं जन्मता है ॥४६॥ घृत को दूध से निकाल कर फिर उस दूध में देने पर भी पूर्व के समान वह दूध के साथ मिलता नहीं है, तैसे असत्य बुद्धि आदि से उद्धृत=निकला हुआ ज्ञानी आत्मा पूर्व के समान देही नहीं होता है ॥४७॥ जैसे जलचारी पक्षी जल में चरता हुआ जल से लिप्त नहीं होता है, तैसे ज्ञान से विमु-

अनादिनिधनो ह्यात्मा तं बुद्ध्वा विचरेन्नरः ।
अक्रुध्यन्नप्रहृष्यंश्च नित्यं विगतमत्सरः ॥४९॥
महाभा० शन्तिप० अ० २४६।५ ॥

सर्वभूतसमो दान्तो रागद्वेषविवर्जितः ।
त्यक्तनिन्दास्तुति मौनी मोक्षस्थः परिकीर्त्त्यते ५०
स्कन्दपु० ख० १-२।५४।५॥

दर्शनादिक्रियाः कुर्वन् यथापूर्वं य इन्द्रियैः ।
सिद्ध्यसिद्धी न जानाति स जीवन्मुक्त उच्यते ५१
अनुभूतिप्रका० अ० ४।६२ ॥

संशान्तसर्वसङ्कल्पा या शिलावदवस्थितिः ।
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा॥५२॥
मैत्रेय्युपनिष० अ० २।३१ ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
अथ मर्त्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥५३॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥५४॥
कठोप० २।६।१४-१५ ॥

बीजानि ह्यग्निदग्धानि न रोहन्ति पुन र्यथा ।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशै र्नात्मा संयुज्यते पुनः॥५५॥

आत्मानं विन्दते येन सर्वभूतगुहाशयम् ।
श्लोकेन यदि वार्द्धेन क्षीणं तस्य प्रयोजनम्॥५६॥

द्व्यक्षरादभिसन्धाय केचिच्छ्लोकपदाङ्कितैः ।
शतैरन्यैः सहस्रैश्च प्रत्ययो मोक्षलक्षणम् ॥५७॥
महाभा० वनप० अ० २००।१०८। इत्यादि ॥

ब्रह्मेशकोटिभेदेन जीवन्मुक्तो द्विधामतः ।
प्रारब्धकर्मणां तत्र जीवन्मुक्तमहात्मनाम् ॥५८॥

वैचित्र्यमेव हेतुः स्यात्प्रभेदे द्विविधे ध्रुवम् ।
ब्रह्मकोटिसमापन्ना जीवन्मुक्ता भवन्त्यहो ॥५९॥

क्तात्मा योगी=ज्ञानी गुण दोष पुण्यपापादि से लिप्त नहीं होता है ॥ ४८ ॥ उत्पत्ति नाश रहित आत्मा है, उस को जान कर मत्सर रहित मनुष्य क्रोध प्रहर्ष नहीं करता हुवा विचरे ॥ ४९ ॥ सर्वप्राणियों में समता वाला, दमयुक्त, रागद्वेष रहित, स्तुतिनिन्दा का त्यागी मौनी महात्मा मोक्षस्थ=जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ ५० ॥ पूर्व के समान इन्द्रियों से दर्शनादि क्रियाओं को करता हुवा भी जो पुरुष फल की सिद्धि असिद्धि को नहीं जानता है, दोनों अवस्था में सम रहता है, सो जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ ५१ ॥ निवृत्त हुए हैं सब संकल्प जिस अवस्थिति में, वह जाग्रत् निद्रा से रहित, शिलातुल्य, एकरस निर्विकार अवस्थिति, उत्तम स्वरूप स्थिति है ॥ ५२ ॥ ज्ञान से प्रथम जो काम इस पुरुष में स्थिर रहते हैं, सो सब जब ज्ञानदृष्टि से विदीर्ण=नष्ट हो जाते हैं, 'अथ'=तब वह प्रथम का मर्त्य=मरणधर्मा भी ज्ञान से अमृत=मुक्त, जन्ममरणादि रहित होता है, और इस शरीर लोक में ब्रह्म को सम्यक् प्राप्त करता है ॥ ५३ ॥ और जिस समय इस ज्ञानी के हृदय के ग्रंथिरूप सब कार्यरूपा अविद्या, भ्रम नष्ट हो जाते हैं, तब वह मर्त्य अमृत होता है, और इन ग्रंथियों के नाश पूर्वक जो अमृतभाव है, इतने ही के लिये सब वेद वेदान्त का अनुशासन=उपदेश है ॥ ५४ ॥ अग्नि से दग्ध=भुने हुए बीज जैसे प्रथम के समान फिर नहीं जमते हैं, तैसे ही ज्ञान से दग्ध अविद्यादि रूप क्लेशों से फिर आत्मा देहादि में नहीं मिलता है ॥ ५५ ॥ जिस श्लोक वा उस के अर्द्धभाग से जो सर्वभूत हृदय निवासी आत्मा को प्राप्त करता-जानता है, उस का प्रयोजन उतने ही से पूर्ण हो जाता है, कोई प्रयोजन बाकी नहीं रहता है ॥ ५६ ॥ कोई 'तत्त्वमसि' वाक्य रूप दो अक्षर से कोई श्लोकपद='सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इत्यादि से अङ्कित=युक्त 'ब्रह्म विदाप्नोति परम्' इत्यादि सैकड़ों, अन्य सहस्रों वाक्यों से अभिसन्धान=विचार कर के आत्मा को जानते हैं, तहाँ किसी प्रकार ही वह प्रत्यय=ज्ञान ही मोक्ष का लक्षण=बोधक और स्वरूप है ॥ ५७ ॥ ब्रह्म और ईश्वर कोटि=भाग अवस्था के भेद से जीवन्मुक्त दो प्रकार से सम्मत हैं, तिन दोनों प्रकार के प्रभेदों में जीवन्मुक्त महात्माओं के प्रारब्ध कर्मों की विचित्रता ही ध्रुव हेतु होता है, ब्रह्म कोटि को सम्यक् प्राप्त

आत्मारामाः सदा मुक्ता जगत्सम्बन्धवर्जिताः ।
ईशकोटिश्रिता ये च जीवन्मुक्ताः स्ववेदिनः ॥६०॥
त ईशप्रतिमाः सन्तो भगवत्कार्यरूपतः ।
संरक्ता विश्वकल्याणे सन्तिष्ठन्ते महीतले ॥६१॥
विश्वमेवं विधैरेव ह्येकमात्रं स्वधाभुजः ।
भवन्त्युपकृतं धन्यं जीवन्मुक्तै र्महात्मभिः ॥६२॥

शम्भुगी० ॥

इति पञ्चमं जीवन्मुक्तिप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ विदेहमुक्तिः ॥ ६ ॥

जीवन्मुक्तिपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥१॥
विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति ।
न सन्नासन्न दूरस्थो न चाहं न च नेतरः ॥२॥
योगवा० प्र० ३।६।१४ इत्यादि ॥
बहुधा श्रूयते मुक्ति र्वेदान्तेषु विचक्षण ! ।
एका सालोक्यरूपोक्ता द्वितीया कमलेक्षण ! ॥३॥
सामीप्यरूपा सारूप्या तृतीया पुरुषोत्तम ! ।
अन्या सायुज्यरूपोक्ता सुखदुःखविवर्जिता ॥४॥
षड्भावविक्रियाहीना शुभाशुभविवर्जिता ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्ता सत्यविज्ञानरूपिणी ॥५॥
केवलं ब्रह्मरूपोक्ता सर्वदा सुखलक्षणा ।
न हेया नाप्युपादेया सर्वसम्बन्धवर्जिता ॥६॥
न दृष्टा न श्रुता विष्णो ! न चास्वाद्या न तर्किता ।
सर्वावरणनिर्मुक्ता न विज्ञेया निराश्रया ॥७॥
वाच्यवाचकनिर्मुक्ता लक्ष्यलक्षणवर्जिता ।
सर्वेषां प्राणिनां साक्षादात्मभूता स्वयंप्रभा ॥८॥

अद्भुत महात्मा सब सदा आत्मा में आराम वाले सदा मुक्त सदा जगत् के सम्बन्धों से रहित होते हैं, और ईश कोटि के आश्रित जो जीवन्मुक्त स्ववेदी=आत्मज्ञानी होते हैं, सो ईश्वर के तुल्य होते हुए, भगवान् के कार्यरूप विश्व के कल्याण में संरक्त=तत्पर होते हुए, भूमितल में सम्यग् न्याय धर्म मर्यादा से रहते हैं ॥ ५८-६१ ॥ एक मात्र=केवल इस प्रकार के मुक्त महात्माओं से विश्व=सर्व, स्वधाभुज=देव, उपकृत होते हैं, धन्य होते हैं, तथा सब विश्व=संसार उपकृत और धन्य होना है ॥ ६२ ॥

पाँचवाँ जीवन्मुक्ति प्रकरण समाप्त ॥

अथ विदेहमुक्ति—अपने देह के काल के अधीन=नष्ट करने पर ज्ञानी जीवन्मुक्त पद=अवस्था को त्याग कर विदेह मुक्तता में प्रविष्ट होता है, जैसे वायु स्पन्द रहितता को प्राप्त होती है ॥ १ ॥ विदेह मुक्त उदय और अस्त=वृद्धि और ह्रास को नहीं प्राप्त होता है न नष्ट होता है, न सत्=व्यक्त न असत्=अव्यक्त होता है, न दूरस्थ होता है, न अहंकार रूप होता है, न इतर होता है=न अनहं होता है ॥ २ ॥ हे विचक्षण ! कमलेक्षण ! पुरुषोत्तम ! वेदान्तों में बहुधा मुक्ति सुनी जाती है, एक सालोक्य रूपा कही गई है, दूसरी सामीप्य रूपा, तृतीया सारूप्या, अन्या=चतुर्थी सायुज्य रूपा कही गई है, सो सुख दुःख से रहित है ॥ ३-४ ॥ वह चतुर्थी । जन्म, सत्ता, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय, नाश, रूप छः भाव विकारों से रहित. शुभाशुभ द्वन्द्वों से रहित, सब द्वन्द्वों से रहित, सत्य विज्ञान रूप वाली है ॥ ५ ॥ केवल ब्रह्मरूप सदा सुख स्वरूप, हेय उपादेय से भिन्न सब सम्बन्धों से रहित कही गई है ॥ ६ ॥ हे विष्णो ! लोक में वह दृष्ट वा श्रुत नहीं है, न आस्वाद्य=आस्वाद लेने योग्य है, न तर्कित=तर्क का विषय अनुमेय है । सब आवरणों से रहित, और विज्ञेय से भिन्न, निराश्रय है ॥ ७ ॥ वाच्य वाचक-भाव सम्बन्ध, लक्ष्य लक्षण सम्बन्ध से रहित, सब प्राणी के आत्मस्वरूप, स्वयं प्रकाश है ॥ ८ ॥

प्रतिबन्ध विनिर्मुक्ता सर्वदा परमार्थतः ।
अविचारदशायां तु प्रतिबद्धा स्वमायया ॥९॥
एषैव परा मुक्तिः प्रोक्ता वेदार्थवेदिभिः ।
अन्याश्च मुक्तयः सर्वा अवराः परिकीर्त्तिताः ॥१०॥
जन्मनाशाभिभूताश्च तारतम्येन संस्थिताः ।
स्पर्द्धयोपहता नित्यं परतन्त्राश्च सर्वदा ॥११॥
सुखोत्तरा अपि श्रेष्ठा दुःखमिश्राश्च सर्वदा ।
एताश्च मुक्तयोऽन्येषां केषाञ्चिदधिकारिणाम् ॥१२॥
भवन्ति विष्णो ! भोगार्थं स्वर्गवत्ताश्च नश्वराः ।
एताश्च बहुधा भिन्ना विद्धि पङ्कजलोचन ! ॥१३॥
एतास्वशुद्धचित्तानां क्रममुक्तौ जनार्दन ! ।
वाञ्छा विजायते तेषां सिद्ध्यत्येव परा गतिः १४
यस्य मुक्तिरभिव्यक्ता स्वात्मसर्वार्थवेदिनी ।
तस्य प्रारब्धकर्मान्तं जीवन्मुक्तिः प्रकीर्त्तिता॥१५॥

स्वतः सिद्धात्मभूताया मुक्तेरज्ञानहानतः ।
अभिव्यक्ते महाविष्णो ! बद्धत्वं दग्धवस्त्रवत्॥१६॥
प्रपञ्चस्य प्रतीतत्त्वाज्जीवनं पुरुषोत्तम ! ।
फलोपभोगात्प्रारब्धकर्मणः सङ्क्षये हरे ! ॥१७॥
प्रतिभासो निवर्त्तेत प्रपञ्चस्य न संशयः ।
यस्य दृश्यप्रपञ्चस्य प्रतिभासोऽपि केशव ! ॥१८॥
निवृत्तः स्वप्नवत्स्वयं मुक्त एव न संशयः ।
भूतपूर्वानुसन्धानान्मुक्त इत्युच्यते मया ॥१९॥
स न मुक्तो न बद्धश्च न मुमुक्षु र्न चापरः ।
य एवमात्मनात्मानं सुदृढं वेद केशव ! ॥२०॥
सूतसं० मुक्तिखं० अ० २।२८। इत्यादि । ईश्वरोक्तिः ॥
सार्ष्टि सालोक्य सारूप्य सामीप्यं साम्यलीनताम् ।
वदन्ति षड्विधां मुक्तिं मुक्तामुक्तविदो विभो! ॥२१॥
ब्रह्मवैवर्त्तपु० ब्रह्मखं० अ० ६।१७ ॥

परमार्थ रूप से सदा प्रतिबन्ध = निरोधादि विघ्न से रहित है, तो भी विचार रहित दशा = अवस्था में अपनी माया से प्रतिबद्ध है ॥ ९ ॥ वेदार्थज्ञों से यही परा मुक्ति कही गई है, अन्य सब मुक्ति अवश कही गई हैं ॥ १० ॥ अन्य मुक्ति जन्म और नाश से अभिभूत = पराजित, तारतम्य = न्यूनाधिक रूप से स्थिर, स्पर्द्धा = पराभिभवेच्छा से उपहत = नष्ट सदा हैं, तथा सदा पराधीन हैं ॥ ११ ॥ उत्तर २ अधिक सुख वाली श्रेष्ठ होती हुई भी सदा दुःख से मिश्रित हैं, इससे ये मुक्तियाँ किसी अन्य अधिकारियों की हैं ॥ १२ ॥ हे विष्णो ! हे पंकज लोचन ! स्वर्ग के समान विनश्वर सो मुक्ति सब भोगों के लिये होती हैं, इन को बहुत प्रकार के भेदों से युक्त समझो ॥ १३ ॥ हे जनार्दन ! इन में अशुद्ध चित्त वालों की इच्छा होती है, और क्रम से परम मुक्ति की इच्छा जिस को होती है, उन की परम गति सिद्ध होती है ॥ १४ ॥ और जिस की मुक्ति स्वात्मरूप से सब अर्थ को प्रकाशने वाली अभिव्यक्त हुई है, उस के प्रारब्ध कर्म के अन्त तक जीवन्मुक्ति कहलाती है ॥ १५ ॥ हे महाविष्णो ! स्वतः सिद्ध = अनादि स्वयंप्रकाश, आत्म स्वरूप मुक्ति की अज्ञान की निवृत्ति से अभिव्यक्ति से जीवन्मुक्त को बद्धत्व दग्ध पट तुल्य रहता है ॥ १६ ॥ हे पुरुषोत्तम ! हे हरे ! प्रपञ्च के प्रतीत = ज्ञात रहने से जीवन्मुक्त का जीवन है, फल के उपभोग से प्रारब्ध कर्म के नष्ट होने पर प्रपञ्च की प्रतीति नहीं होती है ॥ १७ ॥ प्रारब्ध के भोग होने पर प्रपञ्च का प्रतिभास = ज्ञान निवृत्त होगा, इस में संशय नहीं है । हे केशव ! जिस का दृश्य प्रपञ्च का ज्ञान भी निवृत्त हो गया है, जागृति से स्वप्न तुल्य ज्ञान से दृश्य का अभाव हुआ है, सो मुक्त ही है इस में संशय नहीं, वहाँ भी पूर्व वर्तमान अवस्था के अनुसंधान = दृष्टि से वह मुझ से मुक्त कहा जाता है, परन्तु वर्तमान स्वरूप दृष्टि से वह मुक्त वा बद्ध वा मुमुक्षु वा अपर = अन्य नहीं है । हे केशव ! जो इस प्रकार अपने से आप को अपरोक्ष जानता है, सो मुक्तादि सब व्यवहारों से रहित है ॥१८-२०॥ हे विभो ! मुक्त अमुक्त को जानने वाले सार्ष्टि, सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य साम्य, लीनता, इन नामों वाली छः प्रकार की मुक्ति भी कहते हैं ॥२१॥

ब्रह्मज्ञानं गयाश्राद्धं गोगृहे मरणं तथा ।
वासः पुंसां कुरुक्षेत्रे मुक्तिरेषा चतुर्विधा ॥२२॥
अग्निपु० अ० ११५।५ ॥

न शब्दशास्त्राभिरतस्य मोक्षो
न चैव रम्यावसथप्रियस्य ।
न भोजनाच्छादनतत्परस्य
न लोकचित्तग्रहणेरतस्य ॥ २३ ॥
एकान्तशीलस्य सदैव तस्य
सर्वेन्द्रियप्रीतिनिवर्त्तकस्य ।
स्वाध्याययोगे गतमानसस्य
मोक्षो ध्रुवं नित्यमहिंसकस्य ॥२४॥
स्कन्दपु.काशीख.अ.४०।१६०-१६१॥ आ.स्मृ.अ.१०।६-७॥

निषिद्धकाम्ययोस्त्यागात्कर्मणो नित्यकर्मणः ।
करणात्प्रत्यवायस्य हते भोगेन च क्षयात् ॥२५॥
शरीरारम्भकस्यैवं मुक्तिः सिद्धान्तरात्मनः ।
विनाऽप्येकात्मसम्बोधात्कर्मणैवोक्तवर्त्मना ॥२६॥
इति बृहदा० सम्बन्धवार्तिके पूर्वपक्षः । अथ सिद्धान्तः—

न च शक्यं प्रतिज्ञातुं जन्मारभ्यामृते नृभिः ।
निषिद्धकाम्यकर्मादिवर्जनं निपुणैरपि ॥२७॥
सूक्ष्मापराधसन्दृष्टेरतियत्नवतामपि ।
ततो निःसारतां बुद्ध्वा कर्मणां वेदतत्त्ववित् ॥
ऐकात्म्यज्ञानमन्वेति तपोमुषितकल्मषः ॥२८॥
यस्तु जन्मान्तराभ्यासात्क्षपिताशेषकामनः ।
आदावेवाधिकारी स पुनः कर्म न वीक्षते ॥२९॥
अधिकारपरीक्षायां वार्त्तिकसारे चोक्तम्—

प्रत्यग् विविदिषासिद्ध्यै वेदानुवचनादयः ।
ब्रह्मावाप्त्यै तु तत्त्यागस्त्यागेनैक इति श्रुतेः ॥३०॥
न कर्मणा न प्रजया न धनेनामृता जनाः ।
त्यागेनैकेऽमृतत्त्वं त आनशुः शुद्धबुद्धयः ॥३१॥
नन्वभ्युदयवत्साध्या मुक्तिरप्राप्तरूपतः ।
सिपाधयिषया चातोऽधिकारी न बुभुत्सया ॥३२॥

ब्रह्म ज्ञान, गया में श्राद्ध, तथा गोष्ठ में मरण, कुरुक्षेत्र में वास, इन भेदों से भी पुरुष को चार प्रकार की मुक्ति यह है ॥ २२ ॥ शब्दशास्त्र में अभिरत = आसक्त, रम्य = सुन्दर निलय स्थान में प्रेम वाला, भोजन वस्त्र में तत्पर, लोकों के चित्त के ग्रहण = स्वीकार-आदर में प्रवृत्त को मोक्ष नहीं होता है ॥ २३ ॥ किन्तु सदा एकान्त शील एक अन्त = निश्चय युक्त स्वभाव वाले, एकान्त देश में विचार वाले, सब इन्द्रिय सम्बन्धी प्रीति के निवारण वाले, स्वाध्याय योग=श्रवणादि में गत=प्राप्त मन वाले सदा अहिंसक को अवश्य मोक्ष होता है ॥२४॥ निषिद्ध=पाप और सकाम कर्मों के त्याग से और नित्य कर्मों के करने से, उस के अकरण जन्य प्रत्यवाय = पाप के नाश से तथा भोग द्वारा शरीर के आरम्भक = जनक प्रारब्ध कर्म के क्षय होने से, इस उक्तमार्ग द्वारा कर्म से ही एकात्मा के ज्ञान के विना भी अन्तरात्मा=जीव की मुक्ति सिद्ध होती है, ऐसी शंका का उत्तर है, कि-जन्म से मरण तक निषिद्ध और सकाम कर्मादि के त्याग की प्रतिज्ञा करना निपुण मनुष्यों से भी शक्य=योग्य नहीं है, क्योंकि अत्यन्त यत्न वालों का भी सूक्ष्म अपराध देखा जाता है, तिससे तत्त्ववेत्ता कर्मों की निःसारता को जान कर, तप से सब कामनाओं के नाशयुक्त हो कर एकात्मता के ज्ञान को प्राप्त करते हैं ॥ २५-२८ ॥ जो जन्मान्तर के अभ्यास से सब कामनाओं को निवृत्त कर चुके हैं, सो प्रथम ब्रह्मचर्यावस्था में ही संन्यास श्रवणादि के अधिकारी फिर कर्म का विचारादि नहीं करते हैं ॥२९॥ अन्तरात्मा के ज्ञानेच्छा की सिद्धि के लिये वेदाऽध्ययन यज्ञ दानादि हैं, और ब्रह्म की प्राप्ति के लिये उनका त्याग है, क्योंकि त्याग से ही एक ऋषि मोक्ष प्राप्त किये ऐसी श्रुति है ॥३०॥ इससे कर्म वा प्रजा से वा धन से जन अमृत = मुक्त नहीं होते हैं किन्तु वे एक शुद्ध बुद्धि वाले त्याग से अमृतत्व को प्राप्त किये ॥ ३१ ॥ शंका है, कि-अप्राप्तरूप वाली होने से अभ्युदय = स्वर्ग के समान मुक्ति भी

मैवं साध्याप्यसौ मुक्तिः स्वर्गवन्नैव जन्यते ।
किन्त्वभिव्यज्यते बोधात्प्रदीपेन घटो यथा ॥३३॥
तमोमात्रान्तरायत्वात्तमसो विद्यया हतेः ।
व्यज्यमानैव सा साध्येत्युपचारात्प्रयुज्यते ॥३४॥

वृहदा० वार्त्तिकसा० ॥

इति षष्ठं विदेहमुक्तिप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ ज्ञानप्रतिबन्धस्तन्निवृत्तिश्च ॥ ७ ॥

ज्ञानस्य प्रतिबन्धे हि तदभावाय चिन्तयेत् ।
तत्सत्त्वे न भवेज्ज्ञानं न च मोक्षः कथञ्चन ॥१॥

तत्र च—

कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहो दम्भस्तथैव च ।
आलस्यमपि मात्सर्यं ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥२॥
धर्माधर्मेश्वरास्तित्वे सन्देहश्च तथैव च ।
तेषामभावबुद्धिश्च ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥३॥
वामपाशुपतादीनामश्रौतानां परिग्रहः ।
पाञ्चरात्राश्रयश्चापि ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥४॥
पुत्रमित्रगृहक्षेत्रभ्रातृबन्धुजने रतिः ।
अरतिं गुरुपादे च ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥५॥
अक्षद्यूतविनोदश्च नृत्यगीतेषु मोहनम् ।
अपशब्दप्रयोगश्च ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥६॥

इत्यादि ॥ सूतसं० मुक्तिखं० अ० ६ ॥

सम्पन्मदे प्रमत्तश्च विषयान्धश्च विह्वलः ।
महाकामी साहसिकः सत्त्वमार्गं न पश्यति ॥७॥
द्विविधो विषयान्धश्च राजसस्तामसः स्मृतः ।
अशास्त्रज्ञस्तामसश्च शास्त्रज्ञो राजसः स्मृतः ॥८॥

ब्रह्मवैवर्त्तपु० ब्रह्मखं० अ० ३६।५१-५२ ॥

कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धि बन्धपरिक्षयात् ।

कर्मादिसाध्य=जन्य है, इससे उस की सिद्धि=उत्पत्ति की इच्छा से मुक्ति का अधिकारी होता है, आत्मज्ञान की इच्छा से अधिकारी नहीं होता है ? ॥ ३२ ॥ उत्तर है, कि—साध्य होते भी यह मुक्ति स्वर्ग के समान उत्पन्न नहीं होती है, किन्तु जैसे प्रदीप से वर्तमान ही घट व्यक्त होता है, तैसे ही मुक्ति भी ज्ञान से अभिव्यक्त होती है, क्योंकि आत्मा नित्य मुक्त स्वरूप है, भ्रम से बन्धन है ॥ ३३ ॥ मुक्ति में तम = अज्ञान मात्र अन्तराय = व्यवधान है, विद्या से तम के नाश होने से व्यक्त हुई वह मुक्ति उपचार = सादृश्य गौणी वृत्ति से साध्य कही जाती है ॥ ३४ ॥ छठवाँ विदेह मुक्ति प्रकरण समाप्त ॥

अथ ज्ञानप्रतिबन्धतन्निवृत्ति—ज्ञान का प्रतिबन्धक रहे तो उसके अभाव के लिये विचार करे, क्योंकि प्रतिबन्धक के रहते न ज्ञान होता है, न किसी प्रकार मोक्ष होता है ॥ १ ॥ तहाँ काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, आलस्य और मात्सर्य, ये सब ज्ञानों की अनुत्पत्ति=प्रतिबन्ध के कारण हैं ॥ २ ॥ तैसे ही धर्म, अधर्म, ईश्वर की सत्ता में संशय और धर्मादि के अभाव का निश्चय, ज्ञान की अनुत्पत्ति का कारण है ॥ ३ ॥ वाम पाशुपतादि श्रुतिविरुद्ध मार्गों का स्वीकार और भेदवादी पाञ्चरात्र सिद्धान्त का आश्रयण= स्वीकार अभेद ज्ञान की अनुत्पत्ति का कारण है ॥ ४ ॥ पुत्रादि में प्रेम और गुरुचरण में अप्रेम ज्ञान की अनुत्पत्ति का कारण है ॥५॥ पाशा द्वारा जुआ रूप विनोद, नृत्य गीत में मोहन=आसक्ति, अपशब्द= असत्यादिशब्द का प्रयोग=उच्चारण, ज्ञानों की अनुत्पत्ति का कारण है ॥ ६ ॥ सम्पत्ति के मद में प्रमत्त, विषयान्ध=विषयों से मोहित अविवेकी, विह्वल, महाकामी, दुःसाहसिक=विना विचार प्रवृत्ति वाला, सत्त्व = अबाध्य मार्ग को नहीं देखता है ॥ ७ ॥ विषयान्ध राजस तामस भेद से दो प्रकार का कहा गया है, शास्त्रों के ज्ञान से रहित विषयान्ध तामस कहलाता है, और शास्त्रज्ञ राजस कहलाता है ॥८॥ वह ज्ञान किससे

असावपि च भूतो वा भावी वा वर्त्ततेऽथवा ॥९॥
प्रतिबन्धो वर्त्तमानो विषयासक्तिलक्षणः ।
प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः ॥१०॥
शमाद्यः श्रवणाद्यैश्च तत्र तत्रोचितैः क्षयम् ।
नीतेऽस्मिन् प्रतिबन्धेऽतः स्वस्य ब्रह्मत्वमश्नुते ११

पञ्चद० प्र० ६।४३-४५ ॥

नन्वविद्यानाशमात्रं दृष्टं विद्याफलं यदि ।
अधीतवेदवेदार्था मुच्येरन्नखिलास्तदा ॥१२॥
मैवं विद्योदयो नास्ति प्रतिबन्धक्षयं विना ।
अधीतवेदवेदार्थोऽप्यत एव न मुच्यते ॥१३॥
प्रतिबन्धोऽप्रस्तुतश्चेद् बोधस्योदय ऐहिकः ।
आमुष्मिकोऽन्यथेत्याह व्यासः सूत्रेण निर्णयम् १४
प्रतिबन्धक्षयो भूतो भवन् भावी त्रिधा मतः ।
वामदेवशुकादीनां भूतो गर्भेऽवबोधनात् ॥१५॥
वर्त्तमानोऽस्मदादीनां, शृण्वन्तोऽपीह जन्मनि ।
ये तत्त्वं नैव बुध्यन्ते तेषां भावीति निश्चयः॥१६॥

अधिकारपरीक्षावार्त्तिकसा० ॥

मणिमन्त्रौषधैर्वह्निः सुदीप्तोऽपि यथेन्धनम् ।
प्रदग्धुं नैव शक्तः स्यात्प्रतिबद्धस्तथैव च ॥१७॥
ज्ञानाग्निरपि सञ्जातः सुदीप्तः सुदृढोऽपि च ।
प्रदग्धुं नैव शक्तः स्यात्प्रतिबद्धस्तु कल्मषम् ॥१८॥
भावना विपरीता या या चासम्भावना शुक ! ।
कुरुते प्रतिबन्धं सा तत्त्वज्ञानस्य नापरम् ॥१९॥

इति क्वचित् ॥

विषयासक्ति-मानस्थ-मेयस्थ-संशयभ्रमाः ।
चत्वारः प्रतिबन्धाःस्यु र्ज्ञानादार्ढ्यस्य हेतवः ॥२०॥

होता है, यदि ऐसी जिज्ञासा हो, तो समझना चहिये कि प्रतिबन्धक के नाश से ज्ञान होता है, और प्रतिबन्ध भी भूत = अतीतकालिक वा भावी अथवा वर्तमान होता है ॥ ९ ॥ विषयों में आसक्तिरूप, बुद्धि की मन्दता, कुतर्क, विपर्यय = आत्म में कर्तृत्वादि ज्ञान में दुराग्रह, ज्ञान की उत्पत्ति में वर्तमान प्रतिबन्ध हैं ॥ १० ॥ तत्तत् प्रतिबन्धकों की निवृत्ति में उचित = योग्य समर्थ शमदमादि और श्रवणादि से इस प्रतिबन्धक के क्षय होने पर, इस प्रतिबन्धक के क्षय से ही अपनी आत्मा के ब्रह्मत्व को पाता है ॥ ११ ॥ यदि विद्या का फल अविद्या का नाश मात्र दृष्ट = प्रत्यक्ष फल है, तो वेद और वेदार्थ को पढ़ लेने वाले सब को मुक्त हो जाना चाहिये ? इस शंका का उत्तर है, कि–प्रतिबन्धकों के नाश के बिना अध्ययन मात्र से विद्या का उदय नहीं होता है, इसीसे वेद वेदार्थ को पढ़ने वाले भी मुक्त नहीं होते हैं ॥ १२–१३ ॥ यदि प्रतिबन्ध अप्रस्तुत = अवर्तमान रहता है, तो इस देह लोक में ज्ञान का उदय होता है, अन्यथा परलोक में होता है, यह निर्णय व्यास जी ने "ऐहिकमप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्" इस सूत्र में कहा है ॥ १४ ॥ प्रतिबन्ध का क्षय भूत, वर्तमान और भावी तीन प्रकार से माना गया है, वामदेव, शुकदेवादि को भूत प्रतिबन्धक्षय था जिससे गर्भ में ज्ञान हुआ ॥ १५ ॥ श्रवणादि से जिन को ज्ञान हुआ है तिन हम लोगों को वर्तमान प्रतिबन्धनाश है, जो इस जन्म में श्रवणादि करते हुए भी तत्त्व को नहीं समझते हैं, उन का प्रतिबन्धक्षय भावी है ॥ १६ ॥ जैसे सुदीप्त भी मणि मन्त्रादि से प्रतिबद्ध = नष्टशक्ति वाली अग्नि ईन्धन = लकड़ी को जलाने में समर्थ नहीं होती है, तैसे ही उत्पन्न सुदीप्त सुदृढ भी ज्ञानाग्नि प्रतिबन्ध होने पर अज्ञानादि रूप कल्मष = पाप जलाने के लिये समर्थ नहीं होती है ॥ १७–१८ ॥ हे शुक ! जो विपरीत भावना = भ्रमज्ञान और असंभावना = संशय होता है, सो तत्त्वज्ञान का प्रतिबन्ध निरोध साक्षात् करता है, अन्य नहीं ॥ १९ ॥ विषयों में आसक्ति से मान = उपनिषदादि विषयक प्रामाण्यादि का संशय और भ्रम, तथा मेय = अभिन्नात्मा विषयक संशय और भ्रम ये चारो ज्ञान के अदृढता के हेतु रूप प्रतिबन्धक हैं ॥ २० ॥

आद्यस्य विनिवृत्तिः स्याद्वैराग्यादि चतुष्टयात् ।
श्रवणेन द्वितीयस्य मननात्तार्त्तीयस्य च ॥२१॥
ध्यानेन तु चतुर्थस्य विनिवृत्तिर्भवेद् ध्रुवम् ।
पूर्वपूर्वानिवृत्त्या नैवोत्तरोत्तरनाशनम् ॥२२॥
विषयासक्तिनाशेन विना नो श्रवणं भवेत् ।
ताभ्यां विना न मननं न ध्यानं तैं विंना भवेत्॥२३॥
स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात् ।
साधनं प्रभवेत्पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम् ॥२४॥
तत्सिद्धावुपसन्नः सन् गुरुं ब्रह्मविदुत्तमम् ।
ज्ञानोत्पत्त्यै महावाक्यश्रुतिं कुर्याद्धि तन्मुखात् २५
तत्सिद्धौ द्वापरभ्रान्तिप्रहाणाय मुमुक्षुभिः ।
श्रवणं मननं ध्यानमनुष्ठेयं फलावधि ॥२६॥
श्रवणस्य प्रसिद्धयैव भवतोऽन्त्ये तथा मति ।
द्वयो मूलं तु श्रवणं कर्त्तव्यं तद्धि धीधनैः ॥२७॥
इत्याद्यभियुक्ताः ॥

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। यथाऽप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके॥२८॥कठोप०अ०२।६।६॥

पुण्यात्मा क्रोधरहितो जन्तौ जन्तौ क्षणे क्षणे ।
आत्मनश्चिन्तया युक्तो रागद्वेषविवर्जितः ॥
अहं ब्रह्मेति विज्ञानादात्मानमवलोकयेत् ॥२९॥
आत्मप्रबोधतो यस्माद्धन्त्यविद्यामयं पुमान् ।
तस्माद्धंस इति प्रोक्तः पण्डितैर्वेदवादिभिः ॥३०॥
यथा विशुद्ध आदर्शे विस्पष्टं दृश्यते मुखम् ।
अधिकारिशरीरेऽस्मिन् बुद्धावात्मा तथैव हि॥३१॥
स्वप्ने यथा न विशदं स्वस्य रूपं प्रतीयते ।
पितृलोके तथैवात्मा भोगासक्त्या न गम्यते॥३२॥

विषयासक्ति की निवृत्ति विवेक वैराग्यादि चारो साधन से होती है, श्रवण से मानस्थ संशय की निवृत्ति होती है, मनन से मेयस्थ संशय की निवृत्ति होती है, ध्यान से भ्रम की निवृत्ति अवश्य होती है, पूर्व पूर्व की निवृत्ति के विना उत्तर २ का नाश नहीं होता है ॥२१-२२॥ विषयासक्ति के नाश के विना श्रवण नहीं होता है, उन दोनों के विना मनन नहीं होता है, और तीनों के विना ध्यान नहीं हो सकता है ॥ २३ ॥ अपने वर्णाश्रम के धर्म रूप तप से हरि के तोषण=प्रसन्नता तुष्टि से पुरुष को वैराग्यादि चारो साधन होते हैं ॥ २४ ॥ उन साधनों के सिद्ध होने पर ब्रह्म वेत्ता उत्तम गुरु के पास में प्राप्त होकर, ज्ञान की उत्पत्ति के लिये उस गुरु के मुख से महावाक्यों का श्रवण करे ॥ २५ ॥ उस वाक्य के श्रवण की सिद्धि होने पर द्वापर=संशय की निवृत्ति के लिये मुमुक्षुओं को अपरोक्ष अनुभव रूप फल की सिद्धि पर्यन्त तात्पर्य का निश्चयादि रूप श्रवण और युक्ति से विचार रूप मनन तथा ध्यान अनुष्ठेय=कर्तव्य है ॥ २६ ॥ श्रवण की प्रसिद्धि=प्राप्ति से ही अन्त्य के मनन ध्यान होते हैं, ऐसा होने से दोनों का कारण श्रवण है, सो बुद्धिधन वालों से कर्तव्य है ॥ २७ ॥ जैसे आदर्श=दर्पण में मुख दीखता है तैसे यहाँ अधिकारी के आत्मा = अन्तःकरण में आत्मानुभव होता है, स्वप्न के समान भोगयुक्त पितृलोक में कुछ विपरीत ज्ञान होता है, और जैसे जल में 'परिददृशे इव'=उलटे के समान दीखता है, तैसे गन्धर्व लोक में आत्मज्ञान होता है, विविक्त छाया आतप के समान ब्रह्मलोक में विविक्त ज्ञान होता है ॥ २८ ॥ पुण्यात्मा, सब प्राणी में क्रोध रहित, क्षण २ में आत्मचिन्तन युक्त, राग द्वेष रहित पुरुष 'अहं ब्रह्म' इस विज्ञान से आत्मा को समझता है ॥ २९ ॥ और यतः यह पुरुष आत्म ज्ञान से अविद्या का हनन = नाश करता है, अतः वेदवादी पण्डितों से हंस ऐसा कहा गया है ॥ ३० ॥ जैसे विशुद्ध दर्पण में साफ मुख दीखता है, तैसे इस अधिकारी के शरीर में, बुद्धि में आत्मा दीखता है ॥ ३१ ॥ स्वप्न में जैसे अपना रूप विशद नहीं भासता है, तैसे ही पितृलोक में भोग विषयक आसक्ति से आत्मा विशद नहीं ज्ञात होता है ॥ ३२ ॥

अप्सु यद्वच्चलास्वत्र वैपरीत्या प्रतीयते ।
मुखं गन्धर्वलोकेऽपि तथैवात्मा प्रतीयते ॥३३॥
गन्धर्वलोक आत्माऽयं भोगासक्तेन चेतसा ।
प्रतीतोऽपि करोत्येष नाविद्याया विनाशनम् ॥३४॥
ब्रह्मलोकेऽतिविशदमात्मा जन्तोः प्रतीयते ।
यद्यप्यत्र तथाप्येष दुष्प्रापः प्राणिभिः सदा ॥३५॥
अस्मिन्नेव ततो देहे स्वाधीने सुलभे सति ।
आत्मनोऽनुभवः साक्षात्सम्पाद्यः सुखमिच्छता ३६
योगमेकं विहायाऽयमानन्दात्मा महेश्वरः ।
नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ॥
अवाङ्मनसगम्यं यत् सर्वतोऽपि विलक्षणम् ॥३७॥
आत्मपु० अ० ६।४१६-६०२-६६६। इत्यादि ॥
यद्यप्यत्र भवेद् ब्रह्मविद्या लोकान्तरेऽपि च ।
तथापि पाक्षिकी तत्र राजन्नत्र सुनिश्चितम् ॥३८॥
हस्तस्थितं महापिण्डं दधियुक्तोदनस्य तम् ।
परित्यज्य करं लेढि तृप्तिकामो यथाज्ञधीः ॥३९॥
तथैव मानुषे देहे हित्वा ब्रह्मात्मबोधनम् ।
लोकान्तरे य इच्छेत्स विज्ञेयो बालिशः पुमान्॥४०॥
आत्मपु० अ० ६।१४०५। इत्यादि ॥
विचारे सति यत्रात्मा चेदज्ञातोऽवगम्यते ।
केनापि प्रतिबद्धोऽसौ तत्रेति परिकल्प्यते ॥४१॥
विचारः प्रतिबन्धान्तेऽवश्यं ज्ञानं प्रसूयते ।
सामग्र्यप्रतिबद्धा हि न कार्याय विलम्बते ॥४२॥
एवं विचारतो ज्ञानं तेनैवाज्ञानहानतः ।
बन्धनाशो विमुक्तिः स्यादित्यात्मा सार्थनिर्णयः ४३
अतो बन्धविनाशार्थविशेषप्रतिपत्तये ।
सामान्यतः प्रसिद्धोऽपि विचार्योऽस्ति विशेषतः ४४

जैसे यहाँ चञ्चल जल में विपरीत रूप से मुख भासता है, गन्धर्व लोक में भी वैसे ही आत्मा प्रतीत होता है ॥३३॥ गन्धर्वलोक में यह आत्मा भोग में आसक्त चित्त से ज्ञात होता हुआ भी यह अविद्या का विनाश नहीं करता है ॥ ३४ ॥ यद्यपि ब्रह्मलोक में प्राणी का आत्मा अति विशद प्रतीत होता है, तो भी यहाँ यह ब्रह्मलोक, प्राणियों से सदा दुष्प्राप=कष्टसाध्य है, तिससे स्वाधीन सुलभ इसी मनुष्य देह के रहते सुखेच्छु से साक्षात्कार रूप आत्मानुभव सम्पाद्य=साधनीय है ॥ ३५-३६ ॥ यह आनन्द स्वरूप महेश्वर=आत्मा एक योग=चित्तैकाग्रता युक्त ज्ञान के बिना वाक् , मन और चक्षु से प्राप्ति के योग्य नहीं है, जिससे वाक् मन से प्राप्ति के अयोग्य और सब विषयों से विलक्षण जो ब्रह्म सोई वह महेश्वर है ॥ ३७ ॥ हे राजन् ! यद्यपि आत्मज्ञान यहाँ और लोकान्तर में भी होता है, तो भी लोकान्तर का ज्ञान पाक्षिक=सन्दिग्ध है, होगा की नहीं यह यहाँ निश्चय नहीं है, और यहाँ जिस को ज्ञान हुआ उस को निश्चित है ॥ ३८ ॥ जैसे कोई तृप्तिकी इच्छा वाला अज्ञ बुद्धि वाला, दधि सहित भात के हाथ में स्थित उस महापिण्ड=कवल को त्याग कर हाथ चाटता है, तैसा ही वह अज्ञ पुरुष समझा जाता है, कि-जो मानव देह में ब्रह्म स्वरूप आत्मा के ज्ञान को त्याग कर लोकान्तर=अन्य लोक में ज्ञान चाहता है ॥ ३९-४० ॥ विचार के होते हुए भी यदि आत्मा अज्ञात प्रतीत होता हो, तो वह आत्मबोध किसी से प्रतिबद्ध=निरुद्ध है, ऐसी कल्पना होती है ॥ ४१ ॥ क्योंकि प्रतिबन्ध के अन्त में विचार अवश्य ज्ञान को उत्पन्न करता है, यतः अप्रतिबद्ध=प्रतिबन्धक रहित किसी भी कार्य की सामग्री=(साधन समूह) कार्य के लिये विलम्ब नहीं करती है ॥ ४२ ॥ इस प्रकार प्रतिबन्ध रहित विचार से ज्ञान होता है, और उस ज्ञान से ही अज्ञान की निवृत्ति से बन्ध के नाश रूप विमुक्ति होती है, इससे सार्थक निर्णय=विवेक अनुभव वाला आत्मा है ॥ ४३ ॥ इसीसे बन्ध के विनाश रूप प्रयोजन वाले जो आत्मा की विशेष=सच्चिदानन्दादि रूप से प्रतिपत्ति=ज्ञान उस के लिये अहमादि सामान्य रूप से प्रसिद्ध=ज्ञात भी आत्मा विशेष स्वरूप से

बन्धो वष्टि स्वनाशार्थं साक्षात्कारमिहात्मनः ।
यतोऽपरोक्षबन्धस्य नाशिका न परोक्षधीः ॥४५॥
विचारबि० ॥
नष्टात्मस्थितयो भोगवह्निषु प्रज्वलन्त्यलम् ।
देवा दिवि दवेनाद्रौ दह्यमाना द्रुमा इव ॥४६॥
विद्याधरास्तु विद्यानामाधारत्वेन मोहिताः ।
स्फुरितानामुदाराणामपि कुर्वन्ति नादरम् ॥४७॥
योगवासिष्ठप्र० ६-२।६७।२९।३० ॥
अभ्यासात्साधुशास्त्राणां करणात्पुण्यकर्मणाम् ।
जन्तो र्यथावदेवेयं वस्तुदृष्टिः प्रसीदति ॥४८॥
प्रकाशयति भा भानो यैव तूलतृणादिकम् ।
सा सूर्यकान्तसङ्क्रान्ता तद्दहन्त्युपलभ्यते ॥४९॥
तथात्मा सर्वभासात्मा नित्यज्ञानवपु र्महान् ।
बोधवृत्तिस्थितः सर्वं हन्ति मोहादिकं जगत् ॥५०॥
योगवासि० ॥
न प्रीति र्विषयेष्वस्ति प्रेयानात्मेति जानताम् ।
कुतो रागः कुतो द्वेषः प्रतिकूलमपश्यतः ॥५१॥
इति सप्तमं ज्ञानप्रतिबन्धतन्निवृत्तिप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथाविद्यानिवृत्तिश्चित्तपूर्त्तिश्च ॥ ८ ॥

अविद्याया निवृत्तौ च चित्तपूर्त्तौ च यो जनः ।
यत्नं करोति तस्यात्र मानुष्यं शोभतेतराम् ॥१॥
तत्र च—
अर्द्धं मिथः सङ्कथया भागः शास्त्रविचारणैः ।
आत्मप्रत्ययतः शिष्टमविद्याया निवर्त्तते ॥२॥
सुजनेन विरक्तेन संसारोत्तरणार्थिना ।
सह चाप्यात्मविदुषा संसृतिं प्रविचारयेत् ॥३॥
यतः कुतश्चिदन्विष्य सविरागममत्सरम् ।
जनं सज्जनमात्मज्ञं यत्नेनाराधयेद् बुधः ॥४॥

विचार के योग्य है ॥ ४४ ॥ जन्मादि के भ्रमादि रूप बन्ध अपने नाश के लिये यहाँ आत्मा के साक्षात्कार=अपरोक्ष ज्ञान को चाहता है, जिसमें अपरोक्ष बन्ध का नाशक परोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता है ॥ ४५ ॥ भोगादि से नष्ट हो गई है आत्मा में स्थिति=ब्रह्मनिष्ठा जिन की ऐसे जो देव हैं वे भी स्वर्ग में भोगरूप अग्नियों में इस प्रकार अत्यन्त जलते हैं, कि जैसे पर्वत पर दावानल में वृक्ष जलते हैं ॥ ४६ ॥ विद्याधर लोग तो विद्याओं की आधारता से मोहित=गर्वित होते हुए, स्फुरित=प्रकाशित ज्ञानी उदारों=महानों का भी आदर नहीं करते हैं ॥ ४७ ॥ साधु शास्त्रों के अभ्यास और पुण्य कर्मों के अनुष्ठान से प्राणियों को यह वस्तुदृष्टि=(आत्मज्ञान) यथावत्=यथार्थ-सत्य प्रकट होती है ॥४८॥ जैसे जो सूर्य की भा=भास् प्रभा तृण कपासादि को प्रकाशती है, वही प्रभा सूर्यकान्त में प्रविष्ट हो कर उस तृण तूलादि को जलाती हुई, देखी जाती है ॥ ४९ ॥ वैसे ही सब के भासक=प्रकाशक स्वरूप वाला नित्यज्ञान स्वरूप विभु आत्मा भी ज्ञानाकार चित्तवृत्ति में स्थिर व्यक्त हो कर मोहादि रूप जगत् को नष्ट करता है ॥ ५० ॥ अत्यन्त प्रिय आत्मा है, इस प्रकार जानने वालों को सच्ची प्रीति विषयों में नहीं होती है और एक सत्यात्मज्ञान से भेद में मिथ्यात्व बुद्धि से सब्बे प्रतिकूल=विरोधी को नहीं देखने वाले को राग और द्वेष किससे हो सकता है ? ॥ ५१ ॥ सातवाँ ज्ञान प्रतिबन्धतन्निवृत्ति प्रकरण समाप्त ॥

अथ अविद्यानिवृत्ति और चित्तपूर्त्ति—जो मनुष्य अविद्या की निवृत्ति और चित्त की पूर्त्ति=तृप्ति में यत्न करता है, उसी की मनुष्यता इस संसार में शोभती है ॥ १ ॥ तिस में भी अविद्या का आधा भाग विद्वानों के साथ सङ्कथन से नष्ट होता है, एक चौथा भाग शास्त्रों के विचारों से नष्ट होता है, आत्मानुभव से अवशिष्ट भाग निवृत्त होता है ॥ २ ॥ संसार से तरने की इच्छा वाले विरक्त सुजन के साथ और आत्मज्ञानी के साथ संसृति का विचारे ॥ ३ ॥ विराग सहित मत्सर रहित आत्मज्ञानी सज्जन को जिस

कौटस्थ्यं सत्यमित्युक्तं तद्गुणं ज्ञानमुच्यते ।
स्वतो बोधस्य कौटस्थ्ये ज्ञातुरानन्त्यमेकता ॥२७॥
सत्यलक्ष्यार्थज्ञानोत्थाऽसत्याद्यर्थनिषेधधीः ।
वर्त्मनैवाप्तमाप्नोति केवलाज्ञानहानतः ॥२८॥
एवं ज्ञातं विजानाति विमुक्तश्च विमुच्यते ।
विनिवर्त्तते निवृत्तश्च त्रिर्वः शपथयाम्यहम् ॥२९॥
सत्याद्यर्थविरुद्धेभ्यः सम्यग् व्यावृत्तधीर्यतिः ।
धियः प्रत्यक् प्रविश्याथ सत्यात्मानं प्रपश्यति ३०
अविद्याहेतवः कामाः काममूलाः प्रवृत्तयः ।
धर्माधर्मौ च तन्मूलौ देहोऽनर्थाश्रयस्ततः ॥३१॥
अतोऽविद्यानिरोधे स्यान्निरोधो विदुषः सदा ।
निःशेषकर्महेतूनां विकाराणां तदैव तु ॥३२॥
अनात्मेतीह यद्भाति तदविद्याविजृम्भितम् ।
तस्मादविद्या साप्युक्ता विद्या त्वात्मैकरूपिणी ३३

आत्माऽग्रहाऽतिरेकेण तस्या रूपं न विद्यते ।
अमित्रवदविद्येति सत्येवं घटते सदा ॥३४॥
तै० ब्रह्मवल्ली वार्त्तिक० अ० १ ॥
रसः सारोऽमृतं ब्रह्म आनन्दो ह्लाद उच्यते ।
निःसारं तेन सारेण सारवल्लक्ष्यते जगत् ॥३५॥
अहो बलमविद्याया अतिशेते न कश्चन ।
अग्न्यादिभयहेतो र्या ब्रह्मणोऽपि भयङ्करी ॥३६॥
निर्भयो भयकृद्देव ईश्वराणामपीश्वरः ।
भयं तस्यापि जनयेन्नाज्ञानस्यास्त्यगोचरः ॥३७॥
निषिद्धदृश्यत्वाद्येकमभयं मोहनिह्नवात् ।
यत्तस्यैव भयं तत्स्यादविद्यावशवर्त्तिनः ॥३८॥
अपि बालाग्रमात्रेण विदुषः प्रत्यगात्मनः ।
भिन्नं ब्रह्मेति सम्मोहादात्मैवास्य भयं भवेत् ॥३९॥

'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि श्रुति में कूटस्थता सत्य इस शब्द से कही गई है और वह सत्य गुण= विशेषण वाला ज्ञान सत्य स्वरूप कहा जाता है, इस प्रकार ज्ञान को स्वतः कूटस्थता होने पर ज्ञाता साक्षी को देश कालादि कृत अन्त रहितता रूप एकता सिद्ध होती है ॥ २७ ॥ सत्यादि पद के लक्ष्याऽर्थ के ज्ञान से उत्पन्न जो असत्यादि अर्थ के निषेध का ज्ञान होता है, उस के द्वारा केवल अज्ञान की निवृत्ति से प्राप्त ही ब्रह्मात्मा को प्राप्त करता है ॥ २८ ॥ प्राप्त की प्राप्ति के समान ज्ञात को जानता है, विमुक्त ही मुक्त होता है । 'एकमेवाद्वितीयम्' इसके अनुसार मैं तीन वार आप को सत्य ही कहता हूँ ॥२९॥ सत्यादि अर्थ=आत्मा से विरुद्ध अर्थों से सम्यग् निवृत्त बुद्धि वाला यति बुद्धि के अन्दर विवेक से पैंठ कर फिर सत्याऽऽत्मा को देखता है ॥३०॥ अविद्या रूप हेतु वाले काम होते हैं, काममूलक प्रवृत्ति होती हैं, प्रवृत्ति मूलक धर्माधर्म होते हैं, तिस धर्माधर्म से अनर्थों दुःखों का आश्रयरूप देह होती है ॥३१॥ इससे ज्ञान द्वारा अविद्या की निवृत्ति से तत्काल में ही विद्वान् के सब कर्म के हेतु और विकारों का निरोध=नाश सदा होता है ॥३२॥ यहाँ जो अनात्मा प्रतीत होता है, सो अविद्या का कार्य है, तिससे सो भी अविद्या कहा गया है, विद्या=ज्ञान स्वरूप तो आत्मा ही है ॥३३॥ आत्मा के अग्रह=आवरण से भिन्न प्रागभावादि रूप तिस अविद्या को स्वरूप नहीं है, इस प्रकार होने पर अमित्र अधर्मादि के समान विद्या से अन्य वा विरुद्ध अविद्या सदा सिद्ध होती है ॥३४॥ ब्रह्म रस=स्वादु, प्रिय, सार, अविनाशी, स्थिर, अत एव अमृत, आनन्दाह्लाद कहा जाता है, तिसी सार से निःसार जगत् सार तुल्य भासता है ॥३५॥ आश्चर्य रूप अविद्या का बल है, उस का उल्लङ्घन कोई नहीं करता है, अग्नि आदि देव को भय करने वाला जो ब्रह्म=ईश्वर है, उसको भी वह भय करने वाली है ॥३६॥ जो देव निर्भय और अन्य को भय कारक ईश्वरों का ईश्वर है, उस को भी अज्ञान भय कर सकता है, अज्ञान का अविषय कुछ नहीं है ॥ ३७ ॥ मोह की निवृत्ति से जो दृश्यत्वादि रहित एक अभय भासता है, अविद्या के वशवर्ती उसी को वह अविद्या मोह भय रूप होती है ॥ ३८ ॥ अन्तरात्मा से बाल के अग्रमात्र भी भिन्न

व्युत्थाय वेद्याद्विद्याया वेत्तुश्चाज्ञानकल्पितात् ।
तदन्येभ्यश्च जानीयादहं ब्रह्मेति वाक्यतः ॥४०॥
यथोक्तबोधविरहादीश्वराणामपीश्वराः ।
प्रतीचो ब्रह्मणो भीताः स्वकर्माणि प्रकुर्वते ॥४१॥
तै॰ ब्रह्मवल्ली वार्त्तिक खं॰ ७ ॥
प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयो निश्चितिस्तथा ।
यत्सान्निध्यात्प्रसिद्ध्यन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्ष्यते ४२
अज्ञानमन्यथा ज्ञानं संशयज्ञानमेव च ।
घटादावेव तद् दृष्टं न ज्ञातृज्ञानसाक्षिषु ॥४३॥
भयं हेतु द्वयं यस्मात्तच्चाविद्या समुद्भवम् ।
प्लुष्टायां विद्यया तस्यां न कुतश्चन भी र्भवेत् ४४
तै॰ ब्रह्मवल्लीवार्त्तिक॰ खं॰ ६ ॥

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तरापायादपवर्गः । न्यायदर्श॰ १।१।२॥

आत्मदेहादिविषयं विपरीतज्ञानं मिथ्याज्ञानं, रागादयो हि प्रवर्त्तना लक्षणा दोषाः, तज्जन्यप्रवृत्तिजन्यधर्माधर्मौ प्रवृत्तिशब्दार्थः, तज्जन्यजन्मना बाधनालक्षणं दुःखं भवतीत्यादि ॥४५॥

इत्यष्टममविद्यानिवृत्तिचित्तपूर्त्तिप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ विष्णुपदम् ॥ ९ ॥

अविद्याया निवृत्त्याऽथ चित्तपूर्त्या सदैव हि ।
लभ्यं विष्णुपदं यद्धि स चिदात्मा सुखात्मकः ॥१॥
यं तु ज्ञात्वा विमुच्यन्ते ये जनाः साधुवृत्तयः ।
तदिदं परमं गुह्यमेतदक्षरमुत्तमम् ॥२॥
अशब्दरसमस्पर्शमरूपं गन्धवर्जितम् ।
निर्दुःखमसुखं शुद्धं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥३॥

ब्रह्म को मोह से जानने वाले को इस का आत्मा ही भय रूप होता है ॥ ३९ ॥ इसलिये वेद्य आकाशादि, विद्या आकाशाद्याकार चित्तवृत्ति, वेत्ता साभासान्तःकरण रूप प्रमाता, इन तीनों अज्ञान कल्पितों से और उन से अन्य अवेद्य अविद्या अवेत्ता से व्युत्थाय=सत्यात्मा को पृथक् करके 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य से उस को जाने ॥ ४० ॥ यथोक्त=पूर्ववर्णित ज्ञान के अभाव से ईश्वरों के ईश्वर भी प्रत्यग् ब्रह्म से डर कर अपने कर्मों को करते हैं ॥४१॥ प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति जिस आत्मा साक्षी के सान्निध्य=समीपता मात्र से प्रसिद्ध होते हैं, उस की सिद्धि में किसी की अपेक्षा नहीं होती है ॥ ४२ ॥ अज्ञान, विपरीत ज्ञान और संशय वह घटादि में ही दृष्ट=प्रत्यक्ष है, ज्ञाताज्ञानादि के साक्षी में वह नहीं देखा गया है ॥ ४३ ॥ जिससे भय का हेतु द्वय=भेद है, सो अविद्या जन्य यतः है, अतः विद्या द्वारा तिस अविद्या के दग्ध=नष्ट होने पर किसीसे भय नहीं होता है ॥ ४४ ॥ आत्मादि के मिथ्या ज्ञान से रागादि रूप प्रवर्त्तनारूप दोष होते हैं, उससे प्रवृत्ति जन्य धर्माधर्म होते हैं, उन से जन्म होता हैं और जन्म से दुःख होता है, और आत्म ज्ञान से मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति से दोषादि की निवृत्ति पूर्वक सब दुःखों की निवृत्ति से अपवर्ग मोक्ष होता है, । इससे अविद्या की ज्ञान से निवृत्ति रूप हेतु से पूर्णतृप्ति रूप चित्तपूर्ति भी होती है, अन्यथा नहीं ॥ ४५ ॥ आठवाँ अविद्यानिवृत्ति प्रकरण समाप्त ॥

अथ विष्णु पद—अविद्या की निवृत्ति और सदा ही चित्त की पूर्त्ति से जो विष्णु पद प्राप्त करने योग्य है, सो सुख स्वरूप चेतन आत्मा है ॥ १ ॥ साधु वृत्ति वाले जो जन होते हैं, सो जिस को जान कर विमुक्त होते हैं, वही यह परम गुह्य=गुप्त विष्णु पद है, और यही उत्तम अक्षर=अविनाशी ब्रह्म है ॥ २ ॥ शब्दादि से रहित दुःख रहित, कार्य रूप सुख रहित, सुख स्वरूप शुद्ध ब्रह्म विष्णु का परम पद

अर्द्धं सज्जनसम्पर्कादविद्याया विनश्यति ।
चतुर्भागस्तु शास्त्रार्थैश्चतुर्भागः स्वयत्नतः ॥५॥
योगवा० प्र० ६-२।१२।३०-३४-३५-३७ ॥

चित्तस्य भोगै द्वौ भागौ शास्त्रेणैकं प्रपूरयेत् ।
गुरुशुश्रूषया चैकमव्युत्पन्नस्य सत्क्रमे ॥६॥

किञ्चिद् व्युत्पत्तियुक्तस्य भागं भोगैः प्रपूरयेत् ।
गुरुशुश्रूषया भागौ भागं शास्त्रार्थचिन्तया ॥७॥

व्युत्पत्तिमनुयातस्य पूरयेच्चेतसोऽन्वहम् ।
द्वौ भागौ शास्त्रवैराग्यै द्वौ ध्यानगुरुपूजया ॥८॥
योगवा० प्र० ५।२४।४५-४७ ॥

येषु येषु प्रदेशेषु मनो मज्जति बालवत् ।
तेभ्यस्तेभ्यः समाहृत्य तद्धि तत्त्वे नियोजयेत् ॥९॥

एवमभ्यागताभ्यासं मनो मत्तमतङ्गजम् ।
निबध्य सर्वभावेन परं श्रेयोऽधिगम्यते ॥१०॥
योगवा० प्र० ५।२९।५४-५५ ॥

आत्मैवैकोऽत्र द्रष्टव्यः कृत्स्नत्वान्नात्मनोऽपरः ।
अकृत्स्न एव तावत्स्यात्तदन्यो यावदीक्ष्यते ॥११॥

अज्ञानं संशयज्ञानं मिथ्याज्ञानमिति त्रिकम् ।
अज्ञानं कारणं तत्र कार्यत्वं परिशिष्टयोः ॥१२॥

कूटस्थज्ञानमात्रत्वान्न तमोऽस्य स्वभावतः ।
नाप्यागन्तु तथाऽज्ञानं हिरुक् सिद्धेरसम्भवात् १३

अदेहतोऽजरोऽमृत्युरस्वान्तोऽमोहशोकवान् ।
अबुभुक्षोऽपिपासश्च प्राणकारणवर्जनात् ॥१४॥

अहीनो हीयते योऽसौ तथाऽनागत एति यः ।
जानीयात्तमनात्मानं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ॥१५॥

किसी उपाय से हो खोज कर बुध = विद्वान् विवेकी यत्न से आराधना = सेवा पूजा करे ॥ ४ ॥ इस प्रकार सज्जन के सम्पर्क = सम्बन्ध से अविद्या का अर्द्ध भाग विनष्ट होता है, चतुर्थ भाग शास्त्रार्थों से नष्ट होता है, अवशिष्ट चतुर्थ भागों अपने यत्न से नष्ट होता है ॥ ५ ॥ सत्क्रम = सन्मार्ग के आरम्भ में अव्युत्पन्न = ज्ञान रहित चित्त के दो भागों को भोगों से, एक भाग को शास्त्र से, एक भाग को गुरु सेवा से पूर्ण करे, अर्थात् दिन के समय भाग को इस प्रकार बितावे ॥ ६ ॥ कुछ ज्ञान युक्त चित्त के एक भाग को भोगों से प्रपूर्ण करे, गुरु सेवा से दो भाग को पूर्ण करे, शास्त्रार्थ के चिन्तन = विचार से बाकी को पूर्ण करे ॥७॥ पूर्ण व्युत्पत्ति = बोध को प्राप्त चित्त के प्रतिदिन दो भागों को शास्त्र और वैराग्य से पूर्ण करे, और दो भागों को ध्यान और गुरु की पूजा से पूर्ण करे और "न जात्ववसरं दद्यात्कामादीनां मनागपि" इत्यादि शास्त्रवचन के अनुसार काम भोगादि को कभी कुछ अवसर नहीं दे ॥ ८ ॥ जिस २ प्रदेश = एकदेशी अनात्मवस्तु में बालतुल्य अज्ञ मन आसक्त होता है, उस २ से निरुद्ध कर के उस मन को तत्त्व = चिदात्मा में लगावे ॥ ९ ॥ इस प्रकार प्राप्त अभ्यास वाले मन रूप मतवाले हाथी को सर्वप्रयत्न से सर्वत्रात्मभावना से निरुद्ध शान्त कर के परंश्रेय = मोक्ष प्राप्त किया जाता है ॥ १० ॥ आत्मा के सर्वस्वरूप होने से इस आत्मा अनात्मा में आत्मा ही द्रष्टव्य = दर्शनीय है, तब तक मनुष्य अकृत्स्न = अपूर्ण परिच्छिन्न ही रहता है, कि जब तक आत्मा से अन्य उस से सत्य देखा जाता है ॥ ११ ॥ अज्ञान, संशयज्ञान, मिथ्या = विपर्यय ज्ञान, ये तीन हैं, तिन में अज्ञान कारण है, अन्य दो कार्य हैं ॥ १२ ॥ आत्मा के कूटस्थ = निर्विकार ज्ञानमात्र होने से इस आत्मा को स्वभाव से उक्त तम = अज्ञान नहीं है, न आगन्तुक ही अज्ञान आत्मा को है, क्योंकि आत्मा से हिरुक् = पृथक् अज्ञान की सिद्धि असम्भव है, आत्मभिन्न जड़ से अज्ञान का भी प्रकाश नहीं हो सकता है ॥ १३ ॥ और आत्मा अदेह = देह से भिन्न है, इस से अजर अमर है, अस्वान्त मन से भिन्न है, इस से मोह शोक रहित है, प्राण रूप कारण के अभाव से भूख पिपासा से रहित है ॥ १४ ॥ आत्मा में वस्तुतः अहीन = हानि नाश रहित, भी मिथ्या भासित

न हीयते हीयमाने आगच्छति न चैति यः ।
आगमापायसाक्षित्वादात्मा सोऽनुभवाश्रयात् ॥१६॥
दुःखादिफलदं कर्मेत्यस्मिन् पक्षे व्यवस्थिते ।
श्रुतिन्यायादिसंसिद्धे नातो विघ्नकृतः सुराः ॥१७॥
कर्मणैव स्वसिद्ध्यर्थं तेषां क्रोडीकृतत्वतः ।
नात्मानं लभते कर्म देवेशाद्यनपेक्षि सत् ॥१८॥
फलदानेऽनुलोमत्वान्नामी स्यु र्विघ्नकारिणः ।
यथा कर्म तथेशादि कर्मापेक्ष्यैव सिद्ध्यति ॥१९॥
गुणेऽप्रधानभावश्च देवकालेश्वरादिषु ।
कर्मस्वनियतो दृष्टो नान्यथा चोपपद्यते ॥२०॥
कर्मैव कारणं केचित्फलप्राप्तौ प्रचक्षते ।
दैवमेके परे कालं स्वभावमिति चापरे ॥२१॥
श्रुतयः स्मृतिवादाश्च कर्मप्राधान्यमेव तु ।
अङ्गीकृत्य प्रदृश्यन्ते प्रवृत्ताः सर्व एव हि ॥२२॥
अविद्याहानिमात्रत्वात्कैवल्याऽऽप्तिफलात्मनः ।
तत्प्राप्तेर्ज्ञानकालत्वान्नालं विघ्नाय देवताः ॥२३॥
आरब्धफलशेषैकहेतुत्वाद्देहसंस्थितेः ।
रागादिप्रत्ययोद्भूतिरिपुचक्रादिवेगवत् ॥२४॥
तस्य वृत्तफलत्वान्नो ज्ञानं स्यात्तन्निवृत्तिकृत् ।
अतीतत्वाच्च तद्धान्यै नालमात्माऽवबोधनम् ॥२५॥
बृहदा० वार्तिक० अ० १।४॥
स्वरूपमात्मनो ज्ञानं न तस्माद् व्यतिरिच्यते ।
बुद्धेः प्रत्ययकारित्वं तत्साक्षिण्युपचर्यते ॥२६॥

हो कर हीन = नष्ट होता है और जो वह अनागत = आगम रहित भ्रम से आता है, जाग्रदादि में ऐसे पदार्थों को अनात्मा समझना चाहिये ॥ १५ ॥ और तीनों अवस्था में देहादि के जाने आने में भी जो जाता आता नहीं है, उस उत्पत्तिनाशादि के साक्षी को आत्मा जानना चाहिये, वह साक्षी होने से आत्मा है, और अनुभव के आश्रय से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ॥ १६ ॥ कर्म दुःखादि रूप फलों को देने वाला है, इस पक्ष के "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति" इत्यादि श्रुति और "कर्मणा बध्यते जन्तुः" इत्यादि स्मृति से सम्यग् सिद्ध और व्यवस्थित होने पर, इसी से सिद्ध होता है, कि-कर्मकर्ता के फल की प्राप्ति में देव विघ्नकारक नहीं हैं ॥ १७ ॥ कर्म ही ने अपनी सिद्धि के लिये देवादि को भी अपने अधीन किया है, देव ईश्वरादि अपेक्षा = साहाय्य रहित जो कर्म सो आत्मलाभ नहीं करता है = सिद्ध नहीं होता है ॥ १८ ॥ फल देने में अनुलोम = अनुकूल होने से ये देवादि विघ्नकारक नहीं हैं, और जैसे कर्म ईश्वर, देव, देश, कालादि की अपेक्षा फल दान में करता है, तैसे ईश्वरादि भी कर्म की अपेक्षा लेकर ही फल दान के लिये सिद्ध समर्थ होते हैं ॥ १९ ॥ देव, काल, ईश्वरादि में जो गुण प्रधान तत्त्व है, सो भी कर्मविषयक अनियत देखा गया है, अन्यथा बन नहीं सकता है, इससे कोई प्रधान होकर कर्म विरोधी नहीं है ॥ २० ॥ यद्यपि कोई कर्म ही को फल प्राप्ति में कारण कहते हैं, कोई दैव को, कोई काल को कोई स्वभाव को कारण कहते हैं, परन्तु श्रुति, स्मृति के वचन सब तो कर्म की प्रधानता को मान करके ही प्रवृत्त हुए देखे जाते हैं ॥ २१-२२ ॥ कैवल्य = ब्रह्म की प्राप्तिरूप मुक्ति को अविद्या की निवृत्तिमात्र होने से और उस अविद्या की निवृत्ति को ज्ञान के समकाल में हो जाने से मोक्ष में विघ्न करने के लिये देवता समर्थ नहीं हैं ॥ २३ ॥ और ज्ञानी की देह की स्थिति के हेतु प्रारब्ध फल के शेष रहने से बाणचक्र के वेग तुल्य कुछ रागादिज्ञान की उत्पत्ति होती है ॥ २४ ॥ उस प्रारब्ध के सिद्ध फल वाला होने से ज्ञान उस की निवृत्ति नहीं करता है, और फल रूप से प्रारब्ध के अतीत = जात उत्पन्न होने से उस की निवृत्ति के लिये ज्ञान समर्थ नहीं है ॥ २५ ॥ आत्मा का स्वरूप ही ज्ञान है, सो ज्ञान आत्मा से पृथक् नहीं होता है, और साभास बुद्धि में वृत्ति रूप ज्ञान की कर्तृता है, सो उस के साक्षी में आरोपित होती है ॥ २६ ॥

अथ सदुपदेशः ॥ १० ॥

उपदेशं सतां श्रुत्वा त्यक्त्वा कर्म च दुष्कृतम् ।
मनः सम्यक् समाधाय ह्यसारात्सारमुद्धरेत् ॥१॥

यतः —

यतन्ते सारसम्प्राप्तौ ये यशोनिधयो धियः ।
धन्या धुरि सतां गण्यास्त एव पुरुषोत्तमाः॥२॥

योगवासि० प्र० १।३३।४४ ॥

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि ।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना ॥३॥
योऽस्मत्तातस्य कूपोऽयमिति कौपं पिबत्यपः ।
त्यक्त्वा गाङ्गं पुरस्थं तं को न शास्त्यतिरागिणम्४

योगवा० प्र० २।१८।३-४ ॥

शान्तिः श्रेयः परं विद्धि तत्प्राप्तौ यत्नवान् भव ।
भोक्तव्यमोदनं प्राप्तं किं तत्सिद्धौ विकल्पितैः॥५॥

योगवा० प्र० २।१६।४ ॥

आर्यसङ्गमयुक्त्यादौ प्रज्ञावृद्धिं नयेद् बलात् ।
ततो महापुरुषतां महापुरुषलक्षणैः ॥६॥
महापुरुषता ह्येषा शमादिगुणशालिनी ।
सम्यग् ज्ञानं विना राम! सिद्धिमेति न काञ्चन॥७॥
गुणाः शमादयो ज्ञानाच्छमादिभ्यस्तथा ज्ञता ।
परस्परं विवर्द्धन्ते ते अब्जसरसी इव ॥८॥
ज्ञानं सत्पुरुषाचाराज्ज्ञानात्सत्पुरुपक्रमः ।
परस्परं गतौ वृद्धिं ज्ञानसत्पुरुपक्रमौ ॥९॥

योगवा० प्र० २।२०।१-३-६-७ ॥

यदिदं दृश्यते सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
तत्सुषुप्ताविव स्वप्नः कल्पान्ते प्रविणश्यति ॥१०॥
ततःस्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत् किञ्चिदवशिष्यते ॥११॥

अथ सदुपदेश—सत्पुरुषों के उपदेश को सुन कर, पाप कर्मों को त्याग कर, मन को सम्यग् सावधान करके ही असार संसार देह से सार का उद्धार=विवेकादि करे ॥ १ ॥ जो 'धिय'=ध्यान कर्ता-तत्त्व चिन्ता परायण यश के निधि=आधार, सार की प्राप्ति के लिये यत्न करते हैं, तथा बुद्धि के सार=सत्य साक्षी अनुभव के लिये यत्न करते हैं, वेही धन्य = पुण्यात्मा सत्पुरुषों में 'धुरि'=अग्र गण्य हैं, और वेही पुरुषोत्तम हैं ॥ २ ॥ बालक से भी श्रुत युक्तियुक्त=न्यायादियुक्त वचन ग्राह्य है, और ब्रह्मा से भी कथित अयुक्त वचन तृण तुल्य त्याज्य है ॥ ३ ॥ युक्तायुक्त के भी ज्ञान से रहित जो अतिरागी, 'मेरे पिता का यह कूप है' इस बुद्धि से आगे स्थित गङ्गा के जल को त्याग कर कूप का जल पीता है, उस को कौन शिक्षा नहीं देता है ? ॥ ४ ॥ रागद्वेषादि की शान्ति परमश्रेय है, उस की प्राप्ति के लिये यत्न वाला हो, और भोजन योग्य प्राप्त ओदन = भात खाना चाहिये, उस की सिद्धि में विकल्पों = संशयों से क्या फल है ? अर्थात् ज्ञान से संसार की शान्ति होने पर, मिथ्या साधनों से यह कैसे हुआ इत्यादि विकल्प निरर्थक हैं ॥ ५ ॥ आदौ=प्रथम आर्य=श्रेष्ठों के सङ्ग से प्राप्त युक्ति द्वारा बुद्धि की वृद्धि को बल से प्राप्त करे, फिर महापुरुष के लक्षणों से महापुरुषता को प्राप्त करे ॥ ६ ॥ यह महापुरुषता शमादि गुण बुद्धि से शोभित होती है, हे राम ! सो कोई भी महापुरुषता सिद्धि को सम्यग् ज्ञान बिना नहीं प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥ शमादि गुण ज्ञान से और ज्ञान शमादि से परस्पर इस प्रकार बढ़ते हैं, कि जैसे कमल तालाब परस्पर शोभते हैं ॥ ८ ॥ सत्पुरुषों के आचार=सदाचार से ज्ञान होता है, और ज्ञान से सत्पुरुषों के क्रम=विधान (रीति रूप) सदाचार होता है, इस से ज्ञान और सदाचार परस्पर वृद्धि पाते हैं ॥ ९ ॥ जो यह स्थावर जंगम सब जगत् दीखता है, सो सुषुप्ति में स्वप्न के समान कल्प के अन्त में प्रविनष्ट होता है ॥१०॥ उस के बाद स्तिमित = निष्क्रिय गम्भीर = अनन्त तेज तम रहित तत =विस्तृत नाम रहित अनभिव्यक्त

ऋतमात्मा परं ब्रह्म सत्यमित्यादिका बुधैः ।
कल्पिता व्यवहारार्थं तस्य सञ्ज्ञा महात्मनः ॥१२॥
स तथा भूत एवात्मा स्वयमन्य इवोल्लसन् ।
जीवतामुपयातीव भाविनाम्ना कदर्थिताम् ॥१३॥
ततः स जीवशब्दार्थकलनाकुलतां गतः ।
मनो भवति भूतात्मा मननान्मन्थरी भवन् ॥१४॥
सतीवाप्यसती तापनद्येव लहरी चला ।
मनसेहेन्द्रजालश्री जगती प्रवितन्यते ॥१५॥
अविद्या संसृति र्बन्धो माया मोहो महत्तमः ।
कल्पितानीति नामानि यस्याः सकलवेदिभिः॥१६॥
द्रष्टु र्दृश्यस्य सत्ताङ्ग ! बन्ध इत्यभिधीयते ।
द्रष्टा दृश्यबलाद् बद्धो दृश्याभावे विमुच्यते॥१७॥
जगत्त्वमहमित्यादि मिथ्यात्मा दृश्यमुच्यते ।
यावदेतत्सम्भवति तावन्मोक्षो न विद्यते ॥१८॥
जगद्दृश्यं तु यद्यस्ति न शाम्यत्येव कस्यचित् ।
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः॥१९॥
सति त्वस्मिन् कुतो दृश्ये निर्विकल्पसमाधिता ।
समाधौ चेतनत्वं तु तुर्यं चाप्युपपद्यते ॥२०॥
व्युत्थाने हि समुत्थानात्सुषुप्तान्त इवाखिलम् ।
जगद्दुःखमिदं भाति यथास्थितमखण्डितम्॥२१॥
प्राप्तं भवति हे राम ! तत् किं नाम समाधिभिः ।
भूयोऽनर्थनिपाते हि क्षणशाम्ये हि किं सुखम्॥२२॥
तस्माद्यदिदं सद् दृश्यं तन्न शाम्येत् कदाचन ।
शाम्येत्तपोजपध्यानै र्दृश्यमित्यज्ञकल्पना ॥२३॥
योगवा० प्र० ३।१।१०-१४-१६-२०-२३। इत्यादि ॥
सच्चेन्न शाम्यति कदाचन दृश्यदुःखं,
दृश्ये त्वशाम्यति न बोद्धरि केवलत्वम् ।

कुछ सत्तत्त्व मात्र रहता है ॥ ११ ॥ तिसी महान् स्वरूप के ऋत, आत्मा, परब्रह्म, सत्य इत्यादि नाम व्यवहार के लिये विद्वानों से कल्पित हैं ॥ १२ ॥ वही वैसा ही स्वरूप वाला आत्मा स्वयं अन्य के समान =देही के समान भासता हुआ, देहोत्पत्ति के बाद होने वाला भावी नाम से कदर्थित=निन्दितार्थता रूप जीवता को मिथ्या ही प्राप्त होता है ॥ १३ ॥ फिर वह जीव शब्द के अर्थ के विचार से आकुलता = चञ्चलता को प्राप्त हो कर भूतात्मा = लिङ्गात्मा हो कर मनन = सङ्कल्प विकल्प से मन्थर=मन्द होता हुआ मन होता है। अर्थात् मन की सत्ता आत्ममात्र ही है ॥ १४ ॥ ताप = मरुमरीचि नदी की चञ्चल लहरी = तरङ्ग के समान मन से ही यहाँ जगत् सम्बन्धिनी इन्द्रजाल तुल्य श्री असती = मिथ्या भी सती = सत्य की विस्तृति की जाती है ॥१५॥ जिस श्री के अविद्या आदि नाम सकलवेत्ताओं से कल्पित हैं ॥ १६ ॥ हे अंग ! द्रष्टा को दृश्य की सत्ता बन्ध इस शब्द से कही जाती है, क्योंकि द्रष्टा दृश्य के बल से बन्धन युक्त है, दृश्य के अभाव होने पर विमुक्त होता है ॥ १७ ॥ जगत् 'त्वम्' 'अहम्' इत्यादि प्रतीति का विषय मिथ्यात्मा = मिथ्या स्वरूप दृश्य कहलाता है, जब तक यह सत्य भासता है, तब तक मोक्ष नहीं होता है ॥ १८ ॥ और जगद् रूप दृश्य यदि सत्य है, तो किसी का जन्मादि जगत् शान्त = नष्ट नहीं होगा, क्योंकि असत् का भाव = स्वतः सत्ता नहीं है, और सत् का अभाव नहीं है ॥ १९ ॥ और इस दृश्य के रहते निर्विकल्प समाधि भी कैसे हो सकती है ? क्योंकि सविकल्प समाधि में चित्त रूप दृश्य के रहने से चेतनत्व रहता है, और चित्त के अभाव से तुर्य = निर्विकल्प भी सिद्ध होता है ॥ २० ॥ और यदि जगत् सत्य हो तो हे राम ! समाधि से भी क्या प्राप्त होता है ? क्योंकि समाधि से व्युत्थान = उपरत होने पर, जगत् के भी समुत्थान = प्रकट होने से सुषुप्ति के अन्त काल के समान यह सब जगत् रूप दुःख पूर्व के समान स्थित अखण्डित भासता है, फिर अनर्थ के प्राप्त होने पर क्षणमात्र की निवृत्ति में क्या सुख है ? ॥ २१-२२ ॥ तिससे जो यह सत् दृश्य है, सो कभी निवृत्त नहीं होगा, जप तप ध्यान से दृश्य निवृत्त होगा, यह अज्ञों की कल्पना मात्र है ॥२३॥ यदि दृश्य दुःख सत्य होगा, तो कभी शान्त = निवृत्त नहीं होगा

अजं निरञ्जनं शान्तमव्यक्तं ध्रुवमक्षरम् ।
अनादिनिधनं ब्रह्म तद्विष्णोः परमं पदम् ॥४॥
विज्ञानसारथि र्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥५॥
शङ्खस्मृति० अ० ७।२८-३१ ॥

न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः
कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे ।
न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च
न वै विकारो न महान् प्रधानम् ॥ ६ ॥
परं पदं वैष्णवमामनन्ति
तद्यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः ।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा
हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे ॥ ७ ॥
श्रीमद्भा० स्क० २।२।१७-१८ ॥

परं पदं वैष्णवमामनन्ति,
तद्यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः ।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा,
हृदोपगुह्यावसितं समाहितैः ॥८॥
त एतदधिगच्छन्ति विष्णो र्यत्परमं पदम् ।
अहं ममेति दौर्जन्यं न येषां देहगेहजम् ॥९॥
श्रीमद्भा० स्क० १२।६।३२-३३ ॥

अथ तस्मात्परतस्त्रयोदशलक्षयोजनान्तरतो
यत्तद्विष्णोः परमं पदमभिवदन्ति ॥१०॥
इत्यादि॥ श्रीमद्भा.स्क. ५।२३।१॥ तस्मात्सप्तर्षिलोकादिति॥
विज्ञानसरथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥११॥
कठोप० २।३।६ ॥
ॐतद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥१२॥
ऋग्वेद० १।७।२२।२० ॥ इति, चक्षुः=सूर्यः ॥

=स्थान है ॥ ३ ॥ अज, निरञ्जन = कज्जल दोष रहित, शान्त = निरुपद्रव, अव्यक्त = गुप्त, ध्रुव = अचल, अक्षर = अपक्षय परिणाम रहित, उत्पत्ति नाश रहित जो ब्रह्म, सो विष्णु का परम पद है ॥ ४ ॥ देह रूप रथ पर स्थिर जो मनुष्य विवेकवती बुद्धि रूप सारथि वाला और इन्द्रिय रूप घोड़ों के शान्त मन रूप प्रग्रह = लगाम वाला रहता है, सो मनुष्य संसार मार्ग के पार रूप उस स्थान को पाता है, कि-जो विष्णु का परम पद है ॥ ५ ॥ अनिमिषों = देवों का पर प्रभु काल भी जिस वैष्णव पद में प्रभु नहीं है, तो जगत् का ईश्वरत्व जो देव कर चुके हैं, सो भी वहाँ प्रभु कैसे हो सकेंगे ? और जिस में सत्त्वादि गुण वा विकार = अहङ्कारादि और महान् = महत्तत्त्व प्रधान = प्रकृति भी नहीं हैं, न कुछ कर सकता है ॥ ६ ॥ यत् = जिस से 'नेति नेति' इस उपनिषद् के उपदेश द्वारा इस अनात्मा को त्यागने की इच्छा वाले अनन्य सौहृद = अन्य में सौहृद प्रेम रहित हो कर, देहादि में आत्मता रूप दुरात्मता को त्याग कर, अर्ह = पूज्य श्रीविष्णु के पद को पद पद = क्षण २ में हृदय से उपगृह्य = ग्रहण कर के तिस वैष्णव पद को पर = सर्वश्रेष्ठ कहते हैं ॥ ७ ॥ अतत् = आत्म भिन्न को त्यागने की इच्छा वाले 'नेति नेति' से अनात्मा को त्याग कर और दुरात्मा को त्याग कर अनन्य सौहृद वाले होकर समाहितों से अवसित = निश्चित हृदय से विचार ध्यानादि करके अनुभूत जिस को पर वैष्णव पद कहते हैं ॥ ८ ॥ जो विष्णु का उक्त परम पद है, उस को वे ही प्राप्त करते हैं, कि जो देह गेह जन्य अहङ्कार और ममता रूप दुर्जनता से रहित होते हैं ॥ ९ ॥ फिर उस सात ऋषियों के लोक से तेरह लाख योजन की दूरी में जो स्थान है, सो वैष्णव पद है, उस को लोकों के ज्ञाता वैष्णव परम पद कहते हैं ॥ १० ॥ उस विष्णु पद को सदा विद्वान् देखते हैं, जो विष्णु पद दिव = आकाश में चक्षु = सूर्य के समान व्याप्त है ॥ ११-१२ ॥

सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुः ॥१३॥ अथर्ववे० १३।२।४५ ॥

सूर्यो वै प्रजानां चक्षुः ॥१४॥ शतप. १३।३।८।४ ॥

ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः ।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति
य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥१५॥

ऋग्० अ० २।३।२१।३९ ॥

अविविक्तस्तु देहाद्यैरात्मा भवति वेदिता ।
विविक्तो वेदितव्यो हि धीवृत्तिर्वेदनं भवेत् ॥१६॥

अनुभूतिप्रका० अ० १३।१०२ ॥

हितं स्वर्गसुखं मर्त्त्यसुखादप्यधिकत्वतः ।
तद्वैराग्यं हिततरं यागाद्यायासवर्जनात् ॥
आत्मबोधो हिततमो नित्यानन्दानुभूतितः ॥१७॥

अनुभूतिप्र० अ० ८।५ ॥

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।
पुनर्ददताऽघ्नता जानता सङ्गमेमहि ॥१८॥

ऋग्० अ० ४।३।७।१५ ॥

भवजलधिगतानां द्वन्द्ववाताहतानां
सुतदुहितृकलत्रत्राणभारार्दितानाम् ।
विषमविषयतोये मज्जतामप्लवानां भवति
शरणमेको विष्णुपोतो नराणाम् ॥१९॥

स्कन्दपु० खं० ५।३ अ० १९३।७१ ॥

जले विष्णुः स्थले विष्णु र्विष्णुः पर्वतमस्तके ।
ज्वालामालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥२०॥

घेरण्डसं० उपदेश १०।१८ ॥

इति नवमं विष्णुपदप्रकरणं समाप्तम् ॥

सूर्य भूत का एक चक्षु है ॥ १३ ॥ सूर्य प्रजाओं का चक्षु है ॥ १४ ॥ ऋगादि वेदों के सम्बन्धी =सब वेदों से साक्षात् वा परंपरा से प्रतिपाद्य जिस परम अक्षर=अत्यन्त अविनाशी ब्रह्म व्योम =चिदाकाश में विश्व=सब देव 'अधिनिषेदु'=स्थिर हैं तथा जिस अक्षर ब्रह्म रूप परम व्योम तुल्य में ऋगादि सब वेद वाचक, बोधक, लक्ष्यकादि रूप से स्थिर हैं, जो पुरुष उस अक्षर ब्रह्म को नहीं जानता है, सो मनुष्य ऋगादि से क्या करेगा ? ज्ञान के साधन वेदों से ज्ञान की प्राप्ति विना वेदों का अध्ययन निरर्थक है; और 'य इत्'=य एव-जो ही लोग, उक्त अक्षर को वेदादि द्वारा जानते हैं, वे ही लोग सम्यग् स्थिर, मुक्त होते हैं ॥ १५ ॥ देहेन्द्रियान्तःकरणादि से अविविक्त=अध्यास आभास अधिष्ठानत्वादि द्वारा देहादि से मिलित आत्मा वेदिता=अक्षर का ज्ञाता होता है, और विविक्त= देहादि से असङ्ग वेदितव्य = ज्ञेय होता है, बुद्धि की वृत्ति वेदन = ज्ञान होता है ॥ १६ ॥ मनुष्य के सुख से अधिक होने से स्वर्ग का सुख हित है, और यागादि परिश्रम के अभाव से, यागादि साध्य स्वर्ग सुख से वैराग्य अतिशय हित है, नित्यानन्द के अनुभव होने से, उस अनुभव रहित वैराग्य से भी आत्मबोध अत्यन्त हित रूप है ॥ १७ ॥ सूर्य और चन्द्रमा के समान हम लोग स्वस्ति=पुण्य क्षेम मार्ग में चलें क्षेम से मङ्गलमय गमन करें, निरपेक्ष उपकारक हों, और फिर अभिमत इष्ट वस्तु को देने वाले अहिंसक बन्धु जनादि के साथ मिलें ॥ १८ ॥ संसार समुद्र में प्राप्त, द्वन्द्व रूप वायु से पीड़ित, पुत्र पुत्री स्त्री की रक्षा के भार से दुःखी, कठिन विषय रूप जल में डूबते हुए नौका रहित नर के लिए शरण एक विष्णु रूप पोत = (नाव) होता है ॥ १९ ॥ जल भूमि और पर्वतों के मस्तक में विष्णु हैं, ज्वाला की माला से आकुल =व्याकुल-व्यस्त-व्याप्त अग्नि आदि में भी विष्णु हैं, यह सब जगत् विष्णुमय है॥ २० ॥

नववाँ विष्णुपदप्रकरण समाप्त ॥

दृश्ये त्वसम्भवति बोद्धरि बोद्धृभावः,
शाम्येत् स्थितोऽपि हि तदस्य विमोक्षमाहुः ॥२४॥
योग वा० प्र० ३।३।४० ॥

पूर्वमिष्टमनिष्टं त्वमनिष्टं चेष्टमित्यपि ।
परिकल्प्य तदभ्यासात्ततोपि परित्यज ॥२५॥
इष्टानिष्टदृशोस्त्यागे समतोदेति शाश्वती ।
तया हृदयवर्त्तिन्या पुनर्जन्तु र्न जायते ॥२६॥
योगवा० प्र० ५।२६।५२-५३ ॥ प्रश्नः —

कपालमालाभरणो भस्मशाली दिगम्बरः ।
श्मशाननिलयो ब्रह्मन् कामुकश्च किमीश्वरः॥२७॥
उत्तरम् —

महेश्वराणां सिद्धानां जीवन्मुक्तशरीरिणाम् ।
न क्रियानियमोऽस्तीह स ह्यज्ञस्यैव कल्पितः॥२८॥
अज्ञस्तु दितचित्तत्वात् क्रियानियमनं विना ।
गच्छन् न्यायेन मात्स्येन परं दुःखं प्रयाति हि २९

सुज्ञास्त्विष्टेष्वनिष्टेषु न निमज्जन्ति वस्तुषु ।
यतेन्द्रियत्वाद् बुद्धत्वान्निर्वासनतया तथा ॥३०॥
काकतालीयवद्रूढां क्रियां कुर्वन्ति ते सदा ।
न कुर्वन्त्यपि वै किञ्चिन्नैषां क्वचिदपि ग्रहः ॥३१॥
काकतालीयतो विष्णुरेवं कर्मोदितः पुरा ।
एवं कर्मा त्रिनयन एवं कर्माम्बुजोद्भवः ॥३२॥
न निन्द्यमस्ति नानिन्द्यं नोपादेयं न हेयता ।
नचात्मीयं न च परं कर्म ज्ञविषयं क्वचित् ॥३३॥
योगवा० प्र० ६।६६।७-१३ ॥

रात्रिं द्वादशवर्षाणि हरिश्चन्द्रोऽनुभूतवान् ।
लवणो भुक्तवानायुरेकरात्र्या समाः शतम् ॥३४॥
यन्मुहूर्त्तः प्रजेशस्य स मनो जीवितं मुनेः ! ।
जीवितं यद्विरिश्चस्य तद्दिनं किल चक्रिणः ॥३५॥

और दृश्य के शान्त नहीं होने पर पर बोधात्मा में केवलत्व = शुद्धत्व मुक्तस्वरूप नहीं हो सकता है, और दृश्य के असम्भव = मिथ्या होने पर तो बोधात्मा में मिथ्या स्थिर भी बोद्धृता शान्त हो जाती है, सोई इस का केवलत्व है जिस को विमोक्ष कहते हैं ॥२४॥ प्रथम तुम इष्ट=प्रिय विषयोपभोगादि को अनिष्ट=दुःखद और अनिष्ट=तपोध्यानाभ्यासादि को इष्ट मान कर, और ज्ञान के भूमिकाओं तक उस कल्पना का अभ्यास करके फिर उस को भी त्यागो ॥२५॥ क्योंकि इष्ट अनिष्ट की दृष्टि को त्यागने पर शाश्वती = नित्या शान्ति प्रकट होती है, हृदयवर्ती उस शान्ति से प्राणी फिर नहीं जन्म लेता है ॥ २६ ॥ ईश्वर = सर्वशक्ति सम्पन्न भी महादेव हे भगवन् ! कपाल की माला रूप भूषण वाले, भस्म से शोभित, दिगम्बर, श्मशान रूप निलय =गृह आश्रय वाले कामुक = अतिकामी क्यों हुए ? यह प्रश्न है ॥ २७ ॥ उत्तर है, कि-महेश्वर सिद्ध, जीवन्मुक्त देही को क्रिया के नियम नहीं हैं, यह नियम अज्ञ ही को यहाँ कल्पित है ॥ २८ ॥ अज्ञ मनुष्य रागद्वेषलोभादि दोषों से 'दितचित्त'=खण्डित चित्तवाले होने से क्रिया के नियमों के बिना मात्स्य न्याय= दुर्बल स्वपर जाति के ग्रसन से गमन = व्यवहार करता हुआ अत्यन्त दुःख पाता है ॥ २९ ॥ सम्यग् ज्ञानी तो संयतेन्द्रिय वाले, विद्वान्, वासना रहित होने से इष्ट अनिष्ट वस्तुओं में आसक्त नहीं होते हैं ॥३०॥ इससे वे लोग काकतालीय न्याय के समान प्रारब्धानुसार प्राप्त=प्रकट क्रिया को सदा करते हैं, वा कुछ भी नहीं करते हैं, क्योंकि इन को कहीं भी आग्रह आसक्ति नहीं है ॥३१॥ काकतालीय न्याय से विष्णु एवं कर्मा =मनुष्यादि के जन्म कर्म वाले प्रथम प्रकट हुए। मनुष्यादि के कर्म वाले त्रिनयन=शिव हुए, तथा ब्रह्मा हुए ॥३२॥ न उनका कर्म निन्दा योग्य है, न अनिन्दनीय है, न उपादेय है, न उनमें किसी की हेयता है, न उनका कोई कर्म अपना है, न अन्य का है, कहीं ज्ञविषय = ज्ञानी को बन्धप्रद कर्म नहीं हैं ॥३३॥ हे राम ! स्वप्न के समान संसार है, इससे हरिश्चन्द्र ने एक रात्रि को बारह वर्ष समझा, लवण राजा ने एक रात्रि से सौ वर्ष की आयु को भोगा ॥ ३४ ॥ 'मुनेः ! प्रजेशस्य' = मननशील ब्रह्मा का जो मुहूर्त काल है, सो मनु मुनि का

विष्णो र्यज्जीवितं राम ! तद्वृषाङ्कस्य वासरः ।
ध्यानप्रक्षीणचित्तस्य न दिनानि न रात्रयः ॥३६॥
योगवा० प्र० ३।६०।२४-२६ ॥

यदि कश्चिद् द्वितीयः स्यात्तदैकस्यैकता भवेत् ।
द्वैतैक्ययो र्मिथः सिद्धिरातपच्छाययोरिव ॥३७॥

यत्र नास्ति द्वितीयो हि तत्रैकस्यैकता कथम् ।
एकतायामसिद्धायां द्वयमेव न विद्यते ॥३८॥

यथा द्रवत्वं पयसः स्पन्दनं मातरिश्वनः ।
व्योम्नः शून्यत्वमेवं हि न पृथग् द्वैतमीश्वरात् ३९

द्वैताद्वैतोपलम्भो हि दुःखायैव क्रियात्मने ।
निपुणोऽनुपलम्भो यस्त्वेतयोस्तत्परं विदुः ॥४०॥
योगवा० प्र० ३।८१।८३-८४-८८-८६ ॥

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानोऽपि तत्तथा ।
योऽभिवाञ्छत्यसद्राम ! तस्यासत्तैव दृश्यते ॥४१॥

आदावन्ते च यत्सत्यं वर्तमाने सदेव तत् ।
यस्य सर्वं सदेव स्यात्तस्य सत्तैव दृश्यते ॥४२॥
योगवा० प्र० ४।४५।४५-४६ ॥

विप्रा गावश्च वेदाश्च तपः सत्यं दमः शमः ।
श्रद्धा दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरेस्तनुः ॥४३॥

आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च ।
हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः ॥४४॥
श्रीमद्भा० स्क० १०।४।४१-४६ ॥

धर्म व्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम् ।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥४५॥

नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।
विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥४६॥

जीवन =(पूर्ण आयु) है, जो ब्रह्मा का जीवन है, सो विष्णु का एक दिन है ॥३५॥ जो विष्णु का जीवन है, सो शिव का दिवस है, ध्यानादि से नष्ट चित्त वाले के लिये दिन रात्रि कुछ नहीं हैं ॥ ३६ ॥ सर्वात्मा होने से आत्मा में द्वैतैक्य वस्तुतः नहीं है, क्योंकि एकता भी द्वैत सापेक्ष है, यदि कोई सत्य दूसरा हो, तो एक की एकता बने, जिससे द्वैतैक्य की परस्पर सिद्धि आतप और छाया के समान है ॥ ३७ ॥ जहाँ दूसरा पदार्थ नहीं है वहाँ एक की एकता भी कैसे हो सकती है ? और एकता की असिद्धि की दशा में द्वय भी नहीं रहता है ॥३८॥ जैसे जल का द्रवत्व =स्यन्दनत्व, वायु का स्पन्दन=गमन, आकाश का शून्यत्व, जलादि से पृथक् सत्य नहीं है, इसी प्रकार द्वैत संसार ईश्वर से पृथक् सत्य नहीं है ॥ ३९ ॥ द्वैताद्वैत का ज्ञान दुःख के लिये, और क्रियात्मा =प्रवृत्ति के लिये है, निवृत्ति के लिये नहीं, जो द्वैताद्वैत का निपुण =अत्यन्त अनुपलम्भ=अप्रतीति है, उसको पर पद जानते हैं ॥४०॥ जो कार्य वस्तु, आदि और अन्त में नहीं रहता है, सो वर्तमान काल में भी निज स्वरूप से नहीं है, हे राम ! जो उस असत् की इच्छा करता है, उस की भी असत्ता ही देखी जाती है ॥४१॥ जो सत्यात्मा ब्रह्म आदि अन्त में सत्य है, वह वर्तमान में भी सत्य ही है, जिसके समझ में सब संसार सत्य में कल्पित सत्य स्वरूप ही है, उस की सत्ता ही देखी जाती है ॥ ४२ ॥ विप्र, गऊ, वेद, तप, सत्य, दम, शम, श्रद्धा, दया, तितिक्षा, क्रतु =यज्ञ, ये सब सर्व के रक्षक हरि के तनु =देह हैं, इन के द्वारा हरि सब का पालन करते हैं ॥ ४३ ॥ महान् पुरुष का अतिक्रमण =अनादरादि मनुष्य के आयु, श्री, यश, धर्म, परलोक, आशिष =हित की प्रार्थना सुखाशा और सब कल्याण को नष्ट करता है ॥ ४४ ॥ ईश्वर =समर्थ पुरुषों के धर्मों का व्यतिक्रम विपर्यय-व्यत्यास देखा गया है, और साहस =अविवेक कृत कर्म देखा गया है, सो अति तेजस्वियों को दोष के लिये नहीं होता है, जैसे सर्व भोजी अग्नि को सर्व भोजन दोष के लिये नहीं है ॥ ४५ ॥ परन्तु अनीश्वर पुरुष इस व्यतिक्रम, साहस का मन से भी कभी आचरण नहीं करे, अन्यथा समुद्रजन्य विष का जैसे रुद्र ने पान किया था, तैसे व्यतिक्रम

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित् ।
तेषां यत्स्ववचो युक्तं बुद्धिमांस्तत्समाचरेत् ॥४७॥
श्रीमद्भा० स्क० १०।३३।३०-३२ ॥

रागलोभप्रमादादिदोपक्षयान्-
नायमासज्जते दुश्चरित्रे क्वचित् ।
साधुवत्साधुचारित्र्यरक्षापरः,
साधुमार्गेण संस्कारतो वर्त्तते ॥ ४८ ॥

केऽपि वर्णाश्रमाचारनिष्ठापरा
मुग्धबालप्रमत्तोपमाश्चापरे ।
रागिणो भोगिनो योगिनश्चेतरे
ज्ञानिनां लक्ष्यते नैकरूपा स्थितिः ॥४९॥
स्वाराज्यसि० प्र० ३।१६-२१ ॥

महेश्वरो ब्रह्महत्या भयाद्यत्र यतस्ततः ।
सस्नौ तीर्थेषु कस्माच्च इतरो मुच्यते कथम् ॥५०॥
अम्बरीषसुतां हृत्वा पर्वतान्नारदात्तथा ।
सीताहरणमापेदे रामोऽन्यो मुच्यते कथम् ॥५१॥
ब्रह्मापि शिरश्छेदं कामयित्वा सुतामगात् ।
इन्द्रचन्द्ररविविष्णुप्रमुखाः प्राप्नुयुः कृतम् ॥५२॥
तस्मादवश्यं च कृतं भोज्यमेव नरैः सदा ।
मुच्यते कोऽपि स्वकृतान्नैवेतिश्रुतिनिर्णयः ॥५३॥
किन्तु देवप्रसादेन लभ्यमेकं सुरव्रतैः ।
बहुभि र्जन्मभि र्भोज्यं भुज्यतेकेन जन्मना ॥५४॥
इहैवैकस्य नामुत्र अमुत्रैकस्य नो इह ।
इह चामुत्र चैकस्य नामुत्रैकस्य नो इह ॥५५॥
स्कन्दपु० मा० खं० २ कौमारिकखं० अ० ४५।८५। इत्यादि ॥

भावतः संविशुद्धात्मा स्वर्गं मोक्षं च विन्दति ।
ज्ञानामलाम्भसा पुंसः सद्वैराग्यमृदा पुनः ॥
अविद्यारागविण्मूत्रलेपगन्धविशोधनम् ॥५६॥
स्कन्दपु० मा० खं० २ को० अ० ४२।६४ ॥

साहस का आचरण करने वाला मूढ़ता से नष्ट होता है ॥ ४६ ॥ ईश्वर पुरुषों के वचन जैसे सत्य हैं, तैसे कहीं आचरण भी सत्य = उचित है, परन्तु जो उन के वचन = आज्ञा अपने लिये युक्त = उचित हों, बुद्धिमान् उसी का आचरण करे ॥ ४७ ॥ अभ्यास विचार वैराग्यादि साधन काल में रागादि दोषों के नाश हो जाने से यह ज्ञानी कहीं भी दुश्चरित्र परापकारादि में प्रसक्त प्राप्त नहीं होता है, किन्तु साधुओं के समान साधुओं के चरित्रों की रक्षा में तत्पर हो कर पूर्व के संस्कार से साधु मार्ग से वर्तता है ॥ ४८ ॥ कोई ज्ञानी वर्णाश्रम की निष्ठा = मर्यादा में तत्पर रहते हैं, कोई कर्मत्यागी ज्ञानी मुग्ध बालक प्रमत्त के समान रहते हैं, अन्य रागी हो कर सिद्धि के बल से भोगी होते हैं, कोई योगी होते हैं, इस से विचित्र प्रारब्धाधीनता से ज्ञानी की एक रूप वाली स्थिति नहीं देखी जाती है ॥ ४९ ॥ और महादेव जी ने ब्रह्महत्या के भय से जहाँ तहाँ तीर्थों में यदि स्नान किया, तो अन्य कोई किस से कैसे भोगादि पाप से छूटेगा ? ॥५०॥ पर्वत और नारद से अम्बरीष की पुत्री को हर कर विष्णु ने रामावतार में सीताहरण रूप फल को प्राप्त किया तो अन्य कैसे छूटेगा ? ॥५१॥ पुत्री की इच्छा करके ब्रह्मा ने भी शिरश्छेदन दण्ड को प्राप्त किया और इन्द्र चन्द्रादि ने भी कर्म फल प्राप्त किये ॥५२॥ तिस से मनुष्यों को कर्म का फल अवश्य भोगना ही होगा, अपने कर्मों से कोई छूटता नहीं है, यह श्रुति का निर्णय है ॥ ५३ ॥ किन्तु देव व्रत वाले उपासक ईश्वर भक्तों को एक फल मिलता है, देव की प्रसन्नता से प्राप्त होता है, कि बहुत जन्म में भोगने योग्य को वे लोग एक जन्म में भोग लेते हैं, और उन से भोगा जाता है ॥ ५४ ॥ इस से किसी को अनेक जन्मों का भोग यहाँ ही हो जाता है, परलोक में नहीं होता है, किसी को परलोक में भोग होता है, यहाँ नहीं होता है, किसी देव व्रत रहित को यहाँ और परलोक में भी पाप का भोग होता है, एक कोई असंग धन्य को यहाँ वा परलोक में कहीं कष्ट नहीं होता है, ज्ञान से जीवन्मुक्त विदेहमुक्त होता है, इत्यादि ॥ ५५ ॥ अभिप्राय से विशुद्ध मन वाला स्वर्ग और मोक्ष को पाता है, और ज्ञान रूप विमल जल से

निग्राह्यः सर्वलोकेषु प्रबुद्धैः श्रूयते श्रुतौ ।
पुत्रेणापि पिता शास्यः शिष्येणापि गुरुः स्वयम् ५७
क्षत्रियै र्ब्राह्मणः शास्यो भार्यया च पतिस्तथा ।
उन्मार्गगामिनं श्रेष्ठमपि वेदान्तपारगम् ॥५८॥
नीचैरपि प्रशास्येत श्रुतिराह सनातनी ।
सन्मार्ग एव सर्वत्र पूज्यते नापथः क्वचित् ॥५९॥
अग्नित्यागो व्रतत्यागो वचनत्याग एव च ।
धर्मत्यागो नैव कार्यः कुर्वन् पतित एव हि ॥६०॥
स्कन्दपु० खं० ६ अ० २५३ ॥
यादृशं प्राक्तनं कर्म तादृशं विन्दते वपुः ।
भुङ्क्ते तदनुरूपाणि सुखदुःखानि वै ह्यसौ ॥६१॥
मायानुभावेरितयोः पित्रोः सुरतसङ्गमात् ।
देह उत्पद्यते कोऽपि पुंयोषित्क्लीवलक्षणः ॥६२॥
आयुः सुखं च दुःखं च पुण्यं पापं श्रुतं धनम् ।
ललाटे लिखितं धात्रा वहज्जन्तुः प्रजायते ॥६३॥
स्कन्दपु० ब्रह्मोत्तरखं० पञ्चाक्षरमा० अ० १०।६०। इ० ॥
तरोरुत्खातमूलस्य स्पर्शेनैव यथा क्षयः ।
तथा बुद्धात्मतत्त्वस्य निवृत्त्यैव तनुक्षयः ॥६४॥
बुद्धाद्वैतस्वतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥६५॥
अधर्माज्जायतेऽज्ञानं यथेष्टाचरणं ततः ।
धर्मकार्ये कथं तस्याद्यत्र धर्मोऽपि नेष्यते ॥६६॥
प्रत्याचक्षाण आहातो यथेष्टाचरणं हरिः ।
यस्य सर्वे समारम्भाः प्रकाशं चेति सर्वदृक् ॥६७॥
अमानित्वादिनिष्ठो यो यश्चाद्वेष्ट्रादिसाधनः ।
ज्ञानमुत्पद्यते तस्य न बहिर्मुखचेतसः ॥६८॥

तथा सच्चे वैराग्य मृद् से अविद्या राग रूप मल मूत्र के गन्ध और लेप=सङ्ग की निवृत्ति हो जाती है ॥५६॥ प्रबुद्धों=विद्वानों से उत्पथगामी अज्ञ निग्राह्य=निवारणीय सब लोकों में हैं, सो श्रुति में सुना जाता है ज्ञानी पुत्र से भी पिता शासन=शिक्षा के योग्य है। शिष्य से भी गुरु शासनार्ह है ॥ ५७ ॥ क्षत्रियों से ब्राह्मण शासन योग्य है, तथा स्त्री से पति शासनीय है। कुमार्गगामी वेदान्तपारंगत श्रेष्ठ भी नीचों से प्रशासित होता है, यह बात सनातनी श्रुति=(अनादि वेद) कहती है, क्योंकि सन्मार्ग ही सर्वत्र पूजा जाता=आदर पाता है. कुमार्ग कहीं भी नहीं पूजा जाता है ॥ ५८-५९ ॥ गृहीत अग्नि का, वचन का, धर्म का त्याग नहीं कर्त्तव्य है, इन का त्याग करता हुआ पतित ही होता है ॥ ६० ॥ जैसा पूर्व का कर्म रहता है, उस के अनुसार शरीर को जीव पाता है, और उस शरीर कर्म के अनुरूप=अनुसार ही सुखदुःखों को भोगता है ॥ ६१ ॥ माया के प्रभाव से प्रेरित माता पिता के सुरत=मैथुन रूप सङ्ग से देह उत्पन्न होता है, सो कोई पुरुष, कोई स्त्री, कोई नपुंसक स्वरूप भी होता है ॥ ६२ ॥ और धाता से ललाट में लिखित आयु, सुख दुःख, पुण्य पाप, श्रुत=वेदादि और धन को धारण करता हुआ ही प्राणी जन्म लेता है ॥६३॥ जैसे उत्पाटित मूल वाले वृक्ष का वायु के स्पर्श से ही नाश हो जाता है, वैसे ही आत्मज्ञानी के प्रतीत शरीर का नाश प्रारब्ध की निवृत्ति से ही होता है ॥ ६४ ॥ अद्वैतात्मतत्त्व के ज्ञानी का यदि निषिद्ध यथेष्ट आचरण हो, तो कुत्ते और ज्ञानियों का अशुचिभक्षण में कोई भेद नहीं रहेगा, इससे पूर्व का संस्कार सदाचार ही ज्ञानी में रहता है ॥ ६५ ॥ जन्मान्तर के अधर्म से भक्ष्याभक्ष्यादि का अविवेक रूप अज्ञान होता है, तिससे यथेष्टाचार=उच्छृङ्खलप्रवृत्ति होती है, अत्यन्त श्रेष्ठ धर्म के कार्य रूप ज्ञान में अधर्म यथेष्टाचार कैसे हो सकता है ? कि-जिस ज्ञान की अवस्था में प्रवृत्ति के हेतु कामादि के अभाव से धर्म में प्रवृत्ति भी नहीं मानी जाती है ॥ ६६ ॥ इसी से यथेष्टाचरण का निषेध करते हुए सर्वज्ञ भगवान् कहते हैं, कि-जिस ज्ञानी के सब सत्कर्म काम संकल्प विना होते हैं, ज्ञानाग्नि से नष्ट कर्म वाले उस ज्ञानी को बुध लोग पण्डित कहते हैं, वह ज्ञानी प्रकाश=ज्ञान, प्रवृत्ति, मोह की इच्छा, द्वेषादि से रहित रहता है ॥ ६७ ॥ गीता के त्रयोदशाध्याय में वर्णित अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसादि रूप ज्ञान के साधनों में

उत्पन्नात्मप्रबोधस्य त्वद्वेष्टृत्वादयो गुणाः ।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः ॥६९॥
नैष्कर्म्यसि० अ० ४।६९। इत्यादि ॥

मायां कृत्वा महेशस्य प्रोत्थिता मानुषी तनुः ।
तस्मान्माया न कर्त्तव्या विद्वद्भिः दोषदर्शिभिः ७०
माया विवर्त्तते नित्यं सापीश्वरनियोगतः ।
विधूय मोहकलिलं यया पश्यति तत्पदम् ॥
सापि विद्या महेशस्य नियोगाद्वशवर्त्तिनी ॥७१॥
अद्भुतरामाय० ॥

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
इति चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥७२॥

इति मनुस्मृत्युक्तसदाचारप्रसङ्गेन तन्त्रवार्तिके । [अ०१।३।७ इत्यत्रोक्तम् ।] सदाचारेषु हि दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः, साहसं च महतां, प्रजापतीन्द्रवसिष्ठविश्वामित्रयुधिष्ठिरकृष्णद्वैपायनभीष्मधृतराष्ट्रवासुदेवार्जुनप्रभृतीनां बहूनामद्यतनानां च । प्रजापतिरुषसमभ्यैत्स्वां दुहितरम् । इन्द्रस्यापि तत्पदस्थस्य नहुषस्य परदाराभियोगाद्धर्मव्यतिक्रमः । वसिष्ठस्य पुत्रशोकार्त्तस्य जलप्रवेशात्मत्यागसाहसम् । विश्वामित्रस्य चाण्डाल याजनम्, कृष्णद्वैपायनस्य गृहीतनैष्ठिकव्रतस्य तत्त्यागः । भीष्मस्य वर्णाश्रमधर्मव्यतिरेकेणावस्थानम् । तथाऽन्धस्य धृतराष्ट्रस्येज्या, युधिष्ठिरस्य कनीयोर्जितभ्रातृजायापरिणयनमाचार्यवधार्थमनृतभाषणं च । वासुदेवार्जुनयोः प्रतिषिद्धमातुलदुहितृरुक्मिणीसुभद्रापरिणयनम्, सुरापानाचरणश्च ।
के शिष्टा ये सदाचाराः सदाचाराश्च तत्कृताः ।
इतीतरेतराधीननिर्णयत्वादनिर्णयः ॥ ७३ ॥

जो स्थिति वाला है, और द्वादशाध्यायोक्त अद्वेष्टृता, दयालुता, मित्रता आदि साधन वाला है, उसी को आत्म ज्ञान होता है, बहिर्मुख चित्तवाले को नहीं होता है ॥ ६८ ॥ उत्पन्न आत्मज्ञान वाले के अद्वेषादि रूपगुण विना यत्न के ही स्वभाव से रहते हैं, इस के ये गुण साधनरूप वाले नहीं होते हैं ॥ ६९ ॥ माया =छल कर के स्थिर महेश = विष्णु को भी नारद के शाप से मानुष की तनु = देह उत्पन्न हुई, इससे दोषदर्शी विद्वानों से माया कर्तव्य नहीं है ॥ ७० ॥ वह माया भी ईश्वर की आज्ञा प्रेरणा से विविध रूप होती है, और जिस विद्या द्वारा मोहरूप कलिल = गहन दोष को नष्ट करके तत्पद = ब्रह्मात्मा वस्तु को देखता है, वह विद्या भी महेश के नियोग से वशवर्तिनी होती है, इससे विद्या के वास्ते महेश उपासनीय हैं ॥ ७१ ॥ वेद, धर्मशास्त्र, सदाचार = सत्पुरुष का आचरण और अपनी आत्मा का प्रिय= अभीष्ट हित ये चार प्रकार के धर्म के साक्षात् लक्षण कहते हैं ॥७॥ इस अर्थ को कहने वाली मनुस्मृति कथित सदाचार के प्रसङ्ग से तन्त्र वार्तिक ग्रन्थ में कहा है कि सदाचार में धर्म का उल्लंघन देखा गया है और महान् लोगों के साहस=दुष्कर्म देखे गये हैं । जैसे कि प्रजापति = ब्रह्मा, इन्द्र, वसिष्ठ, विश्वामित्र, युधिष्ठिर, व्यास, भीष्म, धृतराष्ट्र, कृष्ण, अर्जुनादि के साहस हुए हैं, और वर्तमान लोगों के भी हैं । प्रजापति उषा नामक अपनी पुत्री को प्राप्त हुए, इन्द्र और इन्द्रपद पर स्थित नहुष राजा का परदारा सम्बध से धर्मोल्लंघन हुआ । वसिष्ठ का पुत्रशोक से दुःखी होकर जल में प्रवेश करके देहत्याग का साहस हुआ । विश्वामित्र का चाण्डाल का यज्ञ करने का साहस हुआ । नैष्ठिक व्रतनिष्ठ व्यास का व्रतत्याग हुआ । भीष्म को वर्णाश्रमधर्म का विना रहना हुआ, तथा अन्ध धृतराष्ट्र का यज्ञ करने का साहस हुआ, युधिष्ठिर का लघुभ्राता से उपार्जित लघु भ्राता की स्त्री से विवाह और आचार्य के वध के लिये मिथ्याभाषण का साहस हुआ, कृष्ण और अर्जुन का निषिद्ध मामा की पुत्री रुक्मिणी और सुभद्रा के परिणयन=विवाह तथा सुरापान करने का साहस है । और शिष्ट कौन हैं ? जो सदाचारी हैं । सदाचार क्या है ? जो शिष्टों के कृत कर्म व्यवहार हैं । इस प्रकार शिष्ट और सदाचार के निर्णय परस्पर के अधीन होने से अन्योन्याश्रय हो जाता है,

इति पूर्वपक्षः ॥ अथोत्तरम् :—

दृष्टकारणहीनानि यानि कर्माणि साधुभिः ।
प्रयुक्तानि प्रतीयेरन् धर्मत्वेनेह तान्यपि ॥७४॥
शरीरस्थितये यानि सुखार्थं वा प्रयुञ्जते ।
अर्थार्थं वा न तेष्वस्ति शिष्टानामेव धर्मता ॥७५॥
धर्मत्वेन प्रपन्नानि शिष्टैर्यानि तु कानिचित् ।
वैदिकैः कर्तृसामान्यात्तेषां धर्मत्वमिष्यते ॥७६॥
यथा रुमायां लवणाकरेषु
मेरौ यथा वोज्ज्वलरुक्मभूमौ ।
यज्जायते तन्मयमेव तत्स्या-
त्तथा भवेद्वेदविदात्मतुष्टिः ॥७७॥
एवं च विद्वद्वचनाद्विनिर्गतं
प्रसिद्धरूपं कविभि र्निरूपितम् ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः ॥७८॥
यथा वा यां भुवं कश्चिदध्यावसति पुण्यकृत् ।
तत्सम्पर्कपवित्रत्वात्सेव्यते पुण्यकारणम् ॥७९॥
तथाचारात्मतुष्ट्यादि धर्म्यं धर्ममयात्मनाम् ।
विदोक्तमिति निश्चित्य ग्राह्यं धर्मबुभुत्सुभिः ॥८०॥
प्रजापत्यादौ तु-
श्रुति सामान्यमात्राद्वा न दोषोऽत्र भविष्यति ।
मनुष्यप्रतिषेधाद्वा तेजोबलवशेन वा ॥८१॥
यथा वा न विरुद्धत्वं तथा तद्गमयिष्यति ॥८२॥

प्रजापतिः सूर्यः स्वजन्यामुषसं कालविशेषमभ्यैत् । इन्द्रोऽपि सूर्य एव स रात्रेर्जारः=जीर्णकरः नहुषोऽपराध्येव ॥ शोकेन वसिष्ठकृतं न प्रमाणम् । मातृनियोगाद् व्यासेन तथाकृतम् । तपोबलाद्विश्वामित्रेण ॥८३॥

यौवनस्थैव कृष्णा हि वेदिमध्यात्समुत्थिता ।
सा च श्रीः श्रीश्च भूयोभिर्भुज्यमाना न दुष्यति ॥८४॥
[अन्यच्च व्यासव्युत्पादितं ज्ञेयम् ॥]

इससे अनिर्णय होता है ॥७३॥ यह पूर्वपक्ष है । यहां उत्तर है कि–दृष्ट, लोभादि कारण के बिना साधुओं द्वारा प्रयुक्त कृत=कारित जो कर्म प्रतीत हों, सो यहाँ धर्म रूप प्रतीत होते हैं ॥७४॥ शरीर की स्थिति के लिये वा सुख के लिये वा अर्थ के लिये जिन कर्मों को करते हैं, उन में भी शिष्टों को धर्मता नहीं है ॥७५॥ वैदिक शिष्टों के द्वारा जो कोई कर्म धर्म रूप से निश्चित हैं=प्राप्त हैं, उनको भी कर्ता की समानता से धर्मत्व इष्ट है ॥७६॥ जैसे रुमा=ऊषर भूमि लवण की खान, वा सुवर्ण की उज्वल भूमि मेरु में जो उत्पन्न होता है, सो तत्स्वरूप ही हो जाता है, तैसे ही वेद वेत्ता की आत्मतुष्टि होती है=धर्ममय का व्यवहार धर्ममय होता है ॥ ७७ ॥ इसी प्रकार विद्वानों के वचनों से निकला हुआ प्रसिद्ध स्वरूप वाला कवियों से निरूपित कर्म धर्म होता है, और संदेह के विषय वस्तुओं में सत्पुरुषों के अन्तःकरण को प्रवृत्ति प्रमाण होती है ॥ ७८ ॥ अथवा जैसे जिस भूमि को कोई पुण्य कर्ता सेवता है, जिस भूमि में सदा निवास करता है, तो वह भूमि उस पुण्यात्मा के सम्बन्ध से पवित्र हो जाती है, इससे पुण्य के कारण=तीर्थ रूप वह भूमि अन्य से सेवित की जाती है । तैसे ही धर्मात्माओं का आचार, आत्मतुष्टि आदि उन के संग से धर्मयुक्त है और वेदोक्त है, ऐसा निश्चय करके धर्म के जिज्ञासुओं को ग्राह्य है ॥ ७९–८० ॥ प्रजापति आदि में तो श्रुति के सामान्यमात्र होने से=उस वाक्य की तुल्यता मात्र से अन्य अर्थ में तात्पर्य से, चाहे दोष नहीं होगा । विशेष कर्मों का मनुष्य के ही लिये प्रतिषेध होने से वा तेज के बल के वश से दोष नहीं होगा ॥ ८१ ॥ वा जिस प्रकार विरुद्धता नहीं होगी, तैसा वह वाक्य बोध करायेगा ॥ ८२ ॥ प्रजापति सूर्य हैं, सो अपने से जन्य उषा नामक काल विशेष को प्राप्त हुए । इन्द्र भी सूर्य ही हैं, सो रात्रि के जार=नाशक हैं, नहुष तो अपराधी ही था । शोक से वसिष्ठ कृत कर्म प्रमाण नहीं है, माता की आज्ञा प्रेरणा से व्यास ने वैसा किया, और तप के बल से विश्वामित्र ने किया ॥ ८३ ॥ युवा अवस्था युक्त ही कृष्णा=द्रौपदी यज्ञ वेदी के मध्य से उत्पन्न हुई, और वह लक्ष्मी

शिष्टं यावच्छ्रुतिस्मृत्योस्तेन यन्न विरुध्यते ।
तच्छिष्टाचरणं धर्मे प्रमाणत्वेन गम्यते ॥८५॥
इत्यादि सिद्धान्तस्तन्त्रवर्त्तिके ॥

उत्तमैः सह साङ्गत्यं पण्डितैः सह सत्कथाम् ।
अलुब्धैः सह मित्रत्वं कुर्वाणो नावसीदति ॥८६॥
परोऽपि हितवान् बन्धु र्बन्धुरप्यहितः परः ।
अहितो देहजो व्याधि र्हितमारोग्यमौषधम् ॥८७॥
गरुडपु० पूर्वखं० अ० १०८ ॥

सद्भिरासीत सततं सद्भिः कुर्वीत सङ्गतम् ।
सद्भिर्विवादं मैत्रीं च नासद्भिः किञ्चिदाचरेत् ८८
पण्डितैश्च विनीतैश्च धर्मज्ञैः सत्यवादिभिः ।
बन्धनस्थोऽपि तिष्ठेच्च न तु राज्ये खलैः सह ॥८९॥
गरुडपु० पू० खं० अ० ११३ ॥

नास्ति शान्तिसमो बन्धु र्नास्ति सत्यात्परं तपः ।
नास्ति मोक्षात्परो लाभो नास्ति गङ्गासमा नदी ९०
नास्त्यकीर्त्तिसमो मृत्युर्नास्ति क्रोधसमो रिपुः ।
नास्ति निन्दासमं पापं नास्ति मोहसमासवः॥९१॥
नारदीयपु० अ० ६।६०। इत्यादि ॥

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता ।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥९२॥
मनोभिलाषं कुरुते यो निरीक्ष्य परश्रियम् ।
स स्वसम्पत्तिनाशाय कुठारो नाऽत्र संशयः ॥९३॥
तमःपरिगतं वेश्म यथा दीपेन दृश्यते ।
तथा बुद्धिप्रदीपेन शक्य आत्मा निरीक्षितुम्॥९४॥
दुःखाज्ञानमया धर्माः प्रकृतेस्ते तु नात्मनः ।
जलस्य नाग्निना सङ्गः स्थालीसङ्गात्तथापि हि ९५
अहं ममेत्यविद्येयं व्यवहारस्तथानयोः ।
परमार्थस्त्वसंलाप्यो वचसां गोचरो न यः ॥९६॥

थी, और बहुतों से भोगी जाती हुई लक्ष्मी दुष्ट नहीं होती है ॥ ८४ ॥ [और अन्य व्यास जी से महाभारत में सिद्ध वचन समझने योग्य हैं ।] और श्रुति स्मृति में जितने शिष्ट=उपदिष्ट कर्मादि हैं, उन के साथ जो शिष्टाचार=सदाचार विरुद्ध नहीं होता है वही शिष्टाचार धर्म में प्रमाण रूप माना जाता है ॥ ८५ ॥ [इत्यादि सिद्धान्त तन्त्रवार्तिक में प्रतिपादित हैं ॥] उत्तमों के साथ संगति, पण्डितों के साथ सत्कथा, अलोभियों के साथ मित्रता करने वाला नष्ट दुःखी नहीं होता है ॥ ८६ ॥ हित करने से पर=शत्रु अन्य भी बन्धु है, और अहित बन्धु भी पर है, जैसे देह जन्य भी रोग अहित है, और नीरोग करने वाला औषध हित है ॥ ८७ ॥ सत्पुरुषों के साथ सदा बैठे, और सङ्गति करे, तथा विवाद और मित्रता करे, असत्पुरुषों के साथ कुछ नहीं करे ॥ ८८ ॥ पण्डित, विनीत=शिक्षित नम्र, धर्मज्ञ और सत्यवादी के साथ में बन्धनस्थ हो कर भी रहे, परन्तु खल के साथ राज्य में भी नहीं रहे ॥ ८९ ॥ शान्ति के तुल्य बन्धु, सत्य से उत्तम तप, मोक्ष से उत्तम लाभ, और गङ्गा के तुल्य नदी नहीं है ॥९०॥ अकीर्ति=अपयश के तुल्य मृत्यु, क्रोध के समान शत्रु, निन्दा के समान पाप, मोह के समान आसव =मद्य, अन्य नहीं है, इस से ये सब अवश्य त्याज्य हैं, और शान्ति आदि सेव्य हैं ॥ ९१ ॥ युवा अवस्था, धन की वृद्धि, प्रभुता, अविवेकिता, प्रत्येक भी अनर्थ=पाप दुःख के लिये समर्थ है, जहाँ चारो हैं तहाँ क्या कहना है ? इस से यहाँ सावधानी चाहिये ॥ ९२ ॥ जो अन्य की लक्ष्मी को देख कर मन में उस की अभिलाषा=इच्छा करता है, वह अपनी सम्पत्ति के नाश के लिये आप कुठार है, इस में संशय नहीं है ॥ ९३ ॥ तम से व्याप्त गृह जैसे दीप से देखा जाता है, तैसे ज्ञान प्रदीप से आत्मा निरीक्षण के योग्य है ॥ ९४ ॥ दुःख अज्ञानमय सब धर्म प्रकृति के हैं, आत्मा के नहीं है, तो भी जैसे जल को अग्नि के साथ सङ्ग नहीं है, तो भी स्थाली=बटुली के सङ्ग से अग्नि का सङ्ग होता है, तैसे देह के साथ आध्यात्मिक सङ्ग से आत्मा में दुःखादि का अध्यास है ॥ ९५ ॥ अहङ्कार और ममता अविद्या

परस्तु निर्गुणः प्रोक्तो ह्यहङ्कारयुतोऽपरः ।
तयोरभेदविज्ञानं योग इत्यभिधीयते ॥९७॥
नारदीयपु० अ० ७ ॥
धर्ममर्थं च कामं वा मोक्षं वातिजरातुरः ।
अशक्तः साधितुं तस्माद्युवा धर्मं समाचरेत् ॥९८॥
शिवपु० सं० ५।२३।६५ ॥
शास्त्रादिषु सुदृष्टापि साङ्गा सह फलोदया ।
न प्रसीदति वै विद्या विना सदुपदेशतः ॥९९॥
किमप्यत्राभिजायन्ते योगिनो सर्वयोनिषु ।
प्रत्यक्षितात्मनाथानां नैषां चिन्त्यं कुलादिकम् १००
भरद्वाजसंहि० अ० ३५-४४ ॥
न वृत्तेरधिकामृद्धिं न मृत्युं न च जीवितम् ।
न चाप्रशस्तान् विषयानिच्छेदिह परत्र वा ॥१०१॥
विनिन्दितः प्रशस्तो वा विमतः सम्मतोऽपि वा ।
विलुप्तोऽभ्यर्चितो वापि विक्रियेतं न तत्त्ववित् १०२
भरद्वाजसं० अ० ४ ॥
भृत्यः स एव सुश्लोको नापत्तौ स्वामिनं त्यजेत् ।
स्वामी स एव विज्ञेयो भृत्यार्थे जीवितं त्यजेत् १०३
न रामसदृशो राजा पृथिव्यां नीतिमानभूत् ।
सुभृत्यता तु यन्नीत्या वानरैरपि स्वीकृता ॥१०४॥
शुक्रनी० अ० ५।५१-५२ ॥
यौवनं जीवितं चित्तं छाया लक्ष्मीश्च स्वामिता ।
चञ्चलानि षडेतानि ज्ञात्वा धर्मरतो भवेत् ॥१०५॥
वर्द्धयन्निह धर्मार्थौ सेवितौ सद्भिरादरात् ।
निगृहीतेन्द्रियग्रामः कुर्वीत गुरुसेवनम् ॥१०६॥
शुक्रनीति० अ० १।
श्रुतेन श्रोत्रियो भवति तपसा विन्दते महत् ।
धृत्या द्वितीयवान् भवति बुद्धिमान् वृद्धसेवया १०७

रूप है, और 'अहं, मम' का व्यवहार भी अविद्या है, जो परमार्थ सत्यात्मा है, सो वचनों का अविषय असंलाप्य = अवाच्य है ॥ ९६ ॥ परमात्मा निर्गुण कहा गया है, अहङ्कार युक्त अपर = जीव कहा गया है, इन दोनों के अभेद का विज्ञान योग इस शब्द से कहा जाता है ॥ ९७ ॥ अत्यन्त जरा वृद्धावस्था से आतुर = व्याधित रोगी मनुष्य धर्म, अर्थ, काम वा मोक्ष को साधने के लिये समर्थ नहीं होता है, तिस से युवा ही धर्म करे ॥ ९८ ॥ फलोदय सहित, अङ्ग सहित विद्या शास्त्रादि में सुदृष्ट = ज्ञात होती हुई भी सत्पुरुषों के उपदेश के विना प्रसन्न = फलप्रद नहीं होती है, इस से सत्सङ्ग कर्तव्य है ॥ ९९ ॥ किसी प्रयोजन, कारण को पा कर योगी लोग सब योनियों में जन्मते हैं, इन अपने स्वामी = परमात्मा के प्रत्यच वालों के कुलादि अचिन्तनीय हैं ॥ १०० ॥ मुमुक्षु जीव जीविका से अधिक ऋद्धि = समृद्धि-लक्ष्मी मृत्यु, जीवित, अप्रशस्त = निन्दित विषय, इन की यहाँ या परलोक में इच्छा नहीं करे ॥ १०१ ॥ और तत्त्ववेत्ता पुरुष किसी से विनिन्दित वा प्रशस्त = स्तुत होने पर, विमत = प्रतिकूल वा सम्मत = अनुकूल होने पर, तथा विलुप्त = विच्छिन्न-अनादृत वा अभ्यर्चित = सुपूजित होने पर रागद्वेषादि रूप विकार को नहीं प्राप्त हो ॥ १०२ ॥ वही भृत्य = दास सेवक, सुश्लोक = सुन्दर यश वाला है, जो आपत्ति में स्वामी को नहीं त्यागता है, और स्वामी उसी को समझना चाहिये कि जो भृत्य के लिये जीवित को त्यागे ॥ १०३ ॥ रामचन्द्र जी के समान नीति वाला राजा पृथिवी पर नहीं हुआ, कि जिन की नीति से वानरों ने भी सुभृत्यता का स्वीकार किया ॥ १०४ ॥ यौवन = युवापन, आयु, चित्त, छाया = कान्ति, लक्ष्मी, प्रभुत्व, इन छः को चञ्चल जान कर धर्मपरायण धर्म प्रेमी होवे ॥ १०५ ॥ सत्पुरुषों से सेवित धर्म और अर्थ को यहाँ आदर से बढ़ाता हुआ, निगृहीत = वशीभूत इन्द्रिय समूह वाला, हो कर आदर से गुरु का सेवन करे ॥ १०६ ॥ श्रुत = गुरु मुख से वेदार्थ निश्चय से श्रोत्रिय होता है, तप = श्रुत अर्थ के विचार से महत = ब्रह्म को पाता = जानता है, सात्त्विक धैर्य रूप निदिध्यासन से, जीव भाव से भिन्न दूसरा शुद्ध स्वरूप वाला होता है, वृद्ध गुरु आदि की सेवा से बुद्धिमान् = ज्ञानी होता है ॥ १०७ ॥

माता गुरुतरा भूमेः खात्पितोच्चतरस्तथा ।
मनः शीघ्रतरं वाताच्चिन्ता बहुतरी तृणात् ॥१०८॥
दाक्ष्यमेकपदं धर्म्यं दानमेकपदं यशः ।
सत्यमेकपदं स्वर्ग्यं शीलमेकपदं सुखम् ॥१०९॥
आनृशंस्यं परोधर्मस्त्रयीधर्मस्सदाफलः ।
मनो यस्य न शोचन्ति सन्धिः सद्भि र्न जीर्यते ११०
मानं हित्वा प्रियो भवति क्रोधं हित्वा न शोचति ।
कामं हित्वाऽर्थवान् भवति लोभं हित्वा सुखी भवेत् ॥
अज्ञानेनावृतो लोकस्तमसा न प्रकाशते ।
लोभात्त्यजति मित्राणि सङ्गात्स्वर्गं न गच्छति ११२
तपः स्वधर्मवर्त्तित्वं मनसो दमनं दमः ।
क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वं ह्रीरकार्यनिवर्त्तनम् ॥११३॥
ज्ञानं तत्त्वार्थसम्बोधः शमश्चित्तप्रशान्तता ।
दया सर्वसुखैषित्वमार्जवं समचित्तता ॥११४॥
क्रोधः सुदुर्जयः शत्रु र्लोभोव्याधिरनन्तकः ।
सर्वभूतहितः साधुरसाधु र्निर्दयः स्मृतः ॥११५॥
मोहो हि धर्ममूढत्वं मानस्त्वात्माभिमानिता ।
धर्मनिष्क्रियताऽऽलस्यं शोकस्त्वज्ञानमुच्यते॥११६॥
स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यं धैर्यमिन्द्रियनिग्रहः ।
स्नानं मनोमलत्यागो दानं वै भूतरक्षणम् ॥११७॥
धर्मज्ञः पण्डितो ज्ञेयो नास्तिको मूर्ख उच्यते ।
कामः संसारहेतुश्च हृत्तापो मत्सरः स्मृतः ॥११८॥

महाभा० वनप० अ० ३१३। यक्षाय युधिष्ठिरोक्तः ॥

को मोदते किमाश्चर्यं कः पन्था का च वर्त्तिका ।
वद मे चतुरः प्रश्नान् मृता जीवन्तु बान्धवाः ११९
पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे ।

माता भूमि से अति गुरु है, पिता आकाश से अति उच्च है, मन वायु से अति वेग वाला है, चिन्ता तृण से भी तुच्छ है ॥ १०८ ॥ दाक्ष्य = दक्षता-कुशलता-आलस्य-रहितता एक पद = एक ही धर्म मय है, सर्व धर्म का आश्रय है, दान एक पद यश है, सत्य एक ही स्वर्ग के लिये हित है, शील एक ही सुख रूप है ॥ १०९ ॥ आनृशंस्य = सर्वत्राऽभयदान-अक्रूरता परम धर्म है, त्रयी धर्म = ओंकार के त्रिमात्रासाध्य धर्म वेदत्रय-सम्बन्धी धर्म सदा = नित्य फल वाला है। उस के लिये मन के निरोध से ज्ञानी हो कर शोक रहित होता है, कृपालु सत् पुरुष के साथ की हुई सन्धि जीर्ण नहीं होती है ॥ ११० ॥ मानादि के त्याग से प्रिय शोक रहित अर्थवान् सुखी होता है ॥ १११ ॥ अज्ञान जन्य देह द्वय से लोक = ज्ञान स्वरूप आत्मा आवृत्त है, और तमो रूप मूलाज्ञान से वह प्रकाशता नहीं है, लोभ से मित्रों को त्यागता है, कुसङ्ग से स्वर्ग में नहीं जाता है, इस से लोभ कुसङ्ग को त्याग कर त्रयी धर्म द्वारा आत्मा द्रष्टव्य है ॥ ११२ ॥ ज्ञान के साधन रूप तप स्वधर्म में वर्तना है, मन का दमन दम है, द्वन्द्व सहिष्णुता क्षमा है, अकर्तव्य कर्म का त्याग लज्जा है ॥ ११३ ॥ तत्त्व वस्तु का संबोध ज्ञान है, चित्त की प्रशान्तता शम है, सर्व के सुखेच्छुता दया है, समचित्तता आर्जव है ॥ ११४ ॥ क्रोध अतिदुर्जय शत्रु है, लोभ अनन्त व्याधि है, सब प्राणियों का हित साधु है, निर्दय असाधु कहा गया है ॥ ११५ ॥ धर्म मूढ़ता = अनवधानता मोह है, आत्माभिमानिता = स्वयं स्वमान्यता अभिमान है, धर्म में निष्क्रियता आलस्य है, शोक तो अज्ञान कहा जाता है ॥ ११६ ॥ निज धर्म में स्थिरता स्थैर्य है, इन्द्रियों का निग्रह धैर्य है, मन के रागद्वेषादि मलों का त्याग स्नान है, प्राणियों की रक्षा दान है ॥ ११७ ॥ धर्मज्ञ को पण्डित समझना चाहिये, नास्तिक मूर्ख कहलाता है, काम संसार के हेतु वासनादि रूप है, पर की सम्पत्ति आदि जन्य हृदय के ताप मत्सर कहा गया है ॥ ११८ ॥ संसार में कौन आनन्द करता है ? क्या आश्चर्य है ? क्या मार्ग है ? कौन वार्ता है ? मेरे इन चार प्रश्नों का उत्तर दो, तो तेरे मृतक चारो भाई जीवित हो जायँ, यह धर्म यक्ष का कथन है ॥ ११९ ॥ हे वारिचर ! = यक्ष ! पंचवें वा छठवें दिन जो अपने घर में शाक पकाता है,

अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर ! मोदते॥१२०॥
अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम् ।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् १२१
तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषि र्यस्य वचःप्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्था ॥१२२॥
अस्मिन् महामोहमये कटाहे
सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन ।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन
भूतानि कालः पचतीति वार्त्ता ॥१२३॥
महाभा०वनप०अ०२१३।११४। इत्यादि । धर्मय० युधि० ॥
दमोनान्यस्पृहा नित्यं गाम्भीर्यं धैर्यमेव च ।
अभयं रोगशमनं ज्ञानेनैतदवाप्यते ॥१२४॥
त्यागः स्नेहस्य यत्त्यागो विषयाणां तथैव च ।
रागद्वेषप्रहीणस्य त्यागो भवति नान्यथा ॥१२५॥
धृति र्नाम सुखे दुःखे यथा नाप्नोति विक्रियाम् ।
तां भजेत सदा प्राज्ञो य इच्छेद् भूतिमात्मनः १२६
महाभा० शान्तिप० अ० १६२ ॥
कुशलाकुशलान्येके कृत्वा कर्माणि मानवाः ।
कार्यकारणसंश्लिष्टं स्वजनं नाम बिभ्रति ॥१२७॥
आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्राणं कलेवरम् ।
प्रतिगृह्णाति तत्पापं कर्त्तुः कर्मफलं हि तत्॥१२८॥
महाभा० शान्तिप० अ० ६।३०-३१ ॥
यज्ञदानतपःशीला नरा वै पुण्यकर्मिणः ।
येऽभिद्रुह्यन्ति भूतानि ते वै पापकृतो जनाः॥१२९॥
महाभा० अनुशासनप० अ० १२०।२५ ॥
यदेव ददतः पुण्यं तदेव प्रतिगृह्णतः ।
न ह्येकचक्रं वर्त्तेत इत्येवमृषयो विदुः ॥१३०॥
महाभा० अनुप० अ० १२१।१४ ॥

परन्तु ऋण और प्रवास नहीं करता है, प्रारब्धानुसार प्राप्त से सन्तुष्ट रहता है, वही आनन्द भोगता है ॥ १२० ॥ प्रतिदिन प्राणी यम मन्दिर में जाते हैं, सो देख कर शेष प्राणी स्थावर = अचंचल स्थिर धनादि चाहते हैं, इससे अन्य भारी आश्चर्य क्या है ? ॥ १२१ ॥ तर्क, प्रतिष्ठा सीमा = निर्णय रहित है, श्रुतियाँ-विभिन्न = विरुद्धार्थक हैं, एक ऋषि भी नहीं है, वे भिन्नार्थों के वक्ता हैं, ऐसा कोई नहीं है कि जिस के वचन को प्रमाण समझा जाय, इससे महाजन = बहुत पूज्य जन जिस मार्ग से गये सो ठीक पन्थ है, क्योंकि उक्त हेतुओं से धर्म का तत्त्व गुहा में निहित = स्थापित हो गया है ॥ १२२ ॥ महामोहमय कटाह = कड़ाही रूप इस संसार में सूर्य रूप अग्नि, रात्रि दिन रूप इन्धन = लकडी द्वारा और मास ऋतु रूप दर्वी = करछी द्वारा परिघट्टन = परिघर्षण से काल प्राणियों को पकाता है, यही वार्ता है ॥ १२३ ॥ दम, अन्य, वस्तु की इच्छा का सदा अभाव, गम्भीरता, धैर्य, अभय, रोग का शमन, ये सब ज्ञान से पाये जाते हैं ॥ १२४ ॥ स्नेह और विषयों के त्याग को त्याग कहते हैं, सो रागद्वेष रहित को होता है, अन्यथा नहीं ॥ १२५ ॥ जिस प्रकार से सुख दुःख में विकार को नहीं प्राप्त करता है, उसी प्रकार का धृति नाम है, जो विद्वान् अपनी विभूति को चाहे सो सदा उस धृति को सेवे ॥ १२६ ॥ एक मूढ मनुष्य, कुशल अकुशल = शुभाशुभ कर्म करके, अपने कार्य सुख रूप कारण = निमित्त से संलग्न स्त्री आदि रूप स्वजन नामवालों को पोषता है, परन्तु आयु के अन्त में क्षीण प्राणवाली इस देह को त्याग कर, उस पाप का ग्रहण करता है, क्योंकि कर्ता को वह कर्म फल होता है ॥ १२७–१२८ ॥ यज्ञ, दान, तप के स्वभाव वाले मनुष्य पुण्य कर्म वाले हैं, जो प्राणियों का द्रोह = अपकार करने वाले हैं, सो पाप कर्ता जन हैं ॥ १२९ ॥ न्याय धर्म से दान देने वाले को जो पुण्य होता है, न्याय से प्रतिग्रहीता दान के सत्पात्र को भी वही पुण्य होता है, एक चक्र वाला दान नहीं रह सकता = ग्रहीता बिना दान नहीं हो सकता, इस प्रकार ऋषि समझते

अद्वैतं च तथाऽद्वैतं द्वैताद्वैतं तथैव च ।
न द्वैतं नापि चाद्वैतमित्येतत्पारमार्थिकम् ॥१३१॥
दत्तस्मृ० अ० ७ ॥
साकारमनृतं विद्धि निराकारं निरन्तरम् ।
एतत्तत्त्वोपदेशेन न पुनर्भवसम्भवः ॥१३२॥
अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
समं तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥१३३॥
अवधूतगी० अ० १।२१-२६ ॥

इति दशमं सदुपदेशप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ तीर्थानि ॥ ११ ॥

जन्तुस्तरति येनैव दुस्तरं दुःखसागरम् ।
सेव्यं तद्धि सदा तीर्थं ज्ञानं तत्साधनं शुभम् ॥१॥
आत्मैव परमं तीर्थं स सेव्यो जगदीश्वरः ।
सद्गुरुः परमानन्दः सत्सङ्गः साधुरेव च ॥२॥
महन्मतसुबोधाय सद्विवेकाय चात्मनः ।
सेव्यानि वै सुतीर्थानि ज्ञेयानि च प्रयत्नतः ॥३॥
तत्र च-
ज्ञानं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थ मिन्द्रियनिग्रहः ।
शमस्तीर्थं दया तीर्थं सत्यं तीर्थमथार्जवम् ॥४॥
दानं तीर्थं दमस्तीर्थं सन्तोषस्तीर्थमुच्यते ।
ब्रह्मचर्यं परं तीर्थमहिंसा तीर्थमुच्यते ॥५॥
अस्तेयं तु परं तीर्थमद्रोहो तीर्थमुत्तमम् ।
तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धि र्मनसः परा ॥६॥
दानमिज्यातपः शौचं तीर्थं वेदाः श्रुतं तथा ।
सर्वाण्येतानि तीर्थानि यदि भावोऽस्ति निर्मलः ॥७॥
ज्ञानह्रदे ध्यानजले रागद्वेषमलापहे ।
यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम् ॥८॥
यथा शरीरस्योद्देशाः केचिन्मेध्यतमाः स्मृताः ।
तथा भूमेरपि प्रोक्ता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥९॥
इतिहाससमुच० अ० २५ ॥

हैं ॥ १३० ॥ प्रलय में अद्वैत रहता है, तथा सृष्टि में द्वैत है और कारण रूप से अद्वैत कार्य रूप से द्वैत होने से द्वैताद्वैत है, परन्तु स्वरूप दृष्टि से न द्वैत है न अद्वैत है, सब व्यवहार शून्य यही पारमार्थिक वस्तु है ॥ १३१ ॥ साकार=सावयव कार्य संसार को अनृत=मिथ्या जानो, और निराकार आत्मा को निरन्तर=व्यवधान रहित, त्रिविध भेद रहित विभु जानो । इसी तत्त्वस्वरूप के उपदेश जन्य ज्ञान से फिर जन्म नहीं होता है ॥ १३२ ॥ इस उपदेशादि के बिना कोई प्रलय कालिक अद्वैत की इच्छा करते हैं, तो अन्य कोई सृष्टि कालिक द्वैत की इच्छा करते हैं, उस द्वैताद्वैत=प्रलय सृष्टि से रहित सदा सर्वत्र सम तत्त्व को नहीं पाते हैं = नहीं समझते हैं ॥ १३३ ॥ दसवाँ सदुपदेश प्रकरण समाप्त ॥

अथ तीर्थ—जन्तु जिस तीर्थ द्वारा ही दुस्तर दुःख रूप सागर को तरता है, वह ज्ञान और ज्ञान के साधन रूप तीर्थ सदा सेवनीय हैं ॥ १ ॥ आत्मा ही परम तीर्थ है, सो जगदीश्वर रूप आत्मा सेवनीय है, परमानन्द स्वरूप सद्गुरु सत्सङ्ग और साधु भी सेव्य ही हैं ॥ २ ॥ महात्माओं के मत के सुन्दर ज्ञान के लिये और आत्मा के सत्यविवेक के लिये सुन्दर तीर्थ प्रयत्न से ज्ञेय और सेव्य हैं ॥ ३ ॥ तहाँ ज्ञानादि दश तीर्थ कहलाते हैं, ब्रह्मचर्य और अहिंसा पर=उत्तम तीर्थ कहलाते हैं ॥४-५॥ अस्तेय पर तीर्थ है, अद्रोह =अनपकार उत्तम तीर्थ है, तीर्थों का भी वह तीर्थ है, कि जो मन की उत्तम विशुद्धि=निष्कपटता निर्मलता है ॥ ६ ॥ यदि मन का भाव निर्मल हों, तो दान, यज्ञ, तप, शौच, तीर्थ, वेद श्रवण, ये सब तीर्थ = पाप नाशक होते हैं, अन्यथा नहीं ॥ ७ ॥ ज्ञान रूप ह्रद=अगाधता वाला, ध्यान रूप जल वाला, रागद्वेष रूप मल का नाशक, मानस तीर्थ में जो स्नान करता है, सो परमगति=मुक्ति पाता है ॥ ८ ॥ जैसे शरीर

मनो विशुद्धं पुरुषस्य तीर्थं
वाचां तथा चेन्द्रियनिग्रहश्च ।
एतानि तीर्थानि शरीरजानि
स्वर्गस्य द्वारं प्रतिबोधयन्ति ॥१०॥

इन्द्रियाणि वशे कृत्वा यत्र यत्र वसेन्नरः ।
तत्र तत्र कुरुक्षेत्रं प्रयागं पुष्करं तथा ॥११॥
ब्रह्मपु० अ० २३।४-६ ॥

राजा समस्ततीर्थानां सागरः सरितां पतिः ।
तस्मात्समस्ततीर्थेभ्यः श्रेष्ठोऽसौ सर्वकामदः ॥१२॥
तमो नाशं यथाऽभ्येति भास्करेऽभ्युदिते द्विजाः ।
स्नानेन तीर्थराजस्य तथा सर्वाघसङ्क्षयः ॥१३॥
ब्रह्मपु० अ० ५७ ॥

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं क्षेत्रं यत्परमं महत् ।
पुरुषाख्यं सकृद्दृष्ट्वा सागराम्भःसकृत्स्पृशन् ॥
ब्रह्मविद्यां सकृज्ज्ञात्वा गर्भवासो न विद्यते ॥१४॥
ब्रह्मपु० अ० ६७।३ ॥

शरीरस्य यथोद्देशाः शुचयः परिकीर्त्तिताः ।
तथा पृथिव्या भागाश्च पुण्यानि सलिलानि च ॥१५॥
महाभा० अनुशासनप० अ० १०८ ॥

गीता गङ्गा च गायत्री गोविन्देति हृदि स्थिते ।
चतुर्गकारसंयुक्ते पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥
महाभा० भीष्मप० अ० १६।३ ॥

निगृहीतेन्द्रियग्रामो यत्र यत्र वसेन्नरः ।
तत्र तत्र कुरुक्षेत्रं नैमिषं पुष्कराणि च ॥१७॥
यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च कीर्त्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥१८॥
प्रतिग्रहादपावृत्तः सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अहङ्कारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥१९॥
अकल्कको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः स तीर्थफलमश्नुते ॥२०॥
न वै योनौ प्रजायन्ते स्नातास्तीर्थे महात्मनः ।

के कोई उद्देश = उत्तम देश अवयव अतिपवित्र कहे गये हैं, तैसे ही भूमि के उत्तम देश भी तत्त्वदर्शी मुनियों से अतिपवित्र कहे गये हैं, वे भी तीर्थ हैं ॥ ९ ॥ पुरुष का विशुद्ध मन, वाक् और इन्द्रियों का कुमार्ग से निग्रह, ये तीर्थ शरीर जन्य हैं, सो स्वर्ग के द्वार को समझाते हैं ॥ १० ॥ इन्द्रियों को वश में करके मनुष्य जहाँ २ वसता है, वहाँ २ कुरुक्षेत्र, प्रयाग और पुष्कर तीर्थ हैं ॥ ११ ॥ सब तीर्थों का राजा नदियों का पति समुद्र है, तिससे वह सब तीर्थों से श्रेष्ठ और सब काम का दाता है ॥ १२ ॥ हे द्विज ! सूर्योदय से जैसे तम नष्ट होता है, तैसे तीर्थ राज के स्नान से सब पाप का संक्षय होता है = संसार नदी के पति परमात्मा में ध्यान द्वारा मग्न होने से पाप नहीं रह जाता है ॥ १३ ॥ सत्य है, सत्य है, फिर भी सत्य है, परम महत् जो पुरुष नामक क्षेत्र = सिद्ध स्थान है, उस को एक बार देख कर = अनुभव करके सागर के जल का एक वार स्पर्श करता हुआ = ब्रह्मानन्द का क्षणिकानुभवी, ब्रह्मविद्या = सच्चिदानन्द अनन्त स्वरूप के ज्ञान को एक वार पा कर स्थिर मनुष्य को फिर गर्भवास नहीं होता है ॥ १४ ॥ जैसे शरीर के उद्देश शुचि कहे गये हैं, तैसे पृथिवी के भाग और पुण्य जल शुचि कहे गये हैं ॥ १५ ॥ गीता, गंगा, गायत्री, गोविन्द, इन के हृदय में स्थिर होने पर, उन चारों गकार से युक्त मनुष्य होने पर उस का फिर जन्म नहीं होता है ॥१६॥ इन्द्रिय समूह को वश में कर के मनुष्य जहाँ २ बसता है, तहाँ २ कुरुक्षेत्रादि हैं ॥ १७ ॥ जिस के हाथ, पैर, मन, वश में हैं, विद्या तप कीर्त्ति भी संयत है, सो तीर्थ फल को पाता है ॥१८॥ प्रतिग्रह से निवृत्त, जिस किसी वस्तु से सन्तुष्ट, अहङ्कार रहित जो होता है, सो तीर्थ के फल को पाता है ॥ १९ ॥ कल्क = दम्भ शठता रहित, आरम्भ रहित = वेग दर्पकामादि का त्यागी, लघुभोजी, जितेन्द्रिय, सब पापों से जो रहित है, सो तीर्थ फल को पाता है ॥ २० ॥ निगृहीतेन्द्रियतादि पूर्वक तीर्थ में स्नान वाले

कार्त्तिकीं तु विशेषेण योऽभिगच्छति पुष्करम् ॥२१॥
वृद्धशातातपस्मृ० महाभा० वनप० अ० ८२।६ ॥

सर्वत्र संशयाविष्टः श्रद्धाहीनोऽतिचञ्चलः ।
परमार्थात्परिभ्रष्टः संसृते र्न हि मुच्यते ॥२२॥

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धि र्भवति तादृशी ॥२३॥
हरिवं० मा० अ० ३।२०-२१ ॥

अत्युग्रभूरिकर्माणो नास्तिका रौरवा जनाः ।
तेऽपि तिष्ठन्ति तीर्थेषु तीर्थसारस्ततो गतः ॥२४॥
भागवतमाहात्म्ये ॥

नह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥२५॥
श्रीमद्भागव० स्क० १०।८४।११ ॥

ज्ञानह्रदे सत्यजले रागद्वेषमलापहे ।
यः स्नाति मानसे तीर्थे स वै मोक्षमवाप्नुयात् २६

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका ।
पुरी द्वारावती ज्ञेया सप्तैता मोक्षदायिका ॥२७॥
गरुडपु० प्रेतखं० अ० ४९ ॥

एकादशीव्रतं गीता गङ्गाम्बु तुलसीदलम् ।
विष्णोः पादाम्बु नामानि स्मरणे मुक्तिदानि च२८
गरुडपु० प्रे० अ० ८।२६ ॥

ब्रह्मध्यानं परं तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः ।
दमस्तीर्थं तु परमं भावशुद्धिः परं तथा ॥२९॥

इदं तीर्थमिदं नेति ये नरा भेददर्शिनः ।
तेषां विधीयते तीर्थगमनं तत्फलं च यत् ॥
सर्वं ब्रह्मेति यो वेत्ति नातीर्थं तस्य किञ्चन ॥३०॥
गरुडपु० अ० ८१ ॥

द्रव्यशुद्धिं क्रियाशुद्धिं मनः शुद्धिमपेक्ष्य च ।
पावनानि हि तीर्थानि तपांसि च व्रतानि च ॥३१॥

कदाचिद् द्रव्यशुद्धिः स्यात् क्रियाशुद्धिः कदाचन ।
दुर्लभा मनसः शुद्धिः सर्वेषां सर्वदा नृप ! ॥३२॥

महात्मा योनि में नहीं प्राप्त होते हैं, कार्त्तिकी पूर्णिमा को जो पुष्कर जाता है, सो विशेष रूप से योनि में नहीं प्राप्त होता है ॥२१॥ सर्वत्र संशय युक्त, श्रद्धारहित, अति चञ्चल और परमार्थ पथ, सत्य अहिंसादि से पतित, संसृति से मुक्त नहीं होता है ॥ २२ ॥ मन्त्र, तीर्थ, द्विज, देव, दैवज्ञ = ज्योतिषी भेषज, गुरु, इन में जिस की जैसी भावना होती है, उसकी वैसी सिद्धि होती है ॥ २३ ॥ अत्यन्त उग्र = क्रूर, बहुत कर्म वाले, नास्तिक, रौरव = धूर्त-चञ्चल घोर जन जो हैं, सो भी तीर्थों में बसते हैं, तिस से तीर्थों का सार नष्ट हो गया है ॥ २४ ॥ जलमय यद्यपि तीर्थ नहीं है, मिट्टी पाषाण मय देव नहीं है, तथापि बहुत काल द्वारा सेवन से पवित्र करते हैं, परन्तु साधु तो दर्शनमात्र से पवित्र करते हैं ॥ २५ ॥ ज्ञान रूप ह्रद = अगाधता वाला, सत्य रूप जल वाला, रागद्वेष रूप मल का नाशक, मानस तीर्थ में जो स्नान करता है, सो अवश्य मोक्ष पाता है ॥२६॥ अयोध्या आदि इन सात पुरियों को मोक्ष दायक जानना चाहिये ॥२७॥ एकादशी व्रत, गीता, गङ्गा जल, तुलसीदल, विष्णु भगवान् का चरणोदक और नाम ये सब अन्त काल में 'स्मरणे सति' = इन के स्मरण रहने पर, मुक्ति दायक होते हैं ॥ २८ ॥ ब्रह्मध्यान पर तीर्थ है, इन्द्रियों का निग्रह तीर्थ है, दम परम तीर्थ है, तथा भाव की शुद्धि परम तीर्थ है ॥ २९ ॥ जो मनुष्य यह तीर्थ है, यह तीर्थ नहीं है, इस प्रकार भेददर्शी है, उस को तीर्थ गमन तथा उस का जो फल सो विहित होता है, और जो सब को ब्रह्ममय जानता है, उस को तो अतीर्थ कुछ नहीं है ॥ ३० ॥ तीर्थ, तप, व्रत ये सब द्रव्य, क्रिया, मन की शुद्धि की अपेक्षा लेकर पावन होते हैं, अर्थात् द्रव्यादि की शुद्धि पूर्वक तीर्थादि के गमनादि से पुण्य होता है और पाप का क्षय होता है, अन्यथा नहीं ॥३१॥ तहाँ कभी द्रव्य की शुद्धि होती है, कभी क्रिया की शुद्धि होती है, परन्तु हे नृप ! मन की शुद्धि सदा सब को दुर्लभ है ॥ ३२ ॥

मनस्तु चञ्चलं राजन्ननेकविषयाश्रितम् ।
कथं शुद्धं भवेद्राजन्नानाभावसमाश्रितम् ॥३३॥
कामक्रोधौ तथा लोभो ह्यहङ्कारो मदस्तथा ।
सर्वविघ्नकरा ह्येते तपस्तीर्थव्रतेषु च ॥३४॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
स्वधर्मपालनं राजन् ! सर्वतीर्थफलप्रदम् ॥३५॥
नित्यकर्मपरित्यागान्मार्गे संसर्गदोषतः ।
व्यर्थं तीर्थाभिगमनं पापमेवावशिष्यते ॥३६॥
क्षालयन्तीह तीर्थानि सर्वथा देहजं मलम् ।
मानसं क्षालितुं तानि न समर्थानि वै नृप ! ॥३७॥
श्रीदेवीभा० स्क० ६।१३।१७ इत्यादि ॥
प्रथमं चेन्मनः शुद्धं जातं पापविवर्जितम् ।
तदा तीर्थानि सर्वाणि पावनानि भवन्ति वै ॥३८॥
तीर्थवासी महापापी भवेत्तत्रान्यवञ्चनात् ।
तत्रैवाचरितं पापमानन्त्याय प्रकल्पते ॥३९॥
श्रीदेवीभा० स्क० ४।७ ॥

श्रीपर्वतः शिरःस्थाने केदारं तु ललाटके ।
वाराणसी महाप्राज्ञ ! भ्रुवो घ्राणस्य मध्यमे ॥४०॥
कुरुक्षेत्रं कुचस्थाने प्रयागो हृत्सरोरुहे ।
चिदम्बरं च हृन्मध्य आधारः कमलालयः ॥४१॥
आत्मस्थं तीर्थमुत्सृज्य बहिस्तीर्थानि यो व्रजेत् ।
करस्थं स महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्गति ४२
तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान् काष्ठादिनिर्मितान् ।
योगिनो न प्रपद्यन्ते स्वात्मप्रत्ययकारिणः ॥४३॥
बहिस्तीर्थात्परं तीर्थमन्तस्तीर्थं महामुने ! ।
आत्मतीर्थं परं तीर्थमन्यत्तीर्थं निरर्थकम् ॥४४॥
चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानै र्न शुद्ध्यति ।
शतशोऽपि जलै र्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचिः ॥४५॥
ज्ञानयोगपराणां तु पादप्रक्षालितं जलम् ।
पापशुद्ध्यर्थमज्ञानां तत्तीर्थं मुनिसत्तम ! ॥४६॥

हे राजन् ! अनेक विषय के आश्रित, नानाभाव=स्वभाव से समाश्रित=युक्त चंचल मन शुद्ध कैसे होगा ? ॥ ३३ ॥ काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, मद=गर्व, ये सब तप तीर्थ व्रत में सब प्रकार के विघ्न करने वाले हैं ॥३४॥ हे राजन् ! अहिंसादि पाँच और अपने धर्मों का पालन ये सब तीर्थों के फल को देने वाले हैं ॥३५॥ नित्य कर्मों के त्याग से और मार्ग में कुसंसर्गरूप दोष से तीर्थ गमन व्यर्थ होता है, और पाप ही अवशेष=बाकी रहता है, पुण्य छूट जाता है ॥ ३६ ॥ हे नृप ! इस अवस्था में देह जन्य मल को तीर्थ सर्वथा धोते हैं, परन्तु मानस मल को धोने को वे तीर्थ समर्थ नहीं हैं ॥३७॥ यदि पाप रहित मन प्रथम शुद्ध हो गया, तो सब तीर्थ पावन होते हैं ॥३८॥ तीर्थ में अन्य की वञ्चना से तीर्थ वासी महापापी हो जाता है, क्योंकि वहाँ किया पाप अनन्तता के लिये समर्थ होता है, अत्यन्त बढ़ता है ॥ ३९ ॥ श्रीपर्वत रूप तीर्थ अपने शिर रूप स्थान में, केदार तीर्थ ललाट में, और हे महाप्राज्ञ ! दोनों भ्रू और घ्राण के मध्य=त्रिकुटी में वाराणसी=काशी है ॥४०॥ कुच स्थान में कुरुक्षेत्र है, हृदय कमल के ऊपर प्रयाग है, उस के मध्य में चिदम्बर तीर्थ है, मूलाधारादि रूप आधार कमलालय तीर्थ है ॥ ४१ ॥ इस आत्मस्थ=देहस्थ तीर्थ को त्याग कर जो बाहर के तीर्थों में जाता है, सो हाथ में स्थित महारत्न को त्याग कर काँच खोजता है ॥ ४२ ॥ अपने आत्मा का ज्ञान विश्वासादि करने वाले योगी जलपूर्ण तीर्थ और काष्ठादि से निर्मित=रचित देव को नहीं जानते हैं, न प्राप्त होते हैं ॥ ४३ ॥ हे महामुने ! बाहर के तीर्थ से उत्तम तीर्थ अन्तर का तीर्थ है, और आत्म तीर्थ पर तीर्थ है, अन्य तीर्थ निरर्थक हैं ॥ ४४ ॥ क्योंकि अन्तर्गत दुष्ट चित्त तीर्थ स्नानों से शुद्ध नहीं होता है, किन्तु सैकड़ों बार जलों से धोये हुए मद्य के भांड के समान अशुचि ही रहता है ॥ ४५ ॥ हे मुनिसत्तम ! ज्ञान योग में तत्पर महात्माओं के पाद का प्रक्षालन रूप जो जल है, सो

तीर्थे दाने तपोयज्ञे काष्ठे पाषाणके सदा ।
शिवं पश्यति मूढात्मा शिवो देहे प्रतिष्ठितः ॥४७॥
शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः ।
अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिताः ॥४८॥
विभेदजनकेऽज्ञाने नष्टे ज्ञानबलान्मुने ! ।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यसि ॥४९॥

सूतसं० ज्ञानयोगखं० अ० ११।५० इत्यादि ॥

ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद्विचक्षणाः ।
अर्थस्वरूपमज्ञानात्पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः ॥५०॥
यज्ञै र्देवत्वमाप्नोति तपोभि र्ब्रह्मणः पदम् ।
दानै र्भोगानवाप्नोति ज्ञानाद् ब्रह्माधिगच्छति ५१
कर्मणा केचिदिच्छन्ति कैवल्यं मुनिसत्तम ! ।
ते मूढा मुनिशार्दूल ! प्लवा ह्येत इति श्रुतिः ॥५२॥

सूतसं० ज्ञान० अ० १६।२७-

अदृश्यं दृश्यमन्तःस्थं बहिष्ठं सर्वतोमुखम् ।
सर्वतः पाणिपादं च सर्वकारणकारणम् ॥५३॥
सर्वज्ञानादिसंयुक्तमहमित्येव चिन्तयेत् ।
अयं पन्था मुनिश्रेष्ठ ! साक्षात्संसारनाशने ॥५४॥
अथवा सच्चिदानन्दमनन्तं ब्रह्म सुव्रत ! ।
अहमस्मीत्यभिध्यायेद् ध्येयातीतं विमुक्तये ॥५५॥
इदंतया न देवेशमभिध्यायेन्मनागपि ।
ब्रह्मणः साक्षिरूपत्वान्नेदं यदिति हि श्रुतिः ॥५६॥

सूतसं० ज्ञान० खं० अ० १६।२७ इत्यादि ॥

गुरुतीर्थे परा सिद्धिस्तीर्थानां परमं पदम् ।
ध्यानं तीर्थं परं तस्माद् ब्रह्मतीर्थं सनातनम् ॥५७॥
उपवासात्परं ध्यानमिन्द्रियाणां निवर्त्तनम् ॥
उपवासनिबद्धै र्हि प्राणैरेव पुनः पुनः ।
प्राणापानौ वशे कृत्वा वशगानीन्द्रियाणि च ॥५८॥

अज्ञों के पाप की शुद्धि के लिये तीर्थ है ॥ ४६ ॥ तीर्थ, दान, तप सहित यज्ञ, काठ पाषाण में मूढ मनवाला सदा शिव को देखता है, और वह शिव देह में स्थिर है ॥ ४७ ॥ योगी लोग शिव को अपने में देखते हैं, प्रतिमाओं = मूर्तियों में नहीं, तो भी अज्ञों की भावना = चिन्तना के लिये प्रतिमा परिकल्पित है ॥ ४८ ॥ हे मुने ! ज्ञान के बल से विभेद के हेतु अज्ञान के नष्ट होने पर आत्मा और ब्रह्म के असत् = मिथ्या भेद को फिर कौन करेगा ? ॥ ४९ ॥ विद्वान् लोग इस जगत् को ज्ञान = ब्रह्म स्वरूप ही कहते हैं, जगत् में ब्रह्म की ही सत्ता कहते है, परन्तु अन्य कुदृष्टि वाले अज्ञान से स्वतन्त्र अर्थ स्वरूप जगत् को देखते हैं ॥ ५० ॥ यज्ञ से देवत्व को पाते हैं, तप से ब्रह्म लोक पाते हैं, दान से भोग पाते हैं, ज्ञान से ब्रह्म को पाते = मुक्त होते हैं ॥ ५१ ॥ यज्ञ, दान, तीर्थाभिगमनादि रूप कर्म से कोई कैवल्य = मोक्ष चाहते हैं, हे मुनिसत्तम ! मुनिशार्दूल ! वे चाहने वाले मूढ़ हैं, क्योंकि "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः" यह श्रुति है । विनश्वर अदृढ ये यज्ञ रूप हैं यह अर्थ है ॥ ५२ ॥ अदृश्य = इन्द्रियों के अविषय दृश्य = शास्त्र गुरु से ज्ञेय, हृदयस्थसाक्षी, सर्वत्र मुख वाला, सर्वत्र हाथ पैर वाला = विराट् सब कारणों का कारण = ईश्वर, सर्व ज्ञान आनन्दादि संयुक्त = सच्चिदानन्द अनन्त स्वरूप ब्रह्म मैं हूँ, = आत्मा ही अदृश्यादि स्वरूप है, इसी प्रकार चिन्तन करे । हे मुनि श्रेष्ठ ! जन्मादि संसार के नाश में यही साक्षात् मार्ग है ॥ ५३–५४ ॥ अथवा हे सुव्रत ! विमुक्ति के लिये सच्चिदानन्द अनन्त ध्येयातीत = ध्येय उपास्य से अन्य ब्रह्म मैं हूँ, इस प्रकार ध्यान, विचार, चिन्तन करे ॥ ५५ ॥ ब्रह्म के साक्षी स्वरूप होने से देवेश ब्रह्म को इदं = बाह्य विषय रूप से मनाक् = किञ्चित् तनिक भी नहीं ध्यान करे, क्योंकि 'नेदं यदिदमुपासते' यह श्रुति है ॥ ५६ ॥ गुरु रूप तीर्थ में उत्तम सिद्धि होती है, और तीर्थों का परम पद = स्थान रूप ध्यान तीर्थ है, तिससे पर सनातन ब्रह्म तीर्थ है, उपवास से उत्तम ध्यान और इन्द्रियों का निरोध है ॥ ५७ ॥ बार २ उपवास से निबद्ध = वशीकृत

बुद्धिं मनसि संयम्य सर्वेषां तु निवर्त्तनम् ।
प्रत्याहारं कृतं विद्धि मोक्षोपायमसंशयम् ॥५९॥
ब्रह्माण्डपु० उपोद्घातपा० अ० १३।१३६। इत्यादि ॥
उपावृत्तस्य पापेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह ।
उपवासः स विज्ञेयः सर्वभोगविवर्जितः ॥६०॥
भविष्यपु० अ० ६४।४ ॥
ज्ञानहृदे सत्यजले रागद्वेषमलापहे ।
यः प्राप्तो मानसे तीर्थे सर्वतीर्थफलं भजेत् ॥
मानसं हि महत्तीर्थं ब्रह्मदर्शनकारणम् ॥६१॥
भविष्यपु० पर्व० ३।२१।११ ॥
गुरुभक्तो भृत्यपोषी दयावाननसूयकः ।
नित्यजापी च होमी च सत्यवादी जितेन्द्रियः ६२
स्वदारे यस्य सन्तोषः परदारनिवर्त्तनम् ।
अपवादोऽपि नो यस्य तस्य तीर्थफलं गृहे ॥६३॥
परदारान् परद्रव्यं हरते यो दिने दिने ।
सर्वतीर्थाभिषेकेण पापं तस्य न नश्यति ॥६४॥
व्यासस्मृ० अ० ४।३-५ ॥
प्रतिग्रहादुपावृत्तः सन्तुष्टो नियतः शुचिः ।
अहङ्कारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥६५॥
अक्रोधनश्च सत्यश्च सत्यवादी दृढव्रतः ।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते ॥६६॥
मत्स्यपु० अ० १११।१०-११ ॥
गङ्गा गोदावरी रेवा तपसी यमुना सरित् ।
क्षिप्रा सरस्वती पुण्या गौतमी कौशिकी तथा ॥६७॥
कावेरी ताम्रपर्णी च चन्द्रभागा महेन्द्रजा ।
चित्रोत्पला वेत्रवती सरयूः पुण्यवाहिनी ॥६८॥
चर्मण्वती शतद्रूश्च पयस्विन्यत्रिसम्भवा ।
गण्डिका बाहुदा सर्वाः पुण्याः सिन्धुः सरस्वती ६९
भक्तिमुक्तिप्रदाश्चैताः सेव्यमाना मुहुर्मुहुः ।
अयोध्या द्वारिका काशी मथुराऽवन्तिका तथा ७०
कुरुक्षेत्रं रामतीर्थं काञ्ची च पुरुषोत्तमम् ।
पुष्करं दर्दुरं क्षेत्रं वाराहं विधिनिर्मितम् ॥

प्राणों से ही प्राण और अपान को वश में करके और इन्द्रियों को वशगामी करके बुद्धि का मन में संयम = निरोध करके निश्चित मोक्ष के उपाय रूप सब इन्द्रियादि के निवर्त्तन = निरोध रूप प्रत्याहार को कृत = सम्पादित समझो ॥ ५८-५९ ॥ पापों से निवृत्तजनों का जो शम दमादि गुणों के सहित वास = (स्थिति) है, सब भोग से रहित वही उपवास विज्ञेय = समझने योग्य है ॥६०॥ ज्ञान रूप हृद = अगाधता वाला, सत्य रूप जल वाला, रागद्वेष रूप मल का नाशक मानस तीर्थ = ध्यान में जो प्राप्त होता है, सो सब तीर्थों के फल को प्राप्त करता है । जिससे मानस महातीर्थ ब्रह्म ज्ञान का कारण है ॥६१॥ जो गुरु भक्त, भृत्यों का पालक, दया वाला, असूया रहित, सदा जप और होमकर्ता, सत्यवक्ता, जितेन्द्रिय है और जिस को अपनी स्त्री में सन्तोष है, पर स्त्री गमन का अभाव है, जिस का अपवाद भी नहीं है, तिसको घर में ही तीर्थों का फल है ॥६२-६३॥ जो दिन २ में पर की स्त्री और धन को हरता है, सब तीर्थ के स्नान से भी उस के पाप नष्ट नहीं होते हैं ॥६४॥ प्रतिग्रह से निवृत्त, सन्तोषी नियत = जितेन्द्रिय, शुचि, अहङ्काररहित जो होता है, सो तीर्थ फल को पाता है ॥६५॥ क्रोध रहित, सत्य स्वरूप = निष्काम, सत्यवक्ता, दृढनियम वाला, प्राणियों में आत्म-तुल्य दृष्टि वाला जो है, सो तीर्थ फल पाता है ॥ ६६ ॥ गङ्गा, गोदावरी, रेवा = नर्मदा, तपसी, यमुना नदी, क्षिप्रा, पुण्या सरस्वती, गौतमी तथा कौशिकी ॥ ६७ ॥ कावेरी आदि और पुण्यवाहिनी = पुण्य प्राप्त कराने वाली सरयू ॥ ६८ ॥ चर्मण्वती, शतद्रू, पयस्विनी, अत्रिसम्भवा = मन्दाकिनी, गण्डिका = गण्डक, बाहुदा सिन्धु, सरस्वती ये सब नदियाँ पुण्या = पवित्र पुण्यप्रद हैं, वार २ सेवित होने पर ये सब भक्ति मुक्ति को देने वाली हैं, तैसे ही अयोध्या, द्वारिका, काशी, मथुरा, अवन्तिका, नगरी भी भक्ति मुक्तिप्रदा हैं ॥ ६९-७० ॥ और कुरुक्षेत्र, रामतीर्थ, काञ्ची, पुरुषोत्तम, पुष्कर, दर्दुर क्षेत्र, विधिनिर्मित बाराह क्षेत्र,

वदर्याख्यं महापुण्यं क्षेत्रं सर्वार्थसाधनम् ॥७१॥
गोमत्यां तु नरः स्नायाद् दृष्ट्वा कृष्णमुखाम्बुजम् ।
भक्तिः प्रजायते पुंसो विना साङ्ख्यं षडानन ! ७२
मणिकर्ण्यां ज्ञानवाप्यां विष्णुपादोदके तथा ।
ह्रदे पञ्चनदे स्नात्वा न मातुः स्तनपो भवेत्॥७३॥
अन्यतीर्थे कृतं येन तपः परमदारुणम् ।
तत्समा वदरीयात्रा मनसापि प्रजायते ॥७४॥
षष्टिवर्षसहस्राणि योगाभ्यासेन यत्फलम् ।
वाराणस्यां दिनैक्येन तत्फलं वदरीगतौ ॥७५॥
स्कन्दपु० वैष्णवखं० २ वदरीमा० अ० १।१६ ॥
त्यक्तप्रायाणि तीर्थानि हरिणाकलिकालतः ।
वदरीं समनुप्राप्य साक्षादेवावतिष्ठते ॥७६॥
कलिकालमनुप्राप्य मुक्ति र्येषामभीप्सिता ।
द्रष्टव्या वदरी तैस्तु हित्वा तीर्थान्यशेषतः ॥७७॥
विना ज्ञानेन योगेन तीर्थाटनपरिश्रमैः ।
एकेन जन्मना जन्तुः कैवल्यं पदमश्नुते ॥७८॥
स्कन्दपु० वै० व० भा० अ०-५।२७ इत्यादि ॥
कलौ दशसहस्रान्ते विष्णुस्त्यजति मेदिनीम् ।
तदर्द्धं जाह्नवी तोयं तदर्द्धं देवतागणाः ॥७९॥
यावत्तिष्ठति गङ्गाऽत्र तावत्तीर्थानि सन्ति च ।
स्वस्वस्थाने नृणां पापं तावदेव हरन्ति च ॥८०॥
स्कन्दपु० वै० कार्त्तिकमा० अ० ४।३८-३९ ॥
एकं यदि भवेत्तीर्थं मनो निःसंशयं भवेत् ।
बहुत्वे सति तीर्थानां मनो विचलते नृणाम् ॥८१॥
प्रभासे तु स्थिता ये वै ब्राह्मणाः संशितव्रताः ।
मृत्युञ्जयेन संयुक्तं जपन्ति शतरुद्रियम् ॥८२॥
कालाग्निरुद्रसान्निध्ये दक्षिणां दिशमाश्रिताः ।
ज्ञानं चोत्पद्यते तत्र षण्मासाऽभ्यन्तरेण तु ॥८३॥
तिर्यग्योनिगताः सत्त्वा ये प्रभासे कृतालयाः ।

वदरी नामक महापुण्यक्षेत्र ये सब अर्थ के साधन हैं ॥ ७१ ॥ हे षडानन ! जो मनुष्य गोमती में स्नान करता है, उस पुरुष को कृष्ण के मुखकमल को देख कर स्थिर होने पर सांख्य के विना भी भक्ति होती है ॥ ७२ ॥ मणिकर्णिका, ज्ञानवापी, विष्णुपादोदक, पञ्चनदह्रद में स्नान कर के स्थिर मनुष्य फिर माता के स्तन पीने वाले नहीं होते हैं ॥ ७३ ॥ जिस ने अन्य तीर्थ में परम दारुण=भयानक तप किया है, उस को उस तप के तुल्य मन से भी वदरी की यात्रा होती है ॥ ७४ ॥ साठ हजार वर्ष योगाभ्यास से जो फल होता है, सो फल काशी में एक दिन के निवास से होता है, और वदरिकाश्रम में गमन से वह फल होता है ॥ ७५ ॥ कलिकाल से प्रायः अन्य तीर्थ सब हरि से त्यक्त हो चुके हैं = त्यागे गये हैं, परन्तु वदरी को सम्यग् प्राप्त हो कर हरि साक्षात् वहाँ रहते हैं ॥ ७६ ॥ कलिकाल को पा कर जिन को मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा हो, उन को अन्य सब तीर्थों को त्याग कर वदरी द्रष्टव्य है ॥ ७७ ॥ वदरी दर्शन से, ज्ञान, योग, तीर्थाटन का परिश्रम, इन सब के बिना ही एक जन्म से प्राणी कैवल्य पद=मोक्ष पाता है ॥ ७८ ॥ दश हजार वर्ष तक कलि के बीतने पर विष्णु भगवान् भूमि को त्यागते हैं, उस के आधे काल के प्राप्त होने पर गङ्गा अपने जल को त्याग देती है, और उस के भी आधे समय में देवतागण सब भूमि को त्यागते हैं ॥ ७९ ॥ जब तक गङ्गा देवी यहाँ हैं, तब तक तीर्थ सब अपने २ स्थान में हैं, और तभी तक मनुष्यों के पाप को नष्ट करते हैं ॥ ८० ॥ यदि तीर्थ एक होता तो मन संशय रहित होता, तीर्थों के बहुत होने से मनुष्यों का मन चञ्चल होता है ॥ ८१ ॥ संशित=तीव्र तीक्ष्ण व्रत वाले जो ब्राह्मण प्रभास क्षेत्र में स्थिर हैं, और मृत्युञ्जय मन्त्र सहित शतरुद्रिय का जप करते हैं, सो यदि कालाग्नि रुद्र के सान्निध्य = समीप में दक्षिण दिशा में स्थिर हो कर जप करते हैं, तो वहाँ उन को छः मास के अभ्यन्तर काल से ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ८३ ॥ जो जीव तिर्यग् योनि में प्राप्त हैं,

कालेन निधनं प्राप्तास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥८४॥
स्कन्दपु० खं० ७ अ० ४ ॥
नियतो नियताहारः स्नानजाप्यपरायणः ।
व्रतोपवासनिरतः स तीर्थफलमश्नुते ॥८५॥
तीर्थानुगमनं पद्भ्यां तपः परमिहोच्यते ।
तदेव कृत्वा यानेन स्नानमात्रं फलं लभेत् ॥८६॥
येनैकादशसंख्यानि यन्त्रितानीन्द्रियाणि वै ।
स तीर्थफलमाप्नोति नरोऽन्यः क्लेशभाग् भवेत् ८७
स्कन्दपु० खं० ७। अ० २८ ॥
सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः ।
सर्वभूतदया तीर्थं तीर्थानां सत्यवादिता ॥८८॥
ज्ञानं तीर्थं तपस्तीर्थं कथितं तीर्थ सप्तकम् ।
सर्वभूतदया तीर्थे विशुद्धि र्मनसो भवेत् ॥८९॥
न तोयपूतदेहस्य स्नानमित्यभिधीयते ।
स स्नातो यस्य वै पुंसः सुविशुद्धं मनोमतम् ॥९०॥
जायन्ते वै जलेष्वेव म्रियन्ते च जलौकसः ।
न च गच्छन्ति ते स्वर्गमशुद्धमनसो मलाः ॥९१॥
विषयेष्वनिशं रागो मनसो मल उच्यते ।
तेष्वेव हि न सङ्गम्य नैर्मल्यं समुदाहृतम् ॥९२॥
स्कन्दपु० खं० २-८। अ० १०।
सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः ।
सर्वभूतदया तीर्थं तीर्थमार्जवमेव च ॥९३॥
दानं तीर्थं दमस्तीर्थं सन्तोषस्तीर्थमुच्यते ।
ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थं च प्रियवादिता ॥९४॥
ज्ञानं तीर्थं धृतिस्तीर्थं तपस्तीर्थमुदाहृतम् ।
तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिर्मनसः परा ॥९५॥
न जलाप्लुतदेहस्य स्नानमित्यभिधीयते ।
स स्नातो यो दमस्नातः शुचिः शुद्धमनोमलः ९६
विषयेष्वतिसंरागो मानसो मल उच्यते ।
तेष्वेव विरागोऽस्य नैर्मल्यं समुदाहृतम् ॥९७॥

परन्तु प्रभास में आलय=गृह किये हैं, वे भी काल से मृत्यु पा कर उत्तम गति पाते हैं ॥ ८४ ॥ जितेन्द्रिय, नियत = परिमित आहार वाला, स्नान जप परायण, व्रत उपवास में तत्पर, जो होता है, सो तीर्थ फल पाता है ॥ ८५ ॥ पैरों से तीर्थ गमन यहाँ उत्तम तप कहलाता है, यान = रथादि से वही तीर्थ गमन करने पर स्नान मात्र का फल पाता है ॥ ८६ ॥ जिस ने एकादश संख्या वाली इन्द्रियों को यन्त्रित = वश किया, वह मनुष्य तीर्थ फल को पाता है, अन्य क्लेश के भागी होते हैं ॥ ८७ ॥ सत्य, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, सब प्राणियों पर दया, ये सब तीर्थ = तारने वाले हैं और सब तीर्थों में उत्तम तीर्थ सत्य वादिता है ॥८८॥ ज्ञान तीर्थ है, तप तीर्थ है, ये सत्यादि सात तीर्थ कहे गये हैं, सब भूतों = प्राणियों पर दया रूप तीर्थ में मन की परम विशुद्धि होती है ॥ ८९ ॥ जल से पवित्र देह वाले का स्नान = शौच नहीं कहा जाता है, किन्तु वह स्नात = शुचि-शुद्ध है, कि जिस पुरुष का मन सुविशुद्ध माना गया है ॥ ९० ॥ जलौकस = जोंकादिजलजन्तु जलों में ही जन्मते मरते हैं, परन्तु अशुद्ध मन वाले मल = पाप रूप कृपण वे सब स्वर्ग में नहीं जाते हैं ॥ ९१ ॥ विषयों में अनिश = सदा-निरन्तर राग मन का मल कहलाता है, और उन विषयों में ही नहीं प्राप्त हो कर स्थिर मन की निर्मलता कही गई है ॥ ९२ ॥ सत्यादि तीर्थ हैं, और आर्जव = ऋजुता-अक्रूरता तीर्थ है ॥ ९३ ॥ दान, दम, सन्तोष तीर्थ कहलाते हैं, ब्रह्मचर्य उत्तम तीर्थ है, और प्रियवादिता तीर्थ है ॥ ९४ ॥ ज्ञानादि तीर्थ हैं, तीर्थों में भी वह तीर्थ है, कि जो मन की उत्तम विशुद्धि है ॥ ९५ ॥ जल से आप्लुत = गीली व्याप्त देह वाले का स्नान यह नहीं कहा जाता है, वह स्नात = शुद्ध है, कि जो दम से स्नात है, और शुद्ध = निवृत्त मन के मल वाला शुचि है ॥ ९६ ॥ विषयों में अत्यन्त आसक्ति मन का मल कहलाता है, और उन विषयों में ही विराग इस मन की निर्मलता कही

ध्यानपूते ज्ञानजले रागद्वेषमलापहे ।
यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम् ॥९८॥
स्कन्दपु० खं० ४। अ० ६ ॥

स स्नातः सर्वतीर्थेषु स सर्वमलवर्जितः ।
तेन क्रतुशतैरिष्टं चेतो यस्येह निर्मलम् ॥९९॥
प्रक्षीणमानसमलो विश्वेशानुग्रहात्परात् ।
इदं शरीरमुत्सृज्य परं ब्रह्माधिगच्छति ॥१००॥
स्कन्दपु० खं० ४। अ० ३५ ॥

ऋषीणां परमं गुह्यमिदं भारतसत्तम ! ।
तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते ॥१०१॥
अनुपोष्य त्रिरात्राणि तीर्थान्यनभिगम्य च ।
अदत्त्वा काञ्चनं गाश्च दरिद्रो नाम जायते ॥१०२॥
अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः ।
न तत्फलमवाप्नोति तीर्थाभिगमनेन यत् ॥१०३॥
नृलोके देवदेवस्य तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
पुष्करं नाम विख्यातं महाभागः समाविशेत् १०४
दशकोटिसहस्राणि तीर्थानां वै महामते ! ।
सान्निध्यं पुष्करे येषां त्रिसन्ध्यं कुरुनन्दन ! १०५
महाभा० वनप० अ० ८२।१७-२१ ॥

सायं प्रातः स्मरेद्यस्तु पुष्कराणि कृताञ्जलिः ।
उपस्पृष्टं भवेत्तेन सर्वतीर्थेषु भारत ! ॥१०६॥
महाभा० व० प० अ० ८२ ॥

इदं तीर्थमिदं तीर्थं भ्रमन्ति तामसा जनाः ।
आत्मतीर्थं न जानन्ति कथं मोक्षः शृणु प्रिये ! १०७
मनोवाक्कायशुद्धानां राजंस्तीर्थं पदे पदे ।
तथा मलिनचित्तानां गङ्गापि कीकटाधिका १०८
इत्यादि ॥

"वस्तुतो बहुवाक्यानि स्तुतिरूपाणि सन्ति वै ।
ज्ञानादृते न मुक्तिः स्यान्नान्यः पन्था इति श्रुतेः १०९
प्रयोजकतया तीर्थयज्ञदानादिकं समम् ।
मुक्तिहेतु र्भवेन्नात्र संशयोऽस्ति विदां क्वचित् ११०

गई है ॥ ९७ ॥ ध्यान से पवित्र ज्ञान रूप जल वाले, रागद्वेष रूप मल के नाशक मानस तीर्थ में जो स्नान करता है, सो परम गति को पाता है ॥ ९८ ॥ जिस का चित्त रागद्वेष लोभादि मल से रहित है, वह सब तीर्थों में स्नान कर चुका, वह सब मलों से रहित है, और वह सैकड़ों यज्ञों से देव पूजन कर चुका ॥ ९९ ॥ परमात्मा के परम अनुग्रह से विनष्ट मानस मल वाला इस शरीर को त्याग कर पर ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ १०० ॥ हे भरतसत्तम ! ऋषियों का यह परम गुह्य=गोपनीय मत है, कि-तीर्थ में सविधि गमन रूप पुण्य यज्ञों से भी अधिक है ॥ १०१ ॥ तीन रात्रि में उपवास नहीं करके, तीर्थों में नहीं जाकर, सुवर्ण और गऊ का दान नहीं करके मरने वाला धनी, दरिद्र नाम युक्त जन्म लेता है ॥ १०२ ॥ विपुल=बहुत दक्षिणा युक्त अग्निष्टोमादि नामक यज्ञों से पूजन करके भी वह फल नहीं पाता है, कि जो फल तीर्थाभिगमन से पाता है ॥ १०३ ॥ मनुष्य लोक में देवों के देव का तीर्थ, तीनों लोक में विख्यात, पुष्कर नामक विख्यात है, उस में महाभाग्यवाला प्रवेश करता है। हे कुरुनन्दन ! हे महामते ! दश कोटि सहस्र तीर्थों के भेद हैं, जिन का तीनों संध्याओं में पुष्कर में सान्निध्य=सम्बन्ध होता है ॥१०४-१०५॥ जो कोई अञ्जलि जोड़ कर सांय प्रातः काल में पुष्करों को स्मरण करता है, वह हे भारत ! सब तीर्थों में उपस्पृष्ट=स्नात होता है ॥ १०६ ॥ शिवजी का कथन है, कि-हे प्रिये ! यह तीर्थ है यह तीर्थ है, ऐसा समझ कर तामस जन भ्रमते हैं, और आत्मतीर्थ को नहीं जानते हैं, तो मोक्ष कैसे हो ? ॥१०७॥ हे राजन ! मन, वाक्, शरीर जिन के शुद्ध हैं, उनको पद २ में तीर्थ है, और मलिन चित्त वालों के लिये गङ्गा भी कीकट=मगध से अधिक है ॥ १०८ ॥ इत्यादि ॥ वस्तुतः बहुत वाक्य स्तुति रूप हैं, ज्ञान के विना मुक्ति नहीं हो सकती, ज्ञान से अन्य मोक्ष का साक्षात् मार्ग नहीं है, इस श्रुति से यह सिद्ध होता है ॥ १०९ ॥ प्रयोजक=परम्परा प्रेरक रूप से तीर्थ, यज्ञ, दानादि सब निष्काम शुभ कर्म मुक्ति के हेतु होते हैं, इस में विद्वानों को

प्रागुक्तविधिना तीर्थे गतिः शुद्धेन चेतसा ।
देवदर्शनमुक्त्यर्थं स्यात्सत्साधुसमागमैः ॥१११॥
त्यागोक्तिमयवाक्यानि माहात्म्यख्यापकानि हि ।
प्रायोऽभिप्रायकान्येव ज्ञानान्मुक्ति र्हरिस्तथा ११२
वर्त्तते सर्वदैवात्र हरो देवी विधी रविः ।
गणेशो ज्ञानरूपश्च रक्षानाशादिशक्तिकाः ॥११३॥
सर्वे चिन्मात्ररूपाश्च शक्त्या पार्थक्यमागताः ।
श्रद्धावन्तं प्रतीक्षन्ते शुद्धं सद्भक्तिसंयुतम् ॥११४॥
मिलित्वा तं च रक्षन्ति भक्तं वै विधिपूर्वकम् ।
ज्ञानशक्त्यादिदानेन तिष्ठन्ति दूरमन्यतः ॥११५॥
नासौ दूरे न निकटे सर्वात्मत्वाद्विभुत्वतः ।
ज्ञानाऽज्ञानादिभेदेन दूरे च निकटेऽस्ति सः॥११६॥
भाति ह्यज्ञस्य दूरेऽसौ हरि र्देवो हरो विधिः ।
आत्मैव ज्ञानिनः सर्वे भक्तस्यातिसमीपतः॥११७॥
प्रायः श्रद्धादिहीनाश्च भवन्तीह कलौ जनाः ।
ज्ञानहीनास्ततो याति देवो दूरे त्विशाति नो" ११८

इत्येकादशं तीर्थप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ सतां वृत्तं मतं च ॥ १२ ॥

परित्राणाय दुर्मृत्योरात्मनो ब्रह्मलब्धये ।
सतां वृत्तं मतं ज्ञात्वा कर्त्तव्यं स्याद्यथोचितम् ॥१॥
दानं व्रतं ब्रह्मचर्यं यथोक्तं ब्रह्मधारणम् ।
दमः प्रशान्तता चैव भूतानां चानुकम्पनम्॥२॥
संयमश्चानृशंस्यं च परस्वादानवर्जनम् ।
व्यलीकानामकरणं भूतानां मनसा भुवि ॥३॥
मातापित्रोश्च शुश्रूषा देवतातिथिपूजनम् ।
गुरुपूजा घृणा शौचं नित्यमिन्द्रियनिग्रहः ॥
प्रवर्त्तनं शुभानां च तत्सतां वृत्तमुच्यते ॥४॥
महाभार० ॥

क्षमा धृत्तिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
ज्ञानं त्यागोऽथ संन्यासः सात्त्विकं वृत्तमिष्यते॥५॥
महाभा० आश्वमेधिकप० अ० ४८/७ ॥

पूजया विपुलं राज्यमग्निकार्येण सम्पदः ।
तपः पापविशुद्ध्यर्थं ज्ञानं ध्यानं च मुक्तिदम् ॥६॥
श्रीव्यासोक्तिः ॥

कहीं संशय नहीं है ॥ ११० ॥ पूर्व वर्णित विधि से पैदल शुद्ध मन से तीर्थों में गमन सच्चे साधुओं के समागम द्वारा देव दर्शन और मुक्ति के लिये होता है ॥ ११ ॥ हरि आदि के तीर्थ त्यागमय वाक्य भी महात्म्य के ही बोधक हैं, प्रथम के समय को पवित्र समझाते हैं, और बहुलता के अभिप्राय वाले हैं । ज्ञान से ही मुक्ति होती है, और विभु हरि सदा ही यहाँ रहते हैं, और हरादि वस्तुतः चिन्मात्र रूप हैं, अनन्त माया की शक्ति से पृथकता को प्राप्त हुए हैं, श्रद्धावाले की प्रतीक्षा करते हैं ॥ ११२-११४ ॥ भक्तों से मिल कर उन की विधिपूर्वक रक्षा ज्ञान की शक्ति आदि के दान द्वारा करते हैं और अन्य से दूर रहते हैं॥११५॥ वस्तुतः वह सर्वात्मा विभु होने से वह ज्ञान अज्ञानादि के भेद से ही दूर और निकट में है ॥ ११६ ॥ वह हरिहर विधि रूप देव अज्ञ को दूर देश में भासता है, और ज्ञानी के सब आत्मा ही हैं, और भक्त के अति समीप में हैं ॥ ११७ ॥ प्रायः इस कलि में प्राणी श्रद्धा आदि से रहित होते हैं, तिससे देव दूर में जाते हैं, और प्रतीत नहीं होते हैं ॥ ११८ ॥ ग्यारहवाँ तीर्थ प्रकरण समाप्त ॥

अथ सद्वृत सन्मत—दुष्ट मृत्यु से अपनी रक्षा और ब्रह्मप्राप्ति के लिये सत्पुरुषों के वृत्त=चरित्र और मत को जान कर यथोचित कर्तव्य होता है ॥ १ ॥ शास्त्रोक्त दान, व्रत, ब्रह्मचर्य, वेद का धारण, दम, प्रशान्तता, प्राणि दया, संयम, अक्रूरता, पर धन अग्रहण, प्राणियों की पीड़ा का नहीं करना, पितृ सेवा, देवादिपूजा, करुणा, शौच, सदा इन्द्रियनिग्रह, शुभों का साधन करना, यह सत्पुरुषों का वृत्त कहलाता है ॥ २-४ ॥ क्षमा, धैर्यादि सात्त्विक वृत्त कहलाता है ॥ ५ ॥ गुरु देवादि पूजा से राज्य मिलता है, अग्नि-

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः ।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥७॥
अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गांञ्छनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥८॥
ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशब्दितम् ।
न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते ॥९॥
मनुस्मृ० अ० ६।८१ इत्यादि ॥

योग आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे ।
अत्यन्तोपरति र्यत्र दुःखस्य च सुखस्य च ॥१०॥
चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् ।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये ॥११॥
अहं ममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभि र्मलैः ।
वीतं यदा मनः शुद्धमदुःखमसुखं समम् ॥१२॥
तदा पुरुष आत्मानं केवलं प्रकृतेः परम् ।
निरन्तरं स्वयंज्योतिरणिमानमखण्डितम् ॥१३॥

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना ।
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम् ॥१४॥
न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि ।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये॥१५॥
प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः ।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ॥१६॥
श्रीमद्भा० स्क० ३।२५।१३ । इत्यादि ॥

असत्ये सत्यतावेशो देहादौ चात्मताग्रहः ।
विनाऽज्ञानमयुक्तः सन्नात्मन्यज्ञानकल्पकः ॥१७॥
सामान्यतः प्रसिद्धस्य वस्तुनस्तु विशेषतः ।
अप्रसिद्धि विनाऽज्ञानं कथञ्चिन्नोपपद्यते ॥१८॥
अस्ति सामान्यतो ह्यात्मा प्रसिद्धोऽहमिति स्फुरन् ।
अन्त र्बाह्येषु सर्वत्र सन् घटः सन् पटस्त्विति॥१९॥
एवं ह्यात्मनि संसिद्धं ज्ञानाभावादिलक्षणम् ।
अज्ञानं संशयादीनामन्यथाऽनुपपत्तितः ॥२०॥

होत्रादि से सम्पत्तियाँ मिलती हैं, पाप की विशुद्धि के लिये तप होता है, ज्ञान और ध्यान=अभ्यास योग विचार मुक्तिप्रद हैं ॥६॥ जब विषयों में दोष दर्शन के होने से इच्छा से रहित होता है, तब सर्वत्र सुख पाता है ॥ ७ ॥ इस प्रकार सब सङ्गों को धीरे २ त्याग कर सब द्वन्द्वों से रहित पुरुष ब्रह्मनिष्ठ ही होता है ॥ ८ ॥ यह सङ्ग त्याग और निर्द्वन्द्वता जो कही गई है, यह सब ध्यान से होने वाली है, क्योंकि अध्यात्मज्ञान रहित कोई भी निर्द्वन्द्वता असङ्गता रूप क्रिया फल को नहीं पाता है, किन्तु ध्यान से अध्यात्मज्ञान द्वारा पाता है ॥ ९ ॥ आध्यात्मिक योग मोक्ष के लिये मुझे सम्मत है, कि-जिस में सुख दुःख का अत्यन्त अभाव होता है ॥१०॥ इस जीवात्मा के बन्धनादि का हेतु चित्त मान्य है, त्रिगुण में आसक्त चित्त वन्धन के लिये होता है, आत्मा में आसक्त मोक्ष के लिये होता है ॥ ११ ॥ अहन्तादिजन्य लोभादि मल से रहित मन जब शुद्ध होता है, तब सुख दुःख रहित सम होता है ॥ १२ ॥ तब यह जीव प्रकृति से पर शुद्ध, निरन्तर, स्वयं प्रकाश, अतिसूक्ष्म, अखण्ड, आत्मा को ज्ञानादि युक्त मन से समझता है और उस आत्मा को उदासीन जानता है, तथा प्रकृत्ति को स्वबन्धनादि में शक्ति हीन जानता है ॥ १३-१४ ॥ सर्वात्मभक्ति से अन्य उस के सदृश कल्याण रूप मार्ग योगियों को ब्रह्म प्राप्ति के लिये नहीं है ॥ १५ ॥ अनात्मवस्तु में सम्बन्ध को जीवात्मा का अजर पास रूप कवि लोग जानते हैं, परन्तु वही प्रसङ्ग साधुओं में किया जाय तो उसको खुला हुआ मोक्ष का द्वार जानते हैं ॥ १६ ॥ असत्य देहादि में सत्यता का निश्चय आत्मत्व का ज्ञान. अज्ञान के विना अयुक्त होता हुआ आत्मा में अज्ञान का साधक होता है ॥ १७ ॥ समान्यतः =ज्ञात वस्तु की विशेष रूप से अप्रसिद्धि अज्ञान के विना नहीं हो सकती है ॥ १८ ॥ 'अहम्' इस समान रूप से आत्मा प्रकाशता हुआ भीतर प्रसिद्ध है, और बाहर सर्वत्र 'घट है, पट है' इत्यादि रूप से प्रसिद्ध है ॥ १९ ॥ इस प्रकार विशेष ज्ञान का अभावादि रूप अज्ञान आत्मा में भी सिद्ध है, क्योंकि

यथा स्वतः प्रसिद्धत्वादप्रमेयो भवेदयम् ।
तथैवमप्रसिद्धत्वात्प्रमेयोऽपि भवेदयम् ॥२१॥
सामान्यतः प्रसिद्धोऽर्थो योऽप्रसिद्धो विशेषतः ।
सोऽज्ञानभ्रमसन्देहमानज्ञानविचारभूः ॥२२॥
यो ह्यज्ञातो विपर्यस्तः सन्दिग्धः सार्थनिर्णयः ।
स एवार्थो विचार्यः स्यात्सम्यग् ज्ञानोपपत्तये २३
स्वार्थबोधाय वेदान्ता यद्प्यन्यानपेक्षिणः ।
तथापीच्छन्ति ते स्वार्थनिर्णयाय विचारणाम् २४
विचारबिन्दु० परिच्छे० २।११। इत्यादि ॥
आचार्योपासनं वेदशास्त्रार्थेषु विवेकिता ।
तत्कर्मणामनुष्ठानं सङ्गः सद्भिर्गिरः शुभाः ॥२५॥
स्त्र्यालोकालम्भविगमः सर्वभूतात्मदर्शनम् ।
त्यागः परिग्रहाणां च जीर्णकाषाय धारणम् ॥२६॥
विषयेन्द्रियसंरोधस्तन्द्रालस्यविवर्जनम् ।
शरीरपरिसंख्यानं प्रवृत्तिष्ववदर्शनम् ॥२७॥
निरजस्तमसा सत्त्वशुद्धिर्निस्पृहता शमः ।
एतैरुपायैः संशुद्धः सत्त्वयोग्यमृती भवेत् ॥२८॥
तत्त्वस्मृतेरुपस्थानात्सत्त्वयोगात्परिक्षयात् ।
कर्मणां सन्निकर्षाच्च सतां योगः प्रवर्त्तते ॥२९॥
शरीरसंक्षये यस्य मनः सत्त्वस्थमीश्वरम् ।
अविप्लुतमतिः सम्यग् जातिसंस्मरतामियात् ॥३०॥
अहङ्कारेण मनसा गत्या कर्मफलेन च ।
शरीरेण च नात्माऽयं मुक्तपूर्वः कथञ्चन ॥३१॥
याज्ञवल्क्यस्मृ० अ० ३।१५६-६१-६४ ॥

इति द्वादशं सद्वृत्तसन्मतप्रकरणं समाप्तम् ॥

इति श्रीतत्त्वार्थमणिमालायां स्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्रिसङ्गृहीतायां ज्ञानादिनामकमष्टमं काण्डं समाप्तम् ॥

अज्ञान विना संशयादि नहीं हो सकते हैं ॥ २० ॥ जैसे स्वयं प्रकाश होने से यह अप्रमेय है, तैसे ही विशेष रूप से अप्रसिद्ध होने से प्रमेय भी होता है ॥ २१ ॥ जो पदार्थ समान रूप से प्रसिद्ध रहता है, और विशेष रूप से अप्रसिद्ध रहता है, सोई पदार्थ अज्ञान, भ्रम, संशय, प्रमाण, ज्ञान, विचार का आश्रय विषय होता है ॥ २२ ॥ जो पदार्थ अज्ञात, भ्रम का विषय, संदिग्ध, सफल निर्णय का विषय होता है, वही पदार्थ यथार्थ ज्ञान की सिद्धि के लिये विचारणीय होता है ॥ २३ ॥ यद्यपि वेदान्त=उपनिषद् अपने अर्थ के ज्ञान के लिये अन्य की अपेक्षा नहीं करता, तथापि स्वार्थ के निर्णय के लिये विचार चाहता है ॥ २४ ॥ गुरु आचार्य की सेवा, वेद और सत्शास्त्रार्थ की विवेकिता, वेद शास्त्र विहित कर्मादि का अनुष्ठान=आचरण सत्सङ्ग प्रिय हित वचन ॥ २५ ॥ स्त्री के आलोकन स्पर्शादि का त्याग, सब प्राणियों में समदृष्टिता, परिग्रहों का त्याग, जीर्णकाषाय का धारण ॥ २६ ॥ विषयों से इन्द्रियों का निरोध, निद्रा तुल्य तन्द्रा और आलस्य=अनुत्साह का त्याग, शरीर का परिसंख्यान=अस्थिरत्व अशुचित्वादि दोषों का चिन्तन तथा प्रवृत्तियों में हिंसादि दोषों का ज्ञान विचारादि ॥ २७ ॥ रजस्तमोगुण के त्याग द्वारा सत्त्व=भाव की शुद्धि, विषयेच्छाराहित्य, शम=बाह्य अन्तः करण का संयम इन उपायों से सम्यक् शुद्ध पुरुष केवलसत्त्व से युक्त होकर ज्ञान से अमृत=मुक्त होता है ॥ २८ ॥ आत्मतत्त्व की स्मृति=ध्यान की निश्चल स्थिति, केवल सत्त्वगुण के योग=सम्बन्ध कर्म बीज के क्षय=नाश और सत्संग से योग सिद्ध होता है ॥ २९ ॥ शरीर के नाश काल में सत्त्व में स्थिर जिस का मन ईश्वर का स्मरण करता है, वह स्थिर बुद्धि वाला जाति स्मरता को प्राप्त करता है ॥ ३० ॥ अहङ्कार मन गति=संसार के हेतु दोष कर्म फल सूक्ष्मदेह इन सब से रहित यह जीवात्मा प्रथम कभी नहीं था, न मोक्ष तक इन से मुक्त रहेगा ॥ ३१ ॥ बारहवाँ सद्वृत्तसन्मतप्रकरण समाप्त ॥

स्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्रिसंगृहीत तत्त्वार्थमणिमाला में ज्ञानादिनामक आठवाँ काण्ड समाप्त ॥

अथ सन्मतनामकं नवमं काण्डम्

तत्र च प्रथमं मनुमतप्रकरणम्

केचित्साम प्रशंसन्ति व्यायाममपरे जनाः ।
नैकं च नापरे केचिदुभयं च तथा परे ॥१॥
यज्ञमेव प्रशंसन्ति संन्यासमपरे जनाः ।
दानमेके प्रशंसन्ति केचिच्चैव प्रतिग्रहम् ॥२॥
केचित्सर्वं परित्यज्य तुष्णीं ध्यायन्त आसते ।
राज्यमेके प्रशंसन्ति प्रजानां परिपालनम् ॥३॥
हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च केचिदेकान्तशीलिनः ।
एतत्सर्वं समालोच्य बुधानामेष निश्चयः ॥४॥
अद्रोहेणैव भूतानां यो धर्मः स सतां मतः । यतः—
अद्रोहः सत्यवचनं संविभागो दया दमः ॥५॥
प्रजनं स्वेषु दारेषु मार्दवं ह्रीरचापलम् ।
एवं धर्मं प्रधानेष्टं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥६॥
महाभा० शान्तिप० अ० २१।७-१२ ॥ देवस्थानोक्तिः ॥

इति प्रथमं मनुमतप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ व्यासमतम् ॥ २ ॥

आत्मापि चायं न मम सर्वापि पृथिवी मम ।
यथा मम तथाऽन्येषामिति पश्यन्न मुह्यति ॥१॥
दुःखमेवास्ति न सुखं तस्मात्तदुपलभ्यते ।
तृष्णार्त्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्त्तिप्रभवं सुखम् ॥२॥
सुखमेवाह दुःखान्तं कदाचिद्दुःखतः सुखम् ।
तस्मादेतद् द्वयं जह्याद्य इच्छेच्छाश्वतं सुखम् ॥३॥
महाभा० शां० प० अ० २५ ॥ सेनजिदुक्तिः ॥
सुखं दुःखान्तमालस्यं दाक्ष्यं दुःखं सुखोदयम् ।

सन्मत नामक नववाँ काण्ड प्रारम्भ

अथ मनुमत—कोई साम=प्रीति की प्रशंसा करते हैं, अन्य जन व्यायाम=यत्न की प्रशंसा करते हैं, अन्य कोई एक=ध्यान की प्रशंसा नहीं करते हैं, सो बात नहीं है, किन्तु ध्यान की अवश्य प्रशंसा करते हैं, अन्य कोई साम व्यायाम दोनों की प्रशंसा करते हैं ॥ १ ॥ कोई यज्ञ की, अन्य कोई संन्यास की, कोई दान की, कोई प्रतिग्रह की प्रशंसा करते हैं ॥२॥ ध्यान के प्रशंसक कोई सब को त्याग कर ध्यान करते हुए तुष्णीं=मौन रहते हैं। कोई राज्य की स्तुति करते हैं, कोई दुष्टों का हनन, छेदन, भेदन कर के प्रजा के परिपालन की प्रशंसा करते हैं, कोई एकान्त शीली=एक निश्चय स्वभाव वाले होते हैं, इन सब को विचार कर विद्वानों का यह निश्चित मत है, कि–प्राणियों के द्रोह=अपकार के विना जो धर्म है, सोई सत्पुरुषों से सम्मत है; क्योंकि अद्रोह, सत्य वचन, संविभाग, दया, दम, स्वदारा में प्रजन=पुत्रोत्पादन, मृदुता, कुकर्मादि से लज्जा, अचञ्चलता, इस प्रकार के प्रधान=मुख्य इष्ट धर्म को स्वायंभुव मनु ने कहा है ॥ ३–६ ॥ पहला मनुमतप्रकरण समाप्त ॥

अथ व्यासमत—यह व्यावहारिक आत्मा देह भी मेरा स्वरूप नहीं है, और आत्मसत्ता रूप से पृथिवी आदि सब संसार मेरा ही स्वरूप है, और जैसे मैं सब से अन्य सर्वात्मा हूँ, तैसे अन्य भी हैं, इससे जैसा मेरा स्वरूप हं, तैसा अन्य का भी है, इस प्रकार स्वरूप को जानने वाला मोह युक्त नहीं होता है ॥ १ ॥ अज्ञ को संसार में दुःख ही है, सुख नहीं है, तिससे दुःख जाना जाता है, क्योंकि तृष्णा से जो आर्त्ति=चञ्चलता-पीड़ा, उससे उत्पत्ति वाला दुःख होता है, और दुःख की आर्ति=विनाश से उत्पत्ति वाला सुख होता है ॥ २ ॥ सुख को ही दुःख रूप अन्त वाला कहते हैं, और कभी दुःख से सुख होता है, इससे दुःख सुख मिले हैं, अतः जो नित्य सुख चाहे, सो इन दोनों को त्यागे ॥ ३ ॥ आलस्य वर्तमान में सुख

भूतिः श्री र्ह्री धृतिः कीर्त्तिं र्दक्षे वसति नालसे ॥४॥
महाभा० शां० प० अ० २७।३२॥
शुभाशुभफलं प्रेत्य लभते भूतसाक्षिकम् ।
अतिरिच्येत यो यत्र तत्कर्त्ता लभते फलम् ॥५॥
तस्माद्दानेन तपसा कर्मणा च फलं शुभम् ।
वर्द्धयेदशुभं कृत्वा यथा स्यादतिरेकवान् ॥ ६ ॥
कुर्याच्छुभानि कर्माणि निवर्त्तेत पापकर्मणः ।
दद्यान्नित्यं च वित्तानि तथा मुच्येत किल्बिषात् ॥७॥
जानता तु कृतं पापं गुरु सर्वं भवत्युत ।
अज्ञानात्स्वल्पको दोषः प्रायश्चित्तं विधीयते ॥८॥
शिष्टाचारश्च शिष्टश्च धर्मो धर्मभृतां वर ! ।
सेवितव्यो नरव्याघ्र ! प्रेत्येह च सुखेप्सुना ॥९॥
महाभा० शां० प० अ० ३५।४०॥ इत्यादि ॥

श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः ।
वेदस्याऽध्ययनं हीदं तच्च कार्यं महत् स्मृतम् ॥१०॥
महाभा०शां०प०अ० ३२७।४६। शिष्यान् प्रति श्रीव्यासोक्तिः॥
क्षितिं वा देवलोकं वा गम्यतां यदि रोचते ।
अप्रमादश्च वः कार्यो ब्रह्म हि प्रचुरच्छलम् ॥११॥
महाभा० शां० प० अ० ३२८।६। शिष्यान् प्रत्येत्र ॥
धर्मं पुत्र ! निषेवस्व सुतीक्ष्णौ च हिमातपौ ।
क्षुत्पिपासे च वायुं च जय नित्यं जितेन्द्रियः १२
सत्यमार्जवमक्रोधमनसूयां दमं तपः ।
अहिंसां चानृशंस्यं च विधिवत्प्रतिपालय ॥१३॥
फेनमात्रोपमे देहे जीवे शकुनिवत् स्थिते ।
अनित्ये प्रियसंवासे कथं स्वपिसि पुत्रक ! ॥१४॥
शुभाशुभे पुराकृते प्रमादकर्मविप्लुते ।
स्मरन् पुरा न तप्यसे निधत्स्व केवलं निधिम् १५

रूप होता हुआ भी दुःख रूप अन्त वाला है, ऐसे ही दुःख रूप दाक्ष्य=निपुणता-अनलसता सुख का उदय=(प्रकटता) रूप है, क्योंकि अणिमादि विभूति, लक्ष्मी, लज्जा, धैर्य, कीर्ति, दक्ष में बसती हैं, आलसी में नहीं ॥ ४ ॥ पांच भूत साक्षी पूर्वक शुभ और अशुभ फल को प्राणी मर कर भोगता है, तहाँ जो कर्ता जिस पुण्य वा पाप में अधिक होता है, जिस ने जिस का अधिक आचरण किया है, सो उस अधिक के फल को प्रथम भोगता है ॥ ५ ॥ अतः प्रमादादि से अशुभ कर के दान, तप, कर्म द्वारा शुभ फल को बढ़ावे, कि जिस प्रकार से पुण्य में अधिकता वाला हो ॥ ६ ॥ शुभ कर्मों को करे, पाप कर्म से निवृत्त हो, सदा सत्पात्र को धन देवे, वैसा कर के पाप से मुक्त हो ॥ ७ ॥ जानने वाले से किया गया सब पाप बड़ा होता है, प्रायश्चित्त से निवृत्त नहीं होता है, अज्ञान से पाप कर्म होने पर स्वल्प दोष होता है, उस की निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त का विधान किया जाता है ॥ ८ ॥ हे धर्मधारियों में श्रेष्ठ ! नरश्रेष्ठ ! मर कर और यहाँ भी सुखेच्छु से शिष्टाचार, शिष्ट और धर्म ये सेवनीय हैं ॥ ९ ॥ ब्राह्मण को आगे कर के चारो वर्णों को-जो शिष्य के गुणों से युक्त हों, उन्हें श्रवण कराना चाहिये, यह वेद का जो अध्ययन है, सो सब के लिये महान् कार्य है ॥ १० ॥ पृथिवी वा देव लोक यदि रुचता, शुभ सुखद प्रतीत होता है, तो तुम सब वहाँ जाओ, तुम सब को अप्रमाद=सावधानी कर्त्तव्य है, क्योंकि ब्रह्म=ब्राह्मण बहुत छल वाले हैं ॥ ११ ॥ हे पुत्र ! धर्म को निरन्तर सेवो, और सदा जितेन्द्रिय हो कर अतितीक्ष्ण हिम=शीत आतप, भूख, पिपासा और वायु को जीतो ॥१२॥ और सत्य, ऋजुता, अक्रोध, अनसूया, दम, तप, अहिंसा, अक्रूरता का विधिवत् प्रतिपालन करो ॥ १३ ॥ हे पुत्र ! फेनमात्र के तुल्य देह में पक्षी के समान जीव की क्षणिक स्थिति होने पर तथा प्रिय जन के साथ संवास = स्थिति के अनित्य होते हुए भी तुम सोते कैसे हो ? पुरुषार्थ के साधन में क्यों नहीं प्रवृत होते हो ? ॥ १४ ॥ प्रमाद से कृत=आचरित, कर्म से विप्लुत= उपद्रुत, पूर्व के किये शुभाशुभ को स्मरण करते हुए आगे तापयुक्त नहीं होगे, इसलिये केवल = निर्गुण

पुराकृतसङ्गतानि ते सुहृन्मुखाश्च शत्रवः ।
विचालयन्ति दर्शनाद् घटस्व पुत्र! यत्परम् ॥१६॥
धनस्य यस्य राजतो भयं नचास्ति चोरतः ।
मृतं च यन्मुञ्चति समर्जयस्व तद्धनम् ॥१७॥
न मातृपितृबान्धवा न संस्तुतः प्रियो जनः ।
अनुव्रजन्ति सङ्कटे व्रजन्तमेकपातिनम् ॥१८॥
महाभा० शां० प० अ० ३२१ । शुकाय श्रीव्यासोक्तिः ॥

इति द्वितीयं व्यासमतप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ उतथ्यमतम् ॥ ३ ॥

दुर्बलस्य च यच्चक्षु र्मुनेराशीविषस्य च ।
अविसह्यतमं मन्ये मा स्म दुर्बलमासदः ॥१॥
दुर्बलान् तात! बुध्येथा नित्यमेवाविमानितान् ।
मा त्वां दुर्बलचक्षूंसि प्रदहेयुः सबान्धवम् ॥२॥
यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि रोदनात् ।
तानि पुत्रान् पशून् घ्नन्ति तेषां मिथ्याभिशंसनात् ३
यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पौत्रेषु नप्तृषु ।
न हि पापं कृतं कर्म सद्यः फलति गौरिव ॥४॥
म० शां० प० अ० ९१॥ इति तृतीयमुतथ्यमतप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ भीष्ममतम् ॥ ४ ॥

धर्मेण निधनं श्रेयो न जयः पापकर्मणा ।
नाधर्मश्चरितो राजन् सद्यः फलति गौरिव ॥१॥
महाभा० शान्तिप० अ० ९५।१७ ॥
वागदेहमनसां शौचं क्षमा सत्यं धृतिः स्मृतिः ।
सर्वधर्मेषु धर्मज्ञा ज्ञापयन्ति शुभान् गुणान् ॥२॥
महाभा० शान्तिप० अ० २१४।६ ॥
चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम् ।
कुरुते यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते ॥३॥
दमः क्षमा धृतिस्तेजः सन्तोषः सत्यवादिता ।
ह्रीरहिंसाऽव्यसनिता दाक्ष्यं चेति सुखावहाः ॥४॥
नायं परस्य सुकृतं दुष्कृतं चापि सेवते ।

ब्रह्मनिधि का धारण करो ॥ १५ ॥ हे पुत्र! प्रथम के कृतसङ्गत=सम्बन्ध और मित्रादि तथा शत्रु ये सब 'ते'=तुम को या तेरी बुद्धि को दर्शन=धर्मज्ञानादि से विचलित करते हैं, जो पर तत्त्व है, उस का सम्पादन करो ॥१६॥ जिस विद्या रूप धन को राजा से वा चोर से भय नहीं है, मृत प्राणी को भी जो नहीं त्यागता है, उस धन का सम्यग् उपार्जन करो ॥ १७॥ सङ्कट=सम्यग् बाधा युक्त स्थान में एकाकी जाने वाले के साथ पीछे, माता, पिता, बान्धव, संस्तुत=परिचित-सम्यग् स्तुत प्रिय जन कोई नहीं जाते हैं ॥१८॥

दूसरा व्यासमतप्रकरण समाप्त ॥

अथ उतथ्यमत—दुर्बल का पालन भारी पुण्य है, उस का अपालन, उसे कष्ट देना भारी पाप है, इससे दुर्बल मुनि के चक्षु और सर्प के चक्षु को अत्यन्त अविसह्य मानता हूँ, दुर्बल को सताओ नहीं ॥ १ ॥ हे तात! दुर्बलों को सदा अविमानित=आदृत देखना समझना, विमानित=अनादृत दुर्बल के चक्षु बान्धव सहित तुम को प्रदग्ध नहीं करें, सो करना ॥२॥ मिथ्या अभिशस्त=व्यभिचार के दोषारोप वालों के रोदन से जो अश्रु गिरते हैं, सो मिथ्या अभिशंसन=दोषारोप से उन आरोप करने वालों के पुत्र पशु आदि को नष्ट करते हैं ॥३॥ यदि पाप के फल अपने में नहीं फलते हैं, तो पुत्रों में नहीं तो पौत्रों में नातियों में फलते हैं, क्योंकि किया हुआ कर्म शीघ्र ही गौ तुल्य नहीं फलता है ॥ ४ ॥ तीसरा उतथ्यमतप्रकरण समाप्त ॥

अथ भीष्ममत—धर्म से मरण शुभ है, पाप कर्म से विजय भी शुभ नहीं है, हे राजन्! आचरित अधर्म गऊ के समान शीघ्र नहीं फल देता है ॥ १ ॥ झूठ, हिंसा, कामादि, से रहितता आदि रूप वाक् देह और मन के शौच को तथा क्षमा, सत्य, धैर्य, स्मृति=ईश्वर स्मरण को, प्रवृत्ति निवृत्ति रूप सब धर्मों में धर्मज्ञ लोग शुभ गुण समझाते हैं ॥ २ ॥ चक्षु, मन, वचन, कर्म से चार प्रकार के कर्म जैसा करता है, तैसा फल पाता है ॥ ३ ॥ दम, क्षमा, धैर्य, तेज=प्रभाव, सन्तोष, सत्यवादिता, ह्री=लज्जा, अहिंसा, काम, क्रोधजन्य व्यसनों से रहितता, दक्षता, ये सब सुख प्रापक=मोक्षप्रद होते हैं ॥ ४ ॥ यह पुरुष अन्य के

करोति यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते ॥५॥
महाभा० शान्तिप० अ० २६०।१६-२०-२२॥
आयु र्न सुलभं लब्ध्वा नावकर्षेद्विशां पते ! ।
उत्कर्षार्थं प्रयतेत नरः पुण्येन कर्मणा ॥६॥
वर्णोत्कर्षमवाप्नोति नरः पुण्येन कर्मणा ।
दुर्लभं तमलब्ध्वा हि हन्यात्पापेन कर्मणा ॥७॥
पापानुबन्धं यत्कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम् ।
तन्न सेवेत मेधावी शुचिः कुशलिनं यथा ॥८॥
स्वयं कृत्वा तु यः पापं शुभमेवानुतिष्ठति ।
प्रायश्चित्तं नरः कर्त्तुमुभयं सोऽश्नुते पृथक् ॥९॥
अज्ञानात्तु कृतां हिंसामहिंसा व्यपकर्षति ।
ब्राह्मणाः शास्त्रनिर्देशादित्याहु र्ब्रह्मवादिनः ॥१०॥
तथा कामकृतं नास्य विहिंसैवानुकर्षति ।
इत्याहु र्ब्रह्मशास्त्रज्ञा ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ॥११॥
अहं तु तावत्पश्यामि कर्म यद्वर्त्तते कृतम् ।
गुणयुक्तं प्रकाशं वा पापेनानुपसंहितम् ॥१२॥
यथा सूक्ष्माणि कर्माणि फलन्तीह यथातथम् ।
बुद्धियुक्तानि तानीह कृतानि मनसा सह ॥१३॥
भवन्त्यल्पफलं कर्म सेवितं नित्यमुल्वणम् ।
अबुद्धिपूर्वं धर्मज्ञ ! कृतमुग्रेण कर्मणा ॥१४॥
महाभा० शान्तिप० अ० २९१।३-५-७-६-१६॥
इति चतुर्थं भीष्ममतप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ मुनिमतम् ॥ ५ ॥

यत्किञ्चिन्मन्यसेऽस्तीति सर्वं नास्तीति विद्धि तत् ।
एवं न व्यथते प्राज्ञः कृच्छ्रामप्यापदं गतः ॥१॥
महाभा० शान्तिप० अ० १०४।१३॥
आदरेण यथा स्तौति धनवन्तं धनेच्छया ।
तथा चेद्विश्वकर्त्तारं को न मुच्येत बन्धनात् ॥२॥

पुण्य वा पाप को नहीं सेवता = फल पाता है, किन्तु जैसा कर्म करता है, तैसा फल किसी के द्वारा पाता है ॥ ५ ॥ सुलभ नहीं किन्तु दुर्लभ आयु को पाकर. उस को अपकृष्ट = हीनन्यून नहीं करे, किन्तु हे राजन् ! पुण्य कर्म द्वारा मनुष्य आयु की उत्कर्षता के लिये प्रयत्न करे ॥ ६ ॥ मनुष्य पुण्य कर्म से वर्णोत्कर्ष = वृद्धि पाता है, और दुर्लभ उस वर्णोत्कर्ष को न पाकर पाप कर्म से आप को नष्ट करता है ॥ ७ ॥ पाप का अनुगामी हेतु जो कर्म हैं, सो यदि प्रथम महाफल वाले भी हों, तो भी बुद्धिमान् उस को नहीं करे, नहीं सेवे । जैसे कुशलि = अन्त्यज विशेष को शुचि पुरुष नहीं सेवता है ॥ ८ ॥ स्वयं जानकर पाप कर के जो मनुष्य फिर प्रायश्चित्त = पाप की निवृत्ति करने के लिये शुभ ही करता है, सो दोनों को पृथक् भोगता है ॥ ९ ॥ अज्ञान से की गई हिंसा को अहिंसा द्वारा निवृत्ति करता है, ब्रह्मवादी ब्राह्मण, शास्त्र के निर्देश = उपदेश, आज्ञा से इस प्रकार कहते हैं ॥ १० ॥ काम से कृत इस के पाप को अविहिंसा = अहिंसा ही तथा = अकामकृत के समान अपकर्ष = न्यून नाश नहीं करता है, इस प्रकार ब्रह्मशास्त्रज्ञ ब्रह्मवादी ब्राह्मण कहते हैं ॥ ११ ॥ मैं तो यह देखता हूँ, कि-गुणयुक्त = पुण्य, प्रकाश = ज्ञात वा जो कर्म किया गया होता है, सो सब फल देता है, तहाँ पुण्य कर्म पाप से अनुपसंहित = अमिलित फल देता है ॥ १२ ॥ जैसे बुद्धियुक्त मन के साथ जो कर्म यहाँ किये गये हैं, सो सूक्ष्म कर्म भी यथायोग्य यहाँ फल देते हैं, तैसे ही उल्वण = पाप कर्म, जो सदा सेवित होते हैं, सो फल देते हैं । हे धर्मज्ञ ! उग्र = क्रूर कर्मों से अबुद्धि पूर्वक जो कर्म सेवित होता है वह भी फल देता है, परन्तु वह कर्म अल्प फल वाला होता है, यह भेद है ॥१३-१४॥

चौथा भीष्ममतप्रकरण समाप्त ॥

अथ मुनिमत—जिस सब अनात्मा को मानते हो, कि, है उसको समझो कि नहीं है, इसी प्रकार विद्वान् दुःखी नहीं होता है, चाहे कठिन आपत्ति को क्यों न प्राप्त हो ? ॥ १ ॥ जैसे धनी की स्तुति धन की इच्छा से कर्ता है, तैसे यदि विश्व कर्ता की स्तुति करे तो बन्धन से कौन न मुक्त हो ? ॥ २ ॥

यथा सुनिपुणः सम्यक् परदोषेक्षणं प्रति।
तथा चेन्निपुणः स्वेषु को न मुच्येत बन्धनात् ॥३॥
इति पञ्चमं मुनिमतप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ मङ्किमतम् ॥ ६ ॥

न चैवाविहितं शक्यं दक्षेणापीहितुं धनम्।
युक्तेन श्रद्धया सम्यगीहां समनुतिष्ठता ॥१॥
यदि वाप्युपपद्येत पौरुषं नाम कर्हिचित्।
अन्विष्यमाणं तदपि दैवमेवावतिष्ठते ॥२॥
तस्मान्निर्वेदमेवेह गन्तव्यः सुखमिच्छता।
सुखं स्वपिति निर्विण्णो निराशश्चार्थसाधने ॥३॥
यः कामानाप्नुयात्सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत्।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥४॥
नान्तं सर्वविधित्सानां गतपूर्वोऽस्ति कश्चन।
शरीरे जीविते चैव तृष्णा मन्दस्य वर्द्धते ॥५॥
महाभा० शान्तिप० अ० १७७ ॥
इति षष्ठं मङ्किमतप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ भगवन्मतम् ॥ ७ ॥

नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्थावरजङ्गमम्।
ऋते तमेकं पुरुषं वासुदेवं सनातनम् ॥१॥
निर्गुणो निष्कलश्चैव निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः।
एतत्त्वया न विज्ञेयं रूपवानिति दृश्यते ॥२॥
इच्छन्मुहूर्त्तान्नश्येयमीशोऽहं जगतां गुरुः।
माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणै र्युक्तं नैवं मां ज्ञातुमर्हसि ॥३॥
महाभा० शान्तिप० अ० ३३९।३२-४४-४५ ॥

धर्मकार्यं यतन् शक्त्या नो चेत्प्राप्नोति मानवः।
प्राप्तो भवति वै पुण्यमत्र मे नास्ति संशयः ॥४॥
मनसा चिन्तयन् पापं कर्मणा नातिरोचयेत्।
न प्राप्नोति फलं तस्येत्येवं धर्मविदो विदुः ॥५॥
महाभा० उद्योगप० अ० ९३। ६-७ ॥

जैसे अन्य के दोषों को देखने में अति निपुण रहता है, तैसे यदि अपने दोषों के ज्ञान में निपुण हो तो कौन बन्धन से मुक्त न हो ? ॥ ३ ॥ पाञ्चवाँ मुनिमतप्रकरण समाप्त ॥

अथ मङ्किमत—श्रद्धायुक्त सम्यग् ईहा=चेष्टा के करने वाले दक्ष कुशल से भी दैव से अविहित धन 'ईहितुं'=साधन से सम्पादन के शक्य=योग्य नहीं है ॥ १ ॥ यदि कभी पुरुष का उद्यम फल युक्त सिद्ध भी होगा, तो भी अन्विष्यमाण=आलोचित विचारित वह दैव रूप ही स्थिर होगा ॥ २ ॥ तिससे इस संसार में सुखेच्छु को निर्वेद=वैराग्य ही गन्तव्य=प्रापणीय है, सुखार्थक अर्थ और उसके साधन में निर्विण्ण=विरक्त यहाँ सुख से सोता है ॥ ३ ॥ जो कोई सब कामों=भोगों को प्राप्त करता है, अन्य कोई सब कामों को केवल त्यागता है, वहाँ सब की प्राप्ति की अपेक्षा परित्याग श्रेष्ठ है ॥ ४ ॥ सब विधानेच्छा प्रवृत्ति के अन्त को कोई प्रथम भी नहीं प्राप्त हुआ है, शरीर और जीवन में मन्द की तृष्णा बढ़ती ही है ॥ ५ ॥ छववां मङ्किमतप्रकरण समाप्त ॥

अथ भगवन्मत—तिस एक सनातन वासुदेव पुरुष=आत्मा के विना जगत् में स्थावर जंगम कोई प्राणी नित्य नहीं है ॥ १ ॥ वह सनातन, निर्गुण, निष्कल=निरवयव, निर्द्वन्द्व, निष्परिग्रह=वासनादिरहित है, यह भी तुझे नहीं समझना चाहिये, वह रूपवाला है और दीखता है, ॥ २ ॥ जगत् का गुरु मैं ईश्वर रूप से इच्छा करता हुआ मुहूर्त मात्र में नष्ट=जगत् रूप से अदृश्य हो जाऊँ, यह मुझ से माया रची गई, कि—हे नारद ! जो मुझे देख रहे हो, सर्वभूत के गुणों से युक्त इस प्रकार मुझ निर्गुण आत्मा को जानने योग्य आप नहीं हो ॥३॥ धर्म कार्य को शक्ति के अनुसार यत्न करता हुआ मनुष्य यदि नहीं भी प्राप्त करता है, तो भी पुण्य को प्राप्त होता है, इसमें मुझे संशय नहीं है ॥४॥ मन से पाप की चिन्ता=विचार करता हुआ भी कर्मों से सिद्धि की अतिरुचि नहीं करे, तो उस पाप के फल को नहीं पाता है, इस प्रकार धर्मज्ञ

स्वस्ववर्णाश्रमाचारनिरताः सर्वमानवाः ।
न जानन्ति परं धर्मं वृथा नश्यन्ति दाम्भिकाः ॥६॥
क्रियायासपराः केचिद् व्रतचर्यादिसंयुताः ।
अज्ञानसम्वृतात्मानः सञ्चरन्ति प्रतारकाः ॥७॥
नाममात्रेण सन्तुष्टाः कर्मकाण्डरता नराः ।
मन्त्रोच्चारणहोमाद्यैः भ्रामिताः क्रतुविस्तरैः ॥८॥
एकभुक्तोपवासाद्यैः नियमैः कायशोषणैः ।
मूढाः परोक्षमिच्छन्ति मम मायाविमोहिताः ॥९॥
देहदण्डनमात्रेण का मुक्तिरविवेकिनाम् ।
वल्मीकताडनादेव मृतः कुत्र महोरगः ॥१०॥
जटाभाराजिनैर्युक्ता दाम्भिका वेषधारिणः ।
भ्रमन्ति ज्ञानिवल्लोके भ्रामयन्ति जनानपि ॥११॥
संसारजसुखासक्तं ब्रह्मज्ञोऽस्मीति वादिनम् ।
कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टं तं त्यजेदन्त्यजं यथा ॥१२॥
वेदशास्त्रपुराणज्ञः परमार्थं न वेत्ति यः ।
विडम्बकस्य तस्यैव तत्सर्वं काकभाषितम् ॥१३॥
इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयमितिचिन्तासमाकुलाः ।
पठन्त्यहर्निशं शास्त्रं परतत्त्वपराङ्मुखाः ॥१४॥
वाक्यच्छन्दोनिबद्धेन काव्यालङ्कारशोभिताः ।
चिन्तया दुःखिता मूढास्तिष्ठन्ति व्याकुलेन्द्रियाः १५
अन्यथा परमं तत्त्वं जनाः क्लिश्यन्ति चान्यथा ।
अन्यथा शास्त्रसद्भावो व्याख्यां कुर्वन्ति चान्यथा १६
पठन्ति वेदशास्त्राणि बोधयन्ति परस्परम् ।
न जानन्ति परं तत्त्वं दर्वी पाकरसं यथा ॥१७॥
संसारमोहनाशाय शब्दबोधो न हि क्षमः ।
न निवर्त्तेत तिमिरं कदाचिद्दीपवार्त्तया ॥१८॥

जानते हैं ॥५॥ दाम्भिक=दम्भ-कपट से धर्माचारण करने वाले सब मनुष्य अपने २ वर्ण और आश्रम के आचार=व्यवहार में रत=प्रीति प्रवृत्ति वाले उत्तम धर्म को नहीं जानते हैं, इससे व्यर्थ नष्ट होते हैं ॥६॥ कोई प्रतारक=वञ्चक क्रिया में आयास=अतियत्न परायण, व्रत चर्या=व्रतानुष्ठान आदि से संयुक्त, अज्ञान से आवृत आत्मा वाले हो कर विचरते हैं ॥ ७ ॥ कर्म काण्ड वेदादि में रत मनुष्य नाम=संभावना ख्याति मात्र से सन्तुष्ट होकर मन्त्रों के उच्चारण होमादि से यज्ञों के विस्तारों से भ्रान्त किये गये हैं ॥ ८ ॥ मेरी माया से विमोहित मूढ़ एक ग्राम के भोजन उपवासादि द्वारा, अन्य नियमों द्वारा शरीर के शोषण=सुखाने से परोक्ष लोकादि चाहते हैं ॥ ९ ॥ देह को उपवासादि से दण्ड देने मात्र से अविवेकियों की मुक्ति क्या होगी ? वल्मीक रूप सर्पस्थान के ताडन से ही महासर्प कहाँ मरा है ? ॥१०॥ दाम्भिक वेषधारी, जटा के भार और अजिन=मृग चर्म से युक्त होकर ज्ञानी के समान लोक में भ्रमते=विचरते हैं, और जनों को भ्रम युक्त करते हैं ॥ ११ ॥ संसार से जन्य सुख में आसक्त और मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ, यह कहने वाला, कर्म और ब्रह्म दोनों से जो पतित है, उस को अन्त्यज के समान त्यागना चाहिये ॥ १२ ॥ जो वेदशास्त्र और पुराण का ज्ञाता होकर भी परमार्थ को नहीं जानता है, तिस विडम्बक=मिथ्याचारी के वह सब काक के शब्द हैं ॥ १३ ॥ यह ज्ञान है, यह ज्ञेय=ज्ञातव्य है, इस चिन्ता से अति व्याकुल मनुष्य रात दिन शास्त्र को पढ़ते हैं, और पर तत्त्व से विमुख रहते हैं ॥ १४ ॥ वाक्य=गद्य छन्दः=पद्य, के निबन्ध=रचना ग्रन्थों से और काव्य अलङ्कारों से शोभित भी मूढ मनुष्य चिन्ता से दुःखित और व्याकुल इन्द्रिय वाले रहते हैं ॥ १५ ॥ इससे परम तत्त्व अन्यथा=सत्यानन्द स्वरूप है, और वे जन मिथ्या दुःख रूप देह के अभिमानी होने से पर तत्व से अन्यथा होकर क्लेश पाते हैं, और शास्त्र के सत्य तात्पर्य भी अन्यथा=अमानित्वादिमय हैं, परन्तु व्याख्यान अन्य प्रकार से करते हैं ॥ १६ ॥ इससे वेद शास्त्रों को पढ़ते हैं, परस्पर बोध कराते करते हैं, परन्तु दर्वी पाक रस को जैसे नहीं जानती, तैसे ये पर तत्त्व को नहीं जानते हैं ॥ १७ ॥ शब्द का ज्ञान संसार के मोह की निवृत्ति के लिये समर्थ नहीं है, जैसे दीप की वार्ता से कभी

प्रज्ञाहीनस्य पठनं यथान्धस्य च दर्पणम् ।
अतः प्रज्ञावतां शास्त्रं तत्त्वज्ञानस्य लक्षणम् ॥१९॥
इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयं सर्वं तु श्रोतुमिच्छति ।
दिव्यवर्षसहस्रायुः शास्त्रान्तं नैव गच्छति ॥२०॥
अनेकानि च शास्त्राणि स्वल्पायुर्विघ्नकोटयः ।
तस्मात्सारं विजानीयात्क्षीरं हंस इवाम्भसि ॥२१॥
अभ्यस्य वेदशास्त्राणि तत्त्वं ज्ञात्वाऽथ बुद्धिमान् ।
पलालमिव धान्यार्थी सर्वशास्त्राणि सन्त्यजेत् ॥२२॥
यथामृतेन तृप्तस्य नाहारेण प्रयोजनम् ।
तत्त्वज्ञस्य तथा तार्क्ष्य ! न शास्त्रेण प्रयोजनम् ॥२३॥
न वेदाऽध्ययनान्मुक्ति र्न शास्त्रपठनादपि ।
ज्ञानादेव हि कैवल्यं नान्यथा विनतात्मज !॥२४॥
नाश्रमः कारणं मुक्ते दर्शनानि न कारणम् ।
तथैव सर्वकर्माणि ज्ञानमेव हि कारणम् ॥२५॥
मुक्तिदा गुरुवागेका विद्या सर्वा विडम्बका ।
काष्ठभारसहस्रेषु ह्येकं सञ्जीवनं परम् ॥२६॥
अद्वैतं हि शिवं प्रोक्तं क्रियायासविवर्जितम् ।
गुरुवक्त्रेण लभ्येत नाधीतागमकोटिभिः ॥२७॥
अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
समं तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥२८॥
द्वे पदे बन्धमोक्षाय न ममेति ममेति च ।
ममेति बध्यते जन्तु र्न ममेति विमुच्यते ॥२९॥
यावत् कर्माणि दीयन्ते यावत्संसारवासना ।
यावदिन्द्रियचापल्यं तावत्तत्त्वकथा कुतः ॥३०॥
यावद्देहाभिमानश्च ममता यावदेव हि ।
यावत्प्रयत्नवेगोऽस्ति यावत्सङ्कल्पकल्पना ॥३१॥

तिमिर = अन्धकार निवृत्त नहीं होता है ॥ १८ ॥ बुद्धि हीन का पढ़ना अन्ध के दर्पण के समान होता है, इससे बुद्धिमानों का ही शास्त्र का पठन तत्त्वज्ञान का लक्षण है ॥१९॥ जो कोई "यह ज्ञान है, यह ज्ञेय है" ऐसा समझ कर बाह्य के सब ज्ञान ज्ञेय को सुनना चाहता है, सो देवताओं के वर्ष से हजार वर्ष आयु वाला होने पर भी शास्त्र के अन्त को नहीं पाता है ॥ २० ॥ शास्त्र अनेक हैं, आयु थोड़ी है, विघ्न करोड़ों हैं, तिससे सार को समझे, जैसे हंस पानी में दूध को जानता है ॥ २१ ॥ बुद्धिमान् पुरुष वेद, शास्त्र का अभ्यास करके और तत्त्व को जानकर, जैसे धान्यार्थी पलाल को त्यागता है, तैसे सब शास्त्रों को त्यागे ॥ २२ ॥ हे तार्क्ष्य ! = गरुड़ ! जैसे अमृत से तृप्त को आहार से प्रयोजन नहीं रहता है, तैसे तत्त्वज्ञानी को शास्त्र से प्रयोजन नहीं रहता है ॥ २३ ॥ वेद के अध्ययन से मुक्ति नहीं होती है, न शास्त्र के पढ़ने से होती है, किन्तु हे विनतात्मज ! = गरुड़ ! ज्ञान ही से कैवल्य = मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं ॥ २४ ॥ आश्रम, दर्शन और सब कर्म मुक्ति के कारण नहीं हैं, किन्तु ज्ञान ही कारण है ॥ २५ ॥ मुक्ति देने वाली एक गुरु की वाणी है, सब विद्या विडम्बक = तिरस्कारक है, काठ के हजारो भार में एक संजीवन = सम्यग् जीवन का हेतु जीवन रूप उत्तम है ॥ २६ ॥ अद्वैत = भेदरहित तत्त्व शिव = कल्याण रूप कहा गया है, जो क्रिया आयास से रहित है । सो गुरुमुख से मिलता है, पठित कोटि आगम से नहीं मिलता है ॥ २७ ॥ कोई प्रलयकालिक अद्वैत चाहते हैं, अन्य कोई सृष्टिकालिक द्वैत चाहते हैं, सो सब द्वैताद्वैत से रहित = प्रलयसृष्टि से रहित, उभय अवस्था में सम तत्त्व को नहीं जानते हैं ॥ २८ ॥ बन्ध और मोक्ष के लिये 'मम' और 'न मम' = ममता और ममता का अभाव, सर्वत्र समता ये दो पद = दो निश्चय ही हैं, तहाँ 'मम' इस निश्चय से प्राणी बँधता है, 'न मम' इस निश्चय से विमुक्त होता है ॥ २९ ॥ जब तक सकामता से कर्म फल दे कर क्षीण होते हैं, निष्काम को ही चित्त शुद्धि द्वारा मोक्ष फल होता है, इससे वही फल रूप से अक्षय होता है, इससे जब तक संसार की वासना कामी को है, इससे जब तक इन्द्रियों की चञ्चलता है, तब तक तत्त्व कथा कैसे हो ? ॥ ३० ॥ जब तक देह का

यावन्नो मनसः स्थैर्यं न यावच्छास्त्रचिन्तनम् ।
यावन्न गुरुकारुण्यं तावत्तत्त्वकथा कुतः ॥३२॥
तावत्तपो व्रतं तीर्थं जपहोमार्चनादिकम् ।
वेदशास्त्रागमकथा यावत्तत्त्वं न विन्दति ॥३३॥
मोक्षं गच्छन्ति तत्त्वज्ञा धार्मिकाः स्वर्गतिं नराः ।
पापिनो दुर्गतिं यान्ति संसरन्ति खगादयः ॥३४॥
गरुडपु० प्रेतखं० अ० ४६।५८ ॥
इति सप्तमं भगवन्मतप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ दुर्योधनाय धृतराष्ट्रोक्तिः ॥ ८ ॥

अनार्यचरितं तात ! परस्वस्पृहणं भृशम् ।
स्वसन्तुष्टः स्वधर्मस्थो यः स वै सुखमेधते ॥१॥
अव्यापारः परार्थेषु नित्योद्योगः स्वकर्मसु ।
रक्षणं समुपातानामेतद्वैभवलक्षणम् ॥२॥
विपत्तिष्वव्यथो दक्षो नित्यमुत्थानवान्नरः ।
अप्रमत्तो विनीतात्मा नित्यं भद्राणि पश्यति ॥३॥
महाभा० सभाप० अ० ५४ ॥
इत्यष्टमं धृतराष्ट्रोक्तिप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ धृतराष्ट्राय सञ्जयोक्तिः ॥ ९ ॥

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवचीनानि पश्यति ॥१॥
बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे समुपस्थिते ।
अनयो नयसङ्काशो हृदयान्नापसर्पति ॥२॥
अनर्थाश्चार्थरूपेण अर्थाश्चानर्थरूपिणः ।
उत्तिष्ठन्ति विनाशाय नूनं तच्चास्य रोचते ॥३॥
न कालो दण्डमुद्यम्य शिरः कृन्तति कस्यचित् ।
कालस्य बलमेतावद् विपरीतार्थदर्शनम् ॥४॥
महाभा० सभाप० अ० ८१ ॥
इति नवमं सञ्जयोक्तिप्रकरणं समाप्तम् ॥

अभिमान है, ममता है, प्रयत्न का वेग है, सङ्कल्प की कल्पना=शक्ति विस्तार है, मन की स्थिरता नहीं है, न शास्त्र का चिन्तन है, न गुरु की करुणा है, तब तक तत्त्वकथा किससे हो ? ॥३१–३२॥ तभी तक तप, व्रत, तीर्थ, जप, होम, पूजनादि कर्तव्य हैं, वेद शास्त्र आगम की कथा है, कि जब तक तत्त्व को नहीं पाता है ॥ ३३ ॥ तत्त्वज्ञानी मोक्ष पाते हैं, धर्माचारी नर स्वर्गगति पाते हैं, पापी दुर्गति पाते हैं, पक्षी आदि जन्मते मरते हैं ॥ ३४ ॥ सातवाँ भगवन्मत प्रकरण समाप्त ॥

अथ दुर्योधन के प्रति धृतराष्ट्रोक्ति—हे तात ! पर के धन की बार २ इच्छा करना यह अनार्य = नीचों का चरित्र है, अपने धन से सन्तुष्ट, अपने धन में स्थिर जो होता है, वह अवश्य सुख पाता है ॥१॥ दूसरे के अर्थों में अव्यापार=इच्छा आदि का त्याग, अपने कर्मों में सदा उद्योग = उद्यम यत्न, और प्राप्त का रक्षण, यह वैभव = विभव ऐश्वर्य का लक्षण है ॥ २ ॥ विपत्ति में व्यथा = दुःख पीड़ा रहित, दक्ष = निपुण, सदा उद्यमवाला, प्रमादरहित, विनीतात्मा = विनय युक्त मनवाला मनुष्य सदा शुभों को देखता है, कल्याण पाता है ॥ ३ ॥ आठवाँ धृतराष्ट्रोक्ति प्रकरण समाप्त ॥

अथ धृतराष्ट्र के प्रति सञ्जयोक्ति—देव सब जिस पुरुष के लिये पराभव = तिरस्कार-विनाश देते हैं, उस की बुद्धि को हर लेते हैं, इस से वह अवाचीन = विपरीत देखता है ॥ १ ॥ बुद्धि के कलुष = पाप युक्त मलिन स्वरूप होने पर और विनाश के सम्यग् उपस्थित = समीप में प्राप्त होने पर, नय = नीति के तुल्य भासने वाला जो अनय = (अनीति) सो हृदय से हटता नहीं है ॥ २ ॥ और अनर्थ = अनिष्ट पापादि अर्थ रूप से, तथा अर्थ अनर्थ रूप वाला हो कर, विनाश के लिये उत्थित = प्रकट होते हैं, और वही इस को अवश्य रुचता = प्रिय लगता है ॥ ३ ॥ काल दण्ड उठा कर किसी का शिर नहीं काटता है, विपरीत अर्थ का ज्ञान होना यही काल का बल है ॥ ४ ॥ नववाँ सञ्जयोक्ति प्रकरण समाप्त ॥

अथ शौनकमतम् ॥ १० ॥

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥१॥
मानसेन हि दुःखेन शरीरमुपतप्यते ।
अयःपिण्डेन तप्तेन कुम्भसंस्थमिवोदकम् ॥२॥
मानसं शमयेत्तस्माज्ज्ञानेनाग्निमिवाम्बुना ।
प्रशान्ते मानसे ह्यस्य शारीरमुपशाम्यति ॥३॥
मनसो दुःखमूलं तु स्नेह इत्युपलभ्यते ।
स्नेहात्तु सज्जते जन्तु दुःखयोगमुपैति च ॥४॥
स्नेहमूलानि दुःखानि स्नेहजानि भयानि च ।
शोकहर्षौ तथाऽऽयासः सर्वं स्नेहात्प्रवर्त्तते ॥५॥
स्नेहाद् भावोऽनुरागश्च प्रजज्ञे विषये तथा ।
अश्रेयस्कावुभावेतौ पूर्वस्तत्र गुरुः स्मृतः ॥६॥
कोटराग्निं यथाशेषं समूलं पादपं दहेत् ।
धर्मार्थौ तथाल्पोऽपि रागदोषो विनाशयेत् ॥७॥
विप्रयोगे न तु त्यागी दोषदर्शी समागमे ।
विरागं भजते जन्तु निर्वैरो निरवग्रहः ॥८॥

महाभा० वनप० अ० २१६–२५। इत्यादि ॥

इति दशमं शौनकमतप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ धर्मव्याधमतम् ॥ ११ ॥

मृषावादं परिहरेत्कुर्यात्प्रियमयाचितः ।
न कामान्न च संरम्भान्न द्वेषाद्धर्ममुत्सृजेत् ॥१॥
प्रिये नाति भृशं हृष्येदप्रिये न च संज्वरेत् ।
न मुह्येदर्थकृच्छ्रेषु न च धर्मं परित्यजेत् ॥२॥
न पापे प्रतिपापः स्यात्साधुरेव सदा भवेत् ।
आत्मनैव हतः पापो यः पापं कर्त्तुमिच्छति ॥३॥
विकर्मणा तप्यमानः पापद्विपरिमुच्यते ।
न तत्कुर्यात्पुनरिति द्वितीयात्परिमुच्यते ॥४॥

अथ शौनकमत—शोकों के हजारो स्थान = हेतु और भय के सैकड़ो स्थान, दिन २ में मूढ़ को प्राप्त होते हैं, पण्डित को नहीं ॥ १ ॥ मानस दुःख से शरीर इस प्रकार उपतप्त = दुःखी होता है, कि-जैसे तप्त लोह पिण्ड से कुम्भ में स्थिर जल तप्त होता है ॥ २ ॥ अतः मानस दुःख को ज्ञान से शान्त करे, जैसे जल से अग्नि शान्त की जाती है, इसके मानस दुःख के प्रशान्त होने पर शरीर सम्बन्धी दुःख भी शान्त होते हैं ॥ ३ ॥ मानस स्नेह ही दुःख का मूल ज्ञात होता है, स्नेह = राग से प्राणी कार्यासक्त होता है, प्रवृत्त होता है, फिर दुःख के साथ सम्बन्ध पाता है ॥ ४ ॥ इससे स्नेहरूप मूल वाले दुःख हैं, स्नेहजन्य भय हैं, शोक हर्ष आयास = क्लेश ये सब स्नेह से सिद्ध होते हैं ॥ ५ ॥ स्नेह = राग से विषय में भाव = भावना सङ्कल्प हुआ, तथा अनुराग = (प्रीति) हुआ, सो ये दोनों अश्रेयस्कर = अशुभकारक हैं, तिन में भी पहला = संकल्प गुरु = भारी कहा गया है ॥ ६ ॥ वृक्ष के कोटर की अग्नि जैसे मूल सहित वृक्ष को जलाती है, तैसे ही अल्प भी रागदोष = रागरूप दोष धर्म अर्थ को विनष्ट करता है ॥ ७ ॥ विषयों के साथ वियोग से कोई त्यागी नहीं होता है, किन्तु विषयों के समागम = प्राप्ति रहते भी जो विषयों के दोषों को जानने वाला होता है, सो त्यागी होता है वह विराग को सेवता है, और वह प्राणी निर्वैर निरवग्रह द्वेष रहित प्रतिबन्ध रहित रहता है ॥ ८ ॥ दशवाँ शौनकमतप्रकरण समाप्त ॥

अथ धर्मव्याधमत—मिथ्या वचन को त्यागे, अयाचित = अप्रार्थित भी अन्य का प्रिय हित करे, काम = इच्छा संरम्भ = भय क्रोध वा द्वेष से धर्म को नहीं त्यागे ॥ १ ॥ प्रिय = अनुकूल में अत्यन्त वार २ खुशी नहीं हो, अप्रिय में सन्ताप नहीं करे, अर्थ के कष्ट दशा में मोहित नहीं हो, न धर्म को त्यागे ॥२॥ पापी में प्रतिपापी नहीं हो, पाप से पाप का बदला नहीं ले, सदा साधु ही हो, जो पाप करना चाहता है, वह पाप = पापी आप से ही नष्ट होता है ॥ ३ ॥ विकर्म से तप्यमान = दुःखी पश्चात्ताप युक्त मनुष्य

यथाऽऽदित्यः समुद्यन् वै तमः पूर्वं व्यपोहति ।
एवं कल्याणमातिष्ठन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥५॥
पापानां विद्धचधिष्ठानं लोभमेव द्विजोत्तम ! ।
लुब्धाः पापं व्यवस्यन्ति नरा नातिबहुश्रुताः ॥६॥
महाभा० वनप० अ० २०७।४२-४३-४५-५१-५७-५८ ॥
इत्येकादशं धर्मव्याधमतप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ श्रीशुकदेवमतम् ॥ १२ ॥

किं सुखं मानुषे लोके ब्रूहि तात ! निरामयम् ।
दुःखविद्धं सुखं प्राज्ञा न वदन्ति सुखं किल ॥१॥
स्त्रियं कृत्वा महाभाग ! भवामि तद्वशानुगः ।
सुखं किं परतन्त्रस्य स्त्रीजितस्य विशेषतः ॥२॥
कदाचिदपि मुच्येत लोहकाष्ठादियन्त्रितः ।
पुत्रदारैर्निबद्धस्तु न विमुच्येत कर्हिचित् ॥३॥
बृहस्पति र्गुरुः प्राप्तः सोऽपि मग्नो गृहार्णवे ।
अविद्याग्रस्तहृदयः कथं तारयितुं क्षमः ॥४॥
रोगग्रस्तो यथा वैद्यः पररोगचिकित्सकः ।
तथा गुरु र्मुमुक्षो र्मे गृहस्थोऽयं विडम्बना ॥५॥
अधीत्य वेदशास्त्राणि संसारे रागिणश्च ये ।
तेभ्यः परो न मूर्खोऽस्ति सधर्माः श्वाऽश्वसूकरैः ६
मानुष्यं दुर्लभं प्राप्य वेदशास्त्राण्यधीत्य च ।
बध्यते यदि संसारे को विमुच्येत मानवः ॥७॥
नातः परतरं लोके क्वचिदाश्चर्यमद्भुतम् ।
पुत्रदारगृहासक्तः पण्डितः परिगीयते ॥८॥
किं वृथाऽध्ययनेनात्र दृढबन्धकरेण च ।
पठितव्यं तदेवाशु मोचयेद् भवबन्धनात् ॥९॥
गृह्णाति पुरुषं यस्माद् गृहं तेन प्रकीर्त्तितम् ।
क्व सुखं बन्धनागारे तेन भीतोऽस्म्यहं पितः॥१०॥

पूर्वकृत पाप से परिमुक्त होता है, और फिर पाप नहीं करेगा इस से द्वितीय = भावी पाप से परिमुक्त होता है ॥ ४ ॥ जैसे उदित होता हुआ सूर्य प्रथम तम को नष्ट करता है, इसी प्रकार कल्याण को प्राप्त करता हुआ मुमुक्षु प्रथम सब पापों से निवृत्त मुक्त होता है ॥ ५ ॥ हे द्विजोत्तम ! पापों के अधिष्ठान = आश्रय लोभ को ही जानो, अतिश्रवणादि रहित लोभी मनुष्य पाप का ही व्यवसाय = उद्यम-निश्चय करते हैं ॥ ६ ॥ ग्यारहवाँ धर्मव्याधमतप्रकरण समाप्त ॥

अथ श्रीशुकदेवमत—हे तात ! मानुष लोक में निरामय = रोगरहित सुख क्या है ? सो कहो ? दुःखों से विद्ध = बाधित-व्याप्त-ग्रसित सुख को विद्वान् सुख नहीं जानते हैं ॥ १ ॥ हे महाभाग ! स्त्री का स्वीकार कर के उस के वशवर्त्ती अनुगामी होऊँगा, फिर पराधीन और विशेष रूप से स्त्री से विजित को सुख क्या होगा ? ॥ २ ॥ लोहे की जञ्जीर, काठ की निगड़=हरी आदि से यन्त्रित=बद्ध कभी मुक्त होता है, परन्तु स्त्री से निबद्ध कभी नहीं विमुक्त होता है ॥ ३ ॥ बृहस्पति गुरु प्राप्त हो, परन्तु वह भी गृह समुद्र में स्वयं मग्न हो, अविद्या से ग्रस्त हृदय = मन वाला हो, तो तारणे में समर्थ कैसे हो सकता है ? ॥४॥ जैसे रोग ग्रस्त वैद्य अन्य के रोगों का चिकित्सक = निवारक हो, तैसे गृहस्थ मेरा, मुमुक्षु का गुरु हो, यह विडम्बना = अनुकरण खेल है वञ्चना ॥ ५ ॥ वेद शास्त्र को पढ़ कर जो संसार में रागी हैं, उन से पर = भिन्न-भारी-अधिक मूर्ख दूसरे नहीं हैं, वे लोग कुत्ते, घोड़े, सूकर के सधर्मा = समान धर्म वाले-तुल्य हैं ॥६॥ यदि दुर्लभ मनुष्यता को पाकर वेदशास्त्रों को पढ़कर संसार में बँधते हैं, तो कौन मनुष्य मुक्त होगा ? ॥७॥ जो पुत्र स्त्री गृह में आसक्त होते हुए पण्डित कहलाते हैं, इस से अति अधिक आश्चर्य और अद्भुत लोक में कहीं नहीं है ॥८॥ दृढ बन्धन करनेवाला वृथा अध्ययन से यहाँ क्या फल है ? वही शीघ्र पढ़ने योग्य है, कि जो शीघ्र संसार बन्धन से मुक्त करे ॥९॥ जिस से पुरुष को ग्रहण = स्ववश करता है, तिस से गृह को गृह कहा गया है, और बन्धनागार=जेल में सुख कहाँ है ? हे पिताजी ! तिस कारण से मैं भीत=डरा हूँ ॥१०॥

श्रीव्यास उवाच

न गृहं बन्धनागारं बन्धने न च कारणम् ।
मनसा यो विनिर्मुक्तो गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥११॥

श्रीशुक उवाच

ब्रह्मापि न सुखी विष्णु लक्ष्मीं प्राप्य मनोरमाम् ।
खेदं प्राप्नोति सततं सङ्ग्रामैरसुरैः सह ॥१२॥
करोति विपुलान् यत्नांस्तपश्चरति दुश्चरम् ।
रमापतिरपि श्रीमान् कस्यास्ति विपुलं सुखम् ॥१३॥
शङ्करोऽपि सदा दुःखी भवत्येव च वेद्म्यहम् ।
तपश्चर्यां प्रकुर्वाणो दैत्ययुद्धकरः सदा ॥१४॥
कदाचिन्न सुखं शेते धनवानपि लोलुपः ।
निर्धनस्तु कथं तात ! सुखं प्राप्नोति मानवः ॥१५॥
जलूकेव सदा नारी रुधिरं पिबतीति वै ।
मूर्खस्तु न विजानाति मोहितो भावचेष्टितैः ॥१६॥
भोगै र्वीर्यधनं पूर्णं मनः कुटिलभाषितैः ।
कान्ता हरति सर्वस्वं कः स्तेनस्तादृशोऽपरः ॥१७॥
निद्रासुखविनाशार्थं मूर्खस्तु दारसङ्ग्रहम् ।
करोति वञ्चितो धात्रा दुःखाय न सुखाय च ॥१८॥

श्रीदेवीभा० स्क० १ अ० १४-१५ ॥

विरक्तस्यात्मसक्तस्य सुखमेकान्तसेवनम् ।
आत्मानुचिन्तनं चैव वेदान्तस्य च चिन्तनम् ॥१९॥
दुःखं तदेतत्सर्वं हि संसारकथनादिकम् ।
शत्रवो बहवस्तत्र विज्ञस्य शुभमिच्छतः ॥२०॥
कामः क्रोधः प्रमादश्च शत्रवो विविधाः स्मृताः ।
बन्धुः सन्तोषमेवास्य नान्योऽस्ति भुवनत्रये ॥२१॥

श्रीदेवीभा० स्क० १।१७।४५। इत्यादि ॥

इति द्वादशं शुकदेवमतप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ श्रीदेवीसरस्वतीमतम् ॥ १३ ॥

न किञ्चित्कस्यचिदहं करोमि वरवर्णिनि ! ।
सर्वं सम्पादयत्याशु स्वयं जीवः स्वमीहितम् ॥१॥
अहं हितं रटे ज्ञप्तिः सम्विन्मात्राधिदेवता ।

व्यास जी बोले कि–गृह को बन्धनागार नहीं समझो न बन्धन में कारण समझो, क्योंकि गृह में भी जो मन से विनिर्मुक्त=अनासक्त है, सो गृहस्थ भी विमुक्त होता है ॥ ११ ॥ शुकदेव जी बोले कि, गृहस्थ ब्रह्मा भी सुखी नहीं होते हैं, और मनोरमा=मनोहर सुन्दर लक्ष्मी को पाकर भी विष्णु असुरों के साथ सदा युद्ध से सदा दुःख पाते हैं ॥ १२ ॥ श्रीमान् रमापति भी विपुल=बहुत यत्न करते हैं, दुश्चर=दुष्कर तप करते हैं, फिर किस को बहुत सुख है ? ॥ १३ ॥ तपश्चर्या=तप का अनुष्ठान करते हुए, सदा दैत्यों के साथ युद्ध करने वाले शङ्कर भी सदा दुःखी होते ही हैं, यह मैं जानता हूँ ॥ १४ ॥ लोलुप=अतिलोभी धनी भी कभी सुख से सोता नहीं है, हे तात ! तो निर्धन मनुष्य कैसे सुख पावेगा ? ॥ १५ ॥ जोंक के समान स्त्री सदा रुधिर पीती है, परन्तु उस के भाव=स्वभाव, रूप, चेष्टित=क्रिया से मोहित मूर्ख इस बात को नहीं जानता है ॥ १६ ॥ इससे कान्ता=स्त्री भोगों द्वारा पूर्ण वीर्यरूप धन को हरती है, और कुटिल वचनों द्वारा मन को हरती है, सर्वस्व को हरती है, उस के समान दूसरा चोर कौन है ? ॥ १७ ॥ विधाता से वञ्चित मूर्ख निद्राजन्य सुख के नाश के लिये स्त्री का संग्रह=विवाहादि करता है, सुख के लिये नहीं ॥१८॥ विरक्त आत्मप्रेमी को एकान्त का सेवन, आत्म-अनुचिन्तन, वेदान्त-अनुचिन्तन, सुख रूप है ॥ १९ ॥ और वह विवाहादि यह संसार के कथनादि सब विरक्त आत्माऽऽसक्त को दुःख रूप हैं, क्योंकि तिस में बहुत शत्रु हैं, सो यद्यपि सब के हैं, तथापि विज्ञ=विवेकी के अधिक प्रत्यक्ष शत्रु हैं, जो विवेकी अपना शुभ चाहता है ॥२०॥ वे शत्रु, काम, क्रोध और प्रमाद रूप बहुत प्रकार के कहे गये हैं, इस शुभेच्छु विवेकी का सन्तोष ही बन्धु है, तीनों लोक में अन्य बन्धु नहीं है ॥ २१ ॥

बारहवाँ शुकदेवमतप्रकरण समाप्त ॥

अथ श्रीदेवीसरस्वतीमत—हे वरवर्णिनि ! लीले ! पूर्ण काम मैं, किसी का कुछ नहीं करती हूँ, किन्तु जीव स्वयं अपने सब ईहित=वांछित को शीघ्र सिद्ध करता है ॥ १ ॥ सम्विद्=ज्ञान मात्र के

प्रत्येकमस्ति चिच्छक्ति र्जीवशक्तिस्वरूपिणी ॥२॥
जीवस्योदेति या शक्ति र्यस्य यस्य यथा यथा ।
भाति तत्फलदा नित्यं तस्य तस्य तथा तथा ॥३॥
यस्य यस्य यथोदेति स्वचित्प्रयतनं चिरम् ।
फलं ददाति कालेन तस्य तस्य तथा तथा ॥४॥
तपो वा देवता वापि भूत्वा स्वैव चिदन्यथा ।
फलं ददात्यथ स्वैरं नभः फलनिपातवत् ॥५॥
स्वसम्विद्यतनादन्यन्न किञ्चिच कदाचन ।
फलं ददाति तेनाशु यथेच्छसि तथा कुरु ॥६॥
योगवा० प्र० ३। ४५। लीलां प्रति देव्युक्तिः ॥
इति त्रयोदशं श्रीदेवीसरस्वतीमतप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ भाट्टमतम् ॥ १४ ॥

अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि ।
तेनोत्सर्गे स्थिते तस्य दोषाभावात्प्रमाणता ॥१॥
स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते ॥२॥
आत्मलाभे च भावानां कारणापेक्षता भवेत् ।
लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु ॥३॥
धर्मता तु—
श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः ।
चोदनालक्षणैः साध्या तस्मात्तेष्वेवधर्मता ॥४॥
श्येनादीनां विधेयत्वादिष्टस्यापि च साधनात् ।
उपचारादनर्थत्वं फलद्वारेण वर्ण्यते ॥५॥
अनुग्रहाच्च धर्मत्वं पीडातश्चाप्यधर्मता ।
वदतो जपसीध्वादिपानादौ नोभयं भवेत् ॥६॥
क्रोशता हृदयेनापि गुरुदाराभिगामिनाम् ।
भूयान् धर्मः प्रसज्येत भूयसी ह्युपकारता ॥७॥

अधिष्ठात्री देवता में ज्ञप्तिः=सरस्वती सब के हित=भावि शुभ को रटती=वरदानादि से प्रकाशती हैं, परन्तु फल की उत्पत्ति में हेतु रूप प्रत्येक जीव शक्तिस्वरूपवाली चिच्छक्ति=मायायुक्त चेतनात्मा है ॥ २ ॥ जिस २ जीव को जिस २ प्रकार जो २ शक्ति जब २ उदित = प्रकट होती है, तिस २ जीव को तैसे २ तब २ वह शक्ति सदा फलदा भासती है ॥ ३ ॥ और जिस २ को जिस प्रकार स्वचिदात्मा का प्रयत्न चिर काल तक प्रकट होता है, तिस २ को काल द्वारा वह प्रयत्न फल देता है । इससे तिस २ प्रयत्न =पुरुष की प्रवृत्ति के अनुसार ही फल मिलता है ॥४॥ अपना ही चिदात्मा अन्यथा=अन्यरूप तप वा देवता हो कर नभ से फल निपात के समान=मिथ्या, स्वैर=मन्द-स्वच्छन्द फल देता है ॥५॥ स्वसंविद् = निज चिदात्मा के यत्न से अन्य कोई कभी फल नहीं देता है, तिससे जैसी इच्छा हो, तैसा शीघ्र करो ॥ ६ ॥

तेरहवाँ देवीसरस्वतीमतप्रकरण समाप्त ॥

अथ भाट्टमत—क्रिया के प्रवर्तक वचन को विधि=चोदना कहते हैं, और प्रमाणों में ज्ञान की जनकता=कारणता ही प्रमाणता है, तहाँ शब्द भूतादि अर्थों का और अत्यन्त असत् शशशृङ्गादि का भी ज्ञान करता है, इससे विधि को सामान्य रूप से ज्ञानजनकता रूप प्रमाणता के रहते दोष के अभाव से प्रमाणता अबाधित सिद्ध होती है ॥ १ ॥ इसीसे सब प्रमाणों में प्रमाणता स्वतः समझना चाहिये, गुण कृत नहीं, क्योंकि स्वतः अवर्त्तमान शक्ति अन्य से करने योग्य नहीं है ॥ २ ॥ सब कार्य पदार्थ को अपने स्वरूप के लाभ=प्राप्ति में कारण की अपेक्षा होती है, आत्म=स्वरूप लाभ होने पर प्रवृत्ति स्वयं शक्ति के अनुसार होती है, तैसे ही शब्द की होती है ॥३॥ श्रेयः=शुभ कल्याण पुरुष की प्रीति=सुख है, सो सुख चोदना रूप द्रव्यगुण कर्म से होता है, तिससे उन द्रव्यादिकों में ही धर्मत्व है ॥ ४ ॥ श्येनादि शत्रुवधार्थक यागों का भी विधान है, और शत्रु का बध रूप इष्ट फल भी उससे सिद्ध होता है, इससे वह भी स्वरूप से अनर्थ रूप नहीं है, किन्तु बधरूप फल द्वारा अनर्थ रूप उपचार=गौणरूप से कहा जाता है ॥ ५ ॥ अनुग्रह से धर्मता और पीड़ा से अधर्मता कहने वाले के मत में जप, मध्वादिपान में पुण्य पाप नहीं होंगे, क्योंकि अनुग्रह पीड़ा नहीं है ॥ ६ ॥ और अपने पीड़ित हृदय से भी गुरु दाराभिगामियों को

फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते ।
केवलप्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्मत्वेन हीष्यते ॥८॥
गीतामन्त्रार्थवादे र्या कल्प्यतेऽनर्थहेतुता ।
प्रत्यक्षश्रुतिबाध्यत्वात्साऽन्यार्थत्वेन नीयते ॥९॥
पूर्वमीमांसाश्लोकवार्त्तिके चोदनासूत्रे शब्दप्रामाण्ये ॥
यदा सर्वमिदं नासीत् क्वावस्था तत्र गम्यताम् ।
प्रजापत्तेः क्व वा स्थानं किं रूपं च प्रतीयताम् ॥१०॥
ज्ञाता च कस्तदा तस्य यो जनान् बोधयिष्यति ।
उपलब्धे विना चैतत्कथमध्यवसीयताम् ॥११॥
प्रतीतिः कथमाद्या च जगतः सम्प्रतीयते ।
शरीरादि विना चास्य कथमिच्छापि सर्जने ॥१२॥
शरीराद्यथ तस्य स्यात्तस्योत्पत्ति र्न तत्कृता ।
तद्वदन्यप्रसङ्गोऽपि नित्यं यदि तदिष्यते ॥१३॥
पृथिव्यादावनुत्पन्ने किम्मयं तत्पुनर्भवेत् ।
प्राणिनां प्रायदुःखाय सिसृक्षाऽस्य न युज्यते ॥१४॥
साधनं चास्य धर्मादि तदा किञ्चिन्न विद्यते ।
न च निःसाधनः कर्त्ता कश्चित्सृजति किञ्चन ॥१५॥
नाधारेण विना सृष्टिरूर्णनाभेरपीष्यते ।
प्राणिनां भक्षणाच्चापि तस्य लाला प्रवर्त्तते ॥१६॥
अभावाच्चानुकम्प्यानां नानुकम्पाऽस्य जायते ।
सृजेच्च शुभमेवैकमनुकम्पाप्रयोजितः ॥१७॥
अथाशुभाद्विना सृष्टिः स्थिति र्वा नोपपद्यते ।
आत्माधीनाभ्युपाये हि भवेत्किं नाम दुष्करम् ॥१८॥
तथा चापेक्ष्यमाणस्य स्वातन्त्र्यं प्रतिहन्यते ।
जगच्च सृजतस्तस्य किं नामेष्टं न सिद्ध्यति ॥१९॥
प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते ।
एवमेव प्रवृत्तिश्चेच्चैतन्येनास्य किं भवेत् ॥२०॥

अधिक धर्म की प्राप्ति होगी, हृदय पीड़ा की अपेक्षा उपकारिता अधिक है ॥ ७ ॥ जो कर्म फल द्वारा भी अनर्थ का सम्बन्धी नहीं होता है, केवल सुख के हेतु होने से वही धर्म रूप माना जाता है, श्येनयाग विहित होने से अधर्म रूप नहीं होता हुआ भी धर्म रूप भी इसलिये नहीं है, कि फल द्वारा अनर्थ रूप है ॥ ८ ॥ ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता की बोधक गीता और मन्त्र अर्थ वादादि से जो यज्ञ की हिंसा में अनर्थ रूपता = कारणता सिद्ध होती है, सो प्रत्यक्ष श्रुति='पशुमालाभेत' से बाधित होने से, ज्ञानयज्ञादि की स्तुति मात्र है ॥ ९ ॥ जब यह सब जगत् नहीं था, तब प्रजापति की स्थिति कहाँ समझी जाय ? वा कैसा कहाँ स्थान समझा जाय ? ॥ १० ॥ उस समय प्रजापति को जानने वाला कौन था ? कि जो अन्य जनों को समझावेगा, ज्ञान के विना यह कैसे निश्चय किया जाय ? ॥११॥ जगत् की पहली प्रतीति=(ज्ञान) कैसी प्रतीत होती है ? और इस प्रजापति को शरीरादि के विना सृष्टि विषयक इच्छा कैसे होती है ? ॥१२॥ यदि उस प्रजापति के शरीरादि थे, तो उस शरीरादि की उत्पत्ति तो उनसे नहीं हुई होगी, इससे उनके समान उनके पिता की प्राप्ति होती है । यदि उनके शरीरादि को नित्य माना जाय तो पृथिवी आदि की अनुत्पत्ति अवस्था में वे शरीरादि किस स्वरूप होगें ? और प्राणियों के बहुत दुःखों के लिये इस प्रजापति की सृष्टिविषयक इच्छा भी उचित नहीं है ॥१३-१४॥ और सृष्टि के साधन धर्मादि भी उस समय प्रजापति को नहीं थे और साधन रहित कोई कर्त्ता किसी की सृष्टि नहीं करता है ॥१५॥ ऊर्णनाभि = मकरी को तन्तु सृष्टि भी आधार के विना नहीं मानी जाती हैं और प्राणी के भक्षण से उसको लार होता है जिससे तन्तु रचती है, साधन विना नहीं ॥ १६ ॥ और आदि काल में अनुकम्पनीय = दुःखियों के अभाव से प्रजापति को अनुकम्पा नहीं होती है, और यदि दया से प्रेरित होकर सृष्टि करते, तो एक शुभ=सुखमय ही करते ॥१७॥ यदि कहा जाय कि अशुभ के विना सृष्टि वा स्थिति नहीं बन सकती, तो स्वाधीन उपाय के रहते, दुष्कर क्या हो सकता है ? ॥१८॥ और यदि उन्हें अन्य की अपेक्षा हो, तो उन की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है, और जगत् को रचते हुए उन को क्या अपना इष्ट नहीं सिद्ध होता है ? ॥१९॥ क्योंकि अपने प्रयोजन की इच्छा विना मन्द भी नहीं

संहारेच्छापि चैतस्य भवेदप्रत्यययात्पुनः ।
न च कैश्चिदसौ ज्ञातुं कदाचिदपि शक्यते ॥२१॥
स्वरूपेणोपलब्धेऽपि स्रष्टृत्वं नावगम्यते ।
सृष्ट्याद्याः प्राणिनो ये च बुध्यन्तां किन्तु ते तदा २२
कुतो वयमिहोत्पन्ना इति तावन्न जानते ।
प्रागवस्थां च जगतः स्रष्टृत्वं च प्रजापतेः ॥२३॥
न च तद्वचनेनैषां प्रतिपत्तिः सुनिश्चिता ।
असृष्ट्वापि ह्यसौ ब्रूयादात्मैश्वर्यप्रकाशनात् ॥२४॥
एवं वेदोऽपि तत्पूर्वस्तत्सद्भावादिबोधने ।
साशङ्को न प्रमाणं स्यान्नित्यस्य व्यापृतिः कुतः२५
स्तुतिवाक्यकृतश्चैष जनानां मतिविभ्रमः ।
पौर्वापर्यपरामृष्टः शब्दोऽन्यां कुरुते मतिम् ॥२६॥
पुरुषस्य च शुद्धस्य नाशुद्धा विकृति र्भवेत् ।
स्वाधीनत्वाच्च धर्मादेस्तेन क्लेशो न युज्यते ॥२७॥
तद्वशेन प्रवृत्तौ च व्यतिरेकः प्रसज्यते ।
स्वयं च शुद्धरूपत्वादसत्त्वाच्चान्यवस्तुनः ॥२८॥
स्वप्नादिवदविद्यायाः प्रवृत्तिस्तस्य किङ्कृता ।
अन्येनोपप्लवेऽभीष्टे द्वैतवादः प्रसज्यते ॥२९॥
स्वाभाविकीमविद्यां तु नोच्छेत्तुं कश्चिदर्हति ।
विलक्षणोपपाते हि नश्येत्स्वाभाविकी क्वचित् ३०
नत्वेकात्माभ्युपायानां हेतुरस्ति विलक्षणः ॥३१॥
पुमानकर्त्ता येषां तु तेषामपि गुणैः क्रिया ।
कथमाद्यौ भवेत्तत्र कर्म तावन्न विद्यते ॥३२॥
मिथ्या ज्ञानं न तत्रास्ति रागद्वेषादयोऽपि वा ।
मनोवृत्ति र्हि सर्वेषां नचोत्पन्नं तदा मनः ॥३३॥

प्रवृत्त होता है, यदि बिना प्रयोजन के ही स्वभाव से वायु आदि के समान उनकी प्रवृत्ति हो, तो उनकी चेतनता से क्या फल है ? स्वभावसे तो प्रकृति भी कर सकती है ॥२०॥ इस को-संहार की इच्छा भी अज्ञान से ही होगी, किसी से यह कभी समझा नहीं जा सकता है ॥ २१ ॥ स्वरूप से ज्ञात होने पर भी उस की सृष्टि-कर्तृता नहीं समझी जा सकती है, सृष्टि के आदि काल के जो प्राणी होते हैं, वे भी उस समय क्या समझ सकते हैं ? ॥ २२ ॥ प्रथम तो यह नहीं जानते, कि-हम कहाँ किससे यहाँ जन्मे हैं, न जगत् की पूर्वावस्था को, न प्रजापति की सृष्टि कर्तृता को जानते हैं ॥ २३ ॥ प्रजापति के वचन से भी इन को निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि प्रजापति तो सृष्टि किये बिना भी अपने ऐश्वर्य के प्रकाशन रूप हेतु से झूठ भी कह सकते हैं ॥ २४ ॥ ऐसे ही प्रजापतिरचित वेद भी प्रजापति के सद्भाव=सत्ता आदि के बोध कराने में शंका सहित है, इससे प्रमाण नहीं होगा, और नित्य प्रजापति की व्यापृति=व्यापार किससे होगा ? ॥ २५ ॥ स्तुति वाक्य जन्य यह जनों को मतिविभ्रम प्रजापतिविषयक है, क्यों कि पूर्वापर के विचार रहित शब्द अन्य की मति में=भ्रान्ति करता है ॥२६॥ और अभिन्ननिमित्तोपादानादि पक्ष में शुद्ध पुरुष का कार्य रूप विकार अशुद्ध नहीं हो सकता है, और धर्मादि स्वाधीन रहने से उस धर्मादि से क्लेश होना भी उचित नहीं है ॥ २७ ॥ यदि धर्मादि के अधीन प्रजापति की सृष्टि में प्रवृत्ति हो, तो सृष्टि के अभाव की प्राप्ति होती है, क्योंकि प्रजापति पुरुष सृष्टि से प्रथम स्वयं शुद्ध स्वरूप रहता है, अन्य वस्तु का अभाव रहता है ॥ २८ ॥ स्वप्नादि के समान अविद्या से भी पुरुष की प्रवृत्ति किससे हो सकती है ? माया संस्कारादि अन्य से सम्बन्ध अभीष्ट हो तो द्वैतवाद की प्राप्ति होती है ॥ २९ ॥ और स्वाभाविक अनादि अविद्या को भी नष्ट करने के लिये कोई समर्थ नहीं है, विलक्षण=विरुद्ध वस्तु की प्राप्ति से कहीं स्वाभाविकी भी नष्ट हो सकती है, परन्तु एकात्मस्वरूप ही उपाय=कारण वाले को विलक्षण कारण नहीं हैं ॥ ३०-३१ ॥ जिन सांख्यवादियों का पुरुष अकर्ता है, तिनके मत में गुणों से सृष्टि के आदि में क्रिया कैसे होगी ? क्योंकि उस समय धर्म नहीं रहता है, न वहाँ मिथ्या ज्ञान है, न राग द्वेषादि हैं, न मनोवृत्ति है, क्योंकि उस

ज्ञानं मोक्षनिमित्तं च गम्यते नेन्द्रियादिना ।
न च सांख्यादिविज्ञानान्मोक्षो वेदेन चोच्यते॥३४॥
आत्मा ज्ञातव्य इत्येतन्मोक्षार्थं न च चोदितम् ।
कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वमात्मज्ञानस्य लक्ष्यते ॥३५॥
विज्ञाते चास्य पारार्थ्ये यापि नाम फलश्रुतिः ।
सार्थवादो भवेदेव न स्वर्गादेः फलान्तरम् ॥३६॥
सुखोपभोगरूपश्च यदि मोक्षः प्रकल्प्यते ।
स्वर्ग एव भवेदेष पर्यायेण क्षयी च सः ॥३७॥
न हि कारणवत् किञ्चिदक्षयित्वेन गम्यते ।
तस्मात्कर्मक्षयादेव हेत्वभावेन मुच्यते ॥३८॥
नह्यभावात्मकं मुक्त्वा मोक्षनित्यत्वकारणम् ।
न च क्रियायाः कस्याश्चिदभावः फलमिष्यते॥३९॥
तत्र ज्ञातात्मतत्त्वानां भोगात्पूर्वक्रियाक्षये ।
उत्तरप्रचयासत्त्वाद्देहो नोत्पद्यते पुनः ॥४०॥
कर्मजन्योपभोगार्थं शरीरं न प्रवर्त्तते ।
तदभावे न कश्चिद्धि हेतुस्तत्रावतिष्ठते ॥४१॥
मोक्षार्थी न प्रवर्त्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः ।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवायजिहासया ॥४२॥
प्रार्थ्यमानं फलं ज्ञातं न चानिच्छोर्भविष्यति ।
आत्मज्ञे चैतदस्तीति तज्ज्ञानमुपयुज्यते ॥४३॥
[संसारस्य वेदस्य च नित्यत्वेन स्वतःप्रामाण्यं वेदे वर्त्तते, इति सम्बन्धस्थस्य पक्षस्य यः कार्यत्वेनाक्षेपस्तत्परिहारे, सूत्रेऽयमर्थो वर्त्तते ॥]

आत्मवादे चाह—

अथ कर्तृत्ववेलायां दुःखादेश्चापि जन्मनि ।
प्रागरूपादन्यथात्वं स्यान्नित्यताऽस्य विरुध्यते ४४
नानित्यशब्दवाच्यत्वमात्मनो विनिवार्यते ।
विक्रियामात्रवाचित्वे नह्युच्छेदोऽस्य तावता॥४५॥

समय तक मन ही नहीं उत्पन्न हुआ है ॥ ३२-३३ ॥ मोक्ष के निमित्त रूप ज्ञान इन्द्रियादि से नहीं प्राप्त होता है' और सांख्यादि जन्य ज्ञान से मोक्ष होता है, यह बात वेद ने भी नहीं कही है ॥ ३४ ॥ 'आत्मा ज्ञातव्य है, इस प्रकार आत्मज्ञान के लिये जो वेद ने कहा है, सो मोक्ष के लिये नहीं कहा है, किन्तु उस से आत्मज्ञान को कर्म में प्रवृत्ति की हेतुता लक्षित=बोधित होती है, नित्यात्मा को समझने पर मनुष्य भावी हित के लिये कर्म में प्रवृत्त होता है, अन्यथा नहीं ॥ ३५ ॥ इस वेद को पारार्थ्य=कर्म में प्रवृत्त्यर्थकता विज्ञात होने पर भी जो प्रसिद्ध फलश्रुति=ज्ञान का फल श्रवण है, सो अर्थवाद ही होगा ? ज्ञान का स्वर्गादि से अन्य फल नहीं है ? ॥३६॥ सुख का उपभोग रूप यदि ज्ञान का फल कल्पित हो, तो वह प्रायः स्वर्ग ही होगा, सो विनश्वर होगा, क्योंकि किसी भी कारण वाली कोई वस्तु अविनश्वर नित्य नहीं जानी गयी है, तिस से कर्म के नाश से ही संसार के हेतु के अभाव से जीव मुक्त होता है ॥ ३७-३८ ॥ मोक्ष में अभाव रूपता को छोड़ कर अन्य कोई उस के नित्यता का कारण नहीं है, और किसी क्रिया का अभाव रूप फल इष्ट नहीं है ॥ ३९ ॥ तहाँ आत्मज्ञानियों के भोग से पूर्व के कर्मों के नष्ट होने पर, और आगे के कर्मों के प्रचय=वृद्धि के अभाव से फिर ज्ञानी की देह नहीं उत्पन्न होती है ॥ ४० ॥ कर्म जन्य भोग के लिये जब शरीर नहीं होता है, तब उस देह के अभाव होने पर वहाँ भोग का कोई हेतु नहीं रह जाता है ॥४१॥ इस से मोक्षार्थी काम्य, निषिद्ध कर्मों में नहीं प्रवृत्त हो, प्रत्यवाय=पाप की निवृत्ति की इच्छा से नित्यनैमित्तिक कर्म करे ॥ ४२ ॥ प्रथम का प्रार्थ्यमान भी ज्ञात फल अनिच्छु=इच्छा रहित को नहीं होगा, यह बात आत्मज्ञानी में है, तिस से भी मोक्ष में आत्मज्ञान का उपयोग=फल है ॥ ४३ ॥ शङ्का है, कि--कर्तृता काल में और सुखादि के जन्म भोग काल में आत्मा को प्रथम के स्वरूप से अन्य रूपता होगी ? तिस से इस की नित्यता विरुद्ध होती है ॥ ४४ ॥ परिणामी नित्यता मान कर उत्तर है कि आत्मा के अनित्य शब्द की वाच्यता का निवारण नित्य शब्द से नहीं करते हैं, सुखी आदि शब्द के विकार

स्यातामत्यन्तनाशेऽस्य कृतनाशाकृतागमौ ।
नत्ववस्थान्तरप्राप्तौ लोके बालयुवादिवत् ॥४६॥
ज्ञानशक्तिस्वभावोऽतो नित्यः सर्वगतः पुमान् ।
देहान्तरक्षमः कल्प्यः सोऽगच्छन्नेव योक्ष्यते॥४७॥
यजमानत्वमप्यात्मा सक्रियत्वात्प्रपद्यते ।
न परिस्पन्द एवैकः क्रिया नः कणभोजिवत्॥४८॥
न च स्वसमवेतैव कर्तृभिः क्रियते क्रिया ।
क्रिया धात्वर्थमात्रं स्यादन्याधारेऽपि कर्तृता ॥४९॥
सत्ताज्ञानादिरूपाणां कर्त्ता तावत्स्वयं पुमान् ।
योऽपि भूतपरिस्पन्दस्तत्राधिष्ठानतो भवेत् ॥५०॥
तदुद्देशप्रवृत्तेश्च या या देहेन्द्रियैः क्रिया ।
क्रियते पुरुषेणैव सा सा सर्वा कृतोच्यते ॥५१॥
नैव ह्येषां प्रवृत्तिः स्यात्पुरुषेणापरिग्रहे ।
अस्वातन्त्र्यादतो नैषां परिस्पन्देऽपि कर्तृता॥५२॥
तत्कर्मोपार्जितैश्चैतैः क्रियमाणेषु कर्मसु ।
कर्तृता यजमानानामृत्विक् परशुकर्मवत् ॥५३॥
यथा परिक्रयाम्नानादृत्विग्द्वारा क्रियेष्यते ।
गमनादिविधेस्तद्वद् भूतद्वारत्वमाश्रितम् ॥५४॥
इत्यादि ॥

इति चतुर्दशं भाट्टमतप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ सेश्वरवादः ॥ १९ ॥

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत् ।
प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥१॥
महाभा० भीष्मप० अ० ५।१२ ॥
नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानायप्रेष्ठ!२
कठ० १।२।९ ॥

मात्र के वाचक होते हुए भी तिससे इस आत्मा का उच्छेद नहीं सिद्ध होता है ॥४५॥ इस आत्मा के अत्यन्त नाश होने पर कृत कर्म के नाश और अकृत की प्राप्ति रूप दोष होते ? परन्तु लोक में बाल युवा आदि के समान अवस्थान्तर को प्राप्ति में दोष नहीं है ॥ ४६ ॥ इस से ज्ञान की शक्ति रूप स्वभाव वाला नित्य व्यापक पुरुष = आत्मा है, वही देहान्तर के योग्य मन्तव्य है, जो कि नहीं चलता हुआ भी सर्वत्र शरीर से युक्त होगा ॥ ४७ ॥ सक्रिय होने से यजमानता को भी आत्मा प्राप्त करता है, कणाद के समान हमें परिस्पन्द = चलन रूप ही एक क्रिया नहीं स्वीकृत है। धात्वर्थ मात्र क्रिया है ॥ ४८ ॥ कर्ताओं से निज स्वरूप निष्ठ ही क्रिया नहीं की जाती है किन्तु अन्य = कर्म रूप अधार में भी क्रिया का कर्ता होता है, और क्रिया सब धातु के अर्थ हैं ॥ ४९ ॥ सत्ता ज्ञानादि रूप क्रियाओं का पुरुष स्वयं कर्ता होता है, और जो देहादि रूप भूतों का परिस्पन्द = गमनागमनादि होता है, उस में अधिष्ठान = आश्रयादि रूप से आत्मा कर्ता होता है ॥ ५० ॥ क्योंकि देहेन्द्रियों से जो २ क्रिया होती हैं, सो सब क्रिया तिस आत्मा के उद्देश्य = इच्छा सङ्कल्पादि से ही प्रवृत्त सिद्ध होतो है। इससे सब पुरुषों से ही की जाती है, जिस से तत्तत् क्रिया सब पुरुषों से कृत कही जाती है ॥ ५१ ॥ पुरुष से परिग्रह = स्वीकार के विना इन देहादि की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इस से अस्वतन्त्रता से इन देहादिकों को गमनादि में भी कर्तृता नहीं है ॥ ५२ ॥ और आत्मा के कर्मों से उपार्जित इन देहादिकों से किये गये कर्मों में आत्मा को कर्तृत्व इस प्रकार है, कि जैसे ऋत्विक् = यज्ञ कर्ता ब्राह्मणों के कर्मों का कर्ता यजमान होता है, परशु के कर्मों का कर्ता पुरुष होता है ॥ ५३ ॥ जैसे वेद में ऋत्विक् का परिक्रय=खरीदना पढ़ा है, तिससे ऋत्विक् द्वारा यज्ञादि क्रिया इष्ट मानी जाती है, तैसे आत्मा के गमनादि विधि को देहादि रूप भूत द्वारता मानी गई है ॥ ५४ ॥ चौदहवाँ भाट्टमतप्रकरण समाप्त ॥

अथ सेश्वरवाद—निश्चित अचिन्त्य जो पदार्थ है, उसको तर्क से नहीं साधे, प्रकृति से जो पर है, सो अचिन्त्य का स्वरूप है ॥ १ ॥ यह आत्ममति = ज्ञान तर्क से प्राप्त करने योग्य नहीं है, तथा गुरु

इत्यादिस्मृतिवेदैश्च कुतर्काणामगोचरे ।
धर्मे चैवेश्वरे विज्ञा अहो तर्कान् प्रयुञ्जते ॥३॥
क्षणिका भवतु प्रीतिः कर्मसाध्या जनप्रिया ।
नैव नित्या तथा दृष्टा न वा साध्या भवेच्च सा॥४॥
मुक्ति र्नित्यसुखव्यक्ति र्दुःखहानिश्च सर्वथा ।
लोकवेदप्रसिद्धा सा तदर्थं ज्ञानमिष्यते ॥५॥
फलद्वारा त्वनर्थत्वं श्येनादीनां यथैव हि ।
तथा हिंसामये ज्ञेयमनर्थत्वं सुयुक्तिभिः ॥६॥
शतसङ्ख्यै र्महायज्ञै र्लब्धे हीन्द्रपदेऽपि चेत् ।
हिंसाजन्यो भयानर्थस्ततोऽन्यत्र कथैव का ॥७॥
आलम्भान्मानसाश्वस्य हरिश्चन्द्रोऽतिधर्मभृत् ।
प्रायश्चित्तं विना कष्टं प्राप्तवान् को न वेत्ति तत्॥८॥
तस्मादनुग्रहाद्धर्मः पीडातोऽधर्मसम्भवः ।
यावान् योऽत्र भवेद्धेतुस्तस्मात्तावत्फलं भवेत्॥९॥
जपादे र्देवताप्रीतेरात्मप्रीतेश्च धर्मता ।
एवं परेश्वराप्रीतेरधर्मः शास्त्रलङ्घनात् ॥१०॥
सच्छास्त्रमीश्वराज्ञैव तस्य चोलङ्घनाद्धरिः ।
शास्त्यत्र परलोके वा तत्तत्कर्मानुसारतः ॥११॥
व्यवाये चास्ति नैवात्र सुखं किन्तु विमोहतः ।
दुःखे सुखाभिमानो हि जीवस्य जायते मुधा॥१२॥
कुपथ्यं याचमानाय रोगिणे ददतो यथा ।
पापं भवति तद्वद्धि कामिन्याः कामिनां भवेत्॥१३॥
परिसङ्ख्याविधिश्चास्ति स्वभार्यायाः समागमे ।
इत्यादि बहुधाऽन्यत्र विचारितं विलोक्यताम्॥१४॥
विभोः स्वमहिमस्थस्य नाश्रयाद्युपयुज्यते ।
अचिन्त्यशक्तिसर्वेशे सर्वाः शङ्का निराश्रयाः॥१५॥

आदि से प्राप्त आत्ममति तर्क से खण्डनीय नहीं है, किन्तु कुतर्की से अन्य गुरु द्वारा कथित यह मति हे प्रियतम ! सुज्ञान=अपरोक्षात्मानुभव के लिये होती है ॥ २ ॥ इत्यादि स्मृति और वेदों से ज्ञात कुतर्कों के अविषय धर्म और ईश्वर में आश्चर्य है, कि विद्वान् भी तर्कों का प्रयोग करते हैं ॥ ३ ॥ जन के प्रिय क्षणिक सुख कर्म साध्य हों, परन्तु नित्य प्रीति तैसी नहीं देखी गई है, न वह साध्य=(कार्य) हो सकती है ॥४॥ नित्य सुख की अभिव्यक्ति और सर्वथा दुःख की हानि मुक्ति है, सो लोक वेद में प्रसिद्ध है, उसी के लिये ज्ञान इष्ट है ॥ ५ ॥ और जैसे श्येनादि यागों का फल द्वारा अनर्थत्व है, तैसे ही हिंसामय सब कर्मों में फल द्वारा अनर्थता सुयुक्ति से ज्ञेय है ॥ ६ ॥ शतसंख्या वाले महायज्ञों से प्राप्त इन्द्रपद में भी यदि हिंसाजन्य भयादि अनर्थ होते हैं तो उससे अन्यत्र की बात ही क्या है ? ॥ ७ ॥ अति धर्म धारी हरिश्चन्द्र को मानस अश्व के आलम्भ=हिंसा से प्रायश्चित्त के विना कष्ट हुआ सो कौन नहीं जानता है ? ॥ ८ ॥ तिससे अनुग्रह से धर्म और परपीड़ा से अधर्म की उत्पत्ति होती है, इस अनुग्रह और पीड़ा में जो जितना हेतु होता है, उस को उस से उतना सुख दुःख फल होता है ॥ ९ ॥ जपादि से देवता की प्रीति होती है और आत्मप्रीति होती है, इस से जपादि को धर्मता है। इसी प्रकार शास्त्ररूप ईश्वर की आज्ञा के उल्लंघन से ईश्वर की अप्रीति होती है, इससे मातृगमनादि में अधर्मता है ॥ १० ॥ सत्शास्त्र ईश्वर की आज्ञा ही है, उस के उलंघन से तत्तत् कर्मों के अनुसार इस लोक में वा परलोक में ईश्वर दण्ड देता है ॥ ११ ॥ मैथुन में तो यहाँ सुख नहीं है, किन्तु विमोह से जीव को दुःख में ही व्यर्थ सुख का अभिमान होता है ॥ १२ ॥ कुपथ्य माँगने वाले रोगी के लिये कुपथ्य देने वाले को पाप होता है, तैसे ही अविहित कामिनियों को वीर्यदान से कामियों को पाप होता है ॥ १३ ॥ अपनी भार्या के साथ सम्बन्ध में भी परिसंख्या विधि है, इत्यादि बहुत प्रकार से अन्यत्र विचारित है, सो देखा जाय ॥ १४ ॥ विभु, अपनी महिमा में स्थिर ईश्वर को आश्रयादि का उपयोग=सम्बन्ध फल नहीं है, इस से अचिन्त्य शक्ति वाले सर्वेश्वर में सब शंका निराश्रय=अयुक्त हैं ॥१५॥

ज्ञाता भक्तोऽद्य तस्यास्ति यो ध्यानैश्चक्षुषा तथा ।
निर्गुणं सगुणं सम्यक् तं जानाति च वक्ति च १६
ध्यानेन निर्गुणं ज्ञात्वा भक्त्या सुसगुणं कृतम् ।
आद्यन्तादि ततो वेत्ति किं वाच्यमादिकालिके १७
अशरीरी क्षणादद्य ध्यातो भूत्वा शरीरवान् ।
वक्ति दत्ते यथा ज्ञानं तथादौ किं न सम्भवेत् १८
प्राणिकर्मानुसारेण भक्तिप्राबल्यतस्तथा ।
प्रवृत्ति र्जगतोऽनादेः सर्वेशस्य न संशयः ॥१९॥
मायामयशरीरस्य नेष्यते भूतजन्यता ।
प्रवाहानादिसर्गोऽयं तस्माद्धर्मादिसम्भवः ॥२९॥
सर्वाधारत्वमीशस्य किमद्यापि न दृश्यते ।
सर्वे लोका महाकाशे तिष्ठन्ति ह्यन्यथा कथम् ॥१२॥
अनुकम्प्या भवन्त्येव भक्ताश्च ज्ञानिनो जनाः ।
कर्मज्ञानानुसरणान्न प्रसङ्गोऽत्र सम्भवेत् ॥२२॥
विशुद्धे विक्रिया नास्ति न प्रयोजनकल्पना ।
मायिनि चेश्वरे सर्वं कल्पितं जायते न किम् ॥२३॥
आत्मौपम्येन सर्वेशे ह्यनाप्तत्वं प्रकल्प्य यत् ।
क्रियते खण्डनं तन्न युक्तं यस्माद्विभिन्नता ॥२४॥
तात्त्विकाद्वैतसत्त्वेऽपि मायिकं बहुधा त्विदम् ।
विश्वं न दृश्यते किं वै येन हेतु र्निषिध्यते ॥२५॥
अविद्याविनिवृत्तौ हि ज्ञानं परमकारणम् ।
लोके वेदे प्रसिद्धं तत् कथं स्यादन्यथा मतिः ॥२६॥
ब्रह्मविद् भवति ब्रह्म शोकं तरति चात्मवित् ।
इत्यादिश्रुतयः साक्षाज्ज्ञानान्मोक्षं वदन्ति हि ॥२७॥
प्रकरणादिभेदेन नैषां कर्माङ्गतादिकम् ।
कर्मभि र्नामृतत्त्वं च वेदादावञ्जसा श्रुतम् ॥२८॥

उस ईश्वर के ज्ञाता भक्त आज भी हैं, जो ध्यान और नेत्र से तिस निर्गुण सगुण को ठीक जानते और कहते हैं ॥ १६ ॥ ध्यान से निर्गुण को जान कर, भक्ति से उस निर्गुण को, सगुणकृत को भी वस्तुतः निर्गुण जान कर उसी से आदि अन्तादि को भी भक्त ज्ञानी आज भी जानते हैं, आद्यकालिक भक्त ज्ञानी के विषय में तो कहना ही क्या है ? ॥१७॥ अशरीरी ईश्वर भक्त से ध्यात होने पर क्षण में शरीरी होकर आज भी कहता बोलता है, और जैसे ज्ञान देता है, तैसे आदि काल में क्यों नहीं होगा ? ॥ १८ ॥ प्राणियों के कर्मानुसार तथा भक्ति की प्रबलता से अनादि संसार की और सर्वेश्वर की प्रवृत्ति होती है, इस में संशय नहीं है ॥ १९ ॥ मायामयशरीर को भूत कार्यता इष्ट नहीं है और प्रवाह रूप से अनादि यह संसार है, तिससे पूर्व के धर्मादि का सम्भव है ॥ २० ॥ क्या आज भी ईश्वर की सर्वाधारता नहीं दीखती है ? अन्यथा आधार के विना महाकाश में कैसे उचित रूप से सब लोक स्थिर हैं ? ॥ २१ ॥ अनुकम्पा के विषय भक्त और ज्ञानी जन होते ही हैं, और कर्म ज्ञान के अनुसरण से सब के लिये तुल्य अनुकम्पा आदि रूप प्रसङ्ग = दोष नहीं हो सकता है ॥ २२ ॥ विशुद्ध ब्रह्मात्मा में विकार प्रयोजन की कल्पना नहीं है, मायी ईश्वर में सब संसार ही क्या कल्पित नहीं होता है ? ॥ २३ ॥ अपनी सदृशता उपमा से सर्वेश्वर में भी अनाप्तत्व = मिथ्या भाषित्व की कल्पना करके जो खण्डन किया जाता है, सो उचित नहीं है, जिससे विभिन्नता है ॥ २४ ॥ सत्य अद्वैत के रहते भी क्या यह मायिक बहुत प्रकार का जगत् नहीं दीखता है ? कि जिससे जगत् के हेतु का निषेध किया जाता है ॥ २५ ॥ अविद्या की सर्वथा निवृत्ति में ज्ञान ही परम कारण है, सो लोक वेद में प्रसिद्ध है, अन्यथा बुद्धि कैसे होगी ? ॥ २६ ॥ ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म = सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है, और आत्मज्ञ शोक रहित होता है, इत्यादि अर्थवाली श्रुतियाँ ज्ञान से साक्षात् मोक्ष को कहती हैं ॥ २७ ॥ प्रकरणादि के भेद से इन वाक्यों को कर्म की अङ्गता आदि नहीं है, और वेदादि में कर्मों से मोक्ष अञ्जसा = तत्त्वतः झटिति-शीघ्र नहीं सुना गया है ॥ २८ ॥

अकर्त्राद्यात्मविज्ञानं कर्माङ्गं वै भवेत्कथम् ।
इत्यादिबहुधा दोषो द्रष्टव्योऽत्र विचक्षणैः ॥२९॥

तथाहि श्रुतयः—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥३०॥

श्वेताश्वतरोप० ६।२० ॥

न कर्मणा न प्रजया धनेन
त्यागेनैके अमृतत्त्वमानशुः ।
परेण नाकं निहितं गुहायां
विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति ॥३१॥ कैवल्योप० ॥

निरस्तविषयासङ्गं सन्निरुद्धं मनो हृदि ।
यदा यात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥३२॥
निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितम् ।
अप्रमेयमनाद्यं च ज्ञात्वा च परमं शिवम् ॥३३॥
न निरोधो न चोत्पत्ति र्न वन्द्यो न च शासनम् ।
न मुमुक्षा न मुक्तिश्च इत्येषा परमार्थता ॥३४॥
एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
स्थानत्रयाद् व्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥३५॥
एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥३६॥

ब्रह्मबिन्दूपनिष० ॥

अविदितो न भुनक्तीति नान्यः पन्था विमुक्तये ।
इत्यादि श्रुतयश्चापि ज्ञानान्मोक्षं वदन्ति हि॥३७॥

इति ॥ किञ्च—

वेदावसानवाक्योत्थसम्यग्ज्ञानाशुशुक्षणिः ।
दन्दहीत्यात्मनो मोहं न कर्माप्रतिकूलतः ॥३८॥
अज्ञानहानमात्रत्वान्मुक्तेः कर्म न साधनम् ।
कर्मापमार्ष्टि नाज्ञानं तमसीवोत्थितं तमः ॥३९॥

अकर्ता असङ्गादिस्वरूप आत्मा के विज्ञान कर्म का अङ्ग कैसे होगा ? इत्यादि बहुत प्रकार के इस पूर्व वर्णित मत में विचारों द्वारा पण्डितों से दोष द्रष्टव्य हैं ॥२९॥ जैसे श्रुतियां हैं, कि-जब मनुष्य चाम के समान आकाश को समेटेंगे, तब सर्वात्मा देव ईश्वर को नहीं जानकर स्थिर पुरुष के दुःख का अन्त=नाश होगा अर्थात् आकाश के वेष्टन के समान ज्ञान के विना मोक्ष का असम्भव है ॥३०॥ कर्म प्रजा वा धन से किसी ने मोक्ष नहीं प्राप्त किया, किन्तु किन्हीं ज्ञानियों ने त्याग, असङ्गता से अमृतत्व=मोक्ष को प्राप्त किया, जो अमृतत्व नाक=स्वर्ग से पर भिन्न उत्तम है, और सब की बुद्धि रूप गुहा में निहित=स्थिर हो कर प्रकाशता है, जिसमें सच्चे यति सब प्रवेश करते लीन होते हैं ॥३१॥ विषयासक्ति से रहित मन जब हृदय में समाधिरूपता को ब्रह्मात्मोन्मुखता को प्राप्त होता है, तब वही परम पद=मोक्ष है ॥ ३२ ॥ धर्मादि विकल्प=भेद रहित, देशकालादिकृत अन्त रहित, हेतु दृष्टान्त से रहित अप्रमेय=इन्द्रियों का अविषय, आदिरहित, परम शिव स्वरूप को जानकर स्थिर पुरुष का निरोध=नाश उत्पत्ति का अभाव, वन्दनार्ह और शासन का अभाव, मोक्षेच्छा और मुक्ति का अभाव यही परमार्थता=मुक्ति है ॥ ३३-३४ ॥ जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति में एक ही आत्मा मन्तव्य=मानने योग्य है, और उस आत्मा के मननादि से जाग्रदादि तीनों स्थानों से व्यतीत=रहित-आत्मनिष्ठ ज्ञानी को फिर जन्म नहीं होता है ॥ ३५ ॥ एक ही सब प्राणियों का आत्मा सब भूतों में व्यवस्थित=विशेष रूप से अवस्थित है, इससे स्वरूप से एक प्रकार दीखता है, और उपाधियों=देहेन्द्रियान्तःकरणादिद्वारा बहुत प्रकार से दीखता है ॥ ३६ ॥ अज्ञात आत्मा जीव का पालन नहीं करता है, ज्ञान से अन्य मोक्ष का मार्ग नहीं है, इत्यादि अर्थ वाली श्रुतियाँ ज्ञान से ही मोक्ष कहती हैं ॥ ३७ ॥ वेदान्तवाक्यजन्य सम्यग् आत्मज्ञान रूप अग्नि आत्मा के मोह अज्ञान को अत्यन्त दग्ध करती है, प्रकाश रूप ज्ञान से अन्धकार रूप मोह कार्य सहित नष्ट होता है, अन्धकार रूप कर्म अविरोधी होने से मोह को नहीं दग्ध करता है ॥ ३८ ॥ अज्ञान की निवृत्तिमात्र ही मुक्ति होने से कर्म उसका साधन नहीं है, तम=अन्धकार के रहते

दुरितक्षपणार्थत्वान्न नित्यं स्याद्विमुक्तये ।
स्वर्गादिफलसम्बन्धात्काम्यं कर्म तथैव न ॥४०॥
साध्यसाधनभावोऽयं वचनात्पारलौकिकः ।
नाश्रौषं मोक्षदं कर्म श्रुते र्वक्त्रात्कथञ्चन ॥४१॥
शुभैराप्नोति देवत्वं निषिद्धै र्नारकीं गतिम् ।
उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं लभतेऽवशः ॥४२॥
एवं चङ्क्रम्यमाणोऽयमविद्याकामकर्मभिः ।
पाशितो जायते कामी म्रियते चासुखाऽऽवृतः ॥४३॥
तस्यैवं दुःखतप्तस्य कथञ्चित्पुण्यशीलनात् ।
नित्येहाक्षालितधियो वैराग्यं जायते हृदि ॥४४॥
नरकाद्भी र्यथास्या भूत्तथा काम्यफलादपि ।
यथार्थदर्शनात्तस्मान्नित्यं कर्म चिकीर्षति ॥४५॥

शुध्यमानं तु तच्चित्तमीश्वरार्पितकर्मभिः ।
वैराग्यं ब्रह्मलोकादौ व्यनक्त्यथ सुनिर्मलम् ।
व्युत्थिताशेषकामेभ्यो यदा धीरवतिष्ठते ।
तदैव प्रत्यगात्मानं स्वयमेवाविविक्षति ॥४७॥
पारम्पर्येण कर्मैवं स्यादविद्यानिवृत्तये ।
ज्ञानवन्नाविरोधित्वात्कर्माविद्यां निरस्यति ॥४८॥
उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं च क्रियाफलम् ।
नैवं मुक्ति र्यतस्तस्मात्कर्म तस्या न साधनम् ॥४९॥
सन्निपत्य न च ज्ञानं कर्माज्ञानं निरस्यति ।
साध्यसाधनभावत्वादेककालानवस्थितेः ॥५०॥
कर्मप्रकरणाकाङ्क्षि ज्ञानं कर्मगुणो भवेत् ।
यद्धि प्रकरणे यस्य तत्तदङ्गं प्रचक्षते ॥५१॥

उत्पन्न भ्रम, तम के समान कर्म अज्ञान को निवृत्त नहीं करता है ॥ ३९ ॥ नित्य कर्म पाप की निवृत्ति के लिये होता है, इस से विमुक्ति के लिये नहीं होता है, तैसे ही काम्य कर्म को स्वर्गादि फल के साथ सम्बन्ध होने से वह कर्म भी मुक्ति के लिये नहीं है ॥ ४० ॥ और यह पारलौकिक = परलोक सम्बन्धी साध्य साधन = कार्य कारण भाव, वेदादि के वचन से सिद्ध होता है, और श्रुति आदि के मुख = वचन से किसी प्रकार भी मोक्ष का हेतु कर्म नहीं सुना गया है ॥४१॥ कर्म में प्रवृत्त पुरुष शुभ कर्मों से देवभाव को पाता है, निषिद्ध पाप कर्मों से नारकीगति पाता है, पुण्य पाप दोनों से अवश = परतन्त्र पुरुष मनुष्यता को प्राप्त करता है ॥४२॥ इस प्रकार अविद्या काम्य कर्म से पाशित = बद्ध यह कामी बार २ कुटिल गमन करता हुआ, अविद्या दुःखादि रूप असुख से आवृत हो कर जन्मता मरता है ॥ ४३ ॥ इस प्रकार दुःख से तप्त = पीड़ित तिस जीव को किसी प्रकार पुण्य कर्म के शीलन अनुष्ठान से, नित्य कर्म के अनुष्ठान द्वारा क्षालित = विशुद्ध बुद्धि वाला होने पर, उसके हृदय में वैराग्य होता है ॥ ४४ ॥ यथार्थ ज्ञान से स्वर्गादि फल को अनित्य समझने से जैसे इस जीव को नरक से भय हुआ है, तैसे ही काम्य कर्मों के फलों से भी भय होता है, तिससे यह काम्य कर्मों से रहित हो कर नित्य कर्म करना चाहता है ॥४५॥ ईश्वरार्पित नित्य नैमित्तिक कर्मों से शुद्ध होता हुआ उस का चित्त फिर ब्रह्म लोकादि विषयक अतिनिर्मल वैराग्य को व्यक्त करता है ॥ ४६ ॥ जब सब कामों से रहित हो कर बुद्धि स्थिर होती है, तब स्वयं ही अन्तरात्मा में सन्मुख प्रवेश करना चाहती है ॥ ४७ ॥ इस प्रकार से कर्म परम्परा से अविद्या की निवृत्ति के लिये होते हैं, अविरोधी होने से ज्ञान के समान कर्म अविद्या को साक्षात् नहीं नष्ट करते हैं ॥ ४८ ॥ और कुम्भकारादि के कर्म से उत्पाद्य घटादि, गमनादि से आप्य = प्राप्य ग्रामादि, क्षारादि से संस्कार्य वस्त्रादि और विकार्य दधि आदि चार प्रकार के कर्म के फल होते हैं, ऐसी मुक्ति नहीं है, अतः कर्म उस का साधन नहीं है ॥ ४९ ॥ और कर्म के अङ्ग रूप ज्ञान कर्म को सन्निपत्य = प्राप्त हो कर कर्म के समकालिक ज्ञान अज्ञान का निरास = नाश नहीं करते हैं, क्योंकि ज्ञान और कर्मों में साध्य साधन भाव होने से दोनों की एक काल में स्थिति नहीं होती है ॥ ५० ॥ जो उपासना कर्म साधनादि का ज्ञान कर्म के प्रकरण

स्वरूप लाभमात्रेण यत्त्वविद्यां निहन्ति नः ।
न तदङ्गं प्रधानं वा ज्ञानं स्यात्कर्मणः क्वचित् ॥५२॥
नैष्कर्म्यसि० अ० १ ॥

प्रत्यग् यथात्म्यधीरेव प्रत्यगज्ञानहानिकृत् ।
सा चात्मोत्पत्तितो नान्यद्ध्वान्तध्वस्तावपेक्षते ५३
चिकित्सयेव सम्प्राप्यं स्वास्थ्यं रोगार्दितस्य तु ।
आत्माविद्याहते बोधात्तत्कैवल्पमवाप्यते ॥५४॥
स्वरूप आत्मनः स्थानमाहुर्निःश्रेयसं बुधाः ।
ततोऽन्येनाभिसम्बन्ध आत्मनोऽज्ञानहेतुकः ॥५५॥
व्यतीतानेकजन्मोत्थवासनानामनन्ततः ।
तासां निरोधोऽसम्भाव्यो जन्मन्येकत्र मानवैः ॥५६॥
सर्वानर्थाभिसम्बन्धे ह्यविद्यैवास्यकारणम् ।
वासनानामपि युतौ सैव यस्मादपेक्ष्यते ॥५७॥
वृहदारण्यकसम्बन्धवार्तिक० ॥

शास्त्रार्थस्य समाप्तेश्च मुक्तिः स्यात्तावता मितेः ।
रागादयः सन्तु कामं न तद्भावोऽपराध्यति ॥५८॥
आगमाद्वेद चेद् ब्रह्म ब्रह्मैव भवतीति हि ।
फलावस्थस्य च सतः कुतो रागादिसम्प्लुतिः ॥५९॥
वृहदा० वार्तिक अ० १।४।१५२६। इत्यादि ॥

[ऋणापनयनाय कर्म कर्तव्यमिति प्राप्त इदमाह]—
नचेहाविदुषोऽपि स्यादृणित्वं हेत्वसम्भवात् ।
न किञ्चिन्नः सुरैः प्रत्तमृणित्वं येन नो भवेत् ॥६०॥
वचनादिति चेन्नैवं तदुक्तेरर्थवादतः ।
अवदानविधेः शेषो ह्यर्थवादो हि तद्वचः ॥६१॥
प्रतीच्यनन्य एकस्मिन्नविद्यापिहितेक्षणः ।
अनन्योप्यात्मनो भिन्नामुपास्ते देवतां नरः ॥६२॥

की आकांक्षावाला है, सो ज्ञान कर्म का गुण=अङ्ग है, क्योंकि जो जिस के प्रकरण में रहता है, उस को उस का अङ्ग कहते हैं ॥५१॥ परन्तु जो ज्ञान स्वरूप के लाभ मात्र से हमारी अविद्या को नष्ट करता है, वह ज्ञान कहीं भी कर्म का अङ्ग वा प्रधान नहीं हो सकता है ॥ ५२ ॥ अन्तरात्मा का यथार्थज्ञान ही उसके अज्ञान को नष्ट करने वाला है, सो अपनी उत्पत्ति से अन्य ध्यानादि की भी अज्ञान की निवृत्ति में अपेक्षा नहीं करता है ॥ ५३ ॥ रोग पीड़ित को चिकित्सा से सम्प्राप्य स्वास्थ्य=स्वरूप स्थिति के समान आत्मा की अविद्या के नाशक ज्ञान से वह कैवल्य प्राप्त किया जाता है, सो रोगाभिभूत स्वास्थ्य के समान प्रथम से ही अविद्या से आवृत रहता है ॥ ५४ ॥ इससे अविद्या की निवृत्ति से स्वरूप में स्थिति ही को आत्मा का निःश्रेयस बुध कहते हैं, और उस अविद्या से अन्य के सम्बन्ध में अनादि आत्मा का अज्ञान ही हेतु है ॥ ५५ ॥ और भूत के अनेक जन्मों में उत्पन्न वासना के अनन्त होने से एक जन्म में मनुष्यों से उन का ज्ञान के विना निरोध होना असम्भाव्य है ॥ ५६ ॥ और इस आत्मा को सब अनर्थ के सम्बन्ध में अविद्या ही कारण है, जिससे वासना के सम्बन्ध में भी वह अविद्या ही कारण है, इससे ज्ञान से ही अविद्या वासना सहित सब अनर्थ निवृत्त होते हैं, कर्मादि से नहीं ॥ ५७ ॥ मिति=ज्ञान होने से ही शास्त्र के प्रयोजन की समाप्ति=पूर्त्ति होती है, इससे ज्ञान से ही मुक्ति होती है, प्रारब्ध भोग के लिये ज्ञानाग्नि से दग्ध रागादि यथेष्ट रहें, उनका रहना कोई हानिकारक नहीं है ॥ ५८ ॥ और आगम=वेद से यदि ब्रह्म को जानता है, तो ब्रह्म ही होता है, इससे फलावस्थ=मुक्त को देहसहित रहते भी प्रथम के समान अदग्ध रागादि की प्राप्ति कैसे, किससे हो सकती है ? ॥ ५९ ॥ कारण के असम्भव होने से यहाँ अज्ञ को भी ऋणित्व नहीं है, क्यों कि सब के स्वकर्मानुसार जन्मायुर्भोग के होने से हम लोगों को देवों ने कुछ दिया नहीं है, कि जिससे हमे ऋणित्व हो, और कर्म अवश्य कर्तव्य हों ॥६०॥ यदि="त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवाञ्जायते" इस वचन से ऋणित्व कहा जाय तो युक्त नहीं है, क्योंकि यह वचन अवदान विधि के अर्थवाद रूप=स्वार्थ में तात्पर्य रहित है ॥ ६१ ॥ अनन्य=अभिन्न एक प्रत्यगात्मा के रहते अविद्या

भूरिक्रियावांस्तु नरस्तथानेकेश्वरोऽवशः ।
एकैको निखिलं विश्वं बिभर्त्यज्ञो दिवानिशम् ॥६३॥
क्रियावद्भि र्हि कौन्तेय ! देवलोकः समावृतः ।
न चैतदिष्टं देवानां मर्त्यैरुपरिवर्त्तनम् ॥६४॥
तस्मान्मुमुक्षु र्देवादीन् सम्यगाराध्य कर्मभिः ।
उन्मुक्तबन्धनस्तैः सन्नापित्सेज्ज्ञानमात्मनः॥६५॥
तद्विपक्षस्तु यो बालो बलादेव मुमुक्षति ।
स्वर्गादेरपि विभ्रष्टो नरकं स निगच्छति ॥६६॥
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेवसिद्धिं समधिगच्छति ॥६७॥
न कर्मणा भवेन्मुक्ति र्नापि चाग्निसमाश्रयात् ।
ज्ञानादेव तु कैवल्यमज्ञानादेव नास्ति तत् ॥६८॥
इत्यादि ॥

अविद्यामात्रविध्वंसाज्ज्ञानादेवामृतं यतः ।
अमृतत्त्वस्य नाशापि वित्तसाध्येन कर्मणा ॥६९॥
न कर्म कारणं मुक्ते र्नाग्निस्तापस्य भेषजम् ।
कर्मभ्यो जन्म नियतं जन्म चेन्निर्वृतिः कुतः ॥७०॥
बृहदारण्यकवार्त्ति० अ० २।४।५४। इत्यादि ॥
दृश्या शब्दादयः क्लृप्ता द्रष्टृ च ब्रह्म निर्गुणम् ।
अहं तदुभयं बिभ्रद् भ्रान्तिमात्मनि यच्छति ॥७१॥
नामादिभ्यः परो भूमा निष्कलोऽकारकोऽक्रियः ।
स एवात्मवतामात्मा स्वतः सिद्धः स एव नः ॥७२॥
एष सर्वधियां नृत्यमविलुप्तैकदर्शनः ।
वीक्षतेऽवीक्षमाणोऽपि निमिषच्चद्ध्रुवोऽध्रुवम् ॥७३॥
अत्राशङ्का–
वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्येव तयोः फलम् ।
चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्समः ७४

से आच्छादित विवेक दृष्टि वाला मनुष्य आत्मा से अभिन्न होता हुआ भी भिन्न देवता की उपासना करता है ॥ ६२ ॥ बहुत क्रिया वाला, अनेक ईश्वर वाला, अस्वतन्त्र, एक एक अज्ञ नर सदा सब विश्व का पालन पोषण करता है ॥ ६३ ॥ हे कौन्तेय ! क्रिया वालों से देवलोक समावृत=पूर्ण हो गया, इससे देवताओं को यह इष्ट नहीं है, कि-मनुष्यों से ऊपर देश में स्थिति स्थान किया जाय ॥ ६४ ॥ अतः मुमुक्षु पुरुष कर्मों द्वारा देवादि की सम्यग् आराधना करके उन से प्रतिबन्ध रहित हो कर आत्मज्ञान की प्राप्ति की इच्छा करे ॥६५॥ उन देवों के विपक्ष=विरोधी होकर जो अज्ञ बल से ही मुक्त होना चाहता है, सो स्वर्गादि से भी पतित होकर नरक में जाता है ॥६६॥ क्योंकि कर्म के अनारम्भ से पुरुष नैष्कर्म्य=मोक्ष नहीं पाता है, प्रथम कर्म करके ही पाता है ॥६७॥ और संन्यास से भी सिद्धि नहीं मिलती है, परन्तु कर्म से ही मुक्ति नहीं होती है, न अग्नि के सम्यग् आश्रयण से होती है, किन्तु ज्ञान से ही कैवल्य होना है, और अज्ञान से ही वह प्राप्त नहीं है ॥६८॥ जिससे अविद्यामात्र की निवृत्ति से ज्ञान से ही अमृत=मुक्त होता है, अतः धन साध्य कर्म से अमृतत्व की आशा भी नहीं है ॥ ६९ ॥ कर्म मुक्ति के कारण नहीं हैं, जैसे अग्नि ताप की औषधि नहीं है, क्योंकि कर्मों से अवश्य जन्म होता है, यदि जन्म हुआ, तो सुख किससे है ? ॥ ७० ॥ दृश्य शब्दादि सिद्ध हैं, और द्रष्टृ निर्गुण ब्रह्म है, अहङ्कार दोनों के प्रतिबिम्ब को धारण करता हुआ आत्मा में कर्तृत्वादि की भ्रान्ति को सिद्ध करता है ॥ ७० ॥ और वस्तुतः नामरूप से पर=भिन्न भूमा =ब्रह्म ही सब आत्मवानों का आत्मा=महावाक्यों का लक्ष्य है, सो निरवयव, कारक से भिन्न, अक्रिय है, हमे वह स्वतः सिद्ध है ॥ ७२ ॥ अविलुप्त एक दर्शन=ज्ञान स्वरूप ध्रुव यह आत्मा अवीक्षमाण =कर्तृत्व शून्य, होता हुआ भी सत्ता मात्र से सब बुद्धियों के नृत्यों को और निमिषत=जड़ अध्रुव सब को देखता है ॥ ७३ ॥ यहाँ शंका होती है, कि-अनुभव रूप आत्मा भी चर्म तुल्य विकारी है ? वा आकाश तुल्य अविकारी है ? यतः वर्षा आतप में यद्यपि आकाश में कुछ विकार नहीं होता है, चर्म में ही वर्षा आतप से विकार रूप फल होता है, सो यदि चर्म तुल्य है ? तो अनित्य है ? आकाश के तुल्य है, तो असत् के तुल्य=

बुद्धिजन्मनि पुंसश्च विकृति र्यद्यनित्यता ।
अथाविकृतिरेवायं प्रमातेति न युज्यते ॥७५॥

परिहारः —

ऊर्ध्वं गच्छति धूमे खं भिद्यते स्विन्न भिद्यते ।
न भिद्यते चेत्स्थास्नुत्वं भिद्यते चेद्भिदाऽस्य का ७६
अविक्रियस्य भोक्तृत्वं स्यादहंबुद्धिविभ्रमात् ।
नौयानविभ्रमाद्यद्वन्नगेषु गतिकल्पनम् ॥७७॥
यथा विशुद्ध आकाशे सहसैवाभ्रमण्डलम् ।
भूत्वा विलीयते तद्वदात्मनीहाखिलं जगत् ॥७८॥
दुःखी यदि भवेदात्मा कः साक्षी दुःखिनो भवेत् ।
दुःखिनः साक्षिताऽयुक्ता साक्षिणो दुःखिता तथा ७९
नर्त्ते स्याद्विक्रिया दुःखी साक्षिता का विकारिणः ।
धीविक्रियासहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रियः ॥८०॥
स्मृतिस्वप्नप्रबोधेषु न कश्चित्प्रत्ययो धियः ।
दृशाऽव्याप्तोऽस्त्यतो नित्यमविकारी स्वयं दृशिः ८१
प्रत्यर्थं तु विभिद्यन्ते बुद्धयो विषयोन्मुखाः ।
न भिदावगतेस्तद्वत्सर्वास्ताश्चिन्निभा यतः ॥८२॥
सावशेषपरिच्छेदिन्यत एव न कृत्स्नवित् ।
नो चेत्परिणमेद्बुद्धिः सर्वज्ञा सात्मवद्भवेत् ॥८३॥
चाण्डालबुद्धे र्यद्द्रष्टृ तदेव ब्रह्मबुद्धिदृक् ।
एकं सदुभयो ज्योंति र्भास्य भेदादनेकवत् ॥८४॥
बुद्धेरनात्मधर्मत्वमनुमानात्प्रसिद्ध्यति ।
आत्मनोप्यद्वितीयत्वमात्मत्वादेव सिद्ध्यति॥८५॥

अज्ञाता है ॥ ७४ ॥ क्योंकि बुद्धि = ज्ञान के जन्म में बुद्धिवृत्ति पुरुष = आत्मा को यदि विकार होता तो अनित्यता की प्राप्ति होती है, यदि विकार नहीं होता है, तो यह प्रमाता नहीं हो सकता है ॥ ७५ ॥ उत्तर है, कि-धूम के ऊपर जाते समय आकाश भेदित = विदीर्ण होता है वा नहीं होता है ? यदि आकाश नहीं भेदित होता है, तो इस धूम की स्थिरता होनी चाहिये, ऊपर की गति नहीं होनी चाहिये, यदि आकाश भेदित होता है, तो इसकी भेदन रूप क्रिया क्या है ? विभाग विना ही आकाश अवकाश रूप है ॥ ७६ ॥ इसी प्रकार अविक्रिय आत्मा को अहंबुद्धि निमित्तक विभ्रम से कर्तृत्व भोक्तृत्वादि होता है, जैसे नौका की गति निमित्तक भ्रम से तटस्थ गति रहित वृक्षों में गति की कल्पना होती है ॥ ७७ ॥ जैसे विशुद्ध आकाश में सहसा मेघमंडल होता है और होकर लीन होता है, तैसे आत्मा में सब जगत् माया से होकर लीन होता है ॥ ७८ ॥ यदि आत्मा ही दुःखी हो, तो दुःखी का साक्षी कौन होगा ? दुःखी का साक्षित्व अयुक्त है, और साक्षी का दुःखित्व अयुक्त है ॥ ७९ ॥ क्योंकि विकार के विना दुःखी नहीं होगा, और विकारी को साक्षित्व क्या होगा ? इससे बुद्धि के अनन्त विकारों का साक्षी मैं आत्मा अविकारी हूँ ॥ ८० ॥ स्मृतिस्वप्नजाग्रद्ज्ञान में कोई भी बुद्धि की वृत्ति दृग् अन्तरात्मा चेतन से अव्याप्त नहीं रहती है, इससे नित्य = सदा अविकारी स्वयं प्रकाश आत्मा है ॥ ८१ ॥ विषय में प्रवृत्त बुद्धि वृत्ति प्रत्येक अर्थ में भिन्न २ होती हैं, भेद की अवगति से उनमें भेद हैं, और उनकी अवगति वैसी ही भासती है, जिससे सब चेतन तुल्य होती हैं, तिससे वृत्ति उपाधिनिमित्तक चेतन में भेद भासता है ॥ ८२ ॥ बुद्धि के साक्षी में तो भेद नहीं है, किन्तु बुद्धि परिणामवाली भेद युक्त है, इससे सावशेष = कतिपय वस्तु का परिच्छेद = विवेक ज्ञान वाली होकर कृत्स्न = सब को जानने वाली नहीं होती है । यदि बुद्धि परिणामिनी नहीं होती, तो आत्मा के तुल्य सर्वज्ञ होती ॥ ८३ ॥ ज्ञान रूप आत्मा के एक और अपरिणामी होने से जो चण्डाल की बुद्धि का प्रकाशक है, वही ब्राह्मण की बुद्धि का भी प्रकाशक है, एक होता हुआ दोनों की ज्योति है, परन्तु भास्य = प्रकाशनीय बुद्धि के भेद से अनेक के समान है ॥ ८४ ॥ बुद्धि की अनात्मधर्मता आगमापायादिहेतुक अनुमान से प्रतीत होती है, और आत्मा की अद्वितीयता, आत्मत्व = स्वतः सिद्ध होता है, द्वैत के मिथ्यात्व मात्र प्रमाण

व्यवधीयन्त एवामी बुद्धिदेहघटादयः ।
आत्मत्वादात्मनः केन व्यवधानं मनागपि ॥८६॥
नित्यां सम्विदमाश्रित्य स्वतः सिद्धामविक्रियाम् ।
सिद्धायन्ते धियो बोधास्ताश्चाश्रित्य घटादयः॥८७॥
नैष्कर्म्यसि० अ० २।४६। इत्यादि ॥
दुःखिताऽवगतौ चेत्स्यान्न प्रमीयेत सात्मवत् ।
कर्मण्येव प्रमा न्याय्या न तु कर्तर्यपि क्वचित्॥८८॥
निर्दुःखित्वं स्वतः सिद्धं प्रत्यक्षादेश्च दुःखिता ।
को ह्यात्मानमनादृत्य विश्वसेद् बाह्यमानतः॥८९॥
अपि प्रत्यक्षबाधेन प्रवृत्तिः प्रत्यगात्मनि ।
पराञ्चि खानीत्येतस्माद्वचसो गम्यते श्रुतेः॥९०॥
नैष्कर्म्यसि० अ० ३ ॥
इति पञ्चदशं सेश्वरवादप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ विशिष्टाद्वैतम् ॥ १६ ॥

चिदचिद्भ्यां विशिष्टं यदेकं शुभगुणाश्रयः ।
हीनं हेयगुणैस्तद्धि निर्गुणं ब्रह्म कथ्यते ॥१॥
सत्तत्त्वं त्रिविधं तस्माज्जडजीवेशभेदतः ।
द्रव्यगुणप्रभेदेन द्विविधं वा निगद्यते ॥२॥
ईशो जीवश्च नित्या च विभूति र्ज्ञानमेव च ।
प्रकृतिश्चैव कालश्च द्रव्याणि सन्ति षट् खलु॥३॥
जीवो नित्यविभूतिश्च प्रकृतिः काल एव च ।
शरीरमीश्वरस्यैते ज्ञानादीशस्य वै विभु ॥४॥
परोऽथ व्यूहविभवाऽन्तर्याम्यर्चावतारकाः ।
ईश्वरास्तत्र वैकुण्ठे परस्तिष्ठति सर्वदा ॥५॥
मुक्तैः प्राप्यः स नित्यं वा अनन्त्यगरुडादिभिः ।
क्रीडति व्यूहरूपाश्च वासुदेवादिनामकाः ॥६॥
परो हि भवति व्यूहो भक्त्युपासनसिद्धये ।
मत्स्यादयो हि विभवा अन्तर्यामी हृदि स्थितः॥७॥

से सिद्ध होता है ॥ ८५ ॥ ये बुद्धिदेहघटादि, प्रकाश में व्यवधान युक्त होते हैं, स्वतः साक्षात् नहीं प्रकाशते हैं, और आत्मा होने से आत्मा को किस से थोड़ा भी व्यवधान हो सकता है ? ॥ ८६ ॥ नित्य स्वतः सिद्ध अविकारी सम्विद = ज्ञानात्मा का आश्रयण कर के बुद्धि की वृत्ति रूप बोध सब सिद्ध होते हैं, और उन का आश्रयण कर के घटादि सिद्ध होते हैं ॥ ८७ ॥ ज्ञान रूप आत्मा में यदि दुःखित्व होता, तो आत्मा के समान वह भी प्रमेय नहीं होता, क्योंकि कर्म विषयक प्रमा उचित है, कर्तृविषयक नहीं, अन्यथा एक में कर्मकर्तृभाव रूप विरोध होगा ॥८८॥ समाधि, सुषुप्ति आदि में तथा प्रबल प्रमाण श्रुति से आत्मा की निर्दुःखिता स्वतः सिद्ध है, और बाह्य प्रमाण प्रत्यक्षादि से दुःखिता है, तहाँ आत्मा का अनादर करके बाहर के प्रमाण से दुःखिता में विश्वास कौन विवेकी करेगा ? ॥८९॥ और प्रत्यक्ष को बाध करके श्रुति की प्रवृत्ति अन्तरात्मा में होती है, यह अर्थ 'पराञ्चिखानि' इस श्रुति वचन से भी समझा जाता है, क्योंकि अन्तरात्मा को प्रत्यक्षादि प्रमाण के अयोग्य कहा गया है, इत्यादि ॥९०॥ पन्द्रहवाँ सेश्वरवादप्रकरण समाप्त ॥

अथ विशिष्टाद्वैत—चिद् अचिद् = जीव जगत् रूप विशेषण वाला, शुभ गुणों का आश्रय, हेय = अशुभ गुणों से हीन = रहित जो एक ब्रह्म वही निर्गुण ब्रह्म कहलाता है, निर्विशेष सब गुणों से रहित नहीं ॥ १ ॥ तिससे सत्य तत्त्व = यथार्थ वस्तु जड़ जीव ईश्वर = ब्रह्म भेद से तीन प्रकार के हैं, वा द्रव्य गुण के प्रभेद से दो प्रकार के कहे जाते हैं ॥ २ ॥ तहाँ ईश्वर, जीव, ईश्वर की नित्य विभूतियाँ, ज्ञान, प्रकृति, और काल ये छः द्रव्य हैं ॥ ३ ॥ जीव, नित्य विभूति, प्रकृति, काल, ये सब ईश्वर के शरीर हैं, और ज्ञान इच्छा आदि ईश्वर के गुण = धर्म विभु हैं ॥ ४ ॥ पर, व्यूह, विभव और अर्चावतार, ये चार ईश्वर के स्वरूप हैं, तिन में पर स्वरूप ईश्वर सदा वैकुण्ठ में रहता है ॥ ५ ॥ मुक्तों से प्राप्त करने योग्य वह पर अनन्त्य गरुडादि के साथ क्रीडा करता है, और वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध आदि नाम वाला व्यूह रूप है ॥ ६ ॥ भक्ति उपासना की सिद्धि के लिये पर ही व्यूह होता है, मत्स्यादि अवतार विभव हैं,

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांसि षड्गुणाः ।
विद्यन्ते वासुदेवे वै मूर्त्तिरर्चावतारकः ॥८॥
स्वरूपेण विभुश्चेशः परो वैकुण्ठसंस्थितः ।
व्यूहादिषु स एवास्ते शक्त्या स्वेनाथवाऽऽविशन् ९
प्रतिदेहं विभिन्नाश्च जीवा वा अणुमात्रकाः ।
स्वयंप्रकाशनित्याश्च कर्त्तारश्चेश्वराश्रिताः ॥१०॥
स्वयंप्रकाशदेशात्मा विभूतिः परमात्मनः ।
नित्या साधः परिच्छिन्ना परिच्छिन्ना नचोर्ध्वतः ११
ज्ञानं बुद्धिः प्रकाशात्मा द्रव्यं सती गुणात्मिका ।
जीवेश्वराश्रिता दीपप्रभातुल्या न संशयः ॥१२॥
ज्ञानं स्वरूपभूतं यत्तद् द्रव्यं स्वप्रकाशकम् ।
उभयात्मक्रियायुक्तं ज्ञानं बुद्धिमयं खलु ॥१३॥
जीवनिष्ठं हि तज्ज्ञानं बहिर्निःसृत्य गच्छति ।
मिलित्वा विषयैस्तांश्च तत्प्रकाशयितुं ध्रुवम् ॥१४॥
प्रकृतिः सांख्यशास्त्रोक्ता साऽविद्या बोधरोधतः ।
विचित्रकार्ययोगेन मायाशब्देन कथ्यते ॥१५॥
कालो विभु र्जडोऽखण्डः सखण्डो विद्यते तथा ।
स्वतन्त्र इव चान्यत्र वैकुण्ठे स तथा न हि॥१६॥
द्वयं चात्र जडं ह्यन्ते तदन्यत्त्वजडं तथा ।
प्रत्यगाद्यद्वयं तद्वत् पराङ्मध्यद्वयं त्विति ॥१७॥
सत्त्वं रजस्तमः शब्दः स्पर्शो रूपं रसस्तथा ।
गन्धः संयोगशक्ती च गुणा दशविधाः स्मृताः॥१८॥
शुद्धं सत्त्वं हि वैकुण्ठे त्वीश्वरे वर्त्तते सदा ।
अशुद्धं प्रकृतौ जीवे रजश्चैव तमस्तथा ॥१९॥
सत्त्वं रजस्तमश्चैव शब्दादिपञ्चकं तथा ।
द्रव्यगुणस्वरूपेण द्विधा सर्वं विभिद्यते ॥२०॥

अन्तर्यामी सब के हृदय में स्थिर है ॥७॥ ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज, ये छः गुण वासुदेव में रहते हैं, मूर्ति अर्चा अवतार है ॥ ८ ॥ स्वरूप से व्यापक ईश्वर है, पर स्वरूप वैकुण्ठ में स्थिर रहता है, व्यूहादि में वह पर ही शक्तिद्वारा रहता है अथवा स्वरूप से आवेश करता हुआ रहता है ॥ ९ ॥ प्रति देह में जीव भिन्न २ हैं, सो अणु मात्र स्वरूप वाले हैं, स्वयं प्रकाश, नित्य स्वरूप हैं, ईश्वराश्रित होकर कर्ता हैं ॥१०॥ स्वयं प्रकाश देश स्वरूप भी परमात्मा की विभूति है, सो नित्य है, नीचे परिच्छिन्न=खंडित है, ऊपर अपरिच्छिन्न है ॥ ११ ॥ ज्ञानरूप बुद्धि प्रकाश स्वरूप है, वह ज्ञान द्रव्य है, दिव्य है, तद्रूप होती हुई बुद्धि गुणस्वरूप वाली है, और जीव तथा ईश्वर के आश्रित है, दीप की प्रभा तुल्य सङ्कोच विकास वाली है इसमें संशय नहीं है ॥ १२ ॥ स्वरूप भूत जो ज्ञान है, सो स्वयं प्रकाश द्रव्य रूप है, बुद्धिमय ज्ञान ही द्रव्य गुण दोनों स्वरूप और क्रियायुक्त है ॥ १३ ॥ जीव में रहने वाला जो ज्ञान है, सो नेत्रादि द्वारा निकल कर बाहर जाता है, विषयों से मिल कर उन को वह अवश्य प्रकाशता है ॥ १४ ॥ प्रकृति सांख्य में कथित ही त्रिगुणात्मक है, सोई ज्ञान को रोकती है, और प्रबल बोध से उसका निरोध होता है, इससे विद्या के विरोधिनी अविद्या कहलाती है, और विचित्र कार्यों के योग=सम्बन्ध से प्रकृति ही मायाशब्द से कही जाती है ॥ १५ ॥ काल रूप. द्रव्य, विभु, जड़, अखण्ड तथा सखण्ड भी है, अन्य स्थानों में स्वतन्त्र के समान है, परन्तु वैकुण्ठ में वह वैसा=स्वतन्त्र नहीं है ॥ १६ ॥ यह संसार द्वय=द्वैतयुक्त भिन्न जड़ वस्तु कहलाता है, उसके अन्त में उससे अन्य वस्तु=अद्वय अजड़=जड़भिन्न कहलाता है, और प्रत्यग्-चेतन आत्मा आदि भी अद्वय=अजड़ कहलाता है, वैसे ही उससे अन्य पराक्=बाह्य मध्यद्वय इत्यादि कहलाता है ॥ १७ ॥ सत्त्व, रजः तमः, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग, शक्ति, ये दश प्रकार के गुण कहे गये हैं ॥ १८ ॥ शुद्ध सत्त्व ही वैकुण्ठ और ईश्वर में सदा रहता है, प्रकृति और जीव में अशुद्ध सत्त्व रहता है, तथा रजः तमः भी रहते हैं ॥ १९ ॥ सत्त्वादि तीन और शब्दादि पांच द्रव्य और गुण स्वरूप

सत्त्वाद्याः प्रकृतेरङ्गान्यथ तन्मात्रसंज्ञकाः ।
द्रव्यात्मानस्तदन्ये तु गुणा भूताश्रिता मताः॥२१॥
यद्येन व्याप्यते तद्धि शरीरं तस्य कथ्यते ।
व्यापकश्च शरीरीति तथात्मेति निगद्यते ॥२२॥
विजातीयाज्जडाद्भिन्नः सजातीयाच्च जीवतः ।
स्वगताज्ज्ञानशक्त्यादेरीश्वरो न तदात्मकः ॥२३॥
गुणभेदादियुक्तत्वात्सविशेषो महेश्वरः ।
निर्विशेषो न कर्त्ता स्याज्ज्ञाता न ज्ञानमन्तरा॥२४॥
स ज्ञानविषयोऽपीशो न साकल्येन तेन च ।
मनसा मनुते नेदमित्याद्यप्युपपद्यते ॥२५॥
कूटस्थनित्यरूपैको देहेन कार्यकृद्यतः ।
विशिष्टस्य विकारेऽपि स्वरूपस्य न विद्यते ॥२६॥

सर्वैक्यं देहिभावेन जीवैक्यं स्यात्तु जातितः ।
अन्यथा बन्धमोक्षादि व्यवहारो न सम्भवेत्॥२७॥
तस्मात्सर्वं जगत्सत्यं शुक्त्यादौ रजतादिकम् ।
स्वाप्नं चेश्वरकार्यं वै सत्यमेवास्ति बोधतः ॥२८॥
पञ्चीकृते जगत्यस्मिन् सर्वं सर्वत्र विद्यते ।
रजतांशस्य चाल्पत्वाद्भ्रान्तिस्तत्कथ्यते बुधैः २९
शास्त्रादीनां च सत्यत्वात्प्रामाण्यं तत्र युज्यते ।
प्रमाणजन्यबोधेन जीवनिष्ठेन वै भ्रमः ॥३०॥
जीवस्वातन्त्र्यदेहात्मज्ञानरूपो निवर्त्तते ।
अहमर्थो ह्यणु र्जीवो ज्ञानं च तद्गुणो विभुः॥३१॥
नाऽहमर्थोऽतिरिक्तोऽतो जीवतो न विमुक्तता ।
शरीरे प्राकृते नष्टे दिव्यदेहेन साम्यता ॥३२॥

से सब = आठो दो प्रकार से विभिन्न होते हैं ॥ २० ॥ प्रकृति के अवयव रूप सत्त्वादि तीन और महाभूतों के कारण सूक्ष्म भूतरूप तन्मात्र नाम वाले द्रव्य स्वरूप हैं, उन से अन्य महाभूतों के आश्रित रहने वाले गुण माने गये हैं ॥२१॥ जो जिससे व्याप्त होता है, सो उस का शरीर कहलाता है, और व्यापक शरीरी तथा आत्मा कहलाता है ॥ २२ ॥ ईश्वर अपने से विजातीय = भिन्न जाति वाले जड़ों से भिन्न है, तथा सजातीय चेतन जीव से भिन्न है, और स्वगत ज्ञान शक्ति आदि से भिन्न है, ज्ञानादि स्वरूप वा जड जीव स्वरूप नहीं है ॥२३॥ गुणभेदादियुक्त होने से महेश्वर सविशेष है, निर्विशेष कर्ता नहीं हो सकता है, और ज्ञान के विना ज्ञाता नहीं हो सकता है ॥ २४ ॥ वह ईश्वर ज्ञान का विषय होता हुआ भी सकल = सम्पूर्ण स्वरूप से ज्ञान का विषय नहीं होता है, इससे इस ब्रह्म को कोई मन से नहीं समझता है, इत्यादि भी शास्त्र का कहना बनता है ॥ २५ ॥ कूटस्थ = अचल निर्विकार नित्य स्वरूप एक ईश्वर जिससे देह द्वारा कार्य करता है, इससे देह विशिष्ट = सहित में विकार होने पर भी स्वरूप का विकार नहीं होता है ॥ २६ ॥ सब के साथ ईश्वर की एकता देही भाव से है, सब ईश्वर की देह हैं, ईश्वर देही है, और जीव के साथ चेतनता रूप सजाति होने से एक है, ऐसा न होने पर बन्ध मोक्षादि व्यवहार नहीं हो सकेगा ॥ २७ ॥ अतः सब जगत् सत्य है, और शुक्ति आदि में रजतादि तथा स्वप्न के पदार्थ सब ईश्वर के देह कार्य होने से सत्य ही हैं। बोध से ऐसा सिद्ध होता है ॥ २८ ॥ पञ्चीकृत रूप इस जगत् में सब वस्तु सर्वत्र है, इस से शुक्ति आदि में भी रजतादि हैं, परन्तु वहाँ रजत का अल्प अंश है, इस से वह विद्वानों से भ्रान्ति कही जाती है ॥ २९ ॥ गुरु शास्त्रादि के भी सत्य होने से उस में प्रमाणता बनती है, और प्रमाण जन्य ज्ञान से जीव में वर्तमान जीव की स्वतन्त्रता रूप भ्रम, और देह में आत्मज्ञान रूप भ्रम निवृत्त होता है। और अहं पद के अर्थ रूप अणु स्वरूप जीव हैं, ज्ञान रूप उस का गुण विभु है ॥ ३०-३१ ॥ अहम् शब्दार्थ से अतिरिक्त = भिन्न जीव नहीं है, इस से जीवित को अहङ्कारादि के अभाव रूप विमुक्तता नहीं है, किन्तु प्रकृति के कार्य रूप शरीर के नष्ट होने पर दिव्य देह द्वारा परमात्मा से तुलयता ही यह मुक्ति है;

परेशेन हीयं मुक्तिरहमत्रापि विद्यते ।
पञ्चरात्रस्य सर्वांशे प्रामाण्यं च तथा श्रुतेः ॥३३॥
इत्याहुः पाञ्चरात्रा वै तदन्ये त्वन्यथा विदुः ।
पश्यन्तु सज्जनास्तत्र विचारेण स्वसम्विदा ॥३४॥

नारदपञ्चरात्रान्तर्गतब्रह्मसंहितायां ह्याह श्रीनारायणः —

यथा चाहं तथैवैते मदीया नित्यकिङ्कराः ।
कदापि ज्ञानसङ्कोचो नैतेषां ननु विद्यते ॥३५॥
सम्प्राप्य प्रकृते र्योगं ज्ञानसङ्कोचमाश्रिताः ।
ममापकारिणो बद्धा भूत्वा मत्कृपया पुनः ॥३५॥
सम्प्राप्याचार्यशरणमुपायमवगत्य च ।
मदाज्ञाकारिणो भूत्वा ह्याजीवं प्रकृतां तनुम् ॥३७॥
हित्वा मुक्ता भवन्तीति द्विधा तेऽपि प्रकीर्त्तिताः ।
केवलाः सेवकाश्चेति केवलास्तनुवर्जिताः ॥३८॥
ब्रह्मसं० अ० २।२८ इत्यादि ॥

वेदशास्त्रपुराणार्थो न दृष्टार्थाय कल्पते ।
अदृष्टमात्मनस्तत्त्वं विदित्वा तु सुखी भवेत् ॥३९॥
ब्रह्मसं० अ० ३।२२ ॥

उभयोरात्मभूतोऽयं स्वतन्त्रो धारको हरिः ।
प्रेरको मारको लिप्तो भोजको भोगवर्जितः ॥४०॥
ब्रह्मसं० अ० ४।४४ ॥

अनुसन्धाननिरता ज्ञानिनो भगवत्पराः ।
परमैकान्तिनो ज्ञेया ह्यखण्डध्यानधारिणः ॥४१॥
ब्रह्मसं० अ० ७।८४ ॥

द्वैतं नास्तीति बोधेन मनसो द्वैतनाशनम् ।
एतदन्तो हि संसारो ब्रह्मन्नेवं विचारय ॥४२॥
स्वभावनिर्मलत्वं मे स्वरूपमवधारय ।
कदापि प्रकृतेः सङ्गान्मालिन्यं नोपजायते ॥४३॥
ब्रह्मैवास्मीति बोधेन तत्सादृश्यमुपेत्य सः ।
निर्मलो भवति ब्रह्मन् मत्तेजो ह्यमलं ततः ॥४४॥
भक्त्या मे ज्ञानिनो ब्रह्मन् समायान्ति ममामलम् ।
समानभोगविभवा जगद्व्यापारवर्जिताः ॥४५॥
ब्रह्मसं० पाद २ अ० २ ॥ श्रीरुद्रश्चाह—

इस मुक्ति में भी अहं रहता ही है । और पञ्चरात्र को सर्वांश में प्रमाणता है, तथा श्रुति को है, इस प्रकार पञ्चरात्र को मानने वाले कहते हैं, उन से अन्य लोग अन्यथा समझते हैं, तहाँ सज्जन विचार द्वारा अपनी बुद्धि से देखें ॥ ३२-३४ ॥ नारदपञ्चरात्र के अन्तर्गत ब्रह्मसंहिता में श्रीनारायण भी कहते हैं कि — जैसे मैं हूँ, तैसे ही ये मेरे नित्यकिङ्कर=सेवक हैं, इनके ज्ञान का सङ्कोच कभी नहीं होता है ॥ ३५ ॥ मेरे अपकारी जीव प्रकृति का संयोग पाकर बद्ध होकर जो ज्ञान के सङ्कोच को आश्रित=प्राप्त हैं. वे भी फिर मेरी कृपा से आचार्य की शरण को पाकर, आचार्य से उपाय को समझकर, मेरी आज्ञा को करने वाले होकर, जीवन पर्यन्त प्राप्त प्रकृति के कार्य रूप देह को त्यागकर मुक्त होते हैं, सो मुक्त दो प्रकार के होते हैं, एक केवल कहलाते हैं, एक सेवक कहलाते हैं, तिन में केवल शरीर रहित होते हैं ॥ ३६-३८ ॥ वेदशास्त्र और पुराण के अर्थ दृष्ट=प्रत्यक्ष अर्थ=प्रयोजन जीवन्मुक्ति लौकिक सुखादि के लिये समर्थ नहीं हैं, किन्तु वेदादि द्वारा अदृष्ट आत्मा के सत्य स्वरूप को जानकर जीव सुखी होता है ॥ ३९ ॥ जीव जड़ दोनों के आत्म स्वरूप स्वतन्त्र धारक प्रेरक, मारक, लिप्त=असङ्गता रहित भोजक=भोग कराने वाला भी यह हरि स्वयं भोग रहित हैं ॥ ४० ॥ भगवान् के अनुसन्धान = चिन्तन में निरत = तत्पर भगवत्परायण अखण्ड ध्यानधारी ही परम एकान्ती=एक निश्चय वाले हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥ ४१ ॥ द्वैत नहीं है, विशिष्टाद्वैत है, इस ज्ञान से मन के द्वैत का नाश होता है, और इस द्वैत के नाश तक संसार है, फिर नहीं, हे ब्रह्मन् ! इस प्रकार विचारो ॥ ४२ ॥. स्वभाव से निर्मलता हो मेरे स्वरूप का निश्चय करो, प्रकृति के सङ्ग से कभी मुझे मलिनता नहीं होती है ॥ ४३ ॥ मैं ब्रह्म ही हूँ, इस बोध से उस ब्रह्म के सदृशता को पाकर वह जीव निर्मल होता है, हे ब्रह्मन् ! तब मेरा तेज रूप अमल होता है, अमल मेरे तेज को पाता है, फिर मेरी भक्ति से ज्ञानी होता है, और अमल उस तेज

सदैकरूपाभावात्तु जगन्मिथ्येति गीयते ।
न मिथ्याऽन्यादृशं नैव भ्रमोरज्जुभुजङ्गवत् ॥४६॥
राजन् ! कार्यस्य मिथ्यात्वं नैर्गुण्यं परमात्मनः ।
आभासवादो जीवस्य पाषण्डैरुपकल्पितः ॥४७॥
अस्वातन्त्र्यादसत्त्वं तु मिथ्यात्वं श्रुतिरुज्जगौ ।
विशेषस्यापरोक्षस्य प्राकृतस्य विनाशतः ॥४८॥
नित्यानां तु विशेषाणां विनाशो नैव विद्यते ।
स्वरूपहानिरेव स्यादन्यथा मुनिसत्तम ! ॥४९॥
तत्साम्यलक्षणो मोक्षः सायुज्यमभिधीयते ।
यतो नावर्त्तते भूयो भोगसाम्यमुपैति हि ॥५०॥

ब्रह्मसं० पाद ४ अ० ८ ॥

सत्यादिलक्षणै र्लक्ष्यं ब्रह्म सत्यादिलक्षणम् ।
न निर्विशेषं निर्धर्मं निष्क्रियं तावदिष्यते ॥५१॥

ब्रह्मसं० पाद ४ अ० ६।४ ॥

अव्यक्तत्वेन संस्थानं लयो नाम महामते ! ।
उद्गमः स्थूलभावो हि व्यक्तमित्यभिधीयते ॥५२॥
स्थूलस्य नैकरूपत्वं मिथ्यात्वमुपवर्त्तते ॥५३॥
स्वरूपतोऽणुभूतोऽपि प्रकाशेन शरीरगः ।
एकदेशस्थितो वेत्ति हरिचन्दनबिन्दुवत् ॥५४॥

ब्रह्मसंहिता पाद ४ अ० १०।३८–४४ ॥

मुक्तिः प्राणाक्षदेहादिभि-
रुपाधिभिरत्यन्तविश्लेषरूपा,
जीवद्भावोऽपि तैस्सङ्गम इति
विहते जीवतस्सा कथं स्यात् ।
आपस्तम्बादयश्च श्रुतिगति-
भिरिमां युक्तिभिश्च व्यदासु-
र्जीवन्मुक्तादिशब्दः क्वचिदुप-
चरितस्तत्समावस्थयैव ॥ ५५ ॥

तत्त्वमुक्ताकलापप्र० जीवस० २ ॥

इति षोडशं विशिष्टाद्वैतमतप्रकरणं समाप्तम् ॥

को सम्यग् प्राप्त करते हैं, फिर समान भोग विभव वाले मेरे साथ हो जाते हैं, परन्तु जगत् के उत्पत्ति पालनादि व्यापार से वे लोग रहित रहते हैं, यही ईश्वर से उनमें भेद रहता है ॥ ४४–४५ ॥ सदा एक रूप नहीं रहने से जगत् को मिथ्या कहा जाता है, और प्रकार का मिथ्यात्व नहीं है, न रस्सी में सर्प के समान भ्रम है ॥ ४६ ॥ हे राजन् ! कार्य के मिथ्यात्व, परमात्मा की निर्गुणता, जीव का आभासवाद पाखण्डों से सिद्ध हुए हैं ॥ ४७ ॥ अस्वतन्त्रता से कार्य के मिथ्यात्व को श्रुति ने कहा है, और अपरोक्ष प्रकृति के कार्य विशेष के नाश से भी मिथ्या कहा है, नित्य विशेषों का तो विनाश नहीं होता है, हे मुनिसत्तम ! अन्यथा स्वरूप का ही अभाव होगा ॥ ४८–४९ ॥ उस ब्रह्म की समता = तुल्यता लक्षण वाला मोक्ष है, वही सायुज्य कहा जाता है, जिस मोक्ष से फिर संसार में लौटता नहीं है, और परमात्मा के साथ भोग की तुल्यता पाता है ॥ ५० ॥ सत्य आनन्द ज्ञानादि लक्षणों द्वारा लक्ष्य = ज्ञेय ब्रह्म सत्यादि लक्षण वाला है, निर्विशेष निधर्म निष्क्रिय इष्ट नहीं है ॥ ५१ ॥ हे महामते ! अव्यक्त रूप से सम्यग् स्थिति 'लय' इस नाम वाला है, उद्गम = उत्पत्ति स्थूलता है, वही व्यक्त कहा जाता है ॥ ५२ ॥ स्थूल को एक रूपता न होना मिथ्यात्व है, और जीव स्वरूप से अणु स्वरूप है, और प्रकाश = ज्ञान से सम्पूर्ण शरीर गत है, हरिचन्दन विन्दु के समान एक देश में स्थिर होता हुआ भी शरीर गत सुख दुःखादि को जीव जानता है ॥ ५३–५४ ॥ प्राणादि उपाधियों से अत्यन्त वियोग रूप मुक्ति होती है, और जीवनपन भी उन से सम्बन्ध रूप है, इस म जीवित को मुक्ति का व्याघात होने से मुक्ति कैसे होगी ? इसी से आपस्त-म्बादिकों ने श्रुति मार्ग और युक्तियों से इस जीवन्मुक्ति का निषेध किया है, और जो कहीं जीवन्मुक्तादि शब्द है, सो मुक्त तुल्य स्थिति से गौण हैं ॥ ५५ ॥ सोलहवाँ विशिष्टाद्वैतमत प्रकरण समाप्त ॥

अथ शुद्धाद्वैतमतम् ॥ १७ ॥

विशेषैः प्राकृतैः शून्यमप्राकृतविशेषवत् ।
आत्मसृष्टे र्न वैषम्यं नैर्घृण्यं चापि विद्यते ॥१॥
विशेषैः प्राकृतै र्हीनोऽप्यप्राकृतविशेषवान् ।
साकारस्तस्य चाकारः सत्यानन्दो न चापरः॥२॥
सर्वतः पाणिपादादियुक्त एको य ईश्वरः ।
कुरुते स स्वरूपं स्वं विविधं दैवमानुषम् ॥३॥
उत्तमाधमभावेन स स्वयं वर्त्तते हरिः ।
तस्माद्विषमता नास्ति बाध्यबाधकता न च ॥४॥
अभिव्यक्ति र्हि जीवानामीश्वरात्कस्यचिन्मते ।
तदुत्पत्तिं च मन्यन्ते केचित्तु जगदीश्वरात् ॥५॥
शुद्धः श्रीकृष्ण एवास्ते मायादि विद्यते न हि ।
तस्मान्न विद्यते भेदः शुद्धाद्वैतं हि वर्त्तते ॥६॥

इति सप्तदशं शुद्धाद्वैतमतप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ भेदाभेदमतम् ॥ १८ ॥

ईश्वरजीवजगतां भेदो नित्यो हि वर्त्तते ।
ईश्वराऽऽयत्तता जीवे जगत्यपि सदाऽस्ति च ॥१॥
व्यापकः परमात्मैव व्याप्यो जीवो जगत्तथा ।
ईश्वराऽभिन्नता तेन कथ्यते न स्वरूपतः ॥२॥
सत्यैव भावरूपा च जीवेऽविद्या हि वर्त्तते ।
भिन्ना चिदणुजीवस्य बन्धहेतु र्भवत्यलम् ॥३॥
सच्चिदानन्दरूपो हि बध्यतेऽविद्यया ह्ययम् ।
देहयुक्तो भ्रमत्यत्र कष्टं च लभते सदा ॥४॥
अणुरूपस्य जीवस्य ज्ञानं तु प्रभया समम् ।
ततोऽनुभवति स्वीये देहे सुखं तदन्यकम् ॥५॥

इत्यष्टादशं भेदाभेदमतप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ शुद्धाद्वैत—शुद्धाद्वैत वादी श्री विष्णु स्वामी का कथन है, कि ब्रह्म = परमात्मा प्रकृति के कार्य रूप विशेषों = धर्मों से शून्य = रहित है, परन्तु अप्राकृत = अकार्य विशेष वाला है, और अपने आत्मा को ही सुखी दुःखी आदि रूप से करता है, इस से उस के आत्म स्वरूप सृष्टि के होने से किसी अन्य के प्रति विषमता निर्घृणता = निर्दयता रूप दोष नहीं है ॥ १ ॥ प्राकृत विशेषों से रहित भी अप्राकृत विशेष वाला साकार परमात्मा है, और उस का आकार सत्यानन्द ही है, अन्य नहीं ॥ २ ॥ सर्वत्र हाथ, पैर, चक्षु, श्रोत्रादि वाला जो ईश्वर है, वह अपने स्वरूप को ही अनेक प्रकार के देव समूह और मनुष्य समूह रूप करता है ॥ ३ ॥ उत्तम मनुष्य देव ऋषि आदि भाव से और अधम पशु पक्षी आदि भाव = स्वरूप से हरि स्वयं वर्त्तता है, तिस से हरि में विषमता नहीं है न बाध्य बाधकता है ॥ ४ ॥ किसी के मत में ईश्वर से जीव की अभिव्यक्ति = नित्य सिद्ध की सृष्टि काल में प्रकटता होती है, कोई जगदीश्वर से जीवों की उत्पत्ति भी मानते हैं ॥ ५ ॥ शुद्ध = परमात्मा श्रीकृष्ण ही हैं और माया आदि भी कुछ नहीं है, तिस से शुद्ध अद्वैत ही है, भेद नहीं है, भेद दीखता है, सो सब कृष्ण स्वरूप है ॥ ६ ॥

सत्रहवाँ शुद्धाद्वैतमत प्रकरण समाप्त ॥

अथ भेदाभेदमत—भेदाभेदवादी श्रीनिम्बादित्याचार्य कहते हैं, कि–ईश्वर, जीव, जगत् का परस्पर भेद नित्य ही है, और ईश्वराधीनता जीव और जगत् में सदा है ॥१॥ व्यापक परमात्मा ही है, और जीव तथा जगत् परमात्मा से व्याप्य है = अपृथग्वर्ती हैं, तिससे जीव, जगत् में ईश्वर से अभिन्नता कही जाती है, स्वरूप से अभिन्नता नहीं है ॥२॥ सत्य और भावरूप अविद्या जीव में रहती है और भिन्न रहती है, सो अणुरूप जीव के पूर्ण बन्धन का हेतु है ॥ ३ ॥ सच्चिदानन्द रूप भी वह जीव अविद्या से बंधता है, देहयुक्त होकर यहाँ भ्रमता है, सदा कष्ट भी पाता है ॥ ४ ॥ अणु रूप जीव का ज्ञान प्रभातुल्य है, तिससे अपनी देह में सुख दुःख का अनुभव करता है ॥ ५ ॥ अठारहवां भेदाभेदमत प्रकरण समाप्त ॥

अथ केवलद्वैतमतम् ॥ १९ ॥

ईशजीवौ सदा भिन्नौ जडो भिन्नस्तथेश्वरात् ।
जीवाः परस्परं भिन्ना जीवभिन्ना जडास्तथा ॥१॥
परस्परं जडा भिन्ना वर्त्तन्ते सर्वदा समे ।
भेदः सत्यस्ततो नान्यो ह्यविवेकाच्च भाति सः॥२॥
अविवेककृताभेदं श्रुतिराह ततो न हि ।
अभेदे सा प्रमाणं स्यादित्याहु द्वैतवादिनः ॥३॥

इत्यूनविंशं केवलद्वैतमतप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ श्रीवल्लभाचार्यादिमतम् ॥ ० ॥

ईश्वरान्नैव भिन्नं वै स्यादीशस्य कलेवरम् ।
अचिन्त्यशक्तियोगेन तद् भाति हीश्वरात्मकम्॥१॥
महानन्दं स्वमाच्छाद्य वहुरूपं विधाय च ।
रमणार्थं स रमते हरिरित्याह वल्लभः ॥२॥
भास्करो वल्लभाचार्यो निम्बार्कश्चाह वै जगत् ।
ईशस्य परिणामं वै भिन्नाभिन्नं ततस्तथा ॥३॥
यतो भूतानि जायन्त इमानि वै महाप्रभोः ।
जीवन्ति यत्र लीयन्ते तद्ब्रह्मेति श्रुतिर्जगौ ॥४॥
अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।
प्रकृतिश्चेति सूत्राद्यैः परिणामी सदीश्वरः ॥५॥
तत्परिणामिनित्यत्वं हीश्वरे विद्यते न हि ।
कूटस्थनित्यता सोऽपि स्वभावं न हि मुञ्चति ॥६॥
एवं चैतन्यदेवोऽपि परिणामं परेशितुः ।
जगच्चाह तथा सोऽपि भेदाभेदं हि मन्यते ॥७॥
निम्बार्को भास्करश्चैव द्वैताद्वैतं हि मन्यते ।
श्रीवल्लभमते सर्वं शुद्धाद्वैतं हि वर्त्तते ॥८॥
ईश्वरादतिभिन्नं वै विश्वं च प्रकृतिस्तथा ।
भिन्नापीशवलोपेता जगत्कार्यं करोति सा ॥
इत्याह माध्वसिद्धान्तवादी वै सर्वथाभिदाम्॥९॥

गिरिधरस्वामिना चोक्तम्—

अथ केवलद्वैतमत—केवलद्वैतवादि श्रीमाध्व महाराज कहते हैं, कि ईश्वर, जीव सदा भिन्न हैं, तथा ईश्वर से जड भिन्न हैं, जीव सब परस्पर भिन्न हैं, तथा जीवों से जड़ भिन्न हैं, और सब जड़ सदा परस्पर भिन्न रहते हैं, इस से ये पाँच प्रकार के भेद सत्य हैं, अन्य = अभेद सत्य नहीं है, अविवेक से अभेद भासता है ॥ १–२ ॥ उक्त अविवेक कृत अभेद को ही श्रुति भी कहती है, इससे वह श्रुति अभेद में प्रमाण नहीं हो सकती, इस प्रकार द्वैतवादी कहते हैं ॥ ३ ॥ उन्नीसवाँ केवलद्वैतमत प्रकरण समाप्त ॥

अथ श्रीवल्लभाचार्यादिमत—ईश्वर से भिन्न ईश्वर की देह नहीं होती है, अचिन्त्यशक्ति के सम्बन्ध से वह ईश्वर रूप ही ईश्वर की देह भासती है ॥१॥ वह ईश्वर, रमण के लिये अपने महा आनन्द को ढाँप कर बहुत रूप बना कर हरि रमता है, इस प्रकार वल्लभाचार्य कहते हैं ॥ २ ॥ भास्कराचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्क मुनि, ये सब जगत् को ईश्वर का परिणाम कहते हैं, और ईश्वर से भिन्नाऽभिन्न कहते हैं ॥ ३ ॥ जिस महाप्रभु से ये भूत = प्राणी उत्पन्न होते हैं, जीवित रहते हैं और जिस में लीन होते हैं, वह ब्रह्म है, इस प्रकार श्रुति में कहा है ॥ ४ ॥ मैं सब जगत् के प्रभव = उत्पत्ति का कारण और प्रलय रूप हूँ, इत्यादि गीता, तथा 'ब्रह्म जगत् की प्रकृति = उपादान कारण भी है' इस ब्रह्म सूत्रादि से परिणामी ईश्वर सिद्ध होता है ॥ ५ ॥ तिससे ईश्वर में परिणामी नित्यत्व है, कूटस्थ नित्यत्व नहीं है, वह परिणामी ईश्वर भी परिणामी दूध के समान परिणाम काल में अपने स्वभाव को नहीं त्यागता है, किन्तु परिणामी सुवर्ण के समान निज स्वभावयुक्त रहता है ॥ ६ ॥ इसी प्रकार चैतन्य देव भी परमात्मा के विकार जगत् को कहते हैं, और वे भी भेदाऽभेद ही मानते हैं ॥ ७ ॥ श्रीनिम्बार्कमुनि और भास्कराचार्य द्वैताद्वैत मानते हैं, श्रीवल्लभाचार्य के मत में शुद्धाद्वैत है ॥ ८ ॥ ईश्वर से अत्यन्त

सर्वेषु मन्त्रवर्णेषु वैष्णवं श्रेष्ठमुच्यते ।
वैष्णवेषु च मन्त्रेषु कृष्णमन्त्राः फलाधिकाः ॥१०॥
मन्त्रग्रहणमात्रेण नरो नारायणात्मकः ।
अवैष्णवोपदिष्टेन मन्त्रेण निरयं व्रजेत् ॥११॥
अनिवेद्य न भोक्तव्यं यदाहाराय कल्पितम् ।
यज्ञोपवीतवद्धार्या कण्ठे तुलसीमालिका ॥
नाशौचं धारणे तस्या यतः सा ब्रह्मरूपिणी॥१२॥
ऊर्ध्वपुण्ड्रं द्विजातीनां क्षत्रियाणां त्रिपुण्ड्रकम् ।
अर्धचन्द्रं तु वैश्यानां वर्तुलं शूद्रजातिषु ॥१३॥
इति त्रिंशतितमं श्रीवल्लभाचार्यादिमतप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथाद्वैतमतम् ॥ २१ ॥

यत्र सातिशयो मोक्षः स्वाप्नं भ्रान्तिमयं च सत् ।
तत्र किमस्ति वक्तव्यं त्रिवेकोऽत्र न विद्यते ॥१॥
असङ्गोऽपि विशिष्टश्च निर्गुणोऽपि गुणी तथा ।
द्रव्यं विना गुणो यत्र क्रीडासक्तः परेश्वरः ॥
तथापि ह्युच्यते किञ्चिद्यथोक्तं विस्तरं क्वचित् ॥२॥
मायाभिः पुरुरूपत्वमिन्द्र एति न वस्तुतः ।
"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥३॥
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।"
इत्यादिश्रुतयः साक्षाद्भेदं मायामयं जगुः ॥४॥
किञ्च—
यथा सतो जनिर्नैवमसतोऽपि जनि र्न च ।
जन्यत्वमेव जन्यस्य मायिकत्वसमर्पकम् ॥५॥
ज्ञानज्ञेयप्रभेदेन यथा स्वाप्नं प्रतीयते ।
विज्ञानमात्रमेवैतत्तथा जाग्रचराचरम् ॥६॥

भिन्न संसार और प्रकृति है, वह प्रकृति ईश्वर से भिन्न होती हुई भी ईश्वर के बल से युक्त हो कर जगत् रूप कार्य करती है, इस प्रकार माध्वसिद्धान्त वादी सर्वथा भेद कहते हैं ॥ ९ ॥ सब मन्त्ररूप अक्षरों में वैष्णव मन्त्रवर्ण श्रेष्ठ कहलाता है, वैष्णव मन्त्रों में भी कृष्णमन्त्र अधिक फल वाले हैं ॥ १० ॥ मन्त्र के ग्रहण मात्र से नर नारायण रूप हो जाता है, परन्तु अवैष्णव के द्वारा उपदेश से प्राप्त मन्त्र से नरक में जाता है ॥ ११ ॥ भोजन के लिये जो सिद्ध वस्तु हो, उसे भगवान् के प्रति निवेदन अर्पण किये विना नहीं खाना चाहिये, और यज्ञोपवीत के समान कण्ठ में तुलसी की माला का धारण करना चाहिये, और उस के धारण में अशौच नहीं होता है, जिससे वह ब्रह्मस्वरूप वाली है ॥ १२ ॥ ऊर्ध्व पुण्ड्र द्विजाति को होना चाहिये, क्षत्रियों को त्रिपुण्ड्र होना चाहिये, अर्द्धचन्द्र वैश्य को होना चाहिये, शूद्रजाति को वर्तुल=गोल तिलक होना चाहिये ॥ १३ ॥

बीसवाँ श्रीवल्लभाचार्यादिमतप्रकरण समाप्त ॥

अथाद्वैतमत—अद्वैतवादी कहते हैं कि जिस अवस्था वा मत में अतिशय=न्यूनाधिक भेद युक्त मोक्ष है, स्वप्न की वस्तु भ्रम से भासित भी सत्य है, तहाँ कुछ वक्तव्य नहीं है, क्योंकि यहाँ अभी विवेक ही नहीं है, और विद्वान् गुरु विवेकी के प्रति कुछ कहता है ॥ १ ॥ ऐसे ही जहाँ असङ्ग भी विशिष्ट है, निर्गुण भी गुणी हैं, द्रव्यरूप आश्रय के विना गुण है, परमात्मा क्रीडा में आसक्त हैं, तहाँ यद्यपि कुछ कहना नहीं बनता है, तो भी यहाँ कुछ कहा जाता है, जैसे कहीं विस्तार पूर्वक कहा गया है ॥ २ ॥ इन्द्र=परमात्मा माया से पुरुरूपत्व=बहुरूपत्व को प्राप्त होता है, वस्तुतः बहु रूप नहीं होता है । 'माया को प्रकृति=उपादान कारण जाने, मायी को महेश्वर जाने' ॥ ३ ॥ उस महेश्वर के कल्पित अवयव तुल्य जीवों से यह सब जगत् व्याप्त है, इत्यादि श्रुतियाँ भेद को साक्षात् मायामय कहती हैं ॥ ४ ॥ और जैसे सर्वथा सत्य का जन्म नहीं होता है, वैसे ही असत् शशशृङ्गादि का जन्म नहीं होता है, इससे जन्य=कार्य की जन्यता ही मायिकत्व का बोधक है ॥ ५ ॥ स्वाप्न=स्वप्न कालिक विज्ञान

तन्तो भेदे पटो यद्वच्छून्य एवस्वरूपतः ।
आत्मनोऽपि तथैवेदं भानमात्रं चराचरम् ॥७॥
वेदान्तसिद्धान्तमुक्ताव० ॥

मायामयत्वसिद्धौ च प्रपञ्चस्य प्रमाणतः ।
प्रत्यक्षादिप्रमाणानां प्रामाण्यं व्यावहारिकम् ॥८॥
अद्वैतागमवाक्यं तु तत्त्वावेदनलक्षणम् ।
प्रमाणभावं भजते बाधवैधूर्यहेतुतः ॥९॥
न्यायमकरन्दे ॥

जाग्रद्दृष्टं मृषा स्वप्ने स्वप्ने सञ्जागरे मृषा ।
अन्योन्यव्यभिचारित्वात्स्वप्नजाग्रत्पदार्थयोः १०
निःसङ्गस्य ससङ्गेन कूटस्थस्य विनाशिना ।
आत्मनोऽनात्मना योगो वास्तवो नोपपद्यते॥११॥
बृहदा० वार्त्ति० अ० २।१।२९६-३०५ ॥

अविद्यामात्रोपाध्येतद् ब्रह्म कारणमुच्यते ।
तदेव ज्ञातृतामेति बुद्ध्युपाधिसमाश्रयात् ॥१२॥
तद्वृत्त्युपाधिसंस्थं सत्तज्ज्ञानमिति भण्यते ।
देवतेन्द्रियसम्बद्धं तत्तत्तदभिधीयते ॥१३॥
तथा देहादिसम्बद्धं दुःखजात्यादिमद् भवेत् ।
गोधनाद्यभिमान्येवं धनी गोमानितीर्यते ॥१४॥
अन्तर्यामी तथा साक्षी सर्वज्ञश्चेत्यविद्यया ।
मिथ्याध्यासैश्च तत्कार्यैरप्रमेयं प्रमीयते ॥१५॥
बृहदा० वार्त्तिक अ० २।२।७ इत्यादि ॥

मायाभिः प्रत्यगज्ञानै र्यदि वाऽनृतबुद्धिभिः ।
गम्यते पुरुरूपोऽज्ञैरेकोऽपि जलसूर्यवत् ॥१६॥
बृहदारण्यकवार्त्तिक० अ० २।५।१२७ ॥

दृश्यत्वाद् घटवद्देहः प्राणादेः करणत्वतः ।
अनात्मत्वप्रसिद्धिः स्याल्लिङ्गपिण्डात्मनोरतः॥१७॥

मात्र ही जैसे ज्ञान ज्ञेय के प्रभेद रूप से प्रतीत होता है, तैसे ही यह जाग्रत् का चराचर विज्ञानमात्र ही सत्य है ॥ ६ ॥ और जैसे तन्तु से भेद होने पर पट अपने स्वरूप से शून्य=रहित हो जाता है, तैसे ही सर्वात्मा से भेद होने पर यह संसार शून्य हो जाता है, इसलिये यह चराचर संसार ज्ञान स्वरूप आत्ममात्र सत्य है, भिन्न नहीं ॥ ७ ॥ संसार को वेदादि प्रमाण से मायामयत्व सिद्ध होने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों की प्रमाणता व्यावहारिक है ॥ ८ ॥ अद्वैत का बोधक शास्त्र का वाक्य तो सत्य वस्तु के बोधन रूप प्रमाणता को भजता=पाता है; उसमें बाध का अभाव हेतु है ॥ ९ ॥ जाग्रत् की दृष्ट वस्तु स्वप्न में मृषा=मिथ्या हो जाती है, स्वप्न का सत्य=फलप्रद जाग्रत् में मिथ्या होता है, इससे स्वप्न जाग्रत् के पदार्थ परस्पर व्यभिचारी=व्याप्ति सम्बन्ध रहित होने से दोनों मिथ्या हैं, सर्वत्र व्याप्ति वाला आत्मा ही सत्य है ॥ १० ॥ उस असङ्ग कूटस्थ आत्मा का ससङ्ग विनाशी अनात्मा देहादि के साथ सत्य सम्बन्ध नहीं बन सकता है ॥ ११ ॥ अविद्या मात्र उपाधि वाला यह ब्रह्म कारण कहा जाता है, शुद्ध नहीं, वही ब्रह्म बुद्धि रूप उपाधि के समाश्रयण से ज्ञातृता पाता है ॥ १२ ॥ उस बुद्धि की वृत्ति रूप उपाधि में स्थिर हो कर वह ज्ञान शब्द से कहा जाता है, इसी प्रकार देवता इन्द्रिय से कल्पित सम्बन्ध वाला हो कर देवता आदि भी वह कहलाता है ॥ १३ ॥ तैसे ही देहादि से मिथ्या सम्बन्ध वाला होकर कल्पित दुःख जाति आदि वाला होता है, इसी प्रकार गऊ धनादि का अभिमानी होकर धनी गोमान् कहा जाता है ॥ १४ ॥ अविद्यादि रूप उपाधि से अन्तर्यामी साक्षी सर्वज्ञ कहलाता है, मिथ्या अध्यासों से और उन अध्यासों के कार्यों से ही अप्रमेय=स्वयं प्रकाश भी आत्मा प्रमेय होता है ॥ १५ ॥ माया की अनन्त शक्ति अवस्था से, तथा प्रत्यक् तत्त्व=अन्तरात्मा के अज्ञानों से वा मिथ्या बुद्धियों से एक भी आत्मा जलगत सूर्य के समान अज्ञों को बहुरूप भासता है ॥ १६ ॥ दृश्य होने से सब की देह घट के समान अनात्मा है, और प्राणादि के कारण होने से प्राणादि दृश्य करण के समान अनात्मा हैं, इस से लिङ्ग=सूक्ष्म और पिण्ड=स्थूल दोनों स्वरूप देह को अनात्मता की प्रसिद्धि=(ज्ञान)

प्राणादिकार्यकरणैः स्वतोऽसंहतकेवलः ।
तच्चेष्टां कुरुतेऽकुर्वन्नयस्कान्तो मणि र्यथा॥१८॥
वृहदा० वार्तिक० ग्र० ३।४।७१-७२ ॥
मेयादींस्तदभावांश्च संशयानृतनिश्चयान् ।
विविच्य योऽनुगृह्णाति शब्दादींश्च जडान् पृथक्१९
देहेन्द्रियमनोबुद्धीः सुखादींश्च घटादिवत् ।
तमेकमन्तरात्मानमप्रत्यक्षं प्रपश्य भोः ॥२०॥
द्रष्टृदर्शनदृश्यांश्च यः स्वप्ने प्रसमीक्षते ।
तदभावं सुषुप्ते च स आत्मेत्यभ्युपेयताम् ॥२१॥
ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं त्रयं त्वात्मैकसाक्षिकम् ।
करणं कर्म कर्त्ता च नातो ध्यात्रादि साक्षिणि॥२२॥
अभ्रयानं यथाऽज्ञानाच्छशभृत्यध्यवस्यति ।
क्रिया कारकवद् बुद्धि तथा तत्साक्षिणीक्षते ॥२३॥
निःशेषधीविकाराणां यस्मात्साक्षित्वमात्मनः ।
वैलक्षण्यमतः सिद्धं विकारिभ्योऽस्य साक्षिणः२४
आत्माविद्यैव नः शक्तिः सर्वशक्यस्य सर्जने ।
नातोऽन्यथा शक्तिवादः प्रमाणेनावसीयते॥२५॥
वृहदा० वार्तिक० ग्र० ४।३ ॥
सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सर्वात्मा सर्वगो ध्रुवः ।
जगज्जनिस्थितिध्वंसहेतुरेष सदेश्वरः ॥२६॥
नासतो जन्मना योगः सतः सत्त्वान्न चेष्यते ।
कूटस्थे विक्रिया नास्ति तस्मादज्ञानतो जनिः २७
यदज्ञानात्प्रवृत्ति र्या तज्ज्ञाने सति सा कुतः ।
नहीहापास्तनिद्रोऽपि सुप्तवत्स्वप्नमीक्षते ॥२८॥
खपूर्ण एव सन् कुम्भो द्रव्यै र्नानाविधैर्युतिम् ।
वियोगं वा यथा गच्छेच्चैतन्येद्धास्तथा धियः २९

होती है ॥ १७ ॥ प्राणादि, कार्य = देह, करण = इन्द्रिय के साथ स्वतः = स्वभाव से असंहत = अमिलित केवल = निर्गुण आत्मा, कुछ व्यापार नहीं करता हुआ भी उन की चेष्टा को चुम्बक के समान कराता है ॥ १८ ॥ मेयमानादि पदार्थ और उन के अभाव तथा संशय, मिथ्या, निश्चय को और शब्दादि जड़ों को जो पृथग् जानता है, विवेक कर के पृथक् फिर ग्रहण करता है, देहेन्द्रिय मन बुद्धि को सुखादि को घटादि के समान जानता है, तिस एक अप्रत्यक्ष = इन्द्रियों के अविषय आत्मा को जानो ॥ १९-२० ॥ स्वप्न में जो द्रष्टा, दर्शन, दृश्य रूप त्रिपुटी को देखता है, सुषुप्ति में उन के अभाव को जानता है, सो आत्मा है, ऐसा जानो ॥ २१ ॥ ध्याता, ध्यान और ध्येय यह तीनों भी एक आत्मा रूप साक्षी से सिद्ध होते हैं, तथा करण, कर्म, कर्त्ता भी आत्मा रूप साक्षी से सिद्ध हैं, इस से साक्षी में ध्याता आदि नहीं हैं ॥ २२ ॥ मेघ की क्रिया को जैसे कोई अज्ञान से चन्द्रमा में निश्चय करता है, तैसे ही क्रियाकारकवाली बुद्धि को उस के साक्षी में कोई अज्ञान से समझता है ॥ २३ ॥ सब बुद्धि के विकारों का जिससे आत्मा में साक्षित्व है, इससे विकारियों से इस साक्षी की विलक्षणता भेद सिद्ध है ॥ २४ ॥ सब शक्य = कार्य की सृष्टि में आत्मा की अविद्या ही हमारे सिद्धान्त में शक्ति है, इससे अन्य प्रकार का शक्तिवाद प्रमाण से निश्चित नहीं होता है ॥ २५ ॥ सर्वज्ञ सर्व शक्ति वाला सर्वग = व्यापक ध्रुव = अचल सर्वात्मा ही जगत् के जन्मादि का हेतु है, और सदा ईश्वर यही है ॥ २६ ॥ असत् खपुष्पादि का जन्म से योग = सम्बन्ध नहीं हो सकता, सत्य की सत्यता से ही जन्म के साथ योग इष्ट नहीं है, कूटस्थ में विकार नहीं है, तिससे अज्ञान से मायामय जन्मादि हैं ॥ २७ ॥ जिस के अज्ञान से जो प्रवृत्ति होती है, उस को ज्ञान होने पर वह प्रवृत्ति किससे हो सकती है ? यहाँ निद्रा रहित मनुष्य सोए हुए के समान स्वप्न नहीं देखता है ॥ २८ ॥ और आकाश से पूर्ण ही कुम्भ जैसे नाना प्रकार के द्रव्यों से संयोग और वियोग पाता है, तैसे चैतन्य से इद्ध = दीप्त पूर्ण ही बुद्धि पदार्थों से संयोग वियोग

सम्यग् ज्ञानाग्निनिर्दग्धे प्रत्यङ्मोहे सबान्धवे ।
यथा वस्तुस्मृतिं मुक्त्वा स्मृति र्नान्यावशिष्यते ३०
बृहदा० वार्त्तिक० ४।३ ॥

सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका ।
माया नाम महाभाग! ययेदं निर्ममे विभुः ॥३१॥
श्रीमद्भा० स्क० ३।५।२५ ॥

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते ।
ईश्वरस्यविमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम् ॥३२॥
श्रीमद्भा० स्क० ३।७।९ ॥

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्त्तेत न संशयः ।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥३३॥

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥३४॥

आत्मा ह्याकाशवज्जीवै र्घटाकाशैरिवोदितः ।
घटादिवच्च संघाते र्जातावेतन्निदर्शनम् ॥३५॥
माण्डूक्यकारिका । तथापि—

जीवेशौ च विशुद्धा चिद्विभेदस्तु तयोर्द्वयोः ।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः ॥३६॥
आत्मसत्तैव द्वैतस्य सत्ता नान्या यतस्ततः ।
आत्मन्येव जगत्सर्वं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम् ॥३७॥

इत्येकविंशतितममद्वैतप्रकरणं समाप्तम् ॥

जाती हैं ॥ २९ ॥ सबान्धव = कार्य सहित प्रत्यगात्मा के मोह को सम्यग् ज्ञान रूप अग्नि से निर्दग्ध = अत्यन्त नष्ट होने पर यथा वस्तु = सत्यात्मा की स्मृति को छोड़ कर अन्य स्मृति रह नहीं जाती है, आत्म स्मृति मात्र रहती है ॥ ३० ॥ वह द्रष्टा दृश्य के अनुसन्धान रूप वाली ईश्वर की माया सदसत् = कार्य कारण रूप वाली है, हे महाभाग! सो माया इस संद्रष्टा = सृष्टि कर्ता की शक्ति रूप माया नाम से प्रसिद्ध है, कि जिस द्वारा विभु परमात्मा ने इस जगत् को रचा है ॥ ३१ ॥ सो यह ईश्वर की माया है, कि जो नय = तर्क से विरुद्ध रहती है, इसी से ईश्वर और विमुक्त स्वरूप को कल्पित कृपणता और बन्धन सिद्ध करती है ॥ ३२ ॥ प्रपंच = संसार-विस्तार यदि होता, तो किसी साधन से निवृत्त भी होता, इसमें संशय नहीं है, परन्तु यह द्वैत माया मात्र = मिथ्या है, परमार्थ = सत्य स्वरूप से अद्वैतात्मा ही है ॥ ३३ ॥ जो वस्तु आदि और अन्त में नहीं है, सो रज्जु में प्रतीत सर्प के समान वर्तमान = प्रतीति काल में भी तैसी = नहीं है, तो भी माया के बल से वितथ = मिथ्या सर्पादि के समान होती हुई भी वर्त्तमान काल में सत्यात्मा के ही समान देहादि प्रतीत होते हैं ॥ ३४ ॥ परमात्मा महाकाश के समान हैं, सो घटाकाश तुल्य जीव श्रुति आदि में उदित = उक्त-वर्णित हुआ है, तथा विभु निरवयव सूक्ष्म आकाश जैसे घटाकाश रूप से उदित = उत्पन्न है, तैसे परमात्मा जीव रूप से उत्पन्न हुआ है, और आकाश से जैसै घटादि उदित = प्रकट होते हैं, तैसे सङ्घातों से जीव रूप से परमात्मा उदित होता है, इससे मिथ्या जाति = उत्पत्ति में यही घटाकाश निदर्शन = दृष्टान्त है ॥ ३५ ॥ जीव, ईश्वर, विशुद्ध चित् = विभु ब्रह्म और तिन जीवेश्वर का भेद, अविद्या, और अविद्या चेतन का सम्बन्ध ये छः अनादि पदार्थ हैं, परन्तु सत्ता सर्वत्र शुद्ध चित् की ही है, इससे अद्वैत एक आत्मा सत्य है अन्य मिथ्या हैं ॥ ३६ ॥ और आत्मा की सत्ता ही जिससे है, द्वैत की अन्य सत्ता नहीं है, तिससे आत्मा के दृष्ट होने पर सब जगत् दृष्ट होता है, और आत्मा के श्रवण से सब श्रुत होता है, इसलिये आत्मा ही द्रष्टव्य है, और दर्शन के लिये श्रोतव्य, मन्तव्य, ध्यातव्य है इत्यादि ॥ ३७ ॥

इति इक्कीसवाँ अद्वैतमतप्रकरण समाप्त ॥

अथ श्रीभर्तृप्रपञ्चमतम् ॥ २२ ॥

अप्यौपनिषदंमन्याः प्रक्रियां कल्पयन्त्यमुम् ।
वस्तूनां राशयः प्रोक्ता उत्तमाधममध्यमाः ॥१॥
उत्तमः परमात्मा स्यान्मूर्त्तामूर्तात्मकोऽधमः ।
जीवात्मा मध्यमः साकं वासनाज्ञानकर्मभिः॥२॥
कृष्णशक्तिरविद्याख्या परमात्मन उत्थिता ।
विकृत्य परमात्मांशं जीवभावं नयत्यमुम् ॥३॥
यथोषरात्मको दोषो भूमे र्जातो विकृत्य तम् ।
भूम्यंशमास्ते तद्वत्स्यादविद्येयं परात्मनः ॥४॥
अनात्मधर्म एवेयमविद्या भ्रान्तिलक्षणा ।
अंशेऽस्मिन् सांख्यसिद्धान्तमनुवर्त्तामहे ततः॥५॥
वासनाकामकर्माणि लिङ्गस्थान्येव तान्यपि ।
लिङ्गादात्मानमायान्ति गन्धः पुष्पपुटं यथा ॥६॥
गन्धः पुष्पंगुणः पुष्पात्पुटमाश्रित्य तिष्ठति ।
कुसुमापगमेऽप्येवं लिङ्गस्था वासनात्मनि ॥७॥
निर्गुणोऽपि परैकांशो बाह्यादभ्यागतेन हि ।
कर्मणा सगुणस्तेन कर्त्ता भोक्ता भवत्ययम् ॥८॥
वैशेषिकमतं चैवमंशादनुसृतं भवेत् ।
अपाञ्चभौतिकं रूपं चैवमेतत्सवासनम् ॥ ९ ॥

इति द्वाविंशतितमं भर्तृप्रपञ्चमतप्रकरणं समाप्तम्

अथौपनिषन्मतम् ॥ २३ ॥

लिङ्गस्य वासनारूप एवं मुह्यन्ति वादिनः ।
राशित्रयस्य गमकं वचो नोपलभामहे ॥१॥
जीवो नो ब्रह्मणोऽन्योऽस्ति कामसङ्कल्पपूर्वकाः ।
वासनाश्च मनोधर्मा मध्यमो राशिरत्रकः ॥२॥
एतस्य पुरुषस्येति श्रुतेश्चेतनधर्मता ।
न वासनानामाशङ्क्या लिङ्गस्य पुरुषत्वतः ॥३॥

अथ श्रीभर्तृप्रपञ्चमत—अपने को उपनिषद् के ज्ञाता मानने वाले इस वक्ष्यमाण प्रक्रिया की कल्पना करते हैं, कि वस्तुओं की उत्तम अधम और मध्यम ये तीन राशि=(पुंज) कही गई हैं ॥ १ ॥ तिन में परमात्मा उत्तम है, मूर्तामूर्त रूप संसार अधम है, वासना, अज्ञान, कर्म सहित जीवात्मा मध्यम है ॥ २ ॥ भगवान् की स्वाभाविकी शक्ति रूप अविद्या नाम वाली वस्तु है, सो उस भगवान् से ही उत्थित=व्यक्त हो कर, ईश्वर के अंश को विकार युक्त कर के उसी में रह कर उस को जीवत्व सिद्ध करती है ॥ ३ ॥ जैसे ऊषर रूप दोष भूमि से उत्पन्न हो कर, उस को विकृत करके भूमि के अंश में ही वह दोष रहता है, तैसे ही यह परमात्मा की अविद्या है, उस के अंश जीव में रहती है ॥ ४ ॥ यह भ्रान्ति रूप अविद्या पूर्व रीति से अनात्म = जीव धर्म ही है, तिससे इस अंश में सांख्य के सिद्धान्त को मानते हैं ॥५॥ वासना, काम, कर्म जो लिङ्ग शरीरस्थ हैं, सोई लिङ्ग से आत्मा में भी आते हैं, जैसे पुष्प का गन्ध पुष्प के पुट=दोना में रहता है ॥ ६ ॥ पुष्प का गुण गन्ध जैसे पुष्प से आ कर पुट में पुष्प के नहीं रहने पर भी रहता है, तैसे लिङ्गस्थ वासना आत्मा में रहती है ॥ ७ ॥ परमात्मा का एक अंश रूप जीव निर्गुण होता हुआ भी बाहर=लिङ्ग से आगत=प्राप्त कर्म से सगुण होता है तिस से यह कर्त्ता, भोक्ता होता है ॥८॥ इस प्रकार कर्तृत्व, भोक्तृत्व अंश से वैशेषिक मत स्वीकृत होता है, और इस प्रकार वासना सहित यह अपाञ्चभौतिक रूप मध्य राशि है ॥ ९ ॥ बाईसवाँ भर्तृप्रपञ्चमतप्रकरण समाप्त ॥

अथ औपनिषन्मत—लिङ्ग के वासना रूप में इस प्रकार वादी लोग मोहित होते हैं, तीन राशियों का बोधक वचन नहीं मिलता हैं ॥ १ ॥ जीव वस्तुतः ब्रह्म से अन्य नहीं है, और काम, संकल्प पूर्वक वासना मन का धर्म है, तो मध्यम राशि यहाँ कौन है ? ॥ २ ॥ 'एतस्य पुरुषस्य' इत्यादि श्रुति से भी

हृदये ह्येव रूपाणि कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
इत्यादिभि र्वासनानां श्रूयते लिङ्गधर्मता ॥४॥
न पुष्पगन्धवल्लिङ्गवासना जीवमाश्रयेत् ।
असङ्गो हीति जीवस्य सर्वसम्बन्धवारणात् ॥५॥
अविद्यया ससङ्गत्वे त्वविद्या न त्वदीरिता ।
परमात्मनस्तदुत्थाने मुक्तावप्युदियादसौ ॥६॥
अविद्या चेदनिर्वाच्या तया लिङ्गस्थवासनाः ।
आरोप्यन्तां यथा काममलिङ्गेऽपि चिदात्मनि ॥७॥
वृहदारण्यकवार्त्तिकसा० अ० २।३।३४। इत्यादि ॥
द्रष्टृत्वश्रोतृताद्यस्य दृष्टिश्रुत्यादिसाक्षिता ।
अलुप्तचित्स्वभावत्वान्न विकारो मनागपि ॥८॥
लोकसिद्धा नियम्यस्य जीवस्य द्रष्टृता यथा ।
अन्तर्याम्यपि चेद् द्रष्टा देहे भासेत तद्द्वयम् ॥९॥
इति शङ्कानिवृत्त्यर्थं नान्योऽतोऽस्तीति भण्यते ।
लोके जीवतया मूढैरन्तर्याम्येव भाव्यते ॥१०॥
साधारणो यथा सूर्यो मां प्रत्येवेति पामरैः ।
असाधारणरूपेण भाव्यते जीवता तथा ॥११॥
बुद्धिस्थः पर एवात्मा जीवात्मेति निगद्यते ।
बुद्ध्यागमापायसाक्षी नियन्तेत्युच्यते परः ॥१२॥
वृहदा० वार्तिकसा० अ० ३।७।२८। इत्यादि ॥
ग्राह्यत्वं शीर्णता सङ्गो बन्धो भीतिश्चहिंसनम् ।
जाड्याज्जडस्य धर्माः स्यु र्न तु सत्यात्मवस्तुनि १३
वृ० वा० सा० अ० ३।६।४० ॥
आहुर्मोक्षं निरानन्दं साङ्ख्या वैशेषिका अपि ।
तेषामानन्दशब्दोऽयं दुःखाभावस्य लक्षकः ॥१४॥
सम्वेद्यानन्दमिच्छन्ति मुक्तौ नैयायिकादयः ।
भावरूपस्ततो मुख्यो विषयानन्दवन्मतः ॥१५॥

वासनाओं में चेतन की धर्मता की आशंका करना योग्य नहीं है, क्योंकि वहाँ "स वा एष पुरुषो अन्न रस मयः" इत्यादि के समान चेतन से अन्य लिङ्ग को पुरुषत्व वर्णित है ॥ ३ ॥ हृदय = मन में ही वासनादि रूप हैं, "जो काम इसके हृदय में स्थिर हैं" इत्यादि श्रुति के कथन से वासनाओं को लिङ्ग का धर्मत्व सुना जाता है ॥ ४ ॥ और पुष्प गन्ध के समान वासना जीवों में जा नहीं सकती है, "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" इस श्रुति से जीव के सब सम्बन्ध का वारण किया गया है ॥५॥ अविद्या से जीव के सङ्ग सहित होते भी तुमसे कथित अविद्या नहीं है, क्योंकि परमात्मा से यदि उस अविद्या का उत्थान हो, तो वह मोक्ष दशा में भी प्रकट होगी ॥६॥ और यदि अविद्या अनिर्वचनीया है, तब तो उससे लिङ्ग में स्थित वासना भी अलिङ्ग चेतनात्मा में यथेष्ट आरोप किये जायँ ॥ ७ ॥ इस आत्मा का द्रष्टृत्व श्रोतृत्व=आदि भी दृष्टि श्रुति=दर्शन श्रवण आदि की साक्षिरूपता ही अलुप्त=अविनाशी चितस्वभावता से हैं, इससे किञ्चित् भी विकार नहीं है ॥८॥ अन्तर्यामी से नियम्य जीव को जैसे लोकसिद्ध द्रष्टृत्व है, तैसे यदि अन्तर्यामी भी द्रष्टा हो तो देह में वह दोनों द्रष्टा भासने चाहिये ॥ ९ ॥ इस शंका की निवृत्ति के लिये श्रुति है, कि– "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टृ" इत्यादि, और लोक में अन्तर्यामी ही जीव रूप मूढों से कल्पित होता है ॥ १० ॥ सर्वसाधारण भी सूर्य मेरे ही सामने सूर्य हैं, इस प्रकार अज्ञ से कल्पित होते हैं, तैसे असाधारण = विशेष रूप से जीवता कल्पित होती है ॥ ११ ॥ बुद्धि में स्थिर परमात्मा ही जीवात्मा शब्द से कहा जाता है, और बुद्धि के उत्पत्तिनाश का साक्षी परमात्मा अन्तर्यामी कहलाता है ॥ १२ ॥ ग्राह्यत्व, शीर्णता = विनाशिता, संग, बन्ध, भय और हिंसा ये सब जड़ता हेतु से जड़ के ही धर्म हैं, सत्य आत्मा में नहीं हैं ॥ १३ ॥ सांख्यवैशेषिक मत वाले मोक्ष को आनन्द रहित कहते हैं, तहाँ उन के मत से यह श्रुतिगत आनन्द शब्द दुःख के अभाव का बोधक है ॥ १४ ॥ नैयायिकादि मुक्ति में संवेद्य = ज्ञेय आनन्द चाहते हैं उससे वह भाव रूप मुख्य आनन्द विषयानन्द के समान इनको सम्मत है ॥ १५ ॥

जक्षन् क्रीडन् रतिं प्राप्तः सर्वान् कामान् सहाश्नुते।
इत्यादिश्रुतयः प्राहु विषयानन्दतुल्यताम् ॥१६॥
क्रियाकारकशून्यत्वेऽप्यस्यानन्दस्य वेदनम्।
यतो विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति श्रुतिरब्रवीत् ॥१७॥
यथा सुख्यहमस्मीति स्वानन्दः स्वेन गृह्यते।
ब्रह्मानन्दो ब्रह्मणैव गृह्यतां का विरुद्धता ॥१८॥
नैतदेवं यतो मोक्षे देहेन्द्रियविवर्जनात्।
ऐक्यात्म्यादपि नानन्दगोचरा युज्यते मतिः॥१९॥
देहादिनैरपेक्ष्येण मतिश्चेज्जायते तदा।
लौकिक व्यवहारेऽपि देहादि स्यादनर्थकम्॥२०॥
ब्रह्म चेन्नित्यमानन्दं वेत्ति विद्यात्तदा ध्रुवम्।
संसार्यपि तदैकात्म्यान्मुक्तौ कोऽतिशयो भवेत् २१
ब्रह्मानन्दमथान्यः सन् मुक्तौ वेत्ति घटादिवत्।
सर्ववेदान्तलोपः स्यात्तदैकात्म्यविरोधतः ॥२२॥
तस्माद्विज्ञानमानन्दमिति नानन्दगोचरा।
मतिः किन्तु चिदानन्दघनस्वाभाव्यमुच्यते ॥२३॥
यक्षदित्यादि यत्प्रोक्तं तच्च नात्र विरुध्यते।
सर्वात्मकत्वाद्विदुषः सर्वतः पाणितादिवत् ॥२४॥
योगिदेवादिदेहेषु जक्षणादि यदीक्ष्यते।
तेन सर्वात्मकब्रह्मविदो मुक्तिः प्रशस्यते ॥२५॥
वृहदा० वा०सा०अ०३।६।२८। ब्रा० १०।७८। इत्यादि॥
भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥२६॥
माण्डूक्यका० १।६॥
नेह नानेति चाऽऽम्नायादिन्द्रो मायाभिरित्यपि।
अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः ॥२७॥
माण्डूक्यका० ३।२४॥

"जक्षन् = हँसता हुआ, क्रीड़ा करता हुआ, रति को प्राप्त हो कर सब कामों को साथ ही प्राप्त करता है" इत्यादि कहने वाली श्रुतियाँ भी मोक्ष के आनन्द को विषयानन्द के तुल्य कहती हैं ॥ १६॥ क्रिया कारक के अभाव के होने पर भी इस आनन्द का मोक्ष में अनुभव होता है, जिससे "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इस प्रकार श्रुति ने कहा है ॥ १७॥ जैसे मैं सुखी हूँ इस प्रकार अपना आनन्द अपने से गृहीत = (ज्ञात) होता है, तैसे ब्रह्मानन्द ब्रह्म से गृहीत हो तो क्या विरोध है ? ॥ १८॥ परन्तु उक्त वादियों की उक्ति यह युक्ति युक्त नहीं है, जिससे मोक्ष में देह इन्द्रिय के अभाव से अनित्य आत्मविषयक मति =(ज्ञान) नहीं हो सकती, और एकात्मता से नित्य मति भी नहीं हो सकती ॥ १९॥ यदि मुक्ति में देहादि के विना ज्ञान की उत्पत्ति हो, तो लौकिक व्यवहार में भी देहादि अनर्थक = निष्फल होंगे ॥ २०॥ यदि जीव मुक्ति में ब्रह्म होकर इन्द्रियादि विना ब्रह्मानन्द को जानता है, तो संसारी भी अवश्य जानेगा, क्योंकि आत्मा में सदा एकता है, तो मुक्ति में अधिकता क्या होगी ? ॥ २१॥ और यदि ब्रह्मानन्द से अन्य हो कर मुक्ति में घटादि के समान ब्रह्मानन्द को जानता है, तो सब वेदान्त का लोप = अभाव होगा, क्योंकि वेदान्त सत्य एकात्मता को कहता है, और भेद से उस समय एकात्मता का विरोध होता है ॥ २२॥ तिससे 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति से आनन्द विषयक मति नहीं कही जाती है, किन्तु चिदानन्द घन स्वभावता कही जाती है ॥ २३॥ "यक्षत्" इत्यादि जो कहा गया है, सो भी यहाँ विरुद्ध नहीं होता है, क्योंकि विद्वान् सर्वात्मस्वरूप हो जाता है, इससे जैसे उस के सर्वत्र पाणिपादादि वर्णित होते हैं, तैसे यक्षदादि का वर्णन है ॥ २४॥ योगी और देवादि के देहों में जो जक्षणादि दीखता है, उससे सर्वात्मक ब्रह्मवेत्ता की मुक्ति प्रशंसित होती है, इत्यादि ॥ २५॥ कोई भोग के लिये सृष्टि मानते हैं, कोई क्रीडा के लिये कहते हैं, वस्तुतः यह संसार, देव = ईश्वर का स्वभाव = माया रूप है, पूर्ण काम को भोगादि की स्पृहा = इच्छा क्या होगी ? ॥ २६॥ इस ब्रह्म में नाना = भेद बिल्कुल नहीं है, इन्द्र = ईश्वर माया से बहुत रूप होता है, इत्यादि वेद वचन से वह सत्यात्मा

इत्यादिवचनैस्तावत्स्वभावभूतमायया ।
परिणामविहीनस्य विभोः कार्यं जगन्मृषा॥२८॥
निराकारे विकारोऽपि कल्पितो मायिको भवेत् ।
चिदानन्दो निराकारो निरंशो ह्यव्ययः सदा॥२९॥
अभेदेन विरुद्धश्च भेदो न तात्त्विकः सह ।
वर्त्तितुं शक्यते तस्मात्कल्पितो ह्यवशिष्यते॥३०॥
जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते ।
नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवं हि समञ्जसम् ॥३१॥
माण्डूक्यका० ३।१३ ॥
कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया ।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः ॥३२॥
माण्डूक्यका० २।१२ ॥
मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाऽजं कथञ्चन ।
तत्त्वतो भिद्यमाने हि मर्त्यताममृतं व्रजेत् ॥३३॥
सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः ।
तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते ॥३४॥
माण्डूक्यका० ३।१६-२७ ॥
असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते ।
बन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते ॥३५॥
माण्डूक्यका० ३।२८ ॥
अत एव न शून्यत्वमसत्त्वं वा कथञ्चन ।
सच्चिदानन्द आत्मैको मायिको भेद इष्यते ॥३६॥
अत एव च—
सर्वारोपविनिर्मुक्तं स्वतस्तत्त्वं चकाशति ।
शून्यताद्यभिधानैस्तु तत्रारोपनिराक्रिया ॥३७॥
इत्यादिबुद्धवादैश्च प्रकाशात्मा प्रतीयते ।
शून्यतादिकथाभिश्च तत्रारोपो निषिध्यते ॥३८॥
अधिष्ठाननिषेधो नो विद्यते क्वचिदागमे ।

अजायमान = अजन्मा वस्तुतः होता हुआ भी माया से बहुत प्रकार का होता हैं ॥ २७ ॥ इत्यादि वचनों से सिद्ध होता है, कि स्वभावरूप माया से परिणाम रहित विभु परमात्मा का कार्य रूप मिथ्या संसार है ॥२८॥ निराकार में विकार भी मायिक कल्पित ही होगा, इससे निराकार चिदानन्द सदा निरंश अव्यय ही रहता है ॥२९॥ अभेद के साथ सत्यभेद विरुद्ध है, तिससे अभेद के साथ सत्य भेद नहीं रह सकता है, तिससे कल्पित भेद अवशिष्ट रहता है ॥ ३० ॥ अभेद से जीव परमात्मा की अनन्यता वेद में प्रशंसित होती है, और नानात्व जो निन्दित होता है, सो इस उक्त प्रकार से समञ्जस = युक्तियुक्त होता है ॥ ३१ ॥ आत्म स्वरूप देव अपनी माया से अपने को अपने से भिन्न कल्पना करता है, और वही भेदों को जानता है, यह वेदान्त का निश्चय है ॥ ३२ ॥ परमार्थ सत् यह अज वस्तु माया से भिन्न होती है, अन्य किसी प्रकार से भिन्न नहीं होती है, यथार्थ रूप से भिन्न हो तो अमृत अज, मर्त्यता = विनाशिता को प्राप्त होगा, सो अग्नि के शैत्य के समान विरुद्ध है ॥ ३३ ॥ सत् का जन्म माया से ही बन सकता है, सत्य रूप से जन्म नहीं बन सकता, जिस के मत में वस्तुतः जन्म होता है, तिस के यहाँ अज का जन्म कहना तो बन नहीं सकता है, तो फिर जात = उत्पन्न ही उत्पन्न होता है, यह कहना होगा तब अनवस्था होगी । इत्यादि ॥ ३४ ॥ और असत् का जन्म तो माया से वा यथार्थ रूप से किसी प्रकार नहीं हो सकता है, बन्ध्या का पुत्र माया वा सत्य रूप से नहीं उत्पन्न होता है ॥ ३५ ॥ इसी से किसी प्रकार भी शून्यत्व वा असत्त्व नहीं है । किन्तु सच्चिदानन्द स्वरूप एक आत्मा है, और मायिक भेद माना जाता है ॥ ३६ ॥ सब आरोपों से रहित तत्त्व = सत्य वस्तु स्वतः प्रकाशती है, शून्यता आदि नामों के द्वारा उस प्रकाशमान में आरोप = भ्रम कल्पना का निराकरण निषेध, किया जाता है ॥ ३७ ॥ इत्यादि बुद्ध के वचनों से भी प्रकाश रूप आत्मा ही प्रतीत होता है, और शून्यता आदि की कथाओं के द्वारा उस में आरोप का निषेध किया जाता है ॥ ३८ ॥ अधिष्ठान = सत्याश्रय का निषेध किसी भी

आरोपासम्भवाद्धयेवं तन्निषेधो न सम्भवेत् ॥३९॥
अविवेक कृताभेदं श्रुतिराहेति साहसम् ।
लौकिकं कल्पितं भेदमनुद्य सत्यमाह सा ॥४०॥
भक्तिज्ञाने यत्र विष्णो र्यत्र वेदः परा प्रमा ।
मतानि तानि सर्वाणि जीवोद्धारस्य हेतवः ॥४१॥
सत्त्वादिभेदतो जीवाश्चित्रप्रकृतयोऽखिला ।
उद्धर्त्तुं प्रभुणा नाना सम्प्रदायाः प्रकाशिताः॥४२॥

वेदान्तचिन्ताम० प्र० ११।६०-६१ ॥

इति त्रयोविंशतितममौपनिषन्मतप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ जैनादिमतम् ॥ २४ ॥

धर्माधर्मौ तथाकाशः पुद्गलः काल एव च ।
एतान्यजीवतत्त्वानि विद्यन्ते जैनदर्शने ॥१॥
कालः स्वभावनियती कर्मपूर्वकृतं तथा ।
एवं पुरुषकारश्च पञ्च भोगप्रदानि वै ॥२॥
अदेवगुरुधर्मेषु या देवगुरुधर्मधीः ।
तन्मिथ्यात्वं भवेद् व्यक्तमव्यक्तं मोहलक्षणम्॥३॥
देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तथा ।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने॥४॥
मद्यं विषयकषाया निद्रा विकथा च पञ्चमी भणिता ।
एते पञ्च प्रमादा जीवं पातयन्ति संसारे ॥५॥
यथा यथा न रोचन्ते विषया सुलभा अपि ।
तथा तथा समायाति सम्वित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥६॥
यथा यथा समायाति सम्वित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचन्ते विषया सुलभा अपि ॥७॥

जैनग्रन्थे ॥

महाव्रतधरा धीरा भैक्ष्यमात्रोपजीविनः ।
सामयिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः ॥८॥
सर्वाभिलाषिणः सर्वभोजिनः सपरिग्रहाः ।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशका गुरवो न तु ॥९॥
परिग्रहारम्भमग्नास्तारयेयुः कथं परान् ।
स्वयं दरिद्रो न परमीश्वरं कर्त्तुमीश्वरः ॥१०॥

जैनयोगशास्त्रप्र० २।८-१० ॥

आगम=शास्त्र में नहीं है, इसी प्रकार आरोप के असम्भव से भी अधिष्ठान का निषेध नहीं बन सकता है ॥ ३९ ॥ अविवेक कृत अभेद को श्रुति कहती है यह कथन साहस रूप=अविवेक रूप है धाष्र्ट्य रूप है, किन्तु लौकिक कल्पित भेद का अनुवाद कर के सत्य अद्वैत को वह श्रुति कहती है ॥ ४० ॥ जिस के मत में विष्णु की भक्ति और ज्ञान है, तथा वेद उत्तम प्रमा रूप जिस मत में है, वे सब मत जीव के उद्धार के हेतु हैं ॥४१॥ सत्त्वादि गुणों के भेद से जीव विचित्र प्रकृति=स्वभाव वाले हैं, उन सब का उद्धार करने के लिये प्रभु ने नाना सम्प्रदाय को प्रकाशित किया है ॥ ४२ ॥ तेईसवाँ औपनिषन्मतप्रकरण समाप्त ॥

अथ जैनादिमत—धर्मादि अजीव पदार्थ जैन दर्शन में हैं ॥ १ ॥ काल, स्वभाव, नियति, पूर्व कृत कर्म, और पुरुषकार=उद्यम ये पाँच भोग देने वाले हैं ॥ २ ॥ देव गुरु धर्म से भिन्न में जो देव गुरु धर्म बुद्धि होती है वही व्यक्त मिथ्यात्व = भ्रम होता है, और अव्यक्त मिथ्यात्व मोह रूप है ॥ ३ ॥ देव पूजा, गुरु की उपासना=सेवा, स्वाध्याय=अध्ययन-पाठ संयम, और दान गृहस्थ को ये छः कर्म प्रतिदिन कर्तव्य हैं ॥ ४ ॥ मद्य, विषय=शब्दादि, कषाय=रागद्वेषादि, निद्रा, विरुद्ध कथा, ये पाँच प्रमाद जीव को भवसागर में गिराते हैं ॥ ५ ॥ जैसे २ सुलभ विषय भी नहीं रुचते=प्रिय नहीं लगते हैं, तैसे २ बुद्धि में उत्तम तत्त्व सम्यग् निश्चित अनुभूत होता है, प्राप्त होता है ॥ ६ ॥ और जैसे २ बुद्धि में उत्तम तत्त्व आता है, तैसे २ सुलभ विषय भी नहीं रुचते हैं ॥७॥ अहिंसादि महाव्रत के धारण करने वाले, भिक्षामात्र से जीवन करने वाले नियम में स्थिर पुरुष धर्मोपदेशक गुरु माने गये हैं ॥ ८ ॥ सर्वाभिलाषी, सर्वभोजी, परिग्रहयुक्त, ब्रह्मचर्य रहित, मिथ्या उपदेशक होते हैं, गुरु नहीं ॥९॥ परिग्रह कर्माऽऽरम्भ

कियतो मारयिष्यामि दुर्जनान् गगनोपमान् ।
मारिते हि क्रोधचित्ते मारिताः सर्वशत्रवः ॥११॥
निष्फला नेत्रविक्षेपा न कर्त्तव्या कदाचन ।
निध्यायन्तीव सततं कार्या दृष्टिरधोगता ॥१२॥
कुत्र मे वर्त्तत इति प्रत्यवेक्ष्यं तथा मनः ।
समाधानधुरं नैव क्षणमप्युत्सृजेद्यथा ॥१३॥
बोधिचर्यावतार पञ्जिकापरिच्छे० ५ ॥
न च द्वेषसमं पापं न च क्षान्तिसमं तपः ।
तस्मात्क्षान्तिं प्रयत्नेन भावयेद्विविधै र्नयैः॥१४॥
मोहादेकेऽपराध्यन्ति कुप्यन्त्यन्येऽपि मोहिताः ।
ब्रूमः कमेषु निर्दोषं कम्वा ब्रूमोऽपराधिनम्॥१५॥
कस्मादेवं कृतं पूर्वं येनैवं बाध्यते परैः ।
सर्वें कर्मपरायत्ताः कोऽहमत्रान्यथाकृतौ ॥१६॥
यद्येतन्मात्रमेवाद्य दुःखं सोढुं न पार्यते ।
तन्नारकव्यथाहेतुः क्रोधः कस्मान्न वार्यते ॥१७॥
बोधिचर्यावतारपञ्जिकापरिच्छे० ६ ॥
न दुःखी त्यक्तपापत्वात्पण्डितत्वान्न दुर्मनाः ।
मिथ्याकल्पनया चित्ते पापात्काये यतो व्यथा॥१८॥
पुण्येन कायः सुखितः पाण्डित्येन मनःसुखी ।
तिष्ठन् परार्थे संसारे कृपालुः केन खिद्यते॥१९॥
तत्रैव परिच्छे० ७ ॥

इति चतुर्विंशतितमं जैनादिमतप्रकरणं समाप्तम् ॥

इति श्रीतत्त्वार्थमणिमालायां स्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्रिसङ्गृहीतायां सन्मतनामकं नवमं काण्डं समाप्तम् ॥

में मग्न पुरुष अन्य को कैसे तारेंगे ? स्वयं दरिद्र अन्य को धनी करने के लिये समर्थ नहीं होता है ॥ १० ॥ गगन के समान बहुत दुर्जनों को कितना मारूँगा ? क्रोध युक्त चित्त के मारने पर सब शत्रु मारे जाते हैं ॥ ११ ॥ निष्फल नेत्र का विक्षेप = प्रेरणा कभी नहीं कर्तव्य है, किन्तु सदा ध्यान करते हुए के समान अधोगत = नीचे गत दृष्टि कर्तव्य है ॥ १२ ॥ और मेरा मन कहाँ है ? इस प्रकार मन विचारणीय, दर्शनीय है, कि-जिस प्रकार वह मन क्षण मात्र भी समाधान रूप धुर को नहीं त्यागे ॥१३॥ द्वेष के समान पाप और क्षान्ति के समान तप नहीं है, तिससे विविध नय = नीति-उपाय से प्रयत्न द्वारा क्षान्ति को सिद्ध करे ॥ १४ ॥ एक कोई मोह = अविवेक से अपराध करता है, तहाँ अन्य भी मोहित हो करके ही क्रोध करते हैं, तो निर्दोष किस को कहें ? और किस को अपराधी कहें ? ॥ १५ ॥ क्यों कि प्रथम ऐसा कर्म किया, कि-जिस कर्म से ही अन्य द्वारा बाधित पीड़ित होता है । सब कर्मों के अधीन हैं, मैं अन्यथा करने में कौन हूँ ? ॥१६॥ यदि इतना दुःख इस समय सहने के लिये समर्थ नहीं हुआ जाता है, तो नरक सम्बन्धी व्यथा = पीड़ा के हेतु क्रोध क्यों नहीं त्यागा जाता है ? ॥१७॥ पाप का त्यागी होने पर त्यक्त पाप वाला दुःखी नहीं होता है, पण्डितत्त्व = ज्ञान से दुर्मना = दुःखित मन वाला नहीं होता है, जिससे चित्त में मिथ्या कल्पना से पाप होता है, तिससे देह में व्यथा = पीड़ा होती है ॥ १८ ॥ पुण्य से देह सुखी रहती है, और पांडित्य = ज्ञान से मन सुखी होता है, परार्थ = परोपकार में स्थिर कृपालु संसार में किससे दुःखी होता है ? किसीसे नहीं ॥ १९ ॥ चौबीसवाँ जैनादिमतप्रकरण समाप्त ॥

स्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्रिसंगृहीत तत्त्वार्थमणिमाला में सन्मतनामक नववाँ काण्ड समाप्त ॥

अथ योगनामकं दशमं काण्डम्

तत्र च प्रथमं योगप्रकरणम्

अविद्याविलयादेव ज्ञानतत्त्वं समाप्यते ।
सिद्धयो युक्तिसाध्या यास्ता भवन्त्वथवा न हि ॥१॥
अलंबुद्धि र्भवेद्येषां सिद्धिष्वेव न सम्विदि ।
ते रसाऽऽस्वादसंयुक्ता विमुक्ता न भवन्ति हि ॥२॥
अतो योगं हि सावस्थं सम्यग् बुद्ध्वा मुमुक्षुभिः ।
सम्यग् ज्ञानं सुसम्पाद्य भवाब्धिस्तीर्यते सुखम् ॥३॥
चित्तवृत्तिनिरोधाख्यो योगः स च द्विधा मतः ।
सम्प्रज्ञातो भवत्याद्यः साधनात्मा सबीजकः ॥४॥
असम्प्रज्ञात इत्यन्यः फलात्मा कथ्यते हि सः ।
एकाग्रे चेतसि त्वेतौ निरुद्धे भवतः क्रमात् ॥५॥
अभ्यासादथ वैराग्यान्निरुध्यन्ते कुवृत्तयः ।
क्लेशमूलास्ततः शान्ताः सत्त्वमूला भवन्ति हि ॥६॥
स्थूलसूक्ष्मेन्द्रियात्मानो भवन्ति विषया यदा ।
सवितर्कस्तदा ह्याद्यः सविचारो द्वितीयकः ॥७॥
सानन्दस्तु तृतीयः स्यादस्मितामात्रकोऽपरः ।
समाधिः स चतुर्धा वै साधनात्मैव कथ्यते ॥८॥
सर्ववृत्तिनिरोधे स्यादसम्प्रज्ञातनामकः ।
संस्कारमात्रशेषोऽयं परवैराग्यजः स्मृतः ॥९॥
यमाद्या देशकालाद्याः श्रद्धाभक्तिस्तथेश्वरे ।
साधनानि भवन्त्यस्य विक्षेपान् वारयन्ति च ॥१०॥

योगनामक दसवाँ काण्ड आरम्भ

अथ योग—अविद्या के विलय से ही ज्ञान का तत्त्व = सत्य स्वरूप फल समाप्त हो जाता है, युक्ति से साध्य जो सिद्धियाँ हैं, सो होवें या नहीं होवें ॥ १ ॥ जिन की अलं बुद्धि = पूर्ण बुद्धि सिद्धियों में होती है, ज्ञान में नहीं होती है, वे लोग रसाऽऽस्वाद = सिद्धि जन्य आनन्दानुभव से संयुक्त हो कर मुक्त नहीं होते हैं ॥ २ ॥ इससे अवस्था सहित योग को अच्छी तरह से जान कर और सम्यग् ज्ञान को प्राप्त, प्रकट, उत्पन्न करके मुमुक्षु से संसार समुद्र सुख पूर्वक तरा जाता है ॥ ३ ॥ चित्त की वृत्ति = परिणाम विशेष का निरोध = लय नामक योग है, सो दो प्रकार के योगियों को सम्मत है, प्रथम सम्प्रज्ञात नामक योग होता है, जिस में ध्येय वस्तु सम्यग् ज्ञात = अनुभूत होती है, वह साधन रूप और सबीज योग = (समाधि) कहा जाता है ॥ ४ ॥ असम्प्रज्ञात इस नाम वाला सम्प्रज्ञात से अन्य होता है, जिस में ध्येय के ज्ञान वृत्तियों का भी लय होता है, वह फल रूप योग कहा जाता है, तहाँ एकाग्रचित्त में संप्रज्ञात होता है और निरुद्ध चित्त में असम्प्रज्ञात होता है. यह दोनों का क्रम है ॥ ५ ॥ अभ्यास और वैराग्य से राजस, तामस रूप कुवृत्तियाँ निरुद्ध होती हैं, जिन के अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष और अभिनिवेश रूप क्लेश मूल = कारण हैं, उस के बाद सत्त्वगुण रूप वाली वृत्तियाँ होती हैं ॥ ६ ॥ स्थूल भौतिकादि, सूक्ष्म प्रकृति आदि, आनन्दयुक्त इन्द्रिय रूप, जब समाधि के विषय होते हैं, तब वह स्थूल विषयक सविकल्प समाधि सवित्तर्क कहलाती है, सूक्ष्म विषयक सविचार कहलाती है, इन्द्रिय वा आनन्द विषयक सानन्द कहलाती है, अस्मिता = केवल एक आत्ममात्र विषयक अस्मितामात्रक कहलाती है। ये चारो प्रकार की समाधि साधन रूप ही कहलाती हैं ॥ ७–८ ॥ सभी वृत्तियों के निरोध होने पर असम्प्रज्ञात नामक योग होता है, कि जहाँ वृत्ति का संस्कार मात्र शेष = बाकी रहता है, कोई वृत्ति नहीं रहती है, और यह परवैराग्यजन्य कहा गया है ॥ ९ ॥ यमनियमादि, अनुकूल देश कालादि और ईश्वर में श्रद्धा भक्ति ये सब इस योग के साधन होते हैं, विक्षेपों

नामधर्मादिकैः कैश्चिद्विकल्पैरन्वितो हि यः ।
सविकल्पः समाधिः स निर्विकल्पस्तदन्यथा ॥११॥
वस्तुमात्रस्य निर्भासः, संप्रज्ञात इति द्विधा ।
सबीजः कथ्यते चायं निर्बीजोऽन्य उदाहृतः ॥१२॥
सूक्ष्मार्थविषयो योगो विकल्पैर्वर्जितो हि यः ।
तस्य स्वच्छस्थितावेव भवेत्प्रज्ञा ऋतंभरा ॥१३॥
भवेन्मधुमतीनाम्नी चित्तभूमिस्तदा तथा ।
भूतेन्द्रियजये जाते कायस्यानुत्तमा गतिः ॥१४॥
शरीरनिरपेक्षिण्य इन्द्रियाणां प्रवृत्तयः ।
प्रधानविजयश्चापि भवन्त्येता हि सिद्धयः ॥१५॥
सर्वा मधुप्रतीकेति चित्तावस्था च कथ्यते, ।
सत्त्वपुरुषयोश्चैवमन्यताख्यातिमात्रतः ॥१६॥
अधिष्ठातृत्वमर्थानां सर्वज्ञत्वं च जायते ।
विशोका नामिका चैषा चित्तावस्था भवेत्तथा ॥१७॥
तत्रापि खलु वैराग्यात्सङ्गस्मयावकुर्वतः ।
निर्बीजे सुसमाधौ हि स्थितस्य ज्ञस्य योगिनः ॥१८॥
संस्कारमात्रशेषा वै चित्तावस्था विजायते ।
सापि कैवल्यभागीयैः संस्कारै र्न हि चान्यथा ॥१९॥
देशबन्धो हि चित्तस्य धारणा तत्र चैव हि ।
ध्येयज्ञानप्रवाहश्च ध्यानमित्युच्यते बुधैः ॥२०॥
ध्यानमेवार्थमात्रात्मनिर्भासं तु भवेद्यदा ।
स्वरूपशून्यमिव च समाधिः स तदा भवेत् ॥२१॥
संयमस्त्रयमेकत्र सिद्धयः संयमात्तथा ।
भवन्ति ताश्चव्युत्थाने समाधेर्विघ्नकारकाः ॥२२॥
अतः सर्वत्र वैराग्याद्विशुद्धचित्तस्यबोधतः ।
क्लेशकर्मनिवृत्त्यैव कैवल्यमवशिष्यते ॥२३॥

तच्चोक्तम्—

को हटाते हैं ॥ १० ॥ नाम धर्मादि रूप किसी विकल्प=भेद विशेष से युक्त जो समाधि रहती है, सो सविकल्प होती है, निर्विकल्प उससे अन्य प्रकार की होती है ॥११॥ सो नामादि रहित वस्तु मात्र का ज्ञान रूप होती है। इस प्रकार से सम्प्रज्ञात योग दो प्रकार का होता है, यह सबीज भी कहा जाता है, निर्बीज अन्य कहा गया है ॥ १२ ॥ विकल्प रहित सूक्ष्म वस्तु विषयक जो योग होता है, उस निर्विचार नामक योग की स्वच्छ स्थिति होने पर ऋतम्भरा=सत्य को धारण करने वाली, प्रज्ञा = बुद्धि होती है ॥ १३ ॥ और उस समय मधुमती नाम वाली आनन्द ज्ञानयुक्त चित्त की अवस्था होती है, और पाँच भूतों तथा इन्द्रियों की जय होने पर शरीर की श्रेष्ठ गति होती है ॥१४॥ शरीर की अपेक्षा विना इन्द्रियों की प्रवृत्ति और प्रधान=प्रकृति की जय होती है, ये सिद्धियाँ होती हैं ॥१५॥ सो सब मधुप्रतीका नामक चित्त की अवस्था कहलाती हैं, इसी प्रकार बुद्धि और आत्मा के अन्यता = विवेक की ख्याति = अपरोक्ष ज्ञान मात्र से अर्थों का अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञत्व होता है, और यह विशोका नामक चित्त की अवस्था होती है, इस अवस्था में चित्त शोक रहित रहता है ॥१६–१७॥ उस सर्वज्ञत्व आदि में भी वैराग्य से सङ्गस्मय=मैं धन्य हूँ, ऐसा विस्मय नहीं करने वाले निर्बीज समाधि में स्थिर ज्ञानी योगी के संस्कार मात्र के शेष=स्थिति वाली चित्त की अवस्था होती है, सो भी कैवल्यभागीय=कैवल्य का हेतु कर्मों के संस्कारों द्वारा होती है, अन्यथा नहीं होती हैं ॥१८–१९॥ देश विशेष में वृत्तिद्वारा चित्त के वन्धन स्थापन को धारणा कहते हैं, और उस देश में ही ध्येय के ज्ञान के प्रवाह को पण्डित ध्यान कहते हैं ॥ २० ॥ वह ध्यान ही जब ध्येय अर्थमात्र ही प्रकाशित हो और ध्याता ध्यान के स्वरूप शून्य के समान हो जांय, इन का प्रकाश नहीं हो तब वह समाधि होती है ॥ २१ ॥ धारणा, ध्यान, समाधि तीनों एक विषय में हों, तो संयम कहलाता है, और संयम से सिद्धियाँ होती हैं, सो सिद्धियाँ समाधि से उपराम काल में होती हैं, समाधि की विघ्न कारक हैं ॥ २२ ॥ इससे सर्वत्र वैराग्य

"मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः ।
असम्प्रज्ञातनामासौ समाधिरभिधीयते ॥२४॥
प्रशान्तवृत्तिकं चित्तं परमानन्ददीपकम् ।
असम्प्रज्ञातनामासौ समाधिर्योगिनां प्रियः" ॥२५॥
शास्त्रसज्जनसम्पर्कैः प्रज्ञामादौ विवर्द्धयेत् ।
प्रथमा भूमिकैपोक्ता योगस्यैव च योगिनः ॥२६॥
विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीयाऽसङ्गभावना ।
विलापिनी चतुर्थी स्याद्वासनाविलयात्मिका ॥२७॥
शुद्धसम्विन्मयानन्दरूपा भवति पञ्चमी ।
अर्द्धसुप्तप्रबुद्धाभो जीवन्मुक्तोऽत्र तिष्ठति ॥२८॥
स्वसम्वेदनरूपा च षष्ठी भवति भूमिका ।
आनन्दैकघनाकारा सुषुप्तसदृशस्थितिः ॥२९॥
तुर्यावस्थोपशान्ताथ मुक्तिरेवेह केवलम् ।
समता स्वच्छता सौम्या सप्तमी भूमिका भवेत् ॥३०॥
तुर्यातीता तु यावस्था परा निर्वाणरूपिणी ।
सप्तमी सा परिप्रौढा विषयः स्यान्न जीवताम् ॥३१॥
पूर्वाऽवस्थात्रयं त्वत्र जाग्रदित्येव संस्थितम् ।
चतुर्थी स्वप्न इत्युक्ता स्वप्नाभं यत्र वै जगत् ॥३२॥
आनन्दैकघनीभावात्सुषुप्तावस्था पञ्चमी ।
असम्वेदनरूपाऽथ षष्ठी तुर्यपदाभिधा ॥ ३३॥
तुर्यातीतपदावस्था सप्तमी भूमिकोत्तमा ।
मनोवचोभिरग्राह्या स्वप्रकाशपदात्मिका ॥३४॥

योगवासिष्ठप्र० ६।१२० ॥ प्रश्नः —

जीवन्मुक्तशरीराणां कथमात्मविदां वर ! ।
शक्तयो नेह दृश्यन्त आकाशगमनादिकाः ॥३५॥

उत्तरम्—

से विशुद्ध चेतनात्मा के ज्ञान से क्लेशकर्म की निवृत्ति द्वारा ही कैवल्य मात्र रहता है ॥ २३ ॥ सो लिखा है कि "वृत्ति रहित मन की जो ब्रह्माकार से स्थिति है, वही असम्प्रज्ञातनामक समाधि कहलाती है ॥ २४ ॥ प्रशान्तवृत्ति वाला परमानन्द का प्रकाशक चित्त असम्प्रज्ञात नामक समाधि है, वह योगियों को प्रिय है" ॥ २५ ॥ शास्त्र और सज्जन के सम्बन्धों द्वारा श्रवण से प्रथम बुद्धि को बढ़ावे, यह योग और योगी की पहली भूमिका = अवस्था कही गई है ॥२६॥ विचारणा = मनन रूप दूसरी भूमिका होती है, असङ्ग आत्मा की भावना = ध्यान निदिध्यासन तृतीय भूमिका है, वासना अज्ञानादि प्रपञ्च के विलय = बाध के साधन स्वरूप विलापिनी नामवाली चतुर्थी भूमिका है ॥२७॥ शुद्ध सम्विद्मय जो आनन्द तिस स्वरूपवाली पञ्चमी भूमिका होती है, इसमें आधा सोया सा और आधा जागा हुआ सा जीवन्मुक्त रहता है। व्यवहार को समझता हुआ भी उसको इच्छा से रहित आत्मानन्द में मग्न रहता है ॥ २८ ॥ स्वस्वरूप के सम्यग् ज्ञान स्वरूप वाली षष्ठी भूमिका होती है, जो आनन्दघन आकार वाली, सुषुप्त सदृश स्थिति वाली होती है ॥ २९ ॥ प्रथम की तीन भूमिका जाग्रद् है, चौथी स्वप्न तुल्य है, पञ्चमी सुषुप्ति तुल्य है, तिससे सब वृत्ति की शान्तियुक्त उपशान्ता तुर्यावस्था है, यहाँ केवल मुक्ति ही है, इससे यह समता, स्वच्छता, सौम्य-स्वरूप, सप्तमी भूमिका होती है ॥ ३० ॥ जो उत्तम निर्वाणरूप वाली तुर्यातीत अवस्था है, सो सप्तमी ही अतिप्रौढ़ अवस्था वाली है, वह जीवित योगी का विषय नहीं है ॥ ३१ ॥ पूर्व की तीन अवस्था यहाँ जाग्रद् इस रूप से स्थिर हैं, चतुर्थी स्वप्न कही गई है, जिसमें स्वप्न तुल्य जगद् भासता है ॥३२॥ आनन्द स्वरूप एक के घनीभाव=निरन्तरता से पञ्चमी सुषुप्तावस्था है, विषयादि के असम्वेदन रूप वाली षष्ठी तुर्यपदनाम वाली है ॥३३॥ तुर्यातीत स्थानरूप अवस्थावाली सप्तमी भूमिका उत्तम है, सो मनोवचन से अग्राह्य है, आत्म-प्रकाश वस्तु स्वरूप है ॥ ३४ ॥ राम जी बोले, कि-हे आत्मज्ञों में श्रेष्ठ ! मुने ! जीवन्मुक्तों में मानसिक सिद्धियाँ होने पर भी उन के शरीरों की आकाश गमनादि रूप सिद्धि क्यों नहीं देखी जाती है ? ॥ ३५ ॥

यद्विचित्रक्रियाजालं दृश्यते गम्यते पुनः ।
राम ! वस्तुस्वभावोऽसौ न तदात्मविदां मतम् ॥३६॥
अनात्मविदमुक्तोऽपि नभोविहरणादिकम् ।
द्रव्यकर्मक्रियाकालशक्त्या प्राप्नोति राघव ! ३७
नात्मज्ञस्यैष विषय आत्मज्ञ आत्मवान् स्वयम् ।
आत्मनाऽऽत्मनि सन्तृप्तो नाविद्यामनुधावति॥३८॥
ये केचन जगद्भावास्तानविद्यामयान् विदुः ।
कथं तेषु किलात्मज्ञस्त्यक्ताविद्यो निमज्जति ॥३९॥
अविद्यामपि ये युक्त्या साधयन्ति सुखात्मिकाम् ।
ते ह्यविद्यामया एव नत्वात्मज्ञास्तथाक्रमाः ॥४०॥
तत्त्वज्ञो वाप्यतत्त्वज्ञो यः कालद्रव्यकर्मभिः ।
यथाक्रमं प्रयतते तस्योर्ध्वत्वादि सिद्ध्यति ॥४१॥
आत्मवानिह सर्वस्मादतीतो विगतैषणः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टो न करोति न चेहते ॥४२॥
न तस्यार्थो नभोगत्या न सिद्ध्या न च भोगकैः ।
न प्रभावेण न मानै र्नाशा मरणजीवितैः ॥४३॥
द्रव्यदेशक्रियाकालयुक्तयः साधुसम्विदः ।
परमात्मपदप्राप्तौ नोपकुर्वन्ति काश्चन ॥४४॥
शृणु युक्त्या कया योगी तनुच्छेदादिविभ्रमैः ।
नाक्राम्यते महाबाहो ! बहुवर्षशतैरपि ॥४५॥
चेतः पदार्थे पतति यस्मिन् यस्मिन् यदा यदा ।
तन्मयं तद्भवत्याशु तस्मिंस्तस्मिंस्तदा तदा॥४६॥
यथा दृष्टारि हि मनो विकारमुपगच्छति ।
दृष्टमित्रं सुहृद्यत्वं स्वयमित्यनुभूयते ॥४७॥
मृष्टे लौल्यमुपादत्ते दुर्भोज्ये याति निःस्पृहम् ।
वैरस्यं याति कटुनि स्वयमित्यनुभूयते ॥४८॥

मुनि बोले कि हे राम ! जो विचित्र क्रिया समूह दीखते हैं = जाने जाते हैं, सो तत्तद्योनि देहादि रूप वस्तु के स्वभाव रूप हैं, सो आत्मज्ञों को सम्मत = वांछित नहीं हैं ॥ ३६ ॥ हे राघव ! अनात्मज्ञ अमुक्त भी मणिमन्त्रौषधादि द्रव्यादि की शक्ति, अभ्यासादि क्रिया शक्ति और काल शक्ति से नभ में विहरणादि को पाता है ॥ ३७ ॥ यह आकाश गमनादि आत्मज्ञानी का विषय = वाञ्छनीय नहीं है, आत्मवान् = आत्म प्राप्ति वाला आत्मज्ञानी स्वयं आत्मा से आत्मा में अतितृप्त रहता है, तिस से अविद्या के कार्य रूप वस्तु का चिन्तन नहीं करता है ॥ ३८ ॥ जो कुछ जगत् के पदार्थ हैं, उन को ज्ञानी सब अविद्यामय जानते हैं, तो अविद्या का त्यागी आत्मज्ञानी उन में कैसे निमग्न = आसक्त होंगे ? ॥ ३९ ॥ जो लोग अविद्यामय को भी सुख स्वरूप समझ कर योग युक्ति से सिद्ध करते हैं, सो अविद्यामय है, आत्म-ज्ञानी वैसे क्रम वाले नहीं होते हैं ॥ ४० ॥ तो भी तत्त्वज्ञ वा अतत्त्वज्ञ जो कोई, चिरकाल तक प्रयत्न से द्रव्य कर्म द्वारा शास्त्रोक्त क्रम के अनुसार यथा क्रम प्रयत्न करता है, उस को ऊर्ध्वत्व = नभोगमन आदि सिद्धियाँ होती हैं ॥ ४१ ॥ आत्मानुभवी यहाँ सब से अतीत = अतिक्रान्त-पर इच्छा रहित आत्मा ही में सन्तुष्ट रहता है, इस से न कुछ करता है न चाहता है ॥ ४२ ॥ उस आत्मज्ञ को नभोगमन सिद्धि भोगों से कोई अर्थ = प्रयोजन-फल नहीं पाना रहता है, न प्रभाव = तेज-सामर्थ्य से या मान = उत्कर्षता गर्व से प्रयोजन रहता है, मरण जीवन से भी आशा = अप्राप्त की इच्छा नहीं रहती है ॥ ४३ ॥ साधु सम्विद् = तत्त्वज्ञान को परमात्मा स्वरूप वस्तु की प्राप्ति कराने में द्रव्य देशादि सम्बन्धी कोई युक्ति उपकार = साहाय्य नहीं करती हैं ॥ ४४ ॥ हे महाबाहो ! योगी किस युक्ति से कई सौ वर्षों से भी शरीर के छेद = नाश आदि रूप विभ्रम = कार्य विपर्यय से आक्रान्त = वशीभूत नहीं होता है, सो सुनो ॥ ४५ ॥ जिस २ पदार्थ में जब २ मन जाता है, तब २ तिस २ पदार्थ में शीघ्र तन्मय हो जाता है ॥ ४६ ॥ जैसे शत्रु को देखने पर मन विकार को पाता है, और मित्र को देखने पर सुहृदता पाता है, सो स्वयं सब से अनुभव किया जाता है ॥ ४७ ॥ मीठी वस्तु में मन लौल्य = चञ्चलता-सतृष्णता का ग्रहण करता

समसम्बिद्विलासाढ्ये यद्यदायति देहके ।
हिंस्रचेतः पतत्याशु समतामेति तत्तदा ॥४९॥
समसङ्गविमुक्तत्वाच्छेदादौ न प्रवर्त्तते ।
पान्थो व्यर्थं पथि ग्रामे यथा ग्रामीणकर्मणि ॥५०॥
योगिदेहसमीपात्तु गत्वा प्राप्नोति हिंस्रताम् ।
यद्यद् भवति तत्राशु तथारूपं न संशयः ॥५१॥
अन्यच्च शृणु मे राम ! स्पन्दो नाशस्य कारणम् ।
विकारः स च चित्तस्थो वातजो वा जगत्स्थितौ ५२
विगतत्रासनमाशु विपाशता-
　मुपगतं मन आत्मतयोदितम् ।
यदभिवाञ्छति तद्भवति क्षणा-
　त्सकलशक्तिमयो हि महेश्वरः ॥५३॥

सर्वज्ञोऽपि बहुज्ञोऽपि माधवोऽपि हरोऽपि च ।
अन्यथा नियतिं कर्त्तुं न शक्तः कश्चिदेव हि ॥५४॥
योगवा० प्र० ५।८६ ॥
यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥५५॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥५६॥
कठ० ६।११-१२ ॥
त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
　हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निरुध्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
　स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥५७॥

है, दुर्भोज्य = नीरस में निःस्पृह = स्पृहा इच्छा के अभाव को ग्रहण करता है, कटु वस्तु में विरसता को पाता है, सो सब से स्वयं अनुभूत होता है ॥ ४८ ॥ इसी प्रकार समता युक्त जो सम्विद् का विलास = कार्य उस से आढ्य=अति पूर्ण सम्पन्न जो यति की देह = योगी का शरीर, उस में जो हिंसक प्राणी का चित्त भी जब प्राप्त होता है, तब वह चित्त शीघ्र ही योगी के चित्त सम्विद् की समता को प्राप्त होता है॥४९॥ इस से समता युक्त योगी के सङ्ग से द्वेषादि से विमुक्त=रहित हो जाने से हिंसक भी योगी के वा अन्य के छेदनादि में नहीं प्रवृत्त होता है, जैसे ग्राम गत पथ=मार्ग में प्राप्त पान्थ = पथिक ग्रामीण कर्म में व्यर्थ नहीं प्रवृत्त होता है ॥ ५० ॥ योगी देह के समीप से अन्य स्थान में जाकर वहाँ के प्राणियों के अनुसार फिर हिंसकता को प्राप्त करता है, क्योंकि वहाँ जो २ प्राणी के संघ रहते हैं, तैसे रूप वाला उस का चित्त शीघ्र होता है, इस में संशय नहीं ॥५१॥ हे राम ! और सुनो, मुझ से समझो, कि स्पन्द = क्रिया नाश का कारण है, सो चित्त में स्थिर कामादि विकार रूप है, वा वायु जन्य है, यह बात जगत् की स्थिति = व्यवहार में प्रसिद्ध है ॥ ५२ ॥ और व्यवहार रहित वासना रहित मन = जीव शीघ्र ही विपाशता = बन्धन रहितता को प्राप्त होता है, और आत्मस्वरूप से उदित = प्रकट होता है, फिर जो चाहता है, सो क्षण में होता है, सब शक्तिमय महेश्वर ही हो जाता है ॥५३॥ परन्तु सर्वज्ञ भी, बहुज्ञ भी, माधव = विष्णु भी, हर = शिव भी, नियति=नियम-भाग्य को अन्यथा करने के लिये कोई भी समर्थ नहीं है ॥ ५४ ॥ जिस समय अवस्था में मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रिय स्थिर हो जाती हैं, और बुद्धि भी विरुद्ध चेष्टा व्यापार नहीं करती है, तब उस अवस्था को, इन्द्रियादि की निश्चलता को परम गति=उत्तम ज्ञान का साधन कहते हैं ॥ ५५ ॥ उस स्थिर=लयादि विघ्न रहित इन्द्रिय, मन, बुद्धि की धारणा को योगी लोग योग शब्द का अर्थ मानते हैं, और उस योग के आरम्भादि में योगी अप्रमत्त = सावधान होता है, और होना चाहिये, क्योंकि वह योग प्रभवाप्यय = उत्पत्ति नाश को प्राप्त होता है, इस से नाश के अभाव के लिये अप्रमाद चाहिये ॥ ५६ ॥ उर, ग्रीवा, शिर, तीनों जिस में उन्नत = ऊँचे हों, ऐसे शरीर को सम = सीधा स्थिर करके मन से इन्द्रियों को हृदय में रोक कर, विद्वान् पुरुष ब्रह्म = प्रणव रूप उडुप = नौका द्वारा भयावह

प्राणान् प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं
विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः ॥५८॥
समे शुचौ शर्करा वह्निवालुका
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥५९॥
यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं
तेजोमयं भ्राजते तत्सुधातम् ।
तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥६०॥
यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वै विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥६१॥
एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः
पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतो मुखः ॥६२॥
श्वेता० अ० २।८-९-१०-१४-१५-१६ ॥
सर्वे जीवाः सुखै र्दुखै र्मायाजालेन वेष्टिताः ।
तेषां मुक्तिकरो मार्गो मायाजालनिकृन्तनम् ॥६३॥
अज्ञानादेव संसारी ज्ञानादेव विमुच्यते ।
ज्ञानस्वरूपमेवादौ ज्ञानं ज्ञेयैकसाधनम् ॥६४॥
योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः ।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगतः ॥६५॥
मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत् ।

=भयजनक सब स्रोतः = संसार नदी अविद्यादि को तरे ॥ ५७ ॥ और वह विद्वान् नियताहारादि रूप युक्त = उचित चेष्टा वाला होकर और प्राणायाम विधि से देह में प्राणों का निरोध कर के स्थिर हो, फिर प्राण के क्षीण होने पर नासिकाओं से उच्छ्वास ले, इस प्रकार दुष्ट अश्वयुक्त रथ के समान इस देह युक्त मन को विद्वान् सावधान हो कर धारण करे ॥ ५८ ॥ सम = निम्नोन्नत रहित, शुचि, कंकड़ अग्नि-बालु रहित, बाजे आदि के शब्द, साधारण अति निकट के जलाशय और आश्रय = साधारण जनादि के मण्डपादि से भी रहित, मनोरम चक्षु के पीड़ा कारक से रहित स्थान में गुहा में निवास स्थान के आश्रयण करने पर चित्त को योगयुक्त करे, परमात्मा में लगावे ॥ ५९ ॥ जैसे तेजोमय = सुवर्णादि दर्पणादि विम्ब = मण्डल प्रथम मृत्तिका लिप्त भी फिर वह सुन्दर धोने पर प्रकाशता है, तैसे ही देही जीव आत्मतत्त्व को अपरोक्ष कर के एक = भेद रहित, शोक रहित, कृतार्थ होता है ॥ ६० ॥ योगयुक्त पुरुष जब दीप तुल्य = शुद्ध निजात्मतत्त्व से अभिन्न ब्रह्मतत्त्व को इस शरीर में हृदयस्थ देखता है, तब अज अचल सब तत्त्वों से विशुद्ध = असंग देव को जान कर सब पाशों से मुक्त होता है ॥ ६१ ॥ यही देव सब प्रदिशाओं को अनुगत है, और हिरण्यगर्भ रूप से यही देव प्रथम उत्पन्न हुआ, और वही गर्भ के अन्दर वर्तमान रहा और रहता है, वही जात शिशु होता है, और जनिष्यमाण = भावी जन्मवाला है, और जनों के अन्तर में रहता है, तथा सर्वतोमुख = सर्वत्र सब मुख वाला है ॥ ६२ ॥ जो सब जीव माया जाल से आच्छादित होकर सुख दुःखों से युक्त हैं, माया जाल सुखादि का छेदन, उन जीवों के मुक्ति का मार्ग है ॥ ६३ ॥ अज्ञान से ही जीव संसारी है, और ज्ञान से ही विमुक्त होता है, ज्ञान स्वरूप ही प्रथम रहता है, और ज्ञान ही ज्ञेय की सिद्धि प्राप्ति का एक = मुख्य साधन है ॥ ६४ ॥ हे ब्रह्मन् ! व्यवहार = साधन भेद से योग बहुत प्रकार से भिन्न होता है, वह मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग भेद से भिन्न होता है ॥ ६५ ॥ मातृका आदि सहित मन्त्र = सावित्री आदि सहित गायत्री को

क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम् ॥६६॥
लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्त्तितः ।
गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् भुञ्जन् ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम् ६७
स एव लययोगः स्याद्धठयोगमतः शृणु ।
यमश्च नियमश्चैव आसनं प्राणसंयमः ॥६८॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं भ्रूमध्यमे हरेः ।
समाधिः समताऽवस्था साष्टाङ्गो योग उच्यते ॥६९॥
इत्यादि, योगतत्त्वोपनिष० ॥

योगात्सञ्जायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्त्तते ।
योगज्ञानापरो नित्यं स योगी न प्रणश्यति॥७०॥
कर्म कर्त्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु ।
बन्धनं मनसो नित्यं कर्मयोगः स उच्यते ॥७१॥
यत्तु चित्तस्य सततं अर्थे श्रेयसि बन्धनम् ।
ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः ॥७२॥
देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः ।
अनुरक्तिः परे तत्त्वे सततं नियमः स्मृतः ॥७३॥
सर्ववस्तुन्युदासीनभाव आसनमुत्तमम् ।
जगत्सर्वमिदं मिथ्या प्रतीतिः प्राणसंयमः ॥७४॥
चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारस्तु सत्तम ! ।
चित्तस्य निश्चलीभावो धारणाधारणं विदुः ॥७५॥
सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते ।
ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक् समाधिरभिधीयते ॥७६॥
इत्यादि० त्रिशिखिब्राह्मणोपनिष० ॥

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भवति योगतः ।
तथाऽऽत्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥७७॥
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
तदा समरसत्वं यत् समाधिरभिधीयते ॥७८॥
यत्समत्वं तयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः ।
समस्तनष्टसङ्कल्पः समाधिरभिधीयते ॥७९॥
सौभाग्यलक्ष्म्युपनिष० । १४-१६ ॥

जो बारह वर्ष जपता है, सो अणिमा आदि सिद्धि सहित ज्ञान को क्रम से पाता है ॥ ६६ ॥ लय योग करोड़ों प्रकार का कहा गया है, परन्तु वास्तव में लययोग वह है, कि-चलते, स्थिर रहते, सोते, भोजन करते दशा में भी सदा निरवयव ईश्वर का ध्यान करता रहे ॥६७॥ वही लय योग होता है, इसके बाद हठ योग सुनो । यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, भ्रूमध्य में हरि का ध्यान, और समतावस्था रूप समाधि इन आठ अङ्गों के सहित हठ योग कहा जाता है; इत्यादि ॥ ६८-६९ ॥ कर्मयोगादि से ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान से योग की प्रवृत्ति चित्त, की शान्ति आदि होती है. इससे जो योगी सदा ज्ञान और योग परायण रहता है, शान्ति युक्त आत्मनिष्ठ रहता है, सो प्रनष्ट नहीं होता है, संसार चक्र में नहीं पड़ता है ॥ ७० ॥ मन को सदा सत्कर्मो वासना आदि में बांधना कर्म योग कहलाता है, और जो चित्त को सदा श्रेयोऽर्थ=आत्मा में बांधना, वह ज्ञान योग समझना चाहिये, वह सब सिद्धि कारक शिव=शुभ है ॥७१-७२॥ देहेन्द्रियादि में वैराग्य=स्नेह का अभाव पण्डितों से यम इस नाम से कहा जाता है. सदा पर-तत्त्व में अनुराग=प्रेम नियम कहा गया है ॥७३॥ सब वस्तु में उदासीनता उत्तम आसन है, यह सब जगत् मिथ्या है, ऐसी प्रतीति=ज्ञान, प्राणायाम है ॥ ७४ ॥ हे सत्तम ! चित्त की अन्तर्मुखता प्रत्याहार है, चित्त की निश्चलता को धारणा की धारण को जानते हैं ॥ ७५ ॥ सो मैं हूँ, चित मात्र ही हूँ, ऐसा चिन्तन ध्यान कहलाता है । ध्यान को सम्यग् भूल जाना समाधि कही जाती है ॥ ७६ ॥ जैसे सम्बन्ध से जल में लवण की समता होती है, तैसे आत्मा और मन की एकता को समाधि कहते हैं ॥ ७७ ॥ जब प्राण संक्षीण होता है, मन प्रलीन होता है, तब जो एकरसता रूप समरसता=निर्विकारता होती है, सो समाधि कहलाती है ॥७८॥ जो उस जीवात्मा परमात्मा की इस देह में समता=एकता होती है, वह सब संकल्प के अभाव वाली

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि ।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः परो
हि योगो मनसः समाधिः ॥८०॥
श्रीमद्भा० स्क० ११।२३।४६ ॥

प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा ।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥८१॥
यश्चात्ममिथुनो नित्यमात्मक्रीडस्तथैव च ।
आत्मानन्दश्च सततमात्मन्येव समाहितः ॥८२॥
अस्मिन्नेव सुतृप्तश्च सन्तुष्टो नान्यमानसः ।
आत्मन्येव सुतृप्तस्य योगो भवति नान्यथा॥८३॥
वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं परमात्मनि ।
एकीकृत्य विमुच्येत योगोऽयं मुख्य उच्यते॥८४॥
कषायमोहविक्षेपलज्जाशङ्कादिचेतसः ।
व्यापारास्तु समाख्यातास्तै र्हीनं वशमानयेत्॥८५॥
दक्षस्मृतिअ० ७ ॥

स स्नातः सर्वतीर्थेषु स सर्वमलवर्जितः ।
तेन क्रतुशतैरिष्टं चेतो यस्येहनिर्मलम् ॥८६॥
संक्षीणमानसमलो विश्वेशानुग्रहात्परात् ।
इदं शरीरमुत्सृज्य परं ब्रह्माधिगच्छति ॥८७॥
स्कन्दपु० काशीखं० अ० ३५।१४२–४५ ॥

आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात् तच्च योगादृते न हि ।
स च योगश्चिरं कालमभ्यासादेव सिद्ध्यति॥८८॥
आत्मक्रीडस्य सततं सदात्ममिथुनस्य च ।
आत्मन्येव सुतृप्तस्य योगसिद्धि र्न दूरतः ॥८९॥
स योगस्त्वात्ममनसो र्योग इत्युच्यते बुधैः ।
प्राणापानसमायोगो योग इत्यपि कैश्चन ॥९०॥
विषयेन्द्रियसंयोगो योग इत्यप्यपण्डितैः ।
विषयासक्तचित्तानां ज्ञानं मोक्षश्चदूरतः ॥९१॥

समाधि कही जाती है ॥ ७९ ॥ दान, अपना धर्म नित्य नैमित्तिकादि, नियम, यम, श्रवण, अन्य सत्कर्म, सद्व्रत, ये सब उपाय मन के निग्रह रूप अन्त=सीमा फल वाले हैं, और मन की समाधि ही, पर योग= ज्ञान योग है ॥८०॥ प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा, तर्क, और समाधि, ये छः अंग वाला योग कहा जाता है ॥८१॥ जो सदा आत्मरूप ही मिथुन=द्वन्द्व वाला, आत्मा में ही क्रीडा वाला, आत्मा में आनन्द वाला, सदा आत्मा में ही समाहित=एकाग्र चित्तवाला रहता है ॥८२॥ और इस आत्मा में ही सुतृप्त-सन्तुष्ट =सन्तोष युक्त रहता है, अन्य में मन वाला नहीं होता है, तिस आत्मा में सुतृप्त को ही उक्त साधनों से योग होता है, अन्य प्रकार से नहीं होता है ॥ ८३ ॥ मन को वृत्ति रहित करके और क्षेत्रज्ञ =जीवात्मा को परमात्मा में एक करके विमुक्त हो, यही मुख्य योग कहा जाता है ॥ ८४ ॥ कषाय=रस, राग, मोह, विक्षेप, लज्जा, शङ्का आदि सब मन के व्यापार = वृत्ति धर्म कहे गये हैं, तिन व्यापारों से हीन=रहित मन को करके वश में करे ॥ ८५ ॥ जिसका यहाँ चित्त निर्मल, एकाग्र है वह सब तीर्थों में स्नान कर चुका और वह सब मलों से रहित है, उसने सौ यज्ञों द्वारा पूजन किया है ॥ ८६ ॥ योगादि द्वारा ईश्वर के परम अनुग्रह से नष्ट मानस मल वाला पुरुष इस शरीर को त्याग कर परब्रह्म को प्राप्त=विदेहमुक्त होता है ॥ ८७ ॥ आत्मज्ञान से मुक्ति होती है, वह ज्ञान योग के विना नहीं होती है, और वह योग बहुत काल तक अभ्यास से ही सिद्ध होता है ॥ ८८ ॥ सदा आत्मा में क्रीडा वाला, सदा आत्मा रूप मिथुन वाला, आत्मा ही में सुतृप्त को योग की सिद्धि दूर नहीं है ॥ ८९ ॥ वह योग आत्मा और मन के योग = मेल रूप विद्वानों से कहा जाता है, और प्राण अपान का सम्यग् योग = मेल भी किसी हठ योगी से योग कहा जाता है ॥ ९० ॥ विषय और इन्द्रियों का संयोग योग है, इस प्रकार अपण्डित गृहस्थों से कहा जाता है, क्योंकि विषयों में आसक्त चित्त वालों को ज्ञान और मोक्ष दूर हो जाता है ॥ ९१ ॥

वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञे परमात्मनि ।
एकीकृत्य विमुच्येत योगयुक्तः स उच्यते ॥९२॥
सर्वभावविनिर्मुक्तं क्षेत्रज्ञं ब्रह्मणि न्यसेत् ।
एतद्ध्यानं च योगश्च शेषोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः॥९३॥
स्कन्दपु० काशीखं० अ० ४१।४२-४६। इत्यादि ॥
अन्तश्चेतो बहिश्चक्षुरवस्थाप्य सुखासनम् ।
समत्वं च शरीरस्य ध्यानमुद्राऽतिसिद्धिदा ॥९४॥
शब्दादीनां हि तन्मात्रा यावत्कर्णादिषु स्थिता ।
तावदेव स्मृतं ध्यानं स्यात्समाधिरतः परम् ॥९५॥
धारणा पञ्चनाडीका ध्यानं स्यात् षष्टिनाडिकम् ।
दिनद्वादशकेनैव समाधिरिह भण्यते ॥९६॥
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
तदा समरसत्वं च यत्समाधिरिहोच्यते ॥९७॥
यत्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः ।
स नष्टसर्वसङ्कल्पः समाधिरभिधीयते ॥९८॥
नात्मानं न परं वेत्ति न शीतं नोष्णमेव वा ।
समाधियुक्तो योगीन्द्रो न सुखं न सुखेतरत्॥९९॥
ब्रह्मचारी जितक्रोधो जितलोभो विमत्सरः ।
अब्दमित्थं सदाऽभ्यासात्स योगीति निगद्यते १००
स्कन्दपु० काशीखं० अ० ४१।१२१। इत्यादि ॥
शब्दस्पर्शरसैः हीनं गन्धरूपविवर्जितम् ।
परं पुरुषं सम्प्राप्तः समाधिस्थः प्रकीर्त्तितः ॥१०१॥
अनुरागं जनो याति परोक्षे गुणकीर्त्तनम् ।
न बिभ्यति च सत्त्वानि सिद्धेर्लक्षणमुच्यते ॥१०२॥
स्कन्दपु० माहेश्वरखं० कौमारि० २ अ० ५५।५४-१३७ ॥
अहं ब्रह्म परं ज्योति विष्णुरित्येव चिन्तयन् ।
सूर्ये हृद्व्योम्नि वह्नौ च ज्योतिरेकं त्रिधा स्थितम् १०३
यथा सर्पिः शरीरस्थं गवां न कुरुते बलम् ।
निर्गतं कर्मसंयुक्तं दत्तं तासां महाबलम् ॥१०४॥

वृत्ति हीन=रहित मन को करके क्षेत्रज्ञाऽभिन्न परमात्मा में उस मन को एक लीन करके जो जीवन्मुक्त होता है, सो योग युक्त कहलाता है ॥ ९२ ॥ सब भाव=बाह्य पदार्थ से रहित शुद्ध क्षेत्रज्ञ = जीवसाक्षी को शुद्ध ब्रह्म में न्यास = निक्षेप अभेद चिन्तन करे, यही ध्यान और योग है, और अन्य शेष वर्णन ग्रन्थ का विस्तार है ॥ ९३ ॥ चित्त अन्तर्गत हो, और चक्षु = नेत्र को बाहर अवस्थित करके सुखासन को स्थिर करके शरीर की समता को धारण किया जाता है, यह ध्यान मुद्रा=ध्यानाकार, अति सिद्धि को देने वाली है ॥ ९४ ॥ जब तक शब्दादि के तन्मात्रा=सूक्ष्मांश कर्णादि इन्द्रियों में स्थिर हैं, तभी तक ध्यान कहा गया है, इसके बाद समाधि होती है ॥ ९५ ॥ पांच नाडी काल विशेष तक धारणा होती है, साठ नाडीयुक्त ध्यान होता है, यहाँ बारह दिन के द्वारा समाधि कहलाती है ॥ ९६ ॥ जब प्राण सम्यक् क्षीण होते हैं, मन प्रलीन होता है, उस समय जो समरसता होती है, सो यहाँ समाधि कहलाती है ॥ ९७ ॥ जो यहाँ जीवात्मा परमात्मा दोनों को समरसत्व होता है, सब सङ्कल्पों से रहित वह समाधि कही जाती है ॥ ९८ ॥ समाधि से युक्त योगीन्द्र अपने को वा अन्य को वा शीत, उष्ण, सुख, दुःख को नहीं जानता है ॥ ९९ ॥ ब्रह्मचारी, क्रोध का विजेता, लोभ का विजेता, मत्सर रहित हो कर जो इस प्रकार एक वर्ष सदा अभ्यास करता है, सो उस अभ्यास से योगी कहा जाता है ॥ १०० ॥ शब्द स्पर्श, रस, रूप, गन्ध से रहित पर पुरुष को सम्यक् प्राप्त पुरुष समाधिस्थ कहा गया गया है ॥१०१॥ जिसमें जन स्वाभाविक अनुराग को प्राप्त करते हैं, परोक्ष में जिस के गुणों का कीर्त्तन करते हैं, और जिससे प्राणी डरते नहीं हैं, यह उस योगी में सिद्धि का लक्षण कहा गया है ॥ १०२ ॥ सूर्य, हृदय, अग्नि में एक ही ज्योति त्रिधा=तीन प्रकार से स्थिर है, वह पर ब्रह्मरूप ज्योति मैं हूँ, मैं विष्णु हूँ, इसी प्रकार चिन्तन करता हुआ योगी मुक्त होता है, अन्यथा नहीं ॥१०३॥ जैसे गौओं के शरीर में स्थिर घृत उन को बल कारक नहीं होता है, निकला हुआ अन्य क्रिया साधन युक्त घृत गौओं को देने खिलाने पर

तथा विष्णुः शरीरस्थो न करोति हितं नृणाम् ।
विना राधनया देवः सर्वगः परमेश्वरः ॥१०५॥
आरुरुक्षुमतीनां तु कर्म ज्ञानमुदाहृतम् ।
आरूढयोगवृक्षाणां ज्ञानं त्यागं परं मतम् ॥१०६॥
पुर्यष्टकं परित्यज्य प्रकृतिं च गुणात्मिकाम् ।
यदा याति तदा जीवो याति मुक्तिं न संशयः १०७
शब्दादयो गुणाः पञ्च सत्त्वाद्याश्च गुणास्त्रयः ।
पुर्यष्टकस्य पद्मस्य पत्राण्यष्टौ च तानि हि ॥१०८॥
चिद्रूपममृतं शुद्धं निष्क्रियं व्यापकं शिवम् ।
तुरीयायामवस्थायामास्थितोऽसौ न संशयः १०९
प्राणायामो जपश्चैव प्रत्याहारोऽथ धारणा ।
ध्यानं समाधिरित्येते षड्योगस्य प्रसाधकाः ११०
प्राणायामैर्द्वादशभि र्यावत्कालः कृतो भवेत् ।
यस्तावत्कालपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि धारयेत् ॥१११॥
तस्यैव ब्रह्मणा प्रोक्तं ध्यानं द्वादश धारणाः ।
ध्यायन्न चलते यस्य मनोऽभिध्यायतो भृशम् ११२
ध्येये सक्तं मनो यस्य ध्येयमेवानुपश्यति ।
नान्यं पदार्थं जानाति ध्यानमेतत्प्रकीर्त्तितम् ११३
ध्येये मनोनिश्चलतां याति ध्येयं विचिन्तयन् ।
यत्तद्ध्यानं परं प्रोक्तं मुनिभिर्ध्यानचिन्तकैः॥११४॥
ध्येयमेव हि सर्वत्र ध्याता तन्मयतां गतः ।
पश्यति द्वैतरहितं समाधिः सोऽभिधीयते ॥११५॥
मनः सङ्कल्परहितमिन्द्रियार्थन्न चिन्तयेत् ।
यस्य ब्रह्मणि संलीनं समाधिस्थं तदोच्यते॥११६॥
ध्यायतः परमात्मानमात्मस्थं यस्य योगिनः ।
मनस्तन्मयतां याति समाधिस्थः स कीर्त्तितः ११७
ब्रह्मप्रकाशकं ज्ञानं भवबन्धविभेदकम् ।
तत्रैकचित्तता योगो मुक्तिदो नात्र संशयः॥११८॥
गरुडपु० खं० १ अ० २३४ ॥

उन गौओं को महा बलकारक होता है ॥ १०४ ॥ तैसे शरीर में स्थिर सर्वगत परमेश्वर विष्णु देव भी आराधना के विना मनुष्यों का हित नहीं करते हैं ॥ १०५ ॥ इससे योग में आरूढ़ = स्थिर होने की इच्छा युक्त बुद्धि वालों के लिये कर्म ज्ञान कहा गया है, और योगवृक्ष पर स्थिति वालों के लिये त्याग रूप ज्ञान उत्तम माना गया है ॥ १०६ ॥ जब जीव पुर्यष्टक और गुण रूप प्रकृति को त्याग कर समाधि अवस्था में जाता है, तब अवश्य मुक्ति को पाता है ॥ १०७ ॥ शब्दादि पाँच विषय रूप गुण और सत्त्व रजस्तम रूपप्रकृति के गुण पुर्यष्टक रूप पद्म=कमल के वे आठ पत्ते हैं ॥ १०८ ॥ चेतन रूप अमृत = अविनाशी शुद्ध निष्क्रिय व्यापक शिव स्वरूप को तुरीयवस्था में वह प्रकृति आदि को त्यागने वाला जीव आस्थित= प्राप्त करके उसमें स्थिर होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १०९ ॥ प्राणायामादि छः योग के प्रसाधक हैं ॥ ११० ॥ बारह प्राणायाम से जितना काल बीतता है, जो पुरुष उतने ही काल तक मन को ब्रह्म में धारण करे, ब्रह्मा ने उसके उस द्वादश प्राणायाम तक धारणा को ध्यान कहा है । और जिस अभिध्यान करने वाले का अत्यन्त ध्यान करता हुआ मन चलता नहीं है, और ध्येय = ध्यान के विषय में आसक्त जिसका मन ध्येय को ही देखता है, अन्य पदार्थ को नहीं जानता है, उस पुरुष का यही ध्यान कहा गया है ॥ १११-११३ ॥ ध्येय का चिन्तन करता हुआ मन जो ध्येय में निश्चलता को प्राप्त होता है, ध्यान के चिन्तक मुनियों से वही पर = उत्तम ध्यान कहा गया है ॥ ११४ ॥ जो ध्यान करने वाला तन्मयता = ध्येयरूपता को प्राप्त होकर सब स्थान में द्वैत रहित ध्येय को ही जब देखता है, तब उसकी वह समाधि कहलाती है ॥ ११५ ॥ सङ्कल्पादि रहित जिसका मन जब ब्रह्म में संलीन होकर इन्द्रियों के विषयों की चिन्ता नहीं करता है, तब उस का मन समाधिस्थ कहा जाता है ॥ ११६ ॥ परमात्मा के ध्यान करते हुए जिस योगी के आत्मा में स्थिर मन तन्मयता को प्राप्त होता है, वह योगी समाधिस्थ कहा गया है ॥ ११७ ॥ ब्रह्म को प्रकाशने = निरावरण करने वाला ज्ञान भव बन्ध मोहकामादि को नष्ट करने वाला है,

अद्वैतं सांख्यमित्याहु र्योगस्तत्रैकचित्तता ।
अद्वैतयोगसम्पन्नास्ते मुच्यन्तेऽतिबन्धनात् ॥११९॥
गरुडपु० खं० १ अ० २३६ ॥
समाधिः सम्विदुत्पत्तिः परजीवैक्यतामतिः ।
यदि जीवः पराद्भिन्नः कार्यतामेति सुव्रत !॥१२०॥
अचित्त्वं च प्रसज्ज्येत घटवत् पण्डितोत्तम ! ।
विनाशित्वं भयं च स्याद् द्वितीयाद्वा इतिश्रुतिः १२१
नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः ।
एकः स भिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः ॥
तस्माद्द्वैतमेवास्ति न प्रपञ्चो न संसृतिः ॥१२२॥
सूतसं० ज्ञानयोगखं० अ० २० ॥
यस्मिन् क्लृप्तं तुरीयत्वं त्रिधामापेक्षयैव तु ।
तं तुरीयत्वनिर्मुक्तं वन्दे चिद्घनमीश्वरम् ॥१२३॥
यस्मिंस्तुरीयातीतत्वमध्यस्तं तदभावतः ।
तं वन्दे केवलं शुद्धं निर्विशेषं महेश्वरम् ॥१२४॥
एकत्वं च तथा द्वित्वं त्रित्वं यस्मिन् प्रकल्पितम् ।
वहुत्वं च तमीशानमसंख्येयं नमः शिवम् ॥१२५॥
सूतसं० ज्ञानवैभवखं० अ० २८।२७ इत्यादि ॥
साधकस्यैव जीवस्य स्वाभाविकशिवात्मताम् ।
बोधयन्ती श्रुति भ्रान्तिजीवत्वं बाधते खलु ॥१२६॥
जीवत्वं चेतनस्यास्य स्वाभाविकमिति द्विजाः ! ।
केचिदिच्छन्ति वार्त्तैषा न तत्स्वाभाविकं सदा १२७
यदि स्वाभाविकं तर्हि जीवत्वं सर्वदा भवेत् ।
नास्ति तस्य निवृत्ति र्हि स्वतः सिद्धं न नश्यति १२८
यथा स्वाभाविकं वह्नेरौष्ण्यं नैव विनश्यति ।
प्रकाशो वा तथास्यापि न दुःखादिर्विनश्यति १२९
मणिमन्त्रौषधादीनां शक्तिवैचित्र्यमात्रतः ।
नष्टवत्प्रतिबद्धं तु न नष्टं सम्मतं हि तत् ॥१३०॥

और उस ब्रह्म ज्ञान में एकाग्रता ब्रह्मनिष्ठता रूप योग मुक्ति देने वाला है, इसमें संशय नहीं है ॥ ११८ ॥ अद्वैत ज्ञान को सांख्य शब्द से कहते हैं, तिस अद्वैत में एकाग्रता योग है, जो अद्वैत और योग से सम्पन्न हैं, सो अतिबन्धन = संसार से मुक्त होते हैं ॥ ११९ ॥ हे सुव्रत ! ब्रह्मजीव की एकता की मति = ज्ञान रूप सम्विद् की उत्पत्ति समाधि है, यदि जीव ब्रह्म से भिन्न होगा तो कार्यता को प्राप्त होगा ॥ २० ॥ और हे पण्डितोत्तम ! जीव में अचेतनता की प्राप्ति होगी, जैसे उत्पन्न होने वाला घट अचेतन है, वैसा जीव सिद्ध होगा, और घट तुल्य विनाशित्व भी प्राप्त होगा, तथा भय होगा । 'द्वितीय से भय होता है' यह श्रुति है ॥ २१ ॥ आत्मा नित्य सर्वगत = व्यापक, कूटस्थ = निर्विकार, दोषरहित एक ही है, सो भ्रान्ति और माया से भिन्न = भेदयुक्त होता है, स्वरूप से भिन्न नहीं होता है, तिससे सत्य अद्वैत ही है, न प्रपञ्च विस्तार = संसार, न संसृति = जन्मादि हैं ॥ १२२ ॥ जिस में जाग्रदादि त्रिधाम = तीन अवस्था की अपेक्षा से ही तुरीयत्व कल्पित है, उस तुरीयत्व रहित चिद्घन ईश्वर की वन्दना करता हूँ ॥ १२३ ॥ तुरीयता के अभाव से जिस में तुरीयातीतत्त्व भी अध्यस्त = कल्पित-मिथ्या है, तिस केवल = एक शुद्ध निर्विशेष = निर्गुण महेश्वर की वन्दना करता हूँ ॥ १२४ ॥ एक द्वित्वादि जिस में कल्पित हैं, तिस संख्या के अयोग्य शिव को नमस्कार है ॥ १२५ ॥ साधक जीव को ही स्वाभाविक शिव रूपता को बोध कराती हुई श्रुति भ्रान्त = भ्रमयुक्त, भ्रम सिद्ध जीवता को बाधती = निवारण करती है ॥ १२६ ॥ हे द्विज ! इस चेतन को स्वाभाविक जीवत्व को कोई मानते हैं, परन्तु यह वार्ता = कथन मात्र है, जीवत्व स्वाभाविक सदा नहीं है ॥ १२७ ॥ यदि स्वाभाविक जीवत्व होगा, तो सर्वदा रहेगा, उस की निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि स्वतः सिद्ध वस्तु नष्ट नहीं होती है ॥ १२८ ॥ जैसे अग्नि की स्वाभाविक उष्णता वा प्रकाश नष्ट नहीं होते हैं, तैसे इस जीव के स्वाभाविक दुःखादि नहीं नष्ट होगें ॥ १२९ ॥ मणिमन्त्र औषध आदि की शक्ति की विचित्रता से अग्नि की उष्णता नष्ट के समान प्रतिबद्ध - निरुद्ध हो जाती है, परन्तु वह नष्ट सम्मत = स्वीकृत नहीं

यथा ताम्रमलं नैव केनचित्प्रविनश्यति ।
नष्टवत्प्रतिबद्धं हि विनष्टं मन्यतेऽबुधाः ॥१३१॥
पयसा वेष्टितं तोयं पय इत्यभिधीयते ।
रजतं काञ्चनग्रस्तं हेम इत्यभिधीयते ॥१३२॥
तथैव रसवीर्येण वह्निसम्पर्कतोऽपि च ।
अयसो हेमवर्णत्वं न हेमत्वं कदाचन ॥१३३॥
रसवीर्यविनाशे तु वर्णस्तस्य विनश्यति ।
कृतकस्य न नित्यत्वमिति वार्त्ता भुवि स्थिता १३४
तथापि मानवो भ्रान्तः काञ्चनं मन्यते ह्ययः ।
तथा शिवत्वं जीवस्य भ्रान्त्या सिद्धं भविष्यति १३५

तथा च—

स्वतोऽशिवस्तु जीवोऽयं सर्वथा न शिवो भवेत् ।
केनचित्साधनेनैव मुक्तौ शिवसमो भवेत् ॥१३६॥
इत्येवं केचिदिच्छन्ति वादिनो मुनिपुङ्गवाः ! ।
वार्त्तामात्रमिदं प्रोक्तं सर्वथा न तदर्थवत् ॥१३७॥
एकदेशेन वा जीवाः किम्वा सर्वात्मना समाः ।
एकदेशेन चेत्सर्वे जीवाः संसारवर्त्तिनः ॥१३८॥
एकदेशेन सर्वेषामस्ति साम्यं शिवेन हि ।
सर्वात्मना चेत्साम्यं तत्सर्वथा शिव एव सः १३९
भेदकारणशून्यत्वाद् भेदाभावाच्च वस्तुतः ।
किञ्च मुक्तौ शिवेनैव समो जीवो भवेद्यदि ॥१४०॥
किञ्चित्कालं हि तत्साम्यमागतं खलु गच्छति ।
तस्माज्जीवः स्वतः साक्षाच्छिवः सत्यादिलक्षणः १४१

सूतसं० यज्ञवैभवखं० अ० ३९।२६। इत्यादि ॥

यदा निर्ममता देहे यदा चित्तं सुनिर्मलम् ।
यदा हरौ भक्तियोगस्तदा बन्धो न कर्मणा ॥१४२॥
तावद् भ्रमन्ति संसारे पितरः पिण्डतत्पराः ।
यावत्कुले भक्तियुतः सुतो नैव प्रजायते ॥१४३॥
शमश्च सद्विचारश्च सन्तोषः साधुसङ्गमः ।
एते वै हस्तगा यस्य तस्य सिद्धि र्न दूरतः ॥१४४॥

है ॥ १३० ॥ जैसे तांबे का मल किसी से प्रविनष्ट नहीं होता है, किन्तु नष्ट के समान प्रतिबन्धक से छिप जाता है, उस को अज्ञ विनष्ट समझता है ॥ १३१ ॥ पय से=दूध से सम्मिलित जल दूध कहलाता है, सुवर्ण से ग्रस्त रजत=चाँदी सुवर्ण कहा जाता है, तैसे ही औषधि के रस के बल और अग्नि के सम्बन्ध से लोहे को सुवर्ण का वर्ण होता है, परन्तु कभी भी सुवर्णता नहीं होती है ॥ १३२–१३३ ॥ रस के वीर्य =बल के नाश होने पर, उस का वर्ण=रंग भी नष्ट होता है, कार्य को नित्यत्व नहीं होता है, यह बात भूमि में स्थिर है ॥ १३४ ॥ तो भी भ्रान्त मनुष्य लोहे का सुवर्णत्व मानता है, तैसे ही जीव को भ्रान्ति से सिद्ध शिवत्व=मुक्तत्व होगा ॥ १३५ ॥ तिससे स्वतः अशिव रूप यह जीव सब प्रकार से शिव नहीं होगा, किन्तु किसी साधन से ही मुक्ति में शिवतुल्य होगा ॥ १३६ ॥ हे मुनिश्रेष्ठ ! इस प्रकार कोई वादी मानते हैं, परन्तु यह वार्तामात्र कहा गया है, यह सर्वथा अर्थवाला नहीं है ॥१३७॥ मुक्ति में शिव तुल्य जीव एक देश द्वारा होते हैं ? वा सर्वथा सम=तुल्य हो जाते हैं ? यदि एक देश से सम हों तब तो संसारवर्ती सब जीव शिवसम हैं ॥ १३८ ॥ जिससे चेतनता आदि एक देश=अंश से सब जीव को शिव से तुल्यता है, यदि सर्वरूप से वह मोक्ष में तुल्यता हो, तब तो वह सर्वथा शिव है ॥१३९॥ क्योंकि भेद के कारण अज्ञानादि से रहित हो गया है, और वस्तुतः भेद का अभाव है, इससे शिव है, शिव तुल्य नहीं है । और यदि मुक्ति में शिव के तुल्य ही जीव होगा, तो किञ्चित् काल तक आई हुई वह तुल्यता चल जायगी, तिससे सत्यादि लक्षण वाला जीव स्वतः = स्वाभाविक साक्षात् शिव है ॥ १४०–१४१ ॥ जब देह में ममता का अभाव होता है, चित्त जब अत्यन्त निर्मल रहता है, और जब हरि में भक्ति योग होता है, तब कर्म से बन्धन नहीं होता है ॥ १४२ ॥ पिण्ड के लिये तत्पर पितर तब तक संसार में भ्रमते हैं, कि जब तक कुल में भक्तियुक्त पुत्र नहीं होता है ॥ १४३ ॥ शम, सद्विचार, सन्तोष,

मायाधिपटलैर्हीनो मिथ्यावस्तुविरागवान् ।
कुसंसर्गविहीनश्च योगसिद्धेश्च लक्षणम् ॥१४५॥
स्कन्दपु० खं० ६।२६३ ॥

योगात्सञ्जायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्त्तते ।
योगज्ञानाभियुक्तस्य नावाप्यं विद्यते क्वचित् १४६
कूर्मपु० उत्तरा० अ० २ ॥

योगाग्निर्दहते क्षिप्रमशेषं पापपञ्जरम् ।
प्रसन्नं जायते ज्ञानं साक्षान्निर्वाणसिद्धिदम्॥१४७॥

योगात्सञ्जायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्त्तते ।
योगज्ञानाग्नियुक्तस्य प्रसीदति महेश्वरः॥१४८॥

धारणा द्वादशायामा ध्यानं द्वादशधारणा ।
ध्यानद्वादशकं यावत्समाधिरभिधीयते ॥१४९॥
कूर्मपु० उत्तरा० अ० ११ ॥

समाधिः फलमुद्दिष्टं धारणाध्यानयोरपि ।
प्रत्यक्षं ब्रह्मविज्ञानं सविकल्पमथापरम् ॥१५०॥
एवमष्टाङ्गयोगेन स्वात्मप्रत्ययमिच्छतः ।
प्रथमं सिद्धयो नाना प्रादुःस्युर्विघ्नहेतुकाः ॥१५१॥

नीहारेण समं रूपं पश्यत्येष कदाचन ।
धूमेन च कदाचित्तु भास्करेण च कर्हिचित्॥१५२॥
इत्यादि ॥

अत्राणिमादिका सिद्धिर्जायते विघ्नहेतुका ।
अस्यां संसक्तचित्तः सन् योगभ्रष्टोऽभिजायते १५३

एतां त्यजन्नवाप्नोति प्रत्यक्षं ब्रह्म वेदितम् ।
सर्वसिद्धिपरित्यागादानन्दात्मानमद्वयम् ॥
निरीक्ष्यैव कृतार्थः स्यात्कश्चिदेवपुमानिह ॥१५४॥
आत्मपु० अ० ८ ॥

विदुषोऽलुप्तविज्ञाने स्वप्ने स्वप्नावलोकिताः ।
केचिज्जीवाः प्रमुच्यन्ते ह्यस्य मुक्तिं विनापि हि१५५

साधु संग, ये चार जिस को हस्तगत=प्राप्त हैं, उसको सिद्धि दूर नहीं है ॥ १४४ ॥ माया रूप अधिपटल= अधिकावरण-नेत्ररोग से रहित, मिथ्या वस्तु में विरागवान्, कुसङ्ग रहित होना योगसिद्धि का लक्षण है ॥ १४५ ॥ योग से ज्ञान सम्यग् होता है, और ज्ञान से योग प्रवृत्त सिद्ध होता है, और योग तथा ज्ञान में अभियुक्त=तत्पर को कहीं कुछ प्राप्त करना बाकी नहीं रहता है ॥ १४६ ॥ क्योंकि योग रूप अग्नि शीघ्र ही सब पाप रूप पञ्जर=पिञ्जर बन्धनों को जलाती है, जिससे साक्षात् मोक्ष रूप सिद्धि देने वाला ज्ञान प्रसन्न=स्वच्छ होता है ॥ १४७ ॥ योग से ज्ञान सम्यग् उत्पन्न होता है, और ज्ञान से योग की प्रवृत्ति होती है, फिर योग और ज्ञानाग्नि से युक्त महेश्वर=आत्मा प्रसन्न होता है ॥ १४८ ॥ द्वादश प्राणायाम काल की सम्बन्धी एक धारणा होती है, द्वादश धारणा=बारह धारणाकाल का एक ध्यान होता है । बारह ध्यान का जितना समय होता है, उतना काल समाधि कहलाती है ॥ १४९ ॥ धारणा और ध्यान का भी समाधि फल कहा गया है, सो सविकल्प प्रत्यक्ष ब्रह्म विज्ञान रूप है, उस के बाद अपर=अन्य निर्विकल्प ब्रह्मविज्ञान होता है ॥ १५० ॥ इस प्रकार आठ अङ्ग वाले योग से स्वात्मज्ञान की इच्छा वाले को प्रथम नाना सिद्धियाँ विघ्नों का हेतु रूप प्रकट होती हैं ॥ १५१ ॥ यह योगी कभी नीहार = हिम के समान रूप देखता है, कभी धूम सदृश कभी सूर्य के सदृश इत्यादि रूप देखता है ॥ १५२ ॥ इस में अणिमा आदि सिद्धियाँ भी विघ्न का हेतु रूप ही होती हैं. इन सिद्धिओं में आसक्त चित्त वाला योग भ्रष्ट हो जाता है ॥ १५३ ॥ इस सिद्धि को त्यागता हुआ पुरुष वेद बोधित ब्रह्म को प्रत्यक्ष प्राप्त करता है, और सब सिद्धिओं के सर्वथा त्याग से अद्वैत आनन्द स्वरूप आत्मा को प्रत्यक्ष कर के कोई विरला ही मनुष्य यहाँ कृतार्थ=मुक्त होता है ॥ १५४ ॥ विद्वान् के अलुप्त विज्ञान वाले, स्वप्न में स्वप्न के अवलोकित=दृष्ट कोई जीव इस विद्वान् की मुक्ति के विना ही मुक्त प्रतीत होते हैं ॥१५५॥

अन्ये बद्धाश्च सन्त्यत्र स्वप्नसंस्थितिहेतवः ।
एवमीशे ह्यमुक्तेऽपि मुच्यन्तेऽत्र मुमुक्षवः ॥
बद्धाश्च केचिद्वर्त्तन्ते संसारस्थितिहेतवः ॥१५६॥
आत्मपु० अ० ४ ॥

इति प्रथमं योगप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ यमनियमादिषु यमाः ॥ २ ॥

यमाद्या बहुधा प्रोक्ता महर्षिभिः सुसाधुभिः ।
यथायोग्यमनुष्ठेया मुमुक्षुभिश्च सज्जनैः ॥१॥
मुक्ते तीर्णे तु संसारात्स्वभवात्ते भवन्ति हि ।
क्वचित्किञ्चित्तु वैषम्यं प्रारब्धैश्वर्ययोगतः ॥२॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयाऽऽर्जवम् ।
क्षमा धृतिर्मिताऽऽहारः शौचं चेति यमा दश ॥३॥
त्रिशिखब्रा० । सूतस०ज्ञा०अ० १३।३॥ योगया०अ० १।५०॥
सत्यं क्षमाऽऽर्जवं ध्यानमानृशंस्यमहिंसनम् ।
दमः प्रसादो माधुर्यं मृदुतेति यमा दश ॥४॥
स्कन्दपु० ब्रह्मखं० धर्मारण्यमा० अ० ५।२० ॥
अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयाजपक्षमाधृतिमिताऽऽहारशौचानि यमा दश ॥ ५ ॥
शाण्डिल्योपनिषद् ॥
अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ६ ॥
योगदर्शनपा० २ ॥

इति द्वितीयं यमप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ नियमाः ॥ ३ ॥

तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्री मतिश्च जपो व्रतम् ॥
एते च नियमाः प्रोक्ता योगविद्भि र्महात्मभिः॥१॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं च परानन्दं ध्रुवं परम् ।

और अन्य जीव यहाँ स्वप्न में स्वप्न की स्थिति के हेतु रूप बद्ध प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार से इस संसार में ईश्वर के अमुक्त रहते भी कोई मुमुक्षु मुक्त होते हैं, और संसार की स्थिति के हेतु रूप कोई बद्ध रहते हैं ॥ १५६ ॥ पहला योग प्रकरण समाप्त ॥

अथ यमनियमादि में यम—महर्षियों, सुसाधुओं से यमादि बहुत प्रकार के कहे गये हैं, सो मुमुक्षु और सज्जनों से यथायोग्य अनुष्ठान के योग्य=कर्तव्य हैं ॥ १ ॥ संसार बन्धन सागर से मुक्त तीर्ण=तरे हुए पुरुषों में तो वे यमादि स्वभाव से ही रहते हैं, कहीं किसी मुक्त में कुछ विषमता = यमादि का अभाव विलक्षण प्रारब्ध और ऐश्वर्य के सम्बन्ध से होती है ॥ २ ॥ अहिंसा, सत्य, अस्तेय = चोरी का अभाव ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धैर्य, मितभोजन = परिमित आहार और बाहर भीतर के शौच, ये दश यम = संयम कुव्यवहार से उपरति रूप कुकर्म के त्याग रूप हैं ॥ ३ ॥ सत्य, क्षमा, आर्जव, ध्यान, अनृशंसता = अक्रूरता, अहिंसा, दम = इन्द्रिय निरोध, प्रसाद = अनुग्रह-दया, माधुर्य = मधुरता-प्रियता, मृदुता = अतीक्ष्णता-कोमलता, ये दश यम = निवृत्ति रूप धर्म हैं ॥ ४ ॥ अहिंसादि दश यम = निवृत्ति रूप धर्म के साधन हैं ॥ ५ ॥ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, ये पाँच यम = अष्टाङ्ग योग के प्रथम साधन योग के मूल रूप हैं, ये ही पाँचो, जाति, देश, काल, समय = संकेत-नियम इन सब से अनवच्छिन्न = अव्यावर्त्तित किसी विशेष जाति के लिये वा विशेष देशादि में ही नहीं, किन्तु सर्व जाति के लिये सर्व देशादि में जो अहिंसा सत्यादि का धारण है, सो महाव्रत = महा पापनाशक-अत्यन्त चित्त-शोधक है ॥ ६ ॥ दूसरा यमप्रकरण समाप्त ॥

अथ नियम—तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर की पूजा, सिद्धान्त का श्रवण, कुकर्मादि से लज्जा, मति = मनन, जप, और व्रत, योगवेत्ता महात्माओं से ये दस नियम कहे गये हैं ॥ १ ॥ सत्यादि

प्रत्यगित्यवगत्यन्तं वेदान्तश्रवणं बुधाः ॥२॥
गुरुणा चोपदिष्टोऽपि तन्त्रसम्बन्धवर्जितः ।
वेदोक्तेनैव मार्गेण मन्त्राभ्यासो जपः स्मृतः ॥३॥
धर्मार्थमात्मशुद्ध्यर्थमुपायग्रहणं व्रतम् ॥४॥
सूतसं० अ० १४ ॥
वेदलौकिकमार्गेषु कुत्सितं कर्म यद् भवेत् ।
तस्मिन् भवति या लज्जा ह्रीस्तु सैव प्रकीर्त्तिता ५
विहितेषु च सर्वेषु श्रद्धा या सा मति र्भवेत् ।
गुरुणा चोपदिष्टोऽपि वेदबाह्यविवर्जितः ।
विधिनोक्तेन मार्गेण मन्त्राभ्यासो जपः स्मृतः॥६॥
अधीत्य वेदं सूक्तं वा पुराणं सेतिहासकम् ।
एतेष्वभ्यसनं तस्य त्वभ्यासेन जपः स्मृतः ॥७॥
जपश्च द्विविधः प्रोक्तो मानसो वाचिकस्तथा ।
वाचिकोपांशुरुच्चैश्च द्विविधः परिकीर्त्तितः ॥८॥
मानसो मनसा ध्यानभेदात् द्वैविध्यमास्थितः ।
उच्चै र्जपादुपांशुश्च सहस्रगुण उच्यते ॥९॥
मानसश्च तथोपांशोः सहस्रगुण उच्यते ।
मानसाच्च तथा ध्यानं सहस्रगुण उच्यते ॥१०॥
योगयाज्ञवल्क्यसं० अ० २ ॥
शौचं स्नानं तपो दानं मौनेज्याऽध्ययनं व्रतम् ।
उपोषणोपस्थदण्डौ दशैते नियमाः स्मृताः ॥११॥
स्कन्दपु० ॥
तपःसन्तोषास्तिक्यदानेश्वरपूजनसिद्धान्तश्रवण-ह्रीमतिजपव्रतानि दश नियमाः॥१२॥ शाण्डिल्योप०॥
शौचसन्तोषतपःस्वध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥१३॥ योगदर्श० पा० २। प्रणिधानं कर्मार्पणम् ॥
नाहं कर्त्ता सर्वमेतन्मनसा कुरुते तथा ।
एतद् ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१४॥
कूर्मपुराणे ॥
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम् ।
अप्रमादश्च सततं पञ्चैते नियमाः स्मृताः ॥१५॥
इति क्वचित् ॥

इति तृतीयं नियमप्रकरणं समाप्तम् ॥

स्वरूप प्रत्यगात्मा=अन्तरात्मा है, इस ज्ञान तक को बुध=पण्डित श्रवण कहते हैं ॥२॥ तन्त्रों के सम्बन्ध से रहित और गुरु से उपदेश द्वारा ज्ञात जो वेदों में कथित मार्ग से मन्त्र का अभ्यास, सो जप कहा गया है ॥३॥ और धर्म के लिये आत्मशुद्धि के लिये, उपाय के ग्रहण को व्रत कहते हैं ॥४॥ वैदिक वा लौकिक मार्गों में जो निन्दित कर्म होते हैं, तिस में जो लज्जा होती है, वही ह्री कही गई है ॥ ५ ॥ विहित सब कर्मादि में जो श्रद्धा होती है, सो मति है। और गुरु से उपदिष्ट, वेद बाह्य=विरुद्ध से रहित, वेदादि से विधि द्वारा कथित मार्ग से जो मन्त्र का अभ्यास सो जप कहा गया है ॥ ६ ॥ वेद वा पुरुषसूक्तादि वा इतिहास सहित पुराण को पढ़ कर इन में ही अभ्यास करना जप है, क्योंकि उस वेदादि के अभ्यास से ही जप कहा गया है ॥ ७ ॥ जप दो प्रकार का कहा गया है, एक वाचिक है, दूसरा मानस है, वाचिक भी उपांशु =मन्द स्वर से और उच्च स्वर से, दो प्रकार का कहा गया है ॥ ८ ॥ मानस भी मन से, जप और ध्यान के भेद से दो रूपता को प्राप्त है, उच्च स्वर से जप की अपेक्षा उपांशु जप सहस्र गुण श्रेष्ठ कहा जाता है, और उपांशु से भी मानस जप हजार गुना श्रेष्ठ कहलाता है, तैसे ही मानस जप से ध्यान हजार गुना कहलाता है ॥ ९-१० ॥ शौच, स्नान, तप, दान, मौन, इज्या=यज्ञ, अध्ययन, व्रत, उपवास, ब्रह्मचर्य, ये दश नियम हैं ॥ ११ ॥ तप आदि नियम=अवश्य कर्तव्य हैं ॥ १२ ॥ शौच, सन्तोष, वेद मोक्षशास्त्र प्रणवादि का अध्ययन, जप, रूप, स्वाध्याय, ईश्वर में स्वकर्मों का अर्पण रूप ईश्वर प्रणिधान ये पांच नियम=प्रवृत्तिरूप धर्म-धर्म का स्वीकार-विशेष व्रत हैं ॥ १३ ॥ मैं करता नहीं हूँ, किन्तु यह सब कर्म मन से ईश्वर करता है, तत्त्वदर्शियों ने ऐसे निश्चय को ब्रह्मार्पण कहा है ॥ १४ ॥ अक्रोध, गुरुसेवा, शौच, आहार की लघुता, सदा अप्रमाद, ये भी पांच नियम कहे गये हैं ॥ १५ ॥ तीसरा नियमप्रकरण समाप्त ॥

अथासनप्राणायामाः ॥ ४ ॥

स्थैर्यसुखकरं यत्तदासनं योगसाधनम् ।
अन्यद्रोगादिनाशार्थं कथितं बहुधा बुधैः ॥१॥
आसनस्य तु संस्थैर्ये श्वासप्रश्वासयो र्हि यः ।
गते र्विच्छेद एषोऽत्र प्राणायामो ह्यनेकधा ॥२॥
प्राणः स्वदेहजो वायुस्तस्यायामो निरोधनम् ।
तद्रेचकं पूरकं च कुम्भकं च त्रिधोच्यते ॥३॥
अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो द्विधा स्मृतः ।
जपध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वयात् ॥४॥
अगर्भाद् गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः ।
तस्मात्सगर्भं कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम् ॥५॥
क्रमेणाभ्यस्यमानोऽयं प्राणायामः प्रमाणवान् ।
निर्दहत्यखिलं दोषं कर्त्तुं देहं च रक्षति ॥६॥
प्राणे तु विजिते सम्यक् तच्चिह्नान्युपलक्षयेत् ।
विण्मूत्रश्लेष्माणां तावदल्पभावः प्रजायते ॥७॥
बहुभोजनसामर्थ्यं चिरादुच्छ्वासनं तथा ।
लघुत्वं शीघ्रगामित्वमुत्साहः स्वरसौष्ठवम् ॥
सर्वरोगक्षयश्चैव बलं तेजः सुरूपता ॥८॥

शिवपु० वायवीयसं० ७ अ० ३७ ॥

प्राणस्तु देहजो वायुरायामस्तन्निरोधनम् ।
मात्राद्वादशको मन्दश्चतुर्विंशतिमात्रकः ॥९॥
मध्यमः प्राणसंरोधः षट्त्रिंशन्मात्रकोत्तमः ।
सगर्भमाहुः सजपमगर्भं विजपं बुधाः ॥१०॥

कूर्मपुरा० ॥

आवर्त्तयेत्सदा युक्तं प्राणायामं पुनः पुनः ।
आकेशादानखाग्राच्च तपस्तप्तं तदुत्तमम् ॥११॥
निरोधाज्जायते वायु र्वायोरग्निः प्रजायते ।
अग्नेरापश्च जायन्ते ततोऽन्तः शुध्यते त्रिभिः॥१२॥
न तां तीव्रेण तपसा न ध्यानै र्न च वेज्यया ।
गतिं गन्तुं द्विजाः शक्ता योगात्सम्प्राप्नुवन्ति याम् १३

अथ आसनप्राणायाम—स्थिरता और सुख कारक जो आसन है, सो योग का साधन है, इससे अन्य बहुत प्रकार के आसन रोगादि के नाश के लिये पण्डितों से कहे गए हैं ॥ १ ॥ आसन की सम्यक् स्थिरता होने पर श्वास प्रश्वास की स्वाभाविक गति का जो विच्छेद = निरोध होता है, वही यहाँ प्राणायाम कहा गया है, सो अनेक प्रकार के हैं ॥ २ ॥ अपने देहजन्य वायु प्राण हैं, उसका निरोध आयाम कहलाता है, सो रेचक पूरक कुम्भक भेद से तीन प्रकार का कहा जाता है ॥ ३ ॥ फिर अगर्भ और सगर्भ भेद से प्राणायाम दो प्रकार का कहा गया है, जप ध्यान के विना अगर्भ कहलाता है, और जप ध्यान के समन्वय=सम्बन्ध से सगर्भ कहलाता है ॥ ४ ॥ अगर्भ प्राणायाम से सगर्भ प्राणायाम सौगुना अधिक=श्रेष्ठ है, तिससे योगी लोग सगर्भ प्राणायाम करते हैं ॥ ५ ॥ क्रम से धीरे २ प्रमाण=गिनती वाला अभ्यस्त किया गया हुआ यह प्राणायाम सब दोषों को नष्ट करता है, और प्राणायाम करने वाले की देह की रक्षा करता है ॥ ६ ॥ प्राणों के सम्यग् वश होने पर उस के चिह्नों को भी समझे, कि मल, मूत्र, कफ की अल्पता प्रथम होती है ॥ ७ ॥ बहुत भोजन का सामर्थ्य होता है और श्वास उच्छ्वास देर में, विलम्ब से होते हैं, शरीर में लघुता, शीघ्रगामिता, उत्साह, स्वर में सरसता, ये सब चिह्न होते हैं ॥ ८ ॥ देहजन्य वायु प्राण है, उसका निरोध आयाम है, द्वादश=बारह मात्रा काल तक मन्द=अल्प प्राणायाम है, चौबीस मात्रा तक मध्यम है, छत्तीस मात्रा तक प्राण निरोध उत्तम है। जप सहित को सगर्भ पण्डित कहते हैं ॥ ९-१० ॥ युक्त=उचित हो सकने योग्य प्राणायाम की सदा बार २ आवृत्ति करे, तो केश से नख पर्यन्त उत्तम तप वह तप्त=सिद्ध होता है ॥ ११ ॥ प्राण के निरोध से वायु उत्पन्न होती है, वायु से अग्नि उत्पन्न होती है, अग्नि से जल उत्पन्न होता है, तब तीनों से अन्तःकरण शुद्ध होता है ॥ १२ ॥ तीव्र तप, ध्यान वा यज्ञों से द्विज उस गति को प्राप्त करने के लिये समर्थ नहीं हैं, कि जिस गति को योग से सम्यक्

योगात्सम्प्राप्यते ज्ञानं योगो धर्मस्य लक्षणम् ।
योगः परं तपो नित्यं तस्माद्युक्तः सदा भवेत् ॥ १४ ॥
एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः ।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति पावनं परमं स्मृतम् ॥ १५ ॥
सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं च शिरस्तथा ।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥ १६ ॥
उत्तानौ चरणौ कृत्वा संस्थाप्य जानुनोपरि ।
आसनोपरि संस्थाप्य उत्तानं करयुग्मकम् ॥ १७ ॥
पूरकैः वायुमाकृष्य नासाग्रमवलोकयेत् ।
योगासनं भवेदेतद्योगिनां योगसाधने ॥ १८ ॥
घेरण्डसंहि० अ० २।४३-४४ ॥
ऋतुत्रयात्पुनन्त्येवं जन्मान्तरकृतादघात् ।
संवत्सराद् ब्रह्मघातात्तस्मान्नित्यं समभ्यसेत् ॥ १९ ॥
योगयाज्ञवल्क्यसंहि० ॥
यावतः पूरके मात्रा द्विगुणा रेचकेषु च ।
कुम्भके चातुर्गुण्यं च प्राणायामोऽयमुच्यते ॥ २० ॥
शौनकपरिशिष्टे-यतिधर्मसङ्ग्रहे प्र० २ ॥

नास्ति मायासमं पापं नास्ति योगात्परं बलम् ।
नास्तिज्ञानात्परो बन्धुर्नाहङ्कारात्परो रिपुः ॥ २१ ॥
घेरण्डसंहि० १।४ ॥
सिद्धं जालन्धरं बन्धं योगिनां सिद्धिदायकम् ।
षण्मासमभ्यसेद्यो हि स सिद्धो नात्र संशयः ॥ २२ ॥
घेरण्डसंहि० ३।१३ ॥
वसन्ते शरदि प्रोक्तं योगारम्भं समाचरेत् ।
तथा योगी भवेत् सिद्धो रोगान्मुक्तो भवेद्ध्रुवम् २३
घेरण्डसंहि० उपदे० ५।६ ॥
इति चतुर्थमासनप्राणायामप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ प्रत्याहारः ॥ ५ ॥

स्वविषयेण चित्तस्य सम्प्रयोगो यदा न हि ।
प्रत्याहारस्तदा तद्वदिन्द्रियाणां हि वर्त्तनम् ॥ १ ॥
तथा च—
इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ।
बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥ २ ॥

प्राप्त करते हैं ॥ १३ ॥ योग से ज्ञान सम्यग् प्राप्त होता है, योग धर्म का लक्षण है, योग सदा परम तप है, तिससे सदा योगयुक्त हो ॥ १४ ॥ एकाक्षर=ओंकार पर ब्रह्म है, प्राणायाम परम तप है, सावित्री मन्त्र से पर कोई नहीं है, वह परम पावन कहा गया है ॥ १५ ॥ व्याहृति और प्रणव सहित गायत्री को और शिर को प्राण के निरोध पूर्वक तीन बार पढ़े, वह प्राणायाम कहलाता है ॥ १६ ॥ दोनों पैर को उत्तान =उलटा करके वाम चरण को दक्षिण जानु पर और दक्षिण चरण को वाम जानु पर सम्यग् स्थिर करके और आसन पर दोनों हाथ को उत्तान स्थिर करके पूरक से वायु को खींच कर नासिकाग्र को देखे, योगियों के योग साधने में यह आसन होता है ॥ १७-१८ ॥ इस प्रकार योगी जन्मान्तर कृत पापों से अपने को तीन ऋतु=छः मास में पवित्र करता है, और एक वर्ष के अभ्यास से ब्रह्मघात से पवित्र करता है, तिससे सदा सम्यग् अभ्यास करे ॥ १९ ॥ पूरक में जितनी मात्रा करे=जितना समय लगावे उसके द्विगुण काल रेचक में लगावे, कुम्भक में पूरक के चतुर्गुण लगावे, यह प्राणायाम कहलाता है ॥ २० ॥ माया=झूठ कपट के समान कोई पाप नहीं है, योग से पर कोई बल नहीं है, ज्ञान से पर कोई बन्धु नहीं है, अहङ्कार से भारी कोई शत्रु नहीं है ॥ २१ ॥ सिद्ध हुआ जालन्धर बन्ध योगी को सिद्धि देने वाला है, जो इसका छः मास सदा अभ्यास करता है, सो अवश्य सिद्ध होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ २२ ॥ वसन्त और शरद् ऋतु में योग का आरम्भ करे, इस प्रकार करने से योगी सिद्ध होता है, और रोग से अवश्य मुक्त होता है ॥ २३ ॥ चौथा आसनप्राणायामप्रकरण समाप्त ॥

अथ प्रत्याहार—जब चित्त को अपने विषय के साथ सम्बन्ध नहीं होता है, तब इन्द्रियों की भी वैसी ही स्थिति रहनी प्रत्याहार कहलाता है ॥ १ ॥ विषयों में स्वभाव से विचरने वाली इन्द्रियों का जो

यत्पश्यति तु तत्सर्वं ब्रह्म पश्यन् समाहितः ।
प्रत्याहारो भवेदेष ब्रह्मविद्भिः पुरोदितः ॥३॥
यद्यच्छुद्धमशुद्धं वा करोत्यामरणान्तिकम् ।
तत्सर्वं ब्रह्मणे कुर्यात्प्रत्याहारः स उच्यते ॥४॥
श्रीजाबालदर्शनोपनिष० खं० ७ ॥

इति पञ्चमं प्रत्याहारप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ धारणा ॥ ६ ॥

चित्तस्य देशबन्धो वै धारणा प्रथमा स्मृता ।
अन्या ब्रह्मणि शुद्धे सा धारणा ह्युत्तमा सदा॥१॥
प्राङ्नाभ्यां हृदये चाथ तृतीये च तथोरसि ।
कण्ठे मुखे नासिकाग्रे नेत्रभ्रूमध्यमूर्द्धसु ॥
किञ्चित्तस्मात्परस्मिंश्च धारणा परमा स्मृता॥२॥
गरुडपु० मार्कण्डेयपु० ग्र० ३६।४५ ॥

इति षष्ठं धारणाप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ ध्यानम् ॥ ७ ॥

धारणादेश एवाथ विषये ज्ञानसन्ततिः ।
एकाकारा भवेद्या तद् ध्यानमित्यभिधीयते ॥१॥
तथा च—
स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत् ॥२॥
श्वेता० ग्र० १।१४ ॥

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्ष-
मोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथात्मान-
मन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥३॥
अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः ।
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः ॥
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं,
स्वस्ति वः पराय तमसः परस्तात् ॥४॥
मुण्डक० २।२।५-६ ॥

बल से आहरण=निरोध वह प्रत्याहार कहलाता है ॥ २ ॥ जिस को देखता है उस सब को समाहित = एकाग्र चित्त वाला हो कर, ब्रह्म स्वरूप देखता हुआ समाहित होता है, यह ब्रह्म वेताओं से प्रथम कथित प्रत्याहार होता है ॥ ३ ॥ जो २ शुद्ध वा अशुद्ध कर्म करता है, सो सब ब्रह्म ही के लिये करे, वह प्रत्याहार कहा जाता है ॥ ४ ॥ पाँचवाँ प्रत्याहारप्रकरण समाप्त ॥

अथ धारणा—चित का देशविशेष में बन्धन=स्थापन, पहली धारणा कही गई है, दूसरी वह धारणा शुद्ध ब्रह्म में बन्धन=स्थापन रूप है, सो सदा उत्तम धारणा है ॥१॥ पूर्व=प्रथम नाभि में और फिर हृदय कमल में, फिर तीसरा = वक्षः स्थान में, कण्ठ में, मुख में, नासिकाग्र में, नेत्र में, भ्रूमध्य में, शिर में, कुछ शिर से ऊपर स्थान में, परम धारणा कही गई है ॥ २ ॥ छठवाँ धारणाप्रकरण समाप्त ॥

अथ ध्यान—धारणा के देश में ही एक ध्येय विषय में जो एक आकार वाली ज्ञान की सन्तति =(प्रवाह) होती है, वह ध्यान इस शब्द से कही जाती है ॥ १ ॥ स्वदेह=अपने हृदय को नीचे की अरणि=काष्ठ तुल्य करके और प्रणव=ओंकार को उत्तर=ऊपर की अरणि तुल्य करके ध्यान= प्रणवद्वारा ब्रह्म चिन्तन रूप मथन के निरन्तर अभ्यास से निगूढ=गुप्त अग्नि तुल्य देव = आत्मा को साक्षात् करे ॥ २ ॥ जिस अक्षर = अविनाशी आत्मा में द्यौ = स्वर्ग-आकाश, पृथिवी, अन्तरिक्ष, ओत =समर्पित-प्रोत हैं, सब प्राण इन्द्रिय सहित मन जिस में ओत है, तिसी एक आत्मा को जानो, और उस को अन्य = अनात्म बोधक वचनों को त्यागो, क्योंकि अमृत = मोक्ष का सेतु = प्रापक यह आत्मबोध ही है, अन्य नहीं ॥ ३ ॥ रथ के नाभि में अरा के समान जिस हृदय में नाडी सब संहत = मिलित हैं, उस हृदय के अन्दर सो यह आत्मा मनोवृत्ति रूप उपाधि से बहुत प्रकार से उत्पन्न के समान होकर चरता रहता है, उस आत्मा को ओंकारालम्बन द्वारा ध्यान करो, इस प्रकार तुम्हें पराय=परतत्त्व की

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥५॥
कठोप० २।२।१२ ॥

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम् ।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ध्येयं सर्वमुमुक्षुभिः ॥६॥
ध्यानबिन्दूपनिष० ॥

ध्यानमात्मस्वरूपस्य वेदनं मनसः खलु ।
एकं ज्योतिर्मयं शुद्धं सर्वगं व्योमगं दृढम् ॥७॥
अनन्तमचलं नित्यमादिमध्यान्तवर्जितम् ।
ब्रह्म ब्रह्ममयोऽहं स्यामिति यद्वेदनं भवेत् ॥
तदेतन्निर्गुणं ध्यानं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ॥८॥
अहमेव परं ब्रह्म परमात्मानमव्ययम् ।
एवं यद्वेदनं तच्च सगुणं ध्यानमुच्यते ॥९॥

एवं ध्यानामृतं कुर्वन् षण्मासान्मृत्युजिद् भवेत् ।
वत्सरान्मुक्त एव स्याज्जीवन्नेव न संशयः ॥१०॥
योगयाज्ञवल्क्यसं० अ० ९ ॥

अथ योगं प्रवक्ष्यामि भुक्तिमुक्तिकरं परम् ।
ध्यायिभिः प्रोच्यते ध्येयो ध्यानेन हरिरीश्वरः ।११
तच्छृणुष्व महेशान ! सर्वपापविनाशनम् ।
विष्णुः सर्वेश्वरोऽनन्तः षड्भिर्भूपरिवर्जितः ॥१२॥
वासुदेवो जगन्नाथो ब्रह्मात्माऽस्म्यहमेव हि ।
देहि देहस्थितो नित्यः सर्वदेहविवर्जितः ॥१३॥
देहधर्मविहीनश्च क्षराक्षरविवर्जितः ।
षड्विधेषु स्थितो द्रष्टा श्रोता घ्राता ह्यतीन्द्रियः ।१४
तद्धर्मरहितः स्रष्टा नामगोत्रविवर्जितः ।
मन्ता मनःस्थितो देवो मनसा परिवर्जितः ॥१५॥

प्राप्ति के लिये स्वस्ति=कल्याण हो। इस उपदेश से परस्ताद्=आगे स्वस्ति हो ॥ ४ ॥ अध्यात्म योग= निदिध्यासन-आत्मध्यान रूप योग के अधिगम=लाभ-प्राप्ति से धीर = बुद्धिमान् पुरुष हर्ष, शोक को त्यागता है ॥ ५ ॥ बहुत योजन=चतुष्कोशी, सम्बन्ध वाला, विस्तीर्ण पहाड़ तुल्य पाप भी यदि हो, तो ध्यान योग से भिन्न=नष्ट होता है, उस पाप का भेदन 'अन्य'=ध्यान से अन्य कभी नहीं हो सकता है, इस लिये सब मुमुक्षुओं से ओम् यह एक अक्षर रूप ब्रह्म=ब्रह्म वाचक शब्द अर्थ सहित ध्येय=ध्यान के योग्य है ॥६॥ ध्यान ही आत्म स्वरूप का और मन का वेदन=ज्ञानरूप ज्ञान का साधन है, और एक प्रकाशमय शुद्ध, सर्वगत, व्योमगत, दृढ अविनाशी देशकालादि कृत अन्त रहित, अचल, नित्य, आदि मध्य अन्त रहित, निर्गुण ब्रह्म है, और मैं ब्रह्ममय हूँ, ऐसा जो ज्ञान होता है, चिन्तन होता है, सो यह निर्गुण ध्यान है, इसको ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म जानते हैं, ब्रह्मप्राप्ति का साधन जानते हैं ॥ ७-८ ॥ 'मैं ही पर ब्रह्म हूँ' इस प्रकार जो अव्यय परमात्मा=ईश्वर को अपने से अभिन्न चिन्तन करना वह सगुण ध्यान कहलाता है ॥ ९ ॥ इस प्रकार ध्यान रूप अमृत का अभ्यास करता हुआ छः मास में मृत्यु को जीतने वाला होता है, एक वर्ष में जीवन्मुक्त ही होता है, इसमें संशय नहीं है ॥१०॥ अब भोग और मोक्ष को करनेवाले परमयोग को कहूँगा। ध्यान द्वारा ध्येय=चिन्तन योग्य ईश्वर रूप हरि, ध्यान करने वालों से कहे जाते हैं ॥ ११ ॥ हे महेशान != शिव ! सब पापों के विनाशक उस ध्यान को सुनो, सब का ईश्वर अनन्त=नाशादि रहित छः प्रकार के विकार रूप जन्मादि से षडूर्मियों से रहित, भूमि के सम्बन्ध से रहित, जगत् का स्वामी विष्णु, वासुदेव, ब्रह्मात्मा मैं ही हूँ, देहियों के देह में स्थिर होने पर भी मैं नित्य हूँ, देह के नाशादि से मेरे नाशादि नहीं होते हैं, क्योंकि वस्तुतः मैं सब देहों से रहित हूँ ॥ १२-१३ ॥ देह के धर्मों से रहित, क्षराक्षर=कार्य-कारण रहित, मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियों में स्थिर होकर, द्रष्टा, श्रोता, घ्राता=गन्धज्ञाता आदि होता हुआ भी अतीन्द्रिय=इन्द्रियों का अविषय हूँ ॥ १४ ॥ इन्द्रियों के धर्मों से रहित होता हुआ भी स्रष्टा, सृष्टिकर्ता

मनोधर्मविहीनश्च विज्ञानं ज्ञानमेव च ।
बोद्धा बुद्धिस्थितः साक्षी सर्वज्ञो बुद्धिवर्जितः १६
बुद्धिधर्मविहीनश्च सर्वः सर्वगतो मनः ।
सर्वप्राणिविनिर्मुक्तः प्राणधर्मविवर्जितः ॥१७॥
प्राणप्राणो महाशान्तो भयेन परिवर्जितः ।
अहङ्कारादिहीनश्च तद्धर्मपरिवर्जितः ॥१८॥
तत्साक्षी तन्नियन्ता च परमानन्दरूपकः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिस्थस्तत्साक्षी तद्विवर्जितः ॥१९॥
तुरीयः परमो धाता दृग्रूपो गुणवर्जितः ।
मुक्तो बद्धोऽजरो व्यापी सत्यमात्माऽस्म्यहं शिवः२०
एवं ये मानवा विज्ञा ध्यायन्तीशं परं पदम् ।
प्राप्नुयुस्ते च तद्रूपं नात्र कार्या विचारणा॥२१॥
इति ध्यानं समाख्यातं तव शङ्कर ! सुव्रत ! ।
पठेद्य एतत्सततं विष्णुलोकं स गच्छति ॥२२॥

गरुडपु० खं० १।१४॥ हरेरुक्तिः शिवं प्रति॥

कर्मयज्ञसहस्रेभ्यस्तपो यज्ञो विशिष्यते ।
तपोयज्ञसहस्रेभ्यो जपो यज्ञो विशिष्यते ॥२३॥
जपयज्ञसहस्रेभ्यो ध्यानयज्ञो विशिष्यते ।
ध्यानयज्ञात्परो नास्ति ध्यानं ज्ञानस्य साधनम् २४

लिङ्गपु० पूर्वार्द्ध० अ० ७५। १३-१४॥

योग आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे ।
अत्यन्तोपरतिर्यत्र दुःखस्य च सुखस्य च ॥२५॥

श्रीमद्भा० स्क० ३।२५।१३ ॥

अश्वमेधसहस्राणि राजसूयशतानि च ।
ध्यानयोगस्य सर्वाणि कलां नार्हन्ति षोडशीम् २६

महाभा० शान्तिप० अ० ३२३।९ ॥

अकारं पुरुषं विश्वमुकारे प्रविलापयेत् ।
उकारं तैजसं सूक्ष्मं मकारे प्रविलापयेत् ॥२७॥
मकारं कारणं प्राज्ञं चिदात्मनि विलापयेत् ।
चिदात्माहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसदद्वयः ॥२८॥

नामगोत्र रहित, मन्ता = मनन कर्ता मन में स्थिर, देव रूप और वस्तुतः मन से रहित हूँ ॥ १५ ॥ मन के धर्मों से रहित, ज्ञान विज्ञान रूप बोद्धा = ज्ञाता, बुद्धि में स्थिर, साक्षी, सर्वज्ञ, बुद्धि रहित हूँ ॥ १६ ॥ बुद्धि के धर्मों से रहित, सर्व स्वरूप, सर्वगत मन स्वरूप, सब प्राणियों से रहित , प्राणों के धर्म से रहित हूँ ॥ १७ ॥ प्राणों का प्राण = सत्ताप्रद, महाशान्त, भय से सर्वथा रहित, और अहङ्कारादि से रहित, और अहङ्कारादि के धर्मों से रहित हूँ ॥ १८ ॥ अहङ्कारादि का साक्षी = प्रकाशक और उनका नियन्ता = नेता परमानन्द रूप, जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति में स्थिर, जाग्रदादि का साक्षी और जाग्रदादि से रहित हूँ ॥ १९ ॥ तुरीय = तीन अवस्थाओं से पर और परम धाता = धारण पोषण कर्ता दृग् = ज्ञान रूप, गुण से रहित, मुक्त, बद्ध, अजर = जरा रहित व्यापक सत्यात्मा शिव हूँ ॥ २० ॥ जो विज्ञ = विवेकी मनुष्य इस प्रकार परमपद = वस्तु स्वरूप ईश्वर का ध्यान करते हैं, सो ईश्वर स्वरूप को प्राप्त करते हैं, इसमें विचारणा कर्तव्य नहीं है, यह निश्चित बात है ॥ २१ ॥ हे शंकर ! हे सुव्रत ! तुम्हें यह ध्यान कहा, जो इसको सदा पढ़ेगा, सो विष्णु लोक में जायगा ॥२२॥ हजारों कर्म यज्ञों से एक तप यज्ञ श्रेष्ठ होता है, हजारों तप यज्ञों से एक जप यज्ञ श्रेष्ठ होता है, हजारों जप यज्ञों से एक ध्यान यज्ञ श्रेष्ठ है, ध्यान यज्ञ से कोई उत्तम नहीं है, क्योंकि ध्यान ज्ञान का साधन है ॥ २३-२४ ॥ आध्यात्मिक = आत्मनिष्ठ ध्यानादि योग मुझे पुरुषों के निःश्रेयस के लिये सम्मत है, कि जिस योग में सुख और दुःख की अत्यन्त उपरति = निवृत्ति होती है ॥ २५ ॥ हजारों अश्वमेध और सैकड़ों राजसूय ध्यान योग के सोलहवें अंश के योग्य नहीं होते हैं ॥ २६ ॥ ओंकार के अकार मात्र रूप विश्व विराट् को तैजस हिरण्य गर्भ रूप उकार में लय का चिन्तन = ध्यान करे, और उस सूक्ष्म तैजस रूप उकार का प्राज्ञ ईश्वर से अभिन्न मकार में विलय का चिन्तन करे, कारण प्राज्ञरूप मकार को चिदात्मा में विलय करे, फिर चिन्तन करे, कि वह सब के लय का आधार, नित्य शुद्ध मुक्त सत् अद्वय

परमानन्दसन्दोहवासुदेवोऽहमोमिति ॥२९॥

पञ्चीकरणवार्त्ति० ॥

ओमित्येतदक्षरमादौ प्रयुक्तं ध्यानं ध्यायितव्यम्॥
क्षणमेकं क्रतुशतस्यापि ॥३०॥ अथर्वशिखोपनिष०॥

सकारश्च हकारश्च लोपयित्वा प्रयोजयेत् ।
सन्धिं च पूर्वरूपोत्थं ततोऽसौ प्रणवो भवेत्॥३१॥

ध्येये सक्तं मनो यस्य ध्येयमेवानुपश्यति ।
नान्यं पदार्थं जानाति ध्यानमेतत्प्रकीर्त्तितम्॥३२॥

गरुडपु० आदिकां० अ० २३४।३० ॥

इति सप्तमं ध्यानप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ राजयोगः ॥ ८ ॥

त्रिपञ्चाङ्गान्यथो वक्ष्ये पूर्वोक्तस्य हि लब्धये ।
तैश्च सर्वैः सदा कार्यं निदिध्यासनमेव तु ॥१॥

नित्याभ्यासादृते प्राप्तिर्न भवेत्सच्चिदात्मनः ।
तस्माद्ब्रह्मनिदिध्यासेज्जिज्ञासुः श्रेयसे चिरम् ॥२॥

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालता ।
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः ॥३॥

प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा ।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात्॥४॥

सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥५॥

सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः ।
नियमो हि परानन्दो नियमात् क्रियते बुधैः ॥६॥

त्यागः प्रपञ्चरूपस्य चिदात्मत्वावलोकनात् ।
त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षमयो यतः॥७॥

यस्माद्वाचो निवर्त्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह ।
यन्मौनं योगिभिर्गम्यं तद्भवेत्सर्वदा बुधः ॥८॥

वाचो यस्मान्निवर्त्तन्ते तद्वक्तुं केन शक्यते ?।

परमानन्द का सन्दोह = समूह वासुदेव मैं हूँ, चिदात्मा मैं हूँ, 'ओम्' इस शब्द का वाच्य लक्ष्य मैं ही हूँ ॥ २७-२९ ॥ सब से आदि में प्रयुक्त उच्चारित 'ओम्' यह अक्षर ध्यान का विषय रूप है, इससे ध्यान करने योग्य है, उस का एक क्षणमात्र का ध्यान सौ क्रतुओं के फल को देता है, इत्यादि ॥३०॥ 'सोऽहम्' के सकार और हकार का लोप=अभाव करके प्रयोग करे, तो सो अहम् यहाँ पूर्व रूप से उत्पन्न सन्धि करने पर प्रणव= ओम् होता है, इससे जीव ब्रह्म के अभेद का बोधक होता है ॥३१॥ जिस का ध्येय में आसक्त मन ध्येय को ही देखता है, अन्य पदार्थ को नहीं जानता है,उसका यही ध्यान कहा गया है॥३२॥ सातवाँ ध्यानप्रकरण समाप्त॥

अथ राजयोग—पूर्वोक्त = प्रथम वर्णित स्वरूप स्थिति रूप मोक्ष की सिद्धि के लिये अब त्रिवारावृत्तपञ्च=पञ्चदश पन्द्रह अङ्गों को अधिकारी विशेष के लिये कहूँगा, तिन सबों के द्वारा निदिध्यासन =ध्यान ही कर्तव्य है ॥ १ ॥ नित्य अभ्यास के विना सत्य चेतनात्मा की प्राप्ति=(अनुभव) नहीं होती है, तिस से जिज्ञासु पुरुष श्रेयः के लिये चिरकाल तक ब्रह्म का ध्यान करे ॥ २ ॥ यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृक् स्थिति, प्राणसंयमन, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान, समाधि, ये क्रम से अङ्ग कहे गये हैं ॥ ३-४ ॥ सब संसार बाध दृष्टि से ब्रह्म है, इस विज्ञान से जो इन्द्रिय समूह का संयम=विषयों से निवारण, यह यम कहा गया है, सो वारंवार अभ्यास के योग्य है ॥ ५ ॥ ब्रह्माकार वृत्ति के सजातीय का प्रवाह होना, और विजातीय जगदाकारवृत्ति का तिरस्कार =अनादर यह नियम है, सो पर आनन्द रूप है, पण्डितों से नियम से किया जाता है ॥ ६ ॥ चिदात्म =चेतनात्मस्वरूपता के अवलोकन चिन्तन से नाम रूपात्मक प्रपञ्चरूप=प्रपञ्चज्ञान का त्याग ही त्याग है, सो महात्माओं द्वारा पूज्य है, क्यों कि वह शीघ्र मोक्षमय है ॥७॥ मन सहित वचन जिस को नहीं पा कर, जिस से वाक् = वचन सब निवृत्त होते हैं, और जो मौन = कहने के अयोग्य है, सो ब्रह्म ज्ञानयोगियों से प्राप्त करने योग्य है, ज्ञानी उस ब्रह्म रूप ही सदा स्थिर हो ॥८॥ शब्द शक्ति का अविषय होने से जिस ब्रह्म से

प्रपञ्चो यदि वक्तव्यः सोऽपि शब्दविवर्जितः ॥९॥
इति वा तद् भवेन्मौनं सतां सहजसञ्ज्ञितम् ।
गिरा मौनं तु बालानां प्रयुक्तं ब्रह्मवादिभिः ॥१०॥
आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्न विद्यते ।
येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः ॥११॥
कलनात्सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां निमेषतः ।
कालशब्देन निर्दिष्टो ह्यखण्डानन्द अद्वयः ॥१२॥
सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम् ।
आसनं तद्विजानीयान्नेतरत्सुखनाशनम् ॥१३॥
सिद्धं यत्सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमव्ययम् ।
यस्मिन् सिद्धाः समाविष्टास्तद्वै सिद्धासनं विदुः१४
यन्मूलं सर्वभूतानां यन्मूलं चित्तबन्धनम् ।
मूलबन्धः सदा सेव्यो योग्योऽसौ राजयोगिनाम्१५
अङ्गानां समता विद्यात्समे ब्रह्मणि लीयते ।
नो चेन्नैव समानत्वमृजुत्वं शुष्कवृक्षवत् ॥१६॥
दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत् ।
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी ॥१७॥
दृष्टिदर्शनदृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत् ।
दृष्टिस्तत्रैव कर्तव्या न नासाग्रावलोकिनी ॥१८॥
चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात् ।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ॥१९॥
निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरणः ।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरीरितः ॥२०॥
ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः ।
अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां घ्राणपीडनम् ॥२१॥

वचन निवृत्त होते हैं, वह किस से कहने के योग्य है ? यदि प्रपञ्च कहने के योग्य हो तो वह भी अनिर्वचनीय होने से शब्द से रहित है ॥ ९ ॥ इस प्रकार के वाद का त्याग रूप मौन, सहज, स्थिति नाम वाला, सत्पुरुषों का होता है, वाणी द्वारा मोन तो अज्ञों के लिये ब्रह्मवादियों से कहा गया है ॥ १० ॥ जिस में आदि, अन्त, मध्य में सत्य जन नहीं है, और जिस से यह जगत् सदा व्याप्त है, वही विजन=निर्जन देश कहा गया है ॥ ११ ॥ निमेष से आरम्भ कर के ब्रह्मादि सर्व भूतों का कलन=सर्गादि का आधार होने से अखण्डानन्द रूप अद्वैतात्मा काल शब्द से कहा गया है ॥ १२ ॥ जिस सुख स्वरूप ब्रह्म में कर्तव्याकर्तव्यादि का चिन्तन=(चिन्ता) नहीं होता है, उस अजस्र=निरन्तर सदा स्थायी ब्रह्म को आसन जाने, सुख के नाशक अन्य को नहीं ॥ १३ ॥ जो सब भूतों का आदि रूप संसार का अधिष्ठान, द्वैत रहित है, और जिस में सिद्ध लोग समाविष्ट=लीन हो गये हैं, उस को सिद्धासन जानते हैं ॥ १४ ॥ आकाशादि सब भूतों का जो मूल=आदि कारण है, और जो चित्त के बन्धन=निग्रह का मूल है, ज्ञान ब्रह्म प्राप्ति का निमित्त है, वा जिस के आश्रित माया से चित्त का संसार में बन्धन होता है, सो ब्रह्म रूप मूल बन्ध सदा सेवनीय है, व्यवहार में भी अविक्षिप्त चित्त वाले राजयोगियों से वह सदा सेव्य है, और उन को ही यह योग्य मूल बन्ध है ॥ १५ ॥ विषम स्वभाव वाले अङ्गों की समता का अधिष्ठान दृष्टि से तब जाने, कि जब अङ्ग की विषमता सम ब्रह्म में लीन हो जाय, यदि अङ्गों की विषमता नहीं लीन हो, तो शुष्क=सूखे वृक्ष के समान अङ्गों के ऋजुत्व=अवक्रत्व को समता नहीं जाने ॥ १६ ॥ ज्ञानमयी दृष्टि कर के ब्रह्ममय जगत् को देखे, वह दृष्टि परम उदार महती है, नासिका के अग्रभाग को देखने वाली नहीं ॥ १७ ॥ अथवा दृष्टि दर्शन दृश्यादि सब त्रिपुटी का जिस में विराम = लय होता है, उसी में दृष्टि=मनोवृत्ति कर्तव्य है, नासाग्रावलोकिनी नहीं ॥ १८ ॥ चित्तादि रूप सब पदार्थों में ब्रह्मरूपता से ही भावना = ध्यानादि करने से जो सब वृत्तिओं का निरोध होता है, सो प्राणायाम कहलाता है ॥ १९ ॥ प्रपञ्च का निषेध=मिथ्यात्वचिन्तनादि रेचक नामक प्राणायाम है, मैं ब्रह्म ही हूँ, ऐसी जो वृत्ति सो पूरक वायु कही गई है ॥ २० ॥ उस के बाद

विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चिति मज्जनम् ।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः ॥२२॥

यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात् ।
मनसो धारणं चैव धारणा सा परा मता ॥२३॥

ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः ।
ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी ॥२४॥

निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः ।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिर्ज्ञानसञ्ज्ञकः ॥२५॥

इमं चाकृत्रिमानन्दं तावत्साधु समभ्यसेत् ।
वश्यो यावत्क्षणात्पुंसः प्रयुक्तः सन् भवेत्स्वयम् २६

ततः साधननिर्मुक्तः सिद्धो भवति योगिराट् ।
तत्स्वरूपं न चैतस्य विषयो मनसो गिराम् ॥२७॥

समाधौ क्रियमाणे तु विघ्नान्यायान्ति वै बलात् ।
अनुसन्धानराहित्यमालस्यं भोगलालसम् ॥२८॥

लयस्तमश्च विक्षेपो रसास्वादश्च शून्यता ।
एवं यद्विघ्नबाहुल्यं त्याज्यं ब्रह्मविदा शनैः ॥२९॥

भाववृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता ।
ब्रह्मवृत्त्या हि पूर्णत्वं तथा पूर्णत्वमभ्यसेत् ॥३०॥

ये हि वृत्तिं जहत्येनां ब्रह्माख्यां पावनीं पराम् ।
ते तु वृथैव जीवन्ति पशुभिश्च समा नराः ॥३१॥

ये हि वृत्तिं विजानन्ति ज्ञात्वापि वर्द्धयन्ति ये ।
ते वै सत्पुरुषा धन्या वन्द्यास्ते भुवनत्रये ॥३२॥

येषां वृत्तिः समावृद्धा परिपक्वा च सा पुनः ।
ते वै सद्ब्रह्मतां प्राप्ता नेतरे शब्दवादिनः ॥३३॥

उस ब्रह्माकार वृत्ति की निश्चलता कुम्भक प्राणायाम है, परन्तु यह सब प्रबुद्ध = अपरोक्षात्मज्ञों के लिए है, अज्ञों के लिये घ्राणपीडन रूप है ॥ २१ ॥ घटादि शब्दादि विषयों में सत्ता आदिरूप रूप से आत्मरूपता को देख कर जो मन का उस चित् स्वरूप में मज्जन = स्थिति, उसे प्रत्याहार समझना चाहिये, और वह मुमुक्षुओं से अभ्यास के योग्य है ॥ २२ ॥ जहाँ २ जिस २ पदार्थ में मन जाता है, तहाँ २ सत्ता आदि रूप से ब्रह्म के ज्ञान से जो मन का ब्रह्म में धारण = स्थिति करण सो परा धारणा मानी गई है ॥ २३ ॥ मैं ब्रह्म ही हूँ, ऐसी जो सद्वृत्ति = बाधरहित ज्ञान उससे निरालम्ब = देहादि के अभिमान चिन्तनादि-रहित रूप से जो स्थिति, सो ध्यान शब्द से विख्यात है, और परमानन्द को देने वाली है ॥ २४ ॥ निर्विकारता = विषय वृत्ति रहितता, फिर ब्रह्माकारता रूप अन्तःकरण की वृत्ति से सम्यग् अन्य वृत्तियों का विस्मरण ज्ञान नामक समाधि है ॥ २५ ॥ 'अकृत्रिमानन्द' = स्वरूपानन्द का व्यञ्जक इस ध्यान समाधि को तब तक साधु = सुन्दर अभ्यास करे, कि जब तब प्रयुक्त = आचरित हुई यह समाधि पुरुषों को स्वयं क्षण में वश्य = अधीन हो ॥ २६ ॥ तिस के बाद सब साधनों से निर्मुक्त = रहित सिद्ध योगिराज होता है, वह इस योगी का ब्रह्म स्वरूप मन वाणी का विषय नहीं रहता है ॥ २७ ॥ समाधि करने पर बल से विघ्न आते हैं, अनुसन्धान = चिन्तन रहितता, आलस्य, भोग की उत्कट इच्छा, लय=निद्रा, तम=अविवेक, विक्षेप = विषय स्फुरण, रसास्वाद = आनन्दानुभव, शून्यता, इस प्रकार जो विघ्न की बहुलता है, सो ब्रह्मज्ञानी से धीरे २ त्यागार्ह है ॥ २८-२९ ॥ घटादि भाव वस्तु की वृत्ति से भावमयत्व होता है, और शून्य = अभाव वृत्ति से शून्यमयत्व होता है, इसी प्रकार ब्रह्माकारवृत्ति से पूर्णत्व होता है, तिससे पूर्णत्व का अभ्यास करे ॥ ३० ॥ जो लोग परम पावनी ब्रह्मनामवाली इस वृत्ति को त्यागते हैं वे पशुतुल्य मनुष्य व्यर्थ ही जीते हैं ॥ ३१ ॥ जो इस वृत्ति को जानते हैं, और जो जान कर इसे बढाते हैं, वे सत्पुरुष धन्य हैं, और तीनों लोक में वन्दनार्ह हैं ॥ ३२ ॥ जिन की ब्रह्मवृत्ति सम्यग् बढ़ी है और वह परिपक्व = दृढ हो गई है, वे लोग सद् ब्रह्मरूपता को प्राप्त हुए हैं, अन्य शब्दवादी नहीं ॥ ३३ ॥

कुशला ब्रह्मवार्त्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः ।
तेप्यज्ञानितया नूनं पुनरायान्ति यान्ति च ॥३४॥
निमेषार्द्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना ।
यथा तिष्ठन्ति ब्रह्माद्याः सनकाद्याः शुकादयः॥३५॥
कार्ये कारणताऽऽयाता कारणे न हि कार्यता ।
कारणत्वं ततो गच्छेत्कार्याभावे विचारतः ॥३६॥
अथ शुद्धं भवेद्वस्तु यद्वै वाचामगोचरम् ।
द्रष्टव्यं मृद्घटेनैव द्रष्टान्तेन पुनः पुनः ॥३७॥
अनेनैव प्रकारेण वृत्ति र्ब्रह्मात्मिका भवेत् ।
उदेति शुद्धचित्तानां वृत्तिज्ञानं ततः परम् ॥३८॥
कारणं व्यतिरेकेण पुमानादौ विलोकयेत् ।
अन्वयेन पुनस्तद्धि कार्ये नित्यं प्रपश्यति ॥३९॥
कार्ये हि कारणं पश्येत्पश्चात्कार्यं विसर्जयेत् ।
कारणत्वं ततो गच्छेदवशिष्टं भवेन्मुनिः ॥४०॥
भावितं तीव्रवेगेन यद्वस्तु निश्चयात्मना ।
पुमांस्तद्धि भवेच्छीघ्रं ज्ञेयं भ्रमरकीटवत् ॥४१॥
अदृश्यं भावरूपं च सर्वमेव चिदात्मकम् ।
सावधानतया नित्यं स्वात्मानं भावयेद् बुधः ॥४२॥
दृश्यं ह्यदृश्यतां नीत्वा ब्रह्माकारेण चिन्तयेत् ।
विद्वान्नित्यसुखे तिष्ठेद्धिया चिद्रसपूर्णया ॥४३॥
एभिरङ्गैः समायुक्तो राजयोग उदाहृतः ।
किञ्चित्पक्वकषायाणां हठयोगेन संयुतः ॥४४॥

जो ब्रह्म की वार्ता में कुशल=चतुर हैं, परन्तु ब्रह्मवृत्ति से रहित अत्यन्त रागी हैं, वे भी अज्ञानिता से अवश्य जन्मते मरते हैं ॥ ३४ ॥ निमेष के अर्द्ध काल तक भी ब्रह्ममयी वृत्ति के विना जैसे ब्रह्मा आदि नहीं रहते हैं, तैसे ही सनकादि और शुकादि भी नहीं रहते थे, इससे यह वृत्ति कर्त्तव्य है ॥ ३५ ॥ कार्य में कारणता=कारण सत्ता आयात=प्राप्त रहती हैं, परन्तु कारण में कार्यता नहीं प्राप्त रहती है, कार्य उपादान कारण से अनुगत व्याप्त रहता है, कारण कार्य से व्याप्त नहीं रहता है, अतः विचार से ब्रह्म में कार्य के अभाव होने पर उस ब्रह्म से कारणत्व भी चला जाता है ॥ ३६ ॥ कार्य कारण भाव के अभाव होने पर शुद्ध वस्तु होती है, जो वाणियों का अविषय है, वह शुद्ध वस्तु मृत्तिकामय घट के दृष्टान्त से बार २ द्रष्टव्य=ज्ञातव्य है ॥ ३७ ॥ इस प्रकार से ही शुद्धचित्त वालों को वृत्तिरूप ज्ञान प्रकट होता है, उसके बाद ब्रह्मात्मिका वृत्ति होती है ॥ ३८ ॥ प्रथम पुरुष कार्य से व्यतिरेक द्वारा=कार्य के बिना कारण को देखे, फिर उस कारण को कार्य में अन्वय द्वारा=कार्य में मिलित रूप से देखे तो सदा कार्य में कारण को अन्वित देखता है ॥ ३९ ॥ कार्य जगत् में प्रथम कारण ब्रह्म को सत्ता स्फूर्ति आदि रूप से देखे, फिर कार्य को व्यतिरेक दृष्टि, मिथ्या दृष्टि से त्याग दे, तिससे ब्रह्म का कारणत्व चला जायगा, फिर कारणत्वादि रहित अवशिष्ट शुद्ध ब्रह्म रूप ही मुनि स्वयं होकर "अहं ब्रह्मास्मि" ऐसा निश्चय करे ॥ ४० ॥ निश्चयात्मा=निश्चययुक्त बुद्धिवाले से, तीव्रसंवेग=उत्कट संभ्रम त्वरा निरन्तर वृत्ति द्वारा जो वस्तु सम्भावित=चिन्तित होती है, उस ज्ञेय वस्तु रूप पुरुष शीघ्र ही होता है, जैसे भ्रमर रूप कीट होता है ॥ ४१ ॥ अदृश्य=परोक्ष तथा द्रष्टा, और भाव रूप = दृश्य प्रत्यक्ष रूप यह सब जगत् भिन्न भासता हुआ भी चित्स्वरूप ही है, इस प्रकार बुद्धि से बुध = विवेकी सदा सावधानी से स्वात्मा की भावना करे ॥ ४२ ॥ दृश्य जगत् को अदृश्य अधिष्ठान कारण रूपता को बाधादि दृष्टि द्वारा प्राप्त करा कर उस कल्पित परिच्छिन्न को ब्रह्म अपरिच्छिन्न रूप से चिन्तन करे, फिर चिदानन्द से पूर्ण बुद्धि द्वारा नित्य सुख में विद्वान् स्थिर हो ॥ ४३ ॥ इन अंगों से समायुक्त राजयोग सम्यक् कहा गया है, परन्तु जिन के रागादि कषाय=दोष सम्पूर्ण नहीं निवृत्त हुए हैं, किन्तु किञ्चित् = अल्प पक्व=निवृत्त हुए हैं, कषाय जिनके, उन लोगों के लिये यह राज योग अष्टाङ्गयुक्त हठ योग से संयुक्त यह योग कहा गया है, केवल नहीं ॥ ४४ ॥

परिपक्वं मनो येषां केवलोऽयं च सिद्धिदः ।
गुरुदैवतभक्तानां सर्वेषां सुलभो जवात् ॥४५॥

अपरोक्षानुभूतौ तेजोबिन्दूपनिषदि च ॥

बुद्ध्या भयं प्रणुदति तपसा विन्दते महत् ।
गुरुशुश्रुषया ज्ञानं शान्तिं योगेन विन्दति ॥४६॥

महाभा० उद्योगप० अ० ३६।५२ ॥

इत्यष्टमं राजयोगप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ क्रियायोगः ॥ ९ ॥

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥
समाधिभावनार्थः क्लेशतनुकरणार्थश्च ॥१॥

योगदर्शनपा० २।१-२ ॥ श्रीनारदप्रश्नः —

कर्मणा केन योगस्य सिद्धिर्भवति योगिनाम् ॥२॥

श्रीसनक उवाच

ज्ञानलभ्यं परं मोक्षं प्राहुस्तत्त्वार्थचिन्तकाः ।
तज्ज्ञानं भक्तिमूलं च भक्तिः कर्मवतां तथा ॥३॥
दानानि यज्ञविविधास्तीर्थयात्रादयः कृताः ।
येन जन्मसहस्रेषु तस्य भक्ति र्भवेद्धरौ ॥४॥
अक्षयः परमो धर्मो भक्तिलेशेन जायते ।
श्रद्धया परया चैव सर्वं पापं प्रणश्यति ॥५॥
सर्वपापेषु नष्टेषु बुद्धिर्भवति निर्मला ।
सैवबुद्धिः समाख्याता ज्ञानशब्देन सूरिभिः ॥६॥
ज्ञानं च मोक्षदं प्राहुस्तज्ज्ञानं योगिनां भवेत् ।
योगस्तु द्विविधः प्रोक्तः कर्मज्ञानप्रभेदतः ॥७॥
क्रियायोगं विना नृणां ज्ञानयोगो न सिद्ध्यति ।
क्रियायोगरतस्तस्माच्छ्रद्धया हरिमर्चयेत् ॥८॥
कर्मणा मनसा वाचा परपीडापराङ्मुखः ।
तस्मात्सर्वगतं विष्णुं पूजयेद् भक्तिसंयुतः ॥९॥

जिन का मन परिपक्व=रागद्वेषादिरहित है, उन को यह केवल राज योग ही सिद्धि देने वाला = मोक्षप्रद है, और सब गुरु दैवत भक्तों को यह राज योग जवात्=अति शीघ्रता से सुलभ होता है॥४५॥ विवेकात्मज्ञान-रूप बुद्धि से द्वैतमय भेद जन्य भय को नष्ट करता है, और स्वधर्म के पालनादि रूप तप से महत् पद= तीव्र विराग विवेकादि को प्राप्त करता है, और विरागादि पूर्वक गुरु की सेवा से ज्ञान पाता है, तथा योग से शान्ति पाता है ॥ ४६ ॥ आठवाँ राजयोगप्रकरण समाप्त ॥

अथ क्रियायोग—योग के अनुकूल अविरोधी तप, प्रणवादि का जप मोक्षशास्त्र का अध्ययनरूप स्वाध्याय, सब कर्मों का ईश्वर में अर्पण रूप ईश्वर-प्रणिधान ये सब क्रिया योग है । सो क्रियायोग सदा निष्कामता पूर्वक करने से चित्त की शुद्धि आदि के द्वारा समाधि के साधन के लिये होता है, और अविद्यादि क्लेशो को तनु = शक्ति हीन करने के लिये होता है ॥ १ ॥ नारद जी का प्रश्न है, कि किस कर्म से योगियों के योग की सिद्धि होती है ? ॥ २ ॥ श्री सनक जी का उत्तर है, कि-तत्त्वार्थ के चिन्तन करने वाले, ज्ञान से प्राप्ति के योग्य उत्तम मोक्ष को कहते हैं, और वह ज्ञान भक्ति मूलक = भक्तिजन्य होता है, और भक्ति कर्म वालों को होती है ॥ ३ ॥ जिस ने हजारों जन्मों में दान अनेक प्रकार के यज्ञ तीर्थयात्रादि किये हैं, उसी की हरि में भक्ति होती है ॥ ४ ॥ भक्ति के लेशमात्र से अक्षय परम धर्म होता है, और उत्तम श्रद्धा से सब पाप नष्ट होते हैं ॥ ५ ॥ सब पापों के नष्ट होने पर बुद्धि निर्मल होती है, वह निर्मल बुद्धि ही ज्ञानशब्द द्वारा विद्वानों से कही गई है ॥ ६ ॥ और उस ज्ञान को मोक्ष प्रद कहते हैं, सो ज्ञान योगियों को होता है, और कर्मयोग ज्ञानयोग के प्रभेद से योग भी दो प्रकार का कहा गया है ॥ ७ ॥ क्रिया योग के विना मनुष्यों को ज्ञानयोग नहीं सिद्ध होता है, अतः क्रियायोग में तत्पर होकर श्रद्धा से हरि को पूजे ॥ ८ ॥ कर्म, मन, वचन द्वारा परपीड़ा से पराङ्मुख=निवृत्त होकर तिससे भक्तियुक्त होकर

अहिंसासत्यमक्रोधब्रह्मचर्यापरिग्रहाः ।
अनीर्ष्या च दया चैव योगयोरुभयोः समाः ॥१०॥
चराचरात्मकं विश्वं विष्णुरेव सनातनः ।
इति निश्चित्य मनसा योगद्वितयमभ्यसेत् ॥११॥
आत्मवत्सर्वभूतानि ये मन्यन्ते मनीषिणः ।
ते जानन्ति परं भावं देवदेवस्य चक्रिणः ॥१२॥
यदि क्रोधादिदुष्टात्मा देवपूजापरो भवेत् ।
न तस्य तुष्यते विष्णुर्यतो धर्मपतिः स्मृतः ॥१३॥
यदि कामादिदुष्टात्मा देवपूजापरो भवेत् ।
दम्भाचारः स विज्ञेयः सर्वपातकिभिः समः ॥१४॥
तपःपूजाध्यानपरो यस्त्वसूयारतो भवेत् ।
तत्तपः सा च पूजा च तद्ध्यानं च निरर्थकम् ॥१५॥
तस्मात्सर्वात्मकं विष्णुं शमादिगुणतत्परः ।
मुक्त्यर्थमर्चयेत्सम्यक् क्रियायोगपरो नरः ॥१६॥
कर्मणा मनसा वाचा सर्वलोकहिते रतः ।
समर्चयति देवेशं क्रियायोगः स उच्यते ॥१७॥
नारायणं जगद्योनिं सर्वान्तर्यामिनं हरिम् ।
स्तोत्राद्यैः स्तौति यो विष्णुं कर्मयोगी स उच्यते ।१८।
नारदीयपु० अ० ३३ ॥
नाहं कर्त्ता सर्वमेतन्मनसा कुरुते तथा ।
एतद् ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१९॥
[एतद् ब्रह्मैव मनसा सर्वं कुरुते ।] कूर्मपुराणे ॥
प्राणस्पन्दनिरोधात्सत्सङ्गाद्वासनात्यागात् ।
हरिचरणभक्तियोगान्मनः स्ववेगं जहाति शनैः ।२०
प्रबोधसुधाकरे, ७७ ॥
द्वैताद्वैतोपलम्भो हि दुःखायैव क्रियात्मने ।
निपुणोऽनुपलम्भो यस्त्वेतयोस्तत्परं विदुः ॥२१॥
योगवासिष्ठप्र० ३।८१।८६ ॥
स्वपौरुषैकसाध्येन स्वेप्सितत्यागरूपिणा ।

सर्वगत=विभु विष्णु को पूजे ॥ ९ ॥ अहिंसा, सत्यादि, कर्मयोग ज्ञानयोग दोनों में तुल्य हेतु है ॥१०॥ चराचर रूप संसार सनातन=अनादि विष्णु=ब्रह्म रूप ही है, इस प्रकार मन से निश्चय करके दोनों योगों का अभ्यास करे ॥ ११ ॥ जो विद्वान् अपने तुल्य सब प्राणियों को मानते हैं, वही देवों के देव विष्णु के परमभाव=उत्तम आत्मस्वभाव को जानते हैं ॥ १२ ॥ यदि क्रोधादि से दुष्ट मन वाला देवपूजा में तत्पर होता है, तो उसकी पूजा से विष्णु तुष्ट नहीं होते हैं, जिससे विष्णु धर्मपति कहे गये हैं ॥ १३ ॥ यदि कामादि से दुष्ट मनवाला देवपूजा परायण होता है, तो उसका वह दम्भरूप आचार=कर्म समझना चाहिये, और वह सब पातकी के तुल्य है ॥१४॥ जो कोई तप, पूजा, ध्यान परायण होता हुआ भी असूया=परगुणों के दोषारोप में रत=प्रवृत्त रहता है, तो उसका वह तप, वह पूजा, वह ध्यान, सब निरर्थक होता है ॥१५॥ अतः शमदमादि सद्गुणों में तत्पर होकर सम्यग् क्रियायोगपरायण मनुष्य सर्वस्वरूप विष्णु की पूजा मुक्ति के लिये करे ॥१६॥ कर्म, मन, वचन से सब लोकों के हित में तत्पर प्रवृत्त होकर, जो देवेश को सम्यक् पूजता है, उस की वह पूजा आदि क्रिया योग कहा जाता है ॥१७॥ सब नरों के आश्रय नारायण, जगत् के योनि=माया द्वारा जगत् का उपादान कारण, सब के अन्तर्यामी = नियन्ता विष्णु = व्यापक हरि को जो स्तोत्रादि से स्तुति करता है, सो कर्मयोगी कहा जाता है ॥१८॥ मैं कर्ता नहीं हूँ, किन्तु यह सब कर्म संसार ब्रह्म मन से करता है, यह निश्चय तत्त्वदर्शी ऋषियों से ब्रह्मार्पण कहा गया है ॥ १९ ॥ प्राण की गति का निरोध, सत्सङ्ग, वासनाओं का त्याग, हरिचरण में भक्तियोग, इन सबों से मन अपने वेग को धीरे से त्यागता है ॥ २० ॥ द्वैत और अद्वैत का जो ज्ञान, सो क्रियात्मा = कर्मासक्ति विधिनिषेधादि रूप द्वैत दुःख के ही लिये होता है, समाधि आदि से इन दोनों का जो अत्यन्त अनुपलम्भ = अप्रतीति है, उस को परं पद जानते हैं ॥ २१ ॥ अपने एक पुरुषार्थ से साध्य, अपने ईप्सित=प्राप्ति के लिये इष्ट के त्यागरूप-

मनः प्रशममात्रेण विना नास्ति शुभा गतिः॥२२॥
अनुद्वेगः श्रियो मूलमनुद्वेगात्प्रवर्त्तते ।
जन्तो र्मनो जयो येन त्रिलोकीविजयस्तृणम्॥२३॥
योगवा० प्र० ३।१११।१२-२२ ॥

इति नवमं क्रियायोगप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ नादयोगः ॥ १० ॥

तत्र नादः । चिणीति प्रथमः, चिञ्चिणीति द्वितीयः, घण्टानादस्तृतीयः, शङ्खनादश्चतुर्थः, पञ्चमस्तन्त्रीनादः, षष्ठस्तालनादः, सप्तमो वेणुनादः, अष्टमो मृदङ्गनादः, नवमो भेरीनादः, दशमो मेघनादः, नवमं परित्यज्य दशममेवाभ्यसेत् ॥ १ ॥

प्रथमे चिञ्चिणीगात्रं द्वितीये गात्रभञ्जनम् ।
तृतीये स्वेदनं याति चतुर्थे कम्पते शिरः ॥२॥
पञ्चमे स्रवते तालु षष्ठेऽमृतनिषेवनम् ।
सप्तमे गूढविज्ञानं परा वाचा तथाष्टमे ॥३॥
अदृश्यं नवमे देहं दिव्यं चक्षुस्तथाऽमलम् ।
दशमे परमं ब्रह्म भवेत् ब्रह्मात्मसन्निधौ ॥४॥
इत्यादि हंसोपनिषदि ॥

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां सन्धाय वैष्णवीम् ।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा ॥५॥
अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् ।
पक्षाद्विपक्षमखिलं जित्वा तुर्यपदं व्रजेत् ॥६॥
श्रूयते प्रथमाऽभ्यासे नादो नानाविधो महान् ।
वर्धमाने तथाभ्यासे श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मतः ॥७॥
आदौ जलधिजीमूतभेरीनिर्झरसम्भवः ।
मध्ये मर्दलशब्दाभो घण्टाकाहलजस्तथा ॥८॥
अन्ते तु किङ्किणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनः ।
इति नाना विधा नादाः श्रूयन्ते सूक्ष्मसूक्ष्मतः॥९॥

वाले मन के प्रशममात्र=मन की शान्ति मात्र के विना शुभ गति नहीं है ॥ २२ ॥ अनुद्वेग शुभ का मूल है, अनुद्वेग से प्राणियों को मन का विजय प्रवृत्त=सिद्ध होता है, कि जिससे त्रिलोकी का विजय तृण=तुच्छ-सहज हो जाता है ॥ २३ ॥ नववाँ क्रियायोगप्रकरण समाप्त ॥

अथ नादयोग—उस पुरीतत् आदि में नाद होता है, सो 'चिणी' इस प्रकार का प्रथम 'चिञ्चिणी' ऐसा द्वितीय, घण्टानाद के तुल्य तृतीय, शङ्खनाद के तुल्य चतुर्थ, तन्त्रीनाद के तुल्य पञ्चम, तालनाद के तुल्य षष्ठ, वेणुनाद के समान सप्तम, मृदङ्ग नाद के तुल्य अष्टम, भेरीनाद के तुल्य नवम, मेघनाद के तुल्य दशम नाद होता है, तहाँ नवम का त्याग करके दशम का ही अभ्यास करे ॥१॥ पहले शरीर में चिञ्चिणी शब्द के तुल्य नाद होता है, दूसरे गात्रभङ्ग के समान होता है, तृतीय में स्वेदन होता है, खेदन पाठान्तर है, उसका खिन्न तुल्य अर्थ है, चतुर्थ में शिर कांपता है, पञ्चम में तालु स्रवता है, षष्ठ में अमृत के निषेवन=पान के तुल्य होता है, सप्तम में गूढ़ वस्तुका विज्ञान होता है, अष्टम में परावाग् भासती है, नवम में देह अदृश्य होती है, नेत्र दिव्य तथा अमल होते हैं, दशम में ब्रह्मात्मा की सन्निधि में स्वरूप में प्राप्त होकर परम ब्रह्मरूप होता है ॥ २-४ ॥ वैष्णवी मुद्रा=आकार का धारण कर के सिद्धासन में स्थिर योगी दहिने कान में सदा अन्तर्गत नाद को सुने ॥ ५ ॥ अभ्यास का विषय यह नाद रूप ध्वनि बाहर की ध्वनियों को आवृत्त करता है, और एक पक्ष में सब विपक्षों=विरोधियों को जीत कर तुर्य आत्मपद में प्राप्त होता है ॥ ६ ॥ प्रथम के नादाभ्यास में नानाप्रकार का महान् नाद सुना जाता है, अभ्यास के बढ़ने पर सूक्ष्म २ सुना जाता है ॥ ७ ॥ प्रथम समुद्र, मेघ, भेरी, जल के झरने से जन्य शब्द के तुल्य नाद होता है, मध्य में मर्दलशब्दतुल्य घण्टा काहल जन्य शब्द के तुल्य होता है ॥८॥ और अन्त में किङ्किणी, वंश, वीणा और भ्रमर के शब्द के तुल्य नाद होता है इसी प्रकार से नाना प्रकार के नाद सूक्ष्म सूक्ष्मरूप से सुने जाते हैं ॥ ९ ॥

महति श्रूयमाणे तु महाभेर्यादिकध्वनौ ।
तत्र सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥१०॥
घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ।
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥११॥
यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ।
तत्र तत्र स्थिरी भूत्वा तेन सार्द्धं विलीयते॥१२॥
विस्मृत्यसकलं बाह्यं नादे दुग्धाम्बुवन्मनः ।
एकीभूयाथ सहसा चिदाकाशे विलीयते ॥१३॥
इत्यादि, नादविन्दूपनिषदि ॥ नारायणीटीकायान्तु नास्ति ।
भयं क्रोधमथालस्यमतिस्वप्नातिजागरम् ।
अत्याहारमनाहारं नित्यं योगी विवर्जयेत् ॥१४॥
अनेन विधिना सम्यङ्नित्यमभ्यस्यते क्रमात् ।
स्वयमुत्पद्यते ज्ञानं त्रिभि र्मासै र्न संशयः ॥१५॥
चतुर्भिः पश्यते देवान् पञ्चभिर्विततक्रमान्[1] ।
इच्छयाऽऽप्नोति कैवल्यं षष्ठे मासि न संशयः॥१६॥
अमृतनादोपनिषदि ॥ २८-३० ॥

न हन्यते देववरैस्तु दैत्यैः
सयक्षरक्षोरगमानुषैश्च ।
ये योगिनो ध्यानपराः सदेहा
भवन्ति ते घ्नन्ति सुखेन कालम् ॥ १७ ॥
घोषं १ कांस्यं २ तथाश्रृङ्गं ३
घण्टा ४ वीणादि ५ वंशजम् ६ ।
दुन्दुभिं ७ शङ्खशब्दं ८ तु
नवमं मेघगर्जितम् ॥ १८ ॥
नव शब्दान् परित्यज्य तुङ्कारं तु समभ्यसेत् ।
ध्यायन्नेवं सदा योगी पुण्यैः पापैर्न लिप्यते॥१९॥
शिवपु० संहि० ५।२६॥
अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ॥
न्यायदर्श० अ० ४।२।४२ ॥
नादाभ्यन्तरवर्त्ति ज्योतिर्यद्वर्त्तते हि चिरम् ।
तत्र मनो लीनं चेन्न पुनः संसारबन्धाय ॥२०॥
प्रबोधसुधाकरे १।४८ ॥
इति दशमं नादयोगप्रकरणं समाप्तम् ॥

महान् महाभेरी आदि की ध्वनि के सुन पड़ने पर उस में सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म नाद का ही परामर्श = विचार स्मरण करे ॥ १० ॥ घन=सान्द्र विस्तार को त्याग कर सूक्ष्म में वा सूक्ष्म को त्याग कर घन में रमते हुए क्षिप्त मन को भी अन्यत्र नहीं चलावे ॥ ११ ॥ जिस किसी नाद में यदि प्रथम मन लगता है, तो वहाँ २ स्थिर हो कर उसी के साथ में लीन हो जाता है ॥ १२ ॥ बाहर के सब वस्तुओं को भूल कर दूध और जल के समान नाद में एक हो कर फिर मन चिदाकाश में शीघ्र विलीन होता है ॥१३॥ भय, क्रोध, आलस्य, अतिशयन, अतिजागरण, अतिआहार और अनाहार = उपवास को योगी सदा त्यागे, इस विधि से सदा क्रम से अभ्यास अच्छी तरह से करे, तो तीन मास में स्वयं ज्ञान उत्पन्न होता है इसमें संशय नहीं है ॥१४-१५॥ चार मास के अभ्यास से देवों को देखता है, पांच मास में वितत=विस्तृत क्रम = पराक्रम शक्ति वालों को देखता है, षष्ठ मास में अपनी इच्छा से स्वतन्त्र कैवल्य = मोक्ष को पाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १६ ॥ योगी देववरों से यक्ष, राक्षस, सर्प सहित मनुष्य से नहीं मारा जाता है, जो योगी ध्यानपरायण देह सहित रहते हैं, सो सुख से काल को नष्ट करते हैं ॥ १७ ॥ घोष = गोपग्राम जन्य शब्द और कांस्यादि के नव संख्या वाले शब्दों को त्याग कर तुङ्कार शब्द का सम्यक् अभ्यास करे, इस प्रकार से सदा ध्यान करता हुआ योगी पुण्य पाप से लिप्त नहीं होता है ॥ १८-१९ ॥ जङ्गल गुफा पुलिन= द्वीप आदि में योगाभ्यास का उपदेश है ॥ नाद के अन्दर जो ज्योति है, उसमें यदि मन चिर काल तक लीन होता है, तो फिर वह मन संसार बन्धन के लिये नहीं होता है ॥२०॥ दसवाँ नादयोगप्रकरण समाप्त ॥

१. विततक्रमः । इति नारायणीटीकायां पाठः ॥

अथ नामजपयोगौ ॥ ११ ॥

भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः ।
यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ॥१॥
क्रिया इच्छा तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी ।
त्रिधा मात्रा स्थिति र्यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति॥२॥
वचसा तज्जपेन्नित्यं वपुषा तत्समभ्यसेत् ।
मनसा तज्जपेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति ॥३॥
शुचि र्वाऽप्यशुचि र्वापि यो जपेत् प्रणवं सदा।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥४॥
योगचूडामण्युपनिषदि ॥

गायत्री तद्ब्रह्मैव तदस्य सर्वस्योत्तमं करोति॥५॥
शतप० ब्रा० १४।६।२७-२॥

तेजो वै गायत्री, तमः पाप्मा रात्रिस्तेन तेजसा तमः पाप्मानं तरन्ति ॥६॥ गोपथब्रा० ५।५।४॥

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
हंस हंसेति मन्त्रोऽयं सर्वैर्जीवैश्च जप्यते ॥७॥
गुरुवाक्यात्सुषुम्नायां विपरीतो भवेज्जपः ।
सोऽहं सोऽहमिति प्रोक्तो मन्त्रयोगः स उच्यते॥८॥
योगशिखोप०। अ०१।१३०-३१॥ ना०टीकायान्तु नास्ति ॥

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥९॥
शतानि षट् दिवारात्रं सहस्राण्येकविंशतिः ।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥१०॥
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ।
अस्याः सङ्कल्पमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते ॥११॥
ध्यानबिन्दूपनिषदि श्लो०६१-६३॥ ना० टीकायां तु नास्ति ।

वरं तत्सर्वनामभ्य ॐ तत्सत्परमात्मनः ।
येषु नामत्रयेष्वेकमपि मन्त्रेषु नाम न ।
न तं मन्त्रं जपेद्यस्मात्संशयस्तत्फलादिषु ॥१२॥
श्रुतेः सारं तु गायत्री तस्या व्याहृतयस्त्रयः ।
तत्सारः प्रणवः प्रोक्तो गोदुग्धात्तु घृतं तथा ॥१३॥
वेदान्त०भाग० स० २२ ॥

अथ नामजपयोग—भूमि, अन्तरिक्ष, स्वर्ग रूप ये लोक, चन्द्र, सूर्य, अग्नि रूप देवता जिस ओंकार के मात्राओं में वसते हैं, रहते हैं, वह परंज्योति ब्रह्म=स्वरूप ओम् है ॥ १ ॥ क्रिया इच्छा और ज्ञान, और ब्राह्मी, रौद्री, वैष्णवी शक्ति, जहाँ हैं, और तीन प्रकार की मात्राओं की स्थिति, जहाँ है, वह परम ज्योति ओम् है ॥ २ ॥ वचन से उसका सदा जप करे, और देह से सदा उसका अभ्यास करे= कर्म करके ब्रह्मार्पण करे और मन से भी उस परंज्योति ओम् को जपे ॥ ३ ॥ शुचि वा अशुचि जो पुरुष सदा प्रणव को जपता है, वह जल से पद्मपत्र के समान पाप से लिप्त नहीं होता है ॥४॥ गायत्री उस ब्रह्म स्वरूप ही है, सो इन पुरुष सबों का उत्तम कार्य करती है, गायत्री तेज रूप है, पाप तम रूप रात्रिरूप है, इससे मनुष्य उस तेज के द्वारा तम रूप पाप को तरता है। पाप से मुक्त होता है ॥ ६ ॥ हकार द्वारा श्वास बाहर जाता है, और सकार द्वारा फिर भीतर पैठता है, इस प्रकार हंस २ यह मन्त्र सब जीवों से जपा जाता है ॥७॥ गुरु के वाक्यों से सुषुम्ना नाड़ी में विपरीत 'सोऽहम् सोऽहम्' यह जप होता है, यह कहा गया है, कथित ही मन्त्रयोग कहा जाता है ॥ ८ ॥ हकार से प्राण बाहर जाता है, फिर सकार से भीतर पैठता है, इस प्रकार 'हंस हंस' इस मन्त्र को जीव सदा जपता है ॥ ९ ॥ दिन रात में इक्कीश हजार छः सौ मन्त्रों को जीव सदा जपता है ॥ १० ॥ यह अजपा नाम वाली गायत्री है, योगियों को सदा मोक्ष देने वाली है, इस के सङ्कल्प मात्र से मनुष्य सब पापों से मुक्त होता है ॥ ११ ॥ परमात्मा के सब नामों से वह 'ओम् तत् सत्' नाम श्रेष्ठ है, इन तीन नामों में से एक नाम भी जिन मन्त्रों में नहीं है, उन मन्त्रों को नहीं जपे, क्यों कि उन के फलादि में संशय है ॥ १२ ॥ वेद का सार गायत्री है, और गायत्री का सार 'भू र्भुवः स्वः' ये तीन व्याहृतियाँ हैं, उन का सार, प्रणव=ओंकार गो दूध में से घृत के समान

यदोमित्यक्षरं ह्येकं कर्त्तव्यस्तज्जपोऽन्वहम् ।
तदर्थभावना कार्या प्रणवोपासना हि सा ॥१४॥
काश्यां मृतस्य जन्तोस्तु प्रणवं स्मारयाम्यहम् ।
सर्वकर्मविनिर्मुक्ता येन मुक्तिं प्रयान्ति ते ॥१५॥
वेदान्तरामाय० स० २५।४२ ॥

प्राक्कूलान् पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः ।
प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओंकारमर्हति ॥१६॥
मनुस्मृ० अ० २।७५ ॥

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥
ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाऽभावश्च॥१७॥
योगदर्श०, पा० १।२७-२८-२९ ॥

रामेति द्व्यक्षरजपः सर्वपापप्रणोदकः ।
रामेति द्व्यक्षरो मन्त्रो मन्त्रकोटिशताधिकः ॥१८॥
न रामादधिकं किञ्चित्पठनं जगतीतले ।
रामनामाश्रया ये वै न तेषां यमयातना ॥१९॥
रमते सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च ।
अन्तरात्मस्वरूपेण यच्च रामेति कथ्यते ॥२०॥
रामेति मन्त्रराजोऽयं भयव्याधिनिषूदकः ।
रणे विजयदश्चापि सर्वकार्यार्थसाधकः ॥२१॥
सहस्रनामजं पुण्यं रामनाम्नैव जायते ।
चातुर्मास्ये विशेषेण तत्पुण्यं दशधोत्तरम् ॥२२॥
रामो ह्ययं विश्वमिदं समग्रं
स्वतेजसा व्याप्य जनान्तरात्मा ।
पुनाति जन्मान्तरपातकानि
स्थूलानि सूक्ष्माणि क्षणाच्च दग्ध्वा ॥२३॥
स्कन्दपु० खं० ६।२५६ ॥

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥२४॥
अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत् ।
सङ्कीर्त्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथाऽनलः ॥२५॥
श्रीमद्भा० स्क० ६।२।१४-१८ ॥

कहा गया है ॥ १३ ॥ जो यह एक ओम् अक्षर है, उस का प्रतिदिन जप करना चाहिये, और उस के अर्थ की भावना = (चिन्तन) करनी चाहिये, यही प्रणवोपासना है ॥ १४ ॥ काशी में मरते हुए जन्तु को मैं प्रणव का स्मरण कराता हूँ, कि जिस से सब कर्मों से रहित हो कर वे जीव मुक्ति पाते हैं ॥ १५ ॥ पूर्व तरफ जिन का अग्रभाग हो, ऐसे कुशाओं के आसन पर बैठा हुआ, और कुश के पवित्रियों से पवित्र, और तीन प्राणायामों से पवित्र होने के बाद जप का अधिकारी ओंकार के उच्चारण के योग्य होता है ॥१६॥ उस ईश्वर का वाचक शब्द प्रणव है । उस का जप और उस के अर्थ की भावना करना चाहिये । तिस से प्रत्यक् चेतन = अन्तरात्मा का अधिगम = ज्ञान होता है, और योग के अन्तराय = विघ्नों का अभाव होता है ॥१७॥ 'राम' इस दो अक्षर का जप सब पापों का नाशक है, और राम यह दो अक्षर वाला मन्त्र मन्त्रों के कोटि सौ से अधिक है ॥ १८ ॥ जगतीतल = भूमि में राम से अधिक कुछ पढ़ना नहीं है, जो रामनाम के आश्रित हैं, उन को यमयातना नहीं होती है ॥ १९ ॥ जो ब्रह्म सर्वभूतों में स्थावर और चर में अन्तरात्मा स्वरूप से रमता = रहता है, सो राम इस शब्द से कहा जाता है ॥ २० ॥ राम यह मन्त्रराज भय और रोग का नाशक है, रण = युद्ध में विजय देने वाला है, और सब कार्यों तथा अर्थ = धन का साधक = हेतु है ॥२१॥ सहस्र नाम जप जन्य पुण्य रामनाम से ही होता है, चातुर्मासे में वह पुण्य दस प्रकार अधिक विशेष रूप से होता है ॥ २२ ॥ सब जनों का अन्तरात्मा रूप यह राम इस समग्र संसार को अपने तेज से व्याप्त करके स्थिर है, सो भजन से जन्मान्तर के स्थूल सूक्ष्म सब पापों को जलाकर पवित्र करता है ॥२३॥ पुत्रादि में संकेतित, परिहार से किया गया, गीत के आलाप की पूर्त्ति के लिये किया गया, हेलन = अनादर से उच्चारित विष्णु के नाम ग्रहण को सब पापों का विनाशक जानते हैं ॥२४॥ अज्ञान अथवा

एतावताऽलमघनिर्हरणाय पुंसां,
सङ्कीर्त्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम् ।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि,
नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम् ॥२६॥

श्रीमद्भा० स्क० ६।३।२४ ॥

शिवेति शब्दमुच्चार्य प्राणांस्त्यजति यो नरः ।
कोटिजन्मार्जितात्पापान्मुक्तो मुक्तिं प्रयाति सः ।२७

पापघ्ने वर्त्तते शिश्च वश्च मुक्तिप्रदे तथा ।
पापघ्नो मोक्षदो नृणां शिवस्तेन प्रकीर्त्तितः॥२८॥

ब्रह्मवैवर्त्तपु० ब्रह्मखं० अ० ६ ॥

तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम् ।
येनोंनमः शिवायेति मन्त्राभ्यासः स्थिरीकृतः॥२९॥

स्कन्दपु० खं० ५-३। अ० १२६।१२ ॥

रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दचिदात्मनि ।
तेन रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥३०॥

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे ।
सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने ! ॥३१॥

पद्मपु० खं० ६। अ० २५५ ॥

[1]नमो रामायेति विप्रेन्द्र ! मन्त्रमोङ्कारपूर्वकम् ।
षडक्षरं जपेद्यस्तु सायुज्यं प्राप्यते हरेः ॥३२॥

रामेति नाम यात्रायां ये स्मरन्ति मनीषिणः ।
सर्वसिद्धिर्भवेत्तेषां यात्रायां नात्र संशयः ॥३३॥

पद्मपु० खं० ७ अ० १५ ॥

रकारोऽनलबीजं स्याद् ये सर्वे वाडवादयः ।
कृत्वा मनो मलं सर्वं कर्म भस्म शुभाशुभम्॥३४॥

ज्ञान से उत्तम यशवाले हरि का जो नाम संकीर्तित = उच्चारित होता है, सो पुरुषों के पापों को इस प्रकार जलाता है, कि जैसे अज्ञान वा ज्ञान से काष्ठ में दी हुई अग्नि काष्ठ को जलाती है ॥ २५ ॥ भगवान् के गुण कर्म और नामों का जो सम्यक् कीर्तन, इतना ही पुरुषों के अघनिर्हरण = पापमात्र के क्षय के लिये पूर्ण है, क्योंकि पापी अजामिल भी मरता हुआ पुत्र का नारायण ऐसा नाम पुकार कर पाप से मुक्ति पाया, इससे वासनादि की निवृत्ति के लिये सम्यक् कीर्तन करना चाहिये पाप से तो किसी प्रकार नामोच्चारण द्वारा मुक्त होता है ॥ २६ ॥ शिव इस शब्द के उच्चारण करके जो मनुष्य प्राण को त्यागता है, सो कोटि जन्म में उपार्जित पाप से मुक्त हो कर मुक्ति पाता है ॥ २७ ॥ शिव शब्द में 'शि' मात्र पापनाशक अर्थ में है, और 'व' मुक्तिप्रद अर्थ में है, इससे पापनाशक मोक्षदाता मनुष्यों का है, तिससे शिव कहा गया है ॥ २८ ॥ उस पुरुषने पढ़ा और सुना और सब अनुष्ठान कर्म किया, कि जिस ने ' ओं नमः शिवाय" इस मन्त्र के अभ्यास को स्थिर कर लिया ॥ २९ ॥ जिस सत्य आनन्द चेतन आत्मा में योगी लोग रमते हैं = आनन्द क्रीडा करते हैं, वह पर ब्रह्म उसी से रामपद से कहा जाता है ॥ ३० ॥ हे मनोरमे ! हे वरानने ! राम रामेति राम इति = इस प्रकार मैं राम मे रमता हूँ, सहस्र नाम उस के तुल्य है, जो कि राम नाम है ॥ ३१ ॥ हे विप्रेन्द्र ! ओंकार पूर्वक 'नमो रामाय' इस छः अक्षर वाले मन्त्र को जो जपता है, सो हरि के सायुज्य = हरि में लय रूप मोक्ष को पाता है ॥ ३२ ॥ यात्रा काल में जो विद्वान् राम इस नाम का स्मरण करते हैं, उन को यात्रा में सब सिद्धि होती है, इस में संशय नहीं है ॥ ३३ ॥ राम नाम में जो

---

१. सन्निन्दाऽसति नामवैभवकथा, श्रीशेशयोर्भेदधीः, अश्रद्धा श्रुतिशास्त्रदैशिकगिरां नाम्न्यर्थवादभ्रमः ।
नामास्तीति निषिद्धवृत्तिविहितत्यागो हि धर्मान्तरैः, साम्यं नाम्नि जपे शिवस्य च हरे र्नामापराधा दश ॥ १ ॥

सत्पुरुषों की निन्दा १ असत्पुरुषों के प्रति नाम के ऐश्वर्य की कथा २ शिवविष्णु में भेदबुद्धि ३ वेदों में अश्रद्धा ४ शास्त्रों में अश्रद्धा ५ गुरु वाक्यों में अश्रद्धा ६ नाम गुणादि में अर्थवादता का भ्रम ७ नाम के बल से निषिद्ध वृत्ति का स्वीकार ८ विहित का त्याग ९ और शिव हरि के नामों के जप में धर्मान्तरों से तुल्यता १० ये दश नामापराध हैं ॥

अकारो भानुबीजं स्याद् वेदशास्त्रप्रकाशकम् ।
नाशयत्येव सद्दीप्त्या या विद्या हृदये तमः ॥३५॥
मकारश्चन्द्रबीजं च सदन्योपरि पूरणम् ।
त्रितापं हरते नित्यं शीतलत्वं करोति च ॥३६॥
महारामायणे ॥

अच्युतं केशवं विष्णुं हरिं सत्यं जनार्दनम् ।
हंसं नारायणं चैव ह्येतन्नामाष्टकं शुभम् ॥३७॥
शुचिः पूर्वमुखः प्राज्ञो दशकृत्वश्च यो जपेत् ।
निष्पापोऽपि भवेत्सोऽपि दुःस्वप्नः शुभवान् भवेत्॥३८॥
विष्णुं नारायणं कृष्णं माधवं मधुसूदनम् ।
हरिं नरहरिं रामं गोविन्दं दधिवामनम् ॥३९॥
भक्त्या चेमानि नामानि दश भद्राणि यो जपेत् ।
शतकृत्वो भक्तियुक्तो जप्त्वा नीरोगतां व्रजेत्॥४०॥
ब्रह्मवैवर्तपु० कृष्णजन्मख० उ० अ० ८२ ॥

सत्यस्य सत्यमित्येतन्नाम ब्रह्मावबोधकम् ।
प्राणा आपाततः सत्याः सत्यं ब्रह्मैव वस्तुतः॥४१॥
असत्यो देह उदित एकजन्मन्युपक्षयात् ।
सत्याः प्राणा लिङ्गरूपा आमोक्षमनुपक्षयात् ॥
मोक्षेऽप्यक्षीण आत्मा तु सत्यात्सत्य उदाहृतः॥४२॥
बृहदा० वार्त्तिकसा० अ० २।१।१४२-४३ ॥

समता सर्वभूतेषु याऽसौ सत्यपरा स्थितिः ।
तस्यामवस्थितं चित्तं न भूयो जन्मभाग् भवेत्॥४३॥
महोपनिष० अ० ६।४ ॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं च ब्रह्मात्मानन्द इत्यपि ।
नाम षट्कमिदं मुख्यं कीर्त्तितं वेदवादिभिः ॥
अवाङ्मनसगम्यस्य स्वरूपस्यात्र साक्षिणः ॥४४॥
शब्दे वाचः प्रवर्त्तन्ते शब्दार्थे च मनस्तथा ।
अशब्दार्थेऽप्यशब्देऽस्मिन् कथं गच्छेन्मनोऽपि वाक्
अनाम्नो ब्रह्मणो नाम व्यवहाराय कल्प्यते ।
तत्रापि मुख्यगौणादिविचारः क्रियते बुधैः ॥४६॥
आत्मपु० अ० १०।५४-३०० ॥

रकार है, सो वाडवा आदि जो सब अनल=अग्नि हैं, उन सब का बीज है, इससे मन के मल रागद्वेषादि को भस्म=नष्ट करके शुभाशुभ कर्मों को भी भस्म करता है ॥ ३४ ॥ आकार, वेदशास्त्र का प्रकाशक सूर्य का बीज होता है, जो विद्या हो कर सच्ची दीप्ति से हृदय में वर्तमान तम को नष्ट करता ही है ॥ ३५ ॥ मकार चन्द्र का बीज है, सो सत् से अन्य मायादि से ऊपर पूरण=व्यापक रह कर सदा त्रिताप को हरता है, और शीतलता करता है ॥ ३६ ॥ अच्युतादि ये आठ नाम शुभ हैं, जो बुद्धिमान् शुचि पूर्वमुख वाला हो कर इन नामों को दस बार जपे, सो निष्पाप=पापरहित होता है, और दुःस्वप्न भी शुभफल वाला होता है ॥ ३७-३८ ॥ जो भक्ति युक्त मनुष्य विष्णु नारायणादि इन दस भद्र=शुभ नामों को भक्ति से जपता है, सो सौवार जप कर नीरोगता को प्राप्त करता है ॥२९-४०॥ 'सत्यस्य सत्यम्' यह नाम ब्रह्म का अवबोधक है, प्राण ता आपाततः=तात्कालिक सत्य हैं, वस्तुतः ब्रह्म ही सत्य है ॥४१॥ एक जन्म में ही नष्ट हो जाने से स्थूल देह असत्य कही गई है, और मोक्षतक नहीं नष्ट होने से लिङ्गदेहरूप प्राण सत्य है, और मोक्ष में भी अक्षीण=नष्ट नहीं होने वाला सत्य का सत्य कहा गया है ॥४२॥ सब प्राणियों में जो समता है, वह सत्यपरायण स्थिति है, उस स्थिति में अवस्थित=सदा रहने वाला चित्त फिर जन्मभागी नहीं होता है ॥४३॥ सत्य, ज्ञान, अनन्त, ब्रह्म, आत्मा, और आनन्द, ये छः नाम वेद वादियों से मुख्य कहे गये हैं । सो नाम वाक् और मन से अगम्य=अप्राप्य यहाँ प्रत्यक्ष अपना स्वरूप सर्वसाक्षी के हैं ॥ २४ ॥ शब्द में वाक् प्रवृत्त होती है, और शब्द के अर्थ में मन प्रवृत्त होता है, शब्दार्थ से और शब्द से भिन्न इस आत्मा में मन और वाक् भी कैसे प्रवृत्त होगी ? ॥ ४५ ॥ जाति गुण क्रिया सम्बन्धादि रहित होने से निर्गुण नाम

असदेव गुणं सर्वं सन्मात्रमहमेव तु ।
स्वात्ममन्त्रं सदा पश्येत्स्वात्ममन्त्रं सदाऽभ्यसेत्४७
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं दृश्यपापं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमन्यमन्त्रं विनाशयेत्॥४८॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं देहदोषं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं जन्मपापं विनाशयेत्॥४९॥
सर्वमन्त्रान् समुत्सृज्य एतं मन्त्रं समभ्यसेत् ।
सद्यो मोक्षमवाप्नोति नात्र सन्देहमण्वपि ॥५०॥

तेजोबिन्दूपनिषदि अ० ३ ॥

इत्येकादशं नामजपयोगप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ समाधिभेदाः ॥ १२ ॥

सविकल्पो निर्विकल्प इति द्वेधा निगद्यते ।
समाधिः सविकल्पस्य लक्षणं वच्मि तच्छृणु ॥१॥
ज्ञात्राद्यविलयेनैव ज्ञेये ब्रह्मणि केवले ।
तदाकाराकारितया चित्तवृत्तेरवस्थितिः ॥२॥
सद्भिः स एव विज्ञेयः समाधिः सविकल्पकः ।
मृद एवावभानेऽपि मृन्मयद्विपभानवत् ॥३॥
सन्मात्रवस्तुभानेऽपि त्रिपुटी भाति सन्मयी ।
समाधिरत एवायं सविकल्प इतीर्यते ॥४॥
समाधिसुप्त्योर्ज्ञानं चाज्ञानं सुप्त्याऽत्र नेष्यते ।
सविकल्पो निर्विकल्पः समाधी द्वाविमौ हृदि ॥
मुमुक्षोर्यत्नतः कार्यौ विपरीतनिवृत्तये ॥५॥
कृतेऽस्मिन् विपरीताया भावनाया निवर्त्तनम् ।
ज्ञानस्याप्रतिबद्धत्वं सदानन्दश्च सिद्ध्यति ॥६॥
बीजान्यग्निप्रदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः ।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः ॥७॥
बुद्धिकल्पितमालिन्यक्षालनं स्नानमात्मनः ।

रहित ब्रह्म के भी व्यवहार=श्रवणादि के लिये नाम कल्पित होता है, उस कल्पित नाम में भी गौण, मुख्यादि का विचार विद्वानों से किया जाता है ॥ ४६ ॥ त्रिगुण मय सब जगत् असत् ही है, अहं अनुभव का विषय आत्मा ही सत्य है, इस लिये स्वात्ममन्त्र को सदा देखे, स्वात्ममन्त्र का सदा अभ्यास करे ॥ ४७ ॥ 'अहं ब्रह्मास्मि' यह मन्त्र दृश्य जन्मादि संसार रूप पाप को नष्ट करता है, और अन्य मन्त्र को भी नष्ट करता है ॥ ४८ ॥ 'अहं ब्रह्मास्मि' यह मन्त्र देह रूप दोष देहसम्बन्धी दोष को नष्ट करता है, अहं ब्रह्मास्मि यह मन्त्र जन्म रूप पाप जन्म के हेतु पाप को नष्ट करता है ॥ ४९ ॥ सब मन्त्रों को त्याग कर इस मन्त्र को सम्यग् अभ्यास करे तो शीघ्र मोक्ष को पाता है, इस में अल्प भी संशय नहीं है ॥ ५० ॥

ग्यारहवाँ नामजपयोगप्रकरण समाप्त ॥

अथ समाधिभेद—सविकल्प और निर्विकल्प ये दो प्रकार की समाधि कही जाती हैं, उनमें सविकल्प का लक्षण कहता हूँ, सो सुनो ॥१॥ ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय रूप त्रिपुटी के विलय के विना ही केवल ज्ञेय ब्रह्म में जो उस ब्रह्माकार से आकार युक्त होकर चित्त वृत्ति की सदा स्थिति, वही सत्पुरुषों से जानने योग्य सविकल्प समाधि है, सो मृत्तिका की प्रतीति रहते मृतिकामय द्विप=हाथी की प्रतीति की तरह है ॥ २-३ ॥ सन्मात्र वस्तु की प्रतीति रहते भी त्रिपुटी सन्मयी भासती है, इससे यह सविकल्प समाधि कहलाती है ॥ ४ ॥ समाधि और सुषुप्ति में यह भेद है, कि समाधि में ज्ञान रहता है, और सुषुप्ति में अज्ञान रहता है, और इस समाधि में अज्ञान नहीं माना जाता है, इस लिये विपरीत ज्ञान की निवृत्ति के लिये सविकल्प निर्विकल्प ये दोनों समाधि प्रयत्न पूर्वक मुमुक्षुओं को हृदय में कर्त्तव्य हैं ॥५॥ इस समाधि को कर लेने पर विपरीत भावना=भ्रम की निवृत्ति होती है, और ज्ञान प्रतिबन्धक रहित होता है, और सदानन्द सिद्ध होता है ॥ ६ ॥ अग्नि से प्रदग्ध बीज जैसे फिर नहीं जमते हैं, तैसे ज्ञान से दग्ध क्लेशों के साथ फिर आत्मा नहीं मिलता है, उन क्लेशों से जीवात्मा नहीं जन्मता है ॥ ७ ॥ बुद्धि से कल्पित मलिनता का

तेनैव शुद्धिरेतस्य न मृदा न जलेन च ॥८॥
विनिषिध्याखिलं दृश्यं स्वस्वरूपेण या स्थितिः ।
सा सन्ध्या तदनुष्ठानं तद्दानं तद्धि भोजनम् ॥९॥
कर्त्तव्यं स्वोचितं कर्म योगमारोढुमिच्छता ।
आरोहणं कुर्वतस्तु कर्म नारोहणं मतम् ॥१०॥
योगं समारोहति यो मुमुक्षुः
क्रियान्तरं तस्य न युक्तमीषत् ।
क्रियान्तरासक्तमनाः पतत्यसौ
तालद्रुमारोहणकर्तृवद्ध्रुवम् ॥ ११ ॥
कामादिप्रत्ययैर्दृश्यैः संसर्गो यत्र दृश्यते ।
सोऽयं दृश्यानुविद्धः स्यात्समाधिः सविकल्पकः १२
कामादि दृश्यं प्रविलाप्य पूर्वं
शुद्धोऽहमित्यादिकशब्दमिश्रः ।
दृश्येव निष्ठस्य य एष भावः
शब्दानुविद्धः कथितः समाधिः ॥ १३ ॥

आरोपिते नामरूपे उपेक्ष्य ब्रह्मणः सतः ।
स्वरूपमात्रग्रहणं समाधि र्बाह्य आदिमः ॥१४॥
ब्रह्मानन्दरसावेशादेकीभूय तदात्मना ।
बुद्धे र्या निश्चलावस्था सा समाधिरकल्पकः ॥१५॥
सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहे ॥
उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दतत्परः ।
समाधिं सर्वदा कुर्याद्धृदये वाऽथवा बहिः ॥१६॥
सविकल्पो निर्विकल्पः समाधिर्द्विविधो हृदि ।
दृश्यशब्दानुभेदेन सविकल्पः पुनर्द्विधा ॥१७॥
कामाद्याश्चित्तगा दृश्यास्तत्साक्षित्वेन चेतनम् ।
ध्यायेद्दृश्यानुविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः ।१८
असङ्गः सच्चिदानन्दः स्वप्रभो द्वैतवर्जितः ।
अस्मीति शब्दविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः ।१९
स्वानुभूतिरसावेशाद् दृश्यशब्दावुपेक्षितुः ।

निवारण ही आत्मा का स्नान है, उसी से इस आत्मा की परम शुद्धि होती है, मृतिका वा जल से नहीं ॥ ८ ॥ सब दृश्य वस्तु को मिथ्यात्व दृष्टि से अत्यन्त निषेध कर के जो निज अदृश्य स्वरूप से स्थिति, वही सन्ध्या, कर्मानुष्ठान, दान और भोजन है ॥ ९ ॥ योग में स्थिर होने की इच्छा वाले को अपना उचित कर्म कर्तव्य है, योग में आरोहण = स्थिति-गति करने वाले को तो कर्म नहीं कर्तव्य है, किन्तु आरोहण ही कर्तव्य माना गया है ॥ १० ॥ योग में जो मुमुक्षु चढ़ रहा है, उस को अन्य क्रिया किञ्चित् भी युक्त = उचित नहीं हैं । क्योंकि दूसरी क्रिया में आसक्त मन वाला वह योग से अवश्य पतित होता है, जैसे ताल = तार द्रुम = पेड़ पर चढ़ने वाला अन्य क्रियाओं में लगने से गिरता है ॥११॥ जिस समाधि में कामादि के ज्ञान रूप दृश्यों से सम्बन्ध दीखता है, सो यह दृश्यानुविद्ध = दृश्य युक्त सविकल्प समाधि होती है ॥ १२ ॥ प्रथम ही कामादि दृश्यों का प्रविलय कर के ज्ञान स्वरूप में स्थिर पुरुष को जो 'शुद्धोऽहम्' इत्यादि शब्दों से मिश्रित = मिलित भाव = (भावना) होता है, यह भावना ही शब्दानुविद्ध शब्द से अन्वित समाधि कहलाती है ॥ १३ ॥ कल्पित नाम रूप की उपेक्षा = अनादर त्याग कर के सद् ब्रह्म के स्वरूप मात्र का ग्रहण = ज्ञान बाह्य समाधि आदिम = प्रथम है ॥ १४ ॥ ब्रह्मानन्द के प्रेम के आवेश=प्रवेश से उस रूप से एक हो कर जो बुद्धि की निश्चलावस्था सो 'अकल्पक'=निर्विकल्प समाधि है ॥ १५ ॥ नाम रूप दोनों की उपेक्षा कर के सच्चिदानन्द में तत्पर हो कर सदा हृदय में वा बाहर समाधि करे ॥१६॥ सविकल्प, और निर्विकल्प दो प्रकार की समाधि हृदय में होती है, दृश्य और शब्द के अनुभेदन = सम्बन्ध से फिर सविकल्प दो प्रकार का होता है ॥ १७ ॥ कामादि चित्तगत दृश्य हैं, उनके साक्षी रूप से जो चेतन का ध्यान करता है, उस की यह दृश्यानुविद्ध समाधि सविकल्प है ॥१८॥ असङ्ग सच्चिदानन्द स्वयं प्रकाश द्वैत रहित हूँ, इस प्रकार के शब्दों से व्याप्त यह समाधि सविकल्प है ॥ १९ ॥ अपने अनुभव के

निर्विकल्पः समाधिः स्यान्निवातस्थितदीपवत् ॥२०॥

हृदीव बाह्यदेशेऽपि यस्मिन् कस्मिंश्च वस्तुनि ।
समाधिराद्यो दृङ्मात्रा नामरूपपृथक्कृतिः ॥२१॥

सरस्वतीरहस्योपनिषदि ॥

अनात्मन्यरुचिश्चित्ते रुचिश्चात्मनि चेद् भवेत् ।
पुण्यपुञ्जेन शुद्धं तच्चित्तमैकाग्र्यमर्हति ॥२२॥

अविचारेण पुत्रादौ या प्रीतिस्तां विचारतः ।
आत्मन्येवोपसंहृत्य चित्तैकाग्र्यं विवर्द्धयेत् ॥२३॥

अनुभूतिप्रका० अ० १५ ॥

सर्वभूतमयो विष्णुः परिपूर्णः सनातनः ।
इत्यभेदेन या बुद्धिः समता सा प्रकीर्त्तिता ॥२४॥

परस्तु निर्गुणः प्रोक्तो ह्यहङ्कारयुतोऽपरः ।
तयोरभेद विज्ञानं योग इत्यभिधीयते ॥२५॥

यदा त्वभेदविज्ञानं जीवात्मपरमात्मनोः ।
भवेत्तदा मुनिश्रेष्ठ ! पाशच्छेदोऽपरात्मनः ॥२६॥

नारदीयपु० अ० १६–३३।३।५१–५२ ॥

इति द्वादशं समाधिभेदप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथोङ्कारादिप्रकीर्णप्रकरणम् ॥ १३ ॥

ओङ्काराथशब्दौ (१)—

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥१॥

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः ।
ओङ्कारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ॥२॥

त्रिषु धामसु यत्तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितः ।
स पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्यश्चैव महामुनिः ॥३॥

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्मनिर्भयम् ।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥४॥

नारदीयपु० माण्डूक्यकारि० ॥

आनन्द के आवेश से दृश्य और शब्द को त्यागनेवाले को निवात = वायुशून्य स्थान में स्थित दीप के समान निर्विकल्प समाधि होती है ॥ २० ॥ हृदय गत समाधि के समान बाहर भी जिस किसी वस्तु में आद्य = प्रथम सविकल्प समाधि होती है, और नामरूप के पृथक् करण = त्याग रूप दृङ्मात्र निर्विकल्प समाधि दूसरी होती है ॥ २१ ॥ पुण्य के समूह से यदि चित्त में अनात्म विषयक अरुचि और आत्म-सम्बन्धी रुचि = (प्रेम) होती है, तब चित्त एकाग्रता के योग्य होता है ॥ २२ ॥ अविचार से जो पुत्रादि में प्रेम होता है, उसको विचार से आत्मा में ही उपसंहार = ले आ कर चित्त की एकाग्रता को बढावे ॥ २३ ॥ विष्णु सर्वभूतमय परिपूर्ण सनातन = अनादिनित्य है, इस प्रकार का जो अभेद ज्ञान सो समता कही गई है ॥ २४ ॥ निर्गुण तत्त्व पर कहलाता है, अहंकार सहित अपर कहलाता है, उन दोनों के अभेद का जो विज्ञान सो योग इस शब्द से कहा जाता है ॥ २५ ॥ हे मुनिश्रेष्ठ ! जब जीवात्मा परमात्मा के अभेद का अपरोक्ष ज्ञान होता है, तब जीव का मोक्ष होता है ॥ २६ ॥ बारहवाँ समाधिभेदप्रकरण समाप्त ॥

अथोङ्कारादिप्रकीर्णप्रकरण—ओङ्कार और अथ शब्द ये दोनों प्रथम ब्रह्मा के कण्ठ का भेदन कर के निकले, तिस से दोनों माङ्गलिक = शुभ के हेतु हैं ॥ १ ॥ अमात्र = मात्रा रहित-तुरीय, अनन्त मात्र = अनन्त मात्रा वाला अपरिच्छिन्न-विभु सब द्वैत के उपशम, निवृत्ति रूप, इसी से शिव स्वरूप ओङ्कार जिस से विदित = ज्ञात अनुभूत हुआ, सो मुनि है, उस से अन्य जन नहीं ॥ २ ॥ तीन धाम = जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में जो तुल्य = पाद और मात्रा हैं, और आप्ति उत्कर्ष मिति रूप सामान्य है, जो पुरुष उन पाद मात्राओं की तुल्यता और सामान्य को निश्चित हो कर जानता है, सो सब प्राणिओं का पूज्य है, वन्दनीय है, महामुनि है ॥ ३ ॥ प्रणव में मन को लगावे, मन से प्रणव का ध्यान करे, प्रणव निर्भय ब्रह्म है, प्रणव में सदा समाहितचित्त वाले को कहीं भय नहीं है = विद्वान् किसी से नहीं डरता

अनात्मा (२)—

अप्राप्तः प्राप्यते योऽयमत्यन्तं त्यज्यतेऽथवा ।
जानीयात्तमनात्मानं बुद्ध्यन्तं वपुरादिकम् ॥५॥

अर्घमर्घ्याश्च (३)—

दध्यक्षतं सुमनस आप एतच्चतुष्टयम् ।
अर्घ्यमेतत्प्रदातव्यं गृह्येऽर्घाऽर्हाः स्मृतास्तु ये ॥६॥

शुभकर्मनिर्णये-अर्हणापरिच्छेदे ॥

साक्षतं सुमनोयुक्तमुदकं दधिसंयुतम् ।
अर्घं दधिमधुभ्यां च मधुपर्को विधीयते ॥७॥

कात्यायनस्मृ० ॥

षडर्घ्या भवन्ति-आचार्य ऋत्विक् स्नातको राजा विवाह्यः प्रियोऽतिथिरिति ॥८॥ गृह्यसूत्रम् ॥

अर्थवादः (४)—

विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते ।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः ॥९॥

अल्पमतिः (५)—

स्वकर्मफलयोगेन प्राप्य दुःखमचेतनः ।
निमित्तकारणे वैरं करोत्यल्पमतिः किल ॥१०॥

देवीभा० स्क० ३।२०।४४ ॥

अपकारिणि कोपश्चेत्कोपे कोपः कथन्न ते ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसह्य परिपन्थिनि ॥११॥

याज्ञवल्क्योपनिष० ॥ अर्थानर्थक्रमः (६)—

गुणवान्निर्गुणो जात इत्यनर्थक्रमं विदुः ।
निर्गुणो गुणवान् जात इत्याहुः सिद्धिदं क्रमम् ॥१२॥

योगवासि० प्र० ५।२३।४ ॥ अष्टाङ्गप्रणामः (७)—

जानुभ्यां च तथा पद्भ्या पाणिभ्यामुरसा धिया ।
शिरसा वचसा दृष्ट्या प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः ॥१३॥

आतिवाहिकम् (८)—

मनो बुद्धिरहङ्कारस्तथा तन्मात्रपञ्चकम् ।
इति पुर्यष्टकं प्रोक्तं देहोऽसावातिवाहिकम् ॥१४॥

योगवा० प्र० ६।५१।५० ॥

है ऐसी श्रुति है ॥ ४ ॥ जो अप्राप्त पदार्थ प्राप्त किया जाय, अथवा अत्यन्त त्यागा जाय, उस बुद्धि तक शरीरेन्द्रियादि को अनात्मा जानना चाहिये ॥ ५ ॥ गृह्यसूत्र में जो अर्घ के योग्य कहे गये हैं, उन के प्रति दधि अक्षत पुष्प जल ये चार देना चाहिये, ये ही अर्घ्य=अर्घ कहलाता है ॥ ६ ॥ अक्षत सहित पुष्पयुक्त दधि-संयुक्त जल, अर्घ होता है, और दधि मधु से मधुपर्क का विधान है ॥ ७ ॥ आचार्य, ऋत्विक् = यज्ञ कराने वाला ब्राह्मण, स्नातक = वेदव्रत ब्रह्मचर्य व्रत का समाप्त कर्ता, राजा, वर, प्रिय अतिथि, ये छः अर्घ के योग्य होते हैं ॥ ८ ॥ 'आदित्यो यूपः' = यज्ञ स्तम्भ सूर्य है, इत्यादि विरोध के स्थान में गुणवाद = स्तुति वचन हैं, "अग्नि र्हिमस्य भेषजम्"=अग्नि ठंढ की दवा है, इत्यादि निश्चित स्थान में अनुवाद होता है, 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्' इत्यादि बीती हुई कथा के स्थान में भूतार्थ वाद होता है, इस प्रकार से अर्थवाद तीन प्रकार का माना गया है ॥ ९ ॥ अचेतन=अज्ञ, अल्प बुद्धि वाला अपने कर्मों के फल के योग = सम्बन्ध से दुःख पा कर निमित्त कारण में वैर करता है ॥ १० ॥ यदि तुम्हें अपकारी में क्रोध है, तो क्रोध में क्रोध क्यों नहीं है ? जो क्रोध, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारो का हठ कर के विरोधी है, उस में क्यों कोप नहीं करते हो ? ॥११॥ कोई गुणवान् धर्मात्मा निर्गुण हो गया, तो इस को महात्मा लोग अनर्थ का क्रम=विधि जानते हैं, और निर्गुण गुणवान् हुआ, तो इस को सिद्धि दाता क्रम कहते हैं ॥ १२ ॥ जानु, पद, पाणि, उर, बुद्धि, शिर, वचन और दृष्टि से अष्टाङ्ग प्रणाम कहा गया है ॥ १३ ॥ मन, बुद्धि, अहङ्कार और शब्दादि पाँच तन्मात्रा=सूक्ष्म भूत ये पुर्यष्टक कहे गये हैं, और वह परोक्ष आतिवाहिक=लोकान्तरादि में प्राप्त कराने वाली देह भी यही है ॥ १४ ॥

आत्मसम्पदः (९)—

बाहुश्रुत्यं तपस्त्यागः श्रद्धा यज्ञक्रियाक्षमा ।
भावाशुद्धिर्दया सत्यं संयमश्चात्मसम्पदः ॥१५॥

महाभा० शान्तिप० अ० १६७।५ ॥ आर्यः (१०)—

कुलं शीलं दया दानं धर्मः सत्यं कृतज्ञता ।
अद्रोह इति येष्वेतत्तानार्यान् सम्प्रचक्षते ॥१६॥
कर्त्तव्यमाचरन् काममकर्त्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्रकृताचारे स वा आर्य इति स्मृतः॥१७॥

आर्षविधिः (११)—

शमो दमस्तथा स्थैर्यं सत्यं शौचमथार्जवम् ।
यज्ञो धृतिश्च धर्मश्च नित्यमार्षो विधिः स्मृतः॥१८॥

इतिहासः (१२)—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥१९॥

कर्मसाक्षिणः (१३)—

सूर्यः सोमो यमः कालो महाभूतानि पञ्च च ।
एते शुभाशुभस्येह कर्मणो नव साक्षिणः ॥२०॥
द्यौ भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः ।
रात्रिः सन्ध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम्॥२१॥

मनु० अ० ८।८६॥ कलिनाशनम् (१४)—

कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च ।
ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्त्तनं कलिनाशनम् ॥२२॥

महाभा० वनप० अ० ७९।१० ॥ गतयः (१५)—

यज्ञैश्च देवानाप्नोति वैराजं तपसा पदम् ।
ब्रह्मणः कर्मसंन्यासाद्वैराग्यात्प्रकृतौ लयम् ॥२३॥

अग्निपु० अ० ३७९ ॥ ब्रह्माण्डपु० अ० ३१ ॥

योऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा,
कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः ॥२४॥

बृहदा० १।५।१६ ॥ गुणसिद्धयः (१६)—

अनूर्मिमत्त्वं देहेऽस्मिन् दूरश्रवणदर्शनम् ।
मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम् ॥२५॥
स्वच्छन्दमृत्यु देवानां सह क्रीडानुदर्शनम् ।
यथा सङ्कल्पसंसिद्धिराज्ञाप्रतिहता गतिः ॥२६॥
त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता ।

बहुत शास्त्रों का ज्ञान, तप, त्याग, श्रद्धा, यज्ञक्रिया, क्षमा, भावनाशुद्धि, दया, सत्य और संयम=मन इन्द्रिय का निरोध, ये आत्मसम्पत्ति हैं ॥ १५ ॥ सुन्दर कुल, शील, दया, दान, धर्म, कृतज्ञता=प्रत्युपकारिता और अद्रोह, ये जिनमें हों, उनको आर्य कहते हैं ॥१६॥ अथवा कर्तव्य को यथेष्ट करता हुआ, अकर्तव्य को नहीं करता हुआ जो प्रकृत सदाचार में रहता है, सो आर्य कहा गया है ॥ १७ ॥ नित्य=सदा शमदमादि आर्ष विधि=ऋषिसम्बन्धि वेद सम्बन्धी विधि=विधान कहा गया है ॥ १८ ॥ धर्मादि के उपदेश सहित, पूर्व के चरित्र की कथा सहित इतिहास कहलाता है ॥ १९ ॥ देवरूप सूर्यादि ये सब नव यहाँ शुभाशुभ कर्मों के साक्षी, द्रष्टा हैं ॥ २० ॥ द्यौ, भूमि, आदि के अभिमानी देव सब देहियों के चरित्रों को जानने वाले हैं ॥२१॥ कर्कोटक नाग दमयन्ती, नल, ऋतुपर्ण राजर्षि का कीर्तन कलिनाशक है ॥ २२ ॥ यज्ञों से देवों को प्राप्त होता है, तप से विराट् सम्बन्धी स्थान को पाता है, कर्मसंन्यास से ब्रह्मा के स्थान को पाता है, वैराग्य मात्र से प्रकृति में लय को पाता है ॥ २३ ॥ जो यह मनुष्य लोक है, सो सुपुत्र से ही जीतने योग्य है. अन्य कर्मों से नहीं। कर्म से पितृ लोक और विद्या से देवलोक जीतने योग्य है ॥ २४ ॥ इस देह में अनूर्मिमत्त्व=भूख पिपासादि रहितता १, दूर में श्रवण २, दूर में दर्शन ३, मन के तुल्य देह का वेग ४, इष्ट कामविषयरूप की प्राप्ति ५, अन्य के देह में प्रवेश ६, अपनी इच्छा से मृत्यु ७, अप्सराओं के साथ देव क्रीडा का दर्शन ८, सङ्कल्प के अनुसार पदार्थ की प्राप्ति ९, अप्रतिहत गति वाली आज्ञा १०, त्रिकालज्ञता ११, अद्वन्द्व=शीतोष्णादि की अवशिता १२, पर के चित्तादि का ज्ञान १३,

अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः ॥२७॥

श्रीमद्भा० स्क० ११।१५।६-८ ॥ दीक्षादीक्षितश्च (१७)--

दीयते विमलं ज्ञानं क्षीयते कर्मवासना ।
तेन दीक्षेति सा प्रोक्ता विद्वद्भिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥२८॥
दिव्यं ज्ञानं हि या दद्यात्कुर्यात्पापक्षयं तु या ।
सैव दीक्षेति सम्प्रोक्ता वेदतत्त्वविशारदैः ॥२९॥

योगियाज्ञव० देवीभा० स्क० १२।७।५॥

स्नानाद्दानाज्जपाद्धोमात्संयोगाद्देवकर्मणः ।
शिरसो वपनाच्चैव दीक्षितः पुरुषो भवेत् ॥३०॥

शाम्बपु० ॥ दुर्जनाः (१८)—

ये लोके द्वेषिणो मूर्खाः कुमार्गरतबुद्धयः ।
ते सर्वे दुर्जना ज्ञेयाः सर्वधर्मबहिष्कृताः ॥३१॥

महाभा०शान्तिप० अ० ३३ ॥ दुर्भाषितम् (१९)—

रागद्वेषाऽक्षमा क्रोध कामतृष्णानुसारिणाम् ।
वाक्यं निरयहेतुत्वात्तद् दुर्भाषितमुच्यते ॥३२॥
संस्कृतेनापि किं तेन मृदुलालापसङ्गिना ।
अविद्यारामवाक्येन संसारक्लेशहेतुना ॥३३॥
यच्छ्रुत्वा जायते पुण्यं रागादीनां च सङ्क्षयः ।
विरूपमपि तद्वाक्यं विज्ञेयमतिशोभनम् ॥३४॥

भविष्यपु० अ० ८७ ॥ दूरत्याज्यानि (२०)—

कुभार्यां च कुपुत्रं च कुराजानं कुसौहृदम् ।
कुसम्बन्धं कुदेशं च दूरतः परिवर्जयेत् ॥३५॥

गरुडपु० ॥ धीगुणाः (२१)—

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा ।
ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ॥३६॥

धर्मसूनवः (२२)—

शमस्तपो दया दानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
सत्यं क्षमाऽऽर्जवं ज्ञानमित्येते सूनवो मम ॥३७॥

धर्मभिक्षुकः (२३)--

अध्वगः क्षीणवृत्तिश्च विद्यार्थी गुरुपोषकः ।
यतिश्च ब्रह्मचारी च षडेते धर्मभिक्षुकाः ॥३८॥

नादः (२४)—

नाभेरूर्ध्वं हृदि स्थानान्मारुतः प्राणसञ्ज्ञकः ।
नदति ब्रह्मरन्ध्रान्ते तेन नादः प्रकीर्त्तितः ॥३९॥

अग्नि सूर्य जल के तेजादि का स्तम्भन निरोध १४, अपराजय १५, इनमें दश गुण सिद्धि और पाँच तुच्छ सिद्धि हैं, आठ अणिमादि महासिद्धि कहलाती हैं ॥ २५-२७ ॥ विमल ज्ञान दिया जाता है, कर्म वासना नष्ट होती है, तिससे तत्त्वदर्शी विद्वानों से वह दीक्षा कही गई है ॥ २८ ॥ जो दिव्य ज्ञान दे और पाप का क्षय करे, वेदतत्त्व के विशारदों=पण्डितों से वही दीक्षा कही गई है ॥ २९ ॥ स्नान दान, जप, होम, देव कर्म का संयोग, शिर का वपन=मुण्डन, इन सब से पुरुष दीक्षित होता है ॥३०॥ जो लोक में द्वेषी, मूर्ख कुमार्ग में रत=प्रवृत्त बुद्धि वाले हैं, सो सब धर्म बहिष्कृत=रहित दुर्जन हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥ ३१ ॥ राग, द्वेष, अक्षमा, क्रोध, काम, तृष्णा=लोभ का अनुसरण=अनुगमन करने वालों का जो वाक्य = वचन सो नरक का हेतु होने से दुर्भाषित कहलाता है ॥ ३२ ॥ अविद्यामय संसार में आराम वालों का वाक्य जो संसार क्लेश का हेतु है, सो यदि मृदुल=कोमल, आलाप=संभाषण के संग वाला संस्कृत भी है, तो उससे क्या फल है ? ॥ ३३ ॥ जिस वचन को सुन कर पुण्य होता है, राग द्वेषादि का नाश होता है, वह विरूप = विषम असुन्दर वाक्य भी अति सुन्दर समझना चाहिये ॥ ३४ ॥ कुस्त्री, कुपुत्रादि को दूर से त्यागना चाहिये ॥ ३५ ॥ सेवा, श्रवण, ग्रहण=ज्ञान, धारण=स्मरण निश्चय, ऊहापोह=अध्याहारनिषेध से अर्थ का विज्ञान और तत्त्वज्ञान ये सब बुद्धि के गुण हैं ॥ ३६ ॥ शम तप :आदि ये मेरे=धर्म के पुत्र हैं ॥ ३७ ॥ पथिक, नष्टजीविकावाला, विद्यार्थी, गुरुपोषक, संन्यासी और ब्रह्मचारी, ये छः धर्मभिक्षुक हैं ॥ ३८ ॥ नाभि से ऊपर हृदय में और नाभिस्थान से ब्रह्मरन्ध तक स्थान में प्राण नाम वाला वायु अव्यक्त शब्द करता है, तिससे वही नाद कहा गया

नारीदूषणानि (२५)--

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।
स्वप्नोऽन्यगृहवासश्च नारीणां दूषणानि षट् ॥४०॥

मनु० अ० ९।१३ ॥ परकविः (२६)--

नवद्वारमिदं वेश्म त्रिस्थूणं पञ्चसाक्षिकम् ।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं वेद यो विद्वान् स परः कविः॥४१

परमयोगी (२६)---

न यस्य मित्रं न च कोऽपि शत्रु-
निंजः परो वापि न कश्चनास्ते ।
न चेन्द्रियार्थेषु रमेत चेतः
कषायमुक्तं परमः स योगी ॥ ४२ ॥

अध्यात्मकल्पद्रुमे ॥ परलोकः (२७)--

उत्तरे हिमवत्पार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते ।
पुण्यः क्षेत्रश्च काम्यश्च स परलोक उच्यते ॥४३॥

महाभा० शां० प० अ० १९२।८॥ पञ्चबाणाः ॥२८

मारणं स्तम्भनं चैव जृम्भणं शोषणं तथा ।
उन्मादनं पञ्चबाणान् पञ्चबाणो बिभर्त्ति सः॥४४॥

ब्रह्मवैवर्त्तपु० ब्रह्मखं० अ० ४।११ ॥ पावनानि (२९)--

सत्यमार्जवमक्रोधः संविभागो दमः शमः ।
अनसूयाऽविहिंसा च शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥
पावनानिं महाराज ! नराणां पुण्यकर्मणाम्॥४५॥

महाभा० वनप० अ० २५९।१८॥ पितरः (३०)--

जनिता चोपनेता च यश्च विद्योपयच्छति ।
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः ॥४६॥

स्कन्दपु० खं० ५-३ अ० २९।५४ ॥ पुण्यबधः (३१)--

एकस्मिन् यत्र निधनं प्रापिते दुष्टकर्मणि ।
बहूनां भवति क्षेमस्तस्य पुण्यप्रदो बधः ॥४७॥

भविष्ये ॥ पुराणम् (३२)--

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥
चतुर्दशभिर्विद्याभि र्भूषितं कुरुनन्दन ! ॥४८॥

भविष्यपु० ब्रह्मपु० अ० २१५ ॥ प्रयोक्तृदौर्लभ्यम् (३३)--

नामन्त्रमक्षरं किञ्चिन्न च द्रव्यमनौषधम् ।
नायोग्यः पुरुषः कश्चित्प्रयोक्तैव तु दुर्लभः ॥४९॥

महाभा० शां० प० ॥ प्रतिमा (३४)--

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।
मनोयमी मणिमयी प्रतिमाऽष्टविधा स्मृता॥५०॥

श्रीमद्भा० स्क० ११।२७।१२ ॥

है ॥ ३९ ॥ मद्यपान, दुर्जन का संग, पति से वियोग, अकेले गमन, कुस्वप्न, अन्य के गृह में वास=स्थिति, स्त्री के ये छः दोष हैं ॥ ४० ॥ नव द्वार युक्त इस देह रूप वेश्म = गृह को, वातपित्त कफ तथा रजः सत्त्व तमो गुण रूप तीन स्तम्भ से युक्त और पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा पाँच भूत रूप साक्षियुक्त और क्षेत्रज्ञ=आत्मा से अधिष्ठित=वशीकृत-आश्रित जो जानता है, सो विद्वान् और परकवि है ॥ ४१ ॥ जिस के कोई मित्र वा शत्रु नहीं है, न कोई अपना पराया है, और जिस के कषाय=राग द्वेषादि से मुक्त=रहित चित्त विषयों में नहीं रमता है, वह परम योगी है ॥ ४२ ॥ सब गुणों से युक्त पवित्र हिमालय के उत्तर पंजरे में जो काम्य =इच्छा का विषय पवित्र स्थान है, सो परलोक कहलाता है ॥ ४३ ॥ मारण=मृत्यु का हेतु स्तम्भन= जड़ता का हेतु, जृम्भण=आलस्य जृम्भा कारक, उन्मादकारक, शोषक, इन पाँच बाणों को वह काम धारण करता है ॥ ४४ ॥ सत्य, ऋजुता, अक्रोध, भोग्य पदार्थों का उचित विभाग, दम, शम, अनसूया, अहिंसा, शौच, इन्द्रिय निग्रह, हे महाराज ! पुण्यकर्मा मनुष्यों के ये पावन हैं ॥ ४५ ॥ पिता, जन्मदाता, उपनयन कर्ता, विद्या दाता, अन्न दाता, भय से रक्षक, ये पाँचो पिता कहलाते हैं, पालन, कर्ता हैं ॥ ४६ ॥ जिस एक दुष्ट कर्म वाले के निधन=मृत्यु पाने से बहुत को क्षेम=कुशल हो, उसका बध पुण्यदायक है ॥ ४७ ॥ हे कुरुनन्दन ! चौदह विद्या से विभूषित पुराण-सृष्टि, प्रलय, वंश, मन्वन्तर, वंशों के चरित्र इस पांचलक्षण वाला होता है ॥ ४८ ॥ कोई अक्षर अमन्त्र नहीं है, न कोई द्रव्य अनौषध है, न कोई पुरुष अयोग्य है किन्तु प्रयोग करने वाला दुर्लभ है ॥ ४९ ॥ शिला की, लकड़ी की, लोहे की, लेपन की, लेखन

प्रभोर्गुणाः (३५)—

पात्रे त्यागी गुणे रागी भोगी परिजनैः सह ।
भावबोद्धा रणे योद्धा प्रभुः पञ्चगुणो भवेत् ॥५१॥

प्रीतिः (३६)—

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भुङ्क्ते भोजयते नित्यं षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥५२॥

पोष्यवर्गाः (३७)—

माता पिता गुरुः पत्नी त्वपत्यानि समाश्रिताः ।
अभ्यागतोऽतिथिश्चाग्निः पोष्यवर्गा अमी नव॥५३॥

भगो भगवांश्च (३८)—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥५४॥
उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥५५॥

भिक्षा (३९)

हन्त षोडशभिर्ग्रासैश्चतुर्भिः पुष्कलं स्मृतम् ।
ग्रासमात्रं भवेद् भिक्षा गृहस्थसुकृतप्रदा ॥५६॥

स्कन्दपु० काशीखं० अ० ३५।५ ॥ भोगः (४०)—

सुगन्धि वनिता वस्त्रं गीतं पानं च भोजनम् ।
शय्या च भूषणं ज्ञेयो भोगो ह्यष्टविधो बुधैः ॥५७॥

भविष्यपु० प० ३।१८।१७ ॥ भूषणम् (४१)—

यतीनां भूषणं ज्ञानं सन्तोषो हि द्विजन्मनाम् ।
उद्यमः शत्रुहननं भूषणं भूतिमिच्छताम् ॥५८॥

देवीभा० स्क० ५।५।३ ॥ [1]मन्देहाः (४२)

सन्ध्याकाले च सम्प्राप्ते रौद्रे परमदारुणे ।
मन्देहा राक्षसा घोराः सूर्यमिच्छन्ति खादितुम्॥५९
प्रजापतिकृतः शापस्तेषां मैत्रेय ! रक्षसाम् ।
अक्षयत्वं शरीराणां मरणं च दिने दिने ॥६०॥

विष्णुपु० अंश १।८॥ महेश्वराङ्गानि (४३)—

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः
स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।

की, मन रचित और मणिरचित, इस प्रकार आठ प्रकार की प्रतिमा=मूर्ति होती हैं ॥ ५० ॥ सत्पात्रों में दान दाता, गुणों में प्रेमी, परिजन=बन्धुओं के साथ भोक्ता भाव समझने वाला, रण में युद्ध करने वाला, इन पाँच गुण वाला प्रभु होता है ॥ ५१ ॥ देता है, लेता है, गुह्य बात कहता है, पूछता है, सदा खाता है और खिलाता है, ये छः प्रकार के प्रीति के चिह्न हैं ॥ ५२ ॥ माता, पिता, गुरु, स्त्री, अपत्य=पुत्र पुत्री, समाऽऽश्रित=भृत्यादि, अभ्यागत, अतिथि, अग्नि ये नव पोष्प=पालनीय के समूह हैं ॥ ५३ ॥ समग्र ऐश्वर्य, अणिमादि, वीर्य, यश, श्री=लक्ष्मी, ज्ञान और वैराग्य इन छः के भग इङ्गना=नाम है ॥ ५४ ॥ जो उत्पत्ति आदि को जानता है, वह भगवान् इस शब्द का अर्थ है ॥ ५५ ॥ १६ षोडश ग्रास=रूप भिक्षा हन्त=हर्ष-अनुकम्पा कही गई है, गृहस्थ हर्ष से वा दया से इतनी भिक्षा देता है, चार ग्रास से पुष्कल=पूर्ण-श्रेष्ठ अन्न कहा गया है, केवल भिक्षा ग्रास मात्र होती है, सो गृहस्थ को सुकृत=पुण्य प्रद होती है ॥ ५६ ॥ सुगन्ध वाली वस्तु स्त्री आदि आठ प्रकार के भोग=भोग के साधन पण्डितों से ज्ञेय हैं ॥ ५७ ॥ यतियों का भूषण ज्ञान है, ब्राह्मणों का भूषण सन्तोष है, लौकिक विभूति के इच्छुकों का भूषण उद्यम और शत्रु का नाश है ॥ ५८ ॥ परम दारुण=अति भयङ्कर रौद्र=उग्र सन्ध्याकाल के सम्यक् प्राप्त होने पर घोर मन्देहा=आलस्य-अभाग्य जनकेच्छा राक्षस, सूर्य=ज्ञान प्रकाश शक्ति को खाना=नष्ट करना चाहता है ॥ ५९ ॥ हे मैत्रेय ! उन राक्षसों को प्रजापति का शाप है, कि प्रतिदिन वे सन्ध्यावन्दनादि से मरते हैं, तो भी उन के शरीरों का सर्वथा क्षय नहीं होता है, इस से मनुष्यों को सदा सायङ्काल में सावधान रहना उचित है ॥ ६० ॥ विधि को जानने वाले

१. आदित्येन सह प्रातर्मन्देहा नाम राक्षसाः । युद्ध्यन्ति वरदानेन ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मन ॥१॥
उदकाञ्जलिनिःक्षेपाद् गायत्र्याचाभिमन्त्रिताः । निघ्नन्ति राक्षसान् सर्वान् मन्देहाख्यान् द्विजेरिताः ॥२॥
हरीतस्मृ० अ० ४।१३-४ ॥

अचिन्त्यशक्तिश्च विभो र्विधिज्ञाः
षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥६१॥ शिवपुराणे॥

महेश्वराव्ययानि (४४)—

ज्ञानं विरागमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः ।
स्रष्टृत्वमात्मसम्बोधो नित्यं तिष्ठन्ति शङ्करे ॥६२॥

वायुपुराणे ॥ मातरः (४५)—

राजपत्नी गुरोः पत्नी मित्रपत्नी तथैव च ।
पत्नी माता स्वमाता च पञ्चैते मातरः स्मृताः॥६३॥
चाणक्यनी० अ० ५।२३ ॥

कामः क्रोधस्तथा लोभो मदो मोहोऽथ पञ्चमः ।
मात्सर्यं षष्ठमित्याहुः पैशुन्यं सप्तमं तथा ॥६४॥
अनसूयाऽष्टमी ज्ञेया इत्येता अष्ट मातरः ।
कामं योगेश्वरीं विद्धि क्रोधं माहेश्वरीं तथा॥६५॥
लोभस्तु वैष्णवी प्रोक्ता ब्रह्माणी मद एव च ।
मोहः स्वयम्भूः कौमारी मात्सर्यं चेन्द्रजां विदुः॥६६॥
यमदण्डधरा देवी पैशुन्यं स्वयमेव च ।
अनसूया वराहाख्या इत्येताः परिकीर्त्तिताः ॥६७॥
वराहपु० अ० २७ ॥

मानसाः (४६)—

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते ॥६८॥
सनः सनत्सुजातश्च सनकः ससनन्दनः ।
सनत्कुमारः कपिलः सप्तमश्च सनातनः ॥
सप्तैते मानसाः प्रोक्ता ऋषयो ब्रह्मणः सुताः ॥६९॥

मान्यस्थानानि (४७)—

वित्तं बन्धु र्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम ॥७०॥
मनु० अ० २।१२६ ॥ भविष्ये ब्रा० अ० ४।७० ॥

जीवन्मृतः (४८)—

स्वधर्माद्यः परिभ्रष्टो वृद्धैर्यश्च बहिष्कृतः ।
स जीवन्नेव लोकेऽस्मिन् मृत इत्यभिधीयते॥७१॥

मृत्युलिङ्गम् (४९)—

याम्यनासापुटे यस्य वायु र्वाति दिवानिशम् ।
अखण्डमेव तस्यायुः क्षयत्यब्दत्रयेण हि ॥७२॥

विभु महेश्वर के सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि ज्ञान, स्वतन्त्रता, नित्य अविनाशी शक्ति, अचिन्त्य शक्ति, ये छः अङ्ग = शरीर वा साधन उपाय कहते हैं ॥ ६१ ॥ जगत् के 'शं' = सुख कर्ता रूप ईश्वर में ज्ञानादि नित्य = सदा ही स्वभावात्मक रहते हैं ॥ ६२ ॥ राजा की स्त्री, गुरु की स्त्री, मित्र की स्त्री, सासु और अपनी माता ये पाँचो माता कही गई हैं ॥ ६३ ॥ जैसे माता जन्म का हेतु है, तैसे कामादि आठो जन्म के हेतु हैं, इस से काम, क्रोध, लोभ, मद = गर्व, मोह=आसक्ति अविवेक, मत्सर, पिशुनता, अनसूया =गुण में दोषारोप का अभाव और अवैराग्य ये आठ माता कहलाते हैं, इन में काम को योगेश्वरी जानो, क्रोध को माहेश्वरी जानो, लोभ वैष्णवी कही गई है, मद ब्रह्माणी कहलाती है, स्वयं होने वाला मोह कौमारी कहलाती है, मात्सर्य को इन्द्रजा जानते हैं, पिशुनता स्वयं यमदण्ड को धारण करने वाली देवी है, और अनसूया वराहा नाम वाली है, ये आठ वर्णित हैं ॥ ६४–६७ ॥ मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ, ये सात महर्षि ब्रह्मा जी के मानस निर्मित=रचित पुत्र कहलाते हैं, सो प्रवृत्ति मार्ग के हुए हैं ॥ ६८ ॥ और सन, सनत्सुजात, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, कपिल, सनातन, ये सात ब्रह्मर्षि ब्रह्मा जी के मानस पुत्र निवृत्ति मार्ग वाले कहे गये हैं ॥६९॥ धन, बन्धु, अवस्था, कर्म और विद्या ये पांचो मान्य = आदर के स्थान हैं, इन में भी पूर्व २ की अपेक्षा पर २ के श्रेष्ठ हैं ॥ ७० ॥ जो अपने धर्म से पतित है, और जो धर्म वृद्ध ज्ञान वृद्ध से बहिष्कृत है, सो इस लोक में जीता हुआ भी मृत कहा जाता है ॥ ७१ ॥ जिस के दक्षिण = सूर्य नाडी में एक दिन रात अखण्ड प्राण चलता है, उस की आयु

द्व्यहोरात्रं त्र्यहोरात्रं रवि र्वहति सन्ततम् ।
अब्दमेकं च तस्येह जीवनावधिरुच्यते ॥७३॥
स्कन्दपु० काशीख० अ० ४२ ॥

अहोरात्रे यदैकत्र वहते यस्य मारुतः ।
तदा तस्य भवेन्मृत्युः सम्पूर्णे वत्सरत्रये ॥७४॥

अहोरात्रद्वयं यस्य पिङ्गलायां सदागतिः ।
तस्य वर्षद्वयं प्रोक्तं जीवितं तत्त्ववेदिभिः ॥७५॥

त्रिरात्रं वहते यस्य वायुरेकपुटे स्थितः ।
तदा सम्वत्सरायुस्तं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥७६॥

रात्रौ चन्द्रो दिवा सूर्यो वहेद्यस्य निरन्तरम् ।
जानीयात्तस्य वै मृत्युः षण्मासाऽभ्यन्तरे भवेत्॥७७॥
शिवस्वरोदये ॥

मुमुक्षुः (५०)--

रागद्वेषविहीनो यः शमादिगुणसंयुतः ।
हरिध्यानपरो नित्यं मुमुक्षुरभिधीयते ॥७८॥
नारदीयपु० अ० ३३।५२ ॥

मूर्खः (५१)—

लब्ध्वापि मानुषं जन्म पुण्यं येन न सञ्चितम् ।
नार्जितं च यशः शुद्धं स मूर्ख इति कथ्यते॥७९॥

पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः ।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः॥८४॥

लक्षणम् (५२)—

अर्थासाधारणाकारप्रतिपत्तिनिबन्धनम् ।
सजातीयविजातीयव्यवच्छेदेन लक्षणम् ॥८१॥

[असाधारणो व्यापको धर्मो लक्षणम् ॥]
न्यायपरिशुद्धौ ॥

लक्षकाणामभावेऽपि लक्ष्यं यत्रावतिष्ठते ।
तटस्थलक्षणं तद्धि विज्ञेयं पण्डितैः सदा ॥८२॥

लक्षकाणामपाये हि लक्ष्यापायः प्रसज्यते ।
यत्र तत्कथितं नित्यं स्वरूपस्येह लक्षणम् ॥८३॥

स्वरूपलक्षणं यत्र तत्र भेदो धिया कृतः ।
लोके भवति चान्यत्र गवाश्वादेरिव स्वतः ॥८४॥

=(जीवन) तीन वर्ष में नष्ट होती है ॥ ७२ ॥ जिस की सूर्य नाडी दो दिन रात वा तीन दिन रात्रि निरन्तर चलती है, उस का जीवन एक वर्ष तक कहा जाता है ॥ ७३ ॥ जब दिन रात्रि में बराबर एक नासिका से चले तो समझना चाहिये कि तीन वर्ष के पूर्ण होने पर उस की मृत्यु होगी ॥ ७४ ॥ दो दिन रात जिस की पिंगला नाडी में वायु की सदा गति हो, तत्त्वज्ञ लोग उस का जीवन दो वर्ष का कह चुके हैं ॥ ७५ ॥ जिस के एक नासिका में स्थिर रह कर तीन रात तक प्राण चलता है, तब विद्वान् लोग उस को एक वर्ष जीने वाला कहते हैं ॥ ७६ ॥ और जिस के रात्रि में निरन्तर चन्द्र में प्राण चलता हो, और दिन में निरन्तर सूर्य नाडी में प्राण चलता हो, तो समझना चाहिये कि इस की मृत्यु छः मास के अन्दर में होगी ॥ ७७ ॥ जो राग द्वेषादि से रहित है, और शमदमादि गुणों से युक्त है, तथा सदा हरि के ध्यान में तत्पर है, सो मुमुक्षु कहा जाता है ॥ ७८ ॥ जिस मनुष्य ने जन्म पाकर पुण्य का संचय = समूह संग्रह नहीं किया, न शुद्ध यश का उपार्जन किया, वह मूर्ख कहलाता है ॥ ७९ ॥ जो पढ़ने वाले वा पढ़ाने वाले या उन से जो अन्य शास्त्रों के चिन्तन करने वाले हैं, परन्तु शास्त्रानुकूल क्रिया वाले न होने से व्यसन = काम क्रोध जन्य दोष पाप निष्फल उद्यम वाले हैं, सो सब मूर्ख हैं, सत्कर्मवाले जो हैं, सो पण्डित हैं ॥ ८० ॥ सजातीय विजातीयवस्तु की व्यावृत्ति पूर्वक, पदार्थ के असाधारण = विशेष आकार = स्वरूप के ज्ञान का जो हेतु होता है, सो लक्षण है, असाधारण व्यापकधर्म लक्षण है ॥ ८१ ॥ लक्षक = बोधक-लक्षण के नहीं रहने पर भी जहाँ लक्ष्य=बोध्य रह जाय वह तटस्थ = लक्ष्य से भिन्न लक्षण सदा पण्डितों से ज्ञेय है ॥ ८२ ॥ जहाँ लक्षण के अभाव से लक्ष्य का ही अभाव प्राप्त हो, वहाँ वह स्वरूप लक्षण कहा गया है, = वह स्वरूप लक्षण है ॥ ८३ ॥ जहाँ स्वरूप लक्षण रहता है, वहाँ लक्ष्य लक्षण में भेद, लोक में बुद्धि से कल्पित मिथ्या रहता है, वस्तुतः अभेद रहता है, और अन्यत्र = तटस्थ लक्षण

तटस्थलक्षणे लक्ष्यं साक्षान्नैवावधार्यते ।
किन्तु सामान्यतः पश्चान्मानान्तरसमागमात् ॥
निश्चीयते विशेषोऽयं सर्वत्रैवात्र वस्तुनि ॥८५॥

आत्मपुरा० ॥ लिङ्गम् (५३)—

वासना भूतसूक्ष्माश्च कर्माविद्ये तथैव च ।
दशेन्द्रियमनोबुद्धिरेतल्लिङ्गं विदु र्बुधाः ॥८६॥

योगवा० प्र० ६।१२८।१८ ॥ वृक्षाः (५४)—

छायामन्यस्य कुर्वन्ति तिष्ठन्ति स्वयमातपे ।
फलन्ति च परार्थाय वृक्षाः साधुजना इव ॥८७॥
पत्रपुष्पफलच्छायामूलवल्कलदारुभिः ।
धन्या महीरुहा येभ्यो निराशा यान्ति नार्थिनः ।८८।

श्रीमद्भा० स्क० १०।२१।३४ ॥ वस्त्रम् (५५)—

तामसं नग्नमेकं च राजसं वसनद्वयम् ।
कौपीनसहितं तत्तु सात्त्विकं मुनिभिः स्मृतम् ॥८९॥

भरद्वाजसंहि० ॥ व्यासः (५६)—

एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदो भेदितोऽमुना ।
यजुर्वेदो द्विजा एकशतभेदेन भेदितः ॥९०॥
नवधा भेदितोऽथर्ववेदः सामः सहस्रधा ।
व्यस्तवेदतया व्यास इति लोके श्रुतो मुनिः ॥९१॥

सूतसं० शिवमा० अ० १।४५–४६ ॥

शान्तः (५७)—

नवे वयसि यः शान्तः स शान्त इति मे मतिः ।
धातुषु क्षीयमाणेषु कस्य शान्ति र्नजायते ॥९२॥
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा च दृष्ट्वा ज्ञात्वा शुभाशुभम् ।
न हृष्यति ग्लायति यः स शान्त इति कथ्यते ॥९३॥

महोपनिषदि ४।३२ ॥ शास्त्रम् (५८)—

धर्मार्थकाममोक्षाणां शास्त्रं स्यादुपदेशकम् ।
पूर्वैराचरितं सद्भि र्धर्मकामार्थसाधकम् ॥९४॥
मोक्षस्य यत्रोपन्यास इतिहासः स उच्यते ।
तदेव काव्यमित्युक्तं चोपदेशं विना कृतम् ॥९५॥

विष्णुधर्मोत्तरपु० खं० ३।१५।१–२ ॥

आसन्नत्वादाश्रयत्वाद्वैशद्याच्चात्मवस्तुनः ।

में लक्ष्य लक्षण का भेद गो और अश्व के भेद के समान स्वतः लोक में रहता है, बुद्धि कृत नहीं ॥ ८४ ॥ तटस्थ लक्षण में लक्षण से लक्ष्य का साक्षात् निश्चय नहीं होता है, किन्तु लक्षण से सामान्य बोध होता है, फिर दूसरे प्रमाण से विशेष ज्ञान होता है, यह व्यवहार यहाँ सब वस्तु में होता है ॥८५॥ वासना, भूतों के सूक्ष्मांश, कर्म, अविद्या, दशेन्द्रिय, मन, बुद्धि, इनको पण्डित लिङ्ग देह जानते हैं ॥ ८६ ॥ साधु जन के तुल्य वृक्ष अन्य को छाया करते हैं, स्वयं धूप में रहते हैं, और दूसरे के लिये फलते हैं ॥ ८७ ॥ वृक्ष धन्य हैं कि जिन के पत्र, पुष्प, फल, छाया, मूल, वल्कल=त्वक् और लकड़ी के द्वारा जिन से अर्थी निराश होकर नहीं जाते हैं ॥ ८८ ॥ नग्न रहना और एक वस्त्र युक्त रहना तामसपन है, दो वस्त्रयुक्त होना राजसपन है, कौपीन सहित दो वस्त्र मुनियों से सात्त्विक कहा गया है ॥ ८९ ॥ इस व्यास देव ने २१ शाखामय भेदयुक्त ऋग्वेद को किया और हे द्विज ! १०१ भेदयुक्त यजुर्वेद को, अथर्व वेद को नव प्रकार और साम वेद को हजार प्रकार के भेदों से युक्त किया और वेदों के व्यस्त=भेद विस्तार युक्त करने से ही लोक में 'व्यास' इस नाम से मुनिविश्रुत हुए ॥ ९०–९१ ॥ नई अवस्था में जो शान्त रहता है, वह शान्त है, ऐसा मेरी बुद्धि है, और धातुओं के क्षीण होने पर तो किसको शान्ति नहीं होती है ? ॥ ९२ ॥ शुभाशुभ शब्दादि को सुन कर स्पर्श करके भोजन करके देख कर जान कर, जो हर्ष वा ग्लानि को नहीं प्राप्त होता है, वह शान्त कहा जाता है ॥९३॥ धर्मादि का उपदेश देने वाला शास्त्र होता है और पूर्व के सत्पुरुषों से आचरित धर्म काम अर्थ का जो साधक=बोधक हो, और जिस में मोक्ष का भी कथन हो, सो इतिहास कहलाता है, वही उपदेश के विना किया गया हो, तो काव्य इस शब्द से कहा जाता है ॥९४–९५॥ आत्मवस्तु के आसन्न

तद्बोधिशास्त्रं प्रत्यक्षात्प्रबलं द्वैतबोधिनः ॥९६॥
बृहदारण्यकवार्तिकसारे, अधिकारपरीक्षायाम् ॥

आत्मज्ञानावतारार्थः सर्वशास्त्रसमुद्भवः ।
संसारोच्छेदमेवामी फलं शास्त्रकृतोऽब्रुवन् ॥९७॥
स्वत एव मनुष्याणां प्रवृत्तिः भोगसिद्धये ।
तत्रानुवादि शास्त्रं स्यान्निवृत्तावेव तन्मतिः ॥९८॥
बृ०वा०सा० अ० १।४।४०७॥ इ० ॥ सङ्गतिः (५९)—

अनन्तराभिधानप्रयोजकजिज्ञासाजनकज्ञानविषयत्वं सङ्गतित्वम् ॥९९॥

सप्रसङ्ग उपोद्घातो हेतुताऽवसरस्तथा ।
निर्वाहकैककार्यत्वे षोढा सङ्गतिरिष्यते ॥१००॥

[अभिहितसम्बन्धित्वेन स्मृतस्योपेक्षाऽनर्हत्वं प्रसङ्गत्वम् (१) प्रकृतोपपादकत्वमुपोद्घातत्वम् । चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं विदुर्बुधाः (२) हेतुता—कारणता, कार्यता च (३) अवश्यवक्तव्यत्वमवसरः (४) एकनिर्वाहकैकनिर्वाह्यत्वं निर्वाहकत्वम् (५) एककार्यकारित्वमेककार्यत्वम् (६)]

सहजमित्राणि (६०)—

विद्या शौर्यं च दाक्ष्यं च बलं धैर्यं च पञ्चमम् ।
मित्राणि सहजान्याहु वर्तयन्तीह तै र्बुधाः ॥१०१॥
महाभारते ॥ सर्ववित् (६१)—

अल्पं वा शृणुयाच्छास्त्रं न वा किञ्चिन्नरोत्तमः ।
द्रुह्येन्नैव च भूतेभ्यो यः स सर्वविदीरितः ॥१०२॥
साध्वी (६२)—

आर्त्ताऽऽर्त्ते मुदिता हृष्टे प्रोषिते मलिना कृशा ।
मृते म्रियेत या पत्यौ साध्वी ज्ञेया पतिव्रता ॥१०३॥
साहसम् (६३)—

मनुष्यमारणं स्तेयं परदाराभिमर्षणम् ।
पारुष्यमनृतं चैव साहसं पञ्चधा स्मृतम् ॥१०४॥
सूत्रम् (६४)—

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥१०५॥
विष्णुधर्मोत्तरपु० खं० ३।५।१ ॥

और विशद होने से उसका बोधक शास्त्र, द्वैत का बोधक प्रत्यक्ष से प्रबल है ॥ ९६ ॥ आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये सब शास्त्रों का जन्म हुआ है, ये शास्त्रकर्ता लोगों ने भी जन्मादि रूप संसार के नाश ही को शास्त्रों का फल कहा है ॥ ९७ ॥ भोग की सिद्धि के लिये तो मनुष्यों को स्वतः प्रवृत्ति होती है, इसलिये उस भोग में प्रवृत्त शास्त्र अनुवादक होगा, प्रमाण रूप नहीं होगा, अतः उस शास्त्र से भोग की निवृत्ति-विषयक प्रमाण रूप बुद्धि होती है ॥ ९८ ॥ किसी प्रकरण के अनन्तर किसी प्रकरणादि के कथन का हेतु जो ज्ञानेच्छा, उसके जनक ज्ञान की विषयता ही, सङ्गतित्व=सामान्य सङ्गति है ॥९९॥ सो छः प्रकार की होती है। [तथाहि—कथित के सम्बन्धी रूप से स्मृत की उपेक्षा की अयोग्यता, प्रसङ्ग होता है (१) प्रकृतार्थ साधकार्थान्तरकथन उपोद्घात होता है (२) कारणता कार्यता रूप सम्बन्ध हेतुता होती है (३) अवश्य वक्तव्यता अवसर होता है (४) एक साधक साध्यत्व निर्वाहकत्व होता है (५) दोनों को एक कार्यजनकत्व एक कार्यत्वं कहलाता है (६)] ॥१००॥ विद्या, वीरता, दक्षता, बल और धैर्य, इन पाँचो को सहज मित्र कहते हैं, और विद्वान् इन के साथ व्यवहार करते हैं ॥ १०१ ॥ जो नरोत्तम अल्प शास्त्र को सुने, वा कुछ भी नहीं सुने, परन्तु प्राणियों से द्रोह नहीं करे वह सर्वज्ञ कहा गया है ॥ १०२ ॥ जो पतिव्रता पति के आर्त्त होने पर आर्त्त होती है, पति के प्रसन्न रहने पर मुदित=प्रसन्न होती है, पति के परदेशस्थित होने पर मलिन दुबली रहती है, और पति के मरने पर मर मिटती है, वह साध्वी समझी जाती है ॥ १०३ ॥ मनुष्य मारना, चोरी, परदारागमन, क्रूरता, मिथ्या भाषण, ये पाँच प्रकार के साहस कहे गये हैं ॥ १०४ ॥ जिस में अल्प अक्षर हों, परन्तु जो सन्देह रहित अर्थ का बोधक हो, सार वाला हो=श्रेष्ठ अर्थ का बोधक हो विश्वतः=सब तरफ जिस का मुख हो=जिस से कई एक अच्छे भाव प्रकट

धर्मस्य स्खलनं (६५)—

कर्मनाशानदीस्पर्शात्करतोयाविलङ्घनात् ।
गण्डकीबाहुतरणाद्धर्मस्खलतिकीर्त्तनात् ॥१०६॥

सेना (६६)—

एको गजो रथश्चैको नराः पञ्च पदातयः ।
त्रयश्च तुरगास्तज्ज्ञैः पत्तिरित्यभिधीयते ॥१०७॥
पत्तिं तु त्रिगुणामेतामाहुः सेनामुखं बुधाः ।
त्रीणि सेनामुखान्येको गुल्म इत्यभिधीयते॥१०८॥
त्रयो गुल्मा गणो नाम वाहिनी तु गणास्त्रयः ।
स्मृता तिस्रस्तु वाहिन्यः पृतनेति विचक्षणैः॥१०९॥
चमूस्तु पृतनातिस्रस्तिस्रश्चम्वस्त्वनीकिनी ।
अनीकिनीं दशगुणां प्राहुरक्षौहिणीं बुधाः ॥११०॥

महाभा० आदिप० अ० २।१६-२२ ॥

इति त्रयोदशमोङ्कारादिप्रकीर्णप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ स्वमहत्त्ववादः ॥ १४ ॥

ज्ञानं विना विवादोऽत्र महत्त्वे जायतेऽफलः ।
ज्ञानं लब्ध्वा समं ब्रह्म पश्यन्नात्मनि मोदते ॥१॥
ब्रूयाद् यदि समं शम्भुं ब्रह्मविष्ण्वादिभिः सुरैः ।
यः कश्चित्तमसाविष्टः कदाचिन्नैव तं स्पृशेत् ॥२॥
भूमिरापोऽनलो वायु र्व्योमसूर्यश्च चन्द्रमा ।
अष्टमी दीक्षितस्तत्र मूर्त्तिरीशस्य शूलिनः ॥३॥

सौरपु० अ० १८।२७ ॥

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतैः ।
सममन्यै र्निरीक्षेत स पाखण्डी भवेत् सदा ॥४॥
किमत्र बहुनोक्तेन ब्राह्मणा येऽप्यवैष्णवाः ।
न स्प्रष्टव्या न वक्तव्या न द्रष्टव्या कदाचन ॥५॥

पद्मपु० उत्तरखं० ६।२३५।१०-११ ॥

होते हों अस्तोभ=क्रूरतारहित निर्दोष हो, उस को सूत्र वेत्ता सूत्र कहते हैं ॥ १०५ ॥ कर्मनाशा नदी के स्पर्श से कर तोया के विलंघन से, गण्डकी को बाहु द्वारा तरण से और कीर्तन से धर्म स्खलित=क्षीण होता है । यहाँ तृष्णा लोभ का स्पर्श, अनुचित दान प्रतिग्रह, पूज्य का अनादर तिरस्कार, और अहङ्कार से परानादर पूर्वक स्वोत्कर्ष के कथन से धर्म के नाश के कथन में तात्पर्य है ॥ १०६ ॥ एक हाथी, एक रथ, पाँच पदचारी मनुष्य, और तीन घोड़े इतने को विद्वान् पत्ति कहते हैं ॥ १०७ ॥ इस पत्ति के त्रिगुणा= ३ हाथी ३ रथ, १५ पदचारी, ९ घोड़े को बुध = पण्डित सेना मुख कहते हैं । तीन सेना मुख=९ हाथी, ९ रथ, ४५ पदचारी, २७ घोड़े इतने को गुल्म कहते हैं ॥ १०८ ॥ तीन गुल्म=२७ हाथी, २७ रथ, १३५ पदचारी, ८१ घोड़े इतने को गण कहते हैं । तीन गण=८१ हाथी, ८१ रथ, ४०५ पदचारी, २४३ घोड़े इतने को वाहिनी, कहते हैं, तीन वाहिनी=२४३ हाथी, २४३ रथ, १२१५ पदचारी, ७२९ घोड़े, इतने को विद्वान् पृतना कहते हैं ॥ १०९ ॥ तीन पृतना=७२९ हाथी ७२९ रथ, ३६४५ पदचारी, २१७८ घोड़े इतने को चमू कहते हैं । तीन चमू=२१७८ हाथी, २१७८ रथ, १०९३१ पदचारी, ६५३४ घोड़े इतने को अनीकिनी कहते हैं । अनीकिनी के दश गुणे को पण्डित अक्षौहिणी कहते हैं ॥ ११० ॥ तेरहवाँ ओङ्कारादिप्रकीर्णप्रकरण समाप्त ॥

अथ स्वमहत्त्ववाद—इस संसार में पूर्ण ज्ञान के विना महत्त्व विषयक निष्फल विवाद होता है, और ज्ञान को पा कर सम ब्रह्म को देखता हुआ आत्मा में आनन्द करता है ॥१॥ विवाद से कहा जाता है, कि यदि कोई ब्रह्मा विष्णु आदि देव के तुल्य शम्भु को कहे, तो वह तमोगुण से आविष्ट=व्याप्त है, कभी उसका स्पर्श नहीं करना चाहिये ॥२॥ पृथिवी आदि दीक्षितान्त आठ शूलधारी ईश की मूर्तियाँ हैं ॥३॥ शैव के बाद वैष्णव कहते हैं, कि जो नारायण देव को ब्रह्मा रुद्रादि देवताओं के समान वा अन्य के समान देखेगा, वह सदा पाखण्डी होगा ॥ ४ ॥ यहाँ बहुत कहने से क्या फल है ? जो ब्राह्मण भी अवैष्णव हो, वह कभी स्पर्श, बात

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।
चत्त्वार आश्रमा ह्येते पञ्चमो वैष्णवाश्रमः ॥६॥
वर्णाश्रमाभिमानेन श्रुते र्दासो भवेन्नरः ।
वर्णाश्रमविहीनाश्च तिष्ठन्ति श्रुतिमूर्द्धनि ॥७॥
नारदपञ्चरात्रे ॥

तापः पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः ।
अमी हि पञ्च संस्काराः परमैकान्त्यहेतवः ॥८॥

कल्पिताः कर्मबन्धेन विष्णुमायाविमोहिताः ।
अपि देवा न जानन्ति स्वात्मानं किमुतापरे ॥९॥

वदन्ति धर्मान् व्यामिश्रान् वेदाः स्कन्धमयाः किल
श्रुति र्मोक्षमयी प्राह शुद्धं मोक्षैकलक्षणम् ॥१०॥

प्रायेण धर्मान् व्यामिश्रानूचु र्मन्वत्रिपूर्वकाः ।
शुद्धांस्तु वयमन्ये च पञ्चरात्रपथानुगाः ॥११॥
त्रैविद्यानां सदा मिश्राः प्रायेण विहिताः क्रियाः ।
ज्ञानं भक्तिश्च वैराग्यं सर्वं शुद्धमुदाहृतम् ॥१२॥

यथा यथा निषेवेत सतो वृद्धान्निरन्तरम् ।
तथा तथाऽस्य वै बुद्धिर्निरयाय हि वर्द्धते ॥१३॥
नानाविधेषु ज्ञानेषु नराः संशयिनोऽधमाः ।
निश्चयं नाधिगच्छन्ति लिङ्गमात्रधराः क्वचित् १४
देहात्मस्वर्गनरकपुण्यपापविमर्शिनः ।
गतानुगतिका मूढा नश्यन्ति पशुबुद्धयः ॥१५॥
भरद्वाजसंहितापरिशिष्टे ॥

रुद्रार्चनं त्रिपुण्ड्रस्य धारणं यत्र दृश्यते ।
शूद्राणां च विधिः प्रोक्तो न द्विजानां कदाचन॥१६॥
जटिला मुण्डिताश्चैव तिर्यक् पुण्ड्रधरास्तथा ।
भविष्यन्ति त्रयीबाह्या मिथ्याज्ञानप्रलापिनः ॥१७॥
ब्राह्मणः श्रोत्रियो विद्वान् भस्मधारी भवेद्यदि ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वं नरकं चाधिगच्छति ॥१८॥
इत्यादि, वैष्णवानां वचनम् ॥
तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम् ।
येन विप्रेण शिरसि त्रिपुण्ड्रं भस्मना धृतम् ॥१९॥

और दर्शन के योग्य नहीं है ॥५॥ ब्रह्मचारी आदि चार आश्रमी हैं, पञ्चम वैष्णवाश्रमी हैं ॥ ६ ॥ वर्णाश्रम के अभिमान से मनुष्य वेद का दास होता है, वर्णाश्रम से रहित लोग वेद के शिर में स्थिर होते हैं ॥ ७ ॥ तप्त शङ्ख चक्र द्वारा ताप, ऊर्ध्वपुण्ड्र, नाम, मन्त्र, याग, ये पाँच संस्कार परमैकान्त्य = अतिदृढ अनन्य भक्ति के हेतु हैं ॥८॥ कर्म बन्धन से कल्पित=सिद्ध-युक्त विष्णु की माया से मोहित देव भी भक्ति आदि के विना आत्मा को नहीं जानते हैं, तो अन्य क्या जानेंगे ? ॥ ९ ॥ स्कन्धमय = शाखामय वेद व्यामिश्र= त्रिगुणमय धर्मों को कहते हैं, मोक्षमयी श्रुति = उपनिषद् मोक्ष के हेतु रूप शुद्ध धर्म को कहती हैं ॥ १० ॥ मनु आदि ने सब प्रायः व्यामिश्र धर्म को कहा है, हम और अन्य पञ्चरात्रपथ के अनुगामी शुद्ध धर्मों को कहते हैं ॥ ११ ॥ तीन वेदज्ञों की विहित क्रियाएँ सदा व्यामिश्रित रहती हैं, हम लोगों से ज्ञान भक्ति वैराग्य सब शुद्ध कहे गये हैं ॥ १२ ॥ उन के कथनानुसार ज्यों २ सत्पुरुष वृद्धों को = वृद्धान् सतः वृद्ध रूपता को प्राप्तों को निरन्तर सेवता है, त्यों २ इस सेवने वाले की बुद्धि नरक के ही लिये बढ़ती है ॥ १३ ॥ नाना प्रकार के ज्ञानों में संशय युक्त वेष मात्रधारी अधम मनुष्य कहीं निश्चय नहीं प्राप्त करते हैं ॥ १४ ॥ निश्चय के विना देह आत्मा स्वर्ग नरक पाप पुण्य के विचार करने वाले गतानुगतिक= चलते के पीछे चलने वाले पशु तुल्य बुद्धि वाले मूढ नष्ट होते हैं ॥ १५ ॥ रुद्र की पूजा, तिर्यक् त्रिपुण्ड्र का धारण जिस विधि शास्त्र में देखा जाता है, सो शूद्रों की विधि कही गई है, द्विजों के लिये कभी नहीं ॥ १६ ॥ जटाधारी, मुण्डित, तिर्यक् त्रिपुण्ड्रधारी, वेदबाह्य मिथ्याज्ञान के प्रलापी होंगे ॥ १७ ॥ श्रोत्रिय = वेद का अध्ययन कर्ता विद्वान् ब्राह्मण, यदि भस्मधारी होगा, तो वह जीते में ही शूद्रता को प्राप्त होगा, और मरने पर नरक में जाता है ॥ १८ ॥ उसी विप्र ने पढ़ा सुना और सब सुकर्म किया, कि

त्यक्तवर्णाश्रमाचारो लुप्तसर्वक्रियोऽपि यः ।
सकृत्तिर्यक् त्रिपुण्ड्राङ्कधारणात्सोऽपि पूज्यते॥२०॥
ये भस्मधारणं त्यक्त्वा कर्म कुर्वन्ति मानवाः ।
तेषां नास्ति विनिर्मोक्षः संसाराज्जन्मकोटिभिः॥२१॥
महापातकयुक्तानां पूर्वजन्मकृतागसाम् ।
त्रिपुण्ड्रोद्धूलने द्वेषो जायते सुदृढं बुधाः ! ॥२२॥

बृहज्जाबालोपनिषदि ॥

महापापवतां नृणां परमाद्वैतवेदने ।
प्रद्वेषो जायते साक्षाद्वेदजन्ये शिवेऽपि च ॥२३॥
महापापवतां नृणां शिवज्ञानस्य साधने ।
सर्वाङ्गोद्धूलने तिर्यक् त्रिपुण्ड्रस्य च धारणे ॥
प्रद्वेषो जायते नित्यं शिवशब्दजपेऽपि च ॥२४॥

इत्यादि ॥ ब्रह्मगीतायाम् ॥ शैवानां वचनम् ॥

आगमः पञ्चमो वेदः कौलस्तु पञ्चमाश्रमः॥२५॥

प्राणतोषिणी कां० २। निरुत्तरतन्त्रवाक्यम् ॥

शाक्ते शाक्तो गुरुः शस्तः शैवे शैवो गुरुर्मतः ।
वैष्णवे वैष्णवः सौरे सौरो गुरुरुदाहृतः ॥२६॥
गाणपे गाणपः ख्यातः कौलः सर्वत्र सद्गुरुः ।
अतः सर्वात्मना धीमान् कौलाद्दीक्षां समाचरेत्२७

इत्यादि । महानिर्वाणतं० उल्ला० २ ॥

सर्वेभ्यश्चोत्तमा वेदा वेदेभ्यो वैष्णवं परम् ।
वैष्णवादुत्तमं शैवं शैवाद्दक्षिणमुत्तमम् ॥२८॥
दक्षिणादुत्तमं वामं वामात् सिद्धान्तमुत्तमम् ।
सिद्धान्तादुत्तमं कौलं कौलात्परतरं न हि ॥२९॥
चतुर्वेदी कुलाज्ञानी श्वपचादधमः प्रिये ! ।
श्वपचोऽपि कुलज्ञानी ब्राह्मणादतिरिच्यते ॥३०॥
पशुशास्त्राणि सर्वाणि मयैव कथितानि हि ।
मूर्त्यन्तरं तु गत्वैव मोहनाय दुरात्मनाम्॥३१॥

कुलार्णवतं० उल्ला० २ ॥

कापालं भैरवं चैव यामलं वाममार्हतम् ।
एवं विधानि चान्यानि मोहनार्थानि तानि तु॥३२॥

कूर्मपु० अ० १२ ।

जिस ने शिर में भस्म से तिर्यक् त्रिपुण्ड्र का धारण किया ॥ १९ ॥ वर्णाश्रम के आचारों को त्यागने वाला सब क्रियाओं से रहित भी जो पुरुष है, सो भी एक बार तिर्यक् त्रिपुण्ड्र के धारण से पूज्य होता है ॥ २० ॥ जो मनुष्य भस्म धारण को त्याग कर कर्म करते हैं, उन को संसार से कोटि जन्मों में भी मुक्ति नहीं होती है ॥ २१ ॥ हे पण्डितों ! महापातकयुक्त पूर्व जन्मों में अपराध = पाप करने वालों को त्रिपुण्ड्र युक्त उद्धूलन भस्म धारण में अत्यन्त द्वेष होता है ॥ २२ ॥ महापापी मनुष्यों को परम अद्वैत के ज्ञान में और वेद जन्य शिव = शुभ साक्षात् मोक्ष में भी द्वेष होता है ॥ २३ ॥ शिवज्ञान के साधन में सर्वाङ्गोद्धूलन = भस्म धारण तिर्यक्त्रिपुण्ड्र का धारण जप, इन सब में महापापी मनुष्यों को सदा द्वेष होता है ॥ २४ ॥ आगम पञ्चम वेद है, और कौल पञ्चमाश्रम है ॥ २५ ॥ शाक्तों में शाक्त शस्त = प्रशस्त-शुभ गुरु है, शैव में शैवगुरु माना गया है, वैष्णवों में वैष्णव गुरु है, सौर = सूर्योपासकों में सौर गुरु कहा गया है ॥ २६ ॥ गाणप = गणेशोपासक में गाणप गुरु कहा गया है, और कौल सर्वत्र सद्गुरु है, इससे बुद्धिमान् सर्वथा कौल से दीक्षा का आचरण = ग्रहण करे ॥ २७ ॥ अन्य सब से वेद उत्तम हैं, वेदों से वैष्णवशास्त्र उत्तम है, वैष्णव से शैव उत्तम है, शैव से दक्षिण मार्ग उत्तम है, दक्षिण से वाममार्ग उत्तम है, वाम से सिद्धान्त उत्तम है, उससे कौल उत्तम है, कौल से परतर कोई नहीं है ॥ २८-२९ ॥ हे प्रिये ! = पार्वति ! चारों वेद का ज्ञाता भी कुलार्णव तन्त्रादि का अज्ञानी पुरुष श्वपच से भी अधम = नीच है, और श्वपच भी कुल का ज्ञानी ब्राह्मण से श्रेष्ठ है ॥ ३० ॥ मैंने ही दूसरी मूर्ति = शरीर में जा कर दुरात्माओं के मोहने के लिये सब पशुशास्त्रों को कहा है ॥३१॥ कापाल, भैरव, यामल, वाम, आर्हत, इस प्रकार के अन्य भी जो

साङ्ख्यं योगं पाञ्चरात्रं शैवं पाशुपतं तथा ।
कृतान्तपञ्चकं ज्ञेयं ब्रह्मणः परिमार्गणे ॥३३॥
विष्णुधर्मोत्तरपु० अ० ७५ ॥

अरुद्राक्षधरो भूत्वा यत्किञ्चित्कर्मवैदिकम् ।
कुर्वन् विप्रस्तु मोहेन नरके पतति ध्रुवम् ॥३४॥

उच्छिष्टो वा विकर्मस्थो युक्तो वा सर्वपातकैः ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो रुद्राक्षस्य तु धारणात् ॥३५॥

कण्ठे रुद्राक्षमाबध्य श्वापि वा म्रियते यदि ।
सोऽपि मुक्तिमवाप्नोति किं पुन र्मानुषोऽपि सः॥३६॥
देवीभा० स्क० ११।५।१४-३२-३३ ॥

यस्य भाले विभूति र्न नाङ्गे रुद्राक्षधारणम् ।
न शम्भो र्भवने पूजा स विप्रः श्वपचाधमः॥३७॥

खादन् मांसं पिवन् मद्यं सङ्गच्छन्नन्त्यजानपि ।
पातकेभ्यो विमुच्येत रुद्राक्षे शिरसि स्थिते॥३८॥
देवीभा० स्क० ११।६।७-८ ॥

अग्निरित्यादिभि र्मन्त्रैः षड्भिः शुद्धेन भस्मना ।
सर्वाङ्गोद्धूलनं कुर्याच्छिरोव्रतसमाह्वयम् ॥३९॥
देवीभा० ११।६।१२ ॥

अभक्ष्यभक्षणं येषां भस्मधारणपूर्वकम् ।
तेषां तद्भक्ष्यमेव स्यान्मुने ! नात्र विचारणा॥४०॥
देवीभा० स्क० ११।१४।१३ ॥

ऊर्ध्वपुण्ड्रधरो मर्त्यो म्रियते यत्र कुत्रचित् ।
श्वपाकोऽपि विमानस्थो मम लोके महीयते ॥४१॥

श्रौतलिङ्गं तु विज्ञेयं त्रिपुण्ड्रोद्धूलनादिकम् ।
अश्रौतमूर्ध्वपुण्ड्रादि नैव तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम्॥४२॥
देवीभा० स्क० ११।१५।९३-११६ ॥

मात्स्यं कौर्मं तथा लैङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च ।
आग्नेयं च षडेतानि तामसानि निबोध मे ॥४३॥

वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम् ।
गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शनम् ॥४४॥

सात्त्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै ।
ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्त्तं मार्कण्डेयं तथैव च ॥४५॥

हैं, सो मोहने के लिये हैं ॥ ३२ ॥ सांख्य, योग, पांचरात्र, शैव, पाशुपत, ये पाँच कृतान्त=सिद्धान्त ब्रह्माऽन्वेषण में समझना चाहिये ॥ ३३ ॥ रुद्राक्ष के धारण के विना मोह से कोई भी वैदिक कर्म करता हुआ विप्र अवश्य नरक में गिरता है ॥ ३४ ॥ उच्छिष्ट=शौचरहित विरुद्ध कर्मस्थ, सब पातक से युक्त भी, रुद्राक्ष के धारण से सब पापों से मुक्त होता है ॥ ३५ ॥ यदि कुत्ता भी रुद्राक्ष को गले में बाँध कर मरता है, तो वह भी मुक्ति पाता है, फिर वह रुद्राक्षधारी मनुष्य हो तो कहना ही क्या है ? ॥ ३६ ॥ जिस ब्राह्मण के भाल=ललाट में विभूति=भस्म नहीं है, न अङ्ग=देह में रुद्राक्ष का धारण है, न घर में शिव की पूजा है, वह विप्र श्वपच से नीच है ॥३७॥ मांस खाता हुआ, मद्य पीता हुआ, अन्त्यजा-गमन कर्ता हुआ भी वह पातकों से मुक्त होता है, कि जिसके शिर में रुद्राक्ष स्थिर रहते हैं ॥ ३८ ॥ 'अग्निमीले (डे)' इत्यादि छः मन्त्रों द्वारा शुद्ध भस्म से शिरोव्रत नामक सर्वाङ्गोद्धूलन करे ॥ ३९ ॥ हे मुने ! भस्म के धारण पूर्वक जिनको अभक्ष्य भक्षण होता है, उनको वह भक्ष्य भक्षण ही हो जाता है, इसमें विचारणा कर्तव्य नहीं है ॥ ४० ॥ ऊर्ध्वपुण्ड्रधारी श्वपाक मनुष्य भी जहाँ कहीं मरता है, तो वह विमान में स्थिर होकर मेरे लोक में पूजित होता है ॥ ४१ ॥ त्रिपुण्ड्र उद्धूलनादि श्रुतिविहित लिङ्ग=वेष जानना चाहिये और ऊर्ध्वपुण्ड्रादि को अश्रौत=अवैदिक जानना चाहिये, तिर्यक् त्रिपुण्ड्र को नहीं ॥ ४२ ॥ इन मात्स्यादि छः पुराणों को मेरे वचन से तामस समझो। वैष्णव, नारदीय, शुभ भागवत, गारुड, पाद्म, वाराह को शुभदर्शन रूप ज्ञान रूप जानो ॥ ४३-४४ ॥ क्योंकि वैष्णवादि पुराण सात्त्विक समझने

भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे ।
सात्त्विका मोक्षदाः प्रोक्ता राजसा सर्वदाः शुभाः॥
तथैव तामसा देवि ! निरयप्राप्तिहेतवः ॥४६॥
पद्मपुराणे शिववाक्यानि । तथा—
वासिष्ठं चैव हारीतं व्यासं पाराशरं तथा ।
भारद्वाजं काश्यपं च सात्त्विका मुक्तिदाः शुभाः॥४७॥
याज्ञवल्क्यं तथाऽऽत्रेयं तैत्तिरं दाक्षमेव च ।
कात्यायनं वैष्णवं च राजसाः स्वर्गदाः शुभाः॥४८॥
गौतमं वार्हस्पत्यं च सांवर्तं च यमं स्मृतम् ।
सांख्यं चौशनसं चेति तामसा निरयप्रदाः ॥४९॥
पद्मपुराणे स्मृतिभेदा उक्ताः ॥

इति चतुर्दशं स्वमहत्ववादप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ निर्णयः ॥ १५ ॥

मायया हृतचित्तानां तावत्सम्मोहनं भवेत् ।
भ्रमणं चापि संसारे यावत्स्यान्निर्णयो न हि ॥१॥
उक्ता अन्ये विवादाश्च वावदूकजनप्रियाः ।
स्वस्वस्तुतिपराः सर्वे परदोषप्रदर्शकाः ॥२॥
नैते भव्यजनप्रेयो भव्या हि कुशलक्रमाः ।
सारमाददते सर्वं सर्वत्रैव सुखावहम् ॥३॥
अहिंसाशौचसंयुक्ताः सत्यधर्मपरायणाः ।
भव्या भवन्ति सर्वत्र मुह्यन्ति न कुशब्दकैः ॥४॥
अभव्या वेषमात्रेण मोक्षमिच्छन्ति कामुकाः ।
वेदतत्त्वं न पश्यन्ति रागद्वेषपराहताः ॥५॥
सारसङ्ग्रहणार्थं च निर्णयान्वेषिणश्च ते ।
भव्या भवन्ति सन्त्यज्य रागद्वेषादिकं बुधाः ॥६॥
उपक्रमादिभि लिङ्गैः सच्छास्त्राणां च सत्पदे ।
तात्पर्यं ते विनिश्चित्य तत्र युक्ता भवन्ति वै ॥७॥
निर्णयः सूतगीतादौ द्रष्टव्यो वै मुमुक्षुभिः ।
येन तत्त्वावबोधेन सुदुर्बुद्धि विनश्यति ॥८॥
तथाहि—
परतत्त्वादपि श्रेष्ठो रुद्रो विष्णुः पितामहः ।
इति निश्चयबुद्धिस्तु सत्यं संसारकारणम् ॥९॥
रुद्रो विष्णुः प्रजानां च स्वाराट् सम्राट् पुरन्दरः ।

योग्य शुभ हैं, और ब्रह्माण्डादि को मेरे वचन से राजस समझो । तिनमें सात्त्विक पुराण मोक्ष देने वाले कहे गये हैं, राजस सदा शुभ कहे गये हैं, परन्तु हे देवि ! तामस नरक प्राप्ति के हेतु कहे गये हैं ॥ ४५–४६ ॥ वसिष्ठादि रचित स्मृतियाँ शुभ सात्त्विक मोक्षदायक हैं ॥ ४७ ॥ याज्ञवल्क्यादि स्मृति राजस और शुभ स्वर्गदायक हैं ॥४८॥ गौतमादि स्मृति तामस नरकदायक हैं ॥४९॥ चौदहवाँ स्वमहत्ववादप्रकरण समाप्त ॥

अथ निर्णय—माया से वशीकृत नष्ट चित्त वालों का तब तक संसार में सम्मोहन और भ्रमण होता है, कि जब तक निर्णय = विवेक पूर्वक निश्चय नहीं होता है ॥ १ ॥ पूर्वोक्त और इसी प्रकार के अन्य बहुत विवाद वावदूक = अतिवक्ता जनों को प्रिय हैं, वे लोग अपनी २ स्तुति में तत्पर हैं, और अन्य के दोषों के प्रदर्शक हैं ॥ २ ॥ भव्य = शुभ सत्य जनों को ये वाद प्रेयस् = अतिप्रिय नहीं हैं, जिससे भव्य लोग कुशल = शुभ क्रम = विधि वाले होते हैं ॥ सर्वत्र सुख ही देने वाले सब सार = सत्य ही को सर्वत्र ग्रहण करते हैं ॥ ३ ॥ भव्य लोग अहिंसा और शौच से संयुक्त सर्वत्र रहते हैं, कुशब्दों से मोहित नहीं होते हैं ॥ ४ ॥ कामुक अभव्य रागद्वेष से नष्ट होते हुए वेष मात्र से मोक्ष चाहते हैं, और वेद के तत्त्व को नहीं देखते हैं ॥ ५ ॥ और वे भव्य पण्डित रागद्वेषादि को त्याग कर सार संग्रह के लिये निर्णय के अन्वेषण = (खोज) वाले होते हैं ॥ ६ ॥ और वे भव्य लोग उपक्रमादि रूप लिङ्गों द्वारा सत् शास्त्रों के तात्पर्य को सत्य वस्तु में जान कर, उसी में सावधान होते हैं ॥ ७ ॥ सूत गीता आदि में मुमुक्षुओं से निर्णय द्रष्टव्य है कि-जिससे तत्त्वज्ञान द्वारा अतिदुर्बुद्धि नष्ट होती है ॥ ८ ॥ परतत्त्व से भी श्रेष्ठ रुद्र विष्णु ब्रह्मा हैं, इस प्रकार का निश्चय रूप ज्ञान सत्य संसार का कारण है ॥ ९ ॥ और रुद्र विष्णु प्रजाओं

परतत्त्वमिति ज्ञानं नराणां मुक्तिकारणम् ॥१०॥
अमात्ये राजबुद्धिस्तु न दोषाय फलाय हि ।
तस्माद् ब्रह्ममति र्मुख्या सर्वत्र न हि संशयः ॥११॥

किञ्च—

ब्रह्मैव चायमात्मास्ति सर्वं ब्रह्म त्विदं खलु ।
नेह नानास्ति च ब्रह्म वेत्ता ब्रह्म श्रुते र्वचः ॥१२॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥१३॥

कठोप० १।२।२४ ॥

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ति वासना सरित् ।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि ॥१४॥

मुक्तिकोप० २।६ ॥

यथाक्षणं यथाशास्त्रं यथादेशं यथासुखम् ।
यथासम्भवसत्सङ्गमिमं मोक्षपथक्रमम् ॥
तावद्विचारयेत्प्राज्ञो यावद्विश्रान्तिमात्मनि ॥१५॥

महोपनि० ४।३६ ॥

तात्पर्यनिर्णायकोपक्रमादयः

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य निर्णये ॥१६॥

वृद्धवाक्यम् ॥

वस्तुनः प्रतिपाद्यस्यादावन्ते प्रतिपादनम् ।
उपक्रमोपसंहारौ तदैक्यं कथितं बुधैः ॥१७॥

वस्तुनः प्रतिपाद्यस्य पठनं च पुनः पुनः ।
अभ्यासः प्रोच्यते प्राज्ञैः स एवावृत्तिशब्दभाक् ॥१८॥

शास्त्रभिन्नप्रमाणस्याविषयत्वमपूर्वता ।
कुत्रचित्स्वप्रकाशत्वमप्यमेयतयोच्यते ॥१९॥

श्रूयमाणं तु तज्ज्ञानात्तत्प्राप्त्यादिप्रयोजनम् ।
फलं प्रकीर्त्तितं प्राज्ञै र्मुख्यं मोक्षैकलक्षणम् ॥२०॥

वस्तुनः प्रतिपाद्यस्य प्रशंसनमथापि वा ।
निन्दा तद्विपरीतस्य ह्यर्थवादः स्मृतो बुधैः ॥२१॥

के स्वाराट=स्वामी सम्राट्=राजा, इन्द्र ये परतत्त्व=ब्रह्म हैं, इस प्रकार का ज्ञान मनुष्यों की मुक्ति का कारण है ॥ १० ॥ क्योंकि अमात्य=मन्त्री में राजात्व का ज्ञान दोष के लिये नहीं होता है किन्तु फल के लिये होता है, तिससे सर्वत्र ब्रह्म बुद्धि मुख्य ही है, इस में संशय नहीं ॥ ११ ॥ अयमात्मा ब्रह्म=यह आत्मा ब्रह्म ही है, यह सब विश्व ब्रह्म ही है, इस ब्रह्म में नाना=भेद कुछ नहीं है, और ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म है, इत्यादि श्रुति का कथन है ॥१२॥ दुश्चरित्र=दैहिक पाप से अनिवृत्त, अशान्त=इन्द्रिय की चञ्चलता युक्त, असमाहित=चञ्चल मन वाला-एकाग्रता रहित मन वाला इस आत्म तत्त्व को नहीं प्राप्त कर सकता है, समाहित होने पर भी अशान्त=सन्तोष रहित-फलेच्छायुक्त मन वाला इसे नहीं पा सकता है, किन्तु दुश्चरित्रों से निवृत्त, शान्त समाहित, शान्त, मन वाला गुरु आदि से आत्मतत्त्व को पाता है ॥ १३ ॥ शुभाशुभ मार्ग से चलती हुई वासना रूप नदी को पुरुषार्थ रूप यत्न से शुभ मार्ग ही में लगाना चाहिये ॥ १४ ॥ समय शास्त्र देश सुख यथासम्भव सत्संग के अनुसार इस मोक्ष मार्ग के क्रम=विधि को विद्वान् तब तक विचार करे कि जब तक आत्मा में विश्रान्ति पावे ॥ १५ ॥

अथ तात्पर्यनिर्णायकोपक्रमादि—उपक्रमोपसंहारादि छः शास्त्र के तात्पर्य निर्णय में लिङ्ग=हेतु होते हैं ॥१६॥ प्रतिपादनीय वस्तु का आदि और अन्त में प्रतिपादन उपक्रम और उपसंहार है, सो एक लिङ्ग है ॥१७॥ प्रतिपादनीय वस्तु का बार २ पाठ अभ्यास रूप दूसरा लिङ्ग विद्वानों से कहा जाता है, वही आवृत्ति शब्द का अर्थ भी है ॥ १८ ॥ शास्त्र से अन्य प्रमाण की अविषयता अपूर्वता है, कहीं अमेयता=अप्रमेयता से जो स्वप्रकाशत्व=स्वयं प्रकाशत्व है, वह भी अपूर्वता कही जाती है ॥ १९ ॥ उस के ज्ञान से जो उस वस्तु की प्राप्ति आदि सुनी जाती है, वही प्रयोजन फल है जो मोक्ष स्वरूप मुख्य फल विद्वानों से कहा गया है ॥ २० ॥ प्रतिपादनीय वस्तु की प्रशंसा वा उससे विपरीत वस्तु की निन्दा विद्वानों से अर्थवाद कहा गया

वस्तुनः प्रतिपाद्यस्य युक्तिभिः प्रतिपादनम् ।
उपपत्तिः प्रविज्ञेया दृष्टान्ताद्या ह्यनेकधा ॥२२॥
एतल्लिङ्गविचारेण भवेत्तात्पर्यनिर्णयः ।
तात्पर्यं यस्य शब्दस्य यत्र स्यात्स तदर्थकः ॥२३॥
सर्वेषूपनिषद्ग्रन्थेषूपासनमनेकधा ।
ज्ञानशेषं तु तज्ज्ञेयं चित्तशुद्धिकरं यतः ॥२४॥

पण्डित श्रीपीताम्बरशर्मोक्तिः ॥ वस्तुतः—

महतां सर्ववाक्यानि जीवकल्याणहेतवे ।
अज्ञानां मन्दबुद्धित्वाद्विवादस्तत्र जायते ॥२५॥
भक्तौ कर्मणि सज्ज्ञाने विवेके योगवर्त्मसु ।
उपयुक्तं महद्वाक्यं कुत्रापि ह्यवशं भवेत् ॥२६॥
किन्तु कश्चिन्महान्तं वै पुरस्कृत्यामहत्कृतम् ।
वाक्यं वैरूप्ययुक्तं च रागद्वेषावहं भवेत् ॥२७॥
विवेकेन हि तत्त्याज्यं मुमुक्षुभिः सदा तथा ।
सद्वाक्यं सर्वथा ग्राह्यमुपयोगानुसारतः ॥२८॥

मङ्गलादिकम्—

वाचां सारं मनःसारं जगत्सारं च जन्मनः ।
सर्वस्माच्च परं पारं निर्विकारमहं भजे ॥२९॥
अरूपानन्तरूपाय निर्गुणाय गुणात्मने ।
साक्षिणे चित्स्वरूपाय रामाय गुरवे नमः ॥३०॥
अक्षराय सदा शुद्धबुद्धाय परमात्मने ।
परापरस्वरूपाय स्वप्रकाशात्मने नमः ॥३१॥
हेयादेयविहीनाय सर्वस्यैव सदात्मने ।
नित्यानन्दस्वरूपाय विमुक्ताय नमो नमः ॥३२॥
सर्वैरेव च गन्तव्यं तत्पदं पारमार्थिकम् ।
विचित्रदेशकालोत्थैः पुरमेकमिवाध्वगैः ॥३३॥
रागद्वेषादिदोषाणां पदे न विद्यते पदम् ।
तत्रैति मिलित्वाऽत्र ब्रह्मानन्दोऽनुभूयताम् ॥३४॥
आत्मानन्दः स एवाथ ज्ञानानन्दोऽभिधीयते ।

है ॥ २१ ॥ प्रतिपादनीय वस्तु का जो युक्ति से प्रतिपादन सो उपपत्ति समझनी चाहिये, वह दृष्टान्तादि रूप अनेक प्रकार की होती है ॥ २२ ॥ इस लिङ्ग के विचार से शास्त्र के तात्पर्य का निश्चय होता है, और जिस शब्द का जिस अर्थ में तात्पर्य रहता है, वह शब्द उस अर्थ वाला होता है ॥ २३ ॥ सब उपनिषद् ग्रन्थों में जो अनेक की उपासना है, उस को ज्ञान का अङ्ग समझना चाहिये, क्यों कि वह चित्तशुद्धि-कारक है ॥ २४ ॥ और वस्तुतः महात्माओं के सब वाक्य जीवों के कल्याण के लिये हैं, परन्तु मन्द-बुद्धिता से अज्ञों को उसमें विवाद होता है ॥ २५ ॥ महापुरुष का वाक्य भक्ति कर्म सत्यज्ञान विवेक योग मार्गों में कहीं अवश्य उपयोगी=सफल रहता है ॥ २६ ॥ परन्तु किसी महात्मा को आगे कर के=महात्मा के नाम से अमहान्=तुच्छ पुरुष का किया हुआ वाक्य विरूपता=विषमता-विरोध युक्त रागद्वेष को प्राप्त कराने वाला होता है ॥ २७ ॥ मुमुक्षुओं से वह वाक्य सदा विवेक द्वारा त्याग के योग्य है, और उपयोग=फलानुसार सत्पुरुषों के वाक्य सर्वथा ग्रहण के योग्य हैं ॥ २८ ॥ वचनों के सार=सब इन्द्रियों के सत्ता प्रकाशप्रद, मन के सार, जगत् के सार, जन्म के सार=मुख्यफल सब से पर=भिन्न-उत्तम और संसार सागर पार=सीमा-उत्तर तट रूप निर्विकार को मैं भजता हूँ ॥२९॥ वस्तुतः अरूप होते हुए भी माया से अनन्त रूप वाले, वस्तुतः निर्गुण होते हुए भी माया से गुणात्मा, साक्षी चितिस्वरूप राम गुरु के प्रति नमस्कार है ॥३०॥ अक्षर=अविनाशी, सदा शुद्ध बुद्ध, पर अपरस्वरूप, स्वयं प्रकाश स्वरूप परमात्मा के प्रति नमस्कार है ॥३१॥ हेय आदेय=त्याज्य, ग्राह्य से रहित सब के सत्यात्मा नित्यानन्दस्वरूप विमुक्त के प्रति नमस्कार है ॥३२॥ सब को अनेक विचित्र साधनों द्वारा वह एक पारमार्थिक सच्चिदानन्द रूप पद=वस्तु ही गन्तव्य=प्राप्ति के योग्य-उद्देश्य है, जैसे विचित्र देश काल से चले हुए पथिकों को एक पुर गन्तव्य रहता है ॥ ३३ ॥ तिस ब्रह्मानन्दरूप पद = वस्तु में रागद्वेषादि दोषों का पद = स्थान नहीं है, वह सब के लिये सम सर्वात्मा है, इससे यहाँ मिल करके सब ब्रह्मानन्द का अनुभव करें ॥ ३४ ॥ वह ब्रह्मानन्द ही

तत्र न भेदलेशोऽपि विद्यतेऽज्ञाननाशनात् ॥३५॥
दुःखमज्ञानजं सर्वं मोहकामादिपूर्वकम् ।
ज्ञानमज्ञानमाच्छिद्य सत्यानन्दं व्यनक्तु तम् ॥३६॥
हनुमता हि कृतोऽस्ति सुसङ्ग्रहो,
भवतु सद्विदुषां सुखसिद्धये ।
विरचितेन सदा ह्यमुना भवे,
जनहितं च करोतु सदीश्वरः ॥३७॥
सद्धर्मादिसुबोधिकाऽथ विदुषां स्वानन्दसूल्लासिनी,
कामाधर्मविनाशिनी च परमब्रह्मात्मसन्दीपिनी ।
साधोश्चिन्तितसर्वसाधनपरा सद्वाक्यरत्नावली,
विन्यस्ता जनमानसे हनुमता भूयात्सुचिन्तामणिः॥
चिन्तामणि र्हरिः साक्षात्स सर्वहृन्निकेतनः ।
तदात्मना वसत्वेषा सर्वस्य हृदये सदा ॥३९॥
विधुनोतु मलं सर्वं करोतु सर्वमङ्गलम् ।
वितनोतु सुखं सर्वं प्रार्थये हरिमव्ययम् ॥४०॥
मोहहन्तारमत्यच्छं रमितारामव्ययम् ।
हरिं हरं कृपालुं च गुरून् वन्दे चिदन्वितान्॥४१॥
कबीरं करुणागारं नित्यं वन्दे परं गुरुम् ।
यत्पादे नमनाद् भूयः क्वापि न नमताज्जनः॥४२॥

इति पञ्चदशं निर्णयप्रकरणं समाप्तम् ॥

इति श्रीतत्त्वार्थमणिमालायां स्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्रिसङ्गृहीतायां योगनामकं दशमं काण्डं समाप्तम् ॥

सम्पूर्णा चेयं स्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्रिसङ्गृहीता तत्त्वार्थमणिमाला ॥

आत्मानन्द और ज्ञानानन्द भी कहा जाता है, अज्ञान के नाश से उस में भेद का लेश भी नहीं रहता है ॥ ३५ ॥ मोहकामादिपूर्वक सब दुःख अज्ञान जन्य हैं, ज्ञान अज्ञान को नष्ट करके उस सत्य आनन्द को अभिव्यक्त करे ॥ ३६ ॥ मुझ 'हनुमान' से किया गया यह सुसंग्रह सत्य के विवेकियों की सुखसिद्धि के लिये हो, और इस संग्रह द्वारा सत्य स्वरूप ईश्वर सदा संसार में जन का हित ही करें ॥ ३७ ॥ सत्यधर्मादि की बोधिका और विद्वानों के आत्मानन्द की सम्यग् उद्दीपिका, काम अधर्म की विनाशिका, परब्रह्मरूप से आत्मा की संदीपिका = प्रकाशिका, साधुओं के चिन्तित सब साध्यों के साधन में तत्परा, यह सद्वाक्यरत्नावली मुझ 'हनुमान' से जनमानस में अर्पित होकर सुन्दर चिन्तामणि हो ॥ ३८ ॥ वस्तुतः सर्वात्मा हरि साक्षात् चिन्तामणि हैं, सो सबके हृदयस्थ हैं, अतः यह सद्वाक्यरत्नावली जनहृदय में अर्पित होकर उस हरिरूप से बसे, हरिरूपता के लिये जन हृदय में अर्पित हो, इसके द्वारा जनों के हृदय हरिमय हों, इससे यह सदा सब के हृदय में हरिरूप से बसे ॥ ३९ ॥ यह सब के पाप को नष्ट करे, सब मङ्गल करे, सब के सुख का विस्तार करे, इसके लिये अव्यय हरि की प्रार्थना करता हूँ ॥ ४० ॥ मोह-नाशक = श्री मोहन दास जी नामक गुरु अत्यन्त अच्छ = निर्मल चिद्रूप से सदा वर्तमान रहने वाले हैं, और श्री रामितादासजी नामक सच्चिदानन्द राम स्वरूप अव्यय = निर्विकार गुरु वर्तमान हैं, तथा पं० श्री हरिहरकृपालु नामक गुरु हैं, ये तीनों गुरु नित्य मुक्त चिद्रूप सदाऽन्वित = व्यापक वर्तमान हैं, तिनकी मैं वन्दना करता हूँ ॥ ४१ ॥ जिनके चरणों में नमन से मनुष्यों को कहीं झुकना नहीं पड़ता है, ऐसे कृपागार श्री सद्गुरु कबीरसाहब की मैं वन्दना करता हूँ ॥ ४२ ॥

पन्द्रहवाँ निर्णयप्रकरण समाप्त ॥

स्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्रिसंगृहीत तत्त्वार्थमणिमाला में योगनामक दशवाँ काण्ड समाप्त ॥

स्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्रिसंगृहीत यह तत्त्वार्थमणिमाला सम्पूर्ण हुई ॥

तत्त्वार्थमणिमाला का स्वामिश्रीहनुमद्दासषट्शास्त्रिविरचित हिन्दीभाषानुवाद समाप्त ॥

वाचां सारं मनःसारं जगत्सारं च जन्मनः। सर्वस्माच्च परं पारं निर्विकारमहं भजे ॥१॥
अरूपानन्तरूपाय निर्गुणाय गुणात्मने। साक्षिणे चित्स्वरूपाय रामाय गुरवे नमः ॥२॥
अक्षराय सदा शुद्धबुद्धाय परमात्मने। परापरस्वरूपाय स्वप्रकाशात्मने नमः ॥३॥
हेयादेयविहीनाय सर्वस्यैव सदात्मने। नित्यानन्दस्वरूपाय विमुक्ताय नमो नमः ॥४॥
सर्वैरेव च गन्तव्यं तत्पदं पारमार्थिकम्। विचित्रदेशकालोत्थैः पुरमेकमिवाध्वगैः ॥५॥
रागद्वेषादिदोषाणां पदे न विद्यते पदम्। तत्रेति च मिलित्वात्र ब्रह्मानन्दोऽनुभूयताम् ॥६॥
आत्मानन्दः स एवाथ ज्ञानानन्दोऽभिधीयते। तत्र न भेदलेशोऽपि विद्यतेऽज्ञाननाशनात् ॥७॥
दुःखमज्ञानजं सर्वं मोहकामादिपूर्वकम्। ज्ञानमज्ञानमाच्छिद्य सत्यानन्दं प्रकाशतु तम् ॥८॥

हनुमता हि कृतोऽस्ति सुसङ्ग्रहो, भवतु सद्विदुषां [illegible]सिद्धये।
विरचितेन सदा ह्यमुना भवे, जनहितं च करोतु [illegible] ॥९॥

सद्धर्मादिसुबोधिकाऽथ विदुषां स्वानन्दसूल्लासिनी,
कामाधर्मविनाशिनी च परमब्रह्मात्मसन्दीपि[illegible]।
साधोश्चिन्त्वितसर्वसाधनपरा सद्वाक्यरत्नावली,
विन्यस्ता जनमानसे हनुमता भूयात्सुचिन्तामणि[illegible] ॥१०॥

चिन्तामणिं हरिः साक्षात्स सर्वहृन्निकेतनः। तदात्मना वसन्त्वेषा सर्वस्य हृदये स[illegible] ॥११॥
धुनोतु मलं सर्वं करोतु सर्वमङ्गलम्। वितनोतु सुखं सर्वं प्रार्थये हरिमव्ययम् ॥१२॥

प्राप्ति स्थान

- प.पू. श्री १०८ महन्त श्री रामदासजी साहेब
  श्री कबीर आश्रम (मठ)
  मु. पो चकना,
  जि. मुजफ्फरपूर (बिहार)

- प.पू. श्री १०८ संत श्री बालेश्वरदासजी साहेब
  वेदान्त अचार्य सुवर्ण पदक प्राप्त
  के- ६७/६६ ए, महेश कालोनी, इश्वरगंङ्गी,
  वाराणसी

- श्री रमणभाई छगनभाई पटेल
  मु. पो. सीमली वाया चांदोद,
  जि. बड़ोदरा, गुजरात
  फोनः (०२६६६)-७५२११

- श्री चन्द्रकान्त मणिलाल मेहता, सेवा निवृत न्यायाधीश,
  'साहेब निलयम'
  रावपुरा, कोठी कचहरी के निकट,
  गोकुल होटल के समीप, बड़ोदरा (गुजरात)
  फोनः ४३५२१५